चिकित्सकसम्राट्-आयुर्वेदमार्तण्ड-प्राणाचार्य
वैद्यावतस-महोपाध्याय-राजामान्य-राजवैद्य

पंडित श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक

चाँणोद गुरासाहिब

जोधपुर

श्री उदयाभिनन्दन-हीरक-जयन्ती-ग्रन्थ

(राजस्थान की जनता की ओर से समर्पित)

मथुरादास माथुर
(वित्तमन्त्री, राजस्थान)
प्रधान सम्पादक

श्री उदयाभिनन्दन-हीरक-जयन्ती-ग्रन्थ समिति

विशेष सपादक—श्री अमृतलाल यादव (आयुर्वेद मन्त्री) राजस्थान

सम्पादक मण्डल—

वैद्य रामप्रकाश स्वामी
एम ए , भिषगाचार्य
अध्यक्ष, राज प्रदेश वैद्य सम्मेलन
(पजीकृत), जयपुर

वैद्य मगलदास स्वामी
(त्यागमूर्ति)
भूतपूर्व अध्यक्ष,
(इण्डियन मेडिसन बोर्ड)
राजस्थान, जयपुर

वैद्य श्री देवीदत्त व्यास, शास्त्री
आयुर्वेदाचार्य

वैद्य अम्बालाल जोशी
साहित्यायुर्वेदरत्न, जोधपुर

वैद्य माधवलाल जोशी
आयुर्वेदाचार्य, जोधपुर

वैद्य श्री वुद्धिप्रकास आचार्य
आयुर्वेदवाचस्पति, जोधपुर

वैद्य प्रेमशकर शर्मा, भिषगाचार्य
अध्यक्ष, कॉन्सिल ऑफ स्टेट बोर्डस् एण्ड फेकल्टीज
इण्डियन मेडिसिन,
निवर्तमान निदेशक, आयुर्वेद विभाग
राजस्थान, अजमेर

वैद्य भागीरथ जोशी
आयुर्वेदाचार्य, उदयपुर

वैद्य बाबूलाल जोशी
जोधपुर

वैद्य ठाकुरप्रसाद शर्मा
आयुर्वेदाचार्य प्रधानमन्त्री
(राज प्रदेश वैद्य सम्मेलन)
(पजीकृत) बीकानेर

कविराज विष्णुदत्त पुरोहित
ए एम् बी आयुर्वेदाचार्य
जोधपुर

प्रकाशक —
श्री उदयाभिनन्दन हीरक जयन्ती ग्रन्थ-समिति

द्वितीय सस्करग सवत् 2031 वि

मूल्य 35 र

मुद्रक —
जनगण प्रेस, जोधपुर.
फोन । 23876

यत्प्रभापटलोद्भासि भासतेऽद्यापि भारतम्।
आयुर्वेदात्मकं ज्योतिः शाश्वतं नः प्रकाशताम्॥

(स्वामिपादाः)

श्री उदयाभिनन्दन-हीरक-जयन्ती-ग्रन्थ समिति, जोधपुर के समस्त सदस्यगण

एवं श्री मथुरादास माथुर, अध्यक्ष की ओर से पुष्पाञ्जलि समर्पित

श्री उदयाभिनन्दन-हीरक-जयन्ती-ग्रन्थ

प्रथम खण्ड

राजस्थान प्रदेश वैद्य-सम्मेलन

की ओर से

सादर समर्पित

रामप्रकाश स्वामी, भिषगाचार्य, एम.ए

अध्यक्ष

राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पञ्जिकृत)

वैद्य ठाकुरप्रसाद शर्मा

प्रधान मंत्री

राजस्थान प्रदेश वैद्य-सम्मेलन (पञ्जिकृत)

एव समस्त सदस्यगण

एवं

मारवाड आयुर्वेद-प्रचारिणी-सभा जोधपुर

की ओर से

समर्पित

वैद्यवाचस्पति द्रोणाचार्य

अध्यक्ष

दाऊलाल जोशी

प्रधान मंत्री

एव समस्त सदस्यगण

जोधपुर शहर जिला कांग्रेस कमेटी

की ओर से

समर्पित

द्वारकादास पुरोहित धाराशास्त्री

अध्यक्ष

एवं समस्त सदस्य गण

एव

अन्तर प्रांतीय कुमार साहित्य-परिषद् के केन्द्रीय कार्यालय

की ओर से समर्पित

नेमीचन्द्र जैन 'भावुक'

संस्थापक एव महामंत्री

अन्तर प्रांतीय कुमार साहित्य-परिषद्

श्री उदयाभिनन्दन-हीरक-जयन्ती ग्रन्थ के पदाधिकारी

एवं

कार्यालय के अधिकारी

मथुरादास माथुर	दौलतराम चौधरी	गुमानमल पारख
अध्यक्ष	कार्यवहाक अध्यक्ष	कोषाध्यक्ष

बुद्धिप्रकाश आचार्य,	मुनि देवेन्द्रचन्द्र,	बाबू ईश्वरचन्द्र घोषाल	वैद्य अम्बादत्त व्यास
मंत्री	व्यवस्थापक	सयुक्त व्यवस्थापक	कार्यालय सचिव

कार्य कारिणी के सदस्य एवं विशेष सहयोगियों की सूचिः—

नारायणदासजी बाइस प्रिन्सिपल
मनसुखदासजी पारख
हरखलालजी मणिहार
डाक्टर कल्याणमलजी
तारकप्रसादजी व्यास
अचलेश्वर प्रसाद जी शर्मा
राधावल्लभजी काबरा
मुरलीधरजी पुरोहित
कृष्णदत्तजी पुरोहित शास्त्री
मदनगोपालजी काबरा
हाजी असगर अली जी
चान्दमलजी अग्रवाल
द्वारकादासजी पुरोहित वकील
माणकलालजी बालीया
नरेन्द्रकुमारजी साधो
धर्मनारायणजी माथुर
रामचन्द्रजी देवडा
जगदीशजी परिहार
दीपचन्दजी छागाणी
कविराज तेजदानजी
कविराज गणेशलाल रंगा
वैद्य देवीदत्तजी व्यास
मोदी सरदारनाथजी
अनोपराजजी ललवाणी
हुकमचन्दजी वकील
रामरतनजी अग्रवाल
मोहनलालजी गोठेचा
प्रेमसुन्दरजी यति
डा० खेतलखाणी
लूणकरणजी मिश्रीलालजी जैन
देवोलालजी रंगा
वैद्य अम्बालालजी जोशी
वैद्य मुरलीधरजी वैष्णव
माणकचन्दजी यति
वैद्य शिवनारायणजी व्यास
रामरतनजी व्यास
वैद्य रामलालजी जोशी
नेमीचन्द्र जैन जी 'भावुक
मोहनलाल तिवारी
वैद्य बाबूलालजी जोशी

विषय-सूची

—०—

आदिदेव भगवान् श्रीधन्वन्तरि

सद्भक्त्यानम्रकम्रत्रिदशपतिशिरश्चारुकोटीरकोटी-
प्रेंखन्माणिक्यमालामलकललहरीधौतपादारविन्द. ।
विष्णोर्भव्यावतार करकलितसुधापूरकुम्भः समन्ता-
दव्यादव्याजभव्याकृतिरिह भगवान् साधुधन्वन्तरिर्वः ॥

चरित्रनायक के आराध्यदेव

जंगम युग प्रधान भट्टारकोत्तम भट्टारक पूज्य भगवान
श्री श्री १००८ श्री जिनदत्तसूरीश्वरजी महाराज

उपराष्ट्रपति, भारत
नई देहली
फरवरी ५,१९६८

आपका पत्र दिनांक २९ जनवरी, १९६८ का प्राप्त हुआ। धन्यवाद।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप श्री उदयाभिनन्दन ग्रंथ तथा हीरक जयन्ती समारोह का आयोजन निकट भविष्य में करने जा रहे हैं।

मैं अपके आयोजन की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ भेजता हूं।

आपका
V V Giri
(वी० वी० गिरि)

योजना आयोग
नई देहली
दिनांक : ८ फरवरी, १९६८

डा धनजयराव गाडगील
उपाध्यक्ष

प्रिय श्री माथुर,

हर्ष का विषय है कि राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक-लोक प्रसिद्ध "चाणोद गुरासाहिब" के हीरक जयन्ती समारोह के शुभ अवसर पर राजस्थान की जनता ने उनका नागरिक अभिनन्दन विशाल पैमाने पर फरवरी १९६८ मे मनाने के साथ ही उन्हे एक उत्कृष्ट अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निर्णय किया है।

श्री गुरासाहिब के रजत जयन्ती समारोह एवं अभिनन्दन ग्रथ के सफल प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक मगलकामनाऐं समर्पित है।

आपका,
धनजयराव गाडगील

खाद्य, कृषि, सामुदायिक विकास
तथा सहकारिता मन्त्री
भारत सरकार
नई दिल्ली।

दिनाक : ६ फरवरी, १९६८

राजवैद्य प० उदयचन्द्र भट्टारक, जोधपुर के हीरक-जयन्ती समारोह के अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन ग्रथ भेंट किया जा रहा है, यह जानकर प्रसन्नता है।

चिकित्सा क्षेत्र मे प० उदयचन्द्र जी का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आयुर्वेदिक पद्धति के विकास, प्रचार और प्रसार मे इनका योगदान देश के युवा चिकित्सको के लिए मार्गदर्शन देगा।

मेरी शुभ कामना है कि प० उदयचन्द्र दीर्घायु हो एव सदैव देश व समाज की सेवा मे रत रहे।

जगजीवन राम

जयपुर
राजस्थान

१२ फरवरी, १९६८

दामोदर व्यास
गृह, नागरिक सुरक्षा, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य मंत्री

प्रिय बन्धु,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्रजी की हीरक जयन्ती समारोह के अवसर पर जोधपुर की स्थानीय जनता फरवरी मास में उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने जा रही है।

राजवैद्य पंडित उदयचन्द्रजी भट्टारक न केवल राजस्थान के ही अपितु भारतवर्ष के आयुर्वेद के प्रसिद्ध चिकित्सकों में से एक हैं। उन्होंने आयुर्वेद पद्धति की वैज्ञानिकता को सिद्ध करके इसे उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। भगवान से प्रार्थना है कि ऐसे जनसेवा कर्मयोगी चिरायु हों ताकि जनताजनार्दन को उनकी सेवाओं का लाभ हो।

विनीत,
दामोदर व्यास

जयपुर
राजस्थान

फरवरी २६, १६६८
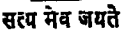
मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई है कि चांणोद गुरासाहिब के सम्मान में उनका नागरिक अभिनन्दन किया जा रहा है और उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है जिसमे आयुर्वेद से सम्बन्धित शोधपूर्ण लेखो का सकलन होगा। गुरासाहिब ने आयुर्वेद की जो सेवा की है वह अभूतपूर्व है। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समाज की सेवा मे लगाया है।

मैं इस अवसर पर गुरासाहिब के दीर्घ स्वस्थ जीवन की कामना करता हूँ और अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता चाहता हूँ।

मोहनलाल सुखाडिया

जयपुर
राजस्थान

१२ फरवरी, १९६८

दामोदर व्यास
गृह, नागरिक सुरक्षा, चिकित्सा एव स्वास्थ्य मन्त्री

प्रिय बन्धु,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राजवैद्य पडित श्री उदयचन्द्रजी की हीरक जयन्ती समारोह के अवसर पर जोधपुर की स्थानीय जनता फरवरी मास मे उन्हे अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने जा रही है।

राजवैद्य पडित उदयचन्द्रजी भट्टारक न केवल राजस्थान के ही अपितु भारतवर्ष के आयुर्वेद के प्रसिद्ध चिकित्सको मे से एक है। उन्होने आयुर्वेद पद्धति की वैज्ञानिकता को सिद्ध करके इसे उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। भगवान से प्रार्थना है कि ऐसे जनसेवा कर्मयोगी चिरायु हो ताकि जनताजनार्दन को उनकी सेवाओ का लाभ हो।

विनीत,
दामोदर व्यास

जयपुर
राजस्थान
६ फरवरी, १९६८

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि महोपाध्याय, राजमान्य राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक की हीरक-जयन्ती के उपलक्ष्य में नागरिक अभिनन्दन करने का निर्णय किया गया है।

श्री गुरुसाहिब भारत के चिकित्सा क्षेत्र में सर्वविदित है तथा इस प्रदेश के गरीब से लेकर अमीर तक को जो लाभ उनकी निस्वार्थ सेवा से मिला है उसके लिये यह प्रदेश श्री गुरुसाहिब का ऋणी है।

मैं श्री गुरुसाहिब की दीर्घ आयु की कामना करता हू।

मुझे आशा है कि श्री गुरुसाहिब के नागरिक अभिनन्दन ग्रन्थ के द्वारा आयुर्वेद विज्ञान को देश में उच्च स्थान प्राप्त होगा तथा सही माने में देश की इस महान् विभूति के प्रति समाज द्वारा श्रद्धास्पद सम्मान की अभिव्यक्ति होगी।

शिवचरण माथुर
शिक्षा मंत्री
राजस्थान, जयपुर

सत्य मेव जयते

खेतसिंह राठौड़
उप गृह मंत्री

जयपुर
राजस्थान
२ फरवरी, १९६७

आदरणीय प्रधान सम्पादकजी,

मुझे यह जानकर अत्यन्त खुशी हुई कि आयुर्वेद-चिकित्सक-सम्राट लोकप्रसिद्ध "चाणोद गुरासाहिब" की हीरक जयन्ति इसी माह में जोधपुर मे मनाई जा रही है। यह जोधपुर की जनता के लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है। "नाडीवैद्य" के रूप मे गुरासाहिब के समान राजस्थान मे अन्य शायद ही कोई वृद्ध होगा। सबसे बडी बात तो गुरासाहिब में है वह यह कि उनके दरवाजे पर राजा और रक मे कभी भी अन्तर नही पाया।

यह और भी प्रसन्नता का विषय है कि सहृदयी गुरासाहिब का इस शुभ अवसर पर नागरिक अभिनन्दन किया जा रहा है और उन्हे एक ग्रन्थ भी भेंट किया जा रहा है। मैं अपनी हार्दिक शुभ कामना प्रेषित कर रहा हू।

आपका
खेतसिंह राठौड़

जयपुर
राजस्थान
६ फरवरी, १९६८

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि महोपाध्याय, राजमान्य राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक की हीरक-जयन्ती के उपलक्ष्य मे नागरिक अभिनन्दन करने का निर्णय किया गया है।

श्री गुरासाहिब भारत के चिकित्सा क्षेत्र मे सर्वविदित है तथा इस प्रदेश के गरीब से लेकर अमीर तक को जो लाभ उनकी निस्वार्थ सेवा से मिला है उसके लिये यह प्रदेश श्री गुरांसाहिब का ऋणी है।

मैं श्री गुरासाहिब की दीर्घ आयु की कामना करता हू ।

मुझे आशा है कि श्री गुरांसाहिब के नागरिक अभिनन्दन ग्रन्थ के द्वारा आयुर्वेद विज्ञान को देश मे उच्च स्थान प्राप्त होगा तथा सही माने मे देश की इस महान् विभूति के प्रति समाज द्वारा श्रद्धास्पद सम्मान की अभिव्यक्ति होगी ।

शिवचरण माथुर
शिक्षा मन्त्री
राजस्थान, जयपुर

सत्य मेव जयते

जयपुर
राजस्थान
२ फरवरी, १९६७

खेतसिंह राठौड़
उप गृह मंत्री

आदरणीय प्रधान सम्पादकजी,

मुझे यह जानकर अत्यन्त खुशी हुई कि आयुर्वेद-चिकित्सक-सम्राट लोकप्रसिद्ध "चाणोद गुरासाहिब" की हीरक जयन्ति इसी माह में जोधपुर मे मनाई जा रही है। यह जोधपुर की जनता के लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है। "नाडीवैद्य" के रूप मे गुरासाहिब के समान राजस्थान मे अन्य शायद ही कोई वृद्ध होगा। सबसे बडी बात तो गुरासाहिब में है वह यह कि उनके दरवाजे पर राजा और रक मे कभी भी अन्तर नही पाया।

यह और भी प्रसन्नता का विषय है कि सहृदयी गुरासाहिब का इस शुभ अवसर पर नागरिक अभिनन्दन किया जा रहा है और उन्हे एक ग्रन्थ भी भेंट किया जा रहा है। मै अपनी हार्दिक शुभ कामना प्रेषित कर रहा हू।

आपका
खेतसिंह राठौड

राव धोरसिंह,
उप मंत्री,
शिक्षा, नियुक्ति एवं सामान्य प्रशासन

जयपुर
राजस्थान
दिनांक ६-२-६८

आदरणीय माथुर साहब,

राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्र जी भट्टारक द्वारा जोधपुर की जनता के प्रति किये गये यथार्थ उपकारों का जो मूल्यांकन कर हीरक जयन्ती का आयोजन किया जा रहा है वह वास्तव मे सराहनीय है।

मैं इस पुनीत अवसर पर हीरक जयन्ती की व अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता की हार्दिक शुभकामनाऐं प्रेषित करता हू ।

सद्भावी,
राव धोरसिंह

सत्य मेव जयते

सुमित्रादेवी, राज्य स्वास्थ्य-मंत्री

जयपुर

राजस्थान

फरवरी ८, १९६८

महोदय,

आपका पत्र क्रमाक ४०५-६८ दिनाक २९ जनवरी, ६८ प्राप्त हुआ।

मुझे यह जानकर बडी प्रसन्नता हुई कि राजवैद्य पं० उदयचन्द्रजी भट्टारक नव्वे वर्ष मे प्रवेश कर रहे है और उनकी विद्वत्ता तथा सेवाओ के उपलक्ष मे उपकृत जनता द्वारा हीरक जयन्ती समारोह मनाया जा रहा है तथा नागरिक अभिनन्दन कर उन्हे अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर सम्मानित किया जा रहा है।

ऐसी आदर्श विभूति को इस प्रकार उचित सम्मान दिया जाना आयुर्वेदिक विज्ञान के उत्थान व प्रगति की दिशा मे महान योग होगा जो आयुर्वेद जगत के विकास एवं ज्ञानवृद्धि के लिए प्रेरणादायक सिद्ध होगा। आयुर्वेद भारत की प्राचीन चिकित्सा पद्धति है और इसको पुनर्जीवित कर एलोपैथिक चिकित्सा प्रणाली के समकक्ष बनाने के लिए किए जाने वाले प्रयासो की सफलता एव इस हीरक जयन्ती महोत्सव की सफलता के लिए पूर्ण सदभावना एव शुभकामनाओ सहित।

भवनिष्ठा

सुमित्रा

प्रभा मिश्रा,
उप मंत्री, विधि एवं स्वायत्त शासन

जयपुर
राजस्थान
फरवरी ३, १९६८

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि ६० वर्षीय पं० श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक "चाणोद गुरासाहिब" के हीरक जयन्ती समारोह के शुभ अवसर पर जोधपुर की जनता ने उनका नागरिक अभिनन्दन एवं इस अवसर पर अभिनन्दन ग्रंथ भेंट करने का निश्चय किया है। मैं ऐसे लब्धप्रतिष्ठित एवं जनसेवी चिकित्सक-सम्राट का अभिनन्दन करना जोधपुर की जनता का परम सौभाग्य मानती हूँ।

यह और भी प्रसन्नता की बात है कि ग्रंथ के सम्पादन का दायित्व न केवल राजस्थान के वित्त मन्त्री श्री माथुर साहब जैसे जीवट एवं प्राणवान व्यक्ति ने वहन किया है वरन् आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों एवं अनुभवी, सिद्धहस्त चिकित्सकों की परिमार्जित लेखनी से ग्रंथ प्रतिपादित होगा। इस भौतिक युग की दौड़ में जब कि वैज्ञानिक उपलब्धियां संसार को चौंधायमान् कर रही हैं, प्रतिदिन चिकित्सा क्षेत्र में ऐसे आश्चर्यकारक प्रयोग हो रहे हैं कि आज की सफलता कल साधारण बात दृष्टिगत होने लगती है, तो ऐसी स्थिति में आयुर्वेदिक चिकित्सकों के सामने भी यह चुनौती है कि वे इस भारतीय चिकित्सा पद्धति में निरन्तर प्रयोगरत रहकर वैज्ञानिक सफलताओं के अनुरूप न केवल इसे सक्षम् पद्धति सिद्ध करें अपितु अग्रणी वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति के स्थान पर आरूढ करावें।

गुरांसाहिब का जीवन तो निरन्तर इसी क्षेत्र में कार्यरत् रहा है। अत. ग्रंथ न केवल आयुर्वेदाचार्यों को नई दिशा प्रदान करने में ही सफल होगा बल्कि भट्टारकजी के अनुभवों से परिपूर्ण होकर आधुनिक काल की ऐतिहासिक निधि के रूप में प्रतिष्ठित होगा, ऐसी मैं आशा करती हूँ।

प्रभा मिश्रा

गंगाराम चौधरी,
उप मंत्री, राजस्व व अकाल सहायता

जयपुर
राजस्थान
२ फरवरी, १६६८

आदरणीय माथुर साहब,

जोधपुर की जनता द्वारा राज्यवैद्य प० श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक के यथार्थ उपकारो का वास्तविक मूल्यांकन कर जो हीरक जयंती समारोह का आयोजन किया है वह अत्यंत सराहनीय है।

मैं इस पुनीत अवसर पर समारोह की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनायें प्रेषित करता हूँ।

आपका
गंगाराम चौधरी

सत्य मेव जयते

जयपुर

राजस्थान

प्रद्युम्नसिंह

उप मन्त्री, कर एवं राजकीय उपक्रम

फरवरी २, १९६८

आदरणीय माथुर साहब,

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि राजवैद्य प० श्री उदय-चन्द्रजी भट्टारक का हीरक जयती समारोह फरवरी १९६८ में मनाया जा रहा है। इस अवसर पर उनका नागरिक अभिनन्दन करने के साथ ही एक अभिनन्दन ग्रथ भी उनको भेंट किया जा रहा है।

इस ग्रथ में सुयोग्य लब्धप्रतिष्ठित तथा अनुभवी विद्वान वैद्यराजो के लेख प्रकाशित होने से यह ग्रथ एक अद्भुत रचना बन सकेगी। इससे यह ग्रथ वैद्यो का मार्गदर्शन करने मे सहायक होगा।

मैं इस महोत्सव की सफलता की कामना करता हूँ।

आपका

प्रद्युम्नसिंह

Calcutta,
February 8, 1968

Rajvaidya 'Sri Udaichandraji of Chanoud celebrates his 90th birthday this month when his friends and admirers will present him a commemoration volume.

Though I have not had the privilege of meeting him personally I find that this contribution to the propagation of and research in the indigenous system of medicine is fairly large, besides his other interests in arts I send him my felicitations on this occasion.

P C Ghosh
Chief Minister
West Bengal

Chairman,
Press Council of India

31 Aurangzeb Road
New Delhi, 7th February 1968

Shri J R Mudholkar congratulates the Committee in bringing out the Commemoration Volume and wishes success of the function being organised for presenting it to Pandit Shri Udaichandraji Bhattarak

आयुर्वेदमार्तण्ड पंडित उदयचन्द्रजी राज्यवैद्य चाणोद गुरांसाहब के पूर्वज आचार्य किशनचन्द्रजी वैद्य मुनी खरतरगच्छ के मेरे मारवाड मे आने वाले पुर्खा राव सीवाजी के साथ कन्नौज से आये। उनके पश्चात् सर्वदा जोधपुर राजवंश के साथ पीढी दर पीढी सम्बन्ध रहने के कारण मारवाड के यशस्वी राजाओ ने समय समय पर इनके महापुरुष गुरुओ को खिल्लतो, सनदो तथा भेंटो से सम्मानित किया।

पंडित उदयचन्द्रजी महाराज के गुरु पूज्य उमेददत्तजी गुरां साहब का मेरे महान पूर्वज स्वर्गीय जसवंतसिंहजी महाराजा से विशेष सबन्ध रहा। गुरा साहब की आश्चर्यजनक चिकित्सा से एक निकटवर्ती व्यक्ति को रोगमुक्त होते देख महाराजा साहब ने गुरा साहब को अपना निजी राज्यवैद्य बना चाणोद से बुलाकर जोधपुर मे ही बस जाने का अनुरोध किया।

मैंने स्वय ने देखा कि मेरे भ्राता स्वर्गीय उम्मेदसिंहजी महाराजा के बाहु मे एक विशेष रूप की पीडा उठने पर जोधपुर के अग्रेज प्रिन्सि-पल मेडिकल आफिसर ने निश्चित रूप से कहा कि शल्य चिकित्सा के अतिरिक्त और कोई उपाय नही और आपरेशन के लिए भी इगलैण्ड जाना पडेगा क्योकि भारत मे पर्याप्त साधन नही थे, साथ मे यह भी कहा गया कि आपरेशन होने पर भी सफलता मिलना निश्चित बात नही और हाथ बेकार भी हो सकता है। ऐसी अवस्था मे पंडित उदय-चन्द्रजी ने चिकित्सा का भार स्वय लिया और थोडे ही दिनो मे महाराजा साहब को पूर्णरूप से पीडामुक्त कर दिया। उस चमत्कार से प्रभावित हो महाराजा साहब ने गुरां साहब को पालकी शिरोपाव तथा सोना प्रदान कर विशेष सम्मानित किया।

गुरा साहब की ख्याति दूर दूर होने के कारण जोधपुर की भी ख्याति बढी है और दूर दूर से रोगी आकर उनकी अद्भुत कला से लाभ उठाकर जाते हैं।

गुरा साहब ने आयुर्वेद की भी विशेष सेवा की है और उन्ही के आग्रह से राज्य से सारी सुविधायें मिली और एक विशाल अखिल भारतीय आयुर्वेद सम्मेलन भी जोधपुर मे १९३९ मे हुआ।

जोधपुर का सौभाग्य है कि गुरा साहब जैसे महान व्यक्ति ने इस नगर को सुशोभित किया है और करते है। गुरा साहब दीर्घजीवी हो और उनके अनुभव का लाभ वह और भी देते रहे यह मेरी हार्दिक इच्छा है।

अजीतसिंह
जनरल महाराजधिराज
श्री सर

डॉ० च० द्वारकानाथ
परामर्शदाता– विदेशी चिकित्सा पद्धति

भारत सरकार
स्वास्थ्य मन्त्रालय

यह परम प्रसन्नता का विषय है कि आप लोग राजस्थान-गगन के पीयूषवर्षी चन्द्र राजवैद्य पं० उदयचन्द्र जी भट्टारक की मनाई जाने वाली हीरक-जयन्ती के अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन ग्रथ भेंट करने जा रहे है ।

मैं आप लोगो के द्वारा राज्यवैद्य जी की मनाई जाने वाली हीरक जयन्ती की सफलता के लिए शुभकामनाऐं प्रकट करता हू और आशा करता हू कि आपका अभिनन्दन ग्रन्थ लेख-मालाओं से अनुस्यूत होकर आयुर्वेद जगत को वैज्ञानिक दिशा मे सोचने का स्वर्णावसर प्रदान करेगा ।

भवदीय
च. द्वारकानाथ

महापुरुष के प्रति कृतज्ञता

स्वामी जयरामदासजी, भिषगाचार्य, जयपुर

भारतवर्ष को अनेक ऋषि मुनियों को उत्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त है जिन ने अपने तप प्रभाव से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे सर्वप्रथम नानाविध उपलब्धियाँ ससार को प्रदान की। अज्ञानतिमिराच्छन्न ससार को अपनी ज्ञानगरिमा के द्वारा आलोकित कर जगद्गुरु के गौरवमय पद पर भारतवर्ष को आसीन करने का श्रेय उन्ही ऋषिमहर्षियो को है। इसी को लक्ष्य कर मनु ने कहा है—
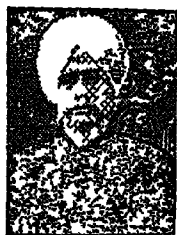
एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वस्व चरित्र शिक्षोरन पृथिव्या सर्वमानवा ॥

स्वस्वरूपानुसधान की शिक्षा प्रदान करने के कारण वे महापुरुष बने है और उनको उत्पन्न करने वाली भूमि भी धन्य है।

प्राणाचार्य राजवैद्य भट्टारक महोपाध्याय प० श्री उदयचन्द्रजी महाराज श्री गुरासा ऐसे ही महापुरुषा हैं जिनके लोकोत्तर गुणगणो से प्रथम साक्षात्कार मे ही व्यक्ति प्रभावित हो जाता है। आपने बाल्यकाल से ही आध्यात्मानुचिन्तन मे अपने मानस को सलग्न कर बहुजनहिताय बहुजनसुखाय जीवन निर्धारित कर श्रीमद्भगवद्गीतोक्त सर्वभूताहितैषिता को मूर्तरूप प्रदान किया है। गुरासा जैसे महानुभाव के लिये निम्नोक्ति सर्वथा सार्थक होती है—

कुल पवित्र जननी कृतार्थावसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपाकसवित् सुखसागरेऽस्मित् लीनं परब्रह्मणि यस्यचेतः॥

गुरासा ने मरुभूमि एव राजस्थान मे जो आयुर्वेद स्रोतस्विनी प्रवाहित की है वह किसी भी व्यक्ति से तिरोहित नही है। आपकी वर्चस्व, मनस्विता, चिकित्साकौशल आदि पीयूषपाणि चिकित्सक गुणो से प्रभावित होकर तात्कालिक मरुधराधीश ने आपको राज्य-सम्मान प्रदान करवा कर अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय प्रदान किया था। आयुर्वेदाभ्युदय के लिए सतत प्रयत्नो एव दूरदर्शिता के कारण वैद्यसमाज ने अपना नेतृत्व आपको प्रदान किया तथा राज्यशासन ने भी आपको अनेक बार उत्तरदायित्व पदो पर आसीन किया, जहाँ आपन अपनी प्रतिभा के द्वारा अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त किया।

प्राचीन परिपाटी के चिरन्तन सत्यान्वेषण के अनुपम तत्वानुसधान मे तत्पर सौम्यमूर्त्ति, उज्ज्वलसरलवेशविन्यास, सगीत, कलाप्रियता, वैद्योचित कर्त्तव्यकल्याणनिर्वाहणैपिता आदि गुणगणो से कौन सहृदय व्यक्ति आकृष्ट एव सश्रद्ध नतमस्तक नही होता।

आयुर्वेद के प्राचीन लुप्त रसों का प्रयोग आपके उर्वर मस्तिष्क का ही फल है जिससे न केवल आपने धन, यश अर्जित किया अपितु नागार्जुन सम्प्रदाय की विच्छिन्न शृङ्खला को

पुनः संयुक्त कर रसचिकित्सा के वैशिष्टय को प्रतिपादित किया है। कलाकरोपम आपके विचारगाभीर्य मे निहित नवीन रत्नो को वही व्यक्ति कर सकता है जिसने आयुर्शास्त्र का तलस्पर्शी पाण्डित्य प्राप्त किया है। आज भारतवर्ष मे सिद्धहस्त पीयूषपाणि चिकित्सको का अभाव बतलाने वालो के लिए आप वन्द्यस्थल है। आयुर्वेदीय शुद्ध चिकित्सापद्धति का समाश्रय लेकर उन सकीर्ण व्याधि-पीड़ित जनो को जीवनदान देकर आपने आयुर्वेदविजयवैजयन्ती फहराई है।

ऐसे महापुरुष के प्रति कृतज्ञता प्रकाशनार्थ अभिनन्दन का आयोजन करने के लिए आयोजक प्रशसा के पात्र हैं।

जगदीश्वर से प्रार्थना है कि वह ऐसे महापुरुष को दीर्घस्वस्थजीवन प्रदान करें। जिससे वे वैद्यसमाज और आयुर्वेद की इस सकटापन्न स्थिति मे और भी अधिक सेवा कर सकें।

इस अवसर पर मेरी हार्दिक शुभकामनाये है।

दीर्घ जीवन की शुभ कामना

चाणोद गुरासा चिकित्सक सम्राट राजमान्य राजवैद्य भट्टारक प० उदयचन्द्रजी राजस्थान के ही नही भारत के विद्वान चिकित्सको मे से एक हैं। इन्होने हमारी उस समय चिकित्सा की जब ब्रिटिश सरकार के बडे जुम थे। लोकनायक स्व श्री जयनारयणजी व्यास के नेतृत्व मे हम जेल मे थे तब श्री व्यासजी ने सरकार से माग की कि हमारी चिकित्सा श्री गुरासा से कराई जाय। श्री गुरासा ने निष्कपट भाव से हमारी नि.शुल्क चिकित्सा की। श्री गुरासा गरीब और अमीर सभी के चिकित्सक हैं श्री गुरासा मेरे परिवारजनो एव मित्रो के विश्वस्त चिकित्सक हैं।

मैं भगवान से श्री गुरासा के दीर्घ जीवन की शुभ कामना करता हूं।

अचलेश्वर प्रसाद शर्मा
प्रधान सम्पादक
प्रजासेवक साप्ताहिक, जोधपुर

जोधपुर
राजस्थान
फरवरी १६, १९६८

प्रिय श्री माथुर,

मुझे यह जान कर हार्दिक प्रसन्नता है कि चाणोद गुरा साहिब को हीरक जयन्ती समारोह के शुभ अवसर पर इस ऐतिहासिक नगर के नगर-बन्धुओ ने उन्हें अभिनन्दन ग्रथ भेंट करने का निर्णय लिया है। मैं इस शुभ अवसर पर गुरा साहिब के प्रति अपनी सभी मगल कामनाए प्रस्तुत करता अपना कर्त्तव्य मानता हूँ। गुरा साहिब से मेरे तथा मेरे पूज्य पिताश्री के बहुत ही स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रहे है जिनकी अमिट छाप मेरे हृदय-पटल पर चिरकाल तक अकित रहेगी। मेरी हार्दिक कामना है कि प्रस्तावित अभिनन्दन ग्रन्थ पूर्ण सफलता से सम्पन्न हो सकेगा।

आपका
इन्द्रनाथ मोदी

मनः अभिव्यक्ति

हम कथाओ और ग्रन्थो मे धन्वन्तरि वैद्य का नाम पढते व सुनते आए है। परन्तु इस वर्तमान युग में उसका प्रत्यक्ष स्वरूप हम श्रीयुत् पूज्य गुरा साहब (चाणोद) चिकित्सकसम्राट् राजवैद्य प० उदयचन्द्रजी मे देखते है। इससे ज्यादा मेरे पास कोई शब्द नही हैं कि मैं गुरा साहब के लिये कुछ लिखू।

भवदीय
माधोसिंह भैसवाड़ा
उप मत्री
भवन-निर्माण विभाग, राजस्थान

चरित्रनायक के निष्ठावान बन्धु

मथुरादास माथुर धाराशास्त्री
प्रधान सपादक एव अध्यक्ष
उदयाभिनन्दन ग्रन्थ
हीरक जयन्ती ग्रन्थ

आज भी जिनकी दिवंगत आत्मा भारतीय संस्कृति की रक्षा का प्रयत्न कर रही है—

महात्मा गाधी

जवाहरलाल नेहरू

लालबहादुर शास्त्री

भारतीय संस्कृति के पृष्ठपोषक
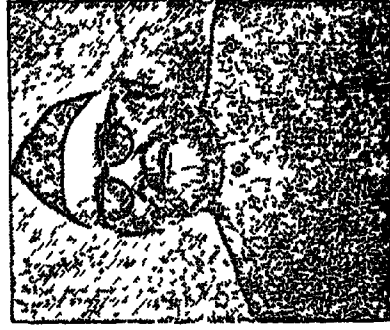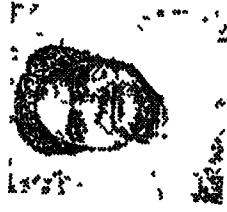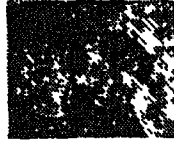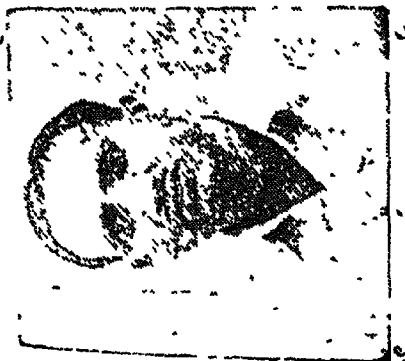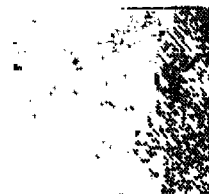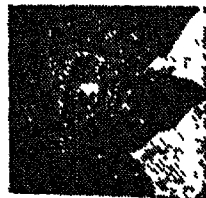
चरित्रनायक की आशा के प्रतीक

राजस्थान के लोक प्रिय मुख्य मन्त्री
श्री मोहनलालजी सुखाड़िया

सम्पादकीय

प्रातःस्मरणीय श्री गुरासाहब को समूचे भारत का वैद्यसमाज अपने पिता की तरह पूजनीय मानता है। भारत के अधिकाश रोगी श्री गुरासाहब को पीयूषपाणि की उपमा के माध्यम से याद करते है। राजस्थान के घर-घर मे आपकी महिमा सुनी जा सकती है और मारवाड का तो पत्थर-पत्थर आपका गुण गाता है। ऐसे ओजस्वी व्यक्तितत्त्व वाले स्वनामधन्य प० उदयचद्रजी (चाँणोद गुरासाहब) को हिन्दुस्तान मे चिकित्सा करते-करते ७५ वर्ष से भी अधिक समय हो चुका है, कारण वे ९३वें वर्ष में पदार्पण कर चुके हैं। ऐसे तपस्वी महामानव आज भी हिन्दुस्तान मे विरले ही देखे व पाये जाते हैं। हमारे मारवाड और राजस्थान को यह गौरव प्राप्त है कि वह अत्यत निकट से श्री गुरासाहब के दर्शन कर सकता है और आपकी सुहृत् वत्सलता के कारण जो भी आपको एक बार देख लेता है वह उन्हें अपना ही मान बैठता है एव अपने सुखो का नही प्रत्युत् अपने दु ख-दर्दों का साथी मानता रहता है। इसीलिए ऐसे ही महामानवो के लिए गीता ने 'सर्वभूत हिते रत' का विशेषण दिया है जिसके लिए आप सर्वथा उपयुक्त हैं।

श्री गुरा साहब को मैं बचपन ही से जानता हू। मेरा समूचा परिवार आपको बडी निटकता से जानता है। जब मै बच्चा था तब भी आपको जानता था। कॉलेज मे पढ़ कर आने के बाद थोडा आपसे अलगाव हुआ, कारण आप 'राजवैद्य' के नाते मारवाड मे बहुत बडे आदमी माने जाते थे। स्वर्गीय महाराजा उम्मेदसिहजी के बाद आपकी राज्य मे एक महान् कलाकार की हस्ती थी। राज्य ने आपको अपने विशिष्टतम उपाधियाँ, उपहारो एव मर्यादाओ से विभूषित किया था जिसका प्रत्यक्षीकरण जोधपुर मे हुवे अ० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के उन्तीसवें अधिवेशन से किया जा सका था। हम लोगो ने भी साश्चर्य देखा कि महाराजा तो खैर अपने ही आदमी थे पर सात समुद्रो पार वाला अग्रेज प्रधान मत्री भी आपके इशारो पर चलने मे अपना गौरव समझता था।

ऐसे राज एव राज्य-सम्मानित व्यक्ति से हमारा कुछ समय तक अलगाव था यो कहे कि अलगाव का भ्रम हुआ। कारण हम उस समय अग्रेजी हुकूमत

के खिलाफ महात्मा गाधी व श्री जयनारायणजी व्यास के निर्देशन मे अहिंसक आदोलन कर रहे थे, नारे लगाते, जुलूस निकालते थे, सरकार ने हमारा दमन किया। ज्यो-ज्यो हमारा दमन किया, हमारी ताकत बढी, हमने जेलें भरदी। किंतु हमे वहा भी श्री गुरासाहब के दर्शन हुए, मात्र दर्शन ही नही, उन्होने हमारी जेल मे भी चिकित्सा निशुल्क एव हम लोगो के परिवारजनो को भी पूरी तरह आश्वस्त करते रहे ताकि हमारा अभाव उन्हे न खटके। इससे यह आभास होता है कि पूज्य गुरासाहब राजवैद्य ही नही अपितु प्रजा से सम्बन्धित अधिक रहे। हमारा भ्रम मिट गया, हमने आपको अपना व समाज का परम हितैषी माना। हमारे मन मे आपका तब से उत्तरोत्तर सम्मान बढता ही गया और उसी की एक यह 'श्री उदयाभिनन्दन ग्रथ एव हीरक जयती समारोह समिति जोधपुर" विशाल परिणति है। हमारे आदोलन मे वैद्यो का भी सहयोग था। हमने उसी समय उक्त समिति का बीजवपन किया था। श्री मार० आ० प्रचारिणी सभा जोधपुर ने भी उन्ही दिनो एक अभिनन्दन ग्रथ समर्पित करने का प्रस्ताव पारित किया था।

समय बीतता गया, हम लोग भी इधर-उधर फैल गये। मगर हम जहाँ भी गये वहाँ हमें श्री गुरासाहब की यश-कीर्ति सुनने को मिली जब यह मिलती हमारा मन तडफ उठता कि 'क्या कारण है, हम बडे-बडे कार्य करते ही रहते हैं पर यह एक हमारा मनभावन कार्य पूरा नही होता ?' मैं जोधपुर आता और वैद्यो से मिलता, उन्हे प्रेरणा देता और चला जाता। जोधपुर का ही वैद्य-समाज नही, समूचा हिन्दुस्तानी वैद्य-समाज कांग्रेसी शासन से कुछ खिन्न-सा रहता था, उसकी धारणा मे सरकार उसका जैसा सम्मान करना चाहिये वैसा नही कर पाती थी। वह मेरे आने पर अपना होने के नाते कुछ अपनी खीज निकालता, मागे पेश करता।

काग्रेसी शासन ने आयुर्वेद की समूची प्राथमिक मागें पूरी की और वैद्यो के लिए भी क्षेत्र तय्यार किया कि वह अपनी प्रगति आप करे और जन-सेवा के द्वारा जन भावना को उभार कर आदोलित करे। कुछ वैद्यो ने इसमे सहयोग किया, उनमें श्री गुरासाहब एक अन्यतम व्यक्ति थे। आप राजस्थान आयुर्वेद बोर्ड के प्रथम सभापति निर्वाचित हुए।

राजस्थान प्रांतीय आयुर्वेद सम्मेलन एव राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पजीकृत) जोधपुर में भी श्री गुरासाहब को अभिनन्दन ग्रथ समर्पित करने के प्रस्ताव पारित हुए। इन प्रस्तावो की सूचना वैद्य बधुओ द्वारा मुझे समय २

लोकतंत्र की

कहानी

युवक हृदय सम्राट् दिवंगत नेहरु

पंचायती राज्य के संस्थापक

सर्व प्रथम भारत में पंचायती राज्य की स्थापना नागौर में हुई
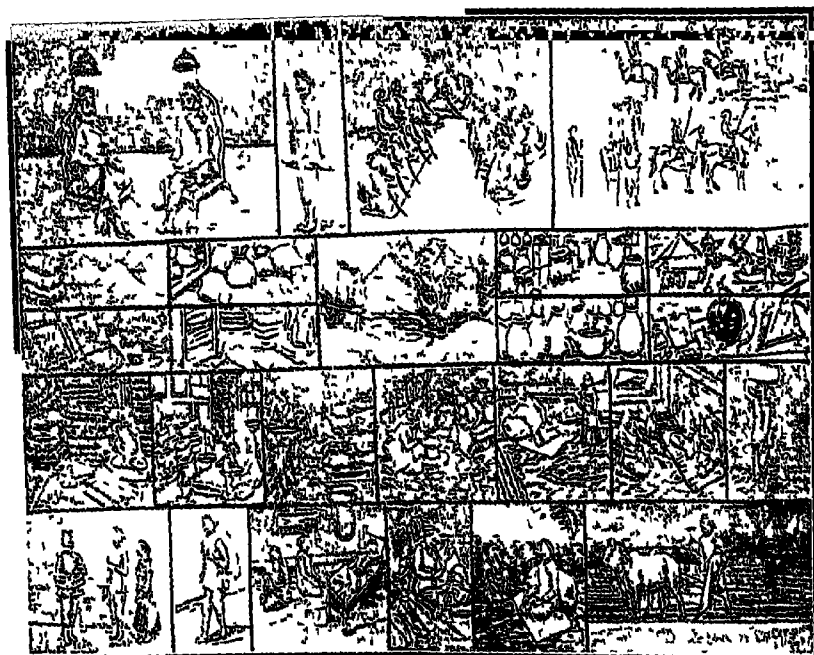
लोकतत्र के प्रेरक

श्री मोहनलाल सुखाडिया
मुख्य मत्री (राजस्थान)

राजस्थान में पंचायत राज्य से समृद्धि

लोकतत्र के प्रहरी

श्री मथुरादास माथुर
वित्तमत्री (राजस्थान)

पर मिलती रहती थी किन्तु कार्यव्यस्तता के कारण मै [illegible] हुआ भी इस ओर ज्यादा ध्यान न दे सका। अन्तत· १९६२ मे जब मै जोधपुर आया तब वैद्य बधुओ द्वारा सपर्क स्थापित किए जाने पर मैंने फिर उन्हे टटोला किंतु कुछ तत्व न मिला तब मैंने शहर के गुणग्राही बहुश्रुत श्री गोवर्द्धनलालजी काबरा से इस सबध में बातचीत की, उन्होने इसे अत्यन प्रसन्नता के साथ स्वीकार किया, एक समिति बनी, वैद्य माधवलालजी जोशी इसके मत्री एव श्री काबराजी इसके अध्यक्ष बनाए गए। काम कुछ प्रगति करने लगा किंतु श्री काबराजी के आकस्मिक निधन ने फिर इसमे शिथिलता ला दी। अतत मुझे ही उदयाभिनदन ग्रथ एव हीरक जयती समारोह का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया तथा कार्यसोकार्य के लिए श्री दोलतराम चौधरी को कार्यवाहक अध्यक्ष बनाया गया। श्री चौधरी की लगन ने इस कार्य को आगे बढाया, एतदर्थ वह धन्यवाद के पात्र हैं।

यहाँ मैं पुण्यश्लोक महामहोपाध्याय प० स्वर्गीय श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊजी का भी पुण्य स्मरण करता हूँ जिन्होने सर्वप्रथम इस अभिनदन ग्रथ का प्रधान सपादकत्व स्वीकार कर हमारा पथ-निर्देश किया। उन्ही की स्वर्गस्थ आत्मा ने जब जब इस कार्य मे शिथिलता आई हमे प्रेरणा देकर आगे बढाया है। वे आज भी हमारे सबल हैं।

देश पर इसी दौरान कई सकट आए, उन्ही सकटो मे अत्यधिक फँसे रहने के कारण इस कार्य मे शिथिलता आती गई, फिर भी मुझे खुशी है कि कार्य रुका नही, धीरे २ प्रगति करना ही रहा। समस्त भारत के महान् आयुर्वेदज्ञो की सेवा मे हम लोगो ने पत्र डाले, उनसे सपर्क साधा और उनके वैदुष्यपूर्ण लेखो को हमारी समिति ने प्राप्त किया वस्तुत यह हमारा सौभाग्य ही था एव श्री चाणोद गुरासाहब का वैशिष्ठ्य। जिस प्रकार देश पर इस दौरान विपत्तिया आईं, ठीक उसी तरह इसी काल में वैद्य समाज पर भी एक से एक बढकर अनभ्र वज्रपात हुए, सर्वप्रथम श्री गुरा साहब के साथी आयुर्वेद के आदर्श विद्वान यादवजी भाई का स्वर्गवास हो गया ? श्री गुरासाहब इससे सभल भी न पाए कि श्री गोवर्द्धनजी शर्मा छांगाणी का स्वर्गवास हो गया। श्री गुरासाहब अपने इन दोनो प्रिय साथियो का वियोग सहन न कर सके और बीमार पड गए ? हमारा व समिति के सारे साथियो का विचित्र हाल ? हमारा सबल श्री गुरा साहब थे पर गुरा साहब का सबल कौन ? किन्तु श्री धन्वन्तरि भगवान के एकनिष्ठ भक्तो एव अपने गुरुदेव के कृपाकटाक्ष मे असीम श्रद्धा रखने

वाले श्री गुरासाहब ने इन कष्टो को अन्तत झेल ही लिया पर ईश्वर की क्या कहूँ उसने महान विद्वान श्री हनुमत्प्रसादजी शास्त्री को भी अपने पास बुला लिया। श्री गुरा साहब फिर हिले। पर चोट पर चोट करने की प्रतिभा के धनी ईश्वर ने और भी एक प्रखर प्रहार अभी २ श्री जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल के देहावसान के रूप मे किया ? श्री गुरासाहब एक बार फिर हतोत्साहित हुए। मैंने सारे कार्यकर्ताओ को नए सिरे से फिर इकट्ठा किया। सारी सम्पादकीय व्यवस्था का भार श्री बाबूलालजी जोशी पर डाला और रा. प्र. वैद्य सम्मेलन के अध्यक्ष श्री रामप्रकाशजी स्वामी से उन्हें निरतर सहयोग देने की प्रार्थना की। मुझे खुशी है कि इन दोनो महानुभावो तथा इनके वैद्य तथा वैद्येतर मित्रो ने मिलकर यह अनोखी प्रेरणा देने वाला, विद्वानो के साथ रहने वाला, छात्रो के मार्ग को सरल करने वाला तथा साधारणतम रोगियो को भी अन्धकार मे प्रकाश देने वाला यह अभिनदन ग्रथ तैयार कर आज मा भारती के श्री व धी पुत्र श्री चाँणोद गुरासाहब की सेवा मे समर्पित किया है जिसका समस्त वैद्य समाज एव आयुर्वेदानुरागी समाज को ही नहीं प्रत्युत् समस्त राजस्थान के माध्यम से सारे हिंदीसेवी समाज को गौरवमिश्रित हर्ष है।

मैं साधना प्रेस के श्री हरिप्रसाद पारीक आदि समस्त कर्मचारियो को भी धन्यवाद समर्पित करता हूँ जिन्होने हमे सहयोग दिया। इसके साथ-साथ मैं अपने सारे वैद्य बधुओ को, समिति के सदस्यो को तथा रामप्रकाशजी स्वामी, कविराज विष्णुदत्त, बुद्धिप्रकाशजी आचार्य, देवीदत्तजी व्यास, मगलदासजी स्वामी, एव प्रेमशकरजी शर्मा आदि का भी धन्यवाद करता हू जिनके साहचर्य से श्री बाबूलालजी जोशी इतने बडे कार्य को इतनी सरलता से कर पाए। इन सब की व्यवस्था के लिए श्री देवेन्द्रचद्रजी मुनि एव श्री ईश्वरचद्रजी घोषाल भी धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त मे मैं श्री गुरासाहब के शतायुष्य को श्रीधन्वन्तरि भगवान् से प्रार्थना करता हुआ यह ग्रथ श्री गुरा साहब को समर्पित करता हूँ।

मथुरादास

(मथुरादास माथुर)
प्रधान सम्पादक एव अध्यक्ष
श्री उदयाभिनन्दन-हीरक-जयन्ती-ग्रन्थ-समिति

अपनी बात

"व्यक्ति का महत्त्व तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना मे है, अन्यथा तेरा मेरा तो केवल क्षुद्र पुरुषो के लिये है। मै तो अपने इस नश्वर शरीर से मानव मात्र का होना चाहता हूँ जिस से मेरे माता-पिता को अधिक शाति तथा सतोष मिलेगा। उनकी महत्ता भी इसी मे है कि उनकी सन्तान अधिकाधिक मानव-सेवा से जगत कल्याण का कार्य करे और यह कार्य जिस प्रकार मैं सोच रहा हूँ इसी से सभव है।"

हमारे चरित्र नायक ने आज से ७५ वर्ष पूर्व उक्त भीष्म प्रतीज्ञा की थी, इसका महत्त्व समझने वाले ही समझ सकते हैं। पर इतना अवश्य एक साधारण से साधारण मनुष्य भी समझ सकता है कि श्री गुरां साहब एक विभूतिमान महान पुरुष है जैसे कि महर्षि चरक के बारे मे भी लोगो की (तत्कालीन) धारणा है कि वे व्याकरण महाभाष्यकार श्री पतञ्जलि ही थे, उन्होने योग-शास्त्र मे पातञ्जल योग एव व्याकरण शास्त्र में पातञ्जल महाभाष्य की रचना की और आयुर्वेद मे अग्निवेश सहिता का प्रति सस्कार किया जो भारत में 'चरक सहिता' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है।

प्रात स्मरणीय चरित्रनायक की महर्षि पतञ्जलि के समान ही मान्यता थी— जैसा कि उन्होने अपने 'योगवार्त्तिक' के प्रारम्भ के वार्त्तिक मे कहा है—"योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मल शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपा करोत्त प्रवर मुनीना पतञ्जलि प्राञ्जलि रानतोस्मि।" इसी प्रकार चक्रपाणि दत्त ने भी चरक की आयुर्वेद दीपिका टीका के मगलाचरण मे लिखा है—

> पातञ्जल महाभाष्य-चरक प्रति सस्कृतैः।
> मनोवाक्काय दोषाणां हर्त्रे हिपतये नमः॥

इन्ही उपरोक्त भावनाओ ने हमारे चरित्रनायक की भावनाओ का निर्माण किया। इसी निर्माण-कार्य मे हमारे चरित्र नायक का ध्यान भारतीय कायचिकित्सा शल्य एवं शल्य तत्र की ओर प्रथमतः आकृष्ट हुआ, किन्तु उपरोक्त दो ग्रथो के सिवाय आयुर्वेद के अन्य तत्र ग्रथ उपलब्ध नही हैं। आज से दो हजार वर्ष पूर्व तो आयुर्वेद के सभी तन्त्र और विशेषज्ञ भी थे इसमे सन्देह नही है, उदाहरणार्थं सम्राट चन्द्रगुप्त के भाग्यविधाता एव परम गुरू व नीति शास्त्र के अनुपम विद्वान् आचार्य चाणक्य (कौटिल्य) ने अपने कौटिलीय अर्थशास्त्र मे निर्देश

वाले श्री गुरांसाहब ने इन कष्टो को अन्तत झेल ही लिया पर ईश्वर को क्या कहें उसने महान विद्वान श्री हनुमत्प्रसादजी शास्त्री को भी अपने पास बुला लिया। श्री गुरा साहब फिर हिले। पर चोट पर चोट करने की प्रतिभा के धनी ईश्वर ने और भी एक प्रखर प्रहार अभी २ श्री जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल के देहावसान के रूप मे किया ? श्री गुरासाहब एक बार फिर हतोत्साहित हुए। मैंने सारे कार्य-कर्ताओ को नए सिरे से फिर इकट्ठा किया। सारी सम्पादकीय व्यवस्था का भार श्री बाबूलालजी जोशी पर डाला और रा प्र. वैद्य सम्मेलन के अध्यक्ष श्री रामप्रकाशजी स्वामी से उन्हे निरतर सहयोग देने की प्रार्थना की। मुझे खुशी है कि इन दोनो महानुभावो तथा इनके वैद्य तथा वैद्येतर मित्रो ने मिलकर यह अनोखी प्रेरणा देने वाला, विद्वानो के साथ रहने वाला, छात्रो के मार्ग को सरल करने वाला तथा साधारणतम रोगियो को भी अन्धकार मे प्रकाश देने वाला यह अभिनदन ग्रथ तैयार कर आज मा भारती के श्री व धी पुत्र श्री चाँणोद गुरासाहब की सेवा मे समर्पित किया है जिसका समस्त वैद्य समाज एव आयुर्वेदानुरागी समाज को ही नहीं प्रत्युत् समस्त राजस्थान के माध्यम से सारे हिंदीसेवी समाज को गौरवमिश्रित हर्ष है।

मैं साधना प्रेस के श्री हरिप्रसाद पारीक आदि समस्त कर्मचारियो को भी धन्यवाद समर्पित करता हूँ जिन्होंने हमे सहयोग दिया। इसके साथ-साथ मैं अपने सारे वैद्य बधुओ को, समिति के सदस्यो को तथा रामप्रकाशजी स्वामी, कविराज विष्णुदत्त, बुद्धिप्रकाशजी आचार्य, देवीदत्तजी व्यास, मगलदासजी स्वामी, एव प्रेमशकरजी शर्मा आदि का भी धन्यवाद करता हू जिनके साहचर्य से श्री बाबूलालजी जोशी इतने बडे कार्य को इतनी सरलता से कर पाए। इन सब की व्यवस्था के लिए श्री देवेन्द्रचद्रजी मुनि एव श्री ईश्वरचद्रजी घोषाल भी धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त मे मैं श्री गुरासाहब के शतायुष्य को श्रीधन्वन्तरि भगवान् से प्रार्थना करता हुआ यह ग्रथ श्री गुरा साहब को समर्पित करता हूँ।

मथुरादास

(मथुरादास माथुर)
प्रधान सम्पादक एव अध्यक्ष
श्री उदयाभिनन्दन-हीरक-जयन्ती-ग्रन्थ-समिति

अपनी बात

"व्यक्ति का महत्त्व तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना मे है, अन्यथा तेरा मेरा तो केवल क्षुद्र पुरुषो के लिये है। मै तो अपने इस नश्वर शरीर से मानव मात्र का होना चाहता हूँ जिस से मेरे माता-पिता को अधिक शाति तथा सतोष मिलेगा। उनकी महत्ता भी इसी मे है कि उनकी सन्तान अधिकाधिक मानव-सेवा से जगत कल्याण का कार्य करे और यह कार्य जिस प्रकार मै सोच रहा हूँ इसी से सभव है।"

हमारे चरित्र नायक ने आज से ७५ वर्ष पूर्व उक्त भीष्म प्रतीज्ञा की थी, इसका महत्त्व समझने वाले ही समझ सकते हैं। पर इतना अवश्य एक साधारण से साधारण मनुष्य भी समझ सकता है कि श्री गुरां साहब एक विभूतिमान महान पुरुष है जैसे कि महर्षि चरक के बारे मे भी लोगो की (तत्कालीन) धारणा है कि वे व्याकरण महाभाष्यकार श्री पतञ्जलि ही थे, उन्होने योग-शास्त्र मे पातञ्जल योग एव व्याकरण शास्त्र में पातञ्जल महाभाष्य की रचना की और आयुर्वेद मे अग्निवेश सहिता का प्रति सस्कार किया जो भारत मे 'चरक सहिता' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है।

प्रात स्मरणीय चरित्रनायक की महर्षि पतञ्जलि के समान ही मान्यता थी—जैसा कि उन्होने अपने 'योगवार्तिक' के प्रारम्भ के वार्तिक मे कहा है—"योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मल शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपा करोत्त प्रवर मुनीना पतञ्जलिं प्राञ्जलि रानतोस्मि।" इसी प्रकार चक्रपाणि दत्त ने भी चरक की आयुर्वेद दीपिका टीका के मगलाचरण मे लिखा है—

पातञ्जल महाभाष्य-चरक प्रति सस्कृतै।
मनोवाक्काय दोषाणां हर्त्रे हिपतये नमः॥

इन्ही उपरोक्त भावनाओ ने हमारे चरित्रनायक की भावनाओ का निर्माण किया। इसी निर्माण-कार्य मे हमारे चरित्र नायक का ध्यान भारतीय कायचिकित्सा शल्य एव शल्य तत्र की ओर प्रथमतः आकृष्ट हुआ; किन्तु उपरोक्त दो ग्रथो के सिवाय आयुर्वेद के अन्य तत्र ग्रथ उपलब्ध नही हैं। आज से दो हजार वर्ष पूर्व तो आयुर्वेद के सभी तन्त्र और विशेषज्ञ भी थे इसमे सन्देह नही है, उदाहरणार्थ सम्राट चन्द्रगुप्त के भाग्यविधाता एव परम गुरू व नीति शास्त्र के अनुपम विद्वान् आचार्य चाणक्य (कौटिल्य) ने अपने कौटिलीय अर्थशास्त्र मे निर्देश

दिया है कि 'राजमहिषी के गर्भवती होने पर कौमारभृत्य (वैद्य) गर्भ की रक्षा के निमित्त प्रयत्नशील रहे और प्रसव काल आने पर विधिवत् सुख प्रसव कराने का यत्न करें।'

और भी 'राजा के निकट जाङ्गुल विद् (विषवैद्य) और भिषक (काय-चिकित्सक) रहने चाहिये। वैद्य का कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह औषधालय के प्रयोग मे शुद्ध समझी हुई औषधि को पाचक व पोषक रूप मे प्रथम स्वय प्रयोग कर व अन्यान्य पर प्रयोग कर बाद मे राजा को दे।' इस इतिहास द्वारा यह स्पष्ट होता है कि गुप्त काल, जो भारत के इतिहास का स्वर्णकाल माना जाता है, मे शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, कौमारभृत्य, अगद तन्त्र आदि आयुर्वेद के सभी अग विद्यमान थे। उन उन के विशेषज्ञ भी सर्वथा उपलब्ध थे। इनना ही नही उस समय 'आशु मृतक परीक्षा' (पोस्ट मार्टम) विधि भी प्रचलित थी। और इसी पद्धति को उस समय 'व्यवहारायुर्वेद' की सज्ञा दी गई थी इसका उल्लेख श्री चाणक्य ने अपने 'कण्टक शोधन' नामक चौथे अधिकरण के सातवे अध्याय मे किया है। इस से यह प्रमाणित होता है कि आज से लगभग २२७५ वर्ष पूर्व आयुर्वेद साङ्गोपाङ्ग व पूर्ण समुन्नत दशा मे था। यही चित्र हमारे चरित्र नायक के दिमाग मे दौड रहा था। उन्हे विश्वास था कि यदि प्रयत्न किया जाय तो आज भी उस जमाने का पुनरावतरण किया जा सकता है। चरित्र-नायक आज अपनी सरकार (जनतन्त्र) के समय तो पूर्ण आशावान हैं इसीलिये हमने इन उदाहरणो को यहा उपस्थित किया है।

इसी पूर्व पीठिका मे श्रद्धेय चरित्र नायक के मष्तिस्क मे आयुर्वेद के मूल रूप का आभास उपस्थित करना समीचीन होगा। आयुर्वेद में त्रिधातुवाद का सिद्धान्त अपना विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि यह सारा विज्ञान वातपित्त श्लेष्म मूलक है। रोगो की ओर ध्यान दें तो वात, पित्त, कफ की विकृति प्रतीत होगी एव आरोग्यता की ओर ध्यान दें तो वात, पित्त, कफ की प्राकृतावस्था सामने आयेगी। ऋग्वेद में भी आयुर्वेद के इस त्रिधातुवाद की चर्चा है।

हमारे चरित्रनायक एव आयुर्वेदोय ऋषि महर्षियो के अनुसार वात का अर्थ है—सर्व विसर्गत (क्रिया) और गन्धन (सूचन) का उपादान मासपेशियो मे वेग उत्पन्न करके आकुंचन-प्रसारणादि चेष्टाओ को जिन्हे Sensation और Musculer Actia कहा जाता है—करना। शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्ध को मन के सन्निकट पहुँचाना, मन की वृत्तियो का नियमन और प्रेरणा करना, सभी इन्द्रियो को अपने अपने कार्य में लगाना। हृदय की गति, रसादि धातुओ का सचालन, मस्तिष्क

की प्रेरणा, सुषुम्नादि नाडियों का कार्य, आमाशय की क्रिया, क्षुद्र-वृहद अन्त्रो का क्रिया-कलाप आदि जितने भी गति रूप कार्य शरीर मे होते हैं वे सभी वायु के हैं। शवच्छेद कर के मस्तिष्क एव सुषुम्नादि को देखने वाले तथा जीवित प्राणी पर नानाविध परीक्षाएँ करके प्रत्यक्ष करने वाले पाश्चात्य विज्ञानविद् पडितो का कहना है कि 'बिजली की तरह कोई अद्भुत एव सर्वव्यापिनी शक्ति शरीर मे है जिसके प्रभाव से शरीर के समस्त यन्त्र-तन्त्र चलते रहते हैं।' महर्षि चरक ने अपने वात कलकलीय अध्याय मे भी उक्त बातो का पूर्ण समथन किया है।

इस वर्णन को देखने के पश्चात् कोई भी विज्ञ मनुष्य सरलता से समझ सकता है कि आयुर्वेदज्ञ महर्षियो को समग्रनाड़ी मण्डल (Nervous system) की क्रियाओ का अप्रतिहत ज्ञान था। सुश्रुत का कहना है कि 'प्रस्पन्दनोद्वहन-पूर्ण विवेक धारण लक्षणो वायु पञ्चधा प्रविभक्तः शरीर धारयति।' सु.सू.अ १५

शरीर मे होने वाले आवश्यक सन्ताप (उष्णता) तथा दहन पचनादि क्रिया का उपादान पित्त है। शरीर का स्वाभाविक सन्ताप (९८, ९८$\frac{1}{2}$ F) बनाये रखना अन्न का विपाक, रस की रक्त रूप मे परिणति, बुद्धि एव मनोबल की वृद्धि, दृष्टि की उज्ज्वलता और त्वक् की शोषण शक्ति ये शरीर मे पित्त के कार्य हैं। दहन (Oxidization) और पचन (Digestion) क्रिया के बिना कोई भी खाद्य शरीर में परिवर्तित होकर तन्मय नही हो सकता। पाश्चात्यविदो का कहना है-कि 'शरीर के भीतर यह परिवर्तन उष्णता के कारण होता है।' उष्णता अग्नि का गुण है, फलतः यह सिद्ध होता है कि शरीर मे जो अग्नितत्त्व की उपस्थिति है वही पित्त है।

श्लेष्मा का अर्थ है श्लेष्मण, स्नेहन, क्लेदन आदि का उपादान। संधियो का श्लेषण, शरीर का स्नेहन, अन्न का क्लेदन, धातुओ का पूरन आदि कार्य भी श्लेष्मा के हैं। श्लेषण - स्नेहन आदि कार्य जल के है अतएव श्लेष्माउदक कर्म से शरीर का उपकार करने वाला 'सौम्य' कहा गया है। ये वात, पित्त, कफ शरीर में दृश्य जगत के वायु, सूर्य और चन्द्रमा की समता के माने गये हैं, वात का वायु एक ही है। सूर्य तेज स्वभाव का व चन्द्रमा जल स्वभाव वाला है। विसर्ग (तर्पण), आदान (शोषण) और विक्षेप (सचरण) इन तीन क्रियाओ से जैसे सोम, सूर्य और वायु जगत को धारण करते है वैसे ही वात, पित्त, कफ शरीर को धारण करते है। इनकी साम्यावस्था आरोग्यता है एव विषमावस्था रोगोत्पादक है। अतः यह सर्वमान्य हो जाता

है कि त्रिदोष सिद्धान्त हमारे महर्षियो की हमे अद्भुत देन है, इस पर आक्षेप करने से पूर्व हमारे चरित्रनायक का कहना है कि— 'विमल एव निष्पक्ष बुद्धि से आयुर्वेद का अध्ययन करना अत्यावश्यक है।' आयुर्वेद के मूलान्वेषण त्रिदोष ही मुख्य है, उनका विश्वास है कि 'शरीर पदार्थों का साम्य वैषम्य और उनको विविध कार्यकर्तृता अथवा अनियमितता, कुपिता, कुपितता, वात पित्त, कफ पर ही निर्भर हैं।

हमारे आदर्श चरित्रनायक ने उपरोक्त स्थूल विवरण के अलावा कुछ और सूक्ष्म गोते आयुर्वेदीय महासागर मे लगाये हैं और आयुर्वेद की महत्ता प्रदर्शित की है कुछ इसकी भी झाँकी करानी समोचीन रहेगी उदाहरणार्थ—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थंतु स्व स्व गृण्हाति मानवः
नियत तुल्य योनित्वान्नायेबान्य मितिस्थितिः। सु शा अ:१

चक्षुरिन्द्रय से गन्ध का ज्ञान नही होता और न जिह्वा से शब्द ज्ञान ही होता है। इसी तरह नासा से सफेद काले के भेद का भी ज्ञान नही हो सकता। पाच ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत्रात्वक्, चक्षु, रसन व घ्राण और उनके पाच विषय— शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गध नियत हैं तब प्रकट यह होता है कि सृष्टि के भी तत्त्व गुण पाच से अधिक नही है। यदि यह कल्पना करें कि तत्व गुण पांच से अधिक हैं तो उनको जानने के लिये हमारे पास साधनो की भी अपेक्षा होगी। इन पाच गुणो मे से प्रत्येक के अनेक भेद हो सकते हैं। जैसे शब्दगुण एक हैं पर उसके ऊचा, नीचा, कर्कश, कोमल, भद्दा, फटा आदि, अथवा सगीत शास्त्र के अनुसार षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पचम आदि एव व्याकरण शास्त्र के अनुसार कण्ठय, तालव्य, ओष्ठय आदि अनेक भेद होते हैं। इसी तरह यद्यपि रूप भी एक ही गुण है तथापि उसके—सफेद, लाल, हरा, पीला, काला, नीला आदि अनेक भेद हो जाते है। इन मे भी मधुर यद्यपि एक विशिष्ट रस है तथापि हम अनुभव करते हैं— ईख, गुड़ और चीनो आदि का मिठास भिन्न २ तरह का होता हैं। इसी प्रकार एक ही मधुर रस के अनेक भेद हो जाते हैं यदि इन भिन्न २ मिश्रणो पर विचार किया जाय तो यह गुण वैलक्षण्य अनन्त प्रकार से असख्य हो सकता है। चरक के सूत्र स्थान के आत्रेय भद्र का बीय अध्याय में मधुरादि रसो के त्रिषष्ठि भेद दिखाने के बाद उनकी यह अनन्तता स्पष्ट कही है—

"इति त्रिषष्ठि द्रव्याणां निर्दिष्ठा रस सख्यया
त्रिषष्ठि· स्यात्क सख्येया रसाना रस कल्पनात
रस स्तर तमाभ्यां सख्यामति पतन्ति हि।" च. सू अ २६

प्रस्तुत उदयाभिनन्द ग्रन्थ मे आये लेखो का महत्त्व चरित्रनायक की भावनाओ के अनुसार ही क्रमबद्ध रूप मे पाठको के सामने है। मान्य लेखको की लेखनी ने विषय का पूर्ण प्रतिपादन करते हुए कही २ प्रत्यक्ष अनुभवो पर भी प्रकाश डाला है। इसी लेखसरणि मे जोधपुर के आयुर्वेद के विद्वान श्री देवीदत्तजी व्यास ने जोर देकर कहा कि "आतुर परिचर्या धन कमाने का व्यवसाय नही अपितु सेवा का मार्ग है जिस की समानता ईश्वर पूजा से हो सकती है।" वस्तुतः चरित्र नायक की मूल भावना को ही विद्वान लेखक ने मूर्त्तरूप मे उपस्थित कर दिया है। लेखक ने छात्र-छात्राओ के हित की भावना से सरल से सरल भाषा मे इस महत्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन किया है। ठीक इसी तरह श्रीमती शान्ति देवी जोशी ने भी छात्र-छात्राओ के हित को ही अपने लेख का आदर्श बनाया है।

'आयुर्वेदीय निदान सरणि' शीर्षक लेख मे विद्वान लेखक श्री कृष्णदत्तजी शास्त्री ने बडे ही दुःख के साथ लिखा हैं कि—"आज की निरतर बढती हुई रोगी सख्या क्या इस दोषपूर्ण चिकित्सा पद्धति की परिचायिका नही है?" महान दुःख का विषय है कि "काम ये दुःख तप्ताना प्राणिनामार्त्ति नाशनम् की निष्काम भावना से प्राणी-जगत को स्वास्थ्य समर्पण करने के पवित्र कर्त्तव्य को आज paying business का रूप दिया जा रहा हैं।" विद्वान लेखक की इस बात का महत्व है, इस पर अवश्य ही ध्यान दिया जाना चाहिये।

आयुर्वेदीय अनुसधान पद्धति शीर्षक मे तथ्यान्वेषी लेखक ने निर्भीक रूप से स्पष्ट लिखा है कि 'यह सर्वविदित है कि आज तक किसी भी भारतीय ऐलोपैथ डाक्टर ने नव्य चिकित्सा विज्ञान मे किसी भी प्रकार की गवेषणा का कोई चमत्कार नही दिखाया? वे ही सब विदेशो से आए हुए विविध शस्त्र, यंत्र, उपकरण, औषधियाँ आदि उनके पास हैं जिनके शिल्पाभ्यास से वे तद्रूप होकर भारतीयता को विस्मृत कर चुके है। जिस प्रकार ऐलोपैथि मे एक बार किसी असत् सिद्धान्त को अपनाया गया और कालान्तर मे उस मे त्रुटि प्रतित हुई तो उसे छोड कर दूसरा सिद्धात पकड़ लिया गया बस? इसी प्रकार की पद्धति आयुर्वेद के क्षेत्र मे भी गवेषणा के नाम से प्रचारित करने का उद्योग हो रहा है और हो सके तो आयुर्वेद के कतिपय सिद्ध प्रयोगो को ऐलोपेथि मे सम्मिलित कर आयुर्वेद को धता बता देने की भी नीति चल रही है।' लेखक के इस अभिप्राय से हम पूर्ण सहमत हैं। विद्वान लेखक के इन शब्दो का भी हम पूर्णतः समर्थन करते हैं कि—प्राचीन शास्त्रो का एक अक्षर भी लुप्त न होने-देना चाहिये और नवीन के उपादान तथा आत्मसात करने मे प्रतिरोध भी न होना चाहिये।

'आयुर्वेदीय चिकित्सा के चारो पादो की वर्तमानावस्था' के विद्वान लेखक के मत मे... "वर्तमान समय मे आयुर्वेद के अनुयायी चाहे व्यवसायी हो या विद्यार्जनरत छात्र हो---- कोई भी आयुर्वेद की स्थिति से सतुष्ट नही हैं। समाज और सरकार दोनो तरफ से उपेक्षित सा और अपने लिये उचित स्थान तथा सम्मान से वचित सा अपने को महसूस करता हैं।" आज वर्तमानावस्था का कितना स्पष्ट निरूपण है ? आगे चल कर विद्वान लेखक ने उक्त अवस्था के निवारणार्थ चारो घटको मे से प्रत्येक घटक के लिये जो उपाय सुझाये हैं वे अतीव उपयोगी एव महत्वपूर्ण हैं। आयुर्वेदीय भारत' के प्रथम उपकुलपति के अनुभूत विचारो से वैद्यसमाज अवश्य ही लाभ उठायेगा, ऐसी हमे पूर्ण आशा है। इतने उपयोगी एव सामयिक लेख के लिये हम लेखक के सर्वान्त.करण से आभारी हैं।

'रक्तचाप' के विद्वान लेखक ने अपने अनुभवो का हमें जो दान दिया है वह हमारे ही लिये नही अपितु वैद्य-जगत के लिये उनकी अनुपम देन साबित होगी, ऐसा हमारा दृढ विश्वास है। इन्ही मनीषि महाशय ने 'वातरोगो पर अनुभूत' शीर्षक मे बहुत ही उपयोगी प्रयोग वैद्य समाज के सामने उपस्थित किया है जो विचारणीय है।

'बाल पक्षाघात एव आयुर्वेद' के तत्वान्वेषी लेखक ने केन्द्रीय-आयुर्वेदिक अनुसधानशाला, उदयपुर की बाल पक्षाघात शाखा के विशेषज्ञ चिकित्सक की हैसियत से जो विवरणात्मक लेख दिया है वह चिकित्सक समाज का मार्ग निर्देशन चिरकाल तक करता रहेगा। अस्तु

'आत्मवाद एव जडवाद' के तत्वदर्शी विद्वान लेखक ने अपने लेख मे जडवादियो को अचूक युक्तियो से अच्छा झकझोरा है। आयुर्वेद को आत्मवादी शास्त्र बताते हुए आपने थोडे मे कितना सुन्दर विवेचन किया है—"आमतत्त्व को व्यापकतत्त्व के रूप में अगीकार किया है। आत्मतत्त्व से ही जगत-प्रपच की उत्पत्ति का निरूपण किया गया है। एतावत्ता ससार की कोई भी वस्तु आत्म-तत्त्वशून्य नही हो सकती। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि चेतनवर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट होती है। इस सत्य सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए आयुर्वेदाचार्यों ने बताया है कि जगत मे व्यवहारार्थं जड़ और चेतन का प्रयोग प्रचलित है। एव इन्द्रिय विकासोपेत द्रव्यो को चेतन और इन्द्रिय विकास रहित पदार्थं को जड सज्ञा से अभिहित किया गया है।"

'फैकल्टीज आफ इडियन मेडिसिन' मे भाषण करते हुए राजनैतिक विज्ञान

वक्ता ने बहुत ही समीचीन कहा है कि "खुला मस्तिष्क रखकर विश्व की अच्छी बातें ग्रहण करनी चाहिये और उदाराशय रखकर अपनी अच्छी बातें विश्व को देनी चाहिये।" किन्तु प्रश्न यही है कि हमारी अच्छी बातो का कोई नैतिक ग्राहक भी है अथवा तस्कर विधि से ही हमारी सारी अच्छाइया लूटी या हडपी गई हैं। राजनैतिक वक्ता ने इस पर कुछ प्रकाश डालना अनावश्यक ही समझा है। अपने सारे भाषण का सार बताते हुए विद्वान वक्ता ने स्वीकार किया है— "आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान के लिये पाठ्यक्रम, अनुसधान, औषधनिर्माण, सर्व साधारण जन स्वास्थ्य सरक्षण योजनाओ को सफल बनाने के लिये इस समय एक स्थिर नीति की आवश्यकता है, और ऐसी स्थिर नीति का निर्धारण तब तक सम्भव नही है जब तक कि 'मेडिकल कौसिल' की तरह आयुर्वेदिक कौंसिल बनाने का निर्णय भारतसरकार द्वारा नही ले लिया जाता।" हम वक्ता के इस अश से सर्वथा सहमत हैं।

'चिकित्सा मे चरक की विशिष्टता' शीर्षक लेख मे तथ्यान्वेषी लेखक ने एक एक शब्द तोल २ कर दिया है। विशेषता यह है कि भाषा बडी ही सुबोध एव सरल है। अन्त मे लेखक के ये शब्द बडे ही गभीर अर्थ के द्योतक हैं कि "चरक संहिता या अग्निवेशतत्र समुद्र के समान गभीर है उसमे आज तक की समग्र चिकित्सा विधियो का समावेश भी शक्य है परन्तु उसकी चिकित्सा विधि की अद्भुतता की विशेषता भी साथ ही साथ रहती है। अस्तु:

'शोधन' के मनस्वी लेखक ने चरक संहिता के कल्पद् स्थान को सरल चार्टों में उपस्थित कर चिकित्सो व छात्र-छात्राओ के अध्ययन, मनन एव परिशीलन को प्रवुद्ध सर्वथा रखने की मूर्त्त कल्पना की है जोकि सर्वदा श्लाघनीय है। आशा है लेखक की कामना अवश्य ही साफल्य लाभ कर वैद्य-जगत का मार्ग निर्देशन सर्वदा करती रहेगी। 'मौलिक विज्ञानिकता-त्रिदोष सिद्धान्त' के प्रगतिशील लेखक ने अपने लेख में त्रिदोष सिद्धान्त की व्यापक विवेचना की है जो विचारणीय एव मननीय है।

'कायचिकित्सा' के तप पूत विद्वान लेखक के लेख का अध्ययन करने से आपकी तत्त्वग्राही बुद्धि का भली भाति ज्ञान होता है। ऐसे लेखको पर जनता को गर्व है। आपने पाश्चात्य चिकित्सा विधि से कायचिकित्सा मे आयुर्वेद की विशेषता पर इतना सुन्दर व सरल प्रकाश डाला है कि वह पढते ही बनता है। पाठक उत्तरोत्तर अपने आप को ज्ञान गगा मे गोते लगा कर आनन्दानुभव करता है। विद्वान लेखक ने जनता के भ्रम को मिटाने की चेष्टा की है साथ साथ यह

घोषणा भी करदी है कि पाश्चात्य चिकित्सा के वैज्ञानिक कायचिकित्सा के क्षेत्र मे घराशायी हो रहे हैं। लेख पठनीय एव मननीय है।

'रस शास्त्र' के लेखक वर्त्तमान युवा पीढी के प्रतीक हैं। आपने रसशास्त्र का विवेचन सुन्दर ढग से किया है। विषय को सरल बनाने के लिये आपने 'चार्ट' दिये हैं वे अत्युपयोगी होगे, ऐसी हमारी मान्यता है।

युगप्रवर्त्तक प्रात स्मरणीय विश्ववन्द्य पुण्यश्लोक स्व. श्री स्वामी लक्ष्मीरामजी महाराज का 'आयुर्वेद मे विज्ञान' शीर्षक लेख मूलत सस्कृत मे था। लेख की महत्ता व विषय की यथार्थ प्रतिपाद्यता को बहुत पहिले से जानने के कारण हमारी आन्तरिक इच्छा थी कि यह लेख 'उदयाभिनन्दन ग्रथ' मे समाविष्ट किया जाय। कुछ साथी इसका हिन्दी अनुवादित रूप चाहते थे, वह पूज्यपाद स्वामी मगलदासजी ने कर के हिन्दी जगत को एक अनुपम देन दी है, एतदर्थ हम उन के श्री चरणो मे श्रद्धावनत हैं।

'चरक सहिता का इन्द्रिय स्थान' के लेखक ने भारतीय आयुर्वेद विज्ञान से सबधित महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित अरिष्टलक्षणो मे स्वप्न पर गुणावगुण जानने को आधार भूमि पर आयुर्वेद प्रणाली को स्वप्न के सबध मे अन्तर्देशीय विचार सरणि के माध्यम पर एक जटिल समस्या प्रस्तुत की है जो विचारणीय एव मननीय है।

'अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य' के विद्वान लेखक ने 'गुण रत्नमाला' को 'भाव-प्रकाश' का ही एक अग माना है। अन्य अनेकानेक अज्ञात आयुर्वेद साहित्य पर अच्छा प्रकाश डाला है जो वैद्य मनीषियो के लिये विचार-विमर्श का साधन समयोचित रूप मे बन पाया है।

'विष-विज्ञान' बहुश्रुत विज्ञ लेखक ने प्राच्य एव प्रतीच्य विचारधारा का विहँगावलोकन करते हुए अपने विषय का अपनी दृष्टि में अच्छा सामयिक प्रकाश डाला है जो कि विचारणीय एव मननीय है।

'आयुर्वेदीयस्त्रिदोष सिद्धान्त कीटाणुवादश्च' के महा मनीषी लेखक ने आयुर्वेदीय त्रिदोष सिद्धान्त के चिर स्थायित्व का प्रतिपादन करते हुए आधुनिक कीटाणुवाद को त्रिदोष सिद्धान्त का ही एक अग प्रमाणित किया है। विद्वान लेखक ने कीटाणुवाद की भिन्न स्थिति को सर्वथा अस्वीकृत किया है।

'अन्न-पान का प्रकृति से सबध' शीर्षक के लेखक ने आयुर्वेदीय पुरातन सस्कृति के दो पृष्ठो को आज के वातावरण मे खोलने व उस पर गभीरतया विचार

करने का आह्वान वैद्य-समाज से किया है जो लेखक के वर्तमान पद की जिम्मेवारियो से ओत.प्रोत है।

प्रातः स्मरणीय स्व. श्री हनुमत्प्रसादजी शास्त्री के अन्य ३ लेख और भी है (१) आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता जो कि 'साख्ये नानामतानि' के अन्तर्गत है। (२) आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्तानुकूल अभिनव चिकित्सा विज्ञान का समन्वय (३) आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता अन्तर्गत आरम्भवादादिवाद चतुष्टय विज्ञानम् (सस्कृत) के लेखक हैं। महा मनीषी श्री शास्त्रीजी के लेख एक से एक बढ कर हैं। आपने अपने विषय की प्रतिपादना मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है। आज सारा वैद्यसमाज श्री शास्त्री के प्रति पूर्ण निष्ठावान होता हुआ पूर्णरूपेण श्रद्धावनत है।

उपरोक्त लेखों व लेखकों के सहयोग ही से हमारे चरित्रनायक की वास्तविक प्रतीती सर्व साधारण को हो सकेगी ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है। हमारे चरित्रनायक का रोम रोम आयुर्वेदपासक हैं। इसी तरह अखिल भारत में हमारे चरित्रनायक की अभिव्यक्ति का प्रदर्शन अपने शब्दो मे करने की उत्कट इच्छा रखने वाले भी अनगिनत हैं। हमारे पास अनेको प्रबध भी स्थानाभाव के कारण रखे रह गये हैं। हम उन प्रेषको की भावना से परिचित हैं फिर भी इस महँगाई के जमाने मे अब केलेवर बढाना समीचीन न होगा। अस्तु।

हमारे प्रातः स्मरणीय चरित्रनायक की उपरोक्त विद्वद्मडली द्वारा जो अभिव्यक्तिया प्रकाशित की गई हैं, उसी तरह यदि हम सर्वसाधारण जनता की ओर देखें तो हमे पता चलेगा कि हमारे चरित्रनायक 'गुरासा' और आयुर्वेद पर्यायवाची सर्व साधारण की जबान पर हो चले हैं, इसका कारण यदि हम ढूढें तो हमे पता चलेगा कि आपश्री ने जो अथक रूप से लम्बे ७५ वर्षों तक जनता की सेवा की है वही आज विकसित होकर जनरव मे प्रस्फुटित हो रही है। हमारे साथ २ राजस्थान का बच्चा २ जानता है कि श्री गुरांसा की नाडी देखने की अनुपम विधि अपना विशेष महत्व रखती है। सभी जानते हैं कि इन्हे थर्मामीटर, स्टेथिस्कोप, एक्सरे आदि किसी भी पाश्चात्य यत्र की अवश्यकता अपने निदान मे नही पडती प्रत्युत उन यत्रो की सहायता से किये जाने वाले रोगनिदान की बजाय चरित्रनायक की तीन अगुलियां एव बन्द आँखें निदान करती है उन्हे देख सुन कर स्तभित रह जाना पड़ता है। अच्छे २ पाश्चात्य चिकित्सक एव सर्जन श्री गुरासा को इस अद्भुत चमत्कार से आये दिन प्रभावित होते रहते हैं। एक बार एक यूरोपियन महिला से जो कि

श्री गुरांसा को अपने एक मित्र की नाडी दिखलाने आई थी—श्री गुरांसा का निदान सुनकर आश्चर्यचकित होती हुई बोली —"नाडी तीन अगुलियो से देखने के साथ २ इन्होने जो अपनी आँखें मूद रखी थी, मेरा खयाल है इन्होने किसी जादू से बद आँख से भीतर की सारी रोगस्थिति को प्रत्यक्ष देखली ? इनकी आँखो का लेस एक्सरे से भी अधिक शक्ति रखता है।" ये हैं वे उदगार जो आये दिन आपके साथ रहने वाले हमारे जैसों को नित्य ही सुनने को मिलते हैं। औरो की तो बात ही क्या, हम भी कभी २ आपके नाड़ी दर्शन से बडे आश्चर्य में पड जाया करते हैं। राज घराना भी आपके नाडी ज्ञान के बल पर ही आपके चरणो की ओर आकर्षित हुआ, यह सभी जानते हैं।

उपरोक्त नाडो विज्ञान के चमत्कार ने जहा श्री गुरासा के चरित्रबल एव आत्मबल को एक ओर विकसित किया वहा बुद्धिवादो समाज के मन मे भी इस भावना को विकसित किया कि ऐसा चमत्कारिक नाडी विज्ञान श्री गुरासा के बाद कहा मिलेगा ? जब लोगो ने सुना कि श्री गुरासा को अभिनन्दन ग्रथ समर्पित किया जा रहा है तब हमारे पास ऐसे असख्य पत्र देश-विदेशो से आने लगे कि श्री गुरासा के नाडी विज्ञान एव चिकित्सा विज्ञान की एक झलक इस ग्रथ मे अवश्य दी जाय। हमने भी इस जन सम्मति को सच्चे हृदय से स्वीकार की। स्वीकार तो की पर इसकी व्यवस्था कैसे की जाय इस चक्कर में हम बुरी तरह फस गये। अन्तत हमारी दौड तो श्री गुरासा तक ही थी। हमने आपश्री से प्रार्थना की और आपने हमारी प्रार्थना स्वीकार की। आपने अपने पूर्वजो के खजाने से नाडी सबधी कुछ श्लोक निकालकर हमें दिये जो इस ग्रन्थ मे दिए जा रहे हैं। तत्त्वग्राही बुद्धिमान व्यक्ति इसे समझेगे और जन-कल्याण मे प्रवृत्त होगे ऐसी हमारी पूर्ण आशा है।

उपरोक्त नाडी विज्ञान के बाद अब हम चिकित्सा विज्ञान पर भी श्री गुरासा के अद्भुत कौशल के बारे मे प्रकाश डाल देना अपना कर्त्तव्य मानते हैं। श्री गुरासा चिकित्सा मे प्रथम स्थान मूत्र परीक्षा को देते हैं। आपश्री ने त्रिदोष सिद्धान्त पर ही मूत्र परीक्षा व्यवस्थित की है जो इस ग्रथ में यथास्थान दी गई है। आपने अपनी मूत्र परीक्षा मे प्राय सभी बडी-बडी बीमारियो की परीक्षा मूत्र-परीक्षा द्वारा सभव बताई है। इसी सदर्भ मे आपने रोगी की मृत्यु का भी ज्ञान सभव बताया है। दिशाओ के माध्यम से मूत्र मे गिराई गई तैल बिन्दु पूर्व दिशा मे बढे तो बहुत काल तक रोग बढता रहे, दक्षिण दिशा मे बढे तो रोगी एक दिन जीये, पश्चिम दिशा मे बढे तो स्वस्थ होवे आदि आदि अनेक चमत्कारी बातें आपश्री ने बताई है जो बुद्धिजीवियो के मनन योग्य हैं।

उपरोक्त मूत्र परीक्षा के बाद हमारे चरित्रनायक के चिकित्सा विज्ञान पर भी दो शब्द कहने समयोचित होगे। चरित्रनायक आयुर्वेदीय ग्रथ निधि के पूर्णत: भक्त हैं। आपके पुस्तकालय मे प्राय: सभी ग्रन्थ प्राप्त हैं। किन्तु आपके यति सम्प्रदाय से सश्लिष्ट होने के कारण जैनागम शास्त्रागारो से आपने अनेक अमूल्य प्रयोग निकाले व जनता-जनार्दन की सेवा मे अपने आपको उत्तरोत्तर प्रोत्साहित किया। इसी सन्दर्भ मे हमने 'वैद्यवल्लभ' की कुछ झाँकी पाठको के मननार्थ उपस्थित की है जिसे पाठकवृन्द अत्यधिक पसन्द करेंगे, ऐसी हमे आशा है। साथ-साथ चिकित्सको, छात्र-छात्राओ के लिये भी वह बडा उपयोगी साबित होगा तथा राष्ट्रीय स्वास्थ्य के उद्धार मे वह वैद्यसमाज का पृष्टपोषक होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

हमारे चरित्रनायक ने आज की युग संहारक व्याधि अर्बुद (कैसर) को चिकित्सा पर गम्भीर अनुसधान किया है। जिस समय आप इस अनुसधान मे लगे तो सचमुच मे आप खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना सब भूल गये। आपकी हालत ठीक वैसी ही हुई जैसी गुरु द्रोणाचार्य को परीक्षा देते समय अर्जुन की हुई थी। अपने परमाराध्य गुरुदेव की कृपा से आपने उस समय इस व्याधि मे साफल्य लाभ किया जब कि इस बीमारी की विस्तृत जानकारी पाश्चात्य जगत को भी नही थी। विगत सन् १९२६ मे आपने हिन्दुस्तान की व्यापार नगरी मोहमयी (बम्बई) मे इसकी सफल चिकित्सा कर अपने भक्तो को गौरवान्वित एव सर्व साधारण जनता को मन्त्रमुग्ध कर दिया। इसी मन्त्रमुग्धावस्था मे सर्व साधारण आपकी व आयुर्वेद की जय जयकार करने लगे। इसके बारे मे भी मूर्धन्य चिकित्सको, प्रबद्ध जननायको एव बुद्धिजीवी वर्ग ने भी 'अभिनन्दन ग्रथ' मे इसका प्रयोगोद्घाटन करने की प्रार्थना की। हमने पूज्यपाद श्री गुरांसा के सामने इन सारी प्रार्थनाओ को उपस्थित किया। इस परमोदारमना चरित्र-नायक ने सबो की प्रार्थना पर अपना दुर्लभ योगस्वरूप 'क्वाथ एव वटियो का प्रयोग' प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की। इस पर मैंने श्रीचरणो से प्रार्थना की कि यदि आप चाहे तो कृपा कर इस नर-सहारकारी व्याधि की जिस रूप रेखा के आधार पर आपने शोध की है उसे भावी शोधको के मार्गदर्शनार्थ कृपा कर उस रूप रेखा को भी प्रकाशित करने की आज्ञा प्रदान करें ताकि भावी शोधकर्त्ताओ का समय बहुत कुछ बच सके एव वे आपश्री को आजीवन याद करते रहे। इस पर उदारमना चरित्रनायक ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। तदनुसार अर्बुद की पूरी-पूरी गवेषणा पद्धति इस ग्रन्थ मे प्रकाशित की जा रही है जो कि राष्ट्र एव राष्ट्र के प्रत्येक

नागरिक के लिए बडी ही उपयोगी रहेगी। खासकर चिकित्सको के लिए यह प्रोत्साहक साबित होगी तथा भावी अनुसधानकर्त्ताओ को मार्ग प्रदर्शित करेगी, ऐसा हमे पूर्ण विश्वास है।

उपसहार.

जहा तक हमने चरित्रनायक के साथ रहकर उनका सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया है तो हमे यह ज्ञात हुआ है कि स्वनामधन्य चरित्रनायक चरक की व्यवस्थाओ से अत्यत ही अनुप्राणित हुए हैं। आपकी धारणा बन कर मजबूत हो गई है कि 'सृष्टितत्त्वो' के मूल गुण ५ से अधिक नही हो सकते क्योकि ज्ञानेन्द्रियो के तत्त्व ५ हैं। प्रत्येक इन्द्रिय को एक ही अपने नियत विषय का ज्ञान हुआ करता है इसलिए यह निश्चित है कि इन गुणो के आश्रयभूत तत्त्व, निःसन्देह पांच ही हैं और वे पूर्वोक्त श्रुति एव आयुर्वेद सिद्धान्त के अनुसार अव्यक्त आत्मा से अपने २ रूप मे परिणत हुए हैं। पर इन्ही द्रव्यो मे से रस और अनुरस की कल्पना की जाय तो ६३ की कल्पना अगणित हो जाती है। क्योकि रस मे तारतम्यत मधुर, मधुरतर व मधुरतम की कल्पना की जाय तो यह गणना अतिक्रमित हो सकती है। यथा—

'षट पचक षट्च पृथक रसा. स्युश्चतुर्द्धिकौ पञ्चदश प्रकारौ। भेदास्त्रिका विंशतिरेकमेव, द्रव्य षडा स्वाद मिति त्रिषष्ठि.' (अ र. सू अ. १०)

रसो मे मधुराल्म लवण-वात हर। कटुतिक्त कषाय वार हर तिक्तस्वादु कषाय पित्तहर। कटूम्ल लवण पित्तकर एव कटुतिक्त कषाय श्लेष्महर और मधुराल्म लवण श्लेष्मकर होते हैं। अससृष्ट रसो की सख्या ६ है, एक द्वाहदि भेद से परस्पर मिश्रतो की संख्या ५७ है, योग ६३। रसानुसार भेद से और तरतमादि भेद से इनकी सख्यायें असख्यात हैं।

सर्व साधारण की सुविधा के लिये चरित्रनायक ने अपने दिमाग मे जो सूक्ष्म चित्र बनाया है वह यो है—१ रस वाले द्रव्य ६ होते हैं। २ रस वाले द्रव्य १५ होते हैं। ३ रस वाले द्रव्य २० होते हैं। ४ रस वाले द्रव्य १५ होते हैं। ५ रस वाले द्रव्य ६ होते हैं और ६ रसो वाला द्रव्य १ होता है। ये ६३ भेद आयुर्वेद मे स्थूल रूप से चिकित्सा-सौन्दर्य के लिये किया गया है, इसमे ६२ रसो का भेद कुपित दोषो के भेद को शाति करता है और ६३ वाँ भेद दोषो को प्राकृतावस्था मे बनाये रखता है। चिकित्सा क्षेत्र मे सिद्धि व सफलता चाहने वाले चिकित्सको के लिये यह परमावश्यक है कि दोष व औषध आदि का युक्तियुक्त विचार कर कही एक रस की एव कही सयुक्त रस की कल्पना

करनी चाहिये। विद्वान चिकित्सक भिन्न २ रोगो मे (तथा स्वस्थावस्था मे) भी दो रस वाले द्रव्यो तथा एक रस वाले द्रव्यो की भिन्न २ कल्पना भी कर सकते हैं।

उपरोक्त आधार पर ही हमारे चरित्रनायक का चिकित्सा सौष्ठव आज लम्बे ७५ वर्षों से सुरभित होता चला आ रहा है। हमारी एकान्त कामना है कि यह उत्तरोत्तर बढता रहे जिस प्रकार समूचे भारत मे आपका यश फैल रहा है वह समस्त विश्व मे भी फैलता रहे।

सक्षिप्त शल्य कर्म की तैयारी, शल्य, भग्न, द्रव्य गुण शास्त्रे रसनिरूपण, द्रव्य-शक्ति, रक्त विस्रावण क्रिया, शिशु व्याधिया, बच्चो की रोग-परीक्षा, शिशु-जन्म, शरीर की उपादेयता, पाचन-सस्थान, वात-सस्थान, अन्तस्रोत-ग्रन्थिया अस्थि-सार, प्रत्यक्ष-ज्ञान के साधन आधि लेख भी इस ग्रन्थ मे दिये गये हैं जो पाठको के लिए उपयोगी सिद्ध होगे। अस्तु।

क्षमा याचनाः—

हमारा आज परम सौभाग्य है कि हम अपने श्रद्धेय चरित्रनायक के कर-कमलो मे इस स्वतन्त्रता के युग मे यह अपनी श्रद्धावनत भेंट अर्पण कर रहे हैं। स्वतन्त्र भारत की विजय-पताका आज जिन सेनानियो के हाथ में है उन्होने कठिन से कठिन यातनाएँ सह कर भी अपनी अटूट सकल्प-शक्ति के बल पर चरित्रनायक के सामने आज का अवसर उपस्थित किया है इसका प्रत्येक भारत-वासी को अधिक हर्ष है एव उन सफल सेनानियो पर आस्था तथा गर्व है। स्वातन्त्र्योत्तर काल से ही हमारी व हमारे चरित्रनायक की उत्कट अभिलाषा बनी हुई है कि स्वतन्त्र होते ही हम अपने देश के विज्ञान, अपनी सस्कृति, अपनी भाषा और अपने देशीय कला-कौशल आदि को समुन्नत होते हुए देखेंगे। किंतु विगत वर्षो मे हमारी यह भावना जितनी सफल होनी चाहिये थी उतनी न हो सकी है, इसमे कुछ दोष हमारा अपना है तथा अधिकाश विदेशियो द्वारा सत्ता हस्तांतरित करते समय उपस्थित की गई उन परिस्थितियो का है जिनसे हम आज तक जूझते चले आ रहे हैं।

सर्वप्रथम हम हमारे चरित्रनायक से क्षमाप्रार्थी हैं कि उनके अनुरूप हम आज कुछ भी न कर पाए। फिर भी जैसा-तैसा पत्र-पुष्प फलरूप जो कुछ बना है उसे 'त्वदीय वस्तु गोविंद, तुभ्यमेव समर्पये' की भावना से उनके करकमलो मे उन्ही के बालको की यह अटपटी भेंट अर्पण है।

द्वितीयत हम अपने इस यज्ञ के सह-होताओ से भी क्षमाप्रार्थी हैं जिनके कि सहयोग से आज यह यज्ञ पूर्ण हो रहा है । प्रमादवश किन्ही से कुछ अटपटा व्यवहार हो गया हो तो वे हमे उदाराशयता के नाते अवश्य क्षमा करेंगे ।

इसके उपरात उन महान् लेखको से भी हम क्षमाप्रार्थी हैं जिनके लेख हमने आमन्त्रित किए, बार २ प्रार्थनाएं की फिर भी स्थानाभाव के कारण तथा कलेवर के बहुत-सी बढ जाने से हम उनकी रचनाएँ दे नही पाए । आशा है वे हमे क्षमा करेंगे ।

यह ग्रन्थ सर्वसाधारण के लिये उपयोगी साबित हो इसलिये प्रधान सम्पादक की यह आज्ञा थी कि सस्कृत भाषा के लेख ग्रन्थ मे सम्मिलित न किये जाय । परन्तु चरित्रनायक की विशेष आज्ञा के कारण स्व. श्री हनुमत्प्रसादजी शास्त्री के लेखो को मूल सस्कृत भाषा मे सम्मिलित करना पडा है क्योकि श्री शास्त्रीजी इस ससार मे नही हैं अतः बिना उनकी आज्ञा के लेखो का हिन्दी अनुवाद करना अनुचित होता । आशा है वे सभी विद्वान जिनके लेख सस्कृत भाषा मे होने के कारण इस ग्रन्थ मे सम्मिलित नहीं किये जा सके, हमे क्षमा करेंगे ।

वृक्षायुर्वेद एव पशु-आयुर्वेद के सबध मे बहुत-सी सामग्री होते हुए भी हम इस ग्रन्थ मे सम्मिलित नही कर पाये क्योकि चरित्रनायक का स्वास्थ्य अचानक अत्यधिक अस्वस्थ हो गया । अत इस विषय के चित्र ही दिये जा रहे हैं जिससे ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित हो सके ।

अतत हम उन सभी लेखको से क्षमाप्रार्थी हैं जिनकी कि अलभ्य रचनाओ के मुद्रण मे कही २ अशुद्धिया स्वास्थ्य के गिर जाने एव अन्यान्य आयोजनो में अतिव्यस्तता के कारण रह गई हैं, जिससे उन्हे अवश्य चिंता होगी । पर यह दोष हमारा है और इसके दोषभागी भी हम ही हैं अत. वे उदाराशय लेखक व पाठक हमे क्षमा करें । साथ २ चरित्रनायक के सभी श्रद्धालु भक्तो से भी हम क्षमाप्रार्थी हैं जिन्हे इस यज्ञ के पूर्ण होने की आज से कही पहले आशा थी ।

आभार-प्रदर्शन —

सर्वप्रथम हम चरित्रनायक के पुत्रतुल्य अनन्य सुहृदय श्री मथुरादासजी माथुर महाशय का आभार स्वीकार करते हुए हमे स्पष्ट कहना पडेगा कि आप के ही सौजन्य व उद्‌बोधन से हम आज के दिवस का प्रत्यक्ष दर्शन कर पाए हैं।

हम हमारे चरित्रनायक एव उनके पारिवारिक उदारमनाओ का भी आभार स्वीकार करते हैं जिनके अह. रह सहयोग द्वारा ही इस ग्रय को साक्षी टाजु पाए ।

हम राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन, जोधपुर (रजि०) के अध्यक्ष श्री स्वामी रामप्रकाशजी का भी आभार स्वीकार करते है जिन्होने अपनी सस्था द्वारा उदयाभिनदन ग्रथ की हमे सत्प्रेरणा दी व समय समय पर हमारा प्रत्येक दिशा मे हाथ बँटाया।

हम उन सभी दानदाताओ का भी आभार स्वीकार करते हैं जिन्होने इस यज्ञ मे अपने धन से आहुति दी।

हम श्री मारवाड आयुर्वेद प्रचारिणी सभा, जोधपुर के अध्यक्ष श्री द्रोणाचार्य एव उनके सभी कार्यकर्त्ताओ का भी आभार स्वीकार करते हैं जिन्होने हमे इस यज्ञ को आयोजना मे सर्वात.करण से साहाय्य पहुँचाया।

मै अपने कार्यकारी अध्यक्ष श्री दौलतरामजी एव सम्पादक मडल के समस्त सदस्यो का भी आभारी हूँ जिन के बल पर ही मैं इस गुरुतर भार को वहन कर सका।

अतत: मैं अपने कार्यकारी सहयोगियो के सहयोग की प्रशसा मे कुछ नही कह सकता जिनका कि यह कर्त्तव्य था जिसे उन्होने सदाशयता से निभाया। परतु मैं साधना प्रेस के सर्वाधिकारी श्री हरिप्रसादजी को एव उनके समस्त कर्मचारियो का भी आभार स्वीकार करता हूँ जिनके सहयोग से ही हम अपना यह यज्ञ पूर्ण करने मे सफल हो सके। इतिशम्

सर्वेऽपि सुखिन सन्तु सर्वे सन्तु निरामया:।

द्वितीयत हम अपने इस यज्ञ के सह-होताओ से भी क्षमाप्रार्थी है जिनके कि सहयोग से आज यह यज्ञ पूर्ण हो रहा है। प्रमादवश किन्ही से कुछ अटपटा व्यवहार हो गया हो तो वे हमे उदाराशयता के नाते अवश्य क्षमा करेगे।

इसके उपरात उन महान् लेखको से भी हम क्षमाप्रार्थी हैं जिनके लेख हमने आमन्त्रित किए, बार २ प्रार्थनाएं की फिर भी स्थानाभाव के कारण तथा कलेवर के बहुत-सी बढ जाने से हम उनकी रचनाएँ दे नही पाए। आशा है वे हमे क्षमा करेगे।

यह ग्रन्थ सर्वसाधारण के लिये उपयोगी साबित हो इसलिये प्रधान सम्पादक की यह आज्ञा थी कि सस्कृत भाषा के लेख ग्रन्थ मे सम्मिलित न किये जांय। परन्तु चरित्रनायक की विशेष आज्ञा के कारण स्व. श्री हनुमत्प्रसादजी शास्त्री के लेखो को मूल सस्कृत भाषा मे सम्मिलित करना पडा है क्योकि श्री शास्त्रीजी इस ससार मे नही हैं अतः बिना उनकी आज्ञा के लेखो का हिन्दी अनुवाद करना अनुचित होता। आशा है वे सभी विद्वान जिनके लेख सस्कृत भाषा मे होने के कारण इस ग्रन्थ मे सम्मिलित नही किये जा सके, हमे क्षमा करेंगे।

वृक्षायुर्वेद एव पशु-आयुर्वेद के सबध मे बहुत-सी सामग्री होते हुए भी हम इस ग्रन्थ मे सम्मिलित नही कर पाये क्योकि चरित्रनायक का स्वास्थ्य अचानक अत्यधिक अस्वस्थ हो गया। अत इस विषय के चित्र ही दिये जा रहे हैं जिससे ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित हो सके।

अतत हम उन सभी लेखको से क्षमाप्रार्थी हैं जिनकी कि अलभ्य रचनाओ के मुद्रण मे कही २ अशुद्धिया स्वास्थ्य के गिर जाने एव अन्यान्य आयोजनो मे अतिव्यस्तता के कारण रह गई हैं, जिससे उन्हे अवश्य चिता होगी। पर यह दोष हमारा है और इसके दोषभागी भी हम ही हैं अत. वे उदाराशय लेखक व पाठक हमे क्षमा करें। साथ २ चरित्रनायक के सभी श्रद्धालु भक्तो से भी हम क्षमाप्रार्थी हैं जिन्हे इस यज्ञ के पूर्ण होने की आज से कही पहले आशा थी।

आभार-प्रदर्शन —

सर्वप्रथम हम चरित्रनायक के पुत्रतुल्य अनन्य सुहृदय श्री मथुरादासजी माथुर महाशय का आभार स्वीकार करते हुए हमे स्पष्ट कहना पडेगा कि आप के ही सौजन्य व उद्बोधन से हम आज के दिवस का प्रत्यक्ष दर्शन कर पाए हैं।

हम हमारे चरित्रनायक एव उनके पारिवारिक उदारमनाओ का भी आभार स्वीकार करते हैं जिनके अह रह सहयोग द्वारा ही इस ग्रथ को साम्रग्री टाजु पाए।

हम राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन, जोधपुर (रजि०) के अध्यक्ष श्री स्वामी रामप्रकाशजी का भी आभार स्वीकार करते है जिन्होने अपनी सस्था द्वारा उदयाभिनदन ग्रथ की हमे सत्प्रेरणा दी व समय समय पर हमारा प्रत्येक दिशा मे हाथ बँटाया।

हम उन सभी दानदाताओ का भी आभार स्वीकार करते हैं जिन्होने इस यज्ञ मे अपने धन से आहुति दी।

हम श्री मारवाड आयुर्वेद प्रचारिणी सभा, जोधपुर के अध्यक्ष श्री द्रोणाचार्य एव उनके सभी कार्यकर्त्ताओ का भी आभार स्वीकार करते है जिन्होने हमे इस यज्ञ की आयोजना मे सर्वा त.करण से साहाय्य पहुँचाया।

मै अपने कार्यकारी अध्यक्ष श्री दौलतरामजी एव सम्पादक मडल के समस्त सदस्यो का भी आभारी हूँ जिन के बल पर ही मैं इस गुरुतर भार को वहन कर सका।

अतत. मैं अपने कार्यकारी सहयोगियो के सहयोग की प्रशसा मे कुछ नही कह सकता जिनका कि यह कर्त्तव्य था जिसे उन्होने सदाशयता से निभाया। परतु मैं साधना प्रेस के सर्वाधिकारी श्री हरिप्रसादजी को एव उनके समस्त कर्मचारियो का भी आभार स्वीकार करता हूँ जिनके सहयोग से ही हम अपना यह यज्ञ पूर्ण करने मे सफल हो सके। इतिशम्

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।

श्री उदयाभिनन्दन ग्रन्थ— दान-दाताओं की सूची

श्रीमान सेठ गोवर्द्धनलालजी काबरा	१५००)
,, ,, हीराचन्द्रजी जुगराजजी पारख	१००१)
,, ,, माणकलालजी बालिया	१००१)
,, ,, चाँदमलजी अग्रवाल	२५१)
,, ,, असगरअलीजी	१५१)
,, लाला रामचन्द्रजी माथुर	१५१)
,, रामरतनजी अग्रवाल	१०१)
,, सेठ नाहटा कानमलजी	१०१)
,, प्रिन्सिपल नारायणदासजी	५१)
,, ज्वालादासजी माथुर	१००१)
,, सेठ अनूपराजजी ललवाणी	१०१)
,, सेठ राधावल्लभजी काबरा	१०१)
,, वकील हरकलालजी मनिहार	५१)
,, मोहता शिवराजजी	१०१)
,, शाह घेवरचन्द्रजी कानूनगो	१०१)
,, भाटिया कृष्णचन्द्रजी	५१)
,, भण्डारी विमलचन्द्रजो फतेहचन्द्रजी, रानी	२०१)
,, मेहरचन्द्रजी जैन, जयपुर	५१)
,, सेठ घेवरचन्द्रजी गुलाबचन्द्रजी पारख	२०१)
,, तनसुखदासजी लक्ष्मणदासजी पारख	२०१)
,, सेठ बालकृष्णजी फतेहपुरिया, पाली	५१)
,, कविराजजी तेजदानजी	१५१)
,, मोदी सरदारनाथजी	२५१)
,, मोदी इन्द्रनाथजी, भूतपूर्व न्यायमूर्ति	१०१)
,, सुराणा सम्पतराजजी, शोलापुर	१०५)
,, सेठ नीहालचन्द्रजी दलीचन्द्रजी, खीमेल	५०)
,, मदनलालजी अग्रवाल, पटवारी	२१)

चरित्रनायक के विज्ञ शिष्य

वैद्य बाबूलाल जोशी
लेख पृष्ठ सख्या ५६३ पर
सम्पादक
श्री उदयाभिनन्दन
हीरक जयन्ती ग्रन्थ

चरित्रनायक के उत्तराधिकारी
शिष्य

वैद्य कान्तिचन्द्र जैन
साहित्य सुधाकर

चरित्रनायक के अतिविश्वस्त
सेवाभावी शिष्य

वैद्य मुनि देवेन्द्रचन्द्र
चिकित्सक रत्न
व्यवस्थापक
श्री उदयाभिनन्दन
हीरक जयन्ती ग्रन्थ

राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पञ्जीकृत) जोधपुर

राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पञ्जीकृत) जोधपुर का यह द्वितीय वार्षिक अधिवेशन जो राजस्थान के प्रसिद्ध नगर जोधपुर मे सम्पन्न हो रहा है, परम सम्मानास्पद पीयुषपाणी, परम अनुभवी आयुर्वेद मार्त्तण्ड वैद्यावतस राज्यमान राजवैद्य वयोवृद्ध श्री पण्डित उदयचन्द्रजी के द्वारा जनता जनार्दन की जो निस्वार्थ सेवा मे त्याग, तपस्या व लगन के द्वारा चिरकाल तक की गई है उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करता हुआ "चिकित्सक सम्राट्" उपाधि से विभूषित के रूप मे आज दिनाङ्क २-२-६४ को सार्वजनिक अभिनन्दन करता है तथा उनके उपयोगी दीर्घ जीवन की शुभ कामना करता है।

वैद्य बाबूलाल जोशी
२-२-६४
अध्यक्ष
एवं
समस्त सदस्य
राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पञ्जीकृत)
जोधपुर

चरित्रनायक आयुर्वेदमार्तण्ड, प्राणाचार्य, वैद्यावतंस, चिकित्सकसम्राट् भट्टारक
महोपाध्याय, राजमान्य, राजवैद्य
पं० उदयचन्द्रजी महाराज (चांणोद गुरां साहिब)

का

जीवन परिचय

(सम्पादक की लेखनी से)

ससार मे वे महापुरुष सदा श्रद्धा के पात्र होते हैं और उन्ही का जीवन धन्य है, जिनसे समाज को सत्प्रेरणा मिलती है तथा जो सदा लोकोपकार कर अपना जीवन आदर्श तथा सफल बना लेते हैं। ऐसे महा पुरुषो का अवतरण एक विशेष परिस्थिति मे होता है और वे अपने समय की विषमताओ को दूर कर समाज को एक नया मोड देने मे समर्थ सिद्ध होते हैं।

जगन्नियन्ता जगदीश्वर स्वय श्रीकृष्ण ने अपने परम सुहृद अर्जुन को महाभारत के समराङ्गण मे गीता का सदुपदेश देते हुए कहा है कि ससार मे जो भी विभूतिमान, श्रीमान् तथा ओजस्वी पुरुष तुम्हें दृष्टिगत होते हैं, वे सब मेरे ही तेज भाग से उत्पन्न हुए समझना चाहिए और मैं तभी मानव स्वरूप धारण करता हू, जब ससार मे जीवन व्यापार अस्त-व्यस्त होने लगता है।

तदनुसार हमारे चरितनायक के जीवन-परिचय से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे भगवान श्रीकृष्ण के उक्त कथन को सर्वथा चरितार्थ करते हैं, क्योंकि समाज से आपको बडी ही सत्प्रेरणा मिली है और आपका सारा जीवन प्रतिक्षण लोकोपकार मे ही लगा रहा है। आपके अलौकिक कार्यों से आपकी विभूतिमत्ता तथा ओजस्विता स्पष्ट प्रकट होती है। वैसे तो आपने प्रायः सभी क्षेत्रो मे अपना वैचक्षण्य प्रदर्शित किया किन्तु मुख्यतया आयुर्वेद को अपना प्रधान क्षेत्र मान कर इसे अधिक उपबृंहित किया है। अत. यहाँ यह समझ लेना अनुपयुक्त नही होगा कि आपके जन्मकाल में आयुर्वेद की स्थिति किस रूप मे विद्यमान था।

वैदिक काल से लेकर मौर्य साम्राज्य तक आयुर्वेद का उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकास होता रहा और अनेक नवीन प्रगतियो के कारण यहा तक पहुचने वाले समय को

आयुर्वेदात्मक ज्योति शाश्वतं नः प्रकाशताम् ।

चिकित्सा का युगपुरुष

विश्ववंद्य

चिकित्सक-सम्राट् कर्मयोगी पीयूषपाणि-आयुर्वेद-मार्त्तण्ड प्राणाचार्य
वैद्यावतंस महोपाध्याय राजमान्य-राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्रजी
भट्टारक (श्री चाणोद गुरा साहिब) जोधपुर (राज०)

वश परिचय

अन्य ऐतिहासिक महत्वो के साथ-साथ अक्षय तृतीया को भगवान परशुराम का जन्म दिन होने से यह दिन परशुराम जयन्ती के रूप मे मनाया जाता है। भारतीय मान्यताओ के अनुसार भगवान श्री परशुराम भी चौबीस अवतारों मे से एक होने से वे भगवद्‌वतार ही समझे जाते है, फिर भी जब तत्कालीन प्रशासको मे आसुरी वृत्ति का अत्यत सक्रमण हो चुका तो इक्कीस बार अपने ब्रह्मतेज से आसुरी वृत्ति का विनाश कर श्री परशुराम ने ससार को चकित कर दिया था। और प्रशासन मे व्यामोह न हो, अतः समस्त देश मे विधि परामर्शदाता के पद को अलकृत किया था। तब से उसी परशुराम के वशधर प्रत्येक राज्य वश मे विधि परामर्शदाता के रूप मे ही रहे और पुरोहित शब्द से सबोधित किए जाते रहे। पुरोहित अपने राज्य मे तत्कालीन प्रशासको के कुल-गुरु होने के साथ-साथ अन्य प्रशासन पाटव का भी ध्यान रखते थे और राजा और प्रजा के मध्य सौमनस्य बनाए रखने का दायित्व वहन करते थे। कालक्रम से तथा देशभेद से पुरोहितो मे भी कुछ अवान्तर भेद होने से उनके कुछ वर्ग हो गये, किन्तु मूलतः क्रियाकलाप मे कोई विशेष अन्तर नही आया। वैदेशिक आक्रमणो से जब राज-परिवारो की परिस्थितियो मे परिवर्तन आया तो अस्तव्यस्तता के कारण इस वर्ग को भी पिछडना पडा और अन्यान्य व्यवसाय करने लगे।

हमारे चरितनायक भी भगवान परशुराम की उक्त वश शृखला मे 'पारीक पुरोहित' वर्ग से सबद्ध हैं और वहा केवल जन्म ग्रहण करने के पश्चात् भगवान श्रीकृष्ण की तरह आपने वासुदेव देवकीज होकर भी गोपराट् नन्द को महत्त्व प्रदान करने के समान 'जैन यति सम्प्रदाय' को पावन किया। यह समुदाय भी अपना एक अनूठा इतिहास रखता है, जिसका परिचय केवल एक निम्न उद्धरण से ही स्पष्ट प्रकट होता है। यह फरमान तथा सनद मुगल प्रशासको ने जैन यतिराजो के लिए लिखे हैं और इनकी मूल प्रतिये आज भी हमारे चरितनायक के पास फारसी भाषा मे सुरक्षित हैं। जोधपुर राज्य के भूतपूर्व सुपरिटेन्डेट आर्किएलोजीकल डिपार्टमेन्ट स्व० प० विश्वेश्वरनाथजी रेऊ एम० ए० साहित्याचार्य ने १५ वी अखिल भारतीय ऑरियन्टल कान्फ्रेंस के बम्बई अधिवेशन मे उक्त फरमानो मे से दो को प्रस्तुत कर उनकी प्रामाणिकता भी स्वीकार करवाली है। इससे इनका देशव्यापी महत्व स्थिर होता है।

फरमान

'खरतरगच्छीय श्री बाबाजी ज्ञानसागरजी श्री स्वामीजी को सूबा अजमेर मे रहने वाले सभी मुसलमान और हिन्दू तथा खास तौर से जैन बनिया एव यति जाति के

पीठस्थापन कर सम्मान प्रदान किया गया। जैन-यति समुदाय मे धीरे धीरे गच्छ के प्रमुख को 'श्रीपूज्य' कहा जाने लगा और उनके प्रधानस्थल भी स्थापित हुए। यद्यपि देश मे अनेक श्रीपूज्य हैं किन्तु राजस्थान के मरुक्षेत्र मे ही लगभग पाच-सात श्रीपूज्यो की गद्दिया हैं, अतः समस्त देश मे राजस्थान का महत्व यतिसम्प्रदाय के कारण भी बढा हुआ है।

राजस्थान के तत्कालीन प्रशासको ने भी जैन यतिराजो के सद्गुणो से प्रभावित हो उनको शाही सम्मान प्रदान किया है, जिनके अनेक प्रमाण है। हमारे चरित्रनायक के पास भी जो मूल फारसी एव उर्दू भाषा की सनदें, इनके पूर्वज मारवाड के यतिराजो को दी गई है, वे विद्यमान हैं, जिसके अश नीचे उद्धृत किये जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि मारवाड मे यति-समुदाय का अत्यन्त प्रभाव रहा और सदा वे परोपकार मे रत हो लोककल्याण करते रहे।

सनद

'बादशाह औरङ्गजेब, मोहम्मद फर्रुक सैयद, मोहम्मद शाह और अहमदशाह आदि के शाही फरमानो की आज्ञानुसार, जगद्गुरु आचार्य श्री जिनचन्द्र देव सूरीजी, श्री जिनसुख सूरीजी श्री जिनराज सूरीजी, श्री रतन सूरीजी, श्रीकमलसागर सूरीजी और जिनसेनसूरीजी, जिन्हे व्याख्यान के समय दण्डोत, तख्त-ए-खास, तख्त-ए-रवा, छत्र, सायागीर, खासपालकी, मोरछत्र, चॅवर सोने और चादी के सिंहासन का सम्मान प्रदान किया गया है, उन्हें समस्त सम्मान प्रदान किया जाता है। उनका यह सम्मान बराबर पीढी-दर-पीढी बना रहेगा। समस्त हिन्दू और मुसलमान बिना किसी भेदभाव के इनके नगर-प्रवेश के समय पगमण्डन का स्वागत करेंगे और दण्डवत् से आदर करेगे। समस्त जनता इस राजाज्ञा की कभी अवहेलना नही करेगी और इन्हें प्रतिवर्ष हर घर से प्रति फसल पर एक रुपया और नारियल भेट दिया जाता रहेगा। भारतवर्ष मे यह सम्मान बिना किसी सकोच के बराबर किया जाता रहे और खास तौर पर हिन्दू और मुसलमान सब जातियें जगद्गुरु का सम्मान कर श्रद्धा व्यक्त करे तथा अपना गुरु समझे। यदि इस आज्ञा पालन मे किसी तरह गलती हुई तो श्री आदरणीय गुरुदेव को सर्वाधिकार होगा कि वे उसे दण्ड दे या क्षमा कर दें। प्राचीन काल के समस्त राजा, जैसे राजा विक्रमादित्य और शालिवाहन आदि समस्त चक्रवर्ती सम्राट, राजा महाराजा जैसे श्री जयचन्द, जिनके अधिकार मे बडी बडी सेनाए थी, महाराजा .. चौहान और समस्त छोटे बडे राजा महाराजा, जो सभी अपने गुरुओ को सम्मान देते रहे। महाराजा अजीतसिंहजी और महाराजा अभयसिंहजी तथा श्री बडा महाराजाजी भी जैसा शाही फरमानो मे उल्लिखित है जगद्गुरु श्री विनयसागरजी और हेमराजजी देव दोनो को आदर व सम्मान प्रदान करते रहे थे। अतः यह परवाना तथा रुक्का इस सबध में लिख कर प्रसारित किया जाता है कि इसे इसी तरह बराबर पालन किया जाय। गुरुदेव का छोटा चेला बडे चेले की आज्ञा मानता रहे।'

यह सनद महाराजा विजयसिंहजी, जोधपुर की राज्य-मुद्रा के साथ प्रदान की गई है, जिनका राज्यकाल सन् १७५२ से १७९३ ई० तक माना गया है। किन्तु इस सनद की तिथि, जीर्ण होने के कारण अपाठ्य हो गई है।

जैन साहित्य के सम्बन्ध मे अनेक इतिहासविदो की मान्यता है कि उसमे अनेक अव्यक्त तत्व छिपे हुए हैं। यही कारण है कि आज भी अनेक विदेश यात्री भारत आकर भारत के प्राचीन जंन शास्त्रो की कई प्रतिलिपिया खरीद कर ले जाते हैं और उन पर विविध प्रकार से खोज करते हैं। उन्ही लोगो की मान्यता के अनुसार जैसलमेर का पुस्तकागार ऐसे प्रच्छन्न रत्नो का भडार समझा जाता है और वहा विदेशी आक्रमण के समय पंदल यात्राए कर जैन यति समाज ने अपना अमूल्य साहित्य पहुचा दिया था। इसी प्रकार बीकानेर, फलौदी, जोधपुर, जयपुर, उदयपुर, पाटन (गुजरात आदि प्राचोन राजधानियो के पुस्तकागारो मे भी जैन यति सम्प्रदाय के अनेक गुप्त मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, कला आदि के ग्रन्थ सकलित हैं, जिन पर वर्षो शोध कार्य किया जा सकता है।

एक बार चरित्रनायक के पास नेपाल राज्य के पशुपतिनाथ मदिर के नाथजी महाराज के उत्तराधिकारीजो ने जैसलमेर से लौट कर चर्चा की कि मारवाड के यति समुदाय ने भारतीय तन्त्र विद्या की जो सुरक्षा की है वह सदा चिरस्मरणीय रहेगी। उस प्रेस तथा लेखन सामग्री के पूर्ण अभाव के युग में जैसा मारवाड के यतियो ने लिखा, उतना श्रम कही किसी समुदाय के सतो ने नही किया। भोजनाच्छादन से अधिक की सर्वथा चिन्ता छोड़ कर निरन्तर साहित्य सेवा मे लगने वाला यह समुदाय आज भी भारत की प्राचीन गौरवगाथा को समुज्ज्वल कर रहा है। गुर्जर क्षेत्र मे जो प्रभाव जैन यति समुदाय का मिलता है, उसका भी उद्गम स्थान मारवाड ही कहा जा सकता है, क्योकि उनके श्रवकादि अनुयाई राजस्थान के ही प्रवासी थे और उनके साथ यतिराज भी यहा से गुजरात की ओर अग्रसर हो गये। इसका स्पष्ट प्रमाण है कि पूर्वी राजस्थान की अपेक्षा पश्चिमी राजस्थान मे यति सम्प्रदाय के अधिक उपाश्रय तथा स्थान हैं और कतिपय उपाख्यान भी मिलते हैं जो उनके गौरव के प्रतीक हैं।

पाली जिले नारलाई गाँव मे छोटी पहाडियो पर टिके हुए दो मदिरो का उपाख्यान स्पष्ट डिडम् घोष करता है कि मारवाड़ में यति समुदाय का कैसा व्यापक प्रभाव था। कहना है कि वे दोनो मदिर एक यतिराज के दो शिष्य केसाजी व जेसाजी अपनी मंत्र विद्या से खेड (बालोतरा) से उठा कर लाये थे। और अपने स्थान पर ले जाते थे। गुरुजी के कथनानुसार यदि अरुणोदय होने लगे तो उन्हें वही छोडने का निर्णय था, अत. प्रथम शिष्य ने थक कर ताम्रचूड मुर्गे की आवाज से गुरुभाई को उषाकाल की भ्रान्ति करवादी और अपना मदिर श्रम दूर करने के लिये रख दिया। गुरभाई ने भी पूर्व निर्णयानुसार अपना

सम्मान प्रदान करती थी और सर्वत्र आप लोकप्रिय थे। आपके जीवन से अनेकों ने सत्प्रेरणा ली और अपना आदर्श जीवन निर्माण करने में सफल हुए।

प्रारम्भिक शिक्षाभ्यास तथा गुरुदेव

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारे चरित्रनायक का जन्म बरलूट ग्राम मे हुआ था और उस समय चरित्रनायक के गुरुदेव स्वर्गीय श्री उम्मेददत्तजी महाराज जोधपुर मे राजवैद्य पद पर कार्य करने हेतु पधार गये थे तो आप श्री के पिता श्री अमरोजी का भी जोधपुर आ जाना स्वाभाविक था क्योकि श्री अमरोजी स्वर्गीय श्री उम्मेददत्तजी महाराज के अनन्य विश्वस्त व्यक्ति तथा सहधर्मी थे। जन्म के कुछ ही समय बाद जब चरित्रनायक को श्री गुरा साहिब के चरणो मे विसर्जित कर श्री अमरोजी परलोक सिधार गये तो लालन पालन एव शिक्षा दीक्षा का सीधा उत्तरदायित्व श्रद्धेय गुरा साहिब पर ही आ गया। श्री गुरा साहिब स्वय तो बहुमुखी विद्वान थे ही, किन्तु भावी सुयोग्य शिष्यो को अधिक सुसस्कृत करने के लिये श्री प श्यामकरणजी दाधीच को इनका प्रारम्भिक शिक्षक नियुक्त किया। अत्यल्प समय मे ही जब चरित्रनायक ने अपने अद्भुत बुद्धि कौशल से अक्षराभ्यासादि को समाप्त कर दिया तो तत्कालीन सहयोगी भाषाओ के रूप मे उर्दू, अग्रेजी आदि का भी अभ्यास क्रमश श्री गुरासाहिब के यहा पधारने वाले विद्वानो से करवाया गया।

श्री गुरा साहिब के तत्कालीन अनेक मित्रो के सम्पर्क मे आने से चरित्रनायक ने पुस्तकादि के माध्यम से ज्ञानार्जन करने की अपेक्षा व्यावहारिक एव प्रायोगिक विधि से अधिक ज्ञान प्राप्त करने का अवसर प्राप्त किया। श्री गुरा साहिब एक कुशल पीयूषपाणि चिकित्सक होने के साथ साथ उदयपुर व जोधपुर नरेशो के परम विश्वस्त सामन्तो मे से थे, अत. उनके यहा अनेक राजपुरुषो का भी शुभागमन होता था तो कतिपय सम्भ्रान्त नागरिक भी प्रायः पधारते ही रहते थे। उन सब के साथ निरन्तर सहयोग एव साहचर्य तथा सलापादि के होने से चरित्रनायक ने अपने जीवन के अरुणोदय से ही सर्वविध व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करना प्रारभ कर दिया। कई बार चरित्रनायक अपने वर्तमान उत्तराधिकारियो को जीवन-व्यवहार का उपदेश देते हुए अपने बालजीवन की तत्परता पर चर्चा करने लगते हैं तो ऐसा अनुभव होने लगता है कि किस परिमार्जित वातावरण मे आपका सस्कार हुआ है। श्री गुरा साहिब ने तो अपने चिर सचित अनुभवों से आपको परिष्कृत किया ही, किन्तु उनके अनेक गुणज्ञ सहधर्मियो ने भी आप मे विमल गुणो का यथाविधि सन्निवेश किया।

श्री गुरा साहिब के साथ कई बार चरित्रनायक जोधपुर नरेश के शाही प्रासाद मे पधारते तो वहा की चर्चाओ को बडी तन्मयता से सुन कर उन पर मनन करने लगते थे

सम्मान प्रदान करती थी और सर्वत्र आप लोकप्रिय थे। आपके जीवन से अनेकों ने सत्प्रेरणा ली और अपना आदर्श जीवन निर्माण करने में सफल हुए।

प्रारम्भिक शिक्षाभ्यास तथा गुरुदेव

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारे चरित्रनायक का जन्म बरलूट ग्राम मे हुआ था और उस समय चरित्रनायक के गुरुदेव स्वर्गीय श्री उम्मेददत्तजी महाराज जोधपुर मे राजवैद्य पद पर कार्य करने हेतु पधार गये थे तो आप श्री के पिता श्री अमरोजी का भी जोधपुर आ जाना स्वाभाविक था क्योकि श्री अमरोजी स्वर्गीय श्री उम्मेददत्तजी महाराज के अनन्य विश्वस्त व्यक्ति तथा सहधर्मी थे। जन्म के कुछ ही समय बाद जब चरित्रनायक को श्री गुरा साहिब के चरणो मे विसर्जित कर श्री अमरोजी परलोक सिधार गये तो लालन पालन एव शिक्षा दीक्षा का सीधा उत्तरदायित्व श्रद्धेय गुरा साहिब पर ही आ गया। श्री गुरा साहिब स्वय तो बहुमुखी विद्वान थे ही, किन्तु भावी सुयोग्य शिष्यो को अधिक सुसस्कृत करने के लिये श्री प श्यामकरणजी दाधीच को इनका प्रारम्भिक शिक्षक नियुक्त किया। अत्यल्प समय मे ही जब चरित्रनायक ने अपने अद्भुत बुद्धि कौशल से अक्षराभ्यासादि को समाप्त कर दिया तो तत्कालीन सहयोगी भाषाओ के रूप मे उर्दू, अग्रेजी आदि का भी अभ्यास क्रमश. श्री गुरासाहिब के यहा पधारने वाले विद्वानो से करवाया गया।

श्री गुरा साहिब के तत्कालीन अनेक मित्रो के सम्पर्क मे आने से चरित्रनायक ने पुस्तकादि के माध्यम से ज्ञानार्जन करने की अपेक्षा व्यावहारिक एव प्रायोगिक विधि से अधिक ज्ञान प्राप्त करने का अवसर प्राप्त किया। श्री गूरा साहिब एक कुशल पीयूषपाणि चिकित्सक होने के साथ साथ उदयपुर व जोधपुर नरेशो के परम विश्वस्त सामन्तो मे से थे, अतः उनके यहा अनेक राजपुरुषो का भी शुभागमन होता था तो कतिपय सम्भ्रान्त नागरिक भी प्रायः पधारते ही रहते थे। उन सब के साथ निरन्तर सहयोग एव साहचर्य तथा सलापादि के होने से चरित्रनायक ने अपने जीवन के अरुणोदय से ही सर्वविध व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करना प्रारभ कर दिया। कई बार चरित्रनायक अपने वर्तमान उत्तराधिकारियो को जीवन-व्यवहार का उपदेश देते हुए अपने बालजीवन की तत्परता पर चर्चा करने लगते हैं तो ऐसा अनुभव होने लगता है कि किस परिमार्जित वातावरण मे आपका सस्कार हुआ है। श्री गुरा साहिब ने तो अपने चिर सचित अनुभवों से आपको परिष्कृत किया ही, किन्तु उनके अनेक गुणज्ञ सहकर्मियो ने भी आप मे विमल गुणो का यथाविधि सन्निवेश किया।

श्री गुरा साहिब के साथ कई बार चरित्रनायक जोधपुर नरेश के शाही प्रासाद मे पधारते तो वहा की चर्चाओ को बड़ी तन्मयता से सुन कर उन पर मनन करने लगते थे

॥ जयेत्सदा श्रीजिनदत्तसूरिः ॥

चरित्रनायक के गुरुवर्य महोदय

प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद् प्राणाचार्य महोपाध्याय राजमान्य-राजवैद्य पीयूषपाणि
आयुर्वेदमनीषी भट्टारक पण्डित श्री १०८ श्री उम्मेददत्तजी महाराज

और रात्रि मे विश्राम के समय श्री गुरांसाहिब की पाद सेवा मे विराजते तो अनेक जिज्ञस्थ प्रश्नो पर चर्चा कर अपना सतोष करते थे। चरित्रनायक के बाल्य काल मे अनेक महाराष्ट्र तथा गुर्जर प्रदेश एव बगाल के परिवार भी जोधपुर राज्य की सेवाओ मे थे तथा कुछ लोग स्वतन्त्र व्यवसाय भी करते थे। श्री गुरा साहिब के यहा उनका भी अनेक प्रकार से यातायात होने से चरित्रनायक पर उनकी भाषा का भी आकर्षण हुआ और आपने गुजराती, मराठी आदि का भी अभ्यास करना प्रारम्भ कर दिया। फलत' चरित्रनायक हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मराठी, अग्रेजी और सस्कृत इन सात भाषाओ का ज्ञान अपनी किशोरावस्था तक ही प्राप्त कर चुके थे और इस ज्ञानार्जन के लिये आपने श्री दत्तात्रेय के चौबीस गुरुओ की तरह अनेक गुरुओ की सेवा का अवसर प्राप्त किया, जिससे अपने भाषाज्ञान के साथ साथ व्यावहारिक एव प्रायोगिक ज्ञानपिपासा शान्त की। प्रारभिक शिक्षा का ऐसा सयोग विरले ही पुरुषो को मिलता है, जो हमारे चरित्रनायक ने प्राप्त किया। अत. यह कह सकते हैं कि चरित्रनायक की प्रारभिक शिक्षा एक आदर्शरूप मे हुई है और सुयोग्य अनुभवी गुरुजनो का लाभ प्राप्त किया है।

मारवाड़ी यति सम्प्रदाय मे अनुरक्ति

पूज्य स्वर्गीय श्री उम्मेददत्तजी महाराज के चरणो मे विराजने के कारण चरितनायक पर मारवाडी यति सम्प्रदाय का प्रभाव पडना स्वाभाविक था, क्योकि श्री गुरा साहिब स्वय इसी वर्ग के एक सम्भ्रान्त यतिराज तो थे ही, साथ ही अनेक प्राचीन गौरवमय आख्यानो से चरित्रनायक का आकर्षण शर्नं शनै इस सम्प्रदाय को ओर अधिक बढने लगा। "मारवाडी यति सम्प्रदाय का सिंहावलोकन" शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये जोधपुर राज्य के सनद के रुक्के का इतिवृत्त चरित्रनायक ने अपने गुरुदेव के मुख से सुना और कुछ मीर मुंशियो से उसे पढा कर जाना तो इस गौरवमय सम्प्रदाय की ओर इनका अनुराग प्राय' स्वत प्रबुद्ध हो गया। वैसे तो जन्म से ही आपको ससार की भौतिक समृद्धि से मोह नही था, फिर यति सम्प्रदाय को गौरवमयी सेवा तथा उसके फलस्वरूप प्रदत्त शाही सम्मान का ज्ञान आपको हुआ तो एक दिन श्री गुरु चरणो मे आपने स्पष्ट निवेदन कर दिया कि मेरी रुचि श्रीचरणो मे जैन प्रशासन को अङ्गीकार करने की है।

इस पर भी श्री गुरा साहिब ने नाना विध ऊहापोह से चरित्रनायक को अपनी वंश परम्परा की सुरक्षा करने का दायित्व बतलाया और समझाया कि स्व० श्री अमरोजी मुझ मे यह आशा नही करते थे कि मैं तुम्हें एक विरक्त बना कर उनके पुत्रवात्सल्य से मुक्त करू। चरित्रनायक ने श्री गुरा साहिब को स्पष्ट निवेदन कर दिया कि महाराज! व्यक्ति का महत्व तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना मे है, अन्यथा तेरा मेरा तो केवल क्षुद्र पुरुषो के लिए है। मैं तो अपने इस नश्वर शरीर से मानव मात्र का होना चाहता हूँ, जिससे मेरे

दीक्षा गुरु

जैन यति सम्प्रदाय में यह रिवाज है कि कोई सुयोग्य शिष्य अपने गुरुदेव की परीक्षा कसौटी पर खरा उतर जाता है तब ही उसे विधिवत् सम्प्रदाय मे दीक्षित कर लिया जाता है। नियमानुसार स्वय के गुरुदेव ही दीक्षागुरु बनाये जाते हैं, किन्तु आवश्यकता तथा परिस्थितिवश कभी कभी सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य भी भावी यतिराज को दीक्षित कर देते हैं। चरित्रनायक अपनी किशोरावस्था को पार कर जब पूर्ण वयस्क होने लगे थे तो गुरासाहिब ने सामाजिक उत्तरदायित्व देने के लिये इन्हे दीक्षा देने का निर्णय लिया। प्रश्न था कि आपकी दीक्षा किसी अन्य सुयोग्य आचार्य से कराई जाय, किन्तु चरित्रनायक को यह स्वीकार नही था। आपने विनयपूर्वक श्री गुरासाहिब से प्रार्थना की कि मुझे तो जो कुछ आलोक मिला है, वह सब आपके चरणो का ही प्रताप है। अत मुझे आपश्री मे ही अनन्त श्रद्धा है और जहाँ जिसको जैसी श्रद्धा है, उसी मे उसका कल्याण है। इसलिये मैं आपके अतिरिक्त किसी अन्य को अपना दीक्षा गुरु नही बनाऊंगा। अब आपको जो भी निर्णय लेकर व्यवस्था करनी है कीजिये। मेरे विद्यागुरु यतिवर्य श्री जवाहरलालजी महाराज या आप दोनो में कोई मुझे दीक्षा प्रदान करेंगे तो अधिक कल्याणकारी होगा।

श्री उम्मेददत्तजी गुरा साहिब की अलौकिकता तथा चमत्कृतियो के लिए इन्ही पृष्ठो मे पाठको को यत्र तत्र पढने को पर्याप्त सामग्री मिलेगी, फिर भी उनकी गुणावली को लिपिबद्ध करना किसी सामान्यजन की क्षमता के बाहर है। श्री गुरासाहिब एक अलौकिक महापुरुष थे जो मेवाड व मारवाड की सामान्य जनता से राजा, महाराजा, सेठ, साहूकारो तक एक भाव से सम्मानित थे। ज्योतिष, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र पर तो आपका एकाधिकार था ही, साथ ही आयुर्वेद आपका प्रमुख सेवा-साधन था। इसी की चमत्कृति से आप अनेक सामन्तो के सम्पर्क में आए और उनके प्रमुख चिकित्सक के साथ-साथ परम सुहृद एव परामर्शदाता भी बन गए। सवत् १९५२ मे महाराज श्री जसवतसिहजी (द्वितीय) के स्वर्गवास के पश्चात् गुरुदेव श्री उम्मेददत्तजी महाराज उक्त श्री जी साहिबो का दु.सह वियोग न सह सके और वे जोधपुर से ब्यावर (नए शहर) को शीघ्र ही प्रस्थान कर गए। गुरासाहिब ने वहाँ पूर्वोक्त सामूहिक निर्णय को मान कर चरित्रनायक के दीक्षा गुरु बनने का निश्चय कर लिया और शास्त्रीय विधि तथा लौकिक व्यवहार के समन्वय से इस कार्य को सविधि सम्पन्न करने की तैयारिया प्रारम्भ कर दी।

दीक्षा सस्कार

सस्कार पद्धति भारतीय सस्कृति की एक अद्भुत देन है। प्रमुख मान्यता के अनुसार सस्कार सोलह होते हैं, उनमे भी कुछ का अत्यधिक महत्व है। भारतीय परम्परा में मान्यता है कि जैसे खान से निकले हुए रत्नादि को शाण पर घिस कर परिमार्जित तथा

दीक्षा गुरु

जैन यति सम्प्रदाय में यह रिवाज है कि कोई सुयोग्य शिष्य अपने गुरुदेव की परीक्षा कसौटी पर खरा उतर जाता है तब ही उसे विधिवत् सम्प्रदाय मे दीक्षित कर लिया जाता है। नियमानुसार स्वय के गुरुदेव ही दीक्षागुरु बनाये जाते हैं, किन्तु आवश्यकता तथा परिस्थितिवश कभी कभी सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य भी भावी यतिराज को दीक्षित कर देते हैं। चरित्रनायक अपनी किशोरावस्था को पार कर जब पूर्ण वयस्क होने लगे थे तो गुरासाहिब ने सामाजिक उत्तरदायित्व देने के लिये इन्हे दीक्षा देने का निर्णय लिया। प्रश्न था कि आपकी दीक्षा किसी अन्य सुयोग्य आचार्य से कराई जाय, किन्तु चरित्रनायक को यह स्वीकार नही था। आपने विनयपूर्वक श्री गुरासाहिब से प्रार्थना की कि मुझे तो जो कुछ आलोक मिला है, वह सब आपके चरणो का ही प्रताप है। अत मुझे आपश्री मे ही अनन्त श्रद्धा है और जहाँ जिसको जैसी श्रद्धा है, उसी मे उसका कल्याण है। इसलिये मैं आपके अतिरिक्त किसी अन्य को अपना दीक्षा गुरु नही बनाऊँगा। अब आपको जो भी निर्णय लेकर व्यवस्था करनी है कीजिये। मेरे विद्यागुरु यतिवर्य श्री जवाहरलालजी महाराज या आप दोनो में कोई मुझे दीक्षा प्रदान करेंगे तो अधिक कल्याणकारी होगा।

श्री उम्मेददत्तजी गुरा साहिब की अलौकिकता तथा चमत्कृतियो के लिए इन्ही पृष्ठो मे पाठको को यत्र तत्र पढने को पर्याप्त सामग्री मिलेगी, फिर भी उनकी गुणावली को लिपिबद्ध करना किसी सामान्यजन की क्षमता के बाहर है। श्री गुरासाहिब एक अलौकिक महापुरुष थे जो मेवाड व मारवाड की सामान्य जनता से राजा, महाराजा, सेठ, साहूकारो तक एक भाव से सम्मानित थे। ज्योतिष, मत्र, यत्र, तत्र पर तो आपका एकाधिकार था ही, साथ ही आयुर्वेद आपका प्रमुख सेवा-साधन था। इसी की चमत्कृति से आप अनेक सामन्तो के सम्पर्क मे आए और उनके प्रमुख चिकित्सक के साथ-साथ परम सुहृद एव परामर्शदाता भी बन गए। सवत् १९५२ मे महाराज श्री जसवतसिंहजी (द्वितीय) के स्वर्गवास के पश्चात् गुरुदेव श्री उम्मेददत्तजी महाराज उक्त श्री जी साहिबो का दु.सह वियोग न सह सके और वे जोधपुर से व्यावर (नए शहर) को शीघ्र ही प्रस्थान कर गए। गुरासाहिब ने वहाँ पूर्वोक्त सामूहिक निर्णय को मान कर चरित्रनायक के दीक्षा गुरु बनने का निश्चय कर लिया और शास्त्रीय विधि तथा लौकिक व्यवहार के समन्वय से इस कार्य को सविधि सम्पन्न करने की तैयारिया प्रारम्भ कर दी।

दीक्षा सस्कार

सस्कार पद्धति भारतीय सस्कृति की एक अद्भुत देन है। प्रमुख मान्यता के अनुसार सस्कार सोलह होते हैं, उनमे भी कुछ का अत्यधिक महत्व है। भारतीय परम्परा में मान्यता है कि जैसे खान से निकले हुए रत्नादि को शाण पर घिस कर परिमार्जित तथा

सुसस्कृत कर लिया जाता है वैसे ही व्यक्ति को भी सुसस्कृत करने पर उसमे अभिनव गुणोदय होता है, अर्थात् उसको पात्रता अधिक प्रखर होकर समाज, के समक्ष आती है, जिससे उसकी उपयोगिता का अधिकाधिक निर्धारण हो सके। भारतीय समाज-व्यवस्था इसीलिए अधिक लचीली होकर, जितनी सस्कृतिया आईं, उन्हें आत्मसात् करती रही है और अपने सद्गुणो से सब को तिरोहित कर आज भी अक्षुण्ण रूप मे विद्यमान है। यहा सब को समान अवसर मिलने का खुला क्षेत्र है।

भारतीय जन-जीवन के सभी क्षेत्रो मे इस सस्कार पद्धति का बडा महत्व स्वीकार किया गया है। अत जैन यति सम्प्रदाय भी दीक्षा सस्कार समारोह बडी धूमधाम से करते हैं। उनकी मान्यतानुसार व्यक्ति अनुराग से वैराग्य की ओर अग्रसर होता है। अत समस्त भोगो के उपयोग के पश्चात् ही उनसे विराम सम्भव है, इसलिए दीक्षा सस्कार के पूर्व व्यक्ति की शेष भोगेच्छाओ की शान्ति के लिए कुछ समय पूर्व दीक्षित होने वाले व्यक्ति के समक्ष सर्वविध भोगो का साधन प्रस्तुत करने का समारम्भ किया जाता है। विशिष्ठ भोजन तथा परिधान और वाहनादि से उसका शाही सम्मान कर अन्त मे उनके परित्यागस्वरूप केवल श्वेत परिधान तथा साधारण भोजनादि ग्रहण करन का उपदेशपूवक सकल्प करवाते हैं। इस अवसर पर अनेक गणमान्य समाजधुरीण तथा विद्वान् मनीषी भी विद्यमान रहते हैं तो तत्कालीन प्रशासन की भी साक्षी का अवसर ग्रहण किया जाता है।

चरित्रनायक का दीक्षा सस्कार भी जैन यति सम्प्रदाय की पद्धति के अनुसार राजस्थान के प्रसिद्ध नगर ब्यावर मे दादाबाडी स्थान पर हुआ। कई दिन पूर्व वैरागी रूप में आपका शाही सम्मान से बिनोला आदि निकाले गए। अनेक प्रमुख यतिराज न केवल मारवाड क्षेत्र से ही, अपितु भारतवर्ष के सुदूर क्षेत्रो मे इस अवसर पर सम्मिलित होने के लिए पधारे। श्री गुरासाहिब का मेवाड तथा मारवाड के राज घरानो मे सुदृढ सम्बन्ध होने से दोनो ही राज्यो के प्रशासनो का अटूट सहयोग आपके इस सस्कार मे प्राप्त हुआ। जोधपुर के अनेक सामन्त तथा श्रद्धालु सेठ साहूकार श्री गुरा साहिब के प्रभाव से पूर्णतया परिचित थे, अत आपसे आपके सुयोग्य शिष्यो का यह सस्कार सुन अपनी सेवाओ के लिए सन्नद्ध हो गए। फलतः दीक्षा सस्कार के समय चरित्रनायक की विकासोन्मुखी गुणावली पर मुग्ध हो दीक्षा स्थल पर विशाल जन समूह एकत्रित हो गया जिसमे अबालवृद्ध सभी प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित थे।

ऐसे विशाल जन समूह के समक्ष, श्री गुरा साहिब ने अपने सुयोग्य भावी उत्तराधिकारी को उनसे भी अधिक प्रभावशाली तथा लोकोपकारी बनाने की सद्भावना से चरित्रनायक को विधिवत् यति सम्प्रदाय मे दीक्षित घोषित करने के लिए सहपाठी सुहृद्वर श्री जवाहरमलजी महाराज से प्रार्थना की। यहा यह प्रकट कर देना प्रासगिक ही होगा कि

सुसस्कृत कर लिया जाता है वैसे ही व्यक्ति को भी सुसस्कृत करने पर उसमे अभिनव गुणोदय होता है, अर्थात् उसकी पात्रता अधिक प्रखर होकर समाज, के समक्ष आती है, जिससे उसकी उपयोगिता का अधिकाधिक निर्धारण हो सके। भारतीय समाज-व्यवस्था इसीलिए अधिक लचीली होकर, जितनी सस्कृतिया आईं, उन्हें आत्मसात् करती रही है और अपने सद्गुणो से सब को तिरोहित कर आज भी अक्षुण्ण रूप मे विद्यमान है। यहा सब को समान अवसर मिलने का खुला क्षेत्र है।

भारतीय जन-जीवन के सभी क्षेत्रो मे इस सस्कार पद्धति का बडा महत्व स्वीकार किया गया है। अत जैन यति सम्प्रदाय भी दीक्षा सस्कार समारोह बडी धूमधाम से करते हैं। उनकी मान्यतानुसार व्यक्ति अनुराग से वैराग्य की ओर अग्रसर होता है। अत समस्त भोगो के उपयोग के पश्चात् ही उनसे विराम सम्भव है, इसलिए दीक्षा सस्कार के पूर्व व्यक्ति की शेष भोगेच्छाओ की शान्ति के लिए कुछ समय पूर्व दोक्षित होने वाले व्यक्ति के समक्ष सर्वविध भोगो का साधन प्रस्तुत करने का समारम्भ किया जाता है। विशिष्ठ भोजन तथा परिधान और वाहनादि से उसका शाही सम्मान कर अन्त मे उनके परित्यागस्वरूप केवल श्वेत परिधान तथा साधारण भोजनादि ग्रहण करन का उपदेशपूर्वक सकल्प करवाते हैं। इस अवसर पर अनेक गणमान्य समाजधुरीण तथा विद्वान् मनीषी भी विद्यमान रहते हैं तो तत्कालीन प्रशासन की भी साक्षी का अवसर ग्रहण किया जाता है।

चरित्रनायक का दीक्षा सस्कार भी जैन यति सम्प्रदाय की पद्धति के अनुसार राजस्थान के प्रसिद्ध नगर ब्यावर मे दादाबाडी स्थान पर हुआ। कई दिन पूर्व वैरागी रूप में आपका शाही सम्मान से बिनोला आदि निकाले गए। अनेक प्रमुख यतिराज न केवल मारवाड क्षेत्र से ही, अपितु भारतवर्ष के सुदूर क्षेत्रो मे इस अवसर पर सम्मिलित होने के लिए पधारे। श्री गुरासाहिब का मेवाड तथा मारवाड के राज घरानो मे सुदृढ सम्बन्ध होने से दोनो ही राज्यो के प्रशासनो का अटूट सहयोग आपके इस सस्कार मे प्राप्त हुआ। जोधपुर के अनेक सामन्त तथा श्रद्धालु सेठ साहूकार श्री गुरा साहिब के प्रभाव से पूर्णतया परिचित थे, अत आपसे आपके सुयोग्य शिष्यो का यह सस्कार सुन अपनी सेवाओ के लिए सन्नद्ध हो गए। फलतः दीक्षा सस्कार के समय चरित्रनायक की विकासोन्मुखी गुणावली पर मुग्ध हो दीक्षा स्थल पर विशाल जन समूह एकत्रित हो गया जिसमे अबालवृद्ध सभी प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित थे।

ऐसे विशाल जन समूह के समक्ष, श्री गुरा साहिब ने अपने सुयोग्य भावी उत्तराधिकारी को उनसे भी अधिक प्रभावशाली तथा लोकोपकारी बनाने की सद्भावना से चरित्रनायक को विधिवत् यति सम्प्रदाय मे दीक्षित घोषित करने के लिए सहपाठी सुहृद्वर श्री जवाहरमलजी महाराज से प्रार्थना की। यहा यह प्रकट कर देना प्रासगिक ही होगा कि

पूज्य श्री गुरा साहिब उम्मेददत्तजी महाराज के एक और शिष्य भी थे जिनका नाम श्री फतहचदजी था। उनकी दीक्षा भी चरित्रनायक के साथ ही सम्पन्न करने की श्री जवाहरमलजो महाराज से विनय की गई थी। यद्यपि श्री फतहचदजी ज्येष्ठ शिष्य थे तथापि चरितनायक की अलौकिक प्रखरता एव प्रज्ञा कौशल की गहरी छाप पूज्य श्री गुरा साहिब के मानस पर अङ्कित हो जाने के कारण वे चरित्रनायक को व्यक्त रूप मे भी अपना पट्ट शिष्य मानते थे।

पूज्य जवाहरमलजी महाराज ने पूज्य गुरा साहिब की प्रार्थना का आदर करते हुए अपने कर कमलो से दोनो को दीक्षित कर उनके मस्तको पर वासक्षेप किया। घोषणा के तत्काल पश्चात् मेवाड तथा मारवाड के प्रशासको के प्रतिनिधियो एव अन्य समुपस्थित गणमान्य यतिराज, सेठ साहूकार, सामन्त तथा श्रद्धालु जनता जनार्दन ने श्री फतहचन्दजी व हमारे चरित्रनायक को सुयोग्य पदानुरूप सम्मान प्रदान कर अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। चरित्रनायक का यह सस्कार विक्रम सवत् १९५३ की मार्गशीर्ष कृष्णा पञ्चमी को हुआ था जिस समय चरित्रनायक की आयु अठारह वर्ष की थी। वैसे तो अपने जीवन लक्ष्य पर पहिले से ही चरित्रनायक पूर्ण प्रबुद्ध थे, किन्तु इस नवीन उत्तरदायित्व ने उन्हें समाज के प्रति और भी अधिक जागरूक कर दिया कि उन्हें अब अधिक सतर्कता से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है।

चरित्रनायक के ज्येष्ठ गुरुभ्राता श्री फतहचदजी का स्वर्गवास सवत् १९५८ मे पूज्य गुरा साहिब की विद्यमानता मे ग्राम खीमेल मे ही हो गया।

विशिष्ट प्रशिक्षण तथा स्वाध्याय

चरित्रनायक ने अपने उत्कट बुद्धिकौशल से शीघ्र ही प्रारभिक शिक्षा समाप्त करली तो श्री गुरासाहिब ने आपके विशिष्ट प्रशिक्षण का सुप्रबन्ध कर दिया। आपके कुलक्रमागत व्यवसाय आयुर्वेद, ज्योतिष, तथा धर्मोपदेश था और इन सब का मूल श्रोत या मूलोद्गम सस्कृत भाषा होने के कारण आपने सस्कृत भाषा का प्रौढ प्रशिक्षण प्राप्त करना श्रेयस्कर समझा। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय कला, कौशल तथा विज्ञान का आदि स्रोत भी सस्कृत वाङ्मय ही है, अत. श्री गुरासाहिब ने सस्कृत के विशिष्ट ज्ञानार्जन के लिये जोधपुर के तत्कालीन प्रमुख विद्वान् स्वर्गीय पण्डितप्रवर श्री श्यामकरणजी आसोपा (दाधीच) को आपके अध्यापनार्थ नियुक्त कर लिया। समयानुसार चरित्रनायक पडितजी के घर पर भी अपनी उत्पन्न शका या जिज्ञासाओ की शान्ति के लिये पधार जाते थे। अधिकाशत तो पडितजी श्री गुरासाहिब की साक्षी में ही उनकी हवेली पर आपको अध्यापन कराते थे। तत्कालीन प्रचलित परम्परा के अनुसार अध्येय सभी व्याकरण, साहित्य, न्याय, वेदान्त, साख्य, वैशेषिक, मीमाँसा, छन्द, तथा निरुक्तादि द्वारा वैदिक वाङ्मय तक का गम्भीर

अध्ययन किया। चरित्रनायक की तरुणावस्था के काल में यति सम्प्रदाय अपने को किसी अन्य का शिष्य घोषित करना तथा विधर्मियो से पढना भी हेय समझते थे, किन्तु चरित्र-नायक के विशेष अध्ययन के लिये श्री गुरासाहिब ने इस दोष का आमूलचूल परिवर्तन कर दिया, और जहां से भी ज्ञान का साधन सुलभ हुआ श्री गुरा साहिब ने सभी बन्धनो से मुक्त हो अपने सुयोग्य शिष्यो के लिये समुचित ज्ञानार्जन का प्रबध किया। प्रशिक्षण के समय चरित्रनायक को अपनी ज्ञानपिपासा की तृप्ति के लिये इतनी उत्कण्ठा थी कि कही भी कोई सुयोग्य विद्वान् के पधारने की चर्चा सुनते तो श्री गुरासाहिब से विशेष आज्ञा ग्रहण कर उनके शब्दामृत से तृप्त होने के लिये अवश्य पधारते थे। अत: आपने जोधपुर मे पधारने वाले अनेक विभिन्न क्षेत्रीय महामनीषियो से सम्पर्क स्थापित कर अपनी बुद्धि को बहुमुखी शाण दिलवाने का विशाल प्रयत्न किया।

इस प्रकार सस्कृत साहित्य का बहुश्रुत सर्वाङ्गीण अध्ययन पूर्ण हो गया तो अपना परम्परा प्राप्त वशानुगत व्यवसाय आयुर्वेद चरित्रनायक को आकर्षित नही करता, ऐसी बात असभव थी, क्योकि भूतदयापरायणता इस शास्त्र का महत्व और चरित्रनायक का सर्वभूत हितैषिता के लिये नैसर्गिक मानस, फिर इन दोनो मे समन्वय का विलम्ब ही कैसा ? श्री गुरासाहिब को चरित्रनायक का थोडा भी वियोग सर्वथा असह्य था। अत गुरा साहिब ने आयुर्वेदाध्ययन के लिए भी अपने प्रिय शिष्य को अन्यत्र कही न भेज कर अपने चरणो के सान्निध्य मे ही अपने चिरसचित ज्ञान भण्डार से पूरित करने का निर्णय किया। श्री गुरा साहिब इतने देदीप्यमान थे कि आपके समक्ष सदा प्रकाषपुञ्ज विद्यमान रहता था और इसका प्रमाण उनके चिकित्सा कौशल से मिलता था कि अनेक राजा, महाराजा, सेठ, साहू-कार तथा सभ्रान्त नागरिको को उन्होने अपनी चिकित्साचातुरी से आकृष्ट किया। श्री गुरासाहिब का सकल्प और चरित्रनायक की श्रद्धा, इनके सामञ्जस्य से यही निर्णय रहा कि आप श्री गुरासाहिब से आयुर्वेद का अध्ययन करें। साथ ही प्रायोगिक कर्माभ्यास का भी प्रत्यक्ष प्रशिक्षण श्री गुरासाहिब के निर्देशानुसार करते रहे। फिर भी श्री गुरासा-हिब ने जैसलमेर के तत्कालीन धुरन्धर विद्वान् वैद्यराज श्री पडित देवीदत्त जी व्यास के सुपुत्र पण्डित-प्रवर श्री वैद्यनाथ जी को अपनी हवेली पर ही रख लिया व उनसे भी चरित्र-नायक अनवरत आयुर्वेद वाङ्मय का अध्ययन व प्रत्यक्ष कर्माभ्यास ज्ञान प्राप्त करते रहे। वृद्धावस्था के कारण पडित् श्री देवीदत्तजी भी अपने पुत्र वैद्यनाथजी के साथ यही विरा-जने लगे।

चरित्रनायक के आयुर्वेदाध्ययन क्रम मे लघुत्रयी का अध्ययन प्रारम्भ हुआ, किन्तु एक शास्त्र मे प्राप्त प्रगल्भ प्रशिक्षण व्यक्ति के लिये दूसरा शास्त्र स्वत· करामलकवत् होता है, अत अत्यल्प समय मे ही आपने इसको पूर्ण कर दिया और कई बार तो चरित्रनायक ने

पूज्य श्री गुरा साहिब उम्मेददत्तजी महाराज के एक और शिष्य भी थे जिनका नाम श्री फतहचदजी था। उनकी दीक्षा भी चरित्रनायक के साथ ही सम्पन्न करने की श्री जवाहरमलजो महाराज से विनय की गई थी। यद्यपि श्री फतहचदजी ज्येष्ठ शिष्य थे तथापि चरितनायक की अलौकिक प्रखरता एव प्रज्ञा कौशल की गहरी छाप पूज्य श्री गुरा साहिब के मानस पर अङ्कित हो जाने के कारण वे चरित्रनायक को व्यक्त रूप मे भी अपना पट्ट शिष्य मानते थे।

पूज्य जवाहरमलजी महाराज ने पूज्य गुरा साहिब की प्रार्थना का आदर करते हुए अपने कर कमलो से दोनो को दीक्षित कर उनके मस्तको पर वासक्षेप किया। घोषणा के तत्काल पश्चात् मेवाड तथा मारवाड के प्रशासको के प्रतिनिधियो एव अन्य समुपस्थित गणमान्य यतिराज, सेठ साहूकार, सामन्त तथा श्रद्धालु जनता जनार्दन ने श्री फतहचन्दजी व हमारे चरित्रनायक को सुयोग्य पदानुरूप सम्मान प्रदान कर अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। चरित्रनायक का यह सस्कार विक्रम सवत् १९५३ की मार्गशीर्ष कृष्णा पञ्चमी को हुआ था जिस समय चरित्रनायक की आयु अठारह वर्ष की थी। वैसे तो अपने जीवन लक्ष्य पर पहिले से ही चरित्रनायक पूर्ण प्रबुद्ध थे, किन्तु इस नवीन उत्तरदायित्व ने उन्हें समाज के प्रति और भी अधिक जागरूक कर दिया कि उन्हें अब अधिक सतर्कता से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है।

चरित्रनायक के ज्येष्ठ गुरुभ्राता श्री फतहचदजी का स्वर्गवास सवत् १९५८ मे पूज्य गुरा साहिब की विद्यमानता मे ग्राम खीमेल मे ही हो गया।

विशिष्ट प्रशिक्षण तथा स्वाध्याय

चरित्रनायक ने अपने उत्कट बुद्धिकौशल से शीघ्र ही प्रारभिक शिक्षा समाप्त करली तो श्री गुरासाहिब ने आपके विशिष्ट प्रशिक्षण का सुप्रबन्ध कर दिया। आपके कुलक्रमागत व्यवसाय आयुर्वेद, ज्योतिष, तथा धर्मोपदेश था और इन सब का मूल स्रोत या मूलोद्गम सस्कृत भाषा होने के कारण आपने सस्कृत भाषा का प्रौढ प्रशिक्षण प्राप्त करना श्रेयस्कर समझा। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय कला, कौशल तथा विज्ञान का आदि स्रोत भी सस्कृत वाड्मय ही है, अत. श्री गुरासाहिब ने सस्कृत के विशिष्ट ज्ञानार्जन के लिये जोधपुर के तत्कालीन प्रमुख विद्वान् स्वर्गीय पण्डितप्रवर श्री श्यामकरणजी आसोपा (दाधीच) को आपके अध्यापनार्थ नियुक्त कर लिया। समयानुसार चरित्रनायक पडितजी के घर पर भी अपनी उत्पन्न शका या जिज्ञासाओ की शान्ति के लिये पधार जाते थे। अधिकाशत तो पडितजी श्री गुरासाहिब की साक्षी मे ही उनकी हवेली पर आपको अध्यापन कराते थे। तत्कालीन प्रचलित परम्परा के अनुसार अध्येय सभी व्याकरण, साहित्य, न्याय, वेदान्त, साख्य, वैशेषिक, मीमांसा, छन्द, तथा निरुक्तादि द्वारा वैदिक वाड्मय तक का गम्भीर

अध्ययन किया। चरित्रनायक की तरुणावस्था के काल मे यति सम्प्रदाय अपने को किसी अन्य का शिष्य घोषित करना तथा विधर्मियो से पढना भी हेय समझते थे, किन्तु चरित्र-नायक के विशेष अध्ययन के लिये श्री गुरासाहिब ने इस दोष का आमूलचूल परिवर्तन कर दिया, और जहाँ से भी ज्ञान का साधन सुलभ हुआ श्री गुरा साहिब ने सभी बन्धनो से मुक्त हो अपने सुयोग्य शिष्यो के लिये समुचित ज्ञानार्जन का प्रबध किया। प्रशिक्षण के समय चरित्रनायक को अपनी ज्ञानपिपासा की तृप्ति के लिये इतनी उत्कण्ठा थी कि कही भी कोई सुयोग्य विद्वान् के पधारने की चर्चा सुनते तो श्री गुरासाहिब से विशेष आज्ञा ग्रहण कर उनके शब्दामृत से तृप्त होने के लिये अवश्य पधारते थे। अत: आपने जोधपुर मे पधारने वाले अनेक विभिन्न क्षेत्रीय महामनीषियो से सम्पर्क स्थापित कर अपनी बुद्धि को बहुमुखी शाण दिलवाने का विशाल प्रयत्न किया।

इस प्रकार सस्कृत साहित्य का बहुश्रुत सर्वाङ्गीण अध्ययन पूर्ण हो गया तो अपना परम्परा प्राप्त वशानुगत व्यवसाय आयुर्वेद चरित्रनायक को आकर्षित नही करता, ऐसी बात असभव थी, क्योकि भूतदयापरायणता इस शास्त्र का महत्व और चरित्रनायक का सर्वभूत हितैषिता के लिये नैसर्गिक मानस, फिर इन दोनो मे समन्वय का विलम्ब ही कैसा? श्री गुरासाहिब को चरित्रनायक का थोडा भी वियोग सर्वथा असह्य था। अत गुरा साहिब ने आयुर्वेदाध्ययन के लिए भी अपने प्रिय शिष्य को अन्यत्र कही न भेज कर अपने चरणो के सान्निध्य मे ही अपने चिरसचित ज्ञान भण्डार से पूरित करने का निर्णय किया। श्री गुरा साहिब इतने दैदीप्यमान थे कि आपके समक्ष सदा प्रकाषपुञ्ज विद्यमान रहता था और इसका प्रमाण उनके चिकित्सा कौशल से मिलता था कि अनेक राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार तथा सम्भ्रान्त नागरिको को उन्होने अपनी चिकित्साचातुरी से आकृष्ट किया। श्री गुरासाहिब का सकल्प और चरित्रनायक की श्रद्धा, इनके सामञ्जस्य से यही निर्णय रहा कि आप श्री गुरासाहिब से आयुर्वेद का अध्ययन करे। साथ ही प्रायोगिक कर्माभ्यास का भी प्रत्यक्ष प्रशिक्षण श्री गुरासाहिब के निर्देशानुसार करते रहे। फिर भी श्री गुरासा-हिब ने जैसलमेर के तत्कालीन धुरन्धर विद्वान् वैद्यराज श्री पडित देवीदत्त जी व्यास के सुपुत्र पण्डित-प्रवर श्री वैद्यनाथ जी को अपनी हवेली पर ही रख लिया व उनसे भी चरित्र-नायक अनवरत आयुर्वेद वाङ्मय का अध्ययन व प्रत्यक्ष कर्माभ्यास ज्ञान प्राप्त करते रहे। वृद्धावस्था के कारण पडित् श्री देवीदत्तजी भी अपने पुत्र वैद्यनाथजी के साथ यही विरा-जने लगे।

चरित्रनायक के आयुर्वेदाध्ययन क्रम मे लघुत्रयी का अध्ययन प्रारम्भ हुआ, किन्तु एक शास्त्र मे प्राप्त प्रगल्भ प्रशिक्षण व्यक्ति के लिये दूसरा शास्त्र स्वत करामलकवत् होता है, अत॰ अत्यल्प समय मे ही आपने इसको पूर्ण कर दिया और कई बार तो चरित्रनायक ने

पूज्य श्री गुरा साहिब उम्मेददत्तजी महाराज के एक और शिष्य भी थे जिनका नाम श्री फतहचदजी था। उनकी दीक्षा भी चरित्रनायक के साथ ही सम्पन्न करने की श्री जवाहर-मलजी महाराज से विनय की गई थी। यद्यपि श्री फतहचदजी ज्येष्ठ शिष्य थे तथापि चरित-नायक की अलौकिक प्रखरता एव प्रज्ञा कौशल की गहरी छाप पूज्य श्री गुरा साहिब के मानस पर अङ्कित हो जाने के कारण वे चरित्रनायक को व्यक्त रूप मे भी अपना पट्ट शिष्य मानते थे।

पूज्य जवाहरमलजी महाराज ने पूज्य गुरा साहिब की प्रार्थना का आदर करते हुए अपने कर कमलो से दोनो को दीक्षित कर उनके मस्तको पर वासक्षेप किया। घोषणा के तत्काल पश्चात् मेवाड तथा मारवाड के प्रशासको के प्रतिनिधियो एव अन्य समुपस्थित गणमान्य यतिराज, सेठ साहूकार, सामन्त तथा श्रद्धालु जनता जनार्दन ने श्री फतहचन्दजी व हमारे चरित्रनायक को सुयोग्य पदानुरूप सम्मान प्रदान कर अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। चरित्रनायक का यह सस्कार विक्रम सवत् १९५३ की मार्गशीर्ष कृष्णा पञ्चमी को हुआ था जिस समय चरित्रनायक की आयु अठारह वर्ष की थी। वैसे तो अपने जीवन लक्ष्य पर पहिले से ही चरित्रनायक पूर्ण प्रबुद्ध थे, किन्तु इस नवीन उत्तरदायित्व ने उन्हें समाज के प्रति और भी अधिक जागरूक कर दिया कि उन्हें अब अधिक सतर्कता से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है।

चरित्रनायक के ज्येष्ठ गुरुभ्राता श्री फतहचदजी का स्वर्गवास सवत् १९५८ मे पूज्य गुरा साहिब की विद्यमानता मे ग्राम खीमेल मे ही हो गया।

विशिष्ट प्रशिक्षण तथा स्वाध्याय

चरित्रनायक ने अपने उत्कट बुद्धिकौशल से शीघ्र ही प्रारभिक शिक्षा समाप्त करली तो श्री गुरासाहिब ने आपके विशिष्ट प्रशिक्षण का सुप्रबन्ध कर दिया। आपके कुलक्रमागत व्यवसाय आयुर्वेद, ज्योतिष, तथा धर्मोपदेश था और इन सब का मूल स्रोत या मूलोद्गम सस्कृत भाषा होने के कारण आपने सस्कृत भाषा का प्रौढ प्रशिक्षण प्राप्त करना श्रेयस्कर समझा। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय कला, कौशल तथा विज्ञान का आदि स्रोत भी सस्कृत वाङ्मय ही है, अत श्री गुरासाहिब ने सस्कृत के विशिष्ट ज्ञानार्जन के लिये जोधपुर के तत्कालीन प्रमुख विद्वान् स्वर्गीय पण्डितप्रवर श्री श्यामकरणजी आसोपा (दाधीच) को आपके अध्यापनार्थ नियुक्त कर लिया। समयानुसार चरित्रनायक पडितजी के घर पर भी अपनी उत्पन्न शका या जिज्ञासाओ की शान्ति के लिये पधार जाते थे। अधिकाशत तो पडितजी श्री गुरासाहिब की साक्षी मे ही उनकी हवेली पर आपको अध्यापन कराते थे। तत्कालीन प्रचलित परम्परा के अनुसार अध्येय सभी व्याकरण, साहित्य, न्याय, वेदान्त, साख्य, वैशेषिक, मीमांसा, छन्द, तथा निरुक्तादि द्वारा वैदिक वाङ्मय तक का गम्भीर

अध्ययन किया। चरित्रनायक की तरुणावस्था के काल मे यति सम्प्रदाय अपने को किसी अन्य का शिष्य घोषित करना तथा विधर्मियो से पढना भी हेय समझते थे, किन्तु चरित्र-नायक के विशेष अध्ययन के लिये श्री गुरासाहिब ने इस दोप का आमूलचूल परिवर्तन कर दिया, और जहाँ से भी ज्ञान का साधन सुलभ हुआ श्री गुरा साहिब ने सभी बन्धनो से मुक्त हो अपने सुयोग्य शिष्यो के लिये समुचित ज्ञानार्जन का प्रबध किया। प्रशिक्षण के समय चरित्रनायक को अपनी ज्ञानपिपासा की तृप्ति के लिये इतनी उत्कण्ठा थी कि कही भी कोई सुयोग्य विद्वान् के पधारने की चर्चा सुनते तो श्री गुरासाहिब से विशेष आज्ञा ग्रहण कर उनके शब्दामृत से तृप्त होने के लिये अवश्य पधारते थे। अत: आपने जोधपुर मे पधारने वाले अनेक विभिन्न क्षेत्रीय महामनीषियो से सम्पर्क स्थापित कर अपनी बुद्धि को बहुमुखी शाण दिलवाने का विशाल प्रयत्न किया।

इस प्रकार सस्कृत साहित्य का बहुश्रुत सर्वाङ्गीण अध्ययन पूर्ण हो गया तो अपना परम्परा प्राप्त वशानुगत व्यवसाय आयुर्वेद चरित्रनायक को आकर्षित नही करता, ऐसी बात असभव थी, क्योकि भूतदयापरायणता इस शास्त्र का महत्त्व और चरित्रनायक का सर्वभूत हितैषिता के लिये नैसर्गिक मानस, फिर इन दोनो मे समन्वय का विलम्ब ही कैसा? श्री गुरासाहिब को चरित्रनायक का थोडा भी वियोग सर्वथा असह्य था। अत गुरा साहिब ने आयुर्वेदाध्ययन के लिए भी अपने प्रिय शिष्य को अन्यत्र कही न भेज कर अपने चरणो के सान्निध्य मे ही अपने चिरसचित ज्ञान भण्डार से पूरित करने का निर्णय किया। श्री गुरा साहिब इतने दैदीप्यमान थे कि आपके समक्ष सदा प्रकाषपुञ्ज विद्यमान रहता था और इसका प्रमाण उनके चिकित्सा कौशल से मिलता था कि अनेक राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार तथा सम्भ्रान्त नागरिको को उन्होने अपनी चिकित्साचातुरी से आकृष्ट किया। श्री गुरासाहिब का सकल्प और चरित्रनायक की श्रद्धा, इनके सामञ्जस्य से यही निर्णय रहा कि आप श्री गुरासाहिब से आयुर्वेद का अध्ययन करे। साथ ही प्रायोगिक कर्माभ्यास का भी प्रत्यक्ष प्रशिक्षण श्री गुरासाहिब के निर्देशानुसार करते रहे। फिर भी श्री गुरासाहिब ने जैसलमेर के तत्कालीन धुरन्धर विद्वान् वैद्यराज श्री पडित देवीदत्त जी व्यास के सुपुत्र पण्डित-प्रवर श्री वैद्यनाथ जी को अपनी हवेली पर ही रख लिया व उनसे भी चरित्र-नायक अनवरत आयुर्वेद वाड्मय का अध्ययन व प्रत्यक्ष कर्माभ्यास ज्ञान प्राप्त करते रहे। वृद्धावस्था के कारण पडित् श्री देवीदत्तजी भी अपने पुत्र वैद्यनाथजी के साथ यही विराजने लगे।

चरित्रनायक के आयुर्वेदाध्ययन क्रम मे लघुत्रयी का अध्ययन प्रारम्भ हुआ, किन्तु एक शास्त्र मे प्राप्त प्रगल्भ प्रशिक्षण व्यक्ति के लिये दूसरा शास्त्र स्वत: करामलकवत् होता है, अत. अत्यल्प समय मे ही आपने इसको पूर्ण कर दिया और कई बार तो चरित्रनायक ने

१००-१२५ श्लोक तक एक ही दिन मे कण्ठस्थ कर लोगो को अपनी स्मरणशक्ति से चकित करने का अवसर प्राप्त किया। इस कठिन श्रम के लिये श्री गुरासाहिब इन्हे बराबर मना करते रहते थे, किन्तु आपकी अभिरुचि कभी शान्त ही नही होती थी। सामान्य अध्ययनाध्यापन का क्रम यद्यपि प्राय मध्याह्न तथा रात्रि मे श्री गुरा साहिब की चरण सेवा के समय होता था, किन्तु प्रात काल समागत रोगी एव रुग्णाओ पर प्रत्यक्ष तथा श्री गुरासाहिब चरित्रनायक को उक्त अध्ययन का अभ्यास कराते रहते थे। समय समय पर रसायन शाला मे निर्मित होने वाले सभी प्रयोगो का भी द्रव्य परिचयपूर्वक कुशल निर्माण का अभ्यास किया जाता था तो जैन यति सम्प्रदाय मे प्रचलित एक विशेष चिकित्सा पद्धति का सदुपदेश भी श्री गुरा साहिब से चरित्रनायक को ग्रहण करने का लाभ मिलता रहा था। इस प्रकार लघुत्रयी प्रशिक्षण के पश्चात् चरित्रनायक ने आयुर्वेदिक चिकित्सा के सैद्धान्तिक पक्ष की ओर अग्रसर होना चाहा तो श्री गुरा साहिब ने वृहत्त्रयी के गम्भीरतम अध्ययन का सकेत किया। चरित्रनायक को इसमे विलम्ब कहा सह्य था, तत्काल चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट एव अन्य समकालीन आचार्यों के आर्ष ग्रन्थो को जुटा कर नियमित अध्ययन मे जुट गये। सुयोग्य शिष्यो का यह उत्साह देख श्री गुरा साहिब अत्यन्त आह्लादित हुए और आपके लिये नियमित वृहत्त्रयी के अध्ययन का पूर्ण प्रबन्ध कर दिया। जिन जिन कठिन स्थलो पर आपको जिज्ञासाए उपस्थित होती श्री गुरा साहिब बहुत ही मार्मिक विवेचन से आपको सतोष कराते थे। इस प्रकार पूर्ण निष्ठा के साथ प्रत्यक्ष कर्माभ्यासपूर्वक आपने अपने श्री गुरु चरणो से ही आयुर्वेद शास्त्र का प्रौढ अध्ययन किया, और बढते हुए विज्ञान के चरणो से तथा चिकित्सा के अपर पक्ष शल्य चिकित्सा से भी पूर्ण सुपरिचित होने के लिए चरित्रनायक ने जोधपुर राज्य के ही नही, अपने अन्तिम जीवन मे, डाइरेक्टर जनरल मेडीकल एण्ड हेल्थ सर्विसेज गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया, श्री मैकवट साहिब से पूर्ण प्रशिक्षण प्राप्त किया। प्रमाणस्वरूप श्री मैकवट साहिब ने आपको एक प्रमाण पत्र देकर भूरि भूरि प्रशसा की और जीवनपर्यन्त आप से उनका मधुर सम्बन्ध बना रहा। ऐसे कई प्रमाण इसी ग्रन्थ मे चरित्रनायक को प्राप्त अभिनन्दन पत्र तथा प्रशसा पत्रो की शृखला मे मुद्रित हैं।

इस प्रकार चरित्रनायक ने आयुर्वेद शास्त्र का यथार्थ मे सर्वाङ्गीण अध्ययन किया। विशिष्ट वदुष्य एव प्रौढ पाण्डित्य प्राप्त होने पर आपमे और भी स्वाध्याय की रुचि जागृत हो गई। अध्ययन समाप्त होने पर भी आपमे जो स्वाभाविक ज्ञानाभिरुचि थी, तदनुसार आप सहयोगी अन्य चिकित्सा शास्त्रो की ओर भी प्रवृत्त हुए और यूनानी, एलोपैथिक, नैचुरोपैथी, साइकोथिरेपी, बायोकेमी, हीलिंगथिरेपी आदि सभी चिकित्सा पद्धतियो, के उपयोगी साहित्य को पढ गये। आपकी इस स्वाध्यायशीलता ने ही आपको एक भयकर व्याधि से आक्रान्त कर दिया किन्तु फिर भी आप अपनी स्वाध्यायशीलता को सामान्य चर्चाओ मे ही पूर्ण कर लिया करते थे। इन प्रवृत्तियो से आप एक सुयोग्य चिकित्सक तो बने ही, साथ

ही एक विशिष्ट अनुभवी आयुर्वेदनिष्णात विद्वान् बनने का भी मनोज्ञ अवसर प्राप्त कर सके, जिससे आपके जीवन मे पाठको को स्वर्ण सौरभ का सयोग देखने का सहज समुचित अवसर उपलब्ध होता है।

विश्वचिकित्सा विज्ञान आयुर्वेद

सतत स्वाध्याय तथा बहुमुखी अध्ययन से चरित्रनायक के चिकित्सा विज्ञान के प्रति जो सुदृढ विचार बने वे इन पक्तियो के शीर्षक मे ही सुव्यक्त हो जाते हैं। आपकी मान्यतानुसार आयुर्वेदशास्त्र ने चिकित्सा शब्द का जो पारिभाषिक अर्थ किया है कि "जो क्रिया रोग का निवारण करे और जिससे धातुसाम्यावस्था प्राप्त हो वही चिकित्सा है" इसके अन्तर्गत ससार की सभी चिकित्सा पद्धतिये समाविष्ठ हो जाती हैं, क्योकि आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रासाद के केवल एक एक स्तम्भ का आश्रय लेकर अन्य सब चिकित्सा पद्धतिया विकसित एव पल्लवित हुई हैं। अष्टादश उपशय भेद से, कौनसी चिकित्सा पद्धति है, जो दूर रह प्रभावित नही होती है। फिर कोई चिकित्सा पद्धति केवल भौतिक शरीर यन्त्र का ही एक मशीन की भाति उपचार करती है तो दूसरो केवल मानस महल मे सुचारुता लाने का प्रयत्न करती है। आयुर्वेद को चिकित्सा पद्धिति की सज्ञा देना तो भयकर भूल है ही, किन्तु "आरोग्य शास्त्र" कहना भी इसका महत्व कम करना है। जो शास्त्र मानव को समाज के अनुरूप जीना और जीवन व्यवहार समझाता हो, उसे जीवन विज्ञान तथा जीवन शास्त्र मानना चाहिये। आयुर्वेद शास्त्र के प्रवर्त्तक महर्षियो ने इसका उद्‌गम जीवन के साथ ही ससार मे स्वीकार किया है और जीवन के साथ ही इसकी गति है, अतः यह शाश्वत शास्त्र है। इसके सिद्धान्त प्रकृति की उस उर्वरलीला के अभिनेताओ पर आश्रित ही नही, पूर्णतया तन्मय हैं कि प्रकृति से विहीन जीवन की सत्ता हो तो आयुर्वेदीय सिद्धान्तो से रिक्त भी जीवन सत्ता हो सकती है।

समस्त चराचर जगत का आधार एक अव्यक्त अलौकिक शक्ति है और उसकी सहज शक्ति प्रकृति। इन्ही दोनो के समन्वय से भौतिक जगत का निर्माण आधारभूत पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश इन पाच महाभूतो से होता है और इनमे प्रधान नियामक द्रव्य, वायु, तेज और तप है जो आयुर्वेद मे वात, पित्त और कफ के नाम से सम्बोधित होते हैं। ये वात, पित्त और कफ ही शरीर का धारण, पोषण तथा विनाश के लिये मुख्य हेतु हैं और इनकी समता मे आरोग्य तथा विषमता मे अनारोग्यावस्था प्राप्त होती है। जब तक धरातल पर जीवन विद्यमान है तब तक इनकी सत्ता को तिरोहित नही किया जा सकता। और आयुर्वेद शास्त्र की सार्वभौमिकता को भी कोई सशय या खतरा दृष्टिगत नही होता।

स्वस्थ व्यक्ति सामान्य जन-जीवन के व्यवहार मे जब इन्द्रियार्थ, काल और कर्म हीन, मिथ्या एव अतियोग से उपयोग करता है तो परिणामस्वरूप शरीर मे आधि व्याधि

का प्रादुर्भाव होता है। इन्हे आयुर्वेद ने असात्मेन्द्रियार्थ सयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम की सज्ञा दी है और ये ही मानव की अस्वस्थावस्था के मूल हेतु हैं। इन हेतुओ को परिवर्जित कर इन्द्रियार्थादि के समयोग से मानव को स्वत स्वस्थावस्था प्राप्त हो जाती है, क्योंकि निदान परिवर्तन और सम भावो के सन्निवेश का नाम चिकित्सा है।

इसके अतिरिक्त स्वास्थ मानव एक सामाजिक अग है अत. आयुर्वेद शास्त्र उसे सामाजिक जीवन व्यवहार का भी सदुपदेश करता है। तदनुसार पीडित, अभाव तथा शोकग्रस्त व्यक्ति की सहायता करना मानव का परम कर्त्तव्य है तो परपीडन जीवन मे अशाति का प्रधान कारण है। इस प्रकार के अनेक प्रकरण मिलते हैं, जिन पर अमल करने पर विश्व मे शान्ति मिशनो की स्थापना का बहुत सा कार्य स्वत समाप्त हो सकता है। अतः आज के समाजधुरीणो को चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय सघ के विश्व स्वास्थ्य सगठन मे आयुर्वेद जैसे विश्व चिकित्सा विज्ञान की मौलिकता पर भारतीय विद्वानो के साहचर्य से मनन करावें और प्राप्त निर्णयो के आधार पर स्वास्थ्य सम्बन्धी भावी रीति नीति का कार्यक्रम घोषित करे।

मारवाड़ में आयुर्वेद का विकास

आयुर्वेद जैसा सार्वभौम विज्ञान किसी भी क्षेत्र विशेष या समाज विशेष की थाती न होकर समस्त विश्व की निधि रहा है, फिर भी तत्क्षेत्र की परिस्थितियो के अनुसार उसे तदनुरूप ही अग्रसर होने का अवसर मिला है। मारवाड तत्कालीन जोधपुर राज्य का प्रधान क्षेत्र होने से अन्य कला-कौशल विज्ञान की तरह आयुर्वेद को भी एक देशी राज्य का क्षेत्र होने से पल्लवित होने का पर्याप्त सुलभ अवसर था, किन्तु देश के वैदेशिक आक्रमणो से मारवाड़ भी अछूता नही रहा। इन आक्रमणो मे देश की सभी समृद्धियो पर प्रभाव तो आयुर्वेद पर भी इसका प्रभाव होना स्वाभाविक था। मारवाड के अनेक विद्वान् चिकित्सक कालक्रम से समाप्त होते गए और विदेशी आक्रान्ताओ ने भी चतुर्मुखी विनाश किया जिसके फलस्वरूप क्वचिदुद्भूट विद्वद्वैद्य कुलो मे आयुर्वेदीय उपगूढ ज्ञानोपचिति सन्निहित हो गई थी जिनमे जोधपुर के प्रमुख वैद्यराज श्री चुन्नीलाल वेणीरामजी महाराज का घराना विशेषोल्लेखनीय है। इनके वशधर स्व० वैद्यराज पडित मोहनलालजी के सुपुत्र वैद्यराज श्री अम्बालालजी जोशी, साहित्यायुर्वेदरत्न एव उनके स्वसूनु वैद्यराज श्री बुद्धिप्रकाशजी आचार्य आयुर्वेदवाचस्पति आज भी विद्यमान हैं। इसी प्रकार अन्य महत्वपूर्ण माने जाने वाले घरानो मे स्व० श्री पूनमचदजी वैद्यराज के वशज श्री हरिगोपालजी दवे, स्वर्गीय वैद्य श्री माणकचदजी वैद्य के वशधर वैद्यराज श्री चाँदमलजी, मानचदजी, स्वर्गीय पडित मगनीरामजी दाधीच कविराज के भतीजे स्वर्गीय वैद्यराज गोविन्दचन्दजी जोशी (धौकलजी), स्वर्गीय श्री भूरजी महाराज वैद्यराज श्रीमाली, पोकरण से आगत स्वर्गीय

चरित्रनायक

निखिल भारतवर्षीय २१ वां आयुर्वेद महासम्मेलन जोधपुर १६३६ में
स्वागताध्यक्ष के रूपमें

गुरासाहिब जैसी महान् विभूति किसी एक ही स्थान के लिये कैसे अवरुद्ध हो सकती थी। राजनैतिक परिष्कृत मस्तिष्क के समन्वय से चाणोद ठिकाणे के कार्य से श्री गुरासाहिब का कई बार जोधपुर पधारना होता ही रहता था, और 'रत्न को गवेषणा सभी करते हैं,—रत्न किसी की खोज नही करता" की सदुक्ति के अनुसार वहा भी श्री गुरासाहिब की सेवा चिकित्सार्थ रुग्ण जनता उपस्थित होकर आरोग्य लाभ उठाने लगी।

जोधपुर मे प्रथम ही बार जब गुरासाहिब उक्त ठिकाणे के कार्यवश पधारे तब वे अपने सुहृद्वर यतिराज श्री जवाहरमल जी महाराज के स्थान पर सिवाञ्ची गेट विराजे। उस समय तत्कालीन जोधपुर नरेश महाराज श्री जसवतसिंह जी (द्वितीय) के कनिष्ट भ्राता महाराज श्री किशोरसिंहजी के अङ्गरक्षक कर्नल श्री थानसिंहजी व्याधि-सकट से इतने गहरे पीडित थे कि सन्यासावस्था (मूर्च्छा) प्राप्त हो चुकी थी। सभी चिकित्सको-डाक्टरों, हकीमो व वैद्यो ने निराशा व्यक्त करदी तो पूज्य गुरासाहिब के भक्तो ने उन्हें आहूत कर श्री गुरासाहिब से निदान व चिकित्सा करवाने की सलाह दी। वादविवादोत्तर यह परामर्श आदृत हुवा व श्री गुरासाहिब को पधार कर परीक्षा करने की प्रार्थना की गई। गुरुपरवर ने अपनी कुशाग्र बुद्धि एव पैनी आखो से शास्त्र विधि द्वारा रोग निदान कर तुरत चिकित्सा प्रारम्भ करदी फलत पहले ही दिन सन्यासावस्था (मूर्च्छा) दूर हो गई व अन्य भी सुधार दृष्टिगोचर होने लगे। आपने कुछ ही दिनो मे कर्नल साहिब को रोग मुक्त कर राज्य घराने मे अपनी सफल चिकित्सा चातुरी की ख्याति स्थापित करदी।

द्वितीय बार पुन जब चाणोद ठिकाणे के कार्यवश आप जोधपुर पधारे तो महाराज श्री जसवतसिंहजी, मारवाड नरेश की परमप्रिया उपपत्नी (पासवान) श्री नन्नीजी साहिबा एक कष्टसाध्य व्याधि से पीडित थी और चिरकाल से डाक्टर वैद्यराज एव हकीमो की निरन्तर चिकित्सा के बावजूद भी कोई लाभ दृष्टिगोचर नही होता था। स्वर्गीय महाराज श्री जसवतसिंहजी के कनिष्ट भ्राता महाराज किशोरसिंहजी ने श्रीजी साहिबो के समक्ष अपने पूर्व अनुभव के अनुसार श्री गुरासाहिब का प्रसग उपस्थित किया और श्री नन्नीजी साहिबा के लिये अपरधन्वन्तरिरूप श्री गुरासाहिब चिकित्सोचित सम्मान के साथ जोधपुर राज्यपरिवार में चिकित्सार्थ पधारे। श्री गुरुदेव की अद्भुत निदान सरणी से श्री जोधपुर नरेश अत्यन्त प्रभावित हुए और श्री नन्हीजी साहिबा का उपचार श्री गुरासाहिब से ही करवाने का निर्णय कर लिया। चाणोद ठाकुर साहिब को आग्रहपूर्वक सूचना कर दो गई कि श्री गुरासाहिब चाणोद की एक निधि के रूप में अब यही विराजेंगे। आपको यह श्री राजपरिवार की सुखसमृद्धि हेतु स्वीकार होगा। श्री गुरासाहिब के उपचार से श्री नन्नीजी साहिब को पूर्ण आरोग्य लाभ प्राप्त हुआ, तब से श्री गुरासाहिब जोधपुर राज्य के गृह-चिकित्सक तथा राजवैद्य पद को अलकृत करने लगे।

चरित्रनायक के प्रति घनिष्ठ आस्थावान्

श्रीमरुधराधीश ऍयर कमोडोर राजराजेश्वर महाराजाधिराज
सरमद् राजएहिन्द श्री १००८ स्वर्गीय श्री उम्मेदसिंहजी साहिब बहादुर
GCSI, GCIE, KCVO, ADC, LLD.

इस उपचार से श्री गुरासाहिब की चिकित्साकीर्ति और भी अधिक प्रस्फुटित हुई और किशनगढ बूदी, जयपुर, जैसलमेर आदि अन्य राज घरानो मे भी आपको चिकित्सार्थ आमन्त्रित किया जाने लगा। फिर भी श्री गुरासाहिब का औदार्यभाव इतना विशद था कि जोधपुर में स्वर्गीय श्री महाराजाधिराज श्री जसवतसिंहजी के करकमलो द्वारा 'श्री जिनदत्त सूरि आयुर्वेदिक महौषधालय' का उद्घाटन करवा कर प्रतिदिन सामान्य से सामान्य रुग्ण जनता को भी घण्टो चिकित्सालय प्रदान करते थे और यह चिकित्सा प्राय· नि शुल्क की जाती थी। वर्तमान मे कृष्णा मिल लिमिटेड ब्यावर के स्वामी उद्योगपति श्री राठी परिवार के प्रपितामह मारवाड क्षेत्र के पोकरण ग्राम से ही यहा आकर व्यवस्थित हुए थे। वे एक बार एक कष्टसाध्य व्याधि से आक्रात हुए और विविध उपचारो के बाद भी कोई लाभ नही हुआ तो श्री गुरासाहिब की सेवा मे चिकित्सार्थ आये। श्री गुरासाहिब को विद्यावितर्क विज्ञान, स्मृति तत्परता और क्रियाकौशल, प्रकृति के भण्डार से उन्मुक्त रूप मे प्रदत्त थे, अतः जो भी विषमता आपके समक्ष आती सहज सरल हो जाती थी, श्री माहेश्वरी खीवराजजी राठी साहिब का भी रोगनिर्णय कर चिकित्सा की गई तो आश्चर्यजनक लाभ हुआ और वे गुरासाहिब के वशानुक्रम से अनन्य भक्त बन गए। इस प्रकार के अनेक उदाहरण श्री गुरासाहिब के चिकित्सकीय जीवन से उपलब्ध होते हैं, जो आपके चिकित्साकौशल का आज भी महत्व स्वीकार करने को बाध्य कर देते हैं।

पूज्य गुरासाहिब को यदा कदा स्वर्गीय महाराज श्री जसवन्तसिंहजी फरमाया करते थे कि कभी आपके ग्राम खीमेल चलेगे। इसका मूर्तरूप सवत् १६४८ मे श्री दर्बारसाहिब ने दिया जब कि वे सिंह के आखेट (शिकार) के लिये देसूरी पधारे थे व जब श्री गुरुप्रवर व चरितनायक साथ मे थे। वहा से लौटते समय ग्राम खुडाला मे शिविर हुआ। वहा रात्रि मे स्वर्गीय महाराज साहिब ने बातचीत के दौरान श्री गुरासाहिब से पूछा कि आपका ग्राम यहा से कितना दूर है। पूज्य गुरासाहिब ने उत्तर दिया कि वह अनुमानतः छ मील ही दूर है। यह सुन कर श्री दर्बारसाहिब ने खीमेल पधारने का निश्चय कर लिया। निदान दूसरे ही दिन प्रात ८ बजे खुडाला से ग्राम खीमेल के लिए प्रस्थान कर खीमेल पहुँच कर तीन दिन वही विश्राम किया। यह है हमारे पूज्य गुरुप्रवर स्वर्गीय श्री उम्मेददत्तजी महाराज मे तत्कालीन महाराजा साहिब के विश्वास का प्रत्यक्ष प्रमाण।

गुरुदेव का राजकीय सम्मान

एक चिकित्सक सदा राजा से रक तक सब का सम्मान भाजन होता है, फिर यदि प्रभुदत्त पीयूषपाणिता आदि गुणो की समष्टि किसी चिकित्सक महानुभाव मे विद्यमान हो तो वह नि सन्देह सब का अनन्यतम हृदय सम्राट होता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण श्री

स्वर्गीय गुरासाहिब श्री उम्मेददत्तजी महाराज रहे हैं। प्रारम्भ मे श्री गुरासाहिब को सामान्य जनता जनार्दन का सम्मान तथा आदर तो अपने प्रारम्भिक जीवन लीला क्षेत्र खीमेल ग्राम मे ही पर्याप्त रूप से प्राप्त हुआ था। फिर जब मेवाड नरेश महाराणा सज्जनसिंहजी के यहा आपका पधारना हुआ तो वहा से आपको पालकी सिरोपाव का शाही सम्मान एव ताजीम प्रदान की गई। जब तक श्री गुरासाहिब उदयपुर मे विराजे श्री गुरासाहिब का समस्त व्यय मेवाड राज्य से किए जाने की आज्ञा प्रसारित की गई।

वहा से लौटने पर मारवाड के चाणोद, घाणेराव आदि अनेक सामन्तो ने भी श्री गुरासाहिब को चिकित्सकीय सेवाओ के सम्मान स्वरूप बड़ी बडी जागीरे प्रदान की व आपका आदर किया और उनके शाही दरबारो मे प्रमुख स्थान प्रदान किया गया। जोधपुर पधारने पर श्री नन्नीजो साहिबा की चिकित्सा के बाद श्री गुरासाहिब को जोधपुर राज्य मे ताजीम का सम्मान प्रदान किया गया और उत्तरोत्तर आपका राजघराने से अधिक सम्पर्क बढने पर पालकी शिरोपाव और स्वर्ण सम्मान भी जोधपुर के स्वर्गीय महाराज श्री जसवन्तसिंहजी (द्वितीय) ने आपको प्रदान किया। जोधपुर के साथ-साथ श्री गुरासाहिब का किशनगढ, जयपुर, बून्दी आदि राज परिवारो से भी सम्बन्ध हो गया था। अतः वहा से भी आपको समय समय पर शाही सम्मान मिले।

श्री गुरासाहिब को सामाजिक प्रतिष्ठा भी पूर्णतया प्राप्त थी। अनेक सस्थाओ तथा सम्मेलनो से भी आपका सम्मान किया गया था। आपको प्राणाचार्य की पदवी से विभूषित किया था। यति समुदाय मे आपका पद महोपाध्याय के रूप मे था और पण्डित-प्रवर के रूप मे आपको सम्मानित कर आदर प्रदान किया गया। श्री गुरासाहिब द्वारा श्रद्धालु जनता की दर्शन सुविधा के लिए अपने नवीन विशाल भवन 'श्री चाणोद गुरासाहिब की हवेली' का निर्माण कराते हुए इसके एक कक्ष मे निजी पूजा-पाठ की सुविधा के लिए दादा साहिब की मूर्ति एव चरणपादुका स्थापित की। इस प्रकार श्री गुरासाहिब को अपने सेवामय जीवन मे ही सर्वतोमुखी सम्मान प्राप्त हुआ था।

चरित्रनायक का चिकित्सा कर्मानुप्रवेश

चरित्रनायक को अपने जीवन के अरुणोदय से ही वैद्यक व्यवसाय का सस्कार प्राप्त था क्योकि आपकी गुरुकुल परम्परा मे इसका प्राधान्य था, जिस पर भी आपके गुरुदेव एक आदर्श राज चिकित्सक होने से जोधपुर मे नियमित उसे श्री जिनदत्तसूरि आयुर्वेदिक महौषधालय' का सचालन करते थे और सर्वत्र उनका चिकित्सा-क्रम प्रचलित था। शिक्षा दीक्षा के बाद चरित्रनायक भी पूर्ण वयस्क हो गए तो श्री गुरासाहिब ने आपको अपना भार कम करने के लिए चिकित्सा कर्म मे अनुप्रवेश के लिए प्रेरित किया। श्री गुरुमुख से अधीत समस्त आयुर्वेद शास्त्र और पीयूषपाणि चिकित्सक के लिए केवल गुरु आज्ञा या

चरित्रनायक के प्रति गुरुवद्
भक्ति रखने वाले

यति कान्ति सागरजी
आपका लेख पृष्ठ संख्या
६१० पर है।

चरित्रनायक के दीर्घायुष्य की
कामना करने वाले

श्री मद्विजय विद्याचन्द्र
सूरीश्वरजी श्री १००८ त्रिस्तुति
के आचार्य

चरित्रनायक के बाल-सहचारी

स्वर्गस्थ-व्याख्यानवाचस्पति
जैनाचार्य श्री श्री १००८
श्री भट्टारक श्रीमद्
विजय-यतीन्द्र-सूरीश्वरजी

सकेत मात्र की ही आवश्यकता शेष थी अत यह प्राप्त होते ही चरित्रनायक इस कार्य मे प्रवृत्त हो गए। चरित्रनायक अपने जीवन का छाया चित्र स्पष्टतया स्मृति पटल पर स्मरण करते ही सब घटनाओ पर एक कथानक के रूप मे प्रकाश डाल देते हैं। सर्व प्रथम जो चिकित्सा आप द्वारा हुई उसका मनोरञ्जक वर्णन करते हुए आपने बताया कि निदान औषध व्यवस्था ठीक ठीक होने पर भी आतुर की व्यग्रता से चिकित्सक गुरु तथा लघु व्याधि के निर्णय मे सुदृढ नही रह पाता। उसका प्रत्यक्षीकरण उन्हे वही हुआ। श्री गुरा साहिब को चरित्रनायक से यह भय था कि कही परम्परा मे कालुष्य लाने का उपक्रम नही हो जाय। आतुर अपनी प्रकृति से ही इतना अधीर था कि चिकित्सको का धैर्य भी अपने करूणा क्रन्दन से मुक्त करा देता था। फिर भी चरित्रनायक ने दक्षतापूर्वक दोष दूष्य समूर्च्छना तथा अष्टविध परीक्षण से रोग निर्णय कर चिकित्सा प्रारम्भ की और श्री गुरा साहिब को अपने सोत्साह कार्य से पूर्ण सन्तुष्ट किया। इस प्रकार से सद्वैद्योचित निर्णय गुरासाहिब को प्रभावित कर जन-मानस मे विश्वास जागृत कर लिया तो श्री गुरासाहिब प्राय. चरित्रनायक को ही अपने सभी स्थानो पर उत्तराधिकारी चिकित्सक के रूप मे चिकित्सार्थ साथ साथ ले जाने लगे और स्वतन्त्र रूप से भी आपको चिकित्सा करने का अवसर प्रदान कर अपने को शनै शनैः कार्य भार से मुक्त करने लगे, और एक दिन सभी कार्य भार श्री गुरासाहिब से चरित्रनायक ने प्राप्त कर उनकी सेवा में निरत हो गए।

सम्प्रदाय पीठाधिरोहण

ससार मे ऐसे विरले ही व्यक्ति होते हैं, जिन्हे एक सुयोग्य उत्तराधिकारी प्राप्त हो। इसीलिये कहावत है कि व्यक्ति सर्वत्र अपना ही महत्व चाहता है किन्तु अपने उत्तराधिकारी सन्तान से सदा यह आशा करता है कि उससे भी अधिक बढकर उसका व्यक्तित्व चमके। जब स्वत ही ऐसा सुयोग्य अवसर मिलता है तो वे व्यक्ति परम धन्य है। श्री गुरासाहिब को हमारे चरित्रनायक से ऐसा ही सन्तोष हुआ। धीरे धीरे श्री गुरासाहिब के समक्ष ही आपने उनके सर्वाङ्गीण क्षेत्र मे कुशलता से प्राविण्य प्राप्तकर लिया। चिकित्सा व्यवसाय के साथ साथ अन्य सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक विषयो पर भी चरित्रनायक ने श्री गुरासाहिब को सन्तुष्ट किया तो श्री गुरासाहिब ने पूर्ण युवराजपद आपको प्रदान कर नियमानुसार आध्यात्मचिन्तन मे लग गये। विक्रम सवत् १९७१ की फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा-होलिका पर्व का एक भयकर दुर्दिन श्री चरित्रनायक के जीवन मे आया कि जिसकी कभी स्वप्न मे भी कल्पना करना भयभीत करने वाला था। श्रद्धेय श्री गुरासाहिब ने प्रात.काल ही अपने दैनिक नित्यनैमित्तिक कर्म से निवृत्त हो परम स्वच्छ एव स्वस्थ वातावरण मे अपने सुयोग्य उत्तराधिकारी चरितनायक को बुलाकर कहा कि इस प्रतिष्ठान की सारी व्यवस्था तथा क्रियाकलाप को विधिवत् समझ लिया है और चिरकाल से इसका

सचालन भी तुम्हारे द्वारा ही हो रहा है। अब भी यदि कोई विशेष जिज्ञासा हो तो मुझसे और पूछ सकते हो। मै अब कुछ समय के लिये एक विशेष यात्रा पर जाने का चिन्तन कर रहा हूँ, अत. इसमे कोई बाधा न हो, इसी दृष्टिकोण से आप लोगो को और प्रबुद्ध कर दिया है। इसके बाद श्री गुरासाहिब समाधिस्थ हो गये और चरित्रनायक को इस सब घटना ने पूर्ण आश्चर्यान्वित कर दिया।

तत्काल अपने परम विश्वस्त सनिकट परिजनो को बुला कर सारा वृत्तान्त सुनाया और कहा कि इसमे क्या हेतु हो सकता है। अनेक विज्ञजनो ने, आपको, जैसा कि स्वय चरित्रनायक का भी विश्वास था, आश्वस्त किया कि श्री गुरासाहिब तो होली दिवाली के पर्व दिनो मे प्राय एसी ही साधनाओ मे निरत होते रहे हैं, अत' कोई विशेष विचार की आवश्यकता नही, अभी कुछ समय बाद स्वय प्रबुद्ध हो अपनी माया का सवरण कर लेंगे। किन्तु आज की साधना जैसा समझा गया उससे कहीं अधिक विचित्र थी और एक महा-प्रयाण की तैयारी में थी। आवश्यकता से अधिक समय होने पर भी, जब श्री गुरासाहिब ने अपनी चिरसमाधी को भग्न नही किया तो चरित्रनायक ने दु साहसपूर्वक श्री गुरासाहिब की चादर का अवगुण्ठन दूर किया। बस यह करना था कि सब स्वरूप स्पष्ट हो गया कि श्री गुरासाहिब तो इस ससार का कार्य पूर्ण होने से श्री देवराज की राज्यसभा अलकृत करने पधार गए। शेष भौतिक शरीर की परम्परानुसार यथास्थान सस्कारित कर दिया और सामाजिक तथा धार्मिक कृत्यो के बाद सभी उपस्थित यति समाज ने एक स्वर से निर्णय कर लिया कि चरित्रनायक से अधिक प्रगल्भ पुरुष इस सम्प्रदाय-पीठ की शोभा बढाने वाला व्यक्ति कौन मिलेगा।

अतः विक्रम सवत् १९७२, चैत्र शुक्ला तृतीया को श्री गुरासाहिब के साम्प्रदायिक पीठ पर बड़े समारोह के साथ चरित्रनायक को साम्प्रदायिक विधि के अनुसार श्री पूज्यजी महाराजा एव उपस्थित यति समुदाय ने आपको उत्तराधिकार प्रदान कर साभिषेक आरूढ एव पदासीन किया। जैन यतिसमाज मे भी विभिन्न आचार्यपीठो से सम्बन्धित अनेक पीठ हैं, जिनमे श्री पूज्य पीठ जयपुर से सम्बन्धित श्री गुरासाहिब का पीठ माना गया है। इनके यहा भी अन्य सन्त महन्त तथा राजागुरुओ की भाति आचार्य पीठ के रिक्त होने पर सुयोग्य उत्तराधिकारी का अभिषेक उस रिक्त पीठ पर किया जाता है और उस अवसर पर अनेक प्रमुखजनो की समुपस्थिति मे एक विशाल समारोह मना कर इसकी पूर्ति की जाती है। चरित्रनायक का यह समारोह भी अन्य समारोहो की तुलना मे कम नही था। राजस्थान के सभी जैन पीठाचार्यो ने इसमे पधार कर समारोह की शोभा बढाई थी, साथ ही राजस्थान भर के अनेक गण्यमान्य श्रद्धालु श्रावको, सेठ साहूकारो, राजा महाराजाओ ने भी इस पुनीत वेला मे भाग लेकर श्री स्वर्गीय गुरासाहिब तथा चरित्रनायक के प्रति अपनी अपनी

अनन्त श्रद्धा तथा अमित अनुराग व्यक्त किया । तब से आपको एक प्रधान जैनाचार्य का पद अलकृत करने का अवसर मिला ।

कलाप्रियता

चरित्रनायक के सद्गुण-समूह मे आपकी कलाप्रियता को भी एक अनूठा स्थान है। आपको अपने बचपन से ही प्रकृतिसौन्दर्य मे बडा आकर्षण अनुभव होता था, अतः श्री गुरासाहिब की हवेली मे विविध प्राकृतिक दृश्यो को सजाया करते थे। श्री गुरासाहिब के साथ जब तक आप श्री जोधपुर नरेश द्वारा प्रदत्त राजकीय प्रवास "श्री गणेश बाग" मे रहे तो वहा और उसके बाद श्री गुरासाहिब के निजी भवन मे विविध प्रकार की साज-सज्जा तथा उद्यान आदि का कार्य चरित्रनायक स्वय ही देखा करते थे । इसी समय मे आपको फोटोग्राफी की ओर भी आकर्षण हुआ। वह उत्तरोत्तर अधिक विकसित हुआ और एक समय ऐसा शीघ्र ही आया कि चरित्रनायक जोधपुर मे फोटोग्राफरो के भी आचार्य समझे जाने लगे और इस कला का कोई ऐसा उत्तमोत्तम देशी या विदेशी रासायनिक द्रव्य तथा कैमरा रील आदि उपकरण आदि नही थे जो आपके यहा उपलब्ध नही हो सकते थे। आपकी चित्रकारी इतनी आकर्षक तथा अनूठी थी कि अनेक गुणज्ञजन आपको विशेष आग्रह पर एतदर्थ आमन्त्रित कर अपने को कृतार्थ समझते थे। तत्कालीन जोधपुर राजघराने के तो आपके यहा अनेक ऐसे चित्र हैं कि जो आपकी ही अलौकिक कूंचिका से अन्तिम स्वरूप प्राप्त कर चुके हैं। अपने शिष्य समुदाय की इच्छा पूर्ण करने के लिए चरित्रनायक ने एक दूकान भी फोटोग्राफी तथा रेडियो इन्जीनियरिंग वर्क्स की जोधपुर स्टेशन रोड पर लगाई, जो करीब चालीस वर्ष तक सफलतापूर्वक चलती रही ।

घडीसाजी और रेडियो इन्जीनियरिंग मे भी चरित्रनायक को प्रवीणता प्राप्त हुई है। आपने ऐसे कई अवसरो पर अपनी अद्भुत प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है कि बाहर का कोई घड़ीसाज जिस घडी की मशीन को ठीक नही कर सका, सामान्य प्रयास से उसे आपने ठीक कर दी । इस समय भी आपके यहा कई प्रकार की विविध डिजाइनो वाली घड़ियें देखने को मिलेंगी, जो आपके भवन के अनेक स्थानो की शोभा ही नही बढा रही हैं, अपितु आपकी कलाप्रियता की गुप्तकथा दर्शको के कर्णगोचर करती रहती हैं। कई वर्षों तक कई देशी विदेशी कम्पनियो की अलभ्य घडियो की एजेन्सी आपके यहा रही है, जिससे आपको इस कला का सर्वतोमुखी अनुभव है। रेडियो का सर्वप्रथम प्रवेश देश मे हुआ तो जोधपुर मे चरित्रनायक ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होने रेडियो मगाया और उसकी इन्जिनियरिंग को बडी दक्षता से समझा। उस समय अनेक राजा महाराजा, सामन्त, सेठ साहूकार भी रेडियो की विचित्रता जानने के लिए चरित्रनायक से सम्बन्ध स्थापित कर परामर्श लिया करते थे। आपके द्वारा ही प्रायः जोधपुर के सभी प्रमुख रेडियो प्रेमियो ने रेडियो खरीदे।

रेडियो सम्बन्धी किसी भी जानकारी तथा कठिनाई पर विजय प्राप्त करने के लिए जोधपुर मे एक समय लोग आपसे ही परामर्श ग्रहण करते थे । विदेशी कम्पनियो की विश्वस्त एजेंसी भी राजस्थान भर के लिए आपके ही पास थी। आपने एतदर्थ एक गुणोवेत रेडियो विशेषज्ञ श्री S. K Banerji बगाली को रु ३५०) मासिक पर रख छोडा था।

इन सब कला कौशलो की रुचि से चरित्रनायक को एक विशिष्ट मैकेनिक बनने का भी अवसर स्वतः प्राप्त हो गया। आपके व्यस्त चिकित्सकीय जीवन मे भी अपनी रुचि के अनुसार चरित्रनायक प्रात फोटोग्राफी, घडीसाजी, रेडियोइन्जीनियरिंग आदि कार्यों के लिए समय निकाल ही लेते थे और सुरुचिपूर्ण मनोनियोग से उक्त कलाओ मे कुछ न कुछ अपना नवीन परिवर्तन तथा परिवर्धन करने में सफल हो जाते थे। यही हेतु था कि अनेक वर्कशोप के मिस्त्री लोग चरित्रनायक के सम्पर्क में आते और आपके कथनानुसार क्रिया-कलाप से परिवर्तनादि कर अपने को भी आश्चर्यचकित करने लगते। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण-स्वरूप आपके यहा लगे हुए प्रिन्टिग प्रेस तथा फार्मेसी की मशीनरी में चरित्रनायक की मैकेनिक कुशलता का स्पष्ट परिचय प्राप्त किया जा सकता है। अतः इन सब मे चरित्र-नायक की कलाप्रियता तथा कलानुराग का ही महत्व स्वीकार करना होगा। ऐसी बहुमुखी प्रतिभा का समन्वय किसी भी सामान्य पुरुष मे उपलब्ध नही होता। जो भी व्यक्ति चरित्र-नायक के सम्पर्क मे आया, उसने आपकी कलाप्रियता की भूरि-भूरि प्रशसा ही नही की अपितु एक नवीन प्रेरणा लेकर जाने का यत्न किया है, जिससे वह अपने कार्य मे कुछ आवश्यक परिवर्तन या परिवर्धन करने का श्रेय प्राप्त कर सके।

सगीत मे अनुराग तथा प्रवीणता

वैसे तो चरित्रनायक साहित्य और सङ्गीत व कलाविहीन पुरुष बिना सीग पूछ का पशु होता है। इस सदुक्ति का प्रायः उच्चारण कर लोगो को मानव बनने का सदुपदेश देते रहते हैं। किन्तु इस सदुक्ति को अपने जीवन मे अक्षरशः अवतरित कर कथनी और करनी मे एकरूपता लाने का परम प्रयत्न भी चरित्रनायक ने प्रत्यक्ष करके दिखाया है। श्री गुरासाहिब के समय से ही अर्थात् अपनी बाल्यावस्था मे जो सङ्गीतज्ञ या नर्तक तथा वादक जोधपुर नरेश के दरबार मे आते उन्हें चरित्रनायक बडी तन्मयता से सुनते और देख कर तल्लीन एव मुग्ध हो जाते थे। उत्तरोत्तर आपकी यह रुचि अधिक प्रबल हुई तो श्री गुरासाहिब की आज्ञानुसार आपने अपने यहाँ भी सङ्गीत आदि के अनेक कार्य-क्रमो को आयोजित करना प्रारम्भ किया जिनमे प्राय. नगर के तथा नवागन्तुक सभी प्रमुख सङ्गीतज्ञ, वादक, नर्तक भाग लेने लगे। चरित्रनायक को इससे शान्ति तथा सन्तोष का अनुभव होने लगा किन्तु अभीप्सित मनोरथ सिद्धि नही मिली, क्योकि आप तो

केवल परम्पराओं में विश्वास न कर शास्त्र विधि मे श्रद्धा रखने वाले थे। शास्त्रविहीन सङ्गीत को आज भी आप अरण्यरोदन मानते हैं।

अत. आपने भरतनाट्यम् शैली की छाया पर शास्त्रानुसार सङ्गीत का अभ्यास करने के लिए कर्णाटकीय शास्त्रीय सगीत के प्रमुख स्थल दक्षिण भारत से तीर्यतृक् प्रशिक्षण प्राप्त करने को एक सगीताचार्य श्री सुब्रह्मण्यम् महोदय को आहूत किया और उनसे दक्षिण भारतीय सगीत शास्त्र का उत्तर भारतीय सगीत शास्त्र से समन्वय करते हुए सागोपाग अध्ययन एव प्रत्यक्ष कर्माभ्यास प्राप्त किया। सगीत शास्त्र पर आपके यहाँ अनेक ऐसी प्राचीन महत्वपूर्ण रचनाए उपलब्ध हैं जो कि अप्राप्य प्राय: हो चुकी हैं व जिन्हें अनेक सगीताचार्य देखने को लालायित पाए जाते हैं। आप जब आधी व चौथाई मात्रा के लय मे वादन करने का सकेत किसी नवागन्तुक वादक या सगीतज्ञ को देते हैं तो वे मूक रह जाते हैं और आपसे ही उसका सदुपदेश लेकर कृतकृत्य होते हैं। आपने अपनी इस रुचि को सुचारु रूप से पूर्ण करने के लिए कतिपय अन्य स्थानीय सगीतज्ञो, यथा श्री चुन्नीलालजी भगत आदि को अपने यहाँ प्रश्रय दिया और अनन्य सहयोग प्रदान कर स्थानीय सगीत मण्डलो को भी प्रोत्साहित किया। आपने कुछ श्लोक तालोत्पत्ति के विषय मे सग्रह किए हैं जिनमे तौर्य-तृकोत्पत्ति की विचित्र कल्पना है। उनमे चतस्र जाति के तालो का निरूपण देव नृत्य जो चार-चार मात्रा के टुकडो से हुआ माना जाता है, उसके बोल 'तद्धि तुन्ना' बताते हुए किया है व तिस्र जाति के तालो का जन्म दैत्यो के नृत्य से उद्धृत बताते हुए उसके बोल 'डा डी डूं' बताए हैं। इन्ही दो ताल जातियो से 'मिश्र' 'खण्ड' एव 'सकीर्ण' जाति के तालो का निर्माण सिद्ध किया है जो ताल शास्त्र मे हमारे चरित्रनायक की असाधारण गति का परिचायक है। रागो के विषय मे भी आपका ऐतिहासिक ज्ञान श्लाघ्य है। आप शिष्यो को रागो का प्रादुर्भाव, शार्ङ्गदेवोक्त अष्टादश जाति के दस लक्षणो से बताते हुए जो जाति प्रसार प्रक्रिया समझाते हैं वह सगीत ससार मे स्तुत्य माना जाता है। आप भरत के सात ग्राम रागो का उल्लेख करते हुए राग शब्द की उत्तम व्युत्पत्ति समझाते है। श्रुति, मूर्च्छना एव ग्राम और स्वरो के विषय मे आपका उत्कृष्ट ज्ञान आपके पास आने वाले कई सगीतज्ञो ने अत्यन्त उपयोगी बताते हुए ग्रहण किया है।

सगीत की रुचि लेकर जो व्यक्ति या कलाकार आपकी सेवा मे उपस्थित होता है तो उसे आपकी ओर से सब प्रकार की सुविधा प्रदान की जाती है।

सगीत के तृतीय विषय नृत्य पर भी आपका गहन अध्ययन है। आपका अनेक नृत्य मुद्राओ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रशंसनीय है। एक बार राजस्थान के मुख्य मन्त्री स्वर्गीय श्री जयनारायणजी व्यास श्री आपके यहा एक आयोजन मे पधारे तो अपने प्राचीन सस्मरणो के अनुसार नवीन परिवर्तित भवन मे चरित्रनायक से वह स्थान जानने को उत्सुक हुए

रेडियो सम्बन्धी किसी भी जानकारी तथा कठिनाई पर विजय प्राप्त करने के लिए जोधपुर मे एक समय लोग आपसे ही परामर्श ग्रहण करते थे । विदेशी कम्पनियो की विश्वस्त एजेंसी भी राजस्थान भर के लिए आपके ही पास थी। आपने एतदर्थ एक गुणोवेत रेडियो विशेषज्ञ श्री S K. Banerji बगाली को रु ३५०) मासिक पर रख छोडा था ।

इन सब कला कौशलो की रुचि से चरित्रनायक को एक विशिष्ट मैकेनिक बनने का भी अवसर स्वतः प्राप्त हो गया। आपके व्यस्त चिकित्सकीय जीवन मे भी अपनी रुचि के अनुसार चरित्रनायक प्रात फोटोग्राफी, घडीसाजी, रेडियोइन्जीनियरिंग आदि कार्यो के लिए समय निकाल ही लेते थे और सुरुचिपूर्ण मनोनियोग से उक्त कलाओ मे कुछ न कुछ अपना नवीन परिवर्तन तथा परिवर्धन करने में सफल हो जाते थे। यही हेतु था कि अनेक वर्कशोप के मिस्त्री लोग चरित्रनायक के सम्पर्क में आते और आपके कथनानुसार क्रिया-कलाप से परिवर्तनादि कर अपने को भी आश्चर्यचकित करने लगते। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण-स्वरूप आपके यहा लगे हुए प्रिन्टिग प्रेस तथा फार्मेसी की मशीनरी में चरित्रनायक की मैकेनिक कुशलता का स्पष्ट परिचय प्राप्त किया जा सकता है। अतः इन सब मे चरित्र-नायक की कलाप्रियता तथा कलानुराग का ही महत्व स्वीकार करना होगा। ऐसी बहुमुखी प्रतिभा का समन्वय किसी भी सामान्य पुरुष मे उपलब्ध नही होता। जो भी व्यक्ति चरित्र-नायक के सम्पर्क मे आया, उसने आपको कलाप्रियता की भूरि-भूरि प्रशसा ही नहीं की अपितु एक नवीन प्रेरणा लेकर जाने का यत्न किया है, जिससे वह अपने कार्य मे कुछ आवश्यक परिवर्तन या परिवर्धन करने का श्रेय प्राप्त कर सके।

सगीत मे अनुराग तथा प्रवीणता

वैसे तो चरित्रनायक साहित्य और सङ्गीत व कलाविहीन पुरुष बिना सीग पूछ का पशु होता है। इस सदुक्ति का प्रायः उच्चारण कर लोगो को मानव बनने का सदुपदेश देते रहते हैं। किन्तु इस सदुक्ति को अपने जीवन मे अक्षरश. अवतरित कर कथनी और करनी मे एकरूपता लाने का परम प्रयत्न भी चरित्रनायक ने प्रत्यक्ष करके दिखाया है। श्री गुरासाहिब के समय से ही अर्थात् अपनी बाल्यावस्था मे जो सङ्गीतज्ञ या नर्तक तथा वादक जोधपुर नरेश के दरबार मे आते उन्हें चरित्रनायक बडी तन्मयता से सुनते और देख कर तल्लीन एव मुग्ध हो जाते थे। उत्तरोत्तर आपकी यह रुचि अधिक प्रबल हुई तो श्री गुरासाहिब की आज्ञानुसार आपने अपने यहाँ भी सङ्गीत आदि के अनेक कार्य-क्रमो को आयोजित करना प्रारम्भ किया जिनमे प्रायः नगर के तथा नवागन्तुक सभी प्रमुख सङ्गीतज्ञ, वादक, नर्तक भाग लेने लगे। चरित्रनायक को इससे शान्ति तथा सन्तोष का अनुभव होने लगा किन्तु अभीप्सित मनोरथ सिद्धि नही मिली, क्योकि आप तो

केवल परम्पराओं मे विश्वास न कर शास्त्र विधि मे श्रद्धा रखने वाले थे। शास्त्रविहीन सङ्गीत को आज भी आप अरण्यरोदन मानते हैं।

अतः आपने भरतनाट्यम् शैली की छाया पर शास्त्रानुसार सङ्गीत का अभ्यास करने के लिए कर्णाटकीय शास्त्रीय संगीत के प्रमुख स्थल दक्षिण भारत से तीर्यतूक् प्रशिक्षण प्राप्त करने को एक सगीताचार्य श्री सुब्रह्मण्यम् महोदय को आहूत किया और उनसे दक्षिण भारतीय सगीत शास्त्र का उत्तर भारतीय सगीत शास्त्र से समन्वय करते हुए सागोपाग अध्ययन एव प्रत्यक्ष कर्माभ्यास प्राप्त किया। सगीत शास्त्र पर आपके यहाँ अनेक ऐसी प्राचीन महत्वपूर्ण रचनाए उपलब्ध हैं जो कि अप्राप्य प्रायः हो चुकी हैं व जिन्हें अनेक सगीताचार्य देखने को लालायित पाए जाते हैं। आप जब आधो व चौथाई मात्रा के लय मे वादन करने का सकेत किसी नवागन्तुक वादक या सगीतज्ञ को देते हैं तो वे मूक रह जाते हैं और आपसे ही उसका सदुपदेश लेकर कृतकृत्य होते हैं। आपने अपनी इस रुचि को सुचारु रूप से पूर्ण करने के लिए कतिपय अन्य स्थानीय सगीतज्ञो, यथा श्री चुन्नीलालजी भगत आदि को अपने यहाँ प्रश्रय दिया और अनन्य सहयोग प्रदान कर स्थानीय सगीत मण्डलो को भी प्रोत्साहित किया। आपने कुछ श्लोक तालोत्पत्ति के विषय मे सग्रह किए है जिनमे तौर्य-तूकोत्पत्ति को विचित्र कल्पना है। उनमे चतस्र जाति के तालो का निरूपण देव नृत्य जो चार-चार मात्रा के टुकडो से हुआ माना जाता है, उसके बोल 'तद्धि तुन्ना' बताते हुए किया है व तिस्र जाति के तालो का जन्म दैत्यो के नृत्य से उद्धृत बताते हुए उसके बोल 'डा डी डुं' बताए हैं। इन्ही दो ताल जातियों से 'मिश्र' 'खण्ड' एव 'सकीर्ण' जाति के तालो का निर्माण सिद्ध किया है जो ताल शास्त्र मे हमारे चरित्रनायक की असाधारण गति का परिचायक है। रागो के विषय मे भी आपका ऐतिहासिक ज्ञान श्लाघ्य है। आप शिष्यो को रागो का प्रादुर्भाव, शार्ङ्गदेवोक्त अष्टादश जाति के दस लक्षणो से बताते हुए जो जाति प्रसार प्रक्रिया समझाते हैं वह सगीत ससार मे स्तुत्य माना जाता है। आप भरत के सात ग्राम रागो का उल्लेख करते हुए राग शब्द की उत्तम व्युत्पत्ति समझाते है। श्रुति, मूर्च्छना एव ग्राम और स्वरो के विषय मे आपका उत्कृष्ट ज्ञान आपके पास आने वाले कई संगीतज्ञो ने अत्यन्त उपयोगी बताते हुए ग्रहण किया है।

सगीत की रुचि लेकर जो व्यक्ति या कलाकार आपकी सेवा मे उपस्थित होता है तो उसे आपकी ओर से सब प्रकार की सुविधा प्रदान को जाती है।

सगीत के तृतीय विषय नृत्य पर भी आपका गहन अध्ययन है। आपका अनेक नृत्य मुद्राओ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रशसनीय है। एक बार राजस्थान के मुख्य मन्त्री स्वर्गीय श्री जयनारायणजी व्यास श्री आपके यहा एक आयोजन मे पधारे तो अपने प्राचीन सस्मरणो के अनुसार नवीन परिवर्तित भवन मे चरित्रनायक से वह स्थान जानने को उत्सुक हुए

जहा उन्हें चरित्रनायक ने एक सफल अभिनय की भूमिका के लिए तैयार किया था
व्यासजी के अनुसार वह अभिनय रेल्वे क्लब की ओर से होने वाला था।

अखिल भारतवर्षीय सगीत कान्फरेंस जोधपुर के समय तत्कालीन जोधपुर
श्री हनवतसिहजी महाराज ने आप पूर्ण परामर्शदाता के रूप मे कार्य कर कान्फ्रें
सफल बनाने मे अतिशय सहयोग देते रहे, जिसमे उसकी बडी सफलता रही। इस
चरित्रनायक का सगीत मे न केवल अतिशय अनुराग मात्र ही है अपितु आपको इस
मे पूर्ण प्रावीण्य प्राप्त है।

आयुर्वेद तथा सगीत का सबध

प्राचीन आर्ष ग्रथो मे आयुर्वेद का मूलोद्देश्य दो भागो मे विभक्त किया गया
पहला स्वास्थ्य सुरक्षा और दूसरा आतुर चिकित्सा। स्वास्थ्य मे आयुर्वेद ने न केवल
मात्र को ही अभिमत किया है, अपितु आत्मेन्द्रियमन की प्रसन्नता को भी सम्मिलित
है। अतएव अनागत बाधा प्रतिषेध के प्रकरण रसायन तथा वाजीकरणो के
स्थान पर मनोज्ञ सगीत मनोहर सलाप तथा आवश्यक मनोरजनकारी वाद्य नृत्यो का
उल्लेख किया है, जिससे व्यक्ति का मनोमय ससार सदा स्वस्थ एव प्रफुल्लित रहे
स्वस्थ मानस मण्डल से प्रभावित होकर शरीर तत्र भी पूर्णतया स्वस्थ एव प्रसन्न
वैद्य या चिकित्सक समाज का एक प्रमुख अग होता है क्योकि उसकी स्वास्थ्य सुरक्षा
सीधा उत्तरदायित्व उस पर होता है। इसलिए अब तथा प्राचीन काल मे भी प्रशास
वैद्य को समुचित स्थान दिया जाता था। उक्त मनोरञ्जनादि कार्यक्रमो को समभ
लिए कुशल चिकित्सक का सगीतज्ञ होना भी परमावश्यक है, जिससे कि वह समया
उचित निर्देशन दे सके। चरित्रनायक जब प्राचीन राज्यसभाओ में पधारते थे तो
समागत सगीतज्ञो के कार्यक्रम मे भाग लेने पर आपने कितने सगीतज्ञो को विविध
रागनियो का नामोच्चारणपूर्वक निर्देश दिया है कि अमुक राग से श्री दरबार साहिब
अधिक प्रसन्नता होगी और प्रचुर पुरस्कारादि दिया जाएगा। जिज्ञासा करने पर प्रत्
मे श्री चरित्रनायक ने उन उन सगीतज्ञो को स्पष्ट आयुर्वेदीय प्रमाणो से समझाया है
अमुक अमुक राग रागनियो का अमुक अमुक समय मे व्यक्ति पर इस प्रकार प्रभाव
है। सगीत शास्त्र के ग्रथो मे भी ऐसे प्रमाण उपलब्ध हुए हैं कि सगीत स्वस्थ व्यक्ति
प्रसन्न रखता ही है किंतु आतुरेक रोग प्रशमन मे भी पूर्ण सहायता करता है। क्षय,
श्वास, कास आदि अनेक व्याधियो मे सगीत का अद्भुत प्रभाव देखा गया है और च
नायक ने भी कुछ व्यक्तियो को इसका प्रयोग करवाया है। आपके यहा एक उस्ताद
वर्षों तक रहे, उन्हे श्वास का आक्रमण होता था। आपने उन्हें बताया कि अमुक रा
अतिरिक्त ही आप गाया करें जिससे आपको इस रोग से मुक्ति मिल जायगी। जि

चरित्रनायक के परम श्रद्धालु श्रावक

श्रद्धावर्य श्री मनसुखदासजी पारख (तिवरी वाले) बम्बई

चरित्रनायक के सुहृदर

तत्कालीन स्वास्थ्य विभाग के डाइरेक्टर जनरल डॉक्टर

R. Charles Mac-Watt

M B. B S F R C P F R C S

Major General I M S (Retired),

करने पर आपने फरमाया कि इस राग से वात दोष की वृद्धि होकर प्राण वह स्रोत विकृत होने से श्वास होता है अत. इसके छोडने से श्वास शात हो जावेगा। यह सब आयुर्वेद तथा सगीत शास्त्र के प्रमाणानुसार है। अत. स्पष्ट है कि आयुर्वेद तथा सगीत का अटूट सम्बन्ध है।

नाड़ी विज्ञान तथा सगीत

चरित्रनायक प्राय. सगीत शास्त्र की एक सदुक्ति अपने सम्पर्क मे आने वाले चिकित्सक तथा शिष्य समुदाय को सुनाया करते हैं कि जैसे वीणा के तार अपनी स्वर-लहरी के भेद से विभिन्न राग रागनियो के व्यक्त करने मे समर्थ होते हैं, वैसे ही हस्तगत जीवसाक्षिणी नाडी भी अपनी गति के अनुसार सभी रोगो को स्पष्ट प्रकट करती है। किंतु इन सब के लिए चाहिए किसी सच्चे गुरु का सकेत तथा स्वय की परम साधना। नाडी गति का मर्मज्ञ वह चिकित्सक अधिक सफलतापूर्वक हो सकता है, जिसे सगीत स्वरलहरी का आवश्यक ज्ञान है, क्योकि जैसे ही किसी रागरागिनी की स्वरध्वनि सुनते ही चिकित्सक का मानस सबधित रागरागिनी का ज्ञान प्राप्त करने मे सक्षम होता है तो उसी साधना के अनुसार हस्तगत नाडी की गति से भी चिकित्सक का मस्तिष्क रोग ज्ञान के निर्णय मे समर्थ हो जाता है।

पहले प्रकरण मे स्पष्ट किया जा चुका है कि सङ्गीत से व्यक्ति प्रभावित होता है उसका भी प्रत्यक्षीकरण नाडी विज्ञान से होता है, क्योकि जो भी प्रभाव जीवित शास्त्र पर होता है, उसकी साक्षी नाडी से होती है। जब विवाद या रुग्णावस्था से आतुर हर्ष या स्वास्थ्य की ओर अग्रसर होगा तो नाडी गति मे आवश्यक परिवर्तन आयेगा। चरित्रनायक ने कई बार सङ्गीत से मन प्रसार होने पर नाडीपरीक्षण का अभ्यास अपने शिष्य मडल को करवाया तो स्पष्ट इसकी अनुभूति उन्हे मिली है कि नाडीपूर्वापेक्षा सरल, मृदु और अधिक प्रसन्न प्रतीत हुई। इससे ज्ञात होता है कि नाडी विज्ञान और सङ्गीत का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और एक कुशल नाडी विज्ञानवेत्ता को सङ्गीत मे रुचि लेकर अवश्य अभ्यास करना चाहिए। चरित्रनायक उत्साही व्यक्तियो को इसका अभ्यास कराने के लिये सदा सन्नद्ध रहते हैं।

चिकित्सा कौशल का प्रसार

श्री गुरासाहिब के सान्निध्य मे ही हमारे चरित्रनायक ने चिकित्सा कार्य प्रारम्भ कर दिया था और उत्तरोत्तर अपने इस पुनीत कार्य को पूर्ण व्यापक रूप से अग्रसर किया। जनसेवा का विमल मानस तो आपको प्रकृति से प्राप्त था, फिर आर्तजनो मे कारुण्य, मैत्री तथा निःस्वार्थ प्रीति आदि चतुर्विधि वैद्यवृत्ति से आप कैसे दूर रह सकते थे। १९०१ ई० मे जब पूरी मरुभू को महामारी ने आक्रान्त कर लिया तो श्री गुरासाहिब की आज्ञानुसार

किया गया। एक मेडिकलमेन होने के कारण अनेक सहयोगी डाक्टर लोग भी इस उपचार मे साक्षी पूर्वक देखते थे और चरित्रनायक ने बिना ही किसी शल्योपचार के डाक्टर को पूर्ण स्वस्थ कर दिया। इससे डाक्टर समाज मे भी आयुर्वेद की चिकित्सा के प्रति रुचि तथा श्रद्धा जाग्रत हुई।

तत्कालीन जोधपुर राज्य के मन्त्री मण्डल के प्रमुख सदस्य ठाकुर साहिब श्री माधोसिहजी साहिब की धर्मपत्नी श्रीमती ठाकुराणीजी साहिबा भी सुषुम्ना काण्ड अस्थि क्षय व्याधि से पीडित हो गई जिससे डाक्टर वर्ग ने उन्हे मासो प्लास्टर करके सीधे ही लेटाए रखा। फलतः ठाकुराणीजी साहिबा को लाभ की अपेक्षा उत्तरोत्तर स्वास्थ्य की हानि ही हुई और विवश होकर डाक्टरो के मायाजाल से मुक्त हो चरित्रनायक की सेवा मे चिकित्सार्थ उपस्थित हुए। आपने अपनी पद्धति से रोग निर्णय के बाद जो उपचार किया उससे श्री ठाकुराणीजी साहिबा को आश्चर्यजनक लाभ हुआ जब कि डाक्टर साहिबानो का कथन था कि रुग्णा को अब किसी प्रकार स्थायी लाभ होने की सम्भावना नही है और ऐसा ही रहना पडगा। किन्तु चरित्रनायक ने अपनी आयुर्वेदीय साधना से इसके विपरीत कर दिखाया। रुग्णा और रुग्णा के अभिभावक ठाकुर साहिब माधोसिहजी, शखवास आजीवन आपके भक्त बन गए।

इसी प्रकार भूतपूर्व जोधपुर राज्य के सम्मान्य सामन्त तथा वर्तमान राज्य सभा के सदस्य श्री लाला हरिश्चन्द्रजी माथुर के सुपुत्र श्री शान्ति कुमारजी भी एक बार एक कष्टसाध्य व्याधि से आक्रान्त हो गए और अन्यान्य अनेक अर्वाचीन तथा प्राचीन चिकित्सको व वायुयान से समागत बीकानेर के जर्मन डाक्टर की चिकित्सा से सर्वथा निराशा का ही वातावरण रहा तो चरित्रनायक को अपने ग्राम खीमेल जहा वे किसी कार्य-वश पधारे थे, तात्कालिक विशेष आमत्रण से बुला कर समस्त घटनाचक्र से परिचित कराया। आपने विधिवत् रोग निर्णय कर सब को पूर्णतया आश्वस्त करते हुए चिकित्सा प्रारम्भ की तो उत्तरोत्तर आतुर को आरोग्यलाभ होने लगा और कुछ ही समय मे पूर्ण स्वस्थ हो गए। तब से आतुर प्राय आपके ही चिकित्सकीय परामर्श मे रहता है और समस्त परिवार आपका अनन्य श्रद्धालु है।

जोधपुर के ही एक प्रख्यात व्यवसायी तथा उद्योगपति श्री गणेशीलाल एण्ड सन्स के प्रमुख भागीदार श्री चादमल अग्रवाल को एक बार तीव्र उदरशूल हुआ और अर्वाचीन चिकित्सको के निर्णयानुसार तत्काल 'एपण्डिसाइटिस' बता कर शल्योपचार करने का निर्णय हुआ। आतुर को चरित्रनायक मे अगाध श्रद्धा होने से आपको भी बुला कर परामर्श लिया तो आपने स्पष्ट कह दिया कि यदि आप शल्योपचार के लिए पधारे तो मेरी मनाई नही है अन्यथा न तो शल्योपचार की आवश्यकता है और न कोई भयकर व्याधि ही है। बिना

चरित्रनायक के परम श्रद्धालु भक्त
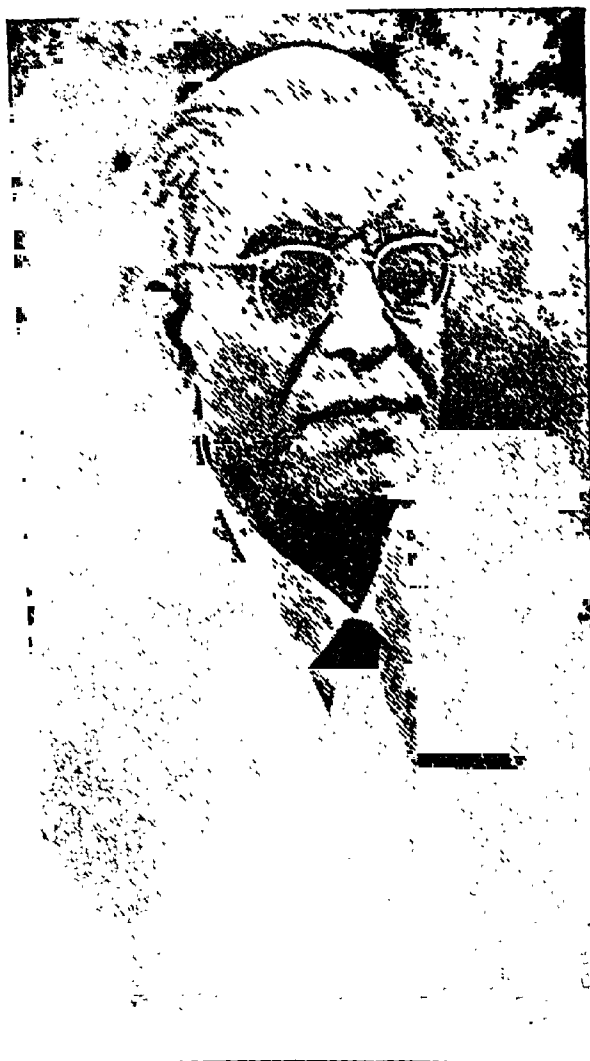
स्वर्गीय श्रेष्ठीवर्य शाह श्री गोवर्धनलालजी काबरा

श्री उदयाभिनन्दनग्रन्थ समिति के आदिम अध्यक्ष जो अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन जोधपुर अधिवेशनकाल मे स्वागत समिति के प्रधानमंत्री भी थे।

चरित्रनायक के श्रद्धालु श्रावक
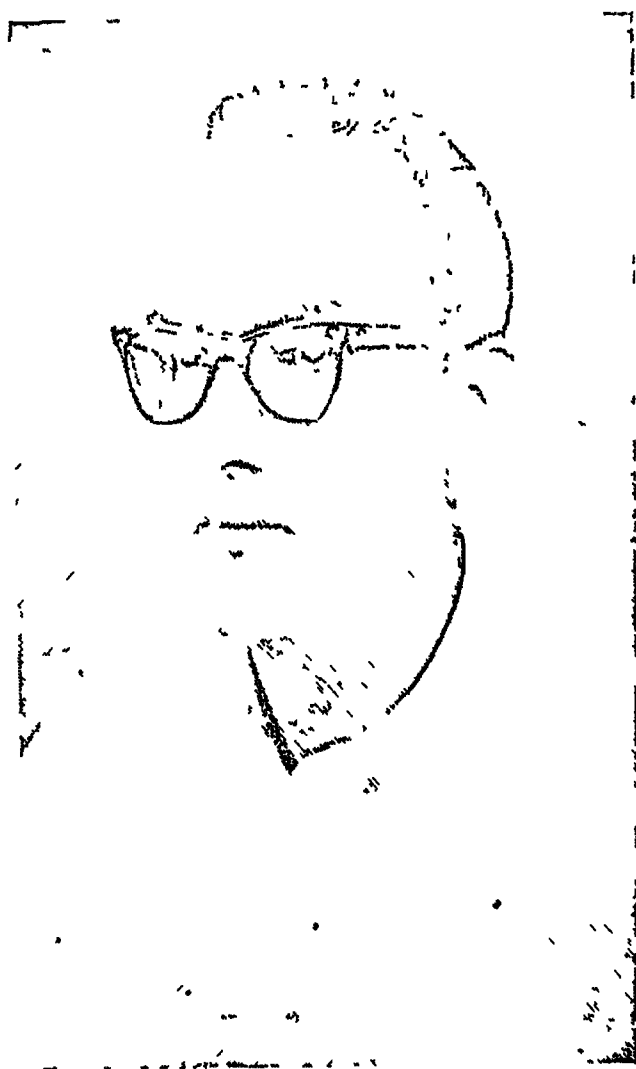
श्रेष्ठीवर्य श्री माणकलालजी बालिया बी ए जोधपुर

ही शल्योपचार के सामान्य भेषजोपचार से आपको आरोग्य लाभ हो जायगा अब जैसा भी उचित समझे करें। इससे अधिक आतुर को क्या चाहिए ? तत्काल आपकी चिकित्सा प्रारम्भ की और पूर्ण स्वस्थ हो गए। वे अब तक भी इस व्याधि से पीड़ित नही हुए हैं और सर्वतया स्वस्थ हैं।

राधनपुर निवासी सेठ मणिलाल बकोरदास के सन् १९२६ ई० मे गलार्बुद (कैंसर) हो गया था। इस महाव्याधि से मुक्त होने के लिये उन्होने लगभग ढाईलाख रुपया एलोपैथिक, आयुर्वेदिक, व यूनानी उपचारो मे व्यय किया किन्तु किंचित्मात्र भी लाभ दृष्टिगोचर न हुआ व डाक्टरो के निर्देशानुसार चिकित्सार्थ विदेश जाने का निर्णय लिया गया क्योकि भारत मे इस रोग के लिए एलोपैथिक कोई सस्थान उस समय नही था। आपके भक्तो ने उन्हे प्रसङ्गवश कुछ दिन धैर्यपूर्वक चरित्रनायक की औषध सेवन का सत्परामर्श दिया। इसे समादृत करते हुए चरित्रनायक को बबई आमन्त्रित किया गया जहा उन्होने रोगी को चिकित्सा प्रारभ करदी व थोड़े ही समय मे रोगी रोगमुक्त हो गये। ऐसी विचक्षण चिकित्सा की, बबई के प्रमुख डॉक्टरो सर्वश्री देशमुख व मेयर आदि ने, मुक्तकठ से प्रशसा की।

सन् १९५८ ई० मे बाईस सम्प्रदाय के वयोवृद्ध स्वामीजी श्री अमरचन्द जी महाराज अर्बुदरोग ग्रस्त हो गये। भोजन करते समय हिचकिया आने लगी व भोजन निगलने मे रुकावट प्रतीत होने लगी। दिल्ली के डॉक्टर सेन आदि द्वारा एलोपैथिक उपचार कराये गये किन्तु कोई लाभ न हुआ और अशक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुच गई व साधारण चलना फिरना भी कष्टप्रद हो गया। ऐसी घोर अवस्था मे वर्तमान मे अवकाशप्राप्त न्यायमूर्ति माननीय श्री इन्द्रनाथ जी मोदी अपने पास प्राप्त हुए महाराजा श्री के रोग विवरण का पत्र लेकर चरित्रनायक की सेवा मे पधारे। गभीरतापूर्वक उस विवरण को सुन कर चरित्रनायक ने "गलार्बुद" रोग निश्चय किया एव एक सप्ताह की औषधि महाराजश्री के लिये उन्हे प्रदान करदी। जब तक माननीय मोदीजी द्वारा भेजा गया उत्तर व औषधि दिल्ली पहुचे तब तक डॉक्टरो ने भी 'क्ष' किरण द्वारा परीक्षण के पश्चात् "गले का कैंसर रोग" ही निश्चत किया व शल्य चिकित्सा व डीपथिरेपी करवाने व गले मे कृत्रिम नली लगाकर उसके द्वारा भोजन देह मे पहुचाने की सलाह दे दी। श्रद्धावान् भक्तो ने व महाराज श्री स्वय ने यह सब होते हुए भी चरित्रनायक द्वारा प्रेषित औषधि लेने का निर्णय किया। एक सप्ताह के भीतर ही लाभ दृष्टिगोचर होने लगा तो महाराज श्री ने इच्छा प्रकट की कि एक वार उन्हे चरित्रनायक स्वय पधार कर देखलें व ३-४ दिन यही विराजे व औषधि दें तो अधिक उत्तम रहे। महाराजा श्री के भक्तवर सर्व श्री सरदारनाथजी मोदी एडवोकेट एव विजयराज जी काकरिया बडलू वालो के साथ चरित्रनायक दिल्ली पधारे व शास्त्रीय विधि से रोगी व रोग को परीक्षा की। उसी समय दिल्ली के प्रसिद्ध डाक्टरो का एक बोर्ड भी

बुलाया गया जिन्होने कृत्रिम नलिका से भोजन पहुचाने पर जोर दिया। चरित्रनायक उनसे असहमत रहे व आयुर्वेदीय चिकित्सा से ही उन्हे पूर्ण स्वस्थ कर देने को आश्वस्त किया। समुपस्थित डॉक्टर ताराचन्द व श्री सेन आदि ने जोर देते हुए पुन कहा कि बिना कृत्रिम नली लगाये कोई लाभ सभव नही है तो चरित्रनायक ने उनसे प्रश्न किया कि क्या आप नलिका लगाने के बाद इन्हे जीवित रखने व पूर्ण स्वस्थ कर देने की गारटी ले सकते हैं तो उन्होने प्रत्युत्तर मे कहा कि यह नही कह सकते। निदान चरित्रनायक द्वारा चिकित्सा प्रारभ की गई व थोडे ही दिनो मे वे महाराजा श्री पूर्ण स्वस्थ हो गये व पैदल यात्रा करते हुए अलवर होते हुए जयपुर पधार गये।

यह तो केवल पाठको को जानकारी के लिए केवल सामान्य दिग्दर्शन मात्र ही है अन्यथा ऐसी अनेक घटनाये जोधपुर के नागरिको के मुख से यत्र तत्र सर्वत्र नगर मे पहुँचने पर चरित्रनायक के चिकित्सा कौशल के सबध मे सुनने को आज भी उपलब्ध होती हैं। आपकी इस चिकित्सा चातुरी का ही प्रभाव है कि आज करीब ९० वर्ष की इस वृद्धावस्था मे भी लोग आपसे परामर्श करने ही नही चिकित्सकीय लाभ प्राप्त करने भी दूर दूर से आते हैं और सब कठिनाइयो को पार करके भी आपके विशाल अनुभव का लाभ उठाते हैं अर्वाचीन चिकित्सको से परित्यक्त रोगियो की सख्या आपकी चिकित्सा मे रोगियो मे अधिक होती है और उसमे प्राय सफलता रहती है।

राजकीय सम्मान

वैसे तो चरित्रनायक के पूर्वजो को जो शाही सम्मान प्राप्त था उनका उल्लेख इन्ही पक्तियो मे यत्र तत्र पहले 'फरमान' तथा 'सनद' के उद्धरणो मे हो गया है और आपके गुरुदेव स्वर्गीय पण्डित उम्मेददत्तजी महाराज के सम्मान से भी स्पष्ट हो जाता है किन्तु फिर भी जो सम्मान हमारे चरित्रनायक को अपनी सेवाओ से निजी तौर पर राज्य द्वारा प्राप्त हुआ उसका भी पाठको को परिचय मिलना आवश्यक है।

चरित्रनायक को पीयूष-पाणिता की ख्याति जब दिग्दिगन्त मे फैल रही थी तो रेल्वे कर्मचारी भी इस ओर आकर्षित हुए और आपकी चिकित्सा-चातुरी से लाभ उठाने लगे। किन्तु चिकित्सा तथा चिकित्सक के बीच ऐसा गाढ बन्धन होने पर भी सरकार द्वारा ऐसी कोई व्यवस्था नही थी कि रेल्वे विभाग के आतुरो को यथास्थान आयुर्वेदीय चिकित्सा-लाभ पहुँचाया जाय। रेल्वे कर्मचारियो की माग तथा आपका चिकित्सा-वैभव देख भूतपूर्व जोधपुर राज्य के प्रशासक ने सर्वप्रथम चरित्रनायक को ही रेलवे विभाग मे आयुर्वेदीय चिकित्सक बनाने का सम्मान दिया। वहा आपको अन्य आवश्यक यातायात आदि की भी सर्वविध सुविधाए सुलभ की गईं। इसके प्रमाण मे राज्य का आदेश इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र मुद्रित है।

आपकी नि शुल्क चिकित्सकीय सेवाओ से प्रभावित हो मारवाड की समस्त जनता

ने राज्य सरकार से प्रार्थना की कि आपको इस पुनीत कार्य मे अधिकाधिक सुविधा प्रदान की जाय। जोधपुर राज्य प्रशासन ने इस पर आपको सभी प्रकार के करो से मुक्त करने का आदेश प्रसारित कर चरित्रनायक का सम्मान किया।

भूतपूर्व जोधपुर-नरेश स्वर्गीय श्री उम्मेदसिंहजी साहिब की सफल चिकित्सा के पश्चात् जोधपुर राज्य मे आपको "पालकी सिरोपाव" तथा पैर मे सोना पहिनने का सम्मान दिया गया जो तत्कालीन परम्पराओ के अनुसार कभी किसी व्यक्ति को परम विशिष्टतम सेवाओ के स्वरूप मे ही दिया जाता था।

इसी प्रसग मे आपको राज्य सरकार द्वारा राज-पत्र मे घोषणापूर्वक विधिवत् 'राजवैद्य' बनाने का शाही सम्मान दिया गया और पूरे मारवाड राज्य मे सर्वप्रथम आयुर्वेदीय चिकित्सक के रूप मे चरित्रनायक को ही रोगातुर प्रमाण-पत्र देने का अधिकार प्रदान कर आपकी सेवाओ का मूल्याकन जोधपुर राज्य द्वारा किया गया। न्यायालयो मे उपस्थिति की माफी भी दी गई। इसके अतिरिक्त आपको उक्त नृपवर ने अपना निजी व राज्य परिवार का चिकित्सक नियुक्त कर दिया।

जोधपुर में सम्पन्न निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महा सम्मेलन के लिए चरित्रनायक के आग्रह पर ही जोधपुर-नरेश स्वर्गीय श्री उम्मेदसिंहजी साहिब ने सरक्षक बन कर आद्योपात सम्मेलन मञ्च पर विराजने की महती अनुकम्पा की और चरित्रनायक की तत्कालीन सेवाओ से प्रभावित हो राज्य मे आपको "पालकी सिरोपाव" से अलकृत किया और एक विशाल जागीर देने का निर्णय भी लिया गया किन्तु चरित्रनायक स्वय ने इस बन्धन मे आना उचित नही समझा।

जोधपुर-नरेश स्वर्गीय श्री हनवन्तसिंहजी ने भी आपको समय-समय पर मान दिया। उनके दो पुत्रियो के जन्मोत्तर जब वर्तमान महाराज श्री गजसिंहजी का जन्म हुआ तो उस अवसर पर आपको एक नई कार "पोइटिक' भेंट की।

भूतपूर्व जोधपुर राज्य के लोकप्रिय मन्त्रि मण्डल ने भी अपना कार्य ग्रहण करते ही राज्य के आयुर्वेद विभाग को अधिक सक्रिय करने का निर्णय लिया तो तत्कालीन स्वास्थ्य मन्त्री श्री मथुरादासजी माथुर ने आपके औषध निर्माणपाटव पर मुग्ध होकर जोधपुर राज्य की आयुर्वेदिक फार्मेसी का नियन्त्रणाधिकारी के रूप मे आपकी सेवायें ग्रहण कर सम्मानित किया।

राजस्थान राज्य के शास्त्री मन्त्रि मण्डल मे रावराजा हणवन्तसिंहजी स्वास्थ्य मन्त्री राजस्थान की अध्यक्षता मे जो आयुर्वेद मण्डल राज्य मे आयुर्वेदीय सेवाओ के प्रचार प्रसार के लिए बना उसके चरित्रनायक को सम्मानित सदस्य बनाया गया। इनके बाद

राज्य मे 'राजस्थान आयुर्वेद मन्डल' की सर्व प्रथम घोषणा की गई तो उसका अध्यक्ष पद हमारे चरित्रनायक को ही प्रदान कर राजस्थान राज्य ने अपनी गुणग्राहकता का परिचय देते हुए आपको सम्मानित किया। इस प्रकार चरित्रनायक को समय समय पर आपकी सेवाओ तथा विपुल ज्ञान राशि से प्रभावित हो, सभी प्रशासन ने आपको यथोचित सम्मान प्रदान किया।

राष्ट्रीय सेवा तथा सर्वप्रियता

चरित्रनायक ने सदा अपने आचरण को चिकित्सकीय आचार सहिता के विमल आदर्शों पर निर्भर रखने मे जागरूकता रखी है। कभी किसी को आपके आचरण तथा व्यवहार से किसी भी प्रकार का क्षोभ हुआ हो, इसका उदाहरण नही मिलता। जो व्यक्ति आपसे मिला आपका ही हो गया क्योकि सब धर्मो मे तटस्थ वृत्ति तथा परारा‍धन पाण्डित्य आदि चिकित्सकीय आचार सहिता के नियमो का चरित्रनायक ने अक्षरश. अनुपालन किया है। यही कारण है कि चरित्रनायक के यहा सर्वदल सम्मेलन देखने का अवसर सुलभ होता है और जिस पञ्चशील का आविष्कार नवीन रूप से स्वीकार किया जा रहा है उसीका स्वरूप चरित्रनायक के जीवन मे देखने को मिल सकता है। आपमे सर्व धर्म सहिष्णुता का एक अद्भुत गुण है कि सभी दल आपको एक भाव से देख कर आपके प्रति श्रद्धा रखते हैं। ऐसी सार्वभौम लोकप्रियता का उदाहरण बिरले ही स्थानो पर देखने को मिलेगा।

फिर भी चरित्रनायक के समक्ष राष्ट्र सेवा तथा देश प्रेम का कम महत्व नही है। आप अपने प्रारम्भिक जीवन से ही राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधारो के सम्पर्क मे रहे हैं, किन्तु आपने सदा उनसे यही निवेदन किया कि हमारी राष्ट्र सेवा का माध्यम भी हमारा पुनीत कार्य चिकित्सा से ही होगी। इससे जो कोई भी सेवा राष्ट्र को आवश्यक होगी हम सदा ही तन, मन, धन से तत्पर हैं। जोधपुर राज्य की एक मात्र राजनैतिक सस्था मारवाड लोक परिषद की विभिन्न प्रवृत्तियो मे जब तत्कालीन लोकनायको को राजनैतिक कारावास दिया गया तो लोकनायको ने वहा आयुर्वेदीय चिकित्सा के लिए चरित्रनायक को ही राज्य सरकार द्वारा आयुर्वेदीय चिकित्सक के रूप मे भेजने का आग्रह किया। फलस्वरूप आप भूतपूर्व जोधपुर राज्य द्वारा राजनैतिक बदियो के लिए आयुर्वेदिक चिकित्सक नियुक्त किए गए और उन्हें अपनी सेवाओ से सन्तुष्ट किया।

एक बार बम्बई प्रवास मे चरित्रनायक ने स्वर्गीय महात्मा गाधी से भी भेंट की और मारवाड की राजनैतिक जागृति से परिचित कराया। श्री महात्मा गाधी आपकी विचार सरणो से अत्यन्त प्रभावित हुए और जैन यति समाज के एक धुरीण होने के कारण इस सम्बन्ध मे भी आपसे महात्माजी ने लम्बी चर्चा की, क्योकि स्वय महात्मा गाधी की कुल

परम्परा जैन यति समाज से पूर्णतया सम्बन्धित थी। अतः चरित्रनायक की जितनी देर उनसे बातचीत हुई महात्माजी आपको गुजराती भाषा के सुमधुर शब्द "गोरजी" उर्फ गुरासा से ही सबोधित करते रहे।

इस प्रकार चरित्रनायक राज्य तथा प्रजा प्रेम के एक साथ सम्मिश्रण की एक अद्भुत झलक है, एव आपकी इस विचक्षणता से आप सबको आकर्षित करते रहते हैं।

सार्वजनिक सम्मानपात्रता

आपके इस अद्भुत वैचक्षण्य से प्रभावित होकर जब भूतपूर्व जोधपुर राज्य ने आपका पर्याप्त शाही सम्मान किया तो स्थानीय जनमानस मे भी आपके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने की भावना जागृत हो उठी। और समस्त आबालवृद्ध जनसमूह ने मिल कर निर्णय किया कि चरित्रनायक का विशाल सार्वजनिक अभिनन्दन किया जाय।

उक्त निर्णयो को क्रियान्विति देने के लिए गठित विभिन्न समितियो ने जब अपने समस्त क्रियाकलापो को पूर्ण कर लिया तो नगर के विशाल प्रागण मे एक विशाल जनसमूह ने चरित्रनायक को अपनी सम्मान सुमनाञ्जलि भेंट करने को एकत्रित हो गई: इसमे कोई ऐसा व्यक्ति नही था, जो चरित्रनायक के लिए श्रद्धावनत न हो। सभी एक स्वर से चरित्रनायक की विभिन्न गुणावलि पर चर्चा करने मे लीन थे। सम्मानार्थ सजाये गये विशाल मच पर जब चरित्रनायक तथा विशेष अतिथि और अध्यक्ष पधारे तो जनसमूह का हृदय आनन्दविभोर हो उठा और सभी उस क्षण की प्रतीक्षा मे लग गये कि उनके मानस सम्राट चरित्रनायक को उनकी पुजीभूत श्रद्धा का वह रजतमय कवच कब भेट किया जायगा कि जो उनकी अनन्त श्रद्धा का वह रजतमय कवच कब भेट किया जायगा कि जो उनकी अनन्त श्रद्धा का चरित्रनायक के लिए चिरपरिचायक होगा।

अन्त मे सभी औपचारिकताओ के बाद चरित्रनायक को इस विशाल जनसमूह के समक्ष करीब ५०० तोले की चादी के कास्किट मे रख कर सार्वजनिक श्रद्धा का अभिनन्दन पत्र समर्पित किया गया, जिसमे सभी उपस्थित जनता जनार्दन भावोद्रेक मे गद्गद हो गये और अपनी मूक मुद्रा को भग कर चरित्रनायक के जयजयकारो से वायुमण्डल को गुजरित कर दिया। इस प्रकार की सार्वजनिक सम्मानपात्रता चरित्रनायक की अपनी एक अनूठी विशेषता है, जो प्रायः सबको प्रभावित करती रहती है।

सदाचार तथा सदाशय की प्रतिमूर्ति

चरित्रनायक आयुर्वेदीय सदाचार सेवन से न केवल अपने से परामर्श लेने वाले व्यक्तियो को ही अपने सदुपदेश से स्वस्थ रखने का श्रेय ग्रहण करते हैं अपितु आप स्वयं भी सदाचार ही नही सदाशय की भी प्रतिमूर्ति हैं। आपकी समस्त चर्या सदाचार से ओत-

प्रोत रहती है। अहर्निश आपका ध्यान इसी ओर लगा रहता है कि किस प्रकार किसी भी आर्त की कोई सेवा हो जाय तो वही मेरी कर्त्तव्यपूर्ति है। आपका सस्मितवदन, स्वच्छ धवलवेष जैसा ही निर्मल हृदय और सरल गौराङ्गयष्टि किसके लिए मनमोहक नही हो सकती। आपकी अपनी विशुद्धान्तकरणता के कारण आपने, जो भी व्यक्ति आपके सम्पर्क मे आया, आपने सहज सद्‌भावनापूर्ण विचारो से, उसी मे पूर्ण विश्वास कर लेते हैं। यदि उसने किसी प्रकार आपका कोई अहित या अनिष्ट किया तो स्नेहभाव से ही उसे सचेष्ट कर क्षमा भी कर देते हैं और कहते हैं कि भगवान् महावीर ने तो कानो मे कीलें ठुकवा कर भी आवेश धारण नही किया तो जैनागम का यह सिद्धान्त उनके अनुयाइयो के लिए क्यो नही है ? यदि कोई दुर्जन अपना स्वभाव नही छोड सकता है तो सज्जन की सज्जनता भी इसी मे है कि वह अपना गुण नही छोडे। फिर हमारी सस्कृति के अनुकूल शौर्य की अपेक्षा क्षमा को वीरो का अलकरण कहा है, जिसे इस युग मे भी हमारे देखते-देखते महात्मा गाधी ने प्रत्यक्ष कर दिया है कि भारतीय दर्शन का यह सच्चा स्वरूप है।

ब्राह्म मूहर्त मे ही आप शौचादि से निवृत्त हो नियमित देवाराधना करते हैं जिसमे आपको अपनी परम्परानुसार अगाध श्रद्धा है। ऐसे बहुत ही कम स्थान मिलेगे जहा पर अहर्निश घृत पूरित दो ज्योति जागृत रहती हो और वहा कज्जल के स्थान पर केशर पडती हो किन्तु चरित्रनायक की देवराधना मे उक्त दोनो ही का सम्मिश्रण देखने का आज भी सुलभ अवसर है। तदनन्तर पूरे दिन पर तथा मध्य रात्रि तक आप इस वृद्धावस्था मे भी जिस उत्साह तथा लगन से एक नवयुवक से भी अधिक कार्य करते हैं उससे द्रष्टाओ को ईर्ष्या हो तो भी अतिशयोक्ति नही है। सबसे बडा आश्चर्य जो आपके जीवन मे देखने को मिला है वह है एकासनता और मिताहार। आपका आहार इतना स्वल्प है कि देखते ही आश्चर्य होता है। दो समय के अतिरिक्त तीसरे समय दूध या फलादि का भी आपको कोई व्यसन नही है। आग्रह होने से चाय-पान अवश्य कर लेते हैं। अत. आपकी कर्मशक्ति तथा स्वल्पाहार मे सामञ्जस्य लाना भी बडा ही आश्चर्यजनक है। आपके यहां अतिथिभेद तथा अपने निजी भोजनादि में कोई अन्तर नही होने दिया जाता। एक सामान्य से सामान्य अतिथि और आपके भोजन मे सामग्री की सभी प्रकार से एकरूपता होगी, जबकि अन्यत्र प्राय परिस्थिति अनुसार आवान्तरभेद कर दिया जाता है। अतिथि सत्कार मे आपका व्यक्तित्व इतना अनूठा है कि स्वय उसकी परिचर्या मे लग जाते हैं और कई बार अपने अनुयाइओ को परामर्श देते हैं कि हमारी सस्कृति में अतिथि सेवा का बहुत महत्त्व स्वीकार किया गया है क्योकि उसमे हमे सहज श्रेय मिल जाता है। अतिथि का भोजन अपना निज का है, और इससे बढ कर हमारा क्या सौभाग्य होगा कि वह अपना ही भोजन हमारे घर पर खाकर हमारी सेवा का बहाना ससार को दिखा देते हैं। अत ऐसे पवित्र कार्य को सहर्ष कर लेना चाहिए। आप अतिथि को 'सर्वदेवमयोहरि' के रूप मे मानते हैं।

चरित्रनायक के घनिष्ठ मित्र

स्वर्गीय लाला रामचन्द्रजी माथुर
जोधपुर

चरित्रनायक के वात्सल्य अधिकारी

लाला हरिश्चन्द्रजी माथुर
संसद-सदस्य

चरित्रनायक के भक्तिवान्

धाराः श्री
श्री नन्दकिशोरजी माथुर

बच्चो से आपको बड़ा स्नेह है। उनके स्नेहाकर्षण के लिए उन्हें कुछ न कुछ वितरण करते रहते हैं अत जब भी आप रिक्त होते हैं, बालगोपाल आपके मधुर सलाप के लिए आ जाते हैं। इन सबसे पाठको को स्पष्ट हो जाता है कि चरित्रनायक करुणा तथा वात्सल्य की समष्टि, त्याग तथा दम का समन्वय और सदाचार तथा सद्भाव की प्रतिमूर्ति हैं जिससे आपके सम्पर्क मे आकर व्यक्ति आपका सर्वतोमुखी लाभ प्राप्त करता है और आदर्श जीवन सत्प्रेरणा लेकर भी अपने को कृतार्थ कर लेता है।

गुणग्राहकता तथा विद्वज्जनानुरक्ति

प्रारम्भ से ही चरित्रनायक की यह उत्कण्ठा रही है कि सद्गुणसम्पद यदि हेय स्थान से भी उपलब्ध हो तो ग्रहण करना चाहिए कई बार साम्प्रदायिक परम्पराओ के विपरीत भी आपने कुछ ऐसे व्यक्तियो को अपने यहा नियमित मर्यादाओ मे प्रश्रय देकर उनसे कुछ विद्याए प्राप्त की हैं, जो अन्य किसी व्यक्ति के लिए यह सरल नही था। नवीन ज्ञान या विशेष गुण अपने से छोटे या हीन व्यक्ति से भी लेने मे आपको कोई सकोच नही होता। इसलिए आपके पास अनेक अद्भुत चमत्कार (करिश्मो) का सग्रह विद्यमान है। अचेतकारी अद्भुत चमत्कार और आपके व्यावृत्त जीवन का समन्वय सर्वथा आश्चर्यजनक है फिर भी आपको अपनी रुचि के अनुसार सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियो से कुछ हाथजादू के भी सीखने का सुअवसर मिला है। अन्य कलादि क्षेत्रो मे भी जो वैशिष्ट्य आपका पहले इन्ही पक्तियो मे बताया गया है, उन सबके पीछे आपकी सहज गुणग्राहकता ही प्रभाव है, और आपकी यह गुणग्राहकता आज भी उतनी ही सजग है जितनी आपकी पूर्ण युवावस्था मे थी।

जो व्यक्ति स्वभाव से ही गुणग्राहक होगा तो उसके यहा अनेक निष्णात व्यक्तियो की शृखला का होना नैसर्गिक है। चरित्रनायक के यहा भी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण देखने को मिलता है। साहित्य, कला, विज्ञान, सगीत, सस्कृति और आदर्श जीवन का कोई भी विद्वान व्यक्ति जोधपुर नगर मे आएगा तो चरित्रनायक के सम्पर्क मे उसको अवश्य पधारना ही पड़ेगा। कई बार तो आपके अनुयायी ही आपकी सद्गुणावली से उन्हें परिचित करा देते हैं तो उनके स्वय के मन मे दिदृक्षा उत्पन्न हो ही जाती है, अथवा कई बार चरित्रनायक स्वय उन्हें अपने यहा आमन्त्रित कर सत्कार करते हैं। अधिकाश विद्वानो को तो आप अपने यहा पर चिरकाल तक रखते हैं और उनकी भोजनादि सभी सेवाओ का भार स्वय उठा कर अपनी रुचि को पूर्ण करते हैं। ऐसे विद्वान् आपके यहा पर जब ठहरना स्वीकार कर लेते हैं तो प्रतिदिन समयानुसार जो जिस विषय का विद्वान् होता है उससे उसी ही विषय पर चरित्र-नायक का विश्रम्भालाप घण्टो तक चलता रहता है और आपको इसमे इतना अपार हर्ष होता है कि कई बार भोजनादि दैनिक कृत्यो मे भी अनावश्यक अस्तव्यस्तता आ जाती है।

बच्चो से आपको बडा स्नेह है। उनके स्नेहाकर्षण के लिए उन्हें कुछ न कुछ वितरण करते रहते हैं अतः जब भी आप रिक्त होते हैं, बालगोपाल आपके मधुर सलाप के लिए आ जाते हैं। इन सबसे पाठको को स्पष्ट हो जाना है कि चरित्रनायक करुणा तथा वात्सल्य की समष्टि, त्याग तथा दम का समन्वय और सदाचार तथा सदाशय की प्रतिमूर्ति हैं जिससे आपके सम्पर्क मे आकर व्यक्ति आपका सर्वतोमुखी लाभ प्राप्त करता है और आदर्श जीवन सत्प्रेरणा लेकर भी अपने को कृतार्थ कर लेता है।

गुणग्राहकता तथा विद्वज्जनानुरक्ति

प्रारम्भ से ही चरित्रनायक की यह उत्कण्ठा रही है कि सद्‌गुणसम्पद यदि हेय स्थान से भी उपलब्ध हो तो ग्रहण करना चाहिए कई बार साम्प्रदायिक परम्पराओ के विपरीत भी आपने कुछ ऐसे व्यक्तियो को अपने यहां नियमित मर्यादाओ मे प्रश्रय देकर उनसे कुछ विद्याए प्राप्त की हैं, जो अन्य किसी व्यक्ति के लिए यह सरल नही था। नवीन ज्ञान या विशेष गुण अपने से छोटे या हीन व्यक्ति से भी लेने मे आपको कोई सकोच नही होता। इसलिए आपके पास अनेक अद्‌भुत चमत्कार (करिश्मो) का सग्रह विद्यमान है। अचेतकारी अद्‌भुत चमत्कार और आपके व्यावृत जीवन का समन्वय सर्वथा आश्चर्यजनक है फिर भी आपको अपनी रुचि के अनुसार सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियो से कुछ हाथजादू के भी सीखने का सुअवसर मिला है। अन्य कलादि क्षेत्रो मे भी जो वैशिष्ट्य आपका पहले इन्ही पक्तियो मे बताया गया है, उन सबके पीछे आपकी सहज गुणग्राहकता ही प्रभाव है, और आपकी यह गुणग्राहकता आज भी उतनी ही सजग है जितनी आपकी पूर्ण युवावस्था मे थी।

जो व्यक्ति स्वभाव से ही गुणग्राहक होगा तो उसके यहा अनेक निषण्णात व्यक्तियो की शृखला का होना नैसर्गिक है। चरित्रनायक के यहा भी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण देखने को मिलता है। साहित्य, कला, विज्ञान, सगीत, सस्कृति और आदर्श जीवन का कोई भी विद्वान व्यक्ति जोधपुर नगर मे आएगा तो चरित्रनायक के सम्पर्क मे उसको अवश्य पधारना ही पडेगा। कई बार तो आपके अनुयायी ही आपकी सद्‌गुणावली से उन्हें परिचित करा देते हैं तो उनके स्वय के मन मे दिदृक्षा उत्पन्न हो ही जाती है, अथवा कई बार चरित्रनायक स्वय उन्हें अपने यहा आमन्त्रित कर सत्कार करते हैं। अधिकाश विद्वानो को तो आप अपने यहा पर चिरकाल तक रखते हैं और उनको भोजनादि सभी सेवाओ का भार स्वय उठा कर अपनी रुचि को पूर्ण करते हैं। ऐसे विद्वान् आपके यहा पर जब ठहरना स्वीकार कर लेते हैं तो प्रतिदिन समयानुसार जो जिस विषय का विद्वान् होता है उससे उसी ही विषय पर चरित्र-नायक का विश्रम्भालाप घण्टो तक चलता रहता है और आपको इसमे इतना अपार हर्ष होता है कि कई बार भोजनादि दैनिक कृत्यो मे भी अनावश्यक अस्तव्यस्तता आ जाती है।

इसके विपरीत कुछ विद्वान् अपने विषय मे इतने अधूरे निकल जाते हैं कि चरित्रनायक स्वय से उन्हे कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिलता है। ऐसे व्यक्तियो को भी चरित्र-नायक के यहा पर पूर्ण सुविधा मिलती है और वे जब स्वेच्छा से ही लौटने की इच्छा व्यक्त करते हैं तो उन्हे आर्थिक पुरस्कार व पाथेय व्ययपूर्वक फिर पधारने के आग्रह के साथ विदा दी जाती है। इस प्रकार चरित्रनायक के यहा विद्वान ही विद्वान के श्रम का मूल्याकन करता है। इस सदुक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण देखने को मिलता है क्योकि आप मे सहज गुण-ग्राहकता तथा विद्वज्जनानुरक्ति का अद्भुत सम्मिश्रण प्रकृति ने किया है।

सम्प्रदाय सेवा

जैन यति सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के कारण चरित्रनायक का ध्यान अपनी परम्परा प्राप्त इस सम्प्रदाय की परिस्थितियो की ओर होना भी स्वाभाविक था। आपका ध्यान जब इस ओर हुआ तो अनुभव मे आया कि प्रत्येक श्री पूज्य पीठ के आचार्य केवल रूढिवाद से बध कर ही अपनी अज्ञता मे लीन हो रहे हैं। और यति-समाज उनकी इस उपेक्षा के कारण सर्वथा विच्छृखलित हो उन्मार्गगामी होता चला जा रहा है। कही एक दूसरे मे उत्तरा-धिकार के झगडे हैं तो कही सम्पत्ति के विभाजन का द्वन्द्व चल रहा है। इस सघर्ष का लाभ उठा कर श्रावक समाज श्रद्धा के स्थान पर समाज से घृणा करने लगा और जहा अवसर लगा सम्पत्ति को भी अधिकार मे लेने लगे। जो यति समाज एक दिन शाही सल्तनत को भी कम्पित करने का प्रभाव रखता था, वह अज्ञतावश अब परमुखापेक्षी हो कर सामान्य जीवन-निर्वाह के लिए भी पराश्रयी हो गया था।

इन विषम परिस्थितियो मे आपने अपने यति सम्प्रदाय को उद्बोधन दिया और उनके प्राचीन गौरव से परिचित कर सगठित रूप से कुरीतियो को उखाड फैंकने को आमन्त्रित किया। फलस्वरूप अखिल भारतवर्षीय यति समाज मे एक क्रान्ति आई और राजस्थान ही प्रधानतया इस समुदाय का प्रधान स्थल होने के कारण अजयमेरु की निर्मल श्रृङ्खलाओ के प्रधान नगर मे पुनः एक विशाल सम्मेलन आहूत किया गया। इस सम्मेलन मे यद्यपि आप सशरीर अनेक अन्य कारणो से उपस्थित नही हो पाये तथापि आपके उत्तम समयानुकूल सुझावो व सत्प्रेरणाओ से यति समाज मे पर्याप्त जागृति आई और सगठित रूप से अनेक सुधारो को करने का सकल्पो का सूत्रपात हुआ। तब से यह सम्मेलन अब तक बराबर कार्य कर रहा है और प्रति वर्ष अनेक गतिविधियो से इस समाज की हीन दशा मे प्रगति लाने मे सफल हुआ है।

आपकें प्रारम्भिक जीवन मे यति समाज का गच्छ-भेद भी एक प्रबल द्वन्द्व का कारण था। एक आचार्य दूसरे की उपस्थिति मे न नगर-प्रवेश करता था और न किसी मागलिक कार्य में ही उपस्थित होता था। सभी श्री पूज्यो में अपने आपको ही श्रेष्ठतम

मान के अहंकार भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। इस दोष-परिमार्जन के लिये भी चरित्र-नायक ने भगीरथ प्रयत्न किया और जयपुर बीकानेर के सभी श्री पूज्यो के कोटवाल तथा स्वय आचार्यों से पत्र-व्यवहार कर जोधपुर मे स्नेह-सम्मेलन कराने की स्वीकृति प्रदान करवाई। तत्कालीन जोधपुर राज्य के प्रशासको को जैन यति सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा से परिचित करा उसमे जो विशेषताए थी उनकी ओर उनका ध्यान आकर्षित किया। अन्त मे जोधपुर राज्य द्वारा समस्त यति सम्प्रदाय के आचार्यों की विधिवत् प्रतिष्ठा तथा सम्मान करने की स्वीकृति भी प्राप्त हो गई तो जोधपुर में सबको आमन्त्रित कर एक स्नेह-सम्मेलन सुसम्पन्न करवाया। तब से प्राय: सभी श्री पूज्य एक दूसरे को समानाधिकार प्रदान करते हैं और स्नेह से मिलते हैं। इस प्रकार चरित्रनायक ने अपने सम्प्रदाय की अनुपम सेवा की है, जिससे सभी भारतवासी यति-समाज प्रभावित हुआ है और सुपरिचित है। आपने यति-समाज मे आयुर्वेद का अधिक प्रचार-प्रसार कर सम्प्रदाय-सेवा का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

समाज-सेवा

चरित्रनायक का सामाजिक सेवा क्षेत्र केवल यति सम्प्रदाय तक ही सीमित न होकर सभी क्षेत्रो में व्याप्त रहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि के सभी सामाजिक जीवन मे जो दोष तथा कुरीतिये बढ रही थी, उन सब पर आपको क्षोभ था। आपकी हवेली के पार्श्ववर्ती क्षेत्रस्थ कतिपय समाजो मे जो अशिक्षा, बाल तथा वृद्ध-विवाह और अन्य दुर्व्यसनो का बोलबाला था, उनके लिए चरित्रनायक प्रतिदिन आपके सम्पर्क मे आने वाले समाज के प्रमुखो को इन सब दुर्व्यसनो तथा कुरीतियो से मुक्त होने के लिए कहा करते थे। फलत समाज मे एक जागृति आई और शिक्षा प्रचार के साथ-साथ अन्य बुराइयो से भी समाज मुक्त होने लगा।

जैन ओसवाल समाज भी आपसे पूर्ण प्रभावित था, क्योकि आपका घराना ओसवालो के लिए "श्री गुरा साहिब" जैसा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका था। स्थानीय समाज के प्रमुख सज्जनो के अतिरिक्त आपके भू-सम्पदा क्षेत्र खीमेल आदि के जैन ओसवाल तथा पोरवाल महानुभाव भी आपकी सेवा में सामाजिक व धार्मिक उपदेश तथा चिकित्सा आदि के सम्बन्ध मे पधारते ही रहे हैं। उन्हे भी आपने समयानुसार सामाजिक परिवर्तन लाने के अमूल्य सुझाव देकर आवश्यक सुधार करने को विवश किया है। विवाहादि शुभ कार्यों मे मांगलिक कार्यों की उपेक्षा कर केवल प्रदर्शन के लिए दिए जाने वाले अपव्ययो को आपने व्यर्थ बतलाया और इस बचत से समाज के नि सहाय लोगो की सेवा का मार्गदर्शन किया। आपने ओसवाल समाज के धुरीणो को बताया कि यति समाज आपके समाज से पूर्णतया सम्बन्धित है और वर्तमान युग की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार आप लोग इसको

आवश्यकता नही समझते हो तो इसे अपने मे ही आत्मसात् कर लीजिये, जिससे समाज में अधिक वर्गभेद न हो। जो जैन यति परिस्थितियो के अनुसार गृहस्थ होते गये, उनके प्रति भी चरित्रनायक की पूर्ण सहानुभूति रही है। आपने उन्हे अपना ही एक अङ्ग मान कर जैन समाज में उचित आदर दिलाने का प्रयत्न किया। आपने अपने विचार तथा भावनाओ को कभी सकीर्ण नही बना कर उन्हे पूर्ण प्राञ्जल तथा प्रशस्त रखा। आपकी मान्यतानुसार समाज के बदलते हुए ढांचे में किसी भी साधु या यति आदि का, जब तक वह पूर्ण परिग्रह का त्याग न करें, सद्‌गृहस्थो के बीच आते जाते रहना सर्वथा दोषपूर्ण ही नही, किन्तु अनुचित भी है। अत आपने अपने उत्तराधिकारियो को सहर्ष गृहस्थ होने की आज्ञा दे कर जीविकोपार्जन मे लगा दिया।

किसी भी अपठित ब्राह्मण को देख आपके मन मे बडी वेदना होती है। इसी प्रकार शौर्यहीन क्षत्रिय तथा व्यवसायविहीन अन्य सामाजिक प्राणी भी आपको उद्वेलित किये बिना नही रहता। आपकी सुदृढ धारणा है कि शिक्षा तथा व्यवसाय तो प्रत्येक सामाजिक प्राणी का एक प्रारम्भिक अधिकार है। जिस समाज मे इन दोनो का अभाव हो, वह कभी चिरकाल तक सुस्थिर नही रह सकता। वैदिककालीन भारत मे इसीलिए चार आश्रम-व्यवस्थाओ मे समाज को इतना व्यवस्थित कर दिया था कि प्रत्येक नागरिक वह चाहे दीन हो या समृद्ध, समान भाव से गुरुकुल मे केवल गुरु-सेवा मात्र से ही प्रशिक्षण प्राप्त करता था और गृहस्थाश्रम मे उचित व्यवसाय का अधिकारी होता था। आज स्वतन्त्र भारत मे शिक्षा तथा व्यवसाय का समाज के लिए पूर्ण समन्वय होना आवश्यक है। इस प्रकार हमारे चरित्रनायक उच्च सामाजिक सुधारो की विचारधाराओ से ओतप्रोत हो सदा समाज-सेवा मे निरत रहे हैं।

आयुर्वेद लोक सेवा

इन्ही पक्तियो मे "मारवाड मे आयुर्वेद-विकास" शीर्षक के अन्तर्गत जिस प्रकार मारवाड राज्य में स्वतन्त्रता के अरुणोदय तक आयुर्वेद की स्थिति रही उसका एक सिंहावलोकन किया गया है। इसी काल मे चरित्रनायक को भी आयुर्वेद लोक की सेवाओ का अवसर सुलभ हुआ। आपने चिकित्सा-कार्य मे पूर्णतया व्यावृत होने पर भी आपको अपने क्षेत्र के वैद्यो को विच्छृखलित देख व्याकुलता हुई। सन् १९३३ मे बीकानेर सभूत निखिल भारतीय आयुर्वेद महा सम्मेलन के शुभ अवसर पर जब आप श्री बीकानेर पधारे तो आपने वहा पधारे हुए कतिपय विद्वान् एव कर्मठ वैद्यो को, एक मारवाडव्यापी वैद्यो का सगठन स्थापित करने हेतु, अपने स्थानो को लौटने से पूर्व जोधपुर पधारने की साग्रह प्रार्थना की। फलत: स्वर्गीय वैद्यराज श्री गोवर्धनजी छांगाणी, नागपुर, जिनका मूलस्थान मारवाड मे पोकरण ग्राम था, स्वर्गीय वैद्यराज श्री यादवजी त्रिकमजी महाराज बम्बई, स्वर्गीय वैद्यराज श्री टी सुखरामदासजी ओझा, कराची, स्वर्गीय डा ए लक्ष्मीपति, मद्रास, स्वर्गीय वैद्यराज

नि० भा० २१ वां आयुर्वेद महासम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के रूप में एवम्
स्वागत कारिणी के सदस्य महानुभावो के साथ

चरित्रनायक

शिष्यमंडली के साथ

श्री ख्यालीरामजी द्विवेदी, इन्दौर, स्वर्गीय वैद्यराज श्री किशोरीदत्तजी, कानपुर आदि के इस पुनीत कार्य की सम्पन्नता हेतु जोधपुर विश्रामोत्तर आपने अपने स्थानो को लौटने का निश्चय किया व उनकी उपस्थिति मे हमारे चरित्रनायक के सत्प्रयत्न से श्री मारवाड आयुर्वेद प्रचारिणी सभा जोधपुर की स्थापना हुई। समुपस्थित वैद्यसभा के विशेष आग्रह पर उसके सभापति पद को भी आपही ने अलकृत किया। किसी सभा या सगठन का मन्त्री ही उसका प्राण होता है, अत. आपके परम विश्वस्त स्वर्गीय वैद्यराज श्री खूबचद शर्मा को आपने आपका मन्त्री नियुक्त कर मारवाड वैद्य समाज के व्यापक सगठन का बीडा उठा लिया। उत्साही तथा कर्मठ मत्री के सहयोग से निरन्तर सात आठ वर्षों तक इस सभा का उत्तरदायित्व चरित्रनायक ने सभाला और अत मे अन्य आवश्यक कार्यों से अपना यह भार अन्य सहयोगी साथियो को दे दिया। श्री मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी सभा ने वैद्य समाज के हित मे किस प्रकार कार्य किया इसका विशद विवेचन उसी के प्रकाशित कार्य विवरण से स्पष्ट हो जाता है।

चरित्रनायक को अपने सीमित क्षेत्र की सेवाओं से ही कहा सतोष होने वाला था। आपने उक्त सभा के माध्यम से, बम्बई मे होने वाले निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महा-सम्मेलन के अवसर पर उपस्थित हो अपने परम सुहृद् स्वर्गीय श्री गोवर्धनजी छागाणी और डॉ० गणनाथ सेन सरस्वती, यादवजी त्रिकमजी आचार्य आदि को अपने शुभसकल्प की ओर आकर्षित कर अगला अधिवेशन अन्य स्थानो से प्राप्त निमत्रणो को अस्वीकार करवा कर, जोधपुर ही मे करवाने का निमन्त्रण दे दिया। इस निमन्त्रण के बाद चरित्रनायक पर जो दायित्व आगया था, उसके लिए आप सदा सजग रहे और तत्कालीन जोधपुर नरेश स्वर्गीय श्री उम्मेदसिंहजो महाराज को सम्मेलन का सरक्षकत्व स्वीकार करवा स्वय चरित्रनायक ने स्वागताध्यक्षता का भार वहन किया। कुछ ही समय-पूर्व उक्त जोधपुर नरेश की अद्भुत चिकित्सा कर चरित्रनायक ने जोधपुर महाराजा तथा समस्त राजपरिवार की आयुर्वेद के प्रति जो श्रद्धा जागृत करदी थी, उसका प्रत्यक्ष फल जोधपुर में निखिल भारतवर्षीय आयु-र्वेद महासम्मेलन को मिला और सम्मेलन मे पधारने वाले सभी सज्जनो ने एक स्वर से अनुभव किया कि इस प्रकार की व्यापक सफलता सम्मेलन को अपने जीवन मे पहली बार प्राप्त हुई। इस सम्मेलन के अवसर पर चरित्रनायक का स्वागताध्यक्ष पद से एक सारगर्भित भाषण हुआ। इसमे समागत सभी वैद्य बधुओ को नि शुल्क भोजन व्यवस्था की गई थी। ऐसा सम्मेलन आज तक कही अन्यत्र न हुआ और न होने की कोई सभावना दृष्टिगोचर होती है।

चरित्रनायक की इन विपुल सेवाओ तथा चिकित्सा वैभव से प्रभावित हो श्री मार-वाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी सभा ने आपको 'प्राणाचार्य' की उपाधि से विभूषित करते हुए एक

विशाल जनसमूह के समक्ष आपका हार्दिक अभिनन्दन किया और साथ ही निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन ने अपने मच से आपकी सेवाओ की भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए 'आयुर्वेदमार्तण्ड' पदवी प्रदान कर आपका सम्मान किया। आपकी इन सेवाओ का प्रभाव निखिल भारतीय स्तर के वैद्य समाज पर इतना हुआ कि जब कभी चरित्रनायक किसी सम्मेलन मे पहुँच गये तो जोधपुर राजवैद्यजी के नाम से स्वतत्र शिविर की ही व्यवस्था होने लगी और आपके सुझावो को सदा सम्मान मिलता रहा ।

जब इस प्रकार प्रान्त के बाहर निखिल भारतीय स्तर पर चरित्रनायक की सेवाए स्वीकार की जाने लगी तो सन् १९५० ई० मे राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के दशम अधिवेशन सीकर मे प्रान्त के वैद्य समाज ने भी निर्विरोध रूप से उक्त सम्मेलन के सभापति के लिए आपकी सेवायें आमन्त्रित की। नवीन राजस्थान राज्य के सगठन के बाद प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन का यह सर्वप्रथम अधिवेशन था और वैद्य समाज तथा राज्य के समक्ष आयुर्वेद की अनेक व्यापक समस्याये थी। विकट समय मे चरित्रनायक ने जो समाज की बागडोर सम्भाल कर सफल नेतृत्व प्रदान किया उसका पूरे वैद्य समाजो को गौरव है। इस अवसर पर अध्यक्षीय भाषण आपने प्रसारित कर समाज तथा राज्य सरकार को अपने कर्तव्यो का निर्देश किया।

इस अवसर पर आपने राजस्थान आयुर्वेद विभाग के पुनर्गठन की एक व्यापक रूपरेखा भी आर्थिक समस्या के साथ प्रस्तुत की।

चरित्रनायक के समयोचित सुझावो से प्रभावित हो राजस्थान सरकार ने राज्य मे सर्व प्रथम गठित किए जाने वाले आयुर्वेद परामर्शदातृ मडल के अध्यक्ष पद पर भी आपकी सेवायें अगीकार की। उक्त बोर्ड के पुनर्गठन काल तक चरित्रनायक ने उक्त पद पर पूर्ण तत्परता से अपनी सेवायें देकर वैद्य समाज तथा राज्य सरकार को पूर्ण सतुष्ट किया। बोर्ड के अध्यक्ष पद पर समारूढ होने पर जयपुर सद्वैद्य सभा एव वैद्यसभा बम्बई आदि से भी आपका अभिनन्दन किया गया। राजस्थान राज्य के व्यास मन्त्रि मडल मे स्वास्थ्य मन्त्री महोदय श्री मथुरादासजी माथुर साहिब ने भी चरित्रनायक की आयुर्वेदीय सेवाओं के सम्मान-स्वरूप आपके सत्परामर्शानुसार जोधपुर मे पहिला राजकीय आयुर्वेदीय केन्द्रीय औषधालय खाडाफलसा स्थापित कर आपसे अवैतनिक प्रधान चिकित्सक पद पर सेवायें देने का आग्रह किया। इस प्रकार चरित्रनायक की व्यापक आयुर्वेद लोक सेवाओ से समस्त वैद्य जगत पूर्णतया सुपरिचित है और आज भी आपकी एकछत्र निष्ठा है कि आयुर्वेद की सेवा के लिए कही भी यदि सर्वस्व भी देना पड़े तो सबसे पहिले चरित्रनायक होगे जो कि नेतृत्व करें। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह केंद्रीय औषधालय में आपने निजी औषधिया नि शुल्क वितरित की व राज्य सरकार से सवारी व्यय उनके आग्रह के बावजूद भी स्वीकार नही किया।

चरित्रनायक के साथ

स्वर्गीय मरुधराधीश राजराजेश्वर महाराजाधिराज १०८ श्री हनुवन्तसिंहजी महोदय एम जे ए फार्मेसी का निरीक्षण करते हुए।

चरित्रनायक के साथ

स्वर्गीय मरुधराधीश राजराजेश्वर महाराजाधिराज १०८ श्री हनुवन्तसिंहजी महोदय को आयुर्वेद की गतिविधियो के बारे मे बात करते हुए।
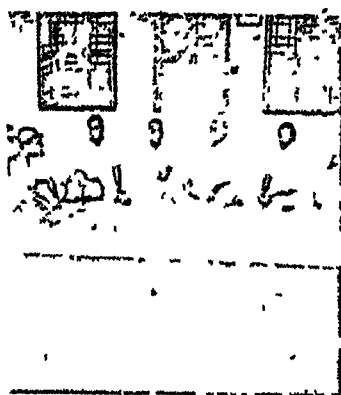
तत्कालीन मुख्यमन्त्री स्व० जयनारायणजी व्यास से आयुर्वेद की समस्याओं का परामर्श करते हुए।

जोधपुर कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष एवं राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पंजीकृत) के तत्कालीन अध्यक्ष के साथ चरित्रनायक आयुर्वेदीय विचार गोष्ठी करते हुए।

तत्कालीन मुख्यमन्त्री स्व० जयनारायणजी व्यास से आयुर्वेद विषय पर चर्चा करते हुए।

राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री जयनारायण व्यास को औषधिनिर्माण शाला बताते हुए चरित्रनायक।

श्री जिनदत्तसूरि आयुर्वेदिक महौषधालय का विकास

चरित्रनायक के गुरुदेव प्राणाचार्य, भट्टारक महोपाध्याय राजवैद्य प. उम्मेददत्तजी महाराज ने चाणोद से जोधपुर पधारने के बाद महाराज श्री जसवन्तसिंहजी, जोधपुर नरेश के सरक्षकत्व मे श्री जिनदत्तसूरि आयुर्वेदिक महौषधालय की स्थापना अपने आराध्यदेव श्री जिनदत्तसूरि दादा साहिब के नाम पर सन् १८८८ ईस्वी मे की थी। तब से उक्त औषधालय चरित्रनायक की पैतृक परम्परा के उत्तराधिकार के रूप मे नियमित चल रहा है और आपने भी उसका विधिवत् सचालन किया। किन्तु युगानुरूप परिवर्तित परिस्थितियो के अनुसार आपके लिए यह आवश्यक हो गया कि इस औषधालय को अधिक विकसित कर जनोपयोगी बनाने का पूर्ण प्रयास किया जाय। अत: सन् १९४७ ईस्वी के आसपास जब आपने अपने प्राचीन भवन का जीर्णोद्धार तथा आवश्यक सवर्धन किया तो औषधालय के लिए भी एक स्वतन्त्र कक्ष का निर्माण करवा दिया। अन्य आवश्यक साज-सज्जा के साथ साथ सुरक्षित काच की आलमारियो तथा फर्नीचर की भी आधुनिकतम व्यवस्था की गई जिससे औषधियो की स्वच्छता तथा कर्मचारियो एव आतुरो को आवश्यक सुविधा बनी रहे। अनेक शास्त्रीय प्रयोगो के साथ ही औषधालय के स्टॉक मे चरित्रनायक के चिरकाल से अनुभूत स्वायत्तसिद्धौषधियो का भी पर्याप्त सग्रह प्रतिक्षण रहने की व्यवस्था की गई।

नवीन चिकित्सा विज्ञान की अनेक उपलब्धियो से चरित्रनायक को बडा सतोष है और प्रत्येक सहयोगी चिकित्सा विधियो का आप पर्याप्त ज्ञान भी रखते हैं, किन्तु आपकी एक मात्र दृढ भावना विशुद्ध आयुर्वेदीय चिकित्सा करने मे है। अत उक्त श्री जिनदत्त सूरि आयुर्वेदिक महौषधालय मे एक भी औषध आयुर्वेद पद्धति से अतिरिक्त नही मिलेगी और न स्वय चरित्रनायक भी अपने किसी आतुर को शल्य चिकित्सा के अतिरिक्त अन्य चिकित्सा के लिए परामर्श देंगे। अपनी मान्यतानुसार आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति के शल्य विभाग का तो कालक्रम से अनभ्यास के कारण ह्रास हुआ है, उसका जीर्णोद्धार किया जा सकता है और कार्य चिकित्सा के सम्बन्ध मे भगवान् श्री चरक की यह उक्ति सर्वथा सत्य है कि

है वह सब जगह है और जो आयुर्वेद मे नही है, वह कही नही है अत चिकित्सक के मननपूर्वक अपने ही शास्त्र का आलोडन कर आवश्यक रत्नोपलब्धि से रुग्ण को आयुर्वेद का श्रद्धालु बनना चाहिए। आज के जो आयुर्वेदीय चिकित्सक ऐलोपेथी से समस्त आतुरो को अपने पास आने पर भी उसी चिकित्सा पद्धति के विषाक्त प्रयोगो के चिकित्सा कराने की सलाह देते हैं, उन पर आपको बडा क्षोभ है। आपकी मान्यता मे ऐसे चिकित्सक न केवल आयुर्वेद की गौरव-गरिमा को ही कलुषित करते हैं, अपितु अपने अविकसित नवीन चिकित्सा विज्ञान मे आतुरो के जीवन से भी खिलवाड करते हैं। दोनो पद्धतियो के सैद्धा-न्तिक मतभेद को भी ध्यान मे रख कर निर्णय करें तो स्पष्ट आकाश-पाताल का अतर

प्रतीत होता है। एक एण्टीबयोटिक नाम से जीवनविरोधी द्रव्यो का प्रयोग करती है तो दूसरी आयुर्वेद नाम से जीवन की प्राप्ति कराने का सदेश देती है।

इसी प्रकार वैद्योचित वेषभूषा पर भी आपके अपने स्वतन्त्र विचार हैं। और श्री जिनदत्त सूरि आयुर्वेदिक महोषधालय मे आदर्श वैद्यकीय वेष मे अलकृत चिकित्सक कार्य करते हैं। वैद्य के वेष मे आधुनिकता का अधिक सम्पुट उसके विचारो मे भी परिवर्तन ला देता है। अत एक चिकित्सक को ज्ञान तो सर्वतोमुखी होना चाहिए किन्तु उसका आचार विचार एव वेष भूषा अपने निजी क्षेत्र के अनुसार ही होने पर अधिक सगति तथा सजीवता प्रतीत होती है। चरित्रनायक ने इन्ही समयोचित धारणाओ के आधार पर अपने पैतृक परम्परा से उत्तराधिकार मे प्राप्त श्री जिनदत्त सूरि आयूर्वेदिक महौषधालय का पूर्ण विकास कर स्थानीय जनता को आवश्यक लाभ उठाने का सुअवसर प्रदान किया।

एस. जे ए फार्मेस्युटिकल वर्क्स की स्थापना

चरित्रनायक को चिकित्सा सेवाओ का अधिक प्रचार प्रसार होने पर सिद्धौषधियो की भी आवश्यकता उत्तरोत्तर अधिक होने लगी और अन्य चिकित्सक तथा रुग्ण जनता मे भी चरित्रनायक के सिद्ध स्वायत्त प्रयोगो की माग बढने लगी तो उनकी पूर्ति के लिए स्वतन्त्र रूप से 'एस जे ए फार्मेस्युटिकल वर्क्स' की स्थापना कर इसे गवर्नमेट ऑफ इडिया से रजिस्टर करवाया। इस 'फार्मेस्युटिकल वर्क्स' को चरित्रनायक ने केवल पुराणपन्थ के औषधनिर्माण कारखाने के रूप मे ही न रख कर आधुनिकतम सभी एपरेटस एव मशीनरी से पूर्णतया व्यवस्थित किया। फार्मेसी विभाग मे आवश्यक सभी नवीन मशीने यथा डिसइ-न्टीग्रेटर, पल्वराइजर, ऑइल प्रेसर, ऑटोमेटिक खरल, इमामदस्ते, और बोतल फिलर्स तथा टेबलेट मेकिंग मशीन आदि आदि सभी एक से एक बढ़ कर उत्तम डिजाइन और मेक की लगाई गई हैं। विशुद्ध आयुर्वेदीय चिकित्सा का दम्भ रखने वाले ऐसे वयोवृद्ध चिकित्सक का इस प्रकार नवीन मशीन उपकरणो आदि का प्रयोग देख पाठको के हृदय मे भ्रम होना स्वाभाविक ही है कि कथनी और करनी मे यह कैसा अन्तर ? किन्तु इसका स्पष्टीकरण यही कर देना उपयुक्त है कि जिस प्रकार मशीनो का उपयोग चरित्रनायक ने अपने वर्क्स मे किया है, वह सदेह करने वाले व्यक्ति देख कर सतोष कर सकते हैं। कूटने के लिए दो मन करीब का इमामदस्ता चरित्रनायक के मस्तिष्क की उपज है, जो डिसइण्टीग्रेटर और पल्वराइजर की यान्त्रिक उष्मा से द्रव्य को नष्ट होने से बचाता है। पहले इमामदस्ते मे चूर्ण करके ही पल्वराइजर या डिसइण्टीग्रेटर मे डाला जाता है तो एक दो रिवोल्यूशन मे ही द्रव्य छन कर नीचे चैबर मे आ जाता है और गरम नही होता। खरलें भी लोहे के स्थान पर अपने बुद्धि कौशल से चरित्रनायक ने पत्थर की ही प्रयुक्त की है जिससे कोई धातुजन्य दोष होने की सम्भावना नही है। टैबलेट मशीन की डाइया चरित्रनायक ने अपने

ही निर्देशन मे बनवाई हैं तो अधिक विजातीय द्रव्य के मिश्रण की आवश्यकता नही रहती और इस प्रकार मशीनो का उपयोग करने पर भी औषधनिर्माण की विशुद्धता मे कोई अन्तर नही आने देने का प्रयत्न चरित्रनायक की अपनी एक निजी सूझबूझ है। अधिक विशद विवरण जानने लिए जिज्ञासुओ को एक बार इस प्रतिष्ठान को अवश्य देखना चाहिए। राजस्थान का तो कोई प्रश्न ही नही उठता, समस्त देश मे यह छोटा सा फार्मेस्यु-टिकल वर्क्स अपनी शानी का पहला है जहा एक स्वतन्त्र चिकित्सक ने बिना किसी औषध व्यवसाय के अपने चिकित्सा व्यवसाय मे ही प्रयुक्त होने वाली औषधियो को आधुनिकतम रूप देने के लिए इतना आर्थिक विनियोग दिया है।

फार्मेसी विभाग की पूर्ति मे प्रिंटिंग प्रेस भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। चरित्र-नायक ने जोधपुर नगर का सर्वप्रथम अपटुडेट इलेक्ट्रिक उदय आर्ट प्रिंटिंग प्रेस भी फार्मेसी विभाग के आवश्यक लेबल, कार्डबोर्ड, लिटरेचर आदि प्रकाशित करने के लिए अधिकाश समय के लिए दे दिया है। प्रेस की सुविधा के कारण एस जे ए फार्मेस्युटिकल वर्क्स का कार्य और भी अधिक सुनियोजित तथा व्यवस्थित हो गया। और जो पैकिंग सामग्री मुद्रित कराकर दी जाती है, वह सब इसी प्रेस मे छपती है। जिन व्यक्तियो ने इस फार्मेस्युटिकल वर्क्स की औषधियें प्रयोग में ली हैं, वे स्वय अनुभव करते हैं कि गुणाधान की दृष्टि से औषधियो का स्तर अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है और पैकिंग तथा डिजाइन भी अत्यन्त आकर्षक तथा सामयिक है। सभी औषधनिर्माण एव पैकिंग आदि की व्यवस्था के लिए स्वतन्त्र प्रबन्ध होने पर भी चरित्रनायक भी समय मिलते ही अपने सत्परामर्श से मैनेजमेंट को जागरूक करते रहते हैं। आप सदा इस पक्ष में रहे हैं कि कोई औषधि न बने और चाहे अल्पमात्रा मे ही बने, उसमें जिस द्रव्य की जैसी आवश्यकता है, उसी रूप में सम्मिश्रण करके बनाई जाय, किसी प्रतिनिधि द्रव्य को भी उसके स्थान पर कम ही प्रयुक्त किया जाय। यही कारण है कि इतने बडे वर्क्स का केवल जोधपुर नगर मे ही एक बिक्री केन्द्र है और अन्य स्थानो पर एजेंसी आदि की कोई सुविधा नही दी जा सकती है। ऐसे आदर्श एस. जे ए फार्मेस्युटिकल वर्क्स की स्थापना एव सवर्धन का गौरव भी चरित्रनायक को ही प्राप्त है, जो यथार्थ में अनुकरणीय है।

आयुर्वेदीय औषध निर्माण मे अभिनव विकास

प्राचीन काल से आयुर्वेदीय औषध निर्माण की कुछ कल्पनायें चली आ रही हैं, जिनमे स्वरस, कल्क, क्वाथ, हिम, फाण्ट, चूर्ण, गुटिका, लेह, घृत, तैल, पाक, आसव, अरिष्ट, रस क्रिया, भस्म कूपीपक्व तथा खल्वी रसायन, वर्ति, अञ्जन आदि प्रमुख हैं। चरित्रनायक ने उक्त कल्पो के मूलाधार को तो विकृत नही किया किन्तु इनके स्वरूप मे इतना परिष्कार तथा परिमार्जन करने का प्रयत्न किया, जिससे आतुर को आकर्षक तथा

अधिक रुचिकर प्रतीत हो। क्वाथो को ऐसे सुन्दर पैंकिगो मे प्रस्तुत किया गया है कि आतुर पर एक भार नही आता है और मात्रा आदि के लिए आवश्यकतानुसार पैंकिटो मे छोटे प्लास्टिक चम्मच रख दिए गए, जिसमे नियमित उपयोग हो सके। आसवारिष्ट के लिए चरित्रनायक ने एक ऐसी विधि आविष्कृत की है, जो पोदीनासव या द्राक्षारिष्ट आदि को देखेंगे तो पारदर्शकता के साथ साथ उनमे उक्त प्रदान द्रव्यो के रग स्वाद तथा गध की भी उपस्थिति उपलब्धि होगी और निर्माण पद्धति एव प्रभाव मे कोई अन्तर दिखाई नही देगा।

पारदोय प्रयोगो मे चरित्रनायक को सर्वथा अविश्वास है और केवल वानस्पतिक तथा धातु और रत्नादि का प्रयोग अपनी चिकित्सा मे करते हैं। अत जिन औषधियो का प्रयोग आपके यहा होता है उसका सर्वोत्तम वर्ग ही आप ग्राह्य समझते है और शेष द्रव्य सर्वथा छोड देते हैं। इस आधार पर आपने जिन प्रयोगो को अपने चिरकालीन अनुभव मे बहुत उपयोगी अनुभव किया, उनका निर्माए अपनी निर्माणात्मक बुद्धि से आवश्यकतानुसार करवाते है। आपके यहा के चूर्ण, गुटिका आदि सभी कल्पनाओ में नवीन औषध व्यवसाय की तुलना मे कोई अन्तर प्रतीत नही होता। सभी गुटिकाओ पर एस जे. ए फार्मेस्युटिकल वर्क्स जोधपुर की मुद्रा तथा ट्रेडमार्क होगा। पैंकिग तथा औषध के मूल स्वरूप को देख कर यह आयुर्वेदीय औषध है या अर्वाचीन चिकित्सा विज्ञान की उपज है, मे भेद करना कठिन हो जाता है। आयुर्वेदीय औषध निर्माण मे यह अभिनव विकास चरित्रनायक की ही अपनी देन है जब कि उसके मूल स्वरूप को नष्ट न होने देकर पूर्ण आकर्षक तथा रुचिकर बना दिया है। यही कारण है कि चरित्रनायक की औषधियो का प्रयोग आबाल वृद्ध सभी सुकुमार प्रकृति के आतुर भी बिना सकोच कर लेते हैं और आयुर्वेद का गौरव स्वीकार करते हैं।

नव निर्माण की अभिरुचि

हमारे चरित्रनायक की सदा सभी क्षेत्रो मे एक नव-निर्माण की अभिरुचि रही है। प्रतिक्षण आपके मस्तिष्क मे एक न एक नवीन कृति का रेखाचित्र बना रहता है और समय पाते ही वह अपना मूर्त रूप ग्रहण कर लेता है। प्रारम्भ मे तो आपने अपनी इस अभिरुचि को फोटोग्राफी की कला मे पूर्ण किया और फिर आपने अपने जीवन के सभी क्षेत्रो को इससे पूर्ण किया। पूर्वजो के प्राचीन भवन को नव-निर्माण द्वारा नवीनता देने का जो चित्र आपने अपने मस्तिष्क मे बनाया उसे ही सब सुयोग्य इजीनियरो ने भी एक मत से स्वीकार कर लिया।

अन्य प्रेस फार्मेसी आदि मे भी आप किसी भी निर्माण को तब तक पूर्ण नही मानते जब तक उसमे कोई कलात्मक तथा नवीनता का सन्निवेश न हो। और सूक्ष्म कलात्मक

अभिव्यक्ति के लिए आप एक लबा समय भी किसी वस्तु को देने के लिए तैयार रहते हैं। अपने कार्य के अतिरिक्त किसी दूसरे कार्य मे भी आप ऐसी सलाह प्रदान करने को उद्यत रहते हैं, जिससे उसमे कोई नवीनता की झलक हो। आपके यहा की जो भी कृति है, उसमे नवनिर्माण का सन्निवेश अवश्य ही देखने को मिलेगा। औषध निर्माण मे तो आपने अपनी रुचि को पर्याप्त प्रश्रय दिया है। विभिन्न कल्पनाओ का प्रसादन और सुचारुता उत्तम पैकिङ्ग देखते ही बनता है। आसवारिष्टो के निर्माण मे नवीन सशोधन कर जिस स्वाद रग तथा पारदर्शकता का समन्वय कर नूतन प्रकार निकाला है. बहुत ही अनुकरणीय है। आपके यहा की वटी, चूर्ण, तैल और पाक आदि अन्य कल्पो मे भी पर्याप्त सुधार कर आपने उन्हें अभिनवरूपता प्रदान की है।

भोज्य व्यञ्जनो मे भी आपकी नवनिर्माण अभिरुचि का स्पष्ट प्रमाण मिलता रहता है। प्रात. साय जब आपसे परामर्श ग्रहण किया जाता है तो एक ही कृति को कई प्रकार से निर्मित करने का सुझाव आप प्रदान करते हैं। विशिष्ट प्रीति-भोजो मे भी आपकी यह अभिरुचि रहती है कि अतिथियो को प्रत्येक सामग्री मे कुछ न कुछ नवीनता प्रतीत होनी चाहिए और आप इसमे पूर्णतया सफल भी होते है। प्रत्येक नवागतुक व्यक्ति आपकी इन नवीन कृतियो को सहसा समझने मे सफल नही होता और कई बार तो स्वय चरित्रनायक से ही उसके सबध मे सम्यक्तया जानकारी प्राप्त कर जिज्ञासा शान्ति करनी पडती है। इस प्रकार चरित्रनायक को अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे नवीनता लाने की पर्याप्त रुचि रही है और इसको पूर्ण करने के लिए आपने किसी न किसी रूप मे सर्वत्र अपनी नवनिर्माण अभिरुचि का मुद्राकन कर दिया है।

श्री जिनदत्तसूरि आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना

मारवाड क्षेत्र मे आधुनिक नवीन पद्धति से आयुर्वेदीय शिक्षा दीक्षा की व्यवस्था के लिए चरित्रनायक ने अपने यहाँ एक महाविद्यालय भी चलाया। इस विद्यालय मे अनेक छात्रो ने कुछ समय आयुर्वेद का शिक्षा ग्रहण किया और वे कालान्तर मे अपने कार्य क्षेत्र मे सफल आयुर्वेद व्यवसायी सिद्ध हुए हैं। चरित्रनायक की अध्यापन शैली यद्यपि गुरुशिष्य परम्परा के रूप मे रही है तथापि, निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ की सभी परीक्षाए दिलाने के लिए उक्त महाविद्यालय मे अपने अनेक आधुनिक विधि से पढाने वाले सुयोग्य अध्यापको को भी अध्यापन कार्य के लिए रख कर इस युग के अनुरूप आयुर्वेदीय शिक्षा दिलाने व उन्हें डिगरिया डिप्लोमा दिलवाने का आपने उक्त महाविद्यालय मे प्रबध किया। अनेक छात्र आयुर्वेद विशारद, आयुर्वेदाचार्य आदि परीक्षाओ मे सम्मिलित हो सफल हुए हैं। और प्रत्यक्ष कर्माभ्यास के लिए आपके आतुरालय एव रसायनशाला आदि मे पूर्ण सुव्यवस्था की गई है। सुयोग्य विद्यार्थियो को चिरकाल तक अपने यहा नि शुल्क भोजन

निवासादि की सुविधा भी प्रदान कर उन्हें अध्ययन मे प्रवृत्त करते रहे हैं। आपका विशाल पुस्तकालय सदा विद्यालय के छात्र तथा प्राध्यापकगण के लिए प्रस्तुत रहता है। यदि किसी अन्य नवीन प्रकाशित ग्रन्थ को आवश्यकता होती है तो आप तत्काल मगवा कर पूर्ति कर देते रहे है। आपकी इन सेवाओ से प्रभावित होकर ही निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्या-पीठ की परीक्षाओ का केन्द्र चिरकाल तक आपके इस विद्यालय मे रहता रहा। जहा नियमित विधि विधान से परीक्षा कार्य स्वस्थ वातावरण मे सपन्न होता रहा है। इस वृद्धावस्था मे भी परीक्षा कार्य की पवित्रता के लिए हमारे चरित्रनायक स्वय अपने भोजन विश्रामादि की उपेक्षा करके भी सम्यक्तया केन्द्राध्यक्ष पद का उत्तरदायित्व निभाते हैं। आपके केन्द्राध्यक्षत्व की पवित्रता का स्पष्ट प्रमाण इसी मे है कि आप स्वय के शिष्य कई बार इस केन्द्र से विफल रहे हैं। चरित्रनायक शिक्षा का महत्व इसी मे स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति आपका तथा समाज का अधिकाधिक कल्याण कर सके। यदि शिक्षा मे भी स्वार्थ-परायणता है तो वह शिक्षा नही व्यवसाय है और पतन का कारण है। अत सेवाभावी चिकित्सको के निर्माण के लिए श्री जिनदत्तसूरि आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना चरित्र-नायक ने की।

सम्प्रदाय पीठ के उत्तराधिकारी

जैन यति सम्प्रदाय की परम्पराओ के अनुसार किसी भी पीठाध्यक्ष को गृहस्थ नही होना पड़ता है। अतः चरित्रनायक भी इससे पृथक् ही रहे, किन्तु अपने पीठ के उत्तरा-धिकार के लिए स्वर्गीय श्री गुरासाहिब की विद्यमानता मे ही आपने एक होनहार सुयोग्य उत्तराधिकारी का चयन उनकी शैशवावस्था मे ही कर लिया। जैन पीठाधीश होने से यथासभव यह दृष्टिकोण रहा कि इसे कोई कुलीन जैन ही सभाले तो अधिक सगत होगा। अत आपके प्राचीन पीठ के पार्श्ववर्ती क्षेत्र मारवाड जकशन के निकटस्थ बीठोडा ग्राम के निवासी जैनकुलभूषण श्री साह लक्ष्मीचन्द्रजी के पुत्र श्री दौलतराज को आपने अपने उत्तरा-धिकारी के रूप मे ग्रहण कर लिया। श्री दौलतराज अपनी बाल्यावस्था ही मे अपने श्रद्धेय गुरु एव दादागुरु महोदय को प्रभावित एव सतुष्ट करने लगे तो "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। गृहीत् को अपने सुयोग्य शिष्य की निर्मल् वृत्तियो तथा प्रतिभा पर बहुत ही सतोष तथा प्रसन्नता थी किन्तु प्रकृति की अव्यक्त व्य-वस्था में कुछ अन्य ही होने की कल्पना चल रही थी।

चरित्रनायक के ही खरतर गच्छ की ग्यारह शाखाओ मे से 'भाव-हर्ष' नामक शाखा के पीठाधीश चरित्रनायक के दीक्षागुरु यतिप्रवर श्री जवाहरमल जी महाराज, ज्योतिष्याचार्य जो कि गुरुप्रवर श्री उम्मेददत्त जी महाराज के सहपाठी थे, गुरुप्रवर की विद्यमानता मे ही स्वर्गलोग पधार गये। उनके शिष्य यतिप्रवर श्री चिमनजी भी जवाहरमलजी महाराज के

सुधा से अनाप्लावित नही रहता। जब कभी देखिये, जाकर मिलिये किसी न किसी साहित्य चर्चा पर ही आप द्वारा आस्वाद किया जा रहा होगा। यदि कोई साहित्यकार आपके यहा पधार गये तो उन्हें सर्वोच्च सम्मान एव सेवा प्रदान की जायगी और उनके सद्‌गुणों से सब को लाभ हो ऐसा प्रयत्न किया जायगा। आपने अपने यहा अनेक साहित्यकारो को समुचित सम्मान प्रदान कर अनेक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण अप्रकाशित ग्रन्थो के प्रकाशन में योगदान दिया है। "राजविद्या" आपके उदयआर्ट प्रिंटिंग प्रेस मे मुद्रित ऐसा ही प्रकाशन है जो प्राचीन राजनीति एव राजा, राजपुरुष, शासन परिषद् और शासन प्रणाली पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। उक्त ग्रन्थ अपने क्षेत्र में सर्वोच्च प्रामाणिक ग्रन्थ है और नानाविध छन्दो में गुम्फित किया गया है। कई अध्यायो में विभक्त कर जिन राजनियमो का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है, वह चरित्रनायक की प्राचीन राजनिति की तथा साहित्याभिरुचि का परिचायक है।

जोधपुर के ही कलिया कवि श्री नारायणसिंह जी आपके अनन्य श्रद्धालुओ मे रहे हैं और डिंगल भाषा के अच्छे कवि होने से उनकी राज भक्ति तथा, शौर्य, प्रार्थना, पराक्रमादि स्थायी भावो की रचनाएँ प्रायः बहुत ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। इन्होने प्राचीन जोधपुर राज्य मे बड़े गुरां-साहिब श्री उम्मेददत्तजी महाराज व महाराज जसवतसिंह जी के एव चरित्रनायक व महाराज श्री उम्मेदसिंहजी के घनिष्ट सम्बन्धो का विवरण अपनी रचना "उम्मेदोदययशाङ्क" मे किया है। आपको चरित्रनायक ने आदर सहित अपने यहां रखा व उनकी रचनाओ के प्रकाशन व सशोधन मे अपूर्व योगदान किया।

इसी प्रकार स्वय चरित्रनायक के छोटे मोटे अनेक प्रकाशन हैं जिससे आपकी साहित्य सेवा तथा प्रकाशन आदि प्रवृत्ति पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आपके यहा के अप्रकाशित ग्रन्थो को आप भविष्य में भी प्रकाशित करवाने के विचार मे हैं। केन्द्रीय आयुर्वेदिक रिसर्च कौंसिल को भी आपने अपने यहा के ग्रन्थ प्रकाशनार्थ भेजे हैं। इस सबसे आपकी साहित्यिक गतिविधियो की स्पष्टता है।

आयुर्वेद क्षेत्र का शिष्य मडल

चरित्रनायक से विधिवत् आयुर्वेदीय आर्ष ग्रथो एव आयुर्वेद के सैद्धान्तिक मत से सप्रायोगिक प्रत्यक्ष कर्माभ्यासादि शिक्षा ग्रहण कर चिकित्सा व्यवसाय मे प्रवृत्त होने वाले शिष्यो मे चरित्रनायक के दीक्षा शिष्य सर्व श्री मुनि देवेंद्रचद्रजी व कान्तिचन्द्रजी के अतिरिक्त श्री प्रेम सुन्दरजी, वैद्य श्री बाबूलालजी जोशी, श्री देवीलालजी रगा, श्री मदनलालजी रगा, श्री द्रोणाचार्यजी, श्री दाऊलालजी जोशी, श्री मुरलीधरजी वैष्णव, कविराज श्री विष्णुदत्तजी, श्री शिवनारायणजी व्यास घनापा, श्री मूलराजजी, श्री मनोरमा आचार्य, श्री शांतिदेवी जोशी, श्री अम्बादत्तजी व्यास, मुलजी, श्री किशनलालजी रगा, श्री गणेशो-

लालजी रगा, श्रीरामलालजी जोशी, श्री पूनमचदजी जैन, श्री अशोककुमारजी जैन बाडमेर, श्री हीराचदजी पोरवाल, श्री रतनदेवी जैन, श्री सुमनदेवी जैन, श्री शकुन्तला आचार्य, श्री हरिशकर आचार्य, श्री नारायणदासजी भाटीया, श्रोम्प्रकाश जैन, वन्दना जोशी आदि आज भी राजस्थान के वैद्य समाज मे अपना प्रतिष्ठित स्थान सुरक्षित रखते हैं। कतिपय शिष्य यथा श्री बाबूलालजी जोशी आदि तो अखिल भारतीय स्तर के प्रतिष्ठित वैद्य एव कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं। इस प्रकार आपके प्राय सभी शिष्य आयुर्वेद जगत के उदीयमान नक्षेत्र हैं और आयुर्वेद समाज की सेवा भी करते रहते हैं। वैद्यो के अधिकारो की रक्षा हेतु वह सदा चरित्रनायक के सान्निध्य मे अपना सर्वस्व भी न्योछावर कर देने मे नही हिचकते। अहर्निश किसी न किसी प्रकार आयुर्वेद की वे सेवा करते ही रहते हैं। ऐसे गुरु वास्तव मे धन्य हैं।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि चरित्रनायक अलौकिक प्राज्ञावान्, श्रीमान्, प्रत्युत्पन्न-मति, पीयूषपाणी चिकित्सक, आयुर्वेदीय शिक्षा कार्य, कुशल सिद्धौषध निर्माता, इस युगानु-रूप यान्त्रिक, सगीत के धुरधर विद्वान, साहित्यप्रेमी, उदार हृदय, एव अनेकानेक विषयो के कोविद हैं। ऐसा अनूठा योग बिरले ही व्यक्तियो मे पाया जाता है। प्राणी मात्र के लिए हितकर होने के कारण आपका जीवन धन्य है। हम आपकी व शिष्य प्रशिष्यो की शतायु कामना करते हुए ईश्वर से आपको जीवनपर्यन्त स्वस्थ रखने की प्रार्थना करते हैं।

श्रीमतामायुर्वेद मार्तण्ड-प्राणाचार्य-वैद्यावतस-महोपाध्याय-भट्टारक-राजमान्य-राज वैद्य-पडित उदयचन्द्राभिध चाणोद-गुरा महाभागाना हीरक-जयन्ती मखमहोत्सवावसरे पद्यमयी कुसुमाजलि सादर समर्प्यते।

(१)

भव्येषु प्रभवन्ति पक्षरचना. सिद्ध्यन्ति साध्ये त्वयि,
साक्षात् श्री जगदीश्वरोऽपि जगत. कल्याण कामाय य.।
यज्जन्माक्षयपूर्विकातिथि दिने (अक्षय तृतीयाम्) कृत्वा हि सन्तुष्यति,
सश्चाणोद गुराभिधो विजयता मारोग्यवान् भारते ॥१॥

(२)

यो बाल्यात्स्वकुलोचितैर्गुणगणैरालोकितश्चन्द्रवत्,
लोके नित्यनवैश्चिकित्सकगुणैरारोग्यलाभ दिशन्।
य प्लेगादिमहामयप्रशमने लब्ध प्रतिष्ठो यति,
नाडीज्ञान रहस्यवित् सुभिषजा मूर्धन्यभूतो जयेत् ॥२॥

(३)

आयुर्वेद विधानदक्षभिषजा नानारहस्यान्विता,
सिद्धा. भेषजकल्पना सुभिषजा वृत्तिश्चसस्थापिता।
प्रायश्चोद्भिदमोषधामृतमल रोगौघविध्वसने,
स श्रीमान्नुदयाभिधो विजयता सद्वैद्यचन्द्रो यति ॥३॥

यत्प्रभा पद्मलोकाि भासतेऽद्यापि भारती।
आयुर्वेदात्मकं ज्योतिः शाश्वतं नः प्रकाशताम् ॥

चरित्र नायक के श्रद्धावान् सुहृद्वर

युगप्रवर्तक-आयुर्वेद-मार्त्तण्ड-प्राणाचार्य वैद्यरत्न भिषगाचार्य स्वर्गता :
श्री लक्ष्मीराम स्वामि महाभागा : जयपुर.

राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन (सीकर) की अध्यक्षता
करते हुए चरित्रनायक

चरित्रनायक के अनुजवत्
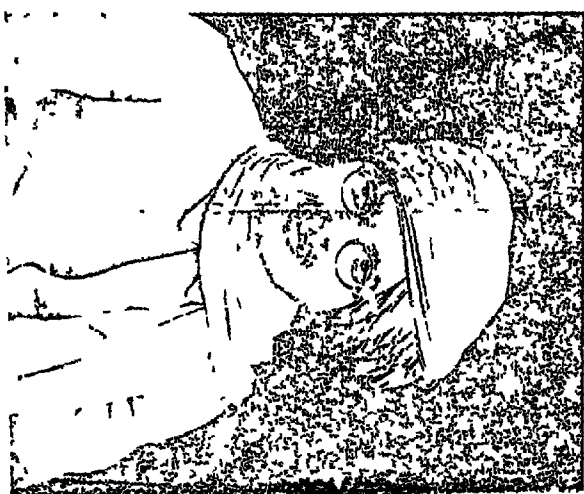
स्व० वैद्यराज पण्डित चन्द्रशेखरजी शास्त्री
कविरत्न, आयुर्वेदाचार्य, बीकानेर.

(४)

सूरिर्नित्यनवैश्चिकित्सकगुणं सवर्धमानो भुवि,
राज्येनापिसुसत्कृत सुशिविकासम्मानदानेन यः ।
हेमालकरणैरलकृतपदो यो राजवैद्यो मत
सश्चाणोदगुराभिधो विजयतां धन्वन्तरि ख्यातिमान् ॥४॥

(५)

नानारोग निवारणेन जनता सम्मोदितानेकधाः
सम्मान ह्यभिनन्दनैश्च नितरामाकल्पयत् हार्दिकम् ।
आयुर्वेदचिकित्सकोऽमृतकर सूरिर्हिभट्टार क.
सश्चाणोदगुराभिधो यतिवरो जीव्यात्समाः शाश्वतम् ॥५॥

(६)

राजस्थान प्रदेश वैद्यपरिषन्मूर्धन्यभूतो यति',
आयुर्वेदमहत्त्ववर्धनविधौ वैद्यैः सुसम्मानितः ।
आयुर्वेद रविर्मत सुभिषजा सम्मेलने भारते,
सश्चाणोद गुराभिधो विजयतां नित्य यशस्वीभवान् ॥६॥

(७)

प्रेम्णात्वच्चरणारविन्दयुगले सेयहि षट्पुष्पिकाः
मालापद्यमयी सदा विलसता ते हीरकाख्ये भवे ।
आयुर्वेदमहर्षिरद्यसकलैर्लोकैर्हि सस्तूयते,
सोजीव्यादुदयाभिधश्चरकवच्चन्द्रो समाः शाश्वतम् ॥७॥

वैद्य प्रेमशकर शर्मा भिषगाचार्येण राजस्थानायुर्वेदविभागस्य वर्तमान निदेशकेन भारतीयायुर्वेद पजीयनमण्डलायुर्वेद संकाय परिषदध्यक्षेण (प्रेसीडेन्ट कॉन्सिल ऑफ स्टेट बोर्ड एण्ड फेकल्टीज ऑफ इन्डियन मेडिसीन) आयुर्वेद वृहस्पति प्राणाचार्य आयुर्वेद महोपाध्यायादि विविधोपाधिधारिणा रचितानि ।

२५ नवम्बर, १९६७

तत्कालीन राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णनन् के साथ

चरित्रनायक

यहा सर्वश्री वर्तमान राजस्थान विधान सभा के उपाध्यक्ष
श्री पूनमचन्दजी विश्नोई, न्याय मूर्ति श्री कानसिंहजी आदि उपस्थित हैं ।

तत्कालीन राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णनन् के साथ

चरित्रनायक

तथा सर्वश्री वर्तमान राजस्थान विधान सभा के उपाध्यक्ष
श्री पूनमचन्दजी विश्नोई, न्याय मूर्ति श्री कानसिंहजी आदि उपस्थित है।

तत्कालीन मुख्यमन्त्री स्व० जयनारायणजी व्यास से आयुर्वेद की समस्याओं का परामर्श करते हुए।
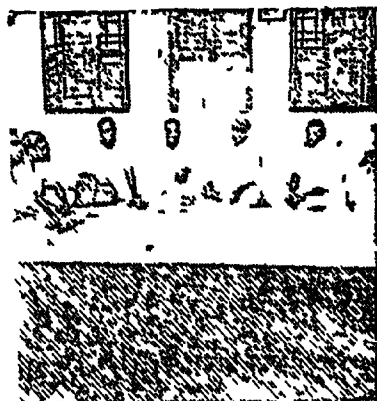
जोधपुर कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष एव राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पजीकृत) के तत्कालीन अध्यक्ष के साथ चरित्रनायक आयुर्वेदीय विचार गोष्ठी करते हुए।

तत्कालीन मुख्यमन्त्री स्व० जयनारायणजी व्यास से आयुर्वेद विषय पर चर्चा करते हुए।

राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री जयनारायण व्यास को औषधिनिर्माण शाला बताते हुए चरित्रनायक।

॥ श्री धन्वन्तरये नम ॥

श्री राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के दशमाधिवेशन

सीकर के सभापति

चिकित्सक सम्राट् आयुर्वेद मार्तण्ड प्र णाचार्य भट्टारक महोपाध्याय राजमान्य-राजवैद्य

पं० उदयचन्द्रजी महाराज (चाणोद गुरासा)

का

अभिभाषण

२-५-५०

रोगादिरोगान्सततानुषक्तानशेषकाय-प्रसृतानशेषान् ।
औत्सुक्यमोहारतिदाञ्जघान योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥
राष्ट्र समुन्नतमनामयमीहमाना सर्वे वय भिषज उद्यममद्य कुर्मः ।
धन्वन्तरे ! स भवत.कृपया फलीस्ता-दित्येव वाञ्छति सदोदयचन्द्र एष ॥

समादरणीय वैद्य बान्धव,

मान्य महिलाओ व सज्जनो !

आज के इस क्षण को पुनीत पर्व, शुभ सयोग व मगलमय मुहूर्त कहू तो अतिशयोक्ति नही होगी । क्योकि आज की इन विषम परिस्थितियो मे हम सब आयुर्वेद का भविष्य सोचने के लिए यहाँ एकत्रित हुए हैं । अतीत के विशाल गह्वर मे हमारे पूर्वज महर्षिगण इसके लिए कितनी बार सोच चुके हैं इसका बहुत बडा इतिहास है । उनके ही सतत अध्यवसाय के फलस्वरूप अधिगत आयुर्वेद सिद्धान्त निधियो के स्वरूप को यथातथ्य मे समझने व समझाने के लिए ही हम सब इस प्रान्त मे आज दशवी बार एकत्रित हो रहे हैं । आगे कुछ कहू इसके पूर्व यदि मैं मेरी निजो और आप सबकी ओर से उन महामहिम महर्षिराज कपिल, भेड, जतुकर्ण, हारीत, आत्रेय, भारद्वाज आदि को स्मृति स्वरूप श्रद्धाजलि समर्पित कर यह कामना करता हू कि उनकी अमर ज्योति हमारी आन्तरिक आत्मा मे वह अदम्य उत्साह व साहस व्यक्त करती रहे कि हम उन्ही के—

नत्वह कामये राज्य नारोग्य नापुनर्भवम् ।
कामये दु खतप्ताना प्राणिनामार्तिनाशनम् ।

इस परमोत्तम लक्ष्य को पूर्ण करने में सफल सिद्ध हो ।

जहाँ हम आज इस उक्त लक्ष्य-पूर्ति के लिए सम्मिलित हो रहे हैं, वह क्षेत्र भी अपने अतीत की एक महती विशिष्टता व्यक्त कर रहा है क्योकि जब-जब जहा-जहा हमारे पूर्वज महर्षिराज अपने विचारो के आदान-प्रदान के लिये एकत्रित हो उनका निष्कर्ष स्थिर करते थे, उसी के स्थल को हमारे पूर्वजो ने उनके कार्यकलापो के स्मारक स्वरूप एक पारिभाषिक "तीर्थ" शब्द से पुकारा है ऐसा कतिपय ऐतिहासिक प्रमाणो से व्यक्त होता है। अतः यह सीकर भी लोहार्गल क्षेत्र होने से जो राजस्थान मे एक महत्वपूर्ण तीर्थस्थल समझा जाता है, एव अपने प्रागण से विश्व को विमल सदेश दे चुका है यह स्वय सिद्ध है। उसी पुनीत प्रदेश पर हम सब आज सम्मिलित हो आयुर्वेद के लिये अवश्य ठोस निर्णय करेंगे ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

यहा के प्राचीन और वर्तमान शासक एव कुबेरबन्धु श्रेष्टिसमाज की भी आयुर्वेद के प्रति कितनी गाढ भक्ति है। इसके प्रबल प्रमाणो का समन्वय यहाँ की श्री माधव सेवा समिति जैसी सस्था है, जिसको कि हमारे स्वागत मत्री प० प्रह्लादरायजी प्राणाचार्य जैसे कर्मठ कार्यकर्ताओ का सहयोग प्राप्त है। इतना ही नही इसी प्रदेश ने अपने प्रागण मे देश-बन्धु राजस्थान-केशरी सेठ जमनालालजी बजाज जैसे सपूतो को खिलाया है जिन्होने कि राजस्थान को ही नही समस्त भारत को गौरव प्रदान किया है। अत मेरा यह विश्वास है कि आयुर्वेदोन्नति के निर्णयो के लिये भी यह स्थान अवश्य ही सफल सिद्ध होगा !

किन्तु जहा तक आज के हमारे इस सम्मेलन के सभापतित्व का प्रश्न है उसका प्रान्त के अनेक प्रमुख आयुर्वेद महारथियो के रहते मुझ जैसे साधारण व्यक्ति से पूर्ण कराया जाना मुझे सकोच अनुभव कराता जा रहा है। यह सकोच इसलिये नही कि इसके साथ मुझ पर कुछ उत्तरदायित्व आ रहा है अपितु सकुचित होने के लिये यह सन्देह बाध्य कर रहा है कि इस वृद्धावस्था मे मैं आप महानुभावो की सेवा सम्यक् प्रकार से कर सकूगा या नही ? किन्तु फिर भी मैं आप महानुभावो की सद्भावना और कर्त्तव्यनिष्ठा मे पूर्ण विश्वास रखते हुए इस गुरुतर भार वहन के लिये अपने आपको आपकी सेवाओ के लिये समर्पित करता हू और आशा करता हूँ कि आप लोगो का पुनीत सहयोग ही इस कार्य मे अवश्यम्भावी सफलता प्राप्त करायेगा।

आयुर्वेद का महत्व—

यहा मुझे आज आयुर्वेद के सिद्धान्तो की चर्चा द्वारा आयुर्वेद की वैज्ञानिकता सिद्ध करने मे आपका अमूल्य समय वृथा नष्ट नही करना है। क्योकि इसके लिये तो इस मच से ही नही अपितु विभिन्न प्रान्तीय वैद्य सम्मेलनो और अखिल भारतीय महासम्मेलन के मच से भी कई बार यह सिद्ध किया जा चुका है कि आयुर्वेद एक सर्वसम्मत वैज्ञानिक शास्त्र है, और इसीलिये केन्द्रीय सरकार व प्रातीय सरकारो द्वारा नियुक्त की गई अन्यान्य कमेटियों

ने भी इसको सरकार की ओर से समुचित सहयोग प्रदान करने की दबे दिल से शिफारिशें की हैं। किन्तु फिर भी हमारे कुछ सहयोगी मित्र जो पाश्चात्य-पद्धति (ऐलोपैथी) के आधार पर ही अपना जीवित रहना समझते हैं और आयुर्वेद को सरकार द्वारा अपना लेने पर अपने राजसी-ठाट-बाट एव अपनी उच्च पदो की हकूमतो का अन्त समझते हैं, वे आज भी आयुर्वेद पर कीचड उछालने से नही चूकते और सरकार को जो कि स्वय ऐसे विषयो का निर्णय करने मे असमर्थ है एव मनमाने तरीके पर समझा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। उन मित्रो के भारतवासी होने के नाते भारत की वफादारी के विषय मे तो मुझे यहा कुछ नही कहना है किन्तु आयुर्वेद के विषय मे जो भ्रम वे फैला रहे हैं उसके निराकरण के लिये मैं उन्ही के गौराग गुरुदेवो के आयुर्वेद सम्बन्धी कुछ मन्तव्य यहा पर उपस्थित कर रहा हू जो कि समय-समय पर उन्होने आयुर्वेद की प्रशसा मे प्रकट किये हैं।

आज के युग मे अमेरिका को सर्व समृद्ध राष्ट्र स्वीकार करने मे कोई भी सजग प्राणी नही जो सिर हिला सकता हो, जिसने कि अणुबम जैसी वैज्ञानिक शक्ति को अपनी क्रोड मे रख कर विश्व को विस्मय मे डाल दिया है ? वही के प्रसिद्ध चिकित्सा-विशारद डाक्टर क्लार्क आयुर्वेद की महत्ता निम्न शब्दो मे व्यक्त करते हैं :

If the physicians of present day would drop from pharmocopea all the modern drugs and chemicals and treat their patients according to Charck there would be less work for undertakers and fewer chronic invalids in the world.

Dr. Clarke
M A, M D.

अर्थात् आधुनिक चिकित्सक यदि अपनी वर्तमान चिकित्सा को छोड कर चरक के सिद्धान्तानुकूल चिकित्सा प्रारम्भ कर दें तो चिकित्सकों के सामने चिकित्सा कार्य का भार ससार मे बिल्कुल कम हो जायगा। और ससार मे जीर्ण रोग भी बहुत कम मिलेंगे।

Lt. Col Dr C P. Lukis लिखते हैं कि :—

We have many things to learn from the people of this country in respect of medicine science

अर्थात् औषध विज्ञान के विषय मे हमको इस देश से अभी बहुत कुछ सीखना है।

आयुर्वेद के शरीर विज्ञान के लिए डाक्टर हर्नल महोदय अपने निम्न शब्दों मे विस्मय व्यक्त करते हैं।

Probably it will come as a surprise to many as it did myself to discover the amount of anatomical knowledge which is disclosed in the work of the earliest medical writers of India Its extent and accuracy are surprising

अर्थात् भारत के वैद्यक विज्ञान सम्बन्धी ग्रथ निर्माताओ ने अपने ग्रथो मे जो शारीरिक विज्ञान का वर्णन किया है उसे देख कर बहुत विद्वानो को विस्मय होगा जैसा कि मुझे स्वय को भी हुआ है, क्योकि भारतीयो का शारीरिक विज्ञान सम्बन्धी विवेचन इतना विस्तृत व सत्य है एव वास्तव मे विस्मयोत्पादक है ।

आयुर्वेद के प्रसव विज्ञान व शल्य चिकित्सा विज्ञान के विषय मे कलकत्ता के मेडिकल कॉलेज के प्रिंसीपल डाक्टर चार्ल्स ने जो कुछ लिखा है उसका उद्धरण प्रसिद्ध विद्वान वैद्य प० उमेशचन्द्रजी ने इस प्रकार दिया है ।

Dr. Charles highly praised the process on delivery of difficult cases and even confessed that with all his great experience in midwifery and surgery, he never had any idea of the like being found in all the medical works that came under his observation.

Vaidyak Shabd Sindhu
Preface Page 36

अर्थात् डाक्टर चार्ल्स ने यह स्वीकार किया है कि कष्टसाध्य प्रसव के लिए जैसा शल्य कर्म उसने आयुर्वेद के ग्रन्थो मे पाया है उनके लिए वह कभी सोच भी नही सका था।

उपर्युक्त प्रकरणो मे ही बर्लिन के प्रसिद्ध डाक्टर हर्षबर्ग ने लिखा है कि—

The Indian kenw and Practised in indegenious operation wich always remained unknown to the Greeks and wich even the Europeans only learnt from them with Surprise in the beginning of this century

भारतीय विद्वान् अपने शल्यकर्म को जानते थे और काम मे लाते थे, जो ग्रीस बासियो के लिये अज्ञात ही था । यहा तक कि आज की इस शताब्दी के प्रारम्भ मे भी यूरोपियन लोग उन्ही भारतीयो से वह शल्य कर्म बड़े विस्मय के साथ सीखते हैं ।

उपर्युक्त उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेद एक असदिग्ध सर्वसम्मत विज्ञान है और यह आयुर्वेद विज्ञान भारत ही क्या विश्व का चिकित्सा शास्त्र हो सकता है । मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि अब वह दिन दूर नही कि जब सरकार स्वय इन भुलावो की उलझन से निकलेगी और आयुर्वेद को ही राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति घोषित करेगी ।

सरकार और आयुर्वेद—

आज स्वतन्त्र भारत अधूरे तीन वर्ष की अवस्था वाले निर्बोध शिशु की तरह है । जिस प्रकार इस अवस्था के बालक के लिये विवेकशून्यता स्वाभाविक है उसी प्रकार यदि हम हमारे भारत और भारतीय सरकार के लिये सोचें तो अप्रासगिक नही होगा । किन्तु ऐसी

दशा मे निर्बोध शिशु के माता पिता और परिवार वालो का जितना उत्तरदायित्व उसके लालन, पालन और कुमार्ग से बचाकर सुमार्ग मे प्रवृत्त करने का होता है उस से कम उत्तरदायित्व आज भारतवासियो का भी भारत की स्वतन्त्रता सरक्षण प्रवृत्ति मे हो यह बात नही ?

२६ जनवरी १९५० के बाद तो यह उत्तरदायित्व और भी महत्वपूर्ण हो गया है। ऐसी अवस्था मे यदि भारतीय वैद्य समाज भी सरकार को अपना उचित सहयोग प्रदान करते हुये भारतीय जनता को पूर्ण स्वस्थ रखने का मार्ग प्रदर्शन करे तो असगत नही है। क्योकि वैद्य समाज ने तो भारत की परतन्त्र दशा मे भी देश के सात लाख गावो की व अमीर गरीब सभी जनता की निष्काम भावना से सेवा की है। वैद्यो की सेवा व त्याग का ही तो यह फल है कि आज देश की निजी चिकित्सा पद्धति अपने क्रोड मे दिव्य अलौकिक प्रभाव लिये हुये स्वतन्त्र भारत का पुनः स्वागत कर रही है। अत· सरकार को भी चाहिए कि वह वास्तविकता समझते हुए अपने व्यामोह व पक्षपात को छोड़कर आयुर्वेदानुयायी वैद्य हकीमो की सहयोग की बात सुनें एव स्वास्थ्य और चिकित्सा प्रसार के लिये विवेकपूर्ण उचित कदम बढावें क्योकि इस जनतन्त्र युग मे सरकार पर भी पूर्ण उत्तरदायित्व है। उसे जनता के धन, बल, कौशल का सदुपयोग करना है जोकि आगे जाकर उसे प्रशसास्पद बनायेगा।

किन्तु यदि गहराई मे पहुच कर ढूढ निकालें तो परिस्थिति बिलकुल विपरीत है। दूसरे शब्दो मे यदि यो कहें कि सरकार देश के स्वास्थ्य विभाग की ओर से आख मीचे हुये है तो अतिशयोक्ति नही होगी। यद्यपि राजस्थान प्रान्त के एकीकरण के पूर्व विभिन्न इकाइयो मे पहिले से ही यत्किंचित् साहाय्य आयुर्वेद के नाम पर प्राप्त होता रहा था और प्रान्त के एकीकरण के बाद भी प्रान्तीय सरकार ने आयुर्वेद के लिये एक प्रारम्भिक उचित कदम बढा कर आयुर्वेद विभाग का स्वतन्त्र सगठन कर दिया है एव उसके उच्च पदाधिकारी की नियुक्ति भी की है। यह हमारे मुख्य सचिव श्री शास्त्रीजी व स्वास्थ्य सचिव श्री रावराजा साहिब का आयुर्वेद के प्रति स्नेह का द्योतक है।

किन्तु यह सब कब तक और कैसे अग्रसर होता रहेगा। क्योकि हमारी प्रान्तीय सरकारो की नीति तो केन्द्रीय सरकार के आश्रित रहती है। केन्द्रीय सरकार की प्रतिच्छाया से प्रान्तीय सरकारें कभी ओझल नही हो सकती। अतः केन्द्र मे जो नीति स्वास्थ्य और चिकित्सा विभाग के लिए व्यवहृत की जा रही है उसके लिए मुझे आपसे यहाँ कुछ निवेदन करना है।

१५ अगस्त १९४७ का दिन भारत के इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे लिखा जाने योग्य हुवा, जब कि यह भारत गत हजार वर्षो की परतन्त्रता के सीकचो मे से निकल कर अपनी स्वतन्त्र दशा पर गर्जना करने लगा। उस समय यह स्वाभाविक ही था कि भारत की नवीन सरकार

भारत को सर्वतोमुखी दृष्टि से सपन्न करने का सोचती। और इसके साथ ही विचार-विनिमय करती स्वास्थ्य और चिकित्सा विभाग के सुगठन के लिए भी। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा स्वास्थ्य व चिकित्सा विभाग के सुगठन के लिए भी। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा स्वास्थ्य व चिकित्सा विभाग के लिए कोई समुचित कदम नही बढाया गया। ऐसी अवस्था मे जैसा कि मैं पहले कह चुका हू, स्वतन्त्र भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह सरकार को देश के हित के लिए समझावे। भारतीय वैद्य समाज ने भी सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। इसके उत्तर मे सरकार ने बताया कि देशी चिकित्सा पद्धति समिति की रिपोर्ट आने पर सरकार उस पर पूर्ण विचार करेगी। यह समिति कर्नल डाक्टर रामनाथ चोपडा की अध्यक्षता मे दिनाक १९ दिसम्बर १९४६ का तत्कालीन सरकार द्वारा देशी चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहित करने के लिए बनाई गई थी।

यद्यपि इस कमेटी का निर्माण देशी चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए किया गया था, किन्तु वह डाक्टर बधुओ के प्रभाव से मुक्त नही रह सकी। इसका उत्तरदायित्व भी हमारी सरकार पर ही था, क्योकि वह सत्य के प्रतिद्वन्दियो से सत्य कहलाना चाहती थी। इसीलिए सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करने के लिए निखिल भारतीय वैद्य महा सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पास कर सरकार की सेवा मे भेजा था जो अविकल रूप मे यहां दिया जाता है।

'अतरिम सरकार द्वारा नियुक्त भारतीय चिकित्सा पद्धति की समिति मे वैद्यो के उचित एव यथार्थ प्रतिनिधित्व के लिए जो पत्र व्यवहार महा सम्मेलन की ओर से सयुक्त मत्री ने किया है और सरकार द्वारा उसकी जैसी अवहेलना हुई है उस पर यह सम्मेलन अत्यत असतोष प्रकट करता है और सरकार को सचेत करना चाहता है कि इस स्थिति में इस समिति द्वारा जो कुछ निर्णय किए जायेंगे सम्मेलन उन्हें स्वीकार करने को बाध्य नही होगा।'

'यह सम्मेलन सरकार का पुनरपि इस ओर ध्यान आकर्षित करना उचित समझता है कि आयुर्वेद के विषय मे विचार करने के लिए अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन का सहयोग लेना परम आवश्यक है।'

देश के कोने कोने से भी उक्त प्रस्ताव के रूप मे सरकार का ध्यान आकर्षित किया गया। इस अवसर पर सरकार ने श्री आचार्य यादवजी महाराज बम्बई, वर्तमान सभापति अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन को कमेटी मे नियुक्त किया। परिणामतः वैद्य समाज को कुछ सन्तोष हुआ। इसके कुछ दिन बाद ही कमेटी ने भी साक्षी आदि लेकर अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष शीघ्र उपस्थित करदी। कमेटी ने अपने इतिवृत्त मे देशी चिकित्सा पद्धति

को प्रोत्साहित करने के लिए काफी सुन्दर सुझाव दिए, जिनको शीघ्र कार्यान्वित करने के लिए अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन ने अपने बडौदा वाले ३६ वें अधिवेशन मे सर्वसम्मत निर्णय किया। और इससे सरकार को सूचित भी कर दिया गया। किन्तु सरकार की ओर से इस तरफ अभी कोई समुचित कदम नही बढाया गया है। हाँ, तद्विपरीत वैद्य समाज और भारतीय जनता को अन्धकार मे रखने के लिए डाईरेक्टर जनरल ऑफ हेल्थ सर्विसेज गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया के परामर्श से भारत की वर्तमान स्वास्थ्य मन्त्रिणी श्रीमती राजकुमारी अमृत कुवर ने देशी चिकित्सा पद्धति के पक्ष मे चोपडा कमेटी के विचारो पर पुनः नवीन तौर पर विचार करने के लिए एक अन्य कमेटी फिर नियुक्त करदी है।

हाल ही मे अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन का जो ३७ वा अधिवेशन देहली मे हुआ उस समय भी भारतीय वैद्य समाज का एक शिष्ट मडल स्मृतिपत्र (Memoradum) पेश करते हुए भारत की स्वास्थ्य मन्त्रिणी श्रीमती राजकुमारी अमृत कुवर से मिला तो उसके उत्तर मे स्वास्थ्य मत्रिणी ने उक्त कमेटी के निर्णय प्राप्त होने तक के लिए प्रतीक्षा करने का कह कर पुन टाल दिया। और यदि कमेटी के निर्णय विषयो पर मनन करें तो अवगत होगा कि मानो इस बार तो सरकार ने देशी चिकित्सा पद्धति पर अन्तिम प्रहार कर दिया है। अत यदि अब हम इसे आशा के प्रतिकूल कदम बढाना न कहें तो कहें क्या? जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ सरकार की ओर से तो परिस्थिति बिलकुल विपरीत ही है। सरकार देशी चिकित्सा पद्धति के लिए न कुछ करती है और न कुछ करना चाहती ही है।

हमारी सरकार हमारी देशी चिकित्सा पद्धति के लिये इस प्रकार का कुठाराघात करती है यह जानकर प्रत्येक सहृदय मानव के हृदय मे तहलका मच जाता है। अन्ततोगत्वा सरकार देशी चिकित्सा पद्धति का इस प्रकार गला क्यो घोटती जा रही है? और विदेशी चिकित्सा पद्धति को भारतीय जनता पर क्यो बलपूर्वक लादती जा रही है? ये दो प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही हैं।

उक्त दोनो प्रश्नो के समाधान का समस्त उत्तरदायित्व भी सरकार पर ही देना होगा। आज की सरकार स्वय अज्ञान, भ्रान्ति, उपेक्षा व पक्षपात से आच्छादित है। केन्द्रीय सरकार के समस्त सचिव पाश्चात्य सभ्यता से अनुप्राणित होने के कारण उनके आचार-विचार व रहन-सहन आदि सभी मे पाश्चात्य सभ्यता की बू है। वे भारत को एक वैदेशिक सस्कृति के आधार पर सुसज्जित करना चाहते हैं। यह भी मैं कहूगा कि चाहे उन्हे भारत के राजनैतिक जीवन का विशेष ज्ञान हो, किन्तु पिछले कार्यकाल के अनुभव ने यह बता दिया है कि उन्हें सामाजिक एव आर्थिक जीवन का तो आवश्यकतानुकूल ज्ञान नही ही है।

जब वे पूर्व एव पश्चिम के परस्पर विरोधी विचारो से सोचते हैं और निष्कर्ष नही निकाल पाते, किन्तु विचार समूहो मे भ्रान्त हो जाते हैं तब उन्हें उनका मानवीय स्वभाव

भारत को सर्वतोमुखी दृष्टि से सपन्न करने का सोचती। और इसके साथ ही विचार-विनिमय करती स्वास्थ्य और चिकित्सा विभाग के सुगठन के लिए भी। किन्तु स्वतत्रता प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा स्वास्थ्य व चिकित्सा विभाग के सुगठन के लिए भी। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा स्वास्थ्य व चिकित्सा विभाग के लिए कोई समुचित कदम नही बढाया गया। ऐसी अवस्था मे जैसा कि मैं पहले कह चुका हू, स्वतन्त्र भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह सरकार को देश के हित के लिए समझावे। भारतीय वैद्य समाज ने भी सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। इसके उत्तर मे सरकार ने बताया कि देशी चिकित्सा पद्धति समिति की रिपोर्ट आने पर सरकार उस पर पूर्ण विचार करेगी। यह समिति कर्नल डाक्टर रामनाथ चोपडा की अध्यक्षता मे दिनाक १९ दिसम्बर १९४६ का तत्कालीन सरकार द्वारा देशी चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहित करने के लिए बनाई गई थी।

यद्यपि इस कमेटी का निर्माण देशी चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए किया गया था, किन्तु वह डाक्टर बधुओ के प्रभाव से मुक्त नही रह सकी। इसका उत्तरदायित्व भी हमारी सरकार पर ही था, क्योकि वह सत्य के प्रतिद्वन्दियो से सत्य कहलाना चाहती थी। इसीलिए सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करने के लिए निखिल भारतीय वैद्य महा सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पास कर सरकार की सेवा मे भेजा था जो अविकल रूप मे यहां दिया जाता है।

'अतरिम सरकार द्वारा नियुक्त भारतीय चिकित्सा पद्धति की समिति मे वैद्यो के उचित एव यथार्थ प्रतिनिधित्व के लिए जो पत्र व्यवहार महा सम्मेलन की ओर से सयुक्त मत्री ने किया है और सरकार द्वारा उसकी जैसी अवहेलना हुई है उस पर यह सम्मेलन अत्यत असतोष प्रकट करता है और सरकार को सचेत करना चाहता है कि इस स्थिति मे इस समिति द्वारा जो कुछ निर्णय किए जायेंगे सम्मेलन उन्हें स्वीकार करने को बाध्य नही होगा।'

'यह सम्मेलन सरकार का पुनरपि इस ओर ध्यान आकर्षित करना उचित समझता है कि आयुर्वेद के विषय मे विचार करने के लिए अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन का सहयोग लेना परम आवश्यक है।'

देश के कोने कोने से भी उक्त प्रस्ताव के रूप मे सरकार का ध्यान आकर्षित किया गया। इस अवसर पर सरकार ने श्री आचार्य यादवजी महाराज बम्बई, वर्तमान सभापति अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन को कमेटी मे नियुक्त किया। परिणामतः वैद्य समाज को कुछ सन्तोष हुआ। इसके कुछ दिन बाद ही कमेटी ने भी साक्षी आदि लेकर अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष शीघ्र उपस्थित करदी। कमेटी ने अपने इतिवृत्त मे देशी चिकित्सा पद्धति

को प्रोत्साहित करने के लिए काफी सुन्दर सुझाव दिए, जिनको शीघ्र कार्यान्वित करने के लिए अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन ने अपने बड़ौदा वाले ३६ वें अधिवेशन मे सर्वसम्मत निर्णय किया। और इससे सरकार को सूचित भी कर दिया गया। किन्तु सरकार की ओर से इस तरफ अभी कोई समुचित कदम नही बढाया गया है। हाँ, तद्विपरीत वैद्य समाज और भारतीय जनता को अन्धकार मे रखने के लिए डाईरेक्टर जनरल ऑफ हेल्थ सर्विसेज गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया के परामर्श से भारत की वर्तमान स्वास्थ्य मन्त्रिणी श्रीमती राजकुमारी अमृत कुवर ने देशी चिकित्सा पद्धति के पक्ष मे चोपडा कमेटी के विचारो पर पुन. नवीन तौर पर विचार करने के लिए एक अन्य कमेटी फिर नियुक्त करदी है।

हाल ही मे अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन का जो ३७ वा अधिवेशन देहली मे हुआ उस समय भी भारतीय वैद्य समाज का एक शिष्ट मडल स्मृतिपत्र (Memoradum) पेश करते हुए भारत की स्वास्थ्य मन्त्रिणी श्रीमती राजकुमारी अमृत कुवर से मिला तो उसके उत्तर मे स्वास्थ्य मत्रिणी ने उक्त कमेटी के निर्णय प्राप्त होने तक के लिए प्रतीक्षा करने का कह कर पुन टाल दिया। और यदि कमेटी के निर्णय विषयो पर मनन करें तो अवगत होगा कि मानो इस बार तो सरकार ने देशी चिकित्सा पद्धति पर अन्तिम प्रहार कर दिया है। अत यदि अब हम इसे आशा के प्रतिकूल कदम बढाना न कहें तो कहें क्या ? जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ सरकार की ओर से तो परिस्थिति बिल्कुल विपरीत ही है। सरकार देशी चिकित्सा पद्धति के लिए न कुछ करती है और न कुछ करना चाहती ही है।

हमारी सरकार हमारी देशी चिकित्सा पद्धति के लिये इस प्रकार का कुठाराघात करती है यह जानकर प्रत्येक सहृदय मानव के हृदय मे तहलका मच जाता है। अन्ततोगत्वा सरकार देशी चिकित्सा पद्धति का इस प्रकार गला क्यो घोटती जा रही है ? और विदेशी चिकित्सा पद्धति को भारतीय जनता पर क्यो बलपूर्वक लादती जा रही है ? ये दो प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही हैं।

उक्त दोनो प्रश्नो के समाधान का समस्त उत्तरदायित्व भी सरकार पर ही देना होगा। आज की सरकार स्वय अज्ञान, भ्रान्ति, उपेक्षा व पक्षपात से आच्छादित है। केन्द्रीय सरकार के समस्त सचिव पाश्चात्य सभ्यता से अनुप्राणित होने के कारण उनके आचार-विचार व रहन-सहन आदि सभी मे पाश्चात्य सभ्यता की बू है। वे भारत को एक वैदेशिक सस्कृति के आधार पर सुसज्जित करना चाहते हैं। यह भी मैं कहूगा कि चाहे उन्हे भारत के राजनैतिक जीवन का विशेष ज्ञान हो, किन्तु पिछले कार्यकाल के अनुभव ने यह बता दिया है कि उन्हें सामाजिक एव आर्थिक जीवन का तो आवश्यकतानुकूल ज्ञान नही ही है।

जब वे पूर्व एव पश्चिम के परस्पर विरोधी विचारो से सोचते हैं और निष्कर्ष नही निकाल पाते, किन्तु विचार समूहो मे भ्रान्त हो जाते हैं तब उन्हें उनका मानवीय स्वभाव

जो कि वर्षों से उसी रग मे रगा हुआ है, भारतीय विचारो से उपेक्षा और पाश्चात्य से पक्षपात करा देता है। यही कारण है कि आज आयुर्वेद के विषय मे ही नही अपितु कतिपय सामाजिक एव आर्थिक समस्याओ के निर्णय मे भी उनकी यही दशा है। अन्यथा उनका ऐलोपैथी के प्रति ऐसा एकान्त पक्षपात नही होता जैसा कि आज किया जा रहा है।

जिस चिकित्सा पद्धति को विदेशी सरकार ने भी भारत जैसे दीन-हीन देश के लिए ठीक नही समझा और भोर कमेटी खर्चीली योजना को कार्यान्वित न कर देशी चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहित करने के लिए चोपडा कमेटी नियुक्त कर विचार उपस्थित करने को कहा। उसी भोर कमेट के सुझावो को आज हमारी स्वदेशी सरकार कार्यान्वित करने जा रही है, जो न केवल देश को ही निर्धन बनायेगी अपितु देश के व्यक्तियो के स्वास्थ्य स्तर को भी अत्यधिक गिरा देगी। प्रसगोपात्त से यदि यहा भोर कमेटी के दिये कुछ सुझावो पर प्रकाश डालू तो अनुचित न होगा।

भोर कमेटी ने अपने सुझावो मे सिफारिश की है कि देश की स्वास्थ्य रक्षा के लिये सरकार को तीन अरब असठ करोड रुपये एक कालिक और छै अरब एक करोड रुपये प्रति वर्ष खर्च करना होगा। जिसके द्वारा प्रत्येक छै हजार की जन-सख्या के पीछे एक डाक्टर रखा जायगा। अब आप ही सोचिये कि यदि सरकार अपने देश के धन का एक बहुत बडा भाग दूसरे उन्नति के आवश्यक कार्यों को छोड़ कर इस काम मे व्यय कर भी दे तो परिणाम क्या होगा ?

हा, पूज्य महात्मा गाधी के वे विचार तो सर्वथा सत्य हो जायेंगे जो उन्होने एक बार अपने "यग इण्डिया" पत्र मे लिख कर व्यक्त किये थे कि "अग्रेजो ने अपनी चिकित्सा पद्धति का प्रचार हमे गुलाम बनाने के लिये ही किया है। अग्रेज चिकित्सक एशिया के प्रदेशो मे बस कर अपना व्यवसाय राजनैतिक उद्देश्यो की सिद्धि के लिये करते हैं। पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति की वृद्धि का अर्थ हमारे पराधीनता के पाशबन्धन को और भी दृढतम बनाना है।"

जो चिकित्सा पद्धति (ऐलोपैथी) राज्य से पूर्ण आश्रय पाकर और डेढसो वर्ष तक अरबो रुपये प्रचार के लिए खर्च करवा कर २५००० हजार की जन-सख्या के पीछे (जो अभी के अनुपात से है) एक चिकित्सक भी तैय्यार नही कर सकी है उससे एक हजार की जनसख्या पर एक चिकित्सक की आशा करना एक दुराशामात्र नही तो और क्या ? यह हमारे शासक स्वय शान्त मस्तिष्क से सोचें तो भला होगा।

यहाँ मुझे ऐलोपैथी का सैद्धान्तिक विवेचन नही करना है, क्योकि यह एक प्रकरणान्तर है। इसके लिए तो वैद्य-डाक्टरो कासयुक्त सम्मेलन होना चाहिए जिसमें देश के सच्चे हित को ध्यान मे रखते हुये सोचा जाय तो बताया जा सकता है कि एक ओर तो ऐलोपैथी मे

कितने दोष हैं एवं उसके सिद्धांत कितने भ्रान्त हैं। और भारत जैसे देश के लिए वह कितनी और कैसी अनुचित सिद्ध हुई है एव हो सकती है।

जहाँ कि दूसरी ओर आयुर्वेद न केवल शरीर के स्थूल व सूक्ष्म अगो-पागो को स्वस्थ्य रखने एव विकृतावस्थापन्न शरोर को और शरीरावयवो को निरोग रखने वाला शास्त्र ही न होकर अध्यात्म विद्या व मानव शास्त्र भी है। इसमे एक ओर धर्माधर्म तथा योग शास्त्र जैसे गहन विषयो का विवेचन है और दूसरी ओर नैतिकता और सच्चरित्र के उपदेशो द्वारा आदर्श नागरिक निर्माण की कला है। एक ओर वैशेषिक दर्शनो द्वारा प्रतिपादित त्रिगुणवाद और परमाणुवाद के आधार पर भौतिक शास्त्र का सूक्ष्म विश्लेषण है तो दूसरी ओर त्रिदोष-वाद के मौलिक सिद्धान्तानुसार शरीर के स्थूलावयवो को चिकित्सा भी है।

किन्तु फिर भी जब जब आयुर्वेद को ही राष्ट्र की चिकित्सा पद्धति घोषित करने के लिए सरकार के समक्ष सुझाव उपस्थित किए गए तब तब सरकार ने आयुर्वेद क्या विज्ञा-नानुमोदित चिकित्सा शास्त्र है ? क्या इससे अनुसधान और वैज्ञानिक आविष्कार किए जा सकते हैं ? क्या आयुर्वेद मे शल्य चिकित्सा है ? यदि स्वास्थ्य और चिकित्सा विभाग से डाक्टरो को सर्वथा दूर कर दिया जाय तो क्या वैद्य लोग इसका यथावत् सचालन कर सकेंगे ? आदि २ विभिन्न प्रश्न करके उनके निर्णय के लिए एक कमेटी बना दी है, जिनमें कि डाक्टर बन्धुओ की ही अधिकता और अध्यक्षता रही है। इससे सत्य और वास्तविकता भी सरकार से सर्वथा दूर हो रही है।

सरकार क्या करे ?

यदि सरकार कमेटी से ही इस विषय मे निर्णय कराना चाहती है, तो वह देश के प्रमुख वैद्यो को उसमे स्थान दे। और वैद्यो की अध्यक्षता से ही कमेटी का निर्णय प्राप्त करे। अन्यथा मैं तो यह निवेदन करूगा कि सरकार के उक्त प्रश्नो के समाधान के लिए इसी वक्तव्य के प्रारम्भ में मेरे द्वारा दिए गए आयुर्वेद के प्रति विदेशी चिकित्सको के मन्तव्य एवं अब तक की सरकार द्वारा नियुक्त की गई कमेटियो के सुझाव ही पर्याप्त होगे। समय की मांग को दृष्टिगत करते हुए अब कमेटियो से निर्णय लेने का समय बीत चुका है। अतः सरकार अब तो आयुर्वेद के लिए रचनात्मक कदम बढावे। और आयुर्वेद के सिद्धातो पर ही देश के लिए एक सयुक्त चिकित्सा पद्धति घोषित कर निम्न प्रकार से स्वास्थ्य और चिकित्सा विभाग का सगठन करे।

केन्द्रीय चिकित्सा समिति Medical Council of India मे भारतीय वैद्यो को अधिका-धिक सख्या मे स्थान दे।

केन्द्र के स्वास्थ्य व चिकित्सा विभाग के उच्च पदाधिकारी पद पर वैद्य को नियुक्त करे, जिसे कि ऐलोपैथी का पर्याप्त ज्ञान हो।

राजकीय समस्त चिकित्सालयो और आतुरालयो मे औषध चिकित्सको Physicians के स्थान पर वैद्यो को ही नियुक्त करे। और शल्य चिकित्सक के स्थान पर जब तक योग्य शल्य चिकित्सक वैद्य उपलब्ध न हो तब तक ऐलोपैथो के डाक्टरो को नियुक्त करे। किन्तु शल्य चिकित्सा साध्य व्याधियो मे भी डाक्टरो के लिए आवश्यक हो कि वे वैद्यो द्वारा दिए गए सुझावो पर पूर्णतया गम्भीरता से विचार करें। और आवश्यकतानुकूल उनको काम मे भी ला कर अनुभव प्राप्त करें। तात्पर्य यह है कि चिकित्सा का आधार स्तम्भ आयुर्वेद को ही बनाना चाहिए। क्योकि इसके सिद्धान्त स्थिर हैं।

किन्तु मेरे उपर्युक्त कथन का यह अर्थ भी नही समझा जाय कि आज के युग मे विदेशी चिकित्सा पद्धति ने इस ससार को जो अद्भुत व आवश्यक नवीनताऐं दो हैं उनको सर्वथा व्यवहार मे नही लाना चाहिए। मैं ही नही आयुर्वेद का सिद्धात भी इसको स्वीकार करता आया है कि विश्व का कोई भी द्रव्य ऐसा नही है कि जो औषध नही हो। किन्तु उसकी तारतम्य विवेचना आयुर्वेद के सिद्धात द्रव्य-गुण-परीक्षण के आधार पर ही करके उसको कार्य रूप मे व्यवहृत करना चाहिए। अत ऐलोपैथी के जो उपादेय और अत्यावश्यक अश (यत्र शस्त्रादि) हैं उनको अवश्य ग्रहण कर लेन चाहिए। किन्तु मैं साथ ही यह भी कहूँगा कि उसके आधारभूत सिद्धात अभी स्थिर नही हो पाए हैं। अत. काय चिकित्सा के लिए तो विशुद्ध आयुर्वेदीय चिकित्सा ही होनी चाहिए।

आधुनिक ऐलोपैथी मे जो शल्य चिकित्सा प्रचलित है आयुर्वेद उससे शून्य नही है इसका विशद विवेचन शास्त्रो में उपलब्ध है। अतः जब तक आयुर्वेद की शल्य चिकित्सा कार्य रूप मे नही ली जा सके तब तक के लिए उसे उसी रूप मे ग्रहण कर लेना चाहिए। और धीरे २ उसमे व्यवहृत होने वाली औषधियो के स्थान पर भी स्वदेशी औषधियो का व्यवहार करना प्रारम्भ कर देना चाहिए।

देश में विभिन्न स्थानो पर स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित कर उनके द्वारा स्वास्थ्य का प्रचार करवाया जाना चाहिए। स्वास्थ्य प्रचार के लिए केवल वैद्यो को ही नियुक्त करें, क्योकि आयुर्वेद मे स्वास्थ्य सरक्षण की सामग्री पूर्ण मात्रा मे उपलब्ध होती है। आयुर्वेदीय परिपाटी से यदि भारतीयो को दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या बनी तो जनता पूर्ण स्वस्थ्य रह सकेगी।

यह तो हुई स्वास्थ्य और चिकित्सा विभाग के नवीन सगठन की व्यवस्था। आगे आयुर्वेद की सर्वांगीण उन्नति करने के लिये सरकार को भारत के समस्त विश्व-विद्यालयो मे आयुर्वेदिक कालेजो की स्थापना करनी चाहिये। जिनके साथ आतुरालय, शावच्छेदनालय, चिकित्सालय, रसायनशाला, वानास्पतिक उद्यान, वनस्पति विश्लेषण शाला, अनुसधान शाला, पुस्तकालय आदि की भी अनिवार्य व्यवस्था हो। उन कालेजो का पाठ्यक्रम आयु-

वेदप्रधान तो हो ही किन्तु उसमे आवश्यक आधुनिक रसायन शास्त्र और भौतिक विज्ञान का भी अवश्य समन्वय किया जाय ।

आयुर्वेदीय औषधियो का मापदण्ड Standard एक सा हो इसके लिए सरकार देशी औषधियो के व्यवसाय पर नियन्त्रण स्थापित करे । किसी प्रकार का संदिग्ध द्रव्य प्राप्त न हो इसके लिए फार्मेसी एक्ट और भारतीय वनस्पति Indian drugs act एक्ट बना कर कार्यान्वित करे । समस्त भारत के लिए एक फार्मोकोपिया का निर्माण करावे ।

भारत जैसे समृद्ध देश मे प्रकृति देवी की असीम अनुकम्पा रही है, जिससे यहा कई प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं । इन मे औषधियो की भी न्यूनता नही है । अत सरकार उनके निर्णय, सग्रह और सदुपयोग की पूरी पूरी व्यवस्था करे । उन्ही वनस्पतियो का प्रचुर मात्रा मे उत्पादन बढाने के लिए राजकीय वनविभागो के सहयोग से पूर्ण प्रबन्ध करे ।

एक केन्द्रीय विशाल अनुसधानशाला की भी आवश्यकता है । इसका प्रधान, वैद्य हो । उस अनुसधानशाला में वैद्य और डाक्टर दोनो मिल-जुल कर देश के हित को ध्यान मे रखते हुए उत्तमोत्तम अनुसधान करें जो देश के लिए वरदान सिद्ध हो ।

उपर्युक्त प्रकार की व्यवस्था से न केवल सरकार को आर्थिक लाभ ही होगा अपितु सरकार देश के धन के बहुत बडे भाग को बचा कर कितने ही अन्य आवश्यक कार्य कर सकेगी । और देश का स्वास्थ्य स्तर भी राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक सभी पहलुओ से अभ्युन्नत होगा ।

यदि सरकार अभी मेरे सुझावो के अनुसार कतिपय कारणो से इस प्रकार की व्यवस्था नही करना चाहती हो और आयुर्वेद का परीक्षण ही कराना उचित समझती हो तो वर्तमान मे चलने वाले राजकीय चिकित्सालयो के मेडिकल वार्डों को दो विभागो मे बाटकर परीक्षण करे । उन दोनो विभक्त किए भागो मे से एक मे वैद्यो तथा दूसरे मे डाक्टरो को चिकित्सा के लिए नियुक्त कर रोगियो की तुलनात्मक चिकित्सा से निर्णय कर ले कि एक रोगी को वैद्य कितने समय मे किस मूल्य की औषध से, किस व्यवस्था से और किस प्रकार स्वस्थ्य करता है और रोग-मुक्ति के बाद उस रोगी की साधारण स्वास्थ्य दशा की क्या अवस्था रहती है । और साथ ही यह भी देखे कि डाक्टर साहेब दूसरे रोगी को क्या करते हैं । इस प्रकार तारतम्य के निर्णय से जो सुलभ मार्ग अवगत एव सिद्ध हो वही मार्ग सरकार शीघ्र अपनावे ।

मुझे केवल निवेदन यही करना है कि अब सरकार देशी चिकित्सा पद्धति के लिए कुछ रचनात्मक कदम बढावे और फिर उससे दूसरी दूसरी आशाएँ करें । बिना सरकार के आश्रय के प्रत्यक्ष मे आयुर्वेद के द्वारा कुछ बताना सगत नही क्योकि वैद्य कोई जादूगर नही है कि चट से जादू दिखा कर सरकार को चमत्कार दिखाने की माग पूरी कर दे । अतः

सरकार को चाहिए कि उपर्युक्त सुझावो के आधार पर किसी न किसी रूप मे देशी चिकित्सा को अपनावे।

यह मैं अवश्य विश्वास दिला सकता हूँ कि यदि सरकार ने देशी चिकित्सा पद्धति घोषित की तो देश को एक बहुत बडा आर्थिक लाभ होगा।

अब प्रश्न शेष यह रह जाता है कि सरकार यह समन्वय, जो मैंने बताया है करे ही क्यो ? जब कि उसका कार्य इस वर्तमान व्यवस्था से चल ही रहा है। इसका उत्तर बिलकुल सक्षिप्त है कि आज की सरकार प्रजा की सरकार है। अतः वह प्रजा के धन और स्वास्थ्य दोनो का ह्रास नही कर सकती। देशी चिकित्सा, विदेशी चिकित्सा की अपेक्षा उत्तम एव सस्ती होने के कारण सरकार को इस प्रकार करना ही होगा, अन्यथा एक दिन जैसे राष्ट्र भाषा के प्रश्न को हल करने के लिए अग्रेजी और हिन्दी के बीच सरकार उलझी हुई थी, और देशव्यापी जनता की माग ने सरकार को निर्णय पर ला ठहराया वैसे ही राष्ट्र की चिकित्सा पद्धति के लिए भी होकर ही रहेगा।

वैद्य समाज और आयुर्वेद

समय का प्रभाव है कि वैद्य समाज को भी अब अपना परिवर्तन करना होगा। आज का युग सगठन एव प्रचार का है। इस प्रचार प्रचार प्रधान युग मे भी वैद्यो की गुण-गरिमा यदि औषधालय और उनके रोगियो तक ही सीमित रही तो एक दिन हमे समाप्त हो जाना होगा। आज भी यदि वैद्य बन्धु अपने प्राचीन सहिता ग्रथो के सूत्रो पर पारस्परिक द्वन्द युद्ध करते रहे, ससार के नवीनतम आविष्कारो को देख एक पक्ति का सूत्र इस आशा में कह कर कि यह तो हमारे यहा भी है सन्तोष लेते रहे एव एक दूसरे की कमी को ताकते रहे तो इसमे सन्देह नही कि सरकार हमारे लिए जो करने जा रही है उसमे वैद्यो का अन्त हो जायगा। अत हमे पारस्परिक भेद-भाव एव छोटे-मोटे की भावना भुला कर जन-सम्पर्क में आते हुए आयुर्वेद के पूर्ण प्रचार के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए।

सगठन

आज के वैद्य समाज के पारस्परिक वैमनस्य का सबसे बड़ा कारण हमारी निजी आत्मानभिज्ञता है। इसको समझने के लिए मुझे वैद्य समाज को दो दलो मे विभक्त करना होगा। पहला नवीन दल जो विद्यालयो से शिक्षा प्राप्त कर निकला है। दूसरा प्राचीन दल जो गुरु-परम्परा एव वश-परम्परा से चिकित्सा करता आ रहा है। द्वितीय दल की प्राचीनता होने के कारण उनका जनता पर विशेष प्रभाव है। अत उन्हे अपने प्रभाव का अभिमान है और नवीन शिक्षितो को उनकी शिक्षा का। इसमे सदेह नही कि दोनो ही दलो का अभिमान अपनी अपनी दृष्टि से सही है। किन्तु यह अभिमान एक दल से दूसरे दल को घृणा करना सिखाता है यह बुरा है। जहा दोनो दलो को अपना प्रभाव आयुर्वेद के उत्थान

के लिए समष्टि रूप से लगा देना चाहिए, वहा ऐसा नही होता। जब-जब आयुर्वेद के उत्थान का प्रश्न विज्ञ-व्यक्ति के समक्ष मे आता है तब-तब वह इन दोनो दलो के प्रचार से जो एक दूसरे के विरोध मे करते हैं, अपना निजी निर्णय नही कर पाता। और आयुर्वेद से श्रद्धा के स्थान पर घृणा करने लग जाता है।

प्रिय वैद्य बन्धुओ! इस प्रकार आज हम ही आयुर्वेद के प्रवर्तक होने के स्थान पर घातक हो रहे हैं। हमे इस भेदभाव को भुलाना चाहिए, और छोटे बड़े की भावना को भुला कर पारस्परिक प्रेम करना सीखना चाहिये। यहा मेरा नवयुवको से विशेष निवेदन है कि वे अपना उत्तरदायित्व समझें। भारतीय सस्कृति के आधार पर वृद्ध सदा आदरणीय होते हैं और वैसे भी वृद्ध प्रणाली अब राजकीय रजिस्ट्रेशन आदि की नवीन व्यवस्था से थोडे समय मे ही समाप्त होने वाली है। अत नवयुवको को अपनी कर्त्तव्यपरायणता और सहिष्णुता से काम लेते हुये वृद्धो का समादर करना चाहिये। और उनके द्वारा वश-परम्परा से प्राप्त आयुर्वेद के अनुपमेय गुणो वाले प्रयोग प्राप्त कर निजी और आयुर्वेद की कीर्तिपताका फहरानी चाहिये। यहा मुझे मद्रास के कैप्टिन श्री निवास मूर्ति के वे शब्द स्मरण होते हैं जो उन्होने अपने अध्यक्ष पद से कहे थे कि "यदि हमे आयुर्वेद को चमकाना है तो वश-परम्परागत चिकित्सको का सम्मान करना सीखना चाहिये।"

किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वृद्ध कुछ करें ही नही। वृद्ध महापुरुषो से भी मेरी प्रार्थना है कि वे आज के नवयुवको को अपने उत्तराधिकारियो के रूप मे समझें और समझें कि इन्हो सपूतो से आयुर्वेद के भविष्य का निर्माण होना है। अतः तन, मन, धन, से नवयुवको को सहयोग दें और उनके परिश्रम का सम्मान करें, इससे वैद्य समाज का एक व्यापक सगठन होगा।

प्रचार काय समाचार पत्र

आज के युग मे प्रचार के जो मोटे मोटे साधन हैं, उनमे प्रेस (मुद्रणालय) व प्लेटफार्म (व्याख्यान मच) हैं। अत वैद्य समाज को भी चाहिये कि अब वह केवल वैद्यो के ही प्लेटफार्म तक सीमित न रह कर सभी सस्थाओ मे प्रविष्ट हो। उनके प्लेटफार्म से भी यथाशक्य आयुर्वेद का प्रचार करें।

समाचार पत्रो द्वारा भी हमे आयुर्वेद का प्रचार करना चाहिये। किन्तु आयुर्वेद की पत्र-पत्रिकाओ का जो रूप आज हमारे सामने है वह बडा ही शोचनीय है। हमारे राजस्थान प्रात मे, जो कि भारत के महाप्रातो की गणना मे एक है और जहा देशी राज्यो की पहले से ही अधिकता होने के कारण वैद्यो को उचित सरक्षण प्राप्त होता रहा है। जिससे यहा पर सफल चिकित्सक और विद्वान वैद्यो की उचित उपलब्धि है, फिर भी आज यहा एक ही पत्रिका का प्रकाशन होता है। और वह भी द्वैमासिक पत्रिका के रूप मे, जहा कि

उसे पाक्षिक व साप्ताहिक रूप मे निकलना चाहिए था। क्योकि यह प्रात के वैद्य समाज का प्रमुख पत्र है। यही दशा अन्य प्रातो के पत्रो की एव निखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन की पत्रिका की है। इसको हमे अवश्य बदलना होगा।

वह बदलना होगा इस प्रकार कि प्रत्येक प्रात मे तीन प्रकार के पत्र प्रकाशित होने चाहिये। १. बालशिक्षापयोगी स्वास्थ्य पत्र, २. साधारण जन-स्वास्थ्य पत्र, ३. वैद्य समाज का प्रमुख पत्र। बालशिक्षापयोगी स्वास्थ्य पत्रो मे बीस वर्ष तक के छात्र जीवन सबधी स्वास्थ्य नियम एव स्वास्थ्य ही स्वतत्र नागरिक निर्माण कर सकता है इस भावना से सबध रखने वाले लेख होने चाहिये। साधारण जन-स्वास्थ्य पत्रो मे पारिवारिक स्वास्थ्य सरक्षण कैसे हो सकता है आदि सर्वसाधारण जनोपयोगी लेख होने चाहिये। और वैद्य समाज के प्रमुख पत्रो मे आयुर्वेदीय प्रयोगो पर किये गये अन्वेषण, नवीन प्रचलित रोगो पर आयुर्वेदीय निदान प्रणाली एव चिकित्सानुभव, और सगठन सबधी उपाय प्रकट करने वाले लेख होने चाहिये। इसके साथ ही प्रत्येक पत्र मे ठोस सामग्री होनी चाहिये जिससे कि प्रत्येक सबधित व्यक्ति आकर्षित हो कर पत्र का ग्राहक बने ही। आज की तरह जैसे कि पत्रिका सम्मेलन पर भार है और प्रतिवर्ष सम्मेलन के कोष से कुछ न कुछ भेंट पत्रिका को चढानी ही पडती है ऐसा नही होना चाहिये।

यदि इस भार का भी कारण ढू ढ निकालें तो इसके लिये हम ही दोषी प्रमाणित होते हैं। क्योकि जिस व्यवसाय के आश्रय से हम अपना जीवनयापन करते हैं उसके लिए एक क्षण भी देना नही चाहते। यदि कही इस व्यवसाय के फलस्वरूप पद व सम्मान वितरण होता हो तो हम अवश्य अपनी बडी बडी योग्यताओ के प्रमाण पत्रो को बगल मे दबाये घण्टो प्रतीक्षा मे व्यर्थ समय नष्ट कर देते हैं एव अपनी योग्यताओ के पुल बाधने मे तनिक भी नही सकुचाते। किन्तु समाजोत्थान एव आयुर्वेद के विकास के लिये एक क्षण भी देना हराम समझते हैं, जहा कि हमारे दूसरे साथी अपने विज्ञान और व्यवसाय के लिये प्राणो तक का बलिदान कर देते हैं अत. हम वैद्यो को समाचार पत्रो के लिए भी अवश्य समय निकालना चाहिए।

रचनात्मक कार्य-क्रम

प्रिय बान्धवो! अब मोह निद्रा को छोडो और आयुर्वेद की तपस्या मे लग जाओ। जहा तक मेरा निजी विश्वास है, आज के वैद्य समाज मे एक भ्रातिमूलक धारणा और भी फैली हुई है—वह यह है कि साधारण परिस्थिति से वैद्य विशिष्ट महापुरुषो से नवीन जागृति की अधिक आशा लगा कर अपने आपको अकर्मण्य बना लेते हैं। मैं उनसे निवेदन करूगा कि मेरी समझ से हम लोगो मे एक कार्यकर्ता और सम्मेलन के सेनानी के रूप मे

कोई भी साधारण व विशिष्ट नही है। हम सब एक स्थान पर बैठ कर विचार करने वाले एक ही हैं। जितने भी महापुरुष आज हमारे सामने है वे साधारणता से निकले हैं। अतः ऐसी मिथ्या धारणाओ को स्थान नही देना चाहिए। और आयुर्वेद के विकास के लिए देश के कोने-कोने से कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए।

आयुर्वेदीय कार्यक्रमो मे प्रचार के अतिरिक्त रचनात्मक कार्यक्रमो को प्रमुखता दी जानी चाहिए। इससे वैद्य अपना निजी एव आयुर्वेद का लाभ तो प्राप्त करेंगे ही साथ ही जनता को भी अत्यधिक लाभ मिलेगा। जिससे जनता को भी अत्यधिक लाभ मिलेगा। जिससे जनता की अभिरुचि आयुर्वेद की ओर विशेष प्रवृत्त होगी और वैद्य समाज की आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति के रूप मे स्वीकार कराने की माग भी अत्यधिक सरल हो जायगी। अत वैद्य बान्धव अपने-अपने स्थान पर आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से स्वास्थ्य केन्द्र खोलें। और गाँव के सेठ-साहूकारो, पटेल-चौधरियो एव राज्यकर्मचारियो को उनका सदस्य बनाकर प्रति सप्ताह सभायें किया करें। उन सभाओ मे स्वास्थ्योपदेश द्वारा आयुर्वेदीय विवेचन से दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, देशो आदि के नियम सरल भाषा मे समझावें। आस-पास के क्षेत्रो में उत्पन्न होने वाली औषधियो के गुणो पर प्रकाश डालें और गाँव के धनिक नागरिको की सहायता से रुग्णावस्था मे आवश्यक प्राथमिक चिकित्सा के लिये कुछ औषधियो का सग्रह भी रखें। इस प्रकार सर्वतोमुखी सेवा प्रत्येक वैद्य अपने-अपने स्थान पर प्रारम्भ करदें।

और जब ग्राम पचायतो, डिस्ट्रिक्ट बोर्डो और सभाओ के निर्वाचन हो तब वैद्य लोग अधिक से अधिक सख्या मे चुनाव के लिये खडे होकर उन बोर्डो और सभाओ के सदस्य बनें। इसमे कोई सदेह नही कि वैद्य लोग चुनाव मे सफल न हो क्योकि उनकी सेवायें उनको अवश्य विजेता बनायेंगी। इस प्रकार जब वे अपनी मूक सेवाओ से शासन के अग बनेंगे तो एक दिन आयेगा कि आयुर्वेद भारत की ही नही विश्व की चिकित्सा प्रणाली हो सकेगी। उक्त रचनात्मक कार्यक्रम मे कोई व्यय और बाधा नही है। केवल त्याग व सेवा की भावना से कार्य करना है जो कि आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त है। अतः वैद्य समाज को इस ओर अवश्य शीघ्र प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

आयुर्वेद सेवाग्राम—

मेरी एक सद्भावना और है, जो आप लोगो के दृढ सकल्प से सफल हो सकती है। और मुझे विश्वास भी है कि सुनने पर आप सब ही सज्जन उसे पसद करेंगे। वैसे तो हमारे प्रान्त को कतिपय महाविभूतियो ने अलकृत किया है, और वे राष्ट्र-निर्माण-प्रवृत्तियो मे अपना सर्वस्व दे गये हैं। यहाँ यदि मैं स्वर्गीय वैद्यरत्न आयुर्वेदमार्तण्ड श्री स्वामी लक्ष्मी-

उसे पाक्षिक व साप्ताहिक रूप मे निकलना चाहिए था। क्योकि यह प्रात के वैद्य समाज का प्रमुख पत्र है। यही दशा अन्य प्राती के पत्रो की एव निखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन की पत्रिका की है। इसको हमे अवश्य बदलना होगा।

वह बदलना होगा इस प्रकार कि प्रत्येक प्रात मे तीन प्रकार के पत्र प्रकाशित होने चाहिये। १. बालशिक्षापयोगी स्वास्थ्य पत्र, २. साधारण जन-स्वास्थ्य पत्र, ३. वैद्य समाज का प्रमुख पत्र। बालशिक्षापयोगी स्वास्थ्य पत्रो मे बीस वर्ष तक के छात्र जीवन सबधी स्वास्थ्य नियम एव स्वास्थ्य ही स्वतत्र नागरिक निर्माण कर सकता है इस भावना से सबध रखने वाले लेख होने चाहिये। साधारण जन-स्वास्थ्य पत्रो मे पारिवारिक स्वास्थ्य सरक्षण कैसे हो सकता है आदि सर्वसाधारण जनोपयोगी लेख होने चाहिये। और वैद्य समाज के प्रमुख पत्रो मे आयुर्वेदीय प्रयोगो पर किये गये अन्वेषण, नवीन प्रचलित रोगो पर आयुर्वेदीय निदान प्रणाली एव चिकित्सानुभव, और सगठन सबधी उपाय प्रकट करने वाले लेख होने चाहिये। इसके साथ ही प्रत्येक पत्र में ठोस सामग्री होनी चाहिये जिससे कि प्रत्येक सबधित व्यक्ति आकर्षित हो कर पत्र का ग्राहक बने ही। आज की तरह जैसे कि पत्रिका सम्मेलन पर भार है और प्रतिवर्ष सम्मेलन के कोष से कुछ न कुछ भेंट पत्रिका को चढानी ही पडती है ऐसा नही होना चाहिये।

यदि इस भार का भी कारण ढू ढ निकालें तो इसके लिये हम ही दोषी प्रमाणित होते हैं। क्योकि जिस व्यवसाय के आश्रय से हम अपना जीवनयापन करते हैं उसके लिए एक क्षण भी देना नही चाहते। यदि कही इस व्यवसाय के फलस्वरूप पद व सम्मान वितिरण होता हो तो हम अवश्य अपनी बडी बडी योग्यताओ के प्रमाण पत्रो को बगल मे दबाये घण्टो प्रतीक्षा मे व्यर्थ समय नष्ट कर देते हैं एव अपनी योग्यताओ के पुल बाधने मे तनिक भी नही सकुचाते। किन्तु समाजोत्थान एव आयुर्वेद के विकास के लिये एक क्षण भी देना हराम समझते हैं, जहा कि हमारे दूसरे साथी अपने विज्ञान और व्यवसाय के लिये प्राणो तक का बलिदान कर देते हैं अत. हम वैद्यो को समाचार पत्रो के लिए भी अवश्य समय निकालना चाहिए।

रचनात्मक कार्य-क्रम

प्रिय बान्धवो! अब मोह निद्रा को छोडो और आयुर्वेद की तपस्या मे लग जाओ। जहा तक मेरा निजी विश्वास है, आज के वैद्य समाज मे एक भ्रातिमूलक धारणा और भी फैली हुई है—वह यह है कि साधारण परिस्थिति से वैद्य विशिष्ट महापुरुषो से नवीन जागृति की अधिक आशा लगा कर अपने आपको अकर्मण्य वना लेते हैं। मैं उनसे निवेदन करूगा कि मेरी समझ से हम लोगो मे एक कार्यकर्ता और सम्मेलन के सेनानी के रूप मे

कोई भी साधारण व विशिष्ट नही है। हम सब एक स्थान पर बैठ कर विचार करने वाले एक ही हैं। जितने भी महापुरुष आज हमारे सामने है वे साधारणता से निकले हैं। अतः ऐसी मिथ्या धारणाओ को स्थान नहीं देना चाहिए। और आयुर्वेद के विकास के लिए देश के कोने-कोने से कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए।

आयुर्वेदीय कार्यक्रमो मे प्रचार के अतिरिक्त रचनात्मक कार्यक्रमो को प्रमुखता दी जानी चाहिए। इससे वैद्य अपना निजी एव आयुर्वेद का लाभ तो प्राप्त करेंगे ही साथ ही जनता को भी अत्यधिक लाभ मिलेगा। जिससे जनता को भी अत्यधिक लाभ मिलेगा। जिससे जनता की अभिरुचि आयुर्वेद की ओर विशेष प्रवृत्त होगी और वैद्य समाज की आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति के रूप मे स्वीकार कराने की माग भी अत्यधिक सरल हो जायगी। अतः वैद्य बान्धव अपने-अपने स्थान पर आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से स्वास्थ्य केन्द्र खोले। और गाँव के सेठ-साहूकारो, पटेल-चौधरियो एव राज्यकर्मचारियो को उनका सदस्य बनाकर प्रति सप्ताह सभाये किया करें। उन सभाओ मे स्वास्थ्योपदेश द्वारा आयुर्वेदीय विवेचन से दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, देशो आदि के नियम सरल भाषा मे समझावें। आस-पास के क्षेत्रो मे उत्पन्न होने वाली औषधियो के गुणो पर प्रकाश डालें और गाँव के धनिक नागरिको की सहायता से रुग्णावस्था मे आवश्यक प्राथमिक चिकित्सा के लिये कुछ औषधियो का सग्रह भी रखें। इस प्रकार सर्वतोमुखी सेवा प्रत्येक वैद्य अपने-अपने स्थान पर प्रारम्भ करदें।

और जब ग्राम पचायतो, डिस्ट्रिक्ट बोर्डो और सभाओ के निर्वाचन हो तब वैद्य लोग अधिक से अधिक सख्या मे चुनाव के लिये खडे होकर उन बोर्डो और सभाओ के सदस्य बनें। इसमे कोई सदेह नही कि वैद्य लोग चुनाव मे सफल न हो क्योकि उनकी सेवायें उनको अवश्य विजेता बनायेंगी। इस प्रकार जब वे अपनी मूक सेवाओ से शासन के अग बनेंगे तो एक दिन आयेगा कि आयुर्वेद भारत की ही नही विश्व की चिकित्सा प्रणाली हो सकेगी। उक्त रचनात्मक कार्यक्रम मे कोई व्यय और बाधा नही है। केवल त्याग व सेवा की भावना से कार्य करना है जो कि आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त है। अत. वैद्य समाज को इस ओर अवश्य शीघ्र प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

आयुर्वेद सेवाग्राम—

मेरी एक सद्भावना और है, जो आप लोगो के दृढ सकल्प से सफल हो सकती है। और मुझे विश्वास भी है कि सुनने पर आप सब ही सज्जन उसे पसद करेंगे। वैसे तो हमारे प्रान्त को कतिपय महाविभूतियो ने अलकृत किया है, और वे राष्ट्र-निर्माण-प्रवृत्तियो मे अपना सर्वस्व दे गये हैं। यहाँ यदि मैं स्वर्गीय वैद्यरत्न आयुर्वेदमार्तण्ड श्री स्वामी लक्ष्मी,

रामजी महाराज को स्मरण कर श्रद्धाजलि समर्पित करू तो मेरी कर्त्तव्यपूर्ति होगी। श्री स्वामीजी एक ऐसी महाविभूति थे कि वे हमारे प्रान्त के लिये विधि का वरदान सिद्ध हो गये। स्वामीजी आयुर्वेद के लिए ही जीये और मरे। इसी अवसर पर मैं अपने सहयोगी परम मित्र कविराज प० श्री चन्द्रशेखरजी आयुर्वेदाचार्य की भी राजस्थान मे की गई आयुर्वेद की सेवाओ को विस्मरण नही कर सकता हू। आज श्रीस्वामीजी की स्मृति शेष स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट एव श्री धन्वन्तरि औषधालय जयपुर आदि सस्थाऐ उनके मार्ग का अनुसरण करने के लिये हमे प्रेरित कर रही हैं। इसीलिये श्री स्वामीजी के पदचिन्हो का अनुसरण करने वाले आयुर्वेदमार्तण्ड प० श्रीमणीरामजी महाराज ने रतनगढ मे श्रीधन्वन्तरि मन्दिर को स्थापना की हैं। मेरी भी यही एक भावना है कि हम राजस्थान के वैद्य एक उदाहरण उपस्थित करें और सेवाग्राम की तरह "एक आयुर्वेद सेवाग्राम" की स्थापना करें। उस सेवाग्राम को स्थापना एक ग्राम मे हो, जहाँ से आयुर्वेद सबधी अनेक प्रकार की सेवाओ द्वारा वह सेवाग्राम विश्व को विमल सदेश दे।

रूपातर मे इसी प्रकार की अभिलाषा लाहौर वाले अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन के अध्यक्ष राजवैद्य श्री जीवनराम कालीदास शास्त्री गोडल ने अपने भाषण मे की थी। और उन्होने यहाँ तक बताया था कि स्वर्गीय बीकानेरनरेश श्री गगासिहजी उसकी स्थापना के लिए सब प्रकार सुख-सुविधाये देने को तैयार थे। आज उसी राजस्थान के सपूत की सद्भावना का ही प्रतिफल यदि रतनगढ के श्री धन्वन्तरि मन्दिर की स्थापना को कहू तो असगत नही होगा क्योकि बीकानेर राजस्थान का एक जिला है, इस घटना से स्वय सिद्ध है कि इस राजस्थान के पुनीत प्रागण मे यह बीज अन्तर्गर्भित है। अत यह कार्य अवश्य सफल हो सकता है। यद्यपि मैंने स्वय ने रतनगढ के श्री धन्वन्तरि मदिर को नही देखा है, किन्तु श्री प० मणिरामजी महाराज के व्यक्तित्व से असदिग्ध है कि काल पाकर यह मन्दिर राजस्थान का अनुपमेय स्थान होगा।

अस्तु, मेरी इस सेवाग्राम की भावना को मूर्त्तरूप देने के लिये मैं राजस्थान के समस्त वैद्य एव प्रमुख नागरिको से निवेदन करता हू कि वह इस ओर अग्रसर होकर पूर्ण सहयोग प्रदान करें। साथ ही यह भी प्रार्थना करूगा कि यदि प० मणिरामजी महाराज ही अपने रतनगढ के धन्वन्तरि मदिर को राजस्थान मे आयुर्वेद की सेवाओ के लिए समर्पित कर दें तो वैद्य समाज पर बड़ा अनुग्रह होगा। पडितजी महाराज के द्वारा यदि मेरी प्रार्थना स्वीकार करली जाती है तो हमे इस अधिवेशन मे ही वहाँ के लिए रचनात्मक कार्यक्रम बना लेने का अवसर मिल जायगा। मेरा विश्वास है कि ऐसे स्थान से साहित्य सशोधन व प्रकाशन, बनस्पति वाटिका, अनुसधान, स्वास्थ्यप्रचार आदि आदि सभी कार्य सम्पादित किये जा सकेंगे। क्योकि पडितजी महाराज स्वय त्यागमूर्ति हैं और प्रात भी धनजनविद्योसमृद्ध है।

उपसंहार—

अन्त मे मैं स्वागत समिति के सदस्यो के कर्मकौशल एव अनवरत परिश्रम के लिए उन्हें धन्यवाद समर्पण करते हुए आगामी अधिवेशन तक के लिए, आप महानुभावो के सहयोग की कामना करता हू और मेरे इन साधारण सुझावो को सुनने मे जो लम्वा समय आप लोगो ने दिया है उस कष्ट के लिए क्षमा माग कर अपना स्थान ग्रहण करता हूं।

सर्वे भवन्तु सुखिन· सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

शान्तिः शान्तिः

॥ श्री धन्वन्तरये नमः ॥

चिकित्सकसम्राट् आयुर्वेदमार्तण्ड प्राणाचार्य भट्टारक महोपाध्याय राजमान्य राजवैद्य

पं० उदयचन्द्र (चाणोद गुरांसा) जोधपुर

का

राजस्थान आयुर्वेदिक बोर्ड के प्रथमाधिवेशन मे सभापति पद से दिया गया

अभिभाषण

दिनांक २-८-५१ गुरुवार

सद्भूत्स्थानप्रकम्प्रत्रिदशपतिशिरश्चारुकोटीरकोटी-
प्रेक्षन्माणिक्यमालामलकललहरीधौतपादारविन्द
विष्णोर्भव्यावतार. करकलितसुधापूरकुम्भः समन्ता-
दव्यादव्याजभव्याकृतिरिह भगवान् साधुधन्वन्तरिर्वं. ॥१॥

जयतिजगदमन्दानन्दमन्दारकन्दो
गदकरिहरिराेन्द्रो वन्द्यपादारविन्द
तदनु विविधविद्यावेदिवंशावतंसो
जयति भुवि जिनादिर्दत्तसूरिर्यतीन्द्रः॥२॥

सम्माननीय स्वास्थ्य मन्त्री महोदय तथा अन्य उपस्थित सभ्यवृन्द ?

आज यह परम प्रसन्नता का विषय है कि हमारी लोकप्रिय सरकार के विचारशील सुयोग्य उत्साही स्वास्थ्य मन्त्री श्रीमान् मथुरादासजी माथुर ने इस बोर्ड का उद्घाटन करके हमे एक अधिकृत रूप मे आयुर्वेद के भविष्य निर्माण के लिए एकत्रित हो विचार-विमर्श करने का सुअवसर प्रदान किया है। श्री माथुरजी से मेरा गाढ परिचय होने के कारण मैं आप सबको विश्वास दिलाता हूँ कि इनको न केवल सरकार के रूप मे ही अपितु व्यक्तिगत रूप मे भी भारतीय विज्ञान आयुर्वेद के प्रति अगाध स्नेह रहा है और है। इसका प्रत्यक्ष परिचय आपने अपने गत जोधपुर सरकार के मन्त्रित्व काल मे मारवाड वैद्य सम्मेलन बुला आयुर्वेदिक बोर्ड का पुनर्गठन करके तो दिया ही था, किन्तु इस नवनिर्मित महाराजस्थान मे भी मन्त्रि मण्डल मे आते ही अभी २ जोधपुर मे एक वृहद आयुर्वेदीय चिकित्सालय का उद्घाटन किया है जिसके द्वारा एक अत्यल्प समय में ही पाच सौ से कही अधिक सख्या मे रोगी प्रतिदिन औषध प्राप्त करके आरोग्य प्राप्त कर रहे हैं। यह औषधालय कुछ समय के वाद ही आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रसार के साधनो मे अपना उचित स्थान रक्खेगा। इस

चरित्रनायक के दिवंगत मित्रवर्ग
जोकि आयुर्वेद लोक की देदीप्यमान विभूतियां रही ।

आयुर्वेदिक साहित्य के पुनरुद्धर्ता

यादवजी त्रिकमजी आचार्य
आयुर्वेद-मार्त्तण्ड
बम्बई

शारीर (आयुर्वेद) के प्रतिसंस्कर्ता,

कविराज गणनाथ सेन सरस्वती
आयुर्वेद-मार्त्तण्ड

शिक्षाशास्त्री

राजवैद्य नन्दकिशोरजी
आयुर्वेद-मार्त्तण्ड
जयपुर,

औषधालय मे मुझे जो सरकार ने अवैतनिक प्रधान प्रबधक Honorary Incharge नियुक्त किया है, उसको मैं किस तत्परता से निभा सकूगा इसका तो भविष्य ही साक्षी होगा। इसके अतिरिक्त इस स्वतत्र आयुर्वेदिक बोर्ड का निर्माण करके भी आयुर्वेदानुयायी वैद्य समुदाय के लिए प्रगति पथ प्रशस्त बना दिया है। आपकी इस उदारता एव निर्मल आयुर्वेद स्नेह के लिए मै आपको अनेकानेक धन्यवाद समर्पण करूंगा और समस्त प्रान्तीय वैद्य समाज की ओर से कृतज्ञता व्यक्त करते हुए श्री मत्री महोदय से आशा करूंगा कि आप इस बोर्ड निर्माण के पुनीत ध्येय मे अवश्य समय समय पर पूर्ण सहायक सिद्ध होते रहेगे।

आगे कुछ निवेदन करू, इससे पूर्व मुझे सरकार द्वारा दिये इस बोर्ड के अध्यक्षत्व जैसे गुरुतर भार को मैं मेरी इस वृद्धावस्था मे किस प्रकार वहन कर सकू गा इसके लिए सकोच अनुभव कर रहा हूँ। प्रात मे अनेक सुयोग्य विद्वान तथा ख्यातिप्राप्त चिकित्सक आयुर्वेदानुरागियो के होते हुए भी मुझे ही इस पद का दिया जाना मैं समझता हूँ सभव है सरकार का मेरे लिए एकात निर्णय रहा हो अथवा यह निर्णय शीघ्रता मे किया गया हो। किन्तु फिर भी मुझे आशा ही नही दृढ विश्वास है कि सरकार का तो पूर्ण अनुग्रह रहेगा ही, साथ ही आप सब सहयोगियो का भी पुनीत सहयोग कम नही होगा, इस बल पर ही मैं इस अध्यक्ष पद के गुरुतर भार वहन के लिये अपने आपको आपकी सेवा मे उपस्थित करने का साहस कर रहा हूँ।

अस्तु, बोर्ड निर्माण के बाद, जैसा कि अभी २ श्री स्वास्थ्य सचिव महोदय ने भी अपने उद्घाटन भाषण मे स्पष्ट व्यक्त कर दिया है कि "हम सब प्रान्तीय वैद्य समुदाय एव विशेषत: बोर्ड के सदस्यो पर भी सरकार से कही बढ कर आयुर्वेद के भविष्य की रूपरेखा बनाने का उत्तरदायित्व आ गया है।" हमे इस बोर्ड के द्वारा आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति के विकास तथा वृद्धि के लिए और प्रान्तीय वैद्य समाज के हितो की समुचित सुरक्षा के लिये तन्मयता से सोच-विचार कर सरकार द्वारा उन्हे कार्यान्वित कराना हैं। वैसे तो आज यह देशव्यापिनी समस्या है कि आयुर्वेद के कितने ही पहलुओ पर विचार किया जा सकता है, किन्तु विशेषत: राजस्थान मे हमे आयुर्वेदीय शिक्षण सस्थाओ मे एक ही पाठ्यक्रम प्रचलित करने, आयुर्वेदीय परीक्षाओ की समुचित व्यवस्था राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा सम्पादित करवाने, प्रात मे समस्त वैद्यो को पजिकाबद्ध Registered करवाने, एक विशाल आयुर्वेदीय अनुसधानशाला Ayurvedic Research Institute स्थापित करवाने, ग्राम्य चिकित्सालयो के स्तर को व्यवस्थित करवा कर प्रात के बड़े बडे नगरो मे बृहद् आयुर्वेदिक चिकित्सालय खुलवाने, उत्कृष्टतम औषधियो की प्राप्ति के लिये सुव्यवस्थित रसायनशालाओ Pharmacies की स्थापना करवाने और सुयोग्य सफल चिकित्सको की सेवायें प्राप्त कर आयुर्वेद को अधिकाधिक जनप्रिय बनाने, विशुद्ध आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम को सचालित करने के लिए सुयोग्य प्राध्यापक

प्रस्तुत करने आदि २ अन्य और भी कतिपय आवश्यक समस्याओ पर पूर्ण विचार करनी है।

किन्तु यह सब तभी सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सकेगा जब कि हम सब महर्षि चरकाभिमत आप्त[1] बने। हमे अपने पारस्परिक मनोमालिन्य तथा भेदभाव और स्वार्थवृत्तियो को छोड कर जनकल्याण की भावना से सोचने का ध्येय बनाना चाहिये। आज हमे पदलोलुपता मे फँस कर ही अपने आपको समाप्त नही कर देना है। विश्व का इतिहास साक्षी है कि आगे वे ही बढे हैं जिन्होने अपनी अग्रगामिता के लिए अपने आप तक को समर्पित कर दिया है। आप स्वयं सुपरिचित हैं कि हमारे पूर्वजो ने भी किस निःस्वार्थ भावना से ऋषिजीवन व्यतीत करके आयुर्वेदशास्त्र की कलेवर वृद्धि की है। अतः हमे भी उन्ही के उस पुनीत लक्ष्य को अपनाना होगा, जिससे कि भविष्य मे हम भी कुछ करने योग्य बन सकें।

आज यह एक सकटापन्न सक्रमण काल हमारे सामने है। और सरकार ने यह सुन्दर सुअवसर आयुर्वेद के विकास तथा वृद्धि के लिये हमारे विचारो से परिचित होने के लिये हमे दिया है। अतः हमे अब पूरी तन्मयता से कार्य कर सरकार और जनता को आयुर्वेद की उपयोगिता तथा प्रत्यक्ष चमत्कारो पर मुग्ध कर देना चाहिये। यदि यह समय केवल मिथ्या वाद-प्रतिवाद मे ही नष्ट कर दिया गया और कोई ठोस योजना नही बनाई जा सकी तो इससे बढकर हम वैद्यवृन्द को कोई अन्य बडी भूल नही होगी, क्योकि सम्भव है कि भविष्य मे फिर कभी ऐसा सुअवसर प्राप्त नही होगा। अतः मेरा यह दृढ सकल्प है, और शेष अन्य सदस्यो को भी दृढ सकल्प कर लेना चाहिये, कि इस बार हम आयुर्वेदिक चिकित्सा के विकास के लिये अवश्य एक सर्वाङ्गपूर्ण योजना सरकार के समक्ष उपस्थित करेंगे। और अन्य प्रान्तो से भी कही अग्रिम पक्ति मे, आयुर्वेद की दृष्टि से, राजस्थान को समासीन कर देंगे।

यहाँ मैं हमारी सरकार से भी अनुरोध करना नही भूलूँगा कि वह इस बोर्ड को केवल आधुनिक राजनीति का ही लक्ष्य साधन नहीं बनावे। जैसा कि कई अन्य प्रांतीय सरकारें ही नही अपितु हमारी गत राजस्थान सरकार भी कर चुकी है। बोर्ड आयुर्वेद के विकास तथा वृद्धि के लिए अनेको ठोस योजनायें सरकार के समक्ष उपस्थित करेगा, उनको शीघ्र कार्यान्वित किया जाना चाहिए। यद्यपि वर्तमानकालीन आर्थिक समस्या, जो आज एक देशव्यापिनी समस्या हो रही है, जिसका व्याज करके आयुर्वेदिक विकास योजनाओ को भी कार्यान्वित करने मे विलम्ब बताया जा सकता है। किन्तु यहाँ विशेष समय नही होते हुए

---

१ रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ता-स्तपोज्ञानबलेन ये। येषा त्रिकालममल ज्ञानमव्याहत तथा॥
आप्ता शिष्टाःविबुद्धास्ते तेषा ज्ञानमसंशयम्। सत्य, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्य नीरजस्तमाः॥

भी इस सम्बन्ध में मैं सरकार का ध्यान गत वर्ष राजस्थान प्रांतीय वैद्य सम्मेलन के सभापति पद से उपस्थित की गई मेरी उस आयुर्वेद विभाग की पुनर्गठन-योजना की ओर आकर्षित करूंगा जिसमें कि आयुर्वेद की सर्वतोमुख विकास के लिए वर्तमान बजट में ही बहुत कुछ किया जा सकता है, इसके लिए सरकार के समक्ष सुझाव उपस्थित किये गये हैं। वह योजना राजस्थान प्रांतीय वैद्य-सम्मेलन के मच से स्वीकृत की गई है, अतः सरकार को उसे शीघ्र कार्यान्वित करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद ही एक ऐसी चिकित्सा पद्धति है कि जो आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से देश मे प्रचलित अन्यान्य चिकित्सा पद्धतियो मे अपना विशेष महत्त्व रखती है। जिस पर भी राजस्थान जैसे साधारण' देश मे तो आयुर्वेदिक चिकित्सा एक सफल चिकित्सा हो सकती है। क्योकि यहा के निवासियो के रहन-सहन, व्यापार-व्यवहार, आहार-विहार और आचार-विचार तथा जलवायु के अनुकूल आयुर्वेद के सिद्धातो का अत्यधिक समन्वय बैठता है अतः यदि सरकार बहुव्ययसाध्य एलोपैथी चिकित्सा का राजस्थान मे अधिक प्रसार न कर आयुर्वेद द्वारा जनस्वास्थ्य-सरक्षण-योजना बनायेगी तो न केवल आर्थिक लाभ ही सरकार को होगा, अपितु एक बहुत बड़े पैमाने पर जनस्वास्थ्य-समस्या का समाधान भी हो जायगा और प्रान्त की जनता पूर्ण स्वस्थ रहेगी।

अन्त मे मैं एक बार पुन. श्री स्वास्थ्य सचिव महोदय को उनके अनुपम आयुर्वेदानुराग के लिये धन्यवाद समर्पण करता हुआ आप सब महानुभावो को, जैसा कि श्री स्वास्थ्यमन्त्री महोदय से मुझे वचन प्राप्त हो गया है, विश्वास दिलाता हूँ कि प्रान्त मे आयुर्वेद का भविष्य उज्ज्वल ही रहेगा और राज्य द्वारा भी इसके लिए सर्वतोमुखी सहायता प्राप्त होती रहेगी। अब आगे अधिक समय न लेकर आप सब महानुभावो के सतत सहयोग मे पूर्ण विश्वास करते हुए निम्न शुभकामना के साथ अपना वक्तव्य समाप्त करता हू।

सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

समा साधारणे यस्माच्छीतवर्षोष्णमारुता। समता तेन दोषाणा तस्मात्साधारणो वर.॥

प्रस्तुत करने आदि २ अन्य और भी कतिपय आवश्यक समस्याओ पर पूर्ण विचार करेंगी है।

किन्तु यह सब तभी सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सकेगा जब कि हम सब महर्षि चरकाभिमत आप्त[1] बनें। हमे अपने पारस्परिक मनोमालिन्य तथा भेदभाव और स्वार्थवृत्तियो को छोड कर जनकल्याण की भावना से सोचने का ध्येय बनाना चाहिये। आज हमे पदलोलुपता में फँस कर ही अपने आपको समाप्त नही कर देना है। विश्व का इतिहास साक्षी है कि आगे वे ही बढे है जिन्होने अपनी अग्रगामिता के लिए अपने आप तक को समर्पित कर दिया है। आप स्वय सुपरिचित हैं कि हमारे पूर्वजो ने भी किस नि स्वार्थ भावना से ऋषिजीवन व्यतीत करके आयुर्वेदशास्त्र की कलेवर वृद्धि की है। अत हमे भी उन्ही के उस पुनीत लक्ष्य को अपनाना होगा, जिससे कि भविष्य मे हम भी कुछ करने योग्य बन सकें।

आज यह एक सकटापन्न सक्रमण काल हमारे सामने है। और सरकार ने यह सुन्दर सुअवसर आयुर्वेद के विकास तथा वृद्धि के लिये हमारे विचारो से परिचित होने के लिये हमे दिया है। अत' हमे अब पूरी तन्मयता से कार्य कर सरकार और जनता को आयुर्वेद की उपयोगिता तथा प्रत्यक्ष चमत्कारो पर मुग्ध कर देना चाहिये। यदि यह समय केवल मिथ्या वाद-प्रतिवाद मे ही नष्ट कर दिया गया और कोई ठोस योजना नही बनाई जा सकी तो इससे बढकर हम वैद्यवृन्द की कोई अन्य बडी भूल नही होगी, क्योकि सम्भव है कि भविष्य मे फिर कभी ऐसा सुअवसर प्राप्त नही होगा। अतः मेरा यह दृढ सकल्प है, और शेष अन्य सदस्यो को भी दृढ सकल्प कर लेना चाहिये, कि इस बार हम आयुर्वेदिक चिकित्सा के विकास के लिये अवश्य एक सर्वाङ्गपूर्ण योजना सरकार के समक्ष उपस्थित करेंगे। और अन्य प्रान्तो से भी कही अग्रिम पक्ति मे, आयुर्वेद की दृष्टि से, राजस्थान को समासीन कर देंगे।

यहाँ मैं हमारी सरकार से भी अनुरोध करना नही भूलूंगा कि वह इस बोर्ड को केवल आधुनिक राजनीति का ही लक्ष्य साधन नही बनावे। जैसा कि कई अन्य प्रांतीय सरकारें ही नही अपितु हमारी गत राजस्थान सरकार भी कर चुकी है। बोर्ड आयुर्वेद के विकास तथा वृद्धि के लिए अनेको ठोस योजनायें सरकार के समक्ष उपस्थित करेगा, उनको शीघ्र कार्यान्वित किया जाना चाहिए। यद्यपि वर्तमानकालीन आर्थिक समस्या, जो आज एक देशव्यापिनी समस्या हो रही है, जिसका व्याज करके आयुर्वेदिक विकास योजनाओ को भी कार्यान्वित करने मे विलम्ब बताया जा सकता है। किन्तु यहाँ विशेष समय नही होते हुए

---

१ रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ता-स्तपोज्ञानबलेन ये। येषा त्रिकालममल ज्ञानमव्याहत तथा॥
आप्ता शिष्टाःविबुद्धास्ते तेषा ज्ञानमसंशयम्। सत्य, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्य नीरजस्तमाः॥

भी इस सम्बन्ध में मैं सरकार का ध्यान गत वर्ष राजस्थान प्रांतीय वैद्य सम्मेलन के सभापति पद से उपस्थित की गई मेरी उस आयुर्वेद विभाग की पुनर्गठन-योजना की ओर आकर्षित करूंगा जिसमे कि आयुर्वेद की सर्वतोमुख विकास के लिए वर्त्तमान बजट में ही बहुत कुछ किया जा सकता है, इसके लिए सरकार के समक्ष सुझाव उपस्थित किये गये हैं। वह योजना राजस्थान प्रांतीय वैद्य-सम्मेलन के मच से स्वीकृत की गई है, अतः सरकार को उसे शीघ्र कार्यान्वित करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद ही एक ऐसी चिकित्सा पद्धति है कि जो आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से देश मे प्रचलित अन्यान्य चिकित्सा पद्धतियो मे अपना विशेष महत्त्व रखती है। जिस पर भी राजस्थान जैसे साधारण[1] देश मे तो आयुर्वेदिक चिकित्सा एक सफल चिकित्सा हो सकती है। क्योकि यहा के निवासियो के रहन-सहन, व्यापार-व्यवहार, आहार-विहार और आचार-विचार तथा जलवायु के अनुकूल आयुर्वेद के सिद्धातो का अत्यधिक समन्वय बैठता है अतः यदि सरकार बहुव्ययसाध्य एलोपैथी चिकित्सा का राजस्थान मे अधिक प्रसार न कर आयुर्वेद द्वारा जनस्वास्थ्य-सरक्षण-योजना बनायेगी तो न केवल आर्थिक लाभ ही सरकार को होगा, अपितु एक बहुत बड़े पैमाने पर जनस्वास्थ्य-समस्या का समाधान भी हो जायगा और प्रान्त की जनता पूर्ण स्वस्थ रहेगी।

अन्त मे मैं एक बार पुन. श्री स्वास्थ्य सचिव महोदय को उनके अनुपम आयुर्वेदानुराग के लिये धन्यवाद समर्पण करता हुआ आप सब महानुभावो को, जैसा कि श्री स्वास्थ्यमन्त्री महोदय से मुझे वचन प्राप्त हो गया है, विश्वास दिलाता हूँ कि प्रान्त मे आयुर्वेद का भविष्य उज्ज्वल ही रहेगा और राज्य द्वारा भी इसके लिए सर्वतोमुखी सहायता प्राप्त होती रहेगी। अब आगे अधिक समय न लेकर आप सब महानुभावो के सतत सहयोग मे पूर्ण विश्वास करते हुए निम्न शुभकामना के साथ अपना वक्तव्य समाप्त करता हू।

सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

---

[1] समा साधारणे यस्माच्छीतवर्षोष्णमारुता। समता तेन दोषाणा तस्मात्साधारणो वर ॥

अभिनन्दनम्

श्री धन्वन्तरिर्जयति, जगतिच स्वास्थ्य सुधाधरो भगवान् ।
उ दयमजस्त्र कुर्वता मायुर्वेदीय विज्ञान श्रुते ।
व धूनाति धैर्यं भिषजाम् समाजे ।
य स्यान्तराल दययाभिषिक्तम् ।।
चँ द्रीकृताद्यस्य यशः सुमेराद् ।
द्र व्याण्यनन्तानि द्रवन्ति नित्यम् ।।
सू तिमहारोगहरौषधीना ।
री ति र्महावंशभुवा सुधीनाम् ।
म न्त्रर्मणिर्धन्वधराणंवस्य ।
हा री रुजार्तस्य विपद् कुलस्य ।
श स्त यदातक कुलीश भावम् ।
या त्यस्तस्वास्थ्येषु सुखाश्रयत्व ।।
ना न्त यदीयस्य गुणाकरस्य ।
म न्दो कृत येन यशः परेषाम् ।।
भि न्नेत्ररोगेभकपोल भित्ति ।
न दन्ति नित्य निरुजी कृताश्च ।।
व द्यायतोन्द्राय चिरायुषत्व ।
न म्यो महद्भिर्मगवान्सुधेन्द्रः ।।

—वैद्य कृष्णदत्त शास्त्री

अभिनन्दन

संसृति को नवज्योति दान देने की क्षमता,
रखता तव मस्तिष्क, विविध ज्ञान गौरवता,
अग्नीमया तेरी वाणी में, अपरिमेय प्राणों का स्पंदन,
तव अभिनंदन ॥

युग-युग से तुम क्लांत जगति का, परित्राण करते आये,
गत प्राय प्राणों में भी, तुम नव-प्राण भरते आये,
तुम रसवैद्य, हरो राष्ट्र का, जरा-मरण क्रंदन।
तव अभिनंदन ॥

करुणार्णव तेरे मानस में, निश्छल सेवा भाव भरा है,
वात, पित्त, कफ, धातु दोष का, अविच्छिन्न विज्ञान भरा है
रोगाकुल इस मर्त्य लोक में है, अमरलोक का सर्जन ॥
तव अभिनंदन ॥

तपः पूत कृशकाय तपस्वी, तुम कर्मठ, तुम कला केन्द्र,
तेरी गुण गरिमा से धन्य, वैद्य जगत, ओ मानसेन्द्र,
तुम हो स्वस्थ राष्ट्र के स्रष्टा, करता राष्ट्र तुम्हारा वंदन,
तव अभिनंदन ॥

—वैद्य कृष्णदत्त शास्त्री

राजस्थान के ऋषितुल्य राजवैद्य चाणोद गुरांसा

रामप्रकाश स्वामी, भिषगाचार्य, एम ए, जयपुर

अध्यक्ष, राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पञ्जिकृत)

राजस्थान की गौरवगाथा इतिहास के पृष्ठो मे स्वर्णाक्षरो मे अंकित है। राजस्थान की धरती वीरप्रसवा ही नही है, इसने सन्त, भक्त, धनी, दानी, विद्वान्, वैद्य व समाजसेवियों की भी बहुत बड़ी संख्या भारत को प्रदान की है। अन्यान्य क्षेत्रो की तरह आयुर्वेद के क्षेत्र मे भी अनेको विभूतिया राजस्थान मे आविर्भूत हुई हैं।

राजस्थान निर्माण से पहले राजस्थान मे छोटी बडी मिला कर करीब पच्चीस रियासतें थी। वैसे अंग्रेजी राज्य के समय तो इस प्रदेश की 'बाईस रजवाडे' संज्ञा ही प्रचलित थी।

इन देशी राज्यो मे जोधपुर का राठौडी राज्य जिसको 'नो कोटि मारवाड़' भी कहा जाता था, जयपुर के बाद द्वितीय स्थान रखता था। इसी जोधपुर राज्य मे चाणोद एक ठिकाना है। राजस्थान के वैद्य समाज की अन्यतम विभूति सम्मानीय राजवैद्य राज्यगुरु भट्टारक श्री उदयचन्द्रजी महाराज का मूल स्थान यही चाणोद कस्बा है। आपकी गुरुपरम्परा चाणोद से ही प्रचलित है। आपका बहुत बडा स्थान जोधपुर मे भी है। सामान्यजनो मे आपकी चाणोद गुरासा के नाम से ही प्रसिद्धि है।

वैद्य समाज को यह बताने की आवश्यकता नही है कि बौद्धकाल के पश्चात आयुर्वेद की रुकी हुई श्रीवृद्धि मुगल साम्राज्य व अंग्रेजी शासन मे आकर समाप्त प्रायः हो गई थी। एक सहस्र वर्ष का यह काल आयुर्वेद का घातक काल कहा जा सकता है। अरबो के वाह्य आक्रमणो से तथा मुसलमानी राज्य मे मजहबी दृष्टि के कारण आयुर्वेदीय प्राचीन ग्रंथो की खुले आम होलिया भी जलाई गई थी। ऐसे विपरीत देशकाल मे भारत के देशी राज्यो, राजाओ तथा धनिक वर्ग ने आयुर्वेद की रक्षा का गौरवमय प्रयास किया। जोधपुर सरकार मे भी आयुर्वेद को स्थान मिला हुआ था। सरकार द्वारा राजवैद्य स्वीकृत किए जाते थे। हमारे श्रद्धेय श्री चाणोद गुरासा भी जोधपुर राज्य के राजवैद्य व राजगुरु के सम्मानास्पद पद से विभूषित हैं।

राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पंजीकृत)
के अध्यक्ष

स्वामी श्री रामप्रकाशजी भिषगाचार्य
एम. ए. जयपुर.

चरित्र नायक के निष्ठावान सुहृद्

त्यागमूर्ति श्री मंगलदासजी स्वामी
जयपुर.

राजस्थान के ऋषितुल्य राजवैद्य चाणोद गुरांसा

रामप्रकाश स्वामी, भिषगाचार्य, एम ए, जयपुर
अध्यक्ष, राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पञ्जिकृत)

राजस्थान की गौरवगाथा इतिहास के पृष्ठो मे स्वर्णाक्षरो मे अकित है। राजस्थान की धरती वीरप्रसवा ही नही है, इसने सन्त, भक्त, धनी, दानी, विद्वान्, वैद्य व समाजसेवियों की भी बहुत बड़ी सख्या भारत को प्रदान की है। अन्यान्य क्षेत्रो की तरह आयुर्वेद के क्षेत्र मे भी अनेको विभूतिया राजस्थान मे आविर्भूत हुई हैं।

राजस्थान निर्माण से पहले राजस्थान मे छोटी बडी मिला कर करीब पच्चीस रियासतें थी। वैसे अग्रेजी राज्य के समय तो इस प्रदेश की 'बाईस रजवाडे' सज्ञा ही प्रचलित थी।

इन देशी राज्यो मे जोधपुर का राठौडों राज्य जिसको 'नो कोटि मारवाड़' भी कहा जाता था, जयपुर के बाद द्वितीय स्थान रखता था। इसी जोधपुर राज्य मे चाणोद एक ठिकाना है। राजस्थान के वैद्य समाज की अन्यतम विभूति सम्मानीय राजवैद्य राज्यगुरु भट्टारक श्री उदयचन्द्रजी महाराज का मूल स्थान यही चाणोद कस्बा है। आपकी गुरुपरम्परा चाणोद से ही प्रचलित है। आपका बहुत बडा स्थान जोधपुर मे भी है। सामान्यजनो मे आपकी चाणोद गुरासा के नाम से ही प्रसिद्धि है।

वैद्य समाज को यह बताने की आवश्यकता नही है कि बौद्धकाल के पश्चात आयुर्वेद की रुकी हुई श्रीवृद्धि मुगल साम्राज्य व अग्रेजी शासन मे आकर समाप्त प्रायः हो गई थी। एक सहस्र वर्ष का यह काल आयुर्वेद का घातक काल कहा जा सकता है। अरबो के बाह्य आक्रमणो से तथा मुसलमानी राज्य मे मजहबी दृष्टि के कारण आयुर्वेदीय प्राचीन ग्रथो की खुले आम होलिया भी जलाई गई थी। ऐसे विपरीत देशकाल मे भारत के देशी राज्यो, राजाओ तथा धनिक वर्ग ने आयुर्वेद की रक्षा का गौरवमय प्रयास किया। जोधपुर सरकार मे भी आयुर्वेद को स्थान मिला हुआ था। सरकार द्वारा राजवैद्य स्वीकृत किए जाते थे। हमारे श्रद्धेय श्री चाणोद गुरासा भी जोधपुर राज्य के राजवैद्य व राजगुरु के सम्मानास्पद पद से विभूषित हैं।

राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पंजीकृत)
के अध्यक्ष
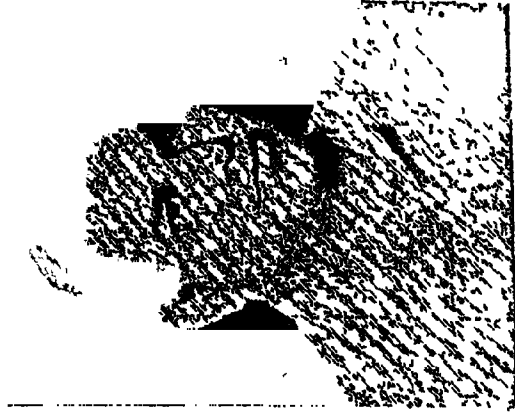
स्वामी श्री रामप्रकाशजी भिषगाचार्य
एम. ए. जयपुर.

चरित्र नायक के निष्ठावान् सुहृद्

त्यागमूर्ति श्री मंगलदासजी स्वामी
जयपुर.

चरित्रनायक के निष्ठावान्

चरित्रनायक के अनुजवत्

स्व० अमृतलालजी रंगा रसवैद्य
जोधपुर.
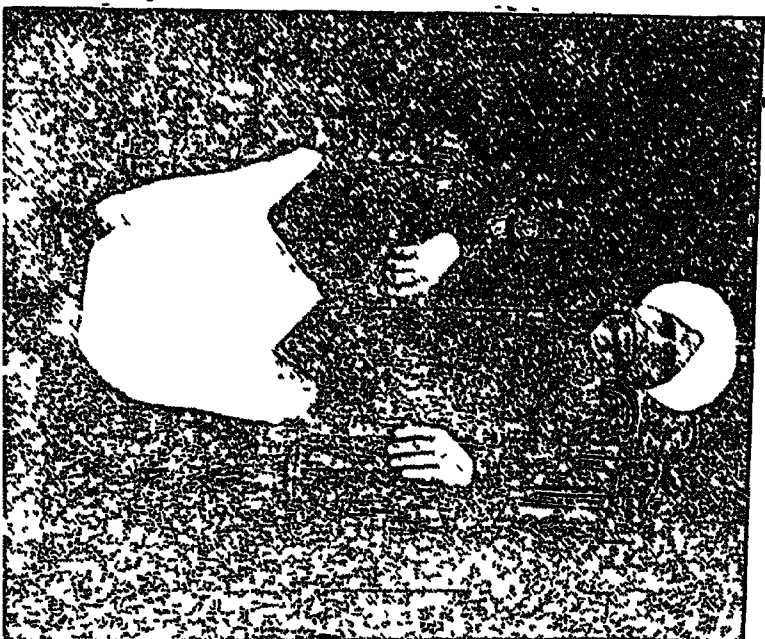
स्वनामधन्य स्वामी जयरामदास जी भिषगाचार्य,
पण्डित-मार्त्तण्ड-विद्यावागीश, (जयपुर)
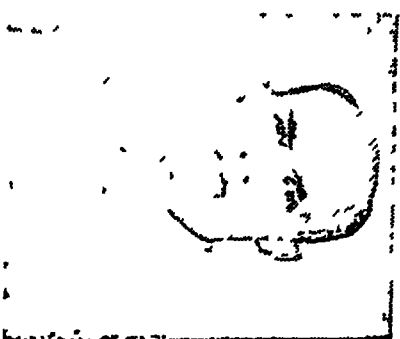
श्री जयानन्द ठाकुर
उपकुलपति आयुर्वेद विश्वविद्यालय
सौराष्ट्र

बीसवी सदी मे राजस्थान के विभिन्न राज्यो मे अनेको महाप्राण वैद्यरत्न कार्यक्षेत्र मे आए। उन्ही मे से अग्रणी श्री चाणोद गुरासा हैं। वैसे राजस्थान मे उस समय विभिन्न क्षेत्रो मे यतिवर सिद्ध चिकित्सक के रूप मे विख्यात थे। राजस्थान मे चिरकाल से मन्त्र तन्त्र प्रायोगिक रूप मे यति वर्ग में प्रचलित थे, साथ ही सिद्धहस्त चिकित्सा ने सोने मे सुगन्ध का काम किया था। सम्माननीय चाणोद गुरासा को परम्परा मे दोनो ही प्रणालिया सम्यक् प्राप्त हुई हैं। आपने सस्कृत का सम्यक् अध्ययन कर अग्रेजी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया है। आप साहित्य व सगीत कला मे भी प्रवीण हैं।

आपने अपनी सूझबूझ व अनोखी कार्यक्षमता से आयुर्वेदीय क्षेत्र मे कई नवीनताए प्रारम्भ की। आपकी अपनी फार्मेसी को जिन सज्जनो ने देखा है वे जानते हैं कि उसमे औषधिया प्रामाणिक ही नही हैं अपितु उनका रख-रखाव तथा व्यावसायिक रूप भी अनुकरणीय है। आपकी आरम्भ से ही आयुर्वेद मे परम निष्ठा है। आपने चिकित्सा क्षेत्र मे नवीन चिकित्सा पद्धति का कभी महत्व नही माना। दीर्घकालीन अनुभव, निरन्तर चिन्तन ही आपके मार्ग-दर्शक हैं।

राजवैद्य होने के नाते रियासती राज्यकाल मे अनेको ऐसे परीक्षात्मक अवसर आए जब आपको अपनी चिकित्सा का महत्व बनाए रखने मे कठिन से कठिन परीक्षाओं मे से गुजरना पड़ा। तात्कालिक जोधपुर महाराजा तथा सारा राजपरिवार आपमे बहुत ही श्रद्धा रखते थे। राजपरिवार तथा उच्चस्तरीय प्रशासक कार्य मे आपकी चिकित्सा का बहुत ही सम्मान था। सैकडो ही नही सहस्रो ऐसे रोगियो के केस जो नवीन चिकित्सा क्रम से उलझन में पड़ते रहते हैं आपकी चिकित्सा में आकर साफल्य को प्राप्त होते हैं।

राज्य में भूमि, सोना, ग्राम, शिरोपाव आदि पुरस्कार प्रदान करना राज्य की ओर का सर्वोच्च सम्मान समझा जाता था। आप इन सभी सम्मानो से सम्मानित हैं। जोधपुर नगर के निवासी तो आपकी सफल चिकित्सा से निरतर लाभान्वित होते ही है, जोधपुर से बाहर के राजस्थान, गुजरात, बम्बई आदि दूरस्थ क्षेत्रो के भी दुःसाध्य रोगी आपकी शरण में आते हैं या आपको बुलाते हैं। कैसा भी जटिल रोग हो आप जब उसकी ओर सम्यक् ध्यान देते हैं तो उसमें साफल्य निश्चित-साही मान लिया जाता है। बहुत से ऐसे भी असाध्य रोग आपके सामने लाए गए हैं जिनके ठीक होने की किसी रूप में भी आधुनिक

थ्योरी के चिकित्सको को आशा नही थी पर आपने अपनी परिणामी सूक्ष्म दृष्टि से उन रोगो के निवारण में भी अद्भुत सफलता प्राप्त की है।

निखिल भारतीय आयुर्वेद महा सम्मेलन का उन्तीसवाँ सम्मेलन जोधपुर मे जिस महत्त्व के साथ सम्पन्न हुआ था उसकी उस महान् सफलता का श्रेय आपको ही है। उस सम्मेलन का उद्घाटन महामहिम महाराजा श्री उम्मेद-सिंहजी जोधपुर ने किया था। उद्घाटन के पश्चात् महाराजाधिराज ने सभापति के भाषण तक बैठे रहने का भी अनुग्रह किया। उस सम्मेलन मे पधारने वाले सज्जनो ने देखा होगा कि राज्य के प्रधानमन्त्री सर डोनाल्ड से लेकर सभी प्रमुख पदो के प्रशासनाधिकारी व्यक्ति सम्मेलन मे बडे उत्साह से भाग ले रहे थे। सर डोनाल्ड ने प्रदर्शनो का उद्घाटन किया था। राज्य के प्राय: विभागीय प्रधान स्वागत समिति मे विविध समितियो का कार्य-सचालन कर रहे थे। यह स्थिति द्योतन करती है कि पूजनीय चाणोद गुरांसा के प्रति महाराजाधिराज जोधपुर व उनके प्रमुख राज्याधिकारी कितनी श्रद्धा रखते थे। यह सब आपके वैदुष्यपूर्ण व्यवहार-कौशल व आयुर्वेदीय समुचित चिकित्साज्ञान तथा दीर्घ अनुभव का ही परिणाम था।

आप सौजन्य की मूर्ति हैं। आप के पास छोटी से छोटी तथा बड़ी से बडी हैसियत के जो भी रोगी पहुचते है उन सब के साथ आप अत्यन्त सहृदयता का व्यवहार करते हैं। आपकी स्नेहशील प्रेममय वाणी तथा पीयूषपूर्ण पाणि के सस्पर्श से ही रोगी का आधा रोग निवृत्त सा हो जाता है। रोगी आपके दर्शन तथा औषधव्यवस्था से ही एक प्रकार का मनोबल प्राप्त कर लेता है तथा आरोग्य लाभ मे दृढ आस्था बना लेता है। आपमें वे अधिकांश गुण समाहित हैं जिनको आयुर्वेदमनीषियो ने एक वैद्य मे अनिवार्य आवश्यकता मानी है।

आज प्रत्येक विभाग के कर्मचारियो के लिये आचार सहितायें बनाई जा रही है पर आयुर्वेदाचार्य महर्षियो ने आयुर्वेदीय तन्त्रो के रचनाकाल में ही वैद्यो की आचार सहिता निरूपण कर दी थी। महर्षि सुश्रुत विशाखानुप्रवेशनीय अध्याय के प्रारम्भ मे ही कार्यक्षेत्र मे उतरने के लिए वैद्य का किन गुणो से युक्त होना आवश्यक है उसका कितने उत्तम रूप से निर्देश करते हैं —

"अधिगततन्त्रेण, उपासिततन्त्रार्थेन, दृष्टकर्मणा, कृतयोग्येन, शास्त्र निगदता राजानुज्ञातेन, शुचिना, शुक्लवस्त्र परिहितेन, छत्रवता, दण्डहस्तेन, सोपानत्केन, अनुद्धतवेषेण, सुमनसा, कल्याणाभिव्याहरिणा, अकुहकेन, बन्धुभूतेन भूतानाम् सुसहायवता वैद्येन विशिखानु प्रवेष्टव्या।"

चिकित्सा कार्य करने को प्रवृत्त होने वाले वैद्य को अपनी कैसी तैयारी करनी आवश्यक है महर्षि सुश्रुत ने इसका अपने उपर्युक्त संदर्भ में स्पष्ट निर्देश कर दिया है। उन गुणों का जब हम चाणोद गुरांसा में सन्तुलन करते हैं तो हमें आश्चर्य होता है कि मानो आर्तत्राता भट्टारक श्री उदयचन्द्र जी महाराज इन गुणों की प्रतिमूर्ति ही हैं। उक्त सभी गुण उनमें समुचित रूप से विकसित हैं। "सर्वभूतहिते रता" की भावना उनमें कूट कूट कर भरी हुई है। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। वे एक सफल से सफल चिकित्सक, शास्त्रमर्मज्ञ, भारतीय संस्कृति के परम अनुरागी, विद्वत्सेवी, मधुरभाषी, परम विनीत व निरभिमानी सत्पुरुष हैं।

उनके औषध निर्माण तथा चिकित्सा ने पुण्य का आदर्श उपस्थित किया है। इस चाक-चक्यपूर्ण नवीन वैज्ञानिक चिकित्सा की चकाचौंध से चकित व भ्रान्त हुए व्यक्तियों की आस्था को आयुर्वेद की ओर प्रवृत्त कराने में आप द्वारा जो सतत प्रयत्न चल रहा है वह अवर्णनीय है।

राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में आयुर्वेदीय चिकित्सकों का जो अनेक देदीप्यमान विभूतियां आज अवशिष्ट हैं उनमें आपका समादरणीय स्थान है। अर्थ-लिप्सा की भावना से डगमगाते वैद्य समाज की आयुर्वेदीय निष्ठा को बनाये रखने में आपका उदाहरण परम सहायक है।

वैसे अब आप आयु के चतुर्थ चरण में हैं तो भी प्रातःकाल से लेकर रात्रि के एक प्रहर तक का काल रुजार्त्त प्राणियों की सेवा में ही व्यतीत करते हैं। हमारा सौभाग्य है कि राजस्थान में आज भी आप जैसे आयुर्वेद के आधार-स्तम्भ हमारे मध्य विराजमान हैं। भगवान् धन्वन्तरि आपको शतायुष्य प्रदान करें, नवीन पीढ़ी का वैद्य समाज आपसे आयुर्वेद निष्ठा की प्रेरणा प्राप्त करता रहे तथा आप हम सबके सर्वदा अभिनन्दनीय बने रहें।

राजवैद्य भट्टारक, श्रद्धेय चाणोद गुरांसा

एक संस्मरण

मङ्गलदास स्वामी, जयपुर

भारतीय जन समुदाय मे सर्वदा ही विविध क्षेत्रो में महान् विभूतियो का आविर्भाव होता आया है। उन्ही विभूतियो मे गणनीय है हमारे विविध विरुदावलीविभूषित वैद्याग्रणी प० श्री उदयचन्द्रजी महाराज। राजस्थान का वैद्य समाज तथा जन समाज उनसे अपरिचित नही है। वे दीर्घ काल से रुग्ण जनता की जिस तन्मयता से सेवा मे लगे हुए हैं, वह सर्वविदित है।

काल प्रभाव से आयुर्वेद पर पर्याप्त समय से आधार पर आघात लगते आए हैं। देश की परतन्त्रता तथा विदेशी शासको ने बहुत लम्बे समय से उसकी उपेक्षा ही नही की, अपितु उसके महत्व को क्षीण करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहे हैं। आयुर्वेदीय विविध सहिताओ का निर्ममता से विगत काल में विनाश किया गया, वह भारतीय इतिहासवेत्ताओ से अज्ञात नही है। दीर्घकाल से विविध विषमताओ का सामना करते हुए भी आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धत्ति ने देश की महान् सेवा की, तथा कर रही हैं। देश पराधीनता से मुक्त हुआ, भारतीयता की भावना मे तीव्रता आई। देश का शासन भारतीयो के हाथ में आया। शताब्दियो से प्रसुप्त भारतीय सस्कृति की समुन्नति की आशायें जागृत हुई। वैद्य समाज भी आशान्वित हुआ कि दीर्घकाल से उपेक्षित आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति को अब तो उचित प्रोत्साहन मिलेगा। तदर्थ वैद्य समाज अपने द्वारा शक्य सभी प्रकार के प्रयासो मे लगा हुआ है। किन्तु सफलता अभी दूर है। आयुर्वेद का यह सक्रमण काल है। अनेक विषम विषमताओ के होते हुए भी आयुर्वेद का अस्तित्व सुरक्षित है। इसका श्रेय यदि किसी को है तो उन आयुर्वेद-मनीषियो को ही है जिन्होने अपनी ज्ञानगरिमा, चिकित्सानैपुण्य, आयर्वेदीय-निष्ठा के द्वारा आयुर्वेद की सेवा मे अपने जीवन की आहुतिया प्रदान की। भारत के सभी प्रदेशो मे समय २ पर अनेक पीयूषपाणी प्रणाचार्यों ने भारतीय जनता के आयुर्वेदीय विश्वास को अपनी सफल चिकित्सा के द्वारा अक्षुण्ण रूप से बनाए रखा। हमारे श्रद्धेय "गुरांसा" भी वैसी ही एक महान् विभूति हैं।

कालविपर्यय, विदेशी शासन बिना सुदृढ सबल के आयुर्वेद की गति अवरुद्ध होती जा रही थी। उसका विशाल शास्त्रीय भडार विनष्ट हो चुका था। बचे हुए साहित्य की भी उपलब्धी सहज साध्य नही थी। प्रेस का अभाव था, आवागमन के साधन भी दुरूह थे, अत सहिता ग्रथो का प्रचार प्रसार सीमित होता आ रहा था। लोग रामविनोद, वैद्यविनोदादि लघु ग्रथो के आधार से चिकित्सा करने लगे थे। राजस्थान मे भी यह ह्रास की दशा अपर क्षेत्रो से कुछ अधिक ही उग्र होती जा रही थी। ऐसी विषम स्थिति में इने गिने वैद्य ही शास्त्रीय ज्ञान के ज्ञाता रह गए थे। अधिकाश वैद्य परम्परा व सामान्य ग्रथो के आधार से ही चिकित्सा करने लग गए थे। औषधियो के योग भी सिमटते जा रहे थे। आयुर्वेद का यह काल था अठारहवी उन्नीसवी सदी का। समय ने कुछ पलटा खाया, बीसवी सदी मे राजस्थान की विभिन्न रियासतो मे अनेको सुपठित विद्वान वैद्यो का आविर्भाव हुआ। बीसवी सदी के पूर्वार्द्ध मे जयपुर मे सस्कृत कालेज की स्थापना हुई। उसी से आयुर्वेद के अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था हुई। राजस्थान मे विधिवत् पठन पाठन का यही से सूत्रपात है। अन्य रियासतो मे भी सुशिक्षित राजवैद्य इस क्षेत्र मे आए। इन गणमान्य विभूतियो ने आयुर्वेद की क्षीण दशा को उन्नत करने के लिए अथक आजन्म प्रयास किया, जिससे धीरे २ सुशिक्षित वैद्य दिनो दिन तैयार होने लगे, तथा शास्त्रीय विधि से चिकित्सा का क्षेत्र सम्पन्न होने लगा, इसी सक्रमण काल मे माननीय हमारे "गुरांसा" ने भी इस क्षेत्र मे पदार्पण किया। आपने विधित सस्कृत का अध्ययन कर आयुर्वेद के सहिता ग्रथो का मनन किया। आपकी प्रतिभा विलक्षण है। आपने चिकित्सा क्षेत्र मे अपना अन्यतम स्थान बनाया। जिनका सम्पर्क आपसे हुवा है वे जानते हैं कि आपकी बौद्धिक शक्ति कितनी विलक्षण है। आपने अपनी तीक्ष्ण विचारसरणी से चिकित्सा क्षेत्र मे पर्याप्त नवीनता का प्रादुर्भाव किया। आपने ही राजस्थान मे विधिवत् फार्मेसी की स्थापना की। अपना ही प्रेस स्थापित किया। फार्मेसी मे औषधि-निर्माण तथा औषधियो के पैकिंग आदि की इतनी सुन्दर व्यवस्था की कि जिससे देख कर आश्चर्यचकित होना पडता है, आपकी फार्मेसी में जाने पर ज्ञात होगा कि किस तरह औषधियो का रख रखाव व उनका पैकिंग उनके व्यवस्थापत्र कितने व्यवस्थित ढंग के हैं। कहना होगा कि आपकी नैपुण्यपूर्ण व्यवस्था से फार्मेसी से सभी तरह से वैद्यो के समक्ष एक आदर्श उपस्थित किया है कि किस तरह एक वैद्य अपने ही प्रयास से आयुर्वेद की रक्षा व प्रगति में कितना उच्च कोटि का सहयोग प्रदान कर सकता है। आपने सैकडो ही नही सहस्रो असाध्य स्थिति में पहुंचे कठिन

रोगियो को अपनी नैपुण्यमय चिकित्साशैली से आरोग्य व जीवन प्रदान किया है। जोधपुर राज्य के कार्यकाल में आपने जोधपुर के महाराजाधिराज को अपनी चमत्कृत चिकित्सा से प्रभावित किया। जोधपुर के महाराजाधिराज ने आपको सुवर्ण पदककण प्रदान कर आपका सर्वोच्च सम्मान प्रदर्शित किया। आप सस्कृत के आयुर्वेद के तो विद्वान् हैं ही आपका अग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओ पर भी पूरा अधिकार है। आपकी सफल चिकित्सा को मान्यता राजस्थान में ही नही गुजरात व बम्बई आदि क्षेत्रो में भी सम्यक्तया व्याप्त है। आपकी चिकित्सा का यह वैशिष्ट्य है कि कैसी भी कठिन अवस्था मे पहुँचे हुए रोगो में आपको प्राय ही साफल्य प्राप्त होता है। जो भी रोगी आपकी सेवा में पहुँच जाता है, उसे उसी समय से अपने रोग की निवृत्ति का विश्वास बन जाता है। आपके प्रेमभरे स्नेहार्द्रता से निकले आश्वासनो के वाक्यो से रोगी में तत्काल स्फूर्ति आने लगती है। आपका कार्यकाल षष्टि से ऊपर आ चुका है। सैकडो वे रोगी जो आज की साधन सामग्री से भरपूर वैज्ञानिक पद्धति से लम्बे समय तक चिकित्सा करा कर निराश हो जाते हैं वे आपकी शरण में आकर आपकी सिद्ध-चिकित्सा से रोगमुक्ति का अलभ्य लाभ प्राप्त करते हैं। आयुर्वेद के साथ ही, ज्योतिष, सगीत, साहित्य, मत्र, तन्त्र शास्त्र के भी आप मर्मज्ञ जानकार हैं।

राजस्थान में नि० भा० वैद्य सम्मेलन के चार अधिवेशन हुए, जयपुर, फतहपुर, बीकानेर, जोधपुर। इनमें जोधपुर का अन्तिम व जयपुर का प्रथम अधिवेशन था। जिन व्यक्तियो ने जोधपुर सम्मेलन में भाग लिया वे जानते हैं कि वह अधिवेशन कितना भव्य व प्रभावकारी था। सम्मेलन का वह २९ वा अधिवेशन था, उसको सर्वतोभावेन आकर्षित व उत्कृष्ट बनाने के लिए "गुरांसा" का प्रयास सर्वोपरि था। जोधपुर का पूरा राज्य ही सम्मेलन की सफलता मे सलग्न था। सम्मेलन का उद्घाटन महामहिम नवकोटि मारवाड के मरुधराधीश महाराजा श्री उम्मेदसिंहजी ने किया था। प्रदर्शनी उद्घाटन प्रधान-मत्री श्रीमान् कर्नल सर डोनाल्ड फील्ड महोदय ने किया था। वह समय था सन् १९३९ का। महात्मा गाधी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता सग्राम का दौरदौरा चल रहा था। उस समय सघर्षमय काल में एक रियासत में होने वाले इस सम्मेलन का जो भव्य रूप बना वह सब करामात हमारे आदरणीय गुरांसा की ही थी। आपका प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा था—राजा तथा प्रजा का जो अनुपम सहयोग इस अवसर पर दृष्टिगोचर हो रहा था उसी से स्पष्ट सिद्ध हो रहा था कि श्री चाणोद "गुरांसा" के चिकित्सानैपुण्य से सारी रियासत के सारे अधिकारी प्रभावित हैं। राजस्थान के गगनमण्डल मे आज भी आप आयुर्वेदीय-

क्षेत्र मे सूर्यवत् प्रकाशमान हैं। आप आयु के चतुर्थ चरण मे चल रहे हैं। फिर भी आप आज भी रोगातुर प्राणियो के लिए महान् आलम्बन है। आज वैद्य समाज अपनी चिकित्सा मे आयुर्वेद व ऐलोपैथो दोनो का प्रयोग करते नजर आता है। पर आप विशुद्ध आयुर्वेदीय क्रम को ही पूरी निष्ठा के साथ अपनाए हुए हैं। आप देशी चिकित्सा प्रणाली के मूर्तिमान सफल प्राणाचार्य हैं। आपके कारण आज भी राजस्थान गौरवान्वित है। हमारी परम प्रभु भगवान् धन्वन्तरी से यह ही विनम्र प्रार्थना है कि वह स्वनामधन्य हमारे "चाँणोद गुरांसा" को पूर्ण स्वास्थ्य के साथ शतायुस्य प्रदान करे जिससे कि राजस्थान के इस गौरव-पुंज से आतुर जनता विविध सक्रामक रोगो से त्राण पाती रहे।

—नम श्री धन्वन्तरये—

Kaviraj

ASHUTOSH MAJUMDAR

Hony. Director M.M L Centre for Rheumatic Diseases
Hony. Aurvedic Physician to the President of India
Fellow of Royal Asiatic Society, London
Fellow Accadamaia Dei Templari, Bologna, Italy

सर्वे वयम आयुर्वेद-विद्या-सेवापरायणा वैद्याः श्रीमदुदयचन्द्र भट्टारक-महानुभावनां हीरक-जयन्ती-समारोहस्य वृत्त विदित्वा हर्ष-प्रकर्षमनुभवामः।

उदयवेलया चन्द्रमालोक्य यथा चकोरा भृश हृष्यन्ति, तथोदयचन्द्र-महोदय वीक्ष्य विबुधा अपि प्रसीदन्तीत्यत्र न काऽपि कस्याऽपि चिकित्सकस्य चित्ते विचिकित्सा।

चन्द्र सुधाकर इति कविभि· कीर्त्यते भट्टारकमहाशयोऽपि पीयूष पाणिरिति साम्यमेव चन्द्रोदयचन्द्रयो. । तच्च सहृदयाना हृदयानि सम्यक् आह्लादयति, भट्टारक महोदयाना चिकित्सा-चमत्काराननुभूय समाज-सेवाचालोक्य जनता जन-ताप-हारिणा जयन्ती समायोजितवतीति नश्चयः सता सतोषमावहति,

समाना नवतिमतीत्य ततोऽप्युत्तरस्मिन् वयसि प्रचलिष्यन्तोऽमी महात्मानो दीर्घायुष्कामानाकामकामुकाना पुर आदर्श स्थापयित्वा स्वयशस्ये धवलिम्ना दिगन्तानपि नून वलक्षीयस्यतीतिमयमाशास्महे।

वयसो द्राघिमा गुणाना गरिम्णा सहकृतो प्रशस्य· सञ्जायते, समर्हति च भूयांसि अभिनन्दनानि अहमपि स्वकीयम् अभिनन्दनाञ्जलिम् भट्टारक-महोदयेभ्यः सादर समर्पयामि।

१०-४-१९६४ —श्री आशुतोष मजुमदारः

पत्रं-शुभाशंसनम्

श्रीमद्भ्यषिचकित्सक शिरोमणिभ्यो कल्पतरुरिव मरुस्थलया निदान चिकित्सा छायाफल समन्वितेभ्य' श्रीउदयचन्द्र भट्टारक महोदयेभ्य स्वस्ति वर्ततेऽद्य समुज्वलेति मजुलो मनोमलहरोहृशा सुखकर । यतिवर सद्मपद्मविकासाय पद्मिनी नाथोदयोत्सव इव भवता तत्रभवता जन्मोत्सव ।

अद्य घनागमे मयूरस्य, वसन्तागमे कोकिलस्य, शरदागमे हसस्य, रात्र्यागमे जारस्य, कामिन्यामे कामुकस्येव मनोमोमोत्ति सता मन । दूरस्थमपि परोक्षमपि चाक्षिलक्ष करोति । श्रीमता गृहे जात सर्वमुत्सव समूह तेषा स्मृतिसस्कारवाहीमत्तमन । वलादुड्डीयते कल्पनापक्षधृक्हृदयह्लदो तेषा मनोमरालः । सर्वैविद्वद्वराग्रगण्यैरमितै. बन्धुवर्गै एकात्मतया प्रास्वाद्यते जन्मोत्सवजन्यः रस' । अस्मिन्नवसरे दीयते मया वेदोक्त आशीर्वाद । जीवन् शतेभद्रशतानि पश्य । "भद्र पश्य, भद्रम्शृणु, भद्रमाजिघ्र, भद्र वद, भद्रञ्च स्पृश । आत्मा त्वा सतत पातु परात्परतरो महान् । यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चाति विषयानिह । यच्चास्य सततो भाव: स आत्मा त्वा सदावतु ।"

वेदाक्ष्यम्बर लोचनैः परिमिते सवत्सरे वैक्रमे
वैशाखे विजयतिथौ भृगुदिने मासे सिते माधवे ।
आयुर्वेद वृहस्पते रुदयचन्द्रस्यास्ति जन्मोत्सव.
तस्यास्सतशिरोमरणेर्यतिपतेनूणा मुदा श्रेयसे ॥१॥

यस्मिन् नोमसमुच्चयावयपुते वेदस्य मुख्याक्षरे,
जाग्रत्स्वप्न सुषुप्तिक प्रकटित जन्तोरवस्थात्रयम् ।
यत्तारक समुद्रभेद विधवत् जीवान्ध्यसम्मोह यतु,
साच्चिद् ज्ञानसरःसदाप्लपयतु ह्योकार मेवाक्षरम् ॥२॥

कोषा पच शरीरिरण शिवतमाः सर्वाश्चवस्थायुते,
वेदाध्यापन सश्रितस्य यमिन वैद्यस्य विज्ञस्य च ।
वर्गत्वा विषयाभिमान जनित भोक्तु मनोभ्यासज
ससारे श्रुति सम्मत सुखचय चातुर्विध चोज्वलम् ॥३॥

वेदोद्यान विलासितः प्रभवति प्रज्ञा परादर्शिनी
याभूत्यै भवतीह मुग्न तमसः तापत्रयोन्मूलिनी ।
शुद्धा हारविहारिणः श्रुति जुषो जीवातवे स्वात्तव
इत्याशीर्मनसा गिरा मधुरया जन्मोत्सवे दीयते । ४॥

मीमांसा मननाब्धि मग्नमनसा कर्मायत यत्फलम्,
शम्भो' पादसमर्चनेन सुधिया सहृद्यते यत्फलम् ।
तत्त्व वैद्यकुलावतसकपते भक्त्या भवे प्राप्नुहि,
षट्सम्पन्ननुसेवता तवतनु दासीव सेवारता ॥५॥

शुभाशंसी

वि० सं० २०२४
अक्षय तृतीया

कृष्णलाल शर्मा, एम०ए०, साहित्याचार्य
रजिस्ट्रार, आयुर्वेद विभागीय परीक्षाऐं, अजमेर (राज)

सनातनपन्था
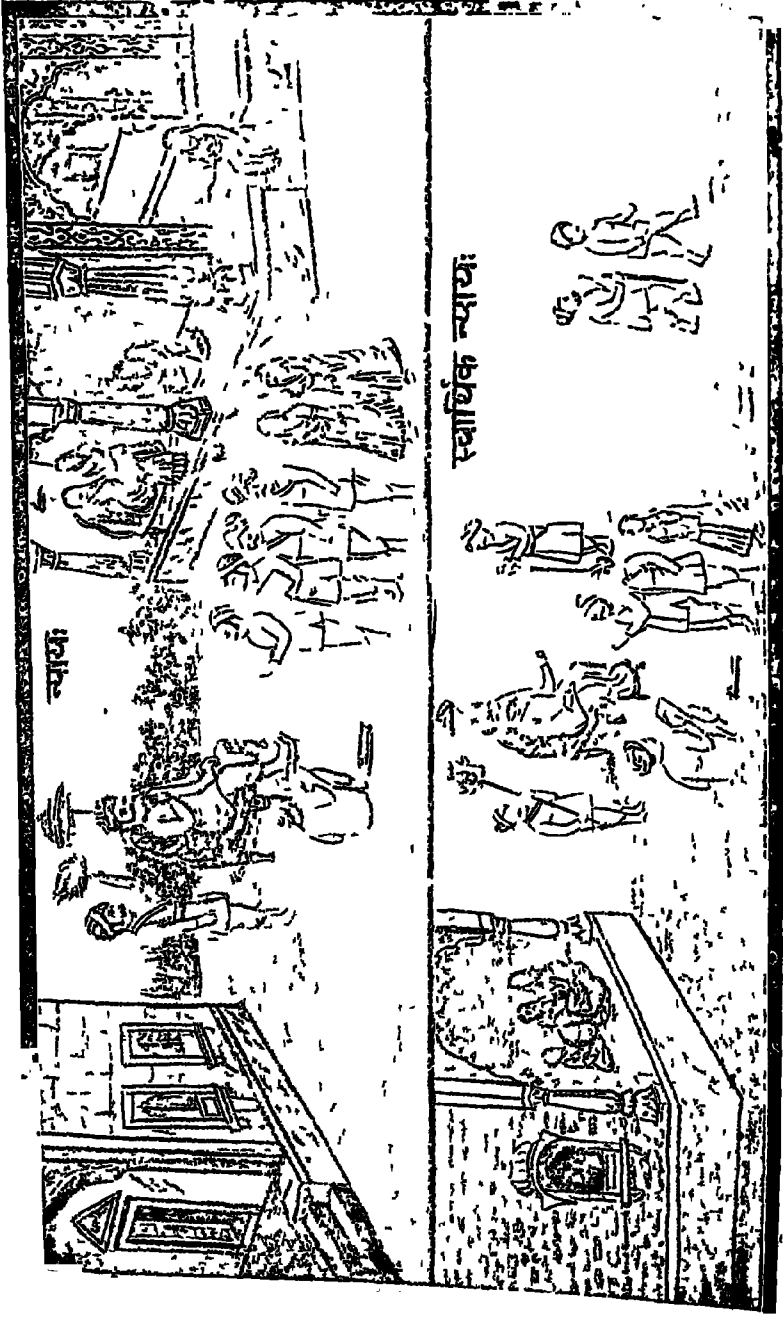
तमसो मा ज्योतिर्गमय

रिसालदार पन्नालालसिंह स्मृति साहित्य प्रकाशक मण्डल एवं शोध संस्थान

(कार्यालय : श्री उम्मेद बहुद्देश्यीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय)

जोधपुर (राजस्थान-भारत)

के

संस्थापक एव व्यवस्थापक श्री बालमुकुन्दजी अ. खीची द्वारा भिषगाचार्यादि उपाधियालङ्कृत चाणोद गुरासा श्री १००८ श्री उदयचन्द्रजी

अभिनन्दन ग्रन्थ हेतु—

यति के पद पर दीक्षित होकर, निष्क्रिय आप रहे न कदाः
विविध कला प्रवीणता मे अग्रिम आसन प्राप्त किया।
प्रखर बुद्धि अरु योगशक्ति का परिचय सतत दिया सदाः
दुखित रोगियो का सेवाव्रत तन मन धन से धार लिया॥

× × ×

तृष्णा लोभ रखा न कभी, इस जन सेवा का लाभ लिया।
राव रङ्क में रखा भेद नहिं, समदृष्टि बर्ताव किया॥

× × ×

चन्द्र के उदय से प्रकाश फैलत जग माहिं;
प्रकाश सो अथिर होत, थिर ना रहत है।
उदयचन्द्र ! आपको प्रकाश तो घटत नाहिं:
सुन्दर सुखद जन जन यो कहत हैं॥

विद्यावाचस्पति-भिषगाचार्य

प्राणाचार्य श्री गोवर्धन शर्मा छांगाणी

के

चरित्रनायक के प्रति श्रद्धामय भावना के अंश

सीताबर्डी, नागपुर
ता० १३-१-१६४०

श्रीमान् परम श्रद्धेय धन्वन्तरिक कल्पायुर्वेद मार्तण्ड पण्डित भट्टारक राजवैद्योपाध्याय श्री ६ उदयचन्द्रजी महोदय की सेवा मे।

सुहृद्वर गुरा साहब, सप्रेम वन्दना स्वीकार करें। दिल तो चाहता है कि अब फिर निश्चितता मे आपको सेवा मे आऊँ क्योंकि तृप्ति नही हुई। एक बार आप मारवाड मे हम वैद्यो के मुकुटमणि एक आदर्श राजवैद्य आयुर्वेद की शान रखने वाले हैं। मुझे आपके घराने का इतिहास लिखकर प्रकट करना है। कहा कहा आपके सप्रदाय ने रहकर कितनी शास्त्र सेवा की और कर रहा है। यह सत्र सूर्य की तरह प्रकट होना चाहिये। अब दकियानूसी जमाना नही रहा है। मुझे आपके द्वारा कई पट्टावलिया देखने को मिलेंगी ऐसा विश्वास है। परमात्मा आपका हमारा वृद्धिगत करे।

मरुस्थल के देदीप्यमान नक्षत्र श्री गुरांसा

श्री उदयचन्द्र चाणोद गुरासा जोधपुर आयुर्वेद जगत् के एक देदीप्यमान विभूति हैं। मारवाड के कई ऐसे रोगियो को जिनको मेडिकल हास्पिटल ने असाध्य घोषित कर दिया था श्री गुरासाहब ने अपनी चिकित्सा द्वारा निरोग किया है और जीवन से निराश व्यक्तियो को असाध्य रोगों से मुक्ति दिला कर उनको नियमित सुखमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्रदान की है।

आपने सदा ही जनता जनार्दन की चिकित्सा सुश्रूसा करते हुये अपने जीवन को जनता की सेवा का साधन बनाया है तथा "परोपकाराय सता विभूतय" इस लोकोक्ति को चरितार्थ किया है।

आपकी सेवाओ से उपकृत्य एव सतुष्ट होते हुये जोधपुर के महाराजाओ ने आपकी सेवाओ की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और चिकित्सासुश्रुसा के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन करते हुये गुरासाहब को पैरो मे सोना बक्षीस किया है।

आप जिस गद्दी पर विराजमान हैं उस गद्दी के अधिकारी मुगल बादशाह औरङ्गजेब के समय से ही मुगल दर्बार के विभिन्न बादशाहो के फरमानो और सनदो से सम्मानित किये गये हैं। प्रत्येक गाव का किसान आपके पूज्य घराने को प्रत्येक फसल पर १) व नारियल देकर सम्मानित करता रहा है। यह सब प्रताप इनके घराने के व्यक्तियो के त्याग निष्ठा, सेवा-परायणता और परोपकार की भावना के प्रति जनता द्वारा प्रदर्शित सम्मान का द्योतक है।

व्यक्तिगत रूप में श्रीगुरांसा एक सरस एव भावुक व्यक्ति हैं। आपकी सगीतप्रियता, सितारवादन, चित्रकला के प्रति प्रेम तथा साहित्य के प्रति निष्ठा ने आपको सगीतज्ञो, चित्रकारो व साहित्यिक व्यक्तियो की सभा मे सदा ही सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है। आप इन गुणो के कारण इतने लोकप्रिय हो गये है कि सदा ही आप गुणीजनो से घिरे हुए रहते हैं। आपका व्यक्तित्व इतना प्रखर व समुज्वल है कि जो भी व्यक्ति एक दफा भी यदि आपके सम्पर्क में आ गया तो वह आप से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता।

आपने अपने जीवन काल में आयुर्वेद जगत की जो सेवायें समय-समय पर की है और रोगो के निवारण हेतु तथा स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य सरक्षण हेतु

जो-जो उपाय अपने उपदेशो, व्याख्यानो एव भाषणो द्वारा समय-समय पर दिये है वे जनहित के लिए परम उपयोगी हैं।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि ऐसे वृद्ध, तपस्वी एव विद्वान चिकित्सक की सेवाओ के प्रति कृतज्ञता दिखाते हुये जोधपुर की जनता इनको एक अभिनन्दन-ग्रथ भेंट कर रही है। मैं भी अपनी भावना रूपी कुसम इस अवसर पर भेंट करते हुये गुरासा के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशन करता हूँ और उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

मनोहरलाल श्रीमाली
नाथद्वारा (राज०)

श्रीमतामायुर्वेदमार्तण्ड प्राणाचार्य वैद्यावतंस राजवैद्यादिविविधविरुदभाजां
पण्डितप्रवराणाम् उदयचन्द्रभट्टारकमहोदयाना हीरकजयन्तीमहोत्सवे
पद्मकुसुमाञ्जलिः

नमस्कारः

पीयूषपूर्णं घटमादधानः
पीताम्बरश्चन्दन चर्चिताङ्गः।
प्रसन्नदृक् स्याद् भगवान् सदा नः,
धन्वन्तरिर्नीर निधिप्रसूतिः ॥१

ये ब्रह्मसञ्चिन्तन चेतसोऽपि,
न चक्रिरे भूतदयां परोक्षाम्।
आनिन्युरायुर्वेहृत वेदमुर्व्यां,
प्रातर्नमस्याः परमर्षयस्ते ॥२

यैः शाश्वतं ज्ञानमिद त्रिसत्य,
त्रिस्कन्धमूर्जस्वलवाग्विलासैः।
न्यबन्धि नानाऽमरसंहितासु,
नस्तेऽग्निवेशप्रमुखाः प्रणम्याः ॥३

अन्ये च ये नैकविधान् निबद्ध्य,
ग्रन्थान् हितानल्पधियां कृतेऽपि।
श्रीवृद्धिमस्य व्यदधुः सुधीन्द्राः,
शास्त्रस्य तेऽपि स्मरणीयवृत्ताः ॥४

विचार्य सृष्टिस्थिततत्त्वतत्त्व,
निर्भ्रान्तिसिद्धान्तनितान्ततान्ताम्।
चक्रू रसाविष्कृतिमर्चनीयाः,
सिद्धा समृद्धा यशसा सदा नः ॥५

स्वोपासनासद्मनि सिद्धतन्त्रा-
ण्यनेकरूपाणि भिषग्जितानाम्।
निर्माय निर्मायमुपादधुर्ये
नस्तेऽर्हणीया यतयो विरागाः ॥६

दुःसङ्कटाक्रान्ततमोयुगेऽपि,
म्लेच्छार्दिताः साहसवन्त एके ।
ये पूर्वजानां निधिमाररक्षु'
तेभ्यो नमो नः सततं कृतिभ्यः ॥७

सद्वैद्यप्रशंसा

तेषामहो ! किं परिवर्णयामो
यशांसि शुभ्राणि भिषग्वराणाम् ।
वहन्ति येषां शिरसा निदेश
भृत्या विधेया इव भेषजानि ॥८

चिकित्सिते रूढरुजा तनूषु
सिद्धाः कियन्तो भिषजो लसन्ति ।
ये सन्ति तेऽज्ञातलोकमार्गा.
स्वेच्छ वने वा भुवने चरन्ति ॥९

श्रीमान् उदयचन्द्रभट्टारक महोदयः

स्मर्तव्यनाम्नां हि भिषग्वरणा-
मेताहगुल्लेख्यपरम्परायाम् ।
युगाग्रणीर्भाति यतीन्द्रपीठे
भट्टारकश्रीरुदयादिचन्द्र' ॥१०

सोय श्रीमान् यतीन्द्रो भरतवसुमतीप्राज्यराज्यान्तरिक्षे
सराजद्भाभिरामप्रवरगुणभिषग्वृन्दनक्षत्रदीप्ते ।
सम्पूर्ण. सत्कलाभिः प्रसृमरसुयशोज्योत्स्नयाशामुखानि-
प्रत्यग्रश्रीणि कुर्वन् अपर इव शशी निष्कलङ्कोऽभ्युदेति ॥११

वाणीलक्ष्मीविलासद्विगुणितविभवे सत्कुले जन्मलब्ध्वा
ज्ञानालोकप्रदीप्त्या विनतसुरगुरोरात्तविद्यो गुरोर्यः ।
कर्माभ्यासेन शास्त्र करतलवदरीकृत्य धोमाश्चिकित्सा-
क्षेत्रे सोत्साहसम्पद् रसशरनवभूवत्सरे चावतीर्ण ॥१२

दक्ष. क्रियासु कुशलो गदनिग्रहेषु
भैषज्यकल्पनकलासु च सिद्धहस्त. ।

रोगार्तसान्त्वनविधासु विचक्षणोऽयं
लोके प्रसिद्धिमभजत् समयेऽल्प एव ॥१३

शिष्यैर्ज्ञानमहार्णवो गुरुजनैर्यो नम्रताशेवधि-
र्नानारोगनिपीडितैः किल जनै पीयूषपाणिर्भिषक् ।
शिष्टै सभ्यजनाग्रणी प्रियसुहृत् साह्यार्थिभिर्याचकै-
कल्पद्रुर्युगपन्नचबोधि यतिभि सिद्धो यतात्मा परः ॥१४

पाश्चात्यैरचिकित्स्यतामुपगता मर्त्यादिचिकित्सापथै-
र्जीर्णार्तिव्यथिता स्वमृत्युदिवस सङ्ख्यातुमारेभिरे ।
तद्व्याधिक्षपणे त्वदीयपटुतामाश्चर्यदामोर्ष्यया
निध्यायन्ति हृदि स्तुवन्ति भिषजो वैदेशिका दैशिका ॥१२

यस्मिन् दृष्टिपथ प्रयाति भिषजामग्रेसरे मानिना
पौराणामपि जायतेऽञ्जलिलसन्मुद्रा हठान्मूर्धनि ।
किञ्च प्रह्वनरेन्द्रमौलिमुकुटश्रेणीलसद्रत्नभाः
कुर्वन्त्यङ्घ्रिनखच्छटा प्रतिदिन चित्रा विचित्रा पुन· ॥१६

आगत्यागत्य दूरादगणित विभव श्रेष्ठिसामन्तवर्गं
दृष्ट्वा भक्त्यार्पयन्त प्रचुरतरधन रोगमुक्तिप्रसङ्गे ।
आधातुं हेममूषा तव पदयुगयोर्मुंष्णतो पद्मकान्ति
मन्ये राज्ञामनुज्ञा सुगुण ! गुणविदामात्मसन्तोष हेतु· ॥१७

आयुर्वेदतरो समूलदलनायापार्ष्णिचूडान्तर-
स्वेदस्रावकरैरशिष्टमतिभि क्लृष्टै· प्रदुष्टाशयैः ।
आरब्ध यदकार्यमुल्वणतम तद्रोद्धुमारेभिरे ।
यत्न ये भिषज प्रचण्डमहसा तेषा भवानग्रणीः ॥१८

आयुर्वेदसमुद्धृतेर्नवनवा आविष्कृता योजना
ऐक्य वैद्यगणेषु भिन्नमतिषु प्राणात्मना स्थापितम् ।
मानः शासकमण्डलस्य हृदये शास्त्र प्रति स्फोटितः
शास्त्रस्यापरिशीलनाय शतशश्छात्राश्चसम्प्रेरिता· ॥१९

आयुर्वेदसभासु गौरवपदे वैद्यैर्भवान् साग्रह
वैद्यव्रातहिताय विज्ञ ! कतिचिद्वार समारोपितः ।
राजस्थानधराधिपैश्च बहुभिर्भूयो भवान् सत्कृतो
दत्त्वा राज्यभिषक्पद "गुणिजन कैर्नात्र तोष्टूयते ॥२०

वार्धक्येऽपि भिषग् ! भवद्हृदि लसन्नुत्साहवारां निधिः
स्पर्धाया विषयो विभाति बहुधा यूनामपि स्वात्मनाम् ।
आयुर्वेदममु स्वगौरवपदे भूयोऽपि वा भारते
नून स्थापयितु बतोद्यम इह न्यूनोऽस्ति कस्मात्तव ॥२१

आत्म प्रत्ययपूरिते सुविमले तेजोमये दर्शने
वाचां स प्रसरो निरस्त कुहकः स्रोतस्विनीसूज्ज्वलः ।
सौजन्यामृतवर्षिणो व्यवहृतिस्ते निश्छला निर्मदाऽऽ-
रङ्कक्ष्मापतिमा च वृद्धतरुण सर्वं वशीकुर्वते ॥२२

आयुर्वेदस्य वर्तमाना दशा

जातो भारतभूतले सुसमयात् स्वातन्त्र्यसूर्योदयो
विश्वाकाशतट करिष्यति तथा प्रोद्भासि नः सस्कृति ।
आयुर्वेदसरोजमेष्यति पुनर्हासश्रिय शोभना-
मित्याशाशतमप्यधत्त भिषजा हा सर्वकाराम्बुद ॥२३

आयुर्वेदगतिं निरोद्धुमभित प्रस्तूयते चौषधी-
निर्माणं च नियन्त्र्यते विनिमयः पाठ्यक्रमे कार्यते ।
वैद्यानामधिकारभूश्च शनकैः सङ्कोचमानीयते
प्राचीनेऽस्य महिम्नि गौरवमये ह्रास· समापाद्यते ॥२४

किन्त्वेतादृशि सङ्कटस्य समये धीधैर्यशौर्यादिक
त्यक्त्वा सङ्घटन च हन्त ! भिषजा वृन्दैरनुष्ठीयते ।
अन्योन्य कलहो निजार्थपरताऽसूया वृथालोचना
स्थाने शास्त्रनिरीक्षणस्य च पद प्राप्तौ मनोधीयते ॥२५

साम्प्रत यदनुष्ठेयम्

(आर्या) यद्यपि कृत सुबहुतलम मायुर्वेदस्य गौरवायपुरा ।
सम्प्रति यदनुष्ठेयं तस्मिन्नपि दृष्टि माधे हि ॥२६

यद्यपि वयसा वृद्धस्तथापि तेजोऽतिशायि तरुणानाम् ।
विश्राण त्वा यतिवर ! पश्यति साह्याशया शास्त्रम् ॥२७

त्व सम्मतोऽसि भिषजा गङ्गात्मज इव पितासहस्थाने ।
तद् विक्रममालम्ब्य न विलम्बय रण धुराधाने ॥२८

धम शङ्खं गम्भीर-ध्वनिमाशाः पूरिताश्च येन स्युः ।
हर्षं सुहृदां हृदये शोकोऽरीणां च य श्रुत्वा ॥२९

हृत्तन्त्रीझङ्कृतिद सूच सङ्गीत सहस्रव येन ।
नैराश्य सालस्य भिषङ्मनस्य निरस्त स्यात् ॥३०

चित्रय तादृक् चित्र धिया विचित्र यते ! जगन्मित्रम् ।
द्रष्टा नन्दतु यस्मिन् स्वभाव चित्रित ज्ञात्वा ॥३१

आहिमगिरिमा सिन्धोर्भारतराष्ट्रे विशृङ्खला वितते ।
एक पताका धस्ताद् भिषज सम्भूय चेष्टन्ताम् ॥३२

भिषजो निर्मदलोभा भूतदया प्रति भवन्तु जागरिताः ।
शाश्वत आयुर्वेदः शाश्वतभान जगति लभताम् ॥३३

शुभा शसनम्

जीव त्व जीवनद·
समा. सहस्र विराग मुल्लाघ· ।
उदयादिचन्द्र यतिवर !
नभो द्विचन्द्र चरीकुर्वन् ॥३४

कश्चिन्न दुःखभाक् स्यात् सर्वे सर्वत्र चैवनन्दन्तु ।
सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे भद्राणि पश्यन्तु ॥३५

समर्पयिता
वैद्य सत्यनारायण शास्त्री
साहित्यायुर्वेदाचार्यः
चौहट्टस्थ श्रीकामेश्वर औषधालयाध्यक्ष.

कुछ प्रेरक प्रसंग

वैद्य ठाकुरप्रसाद शर्मा

"कहाँ ठहरे हैं ?"

"होटल मे।" मैंने विनम्र उत्तर दिया।

"आपको मालूम है यादवजी महाराज जहाँ कही जाते हैं, वहां वैद्य के घर ठहरना पसन्द करते हैं। आपके लिए यह शोभा की बात नही कि होटल मे ठहरें।"

ये हैं सहृदयता और उदारता-भरे भाव श्रद्धेय चाणोद गुरासाहब भट्टारक श्री उदयचन्द्रजी के।

राजस्थान प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन की कार्यकारिणी के अधिवेशन मे सम्मिलित होने के लिए इन पक्तियो का लेखक जोधपुर गया था और होटल मे ठहरने के कारण उसे यह स्नेहभरी ताडना मिली थी। उसके बाद से गुरांसाहब का घर मेरे लिए निर्बाध आवास-स्थल बन गया। जब कभी जोधपुर गया, वही टिका। हा, एक बार व्यक्तिगत कार्य से जाना हुआ तो फिर अन्यत्र ठहर गया था, तब भी बिस्तर उठवा कर वही मगवाने पड़े। आयुर्वेद और आयुर्वेदज्ञो के लिए कितना प्यार, कितनी ममता है इनके निष्कलुष अन्तर में इसे प्रकट करने के लिए उपर्युक्त उदाहरण पर्याप्त है।

+ + +

गुरासाहब से प्रथम दर्शन मैंने सन् १९३९ मे निखिल भारतवर्षीय वैद्य सम्मेलन के जोधपुर अधिवेशन मे किये थे। वे उसके स्वागताध्यक्ष थे, उस वक्त ढलती उम्र थी उनकी। जोधपुर उस समय राजपूताने की प्रमुख रियासत थी और वहा के महाराजा पर कितना प्रभाव था इनका, इसे जोधपुर अधिवेशन मे भाग लेने वाले वैद्य भली भाति जानते हैं। किसी रियासत के शासक द्वारा किसी अधिवेशन का उद्घाटन करना उन दिनो बड़े महत्व का द्योतक था। आज के शासको की तरह जन-सम्पर्क नाम की कोई चीज उस वक्त नही थी। इसीलिए जोधपुर नरेश का सम्मेलनाधिवेशन मे आना अपने आप मे बडी गरिमा का द्योतक था। यह सब गुरासाहब के व्यक्तिगत सम्बन्ध का प्रतीक था।

+ + +

राजस्थान प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के १३ वें अधिवेशन के लिए अध्यक्ष पद के मतदान मे प्रान्तीय कार्यालय की ओर से भयकर अनियमिततायें की गई थी। फलत एक पक्ष को इन अनियमितताओ का शिकार होना पड़ा था। वसे तो स्वर्गीय श्री दीनानाथजी को पराजित घोषित किया गया था लेकिन वास्तव मे

इस निरपराध पक्ष से प्रमुखरूपेण सबन्धित व्यक्ति मैं था अत यह पराजय मेरी थी। परिणाम की घोषणा के पश्चात् मैं रात भर इस चितन मे ही रहा कि अधिक अच्छा होता यदि मेरे स्वय के अध्यक्ष पद पर खड़े होने पर यह हार होती।

मतगणना मे मुझे कुछ मतपत्र एक ही व्यक्ति के हाथ से लिखे हुए प्रतीत हुए। इन मतपत्रो पर जालोरी गेट जोधपुर से निकलने तथा मुख्य डाकघर जोधपुर से वितरण किए जाने की मुहर अकित थी। एक मतपत्र मेरे वर्षों से बिछुड़े साथी के नाम भी था जिसका उस समय मुझे कोई अता-पता न था, अत. मेरा सन्देह और भी पक्का हो गया। मैंने ऐसे अनेक मतपत्रो पर कुछ ऐसा लिख दिया कि, "इसे मैं पुनः जाच के लिए सुरक्षित रखवा रहा हूँ।" और इन मतपत्रो की पूर्ण प्रतिलिपि प्रधान मत्री श्री माधोलालजी जोशी से लिखवा कर अपने पास लेली। मैंने इन मत-पत्रो के मतदाताओ से अविलम्ब सपर्क स्थापित किया तो कुछ ने मतपत्र न मिलने का उल्लेख किया। अब तथ्य मेरे सामने था। अत मैंने पूर्ण प्रयास कर कार्यसमिति की बैठक पुनः मतपत्रो की जाच के लिए बुलवाई।

पुनः जाच करने वाली कार्यसमिति की यह बैठक जोधपुर मे हुई। मैंने जब स्वहस्ताक्षरित जाच के लिए छाटे गए मतपत्रो को देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। हकीकत यह थी कि मेरे हस्ताक्षरो को ज्यो का त्यो छोड कर बाकी सब को मिटा कर बदल दिया था सिवाय प्रिंटेड मैटर के। लेकिन शीघ्रता मे कुछ क्रमाक, नाम व पते मुझे दी गई रसीद से भिन्न लिख दिए गए। अब यह एक नई समस्या और उत्पन्न हो गई।। भाई श्री अम्बालालजी जोशी, मुनि श्री देवेन्द्रजी एव स्वर्गीय श्री लक्ष्मीनारायणजी आसोपा जैसे निष्पक्ष व्यक्ति मेरी बात के वजन को समझते थे अतः न्याय की माग कर रहे थे। श्री स्वामी मगलदासजी भी इस अनियमितता को समझ गए थे पर किसी तरह समझौते के समर्थक थे।

मैं स्वय यह अनुरोध कर रहा था कि कार्यसमिति नि सकोच यह प्रस्ताव पास करे कि इस चुनाव मे कार्यालय की ओर से अनियमिततायें की गई हैं किन्तु वैद्य समाज का हित इसी मे है कि श्री दीनानाथजी एव उनके सहयोगी इस प्रसग को उदारता के साथ यही समाप्त कर दें। और नि.सदेह हम ऐसा करने को तैयार थे। किंतु पर-पक्ष तथा पदाधिकारी ऐसा प्रस्ताव पास करने को तैयार नही हुए थे। उल्टे वे मतपत्रो की अवैधता से भी इन्कार करने लगे। अत इस समस्या के समाधान के लिए तीन सदस्यो की एक समिति गठित की

कुछ प्रेरक प्रसंग

वैद्य ठाकुरप्रसाद शर्मा

"कहाँ ठहरे हैं ?"

"होटल मे।" मैंने विनम्र उत्तर दिया।

"आपको मालूम है यादवजी महाराज जहाँ कही जाते हैं, वहां वैद्य के घर ठहरना पसन्द करते हैं। आपके लिए यह शोभा की बात नही कि होटल मे ठहरें।"

ये हैं सहृदयता और उदारता-भरे भाव श्रद्धेय चाणोद गुरासाहब भट्टारक श्री उदयचन्द्रजी के।

राजस्थान प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन की कार्यकारिणी के अधिवेशन मे सम्मिलित होने के लिए इन पक्तियो का लेखक जोधपुर गया था और होटल मे ठहरने के कारण उसे यह स्नेहभरी ताडना मिली थी। उसके बाद से गुरांसाहब का घर मेरे लिए निर्बाध आवास-स्थल बन गया। जब कभी जोधपुर गया, वही टिका। हा, एक बार व्यक्तिगत कार्य से जाना हुआ तो फिर अन्यत्र ठहर गया था, तब भी बिस्तर उठवा कर वही मगवाने पड़े। आयुर्वेद और आयुर्वेदज्ञों के लिए कितना प्यार, कितनी ममता है इनके निष्कलुष अन्तर मे इसे प्रकट करने के लिए उपर्युक्त उदाहरण पर्याप्त है।

\+ \+ \+

गुरासाहब से प्रथम दर्शन मैंने सन् १९३९ मे निखिल भारतवर्षीय वैद्य सम्मेलन के जोधपुर अधिवेशन मे किये थे। वे उसके स्वागताध्यक्ष थे, उस वक्त ढलती उम्र थी उनकी। जोधपुर उस समय राजपूताने की प्रमुख रियासत थी और वहा के महाराजा पर कितना प्रभाव था इनका, इसे जोधपुर अधिवेशन मे भाग लेने वाले वैद्य भली भाति जानते हैं। किसी रियासत के शासक द्वारा किसी अधिवेशन का उद्घाटन करना उन दिनो बड़े महत्व का द्योतक था। आज के शासको की तरह जन-सम्पर्क नाम की कोई चीज उस वक्त नही थी। इसीलिए जोधपुर नरेश का सम्मेलनाधिवेशन मे आना अपने आप मे बडी गरिमा का द्योतक था। यह सब गुरासाहब के व्यक्तिगत सम्बन्ध का प्रतीक था।

\+ \+ \+

राजस्थान प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के १३ वें अधिवेशन के लिए अध्यक्ष पद के मतदान मे प्रान्तीय कार्यालय की ओर से भयंकर अनियमिततायें की गई थी। फलतः एक पक्ष को इन अनियमितताओ का शिकार होना पड़ा था। वसे तो स्वर्गीय श्री दीनानाथजी को पराजित घोषित किया गया था लेकिन वास्तव मे

इस निरपराध पक्ष से प्रमुखरूपेण सबन्धित व्यक्ति मैं था अत यह पराजय मेरी थी। परिणाम की घोषणा के पश्चात् मैं रात भर इस चिंतन मे ही रहा कि अधिक अच्छा होता यदि मेरे स्वय के अध्यक्ष पद पर खडे होने पर यह हार होती।

मतगणना मे मुझे कुछ मतपत्र एक ही व्यक्ति के हाथ से लिखे हुए प्रतीत हुए। इन मतपत्रो पर जालोरी गेट जोधपुर से निकलने तथा मुख्य डाकघर जोधपुर से वितरण किए जाने की मुहर अकित थी। एक मतपत्र मेरे वर्षों से बिछुड़े साथी के नाम भी था जिसका उस समय मुझे कोई अता-पता न था, अत. मेरा सन्देह और भी पक्का हो गया। मैंने ऐसे अनेक मतपत्रो पर कुछ ऐसा लिख दिया कि, "इसे मैं पुनः जाच के लिए सुरक्षित रखवा रहा हूँ।" और इन मतपत्रो की पूर्ण प्रतिलिपि प्रधान मत्री श्री माधोलालजी जोशी से लिखवा कर अपने पास लेली। मैंने इन मत-पत्रो के मतदाताओ से अविलब सपर्क स्थापित किया तो कुछ ने मतपत्र न मिलने का उल्लेख किया। अब तथ्य मरे सामने था। अतः मैंने पूर्ण प्रयास कर कार्यसमिति की बैठक पुनः मतपत्रो की जाच के लिए बुलवाई।

पुन. जाच करने वाली कार्यसमिति की यह बैठक जोधपुर मे हुई। मेने जब स्वहस्ताक्षरित जाच के लिए छाटे गए मतपत्रो को देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। हकीकत यह थी कि मेरे हस्ताक्षरो को ज्यो का त्यो छोड कर बाकी सब को मिटा कर बदल दिया था सिवाय प्रिंटेड मैटर के। लेकिन शीघ्रता में कुछ क्रमाक, नाम व पते मुझे दी गई रसीद से भिन्न लिख दिए गए। अब यह एक नई समस्या और उत्पन्न हो गई।। भाई श्री अम्बालालजी जोशी, मुनि श्री देवेन्द्रजी एव स्वर्गीय श्री लक्ष्मीनारायणजी आसोपा जैसे निष्पक्ष व्यक्ति मेरी बात के वजन को समझते थे अतः न्याय की माग कर रहे थे। श्री स्वामी मगलदासजी भी इस अनियमितता को समझ गए थे पर किसी तरह समझौते के समर्थक थे।

मैं स्वय यह अनुरोध कर रहा था कि कार्यसमिति नि:सकोच यह प्रस्ताव पास करे कि इस चुनाव मे कार्यालय की ओर से अनियमिततायें की गई हैं किन्तु वैद्य समाज का हित इसी मे है कि श्री दीनानाथजी एव उनके सहयोगी इस प्रसग को उदारता के साथ यही समाप्त कर दें। और नि सदेह हम ऐसा करने को तैयार थे। किंतु पर-पक्ष तथा पदाधिकारी ऐसा प्रस्ताव पास करने को तैयार नही हुए थे। उल्टे वे मतपत्रो की अवैधता से भी इन्कार करने लगे। अत इस समस्या के समाधान के लिए तीन सदस्यो की एक समिति गठित की

गई, जिससे एक सदस्य श्रद्धेय चाणोद गुरासाहब नियुक्त किये गये। गुरासाहब की नियुक्ति उनकी अनुपस्थिति मे हुई थी। बाकी दोनो सदस्य जब मेरे द्वारा छाटे गए मतपत्रो को लेकर गुरासाहब के समक्ष उपस्थित हुए तो गुरासाहब न इन मत-पत्रो को देख कर स्पष्ट शब्दो मे कहा कि ये अक्षर तो स्पष्टत मिटा कर लिखे गए हैं अत समिति का अन्तिम निर्णय कायसमिति को मान्य हो तो मैं इसमे रहने को तैयार हूँ अन्यथा मुझे इसकी सदस्यता स्वीकार नही।

अन्त मे कार्यसमिति ने मेरे अनुरोध से करीब करोब मिलता जुलता प्रस्ताव पास कर लिखित रूप मे मेरे हाथो मे सौप दिया और हमने उस प्रसग को वही समाप्त कर हार मे भी जीत समझो।

इतना सब कुछ लिखने का आशय यही है कि गुरासाहब की निष्पक्ष मनोवृत्ति का यह एक ज्वलत उदाहरण था जो न्यायप्राप्ति मे सहायक सिद्ध हुआ।

\+ \+ \+

राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन की पिछले दिनो की स्थिति के प्रति उनके आक्रोश का परिणाम तो सबके समक्ष ही है। वे इसे उस दलगत छिछली राजनीति से दूर रखना चाहते थे जिसमे आज वह आकण्ठ गोते लगा रहे है। फलत उनके आशीर्वाद से राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (रजिस्टड) जोधपुर की स्थापना हुई और इसके माध्यम से वे विशुद्ध आयुर्वेद विज्ञान का प्रचार प्रसार और राज्य सरक्षण चाहने लगे। फल यह हुआ कि राजस्थान का विचारशील बुजुग वैद्य समाज और लिप्सारहित युवक वैद्य वर्ग इस सम्मेलन के साथ हो गया। यह सम्मेलन उस विलुप्त नीति को पुन स्थापित करना चाहता था कि जिसके द्वारा आयुर्वेद विज्ञान को उचित सरक्षण मिल सके और प्रदेश के वैद्य बन्धु भ्रातृत्व की भावना से एक मच पर आ कर दिशा-निर्देश कर सकें। सम्मेलन को इस रीति-नीति के निर्धारण मे गुरासाहब का प्रमुख योग रहा है। लेकिन दुर्भाग्यवश पर-पक्ष न्यायालयो के माध्यम से उसके अस्तित्व को चुनौती देने पर उत्तर आया। आज उच्च न्यायालय मे यह सब विच राधीन है तब इसके सबध मे अधिक कह सकना रजिस्टड वैद्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री होने के नाते मेरे लिए सभव नही। आज अपने जीवन के सध्याकाल मे भी गुरासाहब निरतर वैद्य वर्ग को प्रेरणा देते रहते हैं। उनमें उत्साह और लगन का सचार देख कर प्रसन्न होते हैं। ईश्वर करे उनके जीवन का यह सध्याकाल भी हमारे लिए इतना लम्बा हो कि हम उनकी छत्रछाया मे उन्ही के सद्विचारो को साकार कर सकें।

एक अनुभूति : एक चमत्कार

मै सम्पतराज सुराणा, राणावास मारवाड, वर्तमान मे हैदराबाद दक्षिण फेवरलूबा कम्पनी के मद्रास व आन्ध्र क्षेत्र का वितरक हू।

सर्वप्रथम २१ मार्च ६६ को अकस्मात भ्रम हो कर छर्दि हुई तथा बेहोश हो कर मैं गिर गया।

८-१० वर्ष से लाइकर लेता रहता हू। मैं उसी दिन भ्रमणार्थ सिंगापुर जा कर वापस मद्रास आया था। छर्दि (उल्टी) खट्टी हुई थी। उसके बाद २ माह तक वैसे ही चलता रहा, ५-६ रोज बाद एकाध बार दिन-रात मे उल्टी होती थी। चरपरी वस्तुओ का प्रारम्भ से ही प्रेम था। जब तबियत अधिक खराब रहने लगी, डाक्टरी चिकित्सा (अनियमित) रूप से हो रही थी, दूसरे डाक्टरो ने देख कर कहा कि पेट मे पानी भर गया है। इसे निकालना आवश्यक है अत टेपिंग कर २४ पौण्ड माह जनवरी ६७ मे प्राइवेट हॉस्पिटल मे डॉ० रमेश पाई द्वारा हैदराबाद मे पानी निकाला, तथा ३०० cc ब्लड (खून) दिया गया। इसके बाद २१ दिन तक तो ठीक रहा। परन्तु इक्कीसवे दिन वापस पेट एक ही दिन मे उतना ही बडा हो गया। अतः २३वें दिन फिर उसी क्लीनिक मे उसी डाक्टर द्वारा उतना ही दूसरी बार पानी निकाला गया।

सारा शरीर इजेक्शनो से बिंध गया था और मल मूत्र का अवरोध होने लगा परन्तु द्रवीयाश की कमी की पूर्ति के लिए (फिर) तब इजेक्शन देने की डॉ० की सलाह हुई। लिवर एक्सट्रेक्ट का इजेक्शन दिया जिसे मैं सहन नही कर सका। मुझे बेहद पीडा हुई, मैं चिल्लाया, मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि मेरी मृत्यु सन्निकट है अत. प्राकृतिक चिकित्सालय मे डॉ० वेंकटराव के पास गया। उन्होने केवल मात्र कच्चे नारियल के द्रव के आहार पर रखा, इससे मेरी जो कि मूत्र-त्याग की बडी पीडा रहती थी वह साफ हुई। इसलिए मैं ४० दिन वहा रहा, उससे मेरे दर्द आदि मे बडी कमी रही व गैस वगैरह नही रहता था। किन्तु डॉ० वेंकटराव को सलाह रही कि मुझे इसी प्रकार के आहार पर छः माह कम से कम रहना होगा। इसी दरम्यान मेरे एक रिश्तेदार ने—जोधपुर के चाणोद गुरा साहब पूना आने वाले हैं—सूचना दी। गुरा साहब का आना कैंसल हो गया, इसलिए स्वय जोधपुर चैत्र सुदी २ सम्वत् १९२४ को रवाना हो कर चौथ को जोधपुर पहुचा।

नये-नये परीक्षण भी चल रहे हैं। 'चुकन्दर' से 'चीनी' बनाने का प्रयोग चालू कर दिया है। पर इस अरावली पर्वत-श्रणियो से घिरी भूमि मे जो अनेक 'कद' विद्यमान है उन्हे भूमि-गर्भ से निकाल कर जनता के उपयोग मे नही लाया जा रहा है। आयुर्वेद मे अनेक 'दिव्य औषध', 'फलिनी', 'मूलिनी' पदार्थों का वर्णन है। 'मूलिनी' अर्थात 'कद-वर्ग'। इन कद-मूल-फलो से खाद्यान्न मे देश आत्मनिर्भर हो सकता है।

अन्त मे मैं आशा करू कि हमारी पीढी अनादि-अनन्त-शास्वत राष्ट्रीय विज्ञान आयुर्वेद को प्रोत्साहन दे कर अगले शतक को सच्चा मार्ग प्रदर्शित करेगी। यही 'गुरासाहब' का सही अभिनन्दन होगा।

वैद्य भागीरथ जोशी
मोती चौहटा
उदयपुर (राजस्थान)

—

माननीय मथुरादासजी माथुर,
गृहमन्त्री,
राजस्थान सरकार,
चाणोद गुरासाहब भवन,
जोधपुर,
राजस्थान

दिनाक १६-८-६३

मान्यवर महोदय,

परमपूज्य श्री चाणोद गुरासाहब के हीरक-जयन्ती के अवसर पर श्री उदयाभिनन्दन ग्रथ प्रकाशित करने के आपके निश्चय से अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

आयुर्वेद शास्त्र के अध्येता राजमान्य पण्डित उदयचन्द्रजी महाराज श्री गुरासाहब के लोकोपकारी एव कर्मठ जीवन को समग्र आयुर्वेद प्रेमियो के बीच वृहत् पुस्तकाकार रूप मे प्रकाशित करने का सकल्प निर्विवाद रूप मे वरेण्य एव समीचीन है। हमे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रथ के प्रकाशित होने से आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रद्धति के विकास-प्रसार तथा उन्नयन मे एक नये पथ का निर्देश होगा और पीडित मानवता की सेवा मे सलग्न व्यक्तियो को नयी प्रेरणा प्राप्त होगी।

सधन्यवाद,

आपका

रतनचन्द बर्म्मन

प्रबध निर्देशक,

DABUR (DR. S.K. BURMAN) PVT. LTD,

CALCUTTA—29, INDIA

Kaviraj
B. N. Sircar
Hony Ayurvedic Physician
to the President of India
Hony. Magistrate Delhi

KALLOL
779-780 Nicholson Road,
Kashmere Gate, Delhi

प्रमुख सम्पादक,
श्रीउदयाभिनन्दन ग्रथ तथा
हीरक जयन्ती समारोह समिति,
चाणोद गुरा साहब भवन,
जोधपुर (राजस्थान)

दिनाङ्क २०-८-६३

श्रीमान् जी,

हमे यह जान कर सातिशय प्रसन्नता हुई कि आपने पण्डित श्रीउदयचन्द्रजी महाराज, लोकप्रसिद्ध श्री चांणोद गुरासाहब का अभिनन्दन तथा हीरक जयती मनाने जा रहे हैं।

श्री उदयचन्द्रजी महाराज जैसे आयुर्वेद की विभूति आजकल लगभग विरले हो गये हैं। उन्होने आयुर्वेद तथा साधारण जन-समाज के लिये जो असाधारण सेवा की है, उसका प्रतिदान करना हमारे जैसे दीन व्यक्तियो के लिये बिल्कुल असम्भव-सा प्रतीत होता है। तब भी उनके प्रति मेरी हार्दिक शुभ कामना तथा कृतज्ञता प्रकट करना मैं सर्वथा उचित समझता हूँ।

यह अधिक आशापूर्ण बात है कि अभी वैद्यराजजी ८५ साल की अवस्था तक आयुर्वेद तथा गरीब रुग्ण देशवासियो की सेवा कर रहे हैं। तथा अपने चिकित्सा-नैपुण्य से आयुर्वेद का झण्डा ऊचा रख रहे हैं। यह आयुर्वेद-सेवियो के लिये अधिक गुरुत्व का विषय है।

आयुर्वेद के बहुत बडे-बडे प्रकाण्ड विद्वान् हो चुके हैं। परन्तु इन मे से किसी ने अपनी अभिज्ञता को कोई प्रभावशाली द्रव्य या औषधि के बारे मे कोई उपयोगी ग्रथ आधुनिक काल मे नही लिखा है। अत आयुर्वेद-जगत ज्यो को त्यो निर्धन वा भाग्यहीन रह रहा है।

मेरी अपनी सम्मति यह है कि श्री स्वामीजी के कृत अनुभूत योगो से आयुर्वेद-जगत लाभवान् होगा। इसलिये वैद्यजी ने अपने अनुभव के आधार पर आयुर्वेद के लिए कुछ तथ्यपूर्ण विषय या लाभकारी औषधि के विषय पर कुछ ग्रथ लिखे। जिससे वैद्य-परम्परा उनके ज्ञान तथा अनुभव से आगे लाभ उठा सके अन्यथा अवर्त्तमान अवस्था मे आपकी ज्ञान-परम्परा विलुप्त हो जायेगी।

गुणमुग्ध
श्री वैद्य जयसरकार

श्री भुवनेश्वरी पीठ

गोंडल - सौराष्ट्र (भारत)

॥ श्रीरस्तु ॥

सचालक महोदय,
श्री उदयाभिनन्दन ग्रथ तथा
हीरक जयन्ती समारोह समिति,
जोधपुर (राजस्थान)

दिनाङ्क २८-८-६२

विद्वच्चूडामणि रूप !

आपकी ओर से सकलशास्त्र-पारगत राजवैद्य पण्डित श्री उदयचन्द्रजी महाराज चाणोद गुरा साहब महाभाग को हीरक जयन्ती का उत्सव मना रहे हैं यह जान कर बडी प्रसन्नता हुई। उनका सारा आयुष्य प्रजाशास्त्र, धर्म और अधिकतया आयुर्वेद की सेवा मे व्यतीत हुआ है। ऐसे भारत-प्रसिद्ध और राजस्थान के अग्रगण्य विद्वान् के नाते उस प्रसग पर अभिनन्दन ग्रथ प्रगट करने का निश्चय किया है यह ठीक बात है परन्तु इस ग्रथ का लाभ तो एक दो हजार वैद्य लोग या गण्यमान्य व्यक्ति ही ले सकेंगे। ऐसे महापुरुष के चिरस्मरण के लिए शुद्ध आयुर्वेद अस्पताल खोली जाय जहाँ गरीब और श्रीमत सब रोग-पीडित लोग आयुर्वेदीय औषधि से रोगमुक्त होकर आयुर्वेद का और राजवैद्यजी का यावज्जीवन गुणगान करेंगे और इस प्रकार प्रति वर्ष हजारो रोगी उस सस्था का लाभ उठावेंगे।

आगे एक दो विद्वानो के स्मरण-ग्रथ निकाले गये थे। आज वह ग्रथ किसी के स्मरण मे भी नही है और जहाँ होगा वहाँ लाइब्रेरी के कबाट की शोभारूप बना होगा। ऐसे ग्रथो से जाहिर जनता को क्या लाभ हुआ, जानते नही। इसलिए ऐसे परम्परागत रवैये को छोड कर कुछ रूढ काम किया जाय कि जमाना तक उनका नाम प्रजा के स्मरण मे रहे और प्रजा का आशीर्वाद सतत मिलता रहे और आम प्रजा मे आयुर्वेद घरेलू बने।

राज वैद्यजी के परिचित, सेवक, स्नेही, मित्र आदि की सख्या बहुत है, उनमे बहुत से श्रीमत है। वे चाहे जितना धन देने को तैयार होगे। प्रयत्न करने पर १०-१५ लाख रुपया इकट्ठा होना सम्भव है अथवा "उदयचन्द्रजी ग्रन्थमाला"

अथवा "गुरासाहब ग्रथमाला" चालू करदी जाय। इस काम के लिये ८ से १० लाख रुपया एकत्र कर आयुर्वेद के और उसके साथ सम्बद्ध रखने वाले शास्त्रो के ग्रथ क्रमशः प्रगट किये जाय।

वर्तमान काल में प्रसिद्ध वैद्य भोग्य आयुर्वेद के छपे हुए ग्रथो, हस्तलिखित ग्रथो से अनुसधान करने से बहुत पाठभेद और अशुद्धियां प्रतीत होती हैं और कई ग्रथ अमुद्रित पड़ हुए हैं। ऐसे ग्रथो का सशोधन कर प्रसिद्ध करने से आयुर्वेद की बडी सेवा होगी।

ऐसे विद्वान् की हीरक जयन्ती का उत्सव मना रहे हैं यह उत्तम बात है। मैं त्रिभुवन माता श्री भुवनेश्वरी माँ से प्रार्थना करता हू कि श्रीगुरासाहब १२५ वर्ष तक जीवित रह कर आयुर्वेद का उद्धार देखने को भाग्यशाली बनें।

आप सब का गुणानुरागी

आचार्य श्रीचरणतीर्थ महाराज के वेदोक्त आशीर्वादाः।

अखड भूमण्डलाचार्य अनन्त श्रीविभूषित

श्री भुवनेश्वरी पीठाधीश रसेशास्त्री

श्री चरणतीर्थ महाराजः

सचित्र आयुर्वेद

सभी वर्गों द्वारा प्रशंसित, आयुर्वेद का प्रतिनिधि मासिक पत्र

प्रकाशक – श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता

१, गुप्ता लेन,
कलकत्ता-६

संख्या : ४०५ दिनांक १६-२-६३

प्रधान सम्पादकजी,
श्री उदयाभिनन्दन ग्रंथ तथा
हीरक जयन्ती समारोह समिति,
जोधपुर (राजस्थान)

प्रिय महोदय,

आपका कृपापत्र दि० २१-१२-६२ का यथासमय यहाँ आ गया था। किन्तु दो महीने प्रवास के बाद कलकत्ता वापिस आया हूँ अत पत्रोत्तर मे विलम्ब हुआ। कृपया क्षमा करेंगे।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि ऋषिकल्प आयुर्वेद के मर्मज्ञ और वयोवृद्ध आयुर्वेद के नेता आदरणीय गुरासाहब के अभिनन्दन का आयोजन आप लोग कर रहे हैं। आदरणीय गुरासाहब के इस अभिनन्दन से राजस्थान ही नही विश्व के समस्त आयुर्वेदीय चिकित्सक गौरवान्वित होगे। प्रात.स्मरणीय दिवगत श्री लक्ष्मीरामजी स्वामी के बाद यदि राजस्थान में आयुर्वेद की सरिता बहा कर या पथप्रदर्शन कर राजस्थान मे आयुर्वेद की उर्वरा भूमि बनाने मे दूसरा स्थान इन महापुरुष को दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

अन्त मे भगवान धन्वन्तरि से यही प्रार्थना है कि आदरणीय गुरासाहब चिरायु हो और यह अभिनन्दन समारोह सानन्द सम्पन्न हो।

आपका

रमाकान्त झा, शास्त्री

विशेष सम्पादक के विचार

अमृतलाल यादव

भारतवर्ष के आयुर्वेद की विश्व को एक अद्भुत देन है। यह विज्ञान जीवन-विज्ञान है और ससार का प्राचीनतम विज्ञान है। इसकी उत्पत्ति वैदिक काल से प्रारम्भ होती है और कनिष्क के समय तक आयुर्वेद सहिताओ का निर्माण हो चुका था तथा नागार्जुन काल मे यह विज्ञान अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया था और इस के आठो अग पूर्ण रूप से विकसित हो चुके थे।

परन्तु यवन-साम्राज्य के प्रारम्भ होने के समय से ही इस विज्ञान की ओर शासको की उपेक्षा दृष्टि होने लगी। ब्रिटिशकाल मे इस विज्ञान को किंचित् मात्र भी राज्याश्रय नही मिला जिसके कारण इस विज्ञान की अत्यन्त क्षति हुई।

परन्तु इस समय भी जब हम परम उपयोगी विज्ञान को कोई राज्याश्रय नही मिल रहा था इस देश के चिकित्सको की सेवा के कारण उनकी त्याग, निष्ठा, निस्वार्थ सुश्रुषा व परोपकार की भावना से प्रभावित होकर देश के दानी मानी सेठ साहूकारो व देशी राज्यो के राजा महाराजा और उन चिकित्सको को प्रश्रय दिया और इस विज्ञान को जो अपने स्वय के देश का विज्ञान है, जीवित रखा।

राजस्थान मे रियासतो के राजा-महाराजाओ के तत्वावधान मे राज्य-चिकित्सको ने इस विज्ञान के द्वारा जनता की खूब सेवा की। मारवाड मे जिन नाथ सम्प्रदाय के तथा जिन सम्प्रदाय के यतियो एव मुनियो ने इस विज्ञान द्वारा जनता की सेवा करते हुए राजा-महाराजा तथा बादशाहो से फरमान एव सनदें प्राप्त की है। उस यति परम्परा मे वर्तमान मे चिकित्सकसम्राट्, आयुर्वेदमार्तण्ड, प्राणाचार्य, वैद्यावतस महोपाध्याय भट्टारक, राजवैद्य प० श्री उदयचन्द्रजी महाराज है। ये जोधपुर व आयुर्वेद जगत मे चाणोद गुरासाहब के नाम से प्रसिद्ध है। श्री गुरासाहब एक कर्मठ अनुभवी, पीयूषपाणि प्रख्यात चिकित्सक है। आपने सन् १८९९ से चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया और उस समय से ही अपने आपको तत्परता से जनताजनार्दन की सेवा मे समर्पित कर दिया। राजपूताने मे १९०४ मे जब प्लेग फैला तो पीपाड आदि स्थानो मे जहाँ प्लेग का उग्र रूप था, आपने अपने चिकित्सा-कौशल से हजारो जनता के प्राण बचाये और आपकी ख्याति सारे मारवाड मे फैल गई। आपकी चिकित्सा से मारवाड की जनता ही नही अपितु तत्कालीन भारत सरकार के स्वास्थ्य विभाग के डाइरेक्टर जनरल R Charles Mac Watt, M B B S, F R C P F.R C S भी इतने प्रभावित हुए कि उन्होने इनको जोधपुर, बीकानेर रेल्वे मे काय चिकित्सक (Physician) का पद प्रदान किया जिसको आपने ९ वर्ष तक बहुत ही सजीदगी के साथ वहन किया। इतना ही नही, मारवाड राज्य के महाराजा श्री उम्मेदसिंहजी ने

आपको राजवैद्य की पदवी एव सिरोपाव के साथ पैरों मे स्वर्ण का विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। आपने आयुर्वेद के प्रचार के साथ प्रसार हेतु अपने आपको सामाजिक कार्यों मे जुटा दिया।

जन-मानस को जागृत करने हेतु आपने मारवाड वैद्य प्रचारिणी सभा की स्थापना की और कई वर्षों तक इसका सभापतित्व ग्रहण किया।

निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन का जो २६वा अधिवेशन जोधपुर मे सम्पन्न हुआ और वह आपकी प्रेरणा एव व्यक्तित्व विशेष के कारण ही हुआ था। आपने उस समय स्वागताध्यक्ष के पद से जो वैद्यो को कार्यक्षेत्र मे उतरने का आह्वान किया वह अत्यत प्रभावपूर्ण था।

इसी तरह सीकर मे १९५० मे आपने राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन में सभापति के आसन से जो अध्यक्षीय भाषण दिया उसमे आपने आयुर्वेद के प्राचीनता के महत्व के विषय मे पाश्चात्य विद्वानो के विचारो का उल्लेख करते हुये कतिपय उदाहरण देकर यह बतलाया कि ग्रीक एण्ड यूनानियो को जब सर्जरी का बिल्कुल ज्ञान नही था उस समय भी भारतवर्ष के चिकित्सक शल्य-शाला-कर्म बडी ही सजीदगी से करते थे। जैसा—

"The Indian knew? Practised indiginous operations which always remained unknown to the Greek and which even the Europeons learnt from them with surprise in the History of this country"

—M A M U.

आयु इसी विद्वान ने पुन. लिखा है कि यदि आधुनिक चिकित्सक अपनी वर्तमान चिकित्सा को छोडकर चरक के सिद्धान्तो के अनुकूल चिकित्सा प्रारम्भ करें तो चिकित्सक के सामने चिकित्सा कार्य का भार ससार मे बहुत कम हो जावे और जीर्ण रोग भी कम सख्या मे मिलने लगेगे।"

इस प्रकार के कई उदाहरण देते हुये आपने वैद्यों को अपनी चिकित्सा मे अनुसधानात्मक प्रणाली अपनाने का अनुरोध किया।

एक तरफ तो आपने वैद्य समाज को इस तरह तैयार किया किया और दूसरी तरफ आपने राजस्थान सरकार को भी सन १९५१-५२ के सत्र मे वृहत्तर राजस्थान सरकार द्वारा सगठित आयुर्वेद बोर्ड के सभापति पद से तथा १९६० में स्टैंडिंग बोर्ड के उपसभापति पद से आयुर्वेद चिकित्सा के प्रसार, विकास व समुन्नति के लिए महत्पूर्ण सुझाव दिये। जोधपुर के खाडाफलसा मे जो आयुर्वेदिक औषधालय चल रहा है उसकी शुरूआत भी सन् १९५२ मे आपकी प्रेरणा से ही हुई है और आपने वहां ऑनरेरी चीफ व्यवस्थापक (फिजिशियन) के रूप मे कुछ समय तक कार्य किया। चिकित्सा क्षेत्र के बाहर व्यक्तिगत रूप से आप सगीत, चित्रकारी व यांत्रिक विद्या में भी सिद्धहस्त है। ऐसे विद्वान मनीषी के कार्यों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना नागरिको का परम कर्तव्य हो जाता है।

विशेष सम्पादक के विचार

अमृतलाल यादव

भारतवर्ष के आयुर्वेद की विश्व को एक अद्भुत देन है। यह विज्ञान जीवन विज्ञान है और ससार का प्राचीनतम विज्ञान है। इसकी उत्पत्ति वैदिक काल से प्रारम्भ होती है और कनिष्क के समय तक आयुर्वेद सहिताओ का निर्माण हो चुका था तथा नागार्जुन काल मे यह विज्ञान अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया था और इस के आठो अग पूर्ण रूप से विकसित हो चुके थे।

परन्तु यवन-साम्राज्य के प्रारम्भ होने के समय से ही इस विज्ञान की ओर शासको की उपेक्षा दृष्टि होने लगी। ब्रिटिशकाल मे इस विज्ञान को किंचित् मात्र भी राज्याश्रय नही मिला जिसके कारण इस विज्ञान को अत्यन्त क्षति हुई।

परन्तु इस समय भी जब हम परम उपयोगी विज्ञान को कोई राज्याश्रय नही मिल रहा था इस देश के चिकित्सको की सेवा के कारण उनकी त्याग, निष्ठा, निस्वार्थ सुश्रुषा व परोपकार की भावना से प्रभावित होकर देश के दानी मानी सेठ साहूकारो व देशी राज्यो के राजा महाराजा और उन चिकित्सको को प्रश्रय दिया और इस विज्ञान को जो अपने स्वय के देश का विज्ञान है, जीवित रखा।

राजस्थान मे रियासतो के राजा-महाराजाओ के तत्वावधान मे राज्य-चिकित्सको ने इस विज्ञान के द्वारा जनता की खूब सेवा की। मारवाड मे जिन नाथ सम्प्रदाय के तथा जिन सम्प्रदाय के यतियो एव मुनियो ने इस विज्ञान द्वारा जनता की सेवा करते हुए राजा-महाराजा तथा बादशाहो से फरमान एव सनदें प्राप्त की है। उस यति परम्परा मे वर्तमान मे चिकित्सकसम्राट्, आयुर्वेदमार्तण्ड, प्राणाचार्य, वैद्यावतस महोपाध्याय भट्टारक, राजवैद्य प० श्री उदयचन्द्रजी महाराज हैं। ये जोधपुर व आयुर्वेद जगत मे चाणोद गुरासाहब के नाम से प्रसिद्ध है। श्री गुरासाहब एक कर्मठ अनुभवी, पीयूषपाणि प्रख्यात चिकित्सक है। आपने सन् १८९९ से चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया और उस समय से ही अपने आपको तत्परता से जनताजनार्दन की सेवा मे समर्पित कर दिया। राजपूताने मे १९०४ मे जब प्लेग फैला तो पीपाड आदि स्थानों मे जहाँ प्लेग का उग्र रूप था, आपने अपने चिकित्सा-कौशल से हजारो जनता के प्राण बचाये और आपकी ख्याति सारे मारवाड मे फैल गई। आपकी चिकित्सा से मारवाड की जनता ही नही अपितु तत्कालीन भारत सरकार के स्वास्थ्य विभाग के डाइरेक्टर जनरल R Charles Mac Watt, M B B S, F R C P F.R C S भी इतने प्रभावित हुए कि उन्होने इनको जोधपुर, बीकानेर रेल्वे मे काय चिकित्सक (Physician) का पद प्रदान किया जिसको आपने ९ वर्ष तक बहुत ही सजीदगी के साथ वहन किया। इतना ही नही, मारवाड राज्य के महाराजा श्री उम्मेदसिंहजी ने

आपको राजवैद्य की पदवी एव शिरोपाव के साथ पैरों मे स्वर्ण का विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। आपने आयुर्वेद के प्रचार के साथ प्रसार हेतु अपने आपको सामाजिक कार्यों मे जुटा दिया।

जन-मानस को जागृत करने हेतु आपने मारवाड वैद्य प्रचारिणी सभा की स्थापना की और कई वर्षों तक इसका सभापतित्व ग्रहण किया।

निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन का जो २६वां अधिवेशन जोधपुर मे सम्पन्न हुआ और वह आपकी प्रेरणा एव व्यक्तित्व विशेष के कारण ही हुआ था। आपने उस समय स्वागताध्यक्ष के पद से जो वैद्यो को कार्यक्षेत्र मे उतरने का आह्वान किया वह अत्यत प्रभावपूर्ण था।

इसी तरह सीकर मे १९५० मे आपने राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन में सभापति के आसन से जो अध्यक्षीय भाषण दिया उसमे आपने आयुर्वेद के प्राचीनता के महत्व के विषय मे पाश्चात्य विद्वानो के विचारो का उल्लेख करते हुये कतिपय उदाहरण देकर यह बतलाया कि ग्रीक एण्ड यूनानियो को जब सर्जरी का बिल्कुल ज्ञान नही था उस समय भी भारतवर्ष के चिकित्सक शल्य-शाला-कर्म बडी ही सजीदगी से करते थे। जैसा—

"The Indian knew? Practised indiginous operations which always remained unknown to the Greek and which even the Europeons learnt from them with surprise in the History of this country."

—M A M.U.

आयु इसी विद्वान ने पुन· लिखा है कि यदि आधुनिक चिकित्सक अपनी वर्तमान चिकित्सा को छोडकर चरक के सिद्धान्तो के अनुकूल चिकित्सा प्रारम्भ करें तो चिकित्सक के सामने चिकित्सा कार्य का भार ससार मे बहुत कम हो जावे और जीर्ण रोग भी कम सख्या मे मिलने लगेगे।"

इस प्रकार के कई उदाहरण देते हुये आपने वैद्यों को अपनी चिकित्सा मे अनुसधानात्मक प्रणाली अपनाने का अनुरोध किया।

एक तरफ तो आपने वैद्य समाज को इस तरह तैयार किया किया और दूसरी तरफ आपने राजस्थान सरकार को भी सन् १९५१-५२ के सत्र मे वृहत्तर राजस्थान सरकार द्वारा सगठित आयुर्वेद बोर्ड के सभापति पद से तथा १९६० में स्टैंडिंग बोर्ड के उपसभापति पद से आयुर्वेद चिकित्सा के प्रसार, विकास व समुन्नति के लिए महत्पूर्ण सुझाव दिये। जोधपुर के खाडाफलसा मे जो आयुर्वेदिक औषधालय चल रहा है उसकी शुरुआत भी सन् १९५२ मे आपकी प्रेरणा से दी हुई है और आपने वहां ऑनरेरी चीफ व्यवस्थापक (फिजिशियन) के रूप मे कुछ समय तक कार्य किया। चिकित्सा क्षेत्र के बाहर व्यक्तिगत रूप से आप सगीत, चित्रकारी व यांत्रिक विद्या में भी सिद्धहस्त है। ऐसे विद्वान मनीषी के कार्यों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना नागरिको का परम कर्तव्य हो जाता है।

विशेष सम्पादक के विचार

अमृतलाल यादव

भारतवर्ष के आयुर्वेद की विश्व को एक अद्भुत देन है। यह विज्ञान जीवन-विज्ञान है और ससार का प्राचीनतम विज्ञान है। इसकी उत्पत्ति वैदिक काल से प्रारम्भ होती है और कनिष्क के समय तक आयुर्वेद सहिताओ का निर्माण हो चुका था तथा नागार्जुन काल मे यह विज्ञान अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया था और इस के आठो अग पूर्ण रूप से विकसित हो चुके थे।

परन्तु यवन-साम्राज्य के प्रारम्भ होने के समय से ही इस विज्ञान की ओर शासको की उपेक्षा दृष्टि होने लगी। ब्रिटिशकाल मे इस विज्ञान को किंचित् मात्र भी राज्याश्रय नही मिला जिसके कारण इस विज्ञान की अत्यन्त क्षति हुई।

परन्तु इस समय भी जब हम परम उपयोगी विज्ञान को कोई राज्याश्रय नही मिल रहा था इस देश के चिकित्सको की सेवा के कारण उनकी त्याग, निष्ठा, निस्वार्थ सुश्रुषा व परोपकार की भावना से प्रभावित होकर देश के दानी मानी सेठ साहूकारों व देशी राज्यो के राजा महाराजा और उन चिकित्सको को प्रश्रय दिया और इस विज्ञान को जो अपने स्वयं के देश का विज्ञान है, जीवित रखा।

राजस्थान मे रियासतो के राजा-महाराजाओ के तत्वावधान मे राज्य-चिकित्सको ने इस विद्वान के द्वारा जनता की खूब सेवा की। मारवाड मे जिन नाथ सम्प्रदाय के तथा जिन सम्प्रदाय के यतियो एव मुनियो ने इस विज्ञान द्वारा जनता की सेवा करते हुए राजा-महाराजा तथा बादशाहो से फरमान एव सनदें प्राप्त की है। उस यति परम्परा मे वर्तमान मे चिकित्सकसम्राट्, आयुर्वेदमार्तण्ड, प्राणाचाय, वैद्यावतस महोपाध्याय भट्टारक, राजवैद्य प० श्री उदयचन्द्रजी महाराज है। ये जोधपुर व आयुर्वेद जगत मे चाणोद गुरासाहब के नाम से प्रसिद्ध है। श्री गुरासाहब एक कर्मठ अनुभवी, पीयूषपाणि प्रख्यात चिकित्सक है। आपने सन् १८९९ से चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया और उस समय से ही अपने आपको तत्परता से जनताजनार्दन की सेवा मे समर्पित कर दिया। राजपूताने मे १९०४ मे जब प्लेग फैला तो पीपाड आदि स्थानो मे जहाँ प्लेग का उग्र रूप था, आपने अपने चिकित्सा-कौशल से हजारो जनता के प्राण बचाये और आपकी ख्याति सारे मारवाड मे फैल गई। आपकी चिकित्सा से मारवाड की जनता ही नही अपितु तत्कालीन भारत सरकार के स्वास्थ्य विभाग के डाइरेक्टर जनरल R Charles Mac Watt, M B B S, F R C P F.R C S भी इतने प्रभावित हुए कि उन्होने इनको जोधपुर, बीकानेर रेल्वे मे काय चिकित्सक (Physician) का पद प्रदान किया जिसको आपने ९ वर्ष तक बहुत ही सजीदगी के साथ वहन किया। इतना ही नही, मारवाड राज्य के महाराजा श्री उम्मेदसिंहजी ने

आपको राजवैद्य की पदवी एव सिरोपाव के साथ पैरों मे स्वर्ण का विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। आपने आयुर्वेद के प्रचार के साथ प्रसार हेतु अपने आपको सामाजिक कार्यों मे जुटा दिया।

जन-मानस को जागृत करने हेतु आपने मारवाड वैद्य प्रचारिणी सभा की स्थापना की और कई वर्षों तक इसका सभापतित्व ग्रहण किया।

निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन का जो २९वां अधिवेशन जोधपुर मे सम्पन्न हुआ और वह आपकी प्रेरणा एव व्यक्तित्व विशेष के कारण ही हुआ था। आपने उस समय स्वागताध्यक्ष के पद से जो वैद्यो को कार्यक्षेत्र मे उतरने का आह्वान किया वह अत्यत प्रभावपूर्ण था।

इसी तरह सीकर मे १९५० मे आपने राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन में सभापति के आसन से जो अध्यक्षीय भाषण दिया उसमे आपने आयुर्वेद के प्राचीनता के महत्व के विषय मे पाश्चात्य विद्वानो के विचारो का उल्लेख करते हुये कतिपय उदाहरण देकर यह बतलाया कि ग्रीक एण्ड यूनानियो को जब सर्जरी का बिल्कुल ज्ञान नही था उस समय भी भारतवर्ष के चिकित्सक शल्य-शाला-कर्म बडी ही सजीदगी से करते थे। जैसा—

"The Indian knew? Practised indiginous operations which always remained unknown to the Greek and which even the Europeons learnt from them with surprise in the History of this country"

—MAMU.

आयु इसी विद्वान ने पुन॰ लिखा है कि यदि आधुनिक चिकित्सक अपनी वर्तमान चिकित्सा को छोडकर चरक के सिद्धान्तो के अनुकूल चिकित्सा प्रारम्भ करें तो चिकित्सक के सामने चिकित्सा कार्य का भार ससार मे बहुत कम हो जावे और जीर्ण रोग भी कम सख्या मे मिलने लगेंगे।"

इस प्रकार के कई उदाहरण देते हुयें आपने वैद्यो को अपनी चिकित्सा मे अनुसधानात्मक प्रणाली अपनाने का अनुरोध किया।

एक तरफ तो आपने वैद्य समाज को इस तरह तैयार किया किया और दूसरी तरफ आपने राजस्थान सरकार को भी सन् १९५१-५२ के सत्र मे वृहत्तर राजस्थान सरकार द्वारा सगठित आयुर्वेद बोर्ड के सभापति पद से तथा १९६० में स्टैंडिंग बोर्ड के उपसभापति पद से आयुर्वेद चिकित्सा के प्रसार, विकास व समुन्नति के लिए महत्वपूर्ण सुझाव दिये। जोधपुर के खाडाफलसा मे जो आयुर्वेदिक औषधालय चल रहा है उसकी शुरुआत भी सन् १९५२ मे आपकी प्रेरणा से दी हुई है और आपने वहां ऑनरेरी चीफ व्यवस्थापक (फिजिशियन) के रूप मे कुछ समय तक कार्य किया। चिकित्सा क्षेत्र के बाहर व्यक्तिगत रूप से आप सगीत, चित्रकारी व यांत्रिक विद्या में भी सिद्धहस्त है। ऐसे विद्वान मनीषी के कार्यों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना नागरिको का परम कर्तव्य हो जाता है।

इसी विचार से प्रेरित होकर माननीय (अर्थमन्त्री) राजस्थान सरकार, श्री मथुरादास माथुर साहब के तत्वावधान मे एक सम्पादक-मण्डल का आयोजन किया गया है जिसका एक सेनानी (सम्पादक) मै भी हूँ। यह सम्पादक-मण्डल माननीय श्री गुरासाहब का नागरिक अभिनन्दन करता हुआ उनकी सेवा मे एक विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करते हुवे उनकी सेवाओ के प्रति कृतज्ञता प्रगट कर रहा है।

इस अभिनन्दन ग्रथ मे श्री गुरासाहब के चमत्कारिक एव सिद्ध प्रयोगो के प्रकाशन के साथ-साथ आयुर्वेदमीषियो द्वारा दीर्घायुप्राप्ति के साधन, आयुर्वेदीय त्रिदोष सिद्धान्त एव कीटाणुवाद, आयुर्वेदीय पचकर्म चिकित्सापद्धति आदि महत्वपूर्ण विषयो पर लेख लिखे गये हैं जो आयुर्वेद छात्रो को आलोच्य ग्रथो का कार्य सम्पन्न करने मे सक्षम हो सकेंगे। और जनता को रोगो के चमत्कारी प्रयोग जो अब तक जनदृष्टि से बाहर थे, देखने को व अनुभव मे लाने को मिल सकेंगे। यदि इस प्रकाशन से अभीष्ट की सिद्धि हुई तो सम्पादक मण्डल अपने को कृतकृत्य समझेगा।

जय आयुर्वेद!!

दो पुष्प

श्री राम चरण विन्द, सदा सुहागे।
उदय भानु अज्ञान सदा ही भागे ॥

वे है गुरू जगत गौरव साज जिनका।
आयु सदा वेदव्य बढाव मनका ॥

'उदय' भानु हित महा, मन्त्र का सबल प्रचारक।
'चन्द्र' हृदय से एक एक जन का उपकारक ॥

सत्य भाव से विश्व बन्धुता का अनुरागी।
सकल सिद्धि-सर्वस्व सर्व-गत सच्चा त्यागी ॥

सच्चा त्यागी एक मार्ग मे जुट जावे।
आनन्द ब्रह्म का वार, ज्ञान मे आयु बितावे ॥

वही वेदो का आधार, धार मन रथ वाणी।
द्विव्य ज्ञान परिवार कार्य की कुशलता पाणि ॥

हे शरण-दायन देव, करते सब का त्राण है।
भगवन् मातु भूमि, सतान हम, भगवन् गुरू लघु प्राण है ॥१॥

श्याम मनोहर व्यास
रा.ब.उ.मा. विद्या मन्दिर
बाड़मेर
(जोधपुर)

I have known Ayurvedmartand, Pranacharya, Vaidyavatans, Bhattarak, Upadhyaya, Raj-Vaidya, Pandit Udaya Chandraji (the Chanod Guran Sahib) for a long time, both as a man and a Vaidya He is an Ayurvedic physician of the first rank, and truly enjoys the reputation of being almost the best man in the profession here

More than once I placed myself (and some members of my family) under the treatment, and on all occasions the results were marvellous. I am indeed very greatful to him for all that he did for me I cannot sufficiently praise his skill in diagnosis or his wonderful prescriptions. He has a pharmacy of his own, and gets all the drugs prepared under his personal supervision, and that too is, probably, one of the reasons why his cures are so effective.

He has done a lot to popularise the Ayurvedic system of treatment here and by his remarkable cures he has convinced the doubting multitudes that the indigenous system is no quackery, and that the method of treatment here can challange the best in the world in its curative effects

Ayurveda in Marwar owes its popularity mainly to his effects His election to the Presidentship of the Reception Committee of the 29th ALL INDIA AYURVEDIC CONFERENCE clearly manifests the general confidence he enjoys and the regard in which he is held by the people and Vaidyas of Marwar. His appointment as the physician to the Royal Family of Jodhpur and the conferment of the title of 'RAJ VAIDYA' on him amply show the outstanding merits of Guran Sahib

But the man is more impressive than the physician. His gentlemanly behaviour and sweet words win everybody who comes in contact with him, and I believe these to be half the secret of his great success He is generous, and most of the patients receive not only free medical advice but also free medicines To rich and poor, high and low, without any consideration of caste and creed, his doors are open day and night Such a man is a boon to the people of Marwar, and I pray that he may live long to benefit the population of Marwar with his advice and treatment

JODHPUR
10th November, 1940

Diwan Bahadur
MADHO SINGH
HOME MINISTER
Government of Jodhpur

॥ श्री ॥

श्रीधन्वन्तरये नमः ।

श्री १०८ आयुर्वेदमार्तण्ड प्राणाचार्य भट्टारक महोपाध्याय राजमान्य
राजवैद्य-पण्डितश्री उदयचन्द्र (चाणोद गुराशा)
महाभागाना करकमलयो सादर समर्पितम्—

अभिनन्दन-पत्रम्

आयुर्वेदस्याविकासकरणे [illegible]
[illegible] कीर्तिमान् ।
योऽस्मो श्रीयगुण क्रियासु कुशलो [illegible] भिषक्
श्रीराठौर [illegible] गुरुं [illegible] ॥ १ ॥

[illegible] भास्कर ।
विबुधवैद्यगणेषु यशोधरो [illegible] ॥ २ ॥

मान्याः !

[illegible] आयुर्वेद [illegible] समय समय [illegible] निरामयिकत्वे ।

महाभागाः !

श्रीमता [illegible] राजस्थानप्रान्तीय [illegible] प्रान्तीय वैद्यसम्मेलनाध्यक्षपदे भवतो [illegible] । [illegible] राजस्थानायुर्वेद [illegible] श्रीमता [illegible] महान् सन्तोष प्रमोदश्च ।

किंबहुना श्रीमन्माननीया चिकित्सकाः [illegible] वैद्यशिरोमणे [illegible] अभिनन्दन करोति श्रीमताम् ।

भिषजां साधुवृत्तानां भद्रमागमशालिनाम् ।
अभ्यस्तकर्मणां भद्रं भद्रं भद्राभिलाषिणाम् ॥

सभापति कन्हैयालाल मेहता
आयुर्वेदाचार्य
मंत्री-प्यारेलाल शर्मा
व्याकरणशास्त्री आयुर्वेदाचार्य
महावीरप्रसाद मिश्र
आयुर्वेदाचार्य

श्रीमता विधेया —

श्री आयुर्वेदहितैषिणी सभा बम्बई

दिनाङ्क भाद्रकृष्णा १०।२००८ ।

आयुर्वेदमार्तण्ड [illegible]

श्रीमान् माननीय राजवैद्य राजगुरु आयुर्वेदमार्तण्ड प्राणाचार्य भट्टारक
श्री उदयचन्द्र जी महाराज, जोधपुर
का

❀ अभिनन्दन ❀

श्रीमान् सम्माननीय महानुभाव !

आपने जब से चिकित्सा के क्षेत्र में पदार्पण किया तभी से इस तथ्य को सामने रखा कि आयुर्वेद का महत्व अक्षुण्ण रहे। आपने अपनी अनुपम प्रतिभा, ज्ञान तथा अध्यवसाय के द्वारा चिकित्साक्षेत्र में जो सम्माननीय स्थान प्राप्त किया वह आपका आयुर्वेद में दृढ़निष्ठा का परम प्रतीक है।

मारवाड़ की राजधानी जोधपुर के भद्र नागरिकों तथा जोधपुर के महामान्य नरेशों को आयुर्वेद की चिकित्साक्षमता का प्रत्यक्ष चमत्कार अनेकों बार प्रदर्शित कर आपने जो महत्व देशी चिकित्सापद्धति का स्थापित किया है उससे आपके साथ साथ सारा वैद्यजगत् ही सम्मानित हुआ है।

समय समय पर अनेकों ऐसे उलझे हुए रोगों को जिनके सुलझने की आशा नगण्य थी आपने अपनी अनुपम सूझ से सुलझा कर यह सिद्ध कर दिया कि आप पीयूषपाणि चिकित्सक हैं।

आपकी सहास्य मुद्रा, शालीनता, रोगियों के प्रति कल्याणकांक्षा, औदार्य, धैर्य तथा सामयिक सूझ जैसे गुणों ने आपको वस्तुतः राजवैद्य के पद पर प्रतिष्ठित किया है।

आयुर्वेद के प्रति आपकी अनन्य श्रद्धा इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आप आयुर्वेद के महत्व के लिये अपना सर्वस्व लगा देने को सहर्ष प्रस्तुत हैं।

आप उच्चकोटि के चिकित्सक ही नहीं हैं, प्रत्युत सार्वजनिक कार्यों के संचालन में भी पूरे दक्ष हैं। आपने अनेकों संस्थाओं का संचालन कर तथा प्रान्तीय सम्मेलन के सभापतित्वभार को यथावत् निर्वाहित कर यह सिद्ध कर दिया है कि आप उच्चतम नेतृत्व क्षमता वाले भी हैं।

आपकी क्षमता ने ही अब भी आपको आयुर्वेदिक बोर्ड के सभापतित्व पर आसीन किया है। हम आपके किन किन गुणों का वर्णन करें ?

जयपुर की यह सद्वैद्यसभा राजस्थान के आयुर्वेद गगन के प्रकाशमान नक्षत्र के लिये अपनी श्रद्धा सहित प्रसूनाञ्जलि समर्पित कर अपने आपको गौरवान्वित मानती है। आप इसको स्वीकार कर हमें कृतार्थ करेंगे।

भगवान् धन्वन्तरि से हमारी पुनीत प्रार्थना है कि वे आपको चिरकाल तक स्वास्थ्यमय जीवन प्रदान कर आयुर्वेद की गौरवपताका को फहराने के लिये सक्षम बनाये रहें।

हम हैं आपके
विनीत—
सदस्य सद्वैद्य सभा, जयपुर

I have known Ayurvedmartand, Pranacharya, Vaidyavatans, Bhattarak, Upadhyaya, Raj-Vaidya, Pandit Udaya Chandraji (the Chanod Guran Sahib) for a long time, both as a man and a Vaidya He is an Ayurvedic physician of the first rank, and truly enjoys the reputation of being almost the best man in the profession here

More than once I placed myself (and some members of my family) under the treatment, and on all occasions the results were marvellous. I am indeed very greatful to him for all that he did for me I cannot sufficiently praise his skill in diagnosis or his wonderful prescriptions. He has a pharmacy of his own, and gets all the drugs prepared under his personal supervision, and that too is, probably, one of the reasons why his cures are so effective.

He has done a lot to popularise the Ayurvedic system of treatment here and by his remarkable cures he has convinced the doubting multitudes that the indigenous system is no quackery, and that the method of treatment here can challange the best in the world in its curative effects.

Ayurveda in Marwar owes its popularity mainly to his effects His election to the Presidentship of the Reception Committee of the 29th ALL INDIA AYURVEDIC CONFERENCE clearly manifests the general confidence he enjoys and the regard in which he is held by the people and Vaidyas of Marwar. His appointment as the physician to the Royal Family of Jodhpur and the conferment of the title of 'RAJ VAIDYA' on him amply show the outstanding merits of Guran Sahib

But the man is more impressive than the physician. His gentlemanly behaviour and sweet words win everybody who comes in contact with him, and I believe these to be half the secret of his great success He is generous, and most of the patients receive not only free medical advice but also free medicines To rich and poor, high and low, without any consideration of caste and creed, his doors are open day and night Such a man is a boon to the people of Marwar, and I pray that he may live long to benefit the population of Marwar with his advice and treatment

JODHPUR
10th November, 1940

Diwan Bahadur
MADHO SINGH
HOME MINISTER
Government of Jodhpur

JUDICIAL MINISTER'S HOUSE,
JODHPUR, July 15, 1940

RAJ VAIDYA Pandit UDAY CHANDRAJI has attended several members of my family for various ailments from time to time during the last two years It gives me great pleasure to testify to his high abilities and wide experience as a physician. He wins the patient's confidence by his attractive personality, charming manners and sweet talk. He studies the idiosyncracies of his patient and prescribes accordingly His treatment is, therefore remarkably successful.

He is deservedly popular with the public of Marwar and commands an extensive practice amongst all classes of the people

He enjoys the patronage of His Highness and is the consulting Vaidya of His Highness household

Besides being a successful medical practitioner, he is fond of learning and research.

He led the movement for the holding of the 29th Session of the All India Ayurvedic Conference at Jodhpur last winter The success of this Conference was very largely due to his initiative, perseverance and popularity.

I wish him all success and prosperity.

Rai Bahadur Kanwar Sain
M.A Barristar-at-law,
Minister for Justice and Reforms,
JODHPUR.

श्री उदयाभिनन्दन–हीरक जयन्ती ग्रन्थ

खण्ड २

पूज्यपाद महोपाध्याय वैद्यावतस प्राणाचार्य, आयुर्वेद-मार्तण्ड राजमान्य राजवैद्य प० उदयचन्द्र भट्टारक द्वारा

मूत्र व नाड़ी-परीक्षा

(सशोधित व अनुवादित)

मूत्र-परीक्षा

अत पर प्रवक्ष्यामियन्मूत्रस्य परीक्षणम ।
येन विज्ञात मात्रेण सर्व रोगान्प्रलम्यते ॥१॥

अब हम मूत्र-परीक्षा लिखेगे जिसे जान लेने पर सब प्रकार के रोग-स्थिति का ज्ञान हो जाता है ॥१

पश्चात्तुरजनीयामे घटिकाना चतुष्ठये ।
उत्थायरोगिण वैद्य मूत्रोत्सर्गं च कारयेत् ॥२॥

रात्रि के पिछले पहर चारघडी के तडके रोगीको उठा कर मूत्र करने के लिये कहे ॥२

आद्यधारा परित्यज्य मध्यधारासमुद्भवम् ।
श्वेतकाचमयीस्थाल्या धृत्वा मूत्र परीक्षयेत् ॥३॥

मूत्र की पहिली धारा फेक कर मध्य धारा के मूत्र को सफेद काच के वर्तन में रख कर परीक्षा करे ॥३

भास्करोदयवेलाया प्रकाशेस्थानकेसमे ।
लोऽपित्वा पुन सम्यक् ततो मूत्र परीक्षयेत् ॥४॥

सूर्योदय हो जाने पर समस्थान पर बर्तन रख कर बर्तन के मूत्र को खूब हिलाकर मूत्र की परीक्षा करे ॥४

तृणेनादाय तैलस्य बिंदुमूत्रे प्रपातयेत् ।
जायते बद्बुदाकार विकारः सोऽस्ति पित्तज ॥५॥

तृण से तैल बिन्दु लेकर मूत्र मे डाले । यदि तैल बिन्दु का बुद बुद हो जाय तो विकार पित्त से पैदा हुआ है यह समझो ॥५

श्वेतधारा महावात पीतधारातदाज्वर ।
रक्तधारा दीर्घ रोगी मरण कृष्ण धारया ॥६॥

यदि मूत्र का वर्ण (धारा) सफेद रग की हो तो वात व्याधि से पीडित है । यदि धारा पीत हो तो ज्वरवाला है तथा लाल वर्ण की धारा होने से बहुत दिन का बीमार तथा काळी धारा होने पर मुमुर्षु समझे ॥६

स्निग्ध च श्यामल छाया वात मूत्र परीक्षयेत् ।
तारिकामुपबध्नाति तैलबिन्दुर्युतंतथा ॥७॥
मूत्रे श्लेष्मणि जायेत सर्मपल्वलवारिणा ।

स्निग्ध (चिकना) श्यामवर्ण वात से, तैल बिन्दु की तारिका पित्त से कफ वृद्धि से मूत्र का वर्ण तालाब के जळ के समान स्वच्छ होता है ॥७

मूत्रे शाकमिलित तैलबिन्दू प्रजायते ।
मूत्र वें पित्तमारुते ॥
उत्क्षिप्ते तैलबिन्दूस्तु चतुर्दिक्षुविसर्पते ॥९॥

जब तैल बिन्दु मूत्र के साथ मिल जाती है, या तैल बिन्दु मूत्र मे चारो ओर फैल जाय तो वात पित्त की विशेपता जानें ।

सोवीरेण सम शस्त मातुलिंग समप्रभम् ।
पानीयस्य सम मूत्र विपाक रहित भवेत् ॥१०॥

सुरमा के समान या विजोरे के समान या जल के समान क्रम से काला, पीला, श्वेत वात पित्त कफ से हैं ।

कफात्पल्वलपानीय तुल्य मूत्र प्रजायते ।
रक्तवातेनरक्त स्यात् कौसुम पित्ततोभवेत् ॥११॥

कफ से मूत्र तालाब के जल के समान तथा रक्त तथा वायु से लाल वर्ण का तथा पित्त से कुसुंभ के फूल के समान होता है ।

गुडुहूलनतमारक्त मूत्रमालोक्यते यदा ।
बहुतितदमारक्त चिन्हतल्लिंगवेदना ॥१२॥

वातश्लेष्मवशान्मूत्र तक्रतुल्य प्रजायते ।
जलोदरसमुद्भूत मूत्र घृत कणोपमम् ॥१३॥

यदि छाछ के समान मूत्र हो तो वात कफ से समझे तथा जलोदर रोग मे मूत्र घी के समान होता है ॥१३

वात ज्वर समुदभूत मूत्र कुकुमपिंजरम् ।
मलेन पीतवर्ण च बहुलच प्रजायते ॥१४॥

वातज्वरी का मूत्र कुकुम के समान तथा गाढा मल से पीतवर्ण का होता है ॥१४

निरामेण शरीरेण श्वेत मूत्र प्रजायते ।
आम वात व शान्मूत्र तक्रतुल्य प्रजायते ॥१५॥

आमरहित पुरुष का मूत्र सफेद उतरता है परन्तु आम वात के कारण मूत्र छाछ तुल्य होता है ॥१५

पीत मित्थ प्रजायेत मूत्र पित्तोद्भव तथा।
समधातो पुनः कूप जल तुल्य प्रजायते ॥१६॥

पित्त से मूत्र का वर्ण पीला होता है तथा समधातु पुरुप का मूत्र कूए के जल के समान होता है ॥१६

ऊर्ध्वं नीलमधोरक्त रुधिरेण प्रजायते।
रक्त श्लेष्म वशान्मूत्र ससाध्य मूत्र उच्यते ॥१७॥

मूत्र मे ऊपर नीली तथा नीचे लाल झाँई रक्त-प्रकोप से होती है तथा रक्त व कफ का मूत्र साध्य कहा है ॥१७

पीतवर्णं यदा पश्येन्मूत्र बुद्बुद सयुतम्।
तदाप्यसाध्य माकष्ट मूत्र वैद्यकवेदिभि ॥१८॥

पीले रग का बुदबुदो के साथ मूत्र होने पर उस बीमार की स्थिति असाध्य या कष्ट-साध्य समझें ॥१८

अजीर्णेनभवेन्मूत्र श्वेत वा पीत दारुणम्।
अजा मूत्र सम मूत्र अजीर्णं ज्वर सन्निमम् ॥१९॥

अजीर्ण से रोगी का मूत्र सफेद, पीला, या अनेक रग का बकरी के मूत्र के समान होता है ॥१९

मूत्र च कृष्ण श्वेत च क्षय रोगस्य कथ्यते।
मूत्रमसाध्यक ज्ञेय भषज नैव कारयेत् ॥२०॥

काला और सफेद वर्ण का मूत्र क्षय रोग मे हो जाता है अत ऐसा मूत्र देख कर इस प्रकार के रोगी की चिकित्सा न करें ॥२०

नीलं स्निग्ध यदा मूत्र भाजने यत्र दृश्यते।
आहारेच विहारेचोदरवृद्धि भवत्तदा ॥२१॥

जब पात्र मे रखे हुए मूत्र का वर्ण नीला व चिकना दीखे वह रोगी उदर वृद्धि का है यह मानो ॥२१

ऊर्ध्वंनीलमधोरक्त मूत्र च रोगिणस्तदा।
पित्तप्रकृति साज्ञेया सनिपातस्यलक्षणम् ॥२२॥

ऊपर नीले रग का तथा नीचे लाल झाई वाला मूत्र का रोगी पित्त वृद्धितम सनि-पात का जाने ॥२२

य दोक्षुरस सकाशम् आमवातेन जायते।
रक्तमध्य वशान्मूत्र ज्वराधिक्यस्य लक्षणम् ॥२३॥

आमावात से मूत्र ईख के रस के समान होता है तथा तेज बुखार मे लाल रग का होता है ॥२३

प्रचुर नीलवर्णं च मूत्र प्राणान्तकृद्भवेत् ।
कृष्ण बाहुल्यजानीयात्सन्निपातस्य लक्षण ॥२४॥

गहरे रग का नीला मूत्र रोगी का मरक बताता है तथा काला अधिक रग मूत्र का होने पर रोगी को सनिपात समझना चाहिये २४॥

पीत तथा परिच्छाय कृष्ण बुदबुद सयुतम् ।
मूत्र प्रसूति दोषेण सशयो नात्र कश्चन ॥२५॥

पीली छाया वाला या काली छाया वाला बुद् बुद युक्त मूत्र प्रसूति रोगो मे होता है ॥२५

आपीत रक्त फेनाढ्यं इक्षुरसरसोपमम् ।
पित्ते कफेऽनले मूत्रे निरामे च ज्वरोभवेत् ॥२६॥

पीला या लाल मूत्र, जिस पर बहुत झाग हो, तथा ईख के रस के समान पित्त. कफ, तथा वायु द्वारा निराम ज्वर मे होता है ॥२६

नीलमबुसित पीत रुक्ष वायु प्रकोपत ।
एहीत्वा रोगिणो मूत्र सूर्यं तापे निधारयेत् ।
तस्य मध्ये क्षिपे तैलं तन्मूत्र च परीक्षयेत् ॥१॥

रोगी के मूत्र को लेकर धूप मे रख कर उसमे तैल की बूद डाल कर परीक्षा करें ॥१॥

यदा विकाशमाप्नोति तदासाध्य भविष्यति ।
बिन्दुरुपेण मध्याध्येतु असाध्यचविनिर्दिशेत् ॥२॥

जब तैल मूत्र पर फैल जाय तो रोगी साध्य है और यदि बिन्दु रूप मे रह जाय तो असाध्य समझो ॥२॥

पूर्वस्यांवर्द्धते बिन्दू तैंल प्रसारतो यदि ।
न चिर वर्द्धते रोगी
दक्षिणे जायते बिन्दु ज्वरभावी भवेत्तदा
दिनैक जीवित तस्य मृत्युस्तस्य न सशय ।
वारुणे च यदा बिन्दु प्रसरेत्तु तदा ध्रुवम् ।
रोगिणो रोगहानि स्यादायुर्वृद्धिमवाप्नुयात् ।
उत्तरस्या यदा बिन्दू तैलस्य प्रसरेत्तदा ।
आरोग्यचतदानून ननुचस्य न सशय ॥

फैलती हुई तैल बिन्दु यदि पूर्व दिशा मे बढे तो बहुत काल तक रोग बढता रहे ।
" " " " दक्षिण " " एक दिन जीवन ।

„ „ „ „ पश्चिम „ „ स्वस्थ होवे ।

„ „ „ „ उत्तर „ „ आरोग्य लाभ ।

ईशाने तैल प्रसरो जायते यदि रोगिण ।
जीवित मासमेक तु पश्चाद्यातियमालये ॥
आग्नेया जायते बिन्दू तैलस्य प्रसरेद्यादि ।
तस्योपधं न कर्त्तव्य निश्चय तद्विनश्यति ।
प्रसरो जायते तैल नैर्ऋत्या दिशमाश्रितः ।
चिर क्रीडा करोतीह
आमयन्परिसर्वत्र दृष्ट्या
न जीवति ध्रुव रोगी यदा सर्वज्ञ भगठीनभ् ।

यदि तैल ईशान कोण मे फैले तो एक माह का जीवन ।

„ „ आग्नेय „ „ „ असाध्य ।

„ „ नैऋत्य „ „ „ साध्य ।

तैल बिन्दुर्यदा मत्रे चालणी सदृशो भवेत् ।
प्रेतव्यतरतो दोषो ध्रुव ज्ञेयोविचक्षणै ॥

जब तैल की बिन्दु मे चालणी के समान छेद हो जाय तो उस रोगी को भूत-प्रेतादि का दोष जाने ।

शख चक्र गदाकार तोमर फरास तथा ।
शस्त्र खड्ग धनुर्दण्ड श्मसान च भवेत्तदा ॥
हस कारडसपूर्ण तडागो दृश्यते यदा ।
पद्म रूप फलाकार तैल बिन्दू सुख प्रभम् ।

जब मूत्र मे तैल बिन्दु की आकृति में शख, चक्र, गदा, तोमर, त्रिशूल, तलवार, धनुष, दण्ड आदि दीखें तो रोगी की हालत खराब समझनी चाहिये ।

परन्तु जब हस तथा कारड पक्षियो द्वारा सुशोभित तालाब के समान प्रतीत होवे या कमल की आकृति का हो या फल की आकृति का हो तो साध्य जाने ।

सर्वदा सकल गात्र प्रासादं गज चामरै ।
छत्र च तोरणाकार तैलबिन्दू चिरायुषम् ॥

जब तैल बिन्दु मनुष्य की आकृति मे या मकान, हाथी, चवर, छत्र, तोरण आकार मे प्रतीत हो तो रोगी को दीर्घ आयु वाला समझे ।

तैल मध्ये त्रिकोणागे मूत्र सजायते यदा ।
शाकिनी गोत्रजा देव्या दोषद्वय समप्रभम् ॥

जब तैल बिन्दो के अन्दर त्रिकोण आकृति मे हो जाय तो रोगी को इन दोनो देवियो शाकिनी तथा गोत्रजा द्वारा गृहीत समझे ।

पूर्वस्या वर्द्धते शृ गं तस्य दोष. कुलोद्भव ।
दक्षिणस्या दिशि शृ गे चडाल व्यंतरो भवेत् ।
पश्चिमायादिशिदोष विज्ञयो क्षेत्रपालज. ।
उत्तारस्यादिशि शृ गे गृह पूवनु पुद्गल ।

तैल बिन्दु मे शिखर की आकृति पूर्व दिशा मे बढे तो उसका दोष खानदानी जानें, तथा दक्षिण दिशा की ओर बढे तो चाडाल व्यतर का समभे। पश्चिम दिशा मे बढे तो क्षेत्रपाल का दोष जाने, उत्तर दिशा की तरफ शिखराकृति बढे तो पुद्मल दोष जानें।

अपुज्य कुरुते पूजा ज्ञातव्य च चिकित्सकै. '
ईशान्या विदिशे शृ गे शिषिशीकोतरी भवेत् ॥

तथा ईशान की ओर शिखर बढने पर शीकोत्तरी दोष माने तथा वैद्यो को इनकी पूजा आदि का ज्ञान प्राप्त कर इन्हे प्रसन्न किया जाय।

मूत्र मध्ये यदा तैल मस्तकद्वयसयुतम् ।
द्वयो वितरयो दोषो ध्रुवं ज्ञेयो विचक्षणै ।

जब मूत्र मे डाले गये तैल बिन्दु से दो शिर की आकृति मालूम होवे तो दो व्यतर का दोष समझना।

तैलबिंदूर्यदा मूत्रे मडल मध्यते ध्रुवम् ।
निर्दोष च तथा ज्ञेयमोषधचं वकारयेत् ॥२॥

जब तैल बिदु मे मडल बधे तो उस रोगी को निर्दोष समझ कर चिकित्सा करे।

तैलबिंदूर्यदा मूत्रे विकाश कुरुते स्वयम् ।
स्वरूप तस्य वक्ष्यामि शुभाशुभमचिकित्सकै ॥

जब तैल बिन्दु अपने आप ही फैले उसके शुभ अशुभ स्वरूपो को कहता हूँ।

विकसति हल. कूर्म सुरभि खर जबुकम ।
करभमडलेष्वन्त. असाध्य चैव लक्षयेत् ।

यदि उसमें हल, कच्छप, गाय, गधा, सियार व हाथी आदि की आकृति हो तो असाध्य जानें।

द्विपथ चतुष्पथवा त्रिपथ दृश्यते पुन ।
एक पथ यदा बिंदू मरण कथितो बुधै. ॥

अगर उस बिन्दु मे दो रास्ते, तीन रास्ते या चार रास्ते अथवा एक ही रास्ता सीधा बना हुआ सा दीखे तो निश्चित मृत्यु जानें।

नरो वा शीषहीनो वा गात्रहीनो तथैव च ।
एतैरूपविर्मदन ध्रुव मृत्यु विजायते ॥

यदि तैल बिन्दु मनुष्य की धड शिर रहित या केवल मुण्ड अग रहित प्रतीत होवे तो उस मनुष्य की अवश्य मृत्यु समझें।

नाड़ी-परीक्षा

उत्तावला तथा लवा मदा शुभतरातथा।
स्थूला च कठिना शीघ्रा मृद्वी रौद्रा प्रकीर्तिता॥

लम्बमान, मद, शुभ, स्थूल, कठिन, शीघ्र, मृदु, रौद्र आदि नाडी को गतियें होती हैं।

सामा निरामअत्युग्रा ज्ञातव्या नाडी लक्षणै.।
त्रिविध चिन्तयेत्प्राज्ञ तत कर्म समाचरेत्॥

आम लक्षणो वाली, निराम लक्षण, तथा अत्युग्र लक्षणो वाली तीन प्रकार के लक्षणो से नाडी का विचार करना चाहिये। उसके पश्चात् ही चिकित्सा कर्म करें।

मंदा स्पन्दति आहारे कफेन परिपूरिता।
बहुदाह करी रक्तात्प्लावयति विशेषतः॥

भोजन कर लेने के तुरन्त पश्चात् या देह में कफ दोष की वृद्धि की अवस्था में नाडी की गति मद रहती है। परन्तु रक्त से (रक्त दोष से) बहुत ही दाह करती हुई अधिक उछला करती है।

आदौ च वहते पित्त मध्ये श्लेष्मा तथैव च।
अते प्रभजन प्रोक्त ज्ञातव्य तु चिकित्सकै॥

नाडी के पहले पित्त, मध्य में कफ तथा अन्त में वायु कहा है, इसका ज्ञान सुचारु रूप से जाने।

वाताधिके वहेद्वाग्रे मध्ये वहति पित्तला।
अते श्लेष्मा भवेन्नाडी सन्निपातात्त्रिदोषजा॥

पाठान्तर मे यह भी बताया है कि वायु की अधिकता से अग्रे अर्थात् पहले तथा पित्त की मध्य मे श्लेष्मा नाडी अन्त मे तथा सब साथ प्रतीत होने से सन्निपात जाने।

उपरोक्त श्लोक तथा इस श्लोक मे वैपरीत्यता आती है अत निश्चयात्मकता नही मालूम देती तथा विद्यार्थी को सदेहकारक है अतः इसके लिये निर्णायक लक्षणो की आवश्यकता होती है—

वाताम्नाडी प्रगःभाच वहते कफ सयुता।

वात

नाडी— नाडी धत्ते मरुत्कोपे जलौका सर्पयोर्गतिम्।
वाताधिके भवेन्नाडी प्रव्यक्ता तर्जनीतले॥
वाताद्वक्रगतिर्नाडी

नेत्र— रौद्रे रुक्षे च धूम्रान्ते नयनेतस्य चचले।
तथाभ्यतर कृष्णाभे भवति वातरोगिणो॥
नेत्रे स्यात्पवनाद्रूक्ष धूम्रवर्णं तथारुणम्।
कोटरातप्रविष्टे च तथातथ्यविलोकने।

मुख— वातकोपे मुख रुक्ष तथा वक्त्र गत प्रभम्।

जिह्वा— वातकोपे प्रसुप्ता च स्फुटिता मधुरा भवेत्।
स्रस्तावर्णेनहरिता जिह्वा लाला प्रमुंचति।
शाकपत्रप्रभा रुक्षा स्फुटना रसनानिलात्।

मूत्र वाते तोयसम रुक्ष बहुतर भवेत्।

पारुष्य सकोचनतोद शूलाः श्यामत्वकपत्वमथागपीडा।
सुप्तत्वशीतत्व खरत्वशोफा कर्माणिवायोः प्रवदन्तिज्ञा।
न वातेन विना पीडा
वात स्नेहेन मित्रवत्
वात नाशाय मर्द्दनम्

स्निग्धोष्ण स्थिरवृष्यबल्यलवणस्वादाम्लतैलातप।
स्नानाभ्यजनबस्ति मासमदिरा सवाहनैर्मर्दनै।
स्नेहस्वेदनिरुहनश्यशयनास्थानोपनाहादिकै।
पानाहारविहारभेषजमिद वायोः प्रशान्ति नयेत्।

भोजन-पान, बिहार मे स्निग्ध, उष्ण, स्थिर, वृष्य, बल्य, लवण, मधुर, अम्ल, रस, तैल, धूप, बस्ति, मास, सुरा तथा सवाहन मर्दन, स्नेह, स्वेदन, निरुहण, शयन, आस्थापन, उपनाह आदि वायु को शान्त करते हैं।

वायु—नाडी की गति जोक या सर्प के समान तथा वैद्य की तर्जनी के नीचे टेढी गति से अनुभवित होती है।

नेत्र—भयानक, रूखे, धूम्रवर्ण है अन्त मे, लाल वर्ण के, चचल, अन्दर को धसे हुए, कालिमा लिये प्रतीत होते हैं।

मुख—रूखा, प्रभाहीन प्रतिभाषित होता है।

जिव्हा—सोई हुई, फटी हुई, मधुर, ढीली, हरे वर्ण की लालाश्राव करने वाली, शाक के पत्तें के समान खर, रूखी होती है।

मूत्र—जल के समान, रूखा तथा बहुत होता है।

वातकर्म—वायु के बिना पीडा नही होती है।

वात चिकित्साक्रम—मित्र के समान वायु को स्नेह से जीतें। वायु को नष्ट करने के लिए मर्दन करे।

पित्त

कुलिग काक मडूक गति पित्तस्य कोपत।
पित्ते व्यक्ता मध्यमाया
उत्फुल्ला पित्तगा भवेत्
चपला पित्तवाहिनी

नेत्र— पित्तरोगे तु पीताभे नीले वा रक्तवर्णके।
सतप्ते भवतो दीप सहते नावलोकितम्।
हरिद्राखडवर्णं च रक्त वा हरित तथा।
दीपद्वेषि सदाह च नेत्रं स्यात्पित्तकोपत।

मुख— पित्तकोपे भवेद्रक्त पीत वा परितप्तकम्।

जिह्वा— पित्तकोपेतुरक्ताभा तिक्ता दग्धेव जायते।
जिह्वा दाहान्वितावद्धा कटकैरिव सर्वत।
रक्ताश्यामा भवेत्पित्तात्

मूत्र— रक्तवर्णं भवेत्पित्ते पीत वा स्वल्पमेव च।

भ्रम मुह मुखशोष स्वेदसताप मूर्च्छा
मुख नयन खरस्वग् मूत्र विट्पीतता च।
प्रलपनमतिसारश्चारुचिश्च ज्वरश्च।
तृडतिशिशिरतेच्छा पित्तरोगस्य लिगम्।

शिरोरतिभ्रमोमूर्च्छा प्रलापो रक्तमूत्रता।
मुखे कट्वक्षिदाहश्च पित्तकोपस्य लक्षणम्।
न पित्तेन विना भ्रम
न पित्तेन विना दाह

जामात्रावरसदायोऽय पित्ते मधुर शीतलम्।
स्नान च पित्त नाशाय,
तिक्तं स्वादुकषाय चातिपवनच्छाया निशाव्यंजनम्
ज्योत्स्नाभूगृहवास वारि जलज स्त्रीगात्रस्पर्शनम्।
सर्पि क्षीरविरेकसेक रुधिरश्राव प्रदेहादिकम्।
पानाहारविहार भेपजमिद पित्त प्रशान्ति नयेत्।

पित्त

नाड़ी—कुलिंग, कौए, मडूक जानवरो के समान उछलती हुई चचल मध्यमा अगुली को छूती है।

नेत्र—पीले, नीले, या लाल तपे हुए दीपप्रकाश को नही सहन करने वाले जलनयुक्त होते हैं।

मुख—पीला, लाल, तपा हुआ।

जिह्वा—लाल, तिक्तरसा, जलीहुईसी दाहयुक्त, चारो ओर काटो से व्याप्त श्याम-वर्णा की।

मूत्र—का रग, लाल, पीला, व थोडा भ्रम, दाह इसके मुख्य परिचायक हैं।

पित्त के उपक्रम जवाई के समान मधुर व शीतल प्रयोग मे लावे। खासकर के स्नान।

कफ

हस पारावत गति धत्ते श्लेष्म प्रकोपत'।
तृतीयागुलिगाकफे
कफान्मदगतिर्ज्ञेया
स्थिरा श्लेष्मवती प्रोक्ता

नेत्र— ज्योतिहीने च शुक्लक्ले च जलपूर्णे च गौरवे।
मदावलोकने नेत्रे भवत कफ कोपत।
चक्षुर्वलासबाहुल्य स्निग्ध स्यात्सलिलप्लुतम्।
तथा धवलवर्णं च ज्योतिहीन बलान्वितम्।

मुख— कफकोपे गुरु स्निग्ध भवेच्छूनमिवाननम्।
जिह्वा— कफोदये भवेज्जिह्वा स्थूला गुर्वी विलेपनी।
सुस्थूलकटकोपेता क्षारा बहु कफावहा।
लिप्ताद्धि धवला कफात्

मूत्र— कफे श्वेत घन स्निग्ध मूत्र सजायते ध्रुवम्।

अगस्य गौरवमपाटवमतरग्ने
उत्क्लेशताच हृदयस्य मुखे प्रसेक।
आलस्यमास्यमधुरत्व मकाडकस्यु
रापाडुतानयनयोरतिरोमहर्ष।
न च श्लेष्मविनाच्छर्दि
न छर्दि रसवर्जिता
न मृत्यु श्लेष्मवाजिता

रुक्ष क्षार कषाय तिलकटक व्यायामनिष्ठीवनम्।
स्त्री सेवाध्वनियुद्धजागर जल क्रीडा पदाघातनम्।
धूमात्युष्णशिरोविरेक शमन स्वेदोपवासादिकम्।
पान हारविहारभेषजमिद श्लेष्म प्रशान्ति नयेत्।
कफ दुर्जनवत्तीक्ष्ण.
वमन कफनाशाय

कफ

नाड़ी—हस व कबूतर के समान बहुमन्द स्थिर तीसरी अगुली अर्थात् अनामिका को प्रतीत होने वाली।

नेत्र—सफेद, आभारहित, डबडबाये हुए, भारी। थोड़े देखने वाले।

मुख—चिकना, शोथयुक्त।

जिह्वा—मोटी, भारी, सफेद रग से लिपी हुई, मोटे २ काटो वाली, क्षाररस वाली, बहुत कफ को रखने वाली, सफेदी से लिपी हुई।

मूत्र—सफेद, गाढा, चिकना।

सन्निपात

लावतित्तिरि वर्तीर गमन सनिपातत।
अगुलीत्रितयेऽपिस्यात् प्रव्यक्ता सनिपातत।
सनिपातादवित्द्रुता

नाड़ी—लाव, तीतर, बटेर की गति के समान अति वेग से तीनो अगुलियो मे स्पृष्ठ होने वाली।

नेत्र— तन्द्रामोहाकुले श्यामे निर्भुग्ने रौक्ष्य रौद्रके।
रक्तवर्णे च भवतो नेत्रदोषत्रयोदये।
त्रिदोष दूषितं नेत्रे मत्तमग्ने भृश भवेत्।
त्रिलिगे सलिलस्रावि प्रान्तेनोन्मीलयत्यपि।

नेत्र—तन्द्रा मोह से व्याप्त श्याम वर्ण के खुले हुए, रूखे भयावने, लाल रग के मत्त, अश्रुवाही, तथा किनारे पर खुले।

परिदग्धा खरस्पर्शा कृष्णादोषत्रयाधिके।

जिह्वा—जली हुई, खुरदरी व काली होती है।

सनिपातेनस्य

एक वृहत्या फलपिप्पलीक शुण्ठीयुत चूर्णमिद प्रशस्तम्।
प्रध्मापयेद्घ्राण पुटेतिसज्ञा करोतिसज्ञा विनिहन्ति मूर्च्छाम्।
बडी कटेरी के फल की पीपर व सोठ को पीस कर नाक मे फूके।

उद्‌घूलन

कट्‌फल शृंगवेर च मागधी मरिचानि च।
मातुलानी कणामूल कुष्ट कौलजन तथा।
एतेषा सूक्ष्मचूर्णश्च सर्वांगमदन कृतम्।
प्रस्वेदं सनिपात च ज्वर श्लेष्माविनाशनम्।

कायफल, सोठ, पीपर, काली मिरच,

स्तोकपात कफे नष्टे पित्त वहति दारुणम्।
पित्त प्लाव विजानीयात् भेषज तस्य कारयेत्॥

कफ के थोडा कम या नष्ट हो जाने पर नाडी गति दारुण (अति तीव्र) हो जाती है। जिसे पित्तप्लाव नाडी सज्ञा कहते हैं उसकी औषधि चिकित्सा करे।

अत्युग्रा वहते वाता स्कफस्य कठ सयुत.।
नष्टे पित्ते च नाड्या च सनिपातो विधीयते॥

वायु से जब नाडी की गति अति तेज हो जावे, कफयुक्त कठ हो तथा पित्त कम हो तब नाड़ी सनीपात की हो जाती है।

स्कन्धे च स्पदने नित्य पुनर्लगति चागुलीः।
असाध्या सा विनिर्दिष्टा नाडी दूरेण वर्जयेत्॥

जिस रोग मे स्कध प्रदेश मे नाडो की फडकन अगुलो पर लगे ऐसा रोगी असाध्य होता है।

वात पित्त कफाश्चैव यस्यैकत्व समाश्रित।
तस्य मृत्युर्विजानीयात् इत्येव नाडी लक्षणम्॥

वात पित्त कफ जिस पुरुष मे एक साथ हो गये हो ऐसा सनिपात रोग की नाडी असाध्यता बताती है।

स्वभावात्तरला दीर्घा शीघ्रात्पित्त ज्वरो भवेत्।
शीघ्रमाना च नश्यते मालाजीर्ण प्रकीर्तिता॥

तरल स्वभाव की दीर्घा तथा शीघ्रता से चलने वाली पित्त ज्वर को बताती है, तथा शीघ्रता से चलती हुई नष्ट होने पर जीर्ण अजीर्ण रोगी जाने।

इडा च पिंगला पूर्वा सुषुम्णा शखिनी कुहु।
गधारी गज जिह्वा च नाडो स्यादष्ट लक्षणा॥

इडा, पिंगला, सुषुम्णा, शखिनी, कुहु, गधारी, गजजिह्वा, पूर्वा ये आठ नाड़ी के लक्षण कहे हैं।

इडा च पिंगलाचैव सुपुम्णा च तृतीयका।
अयाणा संगमो यस्य नाडी नाम तदुच्यते।

इडा, पिंगला, सुपुम्णा इन तीनो के संयोग को नाडी कहते हैं।

इडा वातेन विज्ञेया, पिंगला पित्तमेव च।
सुपुम्णा श्लेष्मलाचैव अयो नाडी उदाहृता॥

इडा को वायु, पिंगला को पित्त तथा सुपुम्णा को श्लेष्मा समझे, अर्थात् देह में ये तीनो नाडियें वात पित्त कफ के स्थान हैं।

इष्ट नाडी इडाचैव मध्यमा पिंगला तथा।
अधमा श्लेष्मलाचैव नाडीनाम त्रिधास्मृता॥

इडा नाडो उत्तम, पिंगला मध्यम तथा श्लेष्मला अधम जाने।

वात श्लेष्मा च पित्त च सा नाडी इष्टमुच्यते।
अयो नाडी समाधिक्षु स रोगी यम मंदिरे॥

वात, कफ, पित्त एक २ की नाडी इष्ट अर्थात् चिकित्स्य है पर तीनो नाडियो की एक साथ स्थिति महाप्रयाण को प्रकट करती है।

मध्ये ज्वरे वहेन्नाडी चपला पित्त वाहिनी।
तदा नून मनुष्यस्य रुधिरं पूरिता नला॥

ज्वर की मध्यमावस्था मे नाडी की चंचलता पित्त को प्रकट करती है, उस समय मनुष्य को अग्नि रक्त से पूर्ण होती है।

निरंतर स्थिरा सूक्ष्मा अन्नमक्नाति वातलम्।
रुक्षवातो भवेद्यस्य नाडी पित्तस्य संक्रम॥

लगातार स्थिर व सूक्ष्म जो मनुष्य वायुकारक अन्नपान का सेवन करता है उसको नाडी पित्त की संक्रमित होकर वायु से रुक्ष बन जाती है।

नाडी तन्तुसमा मन्दा शीतला श्लेष्म दोषजा।
श्लेष्मा शीत स्थिरा नाडी पित्त श्लेष्म समुद्भवा॥

तन्तु के समान मन्द व शीतल कफ दोष से तथा पित्तश्लेष्म की नाडो शीत व स्थिर होती है।

स्थूला च चपला दीर्घा कठिनावातपित्तजित्।
ईषच्च दृश्यते दृष्ट्वा मदस्यान्श्लेष्मवातजा।

स्थूल, चचल, दीर्घ, कठिन तथा बड़ी मुश्किल से प्रतीत होने वालो नाडी कफ वात से होती है।

मद मद चलति शिथिल व्याकुल व्याकुल च ।
स्थित्वा स्थित्वा वहति धमनी यातिनाश च सूक्ष्मा ।
नित्य स्कधे स्फुरति पुनरप्यगुली सस्पृशेद्वा ।
भावरेव बहुविधतर सनिपातादसाध्या ।

जो नाडी धीरे २ गिरी हुई है, ठहर २ कर चलती है तथा बहुत सूक्ष्म प्रतीत होती है तथा स्कन्ध प्रदेश मे अगुली को छूती है तो इन लक्षणो वाली नाडी असाध्य कही है। अर्थात् वह रोगी ठीक होने की स्थिति मे नही है ।

स्थित्वा नाडी मुखे यस्य विद्युज्ज्योति इवंक्षते ।
दिनैक जीवित तस्य नाडया विष्णोरदर्शनात् ॥

नाडी जिसके मुख-मण्डल पर ठहर कर बिजली के प्रकाश के समान दीखती है उस का जीवन एक दिन का है ।

मुखे नाडी वहेद्यस्य प्राणेचैव न दृश्यते ।
तस्यरोगीभवेन्मृत्यु निश्चय यमशासने ॥

जिस मनुष्य के मुख पर नाडी दीखे पर प्राण प्रदेश पर नही वह रोगी निश्चित ही यम के घर जाएगा ।

आर्द्रादीमृगशिरस्या मध्ये मूलप्रतिष्ठितम् ।
खेंदू नाम नक्षत्र एक नाडया यदा भवेत् ॥

आदि मे आर्द्रा, अन्त में मृगशीर, मध्य मे मूल नक्षत्र एक नाडी में आ जाते हैं ।

तदामृत्युर्विजानीयात् इत्येव नाडी लक्षणम्—

तब मृत्यु हो जाती है ।

पुसो दक्षिण हस्तस्य स्त्रियो वामकरस्य तु ।
अगुष्ठ मूलका नाडी परीक्षेत भिषग्वर ॥

पुरुष के दाहिने हाथ की तथा स्त्रियो के बाए हाथ की अगूठे की तरफ की नाडी की परीक्षा करे ।

अगुलिभिस्त्रिभिश्चापि नाडीमवहित. स्पृशेत् ।
तच्चेष्टया सुख दुख जानीयात्कुशलोखिलं ॥

वैद्य को चाहिये कि अपने हाथ की तीनो अगुलियो से एक-चित्त होकर स्पर्श परीक्षा करे, नाडी की चेष्टा से पुरुष के सुख व कष्ट को जाने ।

वाताधिके भवेन्नाडी प्रव्यक्ता तर्जनीतले ।
पित्ते व्यक्ता मध्यमाया तृतीयागुलिगा कफे ॥

वायु की अधिकता से तर्जनी को छूती है तथा बिचली अगुलि को छूने पर पित्त व तीसरी अगुली को छूने पर कफ की विशेषता जानो ।

तर्जनी मध्यमा मध्ये वातपित्ताधिके स्फुटा।
अनामिकाया तर्जन्यां व्यक्त. वातकफः भवेत् ॥

तर्जनी मध्यमा से वात पित्त तथा अनामिका तर्जनी वात कफ की प्रचुरता जाने।

मध्यमानामिकामध्ये स्फुटा पित्त कफाधिके।
अगुलि त्रितयेऽपि स्यात्प्रव्यक्ता सनिपातत ॥

मध्यमा व अनामिका को छूने वाली नाडी पित्त कफ की व तीनो अगुलियो को छूने वाली सनिपात (त्रिदोष) की समझें।

वाताद्वक्रगतिर्नाडी उत्फुल्ला पित्ततो भवेत्।
कफान्मन्दगतिर्ज्ञेया सन्निपातादतिद्रुता।

वात नाडी वक्र गति से पित्त से अधिक उठती हुई, कफ से धीरे गति वाली तथा सनिपात से शीघ्र गति होती है।

अत्युग्रा वहते वात कफस्य कठसयुता ॥
नष्टपित्ते तु नाड्या तु सनिपातो विधीयते।

अत्यन्त उग्र नाडी वायु का वहन करती है, कफ का स्थान कठ में हो गया है, पित्त के नष्ट होने पर सनिपात हो जाता है।

स्कन्दे च स्पन्दन्ते नित्य पुनर्लगति चागुली।
असाध्य सा विनिर्दिष्टा नाडी दूरेण वर्जयेत् ॥

स्कन्ध प्रदेश में स्पदन होता है, तथा अगुली पर स्पर्श प्रतीत होता है, ऐसे रोगी की नाडी असाध्य कही है, ऐसे को दूर से छोड दे।

वातपित्तकफश्चैव यस्यैकत्व समाश्रितम्।
तस्य मृत्युविजानीयादित्येव नाडी लक्षणम् ॥

जिस पुरुष की नाडी मे वात पित्त कफ एक स्थान पर प्रतीत होते हो तो ऐसे पुरुष की मृत्यु अवश्य होगी।

स्तोक वात कफ नष्टे पित्त वहति दारुणम्।
पित्तप्लाव विजानीयाद्भेषज तस्य कारयेत् ॥

कफ से क्षीण होने से थोडा वायु तथा अधिक पित्त है तो ऐसी नाडो को पित्तप्लाव कहते हैं, ऐसे रोगी की चिकित्सा करें।

निष्पन्दा नाडीका हीना शाखा पल्लव शीतला।
त्यज्यन्ते रोगिण वैद्य यमदडाकितात्मकम् ॥

निश्चल नाडी, हीन नाडी तथा जिसकी शाखाऐं व अग शीतल हो गए हैं ऐसे रोग को असाध्य जानें।

मद मद चलति शिथिल व्याकुल व्याकुल च ।
स्थित्वा स्थित्वा वहति धमनी यातिनाश च सूक्ष्मा ।
नित्य स्कधे स्फुरति पुनरप्यगुली सस्पृशेद्वा ।
भावैरेव बहुविधतरै सनिपातादसाध्या ।

जो नाडी धीरे २ गिरी हुई है, ठहर २ कर चलती है तथा बहुत सूक्ष्म प्रतीत होती है तथा स्कन्ध प्रदेश मे अगुली को छूती है तो इन लक्षणो वाली नाडी असाध्य कही है । अर्थात् वह रोगी ठीक होने की स्थिति मे नही है ।

स्थित्वा नाडी मुखे यस्य विद्युज्ज्योति इवेक्षते ।
दिनैक जीवित तस्य नाड्या विष्णोरदर्शनात् ॥

नाडो जिसके मुख-मण्डल पर ठहर कर बिजली के प्रकाश के समान दोखती है उस का जीवन एक दिन का है ।

मुखे नाडी वहेद्यस्य घ्राणेचैव न दृश्यते ।
तस्यरोगीभवेन्मृत्यु निश्चय यमशासने ॥

जिस मनुष्य के मुख पर नाडी दीखे पर घ्राण प्रदेश पर नही वह रोगी निश्चित ही यम के घर जाएगा ।

आर्द्रादौमृगशिरस्या मध्ये मूलप्रतिष्ठितम् ।
खेंदू नाम नक्षत्र एक नाड्या यदा भवेत् ॥

आदि मे आर्द्रा, अन्त में मृगाशीर, मध्य मे मूल नक्षत्र एक नाडी में आ जाते हैं ।

तदामृत्युर्विजानीयात् इत्येव नाडी लक्षणम्—

तब मृत्यु हो जातो है ।

पुसो दक्षिण हस्तस्य स्त्रियो वामकरस्य तु ।
अगुष्ठ मूलका नाडी परीक्षेत भिषग्वर ॥

पुरुष के दाहिने हाथ की तथा स्त्रियो के बाए हाथ की अगूठे को तरफ की नाडी की परीक्षा करे ।

अगुलिभिस्त्रिभिश्चापि नाडीमवहित स्पृशेत् ।
तच्चेष्टया सुख दुःख जानीयात्कुशलोखिलं ॥

वैद्य को चाहिये कि अपने हाथ की तोनो अगुलियो से एक-चित्त होकर स्पर्श परीक्षा करे, नाडो की चेष्टा से पुरुष के सुख व कष्ट को जाने ।

वाताधिके भवेन्नाडी प्रव्यक्ता तर्जनीतले ।
पित्ते व्यक्ता मध्यमाया तृतीयागुलिगा कफे ॥

वायु की अधिकता से तर्जनो को छूती है तथा बिचली अगुलि को छूने पर पित्त व तोसरी अगुलो को छूने पर कफ की विशेषता जानो ।

तर्जनी मध्यमा मध्ये वातपित्ताधिके स्फुटा।
अनामिकाया तर्जन्यां व्यक्त. वातकफः भवेत् ॥

तर्जनी मध्यमा से वात पित्त तथा अनामिका तर्जनी वात कफ की प्रचुरता जाने।

मध्यमानामिकामध्ये स्फुटा पित्त कफाधिके।
अगुलि त्रितयेऽपि स्यात्प्रव्यक्ता सनिपातत ॥

मध्यमा व अनामिका को छूने वाली नाडी पित्त कफ की व तीनो अगुलियो को छूने वाली सनिपात (त्रिदोप) की समझें।

वाताद्वक्रगतिर्नाडी उत्फुल्ला पित्ततो भवेत्।
कफान्मन्दगतिर्ज्ञेया सनिपातादतिद्रुता।

वात नाडी वक्र गति से पित्त से अधिक उठती हुई, कफ से धीरे गति वाली तथा सनिपात से शीघ्र गति होती है।

अत्युग्रा वहते वात कफस्य कठसयुता ॥
नष्टपित्ते तु नाडया तु सनिपातो विधीयते।

अत्यन्त उग्र नाडी वायु का वहन करती है, कफ का स्थान कठ में हो गया है, पित्त के नष्ट होने पर सनिपात हो जाता है।

स्कन्दे च स्पन्दन्ते नित्य पुनर्लगति चागुली।
असाध्य सा विनिर्दिष्टा नाडी दूरेण वर्जयेत् ॥

स्कन्ध प्रदेश में स्पदन होता है, तथा अगुली पर स्पर्श प्रतीत होता है, ऐसे रोगी की नाडी असाध्य कही है, ऐसे को दूर से छोड दे।

वातपित्तकफश्चैव यस्यैकत्व समाश्रितम्।
तस्य मृत्युर्विजानीयादित्येव नाडी लक्षणम् ॥

जिस पुरुष की नाडी मे वात पित्त कफ एक स्थान पर प्रतीत होते हो तो ऐसे पुरुष की मृत्यु अवश्य होगी।

स्तोक वात कफ नष्टे पित्त वहति दारुणम्।
पित्तप्लाव विजानीयाद्भेषज तस्य कारयेत् ॥

कफ से क्षीण होने से थोडा वायु तथा अधिक पित्त है तो ऐसी नाडो को पित्तप्लाव कहते हैं, ऐसे रोगी की चिकित्सा करें।

निष्पन्दा नाडीका हीना शाखा पल्लव शीतला।
त्यज्यन्ते रोगिरण वैद्य. यमदडाकितात्मकम् ॥

निश्चल नाड़ी, हीन नाडी तथा जिसकी शाखाऐं व अग शीतल हो गए हैं ऐसे रोग को असाध्य जानें।

अगुष्ठ मूलतो बाह्य अगुलाद्यदि नाडिका।
प्रहरार्धाद्बहिर्मृत्युर्जायते नात्र सशय:।

यदि नाडी अगुष्ठ मूल से एक अगुल बाहिर रहे तो ऐसे रोगी का जीवन आधे प्रहर का जानें।

सार्धद्वय गुलतोबाह्य यदि तिष्ठति नाडिका॥
प्रहरैकादबहिर्मृत्युर्विजानीयाद्विचक्षण॥

यदि नाडी १॥ अगुल बाहिर है तो एक प्रहर के बाद मृत्यु हो जाती है।

द्वय गुलवाह्यतो नाडो मध्यरेखा बहिर्यदा।
सार्द्ध प्रहरतो मृत्यु रवश्य जायते नृणाम्॥

यदि नाडी दो अगुल मध्य रेखा से वहन करती है तो १॥ प्रहर से अवश्य मृत्यु हो जाती है।

मध्ये रेखासमानाडी यदि तिष्ठति निश्चितम्।
तस्यैव मरण सत्य प्रहरत्रितयाद्बहि॥

अगर नाडो मध्य मे रेखा के समान हो तो उसका तोन प्रहर का आयुष्य जानें।

सार्द्धांगुलगता नाडी वक्रताप्राप्य तिष्ठति।
प्रहरै. पचभिस्तस्य मरण निर्दिशेद्बुध.॥

यदि नाडो डेढ अगुल तक टेढो होकर प्रतीत होती है तो उसकी पाच प्रहर से मृत्यु समझें।

सपादागुलतो नाडी समा तिष्ठति निश्चला।
षड्भिश्च प्रहरैर्मृत्युर्ज्ञेय तस्य विचक्षणै॥

यदि नाडी सवा अगुल तक समान व निश्चल रहती है तो छ प्रहर से उसकी मृत्यु हो जाती है।

अगुलाभ्यन्तरे नाडी वक्रता यदि तिष्ठति।
मरण तस्य जानीयात् सप्तभिप्रहरैर्बुध॥

यदि नाडी एक अगुल के अन्दर टेढापन से प्रतीत होती है तो सात प्रहर से उसकी मृत्यु जाने।

अगुलाभ्यन्तरे नाडी मदस्पन्दा समा यदि।
अष्टभि प्रहरैर्मृत्यु निर्दिष्ट मुनिपुगवै॥

यदि नाड़ी अगुली के बीच सम व मद फडकन से प्रतीत हो तो आठ प्रहर से उसकी मृत्यु हो जाती है।

अगुलाभ्यन्तरे नाडी शीतला यदि तिष्ठति ।
प्रहरैर्नवभिरत्तस्य मरण निश्चितं मतम् ॥

यदि नाडी अगुली के नीचे ठडी प्रतीत हो तो नव पहर से मृत्युकारक होती है ।

पादोनागुलमध्ये चेत् नाडी तिष्ठति चचला ।
प्रहरैर्दशभि प्रोक्त. मृत्युस्तस्य विचक्षणैः ॥

यदि नाडी पौन अगुल मे चचल प्रतीत होती है तो दस पहर से रोगी को मार देती है ।

पादोनागुलमध्ये चेत् नाडीचोष्णा च जायते ।
प्रहरैर्द्वादशैश्च मृत्युस्तस्य विनिर्दिशेत् ॥

पौन अगुल के बीच यदि नाड़ी गर्म होती है तो ग्यारह पहर मे रोगी के लिये मारक होती है ।

पादोनागुलमध्ये चेत नाडी शीतवती भवेत् ।
प्रहरद्वादशान्मृत्यु र्भवत्येव न सशय ॥

पौन अगुल के बीच मे यदि नाडी ठडी हो तो १२ पहर मे मारक हो जाती है ।

अर्द्धांगुलगतानाडी शीतला यदि तिष्ठति ।
यामत्रयोदशैर्मृत्यु र्भवत्येव न सशय. ।

आधे अगुल मे यदि नाडी ठडी रहती है तो १३ पहर से मारक होती है ।

अर्द्धांगुलगतानाडी सोष्णा वेगवती भवेत् ।
यामश्चतुर्दशैर्मृत्युर्भविष्यति न सशय ॥

आधे अगुल मे यदि नाडी गर्म व वेगवन्त हो तो १४ पहर मे मारक हो जाती है ।

अर्द्धांगुलगता नाडी चचला यदि तिष्ठति ।
यामपचदशैर्मृत्यु र्भवत्येव न सशय ॥

आधे अगुल मे नाडी चचल होने पर १५ पहर से रोगी के प्राण हर लेती है ।

पादागुलिता नाडी सहजा यदि तिष्ठति ।
यामषोडशभिर्मृत्यु र्जायते नात्र सशय ॥

पैर की अगुलियो मे रहने वाली नाडी यदि स्वाभाविक रहती है तो १६ पहर से मारक बनती है ।

पादागुलिगता नाडी चचला यदि तिष्ठति ।
त्रिभिश्चदिवसैर्मृत्युर्जायते नात्र सशयः ॥

पादागुलि मे रहने वाली नाडी यदि चचल हो गई तो तीन दिन मे रोगी के प्राण हर लेगी ।

पादागुलिगता नाडी सोष्णा वेगवती भवेत्।
चतुर्भिर्दिवसैर्मृत्युर्विजानीयाद्विचक्षणं ॥

पादागुलि मे रहने वाली नाडी गर्म व वेग वाली होने से ४ दिन मे मारक हो जाती है।

पादागुलगता नाडी मदस्पन्दा यदा भवेत्।
पचभिर्दिवसैर्मृत्युर्युज्यते नात्र सशय ॥

पादागुलि मे रहने वाली नाडी मद फडकन वाली होने से ५ दिनो मे मारक होती है।

निरीक्ष्य दक्षिणे पादे नाडी यस्य न लभ्यते।
मध्ये द्वादश मासाना मृत्युर्भवति निश्चितम ॥

दाहिने पैर मे जिसके नाडी की प्रतीति न हो तो १२ मास मे वह व्यक्ति मरेगा ऐसा जानें।

लक्ष लक्षण लक्षितेन पयसा मानो प्रभामण्डलम्।
हीन दक्षिण पश्चिमोत्तरपर· षड्द्वित्रिमासा. क्रमात्॥
मध्ये छिद्रगत भवेद्यदि दिन धूमाकुल तद्दिनम्।
सर्वज्ञेन प्रमाणित शिवमते ह्यायु प्रमाण सदा ॥

स्पदन्ते चंक्रमानेन त्रिशद्वार यदा धरा।
स्वस्थाने च तदानून रोगी जीवत्यसशयम्॥

नाडी की ३० गति यदि एक प्रकार से बराबर हो तो वह मनुष्य निश्चित जीवित रहेगा ऐसा जानें।

श्री गणेशायनमः । श्री सरस्वत्यै नमः । श्री गुरुभ्यो नमः ।

पूज्यपाद महोपाध्याय वैद्यावतंस प्राणाचार्य, आयुर्वेद-मार्तण्ड राजमान्य राजवैद्य पं० उदयचन्द्र भट्टारक द्वारा अनुवादित तथा परीक्षित

वैद्यवल्लभ

रुग्णावस्था ततो नाडी भेषज पथ्यमेव च ।
देश काल च पात्र च यो जानाति स वैद्यराट् ॥

वैद्यराज वही जो रोगी की स्थिति, नाडी, औषधि, पथ्य, देश, काल व पात्र को तत्वत समझे ।

सरस्वती हृदिध्यात्वा नत्वा श्रीगुरुपकजम् ।
सद्धस्ति रुचना वैद्यवल्लभोऽय विधीयते ॥

हृदय मे सरस्वती का ध्यान कर तथा गुरु महाराज के चरण-कमलो मे नमस्कार करके सद्धस्ति रुचि नामक चिकित्सक जैन यति द्वारालिखित "वैद्यवल्लभ" नामक सक्षिप्त पुस्तक का कहते हैं ॥१

पूर्वं वैद्यंन विधिना विधाय रोग निर्णयम् ।
पश्चात्साध्य यथा ज्ञात्वा ततो भेषज माचरेत् ॥२॥

वैद्य का प्रथम कर्त्तव्य यही है कि सपूर्ण परीक्ष्य विषयो को सम्यक्तया परीक्षण कर फिर रोग की साध्यता समझ कर औषधि प्रयोग करे ॥२

यत सकल रोगेषु प्रोच्यते वलवान्ज्वरः ।
तस्मात्तद्रोग शात्यर्थं प्रोच्यते हितदोषधम् ॥३॥

समग्र रोगो मे ज्वर की प्रधानता है अतः सर्वप्रथम ज्वर की चिकित्सा कहते हैं ॥३

अमृता नागर मुस्ता निशा धन्व समाचकं ।
वात ज्वरे प्रदातव्य कृष्णा कल्क कषायक ॥४॥

गिलोय, सोठ, नागरमोथा, हलदी, धमासा का क्वाथ कर पीपल का प्रक्षेप डाल कर वातज्वर मे पिलाए ॥५

द्राक्षारग्वधमुस्ताना रेणु पथ्या जलैः सम ।
क्वाथो मधुयुतो हन्ति ध्रुव पित्त ज्वर महत् ॥६॥

मुनक्का, अमलतास, नागरमोथा, पित्तपापडा, हरड का क्वाथ शहद मिला कर पित्त ज्वर मे पिलाए ॥६

वासाग्रन्थिक तिक्ताम्भोधर धन्व यवासकं ।
विश्वौषधान्वित क्वाथो श्लेष्म ज्वर विनाशकृत् ॥७॥

अडूसा, पोपरामूल, कुटकी, नेत्रवाला, धमासा का क्वाथ सोंठ डालकर (कफ ज्वर मे) पिलाए ॥७

मुस्तामृतानागर धन्व धात्री क्षुद्रायुग निम्बज भृंगराजैः ।
समानभागैः मधुना समेतो वेलाज्वर हन्ति कृत कषाय ॥८॥

नागरमोथा, नीमगिलोय, सोठ, धमासा, आवला, कटेरी दोनो, नीमछाल, भृंगराज समान भाग लेकर मधु के प्रक्षेप से क्वाथ कर विषम ज्वर मे पिलाए ॥८

पंचभद्रः क्वाथः

मुस्ता नागर भूनिंब रेणु छिन्नोद्भवै समैः।
क्वाथोऽय पचभद्रोऽसौ वातपित्त ज्वरापह ॥९॥

नागरमोथा, सोठ, चिरायता, पित्तपापडा, गिलोय का क्वाथ वात पित्त ज्वर मे पिलाए ॥९

धान्यक सलिल मुस्ता निशापथ्या सुजीरकै ।
कफपित्तज्वरे क्वाथः प्रोक्तोऽय मुनि हस्तिना ॥१०॥

धाणा, नेत्रवाला, नागरमोथा, हलदी, हरड, जीरे का क्वाथ कफपित्त ज्वर मे पिलाए ॥१०

चक्राह्वामृत दद्रुघ्न वृष निर्गुण्डिका समै ।
भृंगराजौषधी क्वाथो हन्ति वात कफ ज्वरम् ॥११॥

(Tinospara Tomentosa) सुदर्शनलता गिलोय, पवाड के बीज, अडूसा, निर्गुण्डी के क्वाथ मे सोठ व जलभागरा डालकर वातश्लेष्म ज्वर मे पिलाए ॥११

जीर्णेन घृतयुक्तेन रामठस्य पुन' पुन ।
नासिकाया कृत नस्य हन्ति चातुर्थिक ज्वर ॥१२॥

पुराने घी मे हीग घिसकर चातुर्थिक ज्वर मे बार २ नस्य दे ॥ १२

सर्षपानि छपत्राणि हिंगु सपस्य कंचुकी।
एष नस्य वारिपिष्ट दैव दोष ज्वरापह ॥१३॥

सरसो, नागकेशर, हीग, साप की काचली जल मे पीसकर नस्य देने से दैव दोष से उत्पन्न ज्वर को नष्ट करते हैं ॥१३

रसधत्तूर पत्राणा पलार्द्ध दधिना सह ।
पीतो सद्य प्रमोहन्ति महदेकतर ज्वरम् ॥१४॥

धतूरे के पत्तो का रस आधी छटाँक दही के साथ पिलाने से एकातर ज्वर नष्ट होता है ॥१४

भूनिंब निंबा मृतदारु पथ्या कृष्णा निशायुग्म फलत्रय च ।
वातारि बीज त्रिकुट प्रियगु रास्नार्क मूलक्रिमिघ्न तिक्तै ।१५।

एतेषा विहित. क्वाथो दशमूलयुतो हरेत् ।
मरुत्पित्त कफोद्भूत सन्निपात ज्वर महत् ॥१६॥

चिरायता, नीम, नीमगिलोय, देवदारु, हरड, पीपर, हलदी, दारुहलदी, हरड, बहेड, आवला, करज की मज्जा बीज, सोठ, काली मिरच, पीपर, प्रियगु, रास्ना, अर्कमूलत्वक्, वायविडग, कुटकी, दशमूल से किया हुआ क्वाथ वात, पित्त, कफ, सन्निपात के ज्वर को नष्ट करता है ॥१६

रवौ लात्वा वरीमूल कन्या सूत्रेण वेष्टितम ।
स्थित करे च कठे तु तृतीय ज्वरनाशकृत् ॥१७॥

रविवार के दिन शतावरी (   ) जड को लाकर कन्या के द्वारा काते हुए सूत्र मे वेष्ठित कर हाथ या गले मे बाधने से तृतीयक ज्वर का नाश होता है ॥१७

कृष्णामृता नागर दारु सिंही भार्गी घनग्रन्थिक पुष्कराह्वै. ।
सश्वास कासेन युत ज्वरोऽपि कृत कषाय पवनापहारी ॥

पीपर, नीमगिलोय, सोठ, देवदारु, अडूसा, भारगी, नेत्रवाला, पीपरा मूल, पोहकर मूल के क्वाथ से श्वास, कास युक्त ज्वर का शमन होता है ॥१८

सिता सर्जरसो धात्री धातकी श्रीफलान्वितैः ।
चूर्णं पोस्तोद केनातिसार ज्वरहरं स्मृतम् ॥१९॥

मिश्री, राल, आवला, धाय के फूल, बिल्व के चूर्ण को पोस्त डोडे के साथ देने से ज्वरातिसार शान्त हो जाता है ॥१९

हीगु निम्बस्य मज्जानि कृष्णा सर्पस्य कचुकी ।
सघृष्ट खर मूत्रेण अजन सर्व तापजित् ॥२०॥

हीग, निम्ब फल मज्जा, पीपर, साप की काचली, गधे के मूत्र से पीस कर अजन करने से सर्वताप की शान्ति होती है ।

टकण मरिच कृष्णा हृसपाक विषैसमै ।
आर्द्रोदकेन दातव्या गुटी सर्व ज्वरापहा ॥२१॥

सुहागा, काली मिरच, पीपर, हिंगुलु, वत्सनाम सम मात्रा अदरख रस से मर्दन कर गोली बनाए तथा सर्व प्रकार के ज्वरो मे काम मे ले ॥२१

किरात लवण शुण्ठी कुष्ठ चदन बालकै ।
मस्तं मौली कृतो लेपो सर्वं ज्वर विनाशकृत् ॥२२॥

चिरायता, सेधव, सोठ, कूठ, चन्दन, नेत्रवाला से शिर पर लेप करने से ज्वर का शमन हो जाता है ॥२२

मुस्तामृतानागर धन्व धात्री क्षुद्रायुग निम्बज भृ गराजैः ।
समानभागैः मधुना समेतो वेलाज्वर हन्ति कृत कषाय ॥८॥

नागरमोथा, नीमगिलोय, सोठ, धमासा, आवला, कटेरी दोनो, नीमछाल, भृ गराज समान भाग लेकर मधु के प्रक्षेप से क्वाथ कर विषम ज्वर मे पिलाए ॥८

पचभद्र क्वाथ

मुस्ता नागर भूनिब रेणु छिन्नोद्भवै समैः ।
क्वाथोऽय पचभद्रोऽसौ वातपित्त ज्वरापह ॥९॥

नागरमोथा, सोठ, चिरायता, पित्तपापडा, गिलोय का क्वाथ वात पित्त ज्वर मे पिलाए ॥९

धान्यक सलिलं मुस्ता निशापथ्या सुजीरकै ।
कफपित्तज्वरे क्वाथ प्रोक्तोऽय मुनि हस्तिना ॥१०॥

धाणा, नेत्रवाला, नागरमोथा, हलदी, हरड, जीरे का क्वाथ कफपित्त ज्वर मे पिलाए ॥१०

चक्राह्वामृत दद्रुघ्न वृष निगुंण्डिका समै ।
भृ गराजौषधी क्वाथो हन्ति वात कफ ज्वरम् ॥११॥

(Tinospara Tomentosa) सुदर्शनलता गिलोय, पवाड के बीज, अडूसा, निगुंण्डी के क्वाथ मे सोठ व जलभागरा डालकर वातश्लेष्म ज्वर मे पिलाए ॥११

जीर्णेन घृतयुक्तेन रामठस्य पुन. पुन ।
नासिकाया कृत नस्य हन्ति चातुर्थिक ज्वर ॥१२॥

पुराने घी मे हीग घिसकर चातुर्थिक ज्वर मे बार २ नस्य दे ॥ १२

सर्षपानि छपत्राणि हिंगु सपस्य कंचुकी ।
एष नस्य' वारिपिष्ट दैव दोष ज्वरापह ॥१३॥

सरसो, नागकेशर, हीग, साप की काचली जल मे पीसकर नस्य देने से दैव दोष से उत्पन्न ज्वर को नष्ट करते हैं ॥१३

रसधत्तूर पत्राणा पलार्द्ध दधिना सह ।
पीतो सद्य प्रमोहृति महदेकतर ज्वरम् ॥१४॥

धत्तूरे के पत्तो का रस आधी छटांक दही के साथ पिलाने से एकातर ज्वर नष्ट होता है ॥१४

भूनिंब निंबा मृतदारु पथ्या कृष्णा निशायुग्म फलत्रय च ।
वातारि बीज त्रिकुट प्रियगु रास्नार्क मूलक्रिमिशत्रु तिक्तं ॥१५॥

एतेषा विहित. क्वाथो दशमूलयुतो हरेत् ।
मरुत्पित्त कफोद्भूत सन्निपात ज्वर महत् ॥१६॥

चिरायता, नीम, नीमगिलोय, देवदारु, हरड, पीपर, हलदी, दारुहलदी, हरड, बहड, आवला, करज की मज्जा बीज, सोठ, काली मिरच, पीपर, प्रियगु, रास्ना, अर्कमूलत्वक्, वायविडग, कुटकी, दशमूल से किया हुआ क्वाथ वात, पित्त, कफ, सन्निपात के ज्वर को नष्ट करता है ॥१६

रवौ लात्वा वरीमूल कन्या सूत्रेण वेष्टितम् ।
स्थित करे च कठे तु तृतीय ज्वरनाशकृत् ॥१७॥

रविवार के दिन शतावरी ( ) जड को लाकर कन्या के द्वारा काते हुए सूत्र मे वेष्ठित कर हाथ या गले मे बाधने से तृतीयक ज्वर का नाश होता है ॥१७

कृष्णामृता नागर दारु सिंही भार्गी घनग्रन्थिक पुष्कराह्वैः ।
सश्वास कासेन युत ज्वरोऽपि कृत कषाय पवनापहारी ॥

पीपर, नीमगिलोय, सोठ, देवदारु, अडूसा, भारगी, नेत्रवाला, पीपरा मूल, पोहकर मूल के क्वाथ से श्वास, कास युक्त ज्वर का शमन होता है ॥१८

सिता सर्जरसो धात्री धातकी श्रीफलान्वितैः ।
चूर्णं पोस्तोद केनातिसार ज्वरहर स्मृतम् ॥१९॥

मिश्री, राल, आवला, धाय के फूल, बिल्व के चूर्ण को पोस्त डोडे के साथ देने से ज्वरातिसार शान्त हो जाता है ॥१९

हीगु निम्बस्य मज्जानि कृष्णा सर्पस्य कचुकी ।
सघृष्ट खर मूत्रेण अजन सर्व तापजित् ॥२०॥

हीग, निम्ब फल मज्जा, पीपर, साप की काचली, गधे के मूत्र से पीस कर अजन करने से सर्वताप की शान्ति होती है ।

टकण मरिच कृष्णा हसपाक विषैसमैः ।
आर्द्रोदकेन दातव्या गुटी सर्व ज्वरापहा ॥२१॥

सुहागा, काली मिरच, पीपर, हिंगुलु, वत्सनाभ सम मात्रा अदरख रस से मर्दन कर गोली बनाए तथा सर्व प्रकार के ज्वरो मे काम मे ले ॥२१

किरात लवण शुण्ठी कुष्ठ चदन वालकैः ।
मत्यं मौली कृतो लेपो सर्व ज्वर विनाशकृत् ॥२२॥

चिरायता, सेंधव, सोठ, कूठ, चन्दन, नेत्रवाला से सिर पर लेप करने से ज्वर का शमन हो जाता है ॥२२

दीप्यामयारामठ वन्हि विश्वा क्षारद्वयं जीरकयुग्म कृष्णा ।
फलत्रय सौवर्चल सैंधवच कृतहि चूर्णं ज्वर नाशकारी ॥२३॥

अजवायन, हरड, हींग, चित्रक, सोठ, यवक्षार, सज्जी क्षार, सफेद जीरा, स्याह जीरा, पीपर, हरड, बहुड, आवला, सौवर्चल, सैंधव नमक सम भाग लेकर चूर्ण करलें व सर्व प्रकार के ज्वर मे उपयोग करे ॥२३

छिन्नोद्भवा नागर निंबवासा तिक्ताभयापुष्करभृंगधन्वैं ।
कृत' कषायां मधुना विमिश्र सर्वज्वरान्हृत्यचिरेण सद्य. ॥२४॥

नीमगिलोय, सोठ, नीम छाल, अडूसा पचाग, कुटकी, हरड, पोहकर मूल भृंगराज, धमासा, इनका क्वाथ बनाकर सहद के प्रक्षेप के साथ देने से सर्व प्रकार के ज्वरो का शमन होता है ॥२४

अथ स्त्री रोग चिकित्सा

सगर्भा महिषीदुग्धमजामूत्रेण या पिबेत् ।
सा नारी लभते गर्भं न च तारुण्य सगमे ॥१॥

गर्भिणी भैंस के दूध ऽ भर तथा बकरी का मूत्र एक तोला मिलाकर ऋतुकाल मे पीने से गर्भ नही रहता है ॥१

नागकेशर सयुक्त जीरक गोघृतेन वा ।
त्रिदिन या पिबेत् नारी सागर्भं लभतेध्रुवम् ॥२॥

नागकेसर जीरा गाय के घी के साथ ऋतु समय में तीन दिन पिलाने से अवश्य गर्भ रहता है ।

समूलपत्र सर्पाक्षि रविवारे समुद्धरेत् ।
एकवर्णगवा क्षीरे कन्या हस्तेन पेषयेत् ।
ऋतुकाले पिबेद्वन्ध्या पलार्द्धं दिनसप्तकम् ।
क्षीरशाल्योदन मुद्गा मिष्टाहार प्रदापयेत् ॥
उद्वेगभय शोक च दिवानिद्रातुवजयेत् ।
नकर्म क्रियते किंचिद्वर्जयेत् शीतमातप ।
एतत्सप्तदिन कुर्याद्वन्ध्या भवति गर्भिणी ॥

(श्वेता पराजिता) सर्पाक्षी पचाग रविवार को लाकर इकरगे गाय के दूध मे कवारी कन्या द्वारा पिषवावें। ऋतुकाल के पहिले दिन से सात दिन तक आधी छटाक मात्रा मे वन्ध्या स्त्री को पिलाएँ तथा पथ्य मे चावल, दूध, मूंग, मिठाई आदि दे व चित्त पर किसी भी प्रकार का डर बेचैनी दुख व दिवानिद्रा का त्याग करे व शीत व धूप मे न घूमे इस प्रकार सात दिन के प्रयोग के वाद सगम करने से अवश्य गर्भ रह जाता है ।

चक्राह्वा वारिणापीता सगर्भा भामिनी भवेत् ।।७।।

चक्राह्वा (सुदर्शन नामक लता) को जल के साथ पिलाने से स्त्री गर्भ धारण कर लेती है ।।७

देवदालीय मूल तु पुष्ये ग्राह्य तु निश्चितम् ।
गो दुग्धे या पिबेन्नित्य सा गर्भ लभतेऽङ्गना ।।८।।

बदाल डोडे की जड को पुष्य नक्षत्र मे लाकर गाय के दूध के साथ नित्य सेवन करने से स्त्री गर्भ धारण करती है ।।८

पार्श्वपिप्पलीमूलस्य चूर्णतु गोघृतेन च ।
या पिबेद् तुकाले तु सा नारी लभते सुतम् ।।९।।

पारस पीपल के जड के चूर्ण को गाय के घी के साथ ऋतुकाल मे पिलाने पर वन्ध्या स्त्री के अवश्य पुत्रोत्पत्ति होती है ।।९

वध्याकर्कोटिकामूल गौदुग्धेन च या पिवेत ।
सा नारी नर सगेन सुत तु लभते ध्रुवम् ।।१०।।

जो स्त्री बाझ ककोडे की जड के चूर्ण २। माशा को गाय दूध से ऋतु काल मे लेने पर अवश्य ही पुत्र को उत्पन्न करती है ।

तिलाश्च शर्करा पद्मकदेन मधुनान्विता ।
भक्षिता वारयत्येव पतद्गर्भमसंशयम् ।।११

गिरते हुए गर्भ मे तिल, मिश्री, कमलकन्द के सम चूर्ण को शहद के साथ चटाए ।।११

धातकी पुष्प नीरं तु प्रदेय सितया सह ।
दिनत्रयरवौ नार्या पतद्गर्भ चतिष्ठति ।।१२

ताजे धाय के फूल का फाण्ट बनाकर मिश्री मिलाकर पिलाते से गिरता हुआ गर्भ ठहर जाता है ।।१२

वरी विश्वाजयधाच मधुकं भृंगराट् समं ।
अजादुग्धेन पोनाच्च नार्या गर्भस्य वृद्धिकृत् ।।१३।।

शतावरी, सोठ, अजगधा (   ) मुलहठी भृंगराज के सम मात्रा मे चूर्ण बनाकर ३ माशा की मात्रा से बकरी के दूध मे पिलाने से स्त्री की छोड वृद्धि (गर्भ वृद्धि) हो जाती है ।।१३

शीतोदकेन देयानि जासूलकुसुमानिच ।
तमा कुर्वति नारीणा गर्भ वृद्धि सुनिश्चितम् ।।१४।।

गुडहल के फूल ठडे जल के साथ पिलाने से स्त्रियो का छोड 'गर्भ बढाने वाली' सुनिश्चित है ।।१४

कटुतुंबी सुपत्राणि रोध्रयुक्तानि मर्दयेत् ।
कारयेद् गुटिका तस्या योनिसंकीर्ण कारिका ॥

कडवी तुम्बी के पत्ते ताजे पठाणी लोध को पीसकर गोली बनाए, स्मर मदिर मे रखने से सकोचक है ।

त्रिफला विजया रोध्र सदुग्धा दाडिमत्वचा ।
समाशै चूर्णयेत्सर्वं तर्कारी रस भावितम् ।
पश्चात्तस्या गुटी कृत्वा नक्त साधायते भगे ।
तस्माद्भवति सुदर्या सकीर्ण स्मरमदिरम् ॥

त्रिफला, भाग, लोध पठानी, कच्ची दाडिम फल (गोन्खीया) की छाल सममात्रा मे लेकर चूर्ण कर तर्कारी (अग्निमन्थ) अरणी के पत्तो को रस की भावना देकर गोली बना कर सायकाल योनि मे रखने से सकोचन करती है ।

धात्री धन्वकनीर तु शर्करा जीरकेन च ।
भामिनि भगवीर्यस्य बन्ध सृजति सत्वरं ॥

आवला, मिश्री, जीरा के चूर्ण को धमासे के रस से पिलाने से स्त्री शीघ्र स्खलित होती है ।

मधूकेला मधु पथ्या क्वाथो गोक्षुरकाश्मभिद् ।
प्रतिवापसिता दानाद् सुदर्या धातुरोगजिद् ॥

महुआ, इलायची, शहद, हरड, गोखरु, पाषाणभेद का क्वाथ बना कर मिश्री मिला कर स्त्री को पिलाने से प्रदर मिटता है ।

विश्वौषधात्पचगुण रसोनक उत्क्वाथ्य नार्यां त्रिदिन प्रपाययेत् ।
गर्भस्यपातो प्रभवेत्सुखेन योगोयमेतन्मुनि हस्तिना मतः ॥

सोठ से पाच गुणा लहसुन लेकर क्वाथ कर तीन दिन पिलाने से सुख से गर्भ निकल जाता है, यह हस्ती मुनि का मत है ।

पिप्पली पिप्पलीमूल क्षुद्रा निर्गुण्डिका समैः ।
गवाक्षीसयुत क्वाथ नार्या गर्भविनाशकृत् ॥

पीपर, पीपरामूल, कटेरी, निर्गुण्डी सममात्रा मे लेकर क्वाथ बनाकर गवाक्षी (इन्द्रायण) का प्रक्षेप डाल कर पिलाने से गर्भपातकारक है ।

गुजाकर्ण समादाय जलेन पलमानत ।
त्रिदिन कार्यते नार्या. गर्भपातो भवेद्ध्रुवम् ॥

तीन लाल चिरमी के स्याह भाग को एक छटाक जल के साथ घिसे जिससे कि चिरमी का काला भाग ही घिस कर तीन दिन तक पिलाने से निश्चित गर्भपात हो जाता है ।

अलसीतैलमुत्क्वाथ्य गुडयुक्तेन दापयेत् ।
गर्भपातोहि नारीणा सद्यो भवतिसत्वरम् ।।

गुड के साथ अलसी तेल को उकाल कर पिलाने से शीघ्र एव सुनिश्चित गर्भपात हो जाता है ।

गुग्गुलु पलमात्र तु तैलेनोत्क्वाथ्य या पिवेत् ।
सा नार्या निजगर्भस्य सुखेन पतन भवेत् ।।

एक छटाक गुग्गुलु व तेल मिला कर उकाल कर पीने से गर्भपात शीघ्र हो जाता है ।

गवाक्षी मूलमादाय या धत्ते स्मरवेश्मनि ।
गर्भपातो भवेत्तस्याः योगोऽय हस्तिना मत· ।।

इन्द्रायण कीजड कनिष्ठिका अगुली जितनी मोटी इच लम्बी लेकर योनि मे लगाने से गर्भपात कारक है ।

कालिंगातिविष व्योष विल्वमुस्ता सु धातकी ।
चूर्णमेषा कृत नार्या रक्तस्राव हरेद्ध्रुवम् ।।

इन्द्रजव, अतीस, कटुत्रिक, बिल्व, नागरमोथा, धाय के फूल इनका चूर्ण कर पिलाने से औरतो का रक्तप्रदर शान्त होता है ।

जलेन केतकी मूल सघृष्य सितया सह ।
कारित हस्ति ना नार्या· रक्तप्रवाह निवृत्तये ।।

केतकी की जड (छोटा केवडा की जाति) को घिस कर मिश्री मिला कर जल के साथ पिलाने से भयकर रक्तप्रवाह भी स्त्रियो का ठीक होता है ।

शिवाफलस्य मज्जानि पलमात्रादिनत्रय ।
सितया सह दानाच्च पुष्प गच्छति सत्वरम् ।।

हरड के फल की मीगी एक छटाक लेकर मिश्री बराबर मिला कर स्त्री को ३ दिन सेवन कराने से स्त्रियो की माहवारी चली जाती है ।

दुग्धामूल मजादुग्धे कामिन्यादिवस त्रयम् ।
कारित हस्ती रुचिना फलपुष्पनिवृत्तये ।।

जोगणदूधी को बकरी के दूध के साथ ऋतुमती स्त्री को पिलाने से आर्तव तथा गर्भ धारण शक्ति की रुकावट हो जाती है ।

धत्तूर मूल पुष्यार्के गृहीत कटि सस्थितम् ।
गर्भं न धारयत्येव रडा वंध्यादि योषिताम् ।।

पुष्य नक्षत्र जब रविवार को हो तो काले धत्तूरे की जड लाकर रखले उस जड को कमर मे बाधकर सगम कराने से गर्भस्थिति नही रहती ।

पलाश बीज भूतिश्च पीता शीतेन वारिणा।
न गर्भं लभते नारी सद्हस्त रुचिना स्मृतम् ॥

पलाश बीज की राख बनाकर ठडे जल से ऋतु काल मे देने से गर्भ स्थिति रुक जाती है।

उत्क्वाथ्य बदरी लाक्षा तैले न सह सुन्दरी।
द्वि कर्षा कार्यमाणासा न गर्भं लभते ध्रुवम् ॥

बेर की लाख औटाकर तैल मिलाकर दो तोला प्रमाण मे ऋतुकाल मे पिलाने से गर्भ स्थिति नही रहती।

रामठेन युत तैल या पिबेद्दिनपचकम्।
हस्तिना कथित तस्या कदा गर्भो न जायते ॥

तैल के साथ हीग पाच दिन तक ऋतु काल से प्रारभ कर स्त्री को देने से गर्भ-स्थिति कभी नही रह सकती।

गुडतैलेन सयुक्त चूर्णं चित्रकसैधवम्।
त्रिदिन कारयेन्नार्याः तस्माद्गर्भो न जायते ॥

चित्रक तथा सैधक नमक के चूर्ण को गुड व तैल के साथ देने से गर्भस्थिति रुक जाती है।

कारवेल्लरस पानात् माषाजीर्णं गुडेन च।
शुष्काजासूल पुष्पाणि त्रिभिर्गर्भो न जायते ॥

जगली करेले के रस पिलाने से, प्राचीन गुड पिलाने से, शुष्क गुडहल के फूलो के क्वाथ से गर्भस्थिति नही रहती है।

नखद्वय गर्भिणीनामधेय तिथि प्रयुक्त सरसयुत च।
एकेनहीना नवभागशेष समे कुमारी विषमे कुमार ॥

गर्भिणी की नखसख्या मे प्रश्नदिन की तिथि तथा गर्भिणी का नाम व पाच सख्या जोडकर एक शेष निकाल बाकी मे नव का भाग दे, शेष सम होने पर कन्या तथा विषम होने पर लडका होगा।

कुष्टाश्वगधेभकणा. नवनीतेन पाययेत्।
लेपाल्लिगस्य वृद्धि स्यात् कामिन्या स्तनतुगता ॥

कूठ, आसगध, गजपीपर, मक्खन से चाटने से तथा लिग पर लेप करने से बढता है तथा कामिनी के स्तनो पर लगाने से उभार आता है।

हिंगु सौवर्चल व्योष भार्गी चूर्णं समाक्षकं।
कोष्णनीरेण नारीणा नष्टपुष्पो लभेत्पुनः ॥

उपयोगी स्वस्थ पालतू प्राणी
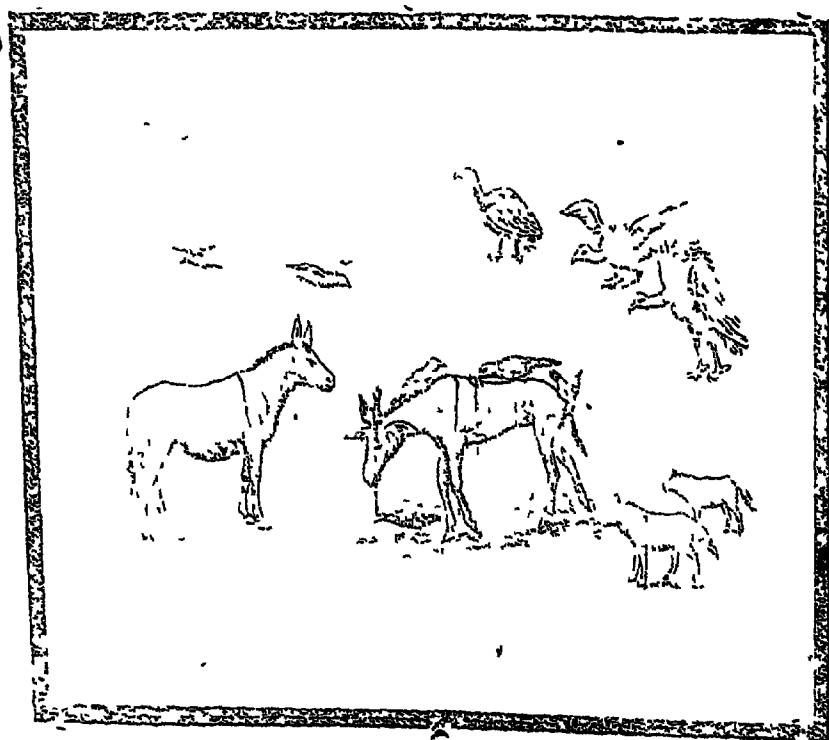
उपयोगी अस्वस्थ पालतू प्राणी

हीग, काला नमक, सोठ, काली मिरच, पीपर भारंगी इन सबको सम मात्रा मे लेकर चूर्ण कर गर्म जल से पिलाने से नष्ट पुष्पा स्त्री के आतर्व आ जाता है।

शुठी पुनर्नवा मूल सघृष्ट्वा छागसर्पिषा।
लेपतो नरसगोत्थ योनिशोफ हरेद्ध्रुवम्॥

सोठ, पुनर्नवामूल बकरी के दूध मे पीसकर लेप करने से मनुष्य के सक्रम से उत्पन्न योनिशेशोथ दूर हो जाता है।

पुनर्नवाया पत्राणि विमर्द्य कुरु मोदकम्।
तास्थित नाशयेत्पीडा योनिप्रसव शूलजाम्॥

पुनर्नवा के पत्तो को घोटकर बडी गोली बनाकर योनि मे रखने से स्त्री की प्रसव पीडा से होने वाले योनि-शूल का शमन होता है।

तिक्ता दारुवचा शिग्रु त्रिकटु रवि मूलकै।
दशमूलयुतः क्वाथ सूतिकासर्वरोगजित्॥

कुटकी, देवदारु, वच, सहजनात्वक्, अर्कमूलत्वक्, दशमूल इनका क्वाथ सूतिका के सर्व प्रकार के रोगो को नष्ट करता है।

त्रिकटु पिप्पलीमूल त्रिजाति इरकाल्लकै।
सक्षौद्र शावचा कुर्यात् सूतिका सर्वरोगजित्॥

त्रिकटु, पीपरामूल, दालचीणी, इलायची, तेजपाल, अकलकरे के चूर्ण को शहद के साथ चटाने से सूतिका के सर्व रोगो का नाशकारक है।

कासश्वास प्रतिकारः

लवणत्रिकटु नाग शृ गी क्षुद्राविभीतकै।
कन्यारसेन गुटिका कासश्वास निवारणी॥

लोग, सोठ, काली मीरच, पीपर, वच्छनाग, काकडासीगी, कटेरी, बहेड इनका चूर्ण कर गँवारपाठे के रस मे घोट कर गोली बना कर कास तथा श्वास मे प्रात साय २-२ गोली दे।

पारद सैन्धव नाग नाग व्योषानलैः समम्।
शिग्रुरसेन सचूर्ण्य प्रदेया भावना दश।
पुन पत्ररसै सम्यक् चार्द्रकस्य रसैस्तथा।
मरिच प्रमाणा मुनिभि कार्या सा गुटिकोत्तमा।
मदाग्निकफरोगेपु कासश्वासे विशेषत.।
आध्माने पवनार्त्तौ च प्रदेया सुखकारिणी॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), सैंधव नमक, नागभस्म, वच्छनाग, सोठ, काली मिरच, पीपर, चित्रक सममात्रा मे लेकर सहजने के पत्तो के रस की दस भावना दें। फिर नागरवेल के पान के रस की दस भावना दें। फिर अदरख के रस की दस भावना देकर काली मिरच आकार की गोली बनाए। प्रातः साय एक से २ गोली तक शहद के साथ दे। अग्निमाद्य, कफ रोगो मे कास, श्वास मे, आफरा मे, वात व्याधि मे इसका प्रयोग करने से बहुत अधिक लाभ करने वाली है।

त्रिकटु टकरण नाग पत्रेण क्रियते गुटी।
मरि प्रमाण कथिता नाम्ना त्रिपुर भैरवी ॥

त्रिकटु सुहागा का सूक्ष्म चूर्ण कर नागरवेल के पान के रस मे गोली बनाए जिसका नाम त्रिपुर भैरवी है, जिसे कास मे प्रयोग करे।

त्रिकटु त्रिफला वेल्ल रास्नादारु बलान्वितै।
सक्षौद्रेण कृतचूर्ण कासश्वास कफापहम् ॥

त्रिकटु, त्रिफला, काली मिरच राठ देवदारु, बला इनके चूर्ण को शहद के साथ कास श्वास मे चटाने से लाभ प्राप्त होता है।

लवग मरिचौ तुल्यौ त्रिफला सार तत्समौ।
बब्बूलस्वरसैकार्या गुटीश्वास कफापहा ॥

लोग, काली मिरच, १-१ तोला त्रिफला, लौहसार २-२ तोला लेकर बब्बूल के पत्तो के रस से गोली बना कर कास श्वास मे उपयोग लें।

वासा नागरमुस्ताभि भार्गीभूनिब निंबजैं।
समधु विहित. क्वाथ श्वसन कसन हरेत् ॥

अडूसा, सोठ, नागरमोथा, भारगी, चिरायता, नीमछाल का क्वाथ बनाकर मधुप्रक्षेप से पिलाने से कास तथा श्वास चले जाते हैं।

समधु शृ गवेरस्य रसो नित्य हि योभजेत्।
कास श्वासी हरेत्तस्य जथालवण भक्षणात् ॥

शहद के साथ जो व्यक्ति अदरख का रस नित्य सेवन करता है उसके कासश्वास नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही जाधी हरड व नमक के सेवन से भी नष्ट होते हैं।

फलत्रय नागर दारु कृष्णा विषामया वेल्ल सुवर्णबीजै।
दिनत्रय भृ गरसै विमद्य कार्यागुटी श्वासकफापहारी ॥

त्रिफला, सोठ, देवदारु, पीपर, शु वच्छनाग, हरड, श्याह मिरच, शु धतूरे के बीज, जलभागरे के रस से तीन दिन तक घोट कर गुटिका बना लें। प्रात साय एक एक गोली कफ श्वास मे शहद के साथ दें।

गुड कट्फल तैलेनावलेहः श्वासकासजित् ।
यथा क्षौद्रान्वित व्योष चूर्णं सद्यस्तिनास्मृतम् ॥

गुड, कायफल, तेल मिला कर चटाने से श्वास कास नष्ट होता है वैसे ही कटुत्रिक चूर्णं शहद से चटाने से कास श्वास मे शान्ति प्राप्त होती है ।

वासारसयुत क्षौद्र यो भजेद्दिनसप्तक ।
तस्य धातुक्षय श्वास क्षयीरोगो विनश्यति ॥१३॥

अड़ूसे के रस मे शहद मिला कर ७ दिन तक सेवन करने से धातुक्षय, श्वासक्षय का शमन हो जाता है ।

वचाश्वगधापामार्ग तिला श्री सर्पपं समैः ।
क्षयरोग विनाशाय कारित हस्तिना नृणाम् ॥१४॥

वच, आशकन्द, अपामार्ग के बीज, तिल, सरसो बीज इनका चूर्णं कर सरसो के साथ चटाए इससे क्षय रोग का समूल नाश हो जाता है ।

अश्वगधामृता भीरु दशमूला बला वृषा ।
पुष्करातिविषै क्वाथो क्षयीकास विनाशकृत् ॥१५॥

आसकन्द, नीमगिलोय, शतावरी दशमूल, बला अड़ूसा, पुष्करमूल, अतीस, इनके क्वाथ से क्षय तथा कास का शमन होता है ।

पलार्द्ध लवण लात्वा सूर्यक्षीरेण भावयेत् ।
पाचयेत्तेन चूर्णेन क्षयी रोग विनश्यति ॥१६॥

आधी छटाक सैंधव नमक लेकर अर्क दुग्ध की भावना दें । फिर पुटपाक देकर २-२ रत्ती क्षय में पान के साथ दें ।

शर्करा पिप्पली द्राक्षा तिलनिवासाकान्वितै ।
श्वास कास तथा च्छर्दि क्षयी रोग विनाशकृत् ॥

मिश्री, पीपर, मुनक्का, तिल, अड़ूसा के साथ चटाने से श्वास कास वमन क्षय रोग का नाश होता है ।

सत्वगुडुच्या मृत शुल्वबिल्वै चूर्णं हि वासास्वरसेन दत्तम् ।
सद्यहस्तिना सक्षय रोगकास श्वासोपशात्यै त्रिदिन यथास्यात् ॥

अमृतासत्व, ताम्रभस्म, बेलगिरी के चूर्ण को मिला कर अड़ूसे के रस के साथ प्रयोग करने से क्षय, कास, श्वास की शान्ति होती है ।

मुखे भवति य शोफ स्त्रीणां पुसा प्रपादयो ।
असाध्यौ तावुभौ ज्ञेयो तयो पुण्य निरर्थकम् ॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), सैंधव नमक, नागभस्म, वच्छनाग, सोठ, काली मिरच, पीपर, चित्रक सममात्रा मे लेकर सहजने के पत्तो के रस की दस भावना दें। फिर नागरवेल के पान के रस की दस भावना दें। फिर अदरख के रस की दस भावना देकर काली मिरच आकार की गोली बनाए। प्रातः साय एक से २ गोली तक शहद के साथ दें। अग्निमाद्य, कफ रोगो मे कास, श्वास मे, आफरा मे, वात व्याधि मे इसका प्रयोग करने से बहुत अधिक लाभ करने वाली है।

त्रिकटु टकरण नाग पत्रेण क्रियते गुटी।
मरि प्रमाण कथिता नाम्ना त्रिपुर भैरवी ॥

त्रिकटु सुहागा का सूक्ष्म चूर्ण कर नागरबेल के पान के रस मे गोली बनाए जिसका नाम त्रिपुर भैरवी है, जिसे कास मे प्रयोग करे।

त्रिकटु त्रिफला वेल्ल रास्नादारु बलान्वितै।
सक्षौद्रेण कृतचूर्ण कासश्वास कफापहम् ॥

त्रिकटु, त्रिफला, काली मिरच राठ देवदारु, बला इनके चूर्ण को शहद के साथ कास श्वास मे चटाने से लाभ प्राप्त होता है।

लवग मरिचौ तुल्यौ त्रिफला सार तत्समौ।
बब्बूलस्वरसैकार्या गुटीश्वास कफापहा ॥

लौग, काली मिरच, १-१ तोला त्रिफला, लौहसार २-२ तोला लेकर बब्बूल के पत्तो के रस से गोली बना कर कास श्वास मे उपयोग लें।

वासा नागरमुस्ताभि भार्गीभूनिंब निंबजै।
समधु विहित. क्वाथ श्वसन कसन हरेत् ॥

अडूसा, सोठ, नागरमोथा, भारगी, चिरायता, नीमछाल का क्वाथ बनाकर मधुप्रक्षेप से पिलाने से कास तथा श्वास चले जाते हैं।

समधु शृगवेरस्य रसो नित्य हि योभजेत्।
कास श्वासौ हरेत्तस्य जयालवरण भक्षरणात् ॥

शहद के साथ जो व्यक्ति अदरख का रस नित्य सेवन करता है उसके कासश्वास नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही जाघी हरड व नमक के सेवन से भी नष्ट होते हैं।

फलत्रय नागर दारु कृष्णा विषाभया वेल्ल सुवर्णबीजै।
दिनत्रय भृगरसै विमद्य कार्यागुटी श्वासकफापहारी ॥

त्रिफला, सोठ, देवदारु, पीपर, शु वच्छनाग, हरड, श्याह मिरच, शु धत्तूरे के बीज, जलभागरे के रस से तीन दिन तक घोट कर गुटिका बना लें। प्रात साय एक एक गोली कफ श्वास मे शहद के साथ दे।

गुड कट्फल तैलेनावलेह् श्वासकासजित् ।
यथा क्षौद्रान्वित व्योप चूर्णं सद्धस्तिनास्मृतम् ॥

गुड, कायफल, तेल मिला कर चटाने से श्वास कास नष्ट होता है वैसे ही कटुत्रिक चूर्णं शहद से चटाने से कास श्वास मे शान्ति प्राप्त होती है ।

वासारसयुत क्षौद्र यो भजेद्दिनसप्तकः ।
तस्य धातुक्षय श्वास क्षयोरोगो विनश्यति ॥१३॥

अडूसे के रस मे शहद मिला कर ७ दिन तक सेवन करने से धातुक्षय, श्वासक्षय का शमन हो जाता है ।

वचाश्वगधापामाग तिला श्री सर्पपै' समै' ।
क्षयरोग विनाशाय कारित हस्तिना नृणाम् ॥१४॥

वच, आशकन्द, अपामार्ग के बीज, तिल, सरसो बीज इनका चूर्णं कर सरसो के साथ चटाए इससे क्षय रोग का समूल नाश हो जाता है ।

अश्वगधामृता भीरु दशमूला बला वृपा ।
पुष्करातिविपै क्वाथो क्षयीकास विनाशकृत् ॥१५॥

आसकन्द, नीमगिलोय, शतावरी दशमूल, बला अडूसा, पुष्करमूल, अतीस, इनके क्वाथ से क्षय तथा कास का शमन होता है ।

पलार्द्धं लवण लात्वा सूर्यक्षीरेण भावयेत् ।
पाचयेत्तेन चूर्णेन क्षयी रोग विनश्यति ॥१६॥

आधी छटाक सेंधव नमक लेकर अर्क दुग्ध की भावना दे । फिर पुटपाक देकर २-२ रत्ती क्षय मे पान के साथ दे ।

शर्करा पिप्पली द्राक्षा तिलनिवासाकान्वितै ।
श्वास कास तथा च्छर्दि क्षयी रोग विनाशकृत् ॥

मिश्री, पीपर, मुनक्का, तिल, अडूसा के साथ चटाने से श्वास कास वमन क्षय रोग का नाश होता है ।

सत्वगुडुच्या मृत शुल्वबिल्वै चूर्णं हि वासास्वरसेन दत्तम् ।
सद्धस्तिना सक्षय रोगकास श्वासोपशान्त्यै त्रिदिन यथास्यात् ॥

अमृतासत्व, ताम्रभस्म, बेलगिरी के चूर्ण को मिला कर अडूसे के रस के साथ प्रयोग करने से क्षय, कास, श्वास की शान्ति होती है ।

मुखे भवति य शोफ स्त्रीणा पुसा प्रपादयो ।
असाध्यो तावुभौ ज्ञेयो तयो. पुण्य निरर्थकम् ॥

स्त्रियो मे मुख से होने वाला तथा पुरुषो मे पैरो पर से प्रारभ होने वाला शोथ असाध्य माना है। इसके हो जाने के बाद किया हुआ चिकित्सा कार्य व्यर्थ हो जाता है।

पुनर्नवामृता शुण्ठी दारुपथ्या समाशकं।
चूर्णमुष्णाम्बुनापीत शोफ हन्ति सर्वेगत ॥

पुनर्नवा, नीमगिलोय, सोठ, देवदारु, हरड समान भाग मिलाकर गर्म जल से सेवन कराने से साध्यशोफ ठीक होते है।

पुनर्नवा निंव विश्वा सपटोल जलेन च।
सघृष्य क्रियते लेपो सद्यः शोफ विनाशकृत् ॥

पुनर्नवा, नीम की अतर्छाल, सोठ, परवल के पत्तो को समभाग लेकर पानी मे पीस कर शोफ स्थान पर लेप लगाने से शोफ-शान्ति होती है।

सरामठ कोल्लफल सचूर्णेन चटकणाम्।
गुडयुक्तेन संपीत सद्यः शोफोदर हरेत् ॥

हीग, प्रियगु, टकण, गुड के साथ गोली बनाकर पिलाने से पेट का शोफ शान्त होता है।

पुनर्नवाभया दारु वातशत्रु समाशके।
गोमूत्रेण कृत क्वाथ शोफजिद्धस्तिना स्मृत ॥

पुनर्नवा, हरड बकली, देवदारु, एरडबीज, समान मात्रा मे लेकर गोमूत्र के साथ क्वाथ बना कर पिलाने से शोफ ठीक हो जाती है।

वासामृता रेणुक मुस्त धन्व पटोल शुठी त्रिफलाभयानि।
भूनिम्ब निम्बै क्वथितोकषाय· विस्फोटकान्हत्यचिरेण सद्यः ॥

अडूसा, नीमगिलोय, नागरमोथा, धमासा, परवल, सोठ, त्रिफला हरड, चिरायता, नीम की अतर्छाल आदि से किये हुए क्वाथ के अभ्यास से शरीर पर पैदा हो जाने वाले फोडे शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं।

दग्ध्वा मार्तण्ड मूलानि तच्चूर्णं पलमानत।
मृततालपुटी युक्त दीयते दिन सप्तकम् ॥
तत्पथ्ये चणक योज्या दुग्धामावयुतेन च।
विस्फोटवान्प्रकुर्वाणो स शीघ्र जायते सुखी ॥

अर्कमूल को जलाकर बनाई हुई भस्म एक छटाक तथा उसमे बनाई हुई हरिताल भस्म को १-१ रत्ती की मात्रा से सात दिन तक सेवन कराने से तथा पथ्य मे चणा व दूध के प्रयोग से विस्फोट ठीक हो जाते है।

एला जातीफल थूथ गोघृतेन च मर्दयेत्।
हस्तिना कथित हन्ति लेपाद्विस्फोटक व्रणम् ॥

बडी इलायची, जायफल, नीलाथोथा के चूर्ण को गाय के घी मे मिलाकर लेप लगाने से विस्फोटक ठीक हो जाते हैं।

सिन्दूर गन्धक तुत्थ सूत धात्रो विमर्दयेत्।
घृतेन च कृतो लेपो पामागच्छति सत्वरम् ॥

सिन्दूर, आवलासार गन्धक, नीलाथोथा, पारा, आवले के रस मे घोट कर गाय के घी मे मिला कर लेप लगाने से पामा ठीक होती है।

दद्रुघ्न तडुला लाक्षा गोतक्रेण च भावयेत्।
पश्चात्तल्लेपतो हन्ति पामा दद्रुव्रण व्यथा ॥

पवाडिये के बीज, लाख को गाय के छाछ मे भावना देकर लेप लगाने से दाद, पामा के व्रण ठीक होते हैं।

अजानलिका सदह्य लेपतो स्फोटक व्रणम्।
खर्जू दद्रुस्थि गभीर भगदर व्रणापह ॥

बकरी की नलकास्थि को जला कर गाय के घी में लगाने से विस्फोटक, वीची, दाद, अस्थिगभीर व्रण तथा भगन्दर ठीक हो जाते हैं।

मृततालपुटी सप्त सप्ताक्षि रस सयुता।
पथ्य युक्तेनदातव्या रक्तपित्त प्रणाशकृत् ॥

सात पुटी गोदन्ती हरताल भस्म को सप्ताक्षि (   ) के रस के साथ पथ्य के साथ देने से रक्त पित्त ठीक होता है।

सशर्करा खरीदुग्ध पानाद्वै दिवसान्दश।
रक्तपित्त प्रणाशाय सद्धस्तिरुचिना मुदा ॥

गधी का दूध मिश्री मिला कर दस दिन तक पिलाने से रक्तपित्त रोग से छुटकारा हो जाता है ऐसा हस्ती रुचि गुरा ने बताया हे।

अश्वगधा तिला माषा गुडसर्पि महौषधम्।
मोदको भक्षयेत्प्रातः बलवीर्यस्य वृद्धिकृत् ॥

आसगध, तिल, उडद, गुड, घृत, सोठ के लड्डू बनाकर खिलाने से बाजीकरण बनता है।

मर्कटो गोक्षुरान्याच शाल्मलि शर्करामलै।
आलोडयमनु दुग्धाभ्या भक्षणाद्वीर्य वृद्धिकृत् ॥

कौंच बीज, गोखरू, सेमल, मिश्री, शहद, दूध के साथ खिलाने से वाजीकरण होता है।

सदुग्धमुच्चटामूल यो भजेद्दिन सप्तकम्।
स पुमान् शतनारीणा भोग भृजति सत्वरम्॥

उट्टिंगण के मूल को दूध के साथ सात दिन तक सेवन करने से पुरुष की शक्ति शत-भोगी हो जाती है।

उपदेश

बन्द कमरे मे रस कपूर को कपास के फूलो के रस मे पीस कर उसमे रूई की बत्ती अच्छी तरह भिगो कर शुद्ध गोघृत डाल कर दीपक करना। निर्वात स्थान मे नग्न करके बैठा देना। दीपक के सामने ३ घटे देखते रहे, इस प्रकार ३ दिन करने से व्रण ठीक हो जाता है।
—परीक्षित

आक के डोडे के बीज १ तोला, हल्दी १ तो हुक्काबेल १ तो इन तीनो को पीस कर टिकडिया बनाना, छाया शुष्क करना, शुभ दिन को प्रातः १ टिकडी कोरी चिलम मे डाल कर पीए, उसके बाद घी ऽ पीवे, इस तरह ३ दिन करे। नमक, मिर्च, खटाई आदि का परहेज।
—परीक्षित

मेथीपल चतुष्क च कणा द्विपलमानत.।
सचूर्ण्य वटदुग्धेन पाचयेन्मृदुवन्हिना।
प्रस्थैकषडमध्येतु कल्कोदेयस्तदाभिषक्।
सूतलवग त्रिकटु लोह केसरमभ्रकम्।
शुल्व जातीफल जातिपत्री नागकुबेरक।
एतेषा पलमानेन सर्वमेकत्र कारयेत्।
प्रभाते पलमानेन यो भजे त्प्रतिवासरम्।
तस्य सर्वशिरोत्पन्न रोगा नश्यन्ति तत्क्षणात्।
सर्ववातसमूह च भ्रमच्छर्दिकफ व्यथा।
मागधी पाक नामोय सद्हस्ति वचिनास्समृत।

चार छटाक मेथी, दो छटाक पीपर चूर्ण करके वट-दुग्ध मिला कर मन्दाग्नि पर पकाए एक सेर मिश्री मिला कर निम्न कल्क डाले। पारा-भस्म (रस सिन्दूर) लौग, त्रिकटु, लोहभस्म, केशर, अभ्रकभस्म, ताम्रभस्म, जायफल, जावित्री, नागकेशर आदि एक-एक छटाक का चूर्ण कर मिलाए फिर इसमे से प्रात काल एक-एक छटाक की मात्रा मे खिलाने से सारे प्रकार के शिर रोग, वात व्याधिया, भ्रम, वमन, श्लेष्म रोगो का नाश होता है।

ग्रन्थिकाकल्लक मुस्ताजगधोग्राकणोपणँ
तदोपघसमा विश्वा तत्समेन गुडेन च ।
अक्षप्रमाणगुटिका द्विवारमक्षयेन्नर ।
सधिवात ग्रन्थिवात हरेद्वातव्यथ महत् ॥

पीपरामूल, अकलकरा, नागरमोथा, अजगधा, वच, पीपर, काली मिरच, एक-एक भाग इन सबके समान सोठ, सोठ के समान गुड मिला कर एक-एक तोला की गोली बनाएँ। प्रात. साय दोनो वक्त एक-एक गोली दें, यह गुटिका सन्धिवात, ग्रन्थिवात, वात-व्याधि आदि को दूर करती है ।

सरामठ वचाधृष्ट्वा करबाहू प्रलेपनात् ।
घटसर्पोतदा ग्राह्यो न डस्यति कदापिस ॥

हीग, वच को पानो मे पीस कर हाथो पर लेप कर सर्प को घट की तरह हाथ मे ग्रहण करे वह कदापि नही काटेगा ।

लशुन मरिच सर्पकचुकी भस्मकट्फलम् ·
हिग्वरिष्ट त्वचासाबू इगोटीफलमज्जकै ।
निबस्यफलमज्जाना चूर्णं खरस्यमूत्रयुग् ।
नेत्राजनकृतसर्वं भूतप्रेतादिदोषजित् ॥

लहसुन, काली मिरच, सर्प की काचली को भस्म, कायफल, हीग, नीम की अतर्छाल, साबू, हीगोटी की मीगी, नीबोली की मीगी सबके समभाग चूर्ण को गधे के मूत्र मे घोट कर आँख मे अजन करने से भूत प्रेत आदि को पीडा को ठीक करता है ।

यथा खलस्य सामीप्यात्पीडा तोयातिमज्जत ।
तथा वचाया धूपेन गृह मुक्त्वा व्रजेन्द्हि ॥

जैसे दुष्ट के पास से या जल मे डूबने से अत्यन्त पीड़ा होती है वैसे ही घर मे वचा के धूप देने से भूत प्रेतादि घर छोड कर चले जाते हैं ।

तुत्थ वचा कामफल गोदुग्धेन च पाचयेत् ।
तस्मात्मल्ल विषहन्यात् यथा निंबूप्रसेवनात् ॥

नीला थोथा, वच, कामफल गाय के दूध मे पचाकर २-२ रत्ती की मात्रा मे निंबू के रस के साथ सेवन करने से मल्लविष की शान्ति होती है ।

वृहत्क्षुद्रारस दुग्ध पलमानानिषेवणात् ।
नागफेन विययाति सजीवति चिरपुमान् ॥

बडी कटेरी का रस १ तोला दूध एक छटाक के साथ पिलाने से अफीम-विष का नाश होता है ।

वृताकफल बीजस्य रसोहि पलमात्रया ।
भक्षणाद्भूक्त धत्तूर विष नश्यति निश्चितम् ।।

बेंगन के बीजो का रस एक छटाक की मात्रा मे पिलाने से धत्तूरे का विष निश्चित नष्ट हो जाता है ।

छुणिवृक्षस्य पुष्पाणि जलेनोत्क्वाथ्यपानत ।
धत्तूरस्य विणयाति यथा लवणभक्षणात् ।।

छुइमुई वृक्षो के फूलो को पानी मे औटाकर पिलाने से या नमक डालकर पिलाने से धत्तूरे के विष की शान्ति होती है ।

यथा रस विष हन्याद् गोदुग्धेन च गधकम् ।
तथा ससितसर्पाक्षिरसोताल विष पुन ।।

पारे के भक्षण से पैदा हुए विकार मे शुद्ध गन्धक को गाय के दूध के साथ दें तथा हरिताल भक्षण से हुई विकृति मे मिश्री मिलाकर सर्पाक्षी के रस के साथ दें ।

स्वानविट् कृष्णमार्जार विष्टा चैव खरस्य च ।
गुग्गुलु सषपा सर्प कचुकी राजिकासमै ।
एतेषा युवती योनौ धूपो वेयो दिनादश ।
स्वसुरस्य कुले तस्मात्तिष्ठति तरुणीध्रुवम् ।।

कुत्ता, काली बिल्ली, गधे की बिष्टा, गूगल, सरसो, साप की काचली, राई, समभाग लेकर स्त्री की योनि मे १० दिन धूप दे । इस से स्त्री स्वसुराल मे रहने लग जाती है ।

गधक पलमान तु गोदुग्धेनविशोध्यच ।
शर्करासहितोदेय मरुत्पित्तकफेरुजि ।।

एक छटाक गन्धक को गाय के दूध मे शोधन कर मिश्री मिला कर वात, पित्त, कफ से पैदा हुई पीडाओ में प्रयोग करे ।

तुष्टि पुष्टी करोन्नृणा रुचिकृत्नेत्ररोगजित् ।
वीर्यक्षीण प्रमेह च कुष्ठरक्तरुजहरेत् ।।

गधक के सेवन से मानवो मे तुष्टी तथा पुष्टि देने वाला है, अरुचि नष्ट होती है, नेत्र-व्याधिये तथा प्रमेह, कुष्ठ, रक्त रोगो का नाश होकर बीर्य पुष्ट होता है ।

मर्कटी मूसलीचाश्वगधा गोक्षुरकै समै ।
पलपंचमितं सर्वं द्रोणदुग्धेविपाच्यते ।
चातुर्जात रस लोह कबाब वशलोचनम् ।
चन्दन केशर व्योष साभ्र शुल्व फलत्रिकै ।।

प्रस्थैक खडेन युतोहिभुक्त्वा प्रात पिबेत् याश्च पयोथरात्रौ
दर्प विमर्दयतिसः सुविलासिनीना सर्वाङ्ग रोगहरणे सुविशेष एव ।

कौचबीज, स्याह मूसली, आसगध, गोखरू ५-५ छटाक का चूर्ण कर १ द्रोण दूध मे डाल पचाए। जब मावा बन जाय तब चातुर्जात, पारद भस्म (रस सिन्दूर) लोह भस्म, कबाब चीनी, वशलोचन, चदन, केशर, त्रिकटु, अभ्रक भस्म, ताम्र भस्म, त्रिफला ६-६ माशा तथा एक सेर मिश्री मिला कर प्रात काल एक छटाक की मात्रा मे दूध के अनुपान मे लेने से अत्यन्त पौष्टिक होता है।

रसोनकप्रस्थमित विमर्द्यदुग्धेनघृष्टेन विपाच्ययोनर ।
गुल्वाभ्रक लोह रस लवग कर्पूरमाकल्लक वाजिगधे।
द्विनिशा नागरनागकेसरत्रिफला समम्।
जातिपत्रीजातिफल मागधीमरिचेसमे ॥

प्रत्यैक षडसहित हरते समीर गुल्मव्यथा किपम सर्व समीरणार्तिम्।
मन्दाग्निशूल कफहृद्गद नाशकारी पाक स्मृत सुकविना सुरसोनकाख्य.।

एक सेर लहसुन का कल्क कर के दूध ८ सेर में डाल कर खोवा बनावें, ताम्रभस्म, अभ्रकभस्म, लोहभस्म, रससिन्दूर, लोग, कपूर, अकलकरा, आसगध, दोनो हलदी, सोठ, नागकेशर, त्रिफला, जावित्री, जायफल, काली मिरच, पोपर ६-६ माशा, मिश्री १ सेर डाल कर १-१ छटाक के लड्डू बनाकर प्रात साय उपयोग करने से वात व्याधि, गुल्म, अग्निमाद्य शूल कफ रोग हृद्रोग आदि ठीक होते हैं।

पूर्वं सशोध्य नागच अर्कमूलेनमर्दयेत्।
यामान्तेचभवेद्भस्म सितयासह सेवनात् ॥

नागमृत हरति पित्तसमीरणार्ति शुक्रस्यदोष शमन गतकामवृद्धि ।
दाह प्रलापशमन रुचिकृद्विशेष शीर्षव्यथा हरति त्वक्षिरुजनराणाम्।

शीशा को शुद्ध कर कडाई मे रखकर गलाकर आक की जड से हिलाए। एक प्रहर मे भस्म हो जायगी। इस प्रकार की हुई भस्म २ रत्ती की मात्रा मे मिश्री के साथ सेवन करने से वात, पित्त-पीडा, शुक्रदोष, दाह, प्रलाप, शिरोरोग, नेत्ररोग शात होकर वीर्य पुष्ट होकर पुसत्व प्राप्त होता है तथा भोजन मे रुचि पैदा होती है।

रसराजयुत नाग ससोध्य सम मेलयेत्।
चक्राह्वया रसेनैव यामतुर्याग्नि दानन ।
सक्षौद्रेनावलेहोऽय पत्रेण भक्षयेत्सदा।
वातपित्तोद्भवापीडा प्रणश्यतिप्रसोवनात्।
तदौषध समा जाती पत्री पिप्पली केशरं ।
आकल्लक देवपुष्प सर्वं सचूर्ण्यं मेलयेत् ॥

मदाग्नि मोहनयनार्तिहरनराणा कुष्ठव्यथा क्रमिरुजा वमन निहन्यात्।
सनष्टकामरुचिकृद् विदधातिवीर्यं वगश्वरोहि सुरसो हि विशेष एव ।

शुद्ध पारद, शुद्ध शीशे को समभाग लेकर आँच पर रख कर गर्म कर मिलाएँ, चक्राहा रस डाल कर चार पहर तक अग्नि दें, फिर उसमे शहद मिला कर निम्न औषधियो के साथ अवलेह बनाएँ ।

जावित्री, पीपर, केशर, अकलकरा, लौग, उस भस्म के बराबर लेकर मिलाएँ । इसकी १ माशा की मात्रा में प्रातः साय सेवन करने से अग्निमाद्य, मूर्च्छा, नेत्रव्याधि, कोढ, क्रिमि, छर्दि आदि नष्ट होकर पुसत्व की पूर्ण रूप से प्राप्ति होती है तथा बल-वीर्य पुष्ट हो जाता है ।

गुजागोक्षुरयोश्चूर्णं मर्कटीबीज शर्करा ।
दुग्धेन मिश्रित कृत्वा पाचयेत्सुसमाहित ।
तदौषध पलार्द्धंतु यो पुमाशिशि भक्षयेत् ।
तस्यवीर्यस्य वृद्धि स्यात् बल रुप विशेषत ॥

लाल चिरमी की दाल बना कर आठ पहर तक गाडर के मूत्र मे भिगोकर रखे तथा फिर गर्म पानी से साफ धोकर अदर की जीभ निकाल कर सुखाकर गाडर के दूध मे आठ पहर तक स्वेदन कर शुद्ध की हुई १ भाग गोखरू चूर्ण, २ भाग कौचबीज, २ भाग मिश्री, २ भाग मिले हुए चूर्ण मे से १ रत्ती लेकर आधा सेर दूध मे मिला कर पाक करें। चतुर्थाश दूध रहने पर रात्रि मे पीए उससे पुरुष मे बलवीर्य की अपार वृद्धि होती है ।

गोघृत शीतलवारि सुभोज्य च नवागना ।
दुग्धपान सदास्नान षडेता वपु पुष्टिदा ॥

गाय का घी, शीतल जल, अच्छा भोजन, षोडशवर्षीया स्त्री, दुग्ध-पान, स्नान ये छ शरीर पुष्ट करने वाले माने गये हैं ।

तिल गोक्षुरयोश्चूर्णम् अजा दुग्धेन पाचितम् ।
शीतल मधु सयुक्त भुक्त वीर्यस्य वृद्धिकृत् ॥

तिल, गोखरू का चूर्ण बकरी के दूध में पचा कर ठडा होने पर शहद मिला कर पिलाने से वीर्य पुष्टीकारक है ।

कृष्णमुसली कंदस्य चूर्णं तु गोघृतेन च ।
नरो नित्य प्रकुर्वाणो गतकाम लभेत्पुन. ॥

काली मूसली के चूर्ण को गाय के घी मे मिला कर खिलाने से ध्वजभग की शान्ति होकर पुरुष पुष्ट होता है ।

मूसली कद चूर्णं तु पलार्द्ध मुच्चटोद्भवम् ।
दुग्धेन सहपातव्य गत धातु प्रमेहजित् ॥

स्याह मूसली, उच्चिटग के चूर्ण को बना कर दूध के साथ पिलाने से पौष्टिक है ।

पचाग गोक्षुरच्चूर्णं शर्करा दुग्धमिश्रितम् ।
कारित हस्तिना धातु गतदोष विनाशकृत् ॥

गोखरू के पचाग का चूर्ण कर मिश्री मिला कर दूध के साथ पिलाने से धातुगत दोष की शान्ति होती है ।

ससिता सेव्यमानातु रालकृष्णा समानत ।
भक्षणात्त्रिदिन हन्ति सद्योमेहेसु दुस्तरम् ॥

राल, पीपर, मिश्री समभाग मिलाकर तीन दिन तक दूध के साथ देने से वीर्यगत दोष शान्त'होता है ।

केसू कुसुमपुष्पोत्थ जलव्यगैन सयुतम् ।
सितयासह पातव्य पित्तमेह प्रणाशयेत् ॥

पलाश एव कुसुम्भ के फूल तथा नील (जल के ऊपर की हरे रग को काई) का क्वाथ कर शीत होने पर मिश्री मिलाकर पिलाने से पित्तप्रमेह ठीक हो जाता है ।

हेमबीज विषवगपारद हसपाक करहस जालनम् ।
नाग वल्लीदल संयुतरस कामद सकलमेह नाशनम ॥

शुद्ध धतूरे के बीज, शुद्धवत्सनाभ, वगभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध हिंगलू, नागरवेल के पत्तो के रस मे घोट कर आधी रत्ती की गोली बना कर प्रात साय एक-एक गोली घी मिले दूध के साथ प्रयोग करने से समग्र प्रकार के प्रमेह रोगो को ठीक करता है ।

वल्लषोडश गुदच सित दुग्धेन कारितम् ।
सर्वप्रमेहे सद्धस्ति रुचिना दिन सप्तकम् ॥

३२ रत्ती सफेद गोद को दूध के साथ ७ दिन तक सेवन कराने से सब प्रमेह ठीक हो जाती है ।

सूर्यक्षार पलार्द्धं तु सितया सह भक्षणात् ।
उष्णवात पित्तरोग मूत्रकृच्छ्र प्रणाशयेत् ॥

सूर्यक्षार २॥ तोला को २-२ रत्ती की मात्रा मे मिश्री मिला कर देने से उष्णवात, मूत्रकृच्छ्र, पित्त से हुए मूत्रदोषो की शान्ति हो जाती है ।

त्रिफला कर्कटी बीज सैधव समभागतो ।
चूर्णमुष्णाम्बुना पीत मूत्रकृच्छ्र निवारयेत् ॥

त्रिफला, ककडी (खीरा) के बीज सैधव नमक समभाग का चूर्ण बना कर गर्म जल के साथ पिलाने से मूत्रकृच्छ्र ठीक होता है ।

सशर्करा यवक्षारो गोतक्रेण प्रयोजयेत् ।
तस्योष्णवात चार्स्मर्या पीडा गच्छतिसत्वरम् ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध शीशे को समभाग लेकर आँच पर रख कर गर्म कर मिलाएँ, चक्राहा रस डाल कर चार पहर तक अग्नि दें, फिर उसमे शहद मिला कर निम्न औषधियो के साथ अवलेह बनाएँ ।

जाविन्त्री, पीपर, केशर, अकलकरा, लौग, उस भस्म के बराबर लेकर मिलाएँ । इसको १ माशा की मात्रा मे प्रातः साय सेवन करने से अग्निमाद्य, मूर्च्छा, नेत्रव्याधि, कोढ, क्रिमि, छर्दि आदि नष्ट होकर पुसत्व की पूर्ण रूप से प्राप्ति होती है तथा बल-वीर्य पुष्ट हो जाता है ।

गुजागोक्षुरयोश्चूर्णं मर्कटीबोज शर्करा ।
दुग्धेन मिश्रित कृत्वा पाचयेत्सुसमाहित ।
तदौषध पलार्द्धंतु यो पुमान्निशि भक्षयेत् ।
तस्यवीर्यस्य वृद्धि स्यात् बल रूप विशेषत ॥

लाल चिरमी की दाल बना कर आठ पहर तक गाडर के मूत्र मे भिगोकर रखें तथा फिर गर्म पानी से साफ धोकर अदर की जीभ निकाल कर सुखाकर गाडर के दूध मे आठ पहर तक स्वेदन कर शुद्ध की हुई १ भाग गोखरू चूर्ण, २ भाग कौंचबीज, २ भाग मिश्री, २ भाग मिले हुए चूर्ण मे से १ रत्ती लेकर आधा सेर दूध मे मिला कर पाक करें। चतुर्थाश दूध रहने पर रात्रि मे पीए उससे पुरुष मे बलवीर्य की अपार वृद्धि होती है ।

गोघृत शीतलवारि सुभोज्य च नवागना ।
दुग्धपान सदास्नान षडेता वपु पुष्टिदा ॥

गाय का घी, शीतल जल, अच्छा भोजन, षोडशवर्षीया स्त्री, दुग्ध-पान, स्नान ये छ शरीर पुष्ट करने वाले माने गये हैं ।

तिल गोक्षुरयोश्चूर्णम् अजा दुग्धेन पाचितम् ।
शीतल मधु सयुक्त भुक्त वीर्यस्य वृद्धिकृत् ॥

तिल, गोखरू का चूर्ण बकरी के दूध में पचा कर ठडा होने पर शहद मिला कर पिलाने से वीर्य पुष्टीकारक है ।

कृष्णमुसली कंदस्य चूर्णं तु गोघृतेन च ।
नरो नित्य प्रकुर्वाणो गतकाम लभेत्पुन ॥

काली मूसली के चूर्ण को गाय के घी मे मिला कर खिलाने से ध्वजभग की शान्ति होकर पुरुष पुष्ट होता है ।

मूसली कद चूर्णं तु पलार्द्धं मुच्चटोद्भवम् ।
दुग्धेन सहपातव्य गत धातु प्रमेहजित् ॥

स्याह मूसली, उच्चिटग के चूर्ण को बना कर दूध के साथ पिलाने से पौष्टिक है ।

पचाग गोक्षुरश्चूर्णं शर्करा दुग्धमिश्रितम् ।
कारित हस्तिना धातु गतदोप विनाशकृत् ॥

गोखरू के पचाग का चूर्ण कर मिश्री मिला कर दूध के साथ पिलाने से धातुगत दोष की शान्ति होती है ।

ससिता सेव्यमानातु रालकृष्णा समानत ।
भक्षणात्त्रिदिन हन्ति सद्योमेहेसु दुस्तरम् ॥

राल, पीपर, मिश्री समभाग मिलाकर तीन दिन तक दूध के साथ देने से वीर्यगत दोप शान्त होता है ।

केसू कुसुमपुष्पोत्थ जलव्यगेन सयुतम् ।
सितयासह पातव्य पित्तमेह प्रणाशयेत् ॥

पलाश एव कुसुम्भ के फूल तथा नील (जल के ऊपर की हरे रग की काई) का क्वाथ कर शीत होने पर मिश्री मिलाकर पिलाने से पित्तप्रमेह ठीक हो जाता हैं ।

हेमबीज विषवगपारद हसपाक करहस जालनम् ।
नाग वल्लीदल संयुतरस कामद सकलमेह नाशनम ॥

शुद्ध धतूरे के बीज, शुद्धवत्सनाभ, वगभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध हिंगलू, नागरवेल के पत्तो के रस मे घोट कर आधी रत्ती की गोली बना कर प्रात साय एक-एक गोली घी मिले दूध के साथ प्रयोग करने से समग्र प्रकार के प्रमेह रोगो को ठीक करता है ।

वल्लषोडश गुदच सित दुग्धेन कारितम् ।
सवप्रमेहे सद्धस्ति रुचिना दिन सप्तकम् ॥

३२ रत्ती सफेद गोंद को दूध के साथ ७ दिन तक सेवन कराने से सब प्रमेह ठीक हो जाती है ।

सूर्यक्षार पलार्द्धं तु सितया सह भक्षणात् ।
उष्णवात पित्तरोग मूत्रकृच्छ्र प्रणाशयेत् ॥

सूर्यक्षार २॥ तोला को २-२ रत्ती की मात्रा में मिश्री मिला कर देने से उष्णवात, मूत्रकृच्छ्र, पित्त से हुए मूत्रदोषो की शान्ति हो जाती है ।

त्रिफला कर्कटी बीज सैंधव समभागतो ।
चूर्णमुष्णाम्बुना पीत मूत्रकृच्छ्र निवारयेत् ॥

त्रिफला, ककडी (खीरा) के बीज सैंधव नमक समभाग का चूर्ण बना कर गर्म जल के साथ पिलाने से मूत्रकृच्छ्र ठीक होता है ।

सशर्करा यवक्षारो शीतकेण प्रयोजयेत् ।
तस्योष्णवात चास्मैर्या पीडा गच्छतिसत्वरम् ॥

मिश्री, यवक्षार छाछ के साथ पिलाने से उष्ण वात तथा अश्मरी की पीडा शात हो जाती है।

नाग फेन विष सणं बीज जातिफलं समं ।
गोघृतेन च समर्द्धं लिंगलेपो विधीयते ॥

अफीम, वत्सनाभ, सणबीज, जायफल समान भाग लेकर गाय के घी मे घोटकर इन्द्रिय पर लेप करने से—

तस्माद्भवति मर्त्याना मृतकदर्पं वर्द्धनम् ।
प्रोक्तोऽय हस्तिना सद्य चमत्कार कर पर ॥

इससे अर्थात् उपरोक्त लेप के प्रयोग से लिंगेन्द्रि मे आई शिथिलता दूर होती है तथा आश्चर्यजनक लाभ ध्वजभग मे लाभ होता है ऐसा हस्तीरुचि ने बताया है।

वचा कुष्ठाश्वगधातु गजाकृष्णासमासकं ।
नवनीतयुतं लेंपो विशेषालिंगवृद्धिकृत् ॥

वच, कूठ, आसगध, गजपीपर समान भाग का चूर्ण कर इन्द्रिय पर लेप लगाने से शिथिलता को तो दूर करता ही है पर इन्द्रिय के छोटेपन को दूर कर वृद्धि करता है।

वचाश्वगधा गजपिप्पलीना चूर्णं महिष्या नवनीतमेमि ।
विलेपन तत्पुरुषस्य।लिंग स्यान्मत्तहस्ती खर लिंगतुल्यम् ॥

वच, आसगध, गजपीपर के चूर्ण को भैंस के मक्खन मे घोट कर इन्द्रिय पर लगाने से मतवाले हाथी या गर्दभ की इन्द्रिय के समान कठोर तथा स्थूल हो जाती है।

स्वर्णंबीजस्य चूर्णं तु तैलेनोत्क्वाथ्य मर्द्दयेत् ।
लिंगमुत्थापन तस्मात्प्राणीना प्रभवेत्परम् ॥

धत्तूरे के बीचो के क्वाथ तथा वल्क से सिद्ध किये हुए तैलो को इन्द्रिय पर लगाने से शिथिलता दूर होकर जागृति प्राप्त हो जाती है।

हसपाकपलार्द्धं तु वृता के तव प्रोच्यते।
वल्लमान प्रदानेन हीनकदर्पंवृद्धिकृत् ॥

आधी छटाक हीगलू को डली को बिन्ताक में डाल कर लघुपुट से पका कर २-२ रत्ती मात्रा में मक्खन के साथ चटाने से ध्वजभगता दूर होकर जागृति प्राप्त होती है तथा आई हुई स्त्रियो में अरुचि दूर होती है।

श्वेतरक्तकरवीर जटानिलात्वा दारुनिशा गजकणानवसादरेण ।
आकल्लकंकार्कसम मर्द्यजलेनलिंग सलेपित प्रकुरुते खलुवीर्यवृद्धिम् ॥

सफेद लाल कनेर की छाल को लाकर दारुहल्दी, गजपीपर, नवसादर आदि सम भाग का चूर्ण अकलकरे के अर्क के साथ घोट कर इन्द्रिय पर लेप करने से शिथिलता दूर हो जाती है।

नाग फेन युता जातीपत्री नागलतारसैं।
मर्द्दयेद्यामयुग्मतु कारयेद्गुटिकोत्तमा ॥
सुगधैं मिश्रिता देया दुग्धतदनुपाययेत्।
मैथुने दश नारीणा मान मुच्छेदयें द्ध्रुवम् ॥

अफीम, जावित्री को नागलता के रस के साथ दोपहर घोट कर और भी सुगन्धित पदार्थ जैसे कस्तूरी, कपूर, अम्बर मिला कर गोली बनाए तथा मैथुन के एक प्रहर पहिले दूध के अनुपान से दे तो वह व्यक्ति दश स्त्रियो के मान को खडन कर सतृप्त कर देता है।

भृ गराज तिला कृष्णा प्रतिवास जलेन तु।
सप्तवासर कुर्वाणो न मूत्र पतते बहू ॥

जल भागरा तथा काले तिल को सममात्रा मे लेकर चूर्ण करें तथा प्रात काल बासी जल के साथ सात दिन तक दे जिससे बहुमूत्र ठीक होता है।

ससिता मृतनाग तूयो भजेद्ध स्तिनामतम्।
तस्य सर्वेन्द्रियोत्पन्न रोगजालहरेद्ध्रुवम् ॥

मिश्री के साथ नागभस्म का प्रयोग सेवन कराने से इन्द्रिय मे उत्पन्न होने वाले सारे रोग-समूह मे शान्ति प्राप्त होती है।

आम्रास्थि विश्वा गोशृ ग कुरा चाम्ररसेन तु।
मर्दयेत्त्रिदिन सम्यक्सितया सह भक्षणात्।
तस्य पित्तोद्भवा हन्ति ग्रहणी दु खकारिणी।
ज्वरातिसार तीव्र च रक्तस्राव स मूलत ॥

आम की गुठली की मज्जा, सोठ, गाय के सीगे पर पैदा हुए अकुर आम के रस मे घोट कर मिश्री के साथ तीन दिन तक सेवन कराने से पैत्तिक ग्रहणि ज्वर, अतिसार, रक्त पित्त की शान्ति होती है।

मरिच खर्पर नागाफीमताबूल तण्डुलै।
मद्य ताबूल तोयेन गुटी सर्वातिसारजित् ॥

काली मिरच, खपरिया, अफीम पान के रस में घोट कर १-१ रत्ती की गोली बनाएँ। १-१ गोली चावल के जल के साथ देने से सब अतिसार से शान्ति मिलती है।

जीरक विजया बिल्व नागफेन समाशकै.।
दधिक्षीरेण साकार्या गुटी सर्वातिसारजित् ॥

सफेद जीरा, भाग, बिल्वगिरि, अफीम समभाग मिलाकर दही के तोड़ के साथ घोट कर गोली बनाएँ । यह गुटिका १-१ रत्ती मात्रा मे दही के साथ ही सेवन कराने से सब प्रकार के अतिसार मे शान्ति प्राप्त होती है ।

भल्लातक तु प्रस्थार्द्धं जलप्रस्थद्वयेन च ।
प्रस्थद्वय तु गोदुग्ध पाचयेद्वन्हिनाततः ।
प्रस्थार्द्धं च घृतमुक्त्वा प्रस्थमानातुशकरा ।
तदोषध पलार्द्ध तु हृर्षायाति निषेवरणात् ॥

आधा सेर शुद्ध भल्लातक को दो सेर जल मे ओटाएँ, चतुर्थांश शेष रहने पर दो सेर दूध व आधा सेर घृत डाल कर पकाएँ । घृत पाक हो जाने पर छानकर एक सेर पिसी हुई मिश्री मिला कर आधी छटाक याने २॥ तोले की मात्रा मे प्रात काल सेवन कराएँ । इससे अग्निमाद्य व अर्श मे शान्ति होती है । यदि कदाचित् भल्लातक घृत के सेवन भल्लातक विकार याने कण्डू दाह आदि हो जाय तो—

दारु सर्षपमुस्ताभि नवनीतेन लेपयेत् ।
भल्लातक विकारोऽप सद्योगच्छति सत्वरम् ॥

देवदारु, सरसो, नागरमोथे के समभाग चूर्ण को मक्खन मे मिलाकर लेप करने से विष मे शान्ति होती है ।

नवनीत तिला दुग्धं पुन षड घृतेन च ।
एतद्वय प्रलेपेन हन्तिभल्लातक व्यथा ॥

मक्खन, तिल आदि के लेप से तथा दूध, घृत, मिश्री के आभ्यतर प्रयोग से भिलावे के विष की शान्ति होती है ।

सिता निंबूरसः पानाद् धात्रीपत्ररसंस्तथा ।
शरीरमर्दनाद्याति भल्लातककृतव्यथा ॥

मिश्री तथा नीबू की सिकजी पिलाने से तथा आवले के पत्तो के रस का लेप करने के भिलावे की पीड़ा शान्त हो जाती है ।

लघुनिम्बस्य पत्राणा रसोहि पलमानत ।
पानात्क्रिमिभव रोग हृर्षाहन्तिचनिश्चितम् ॥

छोटे-छोटे नीम के पत्तो का रस घोट कर निकाल कर एक छटाक की मात्रा में पिलाने से पेट के क्रिमिव अर्श मे शान्ति होती है ।

देवदाली फलबीज गोमूत्रेण तु पेषयेत् ।
वारत्रयकृतोलेपात् हृर्षा पतति मूलत ॥

बदाल डोडे का फल तथा बीज को गोमूत्र के साथ पीसकर अर्श पर लेप तीन बार लगाने से अर्श शान्त हो जाता है ।

गुग्गुलु लशुन नीब बीजरामठनागरैः ।
गुटी शीतोदकेनैव अर्शक्रिमि विनाशकृत् ॥

गूगल, लशुन, नीबोली की मज्जा, हीग, सोठ का चूर्ण कर जल के साथ गोली बनाएँ। ठडे पानी के साथ १-१ गोली प्रात. साय ४-४ रत्ती की मात्रा मे देने से अर्शव क्रिमी रोग को शान्ति होती है।

लवगाकल्कोकृष्णा दारु शीरुपुनर्नवा ।
शतपुष्पा वृद्धदारु पुष्कर विजयोषधै ॥

अश्वगधा समाशेन सर्वान्सचूर्ण्य मेलयेत् ।
भोजयेत्पलमानेन हृतितस्यमरुद्व्यथाम् ॥

लोग, अकलकरा, पीपर, देवदारु, शतावरी, पुनर्नवा, सौफ, वधायरा, पोहकरमूल, भाग, सोठ, असगध, समान हिस्से मे लेकर कपडछाण चूर्ण कर १-१ तोले की मात्रा मे खिलाने से नाना प्रकार की वायु की पीडाएँ शान्त हो जाती हैं।

तलवृद्धि - श्रोत्रवृद्धि - गुल्मोदर - गुदव्यथा ।
हृर्षाश्वक्रिमिजा सर्वे रोगा नश्यति निश्चितम् ॥

अन्त्रवृद्धि, कर्णवृद्धि, गुल्म, उदर रोग, गुदरोग, अर्श क्रिमिरोग नष्ट होते हैं ।

सैधव जीरक द्वन्द्व रामठाद्विगुण जलम् ।
तैलेनोत्क्वाथ्य तल्लेपात् श्रोत्रवृद्धिहरेत् ध्रुवम् ॥

सैधव नमक, दोनो जीरे, हीग आदि २-२ तोले जल एकप्रस्थ तथा तैल एक पाव डाल कर ओटाएँ। तैल मात्र शेष रहने पर लेप करने से कर्णवृद्धि ठीक होती है।

चूर्ण कृत्वाऽम्रपत्राणा खररक्तेनभावयेत् ।
तल्लेपविहितोयाति भगदरमरुद्व्यथा ॥

आम के पत्तो का चूर्ण कर गधे के रक्त की भावना दे, इस लेप को लगाने से वातिक भगन्दर शान्त हो जाता है ।

प्रस्थ प्रमाणानिलशत्रुबीज सदुग्धप्रस्थाष्टक वन्हिदद्यात् ।
प्रस्थैक खडेन पलानिपच घृतहियोर्थ्य कलकोहिपरचात् ॥
हरिद्रामृत शुल्वच मरिच त्रिफलाभया ।
वशलोचन लवगंच चातुर्जातामृता तथा ।
मुक्त्वा दुग्धेनपातव्य सजलेनपुनर्नवा ।
योग युग्माद् हरेत्त्सोत्रवृद्धिसद् हस्तिना स्मृतम् ॥

एक सेर एरड बीज को कूट कर ८ सेर दूध मे डाल कर पकाएँ। जब खोवा बन जाय तब पाँच छटाक घी डालकर पकाएँ। बाद मे एक सेर मिश्री की चासणी बना कर डालें। वशलोचन, लोग, इलायची, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर के चूर्ण का कल्क १-१

तोला डाले। प्रात साय २॥ तोले की मात्रा मे इसे खिलाएँ तथा भोजन के बाद पुनर्नवा का जल दूध के साथ पिलाने से श्रोत्रवृद्धि ठीक हो जाती है।

चित्रकच त्रिवृद्दती त्रिफला त्रिकटुत्रयम्।
तुल्यांशं चूर्णयेत्सूक्ष्म द्विगुणतु स्नुहीपय।
पक्व मृद्वग्निना सम्यक् पचगुजाविरेचकृत्।
देय सर्वोदरार्तांच वज्रभेदी मयो रस॥

चित्रक, निशोत, त्रिफला, त्रिकटु सममात्रा मे लेकर कपटछाण चूर्ण कर दो भाग थूहर का दूध मिलाकर मदाग्नि पर पाक करके बोतल मे भर कर रख ले। इसकी ५ रत्ती को मात्रा से उदर रोगो मे देने पर अच्छा विरेचन होता है। इसका नाम वज्रभेदी रस है।

जयपालबीज चूर्णं तु स्नुहीक्षीर घृतसमम्।
मृद्वग्निना पचेत्पिड पचगुजा विरेककृत्॥

शु जमाल गोटे का चूर्ण १ भाग, थूहर का दूध १ भाग, गाय का घी १ भाग किसी कडाही मे डालकर मन्दाग्नि से पाक करें, जब चूर्ण रूप मे हो जाय तो शीशी मे डाल कर रख लेवें। ५ रत्ती की मात्रा मे देने से अच्छा विरेचक है।

सर्वकुष्ठहर स्यात देय कोष्णजलेन तु।
गुल्म ज्वर विनाशाय सद्हस्तिरुचिनास्मृतम्॥

उपरोक्त विरेचन सब प्रकार के कुष्ठ रोगो मे, गुल्म रोगो मे तथा पुराणे ज्वरो मे देना चहिये।

पारदगधक व्योष निशापथ्या सुटकणम्।
तत्समो जयपालोऽथ तत्समेनगुडेनतु।
शीतोदकेन दातव्यो रक्ती चतुष्कमानत।
विरेकी ज्वरहतासो गुल्मर्शोफोदरापह।
मदाग्नि शूलरोगेषु कफरोगे विशेषत।
प्रोक्तोऽसौ हस्तीरुचिना इच्छाभेदीमयोरस॥

शु पारा, शु गधक, कटुत्रिक, हल्दी हरड, सुहागा, फुलाया हुआ, शुद्ध जयपाल समान भाग लेकर ४-४ रत्ती की गोलो बनाकर १ गोली ठडे जल के साथ देने पर गुल्म, शोफ, उदररोग, अग्निमाध, कफजशूल आदि मे इच्छानुकूल विरेचन कराता है।

गुजा भल्लातक बाग निबस्यफलमज्जभि।
तक्रेण विहितो लेप कुष्ठाष्टदश नाशकृत्॥

लाल चिरमी, भिलावा, शीशा, नीब की नीबोरी की गिरि छाछ के साथ मिलाकर लेप करने से अठारह प्रकार के कुष्ठ ठीक होते हैं।

क्षुद्राधातकी पुष्पाणि वन्हिनादह्य सत्वरम् ।
कटुतैलेन तल्लेयात् श्वेतकुष्ठ विनाशकृत् ॥

कटेरी तथा धाय के फूल को जलाकर उसकी भस्मी मे सरसो का तेल मिलाकर सफेद कुष्ठ पर लेप करें ।

कलिद्रुमत्वचा नाग नागरचूर्णोदकेनच ।
एतद्द्रव्य प्रलेपेन महत्कुष्ठहरेद् ध्रुवम् ॥

कलिदारी की छाल, नागभस्म, सोठ चूर्णोदक के साथ लेप करने से महा कुष्ठ ठीक होता है ।

लवण भानुदुग्धेन सकृद्भावित कर्पकम् ।
गव्येन पयसा पीत वमिकृद्विष नाशम् ॥

अर्क दुग्ध मे भावना दिये हुए नमक को गौ-दूध के साथ पिलाने से वमन होकर विष शान्त होता है ।

तुबी बीजमजाक्षीरं भावितैस्तेन पाययेत् ।
वमनात् श्लीपदग्रन्थि कुष्ठगुल्मोदरापहम् ॥

कड़वी तुम्बी के बीजो को बकरी के दूध से पिलाने से वमन से श्लीपद, ग्रन्थि, कुष्ठ, गुल्म उदर रोग शान्त होते हैं ।

सर्पाक्षी मूलतोयेन घृतेनविश्वभृंगराट् ।
वचारामठ तक्रेण नागकीन विष हरेत् ।

सर्पाक्षी श्वेतापराजिता के मूल का क्वाथ से साधित घृत मे सोठ, भागरा, वच, हीग मिलाकर छाछ के अनुपान से देने से सर्प-विष शान्त होता है ।

कर्कोटीकार्कयोश्चूर्णं नागफेनसनागरम् ।
सूर्यदुग्धेन गुटिका वृश्चिकादि विषापहा ॥

ककोडा, अर्कजड, सोठ के चूर्ण में अफीम व अर्कदुग्ध मिलाकर गोली बना लें । बिच्छू आदि के दशज विष पर लेप लगाएँ ।

क्षारद्वयसमायुक्त चूर्णं सौवर्चसोद्भवम् ।
निंबूरसै कृत हन्ति वरहल्लोद्भवव्वम् ॥

सज्जीक्षार, यवक्षार, काला नमक निंबू रस के साथ घोट कर वरें के डक पर लगाने से शान्ति हो जाती है ।

गुडेन टकणक्षार सेव्यमानेनसत्वरम् ।
गुल्मोदर महत्ग्रन्थि सद्योहरति दुस्तराम् ॥

तोला डाले। प्रात साय २॥ तोले की मात्रा मे इसे खिलाएँ तथा भोजन के बाद पुनर्नवा का जल दूध के साथ पिलाने से श्रोत्रवृद्धि ठीक हो जाती है।

चित्रकच त्रिवृद्दती त्रिफला त्रिकटुत्रयम्।
तुल्यांशै· चूर्णयेत्सूक्ष्म द्विगुणतु स्नुहीपय।
पक्व मृद्वग्निना सम्यक् पचगुंजाविरेचकृत्।
देय सर्वोदरार्त्तोंच वज्रभेदी मयो रस.॥

चित्रक, निशोत, त्रिफला, त्रिकटु सममात्रा मे लेकर कपटछाण चूर्ण कर दो भाग थूहर का दूध मिलाकर मदाग्नि पर पाक करके बोतल मे भर कर रख लें। इसकी ५ रत्ती की मात्रा से उदर रोगो मे देने पर अच्छा विरेचन होता है। इसका नाम वज्रभेदी रस है।

जयपालबीज चूर्ण तु स्नुहीक्षीर घृतसमम्।
मृद्वग्निना पचेत्पिड पचगुंजा विरेककृत्॥

शु जमाल गोटे का चूर्ण १ भाग, थूहर का दूध १ भाग, गाय का घी १ भाग किसी कडाही मे डालकर मन्दाग्नि से पाक करें, जब चूर्ण रूप मे हो जाय तो शीशी मे डाल कर रख लेवे। ५ रत्ती की मात्रा मे देने से अच्छा विरेचक है।

सर्वकुष्ठहर स्यात देय कोष्णजलेन तु।
गुल्म ज्वर विनाशाय सदृहस्तिरुचिनास्मृतम्॥

उपरोक्त विरेचन सब प्रकार के कुष्ठ रोगो मे, गुल्म रोगो मे तथा पुराणे ज्वरो मे देना चहिये।

पारदगधक व्योष निशापथ्था सुटकणम्।
तत्समो जयपालोऽथ तत्समेनगुडेनतु।
शीतोदकेन दातव्यो रक्ती चतुष्कमानत।
विरेकी ज्वरहतासौ गुल्मशोफोदरापह।
मदाग्नि शूलरोगेषु कफरोगे विशेषत।
प्रोक्तोऽसौ हस्तीरुचिना इच्छाभेदीमयोरस॥

शु पारा, शु गधक, कटुत्रिक, हल्दी हरड, सुहागा, फुलाया हुआ, शुद्ध जयपाल समान भाग लेकर ४-४ रत्ती की गोली बनाकर १ गोली ठडे जल के साथ देने पर गुल्म, शोफ, उदररोग, अग्निमाध, कफजशूल आदि मे इच्छानुकूल विरेचन कराता है।

गुजा भल्लातक वाग निबस्यफलमज्जभि।
तक्रेण विहितो लेप कुष्ठाष्टदश नाशकृत्॥

लाल चिरमी, भिलावा, शीशा, नीब की नीबोरी की गिरि छाछ के साथ मिलाकर लेप करने से अठारह प्रकार के कुष्ठ ठीक होते हैं।

क्षुद्राधातकी पुष्पाणि वन्हिनादह्य सत्वरम् ।
कटुतैलेन तल्लेपात् श्वेतकुष्ठ विनाशकृत् ॥

कटेरी तथा धाय के फूल को जलाकर उसकी भस्मी मे सरसो का तेल मिलाकर सफेद कुष्ठ पर लेप करे ।

कलिद्रुमत्वचा नाग नागरचूर्णोदकेनच ।
एतद्द्रव्य प्रलेपेन महत्कुष्ठहरेद् ध्रुवम् ॥

कलिदारी की छाल, नागभस्म, सोठ चूर्णोदक के साथ लेप करने से महा कुष्ठ ठीक होता है ।

लवण मानुदुग्धेन सकृद्भावित कर्पकम् ।
गव्येन पयसा पीत वमिकृद्विप नाशम् ॥

अर्क दुग्ध मे भावना दिये हुए नमक को गौ-दूध के साथ पिलाने से वमन होकर विष शान्त होता है ।

तुबी बीजमजाक्षीरै भावितैस्तेन पाययेत् ।
वमनात् श्लीपदग्रन्थि कुष्ठगुल्मोदरापहम् ॥

कडवी तुम्बी के बीजो को बकरी के दूध से पिलाने से वमन से श्लीपद, ग्रन्थि, कुष्ठ, गुल्म उदर रोग शान्त होते हैं ।

सर्पाक्षी मूलतोयेन घृतेनविश्वभृगराट् ।
वचारामठ तक्रेण नागकीन विप हरेत् ।

सर्पाक्षी श्वेतापराजिता के मूल का क्वाथ से साधित घृत मे सोठ, भागरा, वच, हीग मिलाकर छाछ के अनुपान से देने से सर्प-विष शान्त होता है ।

कर्कोटीकार्कयोश्चूर्ण नागफेनसनागरम् ।
सूर्यदुग्धेन गुटिका वृश्चिकादि विषापहा ॥

ककोडा, अर्कजड, सोठ के चूर्ण में अफीम व अर्कदुग्ध मिलाकर गोली बना लें । बिच्छू आदि के दशज विष पर लेप लगाएँ ।

क्षारद्वयसमायुक्त चूर्ण सौवर्चसोद्भवम् ।
निंबूरसै कृत हन्ति वरहल्लोद्भवरुजम् ॥

सज्जीक्षार, यवक्षार, काला नमक निंबू रस के साथ घोट कर वर्रे के डक पर लगाने से शान्ति हो जाती है ।

गुडेन टकणक्षार सेव्यमानेनसत्वरम् ।
गुल्मोदर महत्ग्रन्थि सद्योहरति दुस्तराम् ॥

शु सुहागे को गुड के साथ निरतर सेवन करने से गुल्म, उदर रोग तथा बड़ी ग्रन्थि आदि का नाश होता है ।

हिंगुलु टकणक्षार मरिचं मृतरूप्यकं. ।
पत्रतोयेन सचूर्ण्य मगमानमिता गुटी ।
कासे श्वासे कफेशीते सन्निपातज्वरे तथा ।
मदाग्नौ गुल्मवाते च प्रशस्ता गुटीकोत्तमा ।।

शुद्ध हिंगुलू, शु सुहागा, कालो मिरच, चादीभस्म, नागरवेल के पान के रस में घोटकर २-२ रत्ती की गोली बनाकर, खासी, श्वास, कफवृद्धि, शीताग, सन्निपात, अग्निमाद्य, गुल्म रोग, वातव्याधि में दें। यह गुटिका इन सब रोगो में लाभ करती है ।

वासा किरातक तिक्ता त्रिफलामृत निम्बजै ।
क्वाथो मधुयुतो हन्ति पाण्डुरोग च कामलाम् ।।

अडूसा, चिरायता, कुटकी त्रिफला, नीमगिलोय, नीम की अतछाल इनका क्वाथ बना कर मधु का प्रक्षेप डालकर कामला पाडुरोग मे पिलाएँ ।

तिक्ता किरातक धान्य त्रिफलानागरैः समै. ।
क्वाथो मधुयुतोहन्ति जीर्णज्वरान्तकामला ।।

कुटकी, चिरायता, धनिया, त्रिफला, सोठ समभाग लेकर क्वाथ बनाकर शहद मिला पिलाएँ ।

खरविट्दधिनीरेण सम्यक्समर्द्यपात्रके ।
महत्पित्तोद्भव रोगं कामला च प्रणाशयेत् ।।

गधे की कारस लीद १ तोले को दही के तोड मे घोटकर पिलाने से बडे भारी पित्त से होनेवाली कामला को ३ दिन मे ठीक कर देता है ।

हरिद्रा त्रिफला, विश्वा मृतलोह कटुत्रिकै ।
समधुघृतयुक्तेनालेह कामलाहरेत् ।।

हलदी, त्रिफला, सोठ, लोहभस्म, त्रिकटु घृत तथा शहद के साथ चटाने से कामला नष्ट होती है ।

क्षारद्वयं मरिचरामठनागराह्वं वैदेही पचलवर्णविहितच चूर्णम् ।
निंबूरसेन दिनविंशति सविमर्द्यदत्तासुहस्ति रुचिनोदररोगघात्य ।।

साजोखार, यवक्षार, कालो मिरच, हीग, सोठ, पाचो नमक समभाग का चूर्ण कर बीस दिन तक नीबू के रस मे घोटकर चणे प्रमाण गोली बनाकर उदररोगो मे दे ।

प्रस्थार्द्धं विश्वा द्विगुणचदुग्ध प्रस्थप्रमाणाज्यगुड चतद्वत् ।
विपाचयेसन्मृदुवन्हिना सम पश्चात्तदभ्यतरकल्क दीयते ।

चातुर्जात जातिपत्री वासावन्हिफल त्रयम् ।
देवपुष्पगजकणा भारगी शृगीकटुत्रयम् ।
आकल्लको लोहचूर्ण वशलोचनकट्फल ।
दारुविश्वाश्वगधाच चूर्णमेपाकृत समे ।
पश्चाद्विपलमान तु योभजेद्दिनसप्तकम् ।
तस्य स्वमौलिकर्णाक्षि रोगजालविनाशयेत् ।
सर्ववातान्हरेदाशु कफपित्तोद्भवानपि ।
हस्तिना कथितोसम्यक् विश्वपाकेतिनाभत ॥

आधा सेर सोठ, दो सेर दूध, एक सेर घी, एक सेर गुड, एक वर्तन मे रख कर मन्दाग्नि पर पाक करे, उसमे कल्क की निम्न वस्तुएँ डालें—दालचीनी, इलायची, नेपात, नागकेशर, जाविश्री, अडूसा, चित्रक, त्रिफला, लौग, गजपीपर, भारगी, काकडा सीगी, त्रिकटु, अकलकरा, लोह-भस्म, प्रालोचन, कायफल, देवदारु, सोठ, आसगध, इन सबको आधा-आधा तोले की मात्रा मे लेकर कल्क बनाकर डालें तथा पाक करे। इस घृत को १ छटाक की मात्रा मे प्रात काल सेवन कराएँ। इस प्रकार ७ दिन के प्रयोग से शिर, आँख, कान, नाक के रोग नष्ट होते हैं तथा उत्तमाग तथा मस्तिष्क पुष्ट होता है।

चन्दन लवण शुण्ठी घृष्ट्वा नीरेण लेपयेत्।
मर्त्यं मौलिसमुत्पन्ना पीडा हरतिनिश्चितम् ॥

लाल चन्दन, नमक, सोठ को जल मे घिसकर ललाट पर लेप करने से मनुष्य के शिर मे पैदा हुए दर्द मे शान्ति होती है।

चूतकाष्ठकृतो लेपात् महाशीर्षं व्यथाहरत्।
यथाशीतोदकारिष्ट घृष्ट्वा तस्य प्रदानत ॥

आम की लकडी को जल मे घिसकर तथा नीम को लकडी को ठडे पानी मे घिसकर लेप करने से शिर-शूल मिट जता है।

भृगराजरसो कुष्ठो नवनीते नपाचयेत्।
त्रिदिनदीयते तस्य सूर्यवात विनाशयेत् ॥

जलभागरा, कूठ, ३-३ माशा की मात्रा को मक्खन के साथ पचाकर तीन दिन तक चटाने से सूर्यावर्त ठीक हो जाता है।

आम्रास्थि धात्रीलेपोऽथ कणोषणसिता जलै॰।
रसोनकार्कं पत्राणा नस्यो मस्तकरोगहृत् ॥

आम्रफलमज्जा तथा आवला, पीपर, काली मिरच, मिश्री को जल मे पीस कर शिर पर लेप लगाएँ तथा लहसुन के पत्ते तथा पीले आक के पत्तो का रस निकाल कर समभाग मे मिला कर नस्य देने से शिरो-रोग ठीक होता है।

कटुकर्कोट पत्राणां रसं नस्य प्रदापयेत् ।
सद्यो वाग्यतीत्थ च कपालकीटकव्यथा ॥

कडवे व जगली ककोडे के पत्तो का रस का नस्य देने से कपाल मे होने वाली क्रिमि पीडा शान्त होती है ।

निर्गुण्डिका लवणनागरदारुकृष्णा पामार्ग्रतर्षप दिवाकर वृक्षबीजैः ।
शीतोदकेन गुटिका प्रविघाय लेपात् प्रोक्तास्तु हस्तिरुचिना शिररोगहन्त्री ।

निर्गुण्डी, सैंधव नमक, सोठ, देवदारु, पीपर, पवाडिया, सरसो, आक के बीज, ठडे जल के साथ पीस कर गोली बनाले तथा इस गोली का लेप ललाट पर करने से शिरो-रोग शात होता है ।

शखचूर्णं मजादुग्धे तदर्द्धं तु मन शिला ।
छागोदुग्धेनतद्धीन सैन्धवतु जले न च ॥
सुन्दर्यास्तनदुग्धे न मरिचान्मर्दयेद्भिषक् ।
शीतोदकेनगुटिका क्षिप्तासर्वाक्षिरोगजित् ॥

शख की नाभि ४ भाग, मन शिला २ भाग, कालीमिरच १ भाग, सैंधव नमक आधा भाग । शख की नाभि को बकरी के दूध मे ७ दिन तक लगातार घोटें तथा मन शिला को गाय के दूध मे १ सप्ताह घोटे, कालीमिरच स्त्री के स्तन-दूध मे ७ दिन तक घोटे तथा सैंधे नमक को जल के साथ ७ दिन तक घोटें इन चारो को पृथक्-पृथक् उपरोक्त द्रवो मे एक एक सप्ताह अलग-अलग घोट कर इन सब को एकत्रित कर एक दिन जल मे घोट कर गोली या वर्ति बनाले । इस वर्ति या गोली को शीतल जल के साथ घिस कर अजन करें, प्रात साय अथवा साम्हर के सीग के साथ शीतल जल से या स्त्री के दूध मे मिल सके तो घोट कर अजन करने से नेत्रो के २७ प्रकार के रोग दूर होते हैं ।

अधोवर्षशात यावन्मासमेकं च अजयेत् ।
छाया, पुष्प चतिमिर काचबिन्दु तथैव च ।
पडल पोथकीचैव नेत्ररोगान्विनाशयेत् ।

यह उपरोक्त वर्तिका नाम मातगी वर्ति है जिसका एक माह तक अजन करने से सौ वर्ष के अधे को भी दिखने लग जाता है तथा नेत्रो मे आयी हुई छाया, फूला, तिमिर, काचबिंदु प्रवाल, पोथकी आदि नेत्र रोगो मे पूर्ण लाभ होता है । यह प्रयोग स्वानुभूत है ।

सैंधव त्रिफला कृष्णा रोध्राजन समांशकं ।
निम्बूरसेनतत्कार्या गुटी सर्वाक्षिरोगहृत् ॥

सैंधव नमक, त्रिफला, पीपर, लोध, काला सुरमा समभाग लेकर नीबू के रस मे घोट कर आख मे अजन करने से नेत्र रोगो को दूर करता है ।

शिवामज्जा शिवाचूर्णं निशालवणरोध्रकं ।
शिवापत्ररसैः कार्यो लेप सर्वाक्षिरोगजित् ।।

हरड की गुठली की मीगी, हरड चूर्ण, हल्दी, नमक, लोध इनके समभाग चूर्ण को हरड के पत्तो के रस मे घोटकर आँख पर लगाने से नेत्र रोग दूर होता है।

चक्राह्वारजनीयुग्म् कृष्णाकुष्ठसमाशकं ।
निबू रसेनतत्कार्या गुटीसर्वाक्षिरोगहृत् ।।

चक्रमर्द, हलदी, दारुहल्दी, पीपर, कूठ समभाग लेकर नीबू के रस मे घोटकर गोली बनाव तथा नेत्र मे लगाने से नेत्र रोगो में लाभ करती है।

रसरागमिता कृष्णा जातिपुष्पाक्षिसद्गुणं ।
तिलपुष्पव्योमनागोषणषोडेशतुल्यकं ।।
गोदुग्धेन गुटी कार्या तोयेनतिमिरहृरेत् ।
रात्र्यंध छागीदुग्धेन मधुनाहृति पुष्पकम् ।।

पीपर ६ भाग, चमेली के फूल २ भाग, तिल के फूल, अभ्रक, शीशा आदि १६-१६ शाण लेकर गाय के दूध में गोली बनाएँ। इस गोली को आँख में अंजन करने से रात्र्यन्धा आदि को ठीक करती है।

नागफेन रसोधात्री धातकी तुत्थखर्परम् ।
गुटी निंबू रसेनोक्ता हस्तिना नेत्ररोगहृत् ।।

अफीम, आमले का रस, धाय के फूल, नीलाथोथा, खपरिया, नीबू के रस से घोट कर गोली बना कर अंजन करने से सारे नेत्रो मे लाभ करतो है।

क्षिप्त कर्णं हरेद्रोग तैलं धत्तूरसभवम् ।
यथारविभव पत्रतापित तज्जलनतु ।।

धत्तूरे के पत्र स्वरस से साधित तैल या आक के पत्तो के रस से साधित तैल को खिंचे हुए कान मे प्रयोग करने से कान ठीक हो जाता है।

रसोनसार्कपत्रतु शिग्रुस्वर्ण रसेनतु ।
तैलान्वितेन समर्धं कर्णशून्य धृतहरेत् ।।

लहसुन के पत्ते, आक के पत्ते डालकर सहजने के रस से साधित तैल की मालिश करने से कान मे तैल डालने से कान मे आई हुई शून्यता ठीक करती है।

घृतमुत्क्वाथ्य नासया नस्योदेयोपुन पुन· ।
तस्मान्नासासमुत्पन्न सहरेद्रोगसचयम् ।।

गाय के घी को अच्छा गर्म कर नाक मे नस्य देने से नाक मे होने वाली बीमारियें शान्त होती हैं।

घृष्ट्वा माजूफलत्रीहीं वारिणा कृतलेपनात्।
नृणा तारुण्यजा हन्ति कटकावदनोद्भवा ॥

माजूफल के छिलके को जव के साथ घोट कर मुह पर लेप करने से जवानी मे पैदा होने वाली पिडिकाए ठीक हो जाती हैं।

घृष्ट्वा जलेन कम्पिल्ल तल्लेपात् हरते ध्रुवम्।
नासूर हि यथाकृष्णतिलपिड प्रबन्धनात् ॥

नासूर पर काले तिल को बाट कर लेप कर के कपीले को पानी मे घिस कर लेप लगाने से ठीक होता है।

सैन्धव मरिचक्षौद्र मातुलिंगरसान्वितम्।
तालूस्थानेकृतोलेपन्मुखशोषविनश्यति ॥

सैंधा नमक, काली मिरच, शहद, बीजोरे के रस को घोट कर तालू पर लेप लगाने से मुखशोष ठीक होता है।

एलाधात्री रसोपेता गुटी कृत्वा मुखे स्थिता।
प्रदत्ताहस्तिना सद्यः मुखशोषोपशान्तये ॥

आवले के रस मे इलायची का चूर्ण डाल कर गोली बनाएँ तथा इसे मुह मे रखकर चूसने से मुखशोष ठीक हो जाता है।

दाडिमत्वग्भवचूर्णं घृष्यमाणो नरस्य च।
मुखपाक हरत्याशु यथा धन्वजलेनवा ॥

दाडिम छाल का चूर्ण करके मुह मे रगडने से या धमासे के जल का क्वाथकर कुल्ले करने से मुखपाक ठीक हो जाता है।

माजूफलस्य चूर्णेन घृष्यमाणो नर सदा।
तस्माद्वज्रसमादता चपलापिभवन्तिहि ॥

माजूफल का चूर्ण करके दातो पर मजन करने से हिलते हुए दात भी वज्र के समान मजबूत हो जाते हैं।

आम्रास्थिकुष्मांडरसेन नस्यो पुनर्नवादुग्धसितायुतेन।
दूर्वारस सप्रमदापयोभिः योगत्रयरक्तरुजहरन्ति ॥

आम की गुठली कोले के रस मे घिस कर नस्य दें, या पुनर्नवा दूध मे घोट कर मिश्री मिला कर नस्य दें, या स्त्री के दूध के साथ दूर्वास्वरस का नस्य दें, ये तीनो योग रक्तपित्त शात करते हैं।

इगुदी मूलसघृष्य मर्त्यमूत्रेण लेपयेत्।
बालको हि यथायाति चक्राका भक्षणद्रवै ॥

कण्डू कच्छू—

अवल्गुज कासमर्दं चक्रमर्दस्य सयुतम् ।
मणिमन्थेन तुल्याश मस्तुकाजिकपेषितम् ।।
कच्छूकण्डू जयत्युग्र सिद्ध पृष्टप्रयोगराट् ।
द्विदिने लेपमान तु कच्छू कुष्ट विनाशनम् ।।

बावची, कसौदो, चक्रमर्द सेंधव नमक आदि सब समभाग लेकर दही के तोड व काजी के साथ पीसकर कच्छूकण्डू पर लेप करने से दो दिन मे ही ठीक हो जाता है ।

एडगज तिल सर्षप कुष्ट मागधिका रजनीद्वयमुस्तम् ।
वषशत पचितामपिकण्डू नाशयतीह विचर्चिक दद्रू ।।

पवाडिया, तिल, सरसो, कूठ, पीपर, हल्दी, दारुहल्दी, नागरमोथा का लेप करने से पुराणे से पुराणी कण्डू भी ठीक हो जाती है ।

श्वेत कुष्ट—

गुजा वन्हि वचाकुष्ट निंबपत्रं सकाजिकम् ।
सुपिष्ट चूर्णमेतेषा प्रलेप श्वेतकुष्टनुत् ।।

गुंजा, चित्रक, वच, कूठ, नीम के पत्ते काजिक के साथ लेप करने से सफेद कुष्ट नष्ट हो जाता है ।

नाडीव्रण—

त्वगकदुग्धदार्वाभ्यां वर्ति कृत्वाप्रपूरयेत् ।
एष सर्वशरीरस्थ नाडी हन्यात्प्रयोगराट् ।।

दालचीणी, आक का दूध, दारुहल्दी की बत्ती बना कर नाडी मे डालने से नाडीव्रण ठीक हो जाता है ।

उदर्द—

सगुड दीप्यक यस्तु खादयेत्पथ्यभुग्नर ।
तस्य नश्यति सप्ताहादुदर्दं सर्वदेहजित् ।।

गुड के साथ अजवायन को लेते हुए पथ्यपालन करते रहने पर सब शरीर मे होने वाला उदर्द रोग सात दिन मे ठीक हो जाता है ।

लेप—

सिद्धार्थ रजनीकल्के प्रपुन्नाट तिलैसह ।
कटुतैलेन सम्मिश्रमेतदुद्वर्तनं परम् ।।

सरसो, हलदी, पवाड, तिल इन्हे पीस कर सरसो का तैल मिलाकर पीठी करने से उदर्द शान्त हो जाता है।

आर्द्रकस्य रसो पेय पुराण गुडसयुतम्।
शीतपित्त स पचति रक्त पित्त च नाशयत्॥

अदरख का रस गुड मिला कर पीने से शीतपित्त, रक्तपित्त शान्त हो जाते हैं।

मूल सुषव्या हिमवारिपिष्ट पानाद्धरेत् स्नायुकरोगमुग्रम्।
शांति नयेत्सव्रणमाशु पुसा गधर्व गधेव घृतेन पीतम्॥

करेले की जड को ठडे जल मे पीस कर पीने से स्नायुक रोग मे शान्ति प्राप्त हो जाती है, वैसे ही असगध की जड को घी से पीने से स्नायु रोग मे शान्ति प्राप्त हो जाती है।

वटस्य पाडुपत्राणि मालती रक्तचदनम्।
कुष्ट कालीयक लोध्रमेभिर्लेपः प्रयोजयेत्।
युवान पिडिकाना च व्यगानां च विनाशनम्।
मुख पद्मनिभा कुर्या नीलिकादि विवर्जितम्॥

बड के पीले पत्ते, चमेली, लाल चन्दन, कूठ, कालीयक चदन, लोध इनका लेप मुख पर करने से मुख पर होने वाली युवान पिडिका, व्यग आदि ठीक होकर मुह कमल के समान स्वच्छ हो जाता है।

वायु—

एकोपि सन्क्रियाभेदात् दशधाभिद्यते तनौ।
प्राणापानौ समानश्च व्यानोदानौ धनजयः।
नागश्च कूर्म कृकरो देवदत्तो दशानिला॥

वायु गति या चल स्वभाव से एक है पर कर्मभेद से शरीर मे उसके दश भेद होते हैं—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, धनजय, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त ये दश नाम हैं।

नि श्वासोच्छ्वासकासैश्च प्राणो जीवसमाश्रित।
मलमूत्राद्यधोयस्मात् अपानयति देहिनाम्।
अपानस्तेन कथितो कारणे नसमीरणः॥

'प्राणवायु' जीव मे रहता हुआ उच्छ्वास प्रश्वास कास करता है। 'अपानवायु' मलमूत्रो को नीचे की ओर प्रवृत्त करता है।

रसरक्तादिधातुषु समानयति देहिनाम्।
स समान स्मृतोवायु वैद्यशास्त्रविशारदै॥

रस रक्त आदि धातुओ को देह मे समान करता है अत इस प्रकार के कार्य करने वाले वायु को समानवायु कहते हैं।

वदन नयन गात्रं य स्पदयति देहिनाम्।
स उदानस्मृतोवायुरुर्द्धमार्गे प्रवर्तते ॥

प्राणियो के मुख, ने, शरीर के ऊर्ध्वभाग मे स्पदन उत्पन्न करने वाल को उदान वायु कहते हैं।

विकृतिं विदधत्यगे विद्वेष विपयेपु च।
व्याधिप्रकोपनश्चाय वार्द्धक्ये व्यानमारुते ॥

शरीर मे विकार पैदा करने वाला, विपयो से द्वेप कर बुढापे मे रोगो को कुपित करने वाला व्यानवायु है।

प्राणोहृदि गुदेऽपान समानो नाभिमडले।
उदान कठदेशे च व्यान सकल सधिपु ॥

प्राणवायु का स्थान हृदय, अपानवायु का स्थान गुद प्रदेश समान नाभिचक्र मे, कठ प्रदेश मे उदान, समग्रसन्धियो मे व्यानवायु निवास करते है।

घोपे धनजयोज्ञेय क्रदने कृकरस्तथा।
जृभाया देवदत्तः स्यात् उद्‌गारो नागनामत ॥

शब्द का घोष धनजय वायु द्वारा, तथा क्रदन (रोना) कृकर वायु से, देवदत्त से उबासी, उद्‌गार नाग से उत्पन्न होती है।

उन्मीलने भवेत्कूर्मो दशैव मारुत स्थिता·।

कूर्म वायु द्वारा नेत्रो का उन्मेष निमेष होते हैं। इस प्रकार दश वायु शरीर मे रहते शरीर को सुस्थित रखते हैं।

इडाच पिंगलाख्याच सुषुम्ना हस्तिजिह्विका।
अलाबु पायस्ता पूषा गधारी शखिनी तथा।
देहमध्यगताह्येता मुख्या स्यु दशनाडय. ॥

शरीर मे मुख्यत दश नाडिया होती हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं– इडा, पिंगला, आख्या, सुषुम्ना, हस्तिजिह्विका, अलाबु, पायस्ता, पूषा, गधारी, शखिनी।

धातुगत वात के लक्षण—

त्वग्वाते तु लोमहर्षः धमन्या श्वासएव च।
मासगे शोफ तोदच मेद सस्थे च कम्पता ॥
भगतास्थिगते माते पतन मज्जगे भवेत्।
शुक्रके सधिषु शोफ तस्मात्सं चापि लक्षयेत् ॥

विकृत वायु त्वचा मे रहता हुआ रोमहर्ष, धमनी मे रहता हुआ श्वास, मास मे रहता हुआ शोफ, तोद, मेद मे रहने पर कम्प, अस्थि मे रहता हुआ अस्थिभग, मज्जा मे

रहने पर पतनशीलता, शुक्रगत वायु से सधि शोफ होते हैं। अत. वायु की स्थानसंश्रया ज्ञान प्राप्त करे।

त्वग्रक्त मासमेदस्थो वायुः सिध्यति भेषजै।
अन्ये कष्टेनसिद्धयन्ति अथवानैवसिध्यति॥

त्वचा, रक्त, मास, मेदगत वायु औषधि चिकित्सा से ठीक हो जाता है। दूसरे स्थानो के वायु ठीक होते हैं या नही भी ठीक होते हैं।

परीक्ष्यहेत्वामय लक्षणानि चिकित्सितज्ञेन चिकित्सकेन।
निरामदेहस्यहितेषु यानि भवन्तियुक्ताप्यमृतो पमानि॥

चिकित्सा करने वाले वैद्य को चाहिये कि रोग के कारण, लक्षण, आमानुबन्ध आदि को समझ कर चिकित्सा मे प्रवृत्त हो जिससे उपयोग मे ली हुई औषधि अमृत के समान सिद्ध हो।

आलस्य तन्द्रा हृदयाविशुद्धि दोषाप्रवृत्तिर्मनता च मूत्रे।
गुरुदरत्वारुचिसुप्ततानि सामान्वित व्याधिमुदाहरन्ति॥

आम रोगी पुरुष मे आलस्य, जभाई, दिल मे भारीपन, वात, पित्त, कफ दोषो की या मलो की सम्यक् प्रेरणा न होना, मूत्र मे गदलापन, उदर गौरव, अरुचि जाड्यता आदि होने से आमव्याधि समझें।

वातप्रकोप के कारण—

सधारणाव्यशन जागरणाच्चतापे, व्यायामयान कटुतिक्तकषायरुक्षै।
चिन्ताव्यवायभयलघनशोक शीतै वायु प्रकोपमुपयाति घनागमे च॥

वेगरोध, भोजन करते ही या दूसरे भुक्तसमय के बीच में बार-बार भोजन करना, रात्रि-जागरण, ताप, व्यायाम, सवारी आदि से कटु, तिक्त, कषाय रस वाले रूक्ष गुण वाले द्रव्यो के चिन्ता, मैथुन, भय, लघन, शोक, शीत आदि से व वर्षाऋतु मे वायु प्रकुपित होता है।

पित्तप्रकोप के कारण—

कट्वम्ल मध्यलवणाम्लविदाहितीक्ष्णैः क्रोधानलातपपरिश्रमशुष्कशाकै।
क्षारात्यजीर्णं विषमाशनभोजनैश्च पित्तप्रकोपमुपयाति घनात्यये च॥

कटु, अम्ल, लवणाम्ल, विदाहि तीक्ष्ण, द्रव्यो से क्रोध, अग्नि-सताप, परिश्रम शुष्क-सागोसै, क्षार, अजीर्ण, विषमाशन आदि कारणो से कार्यरूप पित्तदोष का प्रकोप होता है शरद् ऋतु मे।

कफप्रकोप के कारण—

स्वप्नाद्दिवा मधुरशीतल मत्स्यमांसै' गुर्वम्लपिच्छलतिलेक्षुपयोविकारैः ।
स्निग्धाति तृप्ति लवणोदक पानतक्रै श्लेष्माप्रकोपमुपयाति तथा वसते ॥

दिन में सोने, मधुर, शीतल रस वाले मत्स्य मांसो से भारी अम्ल, अभिष्यन्दी, तिल, गुड शर्करा, स्निग्ध, अति संतर्पण, लवणोदक, तक्रपानादि से तथा वसंत ऋतु मे कफ को प्रकोप होता है ।

वातप्रकोप के कार्य—

हृत्पार्श्व सकोचनतोदशूला सामत्वमंगेष्वविचेष्ट भगा ।
सुप्तत्वशीतत्वखरत्वशोफा कर्माणिवायोः प्रवदन्ति तज्ज्ञा. ॥

हृत्शूल, तोद, सकोच, पार्श्वशूल, तोद, सकोच, अंगो में आमलक्षण, चेष्टाओ मे कमी, अगो में सुप्तता, शीतता, खरता, शोफ आदि वायु के कर्म कहे गये हैं ।

पित्तप्रकोप के कार्य—

परिश्रमस्वेद विदाह रोगा विगन्ध्यविक्लेद विपाक कोपा ।
प्रलापमूर्च्छा भ्रमपीतताच पित्तस्यकर्माणि वदंति तज्ज्ञा ॥

पित के कर्म—परिश्रम, स्वेदाधिक्य, विदग्धता, सामगन्धता, क्लेदता, प्रलाप, मूर्च्छा, भ्रम, पीत वर्णता, पित्त के कर्म कहे जाते हैं ।

कफप्रकोप के कार्य—

श्वेतत्व शीतत्वगुरुत्व कडू स्निग्धोपदेह स्तिमितत्वलेपा ।
उत्सेध सघात चिरक्रयाच कफस्य कर्माणि वदन्ति तज्ज्ञा ॥

' वर्ण मे सफेद, शीत गुरु गुण वाला, देह मे लिपलिपापन, निश्चलता, उभार, चिरकतृत्व आदि कफ के कार्य कहे हैं ।

वातशामक—

स्निग्धोष्णस्थिर वृष्य बल्य लवण स्वाद्वम्ल तैलान्वितै' ।
स्नानाभ्यजनबस्ति सवाहनोन्मर्दनैः
स्नेहस्वेद निरुहनस्यशयनैः स्वेदोपनाहादिकैः
पानाहारविहारभेषजमिदं वायुप्रशान्ति नयेत् ।

स्निग्ध, उष्ण, स्थिर गुण वाले द्रव्य, वृष्य, बल्य शक्ति वाले द्रव्य, लवण, मधुर, अम्ल, रस वाले द्रव्य ।

तैलादि स्निग्ध पदार्थ—

स्नान, अभ्यग, बस्ति सवाहन, उन्मर्दन, स्नेह, स्वेद, निरुह, नस्य शयन, स्वेद, उपनाह, पान, वातप्रशान्ति करते हैं ।

रहने पर पतनशीलता, शुक्रगत वायु से सधि शोफ होते हैं। अत. वायु की स्थानसश्रया ज्ञान प्राप्त करें।

त्वग्रक्त मासमेदस्थो वायुः सिध्यति भेषजै ।
अन्ये कष्टेनसिद्धयन्ति अथवानैवसिध्यति ॥

त्वचा, रक्त, मास, मेदगत वायु औषधि चिकित्सा से ठीक हो जाता है। दूसरे स्थानो के वायु ठीक होते हैं या नही भी ठीक होते हैं।

परीक्ष्यहेत्वामय लक्षणानि चिकित्सितज्ञेन चिकित्सकेन ।
निरामदेहस्यहितेषु यानि भवन्तियुक्ताप्यमृतो पमानि ॥

चिकित्सा करने वाले वैद्य को चाहिये कि रोग के कारण, लक्षण, आमानुबन्ध आदि को समझ कर चिकित्सा मे प्रवृत्त हो जिससे उपयोग मे ली हुई औषधि अमृत के समान सिद्ध हो।

आलस्य तन्द्रा हृदयाविशुद्धि दोषाप्रवृत्तिर्वनता च मूत्रे ।
गुरुदरस्मारुचिसुप्तवानि सामान्वित व्याधिमुदाहरन्ति ॥

आम रोगी पुरुष मे आलस्य, जभाई, दिल मे भारीपन, वात, पित्त, कफ दोषो की या मलो की सम्यक् प्रेरणा न होना, मूत्र मे गदलापन, उदर गौरव, अरुचि जाड्यता आदि होने से आमव्याधि समझें।

वातप्रकोप के कारण—

सधारणाध्यशन जागरणाच्चतापै, व्यायामयान कटुतिक्तकषायरुक्षै ।
चिन्ताव्यवायभयलघनशोक शीतै वायु प्रकोपमुपयाति घनागमे च ॥

वेगरोध, भोजन करते ही या दूसरे भुक्तसमय के बीच में बार-बार भोजन करना, रात्रि-जागरण, ताप, व्यायाम, सवारी आदि से कटु, तिक्त, कषाय रस वाले रूक्ष गुण वाले द्रव्यो के चिन्ता, मैथुन, भय, लघन, शोक, शीत आदि से व वर्षाऋतु मे वायु प्रकुपित होता है।

पित्तप्रकोप के कारण—

कट्वम्ल मध्यलवणाम्लविदाहितीक्ष्णै क्रोधानलातपपरिश्रमशुष्कशाकै ।
क्षारात्यजीर्ण विषमाशनभोजनैश्च पित्तप्रकोपमुपयाति घनात्यये च ॥

कटु, अम्ल, लवणाम्ल, विदाहि तीक्ष्ण, द्रव्यो से क्रोध, अग्नि-सताप, परिश्रम शुष्क-सागोसे, क्षार, अजीर्ण, विषमाशन आदि कारणो से कार्यरूप पित्तदोष का प्रकोप होता है शरद् ऋतु मे।

कफप्रकोप के कारण—

स्वप्नाद्दिवा मधुरशीतल मत्स्यमांसैः गुर्वम्लपिच्छलतिलेक्षुपयोविकारैः ।
स्निग्धाति तृप्ति लवणोदक पानतक्रै श्लेष्माप्रकोपमुपयाति तथा वसते ॥

दिन में सोने, मधुर, शीतल रस वाले मत्स्य मासो से भारी अम्ल, अभिष्यन्दी, तिल, गुड शर्करा, स्निग्ध, अति संतर्पण, लवणोदक, तक्रपानादि से तथा वसत ऋतु मे कफ का प्रकोप होता है ।

वातप्रकोप के कार्य—

हृत्पार्श्व सकोचनतोदशूला सामत्वमंगेष्वविचेष्ट मगाः ।
सुप्तत्वशीतत्वखरत्वशोफा कर्माणिवायोः प्रवदन्ति तज्ज्ञा ॥

हृत्शूल, तोद, सकोच, पार्श्वशूल, तोद, सकोच, अंगो में आमलक्षण, चेष्टाओ मे कमो, अगो मे सुप्तता, शीतता, खरता, शोफ आदि वायु के कर्म कहे गये हैं ।

पित्तप्रकोप के कार्य—

परिश्रमस्वेद विदाह रोगा विगन्ध्यविक्लेद विपाक कोपा ।
प्रलापमूर्च्छा भ्रमपीतताच पित्तस्यकर्माणि वदति तज्ज्ञा ॥

पित के कर्म—परिश्रम, स्वेदाधिक्य, विदग्धता, सामगन्धता, क्लेदता, प्रलाप, मूर्च्छा, भ्रम, पीत वर्णता, पित्त के कर्म कहे जाते हैं ।

कफप्रकोप के कार्य—

श्वेतत्व शीतत्वगुरुत्व कंडू स्निग्धोपदेह स्तिमितत्वलेपा ।
उत्सेध सघात चिरक्रयाच कफस्य कर्माणि वदन्ति तज्ज्ञा ॥

वर्ण मे सफेद, शीत गुरु गुण वाला, देह मे लिपलिपापन, निश्चलता, उभार, चिरक्रतृत्व आदि कफ के कार्य कहे हैं ।

वातशामक—

स्निग्धोष्णस्थिर वृष्य बल्य लवण स्वाद्वम्ल तैलान्वितैः ।
स्नानाभ्यजनबस्ति सवाहनोन्मर्दनैः
स्नेहस्वेद निरुहनस्यशयनैः स्वेदोपनाहादिकैः
पानाहारविहारभेषजमिदं वायुप्रशान्ति नयेत् ।

स्निग्ध, उष्ण, स्थिर गुण वाले द्रव्य, वृष्य, बल्य शक्ति वाले द्रव्य, लवण, मधुर, अम्ल, रस वाले द्रव्य ।

तैलादि स्निग्ध पदार्थ—

स्नान, अभ्यग, बस्ति सवाहन, उन्मर्दन, स्नेह, स्वेद, निरुह, नस्य शयन, स्वेद, उपनाह, पान, वातप्रशान्ति करते है ।

पित्तशामक—

तिक्त स्वादुकषाय शीतपवन छाया निशाव्यजनम्।
ज्योत्स्नाभूगृहवारियन्त्र जलज स्त्रीगात्रसस्पर्शनम्।
सर्पिक्षीर विरेक सेकरुधिर स्रावो प्रदेहाविकम्।
पानाहारविहारभेषजमिद पित्तप्रशान्ति नयेत् ॥

तिक्त, मधुर, कषाय आदि रस शीत वायु, शीत छाया, शीत रात्रि, व्यजन (लक्षण) घी, दूध आदि पदार्थ, विरेचन, रक्तस्राव, शीतसेक, प्रलेप, चिकित्साक्रम उपरोक्त पित्त को शान्त करने वाले उपक्रम हैं।

कफशामक—

रुक्ष क्षार कषाय तिक्त कटुक व्यायामनिष्ठीवनम्।
स्त्रीसेवाहनि युद्ध जागरजल क्रीडापदाघातनम्।
धूम नस्य शिरोविरेकवमन स्वेदोपवासादिकम्।
पानाहारविहारभेषजमिद श्लेष्मारण सुप्र जयेत् ॥

रुक्ष—

कषाय, तिक्त, कटुक क्षार, व्यायाम, थूकना, व्यवाय, राह चलना, लडाई लडना, जल-क्रीडाऐ, कुश्ती, धूम्र, (तीक्ष्ण) नस्य तीक्ष्ण, शिरोविरेचन, वमन, स्वेदन, लघनादि उपक्रम कफ को शान्त करते हैं।

हेमन्त वर्षाशिशिरेषु वायो पित्तस्य वर्षाति निदाघयोश्च।
कफस्य कोप कुसुमागमे च कुर्वीत यत्न विधीवित् विधिज्ञं ॥

हेमन्त, वर्षा, शिशिर ऋतु मे वायुशामक, ग्रीष्म, शरद् ऋतु मे पित्तशामक, बसन्त ऋतु मे कफशामक उपक्रम करे।

ज्वराभिभूत॰ षडह्ने व्यतीते विपक्वदोष कृत लघनानि।
योभेषज वैद्यवर॰ प्रयुङ्क्ते नि सशयहन्त्यचिरेण रोगात् ॥

ज्वर रोगी को छः दिन लघन करा के छः दिन बीत जाने पर जो वैद्य औषध उपयोग करता है वह शीघ्र ही उस रोगी को स्वस्थ कर देता है।

ज्वर के असाध्य लक्षण

यस्ताम्यति स्वपिति शीत लगात्रयष्टि,
अतर्विदाह सहित स्मरणादपेतः।
सश्वासक. द्रवति रामचय सशूलं,
न वर्जयोद्भिषग्ज्वरलक्षणातम् ॥

ज्वर-पीडित रोगी मे छटपटाहट, देह का शीताग हो कर पडा रहना तथा अन्तर्दाह-

युक्त स्मरणशक्ति का निकल जाना, उर्ध्व श्वास हो जाना, शूल लक्षणो के साथ आम सचय वाले बीमार की चिकित्सा न करे।

राजयक्ष्मा का स्वरूप (मन्त्री मण्डल)—

कासश्वासौ पुरोगौ दुरतिगमतमा' व्याधिरष्टौत्रयोघा।
शोषो उर्व्वैरपिच गुरुतरो यस्य योपित् विशूची॥
मन्त्री मदाग्निरुग्र सहजसहचरास्तेत्रिदोषा शरीषा।
तृष्णा वाताधिरुढं हृदयभुविनृणा राजते राजरोग॥

राजयक्ष्मा का अर्थ होता रोग राट् राजा की उपाधि की विशेपता वताते हुए कवि वर्णन करता है कि इसके आगे चलने वाले हैं कास व श्वास तथा वडी मुश्किल से ठीक होने वाले आठ हैं इसके योद्धा, तथा शोष है इसका गुरु तथा उसकी स्त्री है विशूची तथा मन्त्री है मन्दाग्नि, स्वाभाविक मित्र है त्रिदोष, तृष्णा व वायु की सवारी पर चढा हुआ क्षय रोग मनुष्यो के हृदय पर राज्य करता है।

आम—

अजीर्णाद्यो रसोजातः सचितोहिक्रमेणनै।
आमसज्ञा स लभते शिरोगात्ररु जाकर.॥

अजीर्ण आहार से जो रस होता है उसका क्रम से सचय होने से आम कहलाता है। इसके लक्षण हैं शिर, गात्र मे पीडाऐं होना।

योषापस्मार—

अदक्ष पुरुषोत्पन्न' सपत्नीविहितस्तथा।
दैवाज्जातस्तृतीयश्च चतुर्थ सूतिकागदात्॥

(अर्थ) उपरोक्त पद्य में हिस्टीरिया के चार कारण बताये है। पहला अदक्ष पुरुषोत्पन्न। यह रोग प्राय. स्त्रियो मे होता है तथा उसका प्रथम कारण उनकी मानसिक विचारसरणी को समझने मे अदक्ष होते है ऐसी कोमल कमनीयाओ मे हो जाता है, अत इसका प्रथम कारण हुआ पुरुष की नासमझी, दूसरा कारण बताया है सपत्नी विहित, इसका अभिप्राय यह हुआ कि ईर्ष्या आदि मानसिक उद्वेगो से तथा तीसरा कारण है दैव याने भाग्य आदि से अर्थात् पूर्वजन्म में कृत कर्मो के फलोपभोग से, चतुर्थ है सूतिका रोग, प्रसूति के पश्चात् की निबलता में इस प्रकार योषापस्मार के ४ कारण बताये हैं।

आसप्त रात्रात्तरुण ज्वर माहुर्मनीषिण।
मध्य चतुर्दशाह तु पुराणमथचोत्तरम्॥

सात दिन तक ज्वर सज्ञा को तरुण ज्वर कहते हैं। चवदह दिन तक के ज्वर तथा इसके बाद के ज्वर को पुराण ज्वर कहते हैं।

आम ज्वरस्यालिङ्गानि न द द्यात त्रभेषजम् ।

आम ज्वर के लक्षणो मे औषधि न दे ।

तृष्णा गरीयस घोरा सद्य प्राणविनाशिनी ।
तस्माद्देय तृषार्ताय पानीय प्राणधारणम् ।।

तृष्णा बडी भयकर होने से शीघ्र प्राणो को नष्ट करती है, अत प्यासे को प्राण-धारक जल दे ।

भेषज ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयतिज्वरम् ।
पाययेद्दोषहरण मोहादाय ज्वरे तृप. ।।

आमदोष मे औषधि देने से फिर ज्वर तीव्र हो जाता है । जो व्यक्ति अज्ञान से आम ज्वर मे दोषहरण औषधि पिलाता है—

प्रसुप्त कृष्णसर्पं तु कराग्रेण परामृशेत् ।

वह सोये हुए काले सर्प को अपने हाथ से छूता है ।

अपक्वमलसपात कुवैद्य· कुरुते यदि ।
तदा कष्टमवाप्नोति रोगी प्राण विनाशनम् ।।

जो कुवैद्य कच्चे मल को बाहर निकालने का प्रयत्न करता है तो रोगी के लिए कष्ट या मृत्युदायक हो जाता है ।

पचमिरपक्व च सुपक्व सप्तमे दिने ।
तस्मिन्नवदिनेवैद्यो पातयेद्रोगिणोमलम् ।।

५ दिनो तक ज्वर अपक्व तथा सातवे दिन सुपक्व । उस दिन के बाद रोगी के मल का शोधन करे ।

औषधिकाल—

प्रातरेवोपयुजीत भेषज सर्वदा बुधै. ।
साधारणो विधिस्त्वष विशेषस्तु निगद्यते ।।

वैद्य को औषधि-प्रयोग प्रात·काल करना चाहिए क्योकि यह विधान औषधि-प्रयोग का साधारण कहा है ।

समया पचविज्ञेया नृणामौषधिभक्षणे ।
भास्करस्योदये जाते दिवसाहारकर्मणि ।
तथा सायत नाहार निशिचापि मुहुर्मुहु· ।

औषधि लेने के ५ समय होते हैं—प्रात काल, प्रात कालीन भोजन के समय, साय-कालीन भोजन के समय, रात्रि मे बार-बार, इस प्रकार ५ औषधि समय हैं ।

पित्तेकफे च कुपिते विरेकाय प्रशस्यते।
वमनाय च भैषज्य प्रभाते लेखनाय च।
एव स्यात्प्रथमोकाल भैषज्यग्रहणे नन्दणाम्।

पित्त-प्रकोप, कफ-प्रकोप, विरेचन, वमन, लेखन के लिये औषधि प्रात काल दे। यह प्रयोग का मुख्य व प्रथम काल है।

मध्याह्ने भोजनस्यादौ ग्रासे रुचिकरं सह।
अरुचौ भेषजग्राह्य रुच्य वन्हिकर च यत् ॥

मध्यान्ह में भोजन से पूर्व, अरुचि आदि रोगो में रुचिकर ग्रास बनाकर दी जाय।

आहारे चार्द्धसयुक्ते भेषज ग्राहयेद्भिषग्।
समाने मारुतोद्रेके मदाग्नौ चाग्निदीपनम् ॥

समान वायु की प्रकोपावस्था से हुई मदाग्नि में अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए आहार के आधे प्रयोग के बाद औषधि प्रयोग करे।

दद्याद्भोजनमध्ये नु भैषज्य कुशलो भिषग्।
व्यानकोपेच भैषज्य भोजनाते समाहरेत् ॥

व्यानवायु प्रकोप मे भी भोजन के मध्य में भोजन के बाद औपधि प्रयोग करे।

कपाक्षेपक हिक्कासु प्रागतेचौषधभजेत्।
एव द्वितीयकालस्य प्रोक्तो भैषज्यकर्मणि ॥

वातकप, आक्षेपक, हिक्का में औषधि भोजन के पूर्व तथा भोजन के अत में दें। इस प्रकार द्वितीय औषधिकाल के बारे का वर्णन हुआ।

साय भुक्तौ प्रतिग्रासमुदान कुपिते मले।
आहारे भैषज प्राज्ञ स्वरभगादिकारिणि ॥

उदानवायु के कुपित होने पर सायकालीन भोजन के प्रतिग्रास मे औषधि का प्रयोग करें जैसे स्वरभग आदि मे।

क्रुद्धे प्राणेपि साव्यस्य भोजनाते प्रशस्यते।
औषध प्रायशो पंथं प्राणा स्वस्थकर परम् ॥

प्राणवायु के प्रकोप मे भोजन के बाद औषधि प्रयोग किया जाता है।

हिक्का छर्दि तृषा श्वासः रोगेषुच मुहु मुहुः।
अन्नेन सहित ग्राह्य भेषज सर्वदा बुधै ॥

हिक्का, छर्दि, तृष्णा, श्वास रोगो मे अन्न के साथ या बार-बार औषधि प्रयोग करे।

पाचन शमनं चोर्द्धजत्रुदोषेषु भेषजम्।
प्रदोष निशि तद्ग्राह्य बृहणयच्च लेखनम् ॥

उर्ध्वजत्रुगतरोगो मे पाचन, शमन, वृ हृण आदि औषधियें रात्रि मे प्रयोग करे

औषधिग्रहणेचैव पचकाला: प्रकीर्तिता ।
प्रात काल भवेच्छ्रेष्ठो तेषु साधारण: मत ।।

इस प्रकार औषधि लेने के जो पाच समय हैं उनमे प्रात.काल का समय सर्व-श्रेष्ठ कहलाता है ।

इति श्री तपागच्छे उपाध्याय कवि हस्ति रुचि विरचितो वैद्यवल्लभो नाम ग्रन्थः समाप्तः ।

पूज्यपाद चिकित्सकसम्राट्, आयुर्वेदमार्तण्ड, प्राणाचार्य, वैद्यावतंस, महोपाध्याय, राजमान्य राजवैद्य पंडित
श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक महोदय द्वारा लिखित्

केन्सर (Cancer) (अर्बुद) रोग एवं चिकित्सा

किंचिच्चात्रविलिख्यते

श्री गणेश नमस्कृत्य ध्यात्वा धन्वन्तरि तथा
अर्बुद व्याधिज्ञानाय।

आज केन्सर कहा जाने वाला रोग प्राचीन काल मे बहुत कम देखने मे आता था, या उस समय के सीमित साधनो तथा सम्पर्क की न्यूनता से कम दृष्टिगोचर होता था, परन्तु यह सत्य है कि त्रिकालदर्शी अमित अध्यवसायी श्रमशील आप्तपुरुषो की दृष्टि से यह तिरोहित नही रहा। यदि इस रोग का शब्दार्थ जैसे कि आजकल बताया जाता है असाध्य या अरिष्ट अवस्था। इन्हे उन-उन विशिष्ट व्याधियो की अवस्था रूप मे या स्वतन्त्र रूप से यत्र-तत्र वर्णन उपलब्ध होता है, क्योकि विभिन्न वर्गीकरण के आधार पर नानाभेदक कारणो से उत्पन्न सख्या करने योग्य परिगणित रोगो को असख्य भी अन्य प्रकार से कह सकते हैं। यह अवश्य है कि प्राचीन वाङ्मय सूत्र रूप मे तथा यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। यह भी सही है कि इस रोग की अवस्थाए पुराने समय से ज्ञात व चिकित्सित रही है इसमे दो राय नही हो सकती, तथा असाध्यता के प्रति चिन्तित नही होना यह उनकी स्पष्ट घोषणा भी रही है। इस रोग की कृच्छ्र-साध्यता व असाध्यता को देखते हुए यद्यपि सूत्ररूपीय वर्णन पर्याप्त नही कहा जा सकता फिर भी उसकी विशदता सबके सामने है। आर्षग्रन्थो के बाद के आचार्य भी इसके लिए मौन नही हैं साथ ही आजभी भारत के विशिष्ट चिकित्सक इसकी अवस्था को समझ कर सफल चिकित्सा कर रहे हैं, परन्तु आज के समय आधुनिक चिकित्सा की श्री-वृद्धि व चकाचौध के सामने प्रायः गतानुगतिक हो कर अन्त मे किंकर्तव्य-विमूढ बन कर असहाय हो जाते हैं। कारण कि प्रतिपतिज्ञ चिकित्सक ही विशेषास्थितियो को समझ कर रोगी के प्राण बचाते हुए यशस्वी हो सकता है।

यह रोग वृद्धावस्था मे होने वाला रोग है यह भी धारणा बदलती जा रही है, कारण कि स्वास्थ्य व सचार का दृष्टि से जैसे आज का जगत प्रगति कर रहा है ठीक इसी तरह यह रोग भी १४ वर्ष के नवयुवक कुमारो मे भी देखा जाने लगा है। यह अवश्य है कि निदान विषयक परिस्थिति बहुत कुछ प्रत्यक्ष कर ली गई है, क्योकि बायोप्सी के द्वारा

तन्तुओ या कोषाणुओ को प्रत्यक्ष कर इसकी निर्णायकता बहुत-कुछ सुधरी हुई कही जा सकती है।

कैन्सर का पर्यायवाची शब्द है 'कर्कट' या केकडा। यह शब्द ग्रीक भाषा के कार्सिनोस से बनता है जिसका अर्थ होता है—कर्कट। कर्कट शब्द सस्कृत के कर्क से बना हुआ है। उदाहरण के तौर पर सूर्य के राशि-चक्र की चतुर्थ राशि को कर्कट कहते हैं जिसे पाश्चात्य ज्योतिष-शास्त्री कैन्सर कह कर सबोधित करते हैं। भू-मण्डल पर कल्पित अक्षाश रेखाओ मे से भूमध्य रेखा के उत्तर मे २३ २८ वाली अक्षाश रेखा को सस्कृत मे 'कर्क रेखा' जिसे कि 'ट्रोपिक ऑफ कैन्सर' कहा जाता है। यह अपने नजदीक के धातु मे कर्कट के सदृश आसन जमा लेता है। इसीलिए इस प्रकार के अर्बुद को कैन्सर या हिन्दी मे कर्कटार्बुद कहा जाता है।

कर्कट शब्द की व्युत्पत्ति २ धातुओ से है—(१) कृञ् हिंसायाम्, (२) कटे वर्षावरणयोः। इसका अर्थ होता है—देह के आवरण धातु का नाश करना, या शरीर के पोष्य तत्वो का नाश करता हुआ जिस अवयव या अग मे इसकी स्थिति हो रही है उस अवयव मे छा जाना होता है। इस तरह उन अवयवो से होता हुआ निकटस्थ मर्म भाग या शरीर के रन्ध्रो के कार्य मे बाधा डाल कर घातक बन जाता है।

अर्बुद शब्द के कई अर्थ किए जा सकते हैं। अर बुन्दति इस व्युत्पत्ति से अरं से अत्यधिक बुन्दति अर्थात् दिखाई देना, स्पष्टतया इस व्युत्पत्ति से उभार वाले (उत्सेधलक्षण) गुण की ओर सकेत होता है।

अर्बुद का अर्थ १०० करोड भी है जो कि सख्येयाग्र न होने से असख्य कोषाणुओ की उत्पत्ति उस प्रदेश मे हो जाती है की व्यजना होती है।

अर्बुदोमासकी लेऽस्त्री पुरुषो दशकोटिषु (र. को)

अरिवत् बुन्दति की व्युत्पत्ति से शत्रु की तरह का व्यवहार होना, प्रकट होता है।

अर्बगतो धातु को मूल माना जाय तो भी इसका अर्थ वृद्धि स्वभाव वाला विकार होता है।

उपरोक्त व्युत्पत्तियो से इसके मुख्यतया तीन अर्थ बनते हैं—उत्सेध, वृद्धिशीलता, तथा घातकता—ये ही तीनो रोग के गुण अपितु मनुष्य या रोगी के लिए दुर्गुण इसमे पाये जाते हैं।

अर्बुद की परिभाषा

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषा समूर्च्छिता मासमसृक्-प्रदूष्य।
वृत्तास्थिर मन्दरुज महान्तमनल्पमूलचिरवृद्धयपाकम्।
कुर्वन्ति मासोपचय तु शोफ तमर्बुद शास्त्रविदो वदन्ति। सु नि ११-१३-१४

उपरोक्त सूत्र मे अर्बुद को समझाने के लिए कई विशेषण दिए हैं। इन विशेषणो का भाष्य आधुनिक विकृति विज्ञान को देखने से समझने मे और सुविधाए मिल सकती है जैसे कि अर्बुद के अर्थ मे असख्य प्रसरणशीलता रूढि है उसी को उपरिलिखित लक्षणो मे मूल प्रक्रिया वृद्धि कहा है। अर्बुद की वृद्धि ऐसी है कि वह देह के लिए उपयोगी न हो कर प्रत्युत अपकारी तथा घातक सिद्ध होती है। यह वृद्धि इस प्रकार क्यो सिद्ध होती है ? प्रकृति का अर्थ है—साम्यता। जब तक दोष धातु मल की अपने-अपने प्रमाण मे उचितता रहती है तब उस देह को स्वस्थ या प्रकृतिस्थ कहते हैं। परन्तु जब किसी भी स्थान मे इसमे विषमता होती है तो विकृति बनना प्रारम्भ हो जाती है। यह वृद्धि व ह्रास से होती है। अर्बुद रोग की ह्रास न वृद्धि होती है जो अति विचित्र है। अभिप्राय यह कि अर्बुद के रूप मे स्थानीय तन्तु की जो अतिवृद्धि होती है वह अनुपयोगी तथा बहुधा घातक होती है। यह अर्बुद की प्रधान विशेषता है कि इसमे कोषाणुओ तथा तन्तुओ की रचना जो कि देह मे रहने वाले कोषाणुओ की रचना से कुछ वैषम्य रख कर शरीर का अथवा यो कहिए कि शरीर के तन्तुओ का पोषण खा कर केवल अपने आप बढते रहते हैं। इस प्रकार शरीर के किसी भी एक प्रदेश मे पैदा होने वाली अनुपयोगी शोफ या अनियन्त्रित बढोत रूपी एक नवीन रचना वाले तन्तु-समूह को अर्बुद कहा जाता है। इस तरह अर्बुद स्वयं पुष्ट होता जाता है तथा शने २ दिन प्रतिदिन पोषण के अभाव से क्षय होता जाता है।

रोगाश्चोत्सेध सामान्यादधिमासार्बुदादयः। च. सू. १८-३३

चरक सहिता मे इस रोग को त्रिशोथीय अध्याय मे सकेत किया है, जिसे सामान्य लक्षण उत्सेध बताया गया है। जिसे सुश्रुत ने शोफ कहा है वह आधुनिक इन्फ्लेमेशन (Inflamation) से सर्वथा भिन्न स्वेलिंग (Swelling) होता है क्योकि इन्फ्लेमेशन मे शोफ के अतिरिक्त 'वेदना', 'तापाधिक्य' तथा 'सरम्भ' रहते हैं जबकि इसमे ये तीनो लक्षण नही होते। इसीलिए इस रोग मे चिरवृद्धि तथा अपाकम् अर्थात् जीर्णवृद्धि तथा पाकाभाव रहता है। तथा इस वृद्धि से बनने वाला स्राव शरीर के लिए अनुपयोगी तथा हितकर नही होता। यह सत्य है कि इस वृद्धि के कोषो से भी एक प्रकार का स्राव होता है। यदि यह वृद्धि महास्रोत के ऊपर के भाग के समीप मे है तो यह स्राव मुंह से निकलता रहता है तथा अधोभाग मे होने से गुदादि छिद्रो द्वारा एक प्रकार का सान्द्र लवण-स्राव निकलता रहता है। तथा स्वय अपने मौलिक तन्तुओ पर ही परिपुष्ट की तरह बढता रहता है। साधारण अर्बुद अतिरिक्त पिण्ड वाले अनुपयोगी तन्तु द्वारा देह के पोषण पदार्थ को चूसता रहता है तथा अजगर की तरह काम कुछ भी नही करता। यदि इस तरह देह मे एक ओर पड़ा रहे तो शरीर को कृश व क्षीण बनाता रहता है, परन्तु इन्ही का स्थान किसी मर्म प्रदेश मे हो या प्रमाण मे इतना बढ जाय कि जीवनोपयोगी क्रियाओ मे बाधा अथवा पोष्य पदार्थो को

अति त्वरा से क्षीनता रहे तो घातक हो जाता है या कुछ प्रकृति से ही घातक होते हैं जिनके कि बारे मे आगे बताया जाएगा। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अर्बुद इन्फ्लेमेशन से विशिष्ट उत्सेध लक्षण वाला अनुपयोगी वृद्धि वाला शोफ है। इसके लिए नी ओप्लेसिया (Neoplasia) जिसका कि अर्थ इस प्रकार है।

(1) Formation of new tissue.

(2) Formation of new tumours or neoplasms.

Neoplasms=Any new growth, usually applied to a tumour an abradant new growth.

इसका अर्थ है किसी नए तन्तुओ का निर्माण, अथवा नवीन वृद्धि या अर्बुद का निर्माण। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे कोई उपयुक्त निर्माण की प्रक्रिया तो नही होती परन्तु अनियन्त्रित वृद्धि होती रहती है। इसे नियन्त्रित करने वाले उपाय गवेषणा या अनुसन्धान के विषय बने हुए हैं।

अन्त शरीरे मासासृगाविशान्तियदा मला·।
तदा सजायते ग्रन्थि गभीरस्थः सुदारुण। च सू अ १७

यह अन्तःशरीर मे होने वाली ग्रन्थि के बारे मे आचार्य का सकेत है। इसमे दोष मलरूप बन शरीर मे नवीन विकृति का निर्माण करते हैं।

वायु का मार्ग जब श्लेष्मा के द्वारा रुक जाता है तब उसी श्लेष्मा का अनेक प्रकार से विभेद कर कफाशय मे इसकी प्रारम्भिक रचना हो जाती है।

अर्बुद स्वरूप—

यह एक ऐसा रोग है जिसमे शरीर के किसी की एक अग की आवृत्ति मे वृद्धि हो कर परिवर्धन आरम्भ होता है। जिसमे ये विशेषतायें बताई गई हैं।

वृत्ताकारता, स्थिरता, मन्द वेदना, विशालता, महामूलता, चिरवृद्धि, अपाकशीलता, मासोपचय और शोफरुपता। अर्बुद का पर्यायवाची शब्द Tumor, Tumour ट्यूमर जिसका अर्थ है उत्सेध या सूजना जिस तरह बुद्बुद की आकृति गोल २ उभार के रूप मे है उसी तरह अर्बुद भी शोफात्मक उभार है। शरीर का अन्तिम अवयव जो सूक्ष्म परमाणु-स्वरूप होता है उसीमे विकृति प्रारम्भ होती है। किसी भी धातु मे साधारणतया जो वृद्धि होती है वह सेल्स कोशाणु के विभाजन से सख्या वृद्धि से होती है। परन्तु उनकी आकृति जिनकी कि एक सीमा होती है उतनी ही रहती है। इस सीमा का कभी अतिक्रमण नही होता। साथ ही सेल्स के विभाजित से तथा सख्या दृष्टि से जो वृद्धि होती है उसकी भी एक सीमा है। तथा इस बढोत या वृद्धि मे कोशाणु मे रहने वाले अन्त परिवर्तन (Enygmes) कारणभूत होते हैं। तथा इनका नियन्त्रण कोशाणु मे रहने वाले जीन्स (Genes) जो कि

क्रोमोसोम Chromo some या पित्र्य सूत्रो मे रहते हैं द्वारा होता है तथा इस अन्तःपरिवर्तन करने वाला डिसाक्सोरीबो न्यूक्लिक एसिड Desoxyribo Nucleic Acid (D N A.) नामक रहता है जो अर्बुद का कारण है ऐसा अनुमान है।

इस अन्तपरिवर्तन द्रव्य से कोशाणु अपने आकार प्रकार मे बढने लगता है तथा वृद्धि निरतर चालू रहती है, साथ ही अपने पडोस के कोशाणुओ के पोषक पदार्थ को हडपता रहता है। इस तरह इसके निकट के कोशाणु पोषणाभाव से नष्ट होते रहते हैं तथा ये कोशाणु स्वय पुष्ट होते रहते हैं व बढते जाते हैं। इस प्रकार की वृद्धि दूसरे अन्य रोगो मे होकर कालातर मे पुनः प्राकृत स्वरूप मे आ जाती है परन्तु इस रोग में पुनरावर्तन नही होता। विकृति विज्ञानविद् इसकी तुलना गर्भशरीर के कोशाणु से करते हैं कारण दोनो मे शीघ्र गति से वृद्धि होने की साम्यता पाई जाती है। परन्तु गर्भ कोशाणु अपनी विशिष्ट मर्यादा तक आकर रुक जाते हैं किन्तु केन्सर या अर्बुद के कोशाणु मे वृद्धि चालू रहती है। तथा ये अपनी शक्ति आकार बढाने मे लगाते हैं तथा और कुछ करते नही।

प्रत्येक कोशाणु मे प्रायः २ कार्य होते हैं (१) शर्करा का दहन। (२) श्वसन इसमे से दूसरा कार्य तो केन्सर कोशाणु करते नही परन्तु अपनी पुष्टि के लिये इन्हें पोषण पदार्थ की आवश्यकता रहती है जिसे वह प्रचुर मात्रा मे समीपस्थ कोशाणु से ग्रहण करता है तथा समीपस्थ कोशाणुओ को भी अपने ही स्वभाव परिवर्तित करता है। इस तरह यह एक दृढ दुर्ग बना लेता है, जिसकी यदि उचित चिकित्सा हो तो ये लीनावस्था मे रहते हैं परन्तु अनुकूल अवस्था मे पुनः बढने प्रारम्भ होते हैं। यहा मासोपचय या मास सघात से मांसतन्तु की इसमे अतिवृद्धि होती है। स्थिर जो इसका स्वरूप है वह साधारण अर्बुदो का है। जिन साधारण अर्बुदो मे सौत्रिक तन्तुओ का आवरण बन कर उन बढी हुई वृद्धि के चारो ओर एक घेरा हो जाता है परन्तु घातक या कर्कटार्बुद मे जिनमे कि इनकी वृद्धि इतनी शीघ्र गति से होती है कि उन पर आवरक कचुक नही बन पाता तथा केकडे के पजो की तरह इसकी आकृति चारो ओर फैली रहती है। परन्तु स्थिर शब्द से यही ज्ञात होता है कि वृद्धि करते हुए अर्बुद के चारो ओर घेरा पड जाने से यह स्थिर होकर पडा रहता है। इनका प्रमाण बडा तथा इनका मूल भी विशाल होता है तथा इन साधारण अर्बुदो मे वृद्धि का क्रम धीरे २ होता है और पाक नही होता। यह पकने या पूय पडने की स्थिति नही होती। यह प्रक्रिया बिना पित्त के नही होती अपितु इनमे कफ दोष तथा मेदोधातु की विशेषता से दोष स्थिर तथा अर्बुद की स्थिति ग्रथित होकर पड़ी रहती है। अर्बुद की स्वाभाविक विशेषता है अपाकता।

न पाक मायान्ति कफाधिकत्वान्मेदो बहुत्वाच्च विशेषतस्तु।
दोषस्थिर त्वाद्ग्रथनाच्च तेषा सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु॥

सु नि. ११-२१

यह एक प्रकार के अर्बुद के रूप मे उत्पन्न हो कालातर मे इसके पृष्ठ पर बहुत अकुर पैदा हो जाते हैं, जिससे इसकी आकृति महामूल गोभी के फूल के सदृश छोटा या बडा होता है।।

अर्बुद परिचय

जिस प्रकार आधुनिक विज्ञान मे इसकी घातकता तथा साधारणता का वर्णन पहिले बताया गया है इससे इस रोग को समझने मे बडी सहायता प्राप्त होती है। क्योकि आज कहा जाने वाला "केन्सर" नाम जिसके कि बहुत लक्षण इससे मेल खाते हैं। फिर भी समय २ पर विद्रधि, वल्मीक आदि जिनके बारे मे सम्भावना की जाती है। यद्यपि विद्रधि का पाक होता है, तथा यह शीघ्रकारी रोग है जब कि अर्बुद चिरकाली है, तथा विद्रधि मे पाक होता है जब कि अर्बुदो मे पाक नही होता।

न पाक मायान्ति कफाधिक त्वन्मेदो बहुत्वच्च विशेष तस्तु।
दोषास्थिर त्वाद्ग्रथना च्चतेषा सर्वार्बुदान्येव निसर्ग तस्तु।।

इससे अर्बुदो का पाक न होना यह स्वभावसिद्ध लक्षण है। अर्बुद शरीर के मासल स्थानो पर २०-४० वर्षों तक स्थिर तथा न पकने वाले देखे गये हैं।

जब तक केवल मात्र उत्सेध लक्षण तथा वृद्धि की प्रक्रिया है तथा इसके चारो ओर आवरण है या आवरण नही है तो इसकी सज्ञा अर्बुद कहलाती है।

अर्बुद के असाध्य लक्षणो मे "सप्रस्रु त मर्मणियच्च जातम्" कह कर यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि जिस समय अर्बुद कोशिकाओ मे बनने वाला स्रावका अर्बुद मे क्षत होकर स्राव होने लगता है तो यह रोग असाध्य हो जाता है। साथ ही केन्सर का पर्याय-वाची शब्द होता है--कर्कट या केकडा--इस प्राणी के शरीर की अपेक्षा इसके पजे लम्बे तथा बलवान् होते है ठीक इसी प्रकार जब अर्बुद की आकृति की समानता हो तो इसकी सज्ञा जैसे कि कर्करार्बुद या केन्सर सार्थक हो जाती है। सभी अर्बुद एक स्थिति मे नही होते। इसकी पार्थक्यता स्पष्ट लक्षणो मे जानी जा सकती है।

जब निरतर यह वृद्धि क्षय रूप प्रक्रिया अर्थात् अर्बुद कोशाणुओ को निरन्तर बढोत तथा देहस्थ धातुओ का क्षय होता हो गया तो यह वृद्धि जिसमे क्षत हो गया है उस अवयव या प्रदेश के माससिरा स्नायुतन्तुओ को खाते रहते हैं जिससे भीतर ही भीतर रिक्त स्थान तथा चारो ओर अर्बुद कोशाणुओ का जाल बिछ जाता है। इस प्रकार उस अर्बुद की आकृति वल्मीक की आकृति को बन जाती है।

मुखैरनेकै स्रु तितोदवद्भि· विसर्पवत्सर्पति चोन्नताग्रै
वल्मीकमाहुर्भिषजो विकार निष्प्रत्यनीक चिरज विशेषात्।
तोदक्लेद परीदाह कण्डूमद्भिर्व्रणैर्वृत.।
व्याधिर्वल्मीक इत्येष कफपित्तनिलोद्भव॥ सु. नि. अ. १३

जिसमे अनेक स्रोतो वाहिनिये बन जाती है तथा शीघ्र प्रसरणशील हो जाता है, अर्थात् अर्बुद की इस अवस्था मे शीघ्र व दूर २ तक के धातुओ मे दोषो की गति पहुच जाती है अतः इस अवस्था मे अर्बुद को वल्मीकार्बुद कहा जाता है।

कारण

कफ प्रधाना कुर्वन्ति मेदो मासास्रगाः मला' ।
वृत्तोन्नत य श्वयथु स ग्रन्थी ग्रंथनात्स्मृत ।
महत्त् ग्रान्थितोऽर्बुदम्–अ. ६–२९–१–१४

ग्रथि की विधि सम्प्राप्ति वात, पित्त, कफ, रक्त, मास, मेद, अस्थि, सिराज, व्रणज से ९ प्रकार की बताई है। जब कि अर्बुद को वात, पित्त, रक्त, मास और मेद हेतुभेद से ६ प्रकार का बताया है। सारे ही अर्बुदो मे मेद तथा कफ दोष की अधिकता रहती है जिसका कि परिणाम अर्बुद की स्थिरता तथा अपाकशीलता है।

गम्भीर वात रोगिणामर्बुद प्रादुर्भाव इतिलेकिन् यह भी ऐकान्तिक सत्यता नही हो सकती तथा इस रोग के ये ही विशिष्ट हेतु हैं इसके बारे मे भी दृढता से नही कहा जा सकता, फिर भी सामान्य कारणो के विचार मे जैसा कि शास्त्रज्ञ प्रतिपादित करते हैं वह विचार्य है।

आयुर्वेद के दृष्टिकोण से इस रोग का सामान्य कारण कफ-दोष है, तथा मुख्य दूष्य है मेदत तथा इनमे जिस २ विशेष स्थान पर विकृति स्थान सश्रय करती है उसी उसी विशिष्ट नाम से सबोधित किया जाता है। आचार्य चरक ने इसे शोथ रोगो मे परिगणित किया है, क्योकि इसमे उत्सेध सामान्य लक्षण रहती ही है। उत्सेध लिंग श्वयथुं वदन्ति,। निज व आगन्तुज दो प्रकार के शोथ भेदो को सर्वांगज, अर्द्धांगज, तथा अवयवाश्रित, नाम से ३ उपभेद कहे हैं। इस रोग के निज तथा आगन्तुज दोनो ही कारण हो सकते हैं निज कारण जैसे उपरिनिर्दिष्ट कफ व मेद की दुष्टी आभ्यन्तर विकृति सभवत D. N. A. डिसाक्सरीबो न्यूक्लिक एसिड (Desoxyribo Nuclic acid) तथा आगन्तुज जैसे कि मासार्बुद की उत्पत्ति के लिये आचार्य ने बताया है।

मुष्टि प्रहारादिभिरर्दि तेंडगे मास प्रदुस्टं जनयेद्धि शोथम्। सु नि ११

उपरोक्त पद्य मे मासार्बुद के कारण मुष्टिप्रहार, या मुष्टिप्रहारजन्य अग मे अर्दित होकर मास दुष्टि हो जाना (शोथरूपबनना) इस प्रकार से इसके कारणो के बारे मे कुछ विचार किया गया है। तथा इसकी भयानकता को परिलक्षित कर इसकी जानकारी के लिये अनेक सस्थाऐ बनी, सर्वप्रथम जर्मन शरीर विकृति विज्ञान के विशेषज्ञ वार चाऊ ने इस रोग का कारण किसी स्थान पर बराबर क्षोम Brritation बना रहना माना है इसके लिये उदाहरण देते हुए जैसे काश्मीर प्रदेश मे जहा कि शीताधिक्य रहता है, शीत

से बचने के लिये वहा के निवासी जलते हुए कोयलो को सिगडी मे डाल कर पेट पर बाधते हैं, इन कोयलो के लगातार सेक से पेट के नीचे की त्वचा झुलस जाती है, तथा बहुधा उस स्थान मे केन्सर रोग बन जाता है। इसी तरह मिट्टी से बने तम्बाखू पीने के पाइपो के बराबर होठ पर रखे रहने से ओष्टार्बुद पाये गये हैं। इसी तरह कारखानो की चिमनियें साफ करने वाले व्यक्तियो मे जिनको कि अडकोष की त्वचा मे लगातार काजल लगने से तथा सघर्षजन्य क्षोभ से अर्बुद होना पाया गया है। हिलते दातो का निरन्तर घर्षण, तथा कभी २ दात के उत्पाटन से दतार्बुद तथा धूम्रपान के अत्युपयोग से जनित क्षोभ भी अर्बुदो की उत्पत्ति मे सामान्य कारण होते पाये जाते हैं।

ई० सन् १८८० मे कौनहिम नामक विद्वान् ने यह सुझाव दिया कि अर्बुद रोग के कारण तन्तुओ Tissues मे भ्रूणावस्था के अवशेषो का रह जाना (आदि बल प्रवृत्ति) है इसीसे मलाशय जिव्हा, तथा लम्बी अस्थियो के सिरो मे पैदा होने वाले अर्बुद बनते हैं।

ई० सन् १९०० मे इसके निम्न कारणो पर प्रकाश डाला गया—

(१)-निरतर क्षोभ,

(२)- रासायनिक पदार्थ (आर्सेनिक, टार आदि के प्रयोगो से)।

(३) वायरस (विषाणु)।

ये अनुमानगम्य जीवाणु हैं जो अतिसूक्ष्म होने से किसी भी यन्त्र से देखे नही जा सके हैं। इसके लिये रुग्णका रक्त लेकर फिल्टर पेपर से छान लिया जाय, तथा स्वस्थ प्राणियो मे ऊपर छनने से बचे द्रव्य तथा छने हुए द्रव्यो की सूची बना कर देने पर यदि ऊपर के द्रव्य का कोई अनिष्ट परिणाम न हो तथा नीचे के द्रव्य के सूची-वेध से यदि रोगोत्पत्ति बन जाय तो यह सिद्ध हो जाता है कि अणुवीक्षण से भी नही दिखाई देने वाला कोई चेतन द्रव्य है जो रोगोत्पादक बनता है उसे वैज्ञानिक भाषा मे वायरस नाम से सबोधित किया जाता है।

(४) विकिरण Radiation

(५) अधिक हारमोनी का उपयोग।

इस तरह साधारण हेतु का विचार, जन्मजात, अन्त स्रावो का उत्तेजन तथा वाइरस ३ प्रकार से किया जाता है।

शास्त्रज्ञो का यह भी कहना है कि यह रोग माता-पिता द्वारा (सहज) भी हो सकता है तथा नही भी होता, आयु की दृष्टि से यह प्राय. वृद्धावस्था मे देखा जाता है, तथा आहार की दृष्टि से पीत नवनीत yellow butter का चूहो पर प्रयोग करने से इस रोग की उत्पत्ति चूहो मे देखी जा सकती है।

रशियन शास्त्री कोभ्रान्स्की का मन्तव्य है कि यह रोग सक्रामक नही है। इस रोग से पीडित रोगियो की सेवा करने वाले परिचारको मे यह नही होता, न ही इसका प्रसार जनपदोध्वस के रूप मे कभी हुआ।

आयुर्वेद मत से इस रोग की गणना कर्मज व्याधियो मे की जा सकती है। क्योकि इसका निदान अल्प तथा विहार महान् होता है।

इसी प्रकार गुद प्रदेश के अर्बुद के लिये विरेचन के कल्पो मे 'फिनाप्थे लीन' नामक द्रव्य जो कि पेट्रोलियम से निकाला जाता है की भी सभावना हो सकती है। तथा गर्भाशय के अर्बुदो का कारण इन दिनो मे प्रयोग किये जाने वाले लूप भी बन रहे हैं।

कभी २ व्रण या तिल की परिणति भी अर्बुद के रूप मे हो जाती है।

इस प्रकार तथा अन्य भी कई कारण हो सकते हैं परन्तु आयुर्वेद मत से मुख्य कर्म कारण है क्योकि इस रोग की भयानकता के समकक्ष किसी विशेष कारण की निश्चिति नही।

मधुर रस के अति योग से होने वाले रोगो मे अर्बुद नाम आया है।

> स एव गुणोऽपि एक एव अत्यर्थं मासेव्यमानो कासश्वा।
> अर्बुद श्लीपद बस्तिगुदोपलेपाभिष्यन्द प्रभृतीञ्जनयति। सु. सू ४२-१०

यद्यपि मधुर रस का उपयोग धातुवर्धन तथा बलकृत् है फिर भी इसके अति उपयोग से अर्बुदादि रोगो को पैदा करने वाला होता है।

सप्राप्ति

> गात्र प्रदेशेक्वचिदेवदोषा. संमूर्च्छिताः मासम सृक्प्रदूष्य।
> वृत्त स्थिर मन्दरुज महान्तमनल्पमूल चिरवृद्धयपाकम्।
> कुर्वन्तिमासोपचयतु शोफ तदर्बुद शास्त्रविदो वदन्ति।

मेद और मास तथा रक्त मे पहुचे कफ प्रधान दोष गोल और उठी हुई गाठ के समान ग्रथित शोथ को ग्रन्थि तथा यही महान् होने पर अर्बुद कहलाती है। ऐसा हृदयकार ने सकेत किया है। यह पहिले कहा जा चुका है कि इसकी गणना अवयवाश्रित शोथ मे की है। इसका कोई निश्चित स्थान नही है चाहे शरीर का बाह्य प्रदेश या अत' प्रदेश मे कफ प्रधान दोष बढकर मासोपचय रूप वृद्धि करते हैं। कफ का मन्द गुण से यह रोग चिरकारी होता है, तथा बिना पित्त के ससर्ग से अपाकी रहता है, तथा अश्मोपमम् से कफ का गुरुत्व गुण की दुष्टि बताता है। साथ ही अर्बुद का यदि स्राव हो तो कफयुक्त क्लेद दुर्गन्ध वाला, पिच्छिल, (घृतवसामज्जावत्) तथा स्थिरता इस प्रकार इसमे स्नेह, शौक्ल्य, गौरव, स्थैर्य पैच्छिल्य, इन कफ के आत्मरूपो से श्वैत्य, स्थैर्य, गौरव, स्नेह, सुप्ति, क्लेद उपदेह, चिरकारित्व श्लेष्म विकार कर्मो की अभिव्याप्ति पायी जाती है।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि दोष सम क्षीण या वृद्ध सभी दशाओ मे सब स्रोतो में वहन करते हैं। वृद्धि के समय जिस अवयव मे इनका स्थान सश्रय विशेष प्रमाण मे हुआ करता है उसमे रोग के लक्षण सविशेष व्यक्त होते हैं।

केन्सर की उत्पत्ति या इति कर्त्तव्यता के बारे मे रौस आदि ने यह विचार रखा कि यह रोग दो प्रकार की प्रक्रिया से होता है।

(१) शरीर के कोषाणु ही रहस्यमय रूप से अर्बुद कोषाणुओ के रूप मे परिवर्तित हो जाते हैं। (२) उत्तेजक या क्षुब्ध कारणो से असली केन्सर के कोषाणुओ मे बन जाते हैं। इनमे पहिले कारणो को प्रारम्भकर्त्ता Initiator और दूसरी अवस्था पैदा करने वाले कारण वृद्धिकर्त्ता Promoter कहते हैं जैसे कारणो मे तारकोल आदि रसायन पदार्थ कारण बताये हैं, यदि तारकोल का प्रयोग खरगोश की त्वचा पर किया जाय तो कुछ दिनो पश्चात् वहा मस्से पैदा हो जाते है। और धोरे २ ये दबने लगते हैं। किन्तु फिर उस स्थान पर तारकोल को लगाया जाय तो ये पुनः बढने लगते हैं।

सामान्यतया प्रकृति का नियम है कि कोषाणु अपनी सीमा मे रहे। यदि किसी एक सस्थान तन्तुओ Tissues को निकाल कर दूसरे सस्थान तन्तुओ मे लगा दिये जाय तो कुछ दिन बाद वे तन्तु जिस सस्थान मे लगाये गये है उसके अनुरूप बन जाते हैं इससे यह नियम बनता है कि प्रत्येक कोषाणु अपनी सीमा मे रहें और दूसरो को अपनी ओर न बढने दें। इस प्रकार की शक्ति प्रत्येक कोषाणु मे रहती है। यह भी निश्चित सिद्धान्त है कि अनुकूल परिस्थितियो मे कोषाणु वृद्धि होना स्वाभाविक प्रवृति है। तथा एक अवरोधक प्रक्रिया के द्वारा नियन्त्रण भी होता रहता है। कोशिकाएे अपने अन्दर से Self marker स्वयचिन्हक अणु बाहिर फेंकती रहती है जिससे कि समीपस्थ कोषाणु अपनी विशेषता प्रकट करते हैं जिससे पास मे रहने वाली कोषिकाऐं उन्हे पहिचान कर उनका स्थान नही लेती। लेकिन जहा का भाग निकाला गया है उस रिक्त हुए स्थान में कोशिकाऐं बढ कर उस स्थान को घेर लेती हैं। जैसा कि भग्न या व्रण आदि स्थितियो में होता है।

यहा यह शका पैदा हो सकती है कि जब अर्बुदादि रोगो मे निम्न प्रकार की कोशिकाऐं पैदा होती है उस समय ये उन्हें क्यो नही नष्ट कर देती—उत्तर आयुर्वेद का सहज सात्म्यत्व है। इसके लिये विचार किया जाता है कि प्रत्येक कोषिका मे विशेष प्रकार के तत्व Antigens रहते हैं जो विरोधी से नष्ट होने से बचाते रहते है। अर्बुद की उत्पत्ति के समय ऐसी सुरक्षात्मक प्रक्रियाऐं काम नही करती है। तथा विजातीय समझ कर इन कोशिकाओ को बाहर निकालने का प्रयत्न करती है, तथा अनुकूल उत्तेजना पाकर ये बढते रहते है और अर्बुद का रूप धारण कर लेते है।

अर्बुद के स्थान विशेष का कोई निश्चित नियम नही है जैसे इग्लेण्ड मे गर्भाशय

तथा स्तन के अर्बुद के रोगी विशेष मिलते है, हॉलेण्ड तथा इटली, जापान मे आमाशय अर्बुद के रोगी विशेष प्राप्त होते है। भारत मे प्राय: सभी प्रकार के रोगी पाये जाते है।

वैषम्यगमन पुनर्धातूनां वृद्धि ह्रासगमनमकात्स्न्र्येन प्रकृत्या च।
यदा ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेश विनाशवा प्राप्नोति।

च शा अ. ६-४

जब शरीर में धातुऐं विषमता को प्राप्त होती हैं तब यह शरीर क्लेश या विनाश को प्राप्त होता है। धातुओ का वैषम्य होने का तात्पर्य धातुओ के बढने घटने से है। यह धातुओ का बढना घटना आंशिक रूप मे या प्रकृति से होता है। यहा वैषम्य गमन से तात्पर्य विषम अवस्था से है। इसलिये स्वभाव से ही धातुओ की विषमता रोगकारक नही मानी जाती। धातुओ का वृद्धि ह्रास होना ही वैषम्य माना जाता है। इसमे धातुओ की एकदेशोय वृद्धि एव ह्रास अभिप्रेत है, जिससे कि क्लेश अथवा विनाश परिणाम होता है वृद्धि व ह्रास के साथ जब तक उस २ धातु का विकार कारित्व दिखाई न दे तब तक वैषम्यगमन शब्द का प्रयोग शुद्ध नही और रोगोत्पत्ति दोपवृद्धि की अवस्था मे उस २ प्रदेश मे हुआ करतो है।

यौगपद्येन तु विरोधीना धातूना वृद्धि ह्रासौ भवत.

विरोधी धातुओ का वृद्धि व ह्रास एक साथ होते हैं। शरीर मे जो एकदेशीय वृद्धि एव क्षय होता है वह वैषम्य है वृद्ध कोशाणु भी अपनी वृद्धि के लिये समीप के कोशाणु का पोषण खेंच लेता है इससे उनमे ह्रस होता है इस प्रकार जो वैषम्य होता है वह समयोपरात दोष, दूष्य, निदान व स्थान विशेष के अनुसार अपने लक्षणो वाला रोग पैदा करता है। यह रोग कोशाणु वृद्धि का रोग है। प्रत्येक कोशाणु मे प्राय: २ कर्म होते हैं, (१) द्राक्षोज का विघटन Glycolysis, (२) श्वसन Respiration अर्बुद कोशाणु मे दूसरा कार्य नही होता, अपने बढने वाले आकार प्रकार के लिये पोषक तत्वो की आवश्यकता रहती है, और ये तत्व प्रचुर मात्रा मे लेता रहता है और समीपस्थ कोशाणु इनके Amino acids के अभाव मे मर जाते हे या इन्ही कोशाणुओ में घुस कर अपने सदृश बना लेते हैं। इस प्रकार ये कोशाणु अपना दुर्ग बना लेते हैं तथा अपने समान परम्परा का निर्माण करता है। ठीक चिकित्सा से यह स्थिति लीनावस्था में रहती है, फिर अनुकूलावस्था पाकर फिर बढने शुरू होते हैं। आयुर्वेदीय परिभाषा के अनुसार अर्बुद शरीर के किसी एक भाग में उत्पन्न हो सकता है और उस रचना सम्बन्ध या सादृश्य किसी भो तन्तु से सभव है। अर्बुद स्थानीय तन्तु व समग्र शरीर से पोषण छीन कर पनपता रहता है। अर्बुद के कोशाणु भी स्थानीय मधुकोषाकृति (acinar) में अवकाश बनाते हैं तथा उनसे श्लेष्मा का स्राव करते हैं। परन्तु उस स्राव से शरीर को कोई लाभ नही पहुचता। मूल

अवयव के समान अर्बुद से हार्मोनो की भी उत्पत्ति होती है, परन्तु ऐसे अर्बुद कम होते हैं और उनके ये प्रभाव हार्मोनो की अत्यधिक उत्पत्ति के कारण होते हैं। और इनके ये प्रभाव देह के लिये लाभप्रद या उपयोगी नही होते। अत इन्हे शरीर समीपस्थ छिद्र द्वारा बाहिर निकालने का प्रयत्न करता है। घातक स्थिति मे इनकी वृद्धि बराबर होती रहती है इससे देहतन्तुओ का क्षय होता रहता है और इसी स्थिति से प्राणी की इहलीला समाप्त हो जाती है।

पूर्वरूपः—

महत्तु ग्रन्थितोऽर्बुदम् ॥ अ० हृ० उ० २९

इसकी पूर्वरूपावस्था ग्रन्थि है। ग्रन्थि की स्थिति इतना मात्र ही पूर्वरूप की अभिव्यक्ति है साथ ही सप्राप्ति मे बताए गए दोषो की वृद्धिक्षय से देह मे होने वाले धातुओ की वृद्धि व क्षय के लक्षणो से इसकी प्रारम्भिक अवस्था का अनुमान किया जा सकता है। क्योकि इस रोग की रूपावस्था कृच्छ्साध्यता उत्पन्न कर देती है। इसलिए ग्रन्थि अवस्था मे ही ग्रन्थि के भेदो के अनुसार सुज्ञ चिकित्सक को विचार करना चाहिये।

बढा हुआ मास गलगण्ड अर्बुद, ग्रन्थि, गिलटिया, ऊरूवृद्धि, उदरवृद्धि, कण्ठ मे, तालु मे, जिह्वा मे अधिमास पैदा करता है।

क्षय हुआ मास इन्द्रियो मे दुर्बलता, गण्ड और नितम्ब मे शुष्कता, तथा सन्धियो मे वेदना पैदा करता है। बढा हुआ मेद– मास की तरह गण्डमाला, अर्बुद, ग्रन्थि तथा थोडे से परिश्रम से भी थकान एव श्वास होते हैं तथा नितम्ब स्तन उदर लटकने लगते हैं। मेद के क्षीण होने पर कटि मे स्पर्शज्ञान का नाश प्लीहा की वृद्धि और अगो मे कृशता होती है। अस्थिवृद्धि मे अधिक अस्थि व अधिक दात अर्बुद के रूप मे पैदा होते हैं।

अस्थि क्षीण होने पर अस्थियो मे वेदना, और दन्त, केश, नख, आदि गिरने लगते हैं।

मज्जा वृद्धि में नेत्र और दूसरे अगो मे भारीपन तथा पर्व सन्धियो के मूल मे स्थूलता तथा देह मे कष्टसाध्य फोडे होने लगते हैं।

मज्जा क्षय मे अस्थियो मे खोखलापन चक्कर आना व आखो के सामने अधेरा होता है। रक्तवृद्धि मे विसर्प, प्लीहारोग, विद्रधि, कुष्ठ, वातरक्त, गुल्म, उपकुश, कामला, व्यग, अग्निनाश, मूर्च्छा, त्वचा, मूत्र तथा आखो मे लालिमा होती है। रक्तक्षय मे अम्लरस तथा ठडी वस्तुओ मे रुचि, शिराओ की शिथिलता Low blood presser और रूक्षता होती है।

रस वृद्धि मे मास अग्निमाद्य, लालास्राव, आलस्य, भारीपन, श्वेतवर्णता, शिथि-

लता, शीतलता व श्वास कास व निद्राधिक्य रहता है। रस क्षय मे, शरीर मे रुक्षता, थकान, शोष, ग्लानि व शब्द सुनने मे असहिष्णुता होती है।

रूप.—

वृत्त स्थिरं मन्दरुज महान्त मनल्पमूल चिरवृद्धय पाकम्।
कुर्वन्ति मासोपचय तु शोफ तदर्बुद शास्त्रविदो वदन्ति।

गोलाकृति मे स्थिर रहने वाला साधारण पीडा कर महन्त तथा गम्भीर मूलवाले शनै शनैर्वर्द्धन स्वभावी, पाकरहित, मास सघात युक्त शोफ को अर्बुद कहते हैं।

वातज अर्बुद—

आयम्यते व्यथ्यत एतितोद प्रत्यस्यते कृत्यतएति भेदम्।
कृष्णोऽमृदुर्बस्ति रिवाततश्च भिन्न-स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम्।

जिस अर्बुद मे ग्रन्थि को अन्दर से चौडा कर रहा है, (आयमन) व्यथा की स्थिति चलती रहती है, (तुदन) सुई की सी पीडाऐ, फेंकी जा रही है, या काट रहा है, या भेदन कर रहा है— अर्बुद का वर्ण कृष्ण, स्पर्श मे कठोर, भरे हुए मूत्राशय के समान तथा कदाचित् फूटने पर केवल रक्तस्राव होता है।

पित्तज अर्बुद—

बन्दह्यते धूप्यति चोषवाश्च पापच्यते प्रज्वलतीव चापि।
रक्तः सपीतोप्यथवाऽपि पित्ताद्भिन्नः स्रवे दुष्णम तीव चास्रम्।

जिस अर्बुद मे जलन, अतिशय सन्ताप, या चोषण तथा पचन स्वभाव, इसके साथ २ भीतर से प्रज्वलन, वर्ण मे लाल या पीला तथा फूटने पर अत्यन्त गर्म रक्त अति मात्रा मे स्रुत होता है।

कफज अर्बुद—

शीतोऽविवर्णो ऽल्परुजोऽतिकण्डू पाषाणवत्संहन नोपपन्न।
चिराभिवृद्धिश्च कफ प्रकोपाद्भिन्न स्रवेच्छुक्ल घन च पूयम्।

स्पर्श में शीत तथा विकृत रग और थोडी पीडा करने वाला, अत्यन्त जिसमे खुजली हो तथा जिसका सगठन पत्थर की तरह कठोर तथा देरी से बढीत तथा इससे होने वाला स्राव श्वेत तथा चिक्कण पूय आती है।

दोषप्रदुष्टो रुधिरसिरास्तु सपीड्यसंकोच्य गतस्तु पाकम्
सास्राव मुन्नह्यति मासपिण्ड मासाङ्कुरैराचित माशुवृद्धिम्।
स्रवत्यजस्र रुधिर प्रदुष्टमसाध्यमेतद्रुधिरात्मक तु।
रक्तक्षयोपद्रव पीडितत्वात्पाण्डुर्भवेदर्बुद पीडितस्तु।

दोष रक्त द्वारा रक्तवाहिनियो में स्थान सश्रय करने पर स्राव के साथ मसा-

पिण्ड को बाध लेता है जो चारो ओर मास के अकुरो से युक्त शीघ्रवर्धनशील होता है, इस अर्बुद में से निरन्तर रक्त स्राव होता रहता है इसलिए इसे असाध्य माना जाता है । इस प्रकार सतत रक्त स्राव से इस रोगी को पाण्डु हो जाता है ।

अवेदन स्निग्ध मनन्यवर्णं मपाक मश्मोपममप्रचाल्यम् ।
प्रदुष्ट गात्रस्य नरस्य गाढमेतद्भवेन्मास परायणस्य ।
मासाबुंद त्वेतदसाध्यमुक्तम् ।

अब मासाबुंद के लक्षण बताये जाते हैं कि इसमें पीडा नही होती, ये त्वचा के रग वाले चिकने तथा पत्थर के समान ठोस तथा हिलाने पर नही चलाए जा सकते तथा स्पर्श स्निग्ध होता है । इनकी उत्पति प्राय. दुष्ट मास वाले के तथा मासभक्षियो मे विशेष होती है तथा यह असाध्य है ।

अष्टागहृदयकार ने अपने ग्रन्थ में स्थान विशेष के अनुसार निम्न भागो के अर्बुद का विशेष विवरण वर्णन किया है । यद्यपि इसकी उत्पति गात्र के किसी भी प्रदेश में सभव हो सकती है फिर भी उन २ स्थितियो को ध्यान मे रखना भी उपयुक्त है अत· उनका सक्षिप्त विवरण निम्न है ।

जलार्बुद—

जलबुद्बुदवद्वात कफादोष्ठे जलार्बुदम्—

इसका कारण मिट्टी के पाइप का अधिक प्रयोग हो सकता है इसका प्रारम्भ उपदश-व्रण, जीर्णमुखपाक तथा स्फुटित ओष्ठ की दरार से होता है । यह ९० प्रतिशत अधरोष्ठ मे होता है । प्रारम्भ मे मस्से या गाठ की शकल बनती है इसे ही जलबुद्बुद की समानता दी है फिर इसके किनारे बाहर की ओर मुड जाते हैं । और व्रण बडा हो जाता है, अधोहनु के नीचे की लसिका ग्रन्थिया बढी हुई प्रतीत होती हैं । इस तरह वात कफ दोष की इसमे दुष्टी रहती है ।

गलार्बुद—

जिह्वावसाने कण्ठादावपाक श्वयथुर्मला. ।
जनयन्ति स्थिर रक्त नीरुजतद्गलार्बुदम् ।

जीभ में:— जीभ के बाहिर के किनारे पर उसके ⅓ भाग मे होता है, इसके भी कारण जलार्बुद वाले कारण हो सकते हैं । यह शल्काभ कोषाणुओ से पैदा होता है । जिसमे लालास्राव बहुत होता है तथा वेदना कान की तरफ जाती हुई अनुभव होती है जिह्वा को बाहिर निकालने तथा ग्रासनिगिरण मे कष्ट होता है, मुख से दुर्गन्ध के साथ ग्रीवा की लसीका ग्रन्थिया बढ जाती हैं । इसमे श्वासनली के अवरोध से या रक्तस्राव से तथा आहार की पूर्ण मात्रा न जाने से निर्बलता हो कर मृत्यु हो जाती है ।

इसी तरह कण्ठादी से अन्न प्रणाली मे होता है। जिसके कारण अत्यधिक उष्ण आहार से होता है, इससे अन्न प्रणाली मे रुकावट, कास तथा पीड़ा जिस २ स्थान पर अर्बुद का प्रसार हुआ है होती रहती है। इसका व्रण जब श्वास प्रणाली मे फूट जाता है तो मृत्यु हो जाती है।

नेत्रार्बुद—

वर्त्मान्तर्मा सपिण्डाभ. श्वयथुर्ग्रथितोऽरुज ।
सास्रैः स्यादर्बुदो दोषैर्विषमो बाह्यतश्चल. ।

यह आख के अन्दर के रगीन पर्दों का अर्बुद है इससे आख की दृष्टि शक्ति जाती रहती है। इसके भाग रक्त के साथ यकृत् मे पहुँच कर वहा नया अर्बुद बना लेते हैं। रक्त मिश्रित दोषो द्वारा पलको मे मासपिण्ड के आकार का शोथ हो अर्बुद हो जाता है।

कर्णार्बुद—

शाफोऽर्शोर्बुद मीरितम् ।
तेषुरुक्पूतिकर्णत्वं बधिरत्व च बाधते ।

इसमे शोथ, रुजा, कर्णपूय तथा कर्णेन्द्रिय की कार्य शक्ति नष्ट हो जाने से बाधिर्य हो जाता है।

नासार्बुद—

सर्वेषु कृच्छ्रोच्छ्वसन पीनस. प्रतत क्षुति ।
सानुनासिकवादित्वपूतिनाश शिरोव्यथा।

नासार्बुद में कठिनाई से श्वास आना, पीनस निरन्तर छीक आना, नाक से बोलना, पूतिनासा, और शिर में पीडा आदि लक्षण होते हैं।

आमाशयार्बुद—

आमाशय की श्लैष्मिक कला मे ग्रथिया होती हैं जो कई प्रकार के स्राव निर्माण करती हैं। उनमे मुख्यतया लवणाम्ल को बनाने वाली है।

अर्बुद की उत्पत्ति उन्ही कोषो में होती है जिनसे कि स्राव निकलता है। इनमें भी एक स्राव निकल कर अर्बुद मे प्रवेश करता रहता है जिससे इसकी आकृति चपड़ी के समान अर्धस्वच्छ पिण्ड मे हो जाती है। यह रोग स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे अधिक होता है। प्राय इसके होने मे पुरुषो की आयु ४० से ६० वर्ष तक की है।

इसकी उत्पत्ति स्वस्थ आमाशय में नही होती परन्तु असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम रोगो के सामान्य कारण के अनुसार जिह्वातिलोल्य से अत्यधिक मद्य, गर्ममसाले आदि तीक्ष्ण द्रव्य व गरम चाय, काफी आदि का प्रयोग करने वालो मे आमाशय की श्लैष्मिक कला में निरतर क्षोभ होता है। और कालान्तर से अर्बुद

पिण्ड को बाध लेता है जो चारो ओर मांस के अकुरो से युक्त शीघ्रवर्धनशील होता है, इस अर्बुद मे से निरन्तर रक्त स्राव होता रहता है इसलिए इसे असाध्य माना जाता है । इस प्रकार सतत रक्त स्राव से इस रोगी को पाण्डु हो जाता हैं ।

> अवेदन स्निग्ध मनन्यवर्णं मपाक मश्मोपममप्रचाल्यम् ।
> प्रदुष्ट गात्रस्य नरस्य गाढमेतद्भवेन्मास परायणस्य ।
> मासार्बुद त्वेतदसाध्यमुक्तम् ।

अब मासार्बुद के लक्षण बताये जाते हैं कि इसमें पीडा नही होती, ये त्वचा के रग वाले चिकने तथा पत्थर के समान ठोस तथा हिलाने पर नही चलाए जा सकते तथा स्पर्श स्निग्ध होता है । इनकी उत्पत्ति प्राय. दुष्ट मास वाले के तथा मासभक्षियो मे विशेष होती है तथा यह असाध्य है ।

अष्टागहृदयकार ने अपने ग्रन्थ मे स्थान विशेष के अनुसार निम्न भागो के अर्बुद का विशेष विवरण वर्णन किया है । यद्यपि इसकी उत्पत्ति गात्र के किसी भी प्रदेश मे सभव हो सकती है फिर भी उन २ स्थितियो को ध्यान मे रखना भी उपयुक्त है अतः उनका सक्षिप्त विवरण निम्न है।

जलार्बुद—

> जलबुद्बुदवद्वात कफादोष्ठे जलार्बुदम्—

इसका कारण मिट्टी के पाइप का अधिक प्रयोग हो सकता है इसका प्रारम्भ उपदश-व्रण, जीर्णमुखपाक तथा स्फुटित ओष्ठ की दरार से होता है । यह ९० प्रतिशत अधरोष्ठ मे होता है । प्रारम्भ मे मस्से या गाठ की शकल बनती है इसे ही जलबुद्बुद की समानता दी है फिर इसके किनारे बाहर की ओर मुड जाते हैं । और व्रण बडा हो जाता है, अधोहनु के नीचे की लसिका ग्रन्थिया बढी हुई प्रतीत होती हैं । इस तरह वात कफ दोष की इसमे दुष्टी रहती है ।

गलार्बुद—

> जिह्वावसाने कण्ठादावपाक श्वयथुर्मला. ।
> जनयन्ति स्थिर रक्त नीरुजतद्गलार्बुदम् ।

जीभ मेः— जीभ के बाहिर के किनारे पर उसके ⅔ भाग मे होता है, इसके भी कारण जलार्बुद वाले कारण हो सकते हैं । यह शल्काभ कोषाणुओ से पैदा होता है । जिसमे लालास्राव बहुत होता है तथा वेदना कान की तरफ जाती हुई अनुभव होती है जिह्वा को बाहिर निकालने तथा ग्रासनिगिरण मे कष्ट होता है, मुख से दुर्गन्ध के साथ ग्रीवा की लसीका ग्रन्थिया बढ जाती हैं । इसमे श्वासनली के अवरोध से या रक्तस्त्राव से तथा आहार की पूर्ण मात्रा न जाने से निर्बलता हो कर मृत्यु हो जाती है ।

इसी तरह कण्ठादी से अन्न प्रणाली मे होता है। जिसके कारण अत्यधिक उष्ण आहार से होता है, इससे अन्न प्रणाली मे रुकावट, कास तथा पीड़ा जिस २ स्थान पर अर्बुद का प्रसार हुआ है होती रहती है। इसका व्रण जब श्वास प्रणाली मे फूट जाता है तो मृत्यु हो जाती है।

नेत्रार्बुद—

वर्त्मान्तर्मा सपिण्डाभ. श्वयथुर्ग्रथितोऽरुज ।
सास्रै स्यादर्बुदो दोषैर्विषमो बाह्यतश्चल ।

यह आख के अन्दर के रंगीन पर्दो का अर्बुद है इससे आख की दृष्टि शक्ति जाती रहती है। इसके भाग रक्त के साथ यकृत् मे पहुँच कर वहा नया अर्बुद बना लेते हैं। रक्त मिश्रित दोषो द्वारा पलको मे मासपिण्ड के आकार का शोथ हो अर्बुद हो जाता है।

कर्णार्बुद—

शाफोऽर्शोर्बुद मीरितम् ।
तेषुरुक्पूतिकर्णत्व बधिरत्व च बाधते ।

इसमे शोथ, रुजा, कर्णपूय तथा कर्णेन्द्रिय की कार्य शक्ति नष्ट हो जाने से बाधिर्य हो जाता है।

नासार्बुद—

सर्वेषु कृच्छ्रोच्छ्वसन पीनस प्रतत क्षुति ।
सानुनासिकवादित्वपूतिनाश शिरोव्यथा।

नासार्बुद में कठिनाई से श्वास आना, पीनस निरन्तर छीक आना, नाक से बोलना, पूतिनासा, और शिर में पीड़ा आदि लक्षण होते हैं।

आमाशयार्बुद—

आमाशय की श्लैष्मिक कला मे ग्रथिया होती हैं जो कई प्रकार के स्राव निर्माण करती हैं। उनमें मुख्यतया लवणाम्ल को बनाने वाली है।

अर्बुद की उत्पत्ति उन्ही कोषों में होती है जिनसे कि स्राव निकलता है। इनमें भी एक स्राव निकल कर अर्बुद मे प्रवेश करता रहता है जिससे इसकी आकृति चपड़ी के समान अर्धस्वच्छ पिण्ड मे हो जाती है। यह रोग स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे अधिक होता है। प्राय इसके होने मे पुरुषो की आयु ४० से ६० वर्ष तक की है।

इसकी उत्पत्ति स्वस्थ आमाशय में नही होती परन्तु असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम रोगो के सामान्य कारण के अनुसार जिह्वातिलौल्य से अत्यधिक मद्य, गर्ममसाले आदि तीक्ष्ण द्रव्य व गरम चाय, काफी आदि का प्रयोग करने वालो मे आमाशय की श्लैष्मिक कला में निरतर क्षोभ होता है। और कालान्तर से अर्बुद

पिण्ड को बाध लेता है जो चारो ओर मांस के अकुरो से युक्त शीघ्रवर्धनशील होता है, इस अर्बुद में से निरन्तर रक्त स्राव होता रहता है इसलिए इसे असाध्य माना जाता है । इस प्रकार सतत रक्त स्राव से इस रोगी को पाण्डु हो जाता हैं ।

अवेदन स्निग्ध मनन्यवर्णं मपाक मश्मोपममप्रचाल्यम् ।

प्रदुष्ट गात्रस्य नरस्य गाढमेतद्भवेन्मास परायणस्य ।

मासाबुंद त्वेतदसाध्यमुक्तम् ।

अब मासार्बुद के लक्षण बताये जाते हैं कि इसमें पीड़ा नही होती, ये त्वचा के रग वाले चिकने तथा पत्थर के समान ठोस तथा हिलाने पर नही चलाए जा सकते तथा स्पर्श स्निग्ध होता हैं । इनकी उत्पति प्राय. दुष्ट मास वाले के तथा मासभक्षियो मे विशेष होती है तथा यह असाध्य है ।

अष्टागहृदयकार ने अपने ग्रन्थ में स्थान विशेष के अनुसार निम्न भागो के अर्बुद का विशेष विवरण वर्णन किया है । यद्यपि इसकी उत्पति गात्र के किसी भी प्रदेश मे सभव हो सकती है फिर भी उन २ स्थितियो को ध्यान मे रखना भी उपयुक्त है अतः उनका सक्षिप्त विवरण निम्न है

जलार्बुद—

जलबुद्बुदवद्वात कफादोष्ठे जलार्बुदम्—

इसका कारण मिट्टी के पाइप का अधिक प्रयोग हो सकता है इसका प्रारम्भ उपदश-व्रण, जीर्णमुखपाक तथा स्फुटित ओष्ठ की दरार से होता है । यह ९० प्रतिशत अधरोष्ठ मे होता है । प्रारम्भ मे मस्से या गाठ की शकल बनती है इसे ही जलबुद्बुद की समानता दी है फिर इसके किनारे बाहर की ओर मुड जाते हैं । और व्रण बडा हो जाता है, अधोहनु के नीचे की लसिका ग्रन्थिया बढी हुई प्रतीत होती हैं । इस तरह वात कफ दोष की इसमे दुष्टी रहती है ।

गलार्बुद—

जिह्वावसाने कण्ठावावपाक श्वयथुर्मला. ।

जनयन्ति स्थिर रक्त नीरुजतद्गलार्बुदम् ।

जीभ मेः— जीभ के बाहिर के किनारे पर उसके ⅓ भाग मे होता है, इसके भी कारण जलार्बुद वाले कारण हो सकते हैं । यह शल्काभ कोषाणुओ से पैदा होता है । जिसमे लालास्राव बहुत होता है तथा वेदना कान की तरफ जाती हुई अनुभव होती है जिह्वा को बाहिर निकालने तथा ग्रासनिगिरण मे कष्ट होता है, मुख से दुर्गन्ध के साथ ग्रीवा की लसीका ग्रन्थिया बढ जाती हैं । इसमे श्वासनली के अवरोध से या रक्तस्त्राव से तथा आहार की पूर्ण मात्रा न जाने से निर्बलता हो कर मृत्यु हो जाती है ।

स्वर भंग होता है जब कि अर्बुद के स्वर भेद मे पहिले गला बैठता है। तथा कालान्तर मे अर्बुद वृद्धि से ज्वर भी हो सकता है परन्तु अवरोध तथा स्वर भेद पहिले होते है।

सरक्तष्ठीवन—

यह इसकी प्रारंभिक अवस्था का लक्षण है, इससे चिकित्सक भी व्यामोहित हो जाते है तथा रासायनिक, भौतिक तथा आणुवीक्षणिक परीक्षा मे क्षय कीट की उपलब्धि न होने से साधारण औषधि देकर रोगी का समय यापन करते रहते है। तथा दतवेष्ट से रक्त आता है कहकर टाल देते हैं।

वस्तुस्थिति मे इस समय ग्रंथि मे व्रण हो जाता है तथा यह घावयुक्त व्रण शीघ्रता से बढ कर चारो ओर फैलता रहता है।

मांसांकुरवृद्धि—

प्रारंभ मे जैसा कि उपरोक्त श्लोक मे बताया गया है जीभ के नीचे श्वासप्रणाली या अन्नप्रणाली के पास मटराकार मासपिण्ड बनता है तथा धीरे धीरे चारो ओर कई मास-पिण्ड हो जाते है, इनकी वृद्धि के साथ साथ इनसे बहुत दुर्गन्धित स्राव होने लगता है।

द्वितीयावस्था—

इस अवस्था मे अर्बुद मे व्रण बन जाता है तथा रोगी के मुह से गाढी अत्यधिक लाला स्रवित होती है। कभी कभी इसमे पूय भी आने लगती है, तथा रोगी थूकते थूकते परेशान हो जाता है। भोजन करने मे अत्यन्त कठिनाई होती ह अत अशक्त होकर चारपाई पकड लेता है। पूय मिश्रित लाला स्राव से रोगी के चारो ओर अत्यन्त दुर्गन्ध फैली रहती है। शरीर मे अत्यधिक वेदना निरंतर बनी रहती है। अर्बुद में से अकुर निकल निकल कर निकटस्थ अगो को घेरते रहते है। रोगाक्रान्त स्थान के चारो ओर उत्सेध हो जाता है। इसके बढने पर धड तथा गला एक हो जाता है, तथा उस प्रदेश की क्रिया संपूर्णतया बन्द हो जाती है। तथा शोथ मे कीडा रेंगता सा प्रतीत होता है। साथ ही कफज या पित्तज ज्वर हो जाता है, रोगक्षमता का अभाव होता जाता है तथा शरीर मे रूक्षता, शुष्कता, खरत्व आदि की वृद्धि होती रहती है। वात वृद्धि के साथ वातज कास हो जाता है जिससे रात्रि मे नीद नही ले सकता तथा कास वेग मे रक्त स्राव होता है। तथा कभी २ यकृत् फुफ्फुस आदि अगो मे अध्यर्बुद की उत्पत्ति हो जाती है।

तृतीय अवस्था—

इस अवस्था मे बनी ग्रंथियो मे शीर्णता होनी प्रारंभ होती है जिससे व्रण मे से रस रक्त तथा पूय स्रुत होने लगती है। तथा रोगी का शरीर पाण्डु, तथा ग्रन्थियो के गलते रहने से गले में छिद्र भी हो जाते हैं, तथा निद्रानाश, वमन, रक्तस्राव, वाक्यावरोध, तीव्र श्वास आदि होकर रोगी मृत्यु प्राप्त करता है।

गलार्बुद—

जिह्वावसाने कण्ठादावपाक श्वयथुर्मलः
जनयन्ति स्थिर रक्त नीरूजतद्गलार्बुदम् ।

गले में कई प्रकार के अर्बुद होते हैं। प्रारम्भ मे यह धारणा थी कि यह रोग बुढापे में ही होता है। लेकिन अब छोटे बच्चो व जवानो में भी यदा कदा इससे पीडित रोगी प्राप्त होते है, यह अवश्य है कि अधिकतर इससे पीड़ित वृद्ध रोगी ही अधिक उपलब्ध होते हैं।

(१) इसकी प्रारंभिक अवस्था में बहुत से रोगी गले में कोई चीज चुभ रही है अथवा गिलन मे कुछ अवरोध की सी प्रतीति होती है—इसी अवस्था मे यदि चिकित्सा हो गई तो ठीक अन्यथा यह अवरोध बढ जाता है तथा लाला स्राव सतत होने लगता है, तथा द्रव प्राय आहार लेने की ही क्षमता रह जाती है। किन्तु शनै शनै यह भी अवस्था बन्द हो जाती है–इससे अत्यधिक दुर्बलता बढती रहती है तथा अन्त श्वास लेने मे भी अत्यधिक कठिनाई हो जाती है।

इसकी ग्रन्थि कर्णमूल के नीचे, श्वास नली के ऊपर, अन्नप्रणाली के प्रवेश मार्ग मे, मुखविवर के पश्चात् उपजिह्विका के नीचे, गलछिद्र के पार्श्व पेशियो के ऊपर प्रारम्भ मे उत्पन्न होते हैं। इनकी सख्या एक या एक से अधिक भी हो सकती है। तथा धीरे धीरे बढने लगते है। यहा तक कि यह समय दस से १५ वर्ष तक का भी हो सकता है। इस अवस्था मे कोई विशेष कष्ट रोगी के शरीर मे नही होता अत इस ओर रोगी तथा चिकित्सक दोनो की ही प्राय लापरवाही रहती है। यद्यपि दोषो का स्थान सश्रय हो चुका है परन्तु दोष अल्प होने से लीनावस्था मे रहते हुए भूय हेतु की प्रतीक्षा करते हैं। इनकी अनुकूलस्थिति प्राप्त कर वे पुन. बढने लगते हैं तथा कुछ समय मे ही अश्मोपम व अप्रचाल्य की स्थिति मे यह ग्रन्थि बन जाती है। इसी के साथ २ रोगी के शरीरस्थ धातु क्रमश शीर्ण होने लगत हैं तथा इस शीर्ण अवकाश मे वायु की वृद्धि होती रहती है। तथा गलावरोध या स्वर भद की स्थिति मे किसी भी प्रकार के कठिन पदार्थ (पार्थिव) के गिलन असभव होता जाता है। केवल तरल मय (जलीय) पदार्थ पर जीवन निर्वाह करता है अर्थात् यदि दूध के साथ थोड़ी भी दुग्धसतानिका चली जाय तो प्रबल वेग से कास होता है, तथा दोनो आंखें ऊपर की ओर तन जाती है इस तरह की महा भयानक यन्त्रणा मे रोगी अपना जीवन व्यतीत करता है।

स्वरभेद—

गले के अर्बुद मे प्राय यह लक्षण मिलता है। इसमे रोगी का गला अकस्मात् बैठ जाता है। यक्ष्माजन्य स्वर भग मे भी गला बैठता है परन्तु यक्ष्मा मे ज्वर कास के

स्वर भंग होता है जब कि अर्बुद के स्वर भेद मे पहिले गला बैठता है। तथा कालान्तर मे अर्बुद वृद्धि से ज्वर भी हो सकता है परन्तु अवरोध तथा स्वर भेद पहिले होते हैं।

सरक्तष्ठीवन—

यह इसकी प्रारंभिक अवस्था का लक्षण है, इससे चिकित्सक भी व्यामोहित हो जाते है तथा रासायनिक, भौतिक तथा आणुवीक्षणिक परीक्षा मे क्षय कीट की उपलब्धि न होने से साधारण औषधि देकर रोगी का समय यापन करते रहते है। तथा दतवेष्ट से रक्त आता है कहकर टाल देते हैं।

वस्तुस्थिति मे इस समय ग्रंथि मे व्रण हो जाता है तथा यह घावयुक्त व्रण शीघ्रता से बढ कर चारो ओर फैलता रहता है।

मांसांकुरवृद्धि—

प्रारभ मे जैसा कि उपरोक्त श्लोक मे बताया गया है जीभ के नीचे श्वासप्रणाली या अन्नप्रणाली के पास मटराकार मासपिण्ड बनता है तथा धीरे धीरे चारो ओर कई मास-पिण्ड हो जाते है, इनकी वृद्धि के साथ साथ इनसे बहुत दुर्गन्धित स्राव होने लगता है।

द्वितीयावस्था—

इस अवस्था मे अर्बुद मे व्रण बन जाता है तथा रोगी के मुह से गाढी अत्यधिक लाला स्रवित होती है। कभी कभी इसमे पूय भी आने लगती है, तथा रोगी थूकते थूकते परेशान हो जाता है। भोजन करने मे अत्यन्त कठिनाई होती है अत. अशक्त होकर चारपाई पकड लेता है। पूय मिश्रित लाला स्राव से रोगी के चारो ओर अत्यन्त दुर्गंध फैली रहती है। शरीर मे अत्यधिक वेदना निरतर बनी रहती है। अर्बुद में से अकुर निकल निकल कर निकटस्थ अगो को घेरते रहते हैं। रोगाक्रान्त स्थान के चारो ओर उत्सेध हो जाता हैं। इसके बढने पर धड तथा गला एक हो जाता है, तथा उस प्रदेश की क्रिया सपूर्णतया बन्द हो जाती है। तथा शोथ मे कीडा रेगता सा प्रतीत होता है। साथ ही कफज या पित्तज ज्वर हो जाता है, रोगक्षमता का अभाव होता जाता है तथा शरीर मे रुक्षता, गुरुता, खरत्व आदि की वृद्धि होती रहती है। वात वृद्धि के साथ वातज कास हो जाता है जिससे रात्रि मे नीद नही ले सकता तथा कास वेग मे रक्त स्राव होता है। तथा कभी २ यकृत् फुफ्फुस आदि अगो मे अध्यर्बुद की उत्पत्ति हो जाती है।

तृतीय अवस्था—

इस अवस्था मे बनी ग्रंथियो मे शीर्णता होनी प्रारभ होती है जिससे व्रण मे से रस रक्त तथा पूय स्रुत होने लगती है। तथा रोगी का शरीर पाण्डु, तथा ग्रन्थियो के गलते रहने से गले में छिद्र भी हो जाते हैं, तथा निद्रानाश, वमन, रक्तस्राव, वाक्यावरोध, तीव्र श्वास आदि होकर रोगी मृत्यु प्राप्त करता है।

गलार्बुद—

जिह्वावसाने कण्ठादावपाक श्वयथुर्मला
जनयन्ति स्थिरं रक्त नीरुजतद्गलार्बुदम् ।

गले में कई प्रकार के अर्बुद होते हैं । प्रारम्भ मे यह धारणा थी कि यह रोग बुढापे मे ही होता है । लेकिन अब छोटे बच्चो व जवानो में भी यदा कदा इससे पीडित रोगी प्राप्त होते है, यह अवश्य है कि अधिकतर इससे पीड़ित वृद्ध रोगी ही अधिक उपलब्ध होते हैं ।

(१) इसकी प्रारंभिक अवस्था में बहुत से रोगी गले में कोई चीज चुभ रही है अथवा गिलन मे कुछ अवरोध की सी प्रतीति होती है—इसी अवस्था मे यदि चिकित्सा हो गई तो ठीक अन्यथा यह अवरोध बढ जाता है तथा लाला स्राव सतत होने लगता है, तथा द्रव प्राय आहार लेने की ही क्षमता रह जाती है । किन्तु शनै शनै यह भी अवस्था बन्द हो जाती है—इससे अत्यधिक दुर्बलता बढती रहती है तथा अन्त श्वास लेने मे भी अत्यधिक कठिनाई हो जाती है ।

इसकी ग्रन्थि कर्णमूल के नीचे, श्वास नली के ऊपर, अन्नप्रणाली के प्रवेश मार्ग मे, मुखविवर के पश्चात् उपजिह्वका के नीचे, गलछिद्र के पार्श्व पेशियो के ऊपर प्रारम्भ मे उत्पन्न होते हैं । इनकी सख्या एक या एक से अधिक भी हो सकती है । तथा धीरे धीरे बढने लगते है । यहा तक कि यह समय दस से १५ वर्ष तक का भी हो सकता है । इस अवस्था मे कोई विशेष कष्ट रोगी के शरीर मे नही होता अत. इस ओर रोगी तथा चिकित्सक दोनो की ही प्राय लापरवाही रहती है । यद्यपि दोषो का स्थान सश्रय हो चुका है परन्तु दोष अल्प होने से लीनावस्था मे रहते हुए भूय हेतु की प्रतीक्षा करते हैं । इनकी अनुकूलस्थिति प्राप्त कर वे पुन बढने लगते हैं तथा कुछ समय मे ही अश्मोपम व अप्रचाल्य की स्थिति मे यह ग्रन्थि बन जाती है । इसी के साथ २ रोगी के शरीरस्थ धातु क्रमश. शीर्ण होने लगत हैं तथा इस शीर्ण अवकाश मे वायु की वृद्धि होती रहती है । तथा गलावरोध या स्वर भद की स्थिति मे किसी भी प्रकार के कठिन पदार्थ (पार्थिव) के गिलन असभव होता जाता है । केवल तरल मय (जलीय) पदार्थ पर जीवन निर्वाह करता है अर्थात् यदि दूध के साथ थोडी भी दुग्धसतानिका चली जाय तो प्रबल वेग से कास होता है, तथा दोनो आँखें ऊपर की ओर तन जाती है इस तरह की महा भयानक यन्त्रणा मे रोगी अपना जीवन व्यतीत करता है ।

स्वरभेद—

गले के अर्बुद में प्राय. यह लक्षण मिलता है । इसमे रोगी का गला अकस्मात् बैठ जाता है । यक्ष्माजन्य स्वर भग मे भी गला बैठता है परन्तु यक्ष्मा मे ज्वर कास के बाद

स्तनार्बुद—

कारण—स्तनपायी बच्चे के शिर का आघात भी कारण हो।

प्रथमावस्था—प्रारम्भ मे स्तन का कोई भी भाग प्रभावित हो सकता है जिसमें लाल होकर फूल जाता है—कभी चूचुक प्रभावित हो अन्दर प्रविष्ट हो जाता है तथा सकोच होने लगता है जिससे एक प्रकार का खिचाव होता रहता है। कभी कभो—

सक्षीरी वाप्य क्षी रोवा प्राप्य दोषा स्तनौस्त्रिया
प्रदूष्य मास रुधिर स्तनरोगायकल्पते।

दोनो स्तनो में या एक स्तन मे सिरा जाल फैल जाता है। वालविधवाओ मे इसका प्रसार शनै शनैः होता है, तथा वन्ध्या स्त्रियें इससे पीडित अधिक मिलती हैं। इसमे केवल मात्र उत्सेधलक्ष होते हैं।

द्वितीयावस्था—उत्सेध मे कठोरता होने लगती है, अधिक कठोरता से वेदना भी वढने लगती है जो रात्रि मे असह्य हो जाती है। वेदना के साथ त्वचा सरम्भ भी होने लगता है तथा स्तन विदीर्ण हो जायगा की अनुभूति होती है। इसके साथ ही वक्षस्थल अन्य ग्रथियां भी इससे आक्रान्त हो जाती हैं। प्राय. कक्षाग्रन्थियां विशेष बढ जाती हैं।

तृतीयावस्था—

अर्बुद मे क्षत होकर रक्त स्राव होना प्रारंभ हो जाता है, इसके बाद पूय व लसी का तथा अर्बुद कोषिकाओ का स्राव होने लगता है। इसके साथ ही स्तन के मासकाक्षय होना प्रारम्भ होता है। मासक्षय होने से ऊपर की चर्म सकुचित हो भीतर की ओर प्रविष्ट हो जाती है। रुग्णा अत्यधिक दुर्बल होती रहती है।

गर्भाशय अर्बुद—

इन्हे २ भागो मे विभक्त किये जा सकते है·

(क) गर्भाशय गात्र की कला से उत्पन्न होने वाला,

(ख) गर्भाशय ग्रीवा के योनिगत भाग के आवरण से उत्पन्न—

एक ही अवयव मे पैदा होने वाले इन दोनो में अतर होता है। गर्भाशय ग्रीवा का अर्बुद बहु प्रजाता में होता है कुमारियो में नही, निष्कर्ष यह भी हो सकता है कि बहुप्रसव भी ग्रीवार्बुद का एक कारण है। तथा यह ४५ से ५५ वर्ष की स्त्रियो मे ही देखा जाता है। और यह दो स्थानो में प्राय. सभव होता है। (१) ग्रीवा की श्लैष्मिक कला से (२) ग्रीवा के योनिगत भाव के शल्कीय अपिस्तर (Squamous Epithelium) से, इसमे पहिले को अत ग्रैवेयक Endcerurical तथा दूसरे प्रकार को अपिस्तरीय Epitheliomata कहते है।

(१) अन्त ग्रैवेक ५ से ७ प्रतिशत रोगियो मे उपलब्ध होता है।

जिह्वार्बुद—

ऊर्ध्वजत्रुगत रोग प्रायः कफवृद्धि से हुआ करते हैं साथ ही जिह्वा के इतस्तत: जो लालाग्रन्थियां रहती हैं उनमे एक प्रकार के पाचक स्राव का निर्माण होता है इसी दृष्टिकोण से मिथ्याहार विहार से कफ तथा पित्त दोष विकृत हो वायु के साहचर्य से जिह्वार्बुद की प्रक्रिया निर्माण करते हैं।

कारण— जीर्ण यकृत् विकार, रक्तविकृति (पित्तज या उपदशज) आमाशयिक रस मे पेप्सीन नामक प्रोटीन विश्लेषक स्राव की न्यूनता, ताम्बूल (मयजर्दे का अतिसेवन, अतिमद्यपान, आदि।

जिह्वा उदरस्थ विकृति को बताने वाला मुखगुहा स्थित दर्पण है—उदरगुहा की जीर्ण या तीव्र विकृति को यह स्पष्टतया प्रकट कर देती है इसीलिए अष्टविध परीक्षा मे इसकी परीक्षा भी एक महत्वपूर्ण परीक्षा बताई गई है। किसी भी प्रकार का उदर रोग क्यो न हो उसका सम्बन्ध जीभ से रहता ही है।

प्रारम्भ में जीभ पर एक छोटा सा अर्बुद पैदा होता है और शनै २ बढ कर जिह्वा को आक्रात कर लेता है। तथा फट कर क्षत का रूप धारण कर लेता है। जिसका परिणाम यह होता है कि जिह्वा मे छेद की स्थिति। और इसके बाद जिह्वास्तम्भ हो जाता है। साथ ही यदाकदा फूलगोभी के समान मासाकुर निकल आते हैं इस प्रकार मुख के भीतरी अवयवो को घेरता जाता है।

प्रथमावस्था—

दाह एव वेदना— अर्बुद की स्थिति मे वेदना का प्राचुर्य तथा क्षत हो जाने पर दाह विशेष होता है। रक्त स्राव, सफेद मल की या पूययुक्त स्राव की तह जम जाना, मुख मे दुर्गन्ध, निगिरण मे कष्टानुभूति।

द्वितीयावस्था—

अर्बुद के आकार मे वृद्धि तथा क्षत होने, व्रण का भीतर के अवयवो मे गम्भीर प्रवेश, फिर अर्बुद तथा क्षत मे शीर्णता होना, जिससे लाला स्रावाधिक्य, कभी २ इस स्राव मे रक्त की उपस्थिति तथा अनियमित ज्वर आदि रहते हैं तथा अर्बुद एव क्षत के गम्भीर रूप के प्रसार से निगलने की शक्ति अतिमद हो जाती है।

तृतीयावस्था—

इस समय अर्बुद अति गम्भीर रूप धारण कर लेता है जिससे सपूर्ण गलछिद्र फूल कर अर्बुदमय बन जाता है अर्थात् चारो ओर अर्बुद शिखर निकल आते हैं अत स्वर भेद, कास तथा ज्वर, रक्तस्राव तथा श्वास कष्ट तथा आहार ग्रहण न होने से दौर्बल्य बढते जाते हैं तथा रोगी के प्राणान्त हो जाते हैं।

स्तनार्बुद—

कारण—स्तनपायी बच्चे के शिर का आघात भी कारण हो।

प्रथमावस्था—प्रारम्भ मे स्तन का कोई भी भाग प्रभावित हो सकता है जिसमें लाल होकर फूल जाता है—कभी चूचुक प्रभावित हो अन्दर प्रविष्ट हो जाता है तथा सकोच होने लगता है जिससे एक प्रकार का खिचाव होता रहता है। कभी कभी—

सक्षीरी वाप्य क्षी रीवा प्राप्य दोषा स्तनौस्त्रिया
प्रदूष्य मास रुधिर स्तनरोगायकल्पते।

दोनो स्तनो में या एक स्तन मे सिरा जाल फैल जाता है। वालविधवाओ मे इसका प्रसार शनै शनैः होता है, तथा वन्ध्या स्त्रिये इससे पीडित अधिक मिलती हैं। इसमे केवल मात्र उत्सेधलक्ष होते हैं।

द्वितीयावस्था—उत्सेध मे कठोरता होने लगती है, अधिक कठोरता से वेदना भी वढने लगती है जो रात्रि में असह्य हो जाती है। वेदना के साथ त्वचा सरम्भ भी होने लगता है तथा स्तन विदीर्ण हो जायगा की अनुभूति होती है। इसके साथ ही वक्षस्थल अन्य ग्रथिया भी इससे आक्रान्त हो जाती है। प्राय कक्षाग्रन्थिया विशेष वढ जाती हैं।

तृतीयावस्था—

अर्बुद मे क्षत होकर रक्त स्राव होना प्रारंभ हो जाता है, इसके बाद पूय व लसी का तथा अर्बुद कोषिकाओ का स्राव होने लगता है। इसके साथ ही स्तन के मासकाक्षय होना प्रारम्भ होता है। मासक्षय होने से ऊपर की चर्म सकुचित हो भीतर की ओर प्रविष्ट हो जाती है। रुग्णा अत्यधिक दुर्बल होती रहती है।

गर्भाशय अर्बुद—

इन्हे २ भागो मे विभक्त किये जा सकते है·

(क) गर्भाशय गात्र की कला से उत्पन्न होने वाला,

(ख) गर्भाशय ग्रीवा के योनिगत भाग के आवरण से उत्पन्न—

एक ही अवयव में पैदा होने वाले इन दोनो में अतर होता है। गर्भाशय ग्रीवा का अर्बुद बहु प्रजाता मे होता है कुमारियो में नही, निष्कर्ष यह भी हो सकता है कि बहुप्रसव भी ग्रीवार्बुद का एक कारण है। तथा यह ४५ से ५५ वर्ष की स्त्रियो मे ही देखा जाता है। और यह दो स्थानो में प्राय. सभव होता है। (१) ग्रीवा की श्लैष्मिक कला से (२) ग्रीवा के योनिगत भाव के शल्कीय अपिस्तर (Squamous Epithelium) से, इसमें पहिले को अत ग्रैवेयक Endcervical तथा दूसरे प्रकार को अपिस्तरीय Epitheliomata कहते है।

(१) अन्त ग्रैवेक ५ से ७ प्रतिशत रोगियो मे उपलब्ध होता है।

(२) अपिस्तरीय ३ प्रकार का है। (१) फूलगोभी के समान रचना वाले (Gauli flower like) (२) गुफा के समान आकार वाले Excuualing ulcer (३) चिपटे उभरे व्रण सदृश कठिन आकृति वाले Raised flat induration–इनमे पहिले लाला वर्ण के होते हैं तथा उनसे रक्त स्राव अधिक होता है। यदि सक्रमण हो कर कोथ हो जाय तो दुर्गन्धित पूय मिश्रित रक्त का स्राव होता है। दूसरे प्रकार मे इतना अधिक स्राव नही होता तरन्तु रक्तरजित स्राव होता है।

(१) इनके प्रसार के कारण—अतिनिकट के अवयवो मे बढता हुआ समीपस्थ अगो को आक्रान्त कर लेता है।

(२) लसीका वाहिनी—अर्बुद के अणु लसीका वाहिनियो द्वारा स्रवित हो अर्बुद पैदा कर देते हैं।

(३) वपन—गर्भाशय निष्कासन शस्त्र क्रिया के बाद योनि के ऊर्ध्व भाग मे अर्बुद होने के दृष्टान्त मिलते हैं।

गर्भाशय ग्रीवार्बुद के लक्षण—

इनमे मुख्यतया ४ बातें देखने को मिलती हैं। रक्त स्राव, दुर्गन्धित स्राव, अस्वस्थता, तथा वेदना।

(१) रक्तस्राव—प्रारभ मे अनियमित रक्तस्राव होता रहता है तथा ऋतुकाल मे अति आर्तव प्रवृत्ति होती है। आर्तवनाश के बाद अर्थात् ४५ से ५० वर्ष की आयु के बाद गर्भाशय से रक्तस्राव होना अर्बुद की कोशिकाओ के विकास को प्रकट करता है।

(२) दुर्गन्धित स्राव—इसमे विशेष प्रकार की सडन की गन्ध रहती है जो कि सुश्रुत ने रजोदोष को मूत्रपुरोष गन्धी या पूतिपूयनिभ कही है।

(३) अस्वस्थता—रोग वृद्धि के साथ २ रक्ताल्पता पाण्डुता अग्निमाद्यता, मूत्रविषमयता आदि लक्षणो की बढोत होती जाती है।

(४) वेदना—अर्बुद के परिचायक लक्षणो मे मन्दरुजा बताई गई है परन्तु अर्बुद से जब उस प्रदेश मे रहने वाले वातसूत्र प्रभावित हो जाते हैं तो वेदना तथा योनिकण्डू आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

स्पर्श परीक्षा से स्पर्श करने पर रक्तस्राव बढ जाता है तथा रुग्ण प्रदेश की शीर्णता होने लगती है। तथा प्राकृत अवस्था मे गर्भाशय ग्रीवा चल होती है किन्तु अर्बुद की स्थिति मे काठिन्य (अश्मोपम) तथा स्थिर लक्षण होने से अचल हो जाती है।

गर्भाशय गात्र का अर्बुद—

गर्भाशय गात्र का अर्बुद प्राय ५० से ६५ वर्ष की अवस्था के मध्य देखा जाता

है, तथा अधिकतर उन स्त्रियो मे यह रोग मिलता है जिन्होने कभी गर्भ धारण नही किया। प्रारम्भ मे गर्भाशय की आभ्यन्तर कला मे स्थौल्य होकर ग्रथि के रूप मे पैदा होता है, फिर इसकी वृद्धि के साथ २ कला मे क्षत होकर व्रण का रूप बन जाता है। व्रण वृद्धि के अनुसार गर्भाशय का आकार बढता जाता है। तथा इसी के उपद्रवस्वरूप डिम्ब ग्रन्थियो मे, फुफ्फुस कला मे यकृत् में गर्भाशय ग्रीवा मे अर्बुद उत्पन्न हो जाते हैं।

लक्षण—

आर्तव नाश के बाद पुन आर्तक की प्रवृत्ति इसका मुख्य लक्षण है। प्रारम्भ में यह स्राव तनु तथा अल्प होता है कि रोगवृद्धि के साथ २ यह स्राव अधिक होने लगता है जिससे रुग्ण मे रक्ताल्पता आदि उपरोक्त लक्षण बढते रहते हैं।

फुफ्फुस और श्वास प्रणालीका अर्बुद—

इसके कारण धूल, धूम्राँ तथा गैसो से हुए क्षोभ से होते हैं। तथा यह उपद्रव रूप मे भी हो जाता है। यह प्राय प्रौढावस्था से वृद्धावस्था तक हो सकता है।

लक्षण—उरोरुक् कफ में रक्त का आना, कास तथा श्वास में कठिनाई होती है, रोगी दिनप्रतिदिन क्षीण होता जाता है, कफ परीक्षा से अर्बुद कोषाणुओ की उपस्थिति मिलती है।

यकृत् अर्बुद

यह उपद्रव रूप मे तथा रोग रूप मे मिलता है। यह गौर वर्ण वालो की अपेक्षा कृष्णवर्णीय पुरुषो मे अधिक मिलता है।

लक्षण—यकृत् दाई ओर पसलियो के नीचे बढने लगता है, मन्दज्वर रहता है, तथा इसके साथ प्राय जलोदर भी हो जाता है। तथा स्पर्श से पीडा प्रतीत होती है। बडी आयु मे बिना कारण से यकृत् बढ जाने पर इसकी सभावना करनी चाहिये।

पौरुष ग्रथिका अर्बुद—

यह प्राय वृद्धावस्था मे होता है। मूत्राशय से प्रारभ होने वाली मूत्र प्रणाली के प्रारभिक १ इच भाग मे ग्रन्थि होती है जिसे पौरुष ग्रथि कहते हैं।

इस ग्रन्थि की वृद्धि को अष्ठीला कहते हैं। इस ग्रथि के बढने पर उत्पन्न हुए मूत्राघात मे २० प्रतिशत इसके अर्बुद के कारण मूत्राघात होता है। यह प्राय. कठोर अर्बुद है।

लक्षण—प्रारभ मे मूत्राघात इसके बाद मूत्राकृता, अशक्ति बनी रहती है। शनैः शुक्रप्रपा तथा गवीनियो को घेर कर मूत्र प्रणाली नष्ट कर देता है। गुदा मे अगुली डाल कर परीक्षा करने पर अष्ठीला के समान ग्रथि प्रतीत होती है।

अस्थि अर्बुद

यह प्राय. जवानी मे होते हैं। प्राय. लम्बी अस्थियो के सिरे प्रभावित होते हैं। प्रारम्भ मे एक बड़ा स्थिर उभार (अश्मोपमम्, अप्रचाल्यम्) होता है जिसके ऊपर की शिराऐं फैली हुई दिखाई देती हैं। शनै शनै. फट कर व्रण का रूप धारण कर लेता है।

अर्बुद की घातकता

साध्येष्वपीमानितु वर्जयेतु सम्प्रस्तुत मर्मणिायच्च जात स्रोतस्सु व।
यच्चाभवेदचाल्यम यद्दिरबुंदच्च भवेदसाध्यम्। सु. नि ११–१९–२०

जिन अर्बुदो का स्राव होता हो तथा मर्म प्रदेश वा स्रोत मे हो तथा जिसे चलाया नही जा सकता हो अथवा जिस अर्बुद से उपद्रव रूप मे दूसरा अर्बुद हो गया हो तो असाध्य समझें। आधुनिक दृष्टिकोण से अर्बुद का अध्ययन (१) सूक्ष्म तन्तु रचना विज्ञान, तथा (२) कोशाविज्ञान से निश्चय किया जाता है।

इन्ही उपरोक्त दोनो दृष्टियो से घातक अर्बुद की विशेषताओ का वर्णन किया जाता है। जिसके अन्तः सरण पुनर्भवन, आशुवृद्धि, न्यष्टि सम्बन्धी, अघोभूति ध्रुवत्वहानि दूर प्रसार आदि विभाग किये जाते हैं।

(१) अत सरण Infiltration घातक अर्बुद का प्रसार कर्कट के पजे की तरह समीपवर्ती तन्तुओ मे फैलता है। इसके फैलने को रोकने वाला कोई आवरण इस पर नही होता।

(२) पुनर्भवन Recurrence फिर हो जाना। अर्बुदो मे शस्त्रक्रिया के बाद भी फिर हो जाने की स्थिति हो जाती है।

अशेषदोषाणि हियोऽर्बुदानि करोति तस्याशु पुनर्भवन्ति।

(३) आशुवृद्धि Rapid growth अर्बुद का शीघ्र प्रसार इसकी घातकता बताती है। कारण कि अर्बुद कोशाणुओ की बढौत अतिशीघ्र हो रही है।

(४) न्यष्टि सम्बन्धी परिवर्तन Nuclear changes—अर्बुद कोशाणुओ की न्यष्टि की बढौत हो जाती है जिससे इनकी उत्पादन क्रिया मे बढौत हो जाती है तथा कोशाम्बु की न्यूनता इससे कोशाणु क्रिया का लोप होता जाता है।

(५) अघोभूति Anaplasia निम्न कोटिका तन्तु बनना जितना निम्न कोटिका तन्तु होगा उतनी ही अधिक घातकता समझनी चाहिये।

(६) ध्रुवत्वहीनता Loss of Polarity कोषाणु अपने तन्तुओ मे निश्चित स्थिति से रहते हैं, इन स्थितियों में परिवर्तन जिन अर्बुदो में हो जाय तो घातक समझें।

(७) दूरग प्रसार–लसी वाहिनिया द्वारा दूर २ प्रदेश में प्रसार हो जाना इत्यादि लक्षण घातकता को प्रदर्शित करते है। अब साधारण व घातक अर्बुद के बारे में लिखा जाता है।

साधारण	घातक
१. ये चिर वृद्धि होने से इसके चारो ओर सौत्रिक तन्तु का कचुक बन जाता है।	१ आशु वृद्धि होने से आवरण नही बन पाता।
२. कचुक के कारण वृत्त व स्थिरम् पिण्डाकार होता है।	२. अनिश्चित आकार तथा प्रसार केकडे के पजो के समान परवर्ती तन्तुओ में फैला रहता है।
३ कचुक द्वारा मर्यादित होने से नि शेष अर्बुद को निकाल दिया जा सकता है।	३ सपूर्णतया छेदन नही हो पाता अत पुनर्भवन हो जाता है।
४. अर्बुद वृद्धि की प्रक्रिया मन्द होती है।	४ वृद्धि प्रक्रिया शीघ्रतर होती है।
५ पाक नही होता।	५ कभी कभी पाकोत्पत्ति हो जाती है।
६ एक ही अर्बुद रहता है।	६. प्रसार अत्यधिक तथा अध्यर्बुद की उत्पत्ति।
७ वृद्धि या प्रसार गुब्बारे की तरह होता है।	७. केकडे के पजे की तरह दूरवर्ती तन्तुओ में होता है।
८ व्रण नही होता है।	८ क्षत होते है।
९ मन्दरुजम् होती है।	९ पूयोत्पत्ति के समय वेदना होती है।
१० रक्तस्राव प्राय नही होता।	१० अत्यधिक रक्त स्राव होता है।
११ रोगी को पाण्डु नही होता।	११ रक्त क्षयोपद्रव पीडित स्त्वाल्पाडु र्भवे-दर्बुद पीडितस्तु।
१२ सूक्ष्मा रचना मे परिवर्तन होती है।	१२ सूक्ष्म रचना अघोभूति की होती है।
१३ अघातक।	१३ घातक।
१४. साध्य।	१४ असाध्य।

कर्कटार्बुद के लिये आधुनिको ने पीछे प्रारभ होने वाले ३ विशेषण दिये है।

(१) प्रोलीफरेरिव (२) प्रोग्रेसिव, तथा (३) पर्सिस्टेन्ट प्रोलीफरेटिव का अर्थ है कि अघोभूति के तन्तुओ का निर्माण होना—इनका आगमन कही बाहर से नही होता अपितु निज तथा आगन्तु कारणो से देहस्थ धातु का या अवयव के घटक कोषो का ही रूपान्तर होकर अर्बुद के कोषो के रूप म परिणमन हो जाता है। जिनमें यह विशेषता होती है कि अपारवेग से सख्या वृद्धि होकर उस प्रदेश के मूल कोषो को खाते जाते है इससे उस प्रदेश की आकृति तथा कार्यो का उत्तरोत्तर क्षय होता जाता है।

(२) प्रोग्रेसिव—का अर्थ है विकासशील—इस उपरोक्त बताई गई प्रक्रिया मे विकास होता जाता है—अर्थात् अभी वैज्ञानिक जगत् मे यही निर्णीत है कि रोगज विकृति एक

बार भी लुप्त हो जाय तो इस रोग की निर्णायकता ठीक नही हुई है। अभिप्राय यह कि सम्प्राप्ति का निर्माण हो जाने के बाद यह रोगी के जीवन का साथी रहती ही है।

(३) पर्सिटेंट—जिसका अभिप्राय है स्थिरलक्षण जो लक्षण एक बार हो जाते हैं वे स्थिर रहते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचनो से इसकी सुदृढमूलता का परिचय होता है, इस रोग का प्रादुर्भाव स्त्रियो या पुरुष में किसी भी अवयव मे हो सकता है परन्तु फिर भी प्रतिशत के विशेष उपलब्ध होते है। स्त्रियो में गर्भाशय तथा स्तन के अर्बुद से विशेष उपलब्ध होते हैं। यदि महिलाओ में रक्तवर्णा तथा दुर्गन्धयुक्त रक्त रूप स्राव निरन्तर रहे तो इस रोग की सभावना को जा सकती है खास करके प्रौढवय मे रजोनिवृत्ति के बाद मासिक चालू होने की स्थिति बनती है तो इस रोग की सभावना विशेषतया करनी चाहिये।

यदि स्तन में छोटी छोटी अस्वाभाविक कठिन ग्रन्थियें हो तथा चूचुक से अप्राकृत स्राव होता हो तो स्तनार्बुद की आशका की जानी चाहिये।

पुरुषो में अन्नप्रणाली, श्वासप्रणाली, व गलार्बुद विशेषतया देखे जाते हैं। यदि प्रौढवय मे क्षुधानाश, अरुचि, अपचन, आदि लक्षण हो तो इस रोग के आम पक्वाशय में होने की सभावना करनी चाहिये। अन्नपान के निगिरण मे छाती पर अवरोध होना अन्न प्रणाली के अर्बुद की प्रतीति कराता है। तथा शनै २ द्रवप्राय आहार ही लिया जाना शक्य बन रहा है इसकी सभावना बढ जाती है।

इसी प्रकार स्वर भेद बराबर रहता हो तो अर्बुद की ओर ध्यान करना चिकित्सक कर्त्तव्य हो जाता है।

पोषण सस्थान के ऊर्ध्व अश में अर्बुद होने पर अर्बुद का स्राव कफष्ठीवन के द्वारा प्रचुर रूप में होता है साथ ही अर्बुद के दोषो ने जहा भी स्थान सश्रय किया है उस प्रदेश में निरन्तर वृद्धि व कठिनता होती जाती है तथा उत्तर गुद या अधर गुद मे होने से मलावरोध तथा गुदाद्वारा पिच्छिल दुर्गन्धयुक्त स्राव होता रहता है।

त्वचा पर स्थित तिल या व्रण अपनी आकृति को बदलने लगे तो इसकी सभावना की जा सकती है।

> नाभेरुपरिजा पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वध ।
> जीवत्यधो नि स्रुतेषु स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति।

रूप

चित्र मे बताये गये के अनुसार इसके ३ भेद होते हैं। कार्सिनोमा, सारकोमा, एन्डोथीलि ओमा।

(१) कार्सिनोमा

इसके मुख्य कारण नाजुक प्रकृति वाले व्यक्तियो में चाय, कॉफी, गरम मसाले, मद्य

आदि का अधिक प्रयोग भी हो सकता है, जिनसे शरीरस्थ शल्काभ Squamous या स्तम्भाकार Columnar कोशिकाओ में इसकी प्रक्रिया बनती है। यह प्राय ४० से ६० वर्ष की आयु के होती है। तथा लसी का वाहिनियो द्वारा इसका दूर २ के अनुसार इसके ३ भेद होते हैं।

(क) ग्रन्थीय Glandular यह बहिः स्रावी स्तभाकृति कोशिकाओ से उत्पन्न होने वाला अर्बुद उन २ सभी अवयवो मे उत्पन्न हो सकता है जिनमे कि स्राव पैदा होता है जैसे स्तन, गर्भाशय, अन्नप्रणाली, गुर्दे, पित्ताशय, ग्रैवेयक आदि मे।

(ख) शल्काभ Squamous.

इसका कारण निरतर क्षोभ का होना हूं जैसे शिश्न की अग्रत्वचा के अधिक लम्बी होने पर मूत्र का कुछ अश रुका रहता है इससे मूत्रेन्द्रिय का अर्बुद पैदा हो जाता है जिन जातियो मे खतना का रिवाज है उनमे यह रोग नही मिलता है, यह प्राय शल्काभ अकारण से पैदा होता है।

(ग) आधार कोषाणुजन्य Bagal Celled, इस अर्बुद की आकृति चूहे से कतरे हुए व्रण के समान हो जाती है, यह चेहरे के ऊपर के दो तिहाई भाग मे मिलता है, यह भी प्राय ४० वर्ष से ऊपर की आयु मे होता है, और प्राय आँखो के अन्दर या बाहर के सिरे के समीप से शुरू होता है। प्रारम्भ मे एक दाना होता है जो कि फट कर व्रण का रूप ले लेता है, इसका नाम कृन्तक व्रण भी दिया जा सकता है।

(२) सार कोमा

यह योजक तन्तु Connective tissue मे पैदा होता है। और १० से २० वर्ष की आयु मे मिलता है। इसकी वृद्धि बडी शीघ्रगति से होती है तथा रक्त सवहन द्वारा शरीर के दूसरे भागो मे पहुँच कर नए २ अर्बुद पैदा हो जाते हैं जैसे अस्थियो मे, मासावरण मे, गर्भाशय मे। कई बार लसी का ग्रन्थियो में भी पैदा हो जाता है, इनकी कोशिकाएँ गोल या तकुए के आकार की होती हैं। इसकी उत्पत्ति त्वग्सवर्णी मस्सो मे या दृष्टिपटल मे हो तो इसे घातक रगार्बुद कहते हैं।

(३) एन्डोथीलि ओमा—

धात्वाशयान्तर्मर्यादा कला के लक्षणानुसार इसकी उत्पत्ति लसीका वाहिनिया की भीतरी दीवार तथा सीरम मे उत्पन्न होता है, या फुप्फुसावरण, उदरच्छदा तथा मस्तिष्कावरण मे इस प्रकार के अर्बुद देखे जा सकते हैं।

अर्बुद के असाध्य लक्षण

सम्प्रस्रुत मर्मणियच्च जात स्रोत सुवायच्च भवेद चाल्यम्।
यज्जजात युगपत् क्रमाद्वा द्विरर्बुदतच्च भवेदसाध्याम्।

जिन अर्बुदो मे से स्राव होने लग जाय अथवा जिनकी उत्पत्ति स्रोतो मे या मर्म प्रदेश मे हुई है तथा द्विदोषज हैं या जिस अर्बुद का उपद्रव रूप मे अध्यर्बुद होगा या हो तो असाध्य समझे।

पीछे यह बता दिया गया है कि केन्सर असाध्य रोग है। और केन्सर का विनिश्चय प्रत्यक्षतया बायोप्सी द्वारा किया जाता है तथा आयुर्वेद की दृष्टि से ये रोग जिनके लक्षणो की भी सभावना हो सकती है।

मेदोजस्वर भेद का कठ के केन्सर के साथ तथा पाषाण कठिन ग्रथि का लिम्फेटिक ग्लेड्स के केन्सर के साथ तथा रजोविकृति मे बताये गये मूत्रपुरीष गधी आर्तव, पूतिपूयनिभ आर्तव, का गर्भाशय केन्सर के साथ वाताष्ठीला का प्रोस्टेट के केन्सर के साथ सभावना प्रदर्शित की है।

आचार्यों ने "नास्त्यलाध्याम्प्रति सास्म चिन्ता,
अथ विद्यायशोहानिमुप क्रोशम सग्रहम्,
प्राप्नुयान्नियत वैद्योयोऽसाध्यान्समुपाचरेत्।

कह कर असाध्य रोगियो को चिकित्सा न करने की अपनी सम्मति प्रदर्शित की है।

इस अर्बुद मे मेरी गुरुपरम्परा से चिकित्सा की जा रही है। चिकित्सा अर्बुद की स्थिति मे ही हो सकती है, अर्थात् जिन अर्बुदो से स्राव नही हो रहा है तथा जिन पर किसी भी प्रकार की शस्त्रक्रिया तथा गम्भीर क्षकिरण न दी गई हो उस प्रारम्भिक स्थिति मे इस रोग पर "अर्बुदारि वटी" जो एस जे. ए फार्मेस्युटिकल वर्क्स, जोधपुर द्वारा निर्मित है इसका प्रयोग अर्बुद के वात, पित्त, कफ, रक्त इन अर्बुदो के लक्षणो को ध्यान मे रखते हुए भिन्न-भिन्न क्वाथो के अनुपान से अर्बुदारि वटी का सेवन कराया जाता है जिससे हमे पूर्ण सफलता मिली है। अनुपान के क्वाथ निम्न हैं।

वातार्बुद मे अनुपान के क्वाथ्य द्रव्य—

पुनर्नवा शठी रास्ना हवुषा शत्पदी शिवा।
निर्गुण्डी अश्वगधाच कट् फलामलकी निशा।

पित्तार्बुद मे क्वाथ्य द्रव्य—

श्रीखण्ड मुस्तक मांसी पर्पटस्सारिवा शिवा।
धान्यकोशीर धात्रीच कृतमालस्य पुष्पकम्।

श्लेष्मार्बुद मे क्वाथ्य द्रव्य—

भार्गी कर्कट शृ गीच गोजिह्वा भेषज कणा।
चाम्पेय मधुयष्टीच लाक्षा मुस्तक वासकम.

रक्तस्रावी अर्बुद मे

मधुपुष्प मृगेन्द्राणी मुस्ता मांसी चसारिवा
समगामल की भिक्षु मुशीर रक्त चन्दनम्।

चरित्रनायक के प्रति असिम भक्तियुत

सौम्यमूर्ति श्री दौलतरामजी चतुर्वेदी
निदेशक-आयुर्वेद विभाग राजस्थान अजमेर
लेख पृष्ठ सख्या ६९८ पर

चरित्रनायक के साहित्यिक बन्धुवर
चरक के प्रतिसंस्कर्ता

पं० सत्यनारायण शास्त्री
वाराणसी

जिन अर्बुदो मे से स्राव होने लग जाय अथवा जिनकी उत्पत्ति स्रोतो मे या मर्म प्रदेश मे हुई है तथा द्विदोषज हैं या जिस अर्बुद का उपद्रव रूप मे अध्यर्बुद होगा या हो तो असाध्य समझे।

पीछे यह बता दिया गया है कि केन्सर असाध्य रोग है। और केन्सर का विनिश्चय प्रत्यक्षतया बायोप्सी द्वारा किया जाता है तथा आयुर्वेद की दृष्टि से ये रोग जिनके लक्षणो की भी सभावना हो सकती है।

मेदोजस्वर भेद का कठ के केन्सर के साथ तथा पाषाण कठिन ग्रथि का लिम्फेटिक ग्लेड्स के केन्सर के साथ तथा रजोविकृति मे बताये गये मूत्रपुरीष गधी आर्तव, पूतिपूयनिभ आर्तव, का गर्भाशय केन्सर के साथ वाताष्ठीला का प्रोस्टेट के केन्सर के साथ सभावना प्रदर्शित की है।

आचार्यो ने "नास्त्यलाध्याग्प्रति साम्म चिन्ता,
अथ विद्यायशोहानिमुप क्रोशम सग्रहम्,
प्राप्नुयान्नियत वैद्योयोऽसाध्यान्समुपाचरेत्।

कह कर असाध्य रोगियो की चिकित्सा न करने की अपनी सम्मति प्रदर्शित की है।

इस अर्बुद मे मेरी गुरुपरम्परा से चिकित्सा की जा रही है। चिकित्सा अर्बुद की स्थिति मे ही हो सकती है, अर्थात् जिन अर्बुदो से स्राव नही हो रहा है तथा जिन पर किसी भी प्रकार की शस्त्रक्रिया तथा गम्भीर क्षकिरण न दी गई हो उस प्रारम्भिक स्थिति मे इस रोग पर "अर्बुदारि वटी" जो एस जे. ए फार्मेस्युटिकल वर्क्स, जोधपुर द्वारा निर्मित है इसका प्रयोग अर्बुद के वात, पित्त, कफ, रक्त इन अर्बुदो के लक्षणो को ध्यान मे रखते हुए भिन्न-भिन्न क्वाथो के अनुपान से अर्बुदारि वटी का सेवन कराया जाता है जिससे हमे पूर्ण सफलता मिली है। अनुपान के क्वाथ निम्न हैं।

वातार्बुद मे अनुपान के क्वाथ्य द्रव्य—

पुनर्नवा शठी रास्ना हवुषा शतपदी शिवा।
निर्गुण्डी अश्वगधाच कटु फलामलकी निशा।

पित्तार्बुद मे क्वाथ्य द्रव्य—

श्रीखण्ड मुस्तकं मासी पर्पटस्सारिवा शिवा।
धान्यकोशीर धात्रीच कृतमालस्य पुष्पकम्।

श्लेष्मार्बुद में क्वाथ्य द्रव्य—

भार्गी कर्कट शृगीच गोजिह्वा भेषज कणा।
चाम्पेय मधुयष्टीच लाक्षा मुस्तक वासकम।

रक्तस्रावी अर्बुद मे

मधुपुष्प मृगेन्द्राणी मुस्ता मासी चसारिवा
समगामल की भिक्षु मुशीर रक्त चन्दनम्।

चरित्रनायक के प्रति गुरुवद् भक्ति रखने वाले

स्वर्गीय वैद्य श्री खूबचन्द्र शर्मा जोधपुर

चरित्रनायक के साथ जोधपुर नरेश

२१ वे आयुर्वेद महासम्मेलन जोधपुर प्रदर्शनी का निरीक्षण करते हुए।

चरित्रनायक के भावुक भक्त

बाबू ईश्वरचन्द्र घोषाल
संयुक्त व्यवस्थापक
श्री उदयाभिनन्दन
हीरक जयन्ती ग्रन्थ जोधपुर

चरित्रनायक के कर्मनिष्ठ भक्त

श्री दौलतराम चौधरी
कार्यवाहक-अध्यक्ष
श्री उदयाभिनन्दन
हीरक जयन्ती ग्रन्थ जोधपुर

चरित्रनायक के विश्व।तु

चिकित्सक रत्न
स्वर्गीय वैद्य गोविन्दचन्द्रजी
(धौकलजी)
व्यवस्थापक सरदार औषधालय
जोधपुर

चरित्रनायक के परम श्रद्धालु श्रावक

श्रेष्ठीवर्य गुमानमलजी पारख
(तिवरी वाले)
कोषाध्यक्ष
श्री उदयाभिनन्दन
हीरक जयन्ती ग्रन्थ
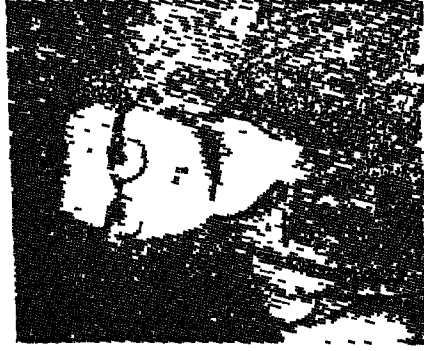
चरित्रनायक के प्रति अनन्त आस्थावान्

वैद्यराज ऋषिदेव सोलंकी
भिषगाचार्य
लेख पृष्ठ ३२१ पर

चरित्रनायक के सुहृद्वर

प्राणाचार्य श्री गोवर्धन शर्मा
छांगाणी, विद्यावाचस्पति
आयुर्वेद-मार्त्तण्ड, नागपुर

चरित्रनायक के सहचर

चरित्रनायक के प्रति श्रद्धावान

वैद्य रामनारायण शर्मा
आयुर्वेदाचार्य
द्यनाथ आयुर्वेद भवन झांसी

आयुर्वेद मार्त्तण्ड
श्री मणिरामजी महाराज
श्री धन्वन्तरि मंदिर
रतनगढ

अध्यक्ष, आयुर्वेद सकाय
राजस्थान विश्वविद्यालय

श्री प्रभुदत्त शास्त्री
प्राचार्य-राजकीय-आयुर्वेद
महाविद्यालय उदयपुर

आपका लेख पृष्ट सं० २९६
पर है।

चरित्रनायक के परम श्रद्धालु श्रावक

श्रेष्टीवर्य गुमानमलजी पारख
(तिवरी वाले)
कोषाध्यक्ष
श्री उदयाभिनन्दन
हीरक जयन्ती ग्रन्थ

चरित्रनायक के प्रति अनन्त आस्थावान्

वैद्यराज ऋषिदेव सोलंकी
भिषगाचार्य
लेख पृष्ठ ३२१ पर

चरित्रनायक के सुहृद्वर

प्राणाचार्य श्री गोवर्धन शर्मा
छांगाणी, विद्यावाचस्पति
आयुर्वेद-मार्तण्ड, नागपुर

चरित्रनायक के प्रति श्रद्धावान

वैद्य रामनारायण शर्मा
आयुर्वेदाचार्य
वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन झाँसी

चरित्रनायक के सहचर

आयुर्वेद मार्त्तण्ड
श्री मणिरामजी महाराज
श्री धन्वन्तरि मंदिर
रतनगढ

अध्यक्ष, आयुर्वेद संकाय
राजस्थान विश्वविद्यालय

श्री प्रभुदत्त शास्त्री
प्राचार्य-राजकीय-आयुर्वेद
महाविद्यालय उदयपुर

आपका लेख पृष्ट सं० २९६
पर है।

श्री उदयाभिनन्दन-हीरक जयन्ती ग्रन्थ

खण्ड ३

श्री उदयाभिनन्दन-हीरक जयन्ती ग्रन्थ

खण्ड ३

आतुर परिचर्या

ले०—वैद्य देवीदत्त व्यास, शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य
प्राध्यापक, राजकीय आयुर्वेद धात्री कल्पद प्रशिक्षण केन्द्र, जोधपुर

[वैद्य श्री देवीदत्तजी, आयुर्वेदाचार्य, ग्राम बुडकिया निवासी पण्डित श्री रामवल्लभजी के सुपुत्र हैं। आपने वाद विवाद प्रतियोगिता में स्वर्ण-पदक प्राप्त किया है एवं भारत के प्रमुख विद्वान् पण्डित प्रेमशंकरजी, भिषगाचार्य (सचालक, आयुर्वेद विभाग) के प्रमुख शिष्य रहे हैं। सन् १९४३ से ही आपने चिकित्सा-सेवा में निरतर सलग्न रहने का व्रत ले लिया था और अनवरत सेवा-भावी रहते चले आ रहे हैं। चिकित्सा-सेवा एक ऐसा दुरूह कार्य है जो मनुष्यता का लेश मात्र अभाव होने पर चिकित्सक ही नाम के साथ जुडा रह जाता है। श्री देवीदत्तजी के हृदय में ऐसी निर्बलता लेश मात्र भी नहीं है। आप आयुर्वेद विभाग, जोधपुर, में निरीक्षक एवं आयुर्वेद चिकित्सालय, जोधपुर, में प्रधान चिकित्सक रह चुके हैं। इस अभिनन्दन ग्रन्थ में भी आपका सक्रिय सहयोग निरतर रहा है और रहता चल रहा है।

वैद्य बाबूलाल जोशी
सम्पादक]

आतुरपरिचर्या धन कमाने का व्यवसाय नही अपितु सेवा का मार्ग है जिसकी समानता ईश्वर पूजा से हो सकती है—जैसे पूजा या प्रार्थना से मन को शान्ति मिलती है एव ईश्वर भी प्रसन्न होता है। तद्वत् रुग्ण व्यक्ति जो कि असहाय हो चुका होता है ऐसे पीडित एव दुखी मानव की सेवा से परमात्मा की प्रसन्नता के साथ मन को शान्ति प्राप्त होती है। अतः इसे अर्थोपार्जन का व्यवसाय न मान कर मुख्यतया सेवा को ध्यान मे रखते हुए कार्य करे। कस्तेन न कृतो धर्म काच पूजा न सोऽर्हति।

परिचारक के गुण—

अनुरक्त शुचिर्दक्ष बुद्धिमान् परिचारक।

रोगी की ऐसी सेवा की जावे कि उसे अपने परिवार वालो का अभाव न खले अर्थात् वह अपने घर से आतुरालय को अधिक सुख-सुविधा-युक्त अनुभव करे। पवित्रता

के साथ समय-समय पर वेग त्याग की व्यवस्थाओ का सम्पादन कराए। शस्त्र-क्रिया के बाद समय समय पर बन्धन व औषधि की व्यवस्था करना याद रखे। रोगी का तापमान नाडी-गति, श्वास सख्या, मलमूत्र त्यागने की सख्या, रक्तभार आदि को निश्चित समय पर अकित रखे। अपने से उच्च अधिकारियो का सम्मान करे व अनुशासन मे रहता हुआ आज्ञा का पालन करे। हमेशा मधुरभाषी हो। रोगी को रोग के अतिरिक्त सभी प्रकार की मानसिक एव शारीरिक प्रसन्नता रहे यही परिचर्या का गुण है।

अच्छी परिचर्या के लिए आवश्यक चार गुण—

(१) रोगी और असमर्थ की परिचर्या मे प्रीति (घृणा-अभाव)

(२) दृढ शरीर सपत्ति (रोगी को उठाना, पकड कर रखना)

(३) समान वृत्ति (जाति देशादि के भेदाभाव का न होना)

(४) सोत्साह श्रम (अपने कर्त्तव्य मे आलस्य को न आने देना। जैसे औषधि पिलाने, भोजन देने, मलमूत्रादि को तत्काल व्यवस्था आवश्यक होती है।)

परिचर्या का इतिहास—

रोगाक्रान्त व्यक्ति अपने दैनिक कार्यो को करने मे असमर्थ हो जाने से असहाय हो जाता है। इस असहायावस्था मे सहायक होना ही परिचर्या है, अभिप्राय यह है कि परिचर्या का इतिहास भी रोग के साथ प्रारम्भ होता है। आयुर्वेद शास्त्र के रचयिताओ ने चिकित्सा को चार भागो मे बता कर उसमे एक पाद परिचर्या के लिए उद्घोषित किया। इससे सिद्ध होता है कि अनादिकाल से यह प्रचलित रही है। इतिहासकार इसे दस कालो मे विभक्त करते हैं।

(१) आयुर्वेदकाल — जो पाँच हजार से अधिक पुराना है।

(२) हीपोक्रीटीसकाल — यूनान मे हीपोक्रीटोस का समय।

(३) ईसामसीह — जिसे लगभग दो हजार वर्ष का कहें।

(४) सेन्ट जोन्स — १२वी शताब्दी 'सेन्ट जोन्स एम्बूलेसन एसोसिएशन' सस्था कार्य करती है।

(५) आगेन्स्टाईनीयन — १७वी शताब्दी मे फास मे हुई।

(६) सेन्ट बिसेन्ट — परिचर्या के साथ रोगियो को शिक्षा दी जाने लगी।

(७) सिस्टर्स एसोशिएशन— १९वी शताब्दी मे इग्लैंड मे।

(८) फ्लोरेन्सनाइटेगल — युद्ध-स्थलो मे घायल व असहाय रोगियो की सेवा।

(९) ब्रिटिश नर्सेज एसोसिएशन — इसकी स्थापना फेनार्विकी ने की।

(१०) बोम्बे नर्सेज मिडवाइफ्स एन्ड हेल्थ विजिटर्स कौसिल — इस सस्था ने परिचारिका रजिस्टर रखना, अभ्यास कर्म निश्चित करना, परीक्षायें आदि कार्य किया है।

ये उपरोक्त एलोपैथिक चिकित्सालयो से सबध हैं तथा समय समय पर इनमे विकास होता रहा है। मध्ययुग मे आयुर्वेद विज्ञान का राज्याश्रय न होने से यह विज्ञान चिकित्सको तक ही सीमित रहा, अब जब कि राज्याश्रय होने लगा तो इसकी महत्ता के साथ बताया जाने लगा हैं।

परिचर्या का शिक्षण—

परिचर्या की शिक्षा के प्रारभ की आयु लगभग बीस वर्ष की होनी चाहिए, क्योकि युवावस्था सुदृढतम स्वास्थ्य ही श्रमशील हो सकता है तथा शरीर-सपत्ति को और योग्यतम बनाने के लिए व्यायाम तथा खेलकूद मे सुरुचि उत्पन्न की जावे।

परिचर्या के शिक्षण के प्रारम मे शरीर-रचना शरीर-क्रिया तथा प्रथमोचार बताए जाँय। परिचारक अपनी जीवनयात्रा को साधारण सुख से यापन कर सकता है किन्तु श्रीमन्त नही बन सकता, अत इसका व्रत लने के लिए इस धर्म को हृदयपूर्वक पालन करने का व्रत लेकर ही इस व्यवसाय मे प्रवेश करना चाहिए। क्योकि इसके व्रत मे सहानुभूति के साथ मन तथा विचारो मे प्रगल्भता होनी चाहिए जिससे कि मानव स्वभाव का निरीक्षण किया जा सके।

शिक्षण सस्था—

परिचर्या की शिक्षण सस्था आतुरालय से सम्बन्धित रहनी चाहिए, क्योकि इसमे प्रायोगिक ज्ञान अपेक्षित है तथा वह आतुरालय से ही प्राप्त हो सकता है। इस सस्था के शिक्षक आतुरालय के अधिकारी होने से शिक्षा देने का सोदाहरण कार्य किया जाता है तथा इन लोगो का निवास भी आतुरालय के समीप हो, जिससे कि शिक्षण के अतिरिक्त शील, नीति तथा स्वास्थ्य पर दृष्टि रखी जा सके।

आतुरालय—

प्राय गरीब जानता के लिये आतुरालय धर्मार्थ हो, तथा इनके अधिकारियो को भी चाहिये कि वे अवैतनिक अथवा अल्पवैतनिक हो। कभी २ ऐसे आतुरालयो मे परिचारक भी अपनी सेवाएं स्वय समर्पित करते हैं। ऐसे आतुरालयो में स्वल्पव्यय से शिक्षण ले सकते हैं।

इस प्रकार की सस्थाओ को चलाने वाले मण्डल तथा उसमे अध्यक्ष व मत्री तथा इनके अतिरिक्त सर्वाधिकारी चिकित्सा शास्त्र के निष्णात भी रहते हैं। आतुरालय मे परिचर्या का सपूर्ण दायित्व आर्या Metern पर निर्भर रहता है। आर्या के द्वारा ही रोगियो के निदान, चिकित्सा तथा शस्त्रक्रिया मे एक दूसरे चिकित्सको द्वारा सहयोग कराया जाता है। आर्या सर्वदा चिकित्सको की आज्ञा को बिना प्रतिरोध के पालन करती है। परिचारको को भी सर्वदा आर्या के उदाहरण को निरतर स्मरण रखना चाहिये।

सर्वाधिकारी चिकित्सक (आतुरालय प्रभारी)

शिक्षा के कार्य के साथ सब ओर देखभाल करना, आतुरालय के अन्य चिकित्सक, तथा आर्या, परिचारिका तथा नौकरो के कार्यविभाग की जाँच, व्यवस्था तथा छात्र-छात्राओ को सैद्धान्तिक व प्रायोगिक शिक्षण की व्यवस्था करते है।

आर्या—

आर्या शब्द अपने मे उदात्त अर्थ रखता है, तथा इनके पास कार्य करने वाली भगिनिया तथा इनके सहायक परिचारिकाऐ व छात्राएँ, हैं। आर्या ही परिचारिका के कार्य विभाग को बाँटती है तथा उनके अवकाश, शिक्षण, भोजन व्यवस्था व आवासगृह की देखभाल रखती है।

परिचर्या की सस्थाओ के प्रकार—

(१) सहायक धात्री Assistant Midwife एक वर्ष का
(२) उच्च धात्री Midwife डेढ वर्ष का
(३) परिचारिका General Nursing तीन वर्ष का
(४) आरोग्य प्रचारिका Health Visitor एक वर्ष का

पाठ्य-क्रम के अनुसार ही इनका राज्य सेवा मे वेतन क्रम रहता है।

परिचर्या की नीति—

परिचारक को चाहिये कि उसे अपने जीवन मे निम्न प्रतिज्ञाऐ शपथपूर्वक आचरण करनी होगी।

(क) मैं व मेरा ज्ञान रोगियो के हित के लिए उपयोग करूँगा।
(ख) कोई भी विष किसी के भी द्वारा मागने पर नही दूगा।
(ग) गर्भपात का उपदेश नही दूगा। इसमे मदद नही करूँगा।
(घ) जिस परिवार मे कार्य करूँगा उसमे रोगी के अतिरिक्त दूसरो ओर ध्यान नही दगा।
(ङ) रोगी के सम्बन्धी सारा रहस्य गुप्त रखूगा।

परिचर्या के नियम—

उपरोक्त प्रतिज्ञाओ को पालन करते हुए निम्न नियमो का अनुशीलन करे।

(क) स्वास्थ्य रक्षा के लिये तन, मन, वचन से पवित्र रहे।
(ख) छात्रावस्था मे शिक्षा के साथ सद्गुण अर्जन करे।
(ग) दया, सहानुभूति, प्रसन्नमुख रहते हुए दूसरो के प्रति प्रीतिकर उचित व्यवहार करता रहे।

(घ) मधुरभाषी के साथ निश्चय वृत्ति हो।
(ङ) चिकित्सको की आज्ञा-पालन करे।
(च) रोगी के रोग के बारे मे पहिले आर्या से व आर्या की अनुपस्थिति मे चिकित्सक से कहे।
(छ) प्रत्येक कार्यकलाप मे योग्यता, श्रद्धा व निष्ठा रखे।
(ज) अपनी भूलो को स्वीकार करे व बताने वाले का स्वागत करे और निरन्तर ज्ञान वृद्धि का प्रयत्न करे।
(झ) सब से मित्रता का व्यवहार करे परन्तु कार्य के समय व्यर्थ विनोद से बचे।
(ञ) जाति, धर्म, धनवान आदि के भेदो को गौण समझते हुए परिचर्या को ही उत्तम माने।
(ट) शिक्षा, सगठन, सहिष्णुता तथा उत्साही रहे, परमुखापेक्षी न बने।

परिचर्या रोगी के घर पर करे तो याद रखने योग्य बातें—

(क) रोगी का कमरा स्वच्छ रखने की व्यवस्था करे।
(ख) स्वय के लिये मिले स्थान को भी पूर्ण साफ रखे।
(ग) रोगी के नौकरो के साथ आदर के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करे।
(घ) कम खर्च मे उत्तम व्यवस्था करने का प्रयत्न करे।
(ङ) आवश्यक होने पर रोगी के गृहकार्य मे भी यथासाध्य मदद दे।
(च) रोगी तथा रोगी के घर मे हुए दु खो के प्रति विवेकपूर्वक कार्य करे।

परिचारक का गणवेश—

गणवेश साधारण कपड़े का हो जिस पर उस्तरी की जा सके। साथ ही अपने शरीर के समान हो। आस्तीन मोडने लायक हो, सिर पर सफेद रुमाल बधा हुआ, सफेद मोजे तथा हर समय घडी, थरमामीटर, फाउन्टेनपेन व नोट बुक साथ रहे।

गणवेश की पवित्रता—

गणवेश सदा स्वच्छ रखे। कार्य करते हुए यह ध्यान रखे कि वह खराब न हो। परन्तु गणवेश के खराब होने के भय से कार्य मे शिथिलता न आने दे। केश-सवरण ठीक तथा सादगीपूर्वक हो। तीव्र सुगन्धित तैल आदि का प्रयोग न करे तथा जेवर न पहिने।

आतुरालय के अधिकारी—

मुख्यतया आतुरालय मे निम्न अधिकारी होते हैं —१ प्रधान प्रभारी, २ आर्या (मेट्रन)।

प्रधान प्रभारी—आतुरालय मे सर्वाधिकारी प्रधान चिकित्सक होता है। वह चिकित्सा सम्बन्धी कार्य की देखभाल अपने आधीनस्थ वैद्यो, परिचारक, परिचारिकाओ का कार्य-विभाजन तथा आतुरालय के कार्य का उत्तरदायित्व उस पर होता है।

आर्या (मेट्रन)—रोगियो की परिचर्या की देख-भाल, छात्र व छात्राओ के शिक्षण की व्यवस्था, आतुरालय मे सफाई तथा दूसरे कार्य ठीक हो रहे हैं या नही, को देखना तथा कही-कही छात्रावास का प्रबन्ध भी करते हैं।

आतुरालय मे व्यवहार—

शिक्षार्थी छात्र छात्राओ तथा परिचारक, परिचारको को आर्या के आदेश के अतर्गत कार्य करना पडता है। अत सदैव आर्या के प्रति सम्मान की भावना रखें और उसकी आज्ञा को सम्यक् प्रकार से पालन करे। तथा सदैव अपनी भूल को स्वीकार करने की प्रवृत्ति रखनी चाहिए क्योकि भूल को छिपाने के लिए कई झूठ बोलने पडते हैं।

बहुत ही निकट के सबधियो के अतिरिक्त छात्र व छात्राओ को कभी भी किसी युवा स्त्री पुरुष के साथ एकात का वार्तालाप व विनोद न करें, न ही उनके घर जाएँ।

शिक्षण-सस्था मे व्यवहार—

छात्र तथा छात्राऐ अपने निवासस्थान के कमरे को साफ रखें। शौचालय, स्नानघर आदि का प्रयोग स्वच्छता के साथ करे। इसी प्रकार कक्षा तथा छात्रावास को भी स्वच्छ रखे तथा शोर-गुल न करे। छात्रावास मे निश्चित समय पर भोजन करें, समय पर बत्ती बुझावें। यदि छात्रावास की कोई वस्तु टूट-फूट जाय तो छात्रावास के अधिकारी को सूचित करे।

शिक्षण के उपाङ्ग—

शिक्षण के अतिरिक्त मनोरजन के लिए खेल-कूद, वाद-विवाद, भाषण, कविता-लेखन आदि मे रुचि रखे।

रोगी से सम्बन्ध—

सेवाभाव को लक्ष्य मे रखते हुए सहानुभूति के साथ बहुत ही सावधानीपूर्वक रोगी की सेवा करनी चाहिये। आतुरालय मे रोगी स्वय को सुखी परिवार मे रहता हुआ सा अनुभव करे। रोगी से मिलने के लिए आने वाले सम्बन्धियो के साथ अच्छा व प्रेमपूर्वक व्यवहार हो।

परिचर्या मे सदाचार—

(१) अपने से वरिष्ट अधिकारियो के साथ आदरपूर्वक व्यवहार करें। उनके साथ बात करते हुए श्रीमान्, महोदय, सर आदि सम्मानित शब्दो का सबोधन करें।

(२) परिचर्या से सम्बन्धित अधिकारी वर्ग एवम् परिचर्या करने वालो को आर्या, बहिनजी आदि शब्दो से सबोधित करें।

(३) रोगियो को उनकी जाति अथवा पद के अनुसार पण्डितजी, ठाकुर साहिब, सेठ साहब, शर्मा साहब आदि शब्दो से सम्बोधित करे।

(४) प्रतिदिन प्रारम्भ मे अपने अधिकारियो को तथा साथ कार्य करने वालो को अथवा पढने वालो को अभिवादन करें।

(५) अपने अधिकारियो को सेनापति तथा स्वय को सिपाही समझकर उनको आज्ञा पालन करें।

(६) चिकित्सक व आर्या के साथ आतुरालय मे रहे।

(७) आतुरालय के नियमानुसार गणवेश रखे।

(८) आतुरालय मे निश्चित समय के अतिरिक्त समय मे आतुरालय के अधिकारियो व कर्मचारियो के अतिरिक्त किसी को भी न आने देवे। न ही विवरणपत्रक देखने देवें।

( ) अधिकारियो की उपस्थिति मे बैठे नही। यदि रोगी की व्यवस्था करना हो तो ठीक तरह से बैठ कर करे।

(१०) अधिकारी के आदेश को खडे होकर शान्तिपूर्वक सुनना चाहिये। उत्तर देना आवश्यक होने पर नम्रतापूर्वक उत्तर दे।

(११) दूरभाष से बात करते समय धीरे-धीरे व सम्मानपूर्वक बोले।

(१२) वरिष्ठ अधिकारी के साथ उसके पीछे चले। यदि अधिकारी के लिए मार्ग नया हो तो दिखाने के लिए आगे चले। अधिकारी के साथ जोर-जोर से न बोलें तथा पैर बजाते हुए न चले, किवाड तथा खिडकिया धीरे से खोले।

(१३) आतुरालय की कीर्ति शिष्टाचार पर निर्भर है अतः शिष्टाचार का आग्रहपूर्वक पालन करने का ध्यान रखें।

अच्छा आतुरालय—

अच्छे आतुरालय वे ही कहे जा सकते हैं जिन्हे कि वहाँ के अधिकारी, कर्मचारी, शिक्षार्थी अपना घर समझ कर कार्य करते हैं। शिक्षार्थी वहाँ के चिकित्सको, उपचिकित्सको को पूजनीय तथा धात्री एव कल्पद एक दूसरे को बहन भाई मानते हुए आतुरालय के रोगियो को अतिथि के समान आदर-सत्कार देते हैं।

शिक्षक वर्ग भी शिक्षार्थियो को पुत्रवत् समझते है। अभिप्राय यह है कि आतुरा-

लय के सभी व्यक्तियो का एक ही उद्देश्य तथा जयघोष हो कि रोगी-सेवा भगवत्सेवा है—तथा इसकी सम्यक् पूर्ति रोगियो के लिये स्वच्छ आवास रखना, उत्तम भोजन, वस्त्र शुद्धि तथा अच्छी से अच्छी औषधि का प्रबन्ध सुव्यवस्थित रूप से हो तो उन्हे अच्छे आतुरालय कहते हैं।

आतुरालय में कक्ष (वार्ड)—

वार्ड मे रोगी के लिए सब प्रकार की सुविधा का प्रबन्ध रहता है—पास ही में स्नानघर, शौचघर, हाथ मुह धोने का स्थान, चाय, दूध आदि का कमरा, बर्फ की पेटी, रोगियो से मिलने आने वाले व्यक्तियो के लिये बैठने का स्थान, प्रयोगशाला, औषधि तैयार करने का कमरा, भण्डार आदि होते हैं। साधारण काम करने के लिये वार्डबॉय, हरिजन आदि होते हैं।

सब से जरूरी कार्य है वार्ड की सफाई, अत समय पडने पर सफाई के कार्य करने वाले कर्मचारियो की अनुपस्थिति मे शिक्षार्थी तथा अन्य कर्मचारियो को वार्ड को अपना घर समझते हुए सब प्रकार के कार्य को करने के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये।

कार्य विभाजन—

आतुरालय मे रोगी-परिचर्या के लिये सभी प्रकार के कर्मचारियो का २४ घण्टे रहना जरूरी है तथा यह सम्भव नही कि सभी कर्मचारी बराबर २४ घण्टे रहे। इसलिये कर्मचारो कम होने पर १२-१२ घटे और अधिक होने पर रात्रि को १२ घण्टे तथा दिन मे कार्य ८ घण्टे लिया जावे। इम प्रकार इसे २ भागो में बाटा जाना चाहिये।

(१) दिन पाली   २ रात्रि पाली

(१) दिन पाली—इसका समय प्रातः ८ बजे से साय ८ बजे तक है।
इस अवधि मे उसे निम्न कार्य करने होते हैं।

(क) वार्ड मे चिकित्सक के निरीक्षण करने के लिये आने से पहले झाडू दिलवाना, पुंछवाना, बिछौने ठीक कराना आदि सफाई व व्यवस्थासम्बन्धी कार्य पूरे हो जाने चाहिय।

(ख) रोगी के मागने पर मलमूत्र के पात्र की व्यवस्था करवाना।

(ग) व्यवस्थापत्र में लिखे अनुसार ठीक समय पर नास्ता, दूध, चाय, फल, भोजन औषधि आदि की व्यवस्था करना।

(घ) रोगी के लिये आवश्यक वायु, धूप और प्रकाश की उचित व्यवस्था का प्रबन्ध करना।

(ङ) धोबी को धोने के लिये दिये जाने वाले कपड़ो को नोट बुक मे लिखना

और धुल कर आने पर नोट बुक मे लिखे अनुसार गणना कर आलमारी में रखना। गन्दे कपडो को अलग रखना। फटे कपडो को सम्बन्धित अधिकारियो से आज्ञा लेकर रद्द करवाना अथवा उनसे वार्ड मे काम आने वालो वस्तुऐ बनाने की आज्ञा लेना।

(च) अपनी ड्यूटी पूरी हो जाने पर ड्यूटी पर आने वाले कर्मचारी को सभी चीजें संभलाना तथा आगे के काम के लिए भली प्रकार समझना होता है।

(२) रात्रिपाली

इसका समय साय ८ बजे से प्रात ८ बजे तक होता है।

(क) रात्रिपाली मे सोना नही चाहिये। नीद लेना अपराध माना जाता है। यदि नीद आने लगे तो कोई ऐसा साधारण काम जैसे सुइटर बुनना, फूलपत्ती -नाना, पुस्तक, समाचार पत्र आदि पढे जा सकते है किन्तु इनमे भी इतना तल्लीन न हो जाय कि वार्ड की सुधि ही न रहे।

(ख) प्रत्येक रोगी के पास जाकर उसकी आवश्यकताओं को यथासभव पूर्ति करना।

(ग) आवश्यकतानुसार नीद लाने वाली औषधि, गर्म पेय देना, रोगियो के ओढने के वस्त्र को ठीक करना आदि में ध्यान रखना चाहिये।

(घ) रात्रि को रोगियो के सो जाने पर कार्य कम रहता है अत आतुरालय सम्बन्धी दूसरे कार्य जैसे रूई, गॉज आदि काटना, गोलियें बनाना आदि करे।

(घ) दिवस पाली मे बताये गये स० ख, ग, घ, च आदि के कार्यों को करे।

साधारण कर्त्तव्य—

रात्रि और दिवस पाली वाले आते जाते समय कार्य-भार एक दूसरे को सम्हलावे तथा कार्य ग्रहण-पत्र में सभी बातें ठीक तरह से लिख देना चाहिए। यदि कोई औषधि तथा अन्य आवश्यकीय वस्तु न हो तो तत्काल व्यवस्था करनी चाहिये। अधिक बीमार रोगियो को आध-आध घटे मे सम्हालते रहना चाहिये। नाडी व श्वास की गति-सख्या गिनते रहना चाहिये। पसीना पोछना, मलमूत्र आदि के पात्र की व्यवस्था करना, शीत से बचाव, जल तथा अन्य जरूरी पेय देना, आदि बातो पर ध्यान देवें। रोगी की अवस्था खराब हो तो अपने से वरिष्ठ अधिकारियो को सूचित करें। शिक्षार्थियो को नये आने वाले रोगियो के प्रश्नो का शान्तिपूर्वक उत्तर देना चाहिये और अधिकारियो को सूचना देते रहना चाहिये। आतुरालय मे प्रवेश पाने के लिए आतुरालय से सम्बन्धित चिकित्सक का व्यवस्थापत्र लाया हो तो वह आर्या को दिखा कर रोगी को कौनसी शय्या पर स्थान देना है आदि बातो की जानकारी लेकर रोगी की उचित व्यवस्था करें। रोगी के व्यवस्था-पत्र

लय के सभी व्यक्तियो का एक ही उद्देश्य तथा जयघोष हो कि रोगी-सेवा भगवत्सेवा है—तथा इसकी सम्यक् पूर्ति रोगियो के लिये स्वच्छ आवास रखना, उत्तम भोजन, वस्त्र शुद्धि तथा अच्छी से अच्छी औषधि का प्रबन्ध सुव्यवस्थित रूप से हो तो उन्हे अच्छे आतुरालय कहते हैं।

आतुरालय में कक्ष (वार्ड)—

वार्ड मे रोगी के लिए सब प्रकार की सुविधा का प्रबन्ध रहता है—पास ही में स्नानघर, शौचघर, हाथ मुंह धोने का स्थान, चाय, दूध आदि का कमरा, बर्फ की पेटी, रोगियो से मिलने आने वाले व्यक्तियो के लिये बैठने का स्थान, प्रयोगशाला, औषधि तैयार करने का कमरा, भण्डार आदि होते हैं। साधारण काम करने के लिये वार्डबॉय, हरिजन आदि होते हैं।

सब से जरूरी कार्य है वार्ड की सफाई, अत समय पडने पर सफाई के कार्य करने वाले कर्मचारियो की अनुपस्थिति मे शिक्षार्थी तथा अन्य कर्मचारियो को वार्ड को अपना घर समझते हुए सब प्रकार के कार्य को करने के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये।

कार्य विभाजन—

आतुरालय मे रोगी-परिचर्या के लिये सभी प्रकार के कर्मचारियो का २४ घण्टे रहना जरूरी है तथा यह सम्भव नही कि सभी कर्मचारी बराबर २४ घण्टे रहे। इसलिये कर्मचारी कम होने पर १२-१२ घंटे और अधिक होने पर रात्रि को १२ घण्टे तथा दिन में कार्य ८ घण्टे लिया जावे। इस प्रकार इसे २ भागो में बाटा जाना चाहिये।

(१) दिन पाली २ रात्रि पाली

(१) दिन पाली—इसका समय प्रातः ८ बजे से साय ८ बजे तक है।
इस अवधि मे उसे निम्न कार्य करने होते हैं।

(क) वार्ड मे चिकित्सक के निरीक्षण करने के लिये आने से पहले झाड़ू दिलवाना, पुंछवाना, बिछौने ठीक कराना आदि सफाई व व्यवस्थासम्बन्धी कार्य पूरे हो जाने चाहिय।

(ख) रोगी के मागने पर मलमूत्र के पात्र की व्यवस्था करवाना।

(ग) व्यवस्थापत्र में लिखे अनुसार ठीक समय पर नास्ता, दूध, चाय, फल, भोजन औषधि आदि की व्यवस्था करना।

(घ) रोगी के लिये आवश्यक वायु, धूप और प्रकाश की उचित व्यवस्था का प्रबन्ध करना।

(ङ) धोबी को धोने के लिये दिये जाने वाले कपडो को नोट बुक मे लिखना

और धुल कर आने पर नोट बुक मे लिखे अनुसार गणना कर आलमारी में रखना। गन्दे कपडो को अलग रखना। फटे कपडो को सम्बन्धित अधिकारियो से आज्ञा लेकर रद्द करवाना अथवा उनसे वार्ड मे काम आने वाली वस्तुऐं बनाने की आज्ञा लेना।

(च) अपनी ड्यूटी पूरी हो जाने पर ड्यूटी पर आने वाले कर्मचारी को सभी चीजें सभलाना तथा आगे के काम के लिए भली प्रकार समझना होता है।

(२) रात्रिपाली

इसका समय साय ८ बजे से प्रात ८ बजे तक होता है।

(क) रात्रिपाली मे सोना नही चाहिये। नीद लेना अपराध माना जाता है। यदि नीद आने लगे तो कोई ऐसा साधारण काम जैसे सुइटर बुनना, फूलपत्ती ⁻नाना, पुस्तक, समाचार पत्र आदि पढे जा सकते है किन्तु इनमे भी इतना तल्लीन न हो ‿ाय कि वार्ड की सुधि ही न रहे।

(ख) प्रत्येक रोगी के पास जाकर उसकी आवश्यकताओं की यथासभव पूर्ति करना।

(ग) आवश्यकतानुसार नीद लाने वाली औषधि, गर्म पेय देना, रोगियो के ओढने के वस्त्र को ठीक करना आदि मे ध्यान रखना चाहिये।

(घ) रात्रि को रोगियो के सो जाने पर कार्य कम रहता है अत आतुरालय सम्बन्धी दूसरे कार्य जैसे रूई, गॉज आदि काटना, गोलियें बनाना आदि करे।

(घ) दिवस पाली में बताये गये स० ख, ग, घ, च आदि के कार्यों को करे।

साधारण कर्त्तव्य—

रात्रि और दिवस पाली वाले आते जाते समय कार्य-भार एक दूसरे को सम्हलावे तथा कार्य ग्रहण-पत्र में सभी बातें ठीक तरह से लिख देना चाहिए। यदि कोई औषधि तथा अन्य आवश्यकीय वस्तु न हो तो तत्काल व्यवस्था करनी चाहिये। अधिक बीमार रोगियो को आध-आध घटे मे सम्हालते रहना चाहिये। नाडी व श्वास की गति-सख्या गिनते रहना चाहिये। पसीना पोछना, मलमूत्र आदि के पात्र की व्यवस्था करना, शीत से बचाव, जल तथा अन्य जरूरी पेय देना, आदि बातो पर ध्यान देवें। रोगी की अवस्था खराब हो तो अपने से वरिष्ठ अधिकारियो को सूचित करे। शिक्षार्थियो को नये आने वाले रोगियो के प्रश्नो का शान्तिपूर्वक उत्तर देना चाहिये और अधिकारियो को सूचना देते रहना चाहिये। आतुरालय मे प्रवेश पाने के लिए आतुरालय से सम्बन्धित चिकित्सक का व्यवस्थापत्र लाया हो तो वह आर्या को दिखा कर रोगी को कौनसी शय्या पर स्थान देना है आदि बातो की जानकारी लेकर रोगी की उचित व्यवस्था करें। रोगी के व्यवस्था-पत्र

मे रोगी का नाम, पूरा पता, उसके सम्बन्धी का नाम, टेलीफोन हो तो उसके नम्बर, व्यवसाय, धर्म यदि वैद्य द्वारा आया हो तो चिकित्सक का नाम, प्रविष्ट करने वाले चिकित्सक का नाम, रोग का नाम, निदान सम्बन्धी आवश्यकीय बाते आदि ठीक प्रकार से लिखनी चाहिये।

रोगी के लिये आवश्यकीय सामान जो आतुरालय से नही दिया जाता है अथवा रोगी लेना न चाहे उसकी सूची बना कर उसके सम्बन्धी को दे दें। यदि रोगी के पास जेवर, नकद रुपया आदि हो तो वह भी रोगी के सम्बन्धी को सम्हला देवें। आतुरालय के अतिरिक्त समय मे आने के लिये आवश्यकतानुसार आज्ञा पत्र दे देवे।

प्रविष्ट हुए रोगी की नाडी की गति, श्वासगति, तापमान आदि लिखें। रोगीपत्रक, तापमापकपत्रक और आहारपत्रक आदि भी तैयार कर लेवें। यदि वैद्य द्वारा रोगी के मल, मूत्र, रक्त आदि की परीक्षा का उल्लेख हो तो परीक्षा कराने की व्यवस्था करें। आकस्मिक रोगो से पीडित रोगियो के प्रवेश पर विशेष ध्यान देवे तथा उसके लिए वैद्य द्वारा व्यवस्थापत्र मे लिखी गई औषधि तथा शस्त्र-क्रिया का निर्देश किया गया हो तो उसकी व्यवस्था शीघ्र करें। सभी प्रकार के रोगियो के पास बीडी, सिगरेट, तम्बाकू, अफीम, गाजा, भाग, शराब आदि नशीली वस्तुऐ न रहने देवें।

रोगी की विदायगी का प्रकार—

रोगी को घर या दूसरे आतुरालय मे भेजते समय सम्मानपूर्वक मेहमान की भाति विदा करना चाहिये। रोगी के जाते समय मौखिक या लिखित रूप मे आतुरालय के सबध मे अपनी सम्मति लिखने के लिये कहना चाहिये ताकि कर्मचारी गण अपनी भूलो को सुधार कर काम ठीक तरह से करने में प्रयत्नशील हो सकें।

रोगी के जाने के बाद उसके काम मे आये कपडो को धोने के लिये डाल देवे। बिछौना, तकिया आदि धूप मे रखे। पलग को धो कर उस पर मिट्टी का तैल या तारपीन तैल का घोल लगाएँ और पलग पर नया बिछौना बिछा देवें तथा रोगीपत्रक, तापमानपत्रक आदि आवश्यक चीजे ठीक कर देवे तथा सुरक्षित रखें।

वार्ड मे स्वच्छता—

सफाई करने की सब वस्तुओ को, जो अधिक भारी न हो, उन्हे एक जगह इकट्ठी कर धोने के लिए साफ पानी, ब्रुश, तौलिया आदि लेवे तथा साफ कर पोछते रहे।

(१) वार्ड के फर्श को पोछने के पहिले झाडू से अच्छी तरह से साफ करा कर फिर कपडे से पुछवावें।

(२) पालिश की हुई वस्तुओ को कपडे से झाड कर पोछ लें और कभी कभी हलका सा पालिश भी करें

(३) किसी भी चीज को घसीट कर न ले जावें।

(४) सूतिकागार और शस्त्र-क्रियागार को प्रतिदिन अच्छी तरह धुलवा कर पुछवाना चाहिये। इसी प्रकार वार्ड के फर्श को भी कम से कम सप्ताह मे एक बार पानी से धुलवाना और फिनायल भी छिडकवाना चाहिये।

(५) पानी, चाय आदि खाने पीने की चीजो तथा अन्य कोई भी वस्तु से वार्ड की फर्श खराब हो जाय तो उसी समय साफ करनी चाहिये।

(६) ताम्बे, पीतल की वस्तुओ पर पालिश कर चमकाना चाहिये।

(७) क्षय रोगी या अन्य छूत से फैलने वाले रोगो के रोगियो के बर्तनो को निशान कर अलग ही रखें और उन्हें पानी मे उबाल लिया करे।

(८) शौचालय और मूत्रालय मे फिनायल छिडकवाना चाहिये तथा इनकी स्वच्छता पर पूरा पूरा ध्यान दिया जाना चाहिये क्योंकि प्राय इनकी सफाई पर ध्यान कम दिया जाता है।

(९) मलपात्र व मूत्रपात्रो को पानी से धुलवा कर फिनायल के घोल से धुलवाना चाहिये।

(१०) पीकदानी को भी साफ पानी से धुलवा कर पानी मे उबलवा कर कीटाणु-नाशक घोल से साफ करें।

(११) वार्ड मे मक्खिया हो तो फ्लिट का प्रयोग करें।

(१२) गद्दे, तकिए आदि मे खटमल न हो जाय इसका पूरा ध्यान रखें तथा खटमल हो जाने पर उन्हे धूप मे डलवाना चाहिये व उचित व्यवस्था करवानी चाहिये।

शय्या—

आतुरालय मे काले व सफेद रग के लोहे के पलग ६ फुट लम्बे, ३ फुट चौडे तथा २६ इच ऊँचे होते हैं। पायो के नीचे छोटे २ पहिये भी होते हैं। ये कई प्रकार के होते है।

बिछौना करने की सामान्य रीति—

पलग पर दरी डालकर उस पर गद्दा बिछाएँ, गद्दे पर चद्दर लगाएँ। चद्दर को ठीक लगाकर समेट कर गद्दे के नीचे के भाग मे मोड देवें, तकिया लगा देवे, तथा रोगी को ओढने के लिये हलके गर्म रगीन कम्बल तह करके रख दे। रोगी के बिछौने के गद्दो मे चावल की घास, नारियल-जटा तथा रूई होती है। विदेशो मे घोडे के बाल भी भरे जाते हैं।

बिछौना इस प्रकार किया जावे कि रोगी को कोई कष्ट न हो अर्थात् व्यवस्थित व सामान्य, हो बिछौने पर लेटने से रोगी को पूर्ण आराम मिले। बिछौने की सफाई करते समय, बिछौना बदलते समय, तथा इसे व्यवस्थित करते समय पूरा ध्यान रखें कि रोगी को

किसी भी प्रकार का कष्ट न होने पाए। इसका पूरा ध्यान रखें कि किस रोगी को सरका कर किसको करवट मोडकर, और किसको उठाकर बिछौना करना है, या इसके लिए आर्या से पूछ लेवे। शास्त्रक्रिया किये रोगियो को, वसनक पीडितो को, फुफ्फुसावरण प्रदाह वाले रोगियो को या हृद्रोगियो को धीरे से उठाकर बिछौना साफ करें। कपडे का भार भी रोगी पर न पडे इसका पूरा ध्यान रखे।

बिस्तर करने मे सावधानियाँ—

(१) यदि रोगी उठने योग्य हो तो उसे पलग के पास कुर्सी पर बैठाकर कम्बल ओढने को दे।

(२) रोगी के हिलडुल न सकने पर यथायोग्य करवट बदलवा कर कन्धे तथा साथल पीछे हाथ देकर व्यवस्थित करे।

(३) रोगी बैठा हो तो इधर उधर बैठाकर ठीक करें।

(४) करवट लेने योग्य रोगी को करवट बदलवा कर चादर मोमजामा आदि निकालकर नये बिछा देवे।

(५) करवट नही लेने देना हो तो सिर से पैर की ओर नये वस्त्र आंटे लपेट कर रोगी को उठाकर सरका कर ठीक करे।

(६) रोगी को उठाने की मनाई हो तो अलग बिछौने या स्ट्रेचर पर उठाकर शय्या ठीक कर लेटा देवें।

प्रकार—

शय्या-भेद से रोगी दो प्रकार के होते हैं।

(१) शस्त्रक्रिया किये हुए (२) औषधि लेने वाले। औषधि लेने वाले रोगियो की शय्या—

इसके ५ प्रकार हैं।

(१) साधारण शय्या—जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

(२) आकस्मिक प्रसग पर—उपरोक्त शय्या मे गर्म जल की थैलिया रख दी जाती हैं।

(३) वृक्क व आमवात रोगियो की—चद्दर के बराबरी मोमजामा, अधिक कम्बलें, रेत की थैलिया, जल या वायुपूरित बिछौने होते हैं।

(४) हृद्रोगियो की—बहुत से तकिये, वायुपूरित चक्र होते हैं।

(५) फाऊलर्स—इसे आवश्यकतानुसार बनाया जा सकता है। श्वास, हृद्रोग तथा शास्त्रक्रिया के बाद प्रयोग करते हैं—

शस्त्रक्रिया किये हुए रोगियो को शय्या–इस के सात भेद है।

(१) शस्त्रक्रिया के पश्चात्—ऊपर ओढने के वस्त्र की तेहरी तह पैरो की ओर रखे। गर्म जल की थैलिया, वमनपात्र, जिह्वा, सन्दश, रबर का मोमजामा, पैरो की ओर से शय्या को ऊँचा रखने के लिये पडवाये, बिछौने के नीचे के हिस्से पर मोमजामा रखें।

(२) गलग्रथियो की शस्त्र-क्रिया के बाद—मोमजामा, सिरहाने के नीचे रखने के लिये तौलिये, चूसने के लिए बर्फ, मुह से आने वाले रक्त को पोछने के लिए शोषक वस्त्र आदि रखें।

(३) उदर की शस्त्र-क्रिया के बाद—रबर के वायुचक्र, जलपूरित सिरहाना मोम-जामे से ढका घुटने के नीचे रखने के लिए तकिया, यदि रोगी वेहोश हो तो मलमल के टुकड़े से घुटने व साथल बाध दे।

(४) भग्न शय्या—भग्न अग के नीचे कठोर न दबने वाला बिछौना करें। इसके लिये गद्दे के नीचे छिद्र वाले लकडी के तख्ते रखें।

(५) हाथ पैर कटे रोगियो को शय्या—शय्या पर लम्बा मोमजामा रहे और काटे गये अवयव के चारो ओर रेत की थैलिया लगाएँ जिससे रोगी का कटा अग हिल-डुल न सके। इन रेत की थलियो पर कोटाणुनाशक घोल छिडका हुआ हो। शय्या के पास ही रक्तस्राव को रोकने के लिए पट्टी रखें। कटा अग का सिरा कार्यरत कर्मचारी को दिखता रहे। यदि रक्तस्राव बन्द न हो तो तत्काल चिकित्सक को सूचित करे।

(६) विभाजित शय्या—इसमे रोगी के ओढने व बिछाने के वस्त्रो के दो भाग होते हैं। एक भाग दूसरे भाग पर रखा रहता है। दोनो मिलने के स्थान पर सेफ्टी पिन लगा देते हैं। इनमे जिसको भी बदलना आवश्यक हो उसे बदल दिया जाता है।

(७) प्लास्टर के पश्चात्—इसमे लेटा कर प्लास्टर किया जाता है।

शय्याओ का उपकरण—

वायु या जलपूरित बिछौने, तकिये। इनमे हवा या जल भरा जाता है। ये लम्बे समय तक लेट रहने वाले रोगियो के लिये आवश्यक होते हैं। इन उपकरणो के प्रयोग के बाद भी इनकी सावधानी रखे। इनके कोने में नली लगी होती है, जो हवा या जल भरने के बाद बन्द की जाती है। ऐसे उपकरणो को काम लेने के बाद इनके बाहर की ओर फ्रेंच की चाक मिट्टी के चूर्ण को लगा कर सुरक्षित रखें तथा इनके भीतर थोडी वायु भरी रहे जिससे रबर की दोनो तहें आपस मे नही चिपके। इनमे भरने का जल इतना गर्म रहे कि रोगी को थोडी थोडी उष्णता मिलती रहे। जल को १५-१५ दिन बाद परिवर्तन कर दें। जल मे कुछ जन्तुनाशक द्रव्य मिला दे। जलपूरित या वायुपूरित बिछौने के नीचे काष्ठ की पट्टी रखें।

वायु चक्र—ये रबर के बने हुए गोल आकार मे होते हैं जिनमे पम्प या मुह से हवा भर दी जाती है।

पलग के पड़वाए—

ये खाट के ऊपर या नीचे की ओर के पायो को ऊचा करने के लिए उपयोग मे लाए जाते हैं। ये लकडी के बने गट्टे जिनकी ऊँचाई ४ से २४ इच तक हो सकती है।

शय्या के नीचे पायो को ऊँचा उठाना—

मानसिक आघात, बस्ति तथा उदर के रक्तस्राव को रोकने के लिए योनि, अडकोष पर शोथ होने पर शय्या के नीचे की ओर पडवाये लगाये जाते हैं।

शय्या के ऊपरी भाग की तरफ के पायो को ऊँचा रखना—

शिर या छाती से रक्तस्राव होने पर उदर और श्रेणी गुहा के स्राव को बाहर निकालने के लिए तथा श्वास की गति को ठीक करने के लिए शय्या के ऊपर के पायो को ऊँचा रखते हैं।

पालने—

ये लोहे और लकडी के मोड खाए हुए अर्द्धचन्द्राकार झूले होते हैं। ये बीच मे चपटे और इनके दोनो ओर के बाजू मुडे हुए होते हैं। इन्हें रोगी की शय्या पर इस प्रकार रखते हैं कि रोगी के जिस हिस्से पर या शरीर पर वस्त्र का भार न पडे। इस प्रकार वह अवयव या शरीर पालने के मध्य मे रहता है और उस पालने पर ऋतु व रोगी की अवस्था-नुसार वस्त्र ओढा दिया जाता है। इस प्रकार वस्त्र का भार रोगी के शरीर पर नही पडता। इसके अतिरिक्त शरीर के जिस भाग का स्वेदन करना हो वहाँ पालना रख कर चारो ओर कपडा ढक देते हैं परन्तु यह अवश्य ध्यान रखा जावे कि उस समय लोहे से बना पालना न रहे अपितु लकडी का बना हो।

बिछौने पर कुर्सी—

रोगी को बैठा कर उसकी पीठ को सहारा देने के लिए स्प्रिग (मय केनवास) लगा देते हैं जिसके सहारे रोगी आराम से बैठने का सुख प्राप्त कर सकता है।

शय्या पर मेज—

शय्या पर बैठे रोगी के सामने मेज रख देते है जिससे रोगी भोजन कर सकता है अथवा श्वास रोग मे इस पर झुक सकता है।

आतुरालय के वस्त्रो व सामान की निगरानी—

(१) वस्त्रो का वर्गीकरण कर अलग अलग रखे—जैसे पाजामें, कोट, कम्बलें आदि।

(२) प्रत्येक कार्य के लिए जो वस्त्र आवश्यक हो वही बाहर निकालें अधिक कपड़े बाहर निकालने से कपड़े अधिक गन्दे होते हैं तथा धुलाई मे भी व्यय अधिक आता है।

(३) कपडों पर डोरे या किसी पक्के रग का चिह्न लगादें जिससे चोरी मे नही जाय, तथा जाने पर आसानी से पता लगा सकें।

(४) वार्ड का कपडा किसी को भी मागने पर उधार न दें।

(५) धोबी को कपडे देते समय व उससे लेते समय नोट करें व मोलान कर लें।

(६) गर्म वस्त्रो को औषधि छिड़क कर रखे।

(७) रबर की वस्तुओं को साफ कर फ्रेंच चाक का चूर्ण लगा कर रखें। उन पर तैल नही लगाएँ।

(८) फटे कपड़े तथा अन्य अयोग्य वस्तुओ को सम्बन्धित अधिकारी को बता कर रद्द किये जाने की पुस्तक मे लिखें।

(९) कपड़े पर रक्त लगा होने पर पहले ठंडे पानी से धोकर बाद मे साबुन से साफ करें।

(१०) खाट पर जग लग जाने पर नमक या नीबू रगड़ कर साफ करें।

(११) आयोडिन के दाग को निकालने के लिए नौसादर चूर्ण को काम मे ले।

(१२) स्याही का दाग दूर करने के लिए दूध या नीबू-रस को काम में लें।

(१३) अन्य किसी प्रकार के दाग को सुरासार स्पिरिट या पेंट्रोल से साफ करे।

शय्या पर मल मूत्र त्याग की व्यवस्था—

शय्या के चारो ओर परदा लगा कर शय्या पर मोमजामा बिछा कर रोगी बैठ सकता हो तो मोमजामे पर मलपात्र रख बैठा देवें। नही बैठ सकता हो तो कमर के नीचे हाथ डाल कर रोगी को थोडा ऊपर उठा कर मलपात्र सरका देवें तथा मूत्रपात्र भी रख दें। मल-मूत्रपात्र तामचीनी के बने होते हैं।

मलपात्र प्रकार—

(१) सपाट—चपटा और जीभ के आकार का

(२) गोल—गोल और ऊँचा

(३) परफेक्सन—शरीर की सुविधानुसार

मूत्रपात्र—पुरुषो के लिए सुराही के आकार का लम्बे मुह वाला तथा स्त्रियो के लिए चौडे मुँह का होता है।

मुखमार्जन—

दिन मे २ बार सुगन्धित दन्त मजन या दतौन दे। तीव्र रोगो मे चिमटी से रूई का फोमा पकड कर दांत व मसूडे साफ करें।

स्नान—

रोगी चल कर स्नान घर मे जाने योग्य हो तो स्लीपर व वस्त्र पहिने हुए को ले जाएँ। स्नानघर की खिडकियें बन्द कर दे। स्नान के लिए उष्णजल, शरीर पोछने के लिए तौलिया, साबुन, तेल आदि आवश्यक वस्तुए रखे। स्त्रियो के लिए स्त्री परिचारिका तथा पुरुषो के लिए पुरुष परिचारक स्नान की व्यवस्था करें।

शय्या स्नान—

शय्या के पास पानी की तपेली, भगोना, साबुन, तेल, तौलिया, कुल्ला करने का पात्र, दन्तमजन आदि २ आवश्यक सामान रख देवें। खिडकिया बद कर शय्या के चारो ओर परदा लगाएँ। तौलिये को गर्म पानी मे भिगोकर थोडा निचो लेवें। इस तौलिये से सर्व-प्रथम चेहरे को पोछें बाद मे दूसरे अगो को पोछें। इस प्रकार शरीर के प्रत्येक अग को पोछ कर साफ करें फिर वस्त्र पलटा देवे। गर्म जल की थैलिया पास मे रखे और पीने को गर्म पेय दे। स्नान के बाद परदा हटा देवे तथा खिडकिया खोल दें। इस स्नान मे साबुन के जल से स्पज से भी साफ करलें तथा कम्बल बिछाकर दूसरी कम्बल ओढा देवे।

शय्या पर बाल धोने की विधि—

तीन मोमजामे, सेपू, स्नानीय चूर्ण या द्रव, जलपात्र, तौलिया, परात आदि शय्या के पास रखें।

रोगी का कुर्ता या जफर आदि वस्त्र बगल के नीचे कर देवें और गले के चारो ओर मोमजामा बाध देवें तथा गद्दे के सिरहाने के हिस्से को मोड कर उस पर दूसरा मोम-जामा फैला देवे। तीसरा मोमजामा शय्या पर फैलाकर परात रख देवें। सेंपू को बालो मे मलकर धीरे-धीरे बाल धोवे। इसके बाद बालो को तौलिये से पोछ, सुखा कर कघी कर लेव।

शय्या व्रण—

लम्बे समय तक शय्या पर लेटे रहने से तथा क्षीणता बढती रहने पर पीठ, नितम्ब आदि २ स्थानो पर व्रण हो जाते हैं। इन्हें शय्या-व्रण कहते हैं।

प्रारभ मे ये स्थान लाल हो जाते हैं तथा धीरे-धीरे इन स्थानो में दर्द होता है, त्वचा छिल जाती है, इसके बाद व्रण हो जाते हैं, फिर इन पर लसीका या मैल जमा हो जाता है। इस प्रकार व्रण धीरे धीरे गहरा तथा उसके किनारे लाल तथा मोटे हो जाते हैं।

शय्याव्रण को उत्पन्न करने वाली अवस्थाएँ—

(१) बेहोश रोगियो मे, (२) असहाय स्थिति वाले रोगियो मे, (३) पक्षाघात मे, (४) मूत्र बराबर टपकने वाले रोगियो मे, (५) कीटाणुओ के तीव्र आक्रमण से, (६) रोगी की अत्यन्त कृश अवस्था मे, (७) शोथ होने से व्रण हो जाते हैं ।

शय्याव्रण के स्थान—

पीठ के बल लेटे रहने वाले रोगियो मे मणिक के पीछे का भाग, अशफलक, कशेरु का कटक, त्रिकास्थि अनुत्रिकास्थि और टखने के पीछे का भाग आदि २ उभारो पर जैसे जघास्थि के उभारो एव घुटने के बाहर के स्थान आदि स्थानो पर व्रण हो जाते हैं ।

शय्याव्रण के प्रतिरोधक उपाय—

शय्या व्रण होने वाले शरीर के उभरे हुए भागो पर जहा भी व्रण होने की सभावना हो वहा दिन मे दो बार खार साबुन तेल मिली हुई औषधि का मिश्रण, या तेल स्पिरिट का मिश्रण लगावे । जिक और बोरिक पाउडर छिडके तथा इन स्थानो मे सराम्भ तथा वेदना बढती जाय तो चिकित्सक को सूचित करें ।

शय्या व्रण होने वाले भागो पर दबाव कम करने के लिए वायुपूरित बिछौने या चक्र अथवा जलपूरित बिछौनो का प्रयोग करे । वेदना वाले स्थानो पर रूई की गद्दी बाधें । ओढने के वस्त्र का भार रोगी पर न पडे इसके लिए पालने का प्रयोग करे तथा बिछौने मे कूडा-करकट तथा सलवट न रहे इसका पूरा ध्यान रखें । सिलाई किये हुए वस्त्र रोगी के नीचे न आएँ तथा मलत्याग के लिए टूटे हुए मलपात्र का उपयोग न करे तथा मलपात्र रखने तथा निकालने मे पूर्ण सावधानी रखें ।

तापमापक यन्त्र—

मनुष्य की उष्णता नापने के लिए काच का बना हुआ एक नलिकाकार यन्त्र होता है जिसे तापमापक यन्त्र या थर्मामीटर कहते हैं । इस यन्त्र के नीचे का भाग पतला होता है, ऊपर का भाग नीचे के भाग की अपेक्षा मोटा और लम्बा होता है । यह सारा यन्त्र अन्दर से पोला होता है और यह पोला भाग नीचे के पतले भाग से अधिक गहरा होता है । इस नीचे के भाग मे पारा रहता है तथा इसी भाग को शरीर की ऊष्मा मापने के लिए मुह, बगल आदि स्थानो मे लगाया जाता है । इस यन्त्र के ऊपर के भाग मे ९५ से ११०° तक अक लगे होते हैं । नीचे का पारे का भाग शरीर मे निश्चित स्थानो पर लगाने पर शरीर की उष्णता से पारा ऊपर के पोले भाग मे चढता है । यह पारा जिस अक तक जाकर ठहर जाता है वही शरीर की गर्मी मानी जाती है । मनुष्य की उष्णता साधारणतया ९८.४ होती है और ज्वर आने पर उष्णता इससे आगे बढ जाती है । यह कभी-कभी किसी के १०८° तक भी बढ जाती है । लेकिन १०४ या १०५ से अधिक बहुत कम देखने को मिलती है ।

तापमापक यन्त्र १/२ से ५ मिनिट तक रोगी की जघा, बगल, मुह, गुदा आदि स्थानो मे लगाया जाता है। गुदा मे लगाने का एक विशेष प्रकार का थर्मामीटर आता है। प्राय: इसका प्रयोग काख, मुह मे किया जाता है।

तापमान लेने के स्थान—(त्वचा पर) काख, जघा, घुटने के पीछे मुख, गुदा आदि।

त्वचा पर तापमान लेना—

काख, जघा और घुटना इनमे से जहा पर भी थर्मामीटर लगाना हो वहा का पसीना पोछ लें। यदि काख मे बाल अधिक हो तो बालो की तह मे लगाएँ। अभिप्राय यह कि थर्मामीटर का स्पर्श त्वचा से हो।

मुंह से तापमान लेना—रोगी की जिह्वा के नीचे थर्मामीटर के पारे वाला भाग रखें और होठ बन्द कर दें।

अत्युष्ण, अतिशीत, अन्न-पान लेने के बाद, मुह मे व्रणशोथ होने पर, बेहोश अवस्था मे प्रलाप के समय। छोटे बच्चो का तापमान मुह का न ले।

गुदा से तापमान लेना—इसके लिए एक विशेष प्रकार का थर्मामीटर आता है। इसके पारे वाले भाग पर २ इच तक वैसलीन लगाकर १/२ इच तक गुदा मे प्रविष्ट करें। इसी प्रकार योनि मार्ग मे भी प्रयोग किया जा सकता है।

प्रत्येक थर्मामीटर को कितने समय तक लगाना यह उस पर लिखा होता है। जितना समय लिखा हो उससे दूने समय तक और विशेष परिस्थिति मे ५ मिनट तक भी रखा जाता है।

त्वचा से मुह मे आधा डिग्री तक तथा मुह से गुदा मे १/२ से १ डिग्री तक तापमान अधिक आता है।

विभिन्न तापमान—

मध्यम ज्वर	१०१°	से	१०३° तक
तीव्र ज्वर	१०३°	से	१०५° तक
स्वाभाविक	९७°	से	९८.४ तक
शीताङ्ग	९५ से कम।		

तापमान लेने से पूर्व ध्यान देने योग्य बातें—

थर्मामीटर को हमेशा कीटाणुनाशक घोल मे रखें। या कार्य मे लेने से पूर्व कीटाणुनाशक घोल से धोकर साफ कपडे से पोछ लें। फिर थर्मामीटर को हाथ से पकड कर झटका देकर पारे को ९५ नीचे ले आवें। फिर पारे वाले भाग को रोगी के शरीर मे पहिले बताए स्थान मे रख देवें। आधे से पाच मिनिट तक रख, निकाल कर देखें कि पारा किस अक पर ठहरा है उसे नोट करलें, फिर झटका देकर पारे को यथास्थान ले आएं।

तापमान वृद्धि के कारण—

व्यायाम के बाद, गर्म जल से स्नान करने के बाद, आग सेकने के बाद, उष्ण वातावरण मे तथा सायकाल तापमान बढ जाता है।

तापमान कम करने के उपाय—

पसीना लाने वाली औषधियो का प्रयोग, सिर पर बर्फ की थैली का प्रयोग, अथवा जल की पट्टी का प्रयोग, तथा जलार्द्र कपडे से पोछने से तथा शीत जल की बस्ति से तथा नमक और घी को तलवो पर मलने से तापमान कम होता है।

नाड़ी विज्ञान—

शरीर की रक्तवाहिनियो मे उनकी आकृति के अनुसार रक्त वहता रहता है। हृदय की प्रत्येक सिकुडन से ३ से ४ औन्स तक रक्त धमनी मे फेका जाता है। इससे महाधमनी द्वारा सब धमनियो मे आघात पहुचता है। इस प्रत्येक आघात की तरग को नाडी की गति कहते है।

नाड़ी देखने के स्थान—

(१) मणिबन्ध के ऊपर अगुष्ठ के मूल मे।
(२) नीचे के जबडो पर
(३) कान के पास
(४) जघा के पीछे
(५) पैर पर टखने के पार्श्व मे।

उपरोक्त ५ स्थानो मे से मुख्यतया (१) मणिबन्ध की नाड़ी देखने का ही अधिक प्रचार है।

नाड़ी देखना—

नाडी को विश्राति के बाद देखें। व्यायाम के बाद, चलकर आने पर तथा गर्म पेय पीने के बाद तथा मद्य आदि नशीली चीजे पीने के बाद नही देखे। कोहनी मुडी हुई, हाथ शिथिल करा कर मणिबध के स्थान पर तीन अगुलिया रख कर देखे।

नाडी के स्पन्दन एक मिनिट तक गिनें या १५ सेकण्ड तक गिन कर चौगुना करलें।

स्वस्थ मनुष्य की नाडी-गतिस्पन्दन ७२ से ८० तक।

नवजात शिशु मे प्रति मिनिट गति १४०

१ वर्ष के शिशु की	,,	१२०
२ वर्ष से ५ वर्ष तक	,,	१००
५ ,, से १० ,,	,,	९०
वृद्धावस्था मे	,,	७२ से कम।

नाडी स्पन्दन व श्वास का अनुपात १ - ४ तक साधारणतया होता है। अर्थात् नाडी-गति श्वास से चौगुनी होती है। ज्वर एक फहरनहीट पर नाडी की गति दस बढ़ जाती है।

कठिन व जड़	अजीर्ण मे
पुष्टिहीन व मद	पक्वाजीर्ण मे
विशूचिका मे	मडूक प्लुतीवत्
वक्रा	वात
चचल	पित्त
मद	कफ

नाडी गति द्रुत है या मन्द
नाडी गति—सम है या विषम-तथा ये समय, व वेगानुसार है।
नाडी आकृति—स्थूल है या कृश
नाडी सहति—सगठन मृदु है या कठोर
नाडी उत्पात—तीव्र है या मन्द

आयुर्वेदीय नाडी परीक्षा चरित्र-नायक ने इसी ग्रन्थ में अपने सुदीर्घकालीन अनुभव के आधार पर लिखी है अत उसे भी देखें।

रक्तभार—

देह मे बहने के लिए रक्त मे दबाव होना चाहिए। अर्थात् कोई भी तरल जब नालियो मे बहता है तो वह एक दबाव नलियो पर डालता है—रक्त नलियो पर पडने वाला दबाव ही रक्तभार कहलाता है। इसे मापने के यन्त्र को स्फीग्मोमीनो मीटर कहते हैं। इस यन्त्र मे नीचे पारा तथा उसके ऊपर काच की नली होती है। इस नली पर मिलीमीटर स्केल लगा होता है। इसके साथ ही बाहु पर बाधने का पट्टा तथा २ शाखा वाली रबर की नलिया, जिनमे से एक का सम्बन्ध बाहु के पट्टे तथा दूसरी का सम्बन्ध हवा भरने की गेंद से होता है। इस यन्त्र के पट्टी को रोगी के बाहु पर हृदय की ऊँचाई पर बाध देते हैं तथा स्टेथस्कोप का अगला सिरा प्रगन्डीया धमनी पर रख देते हैं। फिर धीरे-धीरे गेंद को दबाकर बाहु वाले पट्टे के बन्धन मे तब तक हवा भरते रहते हैं जब तक कि धमनी की आवाज बन्द न हो जाय। अब हवा निकालना शुरू करते हैं। जब धमनी की आवाज आने लगे तब इस मिलीमीटर स्केल को देखो, जिस अक पर पारा हो उसे नोट करलें, यह हृदय का आकुचन रक्तभार है। इसे सिस्टोलिक ब्लडप्रेसर कहते हैं।

हवा को निकालना जारी रखें। जब आवाज आना बिल्कुल बन्द हो जाय अर्थात् धमनी का स्पन्दन सुनाई न दे तब मिलीमीटर स्केल पर जहाँ पारा हो उसे भी नोट करलें। यह हृदय का प्रसार या डिस्टोलिक रक्तभार है।

स्वस्थ मनुष्य का आकुंचन रक्तभार—

साधारणतया ११० से १३० मि मी. तक होता है। आकुंचन व प्रसार रक्तभार का अन्तर ४० मि. मी. होता है—

१० से १५ वर्ष की आयु तक	१०० से ११०
१५ से २५ वर्ष ,,	११० से १२०
२५ से ५० वर्ष ,,	१२० से १४५

प्रसार रक्तभार—

१० से १५ वर्ष की आयु तक। ६७ से ७५ फिर धीरे-धीरे बढता हुआ ९५ तक चले जाता है। १०० से अधिक होना अच्छा नही।

रक्तभार बढने के कारण—

वृक्क रोग, हृद्रोग, रक्तवाहिनियो के रोग, फिरग रोग, मानसिक चिन्ता आदि से बढ जाता है।

रक्तभार कम करने के उपाय—

विश्राम, उपवास, मूत्रल औषधिया, स्वेदल औषधिया दें तथा रक्तस्राव कराएँ।

रक्तभार कम होने के कारण—

शस्त्रक्रिया से वातसस्थान पर आघात होना, हृदय मे आघात, अधिक रक्तस्राव, वमन विरेचन का अतियोग, उपवृक्क रोगो मे।

श्वसन—

फुफ्फुस के शिकाओ में से वायुकोष्टको द्वारा नि.श्वास प्रश्वास के माध्यम से वायु के आवागमन को श्वसन कहते हैं। इसका उद्देश्य शरार के असख्य कोशाणुओ की आवश्यक प्राण वायु की बराबर पूर्ति करना, उनमे बनने वाली कार्बन गैस (अगारक) का बाहर निकालना है। इसके तीन विभाग हैं।

(१) पूरक — श्वास लेना, उच्छ्वास

(२) रेचक — श्वास बाहर निकालना, नि श्वास

(३) कुम्भक—कुछ विश्राम लेना, विराम

श्वास गति—

स्वस्थ युवक मनुष्य	१६ से १८	प्रति मिनट
नवजात बालक	३५ से ४०	,,
५ वर्ष का ,,	२५	,,

श्वास गति लेना—

श्वास की गति जानने के लिये अपना एक हाथ रोगी के उदर या छाती पर रख दें, तथा गिनते रहे । इसके साथ ही नियमितता, दीर्घता और रीति पर भी ध्यान दे ।

श्वास गति बढ़ाने वाले कारण—

व्यायाम, मनोविकार, ज्वर, फुफ्फुस तथा हृद्रोग, एट्रोपीन औषधि की प्रतिक्रिया से गति बढ जाती है ।

श्वास की गति कम होने के कारण—

विश्राम, निद्रा, थकावट, बेहोशी, आघात लगने पर, अफीम जैसी मादक औषधि के सेवन से श्वास गति कम हो जाती है ।

श्वास गति से नाडी गति चौगुनी होती है परन्तु श्वसनक आदि ज्वरो मे श्वास गति बढ जाने से निपात बदल जाता है ।

श्वास के प्रकार—

(१) दीर्घ श्वास इसमे उच्छ्वास अधिक समय रुकता है । रक्तस्राव, मानसिक आघात, शीताग आदि अवस्थाओ मे ऐसा होता है ।

(२) मन्द श्वास मादक द्रव्य के सेवन के बाद श्वासगति मन्द हो जाती है । कभी-कभी १ मिनट मे ८ से १० वार तक हो जाती है ।

(३) अगभीर (छिछला) श्वास : इससे वायु थोडी सी लेकर शीघ्र बाहर निकाल दी जाती है । श्वसनक, फुफ्फुसावरण प्रदाह मे ।

(४) कठोर घर्घर श्वास : यह रोगी की अत्यन्त बेहोशी की अवस्था मे होता है । इसमे नीद के खुर्राटे की अपेक्षा अधिक कठोरता रहती है ।

(५) कर्कश श्वास : नाक के भीतर रुकावट होने से ऐसा श्वास होता है ।

(६) शू शू शब्द श्वास . फुफ्फुसो मे प्रतिबन्ध होने पर ऐसा श्वास होता है ।

(७) अतिकृच्छ्र श्वास : नाक या गले मे गाँठे होने पर श्वास बाहर निकलने मे कठिनता होती है ।

(८) बैठ कर श्वास लेना · तमक श्वास मे रोगी को बैठ कर श्वास लेना अच्छा लगता है ।

(९) छिन्न श्वास : श्वास रुक रुक कर कभी शीघ्र या विलम्ब से आना, जैसे वृक्कविकार, हृद्रोग, बहुत ऊँचे पहाड़ो पर ।

श्वासावरोध के कारण—

(१) फुफ्फुसो मे जल भर जाना
(२) कोयले के गैस मे श्वास लेने से
(३) पोटाशियम साइनाइड के ममान विष के शरीर मे प्रसार से
(४) श्वसन केन्द्र निर्जीव हो जाने पर

विवरण-पत्र भरना—

विवरणपत्रक मे तारीखवार तापमान, नाडीगति, श्वासगति, मल-मूत्र की सख्या लिखें। प्राय विवरण-पत्र प्रात तथा सायकाल भरते हैं, किन्तु रोगाधिक्य की अवस्था मे ४-४ या ६-६ घण्टे बाद भरना पडता है।

विवरणपत्रक सुन्दर, सूक्ष्म तथा स्पष्ट अक्षरो मे लिखना चाहिये, जिससे कि पढा जा सके। बस्ति, सूचीवेध तथा जो भी क्रियाएँ की जाँय वे ठीक प्रकार से अङ्कित रहनी चाहिएँ। पत्रक के भरने के समय स्याही के धब्बे या गन्दे हाथ न लगें इसका ध्यान रखा जावे। पत्रक भरने का उद्देश्य रोग की स्थिति और चिकित्सा सम्बन्धी जानकारी रखना है जिससे कि परिचारक व उपवैद्यो तथा वैद्यो को चिकित्सासम्बन्धी ज्ञान रहे।

औषधि प्रकार—

औषधि ४ प्रकार की मानी गई है।

(१) उद्भिज्ज इसमे वृक्ष की शाखा, पत्ते, फल, मूल, जड, बीज और छाल आती है।

(२) प्राणिज इसमे प्राणियो के अवयव प्रयुक्त होते हैं।

(३) खनिज खान से निकलने वाले द्रव्य

(४) रासायनिक रससिन्दूर, रसकपूर, पर्पटी आदि।

औषधि रखना—

औषधि रखने के लिये वार्ड के समीप के कमरे मे आलमारियें होती हैं। औषधालय से औषधि तैयार कर वार्ड मे लाते हैं तथा वहाँ यथोचित स्थान पर रख देते हैं। सीरम तथा वेक्सीन आदि शीत स्थान मे रखी जावें।

विषैली औषधियाँ—

जहरीली औषधियो को वार्ड मे अलग ताला लगाकर रखें। इनकी बोतले भी विशिष्ट प्रकार की, तिकोनी, खुरदरी तथा नीले रग की हो। लेबिल पर लाल अक्षरो मे विष लिखा रहे।

औषधि देने का प्रकार—

(क) प्रवाही . उदर मे सेवन योग्य

(१) द्रावण—एक या अनेक द्रव्यो को जल मे घोल कर दिया जाता है। (ग्लूकोज जल, लवण जल)।

(२) मिश्रण—एक या अनेक औषधियाँ जल मे ठीक प्रकार से हिला कर दी जाती हैं। (द्राक्षासव, अशोकारिष्ट)।

(३) कषाय—ऽ। भर जल मे २ तोला क्वाथ द्रव्य डाल कर चतुर्थांश रहने पर छानकर पिलाया जाता है।

(४) पायस (इमल्शन)—किसी भी तैल को द्रव मे मिश्रण बनाने के लिये पहिले जल में गोंद मिला कर घोट कर तैल मिलाने से सफेद दूध के रग का गाढा मिश्रण पायस कहलाता है।

(५) अच्छ पान—घृत, एरण्ड तैल, कोडलिवर ऑइल आदि शुद्ध रूप मे पिलाने को अच्छपान कहते है।

(ख) उदर मे सेवनीय ठोस औषधिया ·

(१) चूर्ण—एक या अनेक औषधियो को कूटकर सूक्ष्म वस्त्र से छानकर शहद, दूध, जल व अन्य तरल पदार्थ के साथ पिलाते हैं।

(२) वटी—औषधियो को पीस कर किसी भी द्रव के साथ घोट कर गोल गोल गोलियाँ बना ली जाती है।

(३) वटिका (टेबलेट्)—औषधियो के चूर्ण को मशीन से चपटी वटिकाऐ बना ली जाती हैं।

(४) केप्सुल—यह नली आकार की जिलेटीन से बनी पतली डिब्बियाँ है। इनमे औषधि रख कर बद कर देते है। इनसे औषधि का स्वाद तथा गन्ध रोगी को अनुभव न होने से अरुचि नही होती तथा जिन औषधियो का दातो मे लगना हानिकर होता है जैसे अमीररस, देवकुसुमादिवटी आदि उनका इससे प्रयोग सुकर होता है। इन्हे बीज निकाली मुनक्का मे डाल कर भी लिया जा सकता है।

स्नेहन—

स्नेह ४ तरह के होते हैं (१) घी, (२) तेल, (३) वसा, (४) मज्जा इन्हे रोगी के कोष्ट मृदुमध्य, अथवा क्रूर का परीक्षण कर तीन या चार पाच दिन तक उपरोक्त स्नेह पिलाये जाते हैं। मात्रा २ से ४ तोले—शीतकाल मे दिन मे तथा उष्णकाल मे रात्रि मे प्रयोग करे।

स्नेह प्रयोग के बाद रोगी का स्वेदन किया जाता है ।

वाष्प स्वेद—

घड़े मे औषधिया व जल डाल कर आच पर रखा जाता है, घडे पर ढक्कन लगा, ढक्कन मे नलिका लगाकर वाष्प पेटी द्वारा समस्त शरीर का या रुग्ण एकाग का स्वेदन किया जाता है ।

ताप स्वेद—

गड्ढा खोद कर उसमे दोषविरुद्ध औषधियो को जलाकर गड्ढे को गर्म कर उसमे दोषविरुद्ध औषधियो के पत्ते बिछाकर उस पर रोगी को लेटा कर स्वेदन कराएँ ।

स्नेह स्वेद—

हलवा आदि से पोटली बना कर स्निग्धस्वेदन किया जाता है ।

उष्म स्वेद—

केल्हू या ईंट, नमक आदि को गर्म कर सेंक करने को उष्म स्वेद कहते हैं ।

स्नेहन तथा स्वेदन ये दोनो स्तम्भरूप कर्म है जो कि शोधन से पहिले आवश्यक होते हैं ।

केस्ट—

गेहूँ के आटे से बनी पतली गोल चपटी डिब्बिया हैं इनका भी प्रयोग पूर्ववत् होता है ।

अवलेह—

औषधियो को उबाल छान कर उसमें गुड शर्करा आदि मिला चासनी बना चाटण जैसा तैयार करते हैं जैसे—च्यवनप्राश, वासावलेह आदि ।

(ग) विविध—

बाष्प—

तेज गरम जल मे औषधि मिलाकर या किन्ही द्रव्यो के क्वाथ बनाकर आवश्यक अग पर बाध देते है—

नस्य—

नाक द्वारा लिये जाने वाले चूर्ण, तेल आदि कट्फलादिनस्य, षड्बिन्दूतेल ।

गण्डूष—

मुख व कठरोगो मे औषधिमिश्रित पतले पदार्थ से कुल्ले करवाने को गण्डूष कहते हैं जैसे स्फटिक द्रव, नमक द्रव आदि ।

धूम्रपान—

यह प्राय श्वास रोगो में अथवा कफज रोगो मे कराया जाता है—जैसे श्वास रोग मे धत्तूरपत्र मैनसिलका ।

(घ) बाह्य प्रयोग—

(१) मरहम—वेसलीन या मोम आदि मे औषधि मिलाकर व्रणो पर लगाया जाता है ।

(२) मर्दन—औषधियो से बने या शुद्ध तेल से मालिश करने को मर्दन कहते हैं ।

(३) लेप—औषधिया बारीक पीस जल में मिलाकर गर्म कर स्नेह मिला कपडे पर लगा कर या योंही लेप किया जाता है ।

धावन—

जल मे कीटाणुनाशक औषधि मिला व्रण को धोया जाता है, उसे धावन कहते हैं ।

सेक—

औषधि जल मे मिलाकर गर्म करके या गर्म पानी मे औषधि डाल कर उसमे कपडा भिगोकर दर्द वाले स्थान पर सेंक किया जाता है । अथवा तैल आदि मे मिलाकर या हलवा बना कर पोटली स्वेद दिया जाता है । वैसे गर्म पानी की थैली का, केलू का रेत से, नमक आदि से सेंक किये जाते है । चरकने १३ प्रकार का तथा सुश्रुत ने ४ प्रकार का स्वेद कहा है ।

अञ्जन—

आँख में लगाने वाली औषधि को अजन कहते हैं । विविध प्रकार के सुरमे । औषधियो को गुलाब जल मे घोलकर आश्च्योतन बनाते हैं तथा कुछ औषधियो की गोलियें बना जल में घिसकर लगाते हैं—चन्द्रोदयावर्ती ।

रक्तरोधक द्रव—

सद्य व्रण के रक्तस्राव को रोकने के लिए टिंचर आईडोन आदि का प्रयोग करते हैं ।

अन्तः क्षेपण (सूची वेध)—

शीघ्र असर करने के लिये औषधि का सीधा रक्त मे प्रयोग किया जाता है । ये औषधियें द्रवरूप मे तथा सूक्ष्म चूर्ण या वटिका के रूप मे आती है जिन्हे परिस्रुत जल मे मिला कर सूची द्वारा त्वचा मे मास मे तथा शिरा में अथवा नाडियो मे सधियो आदि मे प्रयोग किया जाता है ।

शरीर मे अन्य मार्गो द्वारा दी जाने वाली औषधियां—

ग्लोसरीन से बनी बत्तियें तथा हिंग्वादिवर्ती गुदा से मल निकालने के लिये प्रयोग की जाती है । इससे तत्काल बाद क्रिया होती है । इसी प्रकार देह के अन्य स्रोतो मे भी औषधि का चूर्ण तथा द्रव के रूप मे उपयोग किया जाता है ।

औषधि देने की विधियो का संक्षिप्त विवरण—

मुह से निगला कर, चूसा कर, गुदा मे बस्ति या वर्ती के रूप मे, श्वास मार्ग के लिए भाप, धूम्र, मर्दनार्थ, धावन आदि अनेक रूपो मे व्यवहार किया जाता है।

लेप—

ये तीन प्रकार के है—(१) दोषघ्न (२) विषहर (३) वर्ण्य

लेप आधा अगुल मोटा, पौन अगुल या एक अगुल मोटी परत के रूप मे लगाया जाता है।

उपनाह—

अलसी, राई, गेहूँ का आटा, कोयला, खडिया आदि द्रव्यो को गर्म कर पीस कर पानी मिलाकर गाढा हलवे के रूप मे बनाकर लेप किया जाता है।

विकेशिका—

विसक्रमित गोज को व्रण की अवस्थानुसार शोधन रोपण तैलो मे भिगो कर प्रयोग किया जाता है।

औषधियो के मुख्य वर्ग—

(१) वेदनाशामक वर्ग	—	वेलाडोना, धत्तूरा आदि
(२) चेतनाहर ,,	—	क्लोरोफार्म, ईथर मद्य आदि
(३) कृमिघ्न ,,	—	विडग, कपोला, नीमफल आदि
(४) ज्वरघ्न ,,	—	चिरायता, गिलोय, करज, कुनैन आदि
(५) कीटाणुनाशक वर्ग	—	नीमक्वाथ, फिटकिरी, कार्बोलिक एसिड
(६) उत्तेजक ,,	—	कस्तूरी, मृतसजीवनीसुरा, ब्रान्डी आदि
(७) पौष्टिक ,,	—	लौह, च्यवनप्राश, जीवनीय आदि
(८) कीटाणु प्रतिबन्धक वर्ग	—	सीरम

रोगी को औषधि देने की विधि—

दाहिने हाथ से बोतल को उठावे। बाएँ हाथ के अगूठे व अगुली से कार्क को पकड़ कर निकालें। बोतल लेते व रखते समय लेबिल को ध्यान से पढें। यदि दवा निकालते समय बोतल को हिलाना आवश्यक हो तो उसे इस प्रकार हिलाए कि बोतल मे झाग पैदा न होवे। औषधि मेजर ग्लास मे डाल कर देखें कि आवश्यकीय चिन्ह तक औषधि आई है या नही। मेजर ग्लास में ली हुई औषधि को जहाँ तक हो सके पुन बोतल मे न डालें।

रोगी को समय पर औषधि दे। यह भी ध्यान रखें कि रोगी ने औषधि ली है या नही। भोजन से पूर्व दी जाने वाली औषधि भोजन से २ घटे पूर्व तथा भोजन के बाद दी

जाने वाली औषधि १५ मिनिट बाद दे। यदि रोगी सोया हुआ हो तथा रात्रि मे दी जाने वाली औषधि देना आवश्यक होने पर जगा कर दे। विरेचक औषधि तीव्र हो तो प्रातःकाल जल्दी दें तथा साधारण रेचक औषधि रात्रि को सोते समय दें।

तैल वाली औषधि देने के बाद मुख-शुद्धि के लिए चूसने को मौसम्बी दें। खराब स्वाद वाली औषधि देकर फल, दूध या जल पिलाएँ। इसी प्रकार चूर्ण फँका कर जल व दूध आदि दें। दुर्गंधयुक्त औषधि नाक दबा कर पिलाएँ। गोली निगलवा दे, यदि निगली न जा सके तो चूर्ण करके दें। परन्तु अमीर रस आदि तो निगलवाने ही चाहिएँ। प्राय. आतुरालयो मे रोगियो को ब्रान्डी, मृतसजीवनी सुरा, ह्विस्की लाइकर आदि मद्यो का प्रयोग किया जाता है। इनमे १६ से २० या ४० से ४५ प्रतिशत मद्य की मात्रा होती है।

वेक्सीन—

कीटाणुओ को काच-नलिका मे रख उपयुक्त आहार तथा अनुकूल वातावरण मे उन्हे बढाए जाते हैं। जब निश्चित सीमा मे बढ जाते हैं तब आवश्यक गर्मी देकर मार दिए जाते हैं। फिर इसमे उचित मात्रा मे कार्बोलिक एसिड डाल देते हैं जिससे कि कोई जीवित शेष न रहे। अब इनकी परीक्षा कर इनके विष की मात्रा निश्चित की जाती है और उसी के अनुसार वेक्सीन की मात्रा निश्चित कर त्वचा के नीचे प्रयोग किया जाता है। इससे शरीर मे रोग प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न होती है।

सीरम—

स्वस्थ घोडे या अन्य जानवर को प्रारम्भ मे थोडी मात्रा मे रोगोत्पादक कीटाणुओ के विष की मात्रा दी जाती है। धीरे-धीरे यह मात्रा इतनी बढादी जाती है कि वह कई घोडो के लिये मारक हो सकती है। जब इस प्रकार इनके रक्त मे अत्यधिक कीटाणु-नाश की शक्ति उत्पन्न हो जाती है तब उसकी शिरा वेध कर रक्त निकाल कर उससे सीरम तैयार किया जाता है।

आहार का महत्व—

परिचर्या और उपचार का मुख्य परिणाम रोगी को ठीक भोजन कराना है। स्वस्थ तथा रोगी जीवन मे प्राचीन तथा वर्तमान समय मे आहार का बडा महत्व माना गया है। आयुर्वेदशास्त्र मे बताया गया है कि यदि रोगी पथ्यपूर्वक रहे तो उसे औषधि सेवन की आवश्यकता नही हो पाती अर्थात् बिना औषधि के भी उपयुक्त आहार और पथ्य रखने से रोगी रोगमुक्ति पा सकता है तथा अपथ्य आहार से रहने पर औषधि प्रयोग करता भी रहे तो रोगो से छुटकारा नही मिल सकता अत आहार की महत्ता स्वत· परिलक्षत हो जाती है।

आहार के गुण—

(१) आहार मे देह की बढोत करने वाले तत्व रहे ।

(२) देह मे ऊर्जा तथा ऊष्मा देने वाले तत्व पूर्ण हो ।

(३) उपयुक्त मात्रा मे जीवनीय तत्व हो ।

(४) नमक

(५) जल

(६) कुछ ऐसे तत्व भी रहें कि उदर मे पचा हुआ आहार यथा समय मलरूप मे गुदा द्वारा स्वतः बाहर आ जाय—

१ खाद्योज

२ श्वेतसार

३ स्नेह

४. लवण

५ जल

६ जीवनीय तत्व

आहार की मात्रा—

मात्रा सर्वग्रह तथा परिग्रह के रूप मे लिये गये सर्व रस वाले आहार का पचन हो जाय वही मात्रा कहलाती है। आजकल इसकी कल्पना आहार मे उत्पन्न उष्णाक से की जाती है। अनैच्छिक मास की क्रियाऍं देह मे निरन्तर होती रहती है अत· मध्य प्रमाण के पुरुष के लिए एक अहोरात्र मे ३००० उष्णाक प्रतिदिन अपेक्षित हैं।

रोगानुसार आहार के लिये ध्यान देने योग्य—

सर्वाङ्गशोथ, रक्तभाराधिक्य, मस्तिष्क मे रक्तस्राव होने पर दिन भर मे जल एक पाइन्ट से अधिक न दें।

शोथ रोग, वृक्क रोग नमक नही देना चाहिये।

मधुमेह मे श्वेतसारीय पदार्थ दें तथा शर्करा बिल्कुल नही दे ।

आतुरालय मे आहार—

(१) दुग्धाहार . दूध १॥ किलो तक शक्कर २०० ग्राम

(२) तक्राहार दही ॥ किलो से रोगी की इच्छानुकूल

(३) द्रवाहार : यूष, पेया, विलेपी, दूध, शक्कर

(४) लघुमाहार: कृशरा (चावल ५० ग्राम, दाल २५ ग्राम) दूध १ किलो, शक्कर ७५ ग्राम

(५) पूर्णाहार : इसके २ भेद हैं ।

(क) शाकाहार

दूध १०० ग्राम, शक्कर ५० ग्राम, चावल २५० ग्राम, दाल ७५ ग्राम, शाक १५० ग्राम, आलू १०० ग्राम, रोटी २५० ग्राम, घी २५ ग्राम, नारियल २५ ग्राम, मिर्च मसाला २० ग्राम, चाय १० ग्राम ।

(ख) मिश्राहार

, दूध १०० ग्राम, शक्कर ५० ग्राम, चावल १५० ग्राम, दाल ५० ग्राम, मास १५० ग्राम, शाक १५० ग्राम, आलू १०० ग्राम, रोटी २०० ग्राम, मक्खन २५ ग्राम, घी २५ ग्राम, चाय १० ग्राम, नमक १० ग्राम ।

रोगियों को भोजन परोसना—

भोजन का रग आकर्षक होना चाहिये तथा भोजन के पात्र तथा अन्य सामान और भोजन देने वाले कपडे तथा हाथ आदि ठीक तरह से साफ होने चाहिये । रोगी द्वारा पूछे जाने पर प्रश्नो का उत्तर प्रेमपूर्वक मीठे शब्दो मे दिया जाय । असमर्थ रोगियो को भोजन करने मे आवश्यक सहायता दें । बच्चो को भोजन देते समय उनके कपडे खराब न हो इसका ध्यान रखा जावे । भोजन के समय घृणा, चिन्ता, शोककारक कोई बात न हो इसका पूरा ध्यान रखें ।

रोगी का निरीक्षण—

अपनी ड्यूटी के समय, समय समय पर रोगी का निरीक्षण करते रहना चाहिये । जैसे नाडी, श्वास, मलमूत्र-विसर्जन, प्रलाप, वमन, प्यास, निद्रा और मूर्छा, लेटने की स्थिति आदि पर ध्यान रखें ।

(१) लेटने की स्थिति—

रोगानुसार रोगियो के लेटने की स्थिति भिन्न भिन्न होती है । जैसे हृदय व श्वास-रोगो मे प्राय. बैठा रहता है । फुफ्फुसावरण प्रदाह मे रोगी-पीडित पार्श्व से लेटता है ।

(२) निद्रा व विश्राम—

रोगी कितने समय तक सोता है इसका भी पूरा ध्यान रखें ।

(४) मुख-कांति—

लाल चेहरे से ज्वर, पीलेपन से कामला, श्वेताभ से पाण्डु, चिन्तातुर से हृद्रोग का बोध होता है । उदर रोग तथा श्वसनक मे नेत्र तेजस्वी मुमूर्षु का चेहरा कुछ श्यामवर्ण का, नेत्र निस्तेज तथा अन्दर धसे हुए, कर्णपाली मुर्झाई हुई व शीत हो जाती है ।

(४) जिव्हा—

मलावरोध मे जीभ मैली, रक्ताल्पता मे श्वेताभ, आन्त्रिक ज्वर में मलयुक्त तथा किनारे लाल, अजीर्ण में मोटी, आमाशय रोगो मे फटी हुई व उस पर छाले होते है।

(५) वमन—

वमन प्राय उदर तथा अन्त्र के रोगो में आमाशय सकोच से होता है। अधिक कास से भी वमन हो जाता है। भोजन के बाद (अम्ल) अम्लपित्त मे होता है। वमन का निरीक्षण करते समय उसमे रक्त, पित्त आदि क्या है इसका ध्यान करें।

(६) कास—

कण्ठ या फुफ्फुस रोगो मे कास होता है, कास में कफ आता है या नही, कफ के साथ रक्त तो नही आता तथा कफ किस वर्ण का है।

(७) मल मूत्र परीक्षा—

मल और मूत्र की मात्रा, तथा समय, मलमूत्र के समय शूल मरोड तो नही होते, तथा इनमे रक्त तो नही आता या आम तो नहो है इनकी परीक्षा करें।

मूत्र परीक्षा—

(१) परिमाण, (२) प्रतिक्रिया, (३) वर्ण, (४) विशिष्ट गुरुत्व,
(५) अल्ब्यूमिन, (६) शर्करा, (७) स्फुरित, (८) यूरिक एसिड
(९) रक्ताणु, (१०) पूय, (११) रक्त पित्तश्लेष्मा की परीक्षा की जाती है।

(१) परिमाण—

चौबीस घन्टे मे १॥ से २ किलो तक मूत्र निकलता है। शीतकाल, अति जलपान, व्यायाम आदि के अभाव से मात्रा बढ जाती है।

(२) प्रतिक्रिया—

इसकी परीक्षा के लिए कागज के लाल व नीले टुकडे आते हैं। मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होने पर डुबोने पर नीला कागज लाल हो जायगा और क्षारीय होने पर लाल कागज नीला हो जायगा। इस प्रकार अम्लीय तथा क्षारीय प्रतिक्रिया की जाँच करें।

(३) वर्ण—

मूत्र का वर्ण हल्का पीला, सूखे गेहू के पौधे जैसा होता है।

(४) विशिष्ट गुरुत्व—

इसे मापने के यन्त्र को मूत्रमापक (यूरिनोमीटर) कहते हैं जो एक प्रकार की काँच की नली होती है जिसके नीचे के हिस्से मे पारद या शीशा लगा होता है तथा ऊपर की नली मे स्केल लगा होता है जिस पर १००० से १०५० तक अक होते हैं।

परीक्षा के लिये मूत्र को परीक्षा-नलिका मे डाल कर उपरोक्त यन्त्र को डालते हैं। यह यन्त्र मूत्र मे जितना डूब जाय उस अक को नोट कर लेते हैं और यही गुरुत्व है। स्वस्थावस्था के मूत्र का गुरुत्व १०१५ से १०२५ तक होता है।

(५) अल्ब्यूमिन (श्विति)—

परीक्षानलिका मे मूत्र डाल कर एसेटिक एसिड १० प्रतिशत का द्रव मिला कर अम्लीय प्रतिक्रिया बनाएँ, फिर नलिका को टेढी कर स्पिरिट लेम्प पर नलिका के मध्य भाग को गर्म करे, अब यदि उसमे बादल सा गदलापन दीखे तो स्फुरित व अल्ब्यूमिन का सदेह होता है अत इसमे फिर उपरोक्त द्रव का घोल बूद बूद डालें, गर्म करते रहें। यदि गदलापन न रहे तो स्फुरित, तथा रहे तो अल्ब्यूमिन समझें।

(६) शर्करा—

परीक्षानलिका मे ५ cc. बेनडिक्ट्स सोल्यूशन डाल कर उसमें ८ या १० बूद मूत्र मिला कर २ मिनट तक गर्म करे। शीत होने पर वर्ण से ज्ञात करे।

मूत्र का वर्ण	शर्करा प्रतिशत
१ हल्का हरा, कुछ गदला	१ से ५ प्रतिशत तक
२ गहरा हरा (साफ)	५ से १ ,,
३ पीला ,,	१ से २ ,,
४ लाल ,,	२ से अधिक ,,

(७) रक्त—

मूत्र की एक बूद फिल्टर पेपर पर रख उस पर १ बूद बेंजोडीन घोल की डालें—इस पर हाईड्रोजन पर ओक्साइड तीन प्रतिशत को एक बूद डालने से रग नीला हो जाय तो रक्त समझे।

(८) पूय—

मूत्र को थोड़ी देर रखने से नीचे तलछट जमता है। उस तलछट में समान मात्रा में लाइका पोटास मिलावें, यदि पूय होगी तो चिकना पदार्थ बन जाएगा।

(९) पित्त—

चौड़े मुह के प्याले में मूत्र लेकर गधक का चूर्ण छिड़कें, यदि मूत्र में पित्त है तो गधक तैरता रहेगा।

(१०) यूरिक एसिड—

इसके मूत्र मे कण रहते हैं जिनका वर्ण रक्ताभ पीत होता है—यह सूक्ष्मवीक्षण से देखने पर प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

}

(११) परीक्षा के लिये मूत्र भेजना—

साधारणतया परीक्षा के लिये प्रातःकाल का मूत्र रखा जाता है। इसे गिलास (जो कि ऊपर से चौडी, नीचे से सकरी) में डाल कर उस पर रोगी के नाम का चिट, दिनांक, रोगी, शय्या-संख्या तथा वार्ड नम्बर लिख भेजे।

यदि परीक्षा के लिए २४ घण्टे का मूत्र लेना हो तो प्रातः ८ बजे से दूसरे दिन ८ बजे तक का मूत्र ले, तथा इसमें से परीक्षा के लिये मूत्र भिजवावें।

आयुर्वेद मूत्रपरीक्षा चरित्रनायक ने इसी ग्रथ मे अन्यत्र दे दी है अत पुनरुक्ति न हो इसलिये इसे यहा नही दी है। उसे वही देखे।

मल परीक्षा—

पाचक सस्थान सम्बन्धी अधिकाश रोगो का विनिश्चय के लिए मल परीक्षा आवश्यक होती है। रोगी द्वारा दी गई सूचनाओ का विश्वास न कर चिकित्सक को मल-परीक्षा करानी ही चाहिए।

परीक्षा के लिए थोडा सा मल भी किसी पात्र मे लाया जा सकता है परन्तु अच्छा यह होगा कि सपूर्ण मल मगवाया जावे। इसका भी ध्यान रखा जावे कि मल में मूत्र न मिला हो।

मल परीक्षा—

(१) मल-मात्रा, (२) समय, (३) वर्ण, (४) गध, (५) प्रतिक्रिया, (६) अन्य वस्तुऐ (बिना पचे अश, आम, पूय, रक्त, पित्ताश्मरी, क्रिमि आदि)

(१) मल मात्रा—

भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे मल की मात्रा मे भिन्नता रहती है और कभी कभी तो एक ही व्यक्ति मे अलग अलग समय मे मल का परिमाण अलग-अलग होता है। लेकिन साधारणतया चार से आठ छटाक तक मध्य मात्रा है।

(२) समय—

प्राय प्रात साय दो बार अथवा २४ घण्टे मे एक बार शौच का समय है, परन्तु यह व्यक्ति विशेष की प्रकृति पर भी निर्भर करता है, फिर भी बार बार मल त्याग की प्रवृत्ति रुग्णावस्था प्रकट करती है।

(३) वर्ण -

साधारणतया मल घन या अर्ध घन गोल आकार मे निकलता है, परन्तु मलाशय सकोचनी पेशी का अधिक सकोच (जो कि गुदचीर मे) से मल पतले रूप मे होता है।

परीक्षा के लिये मूत्र को परीक्षा-नलिका मे डाल कर उपरोक्त यन्त्र को डालते हैं। यह यन्त्र मूत्र मे जितना डूब जाय उस अक को नोट कर लेते हैं और यही गुरुत्व है। स्वस्थावस्था के मूत्र का गुरुत्व १०१५ से १०२५ तक होता है।

(५) अल्ब्यूमिन (श्विति)—

परीक्षानलिका मे मूत्र डाल कर एसेटिक एसिड १० प्रतिशत का द्रव मिला कर अम्लीय प्रतिक्रिया बनाएँ, फिर नलिका को टेढी कर स्पिरिट लेम्प पर नलिका के मध्य भाग को गर्म करे, अब यदि उसमे बादल सा गदलापन दीखे तो स्फुरित व अल्ब्यूमिन का सदेह होता है अत इसमें फिर उपरोक्त द्रव का घोल बूंद बूद डाले, गर्म करते रहे। यदि गदलापन न रहे तो स्फुरित, तथा रहे तो अल्ब्यूमिन समझें।

(६) शर्करा—

परीक्षानलिका में ५ cc. बेनडिक्ट्स सोल्यूशन डाल कर उसमे ८ या १० बूद मूत्र मिला कर २ मिनट तक गर्म करे। शीत होने पर वर्ण से ज्ञात करें।

मूत्र का वर्ण	शर्करा प्रतिशत
१ हल्का हरा, कुछ गदला	१ से ५ प्रतिशत तक
२ गहरा हरा (साफ)	५ से १ ,,
३ पीला ,,	१ से २ ,,
४ लाल ,,	२ से अधिक ,,

(७) रक्त—

मूत्र की एक बूद फिल्टर पेपर पर रख उस पर १ बूद बेंजोडीन घोल की डालें- इस पर हाईड्रोजन पर ओक्साइड तीन प्रतिशत को एक बूद डालने से रग नीला हो जाय तो रक्त समझे।

(८) पूय—

मूत्र को थोडी देर रखने से नीचे तलछट जमता है। उस तलछट मे समान मात्रा में लाइका पोटास मिलावें, यदि पूय होगी तो चिकना पदार्थ बन जाएगा।

(९) पित्त—

चौडे मुह के प्याले में मूत्र लेकर गधक का चूर्ण छिडकें, यदि मूत्र में पित्त है तो गधक तैरता रहेगा।

(१०) यूरिक एसिड—

इसके मूत्र मे कण रहते हैं जिनका वर्ण रक्ताभ पीत होता है—यह सूक्ष्मवीक्षण से देखने पर प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

(११) परीक्षा के लिये मूत्र भेजना—

साधारणतया परीक्षा के लिये प्रातःकाल का मूत्र रखा जाता है। इसे गिलास (जो कि ऊपर से चौड़ी, नीचे से सकरी) में डाल कर उस पर रोगी के नाम का चिट, दिनाक, रोगी, शय्या-सख्या तथा वार्ड नम्बर लिख भेजें।

यदि परीक्षा के लिए २४ घण्टे का मूत्र लेना हो तो प्रात' ८ बजे से दूसरे दिन ८ बजे तक का मूत्र लें, तथा इसमे से परीक्षा के लिये मूत्र भिजवावें।

आयुर्वेद मूत्रपरीक्षा चरित्रनायक ने इसी ग्रथ मे अन्यत्र दे दी है अत पुनरुक्ति न हो इसलिये इसे यहा नही दी है। उसे वहीं देखे।

मल परीक्षा—

पाचक सस्थान सम्बन्धी अधिकाश रोगो का विनिश्चय के लिए मल परीक्षा आवश्यक होती है। रोगी द्वारा दी गई सूचनाओ का विश्वास न कर चिकित्सक को मल-परीक्षा करानी ही चाहिए।

परीक्षा के लिए थोड़ा सा मल भी किसी पात्र मे लाया जा सकता है परन्तु अच्छा यह होगा कि सपूर्ण मल मगवाया जावे। इसका भी ध्यान रखा जावे कि मल में मूत्र न मिला हो।

मल परीक्षा—

(१) मल-मात्रा, (२) समय, (३) वर्ण, (४) गध, (५) प्रतिक्रिया, (६) अन्य वस्तुऐ (बिना पचे अश, आम, पूय, रक्त, पित्ताश्मरी, क्रिमि आदि)

(१) मल मात्रा—

भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे मल की मात्रा में भिन्नता रहती है और कभी कभी तो एक ही व्यक्ति मे अलग अलग समय मे मल का परिमाण अलग-अलग होता है। लेकिन साधारणतया चार से आठ छटाक तक मध्य मात्रा है।

(२) समय—

प्राय प्रात साय दो बार अथवा २४ घण्टे मे एक बार शौच का समय है, परन्तु यह व्यक्ति विशेष की प्रकृति पर भी निर्भर करता है, फिर भी बार बार मल त्याग की प्रवृत्ति रुग्णावस्था प्रकट करती है।

(३) वर्ण -

साधारणतया मल घन या अर्ध घन गोल आकार मे निकलता है, परन्तु मलाशय सकोचनी पेशी का अधिक सकोच (जो कि गुदचीर मे) से मल पतले रूप मे होता है।

परन्तु अधिक सकोच जैसे कर्कटार्बुद, फिरग, पूयमेहजन्य व्रणो मे तब मल फीते के समान होता है।

कभी कभी आन्त्रिक ज्वर, ग्रहणी, क्षयज अन्त्रशोथ मे मल द्रव रूप से होता है।

बडी आत के विकारो मे मल चिपचिपा आता है।

वर्ण—

स्वस्थावस्था मे मल का वर्ण हल्के बादामी से गहरा बादामी रग तक हो सकता है। परन्तु वर्ण भोजन वर्ण पर भी निर्भर रहता है। परन्तु इसकी आकृति का वर्ण आतो मे गिरने वाल पित्त पर निर्भर करता है। जैसे—

हल्का पीला वर्ण—कामला मे जब कि पित्त का पथ रुद्ध हो जाता है तथा वसा के सम्यक् न पचन से भी यही वर्ण हो जाता है।

पित्त-प्रणाली मे पित्त का अवरोध हो जाने पर भी कामला हो जाता है।

अग्न्याशय विकार या ग्रहणी-विकार से वसा का पाक न होने से भी मल का वर्ण राख सदृश हो जाता है।

अन्यथा पक्वाशय मे रक्तस्राव होने से अथवा लौह, विस्मिथ, मेगनीज तथा कोयले आदि के खाने पर कृष्णवर्ण का मल उतरता है।

अर्श, बृहद्अन्त्रवण, शोथ, कर्कटार्बुद मे मल मे लाल रक्त लगा हुआ होता है।

अतिसार, प्रवाहिका मे आम में लिपटा रक्तयुक्त मल आता है।

अन्त्रशोथ, अपचन, बाल्यावस्था मे हरे पीले वर्ण का मल होता है।

विशूचिका मे मल गन्ध वर्णरहित चावलमड के समान होता है।

श्वेतसार के सधान से झागयुक्त पीले वर्ण का मल आता है।

गन्ध—

मल की गन्ध आहार द्वारा ली जाने वाली प्रोटीन पर निर्भर है। प्रोटीनो के विघटन से गन्ध बनती है। आहार तत्वो के सम्यक् पचन होने पर गन्ध असह्य नही होती, परन्तु श्वेत सार के सधान मे खट्टी बदबू आती है।

तीव्र प्रवाहिका तथा कर्कटार्बुद में बहुत बुरी गध हो जाती है।

मल मे मूत्र मिल जाने पर अमोनिया की सी गध हो जाती है।

प्रतिक्रिया—

मल की प्रतिक्रिया उदासीन होती है, परन्तु श्वेतसार तथा वसा की उपस्थिति तथा अमीबिक प्रवाहिका मे अम्लीय तथा बेसीलरी प्रवाहिका में प्रोटीन की विद्यमानता से क्षारीय होती है।

प्रतिक्रिया मालूम करने के लिये लिटमस पेपर के टुकडे को भिगो कर उस पर थोडे मल को रगडें, जिस प्रकार के पेपर का वर्ण बदलता है उसी तरह की प्रतिक्रिया जानें।

अपक्व अश—

मल मे इनकी उपस्थिति यह प्रकट करती है कि इनका सम्यक् पचन नही हो रहा है, इसमे अन्न तथा आमाशय विकार हो सकता है।

आम—

क्षुद्रान्त्र विकृति मे आम मल से लिपटा रहता है। बडी अन्त्र की विकृति मे आम व मल पृथक २ होता है। मल को पानी मे घोलने से आम तैरता रहता है।

मलपूयता—

बडी आत अथवा मलाशय मे जीर्ण व्रण के कारण से क्षय, फिरग तथा कर्कटार्बुद से, जीर्ण अमातिसार मे मल के साथ पूय आती है। अधिक मात्रा मे पूय की उपस्थिति अन्न के निकट किसी विद्रधिका फट जाना प्रकट करती है।

मलरक्तता—

अन्न या मलाशय से रक्त आने पर मल में शुद्ध रक्त के रेशे दिखाई देते हैं, जैसे अर्श, मलाशय व्रण की स्थिति मे, कभी २ मलशुष्कता से मलावरोध में मल की कठोरता से मल के ऊपर रक्त लगा हुआ आता है। यह मलाशय की केशिका जाल के टूटने से होता है।

अन्त्र के प्रारभिक भाग, आमाशय व्रर्ण, केन्सर से आया हुआ रक्त काले रग का होता है।

मल मे अधिक रक्त होने पर मल को पानी मे घोलने से मल का लाल रग हो जाता है।

मल मे पित्ताश्मरी—

जल से मल को धोने पर अश्मरी के कण नीचे बैठते हैं।

मल मे क्रिमि—

क्रिमि परीक्षण के लिये रोगी को तीव्र रेचन दे, फिर प्रात' रोगी के मल को ६० नम्बर चालनी मे रख कर पानी डालें, इससे मल का अधिकाश भाग पानी के साथ बह जाता है और चालनी मे आहार के अपक्व अश तथा क्रिमि अण्डे बच जाते हैं जिन्हें काच पर रख उसे काले कागज पर रख देते हैं। इसके लिये मेग्नीफाइग ग्लास की सहायता भी ली जाती है।

परीक्षा के लिये मल भेजना—

(१) दिन रात में मल त्याग की सख्या कितनी रही ?

(२) मल का रग, गध तथा आकृति क्या है ?

(३) वायु निकलने मे अवरोध तो नही ?

(४) यदि मल मे रक्त, आम, पूय, क्रिमि, पत्थर, बट्टन, सिक्का आदि पदार्थ हो तो नोट करले तथा इन्हे साफ पानी से धोकर फार्मेलीन के घोल मे रखे।

परीक्षा के लिये मल को साफ बर्तन मे रख उस पर रोगी के नाम की चिट, समय, दिनाक और आतुरालय के रोगी का हो तो शय्या सख्या, वार्ड सख्या लिख कर भेजें।

परीक्षा के लिये कफ भेजना—

चौडे मुह वाले ढक्कनदार साफ बर्तन या शीशी में रख कर उस पर रोगी का नाम तथा आतुरालय का रोगी हो तो शय्या सख्या, वार्ड सख्या लिख कर भेजें।

कफ परीक्षा—

कफ की मात्रा, वर्ण, गाढा या पतला, गन्ध तथा उसमे रक्त, पूय आदि की उपस्थिति की परीक्षा करे।

(१) श्वसनक ज्वर में तथा साधारण कास मे केवल कफ या कभी कभी कफ के साथ रक्त भी दिखाई देता है। यह अवस्था श्वसनक की मध्य अवस्था मे भी मिलती है।

(२) श्वसनक की समाप्ति मे तथा क्षय रोगो में कफ के साथ पूय आती है।

(३) क्षय रोग मे कभी कभी कफ के साथ झागयुक्त रक्त भी दिखाई देता है।

(४) फुफ्फुसो के सडने की अवस्था मे कफ दुर्गन्धयुक्त आता है।

(५) आर्द्र फुफ्फुसावरण प्रदाह तथा अश्रुगैस के प्रयोग से कफ मे अत्यन्त झाग आते हैं।

कफरोगी की परिचर्या—

कफ मे रक्त आने पर रोगी को धैर्य बधाएँ तथा ष्ठीवन के लिए ढक्कनदार पीकदानी रखें। पीकदानी को कृमिघ्न विलयन से भी साफ करे। इकट्ठे हुए रोगियो के कफ को लकडी के बुरादे या घास डाल कर जला दें।

वमन—

आमाशय-सकोच से आमाशय मे रहने वाले द्रव्यो को मुह द्वारा बाहर फेंक दिये जाने को वमन कहते हैं।

वमन के कारण—

१. पाचन सस्थान की उत्तेजना से आमाशय क्षोभ से,
२ आहार मे वामक पदार्थ की उपस्थिति,
३. पित्ताशयाश्मरी,
४ मूत्राशय अश्मरी की वेदना से,
५ गर्भाशय वेदना,
६ गर्भावस्था,
७ उदर मे रक्तस्राव,
८ दुर्गन्ध, घृणित पदार्थ को देखना,
९. नौका, जहाज, मोटर आदि की यात्रा, झूला झूलना,
१०. मस्तिष्क मे दबाव बढना, मस्तिष्कावरण प्रदाह, आघात,
११ शरीर मे विष-प्रवेश, कीटाणुजनित विष,
१२ मूत्र सस्थान के रोगो मे (युरिया के शरीर मे सचय से)।

वमन सम्बन्धी प्रश्न—

१ उबाक के साथ मुह मे जल आता है या नही ?
२ वमन का समय, भोजन से पूर्व या बाद मे वमन मात्रा क्या है ?
३ किसी विशिष्ट पदार्थ के भोजन से वमन होता है ?
४ उदर पीडा होकर वमन होता है ?
५ क्या वमन हो जाने से उदर पीडा शान्त हो जाती है ?

६ वमन में सम्पूर्ण द्रव्य बाहर आ जाता है या थोडा द्रव्य बाहर आकर शेष उदर मे चला जाता है ?

७ शिर शूल के बाद वमन होने पर शिर शूल शान्त हो जाता है क्या ?

परीक्षा के लिये वमन द्रव्य भेजना—

साफ पात्र में वमन द्रव्य रख, ढक्कन लगा उस पर रोगी के नाम की चिट, दिनाक। आतुरालय का रोगी हो तो शय्या सख्या, वार्ड सख्या लिख कर भेजे।

अहोरात्र में वमन कितनी बार हुआ ? उसकी मात्रा क्या है ? उसमें रक्त पित्त श्लेष्मा तो नही ? वमन का वर्ण तथा गध क्या है ?

वमन में रक्त प्राय आमाशय से आता है, तत्काल का रक्त लाल रग का तथा कुछ देर आमाशय में रुकने से काफी चूर्ण के रग का आता है।

परीक्षा के लिये मल भेजना—

(१) दिन रात में मल त्याग की सख्या कितनी रही ?

(२) मल का रग, गध तथा आकृति क्या है ?

(३) वायु निकलने मे अवरोध तो नही ?

(४) यदि मल मे रक्त, आम, पूय, क्रिमि, पत्थर, बट्टन, सिक्का आदि पदार्थ हो तो नोट करले तथा इन्हे साफ पानी से धोकर फार्मेलीन के घोल मे रखे।

परीक्षा के लिये मल को साफ बर्तन मे रख उस पर रोगी के नाम की चिट, समय, दिनाक और आतुरालय के रोगी का हो तो शय्या सख्या, वार्ड सख्या लिख कर भेजें।

परीक्षा के लिये कफ भेजना—

चौडे मुह वाले ढक्कनदार साफ बर्तन या शीशी में रख कर उस पर रोगी का नाम तथा आतुरालय का रोगी हो तो शय्या सख्या, वार्ड सख्या लिख कर भेजे।

कफ परीक्षा—

कफ की मात्रा, वर्ण, गाढा या पतला, गन्ध तथा उसमे रक्त, पूय आदि की उपस्थिति की परीक्षा करे।

(१) श्वसनक ज्वर मे तथा साधारण कास में केवल कफ या कभी कभी कफ के साथ रक्त भी दिखाई देता है। यह अवस्था श्वसनक की मध्य अवस्था मे भी मिलती है।

(२) श्वसनक की समाप्ति मे तथा क्षय रोगो में कफ के साथ पूय आती है।

(३) क्षय रोग मे कभी कभी कफ के साथ झागयुक्त रक्त भी दिखाई देता है।

(४) फुफ्फुसो के सड़ने की अवस्था मे कफ दुर्गन्धयुक्त आता है।

(५) आर्द्र फुफ्फुसावरण प्रदाह तथा अश्रुगैस के प्रयोग से कफ मे अत्यन्त झाग आते हैं।

कफरोगी की परिचर्या—

कफ मे रक्त आने पर रोगी को धैर्य बधाएँ तथा ष्ठीवन के लिए ढक्कनदार पीकदानी रखें। पीकदानी को कृमिघ्न विलयन से भी साफ करें। इकट्ठे हुए रोगियो के कफ को लकडी के बुरादे या घास डाल कर जला दें।

वमन—

आमाशय-सकोच से आमाशय मे रहने वाले द्रव्यो को मुह द्वारा बाहर फेंक दिये जाने को वमन कहते हैं।

वमन के कारण—

१. पाचन सस्थान की उत्तेजना से आमाशय क्षोभ से,
२ आहार मे वामक पदार्थ की उपस्थिति,
३. पित्ताशयाश्मरी,
४ मूत्राशय अश्मरी की वेदना से,
५ गर्भाशय वेदना,
६ गर्भावस्था,
७ उदर मे रक्तस्राव,
८ दुर्गन्ध, घृणित पदार्थ को देखना,
९. नौका, जहाज, मोटर आदि की यात्रा, झूला झूलना,
१०. मस्तिष्क मे दबाव बढना, मस्तिष्कावरण प्रदाह, आघात,
११ शरीर मे विष-प्रवेश, कीटाणुजनित विष,
१२ मूत्र सस्थान के रोगो मे (युरिया के शरीर मे सचय से)।

वमन सम्बन्धी प्रश्न—

१ उबाक के साथ मुह मे जल आता है या नही ?
२ वमन का समय, भोजन से पूर्व या बाद मे वमन मात्रा क्या है ?
३ किसी विशिष्ट पदार्थ के भोजन से वमन होता है ?
४ उदर पीडा होकर वमन होता है ?
५. क्या वमन हो जाने से उदर पीडा शान्त हो जाती है ?

६ वमन में सम्पूर्ण द्रव्य बाहर आ जाता है या थोडा द्रव्य बाहर आकर शेष उदर मे चला जाता है ?

७ शिर शूल के बाद वमन होने पर शिर शूल शान्त हो जाता है क्या ?

परीक्षा के लिये वमन द्रव्य भेजना—

साफ पात्र मे वमन द्रव्य रख, ढक्कन लगा उस पर रोगी के नाम की चिट, दिनाक। आतुरालय का रोगी हो तो शय्या सख्या, वार्ड सख्या लिख कर भेजें।

अहोरात्र में वमन कितनी बार हुआ ? उसकी मात्रा क्या है ? उसमें रक्त पित्त श्लेष्मा तो नही ? वमन का वर्ण तथा गध क्या है ?

वमन मे रक्त प्राय आमाशय से आता है, तत्काल का रक्त लाल रग का तथा कुछ देर आमाशय में रुकने से काफी चूर्ण के रग का आता है।

वमन रोगी की परिचर्या—

वमन से रोगी को चक्कर, घबराहट, बेहोशी आती है तथा यदाकदा रक्ताधिक्य से उपरोक्त बाते बढ जाती है अत रोगी को धैर्य दें। मौसम गर्मी का होने पर हवा करे। तथा सोडा बाई कार्ब (श्वेतक्षार व शर्करा) ग्लूकोज को पानी मे मिलाकर थोडी थोडी देर बाद पिलाएँ, बर्फ चुसावे तथा नीबू जल ग्लूकोज (शर्करा, लवग जल, अमृतधारादि) मिला कर दे। यदि उत्क्लेश बना रहे तो ब्राण्डो दे। वमन को देखने पर स्वय परिचारक को वमन होने की आशका हो तो यह स्थिति रोगी पर प्रकट न होने दें।

रक्त परीक्षा—

रक्त-परीक्षा मे निम्न बाते मालूम की जाती है—

(१) रक्त का वर्ण (हेमोग्लोबिन का परिमाण)
(२) रक्ताणु का अनुपात (गणना)
(३) रक्त-स्कन्दन का समय
(४) बिडाल परीक्षा
(५) रक्तशर्करा तथा रक्त मे यूरिया की मात्रा जानना
(६) रक्ताणुओ का नीचे गिरने के समय की जाँच
(७) रक्तपरिवर्तन के लिए रक्त का वर्गीकरण

रक्त परीक्षा विधि

अगुली या कर्णपाली को स्पिरिट से साफ कर विसक्रमित सुई चुभोकर रक्त निकाल-कर काचपट्टी पर लेकर उसे दूसरी काचपट्टी के किनारे से फैलावें, फिर इस पर काच की गोल टिकिया लगा विशिष्ट विधियो से रगकर अणु विक्षण यत्र से देखा जाता है, इसी प्रकार उपरोक्त स्थानो से निकाले हुए रक्त को एक पिपेट नलिका द्वारा लेकर रक्ताणुओ की गणना करनी चाहिये।

परीक्षा के लिये अधिक रक्त लेना हो तो शिरा-रक्त लिया जाता है, इसके लिये बाहु पर रबड की पट्टी बाधकर शिरा फुलाकर विसक्रमित सूची द्वारा सीरीज से रक्त लिया जाता है, रक्त को कुछ समय तक जमने से रोकने के लिये सोडा साईट्रास विलयन मिलाते हैं।

रक्त के वर्ण की परीक्षा के लिये हेमोग्लोबिनो मीटर तथा रक्ताणुओ का अनुपात गिनने के लिये हेमोसाईटो मीटर काम मे लिया जाता है। इसी तरह उपदेश की परीक्षा के लिये "कानटेस्ट" तथा मथर ज्वर की परीक्षा के लिये बिडालटेस्ट आदि पद्धतिया प्रयुक्त होती है।

परीक्षा के लिए रक्त को भेजना—

उपरोक्त प्रकार से रक्त लगाई हुई काच की पट्टी साफ कागज मे लपेट कर या परीक्षा नलिका में 5 C·C रक्त लेकर मुह वन्दकर परिचय पत्र, शय्या सख्या, वार्ड नम्बर, दिनाक आदि लिख कर भेजें।

रक्त मे शर्करा की मात्रा

स्वस्थावस्था मे भोजन से पूर्व ०.०९ से ०.१२ तक होती है। भोजन के वाद ०.१८ प्रतिशत से अधिक हो जाय तो वृक्क द्वारा निकाल दी जाती है।

रक्त मे यूरिया की मात्रा—

रक्त मे यूरिया की मात्रा स्वस्थावस्था में ०.०२ से ०.०५ प्रतिशत तक होती है। इसकी मात्रा रक्त मे जितनी अधिक होगी उतनी ही भयावह मानी जाती है। रोगी ०.१ प्रतिशत की अवस्था मे एक वर्ष से अधिक नही जीता। ०.६ प्रतिशत मे मृत्यु हो जाती है।

रक्त मे श्वेताणु सख्या—

रक्त श्वेताणु ७००० से १०००० तक होती है जिनका प्रतिशत निम्न प्रकार से है।

क्षुद्रलसीकाणु	—	२० से २५ प्रतिशत
बहुरूपमीगीयुक्त श्वेताणु	—	६५ से ७० प्रतिशत
वृहल्लसीकाणु	—	३ से ५ प्रतिशत
अम्लरगेच्छुश्वेताणु	—	१ से २ प्रतिशत

रोगी परीक्षा—

रोगी परीक्षा तीन प्रकार से, छ प्रकार से तथा आठ प्रकार से है

तीन प्रकार—

१. दर्शन (रोगी को देखना, प्रकृति से, या विकृति – लक्षणो से)
२. स्पर्शन छूना, इससे निम्न भावो का ज्ञान होता है—
   (क) निरन्तर फड़कने वाले अङ्गो का ज्ञान
   (ख) ,, गर्म रहने वाले ,, की उष्णता
   (ग) ,, मृदु ,, मार्दव
   (घ) सधिस्रश, भ्रंश, च्यवन, शैथिल्य
   (ङ) रक्त मास की न्यूनता
   (च) स्वेदाभाव

(छ) स्तम्भता

३ प्रश्न —साधारण व विशिष्ट प्रश्नो से—

'प्रश्नैस्तु विद्यादखिल रोगवृत्तान्तमादित ।'

इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश से रोगी परीक्षा की जाती है—
छ प्रकार—

पाचो इन्द्रिया व प्रश्न से ।

रोगी के शरीरगत सपूर्ण शब्द स्पर्श रूप रस गन्धादि इन्द्रियार्थो को चिकित्सक अपनी ज्ञानेन्द्रियो द्वारा परीक्षण करें परन्तु इसमे रस ज्ञान अपवाद है—इसके लिए अनुमान प्रमाण द्वारा जैसे यदि रोगी के शरीर पर जूं चले तो (शरीरवैरस्य) तथा मक्खिये आकर बैठने पर (देहमाधुर्य) तथा रक्तपित्त अवस्था मे जब यह जानना आवश्यक हो कि क्या यह जीव रक्त है ?

उस समय रक्त को कौए या कुत्ते के सामने रखें, यदि ये प्राणी इसे खाएँ तो जीव-रक्त समझ कर इसे तत्क्षण रोकने की चिकित्सा करे अन्यथा वैकारिक रक्त की उपेक्षा की जाय । प्रमेहादिरसज्ञाने रासनी ।

कर्ण द्वारा—

आतो का कूजना, सन्धियो मे फूटन, पर्व शब्दो तथा हृदय फुफ्फुस आदि के शब्द-विशेषो का परीक्षण करे ।

'तत्र श्रौतीपरीक्षास्यादुरोरोगेषु तद्यथा ।
उरसिश्रूयते वायु सश्लेष्मा बुद्बुदायित ॥'

नेत्र द्वारा—

रोगी का वर्ण कृष्ण, कृष्ण श्याम, गौर श्याम या गौर, प्राकृतिक या वैकृतिक, विभक्तवर्ण ऊपर-नीचे, दाँए-बाँए, ग्लानि, रौक्ष्य, पिप्लव, व्यग, तिल तथा उपागो के नख, नेत्र, वदन, मल, मूत्र, पुरीष, हाथ, पाव, ओष्ठ आदि के प्राकृतिक तथा वैकृतिक वर्णों की तथा प्रमाण, छाया, प्रभा आदि की परीक्षा करें । 'चाक्षुषोतु भवेद्वर्णापचयादि प्रदर्शिनी ।'

नासिका द्वारा—

घ्राण से आतुर शरीर के स्रावो, मल, मूत्र, पुरीष स्वेदादिका शुभ व अशुभ गन्धो से पुष्पित आदि का परीक्षण करे । 'घ्राणेन ज्ञायते गन्ध श्लेष्म पूयासृगादिषु ।'

त्वचा से—

हाथ द्वारा प्राकृतिक व वैकृतिक उपरोक्त स्पर्शज्ञान करें ।

'त्वाची परीक्षा शीतोष्ण धमनी गतिबोधिनी ।
यकृत्प्लीहादि सस्थान सूचनार्थापिसोच्यते ।।'

अष्टविध—

रोगाक्रान्त शरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत् ।
नाडी मूत्र मल जिह्वा शब्द स्पर्श दृगाकृति ।।

रोगी की ८ प्रकार से परीक्षा करनी चाहिये ।

१. नाडी, २ मूत्र, ३ मल, ४ जिह्वा, ५ शब्द, ६ स्पर्श, ७. नेत्र, ८ आकृति ।

रोग परीक्षा—

रोग ज्ञान पाच प्रकार से होता है ।

१ निदान—साधारण तथा विशिष्ट, दोष, व्याधि, दोष व्याधि

असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग, प्रज्ञापराध, परिणाम, व्यभिचारी, दूर, निकट, स्थायी,

२ पूर्वरूप, सामान्य, विशिष्ट

३ रूप

४ उपशय

हेतु विपरीत
व्याधि विपरीत
हेतु व्याधि विपरीत
हेतु विपरीतार्थकारी
व्याधि विपरीतार्थकारी
हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी

औषधि, अन्न, विहार से १८ प्रकार ।

५ सप्राप्ति ।

सचय, प्रकोप, प्रसर, स्थान सश्रय तथा प्रकट हो जाना ।
इससे

सख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल, काल, उपरोक्त प्रकार से प्रति रोग की परीक्षा की जाय ।

रोगीपरीक्षा की तैयारी—

रोगीपरीक्षण कक्ष मे रोगपरीक्षा सम्बन्धी सामान सजा हुआ रहे । रोगी को आराम

से बैठा कर या लेटा कर--आवश्यक तथा परीक्षणीय स्थानो के वस्त्र हटा कर सरलता-पूर्वक एकाग्रचित्त से परीक्षा करे।

वक्ष परीक्षा—

उर परीक्षा करते वक्त रोगी को चित्त लेटाएँ तथा पृष्ठ की परीक्षा करने पर आगे झुका कर पालगती लगा कर बैठाएँ तथा जिस पार्श्व की परीक्षा करनी हो रोगी का मुह उसकी विपरीत दिशा मे रखावे।

उदर परीक्षा—

रोगी को लेटा कर घुटनो को सकुचित करा हाथ से स्पर्श परीक्षा करे।

गुदा परीक्षा—

दाहिने हाथ मे रबर का मोजा या केवल अगुली पर रबर की टोपी पहिना कर वेसलीन लगा लें। रोगी को बाई करवट लेटाये या घुटने को ऊपर की ओर मोड कर गुद-दर्शक यन्त्र को गुदा मे डाल कर या अगुली को गुदा मे डाल कर परीक्षा करें। परीक्षा से पूर्व मलाशय तथा मूत्राशय खाली रखे।

योनि परीक्षा—

रुग्णा को चित्त लेटाएँ तथा उपरोक्त प्रकार से योनिदर्शक यन्त्र या अगुली से परीक्षण करे।

इसी तरह नाक, कान, गला आदि का परीक्षण भी यन्त्रो की सहायता से करे।

पाचन सस्थान-परीक्षा

१ प्रश्न—

(क) क्षुधा—अधिक या कम, सच्ची या मिथ्या, क्या ठीक समय पर लगती है ? अभक्ष्य पदार्थों की तो इच्छा नही होती ?

(ख) तृषा—अधिक या कम, तथा समय—
(ग) सवेदना— „ „ (शोथ, अजीर्ण गुरु भोजन)
(घ) दाह— „ „ (अम्ल पित्त मे भोजन के बाद)
(ङ) गौरव— „ „ भोजनोत्तर
(च) मुखस्वाद—
(छ) वमन— कब तथा इससे शान्ति या कष्ट
(ज) शौच— अतिसार है या विबन्ध ?
विपर्यय से तो नही होता ?

मात्रा, वर्ण, उसमे कफ या रक्त तो नही ?
अधोवायु की क्या स्थिति है ?

२ दर्शन

(क) मुख (ओष्ठ दत, दन्तवेष्ठ) जिह्वा, गला, मलद्वार का वर्ण—नील, श्वेत, फोड़े फुन्सिया, मल, पूय, शोथ, रक्तिम आदि प्राकृतिकता व विकृति ।

(ख) उदर—नग्न कर देखे । उसमे शोथ, अर्बुद उभार तो नही ? श्वासोच्छ्वास के साथ उदर की दीवार उठती बैठती है या नही । अन्त्र की गति तो नही दीखती ?

३ स्पर्शन—

रोगी को लेटाकर पैरो को सकुचित कर सपाट हाथ से परीक्षा करें । मृदु है या कठोर ? उदर की दीवार तनी हुई सख्त तो नही ? दबाने से पीडा तो नही होती है, यदि होती है तो कहा ? उदर मे ग्रन्थि, अर्बुद, शोथ आदि है । यदि है तो दीवार मे या उदर के भीतर ? क्या हिलाने से हिलता है ?

श्वासोच्छ्वास से हिलता है क्या ? लसीका ग्रन्थिया प्रतीत होती हैं ?

उदरवृद्धि मे नाभिस्थान का माप लें ।

जल, वमा, डिम्ब यकृत्, प्लीहा, आध्मान मे बढ जाता है । तरग परीक्षा से जलोदर निर्णीत किया जाता है ।

यकृत्—

यह यकृत् व कौडी प्रदेश मे महाप्राचीरा के नीचे पसलियो की आड मे मध्य रेखा से तीन इच बाईं ओर तक रहता है ।

ऊर्ध्वधारा—

बाईं पाचवी पर्शुकान्तर से ३ इच से प्रारम्भ हो कर दाईं ओर चूचुक रेखा मे पाचवी पर्शुका के किनारे वक्षरेखा मे सातवी पर्शुका के पीछे स्कन्धास्थि रेखा मे नवमी पर्शुका से गुजरती हुई पृष्ठवश के नवमे कशेरुका तक जाती है ।

अधोधारा—

नीचे की पसलियो की आड से जाती हुई बाएँ सिरे से जा मिलती है ।

स्पर्शन—

सपाट हाथ से अगुली का किनारा ऊपर रखते हुए स्पर्शन करे । क्या तर्जनी को कोई चीज तो नही स्पर्श होती ?

यदि है तो पर्शुका से कितनी नीचे मृदु है या कठोर ?
नवजात शिशुओ मे यकृत् नाभि तक रहता है ।

ठेपन—

ठेपन से दोनो धाराओ को ज्ञात करे।

मृदु ठेपन का शब्द जहाँ रिक्त से ठोस हो जाय वही अधोधारा जाने। पर्शुकाओ पर ऊर्ध्व धारा को जानने के लिये कठोर ठेपन करें।

कामला, यकृत् शोथ, पित्ताश्मरी, सौत्रिक वृद्धि, तीव्रज्वर, अजीर्ण, अग्निमान्द्य से यकृत् बढ जाता है।

प्लीहा—

यह मध्य रेखा से बाईं ओर कौडी प्रदेश तथा वाम अनुपार्श्विक प्रदेश में नवम, दशम, ग्यारहवी पर्शुकाओ को आड मे रहती है। प्लीहा की आकृति हथेलो के बराबर होतो है।

स्पर्शन—

रोगी को लेटा कर उदर मे बाईं ओर दबा कर करें, जहाँ सिरा मालूम दे चिन्ह लगा लें, तथा वह मृदु है या कठोर ?

ठेपन—

बाईं ओर नीचे से ऊपर की ओर ठेपन करें। जहाँ शब्द हो जाय वही अधोधरा समझे।

विषम ज्वर, तीव्र सक्रामक रोग, श्वेताणुवृद्धि, जीर्ण ज्वरो मे बढ जाती है।

आमाशय—

आमाशय की आकृति स्थिर नही होती, फिर भी यह परीक्षा अवश्य की जाय कि यह विस्तृत तो नही हो रहा है।

उपान्त्र या उण्डुकपुच्छ—

जहा अर्बुदातरिक रेखा दाहिनी ऊर्ध्व रेखा से मिलती है उससे एक इच नीचे उडुक पुच्छ है।

बृहदन्त्र—

उपात्र से प्रारम्भ होकर ऊपर जाता है (आरोही) यकृत् तथा प्लीहा के बीच (अनुप्रस्थ) तथा प्लीहा से नीचे की ओर जाने वाला (अवरोही) है।

वृक्क—

इसके ऊर्ध्व, अध तथा वृन्त तीन भाग हैं।

ऊर्ध्व—

मध्य रेखा से २ इच बाहर पर्शुकाधो रेखा तथा वृक्षोऽस्थि के मध्य है।

मध्यवृन्त—

पर्शुकाधो रेखा पर मध्य से २ अन्तर पर।

अध —

अर्बुदान्तरिक और पर्शुकाधो रेखा के बीच मे मध्य से तीन इच के अतर पर स्थित है।

वृक्क का ⅓ भाग पसलियो की आड मे रहता है।

रुग्णावस्था मे स्पर्श किया जा सकता है।

त्वाची परीक्षा शीतोष्ण धमनीगति बोधिनी।
यकृत्प्लीहादिसस्थान सूचनार्थापिसोच्यते॥

श्वसन सस्थान परोक्षा

प्रश्न—

रोगी के परिवार मे तमक श्वास, कास, यक्ष्मा तो नही ? रोगी का व्यवसाय धूल, आटा, कपास के कारखाने मे तो नही है ? रोगी दिन प्रतिदिन क्षीण हो रहा है ? तथा रात्रि मे ठडा पसीना आता है ?

कास—

शुष्क है या आर्द्र, कास के समय पीडा प्रतीत होती है ?

कफ—

आता है तो कैसा ? गाढा, पतला, वर्ण क्या है ? क्या उसमे रक्त आता है ? पानी मे डूबता है क्या ? रक्तकण, पूयकण, फुफ्फुस तन्तु आदि तो नही ?

दर्शन—

क्या नथने फूलते हैं ?
होठ या नाक के पास पिडिकाऐं हैं ? (फुफ्फुसावरण प्रदाह)
मुख कपोलो का वर्ण नीलाभ है ? (फुफ्फुसावरण प्रदाह)
कपोल लाल हैं ? (फुफ्फुसप्रदाह)
श्वासगति सख्या का नाडो से निपात क्या है ?
श्वास गभीर है या गाध—वक्ष व उदर हिलते हैं या नही ?
वक्ष का परिमाण—छोटा है या बडो आकृति का है ?
दोनो ओर सम है या विषम ? दोनो का प्रसार सम है या विषम ?

फुफ्फुस—

शिखर —अक्षक से एक इच ऊपर

अग्रधारा—दूसरी उपपर्शुका सन्धि के पास दूसरी ओर की अग्रधारा से मिलकर चतुर्थ उप पर्शुकातक दाईं तरफ छठी उपर्शुका तक जाकर अधोधारा से जा मिलती है।

अधोधारा—दशम पृष्ठ कशेसका तक जाती है।

पाश्चात्यधारा—सातवें ग्रीवा कशेरुका तक ऊपर जाती है।

दाहिना फुफ्फुस दो दरारो से तीन खण्डो मे विभक्त है।

वाम „ एक दरार से दो „ „

फुफ्फुसा वरण—

दो तहो मे २ होते हैं।

स्पर्शन—

सम है या विषम ? प्रसार कैसा हो रहा है ?

शब्द स्पर्श—

दोनो ओर वक्ष पर सपाट हाथ रख कर रोगी के उच्चारण को सुनें। यदि कही जल भरा है तो तरग प्रतीति नही होगी। ठोस या कोटर होने पर तरग बढी हुई मालूम देती है।

ठेपन—

समान स्थानो पर ठेपन कर तुलना करें।

गुजन है या नही ? (जीर्ण कास श्वास, सुनारो मे वायुकोष्ठ विस्तृति से गुजन बढा हुआ होता है।)

ठोस होने पर कम (फुफ्फुसप्रदाह यक्ष्मा मे)

तरल होने पर कम (आर्द्रफुफ्फुसावरण प्रदाह मे)

श्रवण—

फुफ्फुसो मे वायु के जाने आने के शब्द कैसे सुनाई देते हैं ? क्या इनके साथ अन्य वैकारिक शब्द हैं ?

स्वरयंत्र पर—

उच्छ्वास सब सुनाई देता है। नि श्वास एक तिहाई भाग।

प्रणालीय श्वास—

मृदु व सरल होता है। यह लम्बा होता है। खण्डीय फुफ्फुसप्रदाह से पीडित खड पर आर्द्र फुफ्फुसावरण प्रदाह में फुफ्फुस का शब्द अधिक कर्कश सुनाई देता है।

तरल हो तो कम „ „

सहगामी शब्द (वैकारिक)

आर्द्र व शुष्क—घर्षण

आर्द्र—

करकरायन—तरल में से वायु के आने जाने से
मृदु—केशघर्षणवत् ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ सुनाई देता है।
मध्य—स्थान छोटा तथा थोडा तरल होने पर ‌ ‌ „ ‌ ‌ „
कठोर—स्थान बडा अधिक तरल होने पर ‌ ‌ „ ‌ ‌ „

शुष्क (कूजन)—

सूक्ष्म—शोथ-प्रणालीय फुफ्फुसप्रदाहजन्य तीव्र कास तमक श्वास में
स्थूल—कपोत कूजनवत्, तीव्रकास, वायुप्रणाली तथा टेंटुवे के शोथ में

घर्षण—खर आवरणो को रगड से—

मृदु—आर्द्र फुफ्फुसावरण के प्रारम्भ मे जब कि तरल नही बना होता
कर्कश—शुष्क ‌ ‌ „ ‌ ‌ ‌ ‌ प्रदाह मे
शब्द श्रवण—बढना ‌ ‌ फुफ्फुस ठोस होने पर
‌ ‌ ‌ „ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ ‌ घटना : फुफ्फुसावरण मे तरल होने पर

रक्त वह संस्थान परीक्षा—

प्रश्न—

क्या हृदय-प्रदेश मे पीडा होती है ?
पीडा किधर जाती है ?
पीडा हर समय रहती है या कभी कभी ?
पीडा वहाँ से वाम हाथ या कन्धे की ओर जाती है ?

धड़कन (हृद्रव)—

हर समय रहती है या श्रम से बढ जाती है ?
चक्कर आते हैं क्या ?
बेहोशी (मूर्च्छा) होती है तो कितने समय के अंतर से ?
श्वास – श्रम से होता है या बिना श्रम से ?
निद्रा – कैसी आती है ? गाढ या स्वप्नमय ?
हाथो पैरो मे शोथ तो नही हो जाता ?
क्या ष्ठीवन मे रक्त आता है ?

दर्शन—

पलको के नीचे तथा नख तथा तालू पृष्ठ का वर्ण देखे। नीला, पीला, भुसभुसा तो

अग्रधारा—दूसरी उपपर्शुका सन्धि के पास दूसरी ओर की अग्रधारा से मिलकर चतुर्थ उपपर्शुकातक दाईं तरफ छठी उपर्शुका तक जाकर अधोधारा से जा मिलती है।

अधोधारा—दशम पृष्ठ कशेरुका तक जाती है।

पाश्चात्यधारा—सातवे ग्रीवा कशेरुका तक ऊपर जाती है।

दाहिना फुप्फुस दो दरारो मे तीन खण्डो मे विभक्त है।

वाम „ एक दरार से दो „ „

फुप्फुसा वरण—

दो तहो मे २ होते हैं।

स्पर्शन—

सम है या विषम ? प्रसार कैसा हो रहा है ?

शब्द स्पर्श—

दोनो ओर वक्ष पर सपाट हाथ रख कर रोगी के उच्चारण को सुनें। यदि कही जल भरा है तो तरग प्रतीति नही होगी। ठोस या कोटर होने पर तरग बढी हुई मालूम देती है।

ठेपन—

समान स्थानो पर ठेपन कर तुलना करे।

गुजन है या नही ? (जीर्ण कास श्वास, सुनारो मे वायुकोष्ठ विस्तृति से गुजन बढा हुआ होता है।)

ठोस होने पर कम (फुप्फुसप्रदाह यक्ष्मा मे)

तरल होने पर कम (आर्द्रफुप्फुसावरण प्रदाह मे)

श्रवण—

फुप्फुसो मे वायु के जाने आने के शब्द कैसे सुनाई देते हैं ? क्या इनके साथ अन्य वैकारिक शब्द हैं ?

स्वरयंत्र पर—

उच्छ्वास सब सुनाई देता है। नि श्वास एक तिहाई भाग।

प्रणालीय श्वास—

मृदु व सरल होता है। यह लम्बा होता है। खण्डीय फुप्फुसप्रदाह से पीडित खड पर आर्द्र फुप्फुसावरण प्रदाह में फुप्फुस का शब्द अधिक कर्कश सुनाई देता है।

तरल हो तो कम „ „

सहगामी शब्द (वैकारिक)

आर्द्र व शुष्क—घर्षण

आर्द्र—

करकरायन—तरल में से वायु के आने जाने से
मृदु—केशघर्षणवत् सुनाई देता है।
मध्य—स्थान छोटा तथा थोडा तरल होने पर „ „
कठोर—स्थान बडा अधिक तरल होने पर „ „

शुष्क (कूजन)—

सूक्ष्म—शोथ-प्रणालीय फुफ्फुसप्रदाहजन्य तीव्र कास तमक श्वास में
स्थूल—कपोत कूजनवत्, तीव्रकास, वायुप्रणाली तथा टेटुवे के शोथ में

घर्षण—खर आवरणो की रगड से—

मृदु—आर्द्र फुफ्फुसावरण के प्रारम्भ मे जब कि तरल नही बना होता
कर्कश—शुष्क „ प्रदाह में
शब्द श्रवण—बढना फुफ्फुस ठोस होने पर
„ घटना : फुफ्फुसावरण मे तरल होने पर

रक्त वह सस्थान परीक्षा—

प्रश्न—

क्या हृदय-प्रदेश मे पीडा होती है ?
पीडा किधर जाती है ?
पीडा हर समय रहती है या कभी कभी ?
पीडा वहाँ से वाम हाथ या कन्धे की ओर जाती है ?

धड़कन (हृद्रव)—

हर समय रहती है या श्रम से बढ जाती है ?
चक्कर आते हैं क्या ?
बेहोशी (मूर्च्छा) होती है तो कितने समय के अतर से ?
श्वास – श्रम से होता है या बिना श्रम से ?
निद्रा – कैसी आती है ? गाढ या स्वप्नमय ?
हाथो पैरो मे शोथ तो नही हो जाता ?
क्या ष्ठीवन मे रक्त आता है ?

दर्शन—

पलको के नीचे तथा नख तथा तालू पृष्ठ का वर्ण देखे। नीला, पीला, मुसमुसा तो

नही। क्या ग्रीवा मे धमनी की फडकन दिखती है ? अगुलियो के सिरे मोटे व नीले तो नही हो रहे है ? हृदय प्रदेश पर धडकन से कितना स्थान घिर रहा है ? धडकन नियमित है या नही ?

शब्द श्रवरा के लिए स्थान—

१ बाएँ मध्यस्थ कपाट के लिये हृदयकोण पर चूचुक से १। इच नीचे

२ दाएँ मध्यस्थ कपाट के लिये-वक्षोऽस्थि के नीचे कौडी पर

३ फुपफुसी या धमनी के कपाट के लिए-वक्षोऽस्थि के बाएँ किनारे के बाहर दूसरी पर्शु कान्तर पर

४. वृहद्धमनी कपाट के लिए-दूसरी बाइँ उपपर्शु का वक्षोऽस्थि सन्धि पर—

हृदयविस्तृति मे श्रवणस्थान बदल जाते हैं। प्राय क्षेपक कोष्ट फैलते हैं।

आकुचन के समय लू ३ ब् शब्द होता है।

प्रसार के समय डप् „ „

हार्दिक विकृति २ प्रकार की होती है—

१ व्यापारिक, २ ऐन्द्रियक

व्यापारिक—

आकुंचन के समय दीर्घ तथा मृदु होता है।

ऐन्द्रियक—

आकुचन व प्रसार दोनो समय सुनाई देता है।

इसके रोधक तथा प्रत्यामक भेद भी हो सकते हैं।

मूत्र ‌परीक्षा

क भौतिक— त है—

१ मात्रा—१½ सेर

२ वर्ण—पीला-सा, फीके रग का, सतरे जैसा, हरितकृष्ण, हरितपीत

३ द्रवता

४ गध

५ गुरुत्व १०१५ से २५

६ निक्षेप, तलछट

फॉस्फेट्स—(क्षारीय मे) डाइल्यूट एसेटिक एसिड से अलग हो जाता है। पूय वैसी ही रहती है।

यूरेट्स—अत्यम्लीय गाढे मूत्र मे—मूत्र रजक के प्रमाण से इसका रग गाढा सुर्खी जैसे होता है।

यूरिकाम्ल—का वर्ण लाल मिर्च के समान

आक्जलेट्स –

(ख) रासायनिक—

१ प्रतिक्रिया—क्षारीय, अम्लीय

२ क्लोराइड्स—सोडियम (अधिक) पुटेशियम् (थोडा) (१ तो. प्र दि)

३ फोस्फेट्स—क्षारीय सोडियम, पुटेशियम्, अमोनियम् भौम कैल्सियम् मैग्नेसियम् प्र. दि २-३ माशे।

४ सल्फेट्स

५ आक्जेलेट्स—(कैल्शियम्) (अम्लपित्त मे बढ जाते हैं)

६ यूरिया—२५ से ४० ग्राम प्रतिदिन ३। प्र औस ६ ग्रेन

७ अमोनियम्—½ से १ ग्राम प्र दि

८ यूरिक एसिड—०'४ से ० ७ तक प्र दि

९ क्रिएटीन

१० हिप्यूरिक एसिड

मूत्र मे उपस्थित द्रव्य—

क प्रोटीन

ख रक्त

ग शर्करा

घ पित्त

ङ पूय—एसिटोन

तलछट—

मूत्र के कुछ देर पडे रह[illegible] मे कुछ निक्ष[illegible] जमता है जो कि देखा जा सकता है। यह म्यूकस आम के कारण जमता है। क्षारीय प्रतिक्रिया वाले मूत्र मे सफेद रग का भारी पदार्थ जिसे कि फोस्फेट कहते हैं। यदि अम्लीय प्रतिक्रिया है [illegible] साधारणतया हलके गुलाबी रग के यूरेट्स देखे [illegible]ते हैं।

असाधारण निदे[illegible] रक्त के कारण से जिनका कि वर्ण लालिमा लिये चोकलेट के समान तथा पूय अवलबित अवस्था मे रहती है।

मूत्र मे छ प्रकार के तत्व प्राप्त होते हैं जो कि रोग के परिचायक है।

एल्व्यूमिन, शर्करा, कीटोनबोडिज, रक्त, पूय और पित्त।

स्वस्थ स्त्रियो की ऊँचाई के अनुसार आयु एव वजन-तालिका

क्रम सख्या	स्त्रियो की ऊँचाई (फुट और इच) में	आयु २० वर्ष मे (पौण्ड)	३० वर्ष मे (पौण्ड)	४० वर्ष में (पौण्ड)	५० वर्ष में (पौण्ड)
१	५—००	११०	११५	१२०	१२८
२	५—१	११३	११८	१२४	१३२
३	५—२	११६	१२२	१२८	१३६
४	५—३	११९	१२६	१३२	१४०
५	५—४	१२३	१३०	१३६	१४४
६	५—५	१२७	१३४	१४०	१४८
७	५—६	१३१	१३८	१४४	१५३
८	५—७	१३५	१४२	१४८	१५८
९	५—८	१३९	१४६	१५२	१६३
१०	५—९	१४३	१५०	१५५	१६८
११	५—१०	१४७	१५४	१६२	१७३
१२	५—११	१५२	१५९	१६७	१७८
१३	६—००	१५६	१६४	१७२	१८३
१४	६—१	१६२	१६९	१७८	१८८

मान परिभाषा—

इम्पीरियल पद्धति और दशांस पद्धति दोनो ही आजकल औषधिया तोलने के काम मे आती हैं।

इम्पीरियल—

लम्बाई

१२ इच	=	१ फुट	१० मिलीमीटर	=	१ सेन्टीमीटर
३ फुट	=	१ वार (गज)	१०० सेन्टीमीटर	=	१ मीटर
१ इच	=	२ ५ सेन्टीमीटर			
३९ इच	=	१ मीटर			

शुष्क चूर्ण—मान

६० ग्रेन	=	१ ड्राम
८ ड्राम	=	१ औन्स
१६ औन्स	=	१ पौन्ड
१५.४ ग्रेन	=	१ ग्राम
१ औन्स	=	२८.४ ग्राम

वजन

१००० मिलीग्राम	=	१ ग्राम
१००० ग्राम	=	१ किलो
१ किलो	=	२.२ पौन्ड

घन नाप—

१००० क्यूबिक सेन्टीमीटर	=	१ लिटर

द्रव-मान—

६० मिनिमम	=	१ ड्राम
८ ड्राम	=	१ औन्स
२० औन्स	=	१ पोइन्ट
२ पोइन्ट	=	१ क्वार्ट
४ पोइन्ट	=	१ गेलन
३५.२ औन्स	=	१ लिटर
१ पोइन्ट	=	५६८ सी सी
१ चायचम्मच	=	१ ड्राम
१ डेजर्टस्पून	=	२ ड्राम
१ टेबलस्पून	=	४ ड्राम
१ वाइनग्लॉस	=	२ औन्स
१ चायकप	=	४.६ औन्स
१ गिलास	=	८.१० औन्स

८० तोला	=	१ सेर
४० सेर	=	१ मन
२७ मन	=	१ टन
२० मन	=	१ खण्डी
१ तोला	=	१ रुपया १८० ग्रेन
२½ तोला	=	१ औन्स
३९ तोला	=	१ पौन्ड

ज्वर

ज्वर के अधिष्ठान या ज्वर की प्रकृति ३ शारीरिक दोष तथा २ मन के दोष हैं। इसकी प्रवृत्ति दक्ष द्वारा अपमानित रुद्र के क्रोध से होती है, यहा प्रज्ञापराध से दत्त इन्द्रियो द्वारा मिथ्या आहार-विहार से रुद्र (पाचकाग्नि) के क्रुद्ध हो जाने का रूपक बताया गया है। जिसका प्रभाव अगमर्द, अरुचि, तृष्णा, सताप तथा हृदय मे पीडा होती है, जिसके कि लिंग के शरीर सताप (वैचित्य, अरति, ग्लानि) तथा मनःसताप इन्द्रिय विकृति से अभिप्रेत है। ज्वर की अवस्था मे सौम्य (ठड लगना) तथा आग्नेय (उष्णता की अधिक प्रतीति होना) है। यह सौम्य तथा आग्नेय स्थिति अतर्वेग से जिसमे देह के भीतर अधिक जलन, प्यास लगना, प्रलाप, श्वासवेगाधिक्य, भ्रम, सन्धिशूल, अस्थिशूल, स्वेदावरोध आदि के

स्वस्थ स्त्रियो की ऊँचाई के अनुसार आयु एव वजन-तालिका

क्रम सख्या	स्त्रियो की ऊँचाई (फुट और इच) में	आयु २० वर्ष मे (पौण्ड)	३० वर्ष मे (पौण्ड)	४० वर्ष में (पौण्ड)	५० वर्ष में (पौण्ड)
१	५—००	११०	११५	१२०	१२८
२	५—१	११३	११८	१२४	१३२
३	५—२	११६	१२२	१२८	१३६
४	५—३	११९	१२६	१३२	१४०
५	५—४	१२३	१३०	१३६	१४४
६	५—५	१२७	१३४	१४०	१४८
७	५—६	१३१	१३८	१४४	१५३
८	५—७	१३५	१४२	१४८	१५८
९	५—८	१३९	१४६	१५२	१६३
१०	५—९	१४३	१५०	१५५	१६८
११	५—१०	१४७	१५४	१६२	१७३
१२	५—११	१५२	१५९	१६७	/
१३	६—००	१५६	१६४	१७२	१८
१४	६—१	१६२	१६९	१७८	१८३

१८८

वृद्धि का
तीन पक्ष

मान परिभाषा—

इम्पीरियल पद्धति और दशास पद्धति दोनो ही आजकल औषधि मे आती हैं।

ते के काम

इम्पीरियल—

लम्बाई

१२ इच	=	१ फुट	१० मिलीमीटर	=	
३ फुट	=	१ वार (गज)	१०० सेन्टीमीटर	=	
१ इच	=	२.५ सेन्टीमीटर			
३९ इच	=	१ मीटर			

पक्ष होता

शुष्क चूर्ण—मान

६० ग्रेन	=	१ ड्राम
८ ड्राम	=	१ औन्स
१६ औन्स	=	१ पौन्ड
१५.४ ग्रेन	=	१ ग्राम
१ औन्स	=	२८.४ ग्राम

वजन

१००० मिलीग्राम	=	१ ग्राम
१००० ग्राम	=	१ किलो
१ किलो	=	२.२ पोन्ड

घन नाप—

१००० क्यूबिक सेन्टीमीटर	=	१ लिटर

द्रव-मान—

६० मिनिमम	=	१ ड्राम
८ ड्राम	=	१ औन्स
२० औन्स	=	१ पोइन्ट
२ पोइन्ट	=	१ क्वार्ट
४ पोइन्ट	=	१ गेलन
३५.२ औन्स	=	१ लिटर
१ पोइन्ट	=	५६८ सी सी
१ चायचम्मच	=	१ ड्राम
१ डेजर्टस्पून	=	२ ड्राम
१ टेबलस्पून	=	४ ड्राम
१ वाइनग्लॉस	=	२ औन्स
१ चायकप	=	४-६ औन्स
१ गिलास	=	८-१० औन्स

८० तोला	=	१ सेर
४० सेर	=	१ मन
२७ मन	=	१ टन
२० मन	=	१ खण्डी
१ तोला	=	१ रुपया १८० ग्रेन
२३/५ तोला	=	१ औन्स
३९ तोला	=	१ पोन्ड

ज्वर

ज्वर के अधिष्ठान या ज्वर की प्रकृति ३ शारीरिक दोष तथा २ मन के दोष हैं। इसकी प्रवृति दक्ष द्वारा अपमानित रुद्र के क्रोध से होती है, यहा प्रज्ञापराध से दश इन्द्रियो द्वारा मिथ्या आहार-विहार से रुद्र (पाचकाग्नि) के क्रुद्ध हो जाने का रूपक बताया गया है। जिसका प्रभाव अगमर्द, अरुचि, तृष्णा, सताप तथा हृदय मे पीडा होती है, जिसके कि लिंग के शरीर सताप (वैचित्य, अरति, ग्लानि) तथा मनःसताप इन्द्रिय विकृति से अभिप्रेत है। ज्वर की अवस्था मे सौम्य (ठड लगना) तथा आग्नेय (उष्णता की अधिक प्रतीति होना) है। यह सौम्य तथा आग्नेय स्थिति अतर्वेग से जिसमे देह के भीतर अधिक जलन, प्यास लगना, प्रलाप, श्वासवेगाधिक्य, भ्रम, सन्धिशूल, अस्थिशूल, स्वेदावरोध आदि के

(१) सतत — कई दिनो तक सम अवस्था मे रहे। दिन रात मे २ अश से अधिक न पडे।

(२) अविसर्गी — ज्वर सदा चढा रहे, २ अश से अधिक अन्तर पडे।

(३) विसर्गी — २४ घण्टे मे एक बार अवश्य उतर जाय।

चिकित्सा—

प्रतिबन्धक—

शमन—

ज्वरो मे इन पर ध्यान रखा जावे—

विश्राम, मलशुद्धि, भोजन (सुपाच्य हल्का तरलमय);

जल (श्रृतशीत) षडग, औषधि।

उपद्रव—अति तीव्रताप, १०५° से अधिक अति तीव्रताप है। इसे कम करने का प्रयत्न करें।

बाह्य शिर तथा मस्तक पर गुलाब जल, सिरका, बर्फ की पट्टी, बर्फ की थैली, बस्ति से शीतल जल, कोहनी के नीचे बाहु, घुटने के नीचे टागो को गर्म जल मे रख कर ठण्डा पानी डालते जाए।

निद्रानाश—

विषरक्तता से होता है। निद्रा से देह कोषो को विश्राम मिल जाता है। १ घण्टे की नीद सेरो औषधियो के बराबर है।

प्रलाप कम्पन—

विषरक्तता से होता है। कोष्टबद्धता दूर करें तथा निद्रा से कम हो जाता है। ब्रोमाइड्स बरतते हैं—पर हृदयावसाद का भय रहता है।

हृदयावसाद—

ज्वरो का विष हृदय पर बुरा असर करता है। यदि नाडीगति १५० से ऊपर हो जाय तो अरिष्ट लक्षण समझें। ऐसी स्थिति में हृदय को उत्तेजन करने के लिए रससिन्दूर, मकरध्वज, कस्तूरी भैरव, द्राक्षासव, सूचीवेध, (कपूरतैल कस्तुरी) मिश्रित करें।

एक ही ज्वर मे उपरोक्त चारो लक्षण होने से अभिन्यास ज्वर कहा जाता है जो अरिष्ट होता है।

विषम ज्वर, मलेरिया, मौसमी बुखार

परिचय—

यह बारी से आने वाला मच्छरो के काटने से होता है। जिसमे ठड लग कर ज्वर चढकर कुछ देर रहता है। फिर पसीना आकर उतर जाता है।

कारण—

इसके जीवाणु को प्लैज्मोडियम कहते हैं। इनका प्रसार मच्छरो से होता है। ये गन्दी व सीली जगहो मे दिन में छिपे रहते हैं, रात मे काटते हैं। इनमे मादा मासाहारी होने से काटती है। और रक्त मे से जीवाणुओ को लेती है। तथा इसके शरीर मे जीवाणु बढते हैं। तथा उसकी लाला ग्रन्थियो द्वारा स्वस्थ शरीर मे जाते हैं। यह क्रिया १० दिन में होती है।

मानव शरीर मे रक्ताणुओ में चले जाते है। और नियत समय तक रक्ताणुओ में रह कर उन्हें खाते हैं। यह नियत सम—

चातुर्थिक मे ७२ घण्टे

तृतीयक (वि.) में ४८ घण्टे

इस प्रकार नये रक्तकण पकडते है। इस तरह बारबार अधिकाधिक रक्ताणु नष्ट होते हैं। इनके निकलने के समय में शीत लगता है। कारण जीवाणु विषरक्त में मिलता है।

सप्राप्ति—इस प्रकार रक्तकण नष्ट होते हैं तथा जीवाणु बढते रहते हैं। इससे रक्त-क्षय, प्लीहावृद्धि, यकृद्वृद्धि, रक्तरजक बढ जाना साथ ही पित्तरजक की मात्रा बढकर कामलावत् वर्ण होना तथा कृष्णरजक होकर मूत्रकावर्ण कृष्णलोहित हो जाता है। यूरिया अधिक बनने से रक्त का गाढापन होता है। इसमें बृहल्लसीकाणु बढ जाते हैं।

परीपाक काल ११ से १८ दिन।

ज्वर की तीन अवस्थाए होती हैं। प्रथमावस्था—शिर-पीडा, अगमर्द उत्क्लेश, शीत लगना। २ घण्टे।

द्वितीयावस्था—उष्णताप्रतीति, मुख लालसुर्ख, नाडी-गति तीव्र, आकृति और वेग अधिक, ज्वर अति तीव्र १०३, १०५, अवस्था ३-४ घण्टे।

तृतीयावस्था—पसीना आना, पसीने से शान्ति और मूत्र त्याग होना जिसका रग गाढा होता है।

उपद्रव—

अतितीव्रताप, प्रलाप, आन्त्रिक ज्वर, फु० प्रदाह, प्लैहिक सौत्रिक वृद्धि, वृक्कशोथ।

प्रतिबन्धक—मच्छरो से दूर रहें, कूडा-करकट गन्दगी को पास न रखें।

शमन—क्विनाइन, ज्वरांकुश, करजादिवटी, मल्लस्फुटिका, कुटकी, चिरायता, पर्पट, गिलोय आदि।

श्वसनक ज्वर (Lober Pneumonia) ख० फु० प्र०

परिचय—

एक या दोनो फुफ्फुसो के खडो मे शोथ होता है। तीव्रज्वर, श्वास, कास, पार्श्वशूल होते हैं।

कारण—

तृतीयक, वात श्लैष्मिक, प्लेग, प्रतिश्याय तथा शिशिर व वसन्त ऋतु मे, वृद्धावस्था, क्षीण व्यक्तियो मे होता है। उष्णव आर्द्र स्थान से अकस्मात् शीत शुष्क स्थान पर आना, दूषित धूलिमय वायु मे निवास, श्रम, विषमज्वर, वृक्कशोथ, यकृतशोथ, अनियमित आहार-विहार, मद्यादि मादक द्रव्यो का सेवन, कुसमय स्नान।

सप्राप्ति—

कीटाणु गलच्छिद्र से फुफ्फुसो मे जाकर फुफ्फुस कोषो में शोथ पैदाकर उन स्थानो को ठोस बना देते हैं जिसमें ५ से २४ घण्टे लगते हैं। इस शोथयुक्तस्थानो मे वायु पहुँचने से मृदुकरकरायन होती है। ज्वर तीव्र व विषरक्तता हो जाती है।

साध्यावस्था मे ७ दिन बाद ठोस से द्रवीभूत होकर श्लेष्मा बाहिर निकलता है।

लक्षण—

शीतपूर्वक तीव्रज्वर, पार्श्वशूल, शुष्ककास, कफ मे रक्त, तीव्रश्वसन, नथने फूलना, कपोल लाल, ष्ठीवन में श्लेश्मा बहुत थोडी घनचिक्कन आती है।

२-३ दिन में पीडा कम, कास सुगमता से श्लेष्मा अधिक पतली आने लगती है।
अनिद्रा, प्रलाप, बेहोशी आदि भयानक लक्षण हैं।
दर्शन—रुग्णपार्श्व उभरा हुआ श्वासक्रिया में कम उठता है।
स्पर्शन—शब्द-स्पर्श बढ जाता है।
ठेपन—पहिले गुजन, फिर ठोस हो जाता है।
श्रवण—मृदुकरकरायन, घर्षण, प्रणालीय, कोष्ठीय आदि मे सुनाई देते हैं।

चिकित्सा—स्वच्छ वायु तथा प्रकाशयुक्त समशीतोष्ण स्थान में रखें। पूर्ण विश्राम दें। लघु सुपाच्य भोजन दे। आध्मान हो तो श्रृत शीत जल दें। विषरक्तता को रोकने के लिए शौच और मूत्र ठीक आता रहे। मूत्रल, स्वेदल, श्लेष्मल औषधियाँ देते रहें। निद्रा की ओर ध्यान दिया जावे। पार्श्वशूल में नारायण, पचगुण, तैल की मालिश कर सेक करे। तथा लक्ष्मी विलास, विषाण तथा कटकार्यादि क्वाथ आदि दें।

लाक्षारसाभ य ष्ठीवेद्रक्त श्वासज्वरार्दित. ।
स्त्यानफुप्फुसमूलस्य तस्य श्वसनकोमत ॥

आन्त्रिक ज्वर, मोतीझरा, मन्थर ज्वर, टाइफाइड (Typhoid)

परिचय—

इस तीव्रसक्रामक रोग मे क्षुद्रान्त्र की लसीकाग्रन्थि समूह मे शोथ और व्रण हो जाते है, ज्वर शनैः २ बढकर उतरता है इसमे तीन सप्ताह लगते हैं।

कारण—इसके कीटाणु को बैसीलस टाइफोसस कहते है ।

सप्राप्ति—रोगाणु अन्त्र मे जाकर वहाँ की लसीकाग्रन्थियो मे शोथ पैदा कर देता है। दूसरे सप्ताह मे व्रण हो जाते हैं।

परिपाककाल १० से २४ दिन सीमा ५ से २० दिन।

लक्षण—

प्र० अ०—शिर शूल, अगमर्द, अवसाद, ज्वर दिनोदिन तीव्रज्वर की अपेक्षा नाडी-गति मन्द, जिह्वामलिन, श्वेत, उसमे लाल २ अकुर कुछ कुछ उभरे हुए किनारे लाल, उदर वायुपूर्ण, नाभि के नीचे दबाने से पीडा, सात दिन में ज्वर १०४ तक पहुँच जाता है।

द्वि० अ०—ज्वर सप्ताह तक वही स्थिर रहता है। प्रलाप, कम्प, उदर पर गुलाबी रग की पिडिकाऐ कभी २ ग्रीवा, वक्ष, उदर पर श्वेत वर्ण की छोटी छोटी पिडिकाऐं निकल आती हैं। जिह्वा शुष्क व फट जाती है। होठो और दातो पर मल जम जाता है (मुख चिन्तित, आखें स्तब्ध व तेजहीन, व्रण मे धमनिका के फटने से रक्तयुक्त मल होता है। उदरक कलाशोथ होने पर तीव्रताप, विषरक्तता, अतिसार, रक्तस्राव कभी यह अवस्था कभी २ से ४ सप्ताह तक चलती है।

तृ० अ०—ज्वर शनै शनै कम होता है। इस प्रकार इस सप्ताह मे ज्वर व सब लक्षण दूर होते हैं।

च० अ०—दुर्बलता व अन्त्र के व्रण भरने लगते हैं।

इसमे १५-२० प्रतिशत मृत्यु हो जाती है।

उपद्रव—

अतितीव्रताप, विषरक्तता, प्रलाप, आध्मान, रक्तस्राव, उदरककला शोथ, फुपफुस-प्रदाह, वृक्कशोथ, शय्याव्रण।

चिकित्सा—

परिचारक को अपनी व दूसरो की रक्षा के लिए स्वच्छता का विशेष प्रबध रखना चाहिये।

भोजन—मृदु, तरलमय व लघु दें। पूर्ण विश्राम दे। लेटाये रखें। लेटने से शय्या-व्रण का विशेष भय रहता है। अत करवट बदलते रहे तथा रेक्टीफाइड स्पिरिट लगा कर बोरिक, जिङ्क आदि डस्टिङ्ग पावडर मलें।

अथास्य दोषपाकेन नैरुज्ये सम्भविष्यति।
प्रायस्तृतीये सप्ताहे क्वचित्तुर्येऽथवा पुन ॥

श्लेष्मक ज्वर (Influenza)

कारण—

एक प्रकार का दण्डाकार कीटाणु (वैसिलस इन्फ्लुएन्जा) है। जिसका प्रसार दूषित वस्त्रो व वायु द्वारा शरद, शिशिर व बसन्त ऋतु मे जनपदोद्ध्वस के रूप से होता है।

सप्राप्ति—

श्वासयन्त्र मे इसकी दुष्टी होती है, कभी कभी अन्नमार्ग भी दूषित होता है।

लक्षण—

यह अकस्मात् होता है जिसमे शिर शूल, कटिशूल, कठशूल, कठदाह, तीव्रशुष्ककास, मुख व आँखे रक्तिम, प्रलाप, कपन, जिव्हा मैली व फूली हुई, नाडी गति ज्वर की अपेक्षा कम होती है। रक्त मे श्वेताणु कम तथा क्षुद्र व वृहत् लसीकणुओ का निपात बढ जाता है। इसकी चार अवस्थाऐ होती हैं :—

१. साधारण—उपरोक्त लक्षणो के साथ ५ से ७ दिन तक ज्वर रहता है।

२ श्वसनक —अतितीव्र कास, रक्तयुक्त ष्ठीवन, टेंटुए से वायु-प्रणाली तथा फुफ्फुसो मे फैलता हैं।

३ आन्त्रिक—उपरोक्त लक्षणो के साथ उत्क्लेश, वमन, अतिसार, कामला आदि हो जाते हैं।

४ वातिक—ज्वर, प्रतिश्याय, कासक्षीणता के साथ बेचैनी, प्रलाप, निद्रानाश, पक्षाघात, शीर्षावरण प्रदाह आक्षेपक आदि होते है।

परिपाक काल—तीन से चार दिन।

सीमा—एक से पाच दिन।

उपद्रव—

हृदयकार्यावरोध, पक्षाघात, फुफ्फुसप्रदाह।

चिकित्सा—

गोजिह्वादिक्वाथ, त्रिभुवनकीर्ति, मरिच्यादिवटी, दालचीनी तथा नीलगिरी तैल का

वाष्प स्वेद दे। रोगी को पृथक स्वच्छ वायु प्रकाशयुक्त स्थान मे रखे। भोजन मृदु सुपाच्य तरलमय दे। मल-शुद्धि पर ध्यान रखे।

नैरुज्य स्वल्पदोपस्य शीघ्र यद्यपि जायते।
बलहानिश्चराय स्यात्कृच्छ्रा तु बहुदोपता॥

सन्धिक ज्वर - आम वात ज्वर (Rheumatic Fever)

व्रणशोथरुजातोदैः सन्धीनापीडयन् भृशम्।
ज्वरो घोर स हृद्रोग सन्धिको नाम कथ्यते॥

यह तीव्र रोग है जिसमे ज्वर, सन्धिशोथ, हृदय की कला मे शोथ हो जाता है।

कारण—हेमन्त या शिशिर ऋतु मे आर्द्र तथा उष्ण प्रदेश मे होता है। इसका कीटाणु पक्तिबद्ध बिन्दुकाकृति है।

सप्राप्ति—गलग्रथियो द्वारा रक्त मे जाकर सन्धियो मे तथा रक्तधरा कला मे शोथ पैदा कर देता है। रक्त मे तक्राम्ल तथा फाईब्रिन बढ जाती है जिससे रक्त स्कदन विलम्ब से होता है।

लक्षण—अकस्मात् शीत से ज्वर, अगमर्द, कठदाह, ग्रीवास्तम्भ, गलग्रंथिये शोथ-युक्त होकर कोहनी, घुटना आदि सन्धिये रक्तमय व शोथयुक्त होकर असह्य पीडा हो जाती है। नाडी भरी हुई मृदु, अत्यधिक स्वेद तथा मल-मूत्र व रक्त की न्यूनता होती जाती है।

कीटाणु विष हृदय के कपाटो में शोथ पैदा कर खराब कर देते हैं जिससे हृदय मे मर्मर शब्द सुनाई देने लगता है। हृद्विस्तृति हो जाती है।

उपद्रव—हृदयावकरण शोथ, फुफ्फुसावरण शोथ, कठशोथ, अति तीव्र ज्वर, मस्तिष्कावरण शोथ आदि चिकित्सा—

पूर्ण विश्राम, लेटाये रखें, मृदु भोजन दें, आमल की गुड क्वाथ तथा गुग्गुलु प्रयोग करें। सन्धि शोथ पर सेक कर गर्म कपड़ा लपेटे। कभी कभी मृदु विरेचन बस्ति दें।

स श्रमश्वासशोथाद्यैः क्रमात्सीदन् जहात्यसून्।

श्वेतातिसार सग्रहणी (Sprue)

परिचय—

अन्नमार्ग मे श्लैष्मिक कला के जीर्ण शोथ के कारण जीर्णातिसार मुख पाक क्षीणता श्वेतवर्ण का अतिसार, फूला हुआ व झागदार मल होता है।

कारण—

मोनिलिया साइलोसिस कीटे, खाद्योज की कमी, वसाप्रोटीन का अधिक उपयोग, अमीबिकप्रवाहिका ।

सप्राप्ति—

अन्त्र की दीवार की श्लैष्मिक कला व ग्राहकाकुर क्षीण होकर उस स्थान मे सौत्रिकतन्तु बन जाते हैं, साथ ही अग्न्याशय शोथयुक्त व वसामय तथा यकृत् प्लीहा सकुचित हो जाते हैं। जिह्वा की श्लैष्मिक कला फूल जाती है और उसमे व्रण बन जाते हैं। इसी तरह आमाशयिक कला के क्षीण हो जाने से आमाशयिक रसपूर्ण मात्रा मे नही बनता। इस प्रकार आहार का सम्यकूलीनीकरण नही होता। अत रोगी दिनोदिन क्षीण व रक्तहीन होता जाता है।

लक्षण—

अजीर्ण, अम्लोद्गार, आध्मान और मल का वर्ण श्वेत हो जाता है तथा उसमे अपक्व द्रव्य व वसा मिलो रहती है, मल फूला हुआ रहता है। जिह्वा का किनारा व अग्र भाग लाल व छोटे छोटे शोथ युक्त छाले तथा वृण हो कर वहाँ के स्वादाकुर सकुचित हो नष्ट हो जाते है जिससे जिव्हा शुष्क, रक्ताभ व श्लक्ष्ण हो जाती है। यह चिरस्थायी जीर्ण व्याधि है। रक्ताणुसंख्या न्यून, श्वेताणुन्यून, मल व मुख व्रणो मे कीटाणु मिलते हैं।

पथ्य—केला, अनन्नास, सन्तरा, सेब, नासपती, आडू, लीची।

यकृत्—यकृतसत्व, काजी तक्र।

अर्श, बवासीर पाइल्स (Piles) हैमेराइड्स (Haemorrhoids)

परिचय—

गुदा के निम्न भाग मे शिराओ की फूली हुई अवस्था को अर्श कहते हैं।

सप्राप्ति—

गुदा मे शिराऐ लम्बाई के रुख होती हैं, मल त्यागने व प्रवाह के समय मल द्वारा जोर पडने से शिराऐ फूल जाती है। इसके दो भेद हैं शुष्कार्श स्रावीअर्श, शुष्कार्श (बाह्यार्श)।

श्लैष्मिक कला मे शिथिलता होकर शोथ हो जाना।

चिकित्सा—उष्म स्वेद या उपनाह करें तथा मृदुरेचन दें।

रक्तार्श, अन्तरीयार्श, स्रावीअर्श।

आरम्भ में मृदु होते हैं। परन्तु कुछ काल पश्चात् दृढ और उठे हुए प्रतीत होते

है। तथा गुदा से बाहर आ जाने पर जब अदर प्रविष्ट नही हो पाते तो वहाँ व्रण हो जाते हैं जिससे शूल, बेचैनी आदि होती है तथा रक्त गिरता रहता है।

चिकित्सा—नागकेशर, तिल व मक्खन का प्रयोग करें।

प्रवाहिका

यह बहुत सी आन्त्रिक व्याधियो का लक्षण है जब कि आंतो मे शोथ व व्रण होकर शौच प्रवाहण के साथ उतरता है, मल मे रक्त व श्लेश्मा आता है।

इसके २ भेद हैं—बैसिलरी, अमीबिक।

(१) बैसिलरी—(कारण) इसका प्रसार ग्रीष्म व वर्षा ऋतु मे मल से दूषित आहार पदार्थों द्वारा होता है।

सप्रति—कीटाणु बडी आत या छोटी आत मे शोथ पैदा कर व्रण बना देते है। व्रणो से कला के टुकडे गिरते है, जिससे प्रवाहण होता है—मल मे रक्त, कफ व कला के टुकड़े मिलते हैं।

परिपाक काल १ से २ दिन।

लक्षण—अकस्मात् उदर पीडा शुरू होकर मल-त्याग की इच्छा होती है—पहिले साधारण मल, फिर रक्त व कफ आते हैं और पेट मे ऐंठन होती है। रोगी चाहता है मला-गार से नही उठे। ज्वर १००° रहता है। बिडाल्सटेस्ट से इसका निश्चय हो जाता है।

चिकित्साशमन—

लघन १ दिन, इसके बाद तण्डुलोदक, मुद्गयूष कृशरा के बाद रोटी दे।

सर्व प्रथम एरण्ड तैल अभयादि सौम्य विरेचन देकर सग्राहक औषधि दें। कुटजा-रिष्ट, सिद्धप्राणेश्वर, कर्पूर रस आदि।

अमीबिक—

कारण—इसका जीवाणु एन्ट अमीबा हिस्टोलिटिका है।

सप्राप्ति—जीवाणु आतो में बैठ कर इसे पैदा करते हैं।

लक्षण—लक्षणपूर्ववत् भेद यह है कि इसमें ज्वर नही होता। तथा शौच के समय कुछ विलब होता है।

उपद्रव—उदरक कला शोथ, अन्त्र मार्ग सकोच, यकृद्विद्रधि चिकित्सा पूर्ववत्।

विशूचिका

परिचय—

यह अति तीव्र सक्रामक रोग है जो कि महामारी के रूप में कीटाणु दूषित आहार द्वारा फैलता है। इसमें वमन, अतिसार, उद्वेष्टन, मूत्राभाव होते हैं।

कारण—

मोनिलिया साइलोसिस कीटे, खाद्योज की कमी, वसाप्रोटीन का अधिक उपयोग, अमीबिकप्रवाहिका।

सप्राप्ति—

अन्त्र की दीवार की श्लैष्मिक कला व ग्राहकाकुर क्षीण होकर उस स्थान मे सौत्रिकतन्तु बन जाते हैं, साथ ही अग्न्याशय शोथयुक्त व वसामय तथा यकृत् प्लीहा सकुचित हो जाते हैं। जिह्वा की श्लैष्मिक कला फूल जाती है और उसमे व्रण बन जाते हैं। इसी तरह आमाशयिक कला के क्षीण हो जाने से आमाशयिक रसपूर्ण मात्रा मे नही बनता। इस प्रकार आहार का सम्यकलीनीकरण नही होता। अत रोगी दिनोदिन क्षीण व रक्तहीन होता जाता है।

लक्षण—

अजीर्ण, अम्लोद्गार, आध्मान और मल का वर्ण श्वेत हो जाता है तथा उसमे अपक्व द्रव्य व वसा मिली रहती है, मल फूला हुआ रहता है। जिह्वा का किनारा व अग्र भाग लाल व छोटे छोटे शोथ युक्त छाले तथा व्रण हो कर वहाँ के स्वादाकुर सकुचित हो नष्ट हो जाते है जिससे जिव्हा शुष्क, रक्ताभ व श्लक्ष्ण हो जाती है। यह चिरस्थायी जीर्ण व्याधि है। रक्ताणुसंख्या न्यून, श्वेताणुन्यून, मल व मुख व्रणो मे कीटाणु मिलते हैं।

पथ्य—केला, अनन्नास, सन्तरा, सेव, नासपती, आडू, लीची।

यकृत्—यकृतसत्व, काजी तक्र।

अर्श, बवासीर पाइल्स (Piles) हैमेराइड्स (Haemorrhoids)

परिचय—

गुदा के निम्न भाग मे शिराओ की फूली हुई अवस्था को अर्श कहते है।

सप्राप्ति—

गुदा मे शिराऐ लम्बाई के रुख होती हैं, मल त्यागने व प्रवाह के समय मल द्वारा जोर पडने से शिराऐ फूल जाती है। इसके दो भेद हैं शुष्कार्श स्रावीअर्श, शुष्कार्श (बाह्यार्श)।

श्लैष्मिक कला मे शिथिलता होकर शोथ हो जाना।

चिकित्सा—उष्म स्वेद या उपनाह करें तथा मृदुरेचन दे।

रक्तार्श, अन्तरीयार्श, स्रावीअर्श।

आरम्भ मे मृदु होते हैं। परन्तु कुछ काल पश्चात् दृढ और उठे हुए प्रतीत होते

है। तथा गुदा से बाहर आ जाने पर जब अंदर प्रविष्ट नही हो पाते तो वहाँ व्रण हो जाते हैं जिससे शूल, बेचैनी आदि होती है तथा रक्त गिरता रहता है।

चिकित्सा—नागकेशर, तिल व मक्खन का प्रयोग करें।

प्रवाहिका

यह बहुत सी आन्त्रिक व्याधियो का लक्षण है जब कि आंतो मे शोथ व व्रण होकर शौच प्रवाहण के साथ उतरता है, मल मे रक्त व श्लेश्मा आता है।

इसके २ भेद हैं—बैसिलरी, अमीबिक।

(१) बैसिलरी—(कारण) इसका प्रसार ग्रीष्म व वर्षा ऋतु मे मल से दूषित आहार पदार्थों द्वारा होता है।

सप्रति—कीटाणु बडी आत या छोटी आत मे शोथ पैदा कर व्रण बना देते है। व्रणो से कला के टुकडे गिरते हैं, जिससे प्रवाहण होता है—मल मे रक्त, कफ व कला के टुकड़े मिलते हैं।

परिपाक काल १ से २ दिन।

लक्षण—अकस्मात् उदर पीडा शुरू होकर मल-त्याग की इच्छा होती है—पहिले साधारण मल, फिर रक्त व कफ आते हैं और पेट मे ऐंठन होती है। रोगी चाहता है मलागार से नही उठे। ज्वर १००° रहता है। बिडाल्सटेस्ट से इसका निश्चय हो जाता है।

चिकित्साशमन—

लघन १ दिन, इसके बाद तण्डुलोदक, मुद्गयूष कृशरा के बाद रोटी दें।

सर्व प्रथम एरण्ड तैल अभयादि सौम्य विरेचन देकर सग्राहक औषधि दें। कुटजारिष्ट, सिद्धप्राणेश्वर, कर्पूर रस आदि।

अमीबिक—

कारण—इसका जीवाणु एन्ट अमीबा हिस्टोलिटिका है।

सप्राप्ति—जीवाणु आतो में बैठ कर इसे पैदा करते हैं।

लक्षण—लक्षणपूर्ववत् भेद यह है कि इसमें ज्वर नही होता। तथा शौच के समय कुछ विलब होता है।

उपद्रव—उदरक कला शोथ, अन्त्र मार्ग सकोच, यकृद्विद्रधि चिकित्सा पूर्ववत्।

विशूचिका

परिचय—

यह अति तीव्र सक्रामक रोग है जो कि महामारी के रूप में कीटाणु दूषित आहार द्वारा फैलता है। इसमें वमन, अतिसार, उद्वेष्टन, मूत्राभाव होते हैं।

कारण—जुडा हुआ दडाकार कीटाणु कॉलेरा विब्रियो है।

इसका प्रसार ग्रीष्म व वर्षा ऋतु में प्राय कर तीर्थ स्थानो में अधिक होता है। उदर रोगियो या कुपथ्यसेवियो मे अधिक होता है।

सप्राप्ति—कीटाणु क्षुद्रान्त्र की दीवार में पहुँच कर अपने विष को रक्त में मिला कर रोग पैदा करते हैं। क्षुद्रान्त्र की लसीका ग्रथि समूह मे शोथ हो जाता है तथा अत्यधिक द्रवत्व निकल जाने से रक्त का घनत्व १०६५ से १०६५ तक हो जाता है। इससे वृक्को में मूत्र बनना बन्द हो जाता है।

परिपाक काल कुछ घण्टे से ५ दिन तक।

लक्षण—

प्र० अ० अतिसारावस्था—इसमें उदर शूल होकर पीले रग के, फिर फीके, जल्दी जल्दी तथा बाद मे चावल के पानी के समान ५–१० मिनिट के बाद होने लगते हैं, साथ ही साथ वमन भी होते हैं, पहिले आमाशय के द्रव्य फिर क्षुद्रान्त्र के पित्त, फिर इनका वर्ण भी तण्डुल जलवत् हो जाता है। बाह्यताप कम परन्तु गुदा मे १०३ होता है।

द्वि० अ० शीतकायावस्था—अतिक्षीण चेहरा पिचका हुआ, आँखे अन्दर घसी हुई, (त्वचा) शीत शुष्क नीलाभ, झुर्रियायुक्त (मूत्र) पहिले कम पीछे बन्द हो जाता है। नाडी अति क्षीण, तीव्र रक्तभार कम, वाक् शक्ति धीमी होकर अन्त मे सन्यस्त होकर प्राण त्याग देता है।

तृ० अ०—कुछ घण्टो या दिनो के बाद रोगी के वमन अतिसार कम हो जाते हैं। वर्ण भी बदलता है। तथा मूत्र आने लगता है। ज्वर होकर सज्ञावान हो जाता है।

चिकित्सा—

प्रति-पथ्यापथ्य पर विशेष ध्यान दें। बाजार की कोई चीज न खाएँ एव उबाल कर ही खायें।

रोगी को एकान्त मे या सक्रामक आतुरालय मे भेज दें। उसके मलादि का पूर्ण प्रबन्ध रखें। कॉलेरावेक्सोन से रोग क्षमता बढती है। रोग की निवृत्ति के बाद कमरे को भली प्रकार शुद्ध करे। शमन-उष्ण कमरे मे रखें, चूसने को बर्फ, यवमूष, ब्रान्डो दे, फिर जल-मिश्रित अधपका दूध दे। सजीवनी वटी लोग से, प्याज का रस आदि दें।

उपद्रव—

मूत्राभाव में उष्ण लवण जल से मूत्राशय का प्रक्षालन करें। वृक्क प्रदेश पर सेक करें।

उद्वेष्टन—

पिण्डलियो पर राई का लेप करें ।

वमन—

आमाशय, कौडी प्रदेश पर राई का उपनाह लगाएँ ।

शीतकायावस्था—

मकरध्वज, कस्तूरी भैरव, मृतसजीवनी, सुरा, नमक जल का सूची वेध दें ।

धनुर्वात (Tetanus)

परिचय—

इस सक्रामक रोग में हनुस्तम्भ तथा मास-पेशियो के सकोच से शरीर धनुप की आकार का हो जाता है ।

कारण—

दण्डाकृति धनुर्वात कीटाणु है—जो पशुओ के अन्त्र में रहता है और उनके मल के साथ बाहिर आता है ।

सप्राप्ति—

क्षतस्थान से कीटाणु प्रविष्ट हो कर बढता हुआ अपने विष को मस्तिष्क के गत्यु-पादक क्षेत्रो में शोथ व क्षोभ पैदा करता है ।

परिपाक काल—

दो से चौदह दिन ।

लक्षण—

सर्व प्रथम हनुस्तभ की प्रतीति होती है, फिर स्तब्धता बढ कर सब मासपेशियो में सकोच होता है । इससे शरीर धनुष की आकृति मे पार्श्व या पीठ की ओर झुक जाता है । इससे असह्य पीडा होती है, ज्वर अतितीव्र ११० डिग्री से ११२ डिग्री तक होकर रोगी के प्राण हर लेता है ।

चिकित्सा—

धनुर्वात विरोधी रक्त रस दें, पीडा रोकने के लिए अहिफेन आदि का लेप करे ।

अम्लपित्त (Acid Dyspepsia)

परिचय—

आमाशय में अम्ल रस अत्यधिक बनता है ।

कारण—

अधिक धूम्रपान, विरुद्ध, दुष्ट, अम्ल, विदाही, तीक्ष्ण पदार्थों का अत्यधिक सेवन।

लक्षण—

कौडी प्रदेश मे जलन व क्षोभ होता है तथा भोजन के एक ही घण्टे बाद खट्टे डकार आते हैं।

चिकित्सा—

शतपत्रादि चूर्ण, द्राक्षादि चूर्ण, जहर मोहरा, अविपत्तिकर चूर्ण आदि।

अतिसार (Diarrhoea)

परिचय—

पतले मल का शौच बार बार आना अतिसार कहलाता है।

सप्राप्ति—

तीक्ष्ण, क्षोभक तथा दुष्पाच्य आहार के सेवन से अन्त्र मे क्षोभ हो कर अपकर्षणी गति बढ जाती है, तथा अतिसार हो जाता है।

कारण—

जल, उदरकृमि, दूषित विष।

लक्षण—

मल का बार बार द्रवीभूत हो अपक्वावस्था मे आना, तथा उदरशूल तथा उद्वेष्टन होना।

अभिनव—आम तथा पक्व अतिसार।

आम—मल जल मे डालने पर डूब जाता है।

क्षय

परिचय—

यह तीव्र सक्रामक रोग है, जिसमे इसके कीटाणु विभिन्न अगो मे जाकर गण्ड बनाते हैं तथा मृदु होकर फट जाते हैं या रोग शाति के समय खटिकमय बनते हैं। ज्वर, क्षीणता अनियमित स्वेद लक्षण होते हैं।

कारण—

बैसिलस टच्यूबरक्लोसिस कीटाणु है। यह दीर्घजीवी महाप्राण है। ४ प्रकार का माना गया है।

जल-जन्तुओ का, पक्षियो का, पशुओ का, मनुष्यो का, पहले दो प्रकार के मानव के शरीर मे रोग पैदा करने मे असमर्थ है।

प्रसार—

थूक से तथा क्षयपीडित गौ के दूध से विशेषतया प्रसार होता है। नगरो का घन निवास तथा पूर्ण शुद्ध आहार की अप्राप्ति भी है।

सप्राप्ति—

कीटाणु गड मे बैठते है, वही से विष रक्त मे मिल कर लसीका वाहिनिया द्वारा फैलता है।

सर्वांग का, फुफ्फुसो का, शीर्षावरण का।

(१) राजयक्ष्मा, तपेदिक, थाईसिस, पल्मोनरी टयूबरक्लोसिस। यह फुफ्फुसो मे होता है। वायु मदिर, सूक्ष्म वायु प्रणालियो मे कीटाणु गड बनाते हैं। वेग भेद से इसके ४ प्रकार हैं।

(१) तीव्र खडीय फुफ्फुसप्रदाहिक राजयक्ष्मा
(२) ,, प्राणालीय ,, ,,
(३) जीर्ण ,, ,, ,,
(४) ,, सौत्रिकतन्तुमय ,,

(१) तीव ख फु प्र यक्ष्मा—

इसमे फुफ्फुसखड प्रवाहित होते हैं, ज्वर अविसर्गी रात्रि स्वेद, रक्तष्ठीवन तथा रोगी बहुधा ४ से ६ सप्ताह मे मर जाता है।

(२) तीव्र प्रणालीय फुफ्फुसप्रदाहिकक्षय—

इसमे ज्वर अनियमित, रात्रिस्वेद, ष्ठीवन पूय मय हरा व कीटाणुयुक्त तथा वल्गित-रूप धारण कर लेता है। रोगी ३ से ४ सप्ताह मे मर जाता है।

(३) जीर्ण प्रणालीय फुफ्फुसप्रदाहिकक्षय—

प्राय यही भेद दिखाई देता है, यह कम भयानक है। यह केवल एक भाग मे ही (प्राय. फुफ्फुसशिखरो पर) मन्द ज्वर, शुष्ककास, अगमर्द, रोगी निर्बल, रात्रि स्वेद। इसका ज्ञान बडी देर से होता है। इसका प्रारभ गुप्त रूप से होता है। इसमें ६ मास से ३ वर्ष तक रोगी जीवित रहता है।

(४) जीर्ण सौत्रिक तन्तुमय राजयक्ष्मा—

यह बहुत धीरे-धीरे बढता है, कभी कभी मन्द ज्वर, अनियमितस्वेद क्षीणता, दुर्बलता, कास, रोगी को इसका ज्ञान तक नही रहता। रोगी १० से २० वर्ष तक जीवित रहता है।

आन्त्रिकक्षय—

इसमें क्षुद्रान्त्र का अन्तिम भाग और बृहदन्त्र का प्रारम्भिक भाग प्रभावित होता है। अन्त्र की वृत्ति में ग्रन्थिया बनकर मृदु होकर फट कर व्रण बन जाता है। फिर पूय स्राव मल द्वारा बाहर निकलने लगता है।

लक्षण—

ज्वर, क्षीणता, मलबद्धता, शूल अन्त्र परीक्षा से क्षयकीट, लसीका ग्रन्थिया बढी हुई प्रतीत होती है।

गण्डमाला—

गलग्रन्थियो मे क्षयकीट बैठ कर उनमे शोथ व बाद मे व्रण पैदा कर देते हैं जिन्हें अपची कहते है। फिर नाडी व्रण हो जाते हैं। इस रोग की परीक्षा अणुवीक्षण से तथा एक्सरे द्वारा तथा रक्त-परीक्षा से रक्तकणो के नीचे गिरने का समय (उच्च) तथा श्वेताणु कम हो जाते हैं।

चिकित्सा—

सूर्य प्रकाश, विश्राम, स्वच्छ वायु, पौष्टिक भोजन से शरीर कोषो को सहायता मिलती है। तथा वे रोगाणुओ से युद्ध कर उनके चारो ओर कैलशियम की दीवार बन जाते हैं।

आहार—

७ बजे प्रात दूध व अण्डा
१० ,, ,, भोजन सब्जी रोटी
२ ,, मक्खन, मलाई, बिस्कुट, दूध
५ ,, दूध, फल, या मास-रस
७ ,, रात्रिभोजन इच्छानुसार
१० ,, ,, दूध

शुश्रुषा—

प्रसन्न चित्त व आशान्वित रहे।

> शुक्रायत्त बल पुसा मलायत्त तु जीवितम्।
> तस्माद्यत्नेन सरक्षेद्यक्ष्मिणो बल रेतसी॥

इस अवस्था मे कोष्ठ मे जो आहार पहुँचता है उसका प्रायः मल बनता है—अत्यल्प मात्रा मे ओज बनता है। इसलिए यक्ष्मा रोगी के मल की रक्षा करें क्योकि सर्व धातु क्षय की अवस्था मे रोगी के बल का आधार केवल मल है। मल को तोड देने मात्र से यक्ष्मा रोगी का देहपजर शिथिल हो जाता है। ऐसी अवस्था में विरेचन दिया जाय तो रोगी-

प्राणहारी होता है। मलावरोध हो तो बादाम रोगन, गुलकन्द, बनपसा दें। वासा, वसंत-मालती, जयमगल आदि का प्रयोग करें।

अग्निरोहणी

कक्षाभागेषुये येस्फोटा जायन्ते मासदारुणा.। अंतर्दाह ज्वरकरा दीप्तपावक सन्निभा।
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वापक्षाद्वाहन्तिमानवम्। तामग्निरोहिणीविद्यादसाध्या सान्निपातिकीम्।

परिचय—

तीव्र सक्रामक व आशुकारी रोग महामारी के रूप मे फैलता है जिसमे तीव्र ज्वर प्रलाप, लसीका ग्रन्थिवृद्धि विशेष लक्षण पाये जाते हैं।

कारण—

दण्डाकार कीटाणु 'बैसलस पौस्टिस' कहते हैं। यह पिस्सुओ द्वारा फैलता है, पिस्सू चूहों से इसके कीटाणु लेते हैं व मानव शरीर मे फैलाते हैं।

सप्राप्ति—

पिस्सू डेढ फीट ऊँचा उडता है, अत मानव के निम्न स्थानो मे काटता है, तथा लसीकावहिनियो द्वारा ऊपर जाकर रक्त मे मिलता है। लसीकाग्रन्थिया इन्हें रोकती हैं जिससे वे बढ जाती हैं। तथा पूय होकर फट जाती है।

यह ग्रथियो मे नही रुक कर रक्त मे फैलता है तो कीटरक्तता हो जाती है जो कि भयानक अवस्था है।

लक्षण—

शीतपूर्वक ज्वर, मस्तक शूल, भ्रम, वमन, उत्क्लेश दुर्बलता, नाडी अति तीव्र—दूसरे या तीसरे दिन ग्रथि-वृद्धि।

चिकित्सा—

यह महामारी के रूप मे फैलती है अत प्रतिबधक चिकित्सा की ओर ध्यान दें। चूहों को भगायें तथा क्रुमिघ्न धूप व गैसो का प्रयोग करें। घुटने तक जुराब व इसके वैक्सीन का प्रयोग करें।

शमन—

ग्रन्थि पर दशागलेप, अर्कपत्र, अर्कक्षीरादि लगाएँ तथा सौरम आदि का प्रयोग करें।

मसूरिका

परिचय—

यह एक तीव्र सक्रामक ज्वर है जिसमे पिडिकाऐं निकलती है। पहिले लाल, फिर तरलमय होकर पकती हैं, फिर खुरण्ड बन कर शनैः २ झड जाता है।

कारण—

इसका अति सूक्ष्म कीटाणु है जिसका अभी पता नही लग सका। इसका प्रसार खुरण्ड आदि के उडने से होता है। सपूर्ण जीवन मे एक बार होता है। यह बच्चो मे अधिक होता है। यह प्राय वसन्त ऋतु मे फैलती है।

सप्राप्ति—

इसके कीटाणु रक्त में सचार करते हुए उप चर्म मे आकर बैठ जाते हैं, वहा का वर्ण रक्तमय शोथयुक्त हो जाता है जहा हाथ लगाने पर त्वचा में मसूर के दाने की तरह ग्रथिया प्रतीत होती है। फिर इनमें श्राव होकर छाले हो जाते है, ये ही स्फोट बन कर खुरड बन जाते है, कीटाणु तरल पूय व खुरड मे रहते हैं, यही से प्रसार करते है। परिपाक काल, १० से १४ दिन, सीमा ५ से २३ दिन।

लक्षण—शीत से अतितीव्र ज्वर, शिर शूल, वमन उत्क्लेश व बलहीन होकर खाट पकड लेता है। दूसरे दिन रक्तवर्ण की पिडिकाऐ हो जाती है। तीसरे या चौथे दिन वास्तविक पिडिकाएँ पहिले मुख, कलाई, हाथ आदि पर फिर शीघ्र ही सारे शरीर में निकल आती हैं। कभी कभी श्लैष्मिक कला पर भी निकल आती है। पाचवें दिन तरल भर जाता है, छाले बनने पर ज्वर कम हो जाता है। ७वें दिन पीप होकर ज्वर बढ जाता है, तथा रोगी की पूय से दुर्गन्ध आती है। नौवें दिन पिचकती है। ग्यारहवें दिन फटने लगती है। इसके बाद ३-४ दिन मे अच्छा हो जाता है।

कोष्टबद्धता, जिव्हा शुष्क मैली, नाडी भरीतीव्र रहती है। पिडिकाओ का कम या न निकलना भयानक लक्षण है। ३०-४० प्र० श० मृत्यु हो जाती है।

उपद्रव—

तीव्रकास, रक्तपूयता, सधिशोथ, शुक्रादि-नेत्ररोग, वृक्कशोथ।

चिकित्सा—

प्रतिबन्धक - रोगी को बच्चो से दूर रखे तथा वेक्सीन का टीका करा देवे।

शमन चिकित्सा—

दाने निकलने के समय केशर, मकरध्वज या रससिन्दूर मुनक्का के साथ दें तथा भास्यादिक्वाथ दोनो समय दे।

पथ्य—दूध।

रोमान्तिका—

इस तीव्र सक्रामक रोग मे नासा कठ की श्लैष्मिक कला का प्रवाह हो कर चौथे दिन देह पर पिडिकाऐं निकल आती हैं।

कारण—

इसके कीटाणु, श्लेष्मा तथा खुरण्ड के उपचर्म द्वारा फैलते हैं।

परिपाक काल—

१० से १५ दिन। सीमा—५ से २० दिन।

लक्षण—

ज्वर, प्रतिश्याय, नासास्राव, छीक आना, अक्षिस्राव, लालिमा, काम होता है। मुख की श्लैष्मिक कला पर लाल-लाल निशान दिखाई देते हैं। चौथे दिन पिडिकाऐ निकल आती हैं। पिडिकाऐ कुछ उभरी हुई, घन तथा लाल होती है जिनमे जलन कण्डू बेचैनी होती है। दो से चार दिन रह कर पिडिकाऐ मुर्झा जाती है। इनके बैठ जाने पर धूसर धब्बे रह जाते हैं।

तापनिपात से नाडीगति व श्वासगति अधिक होती है।

उपद्रव—

तीव्र कास, काली खासी, राजयक्ष्मा आदि।

चिकित्सा—

रोगी बच्चो को अलग रखें।

शेष मसूरिकावत्।

कामला (Jaundice)

परिचय—

आँखे, त्वचा, मुख, मूत्र का पीला हो जाना। शाखाश्रय तथा कोष्ठाश्रय दो भेद है।

कारण—

स्रोतोरोध, सक्रामकविष, रक्तनाशज।

सप्राप्ति—

उपरोक्त कारणो से यकृत् पित्त अन्त्र मे नही पहुँच कर सीधा रक्त मे मिल जाता है।

लक्षण—

त्वचा, नख, नयन, मुख, नासा पीले हो जाते हैं व मल श्वेत हो जाता है

चिकित्सा—

कुटक, यवक्षार आदि का प्रयोग करें। नवायसलोह, आरोग्यवर्धिनी दें।

पथ्य—तक्र व फल-रस।

पाण्डु रोगीतुयोऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते ।
तस्यपित्तमसृड्मास दग्ध्वा रोगाय कल्पते ।
हारिद्रनेत्र सभृश हारिद्रत्वड्नखाननः ।
रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रिय
दाहाविपाकदौर्बल्य सदनारुचिकर्षित ।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रयामता ।

कामला से कुम्भ कामला तथा इसके बाद हलीमक हो जाता है।

श्वास (Asthma)

परिचय—

श्वसन सख्या मे वृद्धि हो जाना, श्वास कहलाता है।

कारण—

रजोधूमातपानिल, व्यायामकर्म, भाराध्व कर्शण, पैतृक प्रवृत्ति ।

सप्राप्ति—

जब वायु कफ से श्वासवहस्त्रोत (वायु-मदिरो मे) अवरोध (शोथ व सकोच) करता है, तब श्वास रोग हो जाता है ।

लक्षण—

महान्, ऊर्ध्व, छिन्न, तमक, क्षुद्र नाम से ५ भेद है ।

क्षुद्र साध्यःमतस्तेषा तमक. कृच्छ्रउच्यते ।
त्रय श्वासा' नसिद्धयन्ति तमक दुर्बलस्यच ॥

तमक श्वास मे श्वास कठिनाई से आता है और विशेष कूजन दूर से सुनाई देता है। श्लेष्मा में फास्फरस विशेष होता है। रक्त में अम्लरगेच्छु बढे हुए हैं। ये इस रोग में १० से ३० प्रतिशत तक हो जाते हैं।

चिकित्सा—

(१) वेगशामक—सोमलता

(२) वेगावरोधक—श्वासकुठार, अर्कलवण, कनकासव, वासावलेह, वासाक्षार आदि ।

फुफ्फुसावरण प्रदाह (Pleurisy)

परिचय—

फुफ्फुसो के आवरण के शोथ को फुफ्फुसावरण प्रदाह कहते हैं। इसे पार्श्वशूल कह सकते हैं।

कारण—

क्षयकीट, श्वसनक ज्वर, आमवात आदि।

भेद—

(१) शुष्क व (२) तरलमय।

शुष्क—

पार्श्वशूल, शुष्कक्षुद्रकास, उच्छ्वास नि श्वास में घर्षण होता है, ज्वर रहता है तथा श्वास का शब्द मद सुनाई देता है।

तरलमय—

शुष्कक्षुद्रकास, पार्श्वशूल ज्वर १०३ डिग्री, तरल बन जाने पर थोडा कम हो जाती है। रोगी रुग्णपार्श्व से लेटा रहता है। ठेपन से ठोस, श्वास शब्द सुनाई नही देता।

चिकित्सा—

पूर्ण विश्राम। नारायण तैल से अभ्यग, पुष्करमूल, हीग, फिटकिरी, सोठ अफीम का लेप अथवा दशाग लेप करें।

शृङ्गभस्म, कफकेतु, शृग्यादिचूर्ण आदि दें।

आगन्तुपूयमेह भृशोष्णवात (Gonorrhea)

नूतन—

मूत्र के प्रारम्भ में रक्त तथा पूय आना।

पुरातन—

मूत्र के अन्त में थोडी पूय आना।

कारण—

इसके जीवाणु युग्म बिन्दुक कहलाते हैं जिनका सक्रमण मैथुन द्वारा होता है।

सप्राप्ति—

जीवाणु मूत्रप्रसेकद्वार में क्षत पैदा कर देते हैं।

लक्षण—

रक्तमिश्रित स्राव, उपस्थ में शोथ, मूत्रकृच्छ्, ज्वर आदि होते हैं। परन्तु जीर्णावस्था में उपस्थ मूल प्रभावित होता है जिससे पतली पूय आती है।

उपद्रव—

माजिष्ट, आविल-मेह, बस्तिशोथ, संधिवात, नेत्राभिष्यन्द, मूत्र का बिन्दु बिन्दु आना।

मधुमेह जियाबितीसी (Diabetis Mellitus)

परिचय—

यह रक्तस्थ धातु पाक के न होने से उत्पन्न होता है। इससे रक्त में शर्करा बढ जाती है तथा मूत्र में आने लगती है। इसमें मूत्राधिक्य, तीव्र क्षुधा, क्षीणता आदि रहते हैं।

कारण—

अधिकतर यह ४० से ६० वर्ष के मध्य होता है परन्तु न्यूनाधिक आयु वालो में भी होता है, युवको मे यह रोग घातक है। पैत्रिक प्रवृत्ति भी होती है, चिन्ता, मानसिक-आघात तथा स्थूलकाय पुरुषो में अधिक सम्भावना रहती है।

आहार के तीन प्रधान अवयव, प्रोटीन, वसा, कार्बोज मे, इसका कार्बोज से सम्बन्ध है। कार्बोज का पचन हो कर अन्त मे ग्लुकोज बनता है, जो कि प्रतिहारिणी शिरा द्वारा यकृत् मे पहुच कर ग्लाइकोजन के रूप में परिवर्तित हो सचित रहता है, आवश्यकतानुसार रक्त मे पहुँचाया जाता है।

इसकी मात्रा रक्त मे ० ८ प्रतिशत से ० १२ प्रतिशत होती है। १०००० माशा में ८ से १२ माशा, इसके बढ जाने पर मधुमेह के लक्षण उपस्थित होते हैं। १८ से २० माशा से अधिक होने पर वृक्क इसे मूत्र द्वारा बाहर निकाल देते हैं।

(१) कार्बोज वसा आदि का अति प्रयोग।

(२) अग्न्याशयविकृति

(३) शोक, भय, चिन्ता, आघातादि से मस्तिष्क में विकार तथा पिच्यूटरीबोडी का अर्बुद।

सप्राप्ति—

अग्न्याशय के कोषो के नष्ट हो जाने से अग्न्याशय रस उचित मात्रा में नही होता व वृक्क की प्रणालियो के कोषो के क्षीण होने से रक्त में शर्करा की मात्रा बढ जाती है तथा वहाँ वसाबिन्दु जमा हो जाते हैं।

लक्षण—

प्रचण्ड।

यह युवकों में अकारण आरम्भ होता है तथा रोगनिर्णय के पूर्व ही रोगी मर जाता है।

जीर्ण—

गुप्त रूप से प्रारम्भ होता है, शरीर दुर्बल, क्लान्त कण्डूयुक्त, तृषाधिक्य, मूत्राधिक्य, वर्णश्वेत, १०५५ से १०६० गुरुत्व मूत्रपरीक्षा से ज्ञान होता है।

उपद्रव—

सन्यास, अतिसार, पिडिकाऐ, मोतियाबिन्द, वातिकविकार, क्लैव्य, रक्तभाराधिक्य, वृक्कशोथ, यक्ष्मा।

चिकित्सा—

इन्स्यूलिन से लाभ होता है।

प्रमेह भेदाः

च०	सु०	लक्षण	ग०	आ० नाम
उदक मेह	उदक मेह	अच्छ बहुसित शीत निर्गन्ध	उदक मेह (कफ)	Diebetes Insipidous
इक्षुवालिका-,,	इक्षुवालिका ,,	अत्यर्थमधुरशीतमीषत्पिच्छिल माविलम्	,, (वात)	,, Nerrous polyuria
सान्द्र ,,	सान्द्र ,,	पर्युषितंमूत्र सान्द्रीभवति		
,, प्रसाद ,,		सहन्यतेमूत्र किंचित्किंचिद्		
	सुरा ,,	उपर्यच्छमधोघनम्		
शुक्ल ,,	पिष्ट ,,	शुक्ल पिष्टनिभम्	पिष्ट ,,	Phosphateuria
शुक्र ,,	शुक्र ,,	शुक्राभ शुक्रमिश्र वा	शुक्र ,,	Spermatorrhoea
शीत ,,	शीत ,,	अत्यर्थं शीत मधुरम्		
सिकता ,,	सिकता ,,	मूर्ताण्वन्सिकता मेही	सिकता मेह	Lihuria
शनैर्मेह	शनैर्मेह	मन्दमन्दमवेगतु		
आलाल मेह		तन्तुबद्धमिवालालम्	लाला मेह	Excessive prostatic secretion
	लवण मेह			
	फेन मेह			
		वृक्करोगेषु लसीकायुक्तम्	लसीका मेह	Albumin uria

क्षार मेह	क्षार मेह	गन्धवर्णरसस्पर्शैर्यथाक्षारः	क्षार मेह	Highly alkaline urine
काल ,,		मसीवर्णमजस्रम्	काल ,,	Black water fever
नील ,,	नील ,,	चाषपक्षनिभम्	नील ,,	Indicanuria
हारिद्र ,,	हारिद्र ,,	हरिद्रोदकसकाशकटुकम्	हारिद्र ,,	Excess of bile in urine
मंजिष्ट ,,	मंजिष्ठ ,,	मंजिष्ठोदक सकाश भृशविस्रम्	मंजिष्ट ,,	Haemoglobin uria
लोहित ,,	शोणित ,,	विस्र लवणमुष्ण च रक्तम्	रक्त ,,	Haematuria
	अम्ल ,,	अत्यम्ल रसगन्धाभ्याम्	अम्ल ,,	Highly acid urine
वसा ,,	वसा ,,	वसामिश्रं वसाभवा	वसा ,,	Lipuria
मज्जा ,,		मज्जान सह मूत्रेण		
हस्ति ,,	हस्ति ,,	हस्तीमत्त इवाजस्रम्		
मधु ,,	क्षौद्र ,,	कषाय मधुर पाण्डु रुक्षम्	मधु ,,	Diabetes
	सर्पि मेंह	श्लीपदे मधुमेहेच	सर्पिर्मेह	Chyluria
			शीधु मेह	Acetonuria
		पूयमिश्र यदा मूत्रम्	पूय ,,	Piuria
			भेषज ,,	Urinary excretion of coloured drug

परन्तु भोजन की ओर ध्यान दें। भोजन ऐसा हो कि रक्त मे इसका परिणाम ० १८ से अधिक न हो। आजीवन मूत्र परीक्षा का साधन रखे।

अतिन्यून कार्बोजनक पदार्थ

मास	दुग्ध	धान्य	शाक
भेड	कृत्रिम दुग्ध	निशास्ता	पालक, सेव, गोभी
बकरी	घृत	सहित	चुकन्दर
सुअर		आटे की रोटी	गाठ गोभी
मुर्गी		बिस्कुट	गाजर, मूली
मछली			खरबूजा
अन्डे			टमाटर, बेंगन

शिलाजतु प्रयोग करें, चन्द्रप्रभा, वसन्त कुसुमाकर जामुन की मज्जा का चूर्ण बना देवें।

कुष्ठ Leprosy

यह सक्रामक जीर्ण रोग है जिसमे त्वचा या श्लैष्मिककला मे गंड होकर स्पर्शशून्य मडल होकर फट कर व्रण हो जाते हैं।

कारण —

दण्डाकार बैसीलस लेप्रोसी कीटाणु है। दरिद्रता, क्षुधार्तता घन निबिड निवास इसके सहायक कारण हैं।

सप्राप्ति —

इसका कीटाणु त्वचा, श्लैष्मिक कला व वात तन्तुओ मे गड पैदा करते हैं। धीरे धीरे ये फट कर व्रण बन जाते हैं।

परिपाक काल—२ वर्ष।

लक्षण—

(१) ग्रन्थिक (२) वातिक (३) मिश्रित

ग्रन्थिक—ज्वर होकर मडल बनते है। फिर उनमे गड हो जाते हैं। इनकी सख्या बढ कर फटने लगती हैं। जिससे मनुष्य की आकृति में अन्तर हो जाता है। ये मुख कण्ठ स्वर-यन्त्र नासा, आँख आदि मे होते हैं। अन्त में राजयक्ष्मा आदि से पीडित हो कर मर जाता है। अवधि २ से १० वर्ष।

वातिक—इसमे वातिक पीडाऐं (अन्त-प्रकोष्ठ) वात नाडिये दृढ रज्जुवत् हो जाती हैं। जिनमे चिमचिमाहट, सरसराहट आदि वेदनाऐं होती हैं। फिर मडल होते हैं। जो

पहिले स्पर्श शक्ति नष्ट हो जाती है। फिर वही छाले व व्रण हो जाते हैं। अंगुलियें झडती हैं। ऐसे रोगी २०-२० वर्ष जीवित रहते हैं।

चिकित्सा—

इस रोगी को नगरो से एकान्त स्थानो मे रखें तथा चावल मोगरा तैल आदि तैल प्रयोग करें।

सशोधन

अपतर्पण के लघन, लघनपाचन तथा दोषावसेचन, तीन भेद बताये हैं तथा इनके चिकित्सा सूत्र भी दोषो के अल्प, मध्य तथा बहुदोष के अनुसार क्रम किया जाता है।

अधिक बढे हुए दोषो की चिकित्सा दोषो को शरीर से बाहर निकालना होती है जैसे बिना खेत की मोड तोडे उसमे इकट्ठा हुआ पानी नही सुखाया जाता उसी तरह वृद्ध दोषो को निकाले बिना रोग शान्ति नही होती।

दोषावरोचन ऊपर और नीचे के दोनो स्रोतो द्वारा किये जाते हैं। यह अन्त परिमार्जन औषध है। जो कि कोष्ठशुद्धि देहशुद्धि के साथ करती है।

मलापह रोगहर बलवर्ण प्रसादनम्।
पीत्वा मशोधन सम्यगायुषायुज्यतेचिरम्॥

सशोधन से शारीरिक दोष वात, पित्त, कफ, मूत्र, पुरीष तथा मलशोधक बलवर्णं की वृद्धिहोती है, अर्थात् सशोधन के भली प्रकार के प्रयोग से इन्द्रियो मे बल, धातुओ मे स्थिरता तथा जवानी के साथ बुद्धि प्रसाद प्राप्त होता है। सशोधन के पूर्वकर्म हैं स्नेहन तथा स्वेदन। ये दोनो कर्म स्तम्भस्वरूप हैं अतः सशोधन चाहने वाले व्यक्तियो को ये दोनो पूर्व कर्म कराएँ। इसके बाद शोधन का पूर्व-कर्म वमन प्रयोग दें।

वमन—

वमन द्रव्यो में मुख्यतया निम्न गुण रहते है—उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी, विकासी

ऐसे द्रव्य व्यवायी व विकासी द्रव्य प्रभाव से हृदय मे जाकर धमनियो के माध्यम से देहस्थ सूक्ष्म स्रोतो मे प्रविष्ट हो कर उष्ण के कारण उन स्रोतो मे रहने वाले दोष समूह का विलयन करते हैं तथा अपने तीक्ष्ण गुण के कारण स्रोतोऽवकाशो मे श्लिष्ट दोष का छेदन भी करते जाते हैं। इस प्रकार विलयन तथा विच्छिन्न हुआ दोष स्निग्ध शरीर मे मधु की तरह बिना चिपके कोष्ठ की ओर आकर आमाशय मे सगृहीत होता है उस समय द्रव्यस्थित अग्नि तथा वायु के उत्कर्ष से आमाशय सकोच होता है तथा उस द्रव्य की ऊपर की ओर प्रवृत्ति हो कर मुख मार्ग से बाहिर निकलने को वमन कहते हैं।

परन्तु भोजन की ओर ध्यान दे। भोजन ऐसा हो कि रक्त मे इसका परिणाम ० १८ से अधिक न हो। आजीवन मूत्र परीक्षा का साधन रखें।

अतिन्यून कार्बोजनक प्रदार्थ

मास	दुग्ध	धान्य	शाक
भेड	कृत्रिम दुग्ध	निशास्ता	पालक, सेव, गोभी
बकरी	घृत	सहित	चुकन्दर
सुअर		आटे की रोटी	गाठ गोभी
मुर्गी		बिस्कुट	गाजर, मूली
मछली			खरबूजा
अन्डे			टमाटर, बेंगन

शिलाजतु प्रयोग करें, चन्द्रप्रभा, वसन्त कुसुमाकर जामुन की मज्जा का चूर्ण बना देवे।

कुष्ठ Leprosy

यह सक्रामक जीर्ण रोग है जिसमे त्वचा या श्लैष्मिककला मे गड होकर स्पर्शशून्य मडल होकर फट कर व्रण हो जाते हैं।

कारण —

दण्डाकार बैसील्स लेप्रोसी कीटाणु है। दरिद्रता, क्षुधार्तता घन निबिड निवास इसके सहायक कारण हैं।

सप्राप्ति —

इसका कीटाणु त्वचा, श्लैष्मिक कला व वात तन्तुओ मे गड पैदा करते हैं। धीरे धीरे ये फट कर व्रण बन जाते हैं।

परिपाक काल—२ वर्ष।

लक्षण—

(१) ग्रन्थिक (२) वातिक (३) मिश्रित

ग्रन्थिक—ज्वर होकर मडल बनते है। फिर उनमे गड हो जाते हैं। इनकी सख्या बढ कर फटने लगती हैं। जिससे मनुष्य की आकृति में अन्तर हो जाता है। ये मुख कण्ठ स्वर-यन्त्र नासा, आँख आदि मे होते हैं। अन्त मे राजयक्ष्मा आदि से पीडित हो कर मर जाता है। अवधि २ से १० वर्ष।

वातिक—इसमे वातिक पीडाऐं (अन्त-प्रकोष्ठ) वात नाडियें दृढ रज्जुवत् हो जाती हैं। जिनमे चिमचिमाहट, सरसराहट आदि वेदनाऐं होती हैं। फिर मडल होते हैं। जो

सम्यग् दोष हरण हो जाने के बाद ससर्जन क्रम कराऐ ।

विरेचन द्रव्य—

काली निशोथ, अमलतास, शाबर लोध, थूहर, सातला, शङ्खिनी, दन्ती आदि द्रव्यो का उपयोग करे ।

बस्ति कर्म—

यह वात दोप को अवसेचन कराने वाला मुख्य उपक्रम है । यह स्निग्ध तथा रुक्ष दो प्रकार की है ।

(क) अनुवासन—इसमे गुदा मार्ग से औपधि साधित तेलो का प्रयोग किया जाता है ।

(ख) निरुह—ओषधियो के क्वाथ को गुदा मार्ग द्वारा देना निरुह वस्ति कहलाती है । यह रुक्ष बस्ति है ।

बस्ति प्रयोग—

रोगी शय्या के चारो ओर पर्दा लगाएँ । रोगी के नीचे मोमजामा बिछाएँ । रोगी को बाई करवट लेटा कर दाहिनी ओर घुटना ऊपर को ओर मुडवावे फिर बस्तियन्त्र के मुख से थोडा द्रव्य निकाल कर यन्त्र का मुख २॥ से ४॥ इच तक गुदा में डाल दें । यन्त्र का मुख डालने से पूर्व किसी स्नेह को उस पर लगा दे । बस्ति पात्र में थोडासा द्रव रहने पर नलिका को गुदा से बाहर निकाल दे । बस्तिद्रव को १५ मिनिट तक आतो में रोक रखे । जब प्रवाहण की इच्छा हो तो मलपात्र रखे ।

बस्ति के दूसरे प्रकार से दो भेद किए जा सकते हैं :—

(क) अन्त क्षेपण (विरेचन)

(ख) अन्त सेचन (शनैः शनैः)

अन्त क्षेपण के भेद—

१ उत्सर्जक

२ विरेचक

३. वातहर

४ कृमिघ्न

अन्त सेचन के भेद—

१ पोषण

२ उत्तेजक

वमन की अवस्थाएँ—

वमन द्रव्य पिलाने के एक घटे तक इन्तजार किया जाय, इसके बाद शरीर मे पसीना आता है—यह अवस्था दोष-विलयन की प्रथम अवस्था समझी जाय।

इसके बाद रोमाच हो जाना, यह दोषो की दूसरी अवस्था गति प्रकट करती है।

जब उदर मे आध्मान हो तो यह दोषो की तीसरी स्थिति कोष्ठ मे आने की समझे।

अब चौथी अवस्था मे जी मिचलाने लगता है तथा मुँह से पानी आने लगता है। तब दोषो की गति ऊपर की ओर होने लगी है समझें।

इस स्थिति मे रोगी को घुटने जितनी ऊँची चौकी या कुर्सी पर बैठाएँ तथा उसके उदर प्रदेश पर हाथ तपा कर सेक करें। अब उसके मस्तक, दोनो पार्श्व को पकडने, नाभि को दबाने, पीठ को नीचे से ऊपर की ओर मलने के लिए चार परिचारको को लगाएँ जो हर समय अपने काम मे निडर हो कर लगे रहें तथा रोगी को इस प्रकार उपदेश दें—

रोगी अपने होठ, गला, तालु कठ को खुला रखें।

यदि वमन वेग न हो रहा हो तो कठ मे अगुली से स्पर्श करें। इस प्रकार कितने वमन के वेग होते हैं उसकी सख्या नोट करे।

इस प्रकार सम्यग् योग हो जाने पर उसी दिन सायकाल अगले दिन सुखोष्ण जल से शुद्धि करा सुखोष्ण यवागू २-३ समय पिलाएँ तथा ५ वें अन्नकाल मे घृतयुक्त, सातवें अन्न-काल मे थोडे घी व स्नेहयुक्त मास रस से, ११वें अन्नकाल तक ससर्जन क्रम करे। इस प्रकार ७ रात्रि के बाद अपने प्रकृतिस्थ भोजन पर ले आवें।

वमन कफ दोष को सशोधन करने का उपक्रम है।

दोषहरणमूर्ध्वभाग वमनसज्ञकम्।

वम्य द्रव्य—

मदनफल, अश्मन्तक, देवदाली, कडवी तुम्बो, घीयातोरु, इन्द्रजव, कडवीतोरु आदि का प्रयोग करे।

विरेचन—

इस उपक्रम से पित्त निर्हरण होता है। यह दोष का अवसेचन अधोभाग गुदा द्वारा कराता है।

विरेचन द्रव्य भी उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी व विकासी गुणयुक्त औषधिया अपने वीर्य से हृदय मे जाकर धमनियो द्वारा छोटे बडे स्रोतो मे पहुँच कर पूर्वोक्त प्रकार से दोषो को कोष्ठ मे लाकर ऐसे द्रव्यो मे जल तथा पार्थिव महाभूतो की आधिक्यता से अधो-भाग से दोष हरण कराता है।

रक्त का सगठन

नाम तत्व	प्रति १०० मिलिलिटर मे	वृद्धि	न्यूनता
(१) कैल्सियम्	९ से ११ मिलि ग्राम	अस्थ्यर्बुद उपचुल्लिका क्षय	कफजशोथ, अस्थि शोथ, ग्रहणी अस्थिमार्दव
(२) लवण	५६० से ६२० ,,	कफज शोथ, यकृद्दाल्युदर	अतिसार, स्वेद, मधुमेह
(३) पोटासियम	१५ से २० ,,	मूत्ररक्तता, उपचुल्लिका क्षय	अम्लरक्तता, मधूमेह, वृहदन्त्रव्रण मूत्रलद्रव्यो से,
(४) सोडियम	३१५ से ३५० ,,	कफज शोथ (तीव्र)	मधुमेह, जीर्ण वृक्क रोग
(५) शर्करा	८० से १२० ,,	मधुमेह, अधिवृक्कवल्कस्त्रव व पोषणिका के अधिक कार्य करने से	
(६) कोलेस्टेरोल	१५० से ३०० ,,	रक्तभाराधिक्य, चुल्लिकास्र न्यूनता	चुल्लिका ग्रंथि की प्रबलता
(७) वसाम्ल	३०० से ४५० ,,	मेदस्विता, मधुमेह, जीर्णवृक्क रोग गर्भावस्था भोजनोपरात, मधुमेहजअम्लरक्तता, जीर्ण वृक्क रोग	
(८) प्रोटीन	६ ३ –७.८ ,,		कफजशोथ, यकृद्दाल्युदर
(९) अल ब्यूमिन	३ से ४ ग्राम ,,		वृक्क रोग, यकृद्दाल्युदर
(१०) ग्लोब्यूलिन	१-५ से ३ ग्राम		वृक्क रोग, ,,
(११) फाइब्रिनोजन	.३ ग्राम	गर्भावस्था	यकृद्रोगोमे
(१२) फास्फरस	३ से ४ ग्राम	वृक्क रोग, उपचुल्लिका की प्रबलता मे	अस्थिमार्दव, ग्रहणी उपचुल्लिकादौर्बल्य
(१३) यूरिया (प्रोटीनपचनसे)	२० से ४० ग्राम	वृक्क रोग, मूत्रमार्गावरोध	
(१४) यूरिकएसिड (न्यूक्लिओप्रोटीन के पचन से	३ से ४ मिलि ग्राम	गठिया, संधिक आमवत, वृक्क रोग, हृद्दौर्बल्य	

३ जलपोषण
४ कषाय
५. शामक
६. सम्मोहिनी

उत्तरबस्ति—

इसका प्रयोग पुरुषो मे शिश्न द्वारा तथा स्त्रियो के योनि मार्ग से किया जाता है। इनकी अग्रनलिका दोनो के लिये अलग अलग होती है। पूर्वोक्त प्रकार से बस्तिपात्र मे क्वाथ या द्रव डाल कर शोधन क्रिया की जाती है।

वात—

त्वचा	शीत	श्याव	अरुण	रुक्ष
नेत्र	अन्दर धसे हुए	"	"	"
मूत्र	जल की तरह	"	"	"
मल	शुष्क, कठोर	श्याम		मात्रा मे न्यून
रस				कषाय रस
नाडी	चपला, (तीव्र)	अस्थिर व निर्बल		(सर्पगतिवत्)

प्राणशक्ति—प्रतिरोधक शक्ति—सहन शक्ति की न्यूनता

शरीर तथा मन मे चलता (Excitability)

शीत आहार-विहार का असात्म्य होना, विषमाग्नि, वृद्धावस्था, सायकाल, रात्रि के पिछले समय मे भोजन के जीर्ण होने पर, वर्षा काल मे (रोग-वृद्धि या उत्पत्ति), शीत, रुक्ष (गुण) अपौष्टिक आहार, अतिशारीरिक श्रम, अतिक्रोध, चिन्ता, भय, शोक आदि से पैदा हाने वाली वेदना वायु वृद्धि को प्रकट करती है।

पित्त—

त्वचा	उष्ण	पीत	स्वेदयुक्त
नेत्र		पीत या रक्त	
मूत्र	उष्ण	पीत रक्त	पूययुक्त
ल	द्रवरूप, उष्ण	पीत	
रस	कटु, तिक्त, अम्ल		
नाडी	तीव्र (वेगवान्) रक्तपूर्ण (दीर्घा) बलवती (मण्डूकगतिवत्) विशेष उष्ण।		

वृद्धि की अपेक्षा पक्ति कर्म प्रबल, मध्य आयु, मध्यान्ह, मध्यरात्रि, भोजन के पचन का समय, ग्रीष्म, शरत् (काल)। कटु अम्ल लवण, रस अतिश्रमशील, गर्म रुक्ष शुष्क देश पित्त वृद्धि को बताते हैं।

कफ—

त्वचा	आर्द्र	स्निग्ध	श्वेत
नेत्र	"	"	"
मूत्र	मात्रा मे अधिक	"	धुंधला निक्षेपयुक्त

(१५) विलिरुविन	प्रत्यक्ष .२ से –४ मि. ग्राम परोक्ष .२ से ७ „ „	यकृद्रोगज कामला, पौरुष ग्रन्थ्यर्बुद	जीर्णवृक्क रोग में
(१६) रक्त कण	४ ५ से ५.५ लाख		
(१७) श्वेत कण	४ हजार से ८ हजार		
(१८) बहुरूपमींगीयुक्त	५० से ७० प्रतिशत	पूय सक्रमण से	तीव्र सक्रामक रोग
(१९) क्षुद्रलसीकाणु	२० से ४० प्रतिशत	कुक्कुरकास, रोमान्तिका, मसूरिका जीर्ण क्षय, फिरंग, ग्रन्थि शोथ, उण्डु कपुच्छशोथ	
(२०) वृहल्लसी काणु	४ से ८ प्र० श०	क्षय रोग मे	
(२१) अम्लरंगोच्छु	½ से ३ प्र० श०	एक्जीमा, अन्त्रकृमि, श्वास रोग	
(२२) रक्त कण-पतन E.S R	१ घटे मे १७ मि. मी.	क्षय, जीर्ण वृक्क रोग, यकृद्दा ल्युदर, आमवात, हृद्रोग (तीव्र)	असात्म्यता

वात—

त्वचा	शीत	श्याव	अरुण	रुक्ष
नेत्र	अन्दर धसे हुए	,,	,,	,,
मूत्र	जल की तरह	,,	,,	,,
मल	शुष्क, कठोर	श्याम		मात्रा मे न्यून
रस				कषाय रस
नाडी	चपला, (तीव्र)	अस्थिर व निर्बल		(सर्पगतिवत्)

प्राणशक्ति—प्रतिरोधक शक्ति—सहन शक्ति की न्यूनता

शरीर तथा मन मे चलता (Excitability)

शीत आहार-विहार का असात्म्य होना, विषमाग्नि, वृद्धावस्था, सायकाल, रात्रि के पिछले समय मे भोजन के जीर्ण होने पर, वर्षा काल मे (रोग-वृद्धि या उत्पत्ति), शीत, रुक्ष (गुण) अपौष्टिक आहार, अतिशारीरिक श्रम, अतिक्रोध, चिन्ता, भय, शोक आदि से पैदा होने वाली वेदना वायु वृद्धि को प्रकट करती है।

पित्त—

त्वचा	उष्ण	पीत	स्वेदयुक्त
नेत्र		पीत या रक्त	
मूत्र	उष्ण	पीत रक्त	पूययुक्त
ल	द्रवरूप, उष्ण	पीत	
रस	कटु, तिक्त, अम्ल		
नाड़ी	तीव्र (वेगवान्) रक्तपूर्ण (दीर्घा) बलवती (मण्डूकगतिवत्) विशेष उष्ण।		

वृद्धि को अपेक्षा पक्ति कर्म प्रबल, मध्य आयु, मध्यान्ह, मध्यरात्रि, भोजन के पचन का समय, ग्रीष्म, शरत् (काल)। कटु अम्ल लवण, रस अतिश्रमशील, गर्म रुक्ष शुष्क देश पित्त वृद्धि को बताते हैं।

कफ—

त्वचा	आर्द्र	स्निग्ध	श्वेत
नेत्र	,,	,,	,,
मूत्र	मात्रा मे अधिक	,,	धुंधला निक्षेपयुक्त

(१५) विलिरुविन	प्रत्यक्ष .२ से –४ मि. ग्राम परोक्ष .२ से ७ ,, ,,	यकृद्रोगज कामला, पौरुष ग्रन्थ्यर्बुद	जीर्णवृक्क रोग मे
(१६) रक्त कण	४ ५ से ५.५ लाख		
(१७) श्वेत कण	४ हजार से ८ हजार		
(१८) बहुरूपमीगीयुक्त	५० से ७० प्रतिशत	पूय सक्रमण से	तीव्र सक्रामक रोग
(१९) क्षुद्रलसीकाणु	२० से ४० प्रतिशत	कुक्कुरकास, रोमान्तिका, मसूरिका जीर्ण क्षय, फिरग, ग्रन्थि शोथ, चण्डु कपुच्छशोथ	
(२०) वृहल्लसी काणु	४ से ८ प्र० श०	क्षय रोग मे	
(२१) अम्लरगेच्छु	½ से ३ प्र० श०	एक्जीमा, अन्त्रकृमि, श्वास रोग	
(२२) रक्त कण-पतन E.S R	१ घटे मे १७ मि. मी.	क्षय, जीर्ण वृक्क रोग, यकृद्दाल्युदर, आमवात, हृद्रोग (तीव्र)	असात्म्यता

वात—

त्वचा	शीत	श्याव	अरुण	रुक्ष
नेत्र	अन्दर घसे हुए	"	"	"
मूत्र	जल की तरह	"	"	"
मल	शुष्क, कठोर	श्याम		मात्रा मे न्यून
रस				कषाय रस
नाड़ी	चपला, (तीव्र)	अस्थिर व निर्बल		(सर्पगतिवत्)

प्राणशक्ति—प्रतिरोधक शक्ति—सहन शक्ति की न्यूनता

शरीर तथा मन मे चलता (Excitability)

शीत आहार-विहार का असात्म्य होना, विषमाग्नि, वृद्धावस्था, सायकाल, रात्रि के पिछले समय मे भोजन के जीर्ण होने पर, वर्षा काल मे (रोग-वृद्धि या उत्पत्ति), शीत, रुक्ष (गुण) अपौष्टिक आहार, अतिशारीरिक श्रम, अतिक्रोध, चिन्ता, भय, शोक आदि से पैदा होने वाली वेदना वायु वृद्धि को प्रकट करती है।

पित्त—

त्वचा	उष्ण	पीत	स्वेदयुक्त
नेत्र		पीत या रक्त	
मूत्र	उष्ण	पीत रक्त	पूययुक्त
ल	द्रवरूप, उष्ण	पीत	
रस	कटु, तिक्त, अम्ल		
नाड़ी	तीव्र (वेगवान्) रक्तपूर्ण (दीर्घा) बलवती (मण्डूकगतिवत्) विशेष उष्ण।		

वृद्धि की अपेक्षा पक्ति कर्म प्रबल, मध्य आयु, मध्यान्ह, मध्यरात्रि, भोजन के पचन का समय, ग्रीष्म, शरत् (काल)। कटु अम्ल लवण, रस अतिश्रमशील, गर्म रुक्ष शुष्क देश पित्त वृद्धि को बताते हैं।

कफ—

त्वचा	आर्द्र	स्निग्ध	श्वेत
नेत्र	"	"	"
मूत्र	मात्रा मे अधिक	"	धुंधला निक्षेपयुक्त

(१५) बिलिरुबिन	प्रत्यक्ष .२ से –४ मि. ग्राम परोक्ष .२ से ७ ,, ,,	यकृद्रोगज कामला, पीत्त ग्रन्थ्यर्बुद	जीर्णवृक्क रोग में
(१६) रक्त कण	४ ५ से ५.५ लाख		
(१७) श्वेत कण	४ हजार से ८ हजार		तीव्र संक्रामक रोग
(१८) बहुरूपमीगीयुक्त	५० से ७० प्रतिशत	पूय संक्रमण से	
(१९) क्षुद्रलसीकाणु	२० से ४० प्रतिशत	कुक्कुरकास, रोमान्तिका, मसूरिका जीर्ण क्षय, फिरंग, अस्थि शोथ, उण्डु कपुच्छशोथ	
(२०) स्थूललसी काणु	४ से ८ प्र० श०	क्षय रोग में	
(२१) अम्लरगेच्छु	½ से ३ प्र० श०	एक्जीमा, अन्त्रकृमि, श्वास रोग	असात्म्यता
(२२) रक्त कण-पतन E.S R	१ घंटे में १७ मि. मी.	क्षय, जीर्ण वृक्क रोग, यकृद्दाल्युदर, आमवात, हृद्रोग (तीव्र)	

वात—

त्वचा	शीत	श्याव	अरुण	रुक्ष
नेत्र	अन्दर धसे हुए	"	"	"
मूत्र	जल की तरह	"	"	"
मल	शुष्क, कठोर	श्याम		मात्रा मे न्यून
रस				कषाय रस
नाडी	चपला, (तीव्र)	अस्थिर व निर्बल		(सर्पगतिवत्)

प्राणशक्ति—प्रतिरोधक शक्ति—सहन शक्ति की न्यूनता

शरीर तथा मन मे चलता (Excitability)

शीत आहार-विहार का असात्म्य होना, विषमाग्नि, वृद्धावस्था, सायंकाल, रात्रि के पिछले समय मे भोजन के जीर्ण होने पर, वर्षा काल मे (रोग-वृद्धि या उत्पत्ति), शीत, रुक्ष (गुण) अपौष्टिक आहार, अतिशारीरिक श्रम, अतिक्रोध, चिन्ता, भय, शोक आदि से पैदा होने वाली वेदना वायु वृद्धि को प्रकट करती है।

पित्त—

त्वचा	उष्ण	पीत	स्वेदयुक्त
नेत्र		पीत या रक्त	
मूत्र	उष्ण	पीत रक्त	पूययुक्त
ल	द्रवरूप, उष्ण	पीत	
रस	कटु, तिक्त, अम्ल		
नाडी	तीव्र (वेगवान्) रक्तपूर्ण (दीर्घा) बलवती (मण्डूकगतिवत्) विशेष उष्ण।		

वृद्धि को अपेक्षा पक्ति कर्म प्रबल, मध्य आयु, मध्यान्ह, मध्यरात्रि, भोजन के पचन का समय, ग्रीष्म, शरत् (काल)। कटु अम्ल लवण, रस अतिश्रमशील, गर्म रुक्ष शुष्क देश पित्त वृद्धि को बताते हैं।

कफ—

त्वचा	आर्द्र	स्निग्ध	श्वेत
नेत्र	"	"	"
मूत्र	मात्रा मे अधिक	"	धुंधला निक्षेपयुक्त

मल	शिथिल, मात्रा मे अधिक, पिच्छिल, श्वेतवर्ण, दुर्गन्धित
रस	मुखमाधुर्य, नमकीन
नाडी	मन्दगति, मन्दवेग, स्थिर (कुक्कुट या मयूरगति) विशेष उष्ण न हो

(पचन से वृद्धि अधिक) गुरुता, स्निग्धता, शीतता, अग्निमन्दता। आयु की प्रथम अवस्था, शीतकाल, पूर्वाह्न, वसन्त, भोजन के तुरन्त बाद (रोगवृद्धि) आनूपदेश कफ वृद्धि को प्रकट करते हैं।

प्रसूति - विज्ञान

लेखिका : शान्ति देवी जोशी

[वैद्या श्री शान्ति देवी जोशी का जन्म चिकित्सा-परिवार में हुआ। इनके पिता पालासनी (जोधपुर) निवासी श्री शिवदासजी ईंटोदिया जोशी ने अपने जीवन-काल में त्याग एवं तपस्या को अपनाया एवं सन्यासावस्था में मण्डोर के पास जीवितावस्था में समाधि ले ली। वह स्थान आज भी तीर्थ-स्थान बना हुआ है—जिसे पवित्र स्थान मान कर ही वर्ष में फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी तक साप्ताहिक हरि-कीर्तन होता है एवं मेला लगता है। देश के कोने कोने से यात्री दर्शनार्थ एकत्रित होते रहते हैं। वैद्या श्री जोशी पूज्यपाद राजवैद्य महोपाध्याय प. उदयचन्द्र जी प्राणाचार्य भट्टारक की आयुर्वेदीय-शिष्या हैं एवं अपने को उनकी धर्मपुत्री भी मानती हैं। आपको अपने पिता के समान ही विज्ञ श्री बाबूलाल जी जोशी जैसे पति मिले हैं जो स्वभाव से ही सेवा भावी हैं। आप महिला चिकित्सिका चरित्रनायक के शुभाशीर्वाद से सफल चिकित्सिका हैं। इस सब के अतिरिक्त आप कांग्रेस में भी एक प्रमुख समाज-सेविका का काम सम्भाले हुए हैं। आपका यह उपयोगी लेख, आशा है, आयुर्वेदीय छात्राओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।—प्र. संपादक]

प्रकृति के इस निर्माण मे इस जगत को निरन्तर गतिशील रखने के लिए प्राणी मात्र मे ऐसी परम्परा चला रखी है कि वह अपनी परम्परा को चलाता रहे। जीवन के लक्षणो मे चैतन्य का यह भी लक्षण बताया है कि सन्तान उत्पन्न करना—जिससे कि वह अपने समान प्रतिकृति बना सके। एककोषीय प्राणियो मे यह प्रक्रिया एक ही कोष द्वारा बनती रहती है परन्तु बहुकोषीय प्राणियो मे इस कार्य के लिए पृथक् सस्थान बना रखा है।

मनुष्य जाति के इस विभाग को प्रजनन सस्थान कहते हैं। ये अग बस्ति गुहा मे लगे रहते हैं।

बस्ति गुहा Pelvic Cavity

बस्ति गुहा चार अस्थियो से बनती है, दो नितम्बास्थियां, त्रिकास्थि १ अनुत्रिकास्थि १ दोनो नितम्बास्थियाँ सामने मध्य रेखा में जहा मिलती हैं उसे विटप सधि या भग सन्धि कहते हैं, प्रजनन अगो के द्वार यही से हैं जिनमे से कुछ बस्तिगुहा मे रहते हैं, कुछ बाहर रहते हैं।

प्रजनन अगो के कोशो की सूक्ष्म रचना मे यह विशेषता होती है कि इन कोशो के पित्थ सूत्र (क्रोमो सोम) आधे होते हैं जो कि नर तथा नारी के बीज कोश मिल कर भ्रूण कोश बनता है जिसमे कि दोनो ओर के सूत्र मिल कर यह सख्या पूर्ण होती है। अब हम पहिले नारी जननेन्द्रिय का वर्णन करते हैं।

नारी जननेन्द्रिय (Female Genital)

यह दो प्रकार की है—(१) बाहर से दिखने वाली बहिर्भग, तथा बस्तिगह्वर मे रहने वालो नही दिखने वाली अतर्भग या अतर्जननेन्द्रिया कहलाती हैं।

बहिर्भग External Genitals—गवाक्ष की आकार का सात अवयवो वाला बाह्य प्रदेश है जो बाहिर से दीख पडता है। १ वृहद्भगोष्ठ, २ क्षुद्रभगोष्ठ, ३ भगशिश्निका या भगाकुर, ४ भगालिन्द, ५ मूत्रप्रसेक द्वार, ६ भगद्वार, ७ भगाजलिका—

(१) वृहद्भगोष्ठ Labia maljora—ये मोटे नर्म ओष्ठ सदृश हैं। इनमे बाहर लोम वाली त्वचा तथा भीतर मेद एव स्नायु सूत्र रहते हैं। यह ऊपर भगशिश्निका से तथा नीचे भगाजलिका से मिलते हैं। इनमे काम सवेदनो नाडिया तथा पूति रसस्रावी ग्रन्थिया रहती हैं।

(२) लघुभगोष्ठ Libiaminora—ये दोनो ओर पतले, छोटे दो अगुल चौडे ओष्ठ हैं। इनमे भी पूति रसस्रावी ग्रथियो के स्रोत रहते हैं।

(३) भगशिश्निका भगाकुर Clitoris—यह मध्य रेखा मे भगपीठ मे बड के अकुर के समान छिद्ररहित अवयव जो कि रतिकाल में उत्तेजनशील होता है।

(४) भगालिन्द (Vestibule) इसके मध्य मे मूत्रप्रसेक द्वार रहता है।

(५) मूत्रप्रसेक द्वार (External orific of the Urethra) यह भगद्वार से ½ इच ऊपर होता है। इसके दोनो ओर योनिद्वारिक दो ग्रन्थिया रहती हैं।

(६) भगद्वार (Vaginal orifice) यह मूत्रप्रसेक द्वार के नीचे बीच मे चौडा प्रदेश पश्चिम तथा पार्श्व की ओर योनिच्छद्रा कला से घिरा होता है। कुमार्यवस्था मे इसे कुमारीच्छद कहते हैं। लेकिन प्रसूता मे यह विच्छिन्न हो जाता है।

(७) भगाजलिका (Four Chette) यह अधोधारा मे कलामय अवयव है। प्रसवकाल मे यह कट जाती है जिसे मूलावदरण योनिव्यापद कहते हैं।

अतर्भग—अन्तरीयजननेन्द्रियां (Vaginal Canal)

बस्ति और गुदा के बीच भगद्वार से गर्भाशय तक चार अगुल लम्बी, ५-६ अगुल चौडी टेढी गुहा है। इसे अपत्य पथ भी कहते है।

गर्भाशय (Uterus)—

यह छोटी तूम्बी के समान नीचे की ओर मुखवाली मास थैली है। इसके सामने मूत्राशय तथा मलाशय होता है। कन्याओ मे उनकी मुट्ठी के आकार का तथा गृहीत गर्भा मे यह बढ जाता है। इसके तीन भाग हैं, ऊर्ध्व, मध्य, निम्न ऊर्ध्व अश मुख मध्य गात्र और निम्न ग्रीवा कहलाता है।

(१) गर्भाशय मुख (Os-ulerus)—यह सदा सकुचित रहता है, आर्तवकाल मे १६ सोलह दिन के समय थोडा खुला रहता है, तथा प्रसवकाल मे सम्पूर्ण खुल जाता है, मुख के न खुलने से रजःकृच्छ्र होता है।

(२) गर्भाशय ग्रोवा (Cirvix)—गर्भाशय मुख और शरीर के मध्यस्थ दो अगुल लम्बा सकुचित भाग गर्भाशय ग्रीवा है।

(३) गर्भाशय गात्र (Body of Uretrus)—यह छोटी तुम्बी के समान है जिसका अवकाश त्रिकोणाकार है, त्रिकोण के ऊपर के दोनो पार्श्वकोण बीज स्रोतो से मिले हैं, नोचे के कोण ग्रीवा सरणी से मिला है।

गर्भाशय के बन्धन (Ligument of the uterus)—गर्भाशय मे आठ बन्धन होते हैं।

१. अग्रिम,	२. पश्चिम,	३. पक्षबन्धन,	४. रज्जुबन्धन,	५ त्रिकगर्भाशय बन्धन,
१	१	२	२	२

पक्ष बन्धनो के अतराल मे दोनो बीज स्रोत, बीजाधार रहते हैं।

बीजाधार (बीजकोष) डिम्ब ग्रन्थियां (Ovary)—गर्भाशय के दोनो ओर बेर की गुठली के समान दो छोटी छोटी ग्रंथिया पक्षबन्धनो के दोनो स्तरो के बीच गर्भाशय के पार्श्वकोणो के समीप तिरछी रहती है। यह ग्रथि अन्तर्मुख व बहिर्मुख है, बहिर्मुख प्रान्त से एक पतली कुल्या बीजरूप आर्तव को वहन करने के लिए बीज कुल्या या डिम्ब प्रणाली है।

बीजस्रोत (बीजकुल्या) डिम्ब प्रणाली (Fallopian tube)—गर्भाशय के पार्श्व भाग के कोणो से दो नालियाँ डिम्ब प्रणाली व ग्रथि के बाहर तक फैली हुई होती हैं, इनका बाहर का सिरा झालर की तरह होता है। इनके द्वारा बीज गर्भाशय मे पहुचता है, इसके चार भाग होते हैं।

१ पहला भाग गर्भाशय की दीवार मे रहता है।

२. दूसरा सकीर्ण अश।

३. तीसरा कुछ चौड़ा भाग।

४ अन्तिम भाग फूल के समान खुला हुआ रहता है।

स्तन (Female Breast)—स्त्रियो मे दूध बनाने वाली ग्रथिया स्तनो मे रहती है, इनका प्रजनन यन्त्रो के साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूर्ण रूप मे युवावस्था तक इनकी पुष्टि होती है, प्रत्येक स्तन मे दूध बनाने वाली १६ से १८ तक ग्रथियो के समूह रहते हैं, प्रत्येक ग्रथि मे दुग्धहारिणी का प्रारम्भ होकर चूचुक के केन्द्र पर खुलती है।

चूचक Nipple—स्तन के ऊपरी भाग मे एक वर्तुलाकार उभार होता है जिसे चूचुक या स्तन वृन्त कहते हैं। चूचुक के शिखर मे दुग्ध स्रोतों के १२ से २० तक छिद्र होते हैं।

डिम्ब ग्रथि या अडाधार Graffian follicle—इनका आकार कबूतर के अडे के समान होता है, जिसकी लबाई १ इच, मोटाई ४/५ इच होती है। इनमे अनेक डिम्ब कोष रहते हैं, समय पर डिम्ब कोष परिपक्व होकर पकता है, और डिम्ब छूट कर डिम्ब प्रणाली मे जाता है, फटे हुए डिम्ब कोष मे रक्त भर जाता है, तथा कुछ समय बाद वह स्थान पीला हो जाता है। जिसे पीताग कहते हैं, यदि डिम्ब का शुक्र कीट के साथ सयोग होकर गर्भ स्थिति हो जाती है, तो पीताङ्ग बढ जाता है। अन्यथा सिकुड जाता है और सिकुड कर सफेद होने से श्वेताङ्ग कहलाता है।

डिम्ब ग्रथि की रचना Structure of the ovary—यह सौत्रिक तन्तुओ से बनी होती है। इनमे अनैच्छिक मास होता है तथा ऊपर चौकोर कोषो का स्तर तथा भीतर गोल कोष रहते हैं।

डिम्ब Ovum—प्रत्येक डिम्ब ,१/₂ इच के परिमाण का गोल कोष होता है, इस पर डिम्ब वेष्ठ रहता है।

पुरुष जननेन्द्रियां Male Genitals—

शिश्न Penis—यह पेशियो से बना होता है जिन का नाम शिश्न पार्श्विका (१) मूत्र प्रसेक धरा, (२) जिनकी उत्तेजना से प्रहर्षण होता है तथा यही मैथुन का साधन है। इसी के अग्र भाग मे मूत्र बहिर्द्वार है।

वृषण Testicles—यह शुक्र जनक दो ग्रथिया होती हैं जो बन्धनियो द्वारा कोष के अन्दर लटकती रहती हैं, ये गर्भस्थ शिशु मे सात महीने तक वस्ति गुहा में रहती है। इसके बाद वक्षण सुरग पथ से कोष में आ जाती है, वृषण कोष में वृषण ग्रथि व वृषण बधनो शुक्रवाहिनी रहती है।

वृषण कोष Scrotum—स्थूल कला से बनी ढीले चर्म से घिरी हुई थैली है।

वृषण ग्रन्थि

यह पक्षी के अडे के सदृश बधनियो द्वारा अड धर पुटक मे रहती है।

शुक्र प्रणीका या शुक्र प्रणाली—यह वृषण ग्रंथि की पुच्छ से आरम्भ होकर ऊपर को जाती है, फिर उदर की दीवार में से होकर वस्ति गुहा में चली जाती है, यह बहुत से ततुओ का समूह है।

पौरुष ग्रंथि या अष्ठीला Prostate Gland—यह मूत्र मार्ग के आरम्भिक भाग के ऊपर बस्ति गुहा में रहने वाली अखरोट के फल समान आकार वाली ग्रन्थि है। कामोत्तेजना के समय इसमें से पिच्छिल पदार्थ निकलता या झरता है। वृद्धावस्था में कभी कभी बढ जाती है जिससे कि मूत्र कृच्छ्र हो जाता है।

मूत्र प्रसेक पार्श्वविक ग्रन्थि Ejaculatory gland—यह मूंग के दाने के समान मूत्र प्रेसक के मध्य भाग के बाहर दोनों तरफ रहती है। इनके स्रोत मूत्र प्रसेक के अदर खुलते हैं और हर समय मूत्र प्रसेक को तर रखते हैं।

शुक्र Sperm—शुक्र सोमात्मक श्वेत वर्ण चिकना बल-पुष्टिकारक, गर्भ का बीज शरीर का सार और जीव का उत्तम स्थान है। यह सफेद रग का गाढा द्रव्य है जिससे विशेष प्रकार की गध आती है, इसकी प्रतिक्रिया कुछ क्षारीय होती है। इसकी मात्रा आधा से सवा तोले तक की है जिसमे शुक्र कीट, जल, खटिक, स्फुरित, लवण आदि पाए जाते हैं।

शुक्र कीट Spermatozoa—इनकी लम्बाई १/३०० इच होती है, यह अधिक अम्ल तथा क्षारीय द्रव्य अधिक उष्णता के प्रभाव से मर जाते हैं। शरीर की उष्णता वाले स्थान मे १४ दिन तक जीवित रहते हैं। २५ वर्ष की आयु मे यह बनने प्रारम्भ होते है किन्तु २० से २५ वर्ष की आयु में पुष्ट होते हैं। शुक्र कीट के चार भाग होते हैं। (१) सिर (२) ग्रीवा (३) गात्र (४) पुच्छ, सिर चपटा और आगे से अति तीक्ष्ण होता है। शरीर में इसके पैदा होने के साथ साथ यौवन के अन्य चिह्न भी दिखाई देते हैं।

आर्तव (Menstruation)

द्वादशाद्वत्सरादूर्ध्वम् । आपचाशत्समा स्त्रियः ।
मासि मासिभगद्वारात् । प्रकृत्यैवार्तवं स्रवेत् ॥

आर्तव (रज) शोणित—

ये इसके पर्यायवाची शब्द या नाम हैं। यह युवावस्था का द्योतक है अत इसके साथ स्तन-वृद्धि कामाद्रि तथा कक्षतल पर लोम पैदा होने लगते हैं। यह गर्भाशय से रक्त श्लेष्मा के साथ प्रति माह निकलता है।

इसका प्रथम दर्शन रजोदर्शन कहलाता है। इस स्थिति मे स्त्री को रज स्वला या

ऋतुमती कहा जाता है। भारतवर्ष मे इसका प्रारम्भ १२ से १४ वर्ष की आयु से होता है। इसके आरम्भ मे निम्न कारण भी प्रभाव डालते हैं।

(१) जलवायु

(२) जातिया कई प्रकार की हैं कि जिनमे जाति प्रभाव से रजो दर्शन स्वाभाविक तथा जल्दी होता है।

(३) सामाजिक अवस्था तथा आहार-विहार आदि।

(४) आर्तव स्राव प्रतिमाह होता है। परन्तु गर्भावस्था तथा स्तन्य काल मे बन्द रहता है।

(५) रजोदर्शन से रजोनिवृत्ति तक ही स्त्री गर्भ धारण के योग्य रहती है।

रजोनिवृत्ति—

४० से ५० वर्ष की आयु मे स्त्रियो का आर्तव सदा के लिए बन्द हो जाता है, इसे रजोनिवृत्ति कहते हैं।

आर्तव कालान्तर—

प्रति दो ऋतुओ के बीच प्राय. २८ से ३१ दिन का अन्तर रहता है।

आर्तव काल—

आर्तव प्राय ४ से ५ दिन तक निकलता रहता है। दो दिन से कम व आठ रोज से ज्यादा रहना रोगसूचक है। सामान्यतया इसका परिमाण २ से ४ छटाक तक होता है।

आर्तव प्रारम्भ दिन से १६ रात्रि ऋतुकाल या गर्भ धारण काल कहा जाता है।

रजस्वला के लक्षण

पीन प्रसन्नवदनाम्। प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम्॥
नर कामा प्रियकथा। स्त्रस्त कुक्ष्यक्षि मूर्द्धजाम्॥
स्फुरद्भुज कुच श्रोणि। नाभ्यूरुजघनस्फिचाम्॥
हर्षौत्सुक्य परा चापि। विद्याद्ऋतुमतीमिति॥

जिसका मुख पुष्ट और प्रसन्न हो तथा सारे शरीर और मुँह, दात आदि पर चिकनाई हो। पुरुष की अभिलाषी हो तथा जो मधुर बातें करें। जिसकी कुक्षि, आख, बाल ढोले से हो जाँय तथा बाहे, कुच, कमर और नाभि, जानु, उरु और कुल्हे फड़कने लगें एव हर्ष और आनन्द में तत्पर हो ऐसी स्त्री को ऋतुमती जानना चाहिए।

शुद्ध आर्तव के लक्षण

शशासृक्प्रतिम यत्तु। यद्वा लाक्षा रसोपमम्॥
तदार्तव प्रशशति, यद्वासोन विरंजयेत्॥

रजस्वला के परिहार—दिन मे सोना, अजन लगाना, रोना, चन्दन लगाना, तेल-मालिश करना, नख काटना, दौडना, हँसना, बहुत बोलना, तीक्ष्ण शब्द सुनना, कघी से बाल बनाना, तेज हवा खाना और परिश्रम करना आदि कार्य नही करने चाहियें।

रजस्वला के कार्य—कुशा की शय्या पर सोना, हथेली पर पत्तो की पत्तल मे रख कर भोजन करे और तीन दिन पुरुष से बची रहे और चौथे दिन स्नान कर पति का दर्शन करे।

पूर्वं पश्येद ऋतु स्नाता । यादृशम् नरमगना ।
तादृशम् जनयेत्पुत्र । भर्तार दर्शये दत ॥

आर्तव सम्बन्धित रोग

(१) नष्टार्तव (Amenorrhoea) अेमिनोरिया।

(२) रक्तप्रदर (Menorrhajia) मेनोरेजिया।

(३) कष्टार्तव (Dysmenoorrhoea) डिसमेनोरिया।

(४) श्वेतप्रदर (Leucorrhoea) ल्यूकोरिया।

आर्तव स्राव की चार अवस्थायें

(१) प्रथमावस्था—यह आर्तव स्राव से ४-५ दिन पहले शुरू होती है। इसमे गर्भाशय की श्लैष्मिककला अधिक रक्तमय, मोटी तथा नरम हो जाती है।

(२) द्वितीयावस्था—यह भी चार पाच दिन तक रहती है। अधिक रक्त बहकर श्लैष्मिककला के नीचे इकट्ठा होकर कला के फटने पर गर्भाशय मे होता हुआ निकलता है, अत' इस स्राव मे श्लैष्मा के साथ अधिक खटिक रहने पर भी स्कन्दन के अभाव से जमता नही। इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है।

(३) तृतीयावस्था—यह सात दिन तक रहती है। इसमे समस्त ग्रथियें व कला पूर्वावस्था प्राप्त करती है।

(४) चतुर्थावस्था—यह तृतीयावस्था से शुरू होकर प्रथमावस्था तक की होती है।

आर्तव का डिम्ब के परिपक्व होने से सम्बन्ध

आर्तव प्रारम्भ होने के ५ से १४ दिन बाद डिम्ब ग्रथि से परिपक्व डिम्ब छूटता है, यह पहले बताया जा चुका है कि ऋतुकाल १६ (सोलह) रात्रियो का व सोलह दिन का होता है। यदि इन दिनो मे इसके साथ शुक्रकीट का सयोग डिम्ब प्रणाली मे हो जाये तो गर्भ स्थिति बन जाती है। आर्तव स्राव से गर्भाशय की श्लैष्मिक कला नरम हो जाती है।

जिससे कि गर्भ वहाँ चिपक सके। भ्रूण के पोषण के लिए खटिक'की अधिक आवश्यकता रहती है। इसलिये प्रकृति स्त्री शरीर के प्रजनन अगो को खटिक की मात्रा अधिक पहुचाती रहती है। मात्राधिक्य हुये खटिक को बाहर निकालने के लिये आर्तव स्राव होता है।

नियत दिवसेऽतीते। सकुचत्यबुजो यथा ॥
ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु। योनि सवृयते तथा ॥
ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पच विशति ॥
यद्याधते पुमान् गर्भ.। गर्भस्थ. स विपद्यते ॥
जातोवान चिरंजीवेद्। जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ॥
तस्मादत्यन्त बालाया। गर्भाधान न कारयेत् ॥
शुक्रार्तव समाश्लेषो। यदैव खलु जायते ॥
जीवस्तदैव विशति। युक्त' शुक्रार्तवान्तरम् ॥

सोलह वर्ष की अवस्था से छोटी अवस्था की स्त्री तथा २५ वर्ष से कम का पुरुष गर्भाधान करे तो वह गर्भ कुक्षि में ही विकार को प्राप्त होकर खण्डित हो जाता है। और यदि पूरा होकर बालक जन्म ले ले तो दीर्घायु नही होता और ही भी गया तो दुर्बल इद्रिय वाला ही रहता है, इसलिए छोटी अवस्था वाली स्त्री मे गर्भाधान नही करे। जिस समय शुक्र और 'रज' का सयोग होता है, उसी समय मिले हुए शुक्र'रज' में जीव प्रविष्ट हो जाता है।

आहाराचारचेष्टाभि. यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुसौ समुपेयाता तयो. पुत्रोऽपितादृशः ॥

जैसे २ आहार, विहार और चेष्टाओ से युक्त स्त्री पुरुष सगम करते हैं, वैसे ही वैसे गुण वाली सन्तान पैदा होती है।

ध्रुव चतुर्णा सान्निध्याद् गर्भः स्याद्विधिपूर्वक.।
ऋतुक्षेत्राम्बुबीजाना सामग्र्याद कुरो यथा ॥

भ्रूण की क्रमश. उत्पत्ति (Development of the Foetus)

चार पदार्थों के सयोग से विधिपूर्वक गर्भ रहता है, जैसे निर्दोष ऋतुकाल व गर्भाशय, जल (रस) बीज, (निर्दोष शुक्र) इन चारो सामग्रियो के मिलने से जैसे अकुर पैदा होता है। वैसे ही गर्भ निश्चित होता है। गर्भाधान के लिए एक ही शुक्र कीट की आवश्यकता होती है। असख्य शुक्रकीटो मे से सबसे प्रबल कीट ही डिम्ब से मिलता है, यह मिलन सयोग डिम्ब प्रणाली के सिरो में होता है, इनके मिलन को फलन कहते हैं।

फलन से भ्रूणकोष या गर्भकोष सज्ञा हो जाती है, इसके वाद दोनो कोषो की मींगी मिलकर एक हो जाती है और विषम विभाजन पद्धति से विभक्त होते रहते हैं।

दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस इस तरह बढते रहते हैं। इस कोष-समूह को कलल कहते हैं।

अब कलल मे खोखला स्थान पैदा होता है और उसमे तरल इकट्ठा होने लगता है। जिसके दबाव से बाहर के कोष भीतर के कोषो से अलग (पृथक) हो जाते हैं। इस अवस्था को बुद्बुद कहते हैं।

इसमे लगभग सात दिन लग जाते हैं। अब डिम्ब प्रणाली से भ्रूण-बुद्बुद गर्भाशय मे प्रवेश करता है। बुद्बुद के भीतर के कोषो से गर्भ और बाहर के कोषो से झिल्ली बनती है।

अब बुद्बुद के भीतर दो खाली स्थान एक ऊपर और एक नीचे बनते हैं। जहाँ ये दोनो स्थान मिलते हैं भ्रूण वहाँ बनता है। ऊपर के पोले स्थान के बाहर की शैलो से बाह्य त्वचा तथा निचले पोले स्थानो की शैलो से अन्तरीय त्वचा तथा भ्रूणोत्पत्ति के स्थान पर उसके किनारे से मध्य त्वचा बनती है। इन तीनो त्वचाओ से नाडी सस्थान, पाचन-सस्थान तथा श्वसन सस्थान बनते हैं।

मध्यत्वचा के भाग शीघ्र ही दो हो जाते हैं। एक से भ्रूण बाह्यावरण दूसरे से दो स्तर बनते है जिनमे से एक स्तर के कोष जहाँ जहाँ स्पर्श करते हैं। वहाँ के कोषो को खाते जाते हैं। दूसरे भीतर के स्तर से भिन्न भिन्न कोष बनते हैं, साथ ही बुद्बुद के भीतर के पोले स्थान मे गर्भोदक की मात्रा बढती जाती है, तथा अदर की ओर भ्रूण अतरावरण बनता है।

गर्भोदक की मात्रा Amniotic Fluid—गर्भ पूर्ण होने पर गर्भोदक की मात्रा १० से २५ छटाक तक होती है।

(१) गर्भोदक के कार्य—भ्रूण को आघात से बचाना।
(२) भ्रूण की उष्णता स्थिर रखना।
(३) प्रसव के समय गर्भाशय की ग्रीवा को तर करना।
(४) भ्रूण पर चारो ओर समान दबाव रखना।
(५) बालक के जन्म से पूर्व प्रसव मार्ग को धोना।

डिम्ब का गर्भाशय से चिपकना व अपरा बनाना

पीछे बताया गया है कि बुद्बुद के स्तर के कोष जिसे छूते हैं धीरे-धीरे खाते रहते हैं। इसलिए जब भ्रूण कोष समूह गर्भाशय से आता है तो वहाँ की कला से स्पर्श करने से

उनके कोष खाकर गड्ढा खोद लेते हैं। और उसमें चिपक जाता है। और उस पर कला छा जाती है।

गर्भ कला—गर्भ के बाद गर्भाशय कला मे परिवर्तन हो जाता है।

(१) कला की ग्रथिया अधिक लम्बी और मुडी हुई हो जाती हैं।

(२) कला के कोष जो पहले छोटे थे वे बडे बड़े हो जाते हैं, वहाँ की केशिकायें रक्तपूर्ण होजाती हैं, कला पहिले इंच थी वह १ इंच हो जाती है, इस तरह भ्रूण के कला में दब जाने से उसकी वृद्धि के साथ साथ कला भी क्रम से पतली हो जाती है।

अपरा या कमल Iacenta)

बुद्बुद के बाहर के कोषो से स्थिर चारो ओर बहुत से छोटे छोटे अकुर पैदा होते हैं। जिनकी शाखा प्रशाखाये होती रहती हैं, इनमें रक्तवाहिनिया भी पैदा हो जाती हैं। जिनका सम्बन्ध नाल की रक्तवाहिनियो से होकर भ्रूण रक्त संचार होता रहता है।

ये अकुर भ्रूण के चारो ओर एक जैसे होते हैं, परन्तु गर्भ कला के पतली होने पर धीरे धीरे सिकुड़ कर नष्ट होने लगते हैं। भ्रूण की निचली ओर जहा यह गर्भाशय से लगा रहता है, अकुर अधिक बढते रहते हैं, और वह स्थान अकुरमय हो जाता है।

कमल को बनानें वाले अवयव

(१) अकुरमय स्थान।

(२) भ्रूण के नीचे की गर्भ-कला।

(३) इन दोनो के बीच का पोला स्थान तीसरे माह तक सम्पूर्ण कमल बन जाता है। तब यह गर्भाशय से चौथाई स्थान घेरता है। इसके बाह्यावरण के अकुर गर्भाशय की दीवार को पकड़े रहते हैं।

तथा ये उप स्नेहन के लिए पोषण पदार्थ लेते रहते हैं। गर्भ की पूर्णता पर कमल का व्यास ९ इंच होता है, और इसकी मोटाई बीच मे $\frac{3}{5}$ इंच होती है, इसके केन्द्र के समीप नाल लगी रहती है, इसके दो पृष्ठ होते हैं।

(१) पहला भ्रूण और भ्रूण अन्तरावरण से घिरा हुआ।

(२) दूसरा गर्भाशय की ओर का १४ से २० टुकड़ो मे विभक्त होता है। कमल का भार भ्रूण के भार से $\frac{1}{6}$ भाग होता है।

गर्भिणी (Pregnent)

सद्यो गृहीत गर्भा स्त्री स्वय कुछ थकावट, ग्लानि, तृषा, जाघ मे दर्द, योनि-स्फुरण, अनुभव करती है।

पहिले माह मे यह अव्यक्त आकृति मे उपाग, अकुरो के रूप मे, कफ समान बीज रूप अगो के साथ कलल आकार मे होता है। इस अवस्था मे सात्म्य, मधुर, शीत द्रव प्राय आहार दें।

औषधि—मुलहठी, सागवान के बीज, दूधी, देवदारु साधित दूध दें।

द्वितीय माह मे शीत, ऊष्मा तथा वायु द्वारा महाभूतो का सगठन कठोर पिण्ड, पेशी तथा अर्बुद की आकृति कलल की बनती है। आहार उसी तरह मधुर, शीत तथा द्रवप्राय दें।

औषधि—अश्मन्तक, तिल, ताम्रवल्ली तथा शतावरी दूध से साधित कर दें।

तीसरे माह मे एक साथ सब इन्द्रिया तथा सारे शरीर के अवयव, उपांग उत्पन्न होते हैं। ये अवयव निम्नानुसार हैं।

आकाश—शब्द, कर्ण हलकापन, सूक्ष्मता, विरेक, वृद्धि, कृष्ण, श्याम, गौर वर्ण।

वायु—स्पर्श, रूखापन, प्रेरण, धातुव्यूहन, चेष्टाएँ, त्वचा, विभजन।

अग्नि—रूप, दर्शन, प्रकाश, पचन, उष्णता, पचन, वर्ण्य।

जल—रस, रसना, शीतता, मृदुता, स्नेह, क्लेद, क्लेदन, गौर वर्ण।

पृथिवी—गन्ध, घ्राण, गुरुता, स्थिरता, मूर्ति, सगठन, कृष्ण वर्ण।

मातृज—त्वचा, रक्त, मास, मेद, नाभि, हृदय, क्लोम, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, बस्ति, मलाशय, आमाशय, उत्तरगुद, अधरगुद, क्षुद्रान्त्र, वहृदन्त्र, वपा, वपावहन।

पितृज—नख, लोम, दन्त, अस्थि, सिरा, स्नायु, धमनी, शुक्र।

आत्मज—सुख, दुःख, ज्ञान, मन, इन्द्रिय, प्राण, अपान, प्रेरण, धारण, आकृति, स्वरवर्णविशेष, इच्छाद्वेष, चेतना, धैर्य, बुद्धि, स्मृति, अहकार, प्रयत्न।

सात्म्यज—आरोग्य, अनालस्य, निर्लोभ, इन्द्रियप्रसाद, स्वरवर्ण, बीजसम्पद्, प्रहर्ष।

रसज—शरीर बनना, शरीरवृद्धि, बल, तृप्ति, पुष्टि, उत्साह।

सत्वज—भक्ति, शील, शौच, द्वेष, स्मृति, मोह, त्याग, मात्सर्य, शौर्य, भय, क्रोध, तन्द्रा, उत्साह, तीक्ष्णता, मृदुता, गम्भीरता, अनवस्थितत्व।

आहार—साठी चावल दूध के साथ दें।

औषधि—वृक्षादनी, दूधी, उत्पलसारिवा, अनन्तमूल, दूध के साथ दे।

चौथे माह मे हृदय बन जाता है, तथा गात्र मे गौरव तथा स्थिरता सब प्रत्यंग स्पष्ट हो जाते हैं। इस समय गर्भ की इच्छाऐं माता द्वारा प्रकट होती है अतः इस अवस्था में स्त्री को दौहृदनी कहते हैं।

उनके कोष खाकर गड्ढा खोद लेते हैं। और उसमे चिपक जाता है। और उस पर कला छा जाती है।

गर्भ कला—गर्भ के बाद गर्भाशय कला में परिवर्तन हो जाता है।

(१) कला की ग्रथिया अधिक लम्बी और मुड़ी हुई हो जाती हैं।

(२) कला के कोष जो पहले छोटे थे वे बड़े बड़े हो जाते हैं, वहाँ की केशिकायें रक्तपूर्ण होजाती हैं, कला पहिले इच थी वह १ इच हो जाती है, इस तरह भ्रूण के कला मे दब जाने से उसकी वृद्धि के साथ साथ कला भी क्रम से पतली हो जातो है।

अपरा या कमल Iacenta)

बुद्बुद के बाहर के कोषो से स्थिर चारो ओर बहुत से छोटे छोटे अकुर पैदा होते हैं। जिनकी शाखा प्रशाखायें होती रहती हैं, इनमें रक्तवाहिनिया भी पैदा हो जाती हैं। जिनका सम्बन्ध नाल की रक्तवाहिनियो से होकर भ्रूण रक्त सचार होता रहता है।

ये अकुर भ्रूण के चारो ओर एक जैसे होते हैं, परन्तु गर्भ कला के पतली होने पर धीरे धीरे सिकुड़ कर नष्ट होने लगते हैं। भ्रूण की निचली ओर जहा यह गर्भाशय से लगा रहता है, अकुर अधिक बढते रहते हैं, और वह स्थान अकुरमय हो जाता है।

कमल को बनानें वाले अवयव

(१) अकुरमय स्थान।

(२) भ्रूण के नीचे की गर्भ-कला।

(३) इन दोनो के बीच का पोला स्थान तीसरे माह तक सम्पूर्ण कमल बन जाता है। तब यह गर्भाशय से चौथाई स्थान घेरता है। इसके बाह्यावरण के अकुर गर्भाशय की दीवार को पकड़े रहते हैं।

तथा ये उप स्नेहन के लिए पोषण पदार्थ लेते रहते हैं। गर्भ की पूर्णता पर कमल का व्यास ९ इच होता है, और इसकी मोटाई बीच मे ३ इच होती है, इसके केन्द्र के समीप नाल लगी रहती है, इसके दो पृष्ठ होते हैं।

(१) पहला भ्रूण और भ्रूण अन्तरावरण से घिरा हुआ।

(२) दूसरा गर्भाशय को ओर का १४ से २० टुकड़ों मे विभक्त होता है। कमल का भार भ्रूण के भार से ई भाग होता है।

गर्भिणी (Pregnent)

सद्यो गृहीत गर्भा स्त्री स्वय कुछ थकावट, ग्लानि, तृषा, जाघ मे दर्द, योनि-स्फुरण, अनुभव करती है।

पहिले माह मे यह अव्यक्त आकृति मे उपाग, अकुरो के रूप मे, कफ समान बीज रूप अगो के साथ कलल आकार मे होता है। इस अवस्था मे सात्म्य, मधुर, शीत द्रव प्राय आहार दे।

औषधि—मुलहठी, सागवान के बीज, दूधी, देवदारू साधित दूध दें।

द्वितीय माह मे शीत, ऊष्मा तथा वायु द्वारा महाभूतो का सगठन कठोर पिण्ड, पेशी तथा अर्बुद की आकृति कलल की बनती है। आहार उसी तरह मधुर, शीत तथा द्रवप्राय दे।

औषधि—अश्मन्तक, तिल, ताम्रवल्ली तथा शतावरी दूध से साधित कर दे।

तीसरे माह मे एक साथ सब इन्द्रिया तथा सारे शरीर के अवयव, उपाग उत्पन्न होते हैं। ये अवयव निम्नानुसार हैं।

आकाश—शब्द, कर्ण हलकापन, सूक्ष्मता, विरेक, वृद्धि, कृष्ण, श्याम, गौर वर्ण।

वायु—स्पर्श, रूखापन, प्रेरण, धातुव्यूहन, चेष्टाएँ, त्वचा, विभजन।

अग्नि—रूप, दर्शन, प्रकाश, पचन, उष्णता, पचन, वर्ण्य।

जल—रस, रसना, शीतता, मृदुता, स्नेह, क्लेद, क्लेदन, गौर वर्ण।

पृथिवी—गन्ध, घ्राण, गुरुता, स्थिरता, मूर्ति, सगठन, कृष्ण वर्ण।

मातृज—त्वचा, रक्त, मास, मेद, नाभि, हृदय, क्लोम, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, बस्ति, मलाशय, आमाशय, उत्तरगुद, अधरगुद, क्षुद्रान्त्र, वहृदन्त्र, वपा, वपावहन।

पितृज—नख, लोम, दन्त, अस्थि, सिरा, स्नायु, धमनी, शुक्र।

आत्मज—सुख, दुःख, ज्ञान, मन, इन्द्रिय, प्राण, अपान, प्रेरण, धारण, आकृति, स्वरवर्णविशेष, इच्छाद्वेष, चेतना, धैर्य, बुद्धि, स्मृति, अहकार, प्रयत्न।

सात्म्यज—आरोग्य, अनालस्य, निर्लोभ, इन्द्रियप्रसाद, स्वरवर्ण, बीजसम्पद्, प्रहर्ष।

रसज—शरीर बनना, शरीरवृद्धि, बल, तृप्ति, पुष्टि, उत्साह।

सत्वज—भक्ति, शील, शौच, द्वेष, स्मृति, मोह, त्याग, मात्सर्य, शौर्य, भय, क्रोध, तन्द्रा, उत्साह, तीक्ष्णता, मृदुता, गम्भीरता, अनवस्थितत्व।

आहार—साठी चावल दूध के साथ दे।

औषधि—वृक्षादनी, दूधी, उत्पलसारिवा, अनन्तमूल, दूध के साथ दें।

चौथे माह मे हृदय बन जाता है, तथा गात्र मे गौरव तथा स्थिरता सब प्रत्यंग स्पष्ट हो जाते हैं। इस समय गर्भ की इच्छाएँ माता द्वारा प्रकट होती है अतः इस अवस्था में स्त्री को दौहृदनी कहते हैं।

आहार—दूध, मक्खन, साठी चावल दही के साथ जांगल मासरस दे।

औषधि—अनन्ता, अनन्तमूल, रास्ना, पद्मा मुलहठी का दूध सिद्ध कर दें।

पाचवें माह मे गर्भ के मास, रक्त, धातु बढते हैं तथा मन व्यक्त होता है अतः चेतना आती है।

आहार—साठी चावल दूध से घी से।

औषधि—बडी कटेरी, गाभारी, क्षीरिशृगा, दालचीनी, घी दूध के साथ दें।

छठे माह मे भ्रूण बलवर्ण का बढता है तथा गर्भिणी की बलवर्ण हानि होती है। तथा बुद्धि व्यक्त होती है। स्नायु, सिरा, रोम, नख, त्वचा बनते हैं।

आहार—मधुर, दूध, घी आदि दें।

औषधि—श्वदंष्ट्रा सिद्ध घृत, पृश्णिपर्णी, बला, सहजना, गोखरु, मधुपर्णीसिद्ध, दूध दे।

सातवें माह मे—सारे धातु बनते है तथा गर्भिणी के धातु निरन्तर कम होते हैं जिससे वह क्लान्त रहती है तथा किक्विस उत्पन्न होते हैं।

पथ्य—मक्खन, कोलजल मधुरद्रव्यो से लघुस्वादुभोजन जिसमे नमक व घृत मिला कर दें।

चन्दन, खस से ऊरु व स्तन पर लेप करे। कनेर के तैल का मर्दन करें। परवल, नीम, मजीठ मरवा के जल से सेचन करें। मधुरौषधि दूध व घृत दे। पृथक्पर्णीसिद्ध जल मे घी मिला कर यवागू दें।

सिंघाडा, बिस, मुनक्का, कशेरु, मुलहठी, मिश्री-साधित दूध दे।

आठवें माह मे गर्भ का माता मे तथा माता से गर्भ मे बार-बार ओज चलायमान रहता है। इसलिए गर्भिणी बार-बार क्लान्त व प्रसन्नचित्त होती रहती है।

अत इस समय उत्पन्न हो तो गर्भ व्यापाद् होता है। अर्थात् ओजस्थायी न होने से या तो शिशु नही जीता या माता नही जीती।

इस समय दुग्ध साधित पेया, घृतयुक्त अन्वासन या सूखी मूली, बेर के कषाय मे सौंफ तथा घी या तैल डाल कर निरुह दें।

कैथ, बडी कटेरी, बिल्व, परवल, छोटी कटेरी इनके मूल से दूध साधित कर पिलाएँ।

नवमे माह में—स्निग्धमास रस, या बहुत घी डाली हुई यवागू दें।

योनि मे नित्य तैल का पिचु रखें।

अनुवासन, पूर्वोक्त दें। स्नान के लिए निर्गुण्डी सिद्ध क्वाथ जल दें।

मुलहठी, अनन्ता, दूधी अनन्त मूल साधित दूध दें।

नवमे माह् के एक दिन निकलने पर सूतिका काल है।

दसमें माह् मे सोठ, दूधीसाधित दूध दें। या सोठ, मुलहठी देवदारु दूध से दे।

कमल के कार्य—(१) रक्त की शुद्धि, (२) पोषण, (३) अनावश्यकीय अनिष्ट पदार्थो की रोकथाम, (४) शर्कराजन का संचय।

नाल (Umblicalcord)—यह छठे सप्ताह् के अत तक बन जाती है। नाल मे निम्न अवयव होते हैं—(१) ल्हेसदार पदार्थ (२) नाभि रक्तवाहिनिया (३) भ्रूण के पोले स्थान का शेष भाग (४) अकुर।

नाल की लम्बाई—नाल की लम्बाई गर्भपूर्णता पर ८ से २२ इच के लगभग होती है। और मोटाई ½ (आधा) इच। इसमे नाभिशिरा व धमनिया रहती हैं।

भ्रूण का वृद्धि क्रम—पहले माह् के अत मे लम्बाई एक शताश मीटर आख, नाक, कान दिखते हैं। भार ३ से ५ माशे तक दूसरे माह् के अत मे लम्बाई चार शताश मीटर १॥ इच के लगभग भार ८ से २० माशे तक चारो ओर भ्रूण बाह्यावरण के अकुर तथा बाह्य जननेन्द्रिया दिखती हैं और हनु अक्षक मे अस्थि विकास केन्द्र पैदा हो जाते हैं।

तीसरे माह् के अत मे लम्बाई २-३ इच भार २॥ छटाक शिर बहुत बडा होता है। पलक और होठ जुडे हुए रहते हैं। कमल पूर्ण बन जाता है। नाल मे बल पडने लगता है। हाथ पैर की अगुलिया बन जाती हैं।

चौथे माह् के अत मे लम्बाई ४-६ इच तक। नर या मादा भेद हो जाता है। शिर पर बाल पैदा होने लगते हैं। हाथो और पावो मे कुछ गति होने लगती है। और नाखून बनने लगते हैं।

पाँचवें माह् के अन्त मे लम्बाई १० इच के लगभग भार आधा सेर सब शरीर पर बाह्य बाल उत्पन्न होते हैं। त्वचा का रग लाल व झुर्रिया युक्त व वसा रहित शुष्क, शिर बड़ा रहता है।

छठे माह् के अन्त मे लम्बाई १२ इच भार १ किलो के लगभग भ्रू पक्ष्म बनने लगे हैं। सातवें मास के अन्त मे लम्बाई १४ इच भार १½ किलो के लगभग त्वचा के नीचे वसा जमने लगती है। पलक एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। ऐसे बच्चे पैदा होने पर विशेष सावधानी से जीवित रहने सम्भव हैं। परन्तु बहुधा मर जाते है। आठवें माह् के अन्त मे १६-१७ इच भार २ किलो के लगभग त्वचा में झुर्रिया नही रहती हैं। रोम भी

कहा जाता है। यह चार प्रकार से है। १ शीर्षोदय, २ मुखोदय, ३ स्फिग् उदय, ४ पार्श्वोदय। इनमें शीर्षोदय अच्छा, दूसरे प्रकार के कष्टदायक होते हैं।

प्रसव—गर्भ का माता के शरीर से बाहर निकल कर आना प्रसव कहलाता है। इस क्रिया मे बहुधा कुछ न कुछ पीडा जननी को हुआ करती है। विशेष पीडा प्राय भ्रूण कपाल तथा वास्ति गुहा मार्ग के परस्पर अनुकूल न होने के कारण होती है। प्राय भ्रूण कपाल के व्यास निम्न प्रकार से रहते हैं :

(१) शिर पश्चाद् व्यास—ब्रह्म रन्ध्र से पश्चिम कपालाबुंद तक ३¾ इच।

(२) ललाट ग्रीवा पश्चिम मध्य भाग

जैसे ललाटास्थि से पश्चिम कपालाबुंद के थोडा नीचे तक ४ इच।

(३) नासा मूल पश्चिम कपालाबुर्द मध्य ४½ इच।

(४) अधोहनु से अधिपति रध्र तक ५¼ इच।

(५) ब्रह्म रध्र से ग्रीवा मध्य तक ३¾ इच।

(६) पार्श्विकास्थि मध्य का ३¼ इच।

(७) शखास्थि मध्य का व्यास ३' इच।

बस्ति गुहा परिमाण—बस्ति गुहा के दो भाग होते हैं—

(१) ऊर्ध्व भाग (२) अधो भाग।

ऊर्ध्व भाग के परिमाण—(१) कूट मध्य व्यास ९½ इच तक।

(२) शिखर मध्य व्यास १०½ इच से ११ इच तक।

(३) उरु-अर्बुद मध्य व्यास १२ इच तक।

अधो भाग का व्यास—ये व्यास प्रवेशद्वार बस्ति गह्वर तथा निर्गम द्वार के पृथक् पृथक् नापे जाते हैं।

क (१) प्रवेश द्वार के अग्र पश्चिम—भग सन्धि शिखर से त्रिकाबुंद तक ४ इच।

ख तिर्यक् व्यास तिरछा—नितम्बास्थि के अन्दर की गाठ से अनामिका त्रिकसन्धि तक ४½ इच।

ग वाम दक्षिण व्यास ५ इच, वस्ति गह्वर के व्यास ४½ इच होता है।

निर्गम द्वार के व्यास—

अ्ग्र पश्चिम व्यास—अनुत्रिकास्थि से निचले सिरे तक ४ इच परन्तु प्रसव के समय अनुत्रिकास्थि के पीछे की ओर मुड जाने से ५ इच हो जाता है।

ख तिर्यंक व्यास ४½ इंच, (ग) वाम दक्षिण व्यास—ककुंदराग्रस्थि की गाठो के बीच का व्यास ४ इंच।

शीर्षोदय के चार आसन

(१) वाम सम्मुख पश्चाद् अस्थि आसन।

(२) दक्षिण सम्मुख पश्चाद् अस्थि आसन।

(३) दक्षिण पश्चिम पश्चाद् अस्थि आसन।

(४) वाम पश्चिम पश्चाद् आसन।

उदर परीक्षा—

यह परीक्षा तीन प्रकार से की जाती है·

(१) दर्शन (२) स्पर्शन (३) श्रवण।

दर्शन—से ज्ञात करें कि गर्भाशय की ऊंचाई व चौडाई किस प्रकार है।

स्पर्शन—उदर पर थोडे थोडे समय पीछे अंगुलियो के सिरो को सहसा गडा कर भ्रूण का अगो का अनुभव करे। इसके चार प्रकार हैं।

(१) गर्भाशय मुण्ड पर (२) दो नाभि की समता मे

(३) गर्भाशय के निचले भाग (४) शिर की ओर है।

श्रवण परीक्षा—

नाभि के बाईं ओर नितम्बास्थि के पुरोर्ध्व कूट के मध्य मे स्पन्दन सुनाई देता है। नाभि के दाहिनी ओर मुखोदय मे, वक्ष की ओर, स्फिगुदय मे नाभि मे ऊपर, पार्श्वोदय मे नाभि के समान्तर, स्पन्दन सुनाई देता है।

उदर परीक्षा की तैयारी—

गर्भिणी को सीधा पीठ के बल लेटायें। कधो के नीचे तकिया रखें। और पैरो को सिकोड दें तथा उसके वक्ष पर कुछ कपडे रख दें। जिससे कि वह आपकी परीक्षा को न जान सके।

योनि परीक्षा—

इससे रोगोत्पादक क्रिमियो के प्रवेश का भय रहता है। अत. इसे प्रयोग मे न लाये। किन्तु मूढ गर्भ की स्थिति मे जब कि इसका प्रयोग आवश्यक हो तो पूर्ण सावधानी के साथ हाथो व नाखूनो को गर्म पानी तथा साबुन से साफ करें। फिर तीन मिनिट तक मरकरी पर क्लोराईड का विलयन (एक हजार) तथा स्प्रीट चार के घोल मे हाथो को डुबाये रखें या रबड का दस्ताना पहन कर परीक्षा करें।

(१) गर्भाशय मुख कितना खुला है, अगुली से जाँच करें।

कहा जाता है। यह चार प्रकार से है। १ शीर्षोदय, २ मुखोदय, ३ स्फिग् उदय, ४ पार्श्वोदय। इनमें शीर्षोदय अच्छा, दूसरे प्रकार के कष्टदायक होते हैं।

प्रसव—गर्भ का माता के शरीर से बाहर निकल कर आना प्रसव कहलाता है। इस क्रिया मे बहुधा कुछ न कुछ पीडा जननी को हुआ करती है। विशेष पीडा प्राय भ्रूण कपाल तथा वास्ति गुहा मार्ग के परस्पर अनुकूल न होने के कारण होती है। प्रायः भ्रूण कपाल के व्यास निम्न प्रकार से रहते हैं :

(१) शिर पश्चाद् व्यास—ब्रह्म रन्ध्र से पश्चिम कपालार्बुद तक ३¾ इच।

(२) ललाट ग्रीवा पश्चिम मध्य भाग

जैसे ललाटास्थि से पश्चिम कपालार्बुद के थोडा नीचे तक ४ इच।

(३) नासा मूल पश्चिम कपालार्बुद मध्य ४½ इच।

(४) अधोहनु से अधिपति रध्र तक ५¼ इच।

(५) ब्रह्म रध्र से ग्रीवा मध्य तक ३¾ इच।

(६) पार्श्विकास्थि मध्य का ३¼ इच।

(७) शखास्थि मध्य का व्यास ३' इच।

बस्ति गुहा परिमाण—बस्ति गुहा के दो भाग होते हैं—

(१) ऊर्ध्व भाग (२) अधो भाग।

ऊर्ध्व भाग के परिमाण—(१) कूट मध्य व्यास ९½ इच तक।

(२) शिखर मध्य व्यास १०½ इच से ११ इच तक।

(३) उरु-अर्बुद मध्य व्यास १२ इच तक।

अधो भाग का व्यास—ये व्यास प्रवेशद्वार बस्ति गह्वर तथा निर्गम द्वार के पृथक् पृथक् नापे जाते हैं।

क (१) प्रवेश द्वार के अग्र पश्चिम—भग सन्धि शिखर से त्रिकार्बुद तक ४ इच।

ख तिर्यक् व्यास तिरछा—नितम्बास्थि के अन्दर की गाठ से अनामिका त्रिकसन्धि तक ४½ इच।

ग वाम दक्षिण व्यास ५ इच, वस्ति गह्वर के व्यास ४½ इच होता है।

निर्गम द्वार के व्यास—

क अग्र पश्चिम व्यास—अनुत्रिकास्थि से निचले सिरे तक ४ इच परन्तु प्रसव के समय अनुत्रिकास्थि के पीछे की ओर मुड जाने से ५ इच हो जाता है।

ख तिर्यक व्यास ४½ इच, (ग) वाम दक्षिण व्यास—ककुंदराग्रस्थि की गाठो के बीच का व्यास ४ इच।

शीर्षोदय के चार आसन

(१) वाम सम्मुख पश्चाद् अस्थि आसन।

(२) दक्षिण सम्मुख पश्चाद् अस्थि आसन।

(३) दक्षिण पश्चिम पश्चाद् अस्थि आसन।

(४) वाम पश्चिम पश्चाद् आसन।

उदर परीक्षा—

यह परीक्षा तीन प्रकार से की जाती है·

(१) दर्शन (२) स्पर्शन (३) श्रवण।

दर्शन—से ज्ञात करे कि गर्भाशय की ऊचाई व चौडाई किस प्रकार है।

स्पर्शन—उदर पर थोडे थोडे समय पीछे अगुलियो के सिरो को सहसा गडा कर भ्रूण का अगो का अनुभव करे। इसके चार प्रकार हैं।

(१) गर्भाशय मुण्ड पर (२) दो नाभि की समता मे

(३) गर्भाशय के निचले भाग (४) शिर की ओर है।

श्रवण परीक्षा—

नाभि के बाई ओर नितम्बास्थि के पुरोर्ध्व कूट के मध्य मे स्पन्दन सुनाई देता है। नाभि के दाहिनी ओर मुखोदय मे, वक्ष की ओर, स्फिगुदय मे नाभि से ऊपर, पार्श्वोदय मे नाभि के समान्तर, स्पन्दन सुनाई देता है।

उदर परीक्षा की तैयारी—

गर्भिणी को सीधा पीठ के बल लेटायें। कधो के नीचे तकिया रखें। और पैरो को सिकोड दे तथा उसके वक्ष पर कुछ कपडे रख दें। जिससे कि वह आपकी परीक्षा को न जान सके।

योनि परीक्षा—

इससे रोगोत्पादक क्रिमियो के प्रवेश का भय रहता है। अत इसे प्रयोग मे न लायें। किन्तु मूढ गर्भ की स्थिति मे जब कि इसका प्रयोग आवश्यक हो तो पूर्ण सावधानी के साथ हाथो व नाखूनो को गर्म पानी तथा साबुन से साफ करें। फिर तीन मिनिट तक मरकरी पर क्लोराईड का विलयन (एक हजार) तथा स्प्रीट चार के घोल मे हाथो को डुबाये रखें या रबड का दस्ताना पहन कर परीक्षा करे।

(१) गर्भाशय मुख कितना खुला है, अगुली से जाँच करें।

(२) उदय किस प्रकार है, त्रिक के अर्बुद को छुएँ, यदि छूने मे आता है तो वस्ति सकुचित है।

(३) भ्रूण आवरण किस प्रकार का आ रहा है। वस्ति गुहा मे कोई अर्बुद तो नही या शोथ तो नही है।

गर्भ (Fertilised Ovum)

शुक्र शोणित जीव सयोगे। तु खलु गर्भ सज्ञा भवति ॥

सद्यो गृहीत गर्भा के लक्षण

निष्ठीविका गौरव मगसाद। स्तन्द्रा प्रहर्षो हृदय व्याथ च ॥
तृप्तिश्च वीजग्रहए च योन्या। गर्भस्थ सद्योऽनु गतस्य लिंगाम् ॥

गर्भावस्था के पिछले आगे भाग का निर्णय करना अत्यन्त सुगम है परन्तु प्रारम्भिक महिनो मे निर्णय दे देना बडा कठिन है। फिर भी गर्भवती के निम्न सामान्य लक्षण हैं।

क्षामता गरिमा कुक्षे। मूर्च्छा छर्दिररोचका।
जृम्भा प्रसेक सदन। रोम राज्युद्गमस्तथा।
अम्लेष्टता स्तनो पीनो। सस्तन्यो कृष्ण चूचुकौ।
आकाम तश्छर्द यति। गधा दुद्विजते शुभात्।
प्रसेकः सदन चापि। गर्भिण्या लिंग मुच्यते।

पहिले महिने के बाद ऋतु का न आना सन्देह पैदा करता है। साथ ही निर्बलता, स्तनो मे वेदना, बहुमूत्रता तथा अ.नाह रहता है।

दूसरे माह के अन्त मे हेगर परीक्षण से गर्भस्थिति निश्चित की जा सकती है। इसमे भी छीर्द बहुमूत्रता, स्तनकुष्टि, स्तनो की शिराओ का दिखना, स्तनमण्डल अधिक श्याम व विस्तृत होना और चूचुक भी श्याम और उठे हुए होत हैं।

गर्भावस्था के प्रारम्भिक तीन माहो मे गर्भाशय वस्ति गुहा में कुछ नीचे को हो जाता है। इसलिये गर्भाशय की ग्रीवा को सुगमता से स्पश किया जाता है। इसके बाद गर्भाशय के ऊपर उठ जाने से उसकी ग्रीवा भी ऊपर हो जाती है तथा स्पर्श में अधिक मृदु रहती है।

तृतीय माह के अन्त मे स्तन मण्डल पर छोटे छोटे उभार दिखने लगते हैं। इन तीन माहो मे गर्भाशय विटप सन्धि के नीचे रहता है। इसलिए गर्भिणी को सीधा लेटाने पर पेड प्रदेश चपटा प्रतीत होता हैं। तथा मूत्र प्रणाली मोटी व टेढी रहती हैं।

चौथे माह् के प्रारम्भ मे गर्भाशय ग्रीवा विटप सन्धि से ऊपर उठने लगता है। इसके साथ ही ग्रीवा भी ऊपर उठ जाती है।

पाँचवे माह मे गर्भाशय नाभि व विटप सन्धि के मध्य मे टटोला जा सकता है। और भ्रूण हृदय का शब्द सुना जा सकता है। भ्रूण हृदय १२० से १४० वार प्रति मिनट स्पन्दन करता है। १०० से नीचे तथा १६० से ऊपर होने पर विकृति समझनी चाहिए।

छठे माह के अन्त मे गर्भाशय नाभि तक जाता है। और सातवे माह के अन्त मे नाभि से तीन अगुल ऊपर, आठवें माह के अन्त मे नाभि तथा वक्षोस्थि निचले सिरे के मध्य मे और नवमे माह मे वक्षोस्थि के निचले सिरे तक।

दसवे माह के अन्त मे गर्भाशय नीचे तथा आगे को गिर जाता है। इसलिए मूत्राशय पर दबाव पड़ने से बार बार मूत्र आता है।

गर्भ-रेखायें—किक्विष

गर्भाशय वृद्धि के साथ-साथ उदर की दीवार फैल जाती है। जिससे उदर की अन्तस त्वचा फट जाती है। अत पुनः सिकुड़ने से रेखाये रह जाती हैं।

मानसिक परिवर्तन—गर्भावस्था मे वात सस्थान उत्तेजित रहता है। इससे लालास्राव अभक्ष्य बुभुक्षा और चिड़चिडापन रहता है।

शकागर्भ—कई बार गर्भ के न रहने पर भी छर्दि, आर्तव न होना, स्तनपीनता, उदरवृद्धि आदि से गर्भ सन्देह होता है। परन्तु विविध परीक्षा से निश्चित होने पर ही गर्भ निर्णय होता है।

मृत गर्भ—गर्भाशय वृद्धि बन्द हो जाना स्तनपुष्टि से फिर छोटे होना, यदि पाच माह हो गए हो तो (हृदय) स्पन्दन का सुनाई देना, गौरव शीतता, तन्द्रा तथा गर्भाशय से दुर्गन्धयुक्त पोला स्राव निकलता है। मृत्यु के बाद या तो भ्रूण तुरन्त निकल जाता है अथवा कुछ सप्ताह तक गर्भाशय में रुक कर पूर्णता पर स्राव होता है।

गर्भकाल की अवधि

नवमे दसवे मासे। नारी गर्भ प्रसूयते।
एकादशे द्वादशे वा। ततोऽन्यत्र विकारत.॥

गर्भ काल की अवधि २७३ दिन की होती हैं। अन्तिम आर्तव के पहले दिन की तिथि में सात जोड कर उससे नव मास आगे या तीन माह पहिले की तिथि सम्भव होती है या भ्रूण स्पन्दन से ४॥ माह बाद प्रसूति होती है।

वस्तिनिरीक्षण—सातवें माह मे भ्रूण की स्थिति (आसन उदय आदि का पता लगा लें। प्रसूति में वस्ति का नाप ले ले।

स्तन सरक्षण—गर्भावस्था के पिछले दो सप्ताहो में चूचुक पर वेसलीन लगा कर मलें। सप्ताह में दो बार यूडी कोलन पानी में १ से तीन के अनुपात से मिला कर प्रक्षालन करे तथा उसे बाहर रखें।

साधारण प्रसव (Labour)—परीश्रम (कमल गर्भोदक भ्रूणा वरण व भ्रूण का गर्भाशय से पृथक होकर बाहिर आना जिसके निम्न लक्षण होते हैं।

जाते हि शिथिले कुक्षौ। मुक्ते हृदय बन्धने।
सशूले जघने नारी। ज्ञेया तु प्रजायनी॥

प्रसव से दो तीन सप्ताह पूर्व गर्भवती स्त्री हल्कापन अनुभव करती है। तथा गर्भाशय की ऊँचाई पहिले से कम हो जाती है। इसीलिए श्वास लेने मे सुगमता अनुभव होती है। परन्तु चलने फिरने मे कष्ट तथा मूत्राधिक्य तथा जनेन्द्रिय से स्राव होने लगता है। ऐसे समय के स्वच्छ सूतिकागार (प्रसूतिगृह) धाय की नियुक्ति कर लेनी चाहिए तथा निम्न सामग्री का प्रबन्ध कर ले।

(१) दो मोमजामे १ गज चौडा १॥ गज लम्बा।
(२) सफेद चद्दर ३ दो रुई बन्डल ४ लाई सोल।
(५) एक शीशी मे एरण्ड स्नेह तैल।
(६) मीठा तैल या जैतून तैल।
(७) चिलमची (धामा) चार या पाच।
(८) मूत्रपात्र, गर्म पानी की बोतल दूध पिलाने का प्याला।
(९) पेट पर बाधने की पट्टी या तौलिया।
(१०) विसक्रमित (पानी की भाप से साफ किया हुआ गोज बण्डल।
(११) डस्टिंग पाउडर (छिडकने वाला पाउडर।
(१३) फलालेन की पट्टी।
(१४) नाल को बाधने का धागा व तेज कैंची।
(१४) एक औस एस्टेक्ट अरगट।
(१६) सेफ्टीपिन,
(१७) नीद लाने वाली दवा।

प्रसव की तीन अवस्थायें

(१) प्रसव वेदना के आरम्भ से गर्भाशय ग्रीवा के पूरी चौडी होने तक गर्भोदक

की थैली भी इसके अन्त मे फटती है। इसके पहले फटने पर प्रसव कष्टप्रद होता जाता है। वेदना गर्भाशय सकोच से होती है। पहिले थोडी और फिर धीरे धीरे बढती जाती है। पीठ की ओर से उठ कर पेडु तथा जाघो मे जाती है। इन्हें आवी कहते हैं। वेदना वृद्धि के साथ साथ गर्भाशय ग्रीवा फैलने लगती है। और गर्भोदक की थैलो पृथक हो जाती है। और रक्त व श्लेष्मा का स्राव होने लगता है। गर्भाशय ग्रीवा के पूरी फैलने पर थैलो स्वय फट जाती है। कभी कभी थैली के न फटने पर छेदन करना पडता है।

(२) गर्भाशय ग्रीवा के पूरा चौडा होने से लेकर बच्चा उत्पन्न होने तक इस समय गर्भाशय व उदर की मासपेशियो के सकोच से वेदना अधिक होने लगती है। इससे बालक का शिर आगे धकेला जा सकता है। फिर तीव्र वेदना के साथ शिर का बडा व्यास बाहर निकल आता है। इसके बाद कधे व शेष शरीर बाहर आता है और शप गर्भोदक भी निकल आता है।

(३) बच्चा पैदा होने से लेकर अपरा के निकलने तक की अवस्था को तृतीय अवस्था कहते हैं॥

गर्भाशय सकोच के सम्बन्ध मे जानने योग्य बातें

(१) गर्भाशय सकुचित होकर ढोला पडता है। उस समय मास-तन्तुओ मे कुछ सकोच बना रहता है।

(२) सकोच से निचला भाग पतला होता जाता है और ऊपर का भाग मोटा हो जाता है।

(३) गर्भाशय का ऊपर का भाग सिकुडता है तो निचला भाग फैलता है। जब निचला भाग सिकुडता है तो ऊपर का भाग ढीला होता जाता है।

(४) ग्रीवा के फैलने पर गर्भाशय का निचला भाग तथा ग्रीवा एक हो जाती है।

(५) गर्भाशय के ऊपर के मोटे भाग का निचला सिरा एक किनारे के रूप मे होता है। जो पेडू पर हाथ फेर कर अनुभव किया जाता है।

स्वस्थ्य प्रसव—

किसी भी उदय से बिना उपद्रव के २४ घटे में प्रसव हो जाने को स्वस्थ्य प्रसव कहते हैं।

प्रसव काल में विसक्रमण की ओर विशेष ध्यान दें। प्रकृति की ओर से योनिस्राव जिसकी प्रतिक्रिया अम्ल होती है और यह अम्लता सब प्रकार के अन्य कीटाणुओ से बचाती है फिर भी चिकित्सक के हाथो का पूर्ण विसक्रमण के बाद ही उपयोग होना चाहिए। साथ ही प्रसव के आरम्भ में मूत्राशय व मलाशय सलाका तथा वस्ति द्वारा खाली करा दें।

प्रसवारम्भ के निश्चित लक्षण—

(१) गर्भाशय सकोचन से वेदना जो कटि से आरम्भ होकर पेडु और जाघों में जाना और इसी के साथ गर्भाशय ग्रीवा का खुलना तथा गर्भोदक की थैली का नीचे सरकना।

(२) जननेन्द्रि से रक्त मिश्रित श्लेष्मा का निकलना।

(३) वेदनाओं के अन्तर में उदर-परीक्षा की तृतीय विधि के अनुसार परीक्षा करने पर गर्भ का शिर का स्थिर हो जाना प्रतीत होता है।

प्रसव की प्रत्येक अवस्था का उपचार—

प्रथम अवस्था मे इच्छानुसार चल-फिर सकती है। परन्तु विषम आसनो की स्थिति तथा सकुचित वस्ति या अन्य विकारो के समय लेटना आवश्यक है। प्रारम्भ मे रेचन जैसे स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण दें, तथा तीव्र वेदना मे वस्ति प्रयोग करें, मूत्र त्याग को शका होने पर त्यागते रहें, अशक्ति हो जाने पर शलाका यंत्र का प्रयोग करें। क्योकि मूत्राशय तथा मलाशय भरा होने पर बाधा पहुचती है।

पूर्व कर्म की तैयारी रखें और पानी उबाल ले व उदर-परीक्षा, ताप-परीक्षण, समय समय पर करते रहें। गर्भोदक को थैली के फटने पर कठोर बिस्तर पर लेटा दे।

द्वितीय अवस्था में नाडी परीक्षा करें और अगर थैली नही फटो हो तो छेदन कर दें, यदि बालक थैली मे हो तो निकाल लें अन्यथा उदय व आसन को परोक्षा कर ले, आसन ठीक है या नही वेदना के समय धात्री गर्भाशय मुह को जब तक हाथ से दबाएँ तब तक गर्भ का शिर न दिखाई दे पीठ के बल लिटाई रखे। शिर दीखने पर बाई करवट से लिटा दें। गर्भिणी का दाहिना पैर को एक परिचारिका उठाए रखे। अब धात्री को चाहिए कि वह प्रसूतिका के पीठ की ओर खडे होकर बायाँ हाथ उसकी टाग के ऊपर से जननेन्द्रिय को ओर ले जाकर बालक के शिर को विटप सधि की ओर दबाएँ जिससे कि पश्चाद् अस्थि निकल जाय, फिर दाहिने हाथ की मुट्ठी बाध कर अनुत्रिकास्थि व मलद्वार के मध्य दबाएँ इससे बालक का शिर सीधा होकर सुगमता से बाहर आ जाएगा। वेदना के समय प्रवाहण नही कर लम्बो लम्बी श्वास लें। इस समय-जननेन्द्रिय को निरन्तर लाईसोल के गर्म घोल से भिगोते रहें जिससे त्वचा चौडी होने मे सहायता मिलती रहे। बालक के शिर के बाहर आ जाने पर यह देखें कि नाल का फदा ग्रीवा पर तो नही लिपटा है। यदि हो तो नाल को खीच कर शिर के ऊपर से फन्दा निकाल दें और यदि फदा खीच कर न निकाला जाय तो नाल को कैंची से काट दें।

बालक का शिर निकलते ही स्वच्छ वस्त्र या गीली रुई से बालक की आँखें पोछें

और कनिष्टा पर कपड़ा लगाकर मुंह के अन्दर से पोंछ ले। बालक के उत्पन्न होने के बाद फिर पीठ के बल लेटादें और नाडी गिनें। बालक पैदा होते ही रोने लगता है जिससे दोनो फुफ्फुसो मे वायु प्रविष्ट होकर वे खुल जाते है। यदि बालक न रोये तो उसे उल्टा लटकाये और मुख तथा गले को भली प्रकार पोंछ तथा पीठ पर थपथपी करें। या यन्त्र द्वारा श्लेष्मा को चूस लें और उसके मुंह पर ठडें पानी के छीटे दें। इससे बालक रोने लग जाता हैं। अब नाभिनाल को हाथ मे लेकर देखें कि उसमे स्पदन अनुभव होता है। जब स्पदन बहुत मद हो जाय उस समय बालक की नाभि से २ इच पर पक्के धागे से बधन की तरह गाठ लगादें।

ऐसी ही गाठ जननेन्द्रिय से तीन इंच दूरी पर बाधें तथा स्वच्छ कैंची से बालक की ओर की गाठ से आधे इच पर काट दे और देखें कि वहाँ से रक्तस्राव तो नही हो रहा है। फिर घृत सेंधा नमक से मुख की शुद्धि करे।

इसके बाद शहद, घृत, अनन्तमूल ब्राह्मीस्वरस, स्वर्णभस्म मिला कर अनामिका से चटावे, बला तैल से अभ्यग करे। क्षीरी वृक्षो के क्वाथ से स्नान करा कर प्रति दिन बालक के शिर पर तैल पिचु लगावें। रक्षोघ्न धूपो से धूपित करे व गोरोचन आदि लगावें।

यदि नाल में से रक्तस्राव हो तो पहली गाठ के नीचे एक और गाठ लगादें और नाल काटते समय नाल पर स्पन्दन होने पर उठाकर काटें तथा बाधने वाले तागे को पहिले मरकरी आयोडिन के घोल एक . ५००० हजार मे रख छोडें।

तृतीय अवस्था के उपचार—

सर्व प्रथम यह देखें कि बालक उत्पन्न होने से सीवन प्रदेश की त्वचा मे व्रण तो नही हुआ है। यदि हो तो उसी समय सी दें परन्तु गाठ कमल के निकलने के बाद लगावे।

बालक पैदा होने के बाद ४० मिनट मे आवल निकल आती है। यदि न निकले तो गर्भाशय मे हाथ डालकर निकाल ले। गर्भाशय मे देखें कि भीतर इसका टुकडा तो बचा हुआ नही रहा है। इसके बाद एक्सट्रेक्ट अरगट लिक्विड दो ड्राम को एक औस पानी मे मिला कर या दशमूल क्वाथ मे यवाक्षार व गुड प्रक्षेप देकर पिलावें और प्रसूतिका को नाडीगति गिने।

प्रसूतिका की सफाइयां—

कमल निकलने के आधा घण्टा बाद गर्भाशय को बाहर से पकड कर दबाकर जमे हुए रक्त को निकाल दें। फिर जननेन्द्रिय को पोंछ कर १० इच लम्बी ४ इच चौडी स्वच्छ कपडे को पट्टी जिसमे चौसट रूई की पट्टी को गर्म कर रख दें। कोष्ठ पर चौड़ी पट्टी बाध दें। इस पट्टी का निचला शिरा उरूअस्थियो के बडे उभारो से २ इच नीचे रहे फिर पट्टी को

पिनो से कस दें। इस पट्टी को दो घण्टे बाद खोल कर लाईसोल लोसन से सफाई कर जमे हुए रक्त को निकाल दें और मूत्र त्याग करावें और यह भी देखे कि गर्भाशय ठीक प्रकार से सकुचित हुआ है या नही। रक्तस्राव तो नही हो रहा है। इस तरह पट्टी बाध कर दूसरे बिछौने पर लिटादे। पट्टी पर रक्त दिखने पर ७-७ घण्टे मे बदलते रहे। रक्त दोष का शेष रहने पर (यवानीयवागू) दशमूल क्वाथ को गुड के साथ दें। स्नेहयुक्त दवाइयो व दूध युक्त यवागू का सेवन करने के बाद स्निग्ध अन्न पान दे। बालक उत्पन्न होने से पहिले डेढ महीने तक पुनः ऋतु आने तक स्त्री को प्रसूतिका की सज्ञा होती है।

नवजात शिशु Newly born child—

सर्व प्रथम शिशु के सहज विकारो को देखें, क्या तालु तो चिरा हुआ नही है, बद्ध-गुद तो नही है। यदि हो तो इनकी चिकित्सा का प्रबन्ध करें। बालक के शरीर पर जैतून का तैल या बला तैल की मालिश कर साबुन या क्षीरी वृक्षो के क्वाथ से गुनगुने पानी से स्नान करावें। इससे बालक के शरीर पर लगा हुआ जरायु मय श्वेत पदार्थ उतर जाता है। इसके बाद तौलिये से शरीर को सुखावे और नाल को बडी सावधानी के साथ पोछें व देखें कि उसमे से रक्तस्राव तो नही होता है। इसके बाद नाल पर डर्सटिग पाउडर चारो ओर छिडक कर बालक को स्तन पर लगा दें। पहिले दिन दूध नही आता परन्तु चूसने का अभ्यास हो जाता है। कई धात्रियें प्रसूति के समय प्रसव के लिए क्लोरोफार्म तथा निद्रल औषधियो का प्रयोग करती हैं, परन्तु इनका प्रयोग खतरे से खाली नही।

प्रसव मे विलम्ब होने पर उपचार

(१) काले साप की काचली या मेनफल की धूनी दें।

(२) अपामार्ग, नीम, काकजघा की जड कमर मे बाधे।

(३) सफेद अपराजिता की जड जल मे पीस सू घने या पीने व नाभि पर लेप करने से सुख प्रसव होता है।

कमल मे विलम्ब होने पर

(१) बालो को अगुली पर लपेट कर कठ मे घिसें।

(२) कलिहारी की जड को पानी मे पीस कर गर्भिणी के हाथो पांवो पर लेप करें।

तुंबीपत्र तथा लोध्र सममाग तु पेषयेत्।
तेन लेपो भगे कार्यो शीघ्र स्याद्योनिरक्षता॥

दुग्ध पान Feeding

आहार पाक से बने रस के उत्तम भाग स्तनो में पहुंच कर दूध बनाते हैं। पुत्र स्पर्श, दर्शन व स्मरण तथा ग्रहण से स्नेह स्वरूप दूध की उपस्थिति होती है।

दूध बढाने के लिए शाली चावल, गेहूँ का दलिया, लौकी, नारियल आदि दे।

शुद्ध दूध की परीक्षा—

जो दूध पानी मे मिल जाय व जिसमे रेखायें न पडे तथा रग मे सफेद हो व पतला तथा शीतल हो उसे शुद्ध समझे।

माता के दूध न होने पर आवश्यकतानुसार योग्य धाय को रखा जाय।

योग्य धाय के लक्षण—

अपनी जाति की मध्यम अवस्था की, अच्छे स्वभाव वाली, सदैव प्रसन्न, शुद्ध और बहुत दूध वाली, सन्तानयुक्त, बहुत प्रेममयी, थोड़े से सन्तुष्ट होने वाली, कपटरहित, बच्चे को अपना पुत्र समझने वाली हो।

दूध पिलाने की विधि—

दूध पिलाने के समय स्तन को धोकर कुछ निचोड कर धीरे से लेटा कर पिलावें। मां के दूध के अभाव मे बकरी या गाय का दूध पिलाया जाय। छठे या आठवें माह मे अन्न प्रदान सस्कार कराये। बच्चे को पाचवें वर्ष से ग्रास, ८वे वर्ष से वमन, १६वे वर्ष से विरेचन तथा २० वर्ष बाद शादी करावें।

अवस्था तीन प्रकार की होती है—

(१) बाल्यावस्था (२) युवावस्था और (३) वृद्धावस्था।

बाल्यावस्था के तीन भेद हैं—

(१) स्तनाद्यय (२) दुग्धान्नाद और (३) अन्नाद।

साधारण प्रसूतिका व उसके उपचार—

प्रसव के बाद ६ माह तक प्रसूतिकावस्था होती है। इस समय प्रसव से सूतिका की जननेन्द्रिया पूर्व अवस्था को प्राप्त करती हैं, अर्थात् उनका सकोच होता है। विकृति की स्थिति मे सकोचन भली प्रकार नही होता या अधिक सकोच हो जाता है। गर्भावस्था के पूर्व गर्भाशय का व्यास ३ इच गुणा २ इच व गर्भावस्था पूर्ण हो जाने पर ६ गुणा ८, प्रसव समाप्त होने पर ६ गुणा ४॥ से ३॥। प्रसव समाप्ति पर गर्भाशय नाभि व बिटपसधि के बीच में रहता है। प्रतिदिन १, १, अगुलि सकोच कर नीचे हो जाता है; सकोचन की प्रवृत्ति प्रथम प्रसूति मे शीघ्रतर होती है, सकोचन को न्यूनता से जमा रक्त की शुद्धि नही हो पाती जिससे मक्कलशूल हो जाता है। इसमे दशमूलक्वाथ यवाक्षार घृत के प्रक्षेप से देवें।

प्रसूतिकाकालिक स्राव Lochia

प्रसव के बाद गर्भाशय से २-३ सप्ताह तक स्राव होता रहता है। यह प्रारम्भिक ४

पिनो से कस दें। इस पट्टी को दो घण्टे बाद खोल कर लाईसोल लोसन से सफाई कर जमे हुए रक्त को निकाल दे और मूत्र त्याग करावें और यह भी देखे कि गर्भाशय ठीक प्रकार से सकुचित हुआ है या नही। रक्तस्राव तो नही हो रहा है। इस तरह पट्टी बाध कर दूसरे बिछौने पर लिटादे। पट्टी पर रक्त दिखने पर ७-७ घण्टे मे बदलते रहे। रक्त दोष का शेष रहने पर (यवानीयवागू) दशमूल क्वाथ को गुड के साथ दें। स्नेहयुक्त दवाइयो व दूध युक्त यवागू का सेवन करने के बाद स्निग्ध अन्न पान दे। बालक उत्पन्न होने से पहिले डेढ महीने तक पुनः ऋतु आने तक स्त्री को प्रसूतिका की सज्ञा होती है।

नवजात शिशु Newly born child—

सर्व प्रथम शिशु के सहज विकारो को देखे, क्या तालु तो चिरा हुआ नही हैं, बद्ध-गुद तो नही है। यदि हो तो इनकी चिकित्सा का प्रबन्ध करें। बालक के शरीर पर जैतून का तैल या बला तैल की मालिश कर साबुन या क्षीरी वृक्षो के क्वाथ से गुनगुने पानी से स्नान करावे। इससे बालक के शरीर पर लगा हुआ जरायु मय श्वेत पदार्थ उतर जाता है। इसके बाद तौलिये से शरीर को सुखावें और नाल को बडी सावधानी के साथ पौंछें व देखें कि उसमे से रक्तस्राव तो नही होता है। इसके बाद नाल पर डसटिंग पाउडर चारो ओर छिडक कर बालक को स्तन पर लगा दे। पहिले दिन दूध नही आता परन्तु चूसने का अभ्यास हो जाता है। कई धात्रियें प्रसूति के समय प्रसव के लिए क्लोरोफार्म तथा निद्रल औषधियो का प्रयोग करती हैं, परन्तु इनका प्रयोग खतरे से खाली नही।

प्रसव मे विलम्ब होने पर उपचार

(१) काले साप की काचली या मेनफल की धूनी दें।

(२) अपामार्ग, नीम, काकजघा की जड कमर मे बाधें।

(३) सफेद अपराजिता की जड जल मे पीस सू घने या पीने व नाभि पर लेप करने से सुख प्रसव होता है।

कमल मे विलम्ब होने पर

(१) बालो को अगुली पर लपेट कर कठ मे घिसें।

(२) कलिहारी की जड को पानी मे पीस कर गर्भिणी के हाथो पावो पर लेप करें।

तुंबीपत्र तथा लोध्र समभाग तु पेषयेत्।
तेन लेपो भगे कार्यो शीघ्र स्याद्योनिरक्षता ॥

दुग्ध पान Feeding

आहार पाक से बने रस के उत्तम भाग स्तनो में पहुच कर दूध बनाते हैं। पुत्र स्पर्श, दर्शन व स्मरण तथा ग्रहण से स्नेह स्वरूप दूध की उपस्थिति होती है।

दूध बढाने के लिए शाली चावल, गेहूँ का दलिया, लौकी, नारियल आदि दे।

शुद्ध दूध की परीक्षा—

जो दूध पानी मे मिल जाय व जिसमे रेखायें न पडे तथा रग मे सफेद हो व पतला तथा शीतल हो उसे शुद्ध समझे।

माता के दूध न होने पर आवश्यकतानुसार योग्य धाय को रखा जाय।

योग्य धाय के लक्षण—

अपनी जाति की मध्यम अवस्था की, अच्छे स्वभाव वाली, सदैव प्रसन्न, शुद्ध और बहुत दूध वाली, सन्तानयुक्त, बहुत प्रेममयी, थोड़े से सन्तुष्ट होने वाली, कपटरहित, बच्चे को अपना पुत्र समझने वाली हो।

दूध पिलाने की विधि—

दूध पिलाने के समय स्तन को धोकर कुछ निचोड कर धीरे से लेटा कर पिलावें। मा के दूध के अभाव मे बकरी या गाय का दूध पिलाया जाय। छठे या आठवें माह मे अन्न प्रदान सस्कार कराये। बच्चे को पाचवे वर्ष से ग्रास, ८वे वर्ष से वमन, १६वे वर्ष से विरेचन तथा २० वर्ष बाद शादी करावें।

अवस्था तीन प्रकार की होती है—

(१) बाल्यावस्था (२) युवावस्था और (३) वृद्धावस्था।

बाल्यावस्था के तीन भेद हैं—

(१) स्तनाद्यय (२) दुग्धान्नाद और (३) अन्नाद।

साधारण प्रसूतिका व उसके उपचार—

प्रसव के बाद ६ माह तक प्रसूतिकावस्था होती है। इस समय प्रसव से सूतिका की जननेन्द्रिया पूर्व अवस्था को प्राप्त करती हैं, अर्थात् उनका सकोच होता है। विकृति की स्थिति मे सकोचन भली प्रकार नही होता या अधिक सकोच हो जाता है। गर्भावस्था के पूर्व गर्भाशय का व्यास ३ इच गुणा २ इच व गर्भावस्था पूर्ण हो जाने पर ६ गुणा ८, प्रसव समाप्त होने पर ६ गुणा ४॥ से ३॥। प्रसव समाप्ति पर गर्भाशय नाभि व बिटपसधि के बीच में रहता है। प्रतिदिन १, १, अगुलि सकोच कर नीचे हो जाता है; सकोचन की प्रवृत्ति प्रथम प्रसूति मे शीघ्रतर होती है, सकोचन की न्यूनता से जमा रक्त की शुद्धि नही हो पाती जिससे मक्कलशूल हो जाता है। इसमे दशमूलक्वाथ यवाक्षार घृत के प्रक्षेप से देवें।

प्रसूतिकाकालिक स्राव Lochia

प्रसव के बाद गर्भाशय से २-३ सप्ताह तक स्राव होता रहता है। यह प्रारम्भिक ४

दिनो मे रक्त (फिर ३ दिन श्लेष्मामिश्रित रक्त) तथा बाद मे श्लेष्मा का स्राव होता है। यदि रक्त स्राव अधिक दिनो तक चले तो गर्भाशय का स्थान भ्रंश या सकोच ठीक नही हुआ समझे। इसके लिए गर्म जल का डूश देवें तथा लेटाये रखें।

स्तन—

पहले दो दिनो मे इनमें कोई अन्तर नही होता। तीसरे दिन वे अधिक भारी और रक्तपूर्ण हो जाते है और दूध गाढा व चिपचिपा होता है। इसके बाद शुद्ध निकलता है।

प्रसूतिका के विषय मे ध्यान रखने योग्य बातें

सूतिका की इन बातो पर ध्यान देना आवश्यक है.—नाडी, ताप, गर्भाशय की ऊचाई, सूतिकावस्था का स्राव, स्तन, मलत्याग का ठीक होना, मूत्र, आहार, निद्रा और कमरे में वायु तथा प्रकाश और बालक की दशा।

ताप—

प्रसव के १ घण्टे बाद तक ताप ९९ डिग्री होता है। दूसरे दिन साधारण हो जाता है। फिर भी ताप बना रहे तो इसकी चिकित्सा करें।

मूत्रत्याग—

योनि क्षत से मूत्रमार्ग की रगड़ द्वारा मूत्रावरोध हो जाता है। यदि अवरोध हो तो उष्ण जल का परिषेचन या सेंक करें। १२ घण्टे तक यही स्थिति रहे तो शलाका यन्त्र का प्रयोग करें।

मलबद्धता (आनाह)—

प्रसव के दूसरे दिन तक भी मलबद्धता हो तो २॥ तोला एरण्ड का तैल दें।

आहार—

द्रव्य प्रायः उष्ण स्निग्ध, मधुर आहार दें। प्रसव के बाद ५ दिन तक बिलकुल लेटे रहना चाहिए तथा दिन मे १-२ घटे तक पेट के बल उल्टे लेटना लाभदायक है। इसके बाद कभी कभी बैठा जा सकता है। तीन चार दिन तक पेट पर पट्टी बाधे रहना चाहिए। सूतिकावस्था की समाप्ति पर गर्भाशय की परीक्षा करें। यदि स्थान भ्रंश हो तो प्रेसरी का प्रयोग करे।

नवजात शिशु की परिचर्या

मल त्याग—एक या दो दिन तक बालक को काले रग का मल उतरता है जिसमे कोई जीवाणु नही होते। इसके बाद पीले रग का मल उतरता है। बालक दिन रात मे ३-४ वार मल व १०-१२ बार मूत्र त्याग करता है। मूत्र त्याग न हो तो गर्म जल से स्नान करावे।

नाल—

यह १०-११ दिन मे सूख कर गिर जाती है। इस पर अधिक पानी न लगने दें।

शिर शोथ—

दो चार दिन मे शिर का शोथ हट जाता है। यदि वह लम्बा या चपटा हो गया हो तो दो सप्ताह के बाद ठीक हो जाता है। त्वचा जन्म के समय लाल होती है फिर धीरे-धीरे साधारण वर्ण हो जाता है। पहले कुछ दिन तक बच्चे को दूध पीने के लिये जगायें शेष समय सोने दें। प्रारम्भ मे बच्चे को स्तन पर लगावें जिससे गर्भाशय सकोच तथा बच्चे को चूसना आता है। प्रारम्भिक गाढे दूध से विरेचन होते हैं, दूध आने पर ३-३ घन्टे बाद दूध पिलावें, दूध बारी बारी से पिलाना चाहिए। बालक को प्रति सप्ताह तोलते रहें, पहले दिन वजन घटता है फिर बढता रहता है ६ माह मे दूना व १ वर्ष मे तिगुना हो जाता है।

प्रसूता की व्याधियां—

प्रसूता के मिथ्या आहार विहार से जो व्याधिया पीडा उत्पन्न करती हैं वह कष्ट साध्य या असाध्य होती है। अतः पथ्य तथा नियम पालन आग्रहपूर्वक करने चाहिए प्रसूति को पीडाओ को प्रायः दशमूलक्वाथ, देवदार्व्यादिक्वाथ, तथा दशमूलारिष्ट आदि से ठीक हो जाती हैं।

गर्भावस्था की व्यापत्तियाँ

गर्भस्राव तथा गर्भपात—

गर्भ धारण से चार माह तक गर्भस्राव कहलाता है। इसके बाद स्थिर शरीर होने पर ५-६ आदि माहो मे गर्भपात कहलाता है। गर्भस्राव या गर्भपात मे यही अन्तर है कि कमल बनने से पहले गिरना गर्भस्राव कहलाता है तथा कमल बनने के बाद गिरने को गर्भपात कहते हैं।

कारण—

फिरगरोग, गर्भाशय स्थान, भ्रंश, अर्बुद अति व्यवाय उपवास, उछलना, दौड़ना आदि।

चिकित्सा—

गर्भस्राव या गर्भपात की आशका होने पर गर्भिणी को लेटाये रखें तथा चारपाई के पैरो की ओर से ऊँचा रखें, मानसिक तथा शारीरिक दोनो प्रकार का पूर्ण विश्राम दें।

उपविष्टक—

चार माह की गर्भिणी के जब उष्ण और तीक्ष्ण गुण वाले पदार्थों का सेवन तथा तत्काल काम करना, द्रव्यो के अधिक उपयोग के कारण रजास्राव होने लगता है। इससे

गर्भ पोषक वस्तु के निकल जाने से गर्भ नही बढ पाता अपितु सूखता जाता है और यह सूखा हुआ गर्भाशय मे पडा रहता है उसे उपविष्टक कहते हैं।

नागोदर—

उपवास तथा वात प्रकोप तथा कुत्सित (खराब आहार) करने वाली और स्नेह द्वेषिणी (घी से घृणा) करने वाली गर्भिणी का गर्भ सूख जाता है तथा बढता नही, यह गर्भ जीवित होता हुआ भी बहुत समय तक बिना फडके हुवे ही रहता है। इसे नागोदर कहते है।

चिकित्सा—

इन दोनो स्थितियो में जीवनीय बृहणीय द्रव्यो से सिद्ध घृत, दूध तथा आम गर्भ का प्रयोग करें तथा बारम्बार स्नान तथा आनन्ददायक सवारी से भ्रमण कर मन को प्रसन्न करने वाले इलाज करें।

लीन—

वात दूषित गर्भाशय मे जब गर्भ स्पदन नही करता तब उसे लीन कहते हैं।

चिकित्सा—

इसमे मछली, मास रस, उडद की दाल, मूली का यूष, घृत आदि दें और बला तैल से उदर वक्षण उरु कटि पर अभ्यग करें।

गर्भिणी को मूर्च्छा—

यदि आठवें माह मे उदावर्त सम्बन्धी विकार हो जाये तो गर्भिणी व गर्भ के लिये घातक होता है। ऐसी अवस्था में निरुहण बस्ति का प्रयोग करें।

मृतगर्भा—

ऊकडू बैठना, टेढा बैठना, कडे आसन पर बैठना, वायु, मूत्र और मल के वेगो को रोकना, क्रूर व्यायाम का सेवन करना तथा कम भोजन करने से गर्भकुक्षि में मर जाता है। या गर्भस्राव हो जाता है या गर्भ शोष हो जाता है।

लक्षण—

अन्तर्मृत गर्भ से गर्भिणी का उदर जकडा हुआ, तना हुआ, पेट मे ठडा पत्थर रखा हुआ के समान भारी होता है। फडकन नही होती, शूल बढता रहता है। आवी नही होती, योनिस्राव नही होता, दोनो आखें ठडी हो जाती हैं। आंखो के सामने अधेरा आ जाता है। चक्कर आते हैं। मूर्छा श्वासकृच्छता, पूतिगध, श्वेतवर्णता, तालुशोष, जिव्हाशोष, कम्प आदि होते हैं।

चिकित्सा—

गर्भ शल्य की चिकित्सा द्वारा पातन करा देना चाहिये।

विकृत गर्भ—

गर्भ की विकृति बीज दोष से, गर्भाशय दोष से, काल दोप से, पूर्व जन्म के दोप से, व अशुभ कर्मो से तथा माता के आहार-विहार के दोषो से गर्भ की आकृति वर्ण और इन्द्रियो मे विकृति हो जाती है।

मूढगर्भ—

मिथ्या आहार-विहार तथा गर्भ गिराने वाले द्रव्यो के सेवन से गर्भ अपने बन्धन (कमल) से छूट कर मर्यादा अतिक्रमण कर यकृत प्लीहा अन्त्र आदि स्रोतो से लटकता हुआ कोष्ठ मे क्षोभकर आपान वायु को विगुण कर देता है। गर्भ को अपथ्य-पथ्य से नही निकलने देता है। इसके निम्नलिखित चार भेद है :—

(१) कीलक (२) प्रतिखुर (३) बीजक (४) परिघ

(१) कीलक—हाथ पैर ऊपर और सिर नीचे।
(२) प्रतिखुर—हाथ पैर और सिर नीचे।
(३) बीजक—सिर के साथ एक हाथ का बाहर आना।
(४) परिघ—आड़ा।

मूढ गर्भ के आठ भेद—

(१) स्फिग्पादोदय (२) पादोदय (३) स्फिग उदय (४) पार्श्वावितीर्ण
(५) अ श हस्तस्कधोदय (६) जटिलोदय सिर को टेढा कर बाहुओ से
(७) प्रति खुर जटिलोदय (८) पाद जानूदय।

इनमे अन्तिम दो असाध्य हैं।

असाध्य मूढ गर्भ के लक्षण—

जो स्त्री सिर को अधिक हिलाती हो और हाथ पैर ठडे पड गये हो तथा बेहोशी से लज्जा का भान न रहा हो और शिरायें नीली व उभरी हुई हो गई हो और आक्षेपक भी आने लगे तो असाध्य समझे।

गर्भ स्थिति—

शुक्र और डिम्ब का सयोग या मिलन होने से गर्भ स्थिति बनती है और प्रत्येक महिने डिम्ब प्रणाली मे से एक डिम्ब परिपक्व हो कर आता है। अगर उस समय शुक्र और डिम्ब का सयोग हो गया तो गर्भ रह जाता है। असख्य शुक्रकीटो मे से जो बलवान कीट होगा उसी का डिम्ब के साथ सयोग होता है।

लड़की क्यों होती है—

आर्तवाधिक्य होने से लडकी पैदा होती है अथवा ५-७-९-११-१३-१५वी रात्रियो मे ऋतुकाल के दिनो मे आर्तवाधिक्य से फलन होने पर लडकी पैदा होती है।

लड़का क्यो पैदा होता है—

शुक्राधिक्य होने से लडका पैदा होता है। अतः ६-८-१०-१२-१६वी रात्रियो मे शुक्राधिक्य रहता है। इसलिए लडका पैदा होता है।

एक लड़की तथा एक लड़का पैदा होने का कारण—

कभी-कभी ईश्वर की कुदरत से दोनो डिम्ब प्रणालियो से डिम्ब एक साथ परिपक्व हो कर आने से और उसके साथ शुक्र कीटो का सयोग होने से एक समान जब दोनो हो जाते है तब एक लडकी व एक लडका दो पैदा होते हैं।

दो लड़के तथा दो लड़की पैदा होने के कारण—

दो शुक्र कीटो के साथ दो डिम्ब का सयोग होने से दो लडके पैदा होते हैं तथा दो डिम्ब एक साथ प्रणाली से छूटने पर लडकी पैदा होती है।

वायु से शुक्र के जितने विभाग होते हैं, १-२-३ इत्यादि उतनी ही सतान पैदा होती है।

प्रसव विलम्ब के कारण—

गर्भगत शिशु का पोषण माता के आहार पर निर्भर है। अत' जो स्त्री स्निग्धपदार्थों से द्वेष करती है या कोई केन्सर या रक्त गुल्म आदि की भयानक बिमारी होने के कारण शिशु का पोषण ठीक न होने के कारण प्रसव मे विलम्ब होता है और गर्भ सूखने लग जाता है। फिर बाद मे फलघृत आदि स्निग्ध व सुयोग्य चिकित्सा मिलने पर चिर काल के बाद बढ कर प्रसव होता है।

यमल गर्भ मे एक का बढ़ना तथा दूसरे का सूखना—

प्रथम बात यह है कि एक तो बीज पक्व होता है और दूसरा बीज अपक्व होता है। इसलिये उसकी वृद्धि नही हो पाती, फिर उस बालक के यानि भ्रूण के भाग्य भी अच्छे नही होते हैं। ऐसी स्थिति मे वह गर्भ तो सूख जाता है तथा दूसरा फिर वृद्धि को प्राप्त हो जाता है।

रजो विकृति—

यह आठ प्रकार से होती है'—

१. वायु २. पित्त ३ कफ ४. रक्त (कुणप गधी और अनलप) ५ वात पित्त (क्षीण) ६. वात कफ (गथिभूत) ७. कफ पित्त ८. सन्निपात (मूत्र पूरीष गधी)।

इनमे उपरोक्त एक दोषज साध्य है। जिनमे दोष विपरीत औषधियो के कल्क, पिचु तथा प्रक्षालन का उपयोग करें शेष असाध्यता को प्रकट करते हैं। अर्थात गर्भाशय ग्रीवा मे अथवा अपत्य पथ मे अर्बुद आदि के कारण से इस प्रकार की स्थिति बना देते हैं।

असृग्दर—

अति प्रसग आदि कारणो से ऋतुकाल के बिना भी आर्तव प्रवृति हो जाना असृग्दर कहलाता है।

लक्षण—

अगमर्द वेदना, दुर्बलता, भ्रम मूर्च्छा, आखो के सामने अधेरी आना, प्यास अधिक लगना, शरीर मे जलन होना, पाण्डुता, तन्द्रा आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—

रुग्णा को विश्राम देवें तथा नागकेशर, योग, लाक्षादि चूर्ण, प्रवालपिष्टी, द्राक्षावलेह, कपर्दभस्म, स्फटिक भस्म तथा कहरबापिष्टी आदि उपयोगी है।

नष्टार्तव—

वात, पित्त, कफ, आदि दोषो से आर्तववही स्रोतो मे अवरोध पैदा कर आर्तव नष्ट कर देते हैं। ऐसी स्थिति मे कुलथी, तिल, उड़द तथा सुराओ का प्रयोग करें।

उपदश, आतशक, फिरग, गर्मी, सिफलिस

परिचय—

यह चिरस्थाई सासर्गिक रोग हैं जिसमें जननेन्द्रिय पर व्रण बनता है वही से कीटाणु रक्त मे फैलते हैं।

कारण—

स्फाइरोचिटम पैलीडम कीटाणु हैं जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति मे मैथुन द्वारा जाता है, जिनमे प्रथमावस्था मुख्य कारण है।

सम्प्राप्ति—

प्रथमावस्था :—जीवाणु पृष्ठ स्थान पर व्रण शोथ तथा लसीका ग्रथियो को बढा देते हैं।

द्वितीय अवस्था :—६ माह में जीवाणु रक्त में पहुच कर स्थान दो पर व्रण तथा लसीका ग्रथि वृद्धि कर देता है।

तृतीय अवस्था :—दो वर्ष बाद होती है।

परिपक्व काल—

१ से ३ सप्ताह सीमा १० से ६० दिन।

लक्षण—

सक्रम स्थान पर छोटा दाना बना कर अडाकार व्रण बटन जैसा होता है। पी-ा नही होती, समीप की लसीका ग्रन्थि बढ जाती है।

(२) द्वितीय लक्षण—

४ से १० सप्ताह बाद उदर पर सूक्ष्म गुलाबी रग की पिड़िकायें बन कर ताम्र वर्ण की हो जाती हैं। मन्द अनियमित ज्वर कठ, पाक, इन्द्रलुप्त, स्फोट (फाला) रक्त न्यूनता बढ जाती है। धमनियां दृढ, रज्जुवत तथा हृदय।

(३) यकृत प्लीहा फुफ्फुस आदि मे ग्रथिया हो जाती हैं।

(४) मस्तिष्क धमनियो मे सौत्रिक तन्तु बढ कर अवरोध पैदा करते हैं जिससे पक्षाघात अपस्मार मूर्च्छा उन्माद स्त्रियो मे गर्भपात होता है।

योनि व्यापद—

कारण—मिथ्या विहार, आर्तव दोष, बीजदोष अथवा दुर्भाग्य से बीस प्रकार के योनि रोग होते हैं।

(१) उदावर्ता—झाग के सहित कष्टार्तव का होना।

(२) बन्ध्या—आर्तव नाश होना।

(३) विप्लुता—व्यवाय में अधिक पीडा होना।

(४) परिप्लुता—स्पर्श मे कठोर स्तब्ध शूल तोद होना।

(५) वातला—दाह के साथ आर्तव प्रवृत्ति।

(६) लोहितक्षया—पुबीज व स्त्री बीज का वमन करने वाली।

(७) प्रस्र सिनी—इसमे क्षुब्ध हुआ गर्भाशय का स्थान भ्र श हो जाता है। अत. यह दुखप्रदायनी है।

(८) वामिनी—पुबीज व स्त्री बीज का वमन करने वाली।

(९) पुत्रघ्नी—जिनमे बार बार गर्भस्राव होता रहता है।

(१०) पित्तला—इसमे दाह, पाक, ज्वर आदि रहता है।

(११) अत्यानन्दा—व्यवाय से सतुष्ट न होना।

(१२) कर्णिका—कफ रक्त से मास की किनार हो जाना।

(१३) अचरणा—शीघ्र स्खलन होना।

(१४) अतिचरणा—स्खलन न होना।

(१५) कफजा—पिच्छिल कण्डू युक्त तथा अति शीतल होना।

(१६) षंडी—अनार्तवा अस्तनी तथा खरस्पर्शा।
(१७) अडली—फल का बाहर आ जाना।
(१८) सूचिवक्त्रा—सकुचित मुख वाली।
(१९) विवृता—महामुखी यानी बडे मुख वाली।
(२०) सन्निपात—इसमे सब लक्षण होते हैं।

रक्तज गुल्म—

कारण—वातल द्रव्य गुण कर्मों का ऋतुकाल मे नव प्रसव मे योनि रोगो मे सेवन करना।

सम्प्राप्ति—

इससे वायु कुपित हो गर्भाशय मे आर्तव को रोक कर गर्भ लक्षण के समान हृल्लास, दौर्हृद, स्तन्य दर्शन क्षमता के समान कुक्षि वृद्धि होती है। इसकी चिकित्सा १० माह बाद करनी चाहिए।

हिस्टीरिया योषापस्मार—

मष्तिष्क की संज्ञावह तथा चेष्टा वह सूत्रो से सम्बन्ध टूट जाता है।

कारण—

पेलव प्रकृति अदृढ संकल्प सहनशीलता की कमी रक्तक्षय, अजीर्ण, शोक, उद्वेग, गर्भाशय विकार, निष्ठुर व्यवहार।

सम्प्राप्ति—

वात सस्थान विकृति मनोक्षेत्र मे सम्बन्ध टूट जाना।

पूर्वरूप—

हृत् पीडा जृम्भण मनः साद।

लक्षण—

(रूप) क्रन्दन रोदन प्रलाप, भ्रम, कठ पीडापुर पीडा श्वास कृच्छ्रता मिथ्या गुल्म प्रतीति।

सोमरोग—

कारण—मधुर रस का अति उपयोग श्रम का अभाव दिवास्वप्न आदि कफकारी द्रव्यो का सेवन।

सम्प्राप्ति—

शरीर मे कफ के द्रवत्व गुण की वृद्धि हो जाती है। और वृक्को द्वारा यह अधिक द्रवत्व बहार निकाल दिया जाता है।

लक्षण—

बहुमूत्रता दुर्बलता तृष्णा अधिक भूख लगना मूर्च्छा आदि लक्षण होते हैं।

गर्भाशय अर्बुद—

केन्सर का पर्यायवाची शब्द केकड़ा है। जिन अर्बुदो का प्रसार केकड़े की तरह हो उन्हें केन्सरक हा जाता है।

अर्बुद—

शरीर मे किसी भी स्थान पर हुई कठोर वेदनारहित धीरे धीरे बढने वाली अचल शोथ को अर्बुद कहते हैं।

अर्बुद की सूक्ष्म रचना—

गर्भस्थ शिशु की वृद्धि के समान अबुर्द कोषो में भी निरन्तर वृद्धि होती रहती है। परन्तु अर्बुद के कोषो मे विलक्षणता होती है।

१. कोषो की मिंगी बढ जाती है।

२. कोषाम्बु घट जाता है।

३. इसके निर्मित तन्तु अवोभूति के होते हैं।

४. इसका उपयोग देह के लिए उपयोगी न होकर अनुपयोगी होता है।

५. ये समीपस्थ तन्तुओ का आहार छीनते रहते हैं और स्वय बढते जाते हैं, इससे पास के तन्तु छीजते जाते हैं।

अर्बुद दो प्रकार के होते हैं—

१. साधारण		२. घातक

साधारण अर्बुदो में आवरण होता है किन्तु घातक अबुर्द मे आवरण नही होता, और यह केकडे के पजे के समान समीपवर्ती तन्तुओ मे प्रसार करते रहते हैं। केन्सर प्रायः दो स्थानो मे होता है। गर्भाशय ग्रीवा और गर्भाशय गात्र।

यह रोग प्राय. ४० से ५५ वर्ष की आयु के मध्य मे होता है और प्रायः उन स्त्रियो के अधिक होता है जिनके अधिक गर्भपात हुए हो।

प्रथमावस्था—

प्रारम्भ मे एक ग्रन्थि सी होती है और प्राय अनियमित आर्तवस्राव होता रहता है।

द्वितीयावस्था—

इस अवस्था मे ग्रथि बढ कर ग्रंथि मे क्षत हो जाता है। जिससे मूत्रपूरिषगधि या पूति पूयनिभ योनिस्राव होता रहता है और निरन्तर अर्बुद बढता जाता है।

तृतीयावस्था—

इस अवस्था में अर्बुद में शीर्णता हो जाती है। अगुली परीक्षा से स्पर्शन करने से स्रावाधिक्य तथा अबुर्द के टुकड़े निकलने लगते हैं और यह बढता हुआ अर्बुद मलाशयादि में क्षत पैदा कर देता है और साथ ही लसीका वाहिनियो द्वारा यकृत फुफ्फुस आदि में अध्यर्बुद उत्पन्न कर रोगी की ईह लीला समाप्त कर देता है।

श्वेत प्रदर की सफल चिकित्सा

लेखिका—वैद्या मनोरमा आचार्य, जोधपुर

[श्री मनोरमा देवी वैद्या चरित्रनायक की आयुर्वेदीय शिष्यों में से है। आप अपने पतिदेव श्री बुद्धिप्रकाशजी आचार्य के साथ आचार्य आयुर्वेदाश्रम की रसायनशाला तथा महिलाविभाग की प्रधान चिकित्सिका का कार्य कर रही हैं। आपने अपने कार्यक्षेत्र में आने वाले बहुप्रचलित श्वेत प्रदर पर पठनीय लेख लिखा है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी सपादक]

भूमिका—
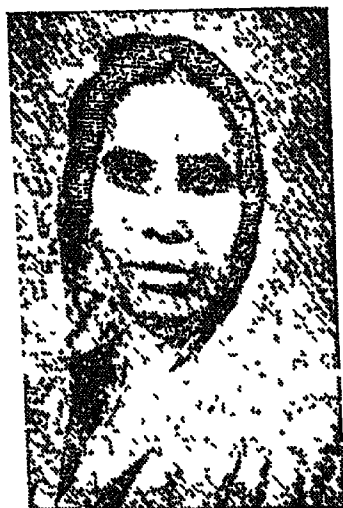
हमारे देश मे चिरकाल से ही स्त्री जाति के प्रति उपेक्षा तथा आलस्य बरतने की कुप्रथा चली आ रही है, जिसके फलस्वरूप हमारी अनेक बहिनें घोर रोगो का घर बनी पाई जाती है। अशिक्षा, पिछड़ापन, लज्जा, (अनावश्यक) तथा दरिद्रता आदि कारणो से बहिनें जीवनपर्यंत अपने गुप्त रोगो को प्रकट नही करती; यहा तक कि वे अल्पकाल से अपनी जीवन लीला ही समाप्त कर बैठती हैं। श्वेत प्रदर ऐसा ही एक गुप्त रोग है। लगभग ९० प्रतिशत बहिने इस रोग से ग्रसित पाई जाती हैं; किन्तु अधिकतर यही देखा जाता है कि वे वर्षों तक इस रोग को नही बताती व जब रोग असाध्य प्रायः हो जाता है तो चिकित्सा करवाने का विचार करती हैं। अस्तु, महिला जगत की जानकारी व लाभार्थ मे इस रोग का परिचय एव सफल चिकित्सा अपने अनुभवानुसार प्रकाशित करती हूँ।

श्वेत प्रदर क्या है—

आयुर्वेद के आचार्यों के वचनानुसार जिसमे महिला के शरीर की शक्ति व पोषक तत्व अधिकता से बाहर निकलते जाय, उसे 'प्रदर' कहते हैं। योनि मार्ग से होने वाला यह प्रसक्रमक स्राव 'सफेदा' नाम से लोक मे प्रसिद्ध है।

कारण—

(१) शोक, अतिचिन्तन, गरम, दाहकारक, नमकीन, चरपरे, खट्टे पदार्थों का अधिक सेवन, अधिक व्रत करना, अजीर्ण, संयोग व मात्राविरुद्ध भोजन, बार-बार गर्भ-

पात, मद्यपान, आनाह, अतिव्यवाय क्रोध, मासिक समय से पूर्व ही श्रोण अधिरक्तता, भार उठाना, चोट लगना, दिन मे सोना, मन को उत्तेजनादायक चलचित्र, (सिनेमा) अश्लील गीत व उपन्यास आदि कारणो से दोषानुसार यह रोग कफ, पित्त, वात व सन्निपात भेदो से चार प्रकार का होता है।

(२) गर्भवर्त्म, गुप्ताग व गर्भाशय के बीच मे एक पतली सी झिल्ली होती है और उसके ऊपर अनेक पतली-पतली गिल्टिया होती हैं जिनमे से उक्त भागो को स्वस्थ रखने के लिए ३ प्रभवो से पानी रिसता है।

(क) गर्भाशय को रेखाकित करने वाली ऊति परकी अन्त गिल्टियो से। ये मासिक धर्म के समय मे बनती हैं व शुद्धि पर बिखर जाती हैं।

(ख) गर्भाशय से गुप्ताङ्ग मार्ग की ओर के ग्रैवेय भाग की गिल्टियो से। ये सकड़े रध्रो को घेरने वाली मोटी पेशियो से बनी होती हैं।

(ग) योनि अधिच्छदीय भाग से।

प्रथम प्रभव से थोडा व तरल स्राव होता है, द्वितीय से गाढा व अडे की सफेदी जैसा, व तृतीय से जल सदृश प्रवाह होता है। स्वस्थावस्था मे ऐसे स्राव केवल उन अगो के स्नेहनयोग्य मात्रा तक मर्यादित रहते हैं किन्तु रुग्णावस्था मे पूर्वोक्त आवरण मे शोथ हो जाती है व रिसने वाले पदार्थ की मात्रा बढ जाती है।

वैज्ञानिको ने केवल स्राव परीक्षा से ही इस रोग के सम्बन्ध मे बहुत ज्ञान प्राप्त कर लिया है। उनके अनुसार डोडरलीन दण्डाणुओ की विद्यमानता से साधारणतया योनिस्राव अम्लीय होता है, किन्तु वह अम्लता उपरोक्त एव आगे बताये जाने वाले कारणो से घट जाती है व स्राव की मात्रा व प्रकृति मे अतर आ जाता है। ऐसी दशा मे pH भी ४ ४ डेटर से ५ ६ या उससे भी अधिक बढ जाता है व वही रोग का कारण हो जाता है।

उनके मतानुसार गर्भनिरोधक कृत्रिम उपकरणो के विजातीय द्रव्यो के अन्दर रह जाने से, गर्भाशय व योनि के मध्य भाग मे शल्यक्रिया, व प्रसव के समय हुए आघात, हारमोन्स का तीव्र उत्सर्जन, अस्वच्छता, आतो के सक्रमण, प्रजनन-प्रदेश मे ट्राइकोमोनस नामक जीवाणुओ के सक्रमण, उपदश, फिरग व क्षयादि रोगो के सक्रमण, कर्कटार्बुद, गर्भाशय की ग्रीवा की भित्ति व मृदु गिल्टियो को क्षति पहुचाने, ऊतिज-गिल्टियो मे अनावश्यक वृद्धि व जननेन्द्रिय मे अधिरक्तता आदि, एव पूर्वोक्त कारणो से अशक्ति, रक्ताल्पता व पोषक तत्वो की कमी आ जाती है तथा स्राव की शीर्णता हा चे है व pH बढ कर यह रोग उत्पन्न होता है। कभी-कभी पूयस्राव भी होने निकलने लगते हैं अ।

राष्ट्रीय रोग "मिलावट ही लसीका वाहिनियो तथा दम्पति स्वभाववैषम्य भी इस रोग के कारण होते है। ा समाप्त कर देता है।

तैल की मालिश करने व एक घण्टे बाद स्नान करने की सलाह दी गई और निम्नलिखित चिकित्सा के अतिरिक्त अन्य चिकित्सा या उपचार बन्द करवा दिये गये।

नित्य पेट मे ली जाने वाली औषध व्यवस्था—

(१) प्रात ७ बजे—असली नागकेशर चूर्ण १॥ माशा तक्र के साथ।

(२) प्रात. ८ बजे—प्रदरतरुकुठार[1] अवलेह १॥ तोला चाटना।

(३) भोजन के बाद दोनो समय लोध्रासव १॥-१॥ तोला तथा अशोकारिष्ट १॥-१॥ तोला, पानी ३ तोला के साथ २-२ गोली चन्द्रप्रभा वटी लें।

(४) साय ७ बजे—कपास की जड १॥ माशा चावलो के धोवन[2] के साथ लें।

(५) सोते वक्त—जिस दिन कब्ज हो—स्वादिष्ट विरेचन ४ माशा, दूध से।

आवश्यकतानुसार प्रक्षालनार्थ

लोध्र १। तोला, अशोक १। तोला इन्हें दरदरा कर १ सेर पानी मे औटावें। ३-४ उफान आने पर टकण पुष्प (बोरिक) ४ रत्ती का प्रक्षेप करें व छान कर उपयुक्त पिचकारी द्वारा धोवे।

तत्पश्चात्

माजूफल १ तोले का वस्त्रपूत चूर्ण कर उसमे १॥ रत्ती कपूर मिलावें व इस मिश्रण को घी मे मिला कर मरहम बनालें। इसमे साफ रूई का फाहा भिगो कर योनि के अन्दर रखा जाय।

उक्त चिकित्सा व्यवस्था से ८० प्रतिशत रुग्णाए रोगमुक्त हुई हैं, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट होगा।

---

(१) **प्रदरतरुकुठार—**

सालम, अशोक छाल, श्वेत मूसली व शतावर इनका वस्त्रपूत चूर्ण १-१ तोला, विदारीकद, माजूफल, चूनियागोद, कपास की जड, प्रत्येक का वस्त्रपूत चूर्ण आधा-आधा तोला व सीतोपलादि चूर्ण ३ तोला। इन्हें मिलाकर १ दिन शुष्क मर्दन कर ३० खुराके बनाले। नित्य १ मात्रा मे २ तोला शहद, आधा तोला असली घी, २ तोला मिश्री व १ केला पका हुआ मिलाकर अवलेह बनावें। नित्य ताजा ही अवलेह बनाया जाय।

(२) **चावलो का धोवन—**

चावल कुचले हुए २ तोला को १६ तोला पानी मे भिगोवें तथा दो घण्टे बाद मसल छान कर वह पानी काम मे लें।

परिणाम तालिका

परिणाम	प्रथम सप्ताह मे	द्वितीय सप्ताह मे	तृतीय सप्ताह मे	चतुर्थ सप्ताह मे	पचम से नवम् सप्ताह मे	कुल	प्रतिशत	कुल योग प्रतिशत मे
उत्तम	६	१८	१५	२	५	४६	६७%	
मध्यम	×	×	५	२	२	६	१३%	
								८०%

किसी भी रुग्णा मे कोई भी उपद्रव या अन्य दर्प आदि नही देखे गये।

सिद्ध चिकित्सा व्यवस्था सख्या २

उक्त दो वर्षों के समय मे ५० सोपद्रव श्वेतप्रदर से पीडित विभिन्न रुग्णाओ पर निम्न ('क' से 'च' तक) ६ प्रयोग सफलतापूर्वक किए गये। इनमे से,

(क) १४ रुग्णायें अतिव्यवायजन्य जननेन्द्रिय निर्बलता के उपद्रव सहित थी, जिनके सीने चिपके हुए मालुम देते थे व मासिक कम होता था।

(ख) ४ रुग्णायें उक्त उपद्रवो के साथ ही कास व ज्वरपीडित थी।

(ग) ४ रुग्णायें गर्भपात से हुई जननेन्द्रिय निर्बलता व सचिक्कणस्राव उपद्रवो से युक्त थी।

(घ) ४ रुग्णायें श्लैष्मिक कला द्वारा होने वाले स्राव व जहाँ वह स्राव लगे फुन्सिया हो जाना व खुजली चलना आदि उपद्रवो युक्त थी।

(ङ) ५ रुग्णायें मानसआघात जन्य क्षोभ से दाह, क्रोधी स्वभाव वाली व हिस्टीरिया आदि उपद्रवो वाली थी।

(च) १९ रुग्णायें जीर्ण प्रदर से पीड़ित थी।

इन मे १३ से २१ वर्ष की आयु वाली १५, २० से ४५ वर्ष वाली ३०, व ४५ वर्ष से अधिक आयु वाली ५ रुग्णायें थी। प्रथम वर्ग मे अविवाहित १० व विवाहित ५ थी, द्वितीय वर्ग मे १ अविवाहित, ३ विधवाए व २६ दो से अधिक सतान वाली सौभाग्यवती बहिनें थी व तृतीय वर्ग मे १ विधवा, १ वन्ध्या व ३ दो से अधिक बच्चो वाली थी। इसी तरह प्रथम वर्ग में १० पढने वाली व ५ गृह कार्य करने वाली थी, द्वितीय वर्ग मे २८ गृह कार्य करने वाली व २ मजदूरी करने वाली थी।

इन्हे भी चाय, कॉफी आदि व्यसन छोडने, सूर्य नमस्कार, घूमना, चक्की चलाना आदि व्यायाम कर महाचन्दनादि तैल की मालिश के १ घटे पश्चात् स्नान करने व निम्न चिकित्सा के अतिरिक्त सभी उपचार बन्द कर देने का आदेश दिया गया।

औषध व्यवस्था (क) १४ रुग्णाओं के लिये पेट मे लेने की—

(१) प्रातः ७ बजे—वट दुग्ध[1] ७ बूंद बताशो मे डाल कर लेना व ऊपर धारोष्ण दूध १ पाव पीना।

(२) प्रातः ८ बजे—बग भस्म १॥ रत्ती, प्रदरतरुकुठार अवलेह १॥ तोला से।

(३) भोजन के पश्चात् चन्द्रप्रभा वटी २-२, प्रातः लोध्रासव १॥ तोला, पत्रागासव १॥ तोला, पानी ३ तोला व साय अशोकारिष्ट २॥ तोला+पानी २॥ तोला के साथ।

(४) रात्रि ८ बजे—मायाफलादि चूर्ण[2] २॥ माशा अशोक पायस[3] से।

(५) सोते समय यदि कब्ज रहे तो स्वादिष्ट विरेचन या एरण्ड तैल मे सिका जो हरड़ का चूर्ण ४ माशा निवाये पानी से।

(ख) (ग) (घ) (ङ) व (च) ग्रुप में केवल औषधि न० २ के स्थान पर क्रमशः (ख) में स्वर्ण वसतमालती १ रत्ती+सीतोपलादि १ माशा+गिलोय सत्व ४ रत्ती+कात-जहरपिष्टी १॥ रत्ती, प्रवालपिष्टी २ रत्ती मक्खन मिश्री से (ग) मे त्रिबगभस्म १॥ रत्ती+ बसतकुसुमाकर रस ४ रत्ती मधु के साथ, (घ) में कामदूधामुक्तायुक्त ३ तीन रत्ती, विद्रुम भस्म २ रत्ती, अमृतासत्व ४ रत्त माखन मिश्री के साथ, (ङ) में प्रदरारिरस ४॥ रत्ती (रस योगसागरोक्त प्रथम प्रकार) मधु से और (च) से प्रात. प्रदरान्तक लोह ३ रत्ती, (रसयोग सागरोक्त द्वितीय प्रकार) प्रवालपिष्टी २ रत्ती, अमृतासत्व ४ रत्ती, सुवर्ण बग २ रत्ती, सुवर्ण माक्षिक १ रत्ती, मधुकाद्यवलेह ६ माशा के साथ दिये गये व साय ४ नबर के स्थान पर वसतकुसुमाकर ३ रत्ती व रत्नप्रभावटिका २ रत्ती दुग्ध से एव अन्य चार औषधिया ग्रुप (क) वाली ही दी गईं। आवश्यकतानुसार प्रक्षालनार्थ एव अन्दर रखने वाली निरुपद्रव प्रदर चिकित्सा मे प्रयुक्त पूर्वोक्त औषधिया दी गईं।

---

१. वटदुग्ध—प्रात काल ही ठीक निकलता है, विलम्ब करने पर नही मिलता।

२ माजूफल ५ तोला, अश्वगधा २॥ तोला, आंवले की मज्जा २॥ तोला, कुक्कुटाण्डत्वक् भस्म १॥ तोला, तुवरी भस्म १। तोला और मिश्री १३ तोला का वस्त्रपूत चूर्ण मायाफलादि चूर्ण है।

३. अशोक पायस—कुचली हुई अशोक छाल २ तोला, दूध १ पाव, पानी १ पाव, शक्कर (यथेष्ट) इसे इतना उबालें कि केवल दूध शेष रह जाय तब छान कर काम मे लें।

परिणाम-तालिका

ग्रुप	परिणाम	सप्ताहों मे								कुल	प्रतिशत लाभ	स्थूल प्रमाण में प्रतिशत लाभ
		१	२	३	४	५	६	७	८वें			
(क)	उत्तम	०	१	०	१	४	२	०	१	९	८०	
	मध्यम	०	०	०	१	१	०	०	०	२		
(ख)	उत्तम	०	०	०	१	०	०	१	०	२	७५	
	मध्यम	०	०	०	०	०	१	०	०	१		
(ग)	उत्तम	०	०	०	०	१	०	०	०	१	५०	
	मध्यम	०	०	०	०	०	०	१	०	१		
(घ)	उत्तम	०	०	०	१	०	०	१	०	२	७५	७०
	मध्यम	०	०	०	०	१	०	०	०	१		
(ङ)	उत्तम	०	०	०	०	०	१	०	०	१	४०	
	मध्यम	०	०	०	०	०	०	१	१	१		
(च)	उत्तम	०	०	६	२	३	१	२	१	१५	९०	
	मध्यम	०	०	०	०	१	०	०	१	२		

किसी भी रुग्णा मे कोई उपद्रव प्रकट नही हुआ।

द्रव्यशक्ति

लेखक : द्रोणाचार्य, वैद्यवाचस्पति, M. Sc. A.

[वैद्यराज श्री द्रोणाचार्य, वैद्यवाचस्पति स्वर्गीय आयुर्वेदवृहस्पति भारतभूषणजी वर्मा के उत्तराधिकारी हैं। महाराजा आयुर्वैदिक महौषधालय, जोधपुर के आप प्रधान चिकित्सक हैं। मारवाड आयुर्वेद प्रचार-सभा, जिसका कि मारवाड की प्राचीन संस्थाओं में अग्रणी स्थान है, के आप अध्यक्ष हैं। आपके द्वारा मारवाड की अनेक सार्वजनिक संस्थाओं का संचालन होता रहा है और हो रहा है। अनेकों वर्ष तक आप जिला कांग्रेस के प्रधान मंत्री रहे हैं। चरित्रनायक के आप आयुर्वेदीय शिष्य हैं। आपके द्वारा लिखित 'द्रव्य-शक्ति' नामक लेख पठनीय एवं मननीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आचार्य सुश्रुत ने चिकित्सा की दृष्टि से रोगो के दो भेद किए हैं जिनमे (१) शस्त्र साध्य तथा दूसरे स्नेहादि क्रिया साध्य—इनमे प्रथम प्रकार के रोगो की चिकित्सा आज वैद्य जगत मे से सर्वथा विलुप्त हो ही चुकी है। रही दूसरे प्रकार के रोगो की चिकित्सा जिसमे अभी बहुत कुछ कार्य करना अवशिष्ट है, यह आवश्यक है कि इसके बारे मे आयुर्वेद के आचार्यो ने अपने जीवन मे अनुभूत व परीक्षित सूत्र हमे थाती के रूप मे दिए हैं। यह भी आवश्यक है कि हम आलस्य या अकर्मण्यता के वश मे तथा आधुनिक युग की चकाचौंध के कारण दिशा-भ्रम मे बहने लग गए हैं परन्तु शाश्वत आयुर्वेद की प्रतिज्ञा का प्रतिपादन करने वाले आचार्यो ने भाव स्वभावनित्य तथा स्वभाव संसिद्ध लक्षण का ऐसा पाठ हमे दिया कि हम चाहे कितने ही भ्रान्त या पथभ्रष्ट हो जाँय परन्तु समय अवश्य ही आएगा अथवा हमें समय वहां पहुचा देगा कि इसके बिना गति सम्भव नही क्योकि आज हमारी स्थिति कालिदास के शब्दो में पर प्रत्ययनेय बुद्धि हो जाने से जो भी शब्द या वाक्य इंग्लैंड अथवा अमेरिका से प्राप्त होते हैं वे हमारे लिए बाबा वाक्य प्रमाणम् हो रहे हैं—यह स्थिति अधिक समय तक नही चल सकती क्योकि हमने हमारे रोग-निदान तथा चिकित्सा को ही नही विस्तृत करते जा रहे हैं परन्तु अब तो द्रव्यगुण शास्त्र भी पाश्चात्यो के लिखने अनुसार निर्माण करते जा रहे हैं जब कि आचार्य ने स्वभाव संसिद्ध

लक्षण कर द्रव्य की वे ही शक्तिया जिन पर बहुत विचार तथा शास्त्रार्थ किया जाकर निर्णीत हुई। उन्हे उस समय सर्व सम्मति से मान्य सिद्धातो के रूप मे प्रतिपादन किया। द्रव्य को समझनेव समझाने अथवा प्रयोग करने के लिए द्रव्य की शक्तियो का ज्ञान करना निहायत जरूरी होता है। इसमें प्रथम शक्ति है रस रस्यते आस्वाद्यते अथवा तर्क सग्रह मे बताए गए 'रसना ग्राह्यो गुणो रसः' जो हमारी जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय द्वारा आस्वादन किया जाय उसे रस कहते हैं। ये छः हैं। इनका विश्लेषण भी बडे ही वैज्ञानिक ढग से किया है अर्थात् इनकी उत्पत्ति यद्यपि जल महाभूत की विशेषता से पृथ्वी के अधिष्ठान मे होती है परन्तु दो दो महाभूतो के मिश्रण छ रसो की उत्पत्ति कहते हुए यह वैज्ञानिक तथ्य और बताया कि सूर्य अथवा यो कहिए कि पृथ्वी की परिक्रमा से आदान तथा विसर्ग काल की छ ऋतु बनती हैं और इनमे से एक एक ऋतु एक एक रस वाले द्रव्यो की प्रधान जनयित्री है। अभिप्राय यह हुआ कि छ ऋतुओ से छः रस बनते हैं। इनमे न कम हो सकते हैं न अधिक क्योकि हमारे भारतवर्ष मे ऋतुऐं छ हैं।

दूसरी द्रव्य की शक्ति है गुण। गुण तीन प्रकार के होते हैं—सामान्य गुण, वैशेषिक गुण तथा आत्मगुण—इनकी सख्या २०, २४ तथा ४० भी हो सकती है—ये गुण यद्यपि रसों के बताए हैं फिर भी गुणा गुणाश्रयाः नोक्ता.—अत. रसगुणान् भिषक् विद्याद् द्रव्यगुणान् वाक्य के अनुसार द्रव्य की द्वितीय शक्ति जो द्रव्य मे समवाय सम्बन्ध से रहती है तथा एक गुण दूसरे गुण की वृद्धि या ह्रास मे कारण बन जाता है परन्तु क्रिया इसमे नही।

> तद् द्रव्यमात्मना किंचित्किंचिद्वीर्येणसेवितम्।
> किंचिद्रसवियाकाभ्या दोषहन्ति करोतिवा॥

द्रव्य, द्रव्य प्रभाव से वीर्य प्रभाव से रस-प्रभाव से अथवा विपाक प्रभाव से, गुण प्रभाव से क्रियाएँ करता रहता है।

वीर्य दो हैं: शीत तथा उष्ण क्योकि यह जगत् अग्निसोमीय है अथवा प्रकृति पुरुष-मय इस ससार मे जिस प्रकार दृश्य जगत् द्वैध से अतिरिक्त नही हो सकता इसी तरह शक्ति प्रधानता को आदान व विसर्गकाल इस भूमण्डल पर सूर्य के द्वारा बनता है तद्वत् दो ही शक्ति स्वरूप वीर्य बताया गया है।

> नावीर्य कुरुतेकिंचित्सर्वा वीर्य कृता क्रिया।

विपाक मधुर, अम्ल कटु तीन या मधुर तथा कटु दो प्रकार का पक्वीकरण की प्रक्रिया से द्रव्यो के विशेष दो गुणो से विपाक लक्षण की उत्तमता, मध्यमता तथा निकृष्टता जानी जाती है।

द्रव्यो के रस गुण वीर्य विपाक को बता कर इनके विचित्र प्रभावो को देखकर इनके दो भेद किये जाते हैं .—

(१) प्रकृति सम समवायारब्ध

(२) विकृति विषम समवायारब्ध

द्रव्य अपने स्वभाव से प्रसिद्ध है तथा शास्त्र मे जिनके व्यवहार करने का वर्णन कर दिया है अतः उनके हेतुओ पर मीमांसा करना सगत नही ।

इन बातो को समझाने वाली प्रयोगशाला आज आयुर्वेद के छात्र तथा आयुर्वेद के अहमानियो मे नही रही है, नही इनके विवेंचन व विश्लेष तथा प्रतिपादन का पन्था अवलोकित रहता है यद्यपि इनके बारे मे द्रव्यो के निपात अर्थात् जिह्वा सयोग से रस का तथा वीर्य, विपाक, गुण तथा प्रभाव के बारे में कहा परन्तु अब उनकी इस प्रयोगशाला को जिसका कि उन्होने अन्वेषण किया वह आज लुप्त सी होती जा रही है तथा हम मार्ग से विमार्ग की ओर बढ रहे हैं । उनके लिए इस प्रयोगशाला की रूपरेखा को खोज निकाल सर्व प्रथम तथा आयुर्वेद कल्याण का पन्था होगा । जो इसे खोज कर देगा वही आयुर्वेद विज्ञान का सच्चा मार्गदर्शक होगा । इसमे दो राय नही हो सकती ।

गुण तीन

१	गुरु	Heavy	बृंहण करने वाले द्रव्य	गौरव, निद्राधिक्य	पार्थिव	कफ	
२	मन्द	Slow	शमन ,, ,, ,,	आलस्य, चिरकारिता		कफ	
३	शीत	Cold	स्तम्भन ,, ,, ,,	बल्यः, सुप्ति स्तम्भ संकोच		वात	यन्त्रों की गति नियमन करता है।
४	स्निग्ध	Slight	क्लेदन ,, ,, ,,	स्नेह, बन्ध	आप्य	कफ	
५	श्लक्ष्ण	Smooth	रोपण ,, ,, ,,			कफ	
६	सान्द्र	Dense	प्रसादन ,, ,, ,,	-			
७	मृदु	Soft	श्लथन ,, ,, ,,	शिथिलता	आप्य	कफ	
८	स्थिर	Stabil	धारण ,, ,, ,,	स्तैमित्य		कफ	
९	सूक्ष्म	Subtle	विवरण ,, ,, ,,	अवकाशकर, सौषिर्य		वात	
१०	विशद	Clear	क्षालन ,, ,, ,,	वैशद्य			
११	चल	Lability	प्रेरण ,, ,, ,,	गत्युत्पादक, कम्प		वात	
१२	शीघ्र	Rapid					
१३	बहु	Acceler					
१४	गति	Motion					
१५	कटु	Pungent					
१६	विस्र	Fluid		पूतिमुखता			

१७	अम्ल	Acid				
१८	मधु	Sweet				
१९	स्तिमित	Rigid				
२०	सार	Solid				
२१	लघु	Light	लघन करने वाले द्रव्य	चलन, स्पदन, भ्रम, प्रस्वप्न ।	अग्निवायु रव	वात
२२	तीक्ष्ण	Rancid	शोधन ,, ,, ,,	पाक, सघातभेदनः	आग्नेय	पित्त
२३	उष्ण	Hot	स्वेदन ,, ,, ,,	ऊष्माधिक्य, प्रतिस्वेद	आग्नेय	पित्त
२४	रूक्ष	Dry	शोषण ,, ,, ,,	वायव्य, आग्नेय	आकाशीय	
२५	खर	Rough	लेखन ,, ,, ,,	खर, परुषता		
२६	द्रव	Liquid	विलोडन ,, ,, ,,	क्लेद, कोथ	पित्त	
२७	कठिन	Hard	दृढ़न ,, ,, ,,	दृढ़ता कर		
२८	सर			प्रतिसरण से	पित्त	
२९	स्थूल		संवरण ,, ,, ,,	अवरोधक		
३०	पिच्छिल	Viscid	लेपन ,, ,, ,,	हृदयलेप, कठलेप		

आरोग्य और दीर्घायु

लेखक—कविराज मनसाराम शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य, जोधपुर

[कविराज श्री मनसाराम जी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य भू० पू० नगर परिषद् के सदस्य एव मारवाड आयुर्वेद प्रचारिणी सभा के प्रधान मत्री रहे हैं। शास्त्री जी ने स्वास्थ्य तथा आरोग्य सम्बन्धी कई चार्ट प्रकाशित किये है। शास्त्री जी के साहित्यिक शिष्य अनेक है। आप अभी नारायण आयुर्वेद विद्यालय जोधपुर में प्रवक्ता के रूप में आयुर्वेद की सेवा कर रहे है। आपके कई पत्रिकाओं में उच्च कोटि के लेख प्रकाशित होते हैं। शास्त्रीजी का 'आरोग्य और दीर्घायु' नामक लेख बडा ही उपयोगी और सारगर्भित है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आरोग्य के पर्यायवाची शब्द—स्वस्थ, नीरोग, निरामय इत्यादि। जगत् स्रष्टा की सृष्टि इस लोक और परलोक मे हित चाहने वाले पुरुषो को तीन इषणाएँ (इच्छाएं) होती है। १ प्राणैषणा (जीवन की इच्छा) २ धनैषणा (धन की इच्छा ३ परलोकैषणा (परलोक की इच्छा) इन सब मे प्राणैषणा मुख्य है क्योकि प्राण छूट जाने पर सब छूट जाती हैं। जीवन की इच्छा रखने वाले पुरुषो को अपने स्वास्थ्य की रक्षा एव रोगी होने पर रोग को शान्त करने का प्रमादरहित होकर प्रयत्न करना चाहिए। उसीसे मनुष्य अपने प्राणो की रक्षा करते हुए दीर्घायु प्राप्त करते हैं। यथा श्री चरकाचार्य ने सूत्र स्थान अध्याय १० मे वर्णन किया है।

इह खलु पुरुषेणानुपहत सत्व बुद्धि पौरुष पराक्रमेण हितमिह चामुष्मिंश्च लोके समनुपश्यता तिस्र एषणा. पर्येष्टव्या भवन्ति। तद्यथा—प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणेति ॥३॥

आसा तु खल्वेषणाना प्राणैषणां तावत् पूर्वतरमापद्यते। कस्मात्, प्राणपरित्यागे हि सर्वपरित्याग। तस्यानुपालन—स्वस्थस्य स्वास्थ्यवृत्तिरातुरस्य विकार प्रशमनेऽप्रमादः, तदुभयमेतदुक्त लक्ष्यते च, तद्यथोक्तमनुवर्तमानः प्राणानुपालनाद्दीर्घमायुराप्नोतीति प्रथमैषणा व्याख्याता भवति ॥४॥

तत्र निरुक्ति. (व्युत्पत्तिः)

प्राणाः सन्त्यस्यास्मिन् वेति प्राणी। शरीरत्वाच्छरीरी। देहत्वाद्देही। जीवनत्वाज्जीवी। चेतनत्वाच्च चेतनेति शब्दाः॥

प्राणियो की मूल इन्द्रियें हैं—

इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चेन्द्रिय द्रव्याणि पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि पञ्चेन्द्रियार्थाः पञ्चेन्द्रियबुद्धयो भवन्तीत्युक्तमिन्द्रियाधिकारे। च०सू० ८।३

ता०—इस ससार मे कर्म कर पाच इन्द्रिये है, पाच इन्द्रियो के पदार्थ हैं, पाच उनके अधिकरण हैं, पाच उनके विषय हैं और पाच उनके ज्ञान हैं।

अतीन्द्रिय पुनर्मन. सत्व सज्ञक चेत इत्यादुरेके, तदर्थात्म सयत्तदायत्त चेष्ठ चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्॥ च० सू० ८।४

ता०—मन अतीन्द्रिय है। वही सत्वसज्ञक चित्त कहा जाता है, जिसके द्वारा आत्मा सुख दुखादि का चिन्तन करता है इसलिए इच्छा, द्वेष, सुख दुखादि मन के आश्रित हैं। इन्द्रियो की चेष्टाओ, व्यापार वा प्रतीति का कारण मन ही है।

मन. पुर सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहण समर्थानि भवन्ति॥ च० सू० ८।७

ता०—सब इन्द्रियें मन को अग्रसर करके ही अपने अपने विषयो को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं।

तत्र चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसनं, स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि॥ च० सू० ८।८

ता०—नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा, त्वचा ये पाच इन्द्रिये हैं।

पञ्चेन्द्रिय द्रव्याणि—ख वायुर्ज्योतिरापोभूरिति॥ च० सू० ८।९

ता०—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाच इन्द्रियो के ग्राह्य द्रव्य (पदार्थ) हैं।

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि-अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति॥ च० सू० ८।१०

ता०—पाच इन्द्रियो के अधिष्ठान (स्थान) हैं। दोनो अक्षि गोलक, दोनो कान के बाहिर के भाग, दोनो नासा फलक, जीभ और त्वचा।

पञ्चेन्द्रियार्थाः—शब्द स्पर्श रूप रस गन्धाः॥ च० सू० ८।११

ता०—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाच इन्द्रियो के अर्थ विषय है। इन्द्रियो का ज्ञान भी पाच प्रकार का कहा है—चक्षुर्ज्ञान, श्रोत्र ज्ञान, गन्ध ज्ञान, रस ज्ञान, स्पर्शज्ञान इन्द्रियो मे विकृति और प्रकृति कैसे उत्पन्न होती है।

यदर्थातियोगायोगा मिथ्या योगात्समनस्कमिन्द्रिय विकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्ध्युपघाताय सपद्यते, समयोगात् पुनः प्रकृतिमापद्यमान यथास्वं बुद्धिमाप्याययति॥ च०सू०८।१६

ता० मन के साथ इन्द्रियो का विषयो मे अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग होने से विकृति (रोग) उत्पन्न होता है जिससे बुद्धि का नाश हो जाता है, फिर सम (उचित) योग से इन्द्रियें अपनी प्रकृति को प्राप्त कर लेती हैं, बुद्धि-वुद्धि हो जातो है।

अन्यच्च—

इन्द्रियाणा हि चरता यन्मनो नु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञा वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ गीता० अ० २।६७

ता० जो मनुष्य इन्द्रियो (विषयो) के अनुसार आचरण करते हैं उनका मन उन इन्द्रियो के विषयो का अनुगामी हो जाता है। वह मन मनुष्यो की बुद्धि को हरण कर लेता है। जैसे जल मे वायु नाव को हरण कर लेता है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सगस्तेषूपजायते।
सगात् सजायते काम कामात् क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति समोह. समोहात् स्मृति विभ्रम ।
स्मृतिभ्र शाद्बुद्धि-नाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ गीता० २।६२,६३

ता०—इन्द्रियो के विषयो को चिन्तन करने वाले पुरुष की उनमे आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से अविवेक, अविवेक से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृति भ्रमित हो जाने से बुद्धि (ज्ञान) का नाश होता है, बुद्धि के नाश होने से पुरुष अपनी श्रेयस्कर साधना से गिर जाता है, नाश हो जाता है। स्वस्थता अस्वस्थता मे हेतु क्या है ?

मनस्तु चिन्त्यमर्थः, तत्र मनसो बुद्धेश्च त एव समानाति हीन मिथ्या योगाः प्रकृति विकृति हेतवो भवन्ति ॥ च० सू० ८।१७

ता०—मन का विषय सुख-दुःखादि चिन्तन है। वहां मन और बुद्धि का समसम योग स्वस्थता का हेतु है। मन एवं बुद्धि का अति, हीन, मिथ्या योग विकृति (अस्वस्थता) का हेतु है।

सद् स्वस्थ वृत्त की आवश्यकता—

तत्रेन्द्रियाणा समनस्कानामनुपतप्तानामनुपतापाय प्रकृतिभावे प्रयतितव्य मेभिर्हेतुभिः तद्यथा—सात्म्येन्द्रियार्थं सयोगेन, बुद्धया सम्यगवेक्ष्यावेक्ष्य कर्मणा सम्यक् प्रतिपादनेन, देश कालात्मगुण विपरीतोपसेवनेन चेति। तस्मादात्महित चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्। तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत् सपादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रिय विजय चेति ॥ च० सू० ८।१८

ता०—उपर्युक्त कारणो से अनुपतप्त मन सहित इन्द्रियो के अनुतापन करने के

लिए नीरोगावस्था मे रहने की ओर प्रयत्नशील होना चाहिए। जैसे—उचित, अनुकूल इन्द्रिय और विषय के सयोग से एव बुद्धि द्वारा अच्छी तरह देख देख कर उचित रूप से कर्म करने से, और देश, काल, आत्म गुण के अविपरीत हितकर पदार्थों के सेवन से इद्रिये उपतप्त (विकृत) न होकर समावस्था मे रहती है। इसलिए अपना हित करना चाहने वाले सब पुरुषो को सदा सब कार्य याद रख कर इन्द्रियो को मन के साथ मिला कर सद् (स्वस्थ) वृत्त का पालन करना चाहिए। सद्वृत्त पालन से आरोग्य और दीर्घायु दोनो एक साथ सफल होते है, सद् (स्वस्थ) वृत्त को निम्न प्रकार से सपूर्ण रूप से कहा है—

तत्सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामः। तद्यथा-देव गो ब्राह्मण गुरु वृद्ध सिद्धाचार्यानर्चयेत्, अग्निमुपचरेत्, ओषधी प्रशस्ता धारयेत्, द्वौ कालावुपभुजीत, मलायनेस्वभीक्ष्ण पादयो श्च वैमल्यमादध्यात्, त्रिः पक्षस्य केश श्मश्रु लोभ नखान् सहारयेत्, नित्यमनुपहृतवासा सुमनाः सुगन्धिः स्यात् ॥च०सू०८।१६

ता०—देव (ईश्वर), गौ, ब्राह्मण, गुरु (माता-पिता), वृद्ध, सिद्ध और आचार्यों को पूजा (सेवा) करनी चाहिए, अग्निहोत्र करना चाहिए, दोष (रोग) नाशक वनस्पतियें धारण करनी चाहिएँ। दो समय (प्रात साय) भोजन करना चाहिए, मल के स्थानो को बार-बार साफ करना चाहिए, पावो को सदा पवित्र रखना चाहिए। बाल, दाढो-मूँछ, लोम, नखो को पक्ष मे तीन बार कटवाना चाहिए। प्रतिदिन शुद्ध (धुला हुआ) वस्त्र धारण करना चाहिए। सदा प्रसन्न मन रहना चाहिए, सुगध द्रव्य धारण अथवा प्रलेप करना चाहिए।

सद्वृत्तयुक्त पुरुष कैसा होना चाहिए ?

साधुवेश प्रसाधित केशों, मूर्धश्रोत्रघ्राणपाद तैल नित्यो, धूमयः, पूर्वाभिभाषी, सुमुखो, दुर्गेष्वभ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्पथाना नमस्कर्ता, बलीनामुपहर्ता, अतिथीना पूजक, पितृभ्य पिडद, काले हितमित मधुरार्थवादी, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्षु, फलेने र्निश्चितो, निर्भीको, धीमान्, ह्रामान्, महोत्साहो, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिका, आस्तिक, विनयबुद्धिविद्या-भिजन वयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता, छत्रो, दण्डी, मौली, सोपानत्को, युगमात्रदृग्विचेरत्, मङ्गलाचारशील, कुचेलास्थिकण्टकामेध्याकेशसुषोत्करभस्म कपालस्नान वाले भूमीनां परिहर्त्ता, प्राक्श्रमाद् व्यायामवर्जी स्यात् सर्वप्राणिषु बन्धुभूत. स्यात्, क्रुद्धानामनुनेता, भीतानामा श्वास-यिता, दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसधः, सामप्रधान., परपरुषवचन सहिष्णु, अमर्षघ्न., प्रशमगुण-दर्शी, रागद्वेषहेतूना हन्ता। च० सू० ८।२०

ता०—साधारण वेष वाला, केश सवरा हुआ, नित्य शिर, कान, नाक, पाव में तैल लगाने वाला, प्रयोग के साथ धूप (वाष्प) पान करने वाला, अतिथि आदि को पहिले कुशल पूछने वाला, सुमुख, कठिनाई मे सोच कर काम करने वाला, हवन करने वाला, पचमहायज्ञ करने

वाला, दान देने वाला, चौराहो को नमस्कार करने वाला, बलि देने वाला, अतिथिपूजक, पितृओ को पिण्डदान देने वाला, समय पर हितकारी-सीमित-मधुर-अर्थयुक्त वाणी बोलने वाला, सयमी, धर्मात्मा, दूसरो की उन्नति से ईर्षा रख अपनी उन्नति करने वाला, फल मे ईर्षारहित, निश्चिन्त, निर्भय, बुद्धिमान्, लज्जायुक्त, बडा उत्साही, चतुर, क्षमावान्, धर्मात्मा, आस्तिक, नम्रता-बुद्धि-विद्या-कुटुम्बी-वयोवृद्ध-सिद्ध, आचार्यो की सेवा करने वाला, छतरी, छडी, पगडी (साफादि), जूती धारण करने वाला, चारो ओर देखकर चलने वाला, शुभ कार्य करने वाला, मलीनवस्त्र-हड्डी-मास, कोरे, अशुद्ध, केश, तुप, कङ्कड, भस्म, खोपडी-युक्त (श्मशानादि) और स्नान, बलि आदि की भूमि को छोडने वाला, श्रम से पूर्व व्यायाम न करने वाला, प्राणीमात्र में बन्धुत्व रखने वाला, क्रुद्धो को मनाने वाला, डरे हुओ को आश्वासन देने वाला, गरीबो का उपकार करने वाला, सत्य प्रतिज्ञा वाला, शान्तिमुख्य, अन्यो के कठोर वचनो को सहने वाला, अक्रोधी, शान्ति वाला, रागद्वेष के कारणो का नाश करने वाला—ऐसा सद् (स्वस्थ) वृत्त युक्त पुरुष होना चाहिए ॥

सद्वृत्त युक्त पुरुष के कर्त्तव्य—

नानृतब्रूयात्, नान्यस्वमादद्यात्, नान्यस्त्रियमभिलषेन्नान्यश्रिय, न वैर रोचयेत्, न कुर्यात् पाप, न पापेऽपि पापीस्यात्, नान्यदोषान् ब्रूयात्, नान्य रहस्यमागमयेत्, नाधार्मिकैर्न नरेन्द्रद्विष्टै सहासीत, नोन्मत्तैर्नपतितैर्न भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्नदुष्टै, न दुष्टयानान्यारोहेत्, नजानुसम कठिनमासनमध्यासीत, नानास्तीर्णमनुपहितमविशालमसम वा शयन प्रपद्येत, न गिरि विषममस्तकेष्वनु चरेत्, न द्रुममारोहेत्, न जलोग्रवेगमवगाहेत्, कूलच्छाया नोपासीत, नाग्न्युत्पातमभितश्चरेत्, नोच्चैर्हसेत्, न शब्दवन्त मारुत मुञ्चेत्, नासवृतमुखो जृम्भा क्षवथु हास्य वा प्रवर्तयेत्, न नासिका कुष्णीयात्, न दन्तान् विघट्टयेत्, न नखान् वादयेत्, नास्थीन्यभिहन्यात्, न भूमि विलिखेत्, न छिन्द्यात्तृण, न लोष्ठ मृद्गायात्, न विगुणमङ्गैश्चेष्टेत, ज्योतीष्यग्निमेध्यमशस्त च नाभिवीक्षेत, न हुकार्याच्छव, न चैत्यध्वज गुरु-पूज्याशस्तच्छायाक्रामेत्, न क्षपास्वमरसदनचैत्यचत्वरचतुष्पथो पवन श्मशानाघातनान्यासेवेत, नैक. शून्यगृह न चाटवीमनुप्रविशेत्, न पापवृत्तान् स्त्रीमित्रभृत्यान् भजेत, नोत्तमैर्विरुद्धयेत्, नावरानुपासीत, न जिह्म रोचयेत्, नानार्यमाश्रयेत्, न भयमुत्पादयेत्, न साहसातिस्वप्न-प्रजागरस्नान पानाशनान्यासेवेत, नोर्ध्वजानुश्चिर्द तिष्ठेत्, न व्यालानुपसर्पेन्न दष्ट्रिणो न विषाणिन, पुरोवातातपावश्यायाति प्रवातान् जह्यात्, कलि नारभेत, नासुनिभृतोऽग्निमु-पासीत, नोच्छिष्टो नाध कृत्वा प्रतापयेत्, नाविगतक्लमो नाप्लुतवदनो न नग्न उपस्पृशेत्, न स्नानशाट्या स्पृशेदुत्तमाङ्ग, न केशाग्राण्यभिहन्यात्, नोपस्पृश्यतएव वाससी बिभृयात्, नास्पृष्ट्वा रत्नाज्यपूज्यमङ्गल सुमनसोऽभिनिष्क्रामेत्, न पूज्य मगलान्यप सव्य गच्छेन्नेतराण्यनु-दक्षिणम् ॥ च० सू० ८।२१

ता०—असत्य नही बोलना, दूसरे के धन को न हरना, दूसरे की स्त्री-सम्पत्ति को न हरना, दूसरे के दोषो को न कहना, दूसरो के भेद को न जानना, अधार्मिक एव राजा (नेताओ) से द्वेष करने वाले, उन्मत्त-पतित-भ्रूण हत्या करने वाले-क्षुद्र-दुष्ट आदि के साथ न बैठना, बिना अभ्यास सवारी पर न बैठना, घुटने खड़े कर अधिक देर तक न बैठना, बिछौना-तकियारहित, ओछे, ऊचे-नीचे स्थान पर न सोना, पर्वतो के नीचे स्थान-शिखर पर न घूमना, वृक्षो पर न चढना, जल के भयकर वेग में स्नान न करना, नदी तटवर्ती, वृक्ष की छाया मे न बैठना, अग्निकांड के चारो ओर न घूमना, जोर से न हँसना, शब्द के साथ अपान वायु न छोड़ना, मु ह बिना ढके जभाई-छीक-हँसी न करना, नाक को न कुचरना, दातो को न पीसना, नखो को न घिसना, हड्डियो को न बजाना, भूमि को न कुचरना, तिनखे को न तोडना, मिट्टी के ढेले को न फोडना, वृथा अगो को न मरोडना, तेज प्रकाश, अग्नि-चितादि को न देखना, शव को देख कर हुकार न करना, चैत्य ग्राम देवता, ध्वजा, गुरु, पूज्य, कल्याणकारी वस्तुओ की छाया को न लाघना, रात्रि के समय देवालय, चैत्य-ग्राम देवता, मैदान, चौराहा, बगीचा, श्मशान, वध्य स्थान मे न रहना, शून्य-गृह-जगल मे अकेला प्रवेश न करना, पापाचारी स्त्री-मित्र सेवक के साथ न रहना, उत्तम पुरुषो के साथ विरोध न करना, अपने से छोटों के साथ न बैठना, कुटिलता मे रुचि न रखना, अश्रेष्ठो का आश्रय न लेना, आतक उत्पन्न न करना, अति साहस सोना-जागना-स्नान पीना-भोजन न करना, घुटने उठा कर बहुत समय न बैठना, विषैले भयकर (सर्पादि), दाढ वाले (सिंहादि), सीग वाले (बैल आदि) के पास न जाना, सम्मुख की वायु-धूप-ओस तेज हवा को छोड देना, व्यर्थ कलह न करना, असावधान होकर अग्नि की पूजा न करना, झूठे भोजन को पुन. न तपाना, थकान बिना दूर हुए-बिना मुखादि धोए-नगा स्नान न करना, धोती से सिर को न पोछना, केशो के अग्र भाग को न तोडना, स्नान किए हुए वस्त्र को निचोड कर पुन: न पहिनना, रत्न-घृत-पूज्य परमेश्वर-मगल वस्तु का स्पर्श किए बिना घर से बाहर न निकलना, पूज्य-मगलकारी पदार्थों के वाम भाग से अपूज्य अमगल-कारी पदार्थों के दक्षिण (दायें) भाग से न जाना चाहिए।

मनुष्य मात्र को निम्न अवस्थाओ मे भोजन नही करना चाहिए—

वि० ज्ञा०—श्री चरकाचार्यने 'द्विज' शब्द का उल्लेख किया है। द्विज का अर्थ ब्राह्मण, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य लगाया जाता है, किन्तु यह मनुष्य मात्र के लिए प्रयोग करना अनुपयुक्त नही।

नारत्नपाणिर्नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो नानिरूप्य पितृभ्यो नादत्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो नापुण्यगन्धो नामाली नाप्रक्षालितपाणिपाद-वदनो नाशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमना नाभक्ताशिष्टा शुचि क्षुधिच परिचरो नापात्रीष्वमे-

ध्यासु नादेशे नाकाले नाकीर्णे नादत्वाऽग्रमग्नये नाप्रोक्षित प्रोक्षणोदकैर्न मन्त्रैरनभिमन्त्रित कुत्सयन् न कुत्सित न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत न पर्युषितमन्यत्र मासहरितशुष्कशाकफल भक्ष्येभ्यः। नाशेषभुक्स्यादन्यत्र दधिमधुलवण सक्तु सर्पिभ्य। न नक्त दधि भुञ्जीत, न सक्तूनेकानेकाम् श्नीयात्, न निशि न भुक्त्वा न बहून् न द्विर्नोदकान्तरितान् न छित्वा द्विजैर्भक्षयेत् ॥ च० सू० ८।२२

ता०—रत्न को हाथ मे धारण किए बिना, बिना वस्त्र पहिने, बिना जप किये, बिना हवन, देवताओ के लिए कुछ निरूपण किए बिना, पितादि को बिना दिये, बडे पुरुष अतिथि-आश्रितो को बिना दिए (खिलाये), न अशुभ गन्ध, बिना पुष्पहार धारण किए, बिना हाथ-पाव-मुख धोए, झूठे मुंह से, न उत्तर को ओर मुह करके, न उदासीन मन, बिना भक्ति, बिना पवित्रता से दिया हुआ, भूखे के हाथ से परोसा हुआ, बिना पात्र, मलिन पात्रो मे, अदेश-अकाल-अस्थान-सकुचित स्थान, वैश्वदेव बिना किए, प्रोक्षणोदक से प्रोक्षण (पवित्र) किये बिना, बिना वेद मन्त्रो से अभिमन्त्रित किये, निन्दा करते हुए, निन्दित मन के प्रतिकूल पुरुषो के साथ बैठ कर भोजन नही करना चाहिए। बासी भोजन नही खाना चाहिए, मास-हरे-सूखे साग-फल बासी खाये जा सकते है। दही, शहद, नमक, सत्तु, घृत इन सब को खा जाना चाहिए (झूठा नही छोडना चाहिए)। अन्य भोजन कुछ पात्र मे शेष रखना चाहिए जो चीटी आदि के भक्षणार्थं उपयोग किया जा सके। रात्रि मे दही नही खाना चाहिए। केवल, रात्रि में, भोजन के पश्चात्, दिन मे दो बार, पानी में अथवा अधिक पानी मे घोला हुआ सत्तू नही खाना चाहिए। सत्तू दातो से काटकर नही खाना चाहिए (निगल जाना चाहिए)।

सद्वृत्त के लिये शुद्धि का उपदेश:—

नानृजु क्षुया श्वाद्यान्नश्यीत। न वेगितोऽन्य कार्यः स्यात्। न वाय्वग्नि सलिल-सोमार्कद्विज गुरु प्रतिमुख निष्ठीविका वातवर्होमूत्राण्युत्सृजेत्, न पथानमवमूत्रयेत्। न जन-वति नान्नकाले न जपहोमध्ययनबलिमङ्गल क्रियासु श्लेष्म सिङ्घाणकं मुञ्चेत् ॥
च० सू० ८।२३

ता०—बिना नीचे झुके छीकना, खाना और सोना नही चाहिए। मल-मूत्रादि का वेग आ जाने पर अन्य कार्य नही करना चाहिए। वायु-अग्नि-जल-चन्द्रमा-सूर्य-ब्राह्मण-गुरु (माता-पितादि) के सन्मुख मुह करके थूकना, अपान वायु छोड़ना, मल-मूत्र त्याग नही करना चाहिए। जन-विश्राम स्थान मे, भोजन के समय मल-मूत्र नही त्यागना चाहिए। जप-हवन, पठन-बलि एव शुभ क्रियाके स्थान पर नाक का मल नही फेंकना चाहिए।

सद्वृत्त के लिए त्याज्य:—

न सतो न गुरुसून् परिवदेत्, नाशुचिरभिचारकर्म चैत्यपूज्यपूजाध्ययन मभिनिर्वर्तयेत्। च० सू० ८।२५

ता०—सज्जन अथवा गुरुजनो की निन्दा नही करनी चाहिए। अथवा गुरुजनो की अपवित्र, अभिचार (हिंसादि) करके ग्रामदेवता की पूजा, अन्य देवता-भगवान का पूजा, अध्ययन आदि नही करने चाहिए।

अध्ययन के लिये ध्यानगम्य:—

न विद्युत्स्वनार्तवीषु नाभ्युदितासु दिक्षु नाग्निसप्लवे न भूमिकपे न महोत्सवे नोल्कापाते न महाग्रहोपगमने न नष्टचन्द्राया तिथौ कौ न सध्ययोर्नामुखाद् गुरो नांव पतित नातिमात्रे न तान्त न विस्वर नानवस्थित पद नातिद्रुत न विलवित नातिल्कीब नात्युच्चै र्नातिनोचै स्वरैरययनमभ्यसेत्॥ च० सू० ८।२६

ता०—ऋतु बिजलो चमकने पर, दिशाओ के जलने पर, अग्नि से नगरादि के जल जाने पर, भूकम्प आ जाने पर, कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी, अमावस्या, प्रतिपदा को, सध्या समयो मे, बिना गुरुमुख के, न अक्षर छोडकर, अत्यधिक-रूखा-स्वरहीन पदव्यवस्था रहित बहुत जल्दी-रुक रुककर-अतिदुर्बल-उच्च-अतिनीचे स्वर से पठन-पाठन नही करना चाहिए।

सद्वृत्त के लिये स्मरणीय—

नाति समय जह्यात्। न नियमभिन्द्यात्। न नक्त नादेशे चरेत। न सध्यास्व भ्यवहाराध्ययन स्त्रीस्वप्नसेवी स्यात्। न बालवृद्धलुब्ध मूर्खक्लिष्टक्लीवें सह सख्य कुर्यात्। न मद्यद्यूतवेश्या प्रसगरुचि: स्यात्। गुह्य विवृणुयात्। न कञ्चिदवजानीयात्। नाहमानी स्हान्ना-दशो ना दक्षिणो नासूयक। न ब्राह्मणात् परिवदेत् न गवा दण्डमुद्यच्छेत्। न वृद्धान् न गुरून् न गणान् व नृपान् न वाऽधिक्षिपेत्। चातिब्रूयात्। न बान्धवानुरक्तकृच्छ्रद्वितीयगुह्यज्ञान् बहि: कुर्यात्॥ च० सू० ८।२७

ता०—समय को व्यर्थ न खोना। नियमो का उल्लघन न करना। रात्रि के समय वनादि मे न घूमना। सध्या समयो मे—भोजन, पठन, मैथुन, नीद नही करनी चाहिए। बालक, वृद्ध, लोभी, मूर्ख, कुष्ठादि रोगी, अनुत्साही, नपुंसक के साथ मित्रता नही करनी चाहिए। मध्य, जुआ वेश्यागमन मे रुचि नही रखनी चाहिए। किसी के गुप्त रहस्य को नही खोलना चाहिए। किसी को अपमानित नही करना चाहिए। अभिमानी, कार्यमूढ दोषदर्शी, ईर्षालु, ब्राह्मणो का निन्दक नही होना चाहिए। गायो की ओर डडा नही उठाना चाहिए। वृद्ध, गुरुजन, जनसमूह एव राजा (नेता) को निन्दा नही करनी चाहिए। अधिक बोलना नही चाहिए। भाई, बन्धु, स्नेही, सकट मे सहायता करने वाले, और जानने वाले इनका बहिष्कार नही करना चाहिए। ०

सद्वृत्त के लिये चिन्तनीय—

नाधीरो नात्युच्छ्रितसत्व. स्यात्। नाभृतभृत्यो, नाविश्रब्धस्वजनो, नैक: सुखी, न

दुःखशीलाचारोपचारो, न सर्वविश्रम्भी, नसर्वाभिशङ्की, न सर्वकाल विचारी। न कार्यकाल-मतिपातयेत्। नापरीक्षितमभिनिविशेत्। नेन्द्रियवशग. स्यात्। न चञ्चल मनोऽनुभ्रामयेत्। बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात्। न चातिदीर्घसूत्री स्यात्। न क्रोध हर्षायतु विदध्यात्। न शोकमनुवसेत्। न सिद्धावौत्सुक्य गच्छन्नासिद्धौ दैन्यम्। प्रकृतिमभीक्ष्ण स्मरेत् हेतुप्रभावनि-श्चित. स्यात् हेत्वारम्भनित्यश्च। न कृतमित्याश्वसेत्, न वीर्यं जह्यात्। नापवाद मनुस्मरेत्।

च० सू० ८।२८

ता०—अति अधीर, उच्छृङ्खल न हो। नौकरादि का पोषण करना चाहिए। अपने लोगो मे अविश्वास नही करना चाहिए। अकेला सुखोपभोक्ता नही होना चाहिए। स्वभाव, आचरण, उपचार मे हीन नही रहना चाहिए। सब पर सर्वत्र-विश्वासी, सन्देह करने वाला, सबलमय विचारवान् नही होना चाहिए। समय को व्यर्थ नही खोना चाहिए। अपरीक्षित स्थान पर नही बैठना चाहिए। इन्द्रियो के वश मे नही रहना चाहिए। चचल मन को भ्रमित नही करना चाहिए। बुद्धि-ज्ञान-इन्द्रियो पर अतिभार नही डालना चाहिए। बहुत आलसी नही होना चाहिए। क्रोध हर्ष मे अति नही करना चाहिए। शोकवश नही होना चाहिए। कार्यसिद्ध हो जाने पर अति प्रसन्न और असफल हो जाने पर अति दीन न हो। बार-बार प्रकृति का स्मरण करना चाहिए। किसी कार्य-कारण और प्रभाव को निश्चय करके तदनुसार नित्य कर्म करना चाहिए। किये हुये का विचार नही करना चाहिए। परा-क्रम का त्याग नहीं करना चाहिए। अपवाद (निन्दा) का स्मरण नही करना चाहिए।

दीर्घ आयु के लिए कर्तव्य और प्रार्थना—

नाशुचिरुत्तमाज्याक्षततिलकुशसर्षपैरग्निं जुहुयादात्मानमाशीर्भिरा शासानः, अग्निर्मे नापगच्छेच्छरीराद् वायुर्मे प्राणानादधातु विष्णुर्मे बलमादधातु इन्द्रो मे वीर्यं शिवा मा प्रविश-न्त्वाप 'आपोहिष्ठेत्यपः' स्पृशेत्, द्वि परिमृज्योष्ठौ पादौ चाभ्युक्ष्य मूर्धनि खानि चोपस्पृशे-दद्भिरात्मानं हृदयं शिरश्च, ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्री कारुण्यहर्षोपेक्षा प्रशमपरश्चस्यादिति ॥

च० सू० ८।२९

ता०—अपवित्र अवस्था मे—शुद्ध घी, अक्षत, तिल, दर्भ, सरसो से अग्नि मे हवन, प्रार्थना—हे अग्नि ! मेरे शरीर से बाहर न जाय। वायु मेरे प्राणो को धारण करे, विष्णु मेरे बल का सचार करे। इन्द्र मेरे वीर्य की वृद्धि करे। कल्याणकारी जल मेरे मे प्रवेश करे।

आपो हिष्ठामयो भुवस्तान ऊर्जे दधातन।
महेरणायचक्षसे यो व. शिवतमो रसस्तस्य भाजयते हन।
उशतीरिवमातरस्तस्माऽरङ्ग मामवो यस्य क्षयाय जिन्वत।

ता०—इस मन्त्र से जल का शरीर पर स्पर्श करना चाहिए। शिर, आँख, कान, नाक,

हृदय, इन्द्रियो को जल से स्पर्श करनी चाहिए। ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान मैत्री, दया, प्रसन्नता, अपरिग्रह, बुद्धि, शान्तचित्त युक्त बनना चाहिए।

इस प्रकार श्रीचरकाचार्य ने अपनी संहिता मे स्वस्थवृत्त (आरोग्य) का वर्णन करते हुए दीर्घायु प्राप्ति का मार्ग प्रदर्शन किया है :—

स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठिति।
स समाः शतमव्याधिशयुषा न विपुज्येत ॥३१॥

ता०—जो मनुष्य उक्त प्रकार से स्वस्थवृत्त का आचरण करता है वह सौ वर्षों तक नीरोग रहता हुआ जीवित रहता है।

वेदो में आरोग्य और दीर्घायु होने के उपाय

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात यक्ष्माहुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेन तस्या इन्द्राग्नी प्रयुयुक्तमेनम् ॥ ऋ० १०।६११।१

ता०—हे बालक ! मैं गृहपति तुमको सुखपूर्वक जीवन बिताने के लिए हविष्यान्न के द्वारा यक्ष्मा (शोष) रोग से सुरक्षित रखू। यदि इस बालक को पकडने वाला (शीत-वातादि) रोग भी ग्रहण करले तो भी इन्द्राग्नि = शुद्ध वायु, सूर्य की धूप और होमाग्नि सेक ये दोनो बालक को उस रोग से मुक्त करे।

वि० शा०—प्रभात-वायु, सूर्यप्रभा, सेक और होम की अग्नि बालक के लिए रोग-मुक्त करने वाली प्रदर्शित की है।

यदि क्षितायुर्यदि वापरे तो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमाहरामि निर्ऋते रुपस्थादस्पार्षमेने शत शारदाय ॥ ऋ० १०।१६१।२

ता०—यदि यह बालक क्षीणायु हो गया हो, यदि वह निराशोत्पादक स्थिति को पहुच गया हो, यदि मृत्यु के समीप पहुच गया हो तो भी मैं उपायज्ञ पुरुष उस बालक को रोग अथवा मृत्यु के हेतुओ से पुन. लौटा लेता हूं और शतायु के लिए पुनः बलवान् बना देता हूँ।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा हार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैन शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ऋ० ।१६१।३

ता०—मैं उपायज्ञ-सहस्रवीर्या-शतवीर्या नामक औषधि से इस बालक को मृत्यु के चगुल से छुडा कर ले आऊ। जिससे वह परमेश्वर इस जीव को सौ वर्ष तक दुष्कर्मों के कुफल से पार कर दे (नीरोग कर दे)।

वि० शा —शतवीर्या औषधि बालको के लिए पुष्टिकर प्रदर्शित की है।

शत जीव शरदो वर्धमानः शत हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शत त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।। ऋ० ११६।४

ता०—मैं शतायु देने वाली हविरूप औषधि अथवा अन्न से इस बालक को मृत्यु के मुह से लौटा लाता हूँ । सब विद्वान् लोग बालक को आशीर्वाद दे । हे बालक ! तू निरन्तर बढ़ता हुआ सौ सरद-हेमन्त-वसत पर्यन्त जीवित रह । ज्ञानवान् सब का उत्पादक, महान् ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा तुझे शतायु करे ।

प्रविशत प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्यन्येयन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ।। अथर्व० ८।१।२०

ता०—जिस प्रकार रथ के दोनो बैल अपनी वृषशाला मे प्रवेश होते हैं उसी प्रकार हे प्राण-अपान वायु, श्वास-प्रश्वास तुम दोनो इस बालक मे प्रवेश करो और अन्य जो सैकड़ों मृत्यु के कारण बताये जाते हैं वे भी दूर हो जायें ।

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ।। अ० ८।१।२१

ता०—हे प्राण अपान वायु ! तुम दोनो इस देह मे ही रहो । तुम दोनो इस देह को छोड कर मत जाओ । तुम इस बालक के शरीर और अगो को भी बराबर वृद्धावस्था तक पहुंचा दो ।

जरायै त्वा परिददामि जरायै निधुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ।। अथ० ८।१।२२

ता०—हे बालक ! तुझे वृद्धावस्था तक पहुँचाता हूँ और तब तक तेरी रक्षा करता तुझको वृद्धावस्था तक व्यवहारकुशल बनाये रखता हूँ । यह वार्धक दशा भी सुखों को प्राप्त करावे (रोगमुक्त रखें) । मृत्यु के जो सौ कारण बताते हैं वे भी दूर हों ।

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमान सुपाशया ।
त ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ।।

ता०—हे बालक ! तुझे वृद्धावस्था ने भी इस प्रकार बांध लिया है जिस प्रकार रस्सी से बैल को बाध देते हैं । और बाल्यकाल की जिस अकाल मृत्यु ने भी तुझे उत्पन्न होती, दृढ फदे से बाँध दिया है । तेरे उस फ़दे को विश्वपति सत्य हाथो से आत्मा के शेष पुण्य कर्मों को खोल दे । वह वाचस्पति वैद्य सत्य औषधि प्रयोग से तेरे दोषज रोगो को दूर करदे ।

उपसंहार —

"धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्य मूलमुत्तमम्" इस उक्ति के अनुसार ससार मे मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के विविध कार्य करने पडते हैं, जिसके लिये वह दीर्घायु की अभिलाषा रखता है। दीर्घा स्वास्थ्य पर अवलम्बित है। उक्त दोनो की पूर्ति के लिए सद्वृत्त का ज्ञान आवश्यक है। भारतीय शास्त्र सद्वृत्त से परिपूर्ण हैं, जिसके कुछ अश सक्षेप मे उद्धृत किये गये हैं। प्राणैषणा की इष्टापूर्ति है। प्राणैषणा के साथ ही शेष-धनैषणा-परलोकेषणा सिद्ध हो सकती हैं। ये ही ऐहलौकिक पारलौकिक सुख के साधन हैं। इति

विषमज्वर का बनना

लेखक : स्वर्गीय भारतभूषणजी वर्मा, आयुर्वेद-बृहस्पति, जोधपुर

[दानवीर स्वर्गीय वैद्यराज श्री भारतभूषणजी स्थानीय महाराजा आयुर्वेदिक फार्मेसी व चिकित्सालय के सञ्चालक व सस्थापक थे। आपको झासी आयुर्वेद विश्वविद्यालय से आयुर्वेद-बृहस्पति की मानद उपाधि प्राप्त थी। आपने सप्राप्ति तथा ज्वरोत्पादक दोषों की धातुपाक व महापाक अवस्थाओं का विशिष्ट विश्लेषण किया है। आप दयानन्द आयुर्वेद विद्यालय पजाब के स्नातक थे। श्री मारवाड आयुर्वेद प्रचारिणी सभा के आप अध्यक्ष भी रहे थे। आपकी उत्कट इच्छा थी कि श्री मारवाड आयुर्वेद प्रचारिणी सभा का एक निजी भवन हो। इस हार्दिक इच्छा की पूर्ति उनकी श्रीमतीजी शान्तिदेवीजी मूर्तरूप में अब कर रही है। आप चरित्रनायक के प्रति अत्यन्त आस्थावान थे।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

अपने प्रकोपक कारणो से दोष कुपित होकर आमाशय मे जाकर आमाशय रस के साथ सम्मूर्छित हो पाचन सस्थान के विभिन्न स्रोतो मे अवरोध पैदा कर देते हैं। इस अवरोध के कारण से महास्रोत मे जाने वाल आहार का विघटन तथा परिणमन के लिये जिन स्रावविशेषो (एन्जाइम्स) का होना जरूरी है उनके अभाव से पाचन क्रिया मे विकृति तथा अरुचि, अन्नद्वेष, भक्तान्नाभिनन्दन की स्थि त बन जाती है।

अग्न्याशय यकृत् आदि अवयवो मे बनने वाले उष्णगुणीय तत्वो का पथपरिवर्तन हो जाता है इसलिये 'सहुतेनाभिसर्पन्तस्तपन्त सकल वपु' उसी प्रथम अपरिपक्व रस धातु के साथ समस्त शरीर मे परिभ्रमण होने से देह की ऊष्मा या तापवृद्धि हो जाती है। इसी सन्ताप या बढी हुई तापवृद्धि को ज्वर नाम से सबोधित किया जाता है।

यही ज्वर मल के बल तथा मल की प्रबलता, कालबल, काल को दुर्बलता व बहुधा दोषो की सन्निपात स्थिति के कारण पाच भेदो मे बन जाता है। यह भेद ज्वर जितने समय तक रहता है उसी के अनुसार उसे सबोधित किया जाता है।

सर्व प्रथम सन्तत की इतिकर्त्तव्यता कैसे बनती है इस पर कुछ विचार किया जा रहा है।

सन्तत ज्वर-दोष, अपने समान दूष्य, देश, प्रकृति तथा ऋतु के अनु-गुण होने से बलिष्ट तथा गौरवशाली बन जाता है। इस प्रकार की स्थिति मे जब आद्य रस धातु के साथ दोष समूर्च्छित हो जाता है। इससे देह के धातुओ मे, विसर्ग सस्थान के स्रोतो से बाहिर किया जाने वाला मल क्षिप्त हो जाता है—अर्थात् मल जब धातुओ मे होने से धातुपाकी, तथा केवल मलो मे होने से मलपाकी कहलाता है।

धातुपाक की अवस्था भयानक अवस्था होती है, इसमे ज्वर कम नही होता, क्रम से बढता ही रहता है तथा रोगी की स्थिति बिगडती जाती है।

अभिप्राय यह हुआ कि दूष्य, देश, काल, का दोषो के साथ विरोध न होने से बली तथा विशेष कष्टप्रद होता है। और इसमे दोष सभी कफ स्थानो (पाचो) मे व्यवस्थित रहता है।

ज्वर का सताप मलो तथा धातुओ को शीघ्र नष्ट कर देता है। यदि मलो के नष्ट होने से रसादि धातु शुद्ध हो जाते हैं तो वात बहुल ज्वर की मर्यादा ७ दिन, पित्त बहुल जन्य ज्वर की मर्यादा १० दिन तथा कफ बहुल ज्वर की मर्यादा २ दिन की होती है। अर्थात् इस अवधि मे मलो का पाक हो कर ज्वर उतर जाता है।

यदि ज्वर सताप से धातुओ का पाक अर्थात् धातुपाकी ज्वर होता है तो धातुओ का शोधन इतना शीघ्र नही हो सकता अत: उपरोक्त अवधि में रोगी अपने प्राण त्याग देता है। यह मत ऋषि अग्निवेश का है—परन्तु हारीत ऋषि का कहना है कि उपरोक्त बताई हुई अवधि को उपरोक्त दोषानुसार स्थितियो मे दूना अर्थात् १४, १८, २२ समझना चाहिये।

अभिप्राय यह हुआ कि सन्तत ज्वर मे किसी भी स्थिति का प्रतिपक्ष न होने से वेगशील तथा चिरस्थायी होता है। तथा ज्वर की ऊष्मा धातुओ का या मल का नाश करती है। मलपाक या दोषपाक साध्य तथा धातुपाक असाध्य होता है। लम्बी बीमारी या साधारण ज्वर के बाद यदि व्यक्ति कुपथ्य सेवा मे लीन हो जाय तो दोष देह के किसी धातु मे स्थान सश्रय कर विषमज्वर को बना देता है। विषमज्वर का अर्थ है बुखार का उतर कर आना, अर्थात् सब काल मे एक स्थिति न रहना, तथा ज्वर भी एक सहश न होना, जैसे कभी शीत लगना तो कभी गर्मी होना, कभी हल्का तथा कभी भारी, फिर उतर जाता है व चढ जाता है।

जिस प्रकार जमीन मे बीज के रहने पर भी कुछ वनस्पतियें या पौधे ऋतु विशेष मे ही अकुरित होते हैं ठीक इसी तरह दोष धातुओ मे या धातु विशेष मे लीन रहते हैं। तथा अपने नियत समय पर ज्वरकारक बन जाते हैं।

पूर्वोक्त ज्वर "सन्तत" मे कोई भी विरोधी नही होता परन्तु इन भेदो मे दूष्य देश ऋतु आदि मे से किसी भी एक के बल से प्रतिद्वन्द्वीयुक्त ज्वरकारक होता है।

जब दोष को दूष्य आदि मे से किसी एक का बल प्राप्त होता है तब सन्ताप वृद्धि कर ज्वर बना देता है लेकिन साथ ही विरोधियो के होने से जब विरोधियो को शक्ति बढती है तो प्रत्यनीक बल के बढ जाने से दोषनिवृत्ति होकर रोगी अपने को स्वस्थ अनुभव करता है।

इसमे भी यदि दोष क्षीण होता है तो वह दोप धातुओ मे लीन रहता हुआ कृश (दुबलापन), विवर्णता (रग बदलना), जडता (किंकर्त्तव्यविमूढता) आदि बनाता रहता है।

इन विषमज्वरो मे दूर तथा सामीप्य के अनुसार अर्थात् जो दोष रसवाही स्रोतो के जितना अधिक निकट है जैसे सन्तत तथा सतत मे ज्वर निरन्तर बना रहता है। इसके विपरीत होने से अर्थात् रक्त वह स्रोतो के मुख दूर छोटे मुख वाले अतिसूक्ष्म होने से विलम्ब से शरीर मे फैलता है। इससे हमेशा नही रहने वाला ज्वर बनता है।

मास स्रोत और भी अधिक दूर है तथा अति सूक्ष्म है अतः इनमे दोष अधिक देर में पहुँचता है। इसी कारण से मास वह स्रोतो मे केवल एक बार आश्रित दोष से अन्येद्यु. ज्वर बनता है। जो कि सतत से अधिक विलम्ब से ज्वरकारी होता है। इसका दोष वक्ष मे रहता है।

मेदो वह स्रोत इससे भी सूक्ष्म तथा सवृत मुख वाले हैं अत इनमे स्थान बनाया हुआ दोष विलम्ब से देह मे व्याप्त होता है अतः ज्वर एक दिन छोड कर तीसरे दिन ज्वर होता है जिसे तृतीयक कहते हैं। इसका दोष कठस्थान मे रहता है।

अस्थि वा मज्जा मे रहने वाले दोष अत्यधिक विलब से व्याप्त होता है अत दो दिन छोडकर चौथे दिन आने वाले ज्वर को चतुर्थक कहते है।

	ज्वर नाम	आश्रय	काल	स्थानी दोष
	सतत	रक्तवहा नाडी	दो बार	आमाशय
	अन्येद्युः	मांसवहा नाड़ी	एक बार	वक्ष
वाताधिक्य	तृतीयक	मेदोवहा नाडी	एकान्तर	कठ
वाताधिक्य	चतुर्थक	मेदमज्जा अस्थि	दो दिन छोड़ कर	शिर
कफाधिक्य	प्रलेपक	मज्जा	नित्य	सन्धि

तृतीयक के भेद

पित्तवात — त्रिरोग्राही

कफपित्त	—	त्रिकग्राही
वातकफ	—	पृष्ठग्राही

चतुर्थक

कफ	—	जघा से शुरू
वायु	—	शिर से शुरू

सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूरदूरतरेपुच ।
दोषोरक्तादिमार्गेण शनैरल्पश्चिरेण यत् ।।

उर स्थित दोष आमाशय में जाकर अन्येद्युष्क (दूसरे दिन) तथा कठस्थित दो अहोरात्रि से, एकान्तर (तीसरे दिन) शिर स्थित दोष तीन स्थानो को लाघकर चतुर्थक (चौथे दिन आने वाले) तथा सधियो मे रहने वाला दोष प्रतिदिन प्रलेपक ज्वर को करता है । दोष को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने मे अहोरात्र का समय लगता है ।

स्थान नाम	नाम ज्वर	समय
उर आमाशय	अन्येद्युविपर्यय	पूर्वाह्ण छोड़ कर दिनरात रहना
कठ, उर, आमाशय	तृतीयकविपर्यय	तीसरे दिन नही रहता
शिर, कठ, उर, आमाशय	चतुर्थकविपर्यय	चौथे दिन नही रहता

वातेनोदीर्यमाणाश्च ह्रीयमाणाश्च सर्वत. ।
वातेनोदीरितास्तद्वद्दोषाः कुर्वन्तिवैज्वरान् ।। सु० उ० ३९

कृच्छ्रसाध्य

— सतत	काल	दूष्य	प्रकृति से तुल्य	ज्वर	निर्विरोधी
	वसन्त	मेद	कफ	कफ	
	शरद्	रक्त	पित्त	पित्त	
	वर्षा	अस्थि	वात	वात	

उपरिनिर्दिष्ट किसी एक के विरोधी होने से समय समय पर बढने व घटने के लक्षण वाला सतत बन जाता है । अर्थात् दोष के विपरीत समय आ जाने से ज्वर नष्ट हो जाता है और जब अनुकूल समय आता है तो ज्वर बढ जाता है । उपरोक्त मे से किसी एक का बल होने पर अन्येद्यु बनता है ।

शरीर की उपादेयता

लेखक . श्री अम्बादत्त व्यास 'लाडजी', जोधपुर

[जोधपुर निवासी श्री 'व्यास' वृद्धिचन्द्र जी व्यास मडप वालों के सुपुत्र है। विद्वद्वरेण्य वृद्धिचन्द्र जी महर्षि दधीचि के समान त्यागमयी भावना से ओतप्रोत तथा परपरागत माथुर जाति के धर्म-गुरु थे। आप चरित्रनायक के कृपापात्र शिष्यों में से है। लोक परिषद् के आन्दोलन के समय इन्हें जो सेवा दी जाती थी उसे आपने बडी दक्षता से वहन किया था। आप भूतकालीन जोधपुर राज्य के आयुर्वेदिक बोर्ड के सदस्य भी रहे। राजस्थान की आयुर्वेद की गतिविधियों में आपकी बडी जागरूकता रहती है व वर्तमान में आप मारवाड आयुर्वेद प्रचारिणी के प्रचार मत्री भी है। साथ ही दधिमथी शक्ति औषधालय के मुख्य चिकित्सक है व अभिनन्दन ग्रन्थ के कार्यालय सचिव ह। आपने शरीर की उपादेयता पर प्रकाश डाला है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]
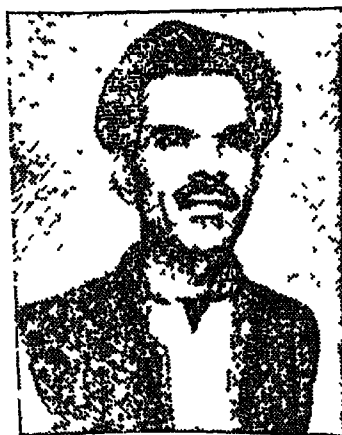
सृष्टि को हम सजीव तथा निर्जीव दो भागो मे वाट सकते हैं। सजीव सृष्टि के प्राणी वर्ग तथा वनस्पति वर्ग दो विभाग होते हैं।

प्राणी वर्ग—

ये भी हमे सूक्ष्म (छोटे) तथा स्थूल (बडे) दो विभागो मे दिखाई देते हैं। अतिसूक्ष्म जो कि एक मात्र कोश से बने होते हैं उन्हे एककोशीय जीवधारी, तथा बहुत कोशो से बने प्राणियो के बहुकोशीय जीवधारी कहते हैं। जीवधारियो के शरीर की बनावट मकान की बनावट के समान कही जा सकती है। मकान जिस प्रकार ईंट आदि के समूह से बनता है, या मकान की इकाई ईंट है, इसी प्रकार जीवधारियो के शरीर की इकाई को कोश या Cell कहते हैं। यह कोश अति सूक्ष्म होने से आखो से नही दीखता अतः इसे देखने के यन्त्र को अणुवीक्षण या सूक्ष्मदर्शक यन्त्र कहते हैं। इसके माध्यम से वस्तु कई हजार गुनी बड़ी दिखाई दे सकती है।

सजीव या चैतन्य के लक्षण—

इच्छाद्वेषः सुख दुःख प्रयत्नश्चेतना धृति. ।
बुद्धि स्मृतिरहकारो लिगानि परमात्मन. ॥

(१) उत्तेजन—सुख के प्रति इच्छा तथा दुःख के प्रति द्वेष।

(२) समीकरण—बाहरी पच महाभूतो से देह के पचभूत बनाने का प्रयत्न (आहार से धातु निर्माण)।

(३) वर्द्धन—आहार रस से देहधातुओ की उत्तरोत्तर वृद्धि - जिससे अवस्थाएँ बनती हैं (बाल्य, युवा)।

(४) उत्पादन—अपने समान दूसरे व्यक्ति को बनाना।

(५) मलोत्सर्जन—समीकरण मे बने दूषित पदार्थों का शरीर से बाहर फेकना।

उपरोक्त पाचो क्रियाऐ जीवित अवस्था मे होने के कारण से जीवन या चैतन्यता के लक्षण कही जाती हैं। ये लक्षण निर्जीव या अचेतन मे नही मिलते।

शरीर ज्ञान की आवश्यकता—

"शरीर नाम चेतनाधिष्ठानभूत पचमहाभूत विकारसमुदायत्मकं समयोगवाहि।"

शरीर सख्या यो वेद सर्वावयवशो भिषक्।
तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते।।

चिकित्सा शिक्षा मे शारीर प्रारम्भिक विषय है। इसमे सभी अवयवो के साथ शरीरसख्या (अवयव समूह) को जानना होता है क्योकि सर्वप्रथम प्रकृति से परीक्षण करना होता है। जिस प्रकार किसी भी बडे राज्य को चलाने के लिए उसके बडे-बडे विभाग किए जाते हैं वे विभाग ही अपने-अपने कार्य के लिये उत्तरदायो होते हैं। ये एक-एक विभाग कई अगो से मिल कर बनते हैं, इस प्रकार शरीर मे बनायें गये इस विभाग को सस्थान कहते हैं। इनकी सख्या नव मानी गई है।

(१) अस्थि, (२) रक्तवाहक, (३) श्वसन, (४) मास,
(५) पाचन, (६) प्रजनन, (७) विसर्ग, (८) नाड़ी,
(९) अन्तर्ग्रन्थि ।

शरीर विज्ञान के दो भेद—

(१) शरीर रचना, (२) शरीर क्रिया।

शरीर रचना—

जिस विद्या से हम शरीर की बनावट का ज्ञान प्राप्त कर सकें उसे शरीर रचना कहते हैं।

शरीर क्रिया—

जिस विद्या से हम शरीर के अगो का कार्य जान सकें उससे शरीर-क्रिया-विज्ञान कहते हैं।

शरीर रचना के भेद—

जिस बनावट को हम हमारी आखो से देख सकें उसे स्थूल रचना कहते हैं। जिस बनावट को देखने के लिए यन्त्र (अणुवीक्षण) की आवश्यकता पड़े उसे सूक्ष्म रचना कहते हैं। शरीर मे पाई जाने वाली वस्तुओ को हम चार भागो मे बाट सकते हैं।

(१) कोश, (२) मसाला, (३) सूत्र, (४) तरल।

कोश—

इसे जितना बढाकर देखा जायगा उतनी ही इसको विशेषतायें मालूम देंगी। इसकी बनावट जीवोज से होती है। जीवोज के भीतर एक मीगी होती है, मीगी मे एक अणुमीगी (चैतन्य केन्द्र) होता है। जोवोज मे मीगी से भिन्न एक बिन्दु दिखाई देता है जिसे आकर्पण गोला कहते हैं। कोशो की आकृति, परिमाण, मृदुता, कठोरता आदि उनके कार्य के अनुसार पृथक-पृथक विभिन्नता पाई जाती है। कार्यविभाग तथा रचनाविभाग से शरीर मे कई प्रकार के कोश पाये जाते हैं।

(१) चपटे—इन्हें सपाट कोश कहते हैं।

(२) स्तम्भाकार—यह घनाकार और बेलनाकार होती है।

(३) लोमस्—जिनमे से तन्तु निकले हुए रहते हैं।

(४) तरकु आकार—अर्धचन्द्र की आकृति की।

(५) मर्कटी आकार—मकड़ी के आकार की।

(६) गोल—

(७) सूची आकार—सुई की तरह लम्बी।

इनके अतिरिक्त भी कई प्रकार की आकृति के कोश होते हैं।

मसाला—

कोशो को मिलाने वाली वस्तु को मसाला कहते हैं।

सूत्र—

शरीर मे बारीक-बारीक सूत्र होते हैं जिनके मिलने से जाली व चादर सी बन जाती है जिनमे कोश फसे रहते हैं। सूत्र पीले व सफेद रग के होते हैं। पीले सूत्र अधिक स्थिति-स्थापक होते हैं।

तरल—

शरीर में स्थान स्थान पर कई प्रकार का तरल रहता है।

(१) उत्तेजन—सुख के प्रति इच्छा तथा दुःख के प्रति द्वेष।

(२) समीकरण—बाहरी पच महाभूतो से देह के पचभूत बनाने का प्रयत्न (आहार से धातु निर्माण)।

(३) वर्द्धन—आहार रस से देहधातुओ की उत्तरोत्तर वृद्धि - जिससे अवस्थाऐ बनती हैं (बाल्य, युवा)।

(४) उत्पादन—अपने समान दूसरे व्यक्ति को बनाना।

(५) मलोत्सर्जन—समीकरण मे बने दूषित पदार्थो का शरीर से बाहर फेकना।

उपरोक्त पांचो क्रियाऐं जीवित अवस्था मे होने के कारण से जीवन या चैतन्यता के लक्षण कही जाती है। ये लक्षण निर्जीव या अचेतन मे नही मिलते।

शरीर ज्ञान की आवश्यकता—

"शरीर नाम चेतनाधिष्ठानभूत पचमहाभूत विकारसमुदायत्मक समयोगवाहि।"

शरीर सख्या यो वेद सर्वावयवशो भिषक्।
तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते।।

चिकित्सा शिक्षा मे शारीर प्रारम्भिक विषय है। इसमे सभी अवयवो के साथ शरीरसख्या (अवयव समूह) को जानना होता है क्योकि सर्वप्रथम प्रकृति से परीक्षण करना होता है। जिस प्रकार किसी भी बडे राज्य को चलाने के लिए उसके बडे-बडे विभाग किए जाते हैं वे विभाग ही अपने-अपने कार्य के लिये उत्तरदायी होते हैं। ये एक-एक विभाग कई अगो से मिल कर बनते हैं, इस प्रकार शरीर मे बनाये गये इस विभाग को सस्थान कहते हैं। इनकी सख्या नव मानी गई है।

(१) अस्थि, (२) रक्तवाहक, (३) श्वसन, (४) मास,
(५) पाचन, (६) प्रजनन, (७) विसर्ग, (८) नाडी,
(९) अन्तर्ग्रन्थि।

शरीर विज्ञान के दो भेद—

(१) शरीर रचना, (२) शरीर क्रिया।

शरीर रचना—

जिस विद्या से हम शरीर की बनावट का ज्ञान प्राप्त कर सकें उसे शरीर रचना कहते हैं।

शरीर क्रिया—

जिस विद्या से हम शरीर के अगो का कार्य जान सकें उससे शरीर-क्रिया-विज्ञान कहते हैं।

शरीर रचना के भेद—

जिस बनावट को हम हमारी आखो से देख सके उसे स्थूल रचना कहते है। जिस बनावट को देखने के लिए यन्त्र (अणुवीक्षण) की आवश्यकता पडे उसे सूक्ष्म रचना कहते हैं। शरीर मे पाई जाने वाली वस्तुओ को हम चार भागो मे बाट सकते है।

(१) कोश, (२) मसाला, (३) सूत्र, (४) तरल।

कोश—

इसे जितना बढाकर देखा जायगा उतनी ही इसकी विशेषतायें मालूम देंगी। इसकी बनावट जीवोज से होती है। जीवोज के भीतर एक मीगी होती हैं, मीगी मे एक अणुमीगी (चैतन्य केन्द्र) होता है। जीवोज मे मीगी से भिन्न एक बिन्दु दिखाई देता है जिसे आकर्षण गोला कहते हैं। कोशो की आकृति, परिमाण, मृदुता, कठोरता आदि उनके कार्य के अनुसार पृथक-पृथक विभिन्नता पाई जाती है। कार्यविभाग तथा रचनाविभाग से शरीर मे कई प्रकार के कोश पाये जाते हैं।

(१) चपटे—इन्हे सपाट कोश कहते हैं।

(२) स्तम्भाकार—यह घनाकार और बेलनाकार होती है।

(३) लोमस्—जिनमे से तन्तु निकले हुए रहते हैं।

(४) तरकु आकार—अर्धचन्द्र की आकृति की।

(५) मर्कटी आकार—मकड़ी के आकार की।

(६) गोल—

(७) सूची आकार—सुई की तरह लम्बी।

इनके अतिरिक्त भी कई प्रकार की आकृति के कोश होते हैं।

मसाला—

कोशो को मिलाने वाली वस्तु को मसाला कहते हैं।

सूत्र—

शरीर मे बारीक-बारीक सूत्र होते हैं जिनके मिलने से जाली व चादर सी बन जाती है जिनमे कोश फसे रहते है। सूत्र पीले व सफेद रग के होते हैं। पीले सूत्र अधिक स्थिति-स्थापक होते हैं।

तरल—

शरीर में स्थान स्थान पर कई प्रकार का तरल रहता है।

शरीर के अंग उपांगों का विवरण—

(१) शिर—चक्षु Eye, नासिका Nose, भवे Eyebrow, ललाट Forehead, मुंह Mouth, कपोल Cheek, ऊर्ध्व ओष्ठ Upper lip, अधरोष्ठ Lower lip, ऊर्ध्वहनु Upper jaw, निम्नहनु Lower jaw, दात Tooth, ठुड्डी (चिबुक) Chin, दाढी (कूर्चं) Bread, मसूढे Gums, तालु Palate, अधिजिह्वा (शुण्डिका) Uvulva, जिह्वा Toung, गला (कठ) Pharynx throat, नकने Nares, स्वर यन्त्र Larynx, स्वरयन्त्रच्छद Epiglottis, कान Ear, कनपुटी (शख) Temple, गुद्दी (मन्या) Nape of neck, शीर्ष Top of head, मस्तिष्क Brain, कठिकास्थि Hyoid bone, टेंटुवा Trachea, अन्नप्रणाली Oesophagus gullet, कृकाटिका Back of neck, वक्षस्थल Thorax, भुजा Arm, हसली (अक्षक) Clavicle, स्तन Breasts mamma, स्तनवृन्त Nipple, पीठ Back, खवे Shoulder blade regions, फुफ्फुस Lung, हृदय Heart लसीका ग्रथिया Lymph glands, उदर Abdomen, वक्षोदरमध्यस्था (महाप्राचीरा) Diphragm, कौडी देश Epigastric region, नाभि Navel, भगसन्धि Syphysis pubis, मूत्राशय Bladder, गर्भाशय Uterns, कमर Loins, शिश्न Penis, अण्डकोष वृषण Scrotum, अण्ड Testicle, भग Vulva, योनिद्वार Veginal opening, आमाशय Stomach, अन्त्र Intestine, यकृत Liver, अग्न्याशय Pancreas, प्लीहा Spleen, वृक्क Kidney, डिम्बग्रथिया Ovaries, बस्तिगव्हर Pelvic cavity, मलद्वार Anus स्कन्ध Shoulder, कक्षा Axilla, कक्षतल Armpit axilla, कूर्पर Elbow, अग्रबाहु (प्रकोष्ठ) Fore arm, कलई Wrist, हाथ Hand, हस्ततल Palm, अगुष्ठ Thumb, कनिष्ठा Little finger, प्रदेशिनी (तर्जनी) Index, अनामिका Ring finger, मध्यमा Middle, पर्व Phalanges, नख Nail, करम Back of hand।

शरीर के घटक

लेखक : दाऊलाल जोशी, जोधपुर

["जोशी" मगनलाल जी जोशी के सुपुत्र है। परंपरा से आप वल्लभकुल सप्रदाय के आचार्य हैं। आपका चिकित्सा क्षेत्र जोधपुर के अतिरिक्त उज्जैन मालवा भी है। यहाँ आप कौण्डिन्य औषधालय के मुख्य चिकित्सक तथा चरित्रनायक के आयुर्वेदीय शिष्य है। औषधि-निर्माण में आप विशेष कौशल रखते है तथा चतुर चिकित्सा तथा स्वभाव से मृदु प्रकृति के हैं। वर्तमान में आयुर्वेद प्रचारिणी के प्रधान मत्री हैं। 'शरीर के घटक' नामक लेख पठनीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

बाहू की स्थूल रचना—

सबसे ऊपर बालो वाली त्वचा रहती है। त्वचा फल के छिलके के समान जुडी रहती है। त्वचा के नीचे चिकनाईदार पीली वसा रहती है, वसा के टुकड़े सूत्रो के बीच मे फसे रहते हैं। सूत्रो के मेल से जाली बन जाती है, जिसे झिल्ली कहते हैं। इस वसामय झिल्ली को ध्यान से काटने से सफेद रग के पतले सूत्र दिखाई देंगे। ये वात नाडिया हैं, जो मस्तिष्क से त्वचा की ओर जा रही हैं। इनको सूक्ष्म शाखाऐ त्वचा से लगी रहती हैं। त्वचा और वसा के बीच रक्त को नालिया रहती हैं। इस झिल्ली को हटाने पर लाल चमकदार मास दिखता है। मास पर भी सूत्रो से निर्मित मासावरण (मासधरा) चढा रहता है। शरीर मे मास छोटे-छोटे बडलो मे रहता है। ये बडल सौत्रिक ततुओ द्वारा जुडे रहते हैं।

मांस-पेशी—

मास का एक टुकडा जो बिना काटे पृथक कर लिया जाय मास-पेशी कहलाता है। मास-पेशियो का परिमाण भिन्न भिन्न होता है। पेशियो के बीच मे की कला मे वसा होती है। मास हटाने पर कठोर चीज मिलती है जिसे अस्थि कहते हैं।' अस्थि पर भी एक पतली झल्ली अस्थ्यावरक (अस्थिधराकला) या अस्थिवेष्ट रहता है। अस्थि को काटने पर अस्थि मे गुलाबी मायल पीला सा गूदा भरा रहता है जिसे मज्जा कहते हैं।

क्रिया शरीर की दृष्टि से देह मे चार प्रकार के धातु (तन्तु) Tissues होते हैं।

(१) मांस तन्तु—इनका कार्य गति करना व स्थितिस्थापकता करना।

जल मिश्रित तेजाब में अस्थि को कुछ देर भिगोने से अस्थि मे के निर्जीव पदार्थ घुल जाएँगे तथा सजीव पदार्थ बचे रहेगे। अस्थि जो पहिले कठोर थी वह अब मुलायम हो गई है। यह खनिज पदार्थ रहित सौत्रिक तन्तु व कोशो से निर्मित अस्थि शेष रहा है।

यदि अस्थि को भिगोने के बजाय भट्टी मे जलायें तो उसकी आकृति वही रहेगी परन्तु अब भुरभुरी इतनी हो गई कि इसे दबाने से चूरा हो जाता है। इसकी शकल सूखी तोरु के समान खनिज पदार्थ से बनी जाली सदृश हो जाती है। अस्थि मे सजीव व खनिज पदार्थ निम्न अनुपात से होते है। सजीव पदार्थ ३३ ३० । खनिज पदार्थ ६६ ७० होते हैं।

केल्शियम फोस्फेट ५१-४, कैल्शियम कार्बोनेट ११ ३० कैल्शियम क्लोराइड २·००, अन्य लवण २ ३६ खनिज पदार्थों से अस्थि मे दृढता तथा सजीव पदार्थ से लचक होती है।

अस्थि की सूक्ष्म रचना—

अस्थि को मृदु बनाकर पन्ना काट कर यन्त्रो द्वारा देखने से सौत्रिक तन्तुओं के घेरे मे मकड़ी के आकार के कोश तथा गोल छिद्र जिनमे रक्तवाहिनिया आती जाती है, दिखाई देते हैं।

तरुणास्थि की सूक्ष्म रचना—

तरुणास्थि के पतले पन्नो को अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने से इसके २ भेद दिखाई देते हैं।

(१) सूत्रमय तरुणास्थि (२) सूत्रविहीन तरुणास्थि- (सन्धिस्थानो मे)

सूत्रमय तरुणास्थि २ तरह की होती है—

(१) श्वेत सूत्रमय (कशेसका के गात्रो के बीच) (२) पीत सूत्रमय (कर्णशष्कुली, स्वरयन्त्रच्छद) पीत सूत्रमय अधिक लचकदार होते हैं।

श्वसन संस्थान

लेखक . रमेशचन्द्र जैन, आयुर्वेदरत्न, जैसलमेर

[वैद्य "जैन" श्री लक्ष्मीचन्द्र जी यति जैसलमेर-निवासी के शिष्य है जो चरित्रनायक के आयुर्वेदीय शिष्य होने के नाते श्री "जैन" प्रशिष्य है तथा चरित्रनायक की सेवा-शुश्रूषा में रह कर अध्ययन प्राप्त किया है। आपने श्वसन संस्थान के बारे में छात्रोपयोगी लेख लिखा है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

केशिकाओ के रक्त मे शरीर के कोषाणु कार्बन डाइ-ओक्साइड गैस आदि मिला देते हैं जिससे रक्त का वर्ण स्याही मॉयल हो जाता है। शरीर मे ऐसे भी कई अवयव हैं जो हानिकारक पदार्थ रक्त मे मिलाते रहते हैं। उन्हे शरीर से बाहर निकालने के मुख्य अवयव वृक्क, यकृत, प्लीहा व त्वचा है।

फुफ्फुस द्वारा रक्त शुद्धि—

फुफ्फुस से ओक्सीजन या प्राण वायु ग्रहण की जाती है तथा तीन पदार्थ निकाल जाते है।

(१) कार्बन डाइ ओक्साइड गैस,

(२) उडनशील हानिकारक पदार्थ,

(३) जलीय वाष्प।

फुफ्फुस या फेफड़ा

ये दो होते हैं उटोगुहा मे हृदय के दाहिनी व बाई ओर रहते हैं। दाहिना बाए की अपेक्षा अधिक चौडा व भारी होता है। इसका आकार शकु के समान एक ओर पतला व कम चौडा जिसे शिखर कहते हैं। यह अक्षकास्थि के पीछे रहता है। दूसरा मोटा व चौडा भाग तली या अधोभाग है। जो नीचे को वक्षोदर मध्यस्था पेशी पर रखा रहता है। फुफ्फुसो की तलियां नतोदर है। दाहिनी तली बाए से अधिक गहरी है, वक्ष को दीवार से मिला रहने वाला भाग उन्नतोदर है। हृदय के पास वाला नतोदर है, दाहिना फुफ्फुस बाए की अपेक्षा अधिक चौडा भारी परन्तु ऊचा कम होता है। यह दो दरारो से तीन खन्ड मे विभक्त रहता है। बाए मे एक दरार होती है अतः इसके दो खण्ड होते हैं। प्रौढावस्था मे इसका रग कुछ नीलाहट लिए भूरा स्लेट का सा होता है तथा गर्भ मे गहरा लाल व नवजात

पाचन-संस्थान (Digestive System)

लेखक : वैद्य मुरलीधर वैष्णव

[वैद्यराज श्री वैष्णव लालदासजी वैद्यराज के सुपुत्र हैं। वैद्य लालदासजी अपने समय में जोधपुर की गली-गली व मुहल्ले में जाकर आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रचार किया करते थे। आप चरित्रनायक के प्रति बडी श्रद्धा रखते थे। इसी कारण वैद्यराज श्री वैष्णव को चरित्रनायक द्वारा लघुत्रयी व वृहत्त्रयी का अध्ययन करवाया। अभी भी आप एस. जे. एस. औषधालय में चिकित्सक का कार्य कर रहे हैं। आपका "पाचन-सस्थान" नामक लेख बडा उपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

इसमे आहार-ग्रहण, चर्वण, क्लेदन, निगिरण, आचूषण, परिणमन आदि क्रियायें होती हैं।

मुख गुहा Oral Cavity—

इसका आकार छोटे नारियल के समान है, जिसमे जिह्वा और दात रहते हैं। इसकी छत कठिन व कोमल तालु से बनी है, नीचे जिह्वा और हनुमण्डल है। इस गुहा के द्वारपाल ओष्ठ हैं। इसमे निम्न दस भाग हैं—

१. ओष्ठ दो, २ कपोल दो, ३ दन्तवेष्ट बत्तीस, ४. दन्त बत्तीस, ५ जिह्वा, ६. तालु-पटल, ७. गल तोरणिकाएे दो, ८ उपजिह्विकाएें दो, ९ अधिजिह्वा, १०. लाला ग्रथिया छ। सब जगह सूक्ष्म कला लगी रहती है।

१. ओष्ठ Lip—

ये मुख के दो मेदो बहुल कपाट हैं जो मुख मुद्रणी पेशी से बनते है। इनके बाहरी पृष्ठ पर त्वचा और भीतरी पृष्ठ पर कला रहती है। इनका सधिकोण सृक्विकणी कहलाता है। मध्य रेखा मे स्नायुसूत्र की ओष्ठ सेवनी है।

२ कपोल Cheek—

इनकी रचना भी बाहर त्वचा और भीतर कला से है। इनमे दन्तवेष्ट और दोनो ओर कर्णमूलिक लाला स्रावी ग्रथियो के दो स्रोत दिखते हैं।

३ दन्तवेष्ट Gum—

ये भीतर अस्थिधरा कला से और ऊपर श्लैष्मिक कला से ढके हैं। इनमे दातो के लिए उलूखल होते हैं।

४. दांत Tooth—

दात बत्तीस होते हैं। दातो के तीन भाग होते हैं। १. दन्तशिखर, २. दन्तग्रीवा ३ दन्तमूल। इनके नाम इस प्रकार हैं :

छेदक दो, भेदक एक, अग्र चर्वणक दो, पश्चिम चर्वणक तीन—इस प्रकार दाए और बाए सोलह तथा नीचे और ऊपर बत्तीस।

५ जिव्हा Tounge—

स्वाद ग्रहण, चर्वण और निगलने का काम करती है। यह पेशियो से बनी और कला से ढकी है। इसमे स्वादाकुर रहते है तथा यह गले मे कठिकास्थि से बधी है, इसके पीछे मध्य में अधिजिव्हिका रहती है।

७ तालु पटल Palate—

"क" कठिन तालु Hard Palate अस्थि से बना है। "ख" कोमल तालु Soft Palate मास तन्तुओ से बना कला से ढका होता है। निगलने के समय यह ऊपर होकर गल छिद्र के आयतन को चौडा बना देता है। कोमल तालु मे पीछे एक लटकती हुई सूण्डाकार पेशी है जिसे गल सुण्डी Uvulva कहते हैं।

७ गल तोरणिकाएं The Palatine Arches of fauces—

गल छिद्र के दोनो ओर तोरणाकार भाग गल तोरणीका कहलाता है।

८ उपजिह्विका Tonsils—

गल छिद्र के दोनो ओर बेर की गुठली के आकार को दो ग्रन्थिया उपजिह्विका है।

९ अधिजिह्विका Epiglottis—

यह श्वास मार्ग को ढकने का पर्दा है।

१० लाला ग्रन्थियां Salivary glands—

छ हैं, दो कर्णाग्रवर्ती, दो जिह्वाधो वर्ती, दो हनु अधो वर्ती, इस प्रकार ये छ: लाला रस बनाती हैं जो अन्न के साथ मिलकर अन्न के सगठन श्वेतसार को शर्करा बनाने मे सहायक होता है।

ग्रसनिका Pharynx—

अन्न प्रणाली के द्वार को ग्रसनिका कहते हैं।

पाचन-संस्थान (Digestive System)

लेखक : वैद्य मुरलीधर वैष्णव

[वैद्यराज श्री वैष्णव लालदासजी वैद्यराज के सुपुत्र हैं। वैद्य लालदासजी अपने समय में जोधपुर की गली-गली व मुहल्ले में जाकर आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रचार किया करते थे। आप चरित्रनायक के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। इसी कारण वैद्यराज श्री वैष्णव को चरित्रनायक द्वारा लघुत्रयी व वृहत्त्रयी का अध्ययन करवाया। अभी भी आप एस. जे. एस. औषधालय में चिकित्सक का कार्य कर रहे हैं। आपका "पाचन-संस्थान" नामक लेख बड़ा उपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

इसमे आहार-ग्रहण, चर्वण, क्लेदन, निगिरण, आचूषण, परिणमन आदि क्रियायें होती हैं।

मुख गुहा Oral Cavity—

इसका आकार छोटे नारियल के समान है, जिसमे जिह्वा और दात रहते हैं। इसकी छत कठिन व कोमल तालु से बनी है, नीचे जिह्वा और हनुमण्डल है। इस गुहा के द्वारपाल ओष्ठ हैं। इसमे निम्न दस भाग हैं—

१. ओष्ठ दो, २. कपोल दो, ३. दन्तवेष्ट बत्तीस, ४ दन्त बत्तीस, ५ जिह्वा, ६. तालु-पटल, ७. गल तोरणिकाएं दो, ८ उपजिह्विकाएें दो, ९ अधिजिह्वा, १० लाला ग्रथिया छ। सब जगह सूक्ष्म कला लगी रहती है।

१ ओष्ठ Lip—

ये मुख के दो मेदो बहुल कपाट हैं जो मुख मुद्रणी पेशी से बनते हैं। इनके बाहरी पृष्ठ पर त्वचा और भीतरी पृष्ठ पर कला रहती है। इनका सधिकोण सृक्किणी कहलाता है। मध्य रेखा मे स्नायुसूत्र की ओष्ठ सेवनी है।

२ कपोल Cheek—

इनकी रचना भी बाहर त्वचा और भीतर कला से है। इनमे दन्तवेष्ट और दोनो ओर कर्णमूलिक लाला स्रावी ग्रथियो के दो श्रोत दिखते हैं।

३ दन्तवेष्ट Gum—

ये भीतर अस्थिधरा कला से और ऊपर श्लैष्मिक कला से ढके हैं। इनमे दातो के लिए उलूखल होते हैं।

४ दांत Tooth—

दात बत्तीस होते हैं। दातो के तीन भाग होते हैं। १. दन्तशिखर, २ दन्तग्रीवा ३. दन्तमूल। इनके नाम इस प्रकार हैं:

छेदक दो, भेदक एक, अग्र चर्वणक दो, पश्चिम चर्वणक तीन—इस प्रकार दाए और बाए सोलह तथा नीचे और ऊपर बत्तीस।

५ जिव्हा Tounge—

स्वाद ग्रहण, चर्वण और निगलने का काम करती है। यह पेशियों से बनी और कला से ढकी है। इसमे स्वादाकुर रहते हैं तथा यह गले मे कठिकास्थि से बधी है, इसके पीछे मध्य मे अधिजिव्हिका रहती है।

७ तालु पटल Palate—

"क" कठिन तालु Hard Palate अस्थि से बना है। "ख" कोमल तालु Soft Palate मास तन्तुओ से बना कला से ढका होता है। निगलने के समय यह ऊपर होकर गल छिद्र के आयतन को चौडा बना देता है। कोमल तालु मे पीछे एक लटकती हुई सूण्डाकार पेशी है जिसे गल सुण्डी Uvulva कहते हैं।

७ गल तोरणिकाएँ The Palatine Arches of fauces—

गल छिद्र के दोनो ओर तोरणाकार भाग गल तोरणीका कहलाता है।

८ उपजिह्विका Tonsils—

गल छिद्र के दोनो ओर बेर की गुठली के आकार की दो ग्रन्थिया उपजिह्विका है।

९ अधिजिह्विका Epiglottis—

यह श्वास मार्ग को ढकने का पर्दा है।

१० लाला ग्रन्थियां Salivary glands—

छ हैं, दो कर्णाग्रवर्ती, दो जिह्वाधो वर्ती, दो हनु अधो वर्ती, इस प्रकार ये छ लाला ा बनाती हैं जो अन्न के साथ मिलकर अन्न के सगठन श्वेतसार को शर्करा बनाने मे क होता है।

Pharynx—

अन्न प्रणाली के द्वार को ग्रसनिका कहते हैं।

पाचन-संस्थान (Digestive System)

लेखक : वैद्य मुरलीधर वैष्णव

[वैद्यराज श्री वैष्णव लालदासजी वैद्यराज के सुपुत्र हैं। वैद्य लालदासजी अपने समय में जोधपुर की गली-गली व मुहल्ले में जाकर आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रचार किया करते थे। आप चरित्रनायक के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। इसी कारण वैद्यराज श्री वैष्णव को चरित्रनायक द्वारा लघुत्रयी व बृहत्त्रयी का अध्ययन करवाया। अभी भी आप एस. जे. एस. औषधालय में चिकित्सक का कार्य कर रहे हैं। आपका "पाचन-संस्थान" नामक लेख बड़ा उपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

इसमे आहार-ग्रहण, चर्वण, क्लेदन, निगिरण, आचूषण, परिणमन आदि क्रियाये होती हैं।

मुख गुहा Oral Cavity—

इसका आकार छोटे नारियल के समान है, जिसमे जिह्वा और दात रहते हैं। इसकी छत कठिन व कोमल तालु से बनी है, नीचे जिह्वा और हनुमण्डल है। इस गुहा के द्वारपाल ओष्ठ हैं। इसमे निम्न दस भाग हैं—

१. ओष्ठ दो, २ कपोल दो, ३. दन्तवेष्ट बत्तीस, ४. दन्त बत्तीस, ५ जिह्वा, ६. तालु-पटल, ७. गल तोरणिकाएँ दो, ८ उपजिह्विकाऐ दो, ९. अधिजिह्वा, १०. लाला ग्रथिया छ। सब जगह सूक्ष्म कला लगी रहती है।

१ ओष्ठ Lip—

ये मुख के दो मेदो बहुल कपाट हैं जो मुख मुद्रणी पेशी से बनते हैं। इनके बाहरी पृष्ठ पर त्वचा और भीतरी पृष्ठ पर कला रहती है। इनका सधिकोण सृक्किणी कहलाता है। मध्य रेखा मे स्नायुसूत्र की ओष्ठ सेवनी है।

२ कपोल Cheek—

इनकी रचना भी बाहर त्वचा और भीतर कला से है। इनमे दन्तवेष्ट और दोनो ओर कर्णमूलिक लाला स्रावी ग्रथियो के दो स्रोत दिखते हैं।

वपा—

उदर्या कला का चार स्तर वाला भाग वपा है। यह मोटी उजली कला आँतो को सामने से ढकती है, पेदस्वी पुरुषो में मेद का सचय इसी कला मे होता है।

आमाशय स्टमक (Stomach)

भुक्त आहार का आधार मशक के आकार का कोड़ी व आमाशय प्रदेश मे तिरछा रहता है। इसके ऊपर का मुख जो अन्न प्रणाली से मिलता है हार्दिक द्वार तथा दूसरा ग्रहणी से मिलने वाला नीचे की ओर का मुद्रिका द्वार कहलाता है। इसमे कपाट लगा होता है जिसे मुद्रा कपाटिका कहते हैं। इसकी दो धाराये हैं—ऊर्ध्व व अधो, दो तल सामने का व पीछे का, इसके तीन भाग हैं। सबसे अधिक फैला हुआ भाग (आमाशय स्कन्ध) अन्नपान को धारण करने वाला (आमाशय मध्य) तथा अन्तिम छोटा भाग (आमाशय प्रणालिका) कहलाता है। इसकी लम्बाई १२ से १३ इच चौडाई ४" के और समाई १॥ सेर के लगभग है।

आमाशय की सूक्ष्म रचना—

आमाशय की दीवार चार तहो से बनी है, १ सबसे बाहर, उदर्या कला, २ मास सूत्रो से, ३ सयोजक तन्तुओ से जिसमे पाचक रस बनाने वाली छोटी-छोटी ग्रन्थिया रहती है, ४ भीतरी जो शिथिल बलियोमय होती है। इसमे पाचक रस तथा क्लेदक कफ के आने के छोटे छोटे मुख हैं। इसका प्राणदा नाडी तथा मणिपूर चक्र से सम्बन्ध है।

क्षुद्रान्त्र (Small intestine)—

यह कोमल मास से बनी बहुत लम्बी नली है जो नाभि के चारो ओर इकट्ठी रहती है। इसे पच्यमानाशय भी कहते हैं। इसका ऊपर का मुख आमाशय से तथा नीचे का बृहदन्त्र के उण्डुक से मिला रहता है। इसकी लम्बाई लगभग २२ फुट और व्यास १¼ से १½ इच तक होता है।

ग्रहणी Duodenum—

क्षुद्रान्त्र का प्रारम्भिक १२ अगुल भाग ग्रहणी है। इसमे पित्त कोष से पाचक पित्त तथा अग्न्याशय से आग्नेय रस, दो स्रोतो से चूता है। आमाशय व ग्रहणी के बीच मुद्रिका द्वार है, ग्रहणी मे आहार द्रव रुक कर पचता है। ग्रहणी के आगे क्षुद्रान्त्र के दो भाग है, ऊपर का ऊर्ध्व तथा नीचे का अधर क्षुदान्त्र कहलाता है।

क्षुद्रांत्र की सूक्ष्य रचना—

इसकी सूक्ष्म रचना चार भागो मे विभक्त है १. उदर्याकला २ मास तन्तुओ से

अन्न प्रणाली Oesophagus—

यह १ बालीस्थ लम्बी और दो अगुल मांस की नली है, असनिका से निगला गया आहार आमाशय तक इसी मार्ग से पहुचता है।

उदर गुहा Abdominal cavity—

उदर गुहा उरो गुहा से महा प्राचीरा द्वारा विभक्त होती है और नीचे श्रोणी गुहा से मिली हुई है। इसमे बहुत से पत्र यत्र रहते हैं। इनको ठीक प्रकार से जानने के लिए उदर पर दो खडी और दो पडी रेखाएं खेंची जाती हैं।

१. खडी रेखा पूरोर्ध्व कूट से चूचुक तक दोनों ओर खेंची जाती हैं।

२. पडी रेखा 'क' पर्शु काधोरेखा—दशवी पसली के नीचे सीधी खेंची जाती है।

'ख' अर्बुदान्तरिक रेखा—यह जघन चूडो के उभारो मे से गुजरती है।

दाहिना यकृत प्रदेश	कौडो प्रदेश	आमाशय प्रदेश
यकृत, पित्ताशय, वृहदन्त्र का दाहिना मोड।	यकृत, आमाशय, अनुप्रस्थ वृहदन्त्र, उदर्याकला, अग्न्याशय, वृक्क, उपवृक्क, महा धमनी, महा शिरा, मणिपूर।	यकृत, आमाशय, वृहदन्त्र का बाया मोड, प्लीहा, अग्न्याशय की पुच्छवाम, वृक्क।
दाहिना कटि प्रदेश	**नाभि प्रदेश**	**बाया कटि प्रदेश**
आरोही वृहदन्त्र, क्षुद्रान्त्र, दाहिना वृक्क।	आमाशय, पक्वाशय, अनुप्रस्थ वृहदन्त्र, क्षुद्रान्त्र, वृक्क, महाधमनी, महा शिरा, लसीका ग्रथिया।	अवरोही वृहदन्त्र, क्षुद्रान्त्र, बाया वृक्क।
दाहिना श्रोणी प्रदेश	**पेडू प्रदेश**	**बाया श्रोणी प्रदेश**
वृहदन्त्र का प्रारम्भिक भाग (उण्डुक) उण्डुक पुच्छ (अन्त्र परिशिष्ट) लसीका ग्रथियां।	क्षुद्रान्त्र, वृहदन्त्र, मूत्राशय, गर्भाशय।	वृहदन्त्र वाममूत्र प्रणाली (गवीनि) वृषण, धमनी।

उदर कला—

यह दो स्तर वाली कला है, एक स्तर सम्पूर्ण गुहा परिसरको तथा दूसरा यन्त्रो पर ढका रहता है, जलोदर रोग मे जल सचय इसी मे होता है।

वपा—

उदर्या कला का चार स्तर वाला भाग वपा है। यह मोटी उजली कला आँतो को सामने से ढकती है, पेदस्वी पुरुषो मे मेद का सचय इसी कला मे होता है।

आमाशय स्टमक (Stomach)

भुक्त आहार का आधार मशक के आकार का कोष्ठ व आमाशय प्रदेश मे तिरछा रहता है। इसके ऊपर का मुख जो अन्न प्रणाली से मिलता है हार्दिक द्वार तथा दूसरा ग्रहणी से मिलने वाला नीचे की ओर का मुद्रिका द्वार कहलाता है। इसमे कपाट लगा होता है जिसे मुद्रा कपाटिका कहते हैं। इसकी दो धारायें हैं—ऊर्ध्व व अधो, दो तल सामने का व पीछे का, इसके तीन भाग हैं। सबसे अधिक फैला हुआ भाग (आमाशय स्कन्ध) अन्नपान को धारण करने वाला (आमाशय मध्य) तथा अन्तिम छोटा भाग (आमाशय प्रणालिका) कहलाता है। इसकी लम्बाई १२ से १३ इच चौडाई ४" के और समाई १॥ सेर के लगभग है।

आमाशय की सूक्ष्म रचना—

आमाशय की दीवार चार तहो से बनी है, १ सबसे बाहर, उदर्या कला, २ मास सूत्रो से, ३ सयोजक तन्तुओ से जिसमे पाचक रस बनाने वाली छोटी-छोटी ग्रन्थिया रहती है, ४ भीतरी जो शिथिल श्लेष्मिक होती है। इसमे पाचक रस तथा क्लेदक कफ के आने के छोटे छोटे मुख हैं। इसका प्राणदा नाडी तथा मणिपूर चक्र से सम्बन्ध है।

क्षुद्रान्त्र (Small intestine)—

यह कोमल मास से बनी बहुत लम्बी नली है जो नाभि के चारो ओर इकट्ठी रहती है। इसे पच्यमानाशय भी कहते हैं। इसका ऊपर का मुख आमाशय से तथा नीचे का बृहदन्त्र के उण्डुक से मिला रहता है। इसकी लम्बाई लगभग २२ फुट और व्यास १½ से १¼ इच तक होता है।

ग्रहणी Duodenum—

क्षुद्रान्त्र का प्रारम्भिक १२ अगुल भाग ग्रहणी है। इसमे पित्त कोष से पाचक पित्त तथा अग्न्याशय से आग्नेय रस, दो श्रोतो से चूता है। आमाशय व ग्रहणी के बीच मुद्रिका द्वार है, ग्रहणी मे आहार द्रव रुक कर पचता है। ग्रहणी के आगे क्षुद्रान्त्र के दो भाग हैं, ऊपर का ऊर्ध्व तथा नीचे का अधर क्षुद्रान्त्र कहलाता है।

क्षुद्रांत्र की सूक्ष्म रचना—

इसकी सूक्ष्म रचना चार भागो मे विभक्त है १. उदर्याकला २ मास तन्तुओ से

३ स्नायु सूत्रो से इसमे श्लेष्मा तथा क्षार रस पैदा होता है ४. मृदु कला—इसमे ग्राहकांकुर रहते हैं। इन ग्राहकांकुरो से सगृहीत रस उदर की लसीकावाहिनियो मे सचरण करता हुआ ग्रन्थियो से शोधित हो रस प्रपा मे जाता है।

उण्डुक Coecum—

वृहदन्त्र और क्षुद्रान्त्र का सन्धिस्थान उण्डुक कहलाता है।

उण्डुक पुच्छ Appendix—

(अन्त्र परिशिष्ट) उण्डुक के नीचे चार अगुल लम्बी छोटी पतली नली रहती है जिसे अन्त्र परिशिष्ट कहते है।

वृहदन्त्र Colon—

इसकी लम्बाई ५ फुट के लगभग और मोटाई पैर के अगुष्ठ के बराबर है। यह दाहिने श्रोणी प्रदेश से उठता है, वामावर्त से क्षुन्द्रान्त्र की प्रदक्षिणा कर वाम श्रोणी प्रदेश मे पहुँच कुन्डलिका बनाकर गुदनलिका मे बदल जाता है इसे पक्वाशय भी कहते है। यहाँ पचे हुए अन्न का जलीय अश शोषित होता है। इसमे अकुर नही होते हैं। इसका ऊपर जाने वाला भाग आरोही कहलाता है और यह यकृत के तल तक पहुच कर आडा हो जाता है जो कि प्लीहा के तली तक जाता है इसे अनुप्रस्थ वृहदन्त्र, प्लीहा से वाम श्रोणि की तरफ नीचे जाने वाला अवरोहि वृहदन्त्र कहलाता है।

गुदनलिका (Rectum)—

यह एक बालिस्त लम्बा बृहदन्त्र का आखरी छोर है जो कि कुन्डलिका से प्रारम्भ होकर पायु द्वार से मिला रहता है इसके सामने पुरुषो मे बस्ति, स्त्रियो मे गर्भाशय व योनि है। इसके तीन भाग हैं (१) उत्तर गुद (२) मध्य गुद (३) अधर गुद।

(१) उत्तर गुद—यह थैली के समान ४॥ अगुल का है।

(२) मध्य गुद—यह दो अगुल का सकुचित बस्तिद्वार के पीछे रहता है।

(३) अधर गुद—यह अधिक सकुचित १॥ से दो अगुल लम्बा होता है।

इस नलिका मे आडे रूप मे कला से ढकी व मास तन्तुओ से बनी तीन-चार बलियें होती हैं। इनके सकोच से मल रुकता है, व प्रसार से मल विसर्ग होता है। प्रवाहिणी, विसर्जनी, व सकोचनी इनके नाम हैं।

पायुद्वार (Anus)—

अधर गुद का अध. प्रान्त पायु कहलाता है। इसके चारो ओर पतली त्वचा और बलीराजिया रहती हैं जो भीतरी श्लैष्मिक कला से जुडी है। गुदा के चारो ओर मेद से

भरा स्थान भगन्दर का आयतन है। गुद नलिका के चारो ओर का शिराचक्र अधिक रक्त पूर्ण हो जाने पर शिराओ के बीच के शिरे फूल जाते है जिससे तीव्र शूल व रक्तस्राव होने लगता है। ये रक्तार्श हैं। गुदा के चारो ओर की श्लैष्मिक कला व त्वचा के ढोले हो जाने पर शुष्कार्श हो जाते हैं।

अन्त्र बन्धनियां—

उदर्याकला के दोहरे बधन से क्षुद्रान्त्र व बृहदन्त्र बधे रहते है।

यकृत (Liver)—

यह यकृत प्रदेश कौडी और आमाशय प्रदेश मे रहने वाली सब से बडी और थोडी खोखली ग्रंथि है। इसके बाहर उदर्या कला के पतले स्तर को यकृत कोश कहते है। इसकी लम्बाई एक बालिस्त और चौडाई बीच मे से ६ अगुल और इसका भार डेढ से दो सेर तक होता है। इसके दो तल है एक ऊपर का जो कछुए की पीठ के समान (२) नीचे का जिसमे ५ सीताए होती हैं और इसकी दो धाराए सामने व पीछे की तथा दो पिण्ड होते हैं। दाहिना बडा व बाया छोटा इस प्रकार (यकृत मे ५ सीताए ५ प्रबन्धनिया तथा ५ आशयो का सम्बन्ध रहता है।

पित्त स्रोत Biliary capillaries—

यकृत मे असख्य पित्तस्रोत होते हैं। जिनमें पित्त बनता है जो याकृत पित्त नलिका से सम्बन्धित है।

पित्त कोश Gall bladder—

यह छोटी तुम्बी के आकार की एक थैली है जो यकृत के नीचे के पृष्ठ के एक गढे में रहती है। इसकी लम्बाई ५-६, चौडाई २-३ अगुल और समाई ३-४ तोला है। इसकी नलिका यकृत पित्त नलिका से जुडकर ग्रहणी में खुलती है।

अग्न्याशय Pancreas—

यह १० अगुल लम्बा और ३-४ अगुल चौडा है। आमाशय के पीछे पृष्ठ कटि कशेरुका के सामने अगंला की भाति रहता है। इसके दाहिनी ओर का मोटा भाग शिरग्रहणी की गोद में रहता है और बाई ओर का पतला पुच्छ भाग प्लीहा की गोद मे रहता है। यह ग्रंथि पित्त प्रणाली अधरा महा शिरा महा धमनी बाया वृक्क व अधिवृक्क से मिला रहता है। इसमें अग्नि रस बनता है जिसकी मात्रा दिन रात में प्राय: एक सेर होती है। यह रस एक नली द्वारा ग्रहणी में श्रुत होता रहता है। अग्न्याशय में आग्नेय रस के साथ साथ एक रस

३ स्नायु सूत्रो से इसमे श्लेष्मा तथा क्षार रस पैदा होता है ४. मृदु कला—इसमे ग्राहकांकुर रहते हैं। इन ग्राहकांकुरो से सगृहीत रस उदर की लसीकावाहिनियो मे सचरण करता हुआ ग्रन्थियो से शोधित हो रस प्रपा मे जाता है।

उण्डुक Coecum—

बृहदत्र और क्षुद्रान्त्र का सन्धिस्थान उण्डुक कहलाता है।

उडुक पुच्छ Appendix—

(अत्र परिशिष्ट) उण्डुक के नीचे चार अगुल लम्वी छोटी पतली नली रहती है जिसे अत्र परिशिष्ट कहते है।

बृहदत्र Colon—

इसकी लम्वाई ५ फुट के लगभग और मोटाई पैर के अगुष्ठ के बराबर है। यह दाहिने श्रोणी प्रदेश से उठता है, वामावर्त से क्षुन्द्रान्त्र की प्रदक्षिणा कर वाम श्रोणी प्रदेश मे पहुँच कुन्डलिका वनाकर गुदनलिका मे बदल जाता है इसे पक्वाशय भी कहते है। यहाँ पचे हुए अन्न का जलीय अश शोषित होता है। इसमे अकुर नही होते हैं। इसका ऊपर जाने वाला भाग आरोही कहलाता है और यह यकृत के तल तक पहुच कर आडा हो जाता है जो कि प्लीहा के तली तक जाता है इसे अनुप्रस्थ बृहदन्त्र, प्लीहा से वाम श्रोणि की तरफ नीचे जाने वाला अवरोहि बृहदन्त्र कहलाता है।

गुदनलिका (Rectum)—

यह एक बालिस्त लम्बा बृहदन्त्र का आखरी छोर है जो कि कुन्डलिका से प्रारम्भ होकर पायु द्वार से मिला रहता है इसके सामने पुरुषो मे बस्ति, स्त्रियो मे गर्भाशय व योनि है। इसके तीन भाग हैं (१) उत्तर गुद (२) मध्य गुद (३) अधर गुद।

(१) उत्तर गुद—यह थैली के समान ४॥ अगुल का है।

(२) मध्य गुद—यह दो अगुल का सकुचित बस्तिद्वार के पीछे रहता है।

(३) अधर गुद—यह अधिक सकुचित १॥ से दो अगुल लम्बा होता है।

इस नलिका मे आडे रूप मे कला से ढकी व मास तन्तुओ से बनी तीन-चार बलियें होती हैं। इनके सकोच से मल रुकता है, व प्रसार से मल विसर्ग होता है। प्रवाहिणी, विसर्जनी, व सकोचनी इनके नाम है।

पायुद्वार (Anus)—

गुद का अध प्रान्त पायु कहलाता है। इसके चारो ओर पतली त्वचा और हैं जो भीतरी श्लैष्मिक कला से जुडी है। गुदा के चारो ओर मेद से

भरा स्थान भगन्दर का आयतन है। गुद नलिका के चारो ओर का शिराचक्र अधिक रक्त पूर्ण हो जाने पर शिराओ के बीच के शिरे फूल जाते है जिससे तीव्र शूल व रक्तस्राव होने लगता है। ये रक्तार्श हैं। गुदा के चारो ओर की श्लैष्मिक कला व त्वचा के ढीले हो जाने पर शुष्कार्श हो जाते हैं।

अन्त्र बन्धनियां—

उदर्यीकला के दोहरे बंधन से क्षुद्रान्त्र व बृहदन्त्र बंधे रहते है।

यकृत (Liver)—

यह यकृत प्रदेश कौडी और आमाशय प्रदेश मे रहने वाली सब से बडी और थोडी खोखली ग्रंथि है। इसके बाहर उदर्या कला के पतले स्तर को यकृत कोश कहते है। इसकी लम्बाई एक बालिस्त और चौडाई बीच मे से ६ अगुल और इसका भार डेढ से दो सेर तक होता है। इसके दो तल है एक ऊपर का जो कछुए की पीठ के समान (२) नीचे का जिसमे ५ सीताए होती है और इसकी दो धाराए सामने व पीछे की तथा दो पिण्ड होते हैं। दाहिना बडा व बाया छोटा इस प्रकार (यकृत मे ५ सीताए ५ प्रबन्धनिया तथा ५ आशयो का सम्बन्ध रहता है।

पित्त स्रोत Biliary capillaries—

यकृत मे असख्य पित्तस्रोत होते हैं। जिनमें पित्त बनता है जो याकृत पित्त नलिका से सम्बन्धित है।

पित्त कोश Gall bladder—

यह छोटी तुम्बी के आकार की एक थैली है जो यकृत के नीचे के पृष्ठ के एक गढ़े में रहती है। इसकी लम्बाई ५-६, चौडाई २-३ अगुल और समाई ३-४ तोला है। इसकी नलिका यकृत पित्त नलिका से जुडकर ग्रहणी में खुलती है।

अग्न्याशय Pancreas—

यह १० अगुल लम्बा और ३-४ अगुल चौडा है। आमाशय के पीछे पृष्ठ कटि कशेरुका के सामने अर्गला की भाति रहता है। इसके दाहिनी ओर का मोटा भाग शिरग्रहणी की गोद में रहता है और बाई ओर का पतला पुच्छ भाग प्लीहा की गोद में रहता है। यह ग्रंथि पित्त प्रणाली अधरा महा शिरा महा धमनी बाया वृक्क व अधिवृक्क से मिला रहता है। इसमे अग्नि रस बनता है जिसकी मात्रा दिन रात में प्राय एक सेर होती है। यह रस एक नली द्वारा ग्रहणी मे श्रुत होता रहता है। अग्न्याशय में आग्नेय रस के साथ साथ एक रस

३ स्नायु सूत्रो से इसमें श्लेष्मा तथा क्षार रस पैदा होता है ४. मृदु कला—इसमे ग्राहकांकुर रहते हैं। इन ग्राहकांकुरो से सगृहीत रस उदर की लसीकावाहिनियो मे सचरण करता हुआ ग्रन्थियो से शोधित हो रस प्रपा मे जाता है।

उण्डुक Coecum—

वृहदन्त्र और क्षुद्रान्त्र का सन्धिस्थान उण्डुक कहलाता है।

उण्डुक पुच्छ Appendix—

(अन्त्र परिशिष्ट) उण्डुक के नीचे चार अगुल लम्बी छोटी पतली नली रहती है जिसे अन्त्र परिशिष्ट कहते है।

वृहदन्त्र Colon—

इसकी लम्बाई ५ फुट के लगभग और मोटाई पैर के अगुष्ठ के बराबर है। यह दाहिने श्रोणी प्रदेश से उठता है, वामावर्त से क्षुन्द्रान्त्र की प्रदक्षिणा कर वाम श्रोणी प्रदेश मे पहुँच कुन्डलिका बनाकर गुदनलिका मे बदल जाता है इसे पक्वाशय भी कहते हे। यहां पचे हुए अन्न का जलीय अश शोषित होता है। इसमे अकुर नही होते हैं। इसका ऊपर जाने वाला भाग आरोही कहलाता है और यह यकृत के तल तक पहुच कर आडा हो जाता है जो कि प्लीहा के तली तक जाता है इसे अनुप्रस्थ वृहदन्त्र, प्लीहा से वाम श्रोणि की तरफ नीचे जाने वाला अवरोहि वृहदन्त्र कहलाता है।

गुदनलिका (Rectum)—

यह एक बालिस्त लम्बा बृहदन्त्र का आखरी छोर है जो कि कुन्डलिका से प्रारम्भ होकर पायु द्वार से मिला रहता है इसके सामने पुरुषो मे बस्ति, स्त्रियो मे गर्भाशय व योनि है। इसके तीन भाग हैं (१) उत्तर गुद (२) मध्य गुद (३) अधर गुद।

(१) उत्तर गुद—यह थैलो के समान ४॥ अगुल का है।

(२) मध्य गुद—यह दो अगुल का सकुचित बस्तिद्वार के पीछे रहता है।

(३) अधर गुद—यह अधिक सकुचित १॥ से दो अगुल लम्बा होता है।

इस नलिका मे आडे रूप मे कला से ढकी व मास तन्तुओ से बनी तीन-चार बलियें होती हैं। इनके सकोच से मल रुकता है, व प्रसार से मल विसर्ग होता है। प्रवाहिणी, विसर्जनी, व सकोचनी इनके नाम है।

पायुद्वार (Anus)—

अधर गुद का अध. प्रान्त पायु कहलाता है। इसके चारो ओर पतली त्वचा और बलीराजिया रहती हैं जो भीतरी श्लैष्मिक कला से जुडी है। गुदा के चारो ओर मेद से

भरा स्थान भगन्दर का आयतन है। गुद नलिका के चारो ओर का शिराचक्र अधिक रक्त पूर्ण हो जाने पर शिराओं के बीच के शिरे फूल जाते है जिससे तीव्र शूल व रक्तस्राव होने लगता है। ये रक्तार्श हैं। गुदा के चारो ओर की श्लैष्मिक कला व त्वचा के ढीले हो जाने पर शुष्कार्श हो जाते हैं।

अन्त्र बन्धनियां—

उदर्याकला के दोहरे बंधन से क्षुद्रान्त्र व बृहदन्त्र बंधे रहते हैं।

यकृत (Liver)—

यह यकृत प्रदेश कौडी और आमाशय प्रदेश मे रहने वाली सब से बडी और थोडी खोखली ग्रंथि है। इसके बाहर उदर्या कला के पतले स्तर को यकृत कोश कहते हैं। इसकी लम्बाई एक बालिस्त और चौडाई बीच मे से ६ अंगुल और इसका भार डेढ से दो सेर तक होता है। इसके दो तल है एक ऊपर का जो कछुए की पीठ के समान (२) नीचे का जिसमे ५ सीताए होती है और इसकी दो धाराए सामने व पीछे की तथा दो पिण्ड होते हैं। दाहिना बडा व बाया छोटा इस प्रकार (यकृत मे ५ सीताए ५ प्रबन्धनिया तथा ५ आशयो का सम्बन्ध रहता है।

पित्त स्रोत Biliary capillaries—

यकृत मे असंख्य पित्तस्रोत होते हैं। जिनमें पित्त बनता है जो याकृत पित्त नलिका से सम्बन्धित है।

पित्त कोश Gall bladder—

यह छोटी तुम्बी के आकार की एक थैली है जो यकृत के नीचे के पृष्ठ के एक गढे में रहती है। इसकी लम्बाई ५-६, चौडाई २-३ अंगुल और समाई ३-४ तोला है। इसकी नलिका यकृत पित्त नलिका से जुडकर ग्रहणी में खुलती है।

अग्न्याशय Pancreas—

यह १० अंगुल लम्बा और ३-४ अंगुल चौडा है। आमाशय के पीछे पृष्ठ कटि कशेरुका के सामने अर्गला की भाति रहता है। इसके दाहिनी ओर का मोटा भाग शिरग्रहणी की गोद में रहता है और बाई ओर का पतला पुच्छ भाग प्लीहा की गोद में रहता है। यह ग्रंथि पित्त प्रणाली अधरा महा शिरा महा धमनी बाया वृक्क व अधिवृक्क से मिला रहता है। इसमें अग्नि रस बनता है जिसकी मात्रा दिन रात मे प्राय. एक सेर होती है। यह रस एक नली द्वारा ग्रहणी में श्रुत होता रहता है। अग्न्याशय में आग्नेय रस के साथ साथ एक रस

और बनता है जो रक्त के प्रवाह में मिलकर सर्करा का परिणमन करता है। इसका नाम इन्स्यूलिन है। इसके अभाव से मधुमेह उत्पन्न हो जाता है।

प्लीहा (Spleen)

यह अत. स्रावी ग्रथियो में से सब से बडी उदर गुहा में आमाशय प्रदेश में रहती है। यह ७ से ८ अगुल लम्बी, ४ अगुल चौडी तथा २ अगुल मोटी। इसका रग पक्के जामुन के समान तथा इसका भार १५ तोला के लगभग होता है। यह भी रक्त-शुद्धि करती है।

अस्थिसार

लेखक : कविराज गणेशीलाल रगा

[कविराज श्री रगा प० देवीलालजी वैद्यराज के सुपुत्र है। आपके पितामह दैवज्ञ श्री अमृतलालजी अपने समय के आयुर्वेदीय यशस्वी चिकित्सक चरित्रनायक के अभिन्न सुहृत् थे। श्री गणेशीलालजी रगा पठित चिकित्सक हैं। चरित्रनायक द्वारा आयुर्वेदाध्ययन के समय से आपको एकौषधि-चिकित्सा सरणी एव अन्वेषण की प्रवृत्ति प्राप्त हुई है। जिसका आप कर्मक्षेत्र में प्रयोग कर रहे है। आपका 'अस्थिसार' नामक लेख पठनीय है।

— वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

प्राणियो के देह मे अस्थि या सार रूप है। क्योकि दूसरी वस्तुएँ शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं परन्तु ये दीर्घकाल तक स्थिर रहती हैं। ये कपाल, रुचक, तरुण, वलय तथा नलक अपनी आकृति के अनुसार कहलाती हैं।

अस्थियों की सख्या—

प्रौढ मनुष्य व स्त्री के अस्थिपजर मे २०६ दो सौ छः अस्थिया होती हैं।

(१) कर्पर करोटि या खोपड़ी मे २२ बाईस अस्थिया होती है।

(२) पृष्ठवश, मेरुदण्ड, कशेरू या रीढ मे २६ अस्थिया होती हैं।

(३) ऊर्ध्व शाखाएँ (दोनो हाथो मे) ३२×२=६४ चौसठ अस्थिया हैं।

(४) निम्न शाखाएँ (दोनो पैरो मे) ३१×२=६२ बासठ अस्थिया होती हैं।

(५) वक्षस्थल मे २५ पच्चीस अस्थिया होती हैं।

(६) कान मे तीन तीन ६ छ अस्थिया होती हैं।

(७) कण्ठ मे एक १ अस्थि होती हैं।

अक्षक अस्थि—

इसके दो सिरे होते हैं।

(१) एक सिरा वक्षोडस्थि के ऊपर के भाग से

(२) दूसरा स्कन्धास्थि के अशकूट नामक भाग से बन्धा रहता है। इसके नीचे पहली पसली रहती है। इसकी लम्बाई ६ से ७ इच की है। नीचे के तल पर शकु प्रवर्धन नाम का एक उभार—जिससे एक तिरणिका आरम्भ होती है।

स्कन्धास्थि—

इसका चौडा भाग खवे मे तथा मोटा भाग कन्धे मे रहता है। मोटे भाग मे एक गड्ढा होता है जिसे अशपीठ कहते हैं। यहा बाहू की अस्थिका शिर मिला और बन्धा रहता है। चौडे भाग के दो पृष्ठ होते हैं।

(१) एक सामने का जो पसलियो के पास मे रहता है।

(२) दूसरा पिछला जो स्पर्श किया जा सकता है।

पिछले पृष्ठ पर के उभार को अशप्रचीरक कहते हैं। अशप्रचीरक कन्धो की ओर जाकर प्रवर्धन की शकल मे हो गया है। इसे अशकूट कहते हैं। इसके तीन किनारे होते हैं।

(१) ऊपर का उर्ध्वधारा सबसे छोटा।

(२) पृष्ठवश की ओर का सबसे लम्बा वशानुगाधाट।

(३) कक्षतल की ओर वाला कक्षानुगा धारा कहलाता है जो सबसे मोटा होता है। ऊपर के किनारे के पास अशतुण्ड नामक मुडा हुआ उभार होता है। इस अस्थि से सोलह मास पेशिया लगी रहती हैं।

प्रगण्डास्थि—

इसके दो सिरे होते हैं। ऊपर का सिरा स्कन्धास्थि की ओर रहता है। नीचे सिरा कोहनी मे जिससे प्रकोष्ठ की दोनो अस्थिया मिली रहती हैं। दोनो सिरो के बीच भाग को गात्र कहते है। ऊपर के सिरेका प्रारम्भिक भाग अर्धगोलाकार होता है जिसे वि कहते हैं जो अश पीठ से मिला रहता है शिर के नीचे दबा हुआ भाग ग्रीवा है। ग्रीवा नीचे दो उभार (१) एक बडा महापिण्ड, (२) छोटा लघुपिण्ड। इन दोनो के बीच नाली जैसे अन्तर को पिण्डकान्तरिका परिखा कहते हैं। गात्र का ऊपर का भाग बेलनाकार और नीचे का कुछ, कुछ, त्रिपार्श्विक होता है। नीचे के सिरे पर दो उभार होते है जो कुहनी मे टटोल कर स्पर्श किये जा सकते हैं। (१) भीतर की ओर का अन्तराबुद (२) बाहर का वाह्यार्बुद कहलाता है। अन्तरा बुंद-बाह्यबुंद की अपेक्षा बडा और कुछ मुडा हुआ रहता है। अन्तराबुंद के पीछे एक परिखा होती है जहा अन्तरा प्रकोष्ठिका नाडी रहती है। नीचे का सिरा प्रकोष्ठ की दोनो अस्थियो से मिला रहता है। मेल के लिए उस पर गड्ढे और उभार है। अन्तराबुंद के पास सामने की ओर खाचा है उसे डमरूक कहते हैं। जहा अन्त प्रकोष्ठास्थि का सिर मिला रहता है।

बाह्यार्बुद के पास जो उभरा हुआ भाग है उसे कदली कहते हैं। यह बहि प्रकोष्ठास्थि से मिलता है। सामने की ओर डमरूक के ऊपर चचुखात नामक एक गड्ढा होता है। जब कोहनी मुडती है तो चचुप्रवर्धन यहा पर टिकता है। पीछे की ओर डमरूक के ऊपर जो बडा खात है उसे कूर्परखात कहते हैं। कोहनी सीधी करने पर कूर्परकूट यहा लगता है। गात्र के मध्य मे बाहर की ओर असार्बुद नामक उभार होता है। गात्र के अग्र मध्य बाह्य धारा तीन किनाई व तीन पृष्ठ होते हैं।

प्रकोष्ठास्थियाँ—

प्रकोष्ठ या अग्र बाहु मे दो अस्थियां होती हैं।

(१) मध्य रेखा के अन्दर कनिष्ठा की तरफ अन्तःप्रकोष्ठा।

(२) मध्य रेखा के बाहर अगुष्ठ की ओर वाली बहिःप्रकोष्ठास्थि कहलाती है।

बहिःप्रकोष्ठास्थि—

इसके दो सिरे होते हैं ऊपर का सिरा शिर कहलाता है। उसके नीचे ग्रीवा है। इसका नीचे का सिरा चौडा तथा करभ अस्थियो से मिला रहता है। दोनो सिरो के मध्य का भाग गात्र है। यह नलकास्थियो मे है।

अन्तःप्रकोष्ठास्थि—

इसके भी दो सिरे व दोनो सिरो के बीच का मध्य भाग गात्र कहलाता है। ऊपर का सिरा मोटा व दृढ है जिसमे दो प्रवर्धन हैं।

(१) बडा कूर्परकूट है जो कि प्रगण्डास्थि के डमरूक नामक भाग से मलता है।

(२) चचु के आकार का प्रवर्धन चचुप्रवर्धन कहलाता है। इसका अधःप्रान्त पतला होता चला गया है और नीचे गोल होने से शिर कहलाता है।

मणिबन्ध की अस्थियें—

कलई मे आठ अस्थिया दो पक्तियो मे रहती हैं। (१) पहली पक्ति मे नौ निभ, अर्ध चन्द्राकार, त्रिकोणक और मटराकार तथा (२) दूसरी पक्ति मे पर्याणक, कूटक, मध्य कूटक और फणधर होती है। इन्हें कूर्चास्थिया भी कहते हैं।

करभास्थियाँ—

ये पाच होती हैं इनमे कनिष्ठा की ओर की छोटी व पतली तथा अगूठे की ओर की छोटी व मोटी होती है। इनके दो सिरे व बीच मे का भाग गात्र कहलाता है।

अगुलीस्थियां—

उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार अगुलियो के पर्वो तोन तीन अस्थिया तथा अगूठे मे दो होने से कुल चौदह अगुल्यस्थिया होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक उर्ध्व शाखा में बत्तीस अस्थियो का वर्णन किया गया है।

निम्न शाखा या अधो शाखा—

चार अस्थियो के मिलने से बस्तिगह्वर बनता है, बस्तिगुहा पुरुषो मे गहरी और कम चौडी होती है। स्त्रियो मे उथली, बड़ी एव चौड़ी होती है। इन चारो अस्थियो मे दो का नाम नितम्बास्थि है।

नितम्बास्थि—

इसो का नाम श्रोणी फलक है। यह विरूपास्थि है जो कि तिरछी लगी रहती है। यह सामने आपस मे मिलती है तथा पीछे त्रिकास्थि से मिलती है। यौवन के प्रारम्भ में यह तीन भागो मे विभक्त रहतो है। (१) जघन (२) ककुन्दर (२) भग। परन्तु युवावस्था मे तीनो मिल कर एक हो जातो हैं। इन तीनो अस्थियो के सन्धि स्थान पर गहरा गड्ढा होता है जिसे वक्षणोलूखल कहते हैं। उरू अस्थि का शिर स्नायुओ द्वारा इसीमे बन्धा रहता है। इसके ऊपर का भाग जघन चूडा कहलाता है। इसके सामने दो उभार है।

(१) एक ऊपर का (२) दूसरा नीचे। ऊपर वाला पुरोर्ध्वकूट, नीचे वाला पुराधकूट कहलाते हैं। इसी प्रकार पोछे की तरफ के उभारो को पश्चिमोर्ध्वकूट तथा पश्चिमाधकूट कहते हैं।

बैठने पर जहा मनुष्य का वजन रहता है उसे ककुन्दर पिण्ड कहते हैं। ककुन्दर पिण्ड के ऊपर शृग है। वह ककुन्दरकण्टक कहलाता है। सामने का भाग जहो दोनो अस्थियें आपस मे मिलती हैं वह भगसन्धि कहलातो है। प्रजनन अवयवो का सम्बन्ध इसी से है। वक्षणोलूखल के सामने एक बड़ा छेद होता है जसे गवाक्ष कहते हैं।

उरूअस्थि—

यह शरीर की सबसे लम्बी और दृढ अस्थि है। इसका ऊपर का सिरा शिर कहलाता है। शिर के नोचे ग्रीवा है। शिर का ग्रोवा के साथ कोण बनता है। ग्रीवा जहा गात्र से मिलती है वहा उभार होते हैं। बडा महा शिखरक छोटा लघु शिखरक कहलाता है। इस का नीचे का सिरा अत्यन्त दृढ और मोटा है। इस पर दो उभार होते हैं।

(१) बड़ा महार्बुद (२) छोटा उपार्बुद है। इनके बीच के भाग को अर्बुदान्तराल

कहते हैं। अस्थि का गात्र लम्बा है। सामने की ओर चिकना, पिछे की ओर खुरदरा होता है।

जान्वस्थि—

यह गोल आकार की जानु के सामने रहने वाली कपालास्थि है। इसकी किसी अस्थि के साथ सन्धि नही रहती। यह ऊपर रहती है।

जङ्घास्थियां—

टाग मे दो अस्थियां होती है। एक बडी व दूसरी छोटी। बडी को जघास्थि तथा छोटी को अनुजघास्थि कहते हैं।

जङ्घास्थि—

यह भी लम्बी अस्थि है। इसके दो सिरे होते हैं। ऊपर के सिरे पर दो उभार होते है। इनके ऊपर दो स्थालक होते हैं जो उर्वस्थि के अधोभाग के कन्दो के साथ जुडने के लिए है। इन दोनो चिन्हो के बीच दो मुख वाला कण्टक जघा कण्टक है। नीचे का सिरा ऊपर के सिरे से छोटा होता है तथा उसमे स्थालक होता है। जो कि टखने की कुर्चास्थि से जुडा रहता है। और इसमे नीचे की तरफ प्रवर्धन होता है। जो अन्तर्गुल्फ बनता है। इस अस्थि का गात्र थोड़ा सा टेढ़ा और बाहर की ओर खातोदर होता है। इसके गात्र पर तीन धाराएं होती हैं।

अनुजङ्घास्थि—

यह जघास्थि से पतली अस्थि है। इसके दो सिरे व मध्य का गात्र कहलाता है। ऊपर का सिरा जघास्थि से मिला रहता है तथा नीचे के सिरे से बहिर्गुल्फ बनता है। इसका गात्र मरोड़ा हुआ तीन धार वाला होता है।

पैर की कूर्चास्थियां—

इनसे पैर के पीछे का भाग बनता है। यह छोटी स्थूल व विषम आकृति की होती है। इनकी संख्या ७ है। इन्हें शलाकाविष्ठान भी कहते हैं। इनके नाम कूर्चशिर, पार्ष्णि, नौकाकृति, घन, अन्त. कोणक, मध्य कोणक, बहि कोणक है।

पादागुल्यस्थियां—

हाथ की तरह पैर मे भी पाच शलाकास्थियां तथा चौदह पर्वास्थियां होती हैं।

वक्षोऽस्थि—

(उरः फलक) यह वक्ष के बीच मे सामने रहती है। यह तीन खण्डो से बनता है।

उपर का पहिला खण्ड षट्कोण, बीच का चपटा तथा तीसरा त्रिकोणाकार है। जो तरूणास्थि से बना है। परन्तु वृद्धावस्था मे यह भी अस्थिमय हो जाता है।

(१) प्रथम खण्ड मे दोनो ओर तीन तीन स्थालक होते हैं। एक अक्षक से मिलने के लिए तथा दूसरा प्रथम पशुंका से व नीचे के स्थालक पर दूसरी उपपसुंका का आधा हिस्सा जुडता है।

(२) द्वितीय खण्ड या मध्य फलक—

इसके बाल्यावस्था मे चार भाग होते हैं। युवावस्था मे एक हो जाता है। इसके प्रत्येक ओर छ. छ उपपसुंकाओ से मिलने के लिए स्थालक होते हैं।

(३) तृतीय खण्ड या अग्रपत्र—

यह तरूणास्थिमय तीसरा खण्ड है।

पशुंकाये—

वक्षोस्थि के प्रत्येक ओर बारह बारह पशुंकाऐ होती हैं। ये सब पीछे कशेरू से मिली रहती हैं तथा सामने की ओर उप पसुंका से मिलती है। उनमे (१ से ७) एक से सात तक उत्तरोत्तर बडी होती चली गई हैं। तथा नीचे की पाच फिर यथाक्रम से छोटी होती चली गई है। आठवी, नवमी, दसवी उपपसुंकाऐं अपने से ऊपर वाली उपपसुंका से जुडी रहती है। तथा ग्यारहवी और बारहवी खुली रहती है। जिन्हें कमर पर दबा कर छुआ जा सकता है।

पशुंका वर्णन—

प्रत्येक पशुंका मे मुण्ड, अर्बुद, ग्रीवा, कोण, गात्र तथा अग्रकोटि, छ अवयव होते हैं। कशेरू से मिलने वाला पशुंका सिरा मुण्ड कहलाता है। मुण्ड के नीचे का उभार अर्बुद और मुण्ड के बीच का भाग ग्रीवा। अर्बुद के सामने जहा अस्थि मुडती है कोण कहलाता है। मुडा हुआ टेढा पशुंका मध्य भाग काण्ड या गात्र कहलाता है। उपपशुंका से मिलने वाला खुरदरा सिरा अग्रकोटि कहा जाता है। प्रथम पशुंका सबसे छोटी तथा ग्यारहवो व बारहवी मे अर्बुद नही होता।

पृष्ठवश—

मध्य शरीर, शाखाऐं तथा सिर का आश्रय मेरुदण्ड है। सुषुम्ना नाडी इसीमे रहती है। यह दण्ड चोबीस अस्थि के टुकडो से बनता है। तथा यह खोखला होता है। यह ऊपर सिर से तथा नीचे त्रिकास्थि से जुडा रहता है। इसमे तीन स्थानो पर टेढापन होता है। ग्रीवा के सात पृष्ठ मे बारह और कमर के चार काण्ड होते हैं।

कशेरुका—

पृष्ठवंश को बनाने वाले अस्थि खण्ड को कशेरुका कहते हैं। इसकी आकृति अंगूठी से कुछ कुछ मिलती है। कशेरुका के दो भाग होते हैं। (१) गात्र (२) चक्र। इसका गात्र पिण्डाकार व कम ठोस होता है। और चक्र के मध्य मे एक बडा छिद्र होता है। उसे सुषुम्ना छिद्र कहते हैं। चक्र मे और भी चार छोटे छोटे आधे छिद्र होते हैं। जो कि दो कशेरुकाओ के मिल जाने पर पूर्ण छिद्र बन जाते हैं जिनमे सुषुम्ना की शाखाएं निकलती हैं। इसके पीछे की ओर का प्रवर्धन पृष्टकटक तथा पार्श्व के प्रवर्धन कशेरु बाहु कहलाते हैं। कशेरु बाहु के प्रारम्भ मे दो सन्धि के प्रवर्धन को सन्धिप्रवर्धन कहते हैं।

ग्रीवा के कशेरु—

इनका गात्र छोटा, अधिक ठोस, तथा सुषुम्ना—छिद्र त्रिकोण। पृष्ट कटक छोटा व आगे से दो भागो मे विभक्त ऊपर से नीचे की ओर के कशेरुको के पृष्ट कटक लम्बे होते चले गये हैं। पार्श्वप्रवर्धन मे दोनो ओर छिद्र होते हैं जिन्हे मातृका छिद्र कहते हैं। जिनमें मातृका धमनी रहती है। दूसरे ग्रीवा कशेरुका मे दात के समान दन्त प्रवंधन विशेष होता है। तथा सातवें का—पृष्ठ कटक गोल, तथा लम्बा होता है।

पृष्ठ कशेरु—

इन कशेरुकाओ के गात्र मध्यम आकृत्ति के होते हैं और उनमे दो सन्धि चिन्ह पर्शुका के गात्र के मूल के मिलने के लिये होते हैं। इनके बाहुप्रवर्धन पर भी एक एक स्थालक होता है। जहा पर पर्शुका का अर्बुद मिलता है। पृष्टकटक उतरोत्तर बड़े व गोल मुख वाले होते हैं।

कटिकशेरु—

इनके गात्र सबसे बड़े व चौडे होते हैं। पार्श्व प्रवर्धन छोटे और तीन मुखवाले होते हैं। पृष्टकटक मोटे व पतले होते हैं।

त्रिकास्थि—

पृष्ठ वंश के नीचे दोनो नितम्बास्थियों के बीच त्रिकोणाकार अस्थि है। यह भी प्रारम्भ मे पाच कशेरुकाओ से मिलकर बनी है। इसके सामने चार रेखाओ से मिले हुए २ छिद्र होते हैं। इसके ऊपर के सिरे पर दो त्रिकशृग हैं जिनसे कटि कशेरुका के नीचे के सन्धिप्रवंन जुडे रहते हैं। इसके पीछे की ओर पाच कटक हैं। नितम्बास्थियो से मिलने के सन्धि चिन्ह त्रिक पक्ष कहलाते हैं अनुत्रिकास्थि के ऊपर रहने वाले इसका नीचे का सिरा त्रिकमूल कहलाता है। त्रिकास्थि के बीच मे रहने वाला रिक्त स्थान, त्रिकगुहा कहलाता है जिसमे सुषुम्ना का अन्तिम भाग रहता है।

अनुत्रिकास्थि—

यह मुडी हुई छोटी छोटी चार कशेरूकाओ से मिली अस्थि है। इसके ऊपर के शृंग त्रिकमूल से मिले रहते हैं। इसे गुदास्थि कहते हैं।

शिर

समस्त ज्ञानेन्द्रियो का आधार व प्राणो का आश्रय उत्तमाग शिर है। यह पृष्ठ वश पर टिका रहता है। शिर की २२ अस्थियो मे से चेहरे मे १४, करोटी को बनाने वाली, ८ अस्थियाँ होती हैं। इनमे से ललाटास्थि १, पार्श्विकास्थि दो, शखास्थि दो, पाश्चात्यस्थि १, यह ६ तो करोटी मे बाहर से देखी जा सकती हैं। जतूकास्थि, झर्झरास्थि ये दो अस्थिया करोटी की तली मे रहती हैं। पाश्चात्यास्थि या पश्चिम कपाल—

यह कपाल की पिछली अस्थि है। यह शिर की गोलाई के अनुसार मुडी हुई होती है। इससे कपाल की छत का पिछला भाग तली तथा फर्श बनते हैं। जहा यह मुडती है वहा एक बडा छिद्र सुषुम्ना छिद्र है। छिद्र के सामने का भाग समस्थ है या पडा है और पीछे का भाग खडा है। छिद्र के इधर उधर दो उभार हैं जो कि ग्रीवा के प्रथम कशेरूका के सधि प्रवर्धनो के ऊपर टिकते हैं। इन्हे आलम्बकूट कहते हैं।

उर्ध्व भाग का अगला किनारा दोनो पार्श्विकास्थियो के पिछले किनारे से तथा समस्थ भाग के किनारे शखास्थियो के किनारे से और समस्थ भाग का सिरा जतूकास्थि से जुडा रहता है। दो माह के बालको मे जहा पार्श्विकास्थि से मेल होता है वहा एक गढा होता है। यहा भी छूने से फडकन मालूम होती है। इसे अधिपतिरन्ध्र कहते हैं। इसीके ऊपर हिन्दुओ मे चोटी रखने का रिवाज है।

पृष्ठ तल—

यह शिर सम्पुट के बाहर रहता है। इसका कपाल भाग कछुए की पीठ के समान उन्नतोदार होता है। इस उभार को पश्चिमार्बुद कहते हैं। मूल भाग के दोनो ओर छोटे-छोटे उभार हैं जिन्हें मूलकोटि कहते हैं जो प्रथम ग्रीवा कशेरूका के स्थालको से मिलते हैं। यह अस्थि ६ अस्थियो से मिलती है।

ललाटास्थि—

(पुर कपाल)—शिर के कोष्ट को अगले भाग की अस्थि को ललाटास्थि कहते हैं इसमे दो भाग होते हैं (१) भ्रुवो के ऊपर का (ऊर्ध्व या खडा भाग) (२) उसके नीचे (समस्थ या पडा भाग)

भ्रुवो के स्थान मे अस्थि मुड गई है। इसके ऊपर का भाग चोटी की ओर जाता है और नीचे का भाग नीचे पीछे को जाता है।

समस्थ या पड़ा—

मध्य रेखा मे कटा रहता है। इस कटी हुई घाई मे झर्झरास्थि का एक अश फसा रहता है। इसके दो पृष्ठ होते हैं। (१) पहला ऊपर का (२) दूसरा नीचे का (ऊपर के पृष्ठ से कपाल की तली का अगला भाग बनता है और उस पर मस्तिष्क का अगला भाग रखा रहता है। नीचे के पृष्ठ से अक्षि गुहा की छतें बनती हैं।

खड़ा भाग—

खड़े भाग के अगले पृष्ठ से माथा व पिछले पृष्ठ से कपाल की अगली दीवार तथा कुछ छत बनती है। नवजात बालको मे इसके दायें बाये दो भाग होते हैं और उनके बीच झिल्ली रहती है।

पार्श्विकास्थि (पार्श्वकपाल)—

ललाटास्थि के पोछे कपाल की छत मे दो चौडी और चपटी अस्थिया हैं इनसे शिरो गुहा का बीच का कुछ पार्श्व का भाग बनता है। एक दाहिनी ओर व दूसरी बायी ओर रहती है। यह अस्थि चौकोर है अतः इसमें चार कोण व चार किनारे होते हैं। यह शिर की गोलाई के अनुसार बीच में से मुडी रहतो है। इसका अगला किनारा ललाटास्थि के ऊर्ध्व भाग के पिछले किनारे से तथा ऊपर का किनारा दूसरी पार्श्विकास्थि से, पिछला पाश्चात्यस्थि के अगले किनारे से व नीचे का टेढा किनारा शखास्थि के किनारे से मिला रहता है। इसमें दो पृष्ठ आभ्यन्तर व बाहर का होता है।

इन चारो अस्थियो के जोड के स्थान पर नवजात बालको में एक गड्ढा होता है जहा छूने पर फडकन मालूम देतो है। यहा अस्थि नही बनी है केवल मृदु झिल्ली है। यह स्थान ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है। दो वर्ष की आयु मे यह गढा बन्द हो जाता है।

शखास्थि—

पार्श्विकास्थि के नीचे के किनारे से एक बेडोल (विरूप) अस्थि लगी रहती है जिस पर कान लगा रहता है और इसी छिद्र मे श्रवणेन्द्रिय भी रहती है। इसके बाहरी पृष्ठ पर मध्य मे एक छिद्र होता है जो कि कान का बाहरी छिद्र है। इसके ठीक पीछे एक बडा उभार होता है जिसे शिफा प्रवर्धन कहते हैं। छिद्र के आगे और कुछ उसके नीचे एक गड्ढा होता है जिसे हनुसधि स्थालक कहते हैं। इस गड्ढे के ऊपर छिद्र के आगे एक लम्बा प्रवर्धन गण्ड प्रवर्धन रहता है। छिद्र और प्रवर्धन के ऊपर का भाग शख चक्र कहलाता है। शखस्थि के भीतरी पृष्ठ पर एक मोटा त्रिपार्श्विक भाग जो कि पत्थर जैसा सख्त होता है अश्मकूट कहलाता है। इसके तोन पृष्ठ सामने का व पोछे का और नीचे का। नीचे का पृष्ठ कपाल की तलो को देखने से दिखता है। जिसमे कई गड्ढे छिद्र तथा एक कील जैसा उभार शिफा

अनुत्रिकास्थि—

यह मुडी हुई छोटी छोटी चार कशेरूकाओ से मिली अस्थि है। इसके ऊपर के शृंग त्रिकमूल से मिले रहते हैं। इसे गुदास्थि कहते हैं।

शिर

समस्त ज्ञानेन्द्रियो का आधार व प्राणो का आश्रय उत्तमाग शिर है। यह पृष्ठ वंश पर टिका रहता है। शिर की २२ अस्थियो मे से चेहरे मे १४, करोटी को बनाने वाली, ८ अस्थियाँ होती हैं। इनमे से ललाटास्थि १, पार्श्विकास्थि दो, शखास्थि दो, पाश्चात्यस्थि १, यह ६ तो करोटी मे बाहर से देखी जा सकती हैं। जतूकास्थि, झर्झरास्थि ये दो अस्थियां करोटी की तली मे रहती हैं। पाश्चात्यास्थि या पश्चिम कपाल—

यह कपाल की पिछली अस्थि है। यह शिर की गोलाई के अनुसार मुडी हुई होती है। इससे कपाल की छत का पिछला भाग तली तथा फर्श बनते हैं। जहा यह मुडती है वहा एक बडा छिद्र सुषुम्ना छिद्र है। छिद्र के सामने का भाग समस्थ है या पडा है और पीछे का भाग खडा है। छिद्र के इधर उधर दो उभार हैं जो कि ग्रीवा के प्रथम कशेरूका के संधि प्रवर्धनो के ऊपर टिकते हैं। इन्हे आलम्बकूट कहते हैं।

ऊर्ध्व भाग का अगला किनारा दोनो पार्श्विकास्थियो के पिछले किनारे से तथा समस्थ भाग के किनारे शखास्थियो के किनारे से और समस्थ भाग का सिरा जतूकास्थि से जुडा रहता है। दो माह के बालको मे जहा पार्श्विकास्थि से मेल होता है वहा एक गढा होता है। यहा भी छूने से फडकन मालूम होती है। इसे अधिपतिरन्ध्र कहते हैं। इसीके ऊपर हिन्दुओ मे चोटी रखने का रिवाज है।

पृष्ठ तल—

यह शिर सम्पुट के बाहर रहता है। इसका कपाल भाग कछुए की पीठ के समान उन्नतोदार होता है। इस उभार को पश्चिमार्बुद कहते हैं। मूल भाग के दोनो ओर छोटे-छोटे उभार हैं जिन्हें मूलकोटि कहते हैं जो प्रथम ग्रीवा कशेरूका के स्थालको से मिलते हैं। यह अस्थि ६ अस्थियो से मिलती है।

ललाटास्थि—

(पुर कपाल)—शिर के कोष्ट को अगले भाग की अस्थि को ललाटास्थि कहते हैं इसमे दो भाग होते है (१) भ्रुवो के ऊपर का (ऊर्ध्व या खडा भाग) (२) उसके नीचे (समस्थ या पडा भाग)

भ्रुवो के स्थान मे अस्थि मुड गई है। इसके ऊपर का भाग चोटी की ओर जाता है और नीचे का भाग नीचे पीछे को जाता है।

समस्थ या पड़ा—

मध्य रेखा मे कटा रहता है। इस कटी हुई घाई मे झर्झरास्थि का एक अंश फसा रहता है। इसके दो पृष्ठ होते हैं। (१) पहला ऊपर का (२) दूसरा नीचे का (ऊपर के पृष्ठ से कपाल की तली का अगला भाग बनता है और उस पर मस्तिष्क का अगला भाग रखा रहता है। नीचे के पृष्ठ से अक्षि गुहा की छतें बनती हैं।

खड़ा भाग—

खड़े भाग के अगले पृष्ठ से माथा व पिछले पृष्ठ से कपाल की अगली दीवार तथा कुछ छत बनती है। नवजात बालको मे इसके दायें बाये दो भाग होते है और उनके बीच झिल्ली रहती है।

पार्श्विकास्थि (पार्श्वकपाल)—

ललाटास्थि के पीछे कपाल की छत मे दो चौडी और चपटी अस्थिया हैं इनसे शिरो गुहा का बीच का कुछ पार्श्व का भाग बनता है। एक दाहिनी ओर व दूसरी बायी ओर रहती है। यह अस्थि चौकोर है अतः इसमें चार कोण व चार किनारे होते हैं। यह शिर की गोलाई के अनुसार बीच में से मुडी रहतो है। इसका अगला किनारा ललाटास्थि के ऊर्ध्व भाग के पिछले किनारे से तथा ऊपर का किनारा दूसरी पार्श्विकास्थि से, पिछला पाश्चात्यस्थि के अगले किनारे से व नीचे का टेढा किनारा शखास्थि के किनारे से मिला रहता है। इसमे दो पृष्ठ आभ्यन्तर व बाहर का होता है।

इन चारो अस्थियो के जोड के स्थान पर नवजात बालको में एक गड्ढा होता है जहा छूने पर फडकन मालूम देतो है। यहा अस्थि नही बनी है केवल मृदु झिल्ली है। यह स्थान ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है। दो वर्ष की आयु मे यह गढा बन्द हो जाता है।

शखास्थि—

पार्श्विकास्थि के नीचे के किनारे से एक बेडोल (विरूप) अस्थि लगी रहती है जिस पर कान लगा रहता है और इसी छिद्र मे श्रवणेन्द्रिय भी रहती है। इसके बाहरी पृष्ठ पर मध्य मे एक छिद्र होता है जो कि कान का बाहरी छिद्र है। इसके ठीक पीछे एक बडा उभार होता है जिसे शिफा प्रवर्धन कहते हैं। छिद्र के आगे और कुछ उसके नीचे एक गड्ढा होता है जिसे हनुसधि स्थालक कहते हैं। इस गड्ढे के ऊपर छिद्र के आगे एक लम्बा प्रवर्धन गण्ड प्रवर्धन रहता है। छिद्र और प्रवर्धन के ऊपर का भाग शख चक्र कहलाता है। शखस्थि के भीतरी पृष्ठ पर एक मोटा त्रिपार्श्विक भाग जो कि पत्थर जैसा सख्त होता है अश्मकूट कहलाता है। इसके तोन पृष्ठ सामने का व पोछे का और नीचे का। नीचे का पृष्ठ कपाल की तलो को देखने से दिखता है। जिसमे कई गड्ढे छिद्र तथा एक कील जैसा उभार शिफा

प्रवर्धन रहता है। पिछले पृष्ठ पर एक छिद्र होता है। जिसे कर्णाद्वार कहते हैं। अगला पृष्ठ कपाल के भीतर रहता है जिस पर मस्तिष्क रखा रहता है।

इसके चौडे भाग का ऊपर का किनारा पार्श्विकास्थि से और पिछला किनारा पश्चात् अस्थि से तथा त्रिपार्श्विक भाग पाश्चात्यास्थि के समस्थ भाग से मिला रहता है।

जतूकास्थि—

इसकी आकृति पर फैलाए तितली के आकार की है। यह कपाल की तली में पश्चादस्थि के समस्थ भाग के आगे ललाटास्थि के समस्थ भाग के पीछे दोनो शखास्थियो के बीच फँसी रहती है। इसका तितली के धड जैसा मोटा भाग गात्र कहलाता है जिसमे दोनो ओर दो पंख है (१) पतला व छोटा (२) मोटा और चौडा। इसमे कई छिद्र होते हैं। गात्र के नीचे के पृष्ठ से दो प्रवर्धन निकले हुए हैं जिन्हें जतूकाचरण कहते हैं। गात्र का पिछला पृष्ठ पश्चात् अस्थि से व अगला बहु छिद्रस्थि से जुडा रहता है। इसका गात्र खोखला है जिसमे वायु भरी रहती है।

झर्झरास्थि (बहु छिद्रास्थि)—

यह अस्थि खोखली और हल्की होती है। कपाल की तली में इसका वही भाग दिखाई देता है जो कि ललाटास्थि की घाई में फसा रहता है। यह पतरे के समान पतला और बहुत छेद वाला होता है। इसे चालनी पटल भी कहते हैं। इससे नासिका की दीवार बनने मे भी मदद मिलती है। इस प्रकार शिरो गुहा को बनाने वाली आठ अस्थियो का वर्णन हो चुका है।

चेहरे की अस्थियां

(१) अधोहनुअस्थि—

यह चेहरे की अस्थियो मे सबसे बडी व मजबूत है। सब से नीचे के भाग मे रह कर ठुड्डी बनाती है। यह नाल की तरह मुडी हुई है। इसके समस्थ भाग हनु मडल कहलाता है। जन्म के समय हनुकोण का परिमाण १७५ डिग्री होता है। जो जवानी मे ११० से १२० तक रह जाता है। बुढापे मे फिर बढकर १४० तक हो जाता है। समस्थ भाग के दो पृष्ठ होते हैं। बाहर का व भीतर का बाहर के पृष्ठ अधरोष्ठ को गति देने वाली मास-पेशियें तथा भीतर के पृष्ठ से जिह्वा चालनी पेशिया लगी रहती हैं। इसके दो किनारे होते हैं। एक नीचे का जो टटोला जा सकता है दूसरा ऊपर का जहा १६ दात लगे रहते हैं। उर्ध्व भाग ऊपर जाकर दो भागो मे विभक्त है। इसका पतला भाग हनुकुन्त तथा मोटा सिरा हनुमुण्ड कहलाता है।

ऊर्ध्वहनुअस्थि—

ऊपर के जबडे मे दायी व बायी ओर दो विरूपास्थिया होती हैं जो मध्य मे एक दूसरी से जुडी रहती हैं। एक अस्थि मे आठ दात जुडे रहते है। इससे मुखगुहा की छत अगला भाग तथा नासिका की फर्श बनती है। गात्र चोपहल होता है। एक पृष्ठ से नासिका का की बाहरी दीवार बनती है और यह खोखली होने से वायु से भरी रहती है। दूसरा पृष्ठ गाल मे रहता है। तीसरे से अक्षि गुहा को फर्श बनती है। और चौथा पृष्ठ पीछे रहता है। यह ललाटास्थि से, नासास्थि से, अश्रुअस्थि से तथा गण्डास्थि से लगी रहती है।

नासास्थि—

नासिका के ऊपर ललाटास्थि के नीचे मध्य रेखा मे दायी ओर व बायी ओर छोटी छोटी दो अस्थिया होती हैं। जिन पर ऐनक टिकी रहती है। इन्हे नासास्थि कहते है। इन दोनो अस्थिओ के मिलने से बीच मे जो पुल बनता है वह नासा वश कहलाता है। यह अस्थि कुछ २ चौकोर है। जिसमे चार किनारे व दो पृष्ठ होते हैं। अगला किनारा दूसरी ओर की नासास्थि से, पिछला उर्ध्वहनुअस्थि से और ऊपर का किनारा ललाटास्थि से मिला रहता है। नीचे तरुणास्थि जुडी रहती है।

अश्रुअस्थि—

यह अस्थि कुछ चौकोर और मुडी हुई होने से एक नाली सी बन जाती है। जिसका नासिका से सम्बन्ध रहता है। यहा अश्रुग्रथि रहती है। यह कागज जैसी पतली और कोमल होती है। यह अक्षिगुहा की दीवार मे रहती है।

अधोशुक्तिकास्थि (अधोसीपाकृति)—

नासिका की दिवार पर तीन मुडी हुई अस्थिया दिखाई देती हैं। ऊपर की दोनों झर्झरा अस्थि के नीचे के अश हैं। नीचे वाली सबसे बडी और पृथक अस्थि है। यह सीप जैसी शक्ल मे जिसका एक पृष्ठ उभरा हुआ दूसरा गहरा रहता है।

नासाफलकास्थि (नासाप्राचीर)—

यह अस्थि सपाट और चौकोर होती है। इसके किनारे दो बड़े व दो छोटे होते हैं। एक किनारा फर्श से जुडा रहता है, दूसरा जतूकास्थि के गात्र से व झर्झरास्थि के अश से व तरुणास्थि से मिला रहता है। तीसरा व चौथा किसी से नही मिलता है।

तालुअस्थि—

इसके दो भाग होते हैं (१) खडा (२) पडा। इसकी आकृति ⌊ से कुछ मिलती

है। पडा भाग खडे से कुछ कम लम्बा होता है। इसका एक किनारा मध्य रेखा मे दूसरी ओर की तालुअस्थि से अगला किनारा उर्ध्वहनुअस्थि के पिछले किनारे से कोमल तालु लगा रहता है ऊपर के पृष्ठ से नासागुहा की फर्श का पिछला भाग नीचे के पृष्ठ से कठिन तालु का पिछला भाग बनता है।

कपोलास्थि (गण्डास्थि)—

यह अस्थि सामने ऊर्ध्व हनुअस्थि, पीछे शखास्थि के गण्ड प्रवर्धन से जुडी रहती है। इन दोनो के मिलने से एक मेहराब बनती है जहा मासपेशिया लगी रहती है। यह अक्षि-गुहा के फर्श व दीवार बनाने मे भी सहायक होती है।

कान की अस्थियां—

शखास्थि के अश्म कूट नामक भाग मे तीन छोटी छोटी अस्थिया रहती है जिनका नाम सहित वर्णन ये हैं।

मुद्गर—

इसका मोटा भाग सिर, शिर के नीचे ग्रीवा, ग्रीवा के नीचे तीन प्रवर्धन होते हैं जिन्हें मद्गर दड कहते हैं।

नेहाई—

इसका एक भाग नेहाई के समान मोटा जिससे दो प्रवर्धन निकलते हैं (१) बडा व दूसरा छोटा। इसके गात्र पर एक स्थालक होता है जहा मुद्गर शिर लगा रहता है।

रकाब—

यह रकाब की आकृति की है। इसका पादान भाग कर्ण के एक छिद्र मे फसा रहता है। मेहराब के दोनो शिर जहा आपस मे मिलते हैं वहा एक उभार होता है, इसे शिर कहते हैं। शिर पर एक स्थालक होता है जहा नेहाई का बृहद् प्रवर्धन मिला रहता है। शिर के नीचे ग्रीवा होती है।

ये तीनो अस्थिया आपस मे जुडी होती है। इनकी सधियो के विकृत हो जाने से बधिरता आ जाती है।

कठिकास्थि—

यह ग्रीवा मे ठोडी के नीचे स्वरयन्त्र के ऊपर के किनारे रहती है। यह बीच मे सामने से मोटी होती है और इसके किनारे पतले होते हैं। मोटा भाग गात्र कहलाता है।

देह में मांस धातु

लेखिका: रतनदेवी जैन, जोधपुर

[श्रीमती रतनदेवी जैन वैद्यराज श्री देवेन्द्रचन्द्रजी जैन की सहचारिणी है। आप पाकशास्त्र में श्री जैन की तरह अति कुशल तथा चरित्रनायक के प्रति पूर्ण श्रद्धा एव निष्ठा रखती हैं। आपका 'देह में मास धातु' लेख छात्रोपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

पच पेशी शतानि भवति। पेशिया लगभग ५१६ जिनमे ४५१ अस्थियो की गतियो के काम मे आती है। ६६ आख स्वर यत्र, जीभ, कठ, तालु, कान मे लगी रहती है। प्रत्येक ऊर्ध्व शाखा मे ५६×४=२३६ धड मे ६७, शिर ग्रीवा मे ४० कुल १०७×२=२१४

६८

१

५१६ कुल

महाप्राचीरा

असृज' श्लेष्मणश्चापि य: प्रसाद परो मत:।
पच्यमान पित्तेन वायुश्चाप्यनुधावति।
यथार्थमूष्मणायुक्तो वायु स्रोतासि दारयेत्।
अनुप्रविश्य पिशित पेशीर्विभजते तदा।

रक्त व कफ का पर प्रसाद पित्त के द्वारा पचन होने से, तथा वायु की गति होने से विभाग हो पेशियाँ बन जाती है।

पेशियां की नामकरण विधि—

आकृति अनुसार—त्रिकोण, चतुर्भुज, चतुरस्रा
देश अनुसार—अंसाच्छादनी, उर:श्छादनी
दिशा अनुसार—सरला ऊर्ध्व नेत्रचालनी
कार्य के अनुसार—नमनी, प्रसारणी,
अन्य कारणो से—उरकर्ण मूलिका, शिफारसनिका
इन की आकृति पतली, लम्बी, चोकोर, तिकोनी, मृदु, कठोर होती है।

है। पडा भाग खडे से कुछ कम लम्बा होता है। इसका एक किनारा मध्य रेखा मे दूसरी ओर की तालुअस्थि से अगला किनारा उर्ध्वहनुअस्थि के पिछले किनारे से कोमल तालु लगा रहता है ऊपर के पृष्ठ से नासागुहा की फर्श का पिछला भाग नीचे के पृष्ठ से कठिन तालु का पिछला भाग बनता है।

कपोलास्थि (गण्डास्थि)—

यह अस्थि सामने ऊर्ध्व हनुअस्थि, पीछे शखास्थि के गण्ड प्रवर्धन से जुडी रहती है। इन दोनो के मिलने से एक मेहराब बनती है जहा मासपेशिया लगी रहती है। यह अक्षि-गुहा के फर्श व दीवार बनाने मे भी सहायक होती है।

कान की अस्थियां—

शखास्थि के अश्म कूट नामक भाग मे तीन छोटी छोटी अस्थियां रहती है जिनका नाम सहित वर्णन ये हैं।

मुद्गर—

इसका मोटा भाग सिर, शिर के नीचे ग्रीवा, ग्रीवा के नीचे तीन प्रवर्धन होते हैं जिन्हे मद्गर दड कहते हैं।

नेहाई—

इसका एक भाग नेहाई के समान मोटा जिससे दो प्रवर्धन निकलते हैं (१) बडा व दूसरा छोटा। इसके गात्र पर एक स्थालक होता है जहा मुद्गर शिर लगा रहता ह।

रकाब—

यह रकाब की आकृति की है। इसका पादान भाग कर्ण के एक छिद्र मे फसा रहता है। मेहराब के दोनो शिर जहा आपस मे मिलते हैं वहा एक उभार होता है, इसे शिर कहते हैं। शिर पर एक स्थालक होता है जहा नेहाई का बृहद् प्रवर्धन मिला रहता है। शिर के नीचे ग्रीवा होती है।

ये तीनो अस्थिया आपस मे जुडी होती है। इनकी सधियो के विकृत हो जाने से बधिरता आ जाती है।

कठिकास्थि—

यह ग्रीवा मे ठोडी के नीचे स्वरयत्र के ऊपर के किनारे रहती है। यह बीच मे सामने से मोटी होती है और इसके किनारे पतले होते हैं। मोटा भाग गात्र कहलाता है।

देह में मांस धातु

लेखिका: रतनदेवी जैन, जोधपुर

[श्रीमती रतनदेवी जैन वैद्यराज श्री देवेन्द्रचन्द्रजी जैन की सहचारिणी है। आप पाकशास्त्र में श्री जैन की तरह अति कुशल तथा चरित्रनायक के प्रति पूर्ण श्रद्धा एव निष्ठा रखती है। आपका 'देह में मास धातु' लेख छात्रोपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

पच पेशी शतानि भवति। पेशिया लगभग ५१९ जिनमे ४५१ अस्थियो की गतियो के काम मे आती है। ६९ आख स्वर यत्र, जीभ, कठ, तालु, कान मे लगी रहती है। प्रत्येक ऊर्ध्व शाखा मे ५९×४=२३६ धड मे ६७, शिर ग्रीवा मे ४० कुल १०७×२=२१४

६८
१
५१९ कुल

महाप्राचीरा

असृजः श्लेष्मणश्चापि य. प्रसाद. परो मतः।
पच्यमान पित्तेन वायुश्चाप्यनुधावति।
यथार्थमूष्मणायुक्तो वायु स्रोतासि दारयेत्।
अनुप्रविश्य पिशित पेशीर्विभजते तदा।

रक्त व कफ का पर प्रसाद पित्त के द्वारा पचन होने से, तथा वायु की गति होने से विभाग हो पेशियाँ बन जाती है।

पेशियां की नामकरण विधि—

आकृति अनुसार—त्रिकोण, चतुर्भुज, चतुरस्रा
देश अनुसार—असाच्छादनी, उरःच्छादनी
दिशा अनुसार—सरला ऊर्ध्व नेत्रचालनी
कार्य के अनुसार—नमनी, प्रसारणी,
अन्य कारणो से—उरकर्ण मूलिका, शिफारसनिका
इन की आकृति पतली, लम्बी, चौकोर, तिकोनी, मृदु, कठोर होती है।

पेशियो के कार्य—

शिरा स्नाय्वस्थिपर्वंगाणि सन्धयश्च शरीरिणाम् ।
पेशीभि सवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्ति हि ।।

पेशियो के द्वारा शरीर का सगठन सुदृढ रहता है तथा इनके सकोच प्रसार से गतिया उत्पन्न होती है । सकोच से इनकी लम्बाई छोटी हो जाती है व मोटाई बढ जाती है। पेशियें किसी न किसी सधि को या सधियो को पार करती है । पेशियो का रग सब जगह एक जैसा नही होता । कही इनका रग गुलाबी कही सफेद रग होता है। सफेद रग को चीमटी से नोच कर देखने से मालूम होगा कि यह भाग लाल से अधिक कठोर है । नोचने से उसमे पतले पतले तार निकल आते हैं। सफेद भाग सौत्रिक तन्तु से व लाल भाग मास तन्तु से बनता है । सौत्रिक तन्तु से निर्मित भाग को कडरा कहते हैं । सब पेशियो की कडराऐं एक जैसी नही होती । चौडी पेशियो की कडराऐं चादर के समान तथा बहुत सी रज्जु(डोरी)वत् कुछ मोटी व चपटी चादरवत् होती हैं ।

पेशी का वर्णन—

(१) पेशी का आरम्भ कहा से होता है (२) पेशी का अन्त कहा है । (३) पेशी का कार्य क्या है । (४) पेशी किस नाडी से सम्बन्धित है । (५) पेशी के आसपास की किन पेशियो से सम्बन्ध है ।

मांसपेशियो की गतियां—

मासपेशियो मे दो प्रकार की गतिया होती हैं । (१) ऐच्छिक (२) अनैच्छिक, गति भेद के प्रकार से मास कोश भी २ प्रकार के होते हैं ।

स्नायु—

वसा के स्नेह भाग से सिराए व स्नायु बन जाती है । मृदुपाक वाली सिराऐ तथा इससे रवर प्रपाक से स्नायु हो जाते हैं । इनकी सख्या शरीर मे ६०० है । प्रत्येक शाखा मे १५० इसलिए चारो शाखाओ मे ६०० धड मे २३० तथा शिर ग्रीवा मे ७० होती है । आकृति के अनुसार इनके ४ भेद हैं । (१) प्रतान (ताने के रूप मे) सन्धियो के बन्धन (२) वृत्त (गोल) कडरायें (३) पृथुल (मोटा) छाती, पीठ, शिर मे, (४) सुषिर (पोले) आशयो मे—

य स्नायूर्प्रविजानाति बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा ।
स गूढशल्य माहर्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम् ।।

मासपेशिया स्त्रियो मे २० अधिक होती हैं । स्तनो मे १० अपत्य पथ मे ४ गर्भाशय मे ३ गर्भाशय से ऊपर ३ ।

देह की सन्धियाँ

लेखिका : सुमन देवी जैन

[श्रीमती सुमनदेवी जैन चरित्रनायक के उत्तराधिकारी शिष्य श्री कान्तिचन्द्रजी जैन की धर्मपत्नी है। आप गृह-कार्य में बड़ी निपुण एवं गुरुजनों के प्रति अतीव श्रद्धावान् तथा निष्ठावान् है। आपने देह की सन्धियों पर छात्रोपयोगी पठनीय लेख लिखा है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

सन्धि—

दो या बहुत सी अस्थियो के आपस मे मिलने को सधि कहते हैं। ये २ प्रकार की हैं।

(१) चल या चेष्टावत—जहाँ गति होती है।

(२) अचल या स्थिर—जहाँ गति नही होती।

अचल सन्धि—

इनमे या तो एक अस्थि के किनारो के ऊपर दूसरी अस्थि का किनारा चढा रहता है या दाते होते हैं वे एक दूसरे मे फसे रहते हैं। जैसे कपाल की सन्धियो मे।

चल सन्धि—

गति के अनुसार इनके दो भेद होते हैं। अल्पचेष्टावन्त, बहुचेष्टावन्त। चल सन्धियो में अस्थियो के सिरे एक दूसरे के साथ सौत्रिक तन्तुओ द्वारा बधे रहते हैं कई बन्धनो को स्नायु कहते हैं। कई बन्धन थैली की आकृति के होते हैं। यह थैली दोनो अस्थियो से जुडी रहती है। ऐसी थैली को सन्धिकोष कहते हैं। बन्धन अस्थियो को अपने अपने स्थान पर स्थिर रखते हैं। सन्धि कोष के भीतरी पृष्ठ पर एक पतली चमकदार कला लगी रहती है। उस कला के कोष चिकनाई वाला तरल बनाते हैं जिससे सन्धिया स्निग्ध रहती हैं। इसे स्नेहन कफ भी कहते हैं। बन्धन के टूट जाने पर अस्थियां अपना २ स्थान छोड देती है जिसे सन्धिभग्न या सन्धिच्युति कहते हैं। अस्थि सन्धियो की सख्या लगभग ३०० हैं।

कोरोदूखल सामुद्ग प्रतरस्तुन्न सेवनी।

काकतुण्ड मण्डल च शखावर्ताष्ट सधय।

कोर—अगुली, मणिबन्ध, गुल्फ, जानु कूर्पर मे
उलूखल—कक्षा, वक्षण, दातो मे
सामुद्ग—असपीठ, गुदा, भग, नितब मे
प्रतर—ग्रीवा, पृष्ठवश,
तुन्नसेवनी—शिर, कटी, कपाल मे
काकतुण्ड—हनु के दोनो ओर
मडल—कठ, हृदय, क्लोम नाडियो मे
शखावर्त—श्रोत्र, शृगाटक मे

ये सन्धिया अस्थियो की हैं—

> अस्थ्ना तु सन्धयोह्यते केवला। परिकीर्तिता.।
> पेशीस्नायु सिराणातु सन्धिसख्या न विद्यते।

प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन

लेखक : वैद्य ठाकुरप्रसाद शर्मा, आयुर्वेदाचार्य, बीकानेर

[वैद्यराज श्री ठाकुरप्रसादजी शर्मा भूतपूर्व इन्डियन मेडिसिन बोर्ड, राजस्थान के उपाध्यक्ष, वर्तमान में राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पंजीकृत) के प्रधान मन्त्री तथा स्वामी श्री केवलराम सेवानिकेतन (बीकानेर) के प्रधान चिकित्सक होने के नाते लोकप्रिय गणनायक हैं। आप राजस्थान में हर एक आयुर्वेद की गतिविधियों से परिचित तथा वैद्य-जगत् के हितों के बारे में जागरूक व उदयाभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादक मंडल में होने के नाते सर्वविध सहयोगी है। आपका 'प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन' नामक लेख बड़ा उपयोगी है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

हमारे शरीर मे सज्ञा को ग्रहण करने वाले यन्त्र को इंद्रियाधिष्ठान कहते है। इन्द्र शब्द का अर्थ है ज्ञान, ज्ञान की प्राप्ति का साधन इंद्रियाधिष्ठान द्वारा होता है।

	इन्द्रियाधिष्ठान	विषय	इन्द्रिय	इन्द्रिय बुद्धि	द्रव्य
१	कान	शब्द	श्रोत्र	शब्द ज्ञान	आकाश
२	त्वचा	स्पर्श	स्पर्शन	स्पर्श ज्ञान	वायु
३	नेत्र	रूप	चक्षु	रूप ज्ञान	तेज
४	जिह्वा	रस	रसन	रस ज्ञान	जल
५	नासा	गंध	घ्राण	गन्ध ज्ञान	पृथिवी

कोर—अगुली, मणिबन्ध, गुल्फ, जानु कूर्पर मे
उलूखल—कक्षा, वक्षण, दातो मे
सामुद्ग—असपीठ, गुदा, भग, नितब मे
प्रतर—ग्रीवा, पृष्टवश,
तुन्नसेवनी—शिर, कटी, कपाल मे
काकतुण्ड—हनु के दोनो ओर
मडल—कठ, हृदय, क्लोम नाडियो मे
शखावर्त—श्रोत्र, शृगाटक मे

ये सन्धिया अस्थियो की हैं—

अस्थ्ना तु सन्धयोह्यते केवलाः परिकीर्तिता ।
पेशीस्नायु सिराणातु सन्धिसख्या न विद्यते ।

प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन

लेखक : वैद्य ठाकुरप्रसाद शर्मा, आयुर्वेदाचार्य, बीकानेर

[वैद्यराज श्री ठाकुरप्रसादजी शर्मा भूतपूर्व इन्डियन मेडिसिन बोर्ड, राजस्थान के उपाध्यक्ष, वर्तमान में राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पंजीकृत) के प्रधान मन्त्री तथा स्वामी श्री केवलराम सेवानिकेतन (बीकानेर) के प्रधान चिकित्सक होने के नाते लोकप्रिय गणनायक हैं। आप राजस्थान में हर एक आयुर्वेद की गतिविधियों से परिचित तथा वैद्य-जगत् के हितों के बारे में जागरूक व उदयाभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादक मंडल में होने के नाते सर्वविध सहयोगी है। आपका 'प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन' नामक लेख बड़ा उपयोगी है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

हमारे शरीर मे संज्ञा को ग्रहण करने वाले यन्त्र को इन्द्रियाधिष्ठान कहते है। इन्द्र शब्द का अर्थ है ज्ञान, ज्ञान की प्राप्ति का साधन इन्द्रियाधिष्ठान द्वारा होता है।

	इन्द्रियाधिष्ठान	विषय	इन्द्रिय	इन्द्रिय बुद्धि	द्रव्य
१	कान	शब्द	श्रोत्र	शब्द ज्ञान	आकाश
२	त्वचा	स्पर्श	स्पर्शन	स्पर्श ज्ञान	वायु
३	नेत्र	रूप	चक्षु	रूप ज्ञान	तेज
४	जिह्वा	रस	रसन	रस ज्ञान	जल
५	नासा	गंध	घ्राण	गन्ध ज्ञान	पृथिवी

प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति उपरोक्त पाच इन्द्रियाधिष्ठान द्वारा होती है। ये इन्द्रिय अपने स्वामी मन के साथ रहने पर ही सज्ञा ग्रहण करते हैं। इनके अधिष्ठान दो प्रकार के हैं।

(१) बाह्य तथा (२) आभ्यतर

बाह्य इन्द्रियाधिष्ठान, तथा आभ्यन्तर मस्तिष्क के प्रत्येक गोलार्द्ध मे उसकी विपरीत दिशा मे रहने वाले तत्तद् इन्द्रिय के केन्द्र को उसी नाम से सम्बोधित करते हैं जहा कि इन्द्रिय बुद्धि बनती है। इन्द्रियाधिष्ठान से इन्द्रिय बुद्धि तक का वर्त्म इन्द्रिय कहलाती है।

शिरस्ताल्वन्तर्गत सर्वेन्द्रिय परमन·।
तत्रस्थ तद्धिविषयानिन्द्रियाणारसादिकान् ॥

समीपस्थान् विजानाति—

श्रवणेन्द्रिय—

शब्द सज्ञा को ग्रहण करने वाली श्रवणेन्द्रिय श्रोत्र है। इसका बाह्य अधिष्ठान कर्ण—शिर के पार्श्व मे शखास्थि के बाहर व भीतर रहता है। इसके ३ भाग हैं। बाह्य, मध्य तथा अन्त। बाह्य भाग तरुणास्थि से बना त्वचा से ढका है, जिसके कर्णशष्कुली व कर्ण कुहर दो भाग होते हैं।

कर्ण शष्कुली Pinna of the ear)

इसमे २ कर्णपालिया (बाह्य, आभ्यतर) कर्णखात ३ (त्रिकोण, मध्य, पालिसीता) कर्णपुत्रिका २ (अग्रिम, पश्चिम) कर्ण चूचुक १ होता है। कर्ण कुहर (Auditory Meatus) दोनो कर्ण पुत्रिकाओ के मध्य से प्रारम्भ होकर कर्णपटह तक टेढी १॥ अगुल गुहा है।

मध्य कर्ण (Middle Ear)

यह शखास्थि के अश्मकूट भाग में छोटी और टेढी एक अगुल लम्बी गुहा है। इसके मध्य व पटल २ भाग होते है। मध्य भाग वायु पूर्ण तथा गलच्छिद्र से सम्बन्धित है। पटल भाग अस्थि पत्रिका से बना होता है जहां कान की तीनो अस्थिये रहती हैं।

कर्ण पटह (Tympanic membrane)

यह बाह्य व मध्य कर्ण के बीच मे गोल आकार की कला तरुणास्थि से बधी रहती है। वायु वाहित शब्द तरङ्गो को तीनो कान की अस्थियो की प्रेरणापूर्वक अत कर्ण मे भेजती रहती है। पटहकला मे ३ स्तर होते हैं। बाह्य-पतली त्वचा का, मध्य-स्नायु सूत्रो से बना आभ्यतर, श्लेष्म स्रावी पतली कला से बना होता है।

कान की अस्थियों के नाम मुद्गर, नेहाई तथा रकाब हैं। ये आपस मे मिल कर उन्नमन यन्त्र बना कर रहती हैं। पटह के कम्पन से उत्पन्न तरङ्गो को अत.कर्ण श्रुति यन्त्रो के पास भेजती रहती हैं।

मध्यकर्ण मे पटहोत्तसिनी व पर्याणिका २ पेशियां लगी होती हैं। गलच्छिद्र मे गया हुआ तिरछा कर्णगुहा के सामने का भाग पटह पूरणिका कहलाता है।

अत.कर्ण (Internal ear) कान्तारक, कोकिला

यह श्रवणेन्द्रिय का भीतरी भाग है जहा मुख्य श्रुति यन्त्र रहते हैं। यह शखास्थि के अश्मकूट नामक भाग मे जहा श्रावणी नाडी के सूत्र रहते हैं। इसके २ भाग हैं अस्थि-कृत, कलाकृत। अस्थिकृत आधार है तथा कलाकृत आधेय, अस्थिमय कान्तारक में कलामय जलपूर्ण कान्तारक तैरता रहता है। इसके तीन भाग होते हैं—मध्य तुम्बी के आकार का, सामने का शखाकृति, पीछे का तीन शुण्डिक वाला। तुम्बी का आकृति व कन्दुक में श्रुति नाडियें रहती हैं, तथा इनके अतर्जल का परस्पर सम्बन्ध रहता है।

श्रुति यत्रिका (Organ of Corti)

इनका आकार सूक्ष्म रोमयुक्त दंडवत् होता है। जो जल तरगो से स्वर ज्ञान लेती रहती है।

शब्द ग्रहण—

पाच भौतिक वस्तुओ के प्रतिघात से विविध प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं जो कि कर्ण गुहास्थित पटह कला पर आघात करते हैं इससे पटह में कम्पन होकर अस्थि कान्तारक के माध्यम से कलामय कान्तारक स्थित जल में तरङ्गे उत्पन्न होती है। वहा के श्रुतियन्त्र उन्हे ग्रहण कर श्रुति नाडियों द्वारा सातो स्वरो को केन्द्र की ओर ले जाकर श्रवण केन्द्र में इसकी प्रतीति कराती रहती हैं।

त्वचा

शुक्र शोणित सयोगज भ्रूण कोश के परिपाक से शरीर पर सात त्वचायें होती हैं।

(१) अवभासिनी, (२) लोहिता, (३) श्वेता, (४) ताम्रा, (५) वेदिनी, (६) रोहिणी, (८) मासधरा।

स्प इन्द्रियर्श—

स्पर्श मुख्य व गौण भेद से दो प्रकार का होता है—मुख्य त्वचा द्वारा—शीत, उष्ण खर, श्लक्ष्ण, मृदु कठिन आदि तथा गौण मासपेशियो के माध्यम से अस्थि सन्धियो मे चेष्टा उत्पन्न की जाती है। इसका बाह्य स्थान समस्त शरीर को ढकने वाली त्वचा जिसके बहिस्त्वग् (उपचर्म) अतस्त्वग् (चर्म) २ भेद होते हैं। बहिस्त्वग् जिसका नाम उदकधरा व अवभासिनी है, के ५ भाग हैं। इसीमे स्वेद वह स्रोतो व रोमो के मूल रहते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति उपरोक्त पाच इन्द्रियाधिष्ठान द्वारा होती है। ये इन्द्रिय अपने स्वामी मन के साथ रहने पर ही सज्ञा ग्रहण करते हैं। इनके अधिष्ठान दो प्रकार के हैं।

(१) बाह्य तथा (२) आभ्यतर

बाह्य इन्द्रियाधिष्ठान, तथा आभ्यन्तर मस्तिष्क के प्रत्येक गोलार्द्ध मे उसकी विपरीत दिशा मे रहने वाले तत्तद् इन्द्रिय के केन्द्र को उसी नाम से सम्बोधित करते हैं जहा कि इन्द्रिय बुद्धि बनती है। इन्द्रियाधिष्ठान से इन्द्रिय बुद्धि तक का वर्त्म इन्द्रिय कहलाती है।

शिरस्ताल्वन्तर्गतं सर्वेन्द्रिय परमन ।
तत्रस्थ तद्धिविषयानिन्द्रियाणारसादिकान् ॥

समीपस्थान् विजानाति—

श्रवणेन्द्रिय—

शब्द सज्ञा को ग्रहण करने वाली श्रवणेन्द्रिय श्रोत्र है। इसका बाह्य अधिष्ठान कर्ण—शिर के पार्श्व मे शखास्थि के बाहर व भीतर रहता है। इसके ३ भाग हैं। बाह्य, मध्य तथा अन्त। बाह्य भाग तरुणास्थि से बना त्वचा से ढका है, जिसके कर्णशष्कुली व कर्ण कुहर दो भाग होते है।

कर्ण शष्कुली Pinna of the ear)

इसमे २ कर्णपालिया (बाह्य, आभ्यतर) कर्णरवात ३ (त्रिकोण, मध्य, पालिसीता) कर्णपुत्रिका २ (अग्रिम, पश्चिम) कर्ण चूचुक १ होता है। कर्ण कुहर (Auditory Meatus) दोनो कर्ण पुत्रिकाओ के मध्य से प्रारम्भ होकर कर्णपटह तक टेढी १॥ अगुल गुहा है।

मध्य कर्ण (Middle Ear)

यह शखास्थि के अश्मकूट भाग में छोटी और टेढी एक अगुल लम्बी गुहा है। इसके मध्य व पटल २ भाग होते है। मध्य भाग वायु पूर्ण तथा गलच्छिद्र से सम्बन्धित है। पटल भाग अस्थि पत्रिका से बना होता है जहा कान की तीनो अस्थियें रहती हैं।

कर्ण पटह (Tympanic membrane)

यह बाह्य व मध्य कर्ण के बीच मे गोल आकार की कला तरुणास्थि से बधी रहती है। वायु वाहित शब्द तरङ्गो को तीनो कान की अस्थियो की प्रेरणापूर्वक अत कर्ण मे भेजती रहती है। पटहकला मे ३ स्तर होते हैं। बाह्य-पतली त्वचा का, मध्य-स्नायु सूत्रो से बना आभ्यतर, श्लेष्म स्रावी पतली कला से बना होता है।

कान की अस्थियो के नाम मुद्गर, नेहाई तथा रकाब हैं। ये आपस मे मिल कर उन्नमन यन्त्र बना कर रहती हैं। पटह के कम्पन से उत्पन्न तरङ्गो को अत.कर्ण श्रुति यन्त्रो के पास भेजती रहती हैं।

मध्यकर्ण मे पटहोत्तसिनी व पर्याणिका २ पेशियां लगी होती हैं। गलच्छिद्र मे गया हुआ तिरछा कर्णगुहा के सामने का भाग पटह पूरणिका कहलाता है।

अतःकर्ण (Internal ear) कान्तारक, कोकिला

यह श्रवणेन्द्रिय का भीतरी भाग है जहा मुख्य श्रुति यन्त्र रहते है। यह शखास्थि के अश्मकूट नामक भाग मे जहा श्रावणी नाडी के सूत्र रहते है। इसके २ भाग हैं अस्थि-कृत, कलाकृत। अस्थिकृत आधार है तथा कलाकृत आधेय, अस्थिमय कान्तारक में कलामय जलपूर्ण कान्तारक तैरता रहता है। इसके तीन भाग होते हैं—मध्य तुम्बी के आकार का, सामने का शखाकृति, पीछे का तीन शुण्डिक वाला। तुम्बी का आकृति व कन्दुक मे श्रुति नाडियें रहती हैं, तथा इनके अतर्जल का परस्पर सम्बन्ध रहता है।

श्रुति यन्त्रिका (Organ of Corti)

इनका आकार सूक्ष्म रोमयुक्त दडवत् होता है। जो जल तरगो से स्वर ज्ञान लेती रहती है।

शब्द ग्रहण—

पाच भौतिक वस्तुओ के प्रतिघात से विविध प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं जो कि कर्ण गुहास्थित पटह कला पर आघात करते हैं इससे पटह में कम्पन होकर अस्थि कान्तारक के माध्यम से कलामय कान्तारक स्थित जल में तरङ्ग उत्पन्न होती है। वहा के श्रुतियन्त्र उन्हे ग्रहण कर श्रुति नाडियों द्वारा सातो स्वरो को केन्द्र की ओर ले जाकर श्रवण केन्द्र में इसकी प्रतीति कराती रहती हैं।

त्वचा

शुक्र शोणित सयोगज भ्रूण कोश के परिपाक से शरीर पर सात त्वचायें होती हैं।

(१) अवभासिनी, (२) लोहिता, (३) श्वेता, (४) ताम्रा, (५) वेदिनी, (६) रोहिणी, (८) मासधरा।

स्प इन्द्रियर्श—

स्पर्श मुख्य व गौण भेद से दो प्रकार का होता है—मुख्य त्वचा द्वारा—शीत, उष्ण खर, श्लक्ष्ण, मृदु कठिन आदि तथा गौण मासपेशियो के माध्यम से अस्थि सन्धियो मे चेष्टा उत्पन्न की जाती है। इसका बाह्य स्थान समस्त शरीर को ढकने वाली त्वचा जिसके बहिस्त्वग् (उपचर्म) अतस्त्वग् (चर्म) २ भेद होते हैं। बहिस्त्वग् जिसका नाम उदकधरा व अवसासिनी है, के ५ भाग हैं। इसीमे स्वेद वह स्रोतो व रोमो के मुख रहते हैं।

अतस्त्वक् (चर्म) यह कही मोटी व कही पतली होती है। यह मुख्य स्पर्शनेन्द्रिय है। इसमें स्वेदग्रन्थिया, स्नेहग्रन्थिया लोमकूप शिरा धमनी प्रतान, स्पर्शांकुरिकाए, रसायनियें तथा वसाग्रथिये रहती हैं।

त्वचा का वर्ण—

सब व्यक्तियो मे त्वचा का वर्ण एक जैसा नही होता, शीतप्रधान देशवासियो का वर्ण ग्रीष्मप्रधान देशवासियों के वर्ण से उजला होता है।

त्वचा के कार्य—

त्वचा से शरीर ढका रहता है। इससे इसके नीचे रहने वाले अगो की सुरक्षा होती है। स्वेद द्वारा मल इससे बाहिर निकलते रहते है। इससे रक्तशोधन की प्रक्रिया होती है तथा यह तापक्रम को स्थिर रखती है।

नख—

बहिस्त्वक् के खर भाग को नख कहते हैं। नख के नीचे की अतस्त्वक् नख क्षेत्र कहलाती है।

कला—

मुख नासा आदि स्रोतो के भीतर के बाहर का आवरण कला से बना है। इसमें स्वेदव वसा ग्रथियें तथा रोम नहीं होते।

गौण स्पर्श—

इसकी यन्त्रिकायें पेशी व कडरा में रहती है।

दर्शनेन्द्रिय—

रूप को प्रत्यक्ष करने वाली दर्शनेन्द्रिय कहलाती है। इसका आभ्यतर अधिष्ठान मस्तिष्कतल मे आज्ञा केन्द्र में है। इनके बाह्य स्थान नेत्रगोलक हैं जो कि दृष्टिनाडी के आगे लगे रहते हैं। प्रत्येक दृष्टिनाडी नेत्रगोलक मे जाकर फैल जाती है, जिसमे नाना प्रकार के रूपो का प्रतिबिम्ब पडता है। दोनो नेत्रगोलको से एक ही रूप दिखाई देता है।

नेत्रगोलक ulb of the eye—

ये बाहिर से कठिन तथा भीतर से कोमल, कबूतर के अण्डे के समान गोल जिनके कि मूल मे दृष्टि नाडी जुडी रहती है। ये नेत्रगुहा के सामने के भाग मे रहते हैं। इनके चारों ओर छ पेशियें जो कि इनमे गति व इनका धारण करती रहती हैं। इनके पीछे मद की गद्दी लगी रहती है और चारो ओर नेत्रधरा कला लगी रहती है जिसके बाह्य व आभ्यतर २ स्तर होते हैं तथा इन दोनो के बीच मे लसीका रहती है। जो नेत्रचालनी पेशियो को सर्वदा तर बनाये रखती है।

नेत्रगोलक मे बाह्य, मध्यम तथा अन्तर तीन स्तर होते हैं।

बाह्य—

यह दृढ स्नायुसूत्रो से कठिन व मोटा होता है इसके भी दो भाग (१) स्वच्छमडल आगे का ⅙ भाग, तथा (२) शुक्लवृति पीछे का भाग है।

स्वच्छमडल (Cornea)—

यह काच के समान स्वच्छ है परन्तु कृष्ण भाग के ऊपर रहने से कृष्ण या पिंगल वर्ण का दिखाई देता है, स्वच्छमण्डल और शुक्लवृति की गोल आकार की सन्धि स्वच्छ शुक्ल सन्धि (Sclero-Coneal junction) कहलाती है। इसके चारो ओर सिरा धमनीचक्र दिखाई देता है।

शुक्लवृति (Sclera)—

स्वच्छ शुक्ल सन्धि से प्रारभ होकर पीछे से समस्त नेत्रगोलक को घेरे रहती है। पीछे का भाग दृष्टि नाडी व सिरा धमनी से पृथक् हो जाता है। शुक्लवृति के चारो ओर नेत्रपेशिये लगी रहती है, तथा इसके भीतरी स्तर मे कलाकोश रहता है। जहा सूक्ष्मसीताए व नाडीसूत्र रहते हैं। शुक्लवृति की म ⅙ जव और स्वच्छमण्डल की मोटाई ,⅒ जव है।

मध्यवृत्ति (Vasculartunic of eye ball)—

नेत्रगोलक के बीच मे रहने वाला स्तर जिसके तीन विभाग (१) तारामडल (२) सन्धनमण्डल (३) कृष्णमण्डल हैं। तारामडल (Iris) यह पतले सूत्रो का गोल पर्दा है जो स्वच्छमडल के पीछे के जल मे तैरता रहता है जिसकी मोटाई १ जव—इसमे सकोच प्रसार होता है। तारामडल के मध्य मे दैवकृत छिद्र कनीनिका (pupil) है जिसके द्वारा प्रकाश की किरणे प्रविष्ट होती हैं। तारामडल के अवकाश मे तनुजल भरा रहता है। इसके २ भाग हो जाते हैं (१) अग्रिमा जलधानी (Anterior chamber) तथा पीछे की पश्चिमा जलधानी (Posterior chamber) कहलाती है। इन दोनो का सम्बन्ध कनीनिका राह से रहता है। तनुजल को आलोचक पित्त या (Aqueous Humour) कहते हैं।

सन्धानमण्डल (Ciliary body)—

तारामडल व कृष्णमडल के बीच का मडल सन्धान मडल है।

कृष्णमडल Choroid coat)—

मध्य पटल का कर्बुर रग का पीछे का भाग जिसके दो विभाग (१) बाह्य सिरागुल्मिका (२) आभ्यतर जहा तीसरी, पाचवी शीर्षण्य नाडियो के सूत्र रहते हैं।

अतस्त्वक् (चर्म) यह कही मोटी व कही पतली होती है। यह मुख्य स्पर्शनेन्द्रिय है। इसमें स्वेदग्रन्थियां, स्नेहग्रन्थियां लोमकूप शिरा धमनी प्रतान, स्पर्शाकुरिकाए, रसायनियें तथा वसाग्रथिये रहती हैं।

त्वचा का वर्ण—

सब व्यक्तियो मे त्वचा का वर्ण एक जैसा नही होता, शीतप्रधान देशवासियो का वर्ण ग्रीष्मप्रधान देशवासियों के वर्ण से उजला होता है।

त्वचा के कार्य—

त्वचा से शरीर ढका रहता है। इससे इसके नीचे रहने वाले अगो की सुरक्षा होती है। स्वेद द्वारा मल इससे बाहिर निकलते रहते हैं। इससे रक्तशोधन की प्रक्रिया होती है तथा यह तापक्रम को स्थिर रखती है।

नख—

बहिस्त्वक् के खर भाग को नख कहते हैं। नख के नीचे की अतस्त्वक् नख क्षेत्र कहलाती है।

कला—

मुख नासा आदि स्रोतो के भीतर के बाहर का आवरण कला से बना है। इसमें स्वेदव वसा ग्रथिये तथा रोम नहीं होते।

गौण स्पर्श—

इसकी यन्त्रिकाये पेशी व कडरा में रहती हैं।

दर्शनेन्द्रिय—

रूप को प्रत्यक्ष करने वाली दर्शनेन्द्रिय कहलाती है। इसका आभ्यतर अधिष्ठान मस्तिष्कतल मे आज्ञा केन्द्र में है। इनके बाह्य स्थान नेत्रगोलक हैं जो कि दृष्टिनाडी के आगे लगे रहते हैं। प्रत्येक दृष्टिनाडी नेत्रगोलक मे जाकर फैल जाती है, जिसमे नाना प्रकार के रूपो का प्रतिबिम्ब पडता है। दोनो नेत्रगोलको से एक ही रूप दिखाई देता है।

नेत्रगोलक ulb of the eye—

ये बाहिर से कठिन तथा भीतर से कोमल, कबूतर के अण्डे के समान गोल जिनके कि मूल मे दृष्टि नाडी जुडी रहती है। ये नेत्रगुहा के सामने के भाग मे रहते हैं। इनके चारों ओर छ पेशियें जो कि इनमे गति व इनका धारण करती रहती हैं। इनके पीछे मद की गद्दी लगी रहती है और चारो ओर नेत्रधरा कला लगी रहती है जिसके बाह्य व आभ्यतर २ स्तर होते है तथा इन दोनो के बीच मे लसीका रहती है। जो नेत्रचालनी पेशियो को सर्वदा तर बनाये रखती हैं।

नेत्रगोलक मे बाह्य, मध्यम तथा अन्तर तीन स्तर होते हैं।

बाह्य—

यह दृढ स्नायुसूत्रो से कठिन व मोटा होता है इसके भी दो भाग (१) स्वच्छमडल आगे का ⅙ भाग, तथा (२) शुक्लवृति पीछे का भाग है।

स्वच्छमडल (Cornea)—

यह काच के समान स्वच्छ है परन्तु कृष्ण भाग के ऊपर रहने से कृष्ण या पिंगल वर्ण का दिखाई देता है, स्वच्छमण्डल और शुक्लवृति की गोल आकार की सन्धि स्वच्छ शुक्ल सन्धि (Sclero-Coneal junction) कहलाती है। इसके चारो ओर सिरा धमनीचक्र दिखाई देता है।

शुक्लवृति (Sclera)—

स्वच्छ शुक्ल सन्धि से प्रारभ होकर पीछे से समस्त नेत्रगोलक को घेरे रहती है। पीछे का भाग दृष्टि नाडी व सिरा धमनी से पृथक् हो जाता है। शुक्लवृति के चारो ओर नेत्रपेशियें लगी रहती है, तथा इसके भीतरी स्तर मे कलाकोश रहता है। जहा सूक्ष्मसीताए व नाडीसूत्र रहते हैं। शुक्लवृति की म ⅙ जव और स्वच्छमण्डल की मोटाई ¹⁄₁₀ जव है।

मध्यवृत्ति (Vasculartunic of eye ball)—

नेत्रगोलक के बीच मे रहने वाला स्तर जिसके तीन विभाग (१) तारामडल (२) सन्धनमण्डल (३) कृष्णमण्डल हैं। तारामडल (Iris) यह पतले सूत्रो का गोल पर्दा है जो स्वच्छमडल के पीछे के जल मे तैरता रहता है जिसकी मोटाई १ जव—इसमे सकोच प्रसार होता है। तारामडल के मध्य मे दैवकृत छिद्र कनीनिका (pupil) है जिसके द्वारा प्रकाश की किरणे प्रविष्ट होती हैं। तारामडल के अवकाश मे तनुजल भरा रहता है। इसके २ भाग हो जाते हैं (१) अग्रिमा जलधानी (Anterior chamber) तथा पीछे की पश्चिमा जलधानी (Posterior chamber) कहलाती है। इन दोनो का सम्बन्ध कनीनिका राह से रहता है। तनुजल को आलोचक पित्त या (Aqueous Humour) कहते हैं।

सन्धानमण्डल (Ciliary body)—

तारामडल व कृष्णमडल के बीच का मडल सन्धान मडल है।

कृष्णमडल Choroid coat)—

मध्य पटल का कबुर रग का पीछे का भाग जिसके दो विभाग (१) बाह्य सिरागुल्मिका (२) आभ्यतर जहा तीसरी, पाचवी शीर्षण्य नाडियो के सूत्र रहते हैं।

अतर्वृ्त्ति (Retina)—

दृष्टिवितान यह नेत्रगोलक का भीतरी स्तर है। अगले ' भाग को छोडकर शेष इसी का है, इसी मे दृष्टि नाडी के सूत्रो के प्रतान रहते हैं इसीलिये इसे दृष्टिवितान कहते हैं। नाडी का प्रवेश स्थान अतर्वीक्षण द्वारा देखने से चारो ओर से लाल शुभ्रचिन्ह दिखाई देता है जिसे पीतबिम्ब, जिसके बीच मे तीक्ष्णतम दृष्टि शक्ति दृष्टिकेन्द्र Fovea (Centralis) कहते हैं। दृष्टिवितान के सामने फैली हुई धारा करपत्र के समान गोल दन्तुर, जहा दृष्टि शक्ति का सर्वथा अभाव रहता है। दृष्टिवितान मे कोशो के दस स्तर होते हैं। नेत्रगोलक मे तीन स्वच्छ वस्तुए (१) तनुजल (२) दृष्टिमडल (३) सान्द्रजल इन्ही तीनो मे से कोनीनिका मार्ग से तेज की किरणें प्रविष्ट होती है। इनमे स्वच्छमडल प्रथम तथा तनुजल दूसरा जिसका कि कार्य पोषण भी है तीसरा हैं। दृष्टिमडल जो कि दोनो ओर उन्नतोदर होता है सान्द्रजल पारदर्शक तथा स्वच्छ है जो नेत्रगोलक की आकृति को स्थिर बनाये रखता है। तनुजल साफ, तरल, कुछ क्षारीय व नमकीन तोल मे दो रत्ती तक होता है।

दृष्टि मडल (Lens)

यह चपटे मोती के समान पारदर्शक तारामडल के पीछे नेत्रगोलक के बीच मे लटकता है। इसके आगे कनीनिका, पीछे सान्द्रजल रहता है—वृद्धावस्था मे इसकी स्वच्छता कम हो जाती है- जिससे रूप ग्रहण शक्ति कम होती जाती है जिसे मोतिया बिन्द कहते हैं।

सान्द्रजल (Vitreous body)

यह घनद्रव जिससे नेत्रगोलक के पीछे का ५ भाग भरा रहता है।

रूप ग्रहण का प्रकार—

नेत्रगोलक की रचना कैमरे के समान है। इसका तारामडल भाग छोटा बडा होकर तेज की किरणो को ग्रहण करता है। कृष्णमडल यत्र के भीतर लगी कालिमा के समान है। दृष्टिवितान परछाई पडने वाली पट्टी के समान होता है। नेत्रगोलक मे परछाई उल्टी पड़ती है किन्तु वह मस्तिष्क तक पहुँचने पर सीधी ग्रहण होती है।

नेत्र के उपांग—

नेत्रच्छद, नेत्रवर्त्म, अश्रुग्रन्थि, अश्रुमार्ग, दूषिका ग्रथि, नेत्रपेशियां।

नेत्रच्छद (Eye lid)

ये दो होते हैं। ऊपर का बडा व अधिक गतिशील, दूसरा नीचे का छोटा व कम गतिशील है।

नेत्रवर्त्म (Conjunctiva)

पलको का भीतरी भाग नेत्रवर्त्म कहलाता है।

अश्रुग्रंथि (Lacrimal Gland)

इनमे आँसू बनते हैं—इनके ८ या १० स्रोत होते हैं जिनका कार्य आख को तर रखना, धूलि धूम आदि से रक्षा करना है। हर्ष व शोकावस्था मे अधिक स्राव होता है।

अश्रुमार्ग (Lacrimal Sac)

यह अश्रुकुल्या द्वारा नासा सुरगो से सम्बन्धित होती है।

दूषिकाग्रन्थि (Meibomian Gland)

इनमे नेत्रमल बनता है। नेत्रपेशिया ६ हैं—सरलाऊर्ध्व नेत्र चालनी, सरला बहिर्नेत्र चालनी, सरला अन्तर्नेत्र चालनी, वक्राऊर्ध्व नेत्र चालनी, वक्रा अधो नेत्र चालनी।

रसनेन्द्रिय (The Organ of taste)

स्वाद बताने वाली इन्द्रिय को रसना कहते हैं। यह स्वाद ग्रहण करने के साथ चर्वण, अर्पण, भाषण का साधन यन्त्र भी है। रसना मुखगुहा मे पीछे की ओर स्नायुसूत्रो से बन्धी है। यह मास से बनी कला से आवृत्त जिसमे स्वादाकुर रहते हैं तथा पेशी चेष्टाओ से परिवर्तनशील है, इसके दक्षिण व वाम दो भाग तथा ऊर्ध्व व अध: दो तल होते हैं।

ऊर्ध्व तल—

चोडा, व विशेष स्वादाकुर वाला, बीच मे अधविवर खात वाला, जिसके पीछे अधि-जिह्विका लगी होती है।

अधस्तल—

इसमे पतली व त्रिकोण कलामय सेवनी तथा हनुअधरीय तथा जिह्वा अधरीय लाला ग्रथियो के स्रोत होते हैं। इसमे राशनी धमनी तथा शिरा भी दिखाई देती है। इसकी वाम तथा दक्षिण दो धाराऐं जो कि सामने आकर मिल कर फू ग बनाती है जहा स्वादाकुरो की प्रचुरता रहती है। इसका पीछे का भाग, अधिजिह्विका, शिफारसा-निका, गलस्तम्भिका, कोमलतालु, चिबुक, जिह्वाकठिका पेशियो से सम्बन्धित रहता है।

स्वादांकुर (Lingul papill)

इनकी आकृति के तीन प्रकार हैं (१) कूर्च अग्रिम $\frac{2}{3}$ भाग मे (२) शिलीन्ध्र अग्र भाग व पार्श्व भाग मे (३) द्वीप पीछे के $\frac{1}{3}$ भाग मे रहते हैं।

रस ग्रहण प्रकार—

द्रव्य निपात से सर्वप्रथम द्रव्य का बोधक कफ मे द्रवीभूत होकर—स्वादाकुरो द्वारा

स्वादकोरको को उत्तेजित करते हैं—इनकी उत्तेजनाएँ नाडी सूत्रो द्वारा स्वाद ग्रहण केन्द्र मे पहुचाई जाती हैं। रस ६ हैं। इसमे ७, ६, ५, १२वी नाडियो के सूत्र रहते हैं।

घ्राणेन्द्रिय (Organ of smell)

आभ्यतर अधिष्ठान, अकुशकर्णिका, बाह्य नासा स्थित गन्धादानिका व घ्राण नाडी सूत्र हैं।

नासा (Nose)

चेहरे के मध्य मे बाहिर उठा हुआ, तथा भीतर गहरा है। यह त्वचा, मास, अस्थि, तरुणास्थिकला से बना बीच मे प्राचीरक से विभक्त है। इसके दो भाग हैं (१) बहिर्नासा, (नासा वश) (२) अतर्नासा (नासागुहा)।

बहिर्नासा (Outer nose)

इसके आठ उपाग हैं—मूल पृष्ठ, पक्ष, अग्र, पुट, विवर, पालीका, वश गुहा।

(१) नासामूल (Root)

दोनो भावो के बीच का नीचा प्रदेश (२) पृष्ठ (Dorsum) मूल से अग्र भाग तक (३) पक्ष (Sides) दोनो ओर (४) अग्र (Tip) आगे का नीचे का सिरा (५) पुट (Nostrils) दोनो ओर (६) विवर (Anterior Nares) नासापुट का भीतरी भाग (७) नासापालिका (Alae Nasi) प्रत्येक नासापुट का चौडा (८) भाग वशगुहा (Anterior Nasalcanal) दो अगुल तक का भीतरी भाग इसके बाद का भीतरी भाग अतर्नासा (Inner N
नाडी सूत्र फैले रहते हैं। नासागुहा का निर्माण चवदह अस्थियो से होता है।
६ भाग हैं—(१) गुहाच्छदि, (२) गुहाभूमि, (३) अन्त. प्राचीर, (४) ब
(५) गुहापुट द्वार, (६) गुहा पश्चिम द्वार।

नासाभ्यन्तरीयाकला—

यह कला समस्त नासिका में लगी होती है जिसमे निरन्तर पतले स्राव निकलता है। इसमें शुक्तिकाओ के पास मे अत्यत रहते हैं। यह च्छिद्र, पटह पूरणिका, ग्रसनिका, नेत्रवर्त्म मे रहती ग्राही कोशाणु

गध ज्ञान प्रकार—

गन्धग्राही कोश रोमराजीयुक्त पतले स्तर में रहने वाली तर्पक कफ से आर्द्रकर ग्रहण कर मस्तिष्क तक पहुचाते

गध के भेद—

गन्ध तीन प्रकार की होती है—मृदु, मध्य, त अप्रिय (दुर्गंध)।

वात संस्थान Nervous System

लेखक : कविराज विष्णुदत्त पुरोहित, जोधपुर

[कविराज श्री पुरोहित प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् महर्षिकल्प श्री बद्रीदास जी पुरोहित के सुपुत्र हैं। आप कलकत्ता की श्री गोविन्द सुन्दरी आयुर्वेदिक कॉलेज से A M B (आयुर्वेदाचार्य) की उपाधि प्राप्त कर बद्री ज्योतिष आयुर्वेद भवन में मुख्यचिकित्सक का कार्य कर रहे हैं। आप जय आयुर्वेद (जोधपुर), स्वास्थ्य, कालेडा कृष्णगोपाल तथा विधायक साप्ताहिक के सपादक के साथ २ अभिनन्दन ग्रन्थ के सपादक मडल में हैं। मारवाड आयुर्वेद प्रचारिणी के प्रधानमन्त्री भी रह चुके हैं। श्री पुरोहित चरित्रनायक के नाडी विज्ञान में आयुर्वेदीय शिष्य हैं। आपने वात सस्थान पर सारगर्भित लेख लिखा है।

वैद्य पाबूलाल जोशी, सम्पादक]

इस सस्थान का मुख्य यन्त्र शिरोगुहा मे रहता है। शिर को उत्तमाग भी कहते हैं। अतिन्द्रिय, मन, चित्त व बुद्धि यही से इन्द्रियार्थों को ग्रहण करती है तथा समस्त क्रियाऐं कराती है। इसे मस्तिष्क कहते हैं। देह की प्रत्येक क्रिया का नियन्त्रण मस्तिष्क द्वारा होता है। इस पर तीन आवरण रहते हैं।

(१) बाह्यावरण (वराधिका) यह कठोर होता है और कपाल की अस्थियो के भीतरी पृष्ठ पर लगा रहता है।

(२) मध्यमावरण (नीहारिका) इसमे रक्त कोशिकाओ का जाल रहता है। बाह्य व मध्यम आवरण के बीच के अवकाश को अतर्वराशिक कहते हैं।

(३) अन्तरावरण (चीनाशुक) इनके बीच के अवकाश में ब्रह्मोदक जिसका प्रमाण पूर्ण युवावस्था मे पाच तोला के लगभग होता है। जिसे ही तर्पक कफ कहते है। यह मस्तिष्क व सुषुम्ना मे रहता हुआ पोषण तथा रक्षा करता है।

मस्तिष्क के भाग—

मस्तिष्क के ४ भाग होते हैं —

(१) वृहद् मस्तिष्क (२) लघु मस्तिष्क (धमिल्लक)

स्वादकोरको को उत्तेजित करते हैं—इनकी उत्तेजनाऐं नाडी सूत्रो द्वारा स्वाद ग्रहण केन्द्र मे पहुचाई जाती हैं। रस ६ हैं। इसमे ७, ६, ५, १२वी नाडियो के सूत्र रहते हैं।

घ्राणेन्द्रिय (Organ of smell)

आभ्यतर अधिष्ठान, अकुशकर्णिका, बाह्य नासा स्थित गन्धादानिका व घ्राण नाडी सूत्र हैं।

नासा (Nose)

चेहरे के मध्य मे बाहिर उठा हुआ, तथा भीतर गहरा है। यह त्वचा, मास, अस्थि, तरुणास्थिकला से बना बीच मे प्राचीरक से विभक्त है। इसके दो भाग हैं (१) बहिर्नासा, (नासा वश) (२) अतर्नासा (नासागुहा)।

बहिर्नासा (Outer nose)

इसके आठ उपाग हैं—मूल पृष्ठ, पक्ष, अग्र, पुट, विवर, पालीका, वश गुहा।

(१) नासामूल (Root)

दोनो भावो के बीच का नीचा प्रदेश (२) पृष्ठ (Dorsum) मूल से अग्र भाग तक (३) पक्ष (Sides) दोनो ओर (४) अग्र (Tip) आगे का नीचे का सिरा (५) पुट (Nostrils) दोनो ओर (६) विवर (Anterior Nares) नासापुट का भीतरी भाग (७) नासा-पालिका (Alae Nasi) प्रत्येक नासापुट का चौडा (८) भाग वशगुहा (Anterior Nasalcanal) दो अगुल तक का भीतरी भाग इसके बाद का भीतरी भाग अतर्नासा (Inner Nose) जहा नाडी सूत्र फैले रहते हैं। नासागुहा का निर्माण चवदह अस्थियो से होता है। अतर्नासा के ६ भाग हैं—(१) गुहाच्छदि, (२) गुहाभूमि, (३) अन्तः प्राचीर, (४) बहिः प्राचीर, (५) गुहापुट द्वार, (६) गुहा पश्चिम द्वार।

नासाभ्यन्तरीयाकला—

यह कला समस्त नासिका में लगी होती है जिससे निरन्तर पतले स्राव वाला कफ निकलता है। इसमें शुक्तिकाओ के पास में अत्यत रक्त के स्रोत रहते हैं। यह कला गल-च्छिद्र, पटह पूरणिका, ग्रसनिका, नेत्रवर्त्म मे रहती है, इसमें गन्ध ग्राही कोशाणु रहते हैं।

गध ज्ञान प्रकार—

गन्धग्राही कोश रोमराजीयुक्त पतले स्तर में होते हैं। ये वायु में रहने वाली गध को तर्पक कफ से आर्द्रकर ग्रहण कर मस्तिष्क तक पहुचाते हैं।

गध के भेद—

गन्ध तीन प्रकार की होती है—मृदु, मध्य, तीक्ष्ण, प्रकारान्तर से प्रिय (सुगन्ध) अप्रिय (दुर्गंध)।

वात संस्थान Nervous System

लेखक: कविराज विष्णुदत्त पुरोहित, जोधपुर

[कविराज श्री पुरोहित प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् महर्षिकल्प श्री बद्रीदास जी पुरोहित के सुपुत्र है। आप कलकत्ता की श्री गोविन्द सुन्दरी आयुर्वेदिक कॉलेज से AMB (आयुर्वेदाचार्य) की उपाधि प्राप्त कर बद्री ज्योतिष आयुर्वेद भवन में मुख्यचिकित्सक का कार्य कर रहे है। आप जय आयुर्वेद (जोधपुर), स्वास्थ्य, कालेडा कृष्णगोपाल तथा विधायक साप्ताहिक के सपादक के साथ २ अभिनन्दन ग्रन्थ के सपादक मडल में हैं। मारवाड आयुर्वेद प्रचारिणी के प्रधानमत्री भी रह चुके है। श्री पुरोहित चरित्रनायक के नाडी विज्ञान में आयुर्वेदीय शिष्य है। आपने वात सस्थान पर सारगर्भित लेख लिखा है।

वैद्य पाबूलाल जोशी, सम्पादक]

इस सस्थान का मुख्य यन्त्र शिरोगुहा में रहता है। शिर को उत्तमांग भी कहते हैं। अतिन्द्रिय, मन, चित्त व बुद्धि यही से इन्द्रियार्थो को ग्रहण करती है तथा समस्त क्रियाएं कराती है। इसे मस्तिष्क कहते हैं। देह को प्रत्येक क्रिया का नियन्त्रण मस्तिष्क द्वारा होता है। इस पर तीन आवरण रहते हैं।

(१) बाह्यावरण (वराधिका) यह कठोर होता है और कपाल की अस्थियो के भीतरी पृष्ठ पर लगा रहता है।

(२) मध्यमावरण (नीशारिका) इसमे रक्त कोशिकाओ का जाल रहता है। बाह्य व मध्यम आवरण के बीच के अवकाश को अतर्वराशिक कहते हैं।

(३) अन्तरावरण (चीनाशुक) इनके बीच के अवकाश में ब्रह्मोदक जिसका प्रमाण पूर्ण युवावस्था मे पाच तोला के लगभग होता है। जिसे ही तर्पक कफ कहते हैं। यह मस्तिष्क व सुषुम्ना मे रहता हुआ पोषण तथा रक्षा करता है।

मस्तिष्क के भाग—

मस्तिष्क के ४ भाग होते हैं :—

(१) बृहद् मस्तिष्क (२) लघु मस्तिष्क (धमिल्लक)

स्वादकोरको को उत्तेजित करते हैं—इनकी उत्तेजनाऐ नाडी सूत्रो द्वारा स्वाद ग्रहण केन्द्र मे पहुचाई जाती हैं। रस ६ हैं। इसमे ७, ९, ५, १२वी नाडियो के सूत्र रहते हैं।

घ्राणेन्द्रिय (Organ of smell)

आभ्यतर अधिष्ठान, अकुशकर्णिका, बाह्य नासा स्थित गन्धादानिका व घ्राण नाडी सूत्र हैं।

नासा (Nose)

चेहरे के मध्य मे बाहिर उठा हुआ, तथा भीतर गहरा है। यह त्वचा, मास, अस्थि, तरुणास्थिकला से बना बीच मे प्राचीरक से विभक्त है। इसके दो भाग हैं (१) बहिर्नासा, (नासा वश) (२) अतर्नासा (नासागुहा)।

बहिर्नासा (Outer nose)

इसके आठ उपाग हैं—मूल पृष्ठ, पक्ष, अग्र, पुट, विवर, पालीका, वश गुहा।

(१) नासामूल (Root)

दोनो भावो के बीच का नीचा प्रदेश (२) पृष्ठ (Dorsum) मूल से अग्र भाग तक (३) पक्ष (Sides) दोनो ओर (४) अग्र (Tip) आगे का नीचे का सिरा (५) पुट (Nostrils) दोनो ओर (६) विवर (Anterior Nares) नासापुट का भीतरी भाग (७) नासा-पालिका (Alae Nasi) प्रत्येक नासापुट का चौडा (८) भाग वशगुहा (Anterior Nasalcanal) दो अगुल तक का भीतरी भाग इसके बाद का भीतरी भाग अतर्नासा (Inner Nose) जहा नाडी सूत्र फैले रहते हैं। नासागुहा का निर्माण चवदह अस्थियो से होता है। अतर्नासा के ६ भाग हैं—(१) गुहाच्छदि, (२) गुहाभूमि, (३) अन्तः प्राचीर, (४) बहिः प्राचीर, (५) गुहापुट द्वार, (६) गुहा पश्चिम द्वार।

नासाभ्यन्तरीयाकला—

यह कला समस्त नासिका में लगी होती है जिससे निरन्तर पतले स्राव वाला कफ निकलता है। इसमें शुक्तिकाओ के पास में अत्यत रक्त के स्रोत रहते हैं। यह कला गल-च्छिद्र, पटह पूरणिका, ग्रसनिका, नेत्रवर्त्म मे रहती है, इसमें गन्ध ग्राही कोशाणु रहते हैं।

गध ज्ञान प्रकार—

गन्धग्राही कोश रोमराजीयुक्त पतले स्तर में होते हैं। ये वायु में रहने वाली गध को तर्पक कफ से आर्द्रकर ग्रहण कर मस्तिष्क तक पहुचाते हैं।

गध के भेद—

गन्ध तीन प्रकार की होती है—मृदु, मध्य, तीक्ष्ण, प्रकारान्तर से प्रिय (सुगन्ध) अप्रिय (दुर्गंध)।

वात संस्थान Nervous System

लेखक : कविराज विष्णुदत्त पुरोहित, जोधपुर

[कविराज श्री पुरोहित प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् महर्षिकल्प श्री बद्रीदास जी पुरोहित के सुपुत्र हैं। आप कलकत्ता की श्री गोविन्द सुन्दरी आयुर्वेदिक कॉलेज से A M B (आयुर्वेदाचार्य) की उपाधि प्राप्त कर बद्री ज्योतिष आयुर्वेद भवन में मुख्यचिकित्सक का कार्य कर रहे हैं। आप जय आयुर्वेद (जोधपुर), स्वास्थ्य, कालेडा कृष्णगोपाल तथा विधायक साप्ताहिक के सपादक के साथ २ अभिनन्दन ग्रन्थ के सपादक मडल में हैं। मारवाड आयुर्वेद प्रचारिणी के प्रधानमत्री भी रह चुके हैं। श्री पुरोहित चरित्रनायक के नाडी विज्ञान में आयुर्वेदीय शिष्य है। आपने वात संस्थान पर सारगर्भित लेख लिखा है।

वैद्य पाबूलाल जोशी, सम्पादक]

इस सस्थान का मुख्य यन्त्र शिरोगुहा मे रहता है। शिर को उत्तमाग भी कहते हैं। अतिन्द्रिय, मन, चित्त व बुद्धि यही से इन्द्रियार्थों को ग्रहण करती है तथा समस्त क्रियाएं कराती है। इसे मस्तिष्क कहते हैं। देह की प्रत्येक क्रिया का नियन्त्रण मस्तिष्क द्वारा होता है। इस पर तीन आवरण रहते हैं।

(१) बाह्यावरण (वराशिका) यह कठोर होता है और कपाल की अस्थियो के भीतरी पृष्ठ पर लगा रहता है।

(२) मध्यमावरण (नीहारिका) इसमे रक्त कोशिकाओ का जाल रहता है। बाह्य व मध्यम आवरण के बीच के अवकाश को अतर्वराशिक कहते हैं।

(३) अन्तरावरण (चीनाशुक) इनके बीच के अवकाश मे ब्रह्मोदक जिसका प्रमाण पूर्ण युवावस्था मे पाच तोला के लगभग होता है। जिसे ही तर्पक कफ कहते है। यह मस्तिष्क व सुषुम्ना मे रहता हुआ पोषण तथा रक्षा करता है।

मस्तिष्क के भाग—

मस्तिष्क के ४ भाग होते हैं—

(१) वृहद् मस्तिष्क (२) लघु मस्तिष्क (धमिल्लक)

अर्थात् ऊपर श्वेत तथा भीतर मटमैला होता है। इसका धूसर पदार्थ अग्रेजी अक्षर H से मिलता-जुलता है। यह नाडी कोशो से बनता है। इसके अग्रिम भाग पूर्व शृग तथा पीछे के पश्चिम शृग कहलाते हैं। इसके बीच मे एक नली होती है—पूर्व तथा पश्चिम शृगो मे रहने वाली कोशिकाओ से निकलने वाले सूत्र नाडी के पूर्व तथा पश्चिम मूल बनाते हैं। इन दोनो मूलो के मिलने से एक नाडी बन जाती है। धूसर भाग के बाहिर के भाग सूत्रो से बने हैं—ये सूत्र मस्तिष्क को जाते आते हैं। पूर्व शृग के कोश चालक तथा पश्चिम शृग के कोश सवेदनाएँ ग्रहण करते हैं। सुषुम्ना से ३१ जोडे नाड़ियो के निकलते हैं जो समस्त शरीर मे फैल जाते हैं। सुषुम्ना से निकलने वाली नाडिया सौषुम्निक नाडिया कहलाती हैं।

सुषुम्ना के कार्य—

सज्ञाओ तथा चेष्टाओ के वेगो को वहन करना, तथा परावर्त (प्रतिसक्रमित) क्रिया कराना है।

शीर्षण्य नाड़ियाँ (Cranial nerves)

बारह नाडियो के जोडे शिर से सीधे निकलते हैं। इन्हें शीर्षण्य नाड़िया कहते हैं। (१) घ्राण (२) (दृष्टि) (३) (४) (६) नेत्र चालनी (५) त्रिधारा (७) वक्त्र (८) श्रुति (९) कठराशनी (१०) प्राणदा (११) ग्रीवा पृष्ठगा (१२) जिह्वा-तलीया ह।

स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान Autonomic nervous System

लेखक : मुनि देवेन्द्रचन्द्र जैन, जोधपुर

[चिकित्सकरत्न श्री जैन, एस जे. ए. फार्मेसी के मैनेजर तथा चरित्रनायक के औषधि निर्माण की विशिष्ठ प्रक्रियाओं के ज्ञाता, अति विश्वस्त एव सेवाभावी शिष्य है। आप राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पजीकृत) के आद्य अध्यक्ष तथा मारवाड आयुर्वेद प्रचारिणी सभा जोधपुर के भूतपूर्व अध्यक्ष तथा उदयाभिनन्दन ग्रन्थ समिति के व्यवस्थापक है। आपका 'स्वतन्त्र नाडी संस्थान' खोजपूर्ण लेख मनन करने योग्य है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

शरीर मे जो क्रियाए हमारी इच्छा के आधीन नही अर्थात् जिन चलने वाली क्रियाओ को हम नही रोक सकते और रुक जाय तो कर नही सकते ऐसी क्रियाओ के नियामक नाडी सूत्रो को स्वतन्त्र नाडी सूत्र कहते हैं। शरीर मे ऐसे नाडी सूत्रो के विभागो का दो प्रकार है जो एक दूसरे के विरोधी हैं। (१) मध्य स्वतन्त्र पैत्तिक (आग्नेय) (२) परिस्वतन्त्र सोम्य जिनका नियन्त्रण मस्तिष्क के मूल मे स्थित आज्ञाकन्द Thalamus द्वारा होता है।

मध्यस्वतन्त्र Sympathatic—

पृष्ठवंश के दोनो ओर नाडी गण्डो की शृखला होती है, बाई ओर की शृखला को इडा तथा दाहिनी ओर की शृखला को पिंगला कहते हैं। इनसे निकलने वा नाडी सूत्र मध्य स्वतन्त्र नाडीसूत्र क लाते हैं।

परिस्वतन्त्र Para Sympathetic—

इनके २ भेद हैं (१) उत्तर परिस्वतन्त्र—जो कि तीसरी, सातवी, नवमी, दशमी व एकादश शीर्षण्य नाडियो के सूत्रो से मिलकर प्रसार पाने वाले उत्तर परिस्वतन्त्र, तथा सुषुम्ना के त्रिक नाडी सूत्रो से सम्बन्धित हो बस्ति आदि स्थानो मे फैलने वाले सूत्र समूह को अधर परिस्वतन्त्र कहते हैं। ये सौम्यगुणातिरेक वाले होते हैं।

अर्थात् ऊपर श्वेत तथा भीतर मटमैला होता है। इसका घूसर पदार्थ अग्रेजी अक्षर H से मिलता-जुलता है। यह नाडी कोशो से बनता है। इसके अग्रिम भाग पूर्व श्रृग तथा पीछे के पश्चिम श्रृग कहलाते हैं। इसके बीच मे एक नली होती है—पूर्व तथा पश्चिम श्रृगो मे रहने वाली कोशिकाओ से निकलने वाले सूत्र नाडी के पूर्व तथा पश्चिम मूल बनाते हैं। इन दोनो मूलो के मिलने से एक नाडी बन जाती है। घूसर भाग के बाहिर के भाग सूत्रो से बने हैं—ये सूत्र मस्तिष्क को जाते आते हैं। पूर्व श्रृग के कोश चालक तथा पश्चिम श्रृग के कोश सवेदनाऐं ग्रहण करते हैं। सुषुम्ना से ३१ जोड़े नाडियो के निकलते हैं जो समस्त शरीर मे फैल जाते हैं। सुषुम्ना से निकलने वाली नाडिया सौषुम्निक नाडिया कहलाती हैं।

सुषुम्ना के कार्य—

सज्ञाओ तथा चेष्टाओ के वेगो को वहन करना, तथा परावर्त (प्रतिसक्रमित) क्रिया कराना है।

शीर्षण्य नाड़ियां (Cranial nerves)

बारह नाड़ियो के जोडे शिर से सीधे निकलते हैं। इन्हें शीर्षण्य नाड़िया कहते हैं। (१) घ्राण (२) (दृष्टि) (३) (४) (६) नेत्र चालनी (५) त्रिधारा (७) वक्त्र (८) श्रुति (९) कठराशनी (१०) प्राणदा (११) ग्रीवा पृष्ठगा (१२) जिह्वा-तलीया ह।

स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान Autonomic nervous System

लेखक। मुनि देवेन्द्रचन्द्र जैन, जोधपुर

[चिकित्सकरत्न श्री जैन, एस जे. ए. फार्मेसी के मैनेजर तथा चरित्रनायक के औषधि निर्माण की विशिष्ठ प्रक्रियाओं के ज्ञाता, अति विश्वस्त एव सेवाभावी शिष्य है। आप राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पजीकृत) के आद्य अध्यक्ष तथा मारवाड आयुर्वेद प्रचारिणी सभा जोधपुर के भूतपूर्व अध्यक्ष तथा उदयाभिनन्दन ग्रन्थ समिति के व्यवस्थापक है। आपका 'स्वतत्र नाडी संस्थान' खोजपूर्ण लेख मनन करने योग्य है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

शरीर मे जो क्रियाए हमारी इच्छा के आधीन नही अर्थात् जिन चलने वाली क्रियाओ को हम नही रोक सकते और रुक जाय तो कर नही सकते ऐसी क्रियाओ के नियामक नाडी सूत्रो को स्वतत्र नाडी सूत्र कहते हैं। शरीर मे ऐसे नाडी सूत्रो के विभागो का दो प्रकार है जो एक दूसरे के विरोधी हैं। (१) मध्य स्वतत्र पैत्तिक (आग्नेय) (२) परिस्वतत्र सौम्य जिनका नियन्त्रण मस्तिष्क के मूल मे स्थित आज्ञाकन्द Thalamus द्वारा होता है।

मध्यस्वतत्र Sympathatic—

पृष्ठवश के दोनो ओर नाडी गण्डो की शृखला होती है, बाई ओर की शृखला को इडा तथा दाहिनी ओर की शृखला को पिंगला कहते हैं। इनसे निकलने वा नाडी सूत्र मध्य स्वतत्र नाडीसूत्र क_लाते हैं।

परिस्वतत्र Para Sympathetic—

इनके २ भेद हैं (१) उत्तर परिस्वतत्र—जो कि तीसरी, सातवी, नवमी, दशमी व एकादश शीर्षण्य नाडियो के सूत्रो से मिलकर प्रसार पाने वाले उत्तर परिस्वतत्र, तथा सुषुम्ना के अनुत्रिक नाडी सूत्रो से सम्बन्धित हो बस्ति आदि स्थानो मे फैलने वाले सूत्र समूह को अधर परिस्वतत्र कहते हैं। ये सौम्यगुणातिरेक वाले होते हैं।

चुल्लिका स्राव को थायरोक्सिन कहते हैं। इसमे आयोडीन का मिश्रण होता है।

परिचुल्लिका (Para Thyroid)

कण्ठ मे दोनो ओर मटर के आकार की दो ग्रन्थियां रहती हैं, जो चुल्लिका के ऊपर लगी रहती है। इसका कार्य रक्त मे तथा धातुओ के द्रव मे सुधा के आयनो की साम्यता रखना है।

परिचुल्लिका स्राव के हीन योग से मास मे आवेष्टन, श्वासावरोध, अतियोग से रक्त मे सुधा के आयनो की सख्या बढ जाती है—इससे मासपेशियो मे मृदुता होकर नाडी संस्थान मे अवसादकता आ जाती है तथा अन्त मे मृत्यु हो जाती है।

अधिवृक्क (Suprarenal)

दोनो वृक्को के ऊपर टोपी जैसी लगी दो ग्रन्थियाँ हैं, इनका स्राव रक्त मे नमक तथा जल की मात्रा को नियंत्रित रखना है, तथा मानसिक भावो को तीव्र या उत्तेजित करता है।

अधिवृक्क स्राव के हीन योग से क्षुधा नाश, उत्साह हानि, धमनी शैथिल्य, तथा अन्त मे मृत्यु हो जाती है।

अधिवृक्क स्राव के अतियोग से पुरुषो मे कोई लक्षण नही होता परन्तु स्त्रियो मे स्वर भारी होना, मुह पर श्मश्रु की उत्पत्ति होने लगती है।

अग्न्याशय (Pancreas)

यह ग्रन्थि पाचन रस के माथ साथ एक अतस्राव बनाती है जिसे इन्स्यूलिन कहते हैं, इसका अन्तःस्राव द्राक्षाशर्करा का दहन, शक्ति उत्पादन, सचय मे कार्यकारी है। रक्त मे शर्करा की मात्रा ०.०८ से ०.१ प्रतिशत से न्यून रहनी चाहिए। इसकी मात्रा बढने पर वृक्क इसे शरीर से बाहिर निकाल देते हैं। मधुमेह इन्स्यूलिन के हीनयोग या अयोग से उदकमेह, तृषा, क्षुधा, दुर्बलता स्नेहो का अपूर्ण पाक, मूर्च्छा, मृत्यु हो जाती है।

इन्स्यूलिन के अतियोग से शर्करा क्षय से मूर्च्छा मृत्यु आदि।

वृषण (Testicle)

इसके अतस्राव को अत शुक्र कहते हैं। इसकी सम्यक् मात्रा से जनन अवयवो की पुष्टि एव कर्म सामर्थ्य, केश, रोम, मेदो ग्रन्थिया, त्वचा, स्वर, अस्थि आदि की सम्यक् स्थिति।

अतफलया डिम्ब ग्रथि (Ovary)

इसका अत स्राव गर्भाशय को गर्भ धारण के लिए तैयार करता है, और गर्भ स्थिति

उपकार

छाया केन निवार्यते

नही रहने पर आर्तव प्रवृत्ति कराता है। इसका कार्य आर्तव प्रवृत्ति चक्र, उत्कण्ठा चक्र, जनन अवयवो की पुष्टि तथा तारुण्योदय है।

युवावस्था मे स्त्री बीज प्रति माह परिपक्व होता है। इनके विभाजन मे पूर्णपक्वता एक को प्राप्त होती है शेष क्षीण हो जाते हैं। बीज कोष के आवरण को वीजपुट कहते है। बीजपुट का अत.स्राव इस्ट्रीन कहलाता है। जिससे गर्भाशय, योनि, स्तन ग्रन्थिया पुष्ट होती है।

अपरा (Placenta)

इसका कार्य दुग्धग्रन्थियो को पुष्ट करना है।

थायमस (Thymous)—

यह वक्षोस्थि के पीछे रहती है। इसका कार्य स्त्री पुरुषो के बीजग्रन्थियो के विकास को रोकना है। षण्ढी करण से ये आजीवन बनी रहती हैं। इनके निकाल देने से बीज ग्रन्थिया शीघ्र पुष्ट होती हैं। जवानी के बाद प्राय: ये नही रहती।

पोषाणिका पीयूष (Pituitary)—

यह सब ग्रन्थियो की अधिकारी है। इसकी आकृति मटर के समान मस्तिष्क के नीचे कनपटी मे रहती है। इसके दो खड होते हैं। अग्रिम, तथा पाश्चिम—
अग्रिमखड के अत. स्राव के कार्य (१) वृहण या वृद्धि, (२) बीजग्रन्थि प्रवर्तन (३) दुग्ध प्रवर्तन (४) चुल्लिका स्राव प्रवर्तन, (५) अधिवृक्क वल्क प्रवर्तन, (६) परिचुल्लिका प्रवर्तन (७) धातु पाक प्रवर्तन (८) मूत्रल, और पश्चिम खड का अतस्राव, रक्त भारवर्द्धक, मूत्रसग्रहणीय, गर्भप्रवर्तक, माससूत्रो पर सकोचन, रजक कोशो पर प्रभावी, स्वेद, रस आदि के धातु पाक पर प्रभावी होता है। पोषणिका स्राव के हीन तथा अयोग से अतितृषा, उदकमेह, मधुमेह आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

इसके अतियोग से दानवकाय, शाखाओ व जबडे की अस्थियो की अतिवृद्धि होती है।

रक्त BLOOD

लेखक : वैद्य मदनलाल रगा

[वैद्य श्री मदनलाल जी रगा आयुर्वेदविशारद दैवज्ञ श्री अमृतलालजी रगा वैद्यराज के मझले पुत्र है व स्थानीय यशस्वी चिकित्सकों में से है। आप चरितनायक के आयुर्वेदीय शिष्य है। 'रक्त' शीर्षक आपका लेख जिज्ञासुओं के रञ्जनार्थ उत्तम है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

रक्त से शरीर का पोषण होता है। इसका गुरुत्व १०५५ है, यह अपार दर्शक होता है। तथा इसका स्वाद कुछ नमकीन होता है। शरीर के भीतर का ताप १०० डिग्री फहरनहीट या ३७° सेन्टीग्रेड होता है। ज्वरो मे १०६° या १०७° या इससे भी अधिक हो जाता है। शरीर मे से निकलने के बाद रक्त जम जाता है।

इसे कुछ देर बाद देखने से मालूम होगा कि पीले पानी पर एक छिछडा तैर रहा है। इस पीले पानी को सीरम या रक्त रस कहते हैं। छिछडे को निकाल कर पानी से धोने पर इसका रग धुल कर सफेद वस्तु सी प्रतीत होती है। जिसके सूक्ष्म अश को सूक्ष्म दर्शक मे देखने से मालूम होगा कि छिछडा अति सूक्ष्म तारो से बना है। जिसमे गोल २ चीजें फसी रहती हैं। यह गोल चीजें रक्त कण है। इन तारो का निर्माण फाईब्रीन नामक प्रोटीन से होता है।

रक्त का सगठन—

रक्त के दो भाग होते हैं। तरल भाग—जिसे रक्तवारि या प्लाजमा कहते हैं। रक्त-कोष रक्त के १०० भागो मे ६० से ६५ भाग रक्तवारि के, और ३५ से ४० भाग कोषो के होते हैं।

रक्तवारि—

विशेष साधनो से रक्त कणो को पृथक कर लेने पर रक्तवारि प्राप्त होता है इसका गुरुत्व १०२६ से १०२९ तक होता है। रक्तवारि के १०० भागो मे ९० भाग जल के तथा १० भाग रासायनिक वस्तुओ के रहते हैं। जिनके नाम निम्न है।

(१) प्रोटिन (२) वसा (३) द्राक्षोज (ग्लुकोज) (४) साधारण लवण (५) आक्सीजन कार्बन हाइड्रोजन गैसें। (६) यूरिया, यूरिक ऐसिड (७) अनेक प्रकार के उपविष।

रक्तवारि और रक्त रस में भेद—

रक्त से केवल रक्त कणो को पृथक करने पर रक्तवारि रहता है। किन्तु फायब्रीन व रक्त कणो के पृथक् हो जाने पर रक्त रस रहता है।

रक्त को शीघ्र जमाने वाले कारण—

(१) अधिक उष्णता ५६° या ५७° सन्ताप (२) चूना खडिया मिट्टी के मैल से (३) रक्त वाले बर्तन को खूब अधिक हिलाने से (४) न्यूक्लिओप्रोटीन (५) सर्प विष (६) आन्त्रिक ज्वर की कुछ अवस्थायें।

रक्त को जमाने में विलम्ब करने वाले कारण—

(१) शीत के प्रभाव से (२) सोडियम साईट्रेट नामक लवण (३) चिकना बर्तन (४) जोक की लाला।

मृत्यु के पश्चात रक्त की अवस्था

मृत्यु के चार घन्टे पश्चात रक्त जमना प्रारम्भ होता है। रक्त की धमनिया खाली मिलती है। तथा रक्त का रक्त रस गुरुत्वाकर्षण से नीचे के भागो मे इकट्ठा हो जाता है। तथा वे स्थान पिलपिले हो जाते हैं।

रक्त का परिमाण—

रक्त का भार शरीर के भार का १/२० अंश के लगभग होता है।

रक्त कण—

रक्त में तीन प्रकार के कण पाए जाते हैं।

ल रक्त कण (रक्ताणु)

(२) श्वेत रक्त कण (श्वेताणु) (३) सूक्ष्म रक्त कण (चक्रीकाए)

लाल रक्त कण—

लाल रक्त कणो की आकृति पिचकी हुई गेंद के समान गोल होती है। लाल कण की मोटाई १/१२००० लम्बाई १/३२०० होती है। इन्ही कणो के कारण रक्त का रग लाल होता है। १ घन सहस्राश मीटर मे (१ बूद के ६० वें अंश के बराबर) इनकी सख्या पुरुषो मे ५०,००००० पचास लाख, स्त्रियो मे ४५,००० पैंतालीस लाख तथा नव

जात शिशुओ मे ६०,००००० साठ लाख होती है। रक्ताणु का रग पीला सा होता है। किन्तु, बहुत इकट्ठे होने पर लाल रग दिखाई देता है—स्तनधारी प्राणियो के रक्त कणो मे मीगी दिखाई नही देती। भ्रूण के चौथे माह तक जितने भी लाल कण बनते हैं उनमे मीगी होती है। इसके बाद बनने वाले रक्त—लाल कणो मे मीगी नही होती और जिनमें होती है वह भी जाती रहती है। लाल कणो के रग को कण-रजक कहते है।

श्वेत कण—

इन कणो मे मीगी भिन्न-भिन्न आकृति की होती है। एक घन सहस्राश मीटर रक्त मे इनकी सख्या ७००० से १०,००० तक होती है। अर्थात् ५०० या ६०० रक्त कणो के पीछे १ श्वेत कण होता है। इनकी लम्बाई १/२५०० के लगभग होती है। जीवित कणो मे आकृति सदा एक सी नही रहती, कभी गोल कभी त्रिकोण, कभी पूर्ण दशा मे बन जाती है। ये चार प्रकार के होते हैं।

(क) क्षुद्र लसीकाणु (Small Lympho Cyte)

इनमे एक बडी गोल मीगी, और मीगी के चारो ओर जीवोज रहता है। ये २० से २५ प्रतिशत तक होते हैं।

(ख) बृहत् लसी काणु (Meno Lympho Cyte)

इनका परिमाण लाल कणो से दुगना तिगुना होता है। किसी मे मीगी गोल अण्डाकार और वृक्काकार और मीगी के चारो तरफ बहुत सा जीवोज रहता है। ये ३ से ५ प्रतिशत तक रहते हैं।

(ग) बहुरूपी मींगीयुक्त श्वेताणु (Poli morpho Nuclear Lympho Cyte)

इन कणो की मीगी अग्रेजी अक्षर (E V S U Z) के आकार की होती है। इनके जीवोज मे छोटे छोटे दाने पाए जाते हैं। इनक ग ६७ प्रतिशत से ७० प्रतिशत तक होती है।

अम्ल रगेच्छु श्वेताणु (Eosinofile Lympho Cyte)

इनकी मीगी या तो गोल या नाल के समान मुडी हुई होती है। इनके जीवोज में मोटे मोटे दाने होते हैं। Eosine आदि अम्ल रगो से रगने पर गहरा रग लेते हैं। इनकी सख्या २ से ४ होती हैं।

रक्त परीक्षा विधि

अगुलो या कर्ण की लौर से सुई चुभो कर रक्त निकाल कर स्वच्छ कांच की पट्टी पर लगा कर दूसरी पट्टी के किनारे से पतली तह फैला देते हैं। जब यह तह सूख जाती हैं

तो विशेष प्रकार के रगो से यथाविधि रग कर पट्टी को धोकर सुखा कर सूक्ष्म दर्शक यन्त्र द्वारा देखा जाता है।

रक्त परीक्षा—

रक्त परीक्षा से रोग ज्ञान मे पूर्ण सहायता मिलती है।

(१) रक्त का रग, गुरुत्व, जमने का समय।

(२) रक्त की प्रतिक्रिया कम क्षारीय अथवा अधिक क्षारीय।

(३) लाल अथवा श्वेत कणो की सख्या।

(४) लाल कण टूटे हुए तो नही अथवा उनमे रोग उत्पादक जन्तु तो नही।

(५) रक्तवाहिनियो मे रक्त रोग उत्पादक जन्तु तो नही और इसका सगठन और शर्करा की मात्रा क्या है।

जात शिशुओ मे ६०,००००० साठ लाख होती है। रक्ताणु का रग पीला सा होता है। किन्तु, बहुत इकट्ठे होने पर लाल रग दिखाई देता है—स्तनधारी प्राणियो के रक्त कणो मे मीगी दिखाई नही देती। भ्रूण के चौथे माह तक जितने भी लाल कण बनते हैं उनमे मीगी होती है। इसके बाद बनने वाले रक्त—लाल कणो मे मीगी नही होती और जिनमें होती है वह भी जाती रहती है। लाल कणो के रग को कण-रजक कहते है।

श्वेत कण—

इन कणो मे मीगी भिन्न-भिन्न आकृति की होती है। एक घन सहस्राश मीटर रक्त मे इनकी सख्या ७००० से १०,००० तक होती है। अर्थात् ५०० या ६०० रक्त कणो के पीछे १ श्वेत कण होता है। इनको लम्बाई $\frac{1}{2500}$ के लगभग होती है। जीवित कणो मे आकृति सदा एक सी नही रहती, कभी गोल कभी त्रिकोण, कभी पूर्ण दशा मे बन जाती है। ये चार प्रकार के होते हैं।

(क) क्षुद्र लसीकाणु (Small Lympho Cyte)

इनमे एक बडी गोल मीगी, और मीगी के चारो ओर जीवोज रहता है। ये २० से २५ प्रतिशत तक होते हैं।

(ख) वृहत् लसी काणु (Meno Lympho Cyte)

इनका परिमाण लाल कणो से दुगना तिगुना होता है। किसी मे मीगी गोल अण्डाकार और वृक्काकार और मीगी के चारो तरफ बहुत सा जीवोज रहता है। ये ३ से ५ प्रतिशत तक रहते हैं।

(ग) बहुरूपी मींगीयुक्त श्वेताणु (Poli morpho Nuclear Lympho Cyte)

इन कणो की मीगी अंग्रेजी अक्षर (E V S U Z) के आकार की होती है। इनके जीवोज मे छोटे छोटे दाने पाए जाते हैं। इनक र ६७ प्रतिशत से ७० प्रतिशत तक होती है।

अम्ल रगेच्छु श्वेताणु (Eosinofile Lympho Cyte)

इनकी मीगी या तो गोल या नाल के समान मुडी हुई होती है। इनके जीवोज में मोटे मोटे दाने होते हैं। Eosine आदि अम्ल रगो से रगने पर गहरा रग लेते हैं। इनकी सख्या २ से ४ होती हैं।

रक्त परीक्षा विधि

अगुली या कर्ण की लौर से सुई चुभो कर रक्त निकाल कर स्वच्छ कांच की पट्टी पर लगा कर दूसरी पट्टी के किनारे से पतली तह फैला देते हैं। जब यह तह सूख जाती है

तो विशेष प्रकार के रगो से यथाविधि रग कर पट्टी को धोकर सुखा कर सूक्ष्म दर्शक यत्र के द्वारा देखा जाता है।

रक्त परीक्षा—

रक्त परीक्षा से रोग ज्ञान मे पूर्ण सहायता मिलती है।

(१) रक्त का रग, गुरुत्व, जमने का समय।

(२) रक्त की प्रतिक्रिया कम क्षारीय अथवा अधिक क्षारीय।

(३) लाल अथवा श्वेत कणो की सख्या।

(४) लाल कण टूटे हुए तो नही अथवा उनमे रोग उत्पादक जन्तु तो नही।

(५) रक्तवाहिनियो मे रक्त रोग उत्पादक जन्तु तो नही और इसका सगठन और शर्करा की मात्रा क्या है।

जात शिशुओ मे ६०,००००० साठ लाख होती है। रक्ताणु का रग पीला सा होता है। किन्तु, बहुत इकट्ठे होने पर लाल रग दिखाई देता है—स्तनधारी प्राणियो के रक्त कणो मे मीगी दिखाई नही देती। भ्रूण के चौथे माह तक जितने भी लाल कण बनते हैं उनमे मीगी होती है। इसके बाद बनने वाले रक्त—लाल कणो मे मीगी नही होती और जिनमें होती है वह भी जाती रहती है। लाल कणो के रग को कण-रजक कहते हैं।

श्वेत कण—

इन कणो मे मीगी भिन्न-भिन्न आकृति की होती है। एक घन सहस्राश मीटर रक्त मे इनकी सख्या ७००० से १०,००० तक होती है। अर्थात् ५०० या ६०० रक्त कणो के पीछे १ श्वेत कण होता है। इनकी लम्बाई $\frac{1}{2500}$ के लगभग होती है। जीवित कणो मे आकृति सदा एक सी नही रहती, कभी गोल कभी त्रिकोण, कभी पूर्ण दशा मे बन जाती है। ये चार प्रकार के होते हैं।

(क) क्षुद्र लसीकाणु (Small Lympho Cyte)

इनमे एक बडी गोल मीगी, और मीगी के चारो ओर जीवोज रहता है। ये २० से २५ प्रतिशत तक होते हैं।

(ख) वृहत् लसी काणु (Meno Lympho Cyte)

इनका परिमाण लाल कणो से दुगना तिगुना होता है। किसी मे मीगी गोल अण्डाकार और वृक्काकार और मीगी के चारो तरफ बहुत सा जीवोज रहता है। ये ३ से ५ प्रतिशत तक रहते हैं।

(ग) बहुरूपी मींगीयुक्त श्वेताणु (Poli morpho Nuclear Lympho Cyte)

इन कणो की मीगी अग्रेजी अक्षर (E V S U Z) के आकार की होती है। इनके जीवोज मे छोटे छोटे दाने पाए जाते हैं। इनक ग ६७ प्रतिशत से ७० प्रतिशत तक होती है।

अम्ल रगेच्छु श्वेताणु (Eosinofile Lympho Cyte)

इनकी मीगी या तो गोल या नाल के समान मुडी हुई होती है। इनके जीवोज में मोटे मोटे दाने होते हैं। Eosine आदि अम्ल रगो से रगने पर गहरा रग लेते हैं। इनकी सख्या २ से ४ होती हैं।

रक्त परीक्षा विधि

अंगुली या कर्ण की लौर से सुई चुभो कर रक्त निकाल कर स्वच्छ कांच की पट्टी पर लगा कर दूसरी पट्टी के किनारे से पतली तह फैला देते हैं। जब यह तह सूख जाती हैं

तो विशेष प्रकार के रगो से यथाविधि रग कर पट्टी को धोकर सुखा कर सूक्ष्म दर्शक यंत्र के द्वारा देखा जाता है।

रक्त परीक्षा—

रक्त परीक्षा से रोग ज्ञान मे पूर्ण सहायता मिलती है।

(१) रक्त का रग, गुरुत्व, जमने का समय।

(२) रक्त की प्रतिक्रिया कम क्षारीय अथवा अधिक क्षारीय।

(३) लाल अथवा श्वेत कणो की सख्या।

(४) लाल कण टूटे हुए तो नही अथवा उनमे रोग उत्पादक जन्तु तो नही।

(५) रक्तवाहिनियो मे रक्त रोग उत्पादक जन्तु तो नही और इसका सगठन और शर्करा की मात्रा क्या है।

वसा

लेखक . वैद्य किशनलाल रंगा

[वैद्य श्री किशनलालजी रगा दैवज्ञ श्री अमृतलालजी रगा वैद्यराज के घनिष्ट पुत्र हैं व परम्परागत वैद्य हैं। आप एक कुशल औषधिनिर्माता हैं। आपका लेख छात्रोपयोगी है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

शुद्ध मांसस्य य स्नेह सा वसा परिकीर्तिता'।
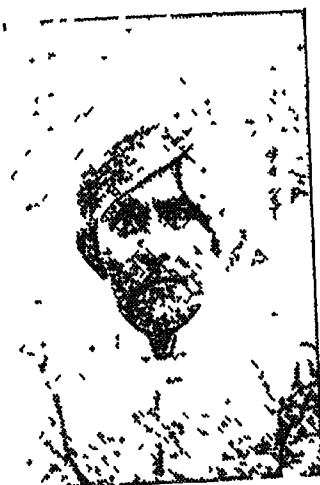
त्वचा के नीचे शुद्ध मास का चिकनाई वाला भाग वसा कहलाता है। यह मास के ऊपर पीली चिकनाई वाली वस्तु की तह रहती है उसे वसा समझें।

(१) वसा के कार्य—

वसा उष्णता की सचालक न होने से शरीर के ताप परिमाण को स्थिर रखती है। जिससे अधिक शीत और गर्मी से रक्षा होती है।

(२) शरीर के कोमल अङ्गो के चारो ओर वसा की गद्दियें लगी रहती हैं। जैसे अक्षि गोलक के चारो ओर, तथा वृक्क वसा की तह पर रखे रहते हैं। पौष्टिक आहार को करने वालो मे तथा शारीरिक श्रम को न करने वालो मे इसका विशेष सञ्चय हो जाता है।

प्रारम्भ मे त्वचा के नीचे उदर तथा नितम्ब और कपोलो मे सञ्चय होता है। अधिक वसा वाले को अति स्थूल कहते है। अति स्थूल निंदित माना गया है। यह वसा शरीर मे १८ प्रतिशत है।

त्वचा

लेखक : श्रोमूप्रकाश जैन

[श्री श्रोमूप्रकाश जैन चिकित्सकरत्न श्री मुनि देवेन्द्रचन्द्रजी जैन के उत्तराधिकारी शिष्य तथा चरित्रनायक के सेवाभावी एव अति प्रिय प्रशिष्य है। आपने श्री उदयमिनन्दन ग्रन्थ में मनोयोग से रुचिपूर्वक कार्य किया है। आपका 'त्वचा' सम्बन्धी विषय छात्रोपयोगी है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

त्वचा शरीर का बाह्य परिधान है। शुक्र शोणित सयोग के परिपाक से दूध की मलाई की तरह गर्भ शरीर मे त्वचा की सात तहें बनती हैं। इससे त्वचा नीचे रहने वाले अगो की सुरक्षा होती है। इसमे बालो की जडो में दो प्रकार की ग्रन्थियाँ रहती हैं। और इसमे कई छिद्र रहते हैं। एक वर्ग इन्च मे ३५०० छिद्र होते हैं। त्वचा का रग सब मे एक प्रकार का नही रहता। शीतप्रधान देशवासियो का रग ग्रीष्मप्रधान देशवासियो के रग से उजला होता है।
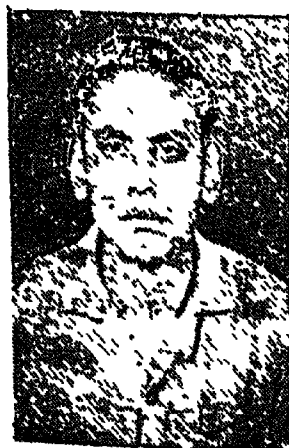
त्वचा के भेद—चर्म तथा उपचर्म।

उपचर्म—

इसमे कोष कई स्तरो मे रहते हैं, जिनमे भी ऊपर के सख्त तथा नीचे के मुलायम होते हैं। इन मुलायम कोषो मे मनुष्य के वर्ण का रग रहता है। हथेली पाद के तले तथा पीठ की उपचर्म अधिक मोटी होती है। अण्ड कोष पर तथा पलको पर सबसे पतली होती हैं। उपचर्म के कोषो का पोषण लसीका द्वारा होता है।

चर्म—

यह अधिक मोटी तथा मजबूत होती है। इसमे वात सूत्र स्वेद ग्रन्थियाँ, स्नेह ग्रन्थियाँ तथा बालो की जड़े होती हैं।

स्नेह ग्रन्थियां—

यह नन्ही थैलियाँ है, जिसमे चिकनाईदार वस्तु बनती है। जो छोटी नाली से बालो को जडो से मिली रहती हैं। ये त्वचा और बालो को चिकना बनाये रखती हैं।

स्वेद ग्रन्थियाँ—

यह चर्म के नीचे के भाग मे रहती है तथा इसमे बनने वाले तरल पदार्थ त्वचा से बाहर निकलता रहता है जिसे पसीना कहते है। सम्पूर्ण शरीर मे लगभग चौबीस लाख ग्रन्थिया है।

स्वेद या पसीना—

इसमे वही पदार्थ होते है जो मूत्र मे रहते है। जिसकी प्रतिक्रिया अम्ल होती है। और गुरुत्व एक हजार पाच तथा स्वाद नमकीन होता है। शीत ऋतु मे मूत्र अधिक होता है। तथा ग्रीष्म ऋतु मे स्वेद अधिक होता है।

लोम या बाल—

हथेली, तलवे तथा शिश्न के अग्र भाग को छोडकर शरीर मे सब स्थानो की त्वचा मे बाल होते है। बाल के दो भाग होते है।

१ मध्यस्थ भाग—जो कि गोलाकार कोषो से बना है।

२ बहिस्थ भाग जिसमे सूत्राकार कोष होते है। कोषो मे रग भरा होता है। स्वेत बालो मे रग नही होता है।

नख—

नख भी वास्तव मे उपचर्म है। परन्तु इसमे कोष अधिक सख्त होते है।

त्वचा के कार्य—

(१) यह अपने नीचे के कोमल अगो की रक्षा करती है।

(२) स्पर्शेन्द्रिय है। उष्ण, शीत और वेदना की प्रतीति इसीके द्वारा होती है।

(३) स्वेद के साथ मल तथा विष को बाहिर निकालती है।

(४) रक्तशोधक कार्य भी करती है।

कला या श्लैष्मिक झिल्ली

स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्ना सततश्च जरायुणा।
श्लेष्मणावेष्ठिता श्चापि कला भागास्तुतान् विदुः॥
धात्वाशयान्तर्मर्यादा कला।

अर्थात्—योजक पदार्थ की सहायता से चमकदार कोषो द्वारा कला का निर्माण होता है। यह धातु और आशयो के भीतरी पृष्ठ पर रहती है। इसमे एक प्रकार का तरल बनता है। जिसे स्नेहन कफ कहते हैं यह सात होती है।

(१) मांसधरा कला—

जिसमे शिरा स्नायु धमनियें फैली रहती हैं।

(२) रक्तधरा—

शिरा यकृत प्लीहा और हृदय आदि अङ्गो मे।

(३) मेदोधरा—

उदर, अणु अस्थियो मे या लम्बी हड्डियो के सिरो मे।

(४) श्लेष्मधरा—

सब सन्धियो में।

(५) पुरीष धरा—

पक्वाशय में मल का विभाजन करने वाली।

(६) पित्तधरा—

आमाशय से पक्वाशय को जाने वाले आहार द्रव्य को रोकने वाली ग्रहणी।

(७) शुक्रधारा—

सर्व शरीरव्यापी (समस्त शरीर मे रहती है।)

त्वचा और कला मे भेद

(१) कला त्वचा से कोमल होती है।

(२) कला के कोषो मे कोई रग नही होता।

(३) कला मे श्लेष्मा बनता है।

(४) कला मे बाल नही हैं, न ही स्वेद ग्रथिया होती हैं।

मूत्रवाहक संस्थान (Urinary System)

लेखक . श्री हरिशकर आचार्य, वैद्यविशारद, साहित्यसुधाकर, जोधपुर

[श्री आचार्य, दैवज्ञ श्री गङ्गाशङ्करजी आचार्य के सुपुत्र हैं। आप चरितनायक के आयुर्वेदीय प्रशिष्य हैं। आपने मूत्रवाहक सस्थान पर छात्रोपयोगी लेख लिखा है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

इस सस्थान मे निम्न ४ अङ्ग होते हैं —

(१) वृक्क (Kidneys)२, (२) मूत्रप्रणाली (Ureter) 2, मूत्राशय (Bladder)१ और (४) मूत्रमार्ग (Urethra) १।

वृक्क—

मूत्र बनाने वाले अङ्ग का नाम वृक्क है। ये उदर की पिछली दीवार मे रीढ के दाहिनी व बाई ओर रहते हैं। इनके सामने आन्त्र की गेंडलिया रहती हैं। प्रत्येक गुर्दे के पीछे बारहवी पसली रहती है। वृक्क का आकार लोबिया (चवले) सदृश होता है। इसकी लम्बाई ४ इञ्च, चौडाई २॥ इञ्च व मोटाई १ इञ्च होती है। इसका भार २ छटाक व रग बैंगनी होता है। इसके दो पृष्ठ, एक सामने का व दूसरा पीछे का, व दो किनारे एक रीढ के पास का (नतोदर) व दूसरा रीढ के परे (उन्नतोदर होते हैं। इसमे वृक्कीयाधमनी और वृक्कीयाशिरा लगी रहती हैं व पास ही मूत्र प्रणाली का खुला हुआ प्रारम्भिक भाग जुडा रहता है। वृक्क पर सौत्रिक तन्तु वृक्ककोष रहता है। इसके चारो ओर वसा की तहें लगी रहती हैं। वृक्को के ऊपर उपवृक्क (Suprarenal) होते हैं।

वृक्क की सूक्ष्म रचना—

वृक्क अनेक पतली पतली नलियो का समूह है। ये नलिया लम्बाई मे अधिक किन्तु चौडाई मे कम होती हैं। इनका प्रारम्भिक भाग फूला हुआ तथा पिचका हुआ होता है। पीछे के भाग मे केशिका जाल रहता है। इन नलियो के आपस मे मिलने से किनारे बन जाते हैं। किनारो के शिखरो मे जो छिद्र होते हैं वे बडी बडी नलियो के मुख हैं। मूत्र इन्ही छिद्रो से निकल कर मूत्र प्रणाली मे पहुँचता है।

वृक्क द्वारा रक्त शुद्धि—

वृहत् धमनी की दो शाखाओं द्वारा रक्त दोनो वृक्को मे पहुँचता है और नलियो द्वारा रक्त का कुछ जलीय अश छन जाता है। वृक्क के छानने मे यह विशेषता है कि रक्त के वे सब पदार्थ जो जीवित देह मे स्वस्थावस्था के लिए आवश्यक है वे नही छनते। रक्त मे का यूरिया, यूरिक अम्ल आदि पदार्थ छन जाते हैं।

मूत्र प्रणाली—

ये दो होती हैं (१) दाहिने वृक्क से मूत्राशय तक व (२) बाये वृक्क से मूत्राशय तक। ये अनैच्छिक मास से बनी नालिया हैं जिनका ऊपरी शिरा चौडा व नीचे का पतला होता है जो कि मूत्राशय से जुडा रहता है।

मूत्राशय या बस्ति—

यह अङ्ग बस्तिगह्वर मे विटपसधि (या भग सधि) के पीछे रहता है। पुरुषो में इसके पीछे दो शुक्राशय रहते हैं और उनके पीछे बृहद् अन्त्र का अतिम भाग मलाशय रहता हैं। स्त्रियो मे मूत्राशय के पीछे गर्भाशय और गर्भाशय के पीछे मलाशय रहता है। मूत्राशय स्वाधीन मास का बना है। इसके भीतरी पृष्ट पर कला होती है। इसकी आकृति रिक्त अवस्था मे तिकोनिया तथा भर जाने पर गोल होती है।

मूत्रमार्ग—

मूत्राशय से एक नली प्रारम्भ होती है जिसकी लम्बाई पुरुषो में ७ से ८ इञ्च होती हैं। इसके प्रथम एक इञ्च के चारो ओर अष्ठीला (Prostrate) नामक ग्रन्थी रहती है और आगे यह शिश्न के भिद्र से जुडी रहती है। इस छिद्र का नाम मूत्र बहिर्द्वार है। स्त्रियो मे इस नली की लम्बाई १॥ इञ्च होती है जो योनि की अगली दीवार से जुडी रहती है। मूत्र बहिर्द्वार-छिद्र, योनिछिद्र से १॥ इञ्च ऊपर होता है। मूत्र मार्ग के आरम्भ स्थान पर मूत्राशय की दीवार का मांस सकोच कर छिद्र को हर समय बद रखता है। मूत्र-त्याग की इच्छा होने पर यह द्वार खुलता है।

मूत्र—

एक स्वस्थ मनुष्य अहोरात्र मे १¼ सेर से २½ सेर तक मूत्र त्याग करता है।

मूत्र-परीक्षा—

इसमे मूत्र के रग, गध, गाढा-या-पतला, स्वच्छ, या अस्वच्छ, मात्रा, प्रतिक्रिया, लवणो की मात्रा, प्रोभूजिन (Protein), शर्करा, रक्त, पित्त, पूय, विशेष पदार्थ, रोगाणु व विशिष्ट गुरुत्व आदि की परीक्षा की जाती है।

साधारणतया मूत्र का रग गेहू की डाडी के रग के समान होता है, गध विशेष प्रकार की, पतला, स्वच्छ अम्ल प्रतिक्रियात्मक, व गुरुत्व १०१५ से १०२५ तक होता है। १॥ सेर मूत्र मे २३ छटाक जल व शेष एक छटाक रसायनिक पदार्थ होते हैं जिनमें २ से ३ तोला तक यूरिया और शेष यूरिक एसिड आदि होते हैं।

मर्मस्थान (Vital weak spots)

लेखक : शिवनारायण व्यास, गोटन (धनापा)

[वैद्यराज पंडित शिवनारायणजी व्यास, धनापा (गोटन) निवासी श्री हजारीमलजी व्यास के सुपुत्र है। आप परम्परागत अनुभवी चिकित्सक है व चरित्रनायक के आयुर्वेदीय शिष्य है। आप राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पंजीकृत) की कार्यसमिति के सदस्य रहे हैं। आपका मर्म विषयक मार्मिक लेख पठनीय है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

मर्म स्थानो मे अग्नि सोम, वायु सत्व, रज, तम पञ्चेन्द्रिया व भूतात्मा का निवास रहता है अत ये जीवनाधार हैं। मर्म विघात से मृत्यु हो जाती है अत चिकित्सक को इन स्थानो का ज्ञान रहना आवश्यक है। ये पाच प्रकार के हैं मास, सिरा, स्नायु, अस्थि, तथा सन्धि अधिष्ठान भेद से पाच प्रकार, तथा इनके अभिघात का परिणाम भी कालातर प्राणहर, रुजाकर, विशल्यघ्नसद्य. प्राणहर, वैकल्यकर भेद से भी पाच प्रकार होते हैं। यह भी मत है कि मास आदि पाचो के एकत्र सयोग से सद्य. प्राणहर तथा एक रचना के कम से कालान्तर प्राणहर दो कम से विशल्यघ्न, तीन कम से वैकल्यकर तथा खाली एक ही प्रकार की रचना से रुजाकर होते हैं। तथा इन मर्मों के भी ठीक स्थान के पास विद्ध होने पर हीन प्रभाव से प्रकारातर बन जाते हैं। चिकित्सक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि रोगी के दोषो का स्थान सश्रय मर्मों मे है या नही इसका विनिश्चय तथा शल्य विद्ध का भी विनिश्चय कर चिकित्सा करें।

नाम अधिष्ठान	सद्य प्राणहर (आग्नेय) १९ अवधि ७ रात्रि	कालांतरप्राणहर (सौम्याग्नेय) ३३ पक्ष या माह	विशल्यघ्न (वायव्य) ३	वैकल्यकर (सौम्य) ४४	रुजाकर ८ (अग्निवायु भूयिष्ठ)
मांसमर्म ११	गुदा १ (बृहदन्त्र का अन्तिम सिरा)	स्तनरोहित २ (चूचुक से ऊपर)			
		तलहृदय ४ (मध्यमा के सामने बीचतल मे)			
		इन्द्रबस्ति ४ (पार्ष्णि व जघा के मध्य)			
सिरामर्म ४१	शृंगाटक ४ (घ्राण अक्षि, श्रोत, जिह्वाधमनी)	स्तनमूल २ (स्तनो से २ अगुली नीचे)	स्थपनी १ (भवो के मध्य)	लोहिताक्ष ४ (ऊर्वी मे ऊपर वक्षण के नीचे)	
	मातृका ८ (ग्रीवा के-दोनो ओर)	अपलाप २ असकूट के नीचे पार्श्व मे)		ऊर्वी ४ (ऊरुमध्यमे)	
	हृदय १ (सत्वरजतम का स्थान)	अपस्तभ २ (छाती के दोनो ओर)		अपांग २ (अक्षिका बाह्य भाग)	
	नाभि १ (पक्वामाशयमध्य)	पार्श्वसन्धि २ (जघन के ऊपर तिरछे)		नीला ४ (कठ के दोनो ओर)	
		बृहती २ (पमेठो चूचुक की सीध मे)		फण २ (घ्राणमार्ग के दोनो ओर)	
स्नायुमर्म २७	बस्ति १ (मूत्राशय)	क्षिप्र ४ (अगूठा-कनिष्ठा के बीच)	उत्क्षेप २ (शखो के ऊपर बालो के पास)	आणि ४ (जानु से ऊपर दोनो ओर)	कूर्चशिर ४ (गुल्फसधि के नीचे दोनो ओर)
				कूर्च ४ (क्षिप्र के ऊपर दोनो ओर)	
				विटप २ (वक्षण-वृषण के मध्य)	
				कक्षधर २ (कक्षा भुजा के मध्य)	

		अंस २ (ग्रीवा कंधे के बीच)	
		विधुर २ (कानों के पीछे नीचे)	
अस्थिमर्म ८ शंख २ (भवों के अन्त में कान ललाट के बीच)	कटीकतरुण २ (श्रोणि के दोनों ओर पार्श्व में)		
	नितम्ब २	अंसफलक २ (पृष्ठ वंश के दोनों ओर)	
सन्धिमर्म २० अधिपति १	सीमन्त ५ (शिर-सन्धियां)	जानु २ (जंघा-ऊरुसंधि)	गुल्फ २ (पैर-जंघासन्धि)
		कूर्पर २	मणिबन्ध २
		ककुन्दर २ (जघन के बाह्य भाग में)	
		कृकाटिका २ (शिरग्रीवासन्धि)	
		आवर्त २ (भौंहों के ऊपर)	

रक्तवाहक संस्थान

लेखक : कान्तिचन्द्र जैन, साहित्यसुधाकर, जोधपुर

[श्री कान्तिचन्द्रजी जैन, श्री जिनदत्त सूरि आयुर्वेदिक चिकित्सालय के वरिष्ट चिकित्सक तथा चिकित्सक सम्राट् आयुर्वेद-मार्त्तण्ड, प्राणाचार्य, वैद्यावतंस, राजमान्य राज्यवैद्य, महोपाध्याय पण्डित उदयचन्द्रजी भट्टारक महाभाग के उत्तराधिकारी व अतिप्रिय शिष्य हैं। श्री जैन अल्प वय से ही गुरुचरणों में रहकर आयुर्वेदिक विज्ञान में निष्णात हो अपनी कुशल बुद्धि एवं तत्परता से चिकित्सा के साथ ही रसायन शाला की व्यवस्था आदि का कार्यभार भी वहन करते हैं। आप मधुरभाषी व मिलनसार व्यक्तित्व के साथ मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी के कोषाध्यक्ष भी हैं। आपका 'रक्तवाहक स्थान' पर पठनीय लेख है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

शरीर मे रक्त नलियो मे रहता है। रक्त की नलियाँ दो प्रकार की होती हैं।

१. धमनिया—प्रायः ये शुद्ध रक्तवहा हैं।

२. शिराए —जिनमे प्राय अशुद्ध रक्त बहता है।

रक्त परिचालक यंत्र का नाम हृदय है। यह अनैच्छिक मांस का बना होता है। और दोनो फुप्फुसो के बीच वक्ष मे रहता है। युवा पुरुष का हृदय ४।। इन्च लम्बा ३।। इन्च चौड़ा और २।। इन्च मोटा होता है। इसका भार ३।। छटाक होता है। हृदय बन्द मुट्ठी के आकार का होता है। इसका अधिक अंश मध्य रेखा के बायी ओर अवस्थित है। मध्य रेखा के दाहिनी ओर दाहिना भाग, तथा बायी ओर बाया भाग स्थित है। हृदय के दाहिनी ओर दायाँ फुप्फुस, और बायी ओर बाया फुप्फुस रहता है। हृदय के सामने वक्षोस्थि और बायी ओर दूसरी, तीसरी, चौथी और पाचवी उपपर्शुका रहती है। और पीछे पीठ का पाचवा, छठा, सातवा, आठवा मोहरो का गात्र और उनके बीच की चक्रिकाएँ रहती हैं। इन मोहरो और हृदय के बीच महाधमनी व अन्न प्रणाली पड़ी रहती है।

हृदय एक सौत्रिक तन्तु से बने आवरण से ढका रहता है। यह आवरण एक थैली के समान होता है। जिसमे हृदय रहता है। इसे हृदय कोष या हृदयावरण कहते हैं।

हृदय मास का बना एक कोष्ठ है, जिसमे रक्त भरा रहता है। यह कोष्ठ भीतर से खडे मास के परदे द्वारा दाहिने और बाये दो कोठरियो मे विभक्त रहता है। इन दोनो का आपस मे कोई सम्बन्ध नही रहता है। प्रत्येक कोठरी के बीच कपाट लगे रहते हैं। जिससे दो मजिल बन जाती हैं। ऊपर की मजिल को ग्राहक कोष्ठ या अलिन्द कहते हैं। तथा नीचे की मजिल को क्षेपक कोष्ठ (निलय) कहते हैं। नीचे की मजिल के बीच मे सौत्रिक तन्तु द्वारा बने कपाट होते हैं जो नीचे की तरफ खुलते हैं। दाहिनी ओर तीन त्रिकोनिये किवाड बायी ओर केवल दो किवाड। ग्राहक कोष्ठो की दीवारें क्षेपक कोष्ठो की दीवारो से कुछ पतली होती हैं। क्षेपक कोष्ठ की समायी १। से १।। छटाक तक की होती है। ग्राहक कोष्ठो की कुछ कम।

दाहिने ग्राहक कोष्ठ मे दो नलिये लगी रहती है। एक ऊपर के भाग मे (ऊर्ध्वगा महा शिरा) दूसरी नीचे के भाग मे (अधोगा महा शिरा) ऊर्ध्वगा महाशिरा शरीर के ऊपर के भाग का अशुद्ध रक्त लाती है। तथा अधोगा महाशिरा शरीर के निम्न भाग का अशुद्ध रक्त लाती है।

दाहिने क्षेपक कोष्ठ से एक नली निकलती है जिसकी दो शाखायें हो जाती हैं। एक दाहिने फुप्फुस को तथा दूसरी बायें फुप्फुस को जाती है। इस धमनी के प्रारम्भिक भाग मे तीन अर्द्ध चन्द्राकार किवाडो से बना कपाट रहता है।

दाहिने ग्राहक कोष्ठ मे चार नलिया रहती है। इसमे दो दाहिने फुप्फुस से और दो बाये फुप्फुस से आती है। जिन्हे फुप्फुसीया शिरायें कहते है।

बायें क्षेपक कोष्ठ के पिछले भाग से एक बडी मोटी नली निकलती है। यह महाधमनी है। इसके प्रारम्भिक भाग मे तीन चर्द्ध चन्द्राकार किवाडो से निर्मित एक कपाट रहता है।

हृदय के कपाट—

हृदय मे चार स्थानो पर कपाट रहते हैं (१) दाहिने ग्राहक और क्षेपक कोष्ठ के बीच मे (२) बायें ग्राहक और बायें क्षेपक कोष्ठ के बीच में (३) फुप्फुसीया धमनी मे। (४) महा धमनी मे।

हृदय का कार्य—

हृदय कभी सकोच करता है तथा कभी प्रसार करता है। इस सकोच तथा प्रसार से हृदय की धारण शक्ति घटती बढती रहती है। शरीर के सब अगो को आवश्यक वस्तुएँ देकर रक्त दो महाशिराओ द्वारा हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ मे आता है। ज्योही यह कोष्ठ भरता है सकोच करने लगता है। सकोच से इसकी समाई कम हो जाती है अतः इस कोष्ठ के कपाट खुलने से रक्त दाहिने क्षेपक कोष्ठ मे चला जाता है। जब रक्त क्षेपक

कोष्ठ मे पहुँचता है तो ग्राहक और क्षेपक कोष्ठ के बीच का कपाट बन्द हो जाता है। और क्षेपक कोष्ठ के सकोच के समय कपाट बिल्कुल बन्द हो जाते हैं। फिर दाहिने क्षेपक कोष्ठ के सकोच से फुप्फुसीया धमनी द्वारा रक्त दोनो फुप्फुसो मे चला जाता है।

फुप्फुस रक्त को शुद्ध करने वाले अग हैं, वहाँ से चार नलियो द्वारा शुद्ध रक्त बायें ग्राहक कोष्ठ मे लौट आता है। यह भी भर जाने पर सिकुडता है। तथा वहा से रक्त बाये क्षेपक कोष्ठ में चला जाता है। इस कोष्ठ मे भी रक्त पहुंच जाने पर बीच के कपाट बन्द हो जाते हैं।

बाये क्षेपक कोष्ठ से रक्त महा धमनी मे जाता है। तथा महा धमनी से बहुत सी शाखाओ द्वारा समस्त शरीर में पहुँच जाता है।

हृदय के कोष्ठ रक्त को आगे धकेल कर फैलने लगते हैं और शीघ्र ही पूर्व दशा को प्राप्त कर भरने लगते है तथा सकोच करते हैं। यह सकोच तथा प्रसार का सिलसिला जीवन भर चलता रहता है। दोनो ग्राहक कोष्ठ साथ ही सिकुडते हैं और साथ ही फैलते हैं। ऐसे ही क्षेपक कोष्ठ भी साथ ही आकुचन और प्रसार करते हैं। इसमे ७॥ मिनट के लगभग समय लगता है।

हृदय शब्द—

सकोच और प्रसार से ध्वनि पैदा होती है। जो "लूब् डप्" जैसी सुनाई देती है। इसके सुनने के कई स्थान हैं। बायें स्तन से १" या १½ नीचे अपना कान लगायें, तथा एकाग्रचित होकर सुने। आपको दो आवाजें सुनाई देंगी, जिनके बीच मे थोडासा अन्तर रहता है। लूब्, थोडासा अन्तर डप्, लूब व डूप के बीच मे थोडा सा अन्तर रहता है परन्तु डप् और लूब के बीच मे अधिक अन्तर रहता है, लूब को हृदय का पहिला शब्द और डप् को हृदय का दूसरा शब्द कहते हैं।

शब्द श्रवण के स्थान—

दाहिने ओर की दूसरी, और बायें ओर की तीसरी उपशुंका पर वक्षो अस्थि के अग्रिम खण्ड के ऊपर कोडी प्रदेश के गढे मे। हृदय की परीक्षा करते समय चिकित्सक इन शब्दो को शब्द परीक्षक यत्र द्वारा सुना करते हैं।

हृदय के धड़कने की सख्या—

प्रौढ मनुष्य मे सामान्यतया हृदय की धडकन १ मिनट मे ७० से ७५ तक होती है। बाल्यावस्था मे शीघ्र तथा जन्मकाल मे १४० तक होती है।

६ से १२ माह तक के बच्चो मे १०५ से ११५ प्रति मिनट
२ से ६ वर्ष तक के बच्चो मे ९० से १०५ „ „

हृदय मास का बना एक कोष्ठ है, जिसमे रक्त भरा रहता है। यह कोष्ठ भीतर से खडे मास के परदे द्वारा दाहिने और बाये दो कोठरियो मे विभक्त रहता है। इन दोनो का आपस मे कोई सम्बन्ध नही रहता है। प्रत्येक कोठरी के बीच कपाट लगे रहते हैं। जिससे दो मजिल बन जाती हैं। ऊपर की मजिल को ग्राहक कोष्ठ या अलिन्द कहते हैं। तथा नीचे की मजिल को क्षेपक कोष्ठ (निलय) कहते हैं। नीचे की मजिल के बीच मे सौत्रिक तन्तु द्वारा बने कपाट होते हैं जो नीचे की तरफ खुलते हैं। दाहिनी ओर तीन त्रिकोनिये किवाड बायी ओर केवल दो किवाड। ग्राहक कोष्ठो की दीवारें क्षेपक कोष्ठो की दीवारो से कुछ पतली होती हैं। क्षेपक कोष्ठ की समायी १। से १॥ छटाक तक की होती है। ग्राहक कोष्ठो की कुछ कम।

दाहिने ग्राहक कोष्ठ मे दो नलियें लगी रहती है। एक ऊपर के भाग मे (ऊर्ध्वगा महा शिरा) दूसरी नीचे के भाग मे (अधोगा महा शिरा) ऊर्ध्वगा महाशिरा शरीर के ऊपर के भाग का अशुद्ध रक्त लाती है। तथा अधोगा महाशिरा शरीर के निम्न भाग का अशुद्ध रक्त लाती है।

दाहिने क्षेपक कोष्ठ से एक नली निकलती है जिसकी दो शाखायें हो जाती हैं। एक दाहिने फुप्फुस को तथा दूसरी बायें फुप्फुस को जाती है। इस धमनी के प्रारम्भिक भाग मे तीन अर्द्ध चन्द्राकार किवाडो से बना कपाट रहता है।

दाहिने ग्राहक कोष्ठ मे चार नलियां रहती है। इसमे दो दाहिने फुप्फुस से और दो बाये फुप्फुस से आती है। जिन्हे फुप्फुसीया शिरायें कहते है।

बाये क्षेपक कोष्ठ के पिछले भाग से एक बडी मोटी नली निकलती है। यह महाधमनी है। इसके प्रारम्भिक भाग मे तीन चर्द्ध चन्द्राकार किवाड़ो से निर्मित एक कपाट रहता है।

हृदय के कपाट—

हृदय मे चार स्थानो पर कपाट रहते हैं (१) दाहिने ग्राहक और क्षेपक कोष्ठ के बीच मे (२) बायें ग्राहक और बायें क्षेपक कोष्ठ के बीच में (३) फुप्फुसीया धमनी मे। (४) महा धमनी मे।

हृदय का कार्य—

हृदय कभी सकोच करता है तथा कभी प्रसार करता है। इस सकोच तथा प्रसार से हृदय की धारण शक्ति घटती बढती रहती है। शरीर के सब अगो को आवश्यक वस्तुएँ देकर रक्त दो महाशिराओ द्वारा हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ मे आता है। ज्योही यह कोष्ठ भरता है सकोच करने लगता है। सकोच से इसकी समाई कम हो जाती है अतः इस कोष्ठ के कपाट खुलने से रक्त दाहिने क्षेपक कोष्ठ मे चला जाता है। जब रक्त क्षेपक

कोष्ठ मे पहुँचता है तो ग्राहक और क्षेपक कोष्ठ के बीच का कपाट बन्द हो जाता है। और क्षेपक कोष्ठ के सकोच के समय कपाट बिल्कुल बन्द हो जाते हैं। फिर दाहिने क्षेपक कोष्ठ के सकोच से फुप्फुसीया धमनी द्वारा रक्त दोनो फुप्फुसो मे चला जाता है।

फुप्फुस रक्त को शुद्ध करने वाले अग हैं, वहाँ से चार नलियो द्वारा शुद्ध रक्त बायें ग्राहक कोष्ठ में लौट आता है। यह भी भर जाने पर सिकुडता है। तथा वहा से रक्त बायें क्षेपक कोष्ठ मे चला जाता है। इस कोष्ठ में भी रक्त पहुंच जाने पर बीच के कपाट बन्द हो जाते हैं।

बाये क्षेपक कोष्ठ से रक्त महा धमनी में जाता है। तथा महा धमनी से बहुत सी शाखाओ द्वारा समस्त शरीर में पहुँच जाता है।

हृदय के कोष्ठ रक्त को आगे धकेल कर फैलने लगते हैं और शीघ्र ही पूर्व दशा को प्राप्त कर भरने लगते हैं तथा सकोच करते हैं। यह सकोच तथा प्रसार का सिलसिला जीवन भर चलता रहता है। दोनो ग्राहक कोष्ठ साथ ही सिकुडते हैं और साथ ही फैलते हैं। ऐसे ही क्षेपक कोष्ठ भी साथ ही आकुचन और प्रसार करते हैं। इसमे ७॥ मिनट के लगभग समय लगता है।

हृदय शब्द—

सकोच और प्रसार से ध्वनि पैदा होती है। जो "लूब् डप्" जैसी सुनाई देती है। इसके सुनने के कई स्थान हैं। बायें स्तन से १" या १½ नीचे अपना कान लगायें, तथा एकाग्रचित होकर सुने। आपको दो आवाजें सुनाई देंगी, जिनके बीच मे थोडासा अन्तर रहता है। लूब्, थोडासा अन्तर डप्, लूब व डूप के बीच मे थोडा सा अन्तर रहता है परन्तु डप् और लूब के बीच मे अधिक अन्तर रहता है, लूब को हृदय का पहिला शब्द और डप को हृदय का दूसरा शब्द कहते हैं।

शब्द श्रवण के स्थान—

दाहिने ओर की दूसरी, और बायें ओर की तीसरी उपशुंका पर वक्षो अस्थि के अग्रिम खण्ड के ऊपर कोडी प्रदेश के गढे मे। हृदय की परीक्षा करते समय चिकित्सक इन शब्दो को शब्द परीक्षक यन्त्र द्वारा सुना करते हैं।

हृदय के धड़कने की सख्या—

प्रौढ मनुष्य मे सामान्यतया हृदय की धडकन १ मिनट मे ७० से ७५ तक होती है। बाल्यावस्था मे शीघ्र तथा जन्मकाल मे १४० तक होती है।

६ से १२ माह तक के बच्चो मे १०५ से ११५ प्रति मिनट
२ से ६ वर्ष तक के बच्चो मे ९० से १०५ „ „

७ से १० वर्ष तक के बच्चो मे ८० से ९० „ „

११ से १४ वर्ष तक के व्यक्तियो मे ७५ से ८५ „ „

१५ वर्ष से ऊपर वाले समस्त व्यक्तियो मे ७० से ७५ तक प्रति मिनट ।

धमनी और शिरा—

हृदय से रक्त को ले जाने वाली नलियो को धमनियाँ कहते हैं। फुफ्फुसीया धमनी को छोड कर शेष शुद्ध रक्तवहा हैं। हृदय मे रक्त लाने वाली नलियो को शिरायें कहते हैं। फुफ्फुसीया शिराओ को छोडकर शेष अशुद्ध रक्तवहा हैं।

केशिकाऐ—

रक्त की वे सूक्ष्म नलिये जिनमे केवल एक ही रक्त कण की गति सम्भव है। तथा जिनकी दीवारो मे मास नही है ये अति सूक्ष्म केशिकायें कहलाती है। केशिका की दीवारें कोषो के पास पास पडे रहने से बनती हैं। केशिकाओ से शरीर के कोष ओषजन ग्रहण करते हैं। व कार्बनडाइअक्साइड गैस केशिकाओं के रक्त मे छोडते रहते हैं। इस गैस के द्वारा रक्त का रग स्याही मायल हो जाता है।

इन स्याही मायल केशिका के सहयोग से शिरायें व बडी शिरायें बनती हैं।

रक्त परिभ्रमण—

रक्त को चक्कर करने मे १५ सैकण्ड के लगभग समय लगता है।

धमनी की फड़क—

धमनियो की दीवारें अधिकतर मास और पीले सौत्रिक तन्तुओ से बनी रहती हैं। धमनिया रक्त से भरी रहती हैं। भरी हुई महा धमनी मे बायें क्षेपक कोष्ट से १½ छटांक रक्त धकेला जाता है। स्थिति स्थापकता के कारण धमनी अधिक चौडी हो जाती है। जिससे उसकी समाई बढ जाती है। क्षेपक कोष्ठ के प्रसार के समय धमनी का यह भाग पूर्व दशा को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह लहरें एक के बाद दूसरी आती रहती हैं। इसे ही धमनी या नब्ज की फडकन कहते हैं। जब रक्त सूक्ष्म धमनियो मे पहुचता है तो यह लहरें कम हो जाती हैं। और केशिकाओ मे बिल्कुल ही नही रहती हैं।

"आदावलिन्द सकोचो, निलय द्वय पूरणः।
ततो निलय सकोचो, धमनीद्वयपूरणः॥
शेषेतु स्फारता तेन सिराभिर्पूयंते हिहृत्॥

रक्त भार—

धमनिये स्थितिस्थापक नलियें हैं। इन नलियो में रक्त बहता हुआ अपना दबाव डालता है। जिसे अगुली से दबाकर मालूम किया जा सकता है। इसे रक्त भार कहते हैं।

इन नलियो का पम्प हृदय है। हृदय का वेग भी अधिक होने पर रक्त भार भी अधिक हो जाता है।

रक्त भार को ठीक प्रकार से मालूम करने के लिए एक यन्त्र आता है। जिसे रक्तभारमापक यन्त्र अथवा (स्फिग्मो मीनोमीटर) कहते हैं। धमनी का रक्तभार दो प्रकार का होता है।

(१) सकोच रक्त भार जो हृदय के सकोच के समय होता है।

(२) प्रसार रक्त भार जो हृदय के प्रसार के समय होता है।

रक्तभार का अधिक या कम होना दोनो ही बुरे हैं। रक्तभार की अधिकता से छोटी-छोटी धमनिकाओ के फटने का डर रहता है। तथा रक्तभार की न्यूनता से दूरस्थ कोषाणुओ का पोषण नही हो पाता है।

सकोच रक्त भार—

रक्त भार निम्न आयु मे इस प्रकार रहता है।

१० से १५ वष तक १०० से ११० मिलीमीटर।
१५ से २५ ,, ,, ११० से १२० ,,
२५ से ४० ,, ,, १३० से १४० ,,
४० से ५० ,, ,, १४० से १५० ,,
१५० से ऊपर किसी भी उम्र मे अधिक होना ठीक नही है।

लसिका—(शुक्ला) Lymph

केशिका के कोशो से रक्तवाहि का तरल भाग चूकर बाहिर निकल जाता है। इस चुये हुए तरल को लसीका कहते हैं। इसमे शर्करा, प्रोटीन, वसा, लवण, आदि कोशो के आवश्यक पदार्थ घुले रहते हैं—और इस तरल मे कोश स्नान करते हैं। कोशो का मल लसीका मे मिल जाता है। इस प्रकार लसीका से लसीका केशिकाए बनकर उनसे पतली पतली लसीकावाहिनिया और फिर बडी लसीकावाहिनी बन जाती है। महा लसीका-वाहिनी का प्रारभ उदर के भीतर कमर के दूसरे कशेरुका के गात्र के सामने होता है। उदर से यह वक्ष मे पहुचकर गलमूलिका शिरा द्वारा ऊर्ध्वगा महाशिरा मे मिल जाती है।

लसीका ग्रन्थियां—कक्षा-वक्षण-ग्रीवा मे छोटी छोटी गुठली की आकार की ग्रन्थिया होती हैं जो स्वस्थावस्था मे टटोलने से स्पर्श नही की जा सकती—परन्तु रोगो के कारण बढ कर सख्त हो जाती हैं—इन्हे लसीका ग्रन्थिया कहते हैं। लसीका की नलिया इन ग्रन्थियो से जुडी रहती हैं—और वहा समाप्त होकर ग्रन्थि के दूसरे सिरे से नई वाहिनी की शुरुआत

हो जाती है। इन ग्रन्थियो मे क्षुद्र व वृहद् लसीकाणु बनते हैं, और कुछ विषनाशक वस्तुऐं भी इनमे बनती हैं।

महाधमनी—बाम क्षेपक कोष्ठ से प्रारभ होकर ऊपर जाकर बाई ओर को मुडकर नीचे की ओर हृदय के पीछे से जाती है। उदर मे इसके पीछे पृष्ठवश रहती है। कटि के चतुर्थ कशेरुका के गात्र के सामने इसकी २ बडी शाखाए हो जाती है। धमनियो के नाम जिस प्रदेश मे वह रहती है—उसे उसी नाम से पुकारा जाता है। शिरोग्रीया-कक्षीया-प्रगण्डोया-बहि-प्रकोष्ठीया-अन्त प्रकोष्ठीया-करतलीया, अगुलोया-याकृतो, आमाशयिकी, प्लैहिकी, वृक्कीया, श्रोणिगा, और्वी, जान्वीकी, जघापूर्वगा, जघापार्श्वगा, पादतलीया आदि।

इस प्रकार रोग प्रकृति का सामान्य सप्राप्ति द्वारा निर्माण होता है जब कि विकृति विशेष सप्राप्ति द्वारा बनती है। प्रथम को सयोग सप्राप्ति तथा दूसरी मूर्च्छना सप्राप्ति है। सयोग का अर्थ है मिश्रण तथा मूर्च्छना का अर्थ है तादात्म्य। इनमे पहिली प्रक्रिया सयोग होती है बाद मे दोष दूष्याग्नि से पाक होता है और उस पाक से दोष लक्षणातीत ज्वर आदि रोग बन जाते हैं। और रुपातरापत्ति, रसान्तरापत्ति, गोधान्तरापत्ति, स्पर्शान्तरापत्ति आदि होते हैं।

ज्वरादि रोग जब दोष दूष्य सयोग रुप मे रहते हैं तब उनमे दोष और दूष्य इनकी वृद्धि क्षय के लक्षण स्पष्ट प्रकट होते है। तात्पर्य यह है कि चाहे रोग की प्रकृति या रोगी की कोई भी प्रकृति बने वह समूर्च्छना से ही बनती है। विकृतावस्था समिश्रणजन्य होती है।

प्राकृत अवस्था मे दोष दूष्य सयोग मात्र रहता है। इसीसे हम वातज, पित्तज, कफज, रसाश्रित, मासाश्रित आदि भेद करते हैं। साम या निराम अवस्था प्रतीत कर सकते है। कारण सयोग भेद से प्रकार कायम होते हैं। परन्तु समूर्च्छना मे भेद नही रहता वस्तु का एकीकरण या तादात्म्य होता है, सयोग और समूर्च्छना मे यही भिन्नता है।

दोष संमूर्च्छना

लेखक: वैद्य ओमप्रकाश शर्मा, भिषगाचार्य, एच् पी ए., उदयपुर

[वैद्यराज श्री ओमप्रकाश शर्मा भारत के ख्यातिप्राप्त विद्वान् आयुर्वेद विभाग राजस्थान के निदेशक राजवैद्य पंडित प्रेमशंकरजी शर्मा भिषगाचार्य के सुपुत्र है। आपने भिषगाचार्य उपाधि प्राप्त कर स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र जामनगर में 'क्रिमि' विषय पर गवेषणात्मक प्रबन्ध लिख कर एच् पी ए. (आयुर्विद्यापारगत) उपाधि प्राप्त की है। आप अपने पितामह की तरह सिद्धहस्तभिषग् तथा प्रतिभाशाली उदीयमान चिकित्सक रत्न है। आपका 'दोष समूर्च्छना' नामक गवेषणात्मक लेख मनन करने के योग्य है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

तस्मादातुर परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतिश्च

च. वि अ. ८-९४

चिकित्सा करने के लिये रोगी का बल तथा रोग का बल दोषो का विचार करते हुए प्रकृति से तथा विकृति से परीक्षण किया जाय इसके लिये आचार्य वाग्भट ने उपक्रमो की शीघ्रता करने मे—

तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणिच
बुद्धा हेतुविशेषाश्च शीघ्रकुर्यादुपक्रमम् अ हृ. सू. १२

टीकाकार ने उपरोक्त पद्य पर भाष्य करते हुए "विकारस्य ज्वरादेः प्रकृतय उपादान कारणानि वातादि दोषा." इस प्रकार प्रकृति का अभिप्राय उपादान या समवायी कारण बताया है। प्रकृति शब्द के प्रयोग से यह अर्थापत्ति बताती है कि विकृति की भी कुछ विशेषताए अवश्य ही होती है, यही कल्पना हमे प्रत्येक रोग के लिए प्रकृति तथा विकृति का ज्ञान करने के लिये बाध्य करती है, या सफल चिकित्सक वही हो सकता है जो इसका सम्यक् विचार करे।

उपादान कारण—

कारणद्रव्य से कार्यद्रव्य बनता है, अब इस बने कार्यद्रव्य मे उपादान या समवायी कारण अनवच्छेदक रूप से रहता है जैसे आभूषण का उपादान सुवर्ण है। इन बने आभूषणो का चाहे जो रूप हो जाय, परन्तु उसका उपादान कारण सुवर्ण ही रहता है। प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। चरक ने बताया है कि उपादान कारण के अधिष्ठान भेद से नाना प्रकार की

विकृति बन जाती है जैसे कि उसी सुवर्ण से नाना आकृति के आभूषण बन जाते हैं। विकृति या कार्य का रूप उपाधि विभेद से हमारे सामने निरतर आता रहता है। अत हमे रोगी की प्रकृति क्या है? विकृति क्या है? इसका स्पष्टीकरण का प्रयत्न करना चाहिये।

ज्वर आदि रोगो मे वातपित्त कफादि साम-निराम अवस्था मे, दोष जिस स्वरूप मे अखड रूप से विद्यमान हैं वह उस रोग की प्रकृति तथा उसके प्रकार भेद या अवस्था भेद से जिस प्रकार का परिवर्तन होता है वह स्थिति स्थिर नही रहती है इसे रोग विकृति कही जाती है।

रोग का प्राकृतिक स्वरूप—

कोई भी ज्वर हो उन सब मे सताप (ऊष्मावृद्धि) लक्षण सब प्रकार के ज्वरो मे समान रूप से रहता है वैसे ही वातज, पित्तज, साम, निराम कोई भी अतिसार हो उस प्रत्येक मे बराबर पतले मल का निसरण होता है तथा किसी भी प्रकार का गुल्मरोग हो उन सबमे "कुर्वते शूलपूर्वकम् स्पर्शोपलभ्यम्, उप्लुतम्, ग्रन्थिरूपिणम्" यह रूप सब प्रकार के गुल्मरोगो में एक सदृश होता है, इसी प्रकार प्रत्येक रोग में सर्वत्र अनुगत होने वाले वे साधारण लक्षण जिस जिस विशिष्ट दोष द्वारा बनते हैं वह दोष इस रोग का प्रकृति स्वरूप समझना चाहिये। इनके उदाहरण जैसे—

रोग	रोगप्रकृति	प्रमाण-वाक्य
ज्वर	पित्त	ऊष्मापित्तादृतेनास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणाविना, रुक्षहि तेजो ज्वरकृत्।
रक्तपित्त	पित्त	कुपित पित्तलैः पित्त द्रव रक्त च
प्रमेह	कफ	बहुद्रवश्लेष्मादोषविशेष, मेदोमूत्र कफावहम् अन्नपानक्रियाजात यत्प्रायस्तत्प्रवर्तकम्।
अश्मरी	कफ	श्लेष्माश्रया च सर्वास्यात्
गुल्म	वात	सर्वेष्वप्येणु गुल्मेषु प्रायेण पवन. प्रभु। न काकश्चिद्वातादृते सभवति गुल्म।
कुष्ठ	सन्निपात	न च किंचिदस्ति कुष्ठमेकदोष प्रकोपनिमित्तम्

उपरोक्त से स्पष्ट है कि रोगो की सब अवस्थाओ मे उस रोग के सामान्य लक्षण किसी भी विशिष्ट दोष द्वारा बनते हैं यह विशिष्ट दोष उस रोग की प्रकृति कहलाता है— तथा सख्य। विकल्प प्राधान्य आदि सम्प्राप्ति की अवस्था में रहने वाला दोष रोगो की विकृति स्वरूप समझा जाता है। इस प्रकार ज्वर आदि प्राकृत अवस्था तथा उस प्राकृत अवस्था में रहने वाला दोष तथा विकृत अवस्था तथा उस विकृत अवस्था में रहने वाला दोष परस्पर

भिन्न तथा स्वतंत्र (कार्य की दृष्टि से) सिद्ध होते है। इनकी भिन्नता इन के मूल मे रहने वाली कारण परपरा से पृथक सिद्ध होती है।

कारण सामग्री से कार्य—

कार्य की निष्पत्ति-समवायी, असमवायी, निमित्त तीन कारणो से होती है। ये ही तीनो रोग रूपी कार्य बनने मे भी आवश्यक होते है जैसे दोष-प्रकोप (समवायी) तथा उस दोष का विशिष्ट स्थान मे होने वाला सयोग-सप्राप्ति रूप (असमवायी) और दोषो को प्रकोपक कारण मिथ्याहार-विहारादि निमित्त कारण होते हैं।

निमित्त कारण के भेद—

निमित्त कारण सामान्य तथा विशेष भेद से २ प्रकार के हैं। जैसे केवल मात्र वातादि दोषो को कुपित करने वाले कारणो को सामान्य निमित्त कारण कहा जाता है। क्योकि ये वायु, पित्त, कफ आदि दोषो को समान रूप से कुपित करने वाले कारण हैं अतः इन्हें सामान्य निमित्त कारण नाम से सम्बोधित किए जाते हैं।

वात प्रकोप के कारण	पित्त प्रकोप के कारण	कफ प्रकोप के कारण
रूक्ष गुण वाली ठडी वस्तुओ का	क्रोध	दिन मे सोना
सेवन अल्प मात्रा मे लघु अन्न	शोक	श्रम-व्यायाम न करना
का सेवन अधिक मैथुन	भय	आलस्य
अधिक रात्रि जागरण	परिश्रम	मधुर, अम्ल, लवण, रस,
पच कर्मो का अनुचित प्रयोग	विदग्ध पदार्थों का सेवन	शीत, स्निग्ध, गुरु गुण
विरुद्ध आहार का प्रयोग	मैथुन	चिपचिपे अभिष्यन्दी
दोष और रक्त का अधिक स्राव	कडवे, खट्टे, नमकीन	जौ, इस्कट, उडद
लघन अधिक	तीक्ष्ण उष्ण दाहोत्पादक	गेहूँ, तिल, महीन आटा
तैरना अधिक	वस्तुओ का सेवन	दही, दूध, खीर
चलना अधिक	तिल तैल	खिचडी
व्यायाम ,,	खली	गुड, खाड
धातु क्षय	कुलथी	आनूप प्राणियो का मास
चिन्ता	सरसो, अलसी तैल	जलीय ,, ,,
शोक	हरे साक	चरबी
क्रोध	गोधा, मछली	कमल नाल
लम्बी बीमारी	बकरी भेड का मांस	कसेरु
सोने का कष्ट	दही, मट्ठा	सिंघाडा
बैठने का कष्ट	कूर्चिका, काजी	नारियल
दिन मे सोना	सुरा	वल्ली फल
भय	खट्टे फल	लौकी

मल मूत्रादि वेगो को रोकना	कद्वर	अध्यशन
आम दोष	उष्ण पदार्थ	शीत द्रव्य
चोट लगना	गर्मी के दिनो मे	शीतकाल
भोजन न करना	शरद ऋतु	वसत ऋतु
मर्म स्थानो का अभिघात	मध्याह्न	पूर्वाह्न
शीघ्र गति वाली सवारी से गिरना	अर्धरात्रि	प्रदोष
कटु कषाय तिक्त रसो का प्रयोग	अन्न पचन काल	भोजन करते ही
शुष्क-साग, मास		
जङ्गली कोदो, श्यामा, मटर, चवला		
ठडा, मेघो का समय, अधिक हवा चलना		
वर्षा ऋतु, प्रातः काल, अपराह्न		
अन्न जीर्णकाल		

विशेष निमित्तकारण—कुछ निमित्त कारण ऐसे भी होते हैं जिनसे केवलमात्र दोषप्रकोप ही नही होता अपितु उस दोषप्रकोप के साथ स्रोतो दुष्टी होकर स्थानवैगुण्य भी बन जाता है तत्पश्चाद् यह स्थान रसदिधातु, पुरीषादिमल, आशय, स्रोत आदि मे बन जाता है इन्हे हेतु-विशेष, या समुत्थान विशेष नाम दिया जाता है।

स एव कुपितो दोष समुत्थान विशेषत ।
बुद्धाहेतुविशेषाश्च—

विशिष्ट रोगोत्पादक रूप स्थानदुष्टी करना। यह किन्ही द्रव्यो का विशिष्ट प्रभाव होता है वाग्भट, चरक, सुश्रुत आदि आर्ष ग्रन्थो मे रोगनिदान प्रकरण मे प्रत्येक रोग के साथ इन रोगोत्पादक हेतुविशेषो की सारणी दी हुई है। चिकित्सा की दृष्टि से इन हेतुविशेषो का बडा महत्व है 'सक्षेपत क्रिया योगो निदान परिवर्जनम्' जिन रोगो के हेतुविशेषो का निर्णय नहीं हो सका वे रोग आज भी वैज्ञानिको के लिये पहेली बने हुए हैं जैसे केन्सर, यह सर्वविदित है। बीजदुष्टी जिससे कि स्रोतोवैगुण्य बनता है का अतर्भाव भी विशेषनिमित्त-कारण में होता है कारण शुक्र व रज में नाना प्रकार के शरीर के अवयवो को बनाने वाले बीजभूत परमाणु रहते हैं उनमे जिस अवयव का बीजभूत परमाणु वहा रहने वाले दोषो से दूषित या उपतप्त हो जाता है उस स्थान की दुष्टी हो जाती है। कभी कभी बिना कारणो के ही भयकर रोगोत्पत्ति हो जाती है जब कि ऐसे रोग मातृवश या पितृवश में किसी को नही होते अत. इनके लिये 'पापकर्म च दुष्कृतम्' या कारिचत्पूर्वापराधजः'। इस प्रकार दुष्टी या पापकर्म अथवा रोगोत्पादक विशेष आहारविहार इन कारणो से कुपित दोष बलवान् तथा प्रभावी हो जाते हैं कि उनसे विशिष्ट रोग को पैदा करने वाला स्रोतो बन जाता है अत. इन्हे प्रकृत्यारभक दोप कहते हैं। हेतु विशप से कुपित हुए ये प्रकृत्या दोष रवले कपोतन्याय से अकस्मात् विशिष्ट स्थान पर आघात कर शरीर की घा[illegible] को नष्ट कर देते है, जो कि अभिव्यक्ति हो दोप विशिष्ट [illegible] में [illegible]

विकृत्यारभक दोषो की स्थिति उपरोक्त से भिन्न होती है। इसी के अनुसार लक्षण भी दोषलक्षण, रोगलक्षण भेद से दो प्रकार के हैं। जिनसे केवल मात्र दोष का ज्ञान हो उन्हे दोषलक्षण कहते हैं। तथा रोगलक्षण प्रतिरोग के साथ बतलाया गया है। दोषलक्षण—

वायु लक्षण	पित्त लक्षण	कफ लक्षण
स्रंस (अग का अपने स्थान से थोड़ा हट जाना)	शरीर मे जलन	स्नेहपन (चिकना)
भ्रंश (,, ,, ,, दूर हट जाना	ताप वृद्धि	शीतपन (ठंडा)
व्यास(,, ,, ,, विस्तार हो जाना)	व्रण आदि का पकना	श्वेतपन (सफेदी)
सङ्ग (मलमूत्रावरोध)	स्वेदाधिक्य	भारीपन
भेद (चीरने के समान पीड़ा)	क्लेद	मीठापन
अवसाद शरीर मे	सड़न	स्थिरपन
हर्ष (रोमाच होना)	खुजली	पिच्छिलपन
प्यास लगना	स्राव	मसृणपन
शरीर कापना	लालिमा	खुजली
वर्त (मल का गोला बनना)	पीला वर्ण	शून्यता
चाल (स्पंदन होना)	उष्णता	क्लेद
सुई चुभना	तीक्ष्णता	मल लिपटा हुआ
दबाने की सी पीड़ा	सरता	बध
देह में चचलता	द्रवाधिक्य	मीठापन
खरदरा	कच्चे मास के समान गध	चिरकारी रोग
टेढ़ामेढ़ा	कटु अम्ल रस	
विशद		
छेदवाला (सुषिर)		
गुलाबी रग		
कषाय रस		
मुखवैरस्य		
मुखशोष		
शरीर में शूल		
शून्यता		
सकोच		
जकड़ाहट		
लगड़ापन		

इत्यशेषामव्यापी यदुक्त दोष लक्षणम्।

इस प्रकार जब सामान्य दोष का स्थान सश्रय हो जाता है तो सचय, प्रकोप, प्रसर स्थान सश्रय केदार कुल्या न्याय से होकर एक धातु से दूसरे धातु तक या एक स्रोत से

मल मूत्रादि वेगो को रोकना	कद्‌वर	अध्यशन
आम दोष	उष्ण पदार्थ	शीत द्रव्य
चोट लगना	गर्मी के दिनो मे	शीतकाल
भोजन न करना	शरद ऋतु	वसत ऋतु
मर्म स्थानो का अभिघात	मध्याह्न	पूर्वाह्न
शीघ्र गति वाली सवारी से गिरना	अर्द्धरात्रि	प्रदोष
कटु कषाय तिक्त रसो का प्रयोग	अन्न पचन काल	भोजन करते ही
शुष्क-साग, मास		
जङ्गली कोदो, श्यामा, मटर, चवला		
ठडा, मेघो का समय, अधिक हवा चलना		
वर्षा ऋतु, प्रातः काल, अपराह्न		
अन्न जीर्णकाल		

विशेष निमित्तकारण—कुछ निमित्त कारण ऐसे भी होते हैं जिनसे केवलमात्र दोषप्रकोप ही नही होता अपितु उस दोषप्रकोप के साथ स्रोतो दुष्टी होकर स्थानवैगुण्य भी बन जाता है तत्पश्चाद् यह स्थान रसदिधातु, पुरीषादिमल, आशय, स्रोत आदि मे बन जाता है इन्हे हेतु-विशेष, या समुत्थान विशेष नाम दिया जाता है।

स एव कुपितो दोष समुत्थान विशेषत ।
बुद्धाहेतुविशेषाश्च—

विशिष्ट रोगोत्पादक रूप स्थानदुष्टी करना। यह किन्ही द्रव्यो का विशिष्ट प्रभाव होता है वाग्भट, चरक, सुश्रुत आदि आर्ष ग्रन्थो मे रोगनिदान प्रकरण मे प्रत्येक रोग के साथ इन रोगोत्पादक हेतुविशेषो की सारणी दी हुई है। चिकित्सा की दृष्टि से इन हेतुविशेषो का बडा महत्व है 'सक्षेपत क्रिया योगो निदान परिवर्जनम्' जिन रोगो के हेतुविशेषो का निर्णय नहीं हो सका वे रोग आज भी वैज्ञानिको के लिये पहेली बने हुए हैं जैसे केन्सर, यह सर्वविदित है। बीजदुष्टी जिससे कि स्रोतोवैगुण्य बनता है का अतर्भाव भी विशेषनिमित्त-कारण मे होता है कारण शुक्र व रज मे नाना प्रकार के शरीर के अवयवो को बनाने वाले बीजभूत परमाणु रहते हैं उनमे जिस अवयव का बीजभूत परमाणु वहा रहने वाले दोषो से दूषित या उपतप्त हो जाता है उस स्थान की दुष्टी हो जाती है। कभी कभी बिना कारणो के ही भयकर रोगोत्पत्ति हो जाती है जब कि ऐसे रोग मातृवश या पितृवश में किसी को नही होते अत. इनके लिये 'पापकर्म च दुष्कृतम्' या कारिचत्पूर्वापराधजः'। इस प्रकार बीज दुष्टी या पापकर्म अथवा रोगोत्पादक विशेष आहारविहार इन कारणो से कुपित दोष इतने बलवान् तथा प्रभावी हो जाते हैं कि उनसे विशिष्ट रोग को पैदा करने वाला स्रोतोवैगुण्य बन जाता है अत. इन्हे प्रकृत्यारभक दोष कहते हैं। हेतु विशष से कुपित हुए ये प्रकृत्यारभक दोष खले कपोतन्याय से अकस्मात् विशिष्ट स्थान पर आघात कर शरीर की धातुसाम्यता को नष्ट कर देते है, जो कि अभिव्यक्ति हो दोष विशिष्ट स्थानो मे धावन करने लगते हैं।

विकृत्यारभक दोषो की स्थिति उपरोक्त से भिन्न होती है। इसी के अनुसार लक्षण भी दोषलक्षण, रोगलक्षण भेद से दो प्रकार के हैं। जिनसे केवल मात्र दोष का ज्ञान हो उन्हे दोषलक्षण कहते हैं। तथा रोगलक्षण प्रतिरोग के साथ बतलाया गया है। दोषलक्षण—

वायु लक्षण	पित्त लक्षण	कफ लक्षण
स्रंस (अग का अपने स्थान से थोडा हट जाना)	शरीर मे जलन	स्नेहपन (चिकना)
भ्रंश (,, ,, ,, दूर हट जाना	ताप वृद्धि	शीतपन (ठडा)
व्यास (,, ,, ,, विस्तार हो जाना)	व्रण आदि का पकना	श्वेतपन (सफेदी)
सङ्ग (मलमूत्रावरोध)	स्वेदाधिक्य	भारीपन
भेद (चीरने के समान पीडा)	क्लेद	मीठापन
अवसाद शरीर मे	सडन	स्थिरपन
हर्ष (रोमाच होना)	खुजली	पिच्छिलपन
प्यास लगना	स्राव	मसृणपन
शरीर कापना	लालिमा	खुजली
वर्त (मल का गोला बनना)	पीला वर्ण	शून्यता
चाल (स्पंदन होना)	उष्णता	क्लेद
सुई चुभना	तीक्ष्णता	मल लिपटा हुआ
दबाने की सी पीडा	सरता	बध
देह में चचलता	द्रवाधिक्य	मीठापन
खरदरा	कच्चे मास के समान गध	चिरकारी रोग
टेढामेढा	कटु अम्ल रस	
विशद		
छेदवाला (सुषिर)		
गुलाबी रग		
कषाय रस		
मुखवैरस्य		
मुखशोष		
शरीर में शूल		
शून्यता		
सकोच		
जकडाहट		
लगडापन		

इत्यशेषामव्यापी यदुक्त दोष लक्षणम्।

इस प्रकार जब सामान्य दोष का स्थान सश्रय हो जाता है तो सचय, प्रकोप, प्रसर स्थान सश्रय केदार कुल्या न्याय से होकर एक धातु से दूसरे धातु तक या एक स्रोत से

दूसरे स्रोत तक प्रवेश व सचार होकर ख वैगुण्य बनाता है। परन्तु जब तक अभिव्यक्ति नही होती तब तक रोग नही होता है केवल भिन्न-भिन्न दोष लक्षण होते हैं और हेतु विशेष से यदि दोष को स्रोतो वैगुण्य मिल जाता है तो वही स्थान सश्रय कर वातज, पित्तज, कफज आदि भेद अवस्था बना कर रोग की अवस्था रूप विकृति नाम से पुकारा जाता है। अतः इन्हें विकृत्यारभक नाम देना सार्थक प्रतीत होता है। इनका नामकरण का यह भेद तत्व से न होकर औपाधिक है।

रोग निर्माण की प्रक्रिया मे केवल मात्र दोष को कारण नही कहा जा सकता क्योकि दोष दूष्य समूर्च्छना ही रुजा लक्षण वाले रोग को बनाती है।

कुपिताना हि दोषाणा शरीरे परिधावताम्।
यत्र सग. खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते।
ध्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचित कर्मणा।
क्षिप्यमाण. खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः।

इस प्रक्रिया मे खवैगुण्यता का महत्व बताया गया है—अपने अपने कारणो से कुपित हुए दोष प्रकृत्यारम्भक मार्गो से बने मार्ग से उसी स्थान मे प्रवेश करते हैं इस कारण दोष भेद या अवस्था भेद से रोग के सामान्य रूप मे परिवर्तन होना विकृति कहलाता है।

आयुर्वेदीय सम्प्राप्ति-विज्ञान

लेखक : कविराज राजेन्द्रप्रकाश भा. भटनागर, भिषगाचार्य (स्वर्णपदक प्राप्त) एच् पी ए. (जाम)
उदयपुर

[श्रीयुत भटनागर भुसावल (महाराष्ट्र) के परपरागत सुप्रसिद्ध आयुर्वेदीय शल्यचिकित्सक चक्षुर्मनीषी श्रीयुत वैद्य आसरामजी सु० भटनागर के सुपुत्र हैं, जिनका वहाँ नेत्र चिकित्सा सबधी आतुरालय भी है। आप बी ए. एव 'साहित्यरत्न' हैं। आपने 'भिषगाचार्य' में 'स्वर्णपदक' प्राप्त किया है। आपने स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र जामनगर में 'स्रोतोऽनुसारी निदान-चिकित्सा' विषय पर गवेषणात्मक प्रबन्ध लिखा है एव एच् पी ए. (आयुर्विद्यापारगत) उपाधि प्रथम स्थान में प्राप्त की है।

चरित्रनायक के प्रति आपकी अपूर्व श्रद्धा है। आपका आयुर्वेदीय सम्प्राप्ति विज्ञान पर प्रस्तुत लेख वस्तुत मननीय और पठनीय है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक

रोगनिदान एव चिकित्सा—दोनो ही दृष्टियो से सम्प्राप्ति ज्ञान की आवश्यकता होती है। वस्तुत रोगविशेष का सम्पूर्ण ज्ञान सम्प्राप्ति की अभिव्यक्ति से ही प्राप्त होता है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि आयुर्वेदीय चिकित्सापद्धति के मूलाधारो का अध्ययन सम्प्राप्तिविज्ञान का पर्याय है।

निरुक्ति—

सामान्यतया 'सम्यक् प्राप्ति' सम्प्राप्ति (सम्यक् अशेषविशेषेण, प्राप्ति—रोगज्ञानम् येन भवति सा सम्प्राप्ति)—जिससे रोग का सम्पूर्ण ज्ञान या निश्चय हो उसे 'सम्प्राप्ति' कहते हैं।

पर्याय—

सम्प्राप्ति के जाति और आगति पर्याय हैं।[1] अतएव शास्त्रकारो ने सम्प्राप्ति लक्षण-सूचन करते हुए आगति आदि पर्यायो से अभिज्ञात अर्थ को सम्प्राप्ति कहते हैं—ऐसा बताया

है।[२] यहाँ यह द्रष्टव्य होगा कि 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से 'जाति' शब्द और 'आ' उपसर्ग-पूर्वक 'गम्' धातु से 'आगति' शब्द व्युत्पन्न होता है।

परिभाषा—

आचार्य वाग्भट ने सम्प्राप्ति की परिभाषा करते हुए स्पष्ट किया है कि विविध-निदानो से दोष जिस प्रकार 'दूषित' होकर और जिस प्रकार 'विसर्पण' करते हुए (दूष्यो के दूषण पूर्वक) व्याधि को उत्पन्न करता है उसे 'सम्प्राप्ति' कहते है।[३] इस सदर्भ पर टीका करते हुए अरुणदत्त और मधुकोषकार के वचन सग्रहणीय हैं।[४]

जाति और आगतिपदो के विश्लेषण मे आचार्यो का मतवैभिन्य प्रकट होता है। जाति पद जन्म का वाचक है।[५] भट्टार हरिश्चन्द्र ने व्याधिजन्म की भी ज्ञानकारणता स्वीकार की है क्योकि अनुत्पन्न वस्तु का ज्ञान नही किया जा सकता। उनके मत में व्याधिजन्म को ज्ञानकारण मानना निदानादि के समान बोधकत्व की दृष्टि से न होकर बोधविषय की दृष्टि से है। किन्तु इस मत को खण्डना मधुकोषकार ने की है। जिस प्रकार आलोक और चक्षु आदि चिकित्सा में अनुपयोगी हैं, उसी प्रकार जन्मरूपा सम्प्राप्ति का चिकित्सा के अभिप्राय से कोई महत्व नही। साथ ही, यह भी कोई नियम नही है कि उत्पन्न हुई वस्तु का ही बोध होता हो, क्योकि जिस प्रकार मेघ आदि से भावी वृष्टि का ज्ञान होता है, उसी प्रकार निदान और पूर्व रूप से अनुत्पन्न भावी व्याधि का ज्ञान होता है।

'जात' पद का जन्मावच्छिन्न (जो जन्म ग्रहण करेगा) ऐसा अर्थ किया जा सकता है, मेघदर्शन से वृष्टि आदि (भावी जन्म को ग्रहण करने वाली ही) ज्ञात होती है, जिसका त्रिकाल मे जन्म नही होता उसका ज्ञान भी नही किया जा सकता। किन्तु इस अभिप्राय से व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति नही कहा जा सकता, क्योकि जन्म के समान प्रकाश, चक्षु आदि को भी व्याधिज्ञान के प्रति कारण मानना पडेगा, क्योकि उनसे व्याधि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अतएव सक्षेप मे—व्याधिजनक दोष के व्यापार विशेष से युक्त व्याधि जन्म को सम्प्राप्ति शब्द से समझना चाहिए।[६]

'आगति' शब्द से 'उत्पादक कारण का व्याधि-उत्पत्ति तक गमन' यह अर्थ प्राप्त होता है।[७]

सम्प्राप्ति ज्ञान की आवश्यकता—

मधुकोषकार लिखते हैं—'यदि सम्प्राप्ति का ज्ञान नही किया जाय, पूर्वरूपादि के रूप मे ज्ञात व्याधि के चिकित्सा मे उपयोगी अशाशविकल्पना, काल, वल, आदि न समझे जाय तो चिकित्सा सबधी वैशिष्टय प्राप्त नही हो सकता।'[८]

चक्रपाणिदत्त की मान्यता है कि—सम्प्राप्ति से व्याधि विशेष का ज्ञान होता ही है।

जिस प्रकार—ज्वर मे—'स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयम्' से प्रारम करके 'तदा ज्वर-मभिनिर्वर्तयति' तक जो सम्पूर्ण सम्प्राप्ति कही गई है उससे ज्वर मे आमाशयद्रुपकत्व, अग्न्युपघातकत्व, रसदूषकत्व आदि धर्म ज्ञात होते हैं।[६]

वस्तुतः इस प्रकार के ज्ञान का भी उपयोग चिकित्सा हेतु ही है। यथा ज्वर मे आमाशयदूषण, अग्निहनन आदि के ज्ञान होने पर लघन, पाचन, स्वेद आदि का करना अभीष्ट होता है।

इसके अतिरिक्त सम्प्राप्ति ज्ञान की उपयोगिता निम्न अभिप्राय से सार्थक है—

१ निदान परिवर्जन[१०]

२ सचयकाल मे दोषनिर्हरण[११]

३. विपरीत द्रव्य सेवन (हेतु-व्याधि विपरीत)

४. रोगमार्ग एव दोषगति का ज्ञान

५, क्रियाकाल की प्राप्ति

६. सध्यासाध्य-सूचन

७ व्याधिक्षमत्व का ज्ञान

इन समस्त तथ्यो पर प्रकाश डालना विषयविस्तार की दृष्टि से आवश्यक होने पर भी लेखविस्तारभय से अनुपयुक्त होगा।

इस प्रकार सम्प्राप्ति विषयक सामान्य परिचय प्राप्त होता है। सक्षेप मे निदान सेवन के अनन्तर व्याध्युत्पत्ति पर्यन्त शरीर मे होने वाली विशिष्ट क्रम-परम्परा का नाम सम्प्राप्ति है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे इसे पेथोजेनसिस (Pathogenesis) के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसी आधार पर व्याधि को 'एक अवस्था' या 'एक परम्परा या पद्धति' कहा गया है (Disease is a state, (2) Disease is a process

सप्राप्ति सघटना—

यहा सप्राप्ति सघटन से तात्पर्य है सम्प्राप्ति निर्माण की पद्धति। इसमे सम्प्राप्ति निर्माण होने मे भाग लेने वाले घटको का एव सम्प्राप्ति बनने मे होने वाले क्रमपरपरा इन दोनो हो का ग्रहण होता है।

सम्प्राप्तिघटक—

निम्न घटको का सप्राप्ति निर्माण मे योगदान रहता है।

(१) दोप

(२) दूष्य

(३) आम

(४) अग्निमाद्य

(५) स्रोत

(१) दोष—

दूषण स्वभाव होने से इन्हें दोष कहते है[१२]। ये शरीर और मानस भेद से द्विविध है। वात, पित्त और कफ शरीरदोष हैं, रज और तम मानसदोष हैं।[१३] शरीर और मानस दोषो का अनुबधानुबध्य पाया जाता है। परस्पर विरुद्ध गुण होते हुए भी ये सहज सात्म्य होने से परस्पर का उपहनन (नाश) नही करते, जिस प्रकार विषधर सर्प मे विष रहने पर भी वह उससे नष्ट नही होता।

वातादि दोषो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे आयुर्वेदज्ञो की निम्न मान्यता है।

वातोत्पत्ति—

चरक लिखते हैं पक्वाशय मे आए हुए अग्नि द्वारा शोषित होते हुए परिपिण्डित होकर पक्व हुए आहार के कटु भाव से वायु की उत्पत्ति होती है। वृद्ध वाग्भट का भी मन्तव्य यही है—पाच स्वरूप वाली वायु कोष्ठ में प्रादुर्भूत होती है।[१४]

कफोत्पत्ति—

आमाशय में आहार के मधुर पाक से फेनभूत कफ उत्पन्न होता है। पुनश्च आहार रस पर रसाग्नि की क्रिया होकर त्रिविध सघात भेद होने पर किट्टरूप में कफ की उत्पत्ति होती है[१५]।

पित्तोत्पत्ति—

आहार के द्वितीय अम्ल पाक के अवसर पर अच्छ पित्त की उत्पत्ति होती है। पुन रक्तपोषक धातु पर रक्ताग्नि की क्रिया से त्रिविध सघात भेद में किट्ट स्वरूप पित्त उत्पन्न होता है।[१६]

उपर्युक्त उत्पत्ति निर्देश में दोषो के दो भेद स्पष्ट होते हैं स्थायी या पोष्य तथा अस्थायी या पोषक। स्थायी दोषो के पन्द्रह भेद हैं, वह स्वस्वस्थान मे रहते हुए स्वस्वकर्म करते हैं। पोषक दोष-आहार परिणाम काल मे एव धातु-अग्नि क्रिया काल मे कोष्ठ मे वात रस से कफ और रक्त से पित्त उत्पन्न होते हैं और ये सर्व शरीरचारी होते हैं।

भौतिक सघटन की दृष्टि से वायू और आकाश से वात, अग्नि और जल से पित्त, जल और पृथ्वी से कफ की उत्पत्ति होती है।

(२) दूष्य

दोषो से दूषित होने का स्वभाव होने से इन्हे दूष्य कहते हैं। ये दो प्रकार के निर्दिष्ट हैं—धातु और मल। रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये पारिभाषिक

धातुए हैं और प्रीणन जीवन, लेपन, स्नेहन, धारण, पूरण और गर्भोत्पत्ति इनके श्रेष्ठ कर्म हैं। मल, मूत्र और स्वेद ये प्रमुख मल हैं और अवष्टभन, क्लेदवाहन और क्लेदविधारण ये इनके कर्म हैं। चरकीय दृष्टिकोण से विचार करने पर आहाररस से धातुओ का और आहारकिट्ट से मलो का पोषण और उत्पादन होता है।[१७] वैसे, इनकी उत्पत्ति एक विशिष्ट क्रमपरम्परा के आधार पर ही होना सूचित है। धातु पोषक धातु पर धात्वग्नि की क्रिया होकर त्रिविधसघात भेद से धातु और मलो की उत्पत्ति होती है यह इनकी सूक्ष्म उत्पत्ति है। स्थूल भाग- पूर्व धातु, सूक्ष्मभाग-उत्तर धातु पोषक धातु और किट्टभाग मल। दोषो से दूष्यो को दुष्टि होने पर इनके प्रकृति गुणकर्मों की हानि और दोष के लक्षणो का आविर्भाव ये विशेष द्रष्टव्य होते हैं। प्राय: सभी रोगो मे दोष का सचार रस द्वारा होता है।

अग्निमांद्य—

अग्नि का शरीर मे पृथक्त्वेन अस्तित्व उपलब्ध नही होता। पित्त के अंतर्गत ही अग्नि रहती है।[१८] इस प्रकार पित्त का एक धर्म अग्नि है। सम्पूर्ण शरीर मे तेरह प्रकार की अग्नियाँ व्याप्त हैं—जठराग्नि, पच भूताग्नियाँ और सात धात्वग्नियाँ।

अग्नियो मे जठराग्नि सर्वश्रेष्ठ है। वह पचभूतात्मक होकर भी तेजसगुणप्रधान होती है। पक्वाशय और आमाशय के मध्य मे रहती हुई अन्नपाचन, सारकिट विभाजन और स्वस्थान मे रहते हुए अन्य अग्नियो को बल प्रदान करके पोषण-धारण करना - कार्य करती है।[१९] अत. इसे समस्त अग्नियो का राजा कहा गया है। और इसकी व्यवस्थिति पर आयु और बल की स्थिति होने से इसे पर्यायत्वेन 'कायाग्नि' भी कहा गया है। वृद्धभोज लिखते हैं जठर प्रदेश मे रहने वाली अग्नि कायाग्नि कहलाती है, उसकी विकृति होने पर यथायोग्यतया सस्थापन हेतु चिकित्सा करने वाला 'कायचिकित्सक' कहलाता है।[२०]

जठराग्नि द्वारा प्रथम किये गये सघात भेद के अनतर, पाच भूताग्नियाँ स्व-स्व द्रव्य का पाचन करती हैं। अग्निक्रिया से गुणो का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु नवीन द्रव्य की उत्पत्ति नही होती। वस्तुत भूताग्नियाँ पृथक अस्तित्व नही रखती अपितु जठराग्नि और धात्वग्नियो मे अनुस्यूत रहकर भौतिकपाक का कारण बनती है।[२१]

धात्वग्नियाँ स्वस्व धात्वाशयो मे रहती हुई धातुपोषण के अभिप्राय से किट्ट—और प्रसाद रूप विभजन का सम्पादन करती हैं।[२२] इस प्रकार जठराग्नि और धात्वग्नियाँ सघात भेद का कार्य करती हैं। शरीर द्रव्यो के पोषण का सूक्ष्म कार्य समीकरण और सात्म्यीकण की प्रक्रीया द्वारा भूताग्नियाँ सम्पन्न करती हैं। सुश्रुत सूत्रस्थानीय पचदशाध्याय के १० वें सूत्र पर व्याख्यान करते हुए चक्रपाणि ने भानुमतीटीका मे एव डल्हण ने निबध-सग्रह टीका मे धातुओ के भौतिक सघटन विषयक पाठो का उद्धरण किया है—

धातु	चक्रपाणिमत	डल्हणमत
१. रस	—	सौम्य
२ रक्त	तेज+जल	अग्नि
३ मांस	पृथ्वि	पृथिवी
४. मेद	जल+पृथ्वि	जल+पृथ्वि
५ अस्थि	पृथ्वि+वायु	पृथ्वि+वायु+अग्नि
६ मज्जा	आप्य	सोम
७ शुक्र	आप्य	सोम

अपने स्थान मे रहती हुई कायाग्नि के अश धातुओ मे रहते हैं। उनके मन्द होने पर धातु वृद्धि और प्रदीप्त होने पर धातु क्षय होता है। इसी प्रकार पोषण क्रमानुसार पूर्व धातु उत्तर धातु की वृद्धि या क्षय करता है।[२३]

आम—

पाक की अपूर्ण क्रिया से उत्पन्न द्रव्य को 'आम' कहते हैं। सामान्य भाषा में आम से तात्पर्य है कच्चा। तत् तत् अग्नि माद्य से तत् तत् अग्नि सम्बन्धी आम की उत्पत्ति होती है। जठराग्नि माद्य से आम आहार रस की उत्पत्ति होती है। इसे चरक ने 'घोर-अन्न विष' कहा है।[२४] धात्वाग्नि के माद्य से धातु वृद्धि होती है किन्तु वह सामस्वरूप की होती है।

जिस स्थान पर आम प्रादुर्भूत होता है या अवस्थान करता है उस स्थान पर वह अनेक प्रकार के विकारो को उत्पन्न कर पीडा पहुचाता है। उस समय दोष की अवस्थिति साम होती है।[२५]

आम सोयुक्त दोष धातु और मल 'साम' कहलाते हैं।[२१] साम शब्द आम या साम दोष दूष्यो से उत्पन्न व्याधियो के लिए भी व्यवहृत होता है।

इस प्रकार आम प्रत्येक रोग की सामान्य सम्प्राप्ति का महत्वपूर्ण घटक है, किन्तु जब यह विशिष्ट सम्प्राप्ति का भी कारण बनता है तब उस रोग का नाम निर्देश आम-पूर्वक किया जाता है यथा—आमातीसावर आमज्वर, आमाजीर्ण, आमवात आदि।

अग्नि और आम के प्रसग मे दोषाग्नि सबधी चर्चा भी आवश्यक है। वाग्भट्ट ने आत्रेय मत मे दोषाग्नि का पार्थक्य स्पष्ट किया है। च चि. ३। पर चरक चतुरानन चक्र-पाणि ने 'स्वेन तेनोष्मणा' की व्याख्या मे 'स्वेनोष्मणा इति दोषोष्मणा' अर्थ ग्रहण किया है। दोषाग्नि माद्यजनित साम दोषो की 'साम मल' ही कहा गया है। और उनके लक्षण स्रोतोरोध, बल भ्र श, गौरव, अनिल मूढता, आलस्य आपत्ति, निष्ठीवन, मलसंग, अरुचि

शोथ क्लम बताए गए हैं। इसी प्रकार साम, वात, पित्त और कफ के विशिष्ट लक्षण भी निर्दिष्ट है।[२८]

स्रोत—

सामान्यतया आकाशीय (छिद्र या पोलयुक्त) शरीर रचनाओ का नाम स्रोत है[२९], इससे शारीर धातुओ के पोषण, विनाश, स्रवण और परिवहन रूप क्रियाओ का सम्पादन होता है।[३०] हेतु भेद से स्रोतो विकृति के तीन स्वरूप स्पष्ट होते हैं—

(१) स्रोतो दुष्टि—मिथ्या आहार विहारादि से प्रकुपित दोषो द्वारा।
(२) स्रोतोरोध—आमोत्पत्ति के कारण।
(३) स्रोतो वैगुण्य—स्थान सश्रित दोष द्वारा। यही रोग का अधिष्ठान होता है।

स्रोतो वैगुण्य मे निम्न चार प्रकार के कारण होते हैं—

(१) मिथ्या आहारविहार द्वारा दोष प्रकोप।
(२) आगन्तुक कारण—अभिघात आदि।
(३) जन्मजात या आनुवशिकता।
(४) व्याध्यक्षमत्व।

स्रोतोदुष्टि के चार प्रकार के लक्षण चरक ने बताये है—[३१]

१ अतिप्रवृत्ति—अतिसार, प्रमेह, प्रदर, रक्तपित्त।
२ सग—विबन्ध, मूत्रावरोध, रक्तस्कन्दन।
३. सिराग्रन्थि—श्लीपद, गलगण्ड, गडमाला, ग्रथिकज्वर।
४ विमार्गगमन—रक्तपित्त मे रक्त का विमार्गगमन होता है।

प्रत्येक रोग मे प्रकुपित दोष का सर्वशरीर सचरण एव विगुण स्थान मे स्थानसश्रय होने मे स्त्रोतोरूप मार्ग आवश्यक घटक है।

सम्प्राप्तिक्रमपरम्परा—

सम्प्राप्तिक्रम के अध्ययन हेतु निम्न शास्त्र वचन विचारणीय है।

(१) आचार्य वाग्भट लिखते हैं—प्रत्येक रोग की उत्पत्ति होने मे रस द्वारा प्रथम दूष्टियुक्त हुए दोष अनतर धातुओ और मलो को दूषित करते है।[३२]

(२) प्रकुपित हुए दोष रोग के अधिष्ठान गमन करने वाली रसायनी (स्रोतो) द्वारा देह मे प्रसृत होकर रोग उत्पन्न करते हैं। दोषो का सचरण रसमार्ग से होता है।[३३]

(३) व्यानधातु की क्रिया से युगपत् निरतर शरीर मे रसानुधावन होता रहता है। जब वह स्रोतो वैगुण्य के स्थान मे अनरुद्ध हो जाता है तो वही रोग उत्पन्न करता है। रस की भाति दोष का गमन और एकदेशीय प्रकोपण—रोगोत्पत्ति होती है।[३४]

सम्प्राप्ति सबन्धी उपर्युक्त विचारणाओ से प्रत्येक रोग मे निम्न तीन विशेषताओं का ज्ञान अपेक्षित होता है—

१. उद्भवस्थान—जिस स्थान से पोष्य दोषच्युत होकर विमार्गगमन करते हैं।

२ सचार—प्राय दोष का सचरण रसमार्ग से होता है। सुश्रुत ने वातवह, पित्त-वह, और कफवह शिराओ का वर्णन किया है।

३ अधिष्ठान—स्रोतोवैगुण्य के स्थान मे रस और दोष विकृति उत्पन्न करते हैं। इसे ही स्थानसश्रय भी कहते हैं। एक ही दोष से वस्तुत अधिष्ठान भेद से अनेक रोगो की उत्पत्ति है।

उपर्युक्त सम्प्राप्ति परम्परा का अवस्थानुसार वर्णन भी शास्त्रोपलब्ध है। इस विषय मे सम्प्रदाय भेद से दो मत स्पष्ट द्रष्टव्य हैं—

(१) आत्रेयसम्प्रदाय मे

चरक पाठ सवादी वाग्भट ने निम्न पद्य मे सम्प्राप्ति की तीन क्रमागत अवस्थाओं का वर्णन किया है—

"यथादुष्टेन दोषेण यथाचानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागति ॥ (अ हृ. नि. १)

इस आधार पर—सम्प्राप्ति की निम्न तीन अवस्थाए हैं—

(१) दोष दुष्टि—(यथा दुष्टेन दोषेण)

(२) दोष विसर्पण—(यथा चानुविसर्पता)

(३) रोग निर्वृत्ति—(निर्वृत्तिरामयस्यासौ)

(२) धन्वन्तरी सम्प्रदाय मे—

सुश्रुत सहिता मे दोषो की छ अवस्थाओ का वर्णन समुपलब्ध होता है—

सचय च प्रकोप च प्रसर स्थान सश्रयम्।
व्यक्ति भेद च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक् ॥ सु सू २१।३६)

१ सचय, २ प्रकोप, ३ प्रसर, स्थान सश्रय ५ व्यक्ति और ६ भेद। इन अवस्थाओं को 'क्रियाकाल' भी कहते हैं। डल्हण ने क्रियाकाल पद का 'कर्मावसर' और 'चिकित्सा-वसर' ये अर्थ किए हैं। ये विभिन्न क्रियाकाल सम्प्राप्ति की विशिष्ट अवस्थाए हैं। इनमें प्रादुर्भूत होने वाले लक्षणो का सम्यक् ज्ञान करते हुए आवश्यक चिकित्सा का प्रतिपादन इनमे किया जाना अभिप्रेत होता है, जैसे कहा गया है—'सचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गति।' अर्थात् सचय काल मे दोषो का निर्हरण कर देने पर उनकी अग्रिम अवस्थायें समाप्त हो जाती हैं। इसका विस्तार वर्णन मूल ग्रथ मे देखना चाहिए।

समन्वय—

अवस्था	सुश्रुत	वाग्भट
(१) दोष दुष्टि —	१ सचय २ प्रकोप	चय (चयो वृद्धि स्वधाम्न्येव)
(२) दोष विसर्पण —	३ प्रसर	कोप (कोपस्तून्मार्गगामिता)
(३) रोग निर्वृत्ति—	४ स्थान सश्रय	कोप (लिंगाना दर्शन षाम् अस्वास्थ्य रोग सभव)

सम्प्राप्ति भेद—

चरक और वाग्भट ने सम्प्राप्ति के ५ भेद बताए हैं। किन्तु नाम निर्देश मे आंशिक अतर है—

	चरक	वाग्भट
(१)	सख्या	सख्या
(२)	विकल्प	विकल्प
(३)	प्राधान्य	प्राधान्य
(४)	बलकाल	बल
(५)	विधि	काल

वाग्भट ने विधि का सख्या मे अन्तर्भाव किया है और बल व काल का पृथक् पाठ दिया है। चरक ने विधि को पृथक् पढा है और बल काल को एक साथ पढा है।

(१) सम्प्राप्ति—

गणना को सख्या कहते हैं। रोग विशेष की विशिष्ट सम्प्राप्ति के भेदो की गणना को सख्या सप्राप्ति कहा जाता है। यथा आठ ज्वर आदि।[३५]

(२) विकल्प सम्प्राप्ति—

समवेत दोषो के अशाशबल की विकल्पना को विकल्प सम्प्राप्ति कहते हैं।[३६] अशाशबल कल्पना से तात्पर्य है दोष प्रकोनक गुणो के अशो का ज्ञान।[३७] यथा वात के प्रकुपित होने पर कभी वात के शीतांश की कभी लघु अश की, कभी रूक्ष गुण की तो कभी लघु-रूक्ष गुणो की विशेषता प्रदर्शित होती है। इसका कारण निदान की भिन्नता है। क्योंकि समस्त रोगो में समान प्रकोप का कारण नही होता। विशिष्ट आहार से एक ही प्रकार के दोष का प्रकोप होने पर भी व्याधि मे भिन्नता देखी जाती है यथा वातल आहार से गुल्म और श्वास दोनो की ही उत्पत्ति होती है। इसका यह भी कारण है कि विभिन्न द्रव्यो के एक ही दोप के प्रकोपक होने पर भी प्रत्येक द्रव्य उस दोष के कतिपय विशिष्ट गुणो को

सम्प्राप्ति सबन्धी उपर्युक्त विचारणाओ से प्रत्येक रोग मे निम्न तीन विशेषताओं का ज्ञान अपेक्षित होता है—

१ उद्भवस्थान—जिस स्थान से पोष्य दोषच्युत होकर विमार्गगमन करते है।

२. सचार—प्राय दोष का सचरण रसमार्ग से होता है। सुश्रुत ने वातवह, पित्त-वह, और कफवह शिराओ का वर्णन किया है।

३ अधिष्ठान—स्रोतोवैगुण्य के स्थान मे रस और दोष विकृति उत्पन्न करते हैं। इमे ही स्थानसश्रय भी कहते हैं। एक ही दोष से वस्तुत अधिष्ठान भेद से अनेक रोगो की उत्पत्ति है।

उपर्युक्त सम्प्राप्ति परम्परा का अवस्थानुसार वर्णन भी शास्त्रोपलब्ध है। इस विषय मे सम्प्रदाय भेद से दो मत स्पष्ट द्रष्टव्य हैं—

(१) आत्रेयसम्प्रदाय मे

चरक पाठ सवादी वाग्भट ने निम्न पद्य मे सम्प्राप्ति की तीन क्रमागत अवस्थाओं का वर्णन किया है—

"यथादुष्टेन दोषेण यथाचातुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिगति.॥ (अ. हृ. नि. १)

इस आधार पर—सम्प्राप्ति की निम्न तीन अवस्थाए हैं—

(१) दोष दुष्टि—(यथा दुष्टेन दोषेण)

(२) दोष विसर्पण—(यथा चानुविसर्पता)

(३) रोग निर्वृत्ति—(निर्वृत्तिरामयस्यासौ)

(२) धन्वन्तरी सम्प्रदाय मे—

सुश्रुत सहिता मे दोषो की छ अवस्थाओ का वर्णन समुपलब्ध होता है—

सचय च प्रकोप च प्रसर स्थान सश्रयम्।
व्यक्ति भेद च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक्॥ सु सू २१।३६)

१ सचय, २ प्रकोप, ३. प्रसर, स्थान सश्रय ५ व्यक्ति और ६ भेद। इन अवस्थाओं को 'क्रियाकाल' भी कहते है। डल्हण ने क्रियाकाल पद का 'कर्मावसर' और 'चिकित्सा-वसर' ये अर्थ किए हैं। ये विभिन्न क्रियाकाल सम्प्राप्ति की विशिष्ट अवस्थाए हैं। इनमें प्रादुर्भूत होने वाले लक्षणो का सम्यक् ज्ञान करते हुए आवश्यक चिकित्सा का प्रतिपादन इनमे किया जाना अभिप्रेत होता है, जैसे कहा गया है—'सचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गति।' अर्थात् सचय काल मे दोषो का निर्हरण कर देने पर उनकी अग्रिम अवस्थायें समाप्त हो जाती हैं। इसका विस्तार वर्णन मूल ग्रथ मे देखना चाहिए।

समन्वय—

अवस्था	सुश्रुत	वाग्भट
(१) दोष दुष्टि —	१ सचय २ प्रकोप	चय (चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव)
(२) दोष विसर्पण —	३ प्रसर	कोप (कोपस्तून्मार्गगामिता)
(३) रोग निर्वृत्ति—	४ स्थान सश्रय	कोप (लिगाना दर्शन याम् अस्वास्थ्य रोग सभव)

सम्प्राप्ति भेद—

चरक और वाग्भट ने सम्प्राप्ति के ५ भेद बताए हैं। किन्तु नाम निर्देश मे आशिक अतर है—

	चरक	वाग्भट
(१)	सख्या	सख्या
(२)	विकल्प	विकल्प
(३)	प्राधान्य	प्राधान्य
(४)	बलकाल	बल
(५)	विधि	काल

वाग्भट ने विधि का सख्या मे अन्तर्भाव किया है और बल व काल का पृथक् पाठ दिया है। चरक ने विधि को पृथक् पढा है और बल काल को एक साथ पढा है।

(१) सम्प्राप्ति—

गणना को सख्या कहते हैं। रोग विशेष की विशिष्ट सम्प्राप्ति के भेदो की गणना को सख्या सप्राप्ति कहा जाता है। यथा आठ ज्वर आदि।[35]

(२) विकल्प सम्प्राप्ति—

समवेत दोषो के अशाशबल की विकल्पना को विकल्प सम्प्राप्ति कहते हैं।[36] अशाशबल कल्पना से तात्पर्य है दोष प्रकोनक गुणो के अशो का ज्ञान।[37] यथा वात के प्रकुपित होने पर कभी वात के शीतांश की कभी लघु अश की, कभी रूक्ष गुण की तो कभी लघु-रूक्ष गुणो की विशेषता प्रदर्शित होती है। इसका कारण निदान की भिन्नता है। क्योंकि समस्त रोगो में समान प्रकोप का कारण नही होता। विशिष्ट आहार से एक ही प्रकार के दोष का प्रकोप होने पर भी व्याधि मे भिन्नता देखी जाती है यथा वातल आहार से गुल्म और श्वास दोनो की ही उत्पत्ति होती है। इसका यह भी कारण है कि विभिन्न द्रव्यो के एक ही दोष के प्रकोपक होने पर भी प्रत्येक द्रव्य उस दोष के कतिपय विशिष्ट गुणो को

ही प्रकुपित करता है। व्याधि की साध्यता के ज्ञान के लिए अंशांशकल्पना सर्वथा उपयोगी व आवश्यक है।

(३) प्राधान्य सम्प्राप्ति—

इसके दो दृष्टिकोण हैं—

प्रथम—दोषो का तरतम भेद के विचार।

द्वितीय—(१) रोगसाकर्य मे अनुबन्ध—अनुबन्ध्य का विचार।

(२) दोषसाकर्य मे अनुबन्ध—अनुबन्ध्य का विचार।

(४) बल सम्प्राप्ति—

निदानादि के तारतम्य के आधार पर व्याधि की बलवत्ता का निर्धारण 'बल-सम्प्राप्ति' कहलाता है।[३९] निदान, पूर्वरूप और रूपो की अधिकता होने पर उत्पन्न व्याधि बलवान होती है, इनकी आंशिक रूप से उपस्थिति होने पर व्याधि को अल्प बलवान समझना चाहिए। बल सम्प्राप्ति की यह व्याख्या वाग्भटसम्मत है।

(५) काल सम्प्राप्ति—

रात्रि, दिवस, ऋतु और भोजन के विशिष्ट अंशो (आदि, मध्य और अन्त) मे व्याधि के उत्पत्ति वृद्धि, या शमकाल को देख कर दोष विशेष का निर्धारण करना काल-सम्प्राप्ति के अंतर्गत आता है।[४०] काल विशेष से सम्बन्धित होने के कारण इसे काल-सम्प्राप्ति कहते हैं। यह विवेचन वाग्भटसम्मत है।

(६) विधि सम्प्राप्ति—

चरक ने इसका पृथक् वर्णन किया है। वाग्भट ने इसका सख्यासम्प्राप्ति मे अतर्भाव माना है।[४१] चरक ने विधि सम्प्राप्ति मे रोग प्रकार का उल्लेख किया है यथा विविध व्याधिया निज और आगन्तु भेद से, त्रिदोष भेद से, त्रिविध और साध्य असाध्य मृदु दारुण भेद से चतुर्विध।

विधि और सख्या मे आंशिक भेद ही है क्योंकि विधि भी एक प्रकार से सख्यावाची शब्दो द्वारा अभिधेय है। विधि और सख्या का भेद—इस प्रकार विधि प्रकार को कहते हैं और वह अभिन्न जातियो मे ही किसी धर्मान्तर के अन्वय से होता है यथा-रक्तपित्त सामान्य होने पर भी उसके ऊर्ध्वग-अधोग आदि भेद हैं। सख्या का व्यवहार भिन्न जातियो मे भी किया जाता है तथा आठ ज्वर, चार घडे आदि। अभिप्राय यह है कि विशेषण या धर्म-विशेष के आधार पर भेद करने को विधि कहते हैं, किन्तु केवल गणना की आवश्यकता हो वहाँ सख्या प्रयुक्त होती है।[४२]

सामान्य-विशिष्ट-सम्प्राप्ति—

सम्प्राप्तिविषयक उपर्युक्त भेद विवेचन के उपरान्त शास्त्रनिगूढ द्विविध सम्प्राप्ति सबधी सदर्भ भी उपलब्ध होते हैं। सामान्य सम्प्राप्ति और विशिष्ट सम्प्राप्ति। प्रत्येक रोग मे यह द्विविध सम्प्राप्ति पायी जाती है।

सामान्य सम्प्राप्ति से तात्पर्य है दोष विशेष का प्रकुपित होकर अधिष्ठान विशेष में स्थानसश्रय कर रोगोत्पत्ति करना। प्राय. रोगनामकरण इसी आधार पर किया जाता है उदाहरण हेतु ज्वर मे पित्त, गुल्म मे वात, श्वासहिक्का मे वातकफ सामान्य सम्प्राप्ति निर्माण करते हैं।[४३]

विशिष्ट सम्प्राप्ति से अभिप्राय है वातपित्त कफ आदि के आधार पर रोग विशेष के भेद करना। जिस व्याधि मे जिस दोष के लक्षण विशेष मिलेगे उसी के अनुसार उसका भेदनिर्णय किया जायेगा।

इस प्रकार शास्त्रीय वचनो के आधार पर आयुर्वेदीय सम्प्राप्ति विज्ञान का पर्यालोचन करते हुए तत्सम्बन्धित मुख्य तथ्यो के प्रकाशोद्घाटन करने का प्रस्तुत लेख मे प्रयास किया गया है। अन्त मे गुणग्राही पाठको की सम्मति प्राप्त करने हेतु महर्षि चरक के निम्न वचन का उद्धरण करते हुए विषयोपसहार करता हूँ।

"कृत्स्नो हिलोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्।" (च वि ८)

सदर्भ सूची

१. सम्प्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरं व्याधे। च० नि० १।११

२, सम्प्राप्त्यागतिजातिशब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते सा व्याधे सम्प्राप्तिरित्यर्थ·।

(चक्रपाणिदत्त, च० नि० १।११ पर)

३. यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सप्राप्तिर्जातिरागति॥

(अ० हृ० नि० १।)

४ अरुणदत्तटीकायाम्—'येन प्रकारेण दुष्ट· कुपितो वाताद्यन्यतमो दोषो यथा दुष्टस्तेन यथादुष्टेन दोषेण, यथा चानुविसर्पता देहमनुधावता सन्निवेशविशेषेण गच्छता, प्रत्यामय वा निर्वृत्तिर्निष्पत्ति-रुद्भव इति यावन्निर्दिष्टा सा सम्प्राप्ति'।

मधुकोषटीकायाम्—'नानाविधा हि दोषाणां दुष्टि प्राकृती वैकृती वा, अनुबन्ध्यरूपा वा एकशोद्विशो वा समस्ता वा, रौक्ष्यादिभि सर्वैर्भावैरल्पैर्वा, एवमादिदुष्टिदुष्टेन दोषेण या आमयस्य रोगस्य निर्वृत्तिरुत्पत्ति सा सम्प्राप्तिरुच्यते। यथा चानुविसर्पतेति। अनेकधा दोषाणां विसर्पणगतिरूर्ध्वाधस्तिर्यगादिभेदेन, तया विसर्पता।'

५ जनि' जन्म। (चक्रपाणि)

६ (अ तस्माद् व्याधिजनकदोषव्यापारविशेषयुक्त व्याधिजन्मेह सम्प्राप्ति'।
(चक्र)
(आ) तस्माद् दोषेतिकर्तव्योपलक्षित व्याधिजन्म सम्प्राप्ति।
(मधुकोष')

७. आगतिर्हि उत्पादकारणस्य व्याधिजननपर्यन्त गमनम्। (चक्र')

८ असत्या च सम्प्राप्तौ पूर्वरूपादिप्रतीतस्यापि व्याधेश्चिकित्सोपयोगिनोऽशांशविकल्पना-बलकालादेरप्रतीतेश्चिकित्साविशेषो न स्यात्। (मधुकोष)

९ इय च सम्प्राप्ति व्याधिविशेष बोधयत्येव। (चक्र.)

१०. सक्षेपत क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्।

११. सचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरागतिः।

१२ दूषणाद्दोषा (शार्ङ्गधर)

१३ वायु' पित्त कफश्चोक्त शारीरो दोष सग्रह।
मानस पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥ (च० सू० १।५७)

१४ (अ) पक्वाशय तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वन्हिना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायु स्यात्कटुभावत॥ (च०चि० १५।११)
(आ) पक्वात्मा वायु. कोष्ठे प्रादुर्भवति। (अ० स० शा० ५)

१५ (अ) अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रस्य प्रपाकत.।
मधुराद्यात् कफोभावात् फेनभूत उदीर्यते॥ (च० चि० १५।९)
(आ) रसस्य तु कफो (च० चि० १५।१७')

१६. (अ) पर तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥ (च० चि० १५ १०)
(आ) असृज पित्त (च० चि० १५।१८)

१७ च० सू० २८।४

१८. अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः (च० सू० १२।११)

१९. .. .. पक्वामाशयमध्यस्थम्।
पचभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात्॥
त्यक्तद्रवत्व पाकादिकर्मणाऽनलसज्ञितम्।
पचत्यन्न विभजते सारकिट्टौ पृथक्तया॥
तत्रस्थमेव पित्ताना शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेव पाचक नाम तत्स्मृतम्॥ (अ० १०-

२० जाठरः प्राणिनामग्नि. काय इत्यभीयते।
यस्त चिकित्सेत सीदन्त स वै कायचिकित्सकः॥ (१

२१ (अ) भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः ।
पञ्चाहारगुणान्स्वान्स्वान् पार्थिवादीन्पचन्ति हि ॥
यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक् ।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषाश्च कृत्स्नशः ॥ (च० चि० १५।१३-१४)

(आ) जाठरेणाग्निना पूर्वं कृते सघातभेदे पश्चादभूताग्नयः पंच स्वं स्वं द्रव्य पचन्ति' इति । अयं च भूताग्निव्यापारो धातुष्वप्यस्ति, यतो धातुष्वपि पंचभूतानि सन्ति, तत्रापि धात्वाग्निव्यापारो भूताग्निव्यापारश्च जठराग्निक्रमेणोक्तो ज्ञेयः । (चक्रपाणिदत्त)

२२. सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः ।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् ॥ (च० चि० १५।१५)

२३ स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिताः ।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः ॥
पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम् ॥ (अ० हृ० सू० ११)

२४ घोरं अन्नविषं च तत् । (च० चि० १५।४६)

२५ यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः ।
दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च ॥ (मा० नि०)

२६. आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः ।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥ (अ० हृ० सू० १३।१७)

२७ दोषधातुमलादीनामूष्मा इत्यात्रेयशासनम् । (अ० हृ० शा० ३)

२८. मधुकोष, मा० नि० १।५)

२९ स्रोतांसि .लक्ष्यालक्ष्याणां शारीरधात्ववकाशानां नामानि भवन्ति ।
(च० वि० ५।९)

३० सर्वे हि भावा पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते क्षयं वाप्यभिगच्छन्ति । स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ।
(चि० वि० ५।३)

३१ अतिप्रवृत्तिः संगो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा ।
विमार्गगमनं चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् ॥ (च० वि० ५।२४)

३२. दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये उभये मलान् । (अ० हृ० सू० ११)

३३ प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनो ।
रसायनीः प्रपाद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ॥ (अ० हृ० नि० १।२४)

३४. व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥
क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद् रसः सज्जति यत्र स ।

५ जनंति जन्म। (चक्रपाणि)

६ (अ तस्माद् व्याधिजनकदोषव्यापारविशेषयुक्त व्याधिजन्मेह सम्प्राप्तिः।
(चक्र)
(आ) तस्माद् दोषेतिकर्त्तव्योपलक्षित व्याधिजन्म सप्राप्ति.।
(मधुकोषः)

७. आगतिर्हि उत्पादककारणस्य व्याधिजननपर्यन्त गमनम्। (चक्र)

८. असत्या च सप्राप्तौ पूर्वरूपादिप्रतीतस्यापि व्याधेश्चिकित्सोपयोगिनोऽशाशविकल्पनाबलकालादेरप्रतीतेश्चिकित्साविशेषो न स्यात्। (मधुकोष)

९ इय च सम्प्राप्ति र्व्याधिविशेष बोधयत्येव। (चक्र)

१०. सक्षेपत क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्।

११. सचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरागतिः।

१२. दूषणाद्दोषा (शार्ङ्गधर)

१३. वायु' पित्त कफश्चोक्त' शारीरो दोष सग्रह.।
मानस पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ (च० सू० १।५७)

१४ (अ) पक्वाशय तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वन्हिना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायु स्यात्कटुभावत ॥ (च०चि० १५।११)
(आ) पचात्मा वायु कोष्ठे प्रादुर्भवति। (अ० स० शा० ५)

१५ (अ) अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रस्य प्रपाकतः।
मधुराद्यात् कफोभावात् फेनभूत उदीर्यते ॥ (च० चि० १५।९)
(आ) रसस्य तु कफो (च० चि० १५।१८)

१६. (अ) परं तु पच्यमावस्था विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीयते ॥ (च० चि० १५ १०)
(आ) असृज पित्त (च० चि० १५।१८)

१७ च० सू० २८।४

१८ अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः (च० सू० १२।११)

१९. .... पक्वामाशयमध्यस्थम्।
पचभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात् ॥
त्यक्तद्रवत्व पाकादिकमणाऽनलसज्ञितम्।
पचत्यन्न विभजते सारकिट्टौ पृथक्तथा ॥
तत्रस्थमेव पित्ताना शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेन पाचक नाम तत्स्मृतम् ॥ (अ० हृ० सू० १२।१०-१२)

२० जाठरः प्राणिनामग्नि काय इत्यभीयते।
यस्त चिकित्सेत सीदन्त स वै कायचिकित्सक.॥ (वृद्ध भोज)

२१ (अ) भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः ।
पञ्चाहारगुणान्स्वान्स्वान् पार्थिवादीन्पचन्ति हि ॥
यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक् ।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥ (च० चि० १५।१३-१४)

(आ) जाठरेणाग्निना पूर्वं कृते संघातभेदे पश्चाद्भूताग्नयः पञ्च स्वं स्वं द्रव्यं पचन्ति' इति । अयं च भूताग्निव्यापारो धातुष्वप्यस्ति, यतो धातुष्वपि पञ्चभूतानि सन्ति, तत्रापि धात्वाग्निव्यापारो भूताग्निव्यापारश्च जठराग्निक्रमेणोक्तो ज्ञेयः । (चक्रपाणिदत्त)

२२. सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः ।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् ॥ (च० चि० १५।१५)

२३. स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संस्थिताः ।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः ॥
पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम् ॥ (अ० हृ० सू० ११)

२४ घोरं अन्नविषं च तत् । (च० चि० १५।४६)

२५. यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः ।
दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च ॥ (मा० नि०)

२६ आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः ।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥ (अ० हृ० सू० १३।१७)

२७ दोषधातुमलादीनामूष्मा इत्यात्रेयशासनम् । (अ० हृ० शा० ३)

२८. मधुकोष, मा० नि० १।५)

२९ स्रोतांसि . लक्ष्यालक्ष्याणां शारीरधात्ववकाशानां नामानि भवन्ति ।
(च० वि० ५।९)

३०. सर्वे हि भावा पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते क्षयं वाप्यभिगच्छन्ति । स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ।
(चि० वि० ५।३)

३१ अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा ।
विमार्गगमनं चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् ॥ (च० वि० ५।२४)

३२ दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये उभये मलान् । (अ० हृ० सू० ११)

३३ प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनी ।
रसायनीः प्रपाद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ॥ (अ० हृ० नि० १।२४)

३४. व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥
क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद् रसः सज्जति यत्र सः ।

करोति विकृतिं तत्र रेव वर्षमिव तोयद ॥
दोषाणामपि चैवम् स्यादेकदेशप्रकोपणम् ॥ (च० चि० १५।३६-३८)

३५　　संख्या स्याद् गणितम् (च० सू० २५)

३६.　　दोषाणां समवेतानां विकल्पोऽंशांशकल्पना । (वा०)

३७. १. अंश अंश प्रति बलमंशांशबल, तस्य विकल्प उत्कर्षापकर्षरूपोऽंशांशबल विकल्पः (चक्रपाणि)

२ दोषाणां समवेतानां एकस्मिन् व्याधौ संघट्टितानां या अंशांशकल्पना भागे भागेन कार्यानुमेयेन निरूपणा, स विकल्प । अंशश्चांशश्च अंशांशे, ताभ्यां कल्पनाऽनेकविधो विकल्प । (अरुणदत्त)

३ अंशा वातादिगतरौक्ष्यादय । तैरेकद्वयादिभि समस्तैर्वा वातादिकोपाव-धारण कल्पना (मधुको ष)

३८ १ स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् ॥ (वा०)

२. प्राधान्य पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यामुपलभ्यते । तत्र द्वयोस्तर, त्रिषु तम इति । (च० नि० १)

३९　　हेत्वादिकात्स्न्यावयवैर्बलाबलविशेषणम् । (वा०)

४०.　　नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम् ॥ (वा०)

४१.　　विधिर्नाम—द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन, त्रिविधास्त्रिदोषभेदेन, चतुर्विधा साध्यासाध्यमृदुदारुण भेदेन । (च० नि० १।१२)

४२　　विधिसंख्ययोश्चायं भेद'—विधिर्हि प्रकार, स चाभिन्नजातीयनामेव कस्य-चिद्धर्मान्तरस्यान्वयाद्भवति, यथा—रक्तपित्तत्वाविशेषेप्यूर्ध्वगादिप्रकाशे भवति; संख्या तु भिन्नत्वमात्रेऽपि यथा—चत्वारो घटा, अष्टौ ज्वरा इति । (वाप्यचन्द्र)

४३　　च० चि० ४।११ की टीका मे चक्रपाणि का मत ।

आयुर्वेदीय निदान सरणी

लेखक आयुर्वेदाचार्य श्री कृष्णदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य, मकराना (राज)

[स्वनामधन्य दाधीच (ब्राह्मण) पण्डित कृष्णदत्तजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, साहित्याचार्य, विद्यार्णव राजस्थान के प्रमुख विद्वानों में है। मानवीय करुणा, स्वभाव में शौकीनपन और सादगी का एक विचित्र समन्वय विद्यमान है। श्री शास्त्रीजी का आयुर्वेदीय निदान सरणी मननीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आरोग्यपूर्ण जीवन प्राणी जगत् की प्रथमेषणा है। जीवन की साधना का एकमात्र कारण आरोग्य ही है। 'धर्मार्थ काम मोक्षाणा मारोग्यमूलमुत्तमम्' (चरक सू०) जिस राष्ट्र का आरोग्य पक्ष उन्नत होता है वह राष्ट्र ही जीवित राष्ट्र कहलाने का अधिकारी है। यही कारण है कि सृष्टिसर्गारंभ से ही आज तक धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि सभी पक्ष एक स्वर से स्वस्थ जीवन का महत्व स्वीकार करते आये हैं।

आरोग्य रक्षा के उपाय एव विकृत स्वास्थ्य की चिकित्सा तथा आजीवन स्वस्थ बने रहने के तत्वो का निर्देशन ही चिकित्सा शास्त्र का मूल विषय है।

हमारे देश मे प्रचलित अन्य चिकित्सा पद्धतियो मे रोगी होने के बाद रोगी जीवन आराम से कैसे बिताया जा सकता है इसका व्याख्यान जितना विस्तृत हुआ है उसके विपरीत रोगी जीवन के कारणो को जान कर उनको निर्मूल करके जीवन को सदा के लिये स्वस्थ और सुखमय कैसे बनाया जा सकता है इसकी व्याख्या हमको आयुर्वेद मे ही मिलती है। इस शास्त्र मे उन मूलभूत रोगो के कारणो पर विचार किया गया है—जिनको जान लेने के बाद रोग मुक्ति या चिकित्सा सफलता निश्चित रहती है। रोग के मूलभूत कारणो का बिना ज्ञान किये चिकित्सा करने की प्रथा को पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली से बहुत प्रश्रय प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि आज के चिकित्सको का एक बडा भाग निदानज्ञता से दूर हटता जा रहा है और वह उस बागवान की तरह रोगो के उपद्रवो की केवल लाक्षणिक चिकित्सा द्वारा कलम करके उनको दृढमूल करने का दोषी बन रहा है।

आज की निरतर बढती हुई रोगी सख्या क्या इस दोषपूर्ण चिकित्सा पद्धत्ति की परिचायिका नही है? महान दुख का विषय है कि 'कामये दु ख तप्तानाम् प्राणिनामार्ति

नाशनम्' की निष्काम भावना से प्राणी जगत को स्वास्थ्य समर्पण करने के पवित्र कर्तव्य को आज पेइन्ग बिजनेस (Paying Business) यानी सपन्न व्यवसाय का रूप दिया जा रहा है।

आज की चिकित्सा की असफलता का मूल कारण रोगो के कारणो की अनभिज्ञता ही है। रोगो के कारणो को जाने बिना उनका निर्मूलन सभव नही। इसीलिये 'लिन्ग ज्ञान पूर्विका ही चिकित्सा साध्या भवतीति' चक्रपाणी का मत माननीय है।

रोग परिचय के लिए विभिन्न चिकित्सा पद्धतियो मे अलग अलग मार्ग प्रचलित है। पर आयुर्वेद का रोग परिचय मार्ग पूर्ण प्रशस्त और सभी पद्धतियो के रोग परिचय मार्ग की उद्‌गम भूमि है, इसमे दो मत नही। यह अवश्य है कि कुछ पद्धतियो ने इस मार्ग के एक भाग को लेकर मार्ग को विकृत बना दिया है।

आयुर्वेद मे रोग विनिश्चय के विषय भेद से कई मार्ग निश्चित किये गये है, जिनमे ये पाच प्रकार मुख्य है। तस्योपलब्धिर्निदानपूर्वरुपलिन्गोपशयसप्राप्तित (च नि छ) के अनुसार निदान पूर्वरूप, रूप उपशय और सप्राप्ति शीर्षको मे विभक्त किये गये है। यह प्रकृति सिद्ध तथ्य है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नही होती। इसी प्रकार रोगोत्पत्ति मे भी यह मानकर चलना ही होगा कि बिना किन्ही कारणो के रोगरूपी कार्य की उत्पत्ति सभव नही है। यह केवल आयुर्वेदिक विचार ही नही वरन् ससार की सारी पद्धत्तियाँ एक-मत से इसे स्वीकार करती है। आयुर्वेद मे जहाँ दोष प्रकोप से रोगोत्पत्ति मानी है वहा अेलोपॅथी मे रोगोत्पत्ति की हेतुता जीवाणु एव जीवनीय तत्वो की कमी को तथा बायोकेमिक पद्धत्ति मे शरीर मे लवण की अनियमितता को मानी गई है। प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति और युनानी चिकित्सा पद्धतिया आयुर्वेद की अगभूत होने के कारण पथ्य विकार और दोष विकृति को ही रोगोत्पत्ति का कारण मानती है। आशय यह है कि सभी पद्धत्तिया रोग रूप कार्य मे किसी न किसी कारण को अवश्य अगीकार करती है। अेलोपॅथी पद्धत्ति मे जिस रोग की हेतुता से अभी तक अपरिचित है वहा यह स्पष्ट उल्लेख है कि (Aetiology is unknown) अर्थात कारण ज्ञात नही है। यदि वे कारण के बिना भी रोगोत्पत्ति के पक्ष मे होते तो यहा यह लिखा होता कि (There is no Aetiology of this disease) अर्थात कारण हीन रोगोत्पन्नि।

'निदानत्वादि कारण' सर्वेषामेवरोगाणा निदान कुपिता मला.।' के अनुसार चरक निदान को रोग विनिश्चय का प्रथम प्रकार मानता है। इसी निदान के प्रकारान्तर से सन्निकृष्ट (समीपवर्ती) विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) व्यभिचारी (दुर्बल हेतुता) और प्राधानिक (त्वरित प्रभावी) भेद से निदान के चार भेद किये गये है।

चरक मुनि ने इसी निदान को असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग, प्रज्ञापराध, परिणाम श्चेति भेदो से इन्द्रियो के हीन, अति और मिथ्या प्रयोग से, तथा मानसिक व्यापार की दूषित गति

से प्रज्ञापराध एवं ऋतुओं के स्वाभाविक शीत, उष्णादि गुणों की हीन और अति तथा मिथ्या योजना से तीन प्रकार स्वीकार किये हैं। इसी तरह दोषव्याधि, उभय हेतु, तथा उत्पादक, व्यंजक और व्याध्यारम्भक आदि भेद, रोग निश्चय करने में सहायक होने के कारण बताये गये हैं।

पूर्वरूप

भविष्य में होने वाली व्याधि के चिन्हों का दर्शन पूर्वरूप नाम से व्यवहृत है। "पूर्वरूप प्रागुत्पत्ति लक्षणम् व्याधे." स्थान संश्रयिणः क्रुद्धा भावी व्याधि प्रबोधकम् लिङ्ग कुर्वन्ति यद्दोषाः पूर्वरूप तदुच्यते" से भी स्पष्ट है कि होने वाली व्याधि का ज्ञान पूर्वरूप ज्ञान से सरल हो जाता है इस प्रकार के सामान्य और विशेष ये दो प्रकार व्याधि के साधारण और विशेष निर्देशों से उसकी साधारण और विशेष स्थिति की जानकारी के लिये किये गये हैं। इनके द्वारा भावी रोग का उग्र प्रकोप ज्ञान चिकित्सक और रोगी दोनों के लिये ही अत्यन्त आवश्यक है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान भी पूर्वरूप को प्रोड्रोमा (Prodrome) और उसके भेद आरा (Aura) नाम से स्थान दिये हुये हैं। अपस्मृति आदि अभिशाप प्रधान रोगों के भावी प्रभाव की जानकारी कर लेना इसी प्रकार विशेष का विषय है।

रूप—

"तदेव व्यक्तता यातरूप मित्यभिधीयते" पूर्वरूप ही व्यक्त होकर रूपशीर्षक बना लेता है। अर्थात् पूर्वरूप की दशा रोग चिन्ह, जब अपना प्रकट रूप धारण करते हैं तो उस स्थिति का नाम आयुर्वेदीय रोग निश्चय सरणी मे रूप कहा जाता है। प्रादूर्भूत लक्षण पुनिर्लिंगम्" इसीका पाश्चात्य चिकित्सक क्लिनिक पिक्चर (Clinic Picture) के नाम से स्वीकार करते हैं। सम्प्राप्ति की स्थिति से ज्वर ज्ञान, और अतिसार रोग का ज्ञान ज्वर और अतिसार रोग का रूपज्ञान होगा। रूपज्ञान से रोग की साध्यासाध्य स्थिति का ज्ञान हो जाने के कारण यह प्रकार रोग विनिश्चय मे महत्ता रखता है।

उपशय—

कभी २ कुछ व्याधियां अपने लक्षणों की गूढता से निदान से निदान पूर्वरूप एवं रूप से भी जब ज्ञेय नहीं हो पाती ऐसी दशा मे रोगज्ञता के लिए उपयश नामक रोग विनिश्चय प्रकार का अवलबन होता है। "गूढलिङ्गम् व्याधिपुपशयानुपशयाभ्यापरीक्षेत" च वि० अ० स० ४) हेतु और व्याधि के विपरीत स्वभाव वाले औषध अन्न तथा विहार का सुखकर प्रयोग ही उपशय कहलाता है। पाश्चात्य जगत भी रोग की सफल चिकित्सा से, रोग के कारण ज्ञान को महत्त्व देता है। क्विनाइन से ठीक होने वाले ज्वर को शीत ज्वर की सज्ञा देना इस ज्वर के कारण ज्ञान में उपशय है। (Response to any particular Specific

Treatment may be indicating to diagnosis) उपशय की तरह अनुपशय भी रोग-विनिश्चय मे इस प्रकार है।

सप्राप्ति

कुपित दोष शरीर मे किस प्रकार के देह के कौन से भाग में, किस व्याधि को उत्पन्न करेंगे, इसका ज्ञान हम सप्राप्ति नामक रोग विनिश्चय प्रकार से जान सकते हैं। यह सख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल और काल की विशेषताओ से ५ प्रकार की होती है।

व्याधि भेद से आगतुक जनपदोध्वशी व्याधियो के मूल हेतु भी हमारे महर्षियो की दृष्टि से ओझल नही रहे हैं। "सर्वेषामप्यग्निवेश? वाय्वादिनावैगुण्यमूलमतस्यमूलमधर्म ।" (च० वि० ३) यह लिखकर जनपदोध्वसादि व्याधियो के मूल कारण अधर्माचरणो को माना है। रोग विनिश्चय मे आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, और अनुमान इन ३ प्रमाणो का भी मूल्यवान् स्थान है। प्रत्यक्ष प्रमाण से चिकित्सक श्रवणादि इन्द्रियो द्वारा रोग का ज्ञान कर सकता है। इसी तरह मुखस्वारस्यादिका ज्ञान भी किया जाता है। जिसका निर्देश "प्रत्यक्षत स्तुखलु रोग तत्व बुभूत्सुः सर्वेन्द्रियैसर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरी रगान् परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात् च० वि ४४) अति स्पष्ट है।

रोग विनिश्चय के लिए आधुनिक विज्ञान आयुर्वेद के "पचभिः श्रवणादिभिः प्रश्ने न च" के प्रकार का पूर्णत अवलबन लिए हुए है परन्तु दोष, धातु, मात्रादि के स्तर एव सचय प्रकोप प्रसारादि के सम्यक ज्ञान के बिना वह पूर्ण लाभ उठाने मे असमर्थ रहा है। श्रवणादि इन्द्रयो से विषयो की जानकारी की परिवृद्धि के लिए इस विज्ञान ने सहयोगी यत्रो का आविष्कार किया है, जिनसे रोगो की अशाश स्थिति की जानकारी हो सके। इनका किसी न किसी रूप मे हमारे पूर्वज भी रोग निश्चय के लिये प्रयोग करते रहे हैं या उनकी इन्द्रियातीत शक्ति ने इनकी आवश्यकता ही नही समझी हो पर यह प्रकट सत्य है कि इनसे भी कही उत्कृष्ट रोग विनिश्चय के साधन भारतीय चिकित्सको के पास रहे हैं जिनसे साधन-सपन्न माने जाने वाले इस विज्ञान से भी जिन रोगो का निश्चय अभी तक नही हो पाया है उनको वे वर्षो पूर्व ही कर सके। आज का श्रवण यत्र (Sthethiscope) हमारे आचार्यो द्वारा व्यवहार मे ली जाने वाली उन कनक नलिकाओ का ही परिष्कृत रूप है जो रोगी के हृदय तथा ध्वनिपूर्ण स्थान की अवगति के लिए उपयोग मे लाई जाती थी। अणुवीक्षण (Microscope) एक्सरे (X ray) आदि का आविष्कार आचार्यों की सूक्ष्मदर्शन शक्ति, जो आज मानव जगत मे क्षीण हो चुकी है "की पूर्ति के लिये नितात आवश्यक सिद्ध हो रहा है। मान[illegible]
आविष्कारो से परीक्षित रोगो के विषय अभी भी कई बार सदेहास्पद सिद्ध हो चुके
हमे आर्यों के निर्णीत मतो को भुलाकर केवल नवीन आविष्कारो की चकाचौध मे
कर इनको आवश्यक सहयोगी उपकरणो के रूप मे अगीकार करना चाहिये।

मलमूत्ररस रक्तादि धातुओ की शुद्धाशुद्ध स्थितिज्ञता के लिये आज की परीक्षण पद्धति हमारे यहा मिलने वाली पद्धतियो से भिन्न है। परन्तु इनमे से वे भाग जो यहा लुप्त हैं अथवा हमारी पद्धति को प्रगति का रूप दे सकते हो स्वीकार किये जाने चाहिये।

रोग विनिश्चय मे आयुर्वेद का नाडी विज्ञान अपना विशेष महत्व रखता है। नाडी की गति से रक्त परिभ्रमण व हृदय के दुष्प्रभावो का ज्ञान करना, आज का विज्ञान वैसा ही मानता है जैसा हमारे पूर्वज मानते आये हैं—'पचभिश्रवणादिभिप्रश्नेन च' के द्वारा रोग विज्ञता मे आयुर्वेदिक चिकित्सा विज्ञान, आयुर्वेद से सहमत होते हुये भी वास्तविक रोग की जानकारी प्राप्त करने की पद्धति मे बहुत भिन्नता रखता है। उपरोक्त परीक्षण मार्ग से पाश्चात्य चिकित्सक जहाँ केवल कीटाणु स्थिति एव शरीर के जीवनीय तत्वो के ह्रास वृद्धि-मत्ता का ज्ञान कर पाते हैं, वहा आयुर्वेदिक प्रणाली से शरीर के प्रत्येक अश के विकारा-विकार, आगिक विकारविमर्श तथा शरीर-निर्मापक मूलभूत तत्वो के विकृति ज्ञान को भी कर लेते हैं। दोष धातु मलादिक के परिवर्तन की अशांश कल्पना से रोग के मूल तक पहुँचने मे सफल होना ही, रोग को निर्मूल करने मे सफलता प्राप्त करना है। पाश्चात्य चिकित्सक दोष ज्ञान के अभाव मे केवल निदान तक पहुचकर रोगो के लक्षण मात्र की चिकित्सा कर पाता है, रोगो को मूलत निर्मूल कर देना इस पद्धति के सामर्थ्य के बाहर है।

इस प्रकार रोग विनिश्चय के उत्तम प्रकार, जो कभी चिकित्सा पद्धतियो को किसी न किसी रूप मे आयुर्वेद से ही प्राप्त हुये हैं यह हमारे ऋषि मुनियो की ससार को अमर देन है। इसका विकास, इसकी नवीनतम व्याख्यायें करके ससार को रोग मुक्ति दिलवाने मे आयुर्वेद को प्राथमिकता दिलवाना, आयुर्वेद शास्त्रियो का मुख्य कर्तव्य है।

आज वैज्ञानिक परीक्षणो से प्रकृति मे जो विकार हो रहे हैं और उनको हमारे आहार विहार पर होने वाले दुष्प्रभावो से जिन रूपान्तरित रोगो की उत्पत्ति हो रही है, उसके उन्मूलन के लिये हमारे निदान के प्रकारों की व्याख्यायें भी स्पष्ट व परिष्कृत करने की आवश्यकता है। मलमूत्र, रक्त, एव अतर्व्रणो के परीक्षण हेतु हमे या तो हमारे पुरातन साधनो को प्रबुद्ध करना होगा या हम आधुनिक इन साधनो की स्वीकृति के लिये तैयार हो।

प्रति सस्कार की दृष्टि से आज के प्रचलित कीटाणुवाद के सिद्धान्त के सत्याशो का रोग विनिश्चति प्रकार मे स्वीकार किया जाना बुरा नही है। क्योकि यह सब हमारे उस अगाध आयुर्वेद शास्त्र का ही एक श्रोत है जो एक दिशा में अपना प्रवाह बनाये हुये हैं।

इस प्रकार आयुर्वेदीय रोगविनश्चय सरणी के उक्त प्रकारो को रोगो की हेतुजता के लिए आधारभूत तत्व मानकर किये गये हमारे नवीन प्रयत्न अवश्य सफल होगे।

Treatment may be indicating to diagnosis) उपशय की तरह अनुपशय भी रोग-विनिश्चय मे इस प्रकार है।

सम्प्राप्ति

कुपित दोष शरीर मे किस प्रकार के देह के कौन से भाग में, किस व्याधि को उत्पन्न करेंगे, इसका ज्ञान हम सम्प्राप्ति नामक रोग विनिश्चय प्रकार से जान सकते है। यह संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल और काल की विशेषताओ से ५ प्रकार की होती है।

व्याधि भेद से आगतुक जनपदोध्वशी व्याधियो के मूल हेतु भी हमारे महर्षियो की दृष्टि से ओझल नही रहे हैं। "सर्वेषामप्यग्निवेश?वाय्वादिनावैगुण्यमूलम्तस्यमूलमधर्म ।" (च० वि० ३) यह लिखकर जनपदोध्वसादि व्याधियो के मूल कारण अधर्माचरणो को माना है। रोग विनिश्चय मे आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, और अनुमान इन ३ प्रमाणो का भी मूल्य-वान् स्थान है। प्रत्यक्ष प्रमाण से चिकित्सक श्रवणादि इन्द्रियो द्वारा रोग का ज्ञान कर सकता है। इसी तरह मुखस्वारस्यादिका ज्ञान भी किया जाता है। जिसका निर्देश "प्रत्यक्षत स्तुखलु रोग तत्व बुभूत्सुः सर्वेन्द्रियैसर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरी रगान् परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात् च० वि ४४) अति स्पष्ट है।

रोग विनिश्चय के लिए आधुनिक विज्ञान आयुर्वेद के "पचभिः श्रवणादिभिः प्रश्ने न च" के प्रकार का पूर्णत. अवलबन लिए हुए है परन्तु दोष, धातु, मात्रादि के स्तर एव सचय प्रकोप प्रसारादि के सम्यक ज्ञान के बिना वह पूर्ण लाभ उठाने मे असमर्थ रहा है। श्रवणादि इन्द्रयो से विषयो की जानकारी की परिवृद्धि के लिए इस विज्ञान ने सहयोगी यत्रो का आविष्कार किया है, जिनसे रोगो की अशाश स्थिति की जानकारी हो सके। इनका किसी न किसी रूप मे हमारे पूर्वज भी रोग निश्चय के लिये प्रयोग करते रहे हैं या उनकी इन्द्रिया-तीत शक्ति ने इनकी आवश्यकता ही नही समझी हो पर यह प्रकट सत्य है कि इनसे भी कही उत्कृष्ट रोग विनिश्चय के साधन भारतीय चिकित्सको के पास रहे हैं जिनसे साधन-सपन्न माने जाने वाले इस विज्ञान से भी जिन रोगो का निश्चय अभी तक नही हो पाया है उनको वे वर्षो पूर्व ही कर सके। आज का श्रवण यत्र (Stethiscope) हमारे आचार्यों द्वारा व्यव-हार मे ली जाने वाली उन कनक नलिकाओ का ही परिष्कृत रूप है जो रोगी के हृदय तथा ध्वनिपूर्ण स्थान की अवगति के लिए उपयोग मे लाई जाती थी। अणुवीक्षण (Microscope) एक्सरे (X ray) आदि का आविष्कार आचार्यो की सूक्ष्मदर्शन शक्ति, जो आज मानव जगत मे क्षीण हो चुकी है "को पूर्ति के लिये नितात आवश्यक सिद्ध हो रहा है। मानवकृत आविष्कारो से परीक्षित रोगो के विषय अभी भी कई बार सदेहास्पद सिद्ध हो चुके हैं अतः हमे आर्यो के निर्णीत मतो को भुलाकर केवल नवीन आविष्कारो की चकाचौंध मे नही पड़ कर इनको आवश्यक सहयोगी उपकरणो के रूप मे अगीकार करना चाहिये।

मलमूत्ररस रक्तादि धातुश्रो की शुद्धाशुद्ध स्थितिज्ञता के लिये आज की परीक्षण पद्धति हमारे यहा मिलने वाली पद्धत्तियो से भिन्न है। परन्तु इनमे से वे भाग जो यहा लुप्त हैं अथवा हमारी पद्धत्ति को प्रगति का रूप दे सकते हो स्वीकार किये जाने चाहिये।

रोग विनिश्चय मे आयुर्वेद का नाडी विज्ञान अपना विशेष महत्व रखता है। नाडी की गति से रक्त परिभ्रमण व हृदय के दुष्प्रभावो का ज्ञान करना, आज का विज्ञान वैसा ही मानता है जैसा हमारे पूर्वज मानते आये हैं—'पचभिश्रवणादिभिप्रश्नेन च' के द्वारा रोग विज्ञता मे आयुर्वेदिक चिकित्सा विज्ञान, आयुर्वेद से सहमत होते हुये भी वास्तविक रोग की जानकारी प्राप्त करने की पद्धत्ति मे बहुत भिन्नता रखता है। उपरोक्त परीक्षण मार्ग से पाश्चात्य चिकित्सक जहाँ केवल कीटाणु स्थिति एव शरीर के जीवनीय तत्वो के ह्रास वृद्धि-मत्ता का ज्ञान कर पाते हैं, वहा आयुर्वेदिक प्रणाली से शरीर के प्रत्येक अश के विकारा-विकार, आगिक विकारविमर्श तथा शरीर-निर्मापक मूलभूत तत्वो के विकृति ज्ञान को भी कर लेते हैं। दोष धातु मलादिक के परिवर्तन की अशाश कल्पना से रोग के मूल तक पहुँचने मे सफल होना ही, रोग को निर्मूल करने मे सफलता प्राप्त करना है। पाश्चात्य चिकित्सक दोष ज्ञान के अभाव मे केवल निदान तक पहुचकर रोगो के लक्षण मात्र की चिकित्सा कर पाता है, रोगो को मूलत निर्मूल कर देना इस पद्धति के सामर्थ्य के बाहर है।

इस प्रकार रोग विनिश्चय के उत्तम प्रकार, जो कभी चिकित्सा पद्धतियो को किसी न किसी रूप मे आयुर्वेद से ही प्राप्त हुये हैं यह हमारे ऋषि मुनियो की ससार को अमर देन है। इसका विकास, इसकी नवीनतम व्याख्यायें करके ससार को रोग मुक्ति दिलवाने मे आयुर्वेद को प्राथमिकता दिलवाना, आयुर्वेद शास्त्रियो का मुख्य कर्तव्य है।

आज वैज्ञानिक परीक्षणो से प्रकृति मे जो विकार हो रहे हैं और उनको हमारे आहार विहार पर होने वाले दुष्प्रभावो से जिन रूपान्तरित रोगो की उत्पत्ति हो रही है, उसके उन्मूलन के लिये हमारे निदान के प्रकारो की व्याख्यायें भी स्पष्ट व परिष्कृत करने की आवश्यकता है। मलमूत्र, रक्त, एव अतर्वणो के परीक्षण हेतु हमे या तो हमारे पुरातन साधनो को प्रबुद्ध करना होगा या हम आधुनिक इन साधनो की स्वीकृति के लिये तैयार हो।

प्रति सस्कार की दृष्टि से आज के प्रचलित कीटाणुवाद के सिद्धान्त के सत्यांशो का रोग विनिश्चति प्रकार मे स्वीकार किया जाना बुरा नही है। क्योकि यह सब हमारे उस अगाध आयुर्वेद शास्त्र का ही एक श्रोत है जो एक दिशा में अपना प्रवाह बनाये हुये हैं।

इस प्रकार आयुर्वेदीय रोगविनश्चय सरणी के उक्त प्रकारो को रोगो की हेतुज्ञता के लिए आधारभूत तत्व मानकर किये गये हमारे नवीन प्रयत्न अवश्य सफल होगे।

शिशु जन्म

लेखिका . शकुन्तला आचार्य, वैद्यविशारद, विद्याविनोदिनी, भाषारत्न

[सौ० श्रीमती शकुन्तला आचार्य श्री हरिशङ्करजी आचार्य की सहधर्मिणी है। आप चरित्रनायक की आयुर्वेदीय प्रशिष्या हैं। आपने 'शिशु जन्म' पर छात्रोपयोगी लेख लिखा है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

जन्म के पश्चात् शिशु का पालन, धात्री के गुणदोष, तथा धात्री का क्षीर परीक्षण। यदि क्षीरदोष हो तो सशोधन, दूषित दूध के पीने से कौन २ से रोग हो जाते हैं, तथा उनकी चिकित्सा इसके साथ ही ग्रहदोषो से पैदा होने वाले विकार और चिकित्सा तथा बालरोग आदि का वर्णन जहा किया जाय उसे कौमार भृत्य कहते हैं। आयुर्वेद के आठ अगो मे एक अग यह भी है।

शिशु के जन्म होते ही उसके कान के पास शब्द करना, शीतोदक या उष्णोदक से परिषेक कर नाडी सस्थान को क्रियाशील बनाए जिससे कि उसका जीवन व्यापार प्रारम्भ हो जाय। फिर रूई का प्लोत लेकर जीभ, कण्ठ, ओष्ठ व देह का शोधन करे।

जातमात्र विशोध्योल्बाद् बाल सैधव सर्पिषा।
प्रसूतिक्लेशित चानु बलातैलेन सेचयेत्।

बलातैल से सेचन तथा क्षीरो वृक्ष कषाय सर्वगन्धोदक, रुप्य हेम प्रतप्त जल से स्नान अवगाहन कराए। फिर नर्म तौलिये से सुखा नर्म शय्या पर पूर्व दिशा मे सिर कर सुला कर रक्षोघ्न द्रव्यो से धूपित तथा कुछ द्रव्य वज, तिल, अलसी, सरसो चारो ओर बिखेर दे, सूतिकागार को उष्ण रखे तथा शिर पर तैलपिचु प्रतिदिन रखे।

घर मे स्तुति, शान्तिपाठ, गीत आदि मगलाचार करें। कि दुग्धवह स्रोतो का मुख प्रजाता के तीन या चार दिन वाद खुलने से दूध प्रवृति होती है अतः प्रथम दिन मधुसर्पि-मन्त्र पवित्रित, दूसर दिन लक्ष्मणासिद्धसर्पि, ऐसे ही तृतीय दिन, इसके वाद प्रथम दूध को निकाल कर वाद मे स्तन पान कराए।

दस रात्रि बीतने पर ग्यारहवें दिन सर्वंगधौषध व गौरसर्षप सिद्ध जल से शिशु सहित प्रसूता को स्नान करा पवित्र वस्त्र तथा पवित्र आभूषण धारण कर शिशु के नक्षत्र देवता की पूजा कर शिशु को भी पवित्र वस्त्र पहिना स्वस्तिवाचन मंगलाचरण कराने के बाद नक्षत्र नाम तथा अभिप्रायिक नामकरण की योजना करे। फिर शरीर अवयव तथा उपांगो से शिशु की आयु-परीक्षा कर कुमारागार मे सुखकारी मृदु शुद्ध शय्या पर सुला कर रक्षा विधान करे। मणि, शृग का अग्र भाग जीवक ऋषभक आदि द्रव्य तथा घोषवन्त सुन्दर, लघु मुख मे नही आने योग्य सौम्य खिलौने रखे।

शिशुपालन–

बच्चे को नही डराए, न झिडके, अचानक न जगाए, अचानक न ले, न फेंके, न बैठाए, अपितु वात्सल्य के साथ सैकडो प्रिय वस्तुओ से प्रसन्न मन बनाए रखे। अधिक वायु, धूप बिजली की रोशनी, वृक्ष, लता, शून्य स्थान, निम्नस्थान ग्रहच्छाया आदि से रक्षा करे। छठे माह मे अच्छा दिन देख कर पवित्र स्थान मे उपवेशन (बैठाना) शुरू करे। बैठाना शनै २ बढाए तथा मिट्टी से ध्यान रखा जाए।

धात्री–

समानवर्ण, जवान विनीत, नीरोग व्यग, व्यसन, रहित, समान देश की, न लम्बी, न ही ठिंगणी, पुत्रवती, अधिक दूध वाली, क्रियाशील, चरित्रवान्, दक्ष, पवित्र, अच्छे स्तन व दूध वाली रखे।

मातुरेवपिबेत्स्तन्य तत्पर देहवृद्धये।
रक्षत्येव सुत माता नान्य पोष्टा विधानत ॥

स्तनसपत्–

जो न लम्बे, न कृश, न मोटे, न ऊँचे, युक्तचूचुक हो, बच्चे को स्तन देने के पूर्व थोडा दूध निकाल लें। यदि उन पर स्वेद व मल हो तो धोकर पिलाए।

दुग्ध की अधिकता होने पर दुग्धाकर्षकयन्त्र से निर्दोहन करे तथा इमली के पत्ते (पुटपक्व) तथा ताम्बूलपत्र कपूर लगा कर बाधे। ½ रत्ती की अल्पमात्रा मे उदर मे भी प्रयोग करना चाहिये।

शिशु के मनोविज्ञान को जानना, स्वच्छताप्रिय, स्वास्थ्य रक्षा का ज्ञान, आहारव औषधिद्रव्यो का सक्षिप्त ज्ञान, प्रत्युत्पन्नमतित्व, मर्यादित प्रेमवाली व ब्रह्मचारिणी धात्री के गुण हैं।

स्तन्यनाश दूध की कमी–

क्रोध, शोक, वात्सल्य की न्यूनता, रुक्ष अन्नपान, अपतर्पण काम, आयास, भय तथा गर्भधारण से दूध कम हो जाता है।

उपाय—

सौमनस्य बनाए रखना, तथा उशीर, दर्भ, शालि, कुश, षष्टिक, काश, इक्षु, गुन्द्रा, शर आदि के मूल से सिद्ध दूध पिलाए। खिचड़ी, दलिया तथा सौभाग्य शुण्ठी पाक आदि का प्रयोग करे।

दुग्ध परीक्षा—

जो दूध पानी मे सत्वर मिल जाए तथा उसमे किसी भी प्रकार का वर्ण न रहे तथा मधुर रस वाला उत्तम है।

स्त्री दुग्ध के गुण—

जीवन, बृंहण, सात्म्य, स्निग्ध, स्थैर्यंकर, शीतल, चक्षुष्य, बल्य, लघु, दीपन, पथ्य, पाचन रोचन गुण वाला है। स्त्री दुग्ध के अभाव मे बकरी का या गाय का दूध दे।

क्षीर-दोष आठ हैं—

विवर्णता, विगन्धता (पित्त), विरसता, फेनाधिक्य, रुक्षता (वायु), गुरुता, अतिस्निग्धता, पिच्छिलता (कफ)।

क्षीरदोष के कारण—

गुरु, विषम आदि मिथ्याहार विहार से दोष कुपित होकर दूध को दूषित करते है।

पास
कर
का
येत

वात दुष्ट दुग्ध से—

कृश, दुबलस्वर, मलबद्धता आध्मान बलह्रास रहता है।

पित्त दुष्ट दुग्ध से—

बच्चे की विवर्णता, तृषाधिक्य, मलभेद, उष्णशरीर होता है।

कफ दुष्ट दुग्ध से—

वमन, लालास्राव, निद्राक्लम, श्वास, कास, कफ प्रसेक रहता है।

स्तन्य दोषो का विनिश्चय कर वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन आदि उपकर्मो से सशोधन कर पाठा, सोठ, देवदारु, नागरमोथा, मूर्वा, गिलोय, इन्द्रजव, कुटक, चिरायता, अनन्तमूल का कषाय या वचादिगण व हरिद्रादिगण, मुस्तादिगण का कषाय पिलायें। पथ्य आहार दें।

पथ्य—

शालि, पष्टि चावल, श्यामा, प्रियगु, जव।

शाक—

वश, वेत्र, कलाय, दाल, मूग, मसूर।

कुलत्थ, मांस

शश, कपिंजल, एण आदि दें।

इनके अभाव मे या अत्यावश्यक होने पर परिशुष्क दुग्ध Dried Milk या घनीकृत condensed Milk का प्रयोग किया जा सकता है।

स्तन कीलक—

यह रोग स्तन्यवहस्त्रोतो मे (वज्र द्रव्यो के निक्षेप से स्तम्भ, सरम्भ शोथ, शूल दाह पाकादि उत्पन्न कर देते हैं—इसमे स्नेहन, निर्दोहन, मर्दन, सेक, प्रलेप रेचनादि क्रियाए अपक्वावस्था मे तथा पाक होने पर विद्रधिवत् पाटन शोधन रोपण करे।

स्तन की रचना मे बताया गया है कि ग्रन्थियो से दुग्धहारिणी चूचुक मे आती है, इन अवकाशो मे यौवनागम मे वसा सचित होती है जिसमे ऋतु चक्र भी प्रभावी होता है परन्तु गर्भावस्था मे डिम्बग्रन्थि, पीताण्ड व पोषणिका के अत स्रावो से इनकी विशेष पुष्टि हो जाती है जो कि प्रसवोपरान्त दूध की प्रवृत्तिकर होता है।

शिशु के जन्म के बाद कुछ थोड़ा भार घटता है परन्तु १५ दिन में उसका भार ७ पोन्ड हो जाता है। इसके बाद ४' से ६ ओन्स प्रति सप्ताह के हिसाब से ६ माह तक बढता है। यह उसके आहार के पचन होने मे निर्भर है।

जन्म के ६ से ८ घन्टे बाद स्तनपान कराए फिर प्रति तीन घन्टे से, पहले दिन १-१ मिनट परन्तु एक सप्ताह मे १० मिनट व प्रति तीन घन्टे से रात्रि मे २ बार तथा यह ध्यान रखे दूध पीने मे शिशु को कष्ट न होवे, तथा नासा मार्ग खुला रहे, साथ ही शिशु को ३-४ बार थपाथपा दें जिससे उसकी उद्गार शुद्धि हो जाय

दुग्ध की मात्राधिक्य से उदरशूल अतिसार, रात्रि मे बेचैनी, वमन आदि लक्षण हो जाते हैं तथा स्वल्पता से निबन्ध, भार की कमी, होती जाती है। ऐसी स्थिति मे ऊपर का दूध दें। यदि गौ दुग्ध देना हो तो दूध ३ औन्स जल १ ओन्स शर्करा १½ चम्मच इसे एक मुखी या दुमुखी बोतल मे डाल चूषणी लगा कर प्रयोग करे। इसे प्रति दिन स्वच्छ रखे। ब्रुस से साफ करे। चूषणी बडी रखें। इसका छिद्र छोटा हो जिससे कि चूसने मे १० मिनिट का समय लग सके। ऋतु के अनुसार दूध की उष्णता रखें। या सर्वदा गर्म किया दूध ही प्रयोग में लाए।

अन्नप्राशन—

छ माह के बाद दूध के साथ दिन में १ बार दलिया, यूष आदि दें।

शिशु का भार—

जिन शिशुओ का भ्रूणावस्था में सम्यक् पोषण नही होता या जिनका प्रसव समय से पूर्व हो जाता है अथवा बीज दोष है तो उनका भार ठीक नही होता अर्थात् २½ किलो

भार से कम का शिशु अपूर्ण शिशु तथा इससे अधिक भार होने पर व लम्बाई २० इन्च हो तो पूर्ण शिशु कहलाता है।

अपूर्ण शिशु The premature ingant में लम्बाई कम, उपत्वचागत स्नेह की न्यूनता से झुरियायुक्त प्रारम्भ में लाल परन्तु कुछ दिन बाद पीलीसी रोमयुक्त, दुर्बल स्वर, तापन न्यून, शोथयुक्त होते हैं।

असाध्यावस्था-

भाराल्पता, अस्थाई, तापक्रम, श्यामवर्णता, गर्भविषमयता, से उत्पन्न अपूर्ण शिशु असाध्य है।

साध्यता-

बड़ी आकृति, स्थाई तापक्रम पर्याप्त दूध पीने मे समर्थता, स्वास्थ्य मे सुधार होते रहने पर साध्यता कही जाती है।

अपूर्ण शिशु की चिकित्सा के बारे में याद रखने योग्य—

(१) शिशु को जन्म स्थान पर ही रखा जाय, (२) अत्यावश्यक होने पर मातृ मन्दिर भेज दिया जाय, (३) शीत से रक्षा, तथा शिशु के उष्णता की जांच, तथा द्रव की पूर्ति बनाये रखना, तथा धीरे २ स्नान तथा प्रत्येक उपसर्ग से बचाव करना। तथा ऐसे शिशुओ को बोतल पर लगी चूषणी (ब्रेक फीडर) द्वारा दूध का प्रयोग करें। यदि निगलने की भी शक्ति का अभाव हो तो नलिका पोषण का आश्रय लें। साथ ही दुग्ध मे जल मिलाकर दें तथा इसकी मात्रा का निर्धारण करे। ¹ ड्राम से १$\frac{1}{2}$ तोले तक प्रति घटे या २ घटे बाद दिया जा सकता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर मात्रा आवश्यकतानुसार बढाते रहें।

बच्चों के ग्रह

ले० वैद्य प्रेमसुन्दर यति

[स्वनामधन्य वैद्यरत्न, आयुर्वेदकेशरी श्री प्रेमसुन्दरजी फलोदी निवासी, जीवन के प्रत्येक पहलू से सासारिक पदार्थों का रसास्वादन करते हुए, जल में कमलवत् रहने वाले, यतिवर्य वैद्यराज श्री चरित्रनायक के आयुर्वेदीय शिष्य हैं। आपने 'बच्चों के ग्रह' पर पठनीय लेख लिखा है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

भगवान् शकर ने कार्तिकेय की रक्षा के लिए स्त्रीविग्रह ७ तथा पुरुष-विग्रह ५ ग्रह बनाये जो माता या धात्री के अपथ्य उपचार के सेवन से तथा मूत्र पुरीष आदि मलो की शुद्धि न करने से स्वस्तिक तथा मगलाचार, रक्षा विधान आदि के न करने से ये ग्रह शिशु तथा शिशु के अभिभावको को उद्विग्न, विभीषिका तथा अपनी पूजा के लिये कुमार या कन्याओ पर आक्रमण करते हैं।

ग्रहोपसृष्ट शिशु मे सतत रोदन ज्वर, रुपमुन्त्रास, जृम्भा, भवे गिरना दीनता, फेनवमन, ऊर्ध्वदृष्टि, ओष्ठ-दशन, निद्रानाश, स्तन्यद्वेष, स्वर-विकार, क्षण क्षण मे उद्वेजन व रोदन, क्षाम, शूनता, विड्भेद, रक्त-मास मत्स्य, खटमल की तरह गन्ध, दुर्वलता तथा सज्ञानाश आदि रहते हैं। इनका पृथक २ ज्ञान के लिए—

नामग्रह	लक्षण		परिपेचन	अभ्यंग	क्षीर, सर्पि	धूपन	औषधिधारण	रक्तमाला	लेप
१ स्कन्द	रक्त वसा गन्धी, स्वेदस्त्राव, मुखवक्रता, स्तनद्वेष उद्विग्नता, दन्तरवादन, विस्वर, गाढवर्च, शिरोविक्षप,अङ्गस्तब्धता,कम्पन	In & antile Hemiplegia	एरण्डपत्र, बिल्व रास्ना पत्र से	बला, नारायण, प्रसारिणी-तैल	देवदारु, रास्ना मधुक महुआ खिरणी	सर्षप सर्पनिर्मोक वचा, उष्ट्र, अजा रोम घृत	गुडूची, दूर्वा शमी,इन्द्रायण-मूल	स्वस्त्ययन	
२ स्कन्दापस्मार (विशाख)	सज्ञानाश, फेनवमन,अतिरोदन, पूय रक्तगन्धि, केशलुचन, विनतकन्ध, स्तन-जिह्वादश	Epilepsy	बिल्व, दूर्वा शिरीष, सुरसादि	सर्वगन्ध सिद्धतैल वचा हिंगु		गीध, उल्लू केशविट् हस्तीनख वृषभरोम	अनन्ता, बिम्बी कपिकच्छु	पक्वापक्व-मास रुधिर, पय गर्त मे रखना	
३ शकुनि	पक्षीगन्धी, भय, चकित, मुख में स्रावीव्रण, स्फोट अतिसार ज्वर, सन्धिशूल, गुदपाक	Inglammatory con: dition of the Bucogastrointestinal tract	बेतस आम्र कपित्थ पत्र	काकोल्यादि क्षीरी,कषाय सिद्धतैल					मधुयष्टि उशीर ह्रीबेर, सारिवा
४ रेवती	मुखरक्ता,पाण्डुता,(पीत,श्याम, हरा) सव्रणजिह्वा शूल वमन, अतिसार, प्लीहोदर, स्तब्ध नेत्रता, श्वास कास, ज्वरातीसार, विसर्प, आनाह, निद्रानाश	(Pellagra) Pernicious Anaemia	अश्वगन्धा शृ गी सारिवा, पुनर्नवा कटकारी, विदारी	कुष्ठ-सर्ज-रस सिद्ध-तैल	धातकी,धव, दाडिम,मधु यष्टी, काकोल्यादिगण	उल्लू गीध पुरीष रोम यव,घृत कटुका, अलाबू	वरुण, निम्ब पुत्रजीवक चित्रक	बलि होम नदी संगम मे स्नान	पद्मक, रोध्र एलादिसर्व गन्धद्रव्य
५ पूतना	वमन,मलभेद तृष्णा,तन्द्रा कम्प, रोमहर्ष, बेचैनी, मूत्रनिग्रह	Epidemic Diarrhoea	श्योनाक, वरुण	वचा,ब्राह्मी दूर्वा, शाल	काकोल्यादि खैर,चन्दन,	देवदारु, वचा,हीग	इन्द्रवारुणी, बिम्बी गुजा	कृशरा, मत्स्योदन	

			in children	शोभांजन सारिवा,करज	कुष्ठ मनः शिला सिद्धतैल	अर्जुन	कुष्ठ,एला		बलि चतुष्पथ मे कच्चा मास
६	अन्ध पूतना	अम्लगधता,सज्वरच्छर्दि,कास, हिक्का,तीक्ष्ण स्वर मे रोदन, अतिसार,कण्डू,पोथकी,स्तन्यद्वेष	Bacilary Dysentry	निम्बादिति कद्रव्य पत्र सर्वगन्ध	सुरा, हरिताल शिलारस सिद्धतैल	मृद्वीका,दूर्वी मधूक नागकेश	कुक्कुट-पुरीषिरोम चर्म,सर्प निर्मोक	शिम्बी, अनन्त अजमोद	
७	शीतपूतना	उद्विग्नता से कपन, तन्द्रायुक्त, आखे चढाना, वसागन्धो, अतिसार, अन्त्रकूजन, कास	Choleric Diarrhoea	काकजघा बिम्बी, बिल्व	मुस्ता, देवदारु कुष्ठ, सर्वगध	रोहिणी, खदिर अर्जुन पचकोल	गृध, उल्लू पुरीष निम्बपत्र, अहिस-त्वचा	गुजा, कटुतु म्बी	मूग, रुधिर
८	मुखमण्डिका	दुबलता, रमणीयता, बहु आशी, उदर पर सिरा दर्शन, उद्विग्न, गोमूत्रगन्धी	Parenchy-matous Nephritis	कपित्थ, बिल्व, अरणी एरड पत्र	बिल्व, अश्व गधासिद्धवसा	काकोल्यादि गण	वचा, राल, कूठ घृतयुक्त	सर्प चाष जिह्वा	पारा,शिला रसाजन आटे मे मिला बलि
९	नैगमेय	फेनवमन. सोद्वेग क्रन्दन, दातो से ओष्ट काटना, स्वर वैवर्ण्य, वसा–आम गन्धी मूर्छित, आध्मान, अन्त्रकूजन, स्पदन, कास, हिक्का, निद्रानाश, एक नेत्र मे शोथ, शोष	De hydra-tion	बिल्व, अरणी पुतिकरज पत्र क्वाथ, तेल सुरासौ-वीरयुक्त	प्रियगु, सौफ गोमूत्र दधि काजिकसिद्ध	दशमूल मधुर द्रव्यसिद्ध	सर्षप, वचा, हीग कुष्ठ, अजमोद, उलूक, बन्दरमल	वचा, क्षीर-काकोली जटामासी	तिल, चावल, पुष्प भक्ष्यद्रव्य बड के नीचे रखे
१०	नन्दिनी	ज्वर गात्रशोष, स्वेद, अरुचि, वमन, मूर्च्छा, कम्प, विस्वर	Vomiting with & ever						

दाँतों की उत्पत्ति

लेखक . व्यास मूलराज, जोधपुर

[वैद्यराज श्री मूलराज पुष्टिकर, चरित्रनायक के आयुर्वेदीय सेवाभावी शिष्य है। आपका 'दातों की उत्पत्ति' पर लेख छात्रोपयोगी है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सपादक]

बाल—अवस्था तीन प्रकार की है (१) क्षीरप एक वर्ष तक (२) क्षीरान्नाद दो वर्ष तक (३) अन्नाद दो वर्ष से पन्द्रह वर्ष तक। आठवें माह से बच्चो मे दन्तोद्भव होने लगते हैं—इनकी उत्पत्ति मे अस्थि तथा मज्जा कारण हैं। ये काल परिणाम के साथ दन्ताशय मे आकर हनु मे ऊपर व नीचे उत्सेधकर दत मास मे सघट्टन होता है। इससे शिशु मे रोमहर्ष लालास्राव, कडू तथा काटने की सी चेष्टायें होती है। 'दन्तोद्भेदश्च सर्व रोगायतनम्' इस अवस्था मे बच्चो के नाना वेदनायें होती हैं। अत इनका आठ मास के बाद निकलना अधिक अच्छा है। इनमे जितना विलम्ब होता है उतना ही कष्टप्रद है। क्योकि कफयुक्त वायु जब हनुमूल मे स्थान सश्रय कर दन्त प्रदेश मे सकोच कर दन्तोद्भेद में विलम्ब कर देता है। इस समय ज्वर, शिर शूल, तृष्णा, भ्रम, अभिष्यन्द, कुकूणक, पोथकी वमथु, कास, श्वास, अतिसार, विसर्प आदि हो जाते हैं।

दन्तोद्भेदश्च रोगाणा सर्वेषामपि कारणम्।
विशेषाज्ज्वरविड्भेद कासच्छर्दि शिरोरुजाम्॥

पूर्ण युवावस्था मे ३२ दात होते हैं। उनमे ८ एक बार पैदा होने से स्व-रूढ दन्त तथा २४ दो बार होने से द्विज कहलाते है।

मध्य के राज दन्त	Central Incisors	२
पार्श्व के बस्त ,,	Lateral maisors	२
दष्ट्रा ,,	Canines	२
स्वरूढदन्त	Pre molars	२

प्राय. कन्याओ मे दात सुषिर होने से विना पीडा के परन्तु कुमारो मे घन होने से पीडा के साथ उत्पन्न होते है। दातो का निषेक, आकृति, उद्भेद, वृद्धि, पतन, पुनर्भाव,

निवृत्ति, स्थिति, क्षय, चलन, दृढता, दुर्बलता आदि जन्म विशेप से, माता पिता के अनुसार या अपने कर्म विशेष के अनुसार अथवा देह के उपचय तथा अपचय आदि पर निर्भर है।

दन्तोद्भेदकाल	परिणाम
चौथा माह	दुर्बल, क्षययुक्त, रोगयुक्त
पाचवा माह	फडकन तथा हर्षयुक्त
छठा माह	मलयुक्त, विवर्ण, टढे-मेढे
सातवा माह	स्फोटयुक्त, रेखायुक्त, रुक्ष, विपम
आठवा माह	सर्वगुण सम्पद्

दन्त सम्पद—पूर्णता, समता, घनता, शुक्लता, स्निग्धता, श्लक्ष्णता, निर्मलता, निरामयता, दन्त बन्धनो का ठीक होना, अरुणीय, स्निग्धताघन एव स्थिरमूलता, दन्त-सम्पद् है।

दन्त बन्धन (मसूडो के) दोष, हीनोल्बण, श्वेतता, अश्वेतता आदि दन्त बन्धन, के दोष हैं।

कुछ लोगो की मान्यता है कि दन्तोद्भेदकाल मे मसूढो मे शस्त्र क्रिया कराले परन्तु इससे दन्त विकृति हो जाती है। अतः इस काल मे कठोर खिलौने दे। यवक्षार मधु का मर्दन करे। तथा माता के आहार मे सुधा तथा जीवनीय डो की प्रचुरता रहे।

दन्तोद्भेदगदान्तक रस, पचामृत वटी आदि दे। बच्चो मे चार वर्ष की आयु से दन्त धावन का प्रयोग करें। दन्त धावन—ऋतु, दोष, रस, वीर्य को ध्यान मे रखते हुए नीम, बबूल, महुआ या करज का। इनके अभाव मे मजनो का प्रयोग करें।

बच्चों की रोग-परीक्षा

लेखक : वैद्य रामलाल जोशी

[श्री जोशी एस जे प विद्यालय के स्नातक हैं। आप आयुर्वेदरत्न होने के साथ चरित्रनायक के शिष्य है। इस समय राजकीय सेवा में कार्यरत हैं। आपके लेख कई पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। श्री जोशी का 'बच्चों की रोग-परीक्षा' नामक लेख छात्रोपयोगी है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

बालकों की परीक्षा मे विशेष सावधानी बरतना आवश्यक है। इनके आहार, वृद्धि, पारिवारिक वृत्त, पूर्व रोग वृत्त तथा वर्तमान रोगवृत्त के बारे मे जानकारी प्राप्त करे। दर्शन परीक्षा मे शिशु की आकृति, उदरवृद्धि, वक्ष की रचना, शीर्ष वृद्धि, नाडी तथा श्वासगति को देख कर, स्पर्शन परीक्षा नातिशीतोष्ण मृदु हाथ से पहिले ब्रह्मरन्ध्र कपालास्थियो के उभार, ग्रैविक ग्रन्थिया व श्वसन की तरगो का, हृद्गतिका, उदर पर यकृत, प्लीहा, आध्मान व वेदना आदि को समझे। श्रवणपरीक्षा भी सुखोष्णपाणि से उद्श्वास, नि श्वास, वायुग्रहण, मर्यादा, कठोरता, तथा हृदय के शब्दो का श्रवण करें। वात सस्थान की परीक्षा मे पेशीकाठिन्य, पादतल की प्रत्यावर्तन क्रिया, मल-मूत्रादि वेदना की परीक्षा करे।

	वेदना	लक्षण
१	शिरोरोग	शिर. स्पन्दन, चक्षुनिमीलन, अवकूजन (सोते २)
२	कर्णशूल	शिर को घुमाना, कान को छूना, अरति, अरुचि, निद्रा
३	मुखामय	लालास्राव, स्तनद्वेष, वमन, नासाश्वासी
४	कठपीड़ा अर्दित	स्तनपान मे क्षीर इतस्तत बिखेरना, सन्ताप, अरुचि, ग्लानि, विष्टभ
५	अधिजिह्विका	लालास्राव, अरुचि, ग्लानि, कपोल मे शोथ, मुख विवृति
६	गलग्रह	ज्वर, अरुचि, लालास्राव, निष्ठीवन,
७	कठशोथ	ज्वर, अरुचि, शिर शूल
८	ज्वर	सन्ताप, जृभा, कास, स्तनद्वेष
९	अतिसार	वैवर्ण्य, ग्लानि, अनिद्रा,

१० उदरशूल	उत्तान सुलाने से रोना, स्तनपान स्तब्धता, शैत्य, स्वेद, Peritonitis
११ छर्दि	बिना कारण के उद्गार, निद्रा, जृम्भा,
१२ श्वास	निष्ठीवन, वक्ष की उष्णता,
१३ हिक्का	श्वास के साथ उद्गार,
१४ तृष्णा	अत्यधिक स्तनपान से भी रोदन, ओष्ठशुष्कता दौर्बल्य,
१५ आनाह	आखे फैली हुई, स्तब्धता, पर्वभेदः अरति, क्लम, मूत्रावरोध, मलावरोध, वातावरोध,
१६ अपस्मार	अचानक अट्टहास
१७ उन्माद	प्रलाप, अरति, वैचित्र्य,
१८ मूत्रत्याग मे शूल	मूत्रप्रवृत्ति के समय रोमहर्ष,
१९ मूत्रकृच्छ्र	बस्तिस्पर्शन, मूत्र त्याग के समय ओष्ट दशन,
२० प्रमेह	मूत्र मे गुरुत्वाधिक्य, मक्षिका, वर्णश्वेत, घन,
२१ अर्श	मलबद्धता, रक्तदर्शन, गुदकण्डू
२२ अश्मरी	मूत्र त्याग मे शूल, कष्ट, बच्चे का रोना,
२३ विसर्प	रक्तमण्डलोत्पत्ति, तृष्णा, दाह, ज्वर, अरति
२४ विशूचिका	निष्ठीवन, हृच्छूल, सूचीभेद नवत् पीडा
२५ अलसक	शिरोलोठन, जृम्भण, स्तनद्वेष, वमन, विषाद, आध्मान, अरुचि
२६ चक्षुरोग	दृष्टिव्याकुलता, तोद, शोथ, शूल, अश्रुप्रवृत्ति, सोनेपर उपलेप,
२७ शुष्ककण्डू	अंगघर्षण, खरता—
२८ आर्द्रकण्डू	शोथ, स्राव दाह, शूलयुक्त
२९ पाण्डु	नाभी के चारो ओर शोथ, मुख, नाक, आख - श्वेतता, अग्निसाद, अक्षिकूट शोथ,
३० कामला	चक्षु, नख, मुख, विण्मूत्र पीतता, निरुत्साह, अग्निमांद्य,
३१ पीनस	स्तनपान के समय मुख से श्वास ले, नासा-मुख स्राव सतप्तललाट, श्वासाधिक्य—

शिशु की प्रकृति, रोगोत्पत्ति का कारण पूर्वरूप, रूप उपशय, आदि से परीक्षा करे।

चिकित्सा—

बच्चो की औषधि मधुर प्राय, लघु, अच्छी गधवाली, शीतगुण, शामक औषधियो का प्रयोग करें। क्षीर के साथ देकर ऊपर स्तनपान कराए। अथवा रोग हर द्रव्य का कल्क कर स्तन लेप कर बच्चे को स्तनपान कराए।

क्षीरप की मात्रा	२ रत्ती
क्षीरान्नाद	४ रत्ती
अन्नाद	८ रत्ती

१० उदरशूल	उत्तान सुलाने से रोना, स्तनपान स्तब्धता, शैत्य, स्वेद, Peritonitis
११ छर्दि	बिना कारण के उद्गार, निद्रा, जृम्भा,
१२ श्वास	निष्ठीवन, वक्ष की उष्णता,
१३ हिक्का	श्वास के साथ उद्गार,
१४ तृष्णा	अत्यधिक स्तनपान से भी रोदन, ओष्ठशुष्कता दौर्बल्य,
१५ आनाह	आखें फैली हुई, स्तब्धता, पर्वभेदः अरति, क्लम, मूत्रावरोध, मलावरोध, वातावरोध,
१६ अपस्मार	अचानक अट्टहास
१७ उन्माद	प्रलाप, अरति, वैचित्र्य,
१८ मूत्रत्याग में शूत्र	मूत्रप्रवृत्ति के समय रोमहर्ष,
१९ मूत्रकृच्छ्र	बस्तिस्पर्शन, मूत्र त्याग के समय ओष्ट दशन,
२० प्रमेह	मूत्र मे गुरुत्वाविक्य, मक्षिका, वर्णश्वेत, घन,
२१ अर्श	मलबद्धता, रक्तदर्शन, गुदकण्डू
२२ अश्मरी	मूत्र त्याग मे शूल, कष्ट, बच्चे का रोना,
२३ विसर्प	रक्तमण्डलोत्पत्ति, तृष्णा, दाह, ज्वर, अरति
२४ विशूचिका	निष्ठीवन, हृच्छूल, सूचीभेद नवत् पीडा
२५ अलसक	शिरोलोठन, जृम्भण, स्तनद्वेष, वमन, विषाद, आध्मान, अरुचि
२६ चक्षु रोग	दृष्टिव्याकुलता, तोद, शोथ, शूल, अश्रुप्रवृत्ति, सोनेपर उपलेप,
२७ शुष्ककण्डू	अगघर्षण, खरता—
२८ आर्द्रकण्डू	शोथ, स्राव दाह, शूलयुक्त
२९ पाण्डु	नाभी के चारो ओर शोथ, मुख, नाक, आख - श्वेतता, अग्निसाद, अक्षिकूट शोथ,
३० कामला	चक्षु, नख, मुख, विण्मूत्र पीतता, निरुत्साह, अग्निमाद्य,
३१ पीनस	स्तनपान के समय मुख से श्वास ले, नासा-मुख स्राव सतप्तललाट, श्वासाधिक्य—

शिशु की प्रकृति, रोगोत्पत्ति का कारण पूर्वरूप, रूप उपशय, आदि से परीक्षा करे।

चिकित्सा—

बच्चो की ओषधि मधुर प्राय, लघु, अच्छी गधवाली, शीतगुण, शामक ओषधियो का प्रयोग करें। क्षीर के साथ देकर ऊपर स्तनपान कराए। अथवा रोग हर द्रव्य का कल्क कर स्तन लेप कर बच्चे को स्तनपान कराए।

क्षीरप की मात्रा	२ रत्ती
क्षीराशाद	४ रत्ती
अन्नाद	८ रत्ती

आयुर्वेदीय अनुसंधानपद्धति

लेखक- आचार्य श्री हनुमत्प्रसाद शास्त्री

[स्वर्गीय शास्त्रीजी भारत के पण्डितमार्त्तण्ड, विद्याभूषण, विद्यावागीश रहे। आपने अध्ययन के बाद हरनन्दराय रूइया सस्कृत विद्यालय रामगढ मे प्राचार्य पद कर्मक्षेत्र में पदार्पण किया। उसी पद पर रहते हुए आपने आयुर्वेदाध्ययन किया। स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र जामनगर की स्थापना के उपरान्त भारत के उच्चकोटि के विद्वानों के आह्वान पर आप जामनगर में पधारे। आपके कार्यकाल में जामनगर में सस्कृत के विद्वानों में आपकी वाणी का सर्वत्र आदर किया जाता रहा। वहा की सेवा से निवतमान होकर आप सस्कृत सम्मेलन के कार्यवाहक प्रधान सपादक दिल्ली रहे। आप अच्छे विद्वान, वक्ता तथा लेखक रहे है। आपका आयुर्वेदीय अनुसधान पद्धति नामक लेख अनुसधान करने वाले व्यक्तियों का पथ-प्रदर्शन करेगा—ऐसी आशा है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]
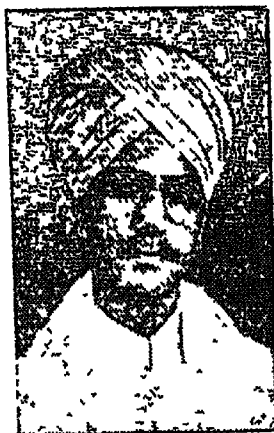
आयुर्वेद मे अनुसन्धान, गवेषणा, अन्वेषण, खोज, ऋष्यर्चा (रिसर्च) आदि शब्दो का प्रयोग कुछ ही वर्षों मे होने लगा है। भारत सरकार द्वारा नियुक्त चोपडा कमेटी की रिपोर्ट के पूर्व तो आयुर्वेद की वैज्ञानिकता पर ही सन्देह था। यदि कोई पद्धति वैज्ञानिक ही नही है तो, उसमे अनुसन्धान कैसा और उसका लाभ भी क्या? पहले यदि 'सर्च' हो गई है तो, फिर उस पर 'रिसर्च' हो सकती है। उक्त रिपोर्ट मे आयुर्वेद को पर्याप्त समर्थन मिलने पर अनुसन्धान का उपक्रम चला और सर्वप्रथम जामनगर मे 'केन्द्रीय आयुर्वेदानुसन्धान सस्था' खुली और अनन्तर 'आयुर्वेदीय स्नातकोत्तर शिक्षण केन्द्र' खुला। राज्यो मे तथा दूसरी सस्थाओ मे भी इस दिशा मे पादप्रक्रम हुआ।

जहा जो कुछ हुआ या हो रहा है, वह सब उत्तम है। अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि अनुसन्धान की इन व्यवहृत पद्धतियो से वैद्यबुभूषु छात्रो को क्रमबद्ध रूप से आयुर्वेदीय रोगविज्ञान, भेषजपरिचय, भेषजनिर्माण, चिकित्सारीति आदि के पदार्थविज्ञान-युत आर्ष साहित्य के सकलन करने की परिपाटी ज्ञात हुई, निबध लिखने आये और शास्त्रीय विमर्शो को कुछ व्यवस्थित रूप देने की योग्यता प्राप्त हुई। धीरे-धीरे अन्य विज्ञान भी बढते जाने की आशा करनी चाहिए।

परतु यह सब कुछ हुआ है ऐलोपैथ डाक्टरो के निर्देश पर। यह सर्वविदित है कि आज तक किसी भी भारतीय ऐलोपैथ डाक्टर ने नव्यचिकित्सा विज्ञान मे किसी भी प्रकार की गवेषणा का कोई चमत्कार नही दिखाया। वे ही सब विदेशो से आये हुए विविध शस्त्र, यन्त्र, उपकरण, औषधिया आदि उनके पास है जिनके शिल्पाभ्यास से वे तद्रूप होकर भारतीयता को विस्मृत कर चुके हैं। जिस प्रकार ऐलोपेथी मे एक बार किसी असत् सिद्धान्त को अपनाया गया और कालान्तर मे उसमे त्रुटि प्रतीत हुई तो उसे छोड कर दूसरा सिद्धात पकड लिया गया, बस ! इसी प्रकार की पद्धति आयुर्वेद के क्षेत्र मे भी गवेषणा के नाम से प्रचारित करने का उद्योग हो रहा है और हो सके तो आयुर्वेद के कतिपय सिद्ध प्रयोगो को ऐलोपैथी मे सम्मिलित कर आयुर्वेद को धत्ता बता देने की भी नीति चल रही है।

जो कार्य सहस्राब्दियो से वैद्यो द्वारा सुचारु रूप से किया जा रहा है, उसमे पुन पुन. घर्षण से समय, धन आदि का अपव्यय समुचित नही कहा जा सकता। अच्छा तो यह है कि इस प्रकार के गवेषणो को अन्तर्द्वारिक या बहिर्द्वारिक चिकित्सालयो और दातव्य वा व्यक्तिगत औषधालयो को सौप कर यह आदेश दे दिया जाय कि वे व्यवह्रियमाण औषधियो का प्रतिवातक निकाला करें कि एक ही रोग से ग्रस्त इतने रोगियो पर अमुक औषधि ने प्रतिशत इतना लाभ पहुँचाया और अमुक ने इतना। इस प्रक्रिया से प्राप्त परिणामो को सामयिक पत्र पत्रिकाओ मे प्रकाशित कर सर्वसाधारण के लाभार्थ निहित कर दिया जाय। यदि विफलता मिले तो उसकी भी घोषणा कर दी जाय। एक पथ कई काज।

इस प्रकार के परीक्षण पहले न हुए हो और उनकी व्यर्थता न घोषित की गई हो, सो बात नही है। इस विषय का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। देखिए—

अस्मिन् लोकेऽथवाऽमुष्मिन् मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
दृष्टा योगा प्रयुक्ताश्च पुसा श्रेय प्रसिद्धये॥
तानातिष्ठति य सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान्।
अवर. श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा॥
ताननादृत्य यो विद्वानर्थानारभते स्वयम्।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुन पुनः॥ (श्रीमद्भागवत ४, १८, ३-५)

ये वचन आदिराज पृथु के प्रति पृथ्वी के हैं जब कि वे ऋषियो द्वारा गवेषित उपायो को छोड कर पृथ्वी को दण्डित करते हुए नए ही रूप मे अन्नादि की उत्पत्ति के उपायो का अवलम्बन करना चाहते थे। उन्हें बतलाया गया कि भूमडल पर ब्रह्मादि लोकव्यवस्थापको द्वारा जिन औषधि, वनस्पति आदि का आविष्कार हुआ था कृषि द्वारा उनके परिवर्तन का तो कुछ उपाय हुआ नही, किन्तु लफगे लोग उन्हें बिना परिश्रम किए बैठे बैठे खा गए। जब वैज्ञानिक पद्धति का अनादर कर मनमाने अपरीक्षित ढग से जमीन मे

बीज फेंक दिए गए तो वे सड गल कर व्यर्थ ही चले गए। बार-बार ऐसी विफलता प्रजा को मिल रही है। यदि आप सफलता चाहते हैं तो जो वैज्ञानिक मार्ग निश्चित हो चुके हैं उन्हे अपनाइये और आगे गवेषणा कीजिए। यही बात विज्ञान के सभी क्षेत्रो के लिए लागू होती है। सब मे देश काल आदि का विचार करना पडता है।

आयुर्वेदानुरूप उनमे औषधियो के निश्चित प्रयोगो मे केवल यही अपेक्षित है कि एक-एक रोग पर पचास-पचास जो प्रयोग लिखे गए हैं वे किस किस अवस्था को लक्ष्य रख कर लिखे गए हैं। आरम्भ से लेकर पूण रूप लेने तक रोगो मे अनेक परिवर्तन आते हैं और उनमे भेषज प्रयोग भी भिन्न ही होते हैं। अतः उनके सम्बन्ध मे एक निश्चिति अवश्य हो जानी चाहिए। यही उनकी गवेषणा है। अधिक से अधिक यह किया जा सकता है कि भेषज कल्पना मे कुछ नवीन प्रकार चालू किए जाय। इसमे आयुर्वेद की भी आज्ञा है। भस्म आदि बनाने के लिए जमीन मे गड्ढा खोद कर उसमे वन्य उपलो की आच दी जाती थी, परन्तु शहरो मे रहने वाले वैद्यो को उनकी सुलभता आज अधिक व्यय करने पर भी नही मिल रही। फलत गोबर से थापी हुई थेपडियो, रेल कोयलो और बिजली के द्वारा भस्म बनाने का प्रकार चल पडा। इन सब मे परस्पर क्या भिन्नता आती है तथा गुणावगुण मे कैसे परिवर्तन हो जाते हैं। इस विषय मे कुछ भी निश्चित नही हो सका और इस विषय मे मनमाने ढङ्ग से प्रचार होता रहा। अत इस दिशा में निश्चित मार्ग का गवेषण आवश्यक है जिससे औषध प्रभाव सुव्यवस्थित रह सके।

जब से पाश्चात्य पद्धति में कुछ द्रव्यो के सत्व आदि निकाल कर विभिन्न आकर्षक नामो से उन्हे बाजार मे लाया गया और कम्पनिया धन कमाने लगी, तो यहा के लोग भी बिना ही साधन और प्रक्रिया को जाने उधर आगे बढने लगे। इजेक्शन तैयार हुए और पेकिंग आदि की नकलें कर उसी रूप में प्रचार किया जाने लगा। परन्तु परिणाम क्या निकला ? आज वे ही एलोपैथिक इन्जेक्शन्स चालू हैं। वैद्य लोगो के इन्जेक्शन केवल वे ही वैद्य मगाते हैं, जो कि उनकी ओट में फीस न देने वाले मुफ्तखोर लोगो से भी कुछ ले ही लेते हैं। अन्य सब के लिए वे व्यर्थ। कोई भी ऐलोपैथ उन्हें नही लेता और आयुर्वेदीय नाम देख कर तो दस गालिया और भी सुनाता है।

एक एक द्रव्यो के प्रयोग का भी पर्याप्त कोलाहल मचा। एक प्रसिद्ध सरकारी सस्था में उसके प्रधान ने अपने एक सम्बन्धी को आगे बढाने के लिए एक स्पेशल डिपार्टमेंट और खोला। दस-बारह कुटकी, कुष्ठ, हरमल आदि के अलग अलग चूर्ण मे कज्जली अथवा हिंगुल मिला कर उनका प्रयोग चलाया और अनभिज्ञ डाक्टर अधिकारियो जो सरकार की ओर से नियुक्त थे, चकमा दिया। परन्तु सब व्यर्थ। कई हजार रुपए सरकारी खजाने के स्वाहा कर वह काम बन्द कर दिया गया। खुदा के बन्दो को यह तो सोचना

चाहिए था कि जो महाशय इन प्रयोगो के आविष्कारक बन रहे हैं उन से यह तो पूछे कि जब किसी औषधि मे पारद गन्धक की कज्जली जैसी प्रभावकारी दूसरी वस्तु मिला दी गई तो वह एकौषधि प्रयोग कैसे बना रह गया और रस शास्त्र के अनेक ग्रन्थो मे क्या इस प्रकार के भी परीक्षण आज तक नही किए गए थे।

एक नही अनेक झगडे आज गवेषण के नाम से अथवा अन्यान्य प्रकार से आयुर्वेद की प्रगति के शकट को पीछे ढकेल रहे हैं। इन सब का उपाय एक ही है कि आयुर्वेद के विद्वानो द्वारा अनुसन्धान की शैली निश्चित की जानी चाहिए। सरकार के तन्त्र मे तो वे ही आदमी घुस पाते हैं जिनके कोई सम्बन्धी, मित्र अथवा प्रान्तवासी पहिले से ही पैर जमाए होते है। अतः समाजो, समितियो और सम्मेलनो को इस दिशा मे अग्रसर होना चाहिए। अनेक प्रकार जब निश्चित होकर पदो मे प्रकाशित हो जाय तो सब के सार से एक पूर्णतया निश्चित तथा प्रगतिकारक पद्धति का निर्माण होना चाहिए। काम तो कठिन है फिर भी उद्योग का आरम्भ होना ही चाहिए। गवेषण की दिशा मे एक और भी विपत्ति है जिससे कि आयुर्वेद को पर्याप्त हानि पहुँचाती है तथा सघटन टूट गया।

आयुर्वेद के शुद्ध मिश्र पाठ्य क्रम का विवाद चिरकाल से चालू है और पत्र-पत्रिकाओ मे उसके विषय मे नए नए दृष्टिकोण देखने को मिल रहे हैं। इसके विचारार्थ जो कमेटिया अब तक बनी उन पर कितना व्यय हुआ तथा कितना समय व्यर्थ गया यह भी तो आकडा जानने वाले ही बता सकते हैं, किन्तु साधारण जनो को तो अब भी यह विश्वास नही है कि यह झगडा शीघ्र समाप्त हो जायगा अथवा इसका कोई सुफल सामने आयगा। तब जिस राजनैतिक विषय मे अपनी पहुँच नही, उसमे व्यर्थ कुछ कहना उचित नही। हमे तो वही कुछ कहना है जिसे सर्वथा उचित समझ कर अब तक हृदयगम किया गया है।

विगत प० श्री हेमराजजी ने काश्यपसहिता की भूमिका मे पृष्ठ २२८ पर जो विचार प्रकट किए थे, उन्हें हमने निम्नलिखित चार आर्याओ मे व्यक्त किया है—

निरकासिष्यन्त नवा, सिद्धान्तश्चेद् विमर्शैः स्वैः।
सामयिकैरुपयोगैः. प्रत्ना पर्यष्करिष्यन्त ॥१॥
येऽपूर्णाशास्तेऽपि व्यपूरयिष्यन्त यत्नेन।
अनुभवजा सस्कारा. समुपादेक्ष्यन्त चैत् केऽपि ॥२॥
उच्चविचारसमृद्धया प्रौढानि निबन्धरत्नानि।
निरमास्यन्त च कैश्चिद् विपश्चिदग्रेसरैर्बुधा ॥३॥
आयुर्वेदस्यैतत् सेवायै सर्गमभविष्यत्।
स्त्रोचितमनुष्ठित च प्रतिनिधिभूतै स्वसमयस्य ॥४॥

बीज फेंक दिए गए तो वे सड गल कर व्यर्थ ही चले गए। बार-बार ऐसी विफलता प्रजा को मिल रही है। यदि आप सफलता चाहते हैं तो जो वैज्ञानिक मार्ग निश्चित हो चुके हैं उन्हे अपनाइये और आगे गवेषणा कीजिए। यही बात विज्ञान के सभी क्षेत्रो के लिए लागू होती है। सब मे देश काल आदि का विचार करना पडता है।

आयुर्वेदानुरूप उनमे औषधियो के निश्चित प्रयोगो मे केवल यही अपेक्षित है कि एक-एक रोग पर पचास-पचास जो प्रयोग लिखे गए हैं वे किस किस अवस्था को लक्ष्य रख कर लिखे गए हैं। आरम्भ से लेकर पूण रूप लेने तक रोगो मे अनेक परिवर्तन आते हैं और उनमे भेषज प्रयोग भी भिन्न ही होते हैं। अतः उनके सम्बन्ध मे एक निश्चिति अवश्य हो जानी चाहिए। यही उनकी गवेषणा है। अधिक से अधिक यह किया जा सकता है कि भेषज कल्पना मे कुछ नवीन प्रकार चालू किए जाय। इसमे आयुर्वेद की भी आज्ञा है। भस्म आदि बनाने के लिए जमीन मे गड्ढा खोद कर उसमे वन्य उपलो की आच दी जाती थी, परन्तु शहरो मे रहने वाले वैद्यो को उनकी सुलभता आज अधिक व्यय करने पर भी नही मिल रही। फलत गोबर से थापी हुई थेपडियो, रेल कोयलो और बिजली के द्वारा भस्म बनाने का प्रकार चल पडा। इन सब मे परस्पर क्या भिन्नता आती है तथा गुणाव-गुण मे कैसे परिवर्तन हो जाते हैं। इस विषय मे कुछ भी निश्चित नही हो सका और इस विषय में मनमाने ढङ्ग से प्रचार होता रहा। अत इस दिशा में निश्चित मार्ग का गवेषणा आवश्यक है जिससे औषध प्रभाव सुव्यवस्थित रह सके।

जब से पाश्चात्य पद्धति में कुछ द्रव्यो के सत्व आदि निकाल कर विभिन्न आकर्षक नामो से उन्हें बाजार में लाया गया और कम्पनिया धन कमाने लगी, तो यहा के लोग भी बिना ही साधन और प्रक्रिया को जाने उधर आगे बढने लगे। इजेक्शन तैयार हुए और पेंकिंग आदि की नकलें कर उसी रूप में प्रचार किया जाने लगा। परन्तु परिणाम क्या निकला ? आज वे ही एलोपैथिक इन्जेक्शन्स चालू हैं। वैद्य लोगो के इन्जैक्शन केवल वे ही वैद्य लगाते हैं, जो कि उनकी ओट में फीस न देने वाले मुफ्तखोर लोगो से भी कुछ ले ही लेते हैं। अन्य सब के लिए वे व्यर्थ। कोई भी ऐलोपैथ उन्हें नही लेता और आयुर्वेदीय नाम देख कर तो दस गालिया और भी सुनाता है।

एक एक द्रव्यो के प्रयोग का भी पर्याप्त कोलाहल मचा। एक प्रसिद्ध सरकारी सस्था मे उसके प्रधान ने अपने एक सम्बन्धी को आगे बढाने के लिए एक स्पेशल डिपार्टमेंट और खोला। दस-बारह कुटकी, कुष्ठ, हरमल आदि के अलग अलग चूर्ण में कज्जली अथवा हिंगुल मिला कर उनका प्रयोग चलाया और अनभिज्ञ डाक्टर अधिकारियो जो सरकार की ओर से नियुक्त थे, चकमा दिया। परन्तु सब व्यर्थ। कई हजार रुपए सरकारी खजाने के स्वाहा कर वह काम बन्द कर दिया गया। खुदा के बन्दो को यह तो सोचना

चाहिए था कि जो महाशय इन प्रयोगो के आविष्कारक बन रहे हैं उन से यह तो पूछे कि जब किसी औषधि मे पारद गन्धक की कज्जली जैसी प्रभावकारी दूसरी वस्तु मिला दो गई तो वह एकौषधि प्रयोग कैसे बना रह गया और रस शास्त्र के अनेक ग्रन्थो मे क्या इस प्रकार के भी परीक्षण आज तक नही किए गए थे।

एक नही अनेक झगडे आज गवेषण के नाम से अथवा अन्यान्य प्रकार से आयुर्वेद की प्रगति के शकट को पीछे ढकेल रहे है। इन सब का उपाय एक ही है कि आयुर्वेद के विद्वानो द्वारा अनुसन्धान की शैली निश्चित की जानी चाहिए। सरकार के तन्त्र मे तो वे ही आदमी घुस पाते हैं जिनके कोई सम्बन्धी, मित्र अथवा प्रान्तवासी पहिले से ही पैर जमाए होते हैं। अतः समाजो, समितियो और सम्मेलनो को इस दिशा मे अग्रसर होना चाहिए। अनेक प्रकार जब निश्चित होकर पदो मे प्रकाशित हो जाय तो सब के सार से एक पूर्णतया निश्चित तथा प्रगतिकारक पद्धति का निर्माण होना चाहिए। काम तो कठिन है फिर भी उद्योग का आरम्भ होना ही चाहिए। गवेषण की दिशा मे एक और भी विपत्ति है जिससे कि आयुर्वेद को पर्याप्त हानि पहुँचाती है तथा सघटन टूट गया।

आयुर्वेद के शुद्ध मिश्र पाठ्य क्रम का विवाद चिरकाल से चालू है और पत्र-पत्रिकाओ मे उसके विषय मे नए नए दृष्टिकोण देखने को मिल रहे हैं। इसके विचारार्थ जो कमेटिया अब तक बनी उन पर कितना व्यय हुआ तथा कितना समय व्यर्थ गया यह भी तो आकडा जानने वाले ही बता सकते हैं, किन्तु साधारण जनो को तो अब भी यह विश्वास नही है कि यह झगडा शीघ्र समाप्त हो जायगा अथवा इसका कोई सुफल सामने आयगा। तब जिस राजनैतिक विषय मे अपनी पहुँच नही, उसमे व्यर्थ कुछ कहना उचित नही। हमे तो वही कुछ कहना है जिसे सर्वथा उचित समझ कर अब तक हृदयगम किया गया है।

दिवगत प० श्री हेमराजजी ने काश्यपसहिता की भूमिका मे पृष्ठ २२८ पर जो विचार प्रकट किए थे, उन्हें हमने निम्नलिखित चार आर्याओ मे व्यक्त किया है—

निरकासिष्यन्त नवा, सिद्धान्तश्चेद् विमर्शैः स्वैः।
सामयिकैरुपयोगं. प्रत्ना पर्यष्करिष्यन्त ॥१॥
येऽपूर्णाशास्तेऽपि व्यपूरयिष्यन्त यत्नेन।
अनुभवजा सस्कारा. समुपादेक्ष्यन्त चेत् केऽपि ॥२॥
उच्चविचारसमृद्धया प्रौढानि निबन्धरत्नानि।
निरमास्यन्त च कैश्चिद् विपश्चिदग्रेसरैर्बुद्धया ॥३॥
आयुर्वेदस्यैतत् सेवायै सर्वमभविष्यत्।
स्वोचितमनुष्ठित च प्रतिनिधिभूतै स्वसमयस्य ॥४॥

श्लोको का अर्थ सरल ही है। इसमे समस्त अनुसधान पद्धति के सूत्र उपलब्ध होते हैं। हमारा विचार है कि इनमे निहित भावो के अनुसार अनेक मनीषियो के चित्तो मे इस प्रकार का आन्दोलन हुआ होगा, परतु इस दिशा मे क्या कुछ हुआ यह देखने को लालायित ही रहना पडा। आज अपने को आयुर्वेद सेवक न कह कर उसके उद्धारक कहने वालो की भी कमी नही है, परतु आयुर्वेद के उद्धार मे कठिनाइयो का भी पार नही है। कह देना सरल है, किन्तु व्यवहार मे पता चल जाता है कि उद्धारक का स्वय बल-बूता क्या है? कठिनाइयो का अन्तस्तल तो वह चतुर अध्यापक जान सकता है, जिसे चिरविलुप्त पद्धतियो को समझाते समय अस्पष्ट और सदिग्ध टीकाओ की शरण लेनी पडती है। वह सब भी केवल शाब्दिक चित्रण मात्र होता है, जो कुछ तो समझा हुआ और कुछ न समझा हुआ ही छात्रो के सामने हाथो के इशारो से व्यक्त किया जाता है तथा जो स्वय कभी अनुभूत किया हुआ शायद ही होता है। इस विषय मे आगे कुछ उदाहरण ऐसे दिए जाते हैं, जिनमे परीक्षण, स्पष्टीकरण और नवाविष्करण की सदा ही आवश्यकता रही है।

(१) हेतुलक्षणकालज्ञो बलशोणितवर्णवित्।
काल तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात्॥ (च चि १४-१८१)

अर्थात् अर्शोरोग मे रक्त बह रहा हो तो उसे बहने देना चाहिये। वैद्य को चाहिए कि वह रोग के हेतु, लक्षण और काल का परिज्ञान प्राप्त कर रोगी के बल और रक्त के वर्ण का परीक्षण या वेदन करें और उस समय तक रक्तपात की उपेक्षा करें, जब तक कि रोगी मरणासन्न न हो जाय[१]।

इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर प्रश्न उपस्थित किए जाय कि अर्शों के रक्त निर्गम की उपेक्षा मे हेतु, लक्षण और काल के ज्ञान का उपयोग किस प्रकार से करना चाहिए? बल के परिज्ञान का क्या साधन है? तथा शोणित के वर्ण कितने प्रकार के हो सकते हैं? और उनमे से उपेक्ष्यमाण शोणित का वर्ण कैसा होना चाहिए? रोगी मरे नही किन्तु मरणासन्न हो जाय इतने काल तक की उपेक्षा में काल के परिमाण को जानने का क्या उपाय है और मरणासन्नता की जाच क्या है? इस प्रकार की उपेक्षा चिकित्सा कहलाएगी या रोगी को घुल घुल कर मरने देने का भयभर अपराध? क्या इस प्रकार की चिकित्सा कराने के लिए कोई भी उस यमराज सहोदर वैद्य के पास आने का साहस करेगा और क्या इससे आयुर्वेद की निन्दा न होगी? तो इन प्रश्नो का उत्तर देना सरल नही है। जिन व्याकरणादि शास्त्रान्तरो के विद्वान् वैद्यो को कुछ पहुचे हुए महानुभाव अपना शत्रु समझते हैं, वे यदि जोर मारें तो यह अर्थ भी कर सकते हैं कि 'तावत् = आदौ, काल = कालवर्णम्,

१ क्षमा करें—'अत्यय' शब्द का 'मरणासन्न' अर्थ वैद्यो का आलस्य-त्याग कराने के लिये एक चुटकी के रूप मे किया गया है।

अर्शोभ्य प्रवृत्त रक्त, यावत्पर्यन्तमत्यय – नाश. कालनानिवृत्तिमिति यावत्, न आप्नुयात्, तावत्पर्यन्तमुपेक्षेत, तस्य प्रवाह नावरुन्ध्यादित्यर्थः' । परन्तु ऐसा अर्थ चक्रपाणि, गगाधर आदि किस टीकाकार ने किया है, उनसे अनुगृहीत हुए बिना इस अर्थ को मानेगा कौन ? दूसरे अर्श से स्रुत होने वाले रक्त का वर्ण काला होता है कि नही ? यह भी तो देखना होगा । दो प्रकार के अर्श चरक ने लिखे हैं—शुष्कार्श और स्रावी अर्श । इनमे से शुष्कार्शो मे भी यदि पैत्तिक हो तो स्राव होता है, स्रावी अर्शों मे से नो निश्चित ही होता है । पैत्तिको का स्राव पीत और रक्त होता है और स्रावी अर्श तो रुधिर का ही स्राव होता है जो वातानुबन्ध से अरुण तथा श्लेष्मानुबन्ध से पाण्डु होता है । काल वर्ण का तो इन स्रावो मे कही भी उल्लेख नही है । इस प्रकार इस प्रकरण का समाधान कठिन हो रहा है तो क्या इसे यो ही लटकता छोड देना और निन्दको के लिए एक उदाहरण निन्दा का और छोड देना उचित होगा ? हमारी विनीत सम्मति मे इसका उत्तर नही में होना चाहिए । करना यह चाहिये कि रक्त परीक्षा की आयुर्वेदीय पद्धति नए रूप से स्थिर की जाय । पाश्चात्य पद्धति से रक्त का विश्लेषण करके उसके रक्ताणु, श्वेताणु, चक्रिका आदि घटको का नानाविध परीक्षण किया जाता है और उसके द्वारा विकृतियो का पता लगाया जाता है । आयुर्वेदीय पद्धति मे प्रत्यक्ष के साधन इन्द्रियो से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का परीक्षण किया जाता है । इनमे से प्रत्येक का परीक्षण विधान निम्नलिखित होना चाहिए ।

(क) रूप परीक्षा

आहारजन्य रस से रक्त के निर्माण मे श्वेत, कपोत, हरित, हारिद्र, पद्म, किंशुक, और अलक्तक इन सात प्रकार के क्रमिक वर्ण परिवर्तनो का वर्णन हारीत ने बतलाया है, जिसका उद्धरण सुश्रुत सहिता की टीका भानुमति मे किया गया है तथा चरक सहिता की टिप्पणी मे भी किया गया है । आयुर्वेद के समर्थ गवेषको वाले आतुरालयो मे मानवादि प्राणियो की आहार पाक की प्रक्रिया को देखना चाहिए कि उपर्युक्त वर्ण परिवर्तन शरीर के कौन से स्राव के मिलने से किस रासायनिक प्रक्रिया द्वारा निष्पन्न होते हैं और उन पर मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय इन छ रसो का पृथक् पृथक् क्याप्रभाव पडता है ? इसी प्रकार पाच पाच भेदो वाले वात, पित्त और कफ इनका भी यथासभव मेल कर उनके प्रभावो का भी परीक्षण किया जाय ।

वात, पित्त और कफ विवाद यद्यपि जटिल है, तथापि एक बार क्षारीय और अम्लीय प्रतिक्रिया वाले शरीरावयवो के विभिन्न स्रावो का पित्त वर्ग मे मान कर तथा मधुर और लवण प्रतिक्रिया वाले स्रावो को कफ वर्ग में मान कर एव गति, प्राप्ति और अवगति कराने वाले विभिन्न वायव्यो को वात वर्ग मे मान कर हमे काम चलाना चाहिए ।

यदि आगे जाकर इसमें कुछ परिवर्तन उचित प्रतीत हो तो वह यथासमय पीछे कर लिया जाय। ध्यान रहे कि ये स्राव आदि वे ही हैं, जो पाश्चात्य विज्ञान मे विभिन्न नामो से पुकारे जाते है। आयुर्वेद मे वे ऊपरि लिखित रीति से वात वर्ग, पित्त वर्ग और कफ वर्ग मे निर्भय होकर मान लिए जाय। गवेषको को एक बार समालोचनाओ और निन्दाओ को चुपचाप उसी प्रकार सहन कर लेना चाहिए, जिस प्रकार आयुर्वेद पर होने वाले आक्षेपो को अब तक सहन किया जाता रहा है।

यह परीक्षण १०० स्वस्थ व्यक्तियो के रक्तो पर और १०० रुग्ण व्यक्तियो के रक्तो पर किया जाय। प्रतिशत अमुक परिणाम मे एक ही प्रकार का जब फल प्राप्त हो जाय तो फिर अपने सिद्धान्तों का परिष्कार किया जाय। यह बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य हो जायगा। देखने मे तो यह रक्त के वर्ण की परीक्षा है, परन्तु इससे साथ ही साथ द्रव्य, गुण, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव, कर्म आदि के सिद्धान्तो का तथा त्रिदोष सिद्धान्त का भी परीक्षण हो जाएगा। इस परीक्षण के आधार पेपर लिटमस पर जैसे पेपरो या घोलने मिलाने के कतिपय द्रव्यो एव विभिन्न मीटरों का आविष्कार करना चाहिए, जो स्थायी रूप से आयुर्वेदीय सिद्धान्तो के साधक बन जाय और इस विज्ञान को शाश्वतता अक्षुण्ण रह जाय। अन्यथा हमारे देखते देखते यह विलुप्त हुआ जा रहा है।

उपर्युक्त गवेषण कुछ भी कठिन नही है। यदि एक ही सस्था इसे न कर सके तो दस पाच सस्थाए मिल कर निश्चित कार्यक्रम के अनुसार इस दिशा मे प्रवृत्त हो सकती है। औषधियो का व्यवसाय करने वाली फार्मेसिया और कम्पनिया भी इस कार्य को आसानी से कर सकती हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि यदि ऐसा आविष्कार हो जाय तो औषधियो, साधनो, यत्रो आदि के विक्रय से उनकी आय कितनी बढ जायगी और कितनी उनकी प्रतिष्ठा होगी।

(ख) रस परीक्षा—

रक्त के रस की परीक्षा किसी मनस्वी परीक्षक की जिह्वा से होनी तो अत्यन्त कठिन है। उसे यह घृणास्पद कर्म राक्षसी प्रतीत होगा और स्वास्थ्य के लिये हानिप्रदत्व की आशका वाला भी। अपने कॉलेज मे एक पार्टटाइम टीचर ने 'पिपेट' नामक नलिका को मुंह मे लेकर रक्त को खीचते समय हमसे कहा था कि "रक्त परीक्षण की इस विधि मे श्वास के साथ रक्त के दूषित परमाणुओ का भीतर चले जाना परीक्षक के स्वास्थ्य के लिये सदैव खतरा बना रहता है।" अतएव पाश्चात्य पद्धति मे भी सुधार की अपेक्षा बनी हुई है। हमारी समति मे रक्त 'सिरिंज' द्वारा सिरा मे से लेना चाहिये। जिस प्रकार आधुनिक रक्तदान मे वह लिया जाता है, उस विधि से भी लिया जा सकता है, फिर उसका उपर्युक्त षड्रस मिश्रण तथा दोषादि के मिश्रण की पद्धति से ही परीक्षण कर अपने सिद्धान्तो का

परिष्कार करना चाहिये। यदि मधुर, अम्ल और कटु इन आयुर्वेदीय विपाकों का भी परीक्षण रक्तगत ही किया जाय तो, रक्तरस परीक्षा मे बडी सरलता रहेगी। उसमे (ग्लुकोज) गुडकोज या शर्करा जातीय पदार्थों को मधुर रस या मधुर विपाक माना जा सकता है। लवण रस का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को मुख मे निर्गत रक्त मे हो सकता है, परन्तु परकीय शरीर के रक्त मे वह कितनी मात्रा मे है इसके परिज्ञान के लिये अन्य प्रक्रिया खोजनी चाहिये। इसी प्रकार अम्ल, कटु, तिक्त और कषाय के लिये भी समझना चाहिये।

एक शका हो सकती है कि नवीन पद्धति से जो किसी द्रव्य से कार्यकारी तत्त्व पृथक् किये जाते हैं, वे द्रव्य रूप होते हैं और उनका व्यवहार भी पर्याप्त हो रहा है, परन्तु नये रूप मे सुझाई जा रही आयुर्वेदिक पद्धति मे यह कैसे संभव होगा, क्योकि आयुर्वेद मे तो गुण-गुणी के अपृथग्भाव का सिद्धान्त है। इसका समाधान यह किया जा सकता है कि—ऐसे स्थलो मे आयुर्वेद के "गुणकूटो द्रव्यम्" इस सिद्धान्त का आश्रयण किया जाना चाहिए। (इस पर अधिक प्रकाश किसी अन्य समय डाला जायगा) अत अनेक गुणसमूहात्मक द्रव्य मे से किसी कार्यकारी तत्त्व का पृथक्करण आयुर्वेदिक दृष्टि से भी असमत या असभव नही है।

(ग) गन्ध परीक्षा—

रक्त के गन्ध की परीक्षा का भी आयुर्वेद मे कम महत्त्व नही है। रक्त के गन्ध से मूर्च्छित होने का वर्णन मिलता है। यह गन्ध विस्र पित्त के सम्पर्क के कारण विस्र ही कही जा सकती है। इसके परीक्षण के लिये किसी साधन के खोजने की आवश्यकता नही। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी नासिका से ही उसका प्रत्यक्षानुभव हो जाता है।

(घ) स्पर्श परीक्षा—

रक्त मे नियत परिमाण से रहने वाली उष्ण-शीतता का परिज्ञान उसके स्कन्दन के समय और दुष्टिविशेष से उत्पन्न अधिक उष्णता-आदि के परीक्षणार्थ आवश्यक है और इसके लिये भी किसी यन्त्रादि भौतिक साधन का आविष्कार होना चाहिये। इस सम्बन्ध मे 'ट्रान्सफ्यूजन' की विधियो का तथा एक के रक्त से मिलान करने की विधि का भी साक्षात्कार आवश्यक है, जिससे आयुर्वेदीय चिकित्सक किसी आत्ययिकी अवस्था मे किंकर्तव्यविमूढ न बने रह जाय। 'थर्मामीटर' के समान किसी 'मीटर' का निर्माण इसके लिये अधिक कठिन नही होगा।

(ङ) शब्द परीक्षा—

शास्त्र मे रक्त के सशब्द निर्गम का वर्णन मिलता है। फरसे से काट डाले गये एक व्यक्ति के घाव से 'फुर-फुर' शब्दो के साथ निकलते हुए रक्त का अवलोकन हमने स्वय

यदि आगे जाकर इसमे कुछ परिवर्तन उचित प्रतीत हो तो वह यथासमय पीछे कर लिया जाय। ध्यान रहे कि ये स्राव आदि वे ही हैं, जो पाश्चात्य विज्ञान मे विभिन्न नामो से पुकारे जाते हैं। आयुर्वेद मे वे ऊपरि लिखित रीति से वात वर्ग, पित्त वर्ग और कफ वर्ग मे निर्भय होकर मान लिए जाय। गवेषको को एक बार समालोचनाओ और निन्दाओ को चुपचाप उसी प्रकार सहन कर लेना चाहिए, जिस प्रकार आयुर्वेद पर होने वाले आक्षेपो को अब तक सहन किया जाता रहा है।

यह परीक्षण १०० स्वस्थ व्यक्तियो के रक्तो पर और १०० रुग्ण व्यक्तियो के रक्तो पर किया जाय। प्रतिशत अमुक परिणाम मे एक ही प्रकार का जब फल प्राप्त हो जाय तो फिर अपने सिद्धान्तों का परिष्कार किया जाय। यह बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य हो जायगा। देखने मे तो यह रक्त के वर्ण की परीक्षा है, परन्तु इससे साथ ही साथ द्रव्य, गुण, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव, कर्म आदि के सिद्धान्तो का तथा त्रिदोष सिद्धान्त का भी परीक्षण हो जाएगा। इस परीक्षण के आधार पेपर लिटमस पर जैसे पेपरो वा घोलने मिलाने के कतिपय द्रव्यो एव विभिन्न मीटरो का आविष्कार करना चाहिए, जो स्थायी रूप से आयुर्वेदीय सिद्धान्तो के साधक बन जाय और इस विज्ञान की शाश्वतता अक्षुण्ण रह जाय। अन्यथा हमारे देखते देखते यह विलुप्त हुआ जा रहा है।

उपर्युक्त गवेषण कुछ भी कठिन नही है। यदि एक ही सस्था इसे न कर सके तो दस पाच सस्थाए मिल कर निश्चित कार्यक्रम के अनुसार इस दिशा मे प्रवृत्त हो सकती है। औषधियो का व्यवसाय करने वाली फार्मेसिया और कम्पनिया भी इस कार्य को आसानी से कर सकती हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि यदि ऐसा आविष्कार हो जाय तो औषधियो, साधनो, यत्रो आदि के विक्रय से उनकी आय कितनी बढ जायगी और कितनी उनकी प्रतिष्ठा होगी।

(ख) रस परीक्षा—

रक्त के रस की परीक्षा किसी मनस्वी परीक्षक की जिह्वा से होनी तो अत्यन्त कठिन है। उसे यह घृणास्पद कर्म राक्षसी प्रतीत होगा और स्वास्थ्य के लिये हानिप्रदत्व की आशका वाला भी। अपने कॉलिज मे एक पार्टटाइम टीचर ने 'पिपेट' नामक नलिका को मुंह मे लेकर रक्त को खीचते समय हमसे कहा था कि "रक्त परीक्षण की इस विधि मे श्वास के साथ रक्त के दूषित परमाणुओ का भीतर चले जाना परीक्षक के स्वास्थ्य के लिये सदैव खतरा बना रहता है।" अतएव पाश्चात्य पद्धति मे भी सुधार की अपेक्षा बनी हुई है। हमारी समति मे रक्त 'सिरिंज' द्वारा सिरा मे से लेना चाहिये। जिस प्रकार आधुनिक रक्तदान मे वह लिया जाता है, उस विधि से भी लिया जा सकता है, फिर उसका उपर्युक्त षड्रस मिश्रण तथा दोषादि के मिश्रण की पद्धति से ही परीक्षण कर अपने सिद्धान्तो का

परिष्कार करना चाहिये। यदि मधुर, अम्ल और कटु इन आयुर्वेदीय विपाकों का भी परीक्षण रक्तगत ही किया जाय तो, रक्तरस परीक्षा मे बडी सरलता रहेगी। उसमे (ग्लुकोज) गुडकोज या शर्करा जातीय पदार्थो को मधुर रस या मधुर विपाक माना जा सकता है। लवण रस का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को मुख मे निर्गत रक्त मे हो सकता है, परन्तु परकीय शरीर के रक्त मे वह कितनी मात्रा मे है इसके परिज्ञान के लिये अन्य प्रक्रिया खोजनी चाहिये। इसी प्रकार अम्ल, कटु, तिक्त और कषाय के लिये भी समझना चाहिये।

एक शका हो सकती है कि नवीन पद्धति से जो किसी द्रव्य से कार्यकारी तत्त्व पृथक् किये जाते हैं, वे द्रव्य रूप होते हैं और उनका व्यवहार भी पर्याप्त हो रहा है, परन्तु नये रूप मे सुझाई जा रही आयुर्वेदिक पद्धति मे यह कैसे सभव होगा, क्योकि आयुर्वेद मे तो गुण-गुणी के अपृथग्भाव का सिद्धान्त है। इसका समाधान यह किया जा सकता है कि—ऐसे स्थलो मे आयुर्वेद के "गुणकूटो द्रव्यम्" इस सिद्धान्त का आश्रयण किया जाना चाहिए। (इस पर अधिक प्रकाश किसी अन्य समय डाला जायगा) अत. अनेक गुणसमूहात्मक द्रव्य मे से किसी कार्यकारी तत्त्व का पृथक्करण आयुर्वेदिक दृष्टि से भी असमत या असभव नही है।

(ग) गन्ध परीक्षा—

रक्त के गन्ध की परीक्षा का भी आयुर्वेद मे कम महत्त्व नही है। रक्त के गन्ध से मूर्च्छित होने का वर्णन मिलता है। यह गन्ध विस्र पित्त के सम्पर्क के कारण विस्र ही कही जा सकती है। इसके परीक्षण के लिये किसी साधन के खोजने की आवश्यकता नही। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी नासिका से ही उसका प्रत्यक्षानुभव हो जाता है।

(घ) स्पर्श परीक्षा—

रक्त मे नियत परिमाण से रहने वाली उष्ण-शीतता का परिज्ञान उसके स्कन्दन के समय और दुष्टिविशेष से उत्पन्न अधिक उष्णता-आदि के परीक्षणार्थ आवश्यक है और इसके लिये भी किसी यन्त्रादि भौतिक साधन का आविष्कार होना चाहिये। इस सम्बन्ध मे 'ट्रान्सफ्यूजन' की विधियो का तथा एक के रक्त से मिलान करने की विधि का भी साक्षात्कार आवश्यक है, जिससे आयुर्वेदीय चिकित्सक किसी आत्ययिकी अवस्था मे किंकर्तव्यविमूढ न बने रह जाय। 'थर्मामीटर' के समान किसी 'मीटर' का निर्माण इसके लिये अधिक कठिन नही होगा।

(ङ) शब्द परीक्षा—

शास्त्र मे रक्त के सशब्द निर्गम का वर्णन मिलता है। फरसे से काट डाले गये एक व्यक्ति के घाव से 'फुर-फुर' शब्दो के साथ निकलते हुए रक्त का अवलोकन हमने स्वय

किया है। यह रक्त मे शब्द का परीक्षण कई रोगो के निदानविशेष मे उपयुक्त हो सकता है। इस प्रकार यह स्पष्टीकरण, नवाविष्करण आदि के योग्य एक विषय का विवेचन हुआ। अन्य भी देखिए—

(२) "काले चानवसेचनात्" (चरक० सू० २४।६)।

इस वाक्य के प्रकरण मे कहा गया है कि अमुक-अमुक हेतुओ से और यथासमय शरदृतु मे रक्तावसेचन न करने से वह दूषित हो जाता है परन्तु इस अवसेचन या निर्हरण का क्या प्रकार था ? रक्तदुष्टि से बचने के लिये क्या आज भी किसी को इस रक्तनिर्हरण के लिये आकृष्ट किया जा सकता है ? यदि नही तो एकमात्र अवशिष्ट कायचिकित्सा मे भी इस प्रकार की अनेक महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओ के लुप्त होते रहने से आयुर्वेद मे बचेगा क्या ? इस विधि का पुन वैज्ञानिक रूप से प्रचार होना चाहिये।

(३) "स्रावण शोणितस्य च" (चरक० सू० २४।१८)।

यह भी पूर्व जैसा ही प्रकरण है। यह शोणित का स्रावण भी सर्वथा विस्मृत है। सुश्रुतोक्त सिरावेध ही इसका प्रकार हो सकता है। परन्तु परिहार्य सिराओ के प्रायोगिक परिचय कराने के साथ उनके वेध की विधियो का उपदेश कितने वैद्य दे सकते हैं ? इसी वाक्य के आगे यह श्लोक है—

बलदोषप्रमाणाद् वा विशुद्ध्या रुधिरस्य वा।
रुधिर स्रावयेज्जन्तो राशयप्रसमीक्ष्य च ॥ (चरक० सू० २४।१९)।

इस श्लोक मे उक्त बल और दोष के प्रमाण, रुधिर की विशुद्धि तथा आशय के प्रसमीक्षण का कोई भी यन्त्रादि भौतिक आधार नही है। रुधिर के आशय का परिचय भी बड़ा जटिल हो सकता है। अक्षरार्थ कर देने के सिवाय किसी मे ऐसा अनुभव भी दुर्लभ होगा कि जिससे भिषग्बुभूषु व्यक्तियो को इस विषय का सम्यक् उपदेश दिया जा सकता। इस विषय मे गवेषणा की जानी चाहिऐ। इस प्रसग मे श्री चक्रपाणिजी ने लिखा है कि—"रक्तावसेकविधान चेह पराधिकारत्वान्नोक्तम्, तच्च सुश्रुते ज्ञेयम्" (च० चि० २१।७०)। यदि आज श्री चक्रपाणिजी विद्यमान होते तो उनसे पूछा जा सकता था कि यदि रक्तविस्रावण का कार्य चरकोक्त होने पर भी पराधिकार की वस्तु है, तो, आपको केवल चरकसहिता की टीका पर ही शान्ति धारण करनी चाहिए थी, सुश्रुतसहिता की 'भानुमती' टीका लिखने मे आपको हाथ नही डालना चाहिए था। हम श्री चक्रपाणि की कृतियो के प्रति अनादर नही दिखाना चाहते। प्राय: एक हजार वर्ष से चरक के सिद्धान्तो की रक्षा उन्ही की व्याख्या से हो रही है। परन्तु उनके निर्देशानुसार यदि आज चरक का अध्येता सुश्रुतादि मे इस विधि को देखना चाहे तो वहा से कौनसा प्रायोगिक प्राप्त करेगा ? परिणाम यह

होगा कि कायचिकित्सक एक ओर छात्र के सामने लज्जित होगा और दूसरी ओर आयुर्वेद पर होने वाले आक्षेपो को जहर की घूट बना कर पीता रहेगा। अतः रक्तावसेक की इस विधि को पुनरुज्जीवित करना चाहिए और बल-दोष के प्रमाणार्थ एव रक्तविशुद्धि के परीक्षणार्थं किसी यन्त्र का भी आविष्कार करना चाहिए।

(४) अरुणाभ भवेद् वाताद् विशद फेनिल तनु।
पित्तात् पीतासित रक्त स्त्यायत्योष्ण्याच्चिरेण च ॥
ईषत्पाण्डु कफाद् दुष्ट पिच्छिल तन्तुमद् घनम्। (च०सू०२४,२०-२१

यह है दुष्ट शोणित के स्रावणार्थ आयुर्वेद के प्राचीन लक्षण। इनमे शोणित के वास्तविक रग और वात दुष्ट के 'अरुणाभ' रग मे भेद बतला देना असभव नही तो कम कठिन भी नही है। कोषो मे 'अव्यक्तरागस्त्वरुण." (अमर० १,५,१५) यह अरुण का लक्षण किया गया है। परन्तु रक्त शोणित मे राग की अव्यक्तता सिद्ध करना सरल नही है। विशदता, फेनिलता, पीतता, असितता और ईषत्पाण्डुता सिद्ध करना भी अत्यन्त कठिन है। "पैत्तिक रक्त उष्ण होने से चिरकाल से जमता है"– इस सिद्धान्त के प्रतिपादन मे भी यह निर्णय होना चाहिए कि शरीर से निर्गत रक्त साधारणतया इतने समय मे जम जाता है, इससे अधिक समय लगने पर वह पैत्तिक या पित्तदूषित होता है। विभिन्न दोषो की कालमर्यादा निश्चित न होने से कितने समय के अनन्तर 'चिर' होता है– इसका परिज्ञान साधारण वैद्य को नही हो सकता।

यह सब रक्तसम्बन्धी ही विचार हुआ है। अब थोडा सा शास्त्रो के सन्दिग्ध स्थलो का भी विचार कर लेना आवश्यक है। यहां निदर्शनार्थ कतिपय विषय दिए जा रहे हैं—

(१) चरक चि० ५,९४ मे लिखित 'रसोनसुरा' पर श्री चक्रपाणि ने लिखा है– "क्षीर रसोनयोर्व्याधिमहिम्ना सहोपयोग', ऋषिवचनाद् वा" यहा व्याधिमहिमा का स्वरूप क्या है और क्षीर तथा लशुन इन दो सयोगविरुद्ध पदार्थों का सहोपयोग उसमे क्यो अनुकूल हो जाता है। ऋषिवचन आप्तवाक्य होने से यद्यपि आँख मूद कर श्रद्धेय है, तथापि जो ऋषि एक स्थान में इन दो पदार्थों को सयोगविरुद्ध कहता है, वही स्थानान्तर मे रोगविशेष की चिकित्सा के लिए इनका सहोपयोग बतलाता है, तो, द्रव्यगुणशास्त्र की दृष्टि से रोग और औषध इन दोनो का सम्बन्ध तथा अनुकूलता का कारण अवश्य विचारणीय हो जाता है। ऐसे स्थलो मे निश्चित बात लिखनी आवश्यक है। अन्यथा वह अवैज्ञानिकता के आक्षेप को प्रश्रय देता है और चिकित्सक को भी सन्देहदोलायित रखता है।

(२) चरक चि० ५,९७ मे 'पञ्चमूली' के प्रयोग पर श्री चक्रपाणि का लेख है– "प्रथम कल्पनया शालपर्ण्यादिपञ्चमूली" यहा प्रथम कल्पना यदि लघुपञ्चमूल के रूप मे समझी

जाय तो भी वातिक गुल्म के नाशन मे 'लघुपञ्चमूल' श्रेष्ठ है अथवा 'बृहत् पञ्चमूल' इस बात का सहेतुक विवेचन आवश्यक है।

(३) चरक चि० ५,११२ मे यह श्लोक देखिये—

रसेनामलकेक्षूणा घृतपाद विपाचयेत्।
पथ्यापाद पिबेत् सर्पिस्तत्सिद्ध पित्तगुल्मनुत्॥

यहा 'घृतपाद' के स्थान मे टीका मे दिए हुए 'घृतप्रस्थमिति' प्रतीक के अनुसार तथा टिप्पणी मे दिखाए गए पाठान्तर के अनुसार यही पाठ होना चाहिए, परन्तु कल्क रूप मे दीयमान हरीतकी के प्रमाण के विषय मे सन्देह की निवृत्ति मतभेद के कारण नही हो सकती। इससे चिकित्सक कौनसा प्रमाण ग्रहण करे ? ऐसे स्थल निश्चित होने चाहिए।

(४) चरक चि० २,२,३ में श्री चक्रपाणि का लेख है- "अत्र च प्रयोगमहिम्नैव मधुयुक्त-स्यापि प्रयोगस्य भर्जनक्रियायामग्निसंयोगो न विरोधमावहति, तथा हि सश्रुतेऽपि त्रिफलाय-स्कृतौ मधुनोऽग्निसम्बन्धो भवत्येव'। यहा सामान्य सिद्धांत का अपवाद क्यो किया गया ? यह गवेषणीय है। मधु का अग्निसयोग विरुद्ध है यह सामान्य सिद्धात है।

(५) चरक चि० ८,१३७ गुल्म मे 'घटीयन्त्र का प्रयोग और उसकी सफलता परीक्षणीय हैं। इसी प्रकरण मे 'विमार्ग', 'अजपद' और 'आदर्श' इनका प्रयोग किस प्रकार होता था ? यह तो पता ही नही है, किन्तु इन्हे पढाते समय छात्र भी कह बैठते हैं कि यह चिकित्सा विषय मे प्रारम्भिक काल की अपरिष्कृत शैली का सूचक है। इसमे या तो यह किया जाय कि टीकाकारो को व्याख्याओ को बदल कर आयुर्वेद के लिए उसे गौरववर्धक बनाया जाय और या उन पाठो को ही निकाल डाला जाय, जिससे आयुर्वेद भक्तो को आयुर्वेद की निन्दा न सुननी पडे। इस विकल्प मे अर्थ बदल कर उपयुक्त चिकित्सा का उसे रूप दिया जाय यही उचित प्रतीत होता है।

(६) चरक चि० ५,१६३ यहा गुल्म मे "दाहस्त्वन्ते प्रशस्यते" यह वचन है, जिसका अर्थ है कि यदि गुल्म में क्रियान्तर की असिद्धि हो तो दाह करना चाहिए। यह दाह कैसा है और किस विधि से दिया जाता है ? यदि बाहर दिया जाता है तो अत स्थित गुल्म पर उसका प्रभाव कैसे पडता है ? यह वैज्ञानिक ढग से तथा अनुभूत रूप में चिकित्सक जगत् के सामने आना चाहिए। अन्यथा इसका महत्व छात्रो को कैसे समझाया जाय और किसी पूछने वाले को क्या उत्तर दिया जाय ? प्रत्येक स्थल मे "हमे मालूम नही है" यह कहते रहने से तो आजकल अध्यापक की प्रतिष्ठा जाते देर ही नही लगती।

(७) अष्टाङ्गहृदय चि० ७,३३ पर "अशाम्यति रसैस्तृप्ते रोहिणी व्यधयेत् सिराम्" यह

वाक्य मिलता है। यहा यह रोहिणी सिरा कौनसी है, किस स्थान की है और इसके वेधन का प्रकार क्या है ? यह सब गवेषणीय विषय है तथा प्रायोगिक रूप मे छात्रो को सिखाने की वस्तु है।

(८) अष्टाङ्गहृदय शा० ४,१३ पर "द्वारमामाशयस्य च" इस वचन की व्याख्या करते समय अरुणदत्त ने लिखा है कि 'तेन हि द्वारेणान्नपानमामाशये प्रविशति" सर्वांगसुन्दरा टीका का यह लेख शरीर रचना और शरीर क्रियाविज्ञान की दृष्टि से कितना सङ्गत है ? यह गवेषणा होनी चाहिये।

(९) अष्टाङ्ग हृदय सू० ७, २८ पर एक वाक्य है—'शुद्धे हृदि तत शाण हेम-चूर्णस्य दापयेत्' इसमे सुवर्ण चूर्ण या 'सुवर्ण भस्म की 'माषैश्चतुर्भि शाणः स्यात्' इस प्रकार के ४ माशे शाण की मात्रा का क्या औचित्य है ? यह परीक्षणीय है।

कहा तक लिखा जाय सैकडो ऐसे स्थल है जिन पर शताब्दियो से न तो कोई शोधन का कार्य हुआ है और न गवेषणा ही की हुई दिखाई देती है। चक्रपाणि की निर्णय सागर में मुद्रित टीका और जल्प कल्पतरु के साथ मुद्रित टीका इन दोनो मे इतना पाठ भेद है कि पाठान्तरो में दिए गए पाठो से भी उनकी गतार्थता नही होती। कही कही तो ऐसे भ्रष्ट पाठ मिलते हैं कि उन्हे बदले बिना काम ही नही चलता। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा चरक० चि० अ० ८ श्लोक ५८ की टीका है 'विवद्ध मार्गत्वादिति रक्तस्य मासाद्यभिगमे यो मार्गस्तन्निरोधान्मासादभिगच्छद्रक्त मासाशये एव कृताधिष्ठानं प्रस्रवण-जलमिव विवद्धमार्गत्वाद बहु भवति' क्या इस पाठ को कोई सगति बैठाई जा सकती है ? हमारे विचार से तो कभी नही। यदि इस पाठ के थोडे से अश को 'मासादीननभिगच्छद्रक्त मामशये एव' इस प्रकार बदल दिया जाय तो पाठ की सङ्गति ठीक बैठ जाती है। साराश यह है कि आयुर्वेद के नामलेवा महानुभावो को आयुर्वेद की सेवा में कुछ तो अपने समय का प्रतिनिधित्व करना चाहिए था। परन्तु ऐसा कुछ भी नही हुआ और आज तो दशा यहा तक पहुच गयी है कि प्रजा पक्ष से उपेक्षित तथा सत्ता पक्ष से हतोत्साह अथवा दलित आयुर्वेद का बचाखुचा अश भी हमारे हाथो से निकला जा रहा है। अब तो बृहत्रयी को तीनो ही सहिताओ के निर्णयसागरीय सस्करण जो कि अपने सौष्ठव के लिये सर्व प्रथम गणनीय सैकडो रुपए व्यय करने पर भी उपलब्ध नही हो सकते। लेखनकला भी आज केवल जैन समाज में ही प्रचलित रह गई है, हम सब सर्वथा शून्य हैं। यदि अब इस प्रकार के सस्करण न हो तो क्या हम इन आर्ष सहिताओ की किस प्रकार रक्षा कर सकेगे ? कभी नही। जिनके पास पुरानी पुस्तकें हैं वे ही उनकी सन्तानो के एक बार भी हाथ पड गई तो गली सडी होने से चूरमूर हुए बिना हाथ नही आयेंगी। अत हमारे प्रयत्नो और विशेषत गवेषणाओ के प्रकारो मे नया मोड लाना चाहिए। उसके लिए कतिपय सुझाव देना अनुपयोगी न होगा—

(१) वर्तमान मे कुछ खास रोगो के निदान, लक्षण और चिकित्सा सम्बन्धी साहित्य को सकलित कर तथा रुग्णालय मे तद्विषयक रोगियो को भर्ती कर उनके निदान चिकित्सा आदि के प्रयोगों का परीक्षण होता है। यह क्रम चालू रखा जाय तो कोई आपत्ति नही।

(२) आयुर्वेद के उपलब्ध वाङ्मय का सग्रह कर अधिकारी विद्वानो द्वारा उसका सशोधन करवाया जाय और अपने सिद्धान्तो की सुनिश्चितता को उस वाङ्मय मे सुरक्षित रखा जाय।

(३) ससार भर के समस्त पुस्तकालयो मे से अप्रकाशित साहित्य को खोज निकाल कर उसका सम्पादन तथा प्रकाशन कराया जाय।

(४) जिन व्यक्तियो के पास कोई अनुभूत तथा सिद्ध प्रयोग हो तो उनके सग्रह, सम्पादन तथा प्रकाशन का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए।

(५) शास्त्रो मे लिखे औषधियो के गुणावगुणो का पुनः आकलन होना चाहिए और जो परीक्षण को,कसोटी पर खरे उतरें उन्हें ही रखा जाय। परन्तु मूल पुस्तको मे वे जिस रूप मे हैं, उसी रूप मे रहने दिए जाय तथा कालान्तर मे कोई उपयोग हो इस दृष्टि से उन्हें लुप्त न होने दिया जाय।

(६) समस्त विलुप्त तन्त्रो का पुनरुद्धार किया जाय और इस समय किसी भी देश मे जो चिकित्सा पद्धति चल रही है उसे आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तो से समन्वित कर सस्कृत भाषा के माध्यम से गद्यो या पद्यो मे निबद्ध कर उन तन्त्रो की पूर्ति की जाय। भगवत्कृपा से अब भी बहुत से विद्वान् इस कार्य मे क्षमता रखते हैं। उनका उपयोग नही हुआ तो अगली पीढी मे उनके दर्शन भी नही होगे।

(७) कुछ ऐसे भी रोग हैं कि जो साध्य सम्मत हैं परन्तु शास्त्रानुसार निदान चिकित्सा होने पर भी उनमे सिद्धि नही मिलती। उन पर नवीन गवेषणाए होनी चाहिए।

(८) समय समय पर जो चिकित्सा विज्ञान मे नई बाते देखने सुनने को मिलती हैं, उन पर आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से विचार किया जाकर प्रकाशित करना चाहिए और आयुर्वेद मे उनकी उपलब्धि न हो तो उन्हें उसी सस्कृति के माध्यम से आत्मसात् कर आयुर्वेद मे सम्मिलित कर लिया जाय। केवल भारतीय सस्कृति की विनाशक बातो को छोड दिया जाय। जैसे रक्त परीक्षण की एक विधि 'काहन टेस्ट' गोहत्या सम्बद्ध है, उसका स्पर्श भी न किया जाय।

(९) आधुनिक सर्जरी के शस्त्र यत्रो मे और आयुर्वेदीय शस्त्र यत्रो मे बहुत से अशो मे समानता है। अत. भारत राष्ट्र मे आयुर्वेदीय ढग से उन्हें बनाने की क्षमता आवे,

तब तक प्रचलित शस्त्र यन्त्रो को ही लेकर आयुर्वेदीय शल्य यन्त्रो को पुनरुज्जीवित किया जाय और निपुण चिकित्सक तैयार किए जाय।

(१०) औषध निर्माण आदि के नए नए कल्पो के ग्रहण की आयुर्वेद मे स्पष्ट आज्ञा है। अत अपनी औषध निर्माण प्रक्रिया मे औचित्य एव लाभ की दृष्टि से उनके ग्रहण का निषेध नही होना चाहिए।

साराश यह है कि प्राचीन शास्त्रो का एक अक्षर भी लुप्त न होने देना चाहिए और नवीन के उपादान तथा आत्मसात् करने मे प्रतिरोध भी न होना चाहिए। गवेषणा का यह भी एक प्रकार है जो 'आयुर्वेदीय अनुसन्धान पद्धति' कहा जाता है। आज नही तो कल इसे अपनाना ही होगा। तथास्तु।

(१) वर्तमान मे कुछ खास रोगो के निदान, लक्षण और चिकित्सा सम्बन्धी साहित्य को सकलित कर तथा रुग्णालय मे तद्विषयक रोगियो को भर्ती कर उनके निदान चिकित्सा आदि के प्रयोगों का परीक्षण होता है। यह क्रम चालू रखा जाय तो कोई आपत्ति नही।

(२) आयुर्वेद के उपलब्ध वाङ्मय का सग्रह कर अधिकारी विद्वानो द्वारा उसका सशोधन करवाया जाय और अपने सिद्धान्तो की सुनिश्चितता को उस वाङ्मय मे सुरक्षित रखा जाय।

(३) ससार भर के समस्त पुस्तकालयो मे से अप्रकाशित साहित्य को खोज निकाल कर उसका सम्पादन तथा प्रकाशन कराया जाय।

(४) जिन व्यक्तियो के पास कोई अनुभूत तथा सिद्ध प्रयोग हो तो उनके सग्रह, सम्पादन तथा प्रकाशन का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए।

(५) शास्त्रो मे लिखे औषधियो के गुणावगुणो का पुनः आकलन होना चाहिए और जो परीक्षण की कसौटी पर खरे उतरें उन्हे ही रखा जाय। परन्तु मूल पुस्तको मे वे जिस रूप मे हैं, उसी रूप मे रहने दिए जाय तथा कालान्तर में कोई उपयोग हो इस दृष्टि से उन्हें लुप्त न होने दिया जाय।

(६) समस्त विलुप्त तन्त्रो का पुनरुद्धार किया जाय और इस समय किसी भी देश मे जो चिकित्सा पद्धति चल रही है उसे आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तो से समन्वित कर सस्कृत भाषा के माध्यम से गद्यो या पद्यो मे निबद्ध कर उन तन्त्रो की पूर्ति की जाय। भगवत्कृपा से अब भी बहुत से विद्वान् इस कार्य मे क्षमता रखते हैं। उनका उपयोग नही हुआ तो अगली पीढी मे उनके दर्शन भी नही होगे।

(७) कुछ ऐसे भी रोग हैं कि जो साध्य सम्मत हैं परन्तु शास्त्रानुसार निदान चिकित्सा होने पर भी उनमें सिद्धि नही मिलती। उन पर नवीन गवेषणाए होनी चाहिए।

(८) समय समय पर जो चिकित्सा विज्ञान मे नई बाते देखने सुनने को मिलती हैं, उन पर आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से विचार किया जाकर प्रकाशित करना चाहिए और आयुर्वेद मे उनकी उपलब्धि न हो तो उन्हें उसी सस्कृति के माध्यम से आत्मसात् कर आयुर्वेद मे सम्मिलित कर लिया जाय। केवल भारतीय सस्कृति की विनाशक बातो को छोड दिया जाय। जैसे रक्त परीक्षण की एक विधि 'काहन टेस्ट' गोहत्या सम्बद्ध है, उसका स्पर्श भी न किया जाय।

(९) आधुनिक सर्जरी के शस्त्र यत्रो मे और आयुर्वेदीय शस्त्र यत्रो मे बहुत से अशो में समानता है। अत. भारत राष्ट्र मे आयुर्वेदीय ढग से उन्हें बनाने की क्षमता आवे,

तब तक प्रचलित शस्त्र यत्रो को ही लेकर आयुर्वेदीय शल्य यत्रो को पुनरुज्जीवित किया जाय और निपुण चिकित्सक तैयार किए जाय।

(१०) औषध निर्माण आदि के नए नए कल्पो के ग्रहण की आयुर्वेद मे स्पष्ट आज्ञा है। अत अपनी औषध निर्माण प्रक्रिया मे औचित्य एव लाभ की दृष्टि से उनके ग्रहण का निषेध नही होना चाहिए।

साराश यह है कि प्राचीन शास्त्रो का एक अक्षर भी लुप्त न होने देना चाहिए और नवीन के उपादान तथा आत्मसात् करने मे प्रतिरोध भी न होना चाहिए। गवेषणा का यह भी एक प्रकार है जो 'आयुर्वेदीय अनुसन्धान पद्धति' कहा जाता है। आज नही तो कल इसे अपनाना ही होगा। तथास्तु।

आयुर्वेदीय चिकित्सा के चारों पाद की वर्तमानावस्था

लेखक आचार्य विनायक जयानन्द ठाकर

शास्त्री, काव्यतीर्थ, ए. एम. (बी. एच्. यू) जामनगर

[शास्त्रीजी का जन्मस्थान जोडीया नवानगर है। प्रारंभिक शिक्षा अपने ग्राम में ही प्राप्त कर सर्वोच्च शिक्षा हिन्दू विश्व विद्यालय बनारस से प्राप्त की। शिक्षा के बाद सन् ४६ से गुलाब कुवर बा आयुर्वेदिक सोसायटी द्वारा सचालित आयुर्वेदिक महाविद्यालय में आचार्य पद पर आसीन होकर चरक सहिता प्रकाशन में सहयोग दिया। भारत सरकार द्वारा स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र (आयुर्वेद) की स्थापना सन् ५६ से हुई तभी से मौलिक सिद्धान्त एव चरक सहिता विभाग के प्राचार्य पद के कार्य के साथ वहा से प्रकाशित होने वाले प्रमुख पत्र 'आयुर्वेदालोक' की सपादकता व आयुर्वेदीय शब्द कोष के निर्माण में सतत सलग्न हैं।

आप सौराष्ट्र और गुजरात राज्य के आयुर्वेदिक बोर्ड के सदस्य भी हैं, तथा वर्तमान में गुजरात आयुर्वेद विश्व विद्यालय के सर्वप्रथम उपकुलपति हैं। आपने 'उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर रहते हुए आयुर्वेदीय चिकित्सा के चारों पाद की वर्तमान व्यवस्था पर सामयिक विचार भेजे हैं जो हृदयगम करने लायक है।

—वैद्य बाबूलाल जोशो, सम्पादक]

वर्तमान समय मे आयुर्वेद के अनुयायी चाहे व्यवसायी चिकित्सक हो चाहे विद्यार्जनरत छात्र हो कोई भी आयुर्वेद की स्थिति से सन्तुष्ट नही हैं। समाज और सरकार दोनो तरफ से उपेक्षितसा और अपने लिये उचित स्थान तथा सम्मान से वञ्चितसा अपने को महसूस करता है। इस विषय मे वैद्य समुदाय के किसी भी वर्ग की कोई विमति नही है। वैज्ञानिक विकास के इस युग मे समाज मे आयुर्वेदावलम्बी जनता एव आयुर्वेदोपासक वैद्यो का दिनो दिन ह्रास होता जाता है अत वैद्यो को माग है कि राज्याश्रय एव राज्य द्वारा वैद्यो को निश्चित स्थान देकर सेवा का अवसर देने से एव इस प्रकार वैद्यो की उपयोगिता एव प्रतिष्ठा स्थापित होने से वैद्यो का उत्साह एव जनता मे गौरव बढेगा अत. राज्य को वैद्यो का स्थान-मान देकर उनकी सेवा का उपयोग करना चाहिए तथा आयुर्वेद को इस प्रकार सम्मानित एव पुन॰ प्रतिष्ठित करना चाहिए। सरकारी रवैया ऐसा रहा है कि आयुर्वेद समाज के लिये उपयोगी सिद्ध होने पर समाज ही उसका आश्रयदाता बनेगा और उसको प्रतिष्ठा गौरव देगा। सरकार का इस दिशा मे कोई कर्त्तव्य रहता ही

नही। हा व्यवसाय का नियन्त्रण औषध नियन्त्रण इत्यादि के द्वारा वह जनता के हितो की देखभाल करने से कभी न चूकेगी। साथ साथ शिक्षालयो को अनुदान देते समय क्या पढाना क्या न पढाना इसके निर्देश भी शर्तों के रूप मे रख कर सस्थाओ के दैन्य एव अपने अधिकार का परिचय भी दिखाना अपना कर्त्तव्य समझती है। इस तरह समाज एव राज्य दोनो तरफ से उपेक्षित वैद्य समाज असतुष्ट एव दु खी होकर अपने अभ्युत्थान के लिये अपने अपर्याप्त साधनो से उद्योग एव उद्घोष करता रहता है। इस स्थिति को सुधारने के लिये तथा अपने पूर्वकालीन गौरव के स्थान मे समाज एव राज्य द्वारा पुन प्रतिष्ठित होने के लिए उद्योग करने की आवश्यकता के विषय मे भी वैद्य समाज मे दो मत नही हैं। उन्नति को प्राप्त करने के लिए जिसने जो मार्ग उचित समझा उस मार्ग से प्रयत्न करना भी शुरू कर दिया है किन्तु, स्थिति वैसी या कभी बिगडती हुई भी दीखती है। हा एक और बात भी है—कभी कभी ये मार्ग परस्पर विपरीतगामी होते हैं अतएव परिणामतः लक्ष्य प्राप्ति मे दोनो के लिए बाधक सिद्ध होते हैं। यथा शुद्ध सम्प्रदाय एव मिश्र सम्प्रदायक मार्ग।

प्राचीन काल मे तथा अभी के कुछ वर्षों पूर्व तक समाज मे वैद्यो की प्रतिष्ठा चिकित्सा सफलता के आधार पर बहुत थी। वैद्य आदर एव सम्मान के अधिकारी समझे जाते थे। समाज के लिए अत्युपकारक समझे जाते थे। वैद्यो के आचरण एव विक्रम (कर्म-चमत्कार) की ऐसी धाक थी कि देवेन्द्र हो चाहे मानवेन्द्र हो या जन सामान्य हो सबके लिए वैद्य पूजा है एव आदर सम्मान का अधिकारी था। इन्द्र के प्रत्येक आपत्काल एव उत्सव के अवसरो मे देवभिषक अश्विनीकुमारो को आदर के साथ सम्मिलित किया जाता था। राजाओ के युद्ध एव शातिकाल मे वैद्यो का निवास स्थान राज प्रासाद के समीप ही रहता था, वैद्यो का अधिकार जीवन रक्षा के समस्त व्यवहारो का अधीक्षण करना था तथा वैद्यो को नित्यजागरूक एव सतत सावध और सज्ज होकर नित्यसुलभ होना पडता था। जनसमाज के लिए भी वैद्य पिता या बन्धु के समान विश्वसनीय, रक्षणदाता, एव आश्वासन का स्रोत माना जाता था। अतएव हम देखते हैं कि जनसामान्य के लिए हितोपदेश देते हुए हितोपदेश मे कहा गया है कि उस ग्राम मे वास न करना चाहिए जहा वैद्य न हो। विगत कुछ दशाब्दियो के पहले तक यह स्थिति थी। इसका आभास कही कही विरल रूप मे अभी भी मिलता है।

इतना आदर, इतना महत्व और समाज के लिये इतना उपयोगी अग समझे जाने पर भी वैद्य अपनी उस स्थिति को कैसे खो बैठा ? वह एक अनावश्यक नही तो नगण्य या उपेक्षाई कैसे समझा जाने लगा ? क्या अमृत स्वरूप आयुर्वेद अब अमृत नही रहा या क्या वैद्य की आयुर्वेदोपासना शिथिल हो गई या क्या वह वस्तुत. शरीर रक्षा, सुखायु एव

दीर्घायु देने में असमर्थ एव विफल सिद्ध हुआ है ? अगर इसका उत्तर हा है तो इस स्थिति के उत्पन्न होने में क्या परिस्थितिया निमित्त भूत हैं। इनका उत्तर निषेधात्मक होने पर समर्थ होते हुए भी उपेक्षा और अनादर के जनक अन्य क्या कारण हो सकते हैं इनका विचार करना चाहिए।

इस परिस्थिति में आयुर्वेद का अपने न्याय स्थान में पुन प्रतिष्ठित होने के लिये समाज मे अपनो सफलता दिखा कर सेवा की श्रेष्ठता दिखाना जरूरी हो जाता है। जन-सेवा के द्वारा उपयोगिता सिद्ध होने पर ही आयुर्वेद अपने गौरव और सम्मान के स्थान को प्राप्त कर सकता है। तब जाकर सरकार इसके प्रति अपना दृष्टिकोण बदल कर उदार-बर्ताव करे यह आशा की जा सकती है। जनता को यह विश्वास होने पर कि आयुर्वेद के हाथो मे उनके प्राण सुरक्षित हैं वह आयुर्वेद का सम्मान अवश्य करेगी और तब जनता की सरकार भी जनता की राय की उपेक्षा नही कर सकेगो।

क्या यह स्थिति प्राप्त हो सकती है ? क्या आयुर्वेद इस प्रकार के विक्रम चमत्कार दिखा सकता है जिससे श्रद्धालु की श्रद्धा मे वृद्धि हो और प्रतिपक्षी एव अश्रद्धालु वर्ग भी इसके लौहे को स्वीकार करे ?

ऐसी अवस्था प्राप्त करने के लिये अर्थात् जनता का प्राणाभिसर वैद्य और सरकार का राजाई भिषक् बनने के लिए उपाय किन किन दिशा में करने चाहिए इसका सुझाव तथा शास्त्रीय विचार क्रमश. प्रस्तुत किया जाता है।

आयुर्वेद चिकित्सा को सफल सिद्ध होना हो तो चार बातो की स्थिति सुधारना ही नही अपितु उत्कृष्ट करना परम आवश्यक समझा गया है। ये चार वस्तुए हैं—वैद्य, औषध-परिचारक, और रोगी स्वयम्। व्याधिनिबर्हण या विकार प्रशमन रूपक्रिया इनमें से किसी एक के हो ऊपर निर्भर नही है किन्तु अनेक अथवा पूरे समुदाय के व्यवस्थित सहयोग या योजनापूर्वक प्रवर्तन जिसको युक्ति कहा गया है—पर निर्भर हैं। इन चारो के परस्पर सहयोग या असहयोग अथवा अनुकूलता वा प्रतिकूलता पर ही रोगनाशन रूप कार्य की सफलता वा विफलता आधारित है। यह बात किसी से छिपी नही है किन्तु इतनी सामान्य है कि प्रायः लोगो का ख्याल इस तथ्य की ओर जाता ही नही अतएव वैद्य का ही चिकित्सा कर्म की सफलता निष्फलता के लिये जिम्मेवार माना जाता है। वस्तुत ये चारो सयुक्त रूप से जिम्मेवार हैं अतएव इनको चिकित्सा का पाद कहा गया है। चारो पादो के सम्पूर्ण और पुष्ट होने पर ही चिकित्सा उन्नत हो सकती है। एक के भी विकल होने पर उसकी अवनति होती है।

वर्तमान स्थिति के साथ इन पदो का क्या सम्बन्ध है इसका विवरण अब पृथक् पृथक् प्रस्तुत किया जाता है।

पाद १ भिषक—वैद्य चिकित्सा का एक अन्यतम पाद है। किन्तु यह तीन पादो से प्रधान पाद है क्योंकि अन्य पाद इसके अधीन है। अन्य पादो के अभाव व अल्प गुण युक्त होने पर यह उनकी पूर्ति करने में कुछ अश तक समर्थ होता है किन्तु वैद्य के ही न रहने पर या अल्प गुण होने पर अन्य पाद कुछ नही कर सकते वे स्वय भी विकल ही रहते हैं। वैद्य की प्रधानता इसमें है कि वह (अ) विज्ञाता है—रोग और भेषज का अवस्थानुसार प्रयोग करने का ज्ञान उसी को होता है। (ब) शासिता है—परिचारक और रोगी को कर्तव्य-अकर्तव्य, हित अहित का निर्देश करना वैद्य का ही काम है। (स) योक्ता है—मात्रा काल, द्रव्य, देह, रोगावस्था आदि के अनुसार भेषज की योजना वैद्य ही कर सकता है। अतएव कहा गया है कि वह इस प्रकार से अपने गुणो को बढाने के लिए प्रयत्नशील रहे जिससे कि वह प्राणद मनुष्यो की जीवन की रक्षा करने में समर्थ हो। ऐसे गुणवान् वैद्य सर्वदा वदनीय आदर सम्मान पूजा के पात्र होते हैं।

अन्य पादो में वैद्य को प्रधानता देने वाले गुण पूर्वोक्त विज्ञान शासन और योजना की शक्ति हैं जो कि वैद्यक के व्यवहार में सफलता के लिए आवश्यक हैं। तथापि जीवन सार सम्बन्धी सारी योग्यता प्राप्त करने के लिए अन्य निम्नगुण भी आवश्यक हैं। यथा—

(१) श्रुते पर्यवदातत्वम्—

वैद्य को अधीत शास्त्रो मे नि सन्देह ज्ञान होना चाहिए। इतना ही नही वह सम्बन्धित सब शाखाओ का भी सम्पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए (शास्त्रपारग·, वेदपारग तत्वावगत शास्त्रार्थः)। शास्त्र का मर्मज्ञ पण्डित होना चाहिए। शास्त्र के प्रत्येक विषय का यहा तक कि प्रत्येक वाक्य और पद तक का सम्यग् एव निभ्रान्त ज्ञान होना परम आवश्यक है। आर्ष तन्त्र मे इस तरह पद वाक्य प्रश्न सब के अर्थ रहस्य या तात्पर्य को समझने पर ही तन्त्रकार आचार्य का अभिप्राय सही रूप मे जाना जा सकता है। तन्त्र के अर्थ को समझने के लिए तन्त्रयुक्तियो का ज्ञान आवश्यक है और तन्त्र युक्तियो को ज्ञान किसका कहा कैसे उपयोग करना यह गुरु परम्परा से ही प्राप्त होता है। अतएव वाग्भट 'तीर्थात्त-शास्त्रार्थो' और चरक ने अनुपरकृत विद्य आचार्य से विद्या प्राप्ति का उपदेश देकर शास्त्र ज्ञान का महत्व और परम्परा प्राप्त रहस्य का महत्व दिखाया है।

हम देखते हैं कि अनेक चिकित्सा प्रक्रियाओ का आजकल परम्परा छूट जाने मे लोप हो गया है। अनेक औषधिया सन्देहग्रस्त हैं। सिरावेध, अग्नि कर्म, क्षारपातन तथा शस्त्र कर्म आदि का व्यवहारिक कौशल एव शरीरावयव परिचय भी परम्परा भग होने से बिलकुल व्यवहार क्षेत्र से लुप्त हो गए हैं। भेषज चिकित्सा के क्षेत्र मे भी अनेक योग होते हुए भी अवस्थानुसार किसका कहा उपयोग होना चाहिए इसके निर्देशक के अभाव मे गणोक्त द्रव्य भी निर्गुण ही प्रतीत होने लगे हैं। यह स्थिति 'श्रुतेपर्यवदातत्वम्' तथा बहुशो

'दृष्टि कर्मता' के विपरीत 'श्रुते सन्देहवत्ता' तथा 'कर्मा प्रवर्तन' ही बढाती है। इस स्थिति को तब ही दूर किया जा सकता है जब स्नातक एव अनुस्नातक श्रेणी की शिक्षाओ में छात्रो की प्रवेश योग्यता में सुधार हो तथा अध्यापक वर्ग प्रयोग ज्ञान-विज्ञान सिद्धि सिद्ध हो।

(२) बहुशो दृष्ट कर्मता—

शास्त्र ज्ञान के साथ साथ उस ज्ञान को व्यवहार में चरितार्थ होते देखा जाय (दृस्ट कर्मा) यह शास्त्र में श्रद्धा के दृढीकरणार्थ तथा आत्मविश्वास एव साहस की वृद्धि के लिये आवश्यक है। सुश्रुत ने योग को ही योग्यता सम्पादन करने वाला बतलाया है और योग्या विभिन्न कर्मों का अपने हाथो से अभ्यास है (स्वय कृती) निदान पद्धतियो का प्रयोग करके रोग-निर्णय का अभ्यास, चिकित्सा कर्मों का विभिन्न अवस्थाओ मे विभिन्न रोगियो में अनेक बार सफल प्रयोग का दर्शन तथा स्वय प्रयोग करके अव्यर्थता का अनुभव करना; तथा औषध परिचय सग्रह, सरक्षण एव कल्पना निर्माण योजना तथा वितरण आदि का समस्त विषयो का प्रत्यक्ष अनुभव एव स्वहस्त से क्रियान्वय, शल्यापनयन, शस्त्र-कर्म, व्यापत् (Emergency) का ज्ञान एव व्यापत्साधन ये सब ऐसे विषय हैं जहा पर प्राप्त अनुभव ही मनुष्य को यथार्थ रूप में वैद्य बनाते हैं जो कि आत्मनिर्भर, स्वशास्त्र मे श्रद्धावान् तथा स्वकर्म मे साहसपूर्ण होता है। क्रियान्वय रहित का शास्त्र ज्ञान केवल भारवाहन समान है। वर्तमान काल मे हमारे विद्यालयो की साधन एव व्यवस्था सम्बन्धी स्थिति क्या पूर्वोक्त परमावश्यक दोनो बातो को पूर्व रूप से वा आंशिक रूप से भी निर्वाह करने मे समर्थ है? आयुर्वेद की सकटकालीन इस स्थिति मे प्रत्येक आयुर्वेदानुरागी वैद्य एव विशेषतया आयुर्वेद के नेतागण एव आयुर्वेद-हितैषी राजनेतागण को आत्मनिरीक्षण करके इस प्रश्न का उत्तर ढूढना चाहिए। अगर कोई कमी है, विफलता का अगर कोई कारण है तो इन दो बातो का पूर्ति का अभाव ही है। आगे के आयोजन मे भी शास्त्रा-भ्यास एव कर्माभ्यास दोनो के लिये अधिक से अधिक सुविधा बढाना यही एक सही उपाय है। इनके अभाव मे छात्रो का झुकाव अन्यत्र हो या जिसमे वे जिससे दृष्टकर्मा बन सकते थे उनमे बने और उनके लिये आग्रही बने तो यह दोष न मान कर परिस्थितिजन्य अनपेक्षित परिणाम ही मानना चाहिए।

(३) दाक्ष्यम्—

दक्ष वही कहा जाता है जो किसी भी परिस्थिति मे विचलित न होकर बिना किसी घबराहट के, शांति किन्तु शीघ्रता के साथ अवस्थानुरूप कर्म करने का चातुर्य दिखाता हो। इसी को युक्तिमान्, प्रतिपत्तिमान् तथा प्रत्युत्पन्नमति भी कहा जाता है। कोई भी अन-पेक्षित आत्ययिक परिस्थिति होने पर तुरन्त ठीक निर्णय पर पहुचना, तदनुरूप कार्यकलाप

नियमित किंतु शीघ्रता से करके स्थिति को सम्हालने का ज्ञान या सूझबूझ चिकित्सा में परमावश्यक है। इसी के ऊपर अनेक जिंदगिओ के बचने या नष्ट होने का आधार है। इस प्रकार की सूझबूझ प्रत्येक मे एक समान और स्वभावसिद्ध नही होती परन्तु शिक्षा एव अनुभव के द्वारा (पूर्वोक्त योग्य गुरु द्वारा शास्त्र एव कर्म पथ का ज्ञान प्राप्त होने पर तथा स्वय कृती होने पर) इसका विकास किया जा सकता है। पूर्वोक्त दो साधनो के अभाव मे स्वाभाविक गुण रहते हुए भी उसका विकास अवरुद्ध रह जाता है। इस प्रकार अनेक होनहार और आशास्पद नवयुवको की शक्ति समुचित अवसर के अभाव मे ही कुण्ठित एव अविकसित रह गई है और अकर्मण्यता तथा हताशा का बोझ वहन कर रही है। अवसर प्राप्त होने पर इनके शक्ति-स्रोत का प्रवाह किसी से भी कम नही है। इसके भी उदाहरण मौजूद है।

जितहस्तत, प्रकृतिज्ञ एव क्लेशक्षम ये गुण भी दक्षता के अग हैं और चातुर्य के विशिष्ट पहलुओ की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं।

(४) शौच—

शुचिता अर्थात निर्मलता वैद्य का परमावश्यक गुण है। वैद्यक व्यवसाय के लिए यह अन्तरग एव बहिरग दोनो दृष्टि से आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। अन्तरग शौच मानसिक पवित्रता है इसका सकेत—मैत्री, करुणा, प्रीति और उपेक्षा वैद्य के व्यवहार के ये चार गुण होने चाहिए तथा इनमें भी वैद्य की विशेष रूप से सर्व प्राणियो के प्रति मैत्री या बन्धु-भाव का विकास करना चाहिए, इस उपदेश मे है। वैद्य सर्व का मित्र ही है अथवा निष्पक्ष और तटस्थ वृत्ति वाला है, यह प्रतिष्ठा वैद्य के लिए परमावश्यक है। राजा से रक और स्वजन से वैरी तक सब के प्रति समान रूप से चिकित्सार्थ तत्परता दिखाना वैद्य का धर्म है। इसी के साथ सम्बन्धित अन्य गुण निर्लोभ वृत्ति है और अनुकम्पा या भूत-दया है—चिकित्सा का पण्य विक्रय करने का निषेध इस बात को सूचित करता है। जितात्मा—इन्द्रिय-निग्रह और मर्यादा-पालन भी मानस-शुचिता के आवश्यक अग हैं—किसी के घर मे जाने पर रोगी के हित को छोड कर अन्य बातो मे या अन्य प्रलोभनो मे मन को उलझने न देना तथा गृह-स्वामी के साथ और उसकी उपस्थिति में ही स्त्री वर्ग की चिकित्सा एव वस्तुओ का आदान-प्रदान करना इत्यादि नियम वैद्य के आचार स्तर को उठाने के लिए हैं। इनके अतिरिक्त अनसूयक, अकोपन, अनहकृत, शीलवान आदि गुण भी वैद्य के साफल्य के लिए आवश्यक एव व्यक्तित्व की उदात्तता के सूचक हैं। बाह्य शुद्धि का भी बडा महत्त्व है—वैद्य की बाह्य शुद्धि इस प्रकार की होनी चाहिए कि जिससे जनसमाज में शुचिता के लिए वह उदाहरणरूप बने और जनसमाज को अपने रहन-सहन एव दर्शन मात्र से प्रभावित करे। इसलिए सुवेश सुसवीत, अनुद्धत वेश, प्रसाधित केश, कीर्तित नख आदि होना वैद्य के लिए परमावश्यक

समझा गया है। मलिन पदार्थों से दूषित होने पर हस्त-पाद आदि की पुन पुन शुद्धि, सलिलादि द्रव्यो का चौक्ष्य, पात्रियो का भी अमेध्यन होना, तथा शस्त्रादि उपकरणो एव समस्त द्रव्यो का मल सम्पर्क से परिहार करने मे सतर्कतापूर्वक आयोजन वैद्य का परम कर्त्तव्य हो जाता है। बाह्य शुद्धि आत्म-रक्षा और सक्रमण तथा उपसर्ग के परिहार के लिए यह नितान्त आवश्यक है। आधुनिक काल मे डाक्टरो मे बाह्य शौच की इस कला का सर्वतो-भावेन विकास हुआ है और उसका दृढता से पालन किया जाता है जो अनुकरणीय है।

(५) चिकित्सा प्राभृत (उपकरणवान्)—

वैद्य को हरेक प्रकार की आकस्मिक एव आत्ययिक अवस्थाओ मे काम दे सके ऐसे औषध तथा साधन-सज्जा से सुसज्ज रहना चाहिए। तथा इन सब सामग्री की पर्याप्त मात्रा मे सुविधा रखनी चाहिये। "सज्जोपस्कर भेषज" यह वैद्य के लिए दिया गया आवश्यक विशेषण है। हरेक प्रकार के उपस्कर—उपकरण—साधन-सामग्री तथा हरेक प्रकार के भेषज भी नित्य सज्ज होने चाहिए। न केवल सज्ज किन्तु प्रभूत-प्रचुर मात्रा मे भी होना चाहिए। अतएव वैद्य को 'चिकित्सा = चिकित्सा साधनानि प्रभृता = प्रकर्षेणभृता येन, प्रभूतकल्पा विद्यते यस्य वा स चिकित्सा प्राभृत इति' कहा गया है। साधनहीन वैद्य कुछ भी क्रिया करने मे समर्थ नही होता तथा जरूरत के अवसर पर साधनो का सग्रह करना सम्भव नही होता अतः पूर्व से ही आवश्यक उपयोगी साधनो एवं औषधो से सुसज्ज रहना ही सफलता के लिए अनिवार्य होता है। किन-किन उद्देश्यो से किन-किन द्रव्यो का एव साधनो का सर्वदा सग्रह होना चाहिए इसका वर्णन करने के लिए चरक ने उपकल्पनीया-ध्याय ही स्वतत्र रूप से उपदेश किया है। वह इस बात का महत्त्व एव हमारे आचार्यों की दूरदर्शिता को सूचित करता है।

(६) धीमान् (प्राज्ञ)—

वैद्य के लिए बुद्धिमान और स्मृतिमान होना परमावश्यक है। इन दोनो गुणो से हीनता वैद्य बनने मे बाधक होती है तथा कर्म-साफल्य मे भी बाधक होती है। वैद्य को ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न होना आवश्यक बताया गया है और बुद्धि तथा स्मृति की मन्दता से यह नही हो सकता। प्राप्त ज्ञान को मननपूर्वक (मति) समझना और वितर्क के द्वारा उसकी कसोटी करने के लिए कहा गया है। शास्त्र तो केवल दिशासूचन-दिग्दर्शन करता है किन्तु उससे ऊहापोह—अनुमान—युक्ति के आधार पर अनुक्तार्थ का ज्ञान करना और प्रसगानुरूप निर्णय करना बुद्धि का काम है यही विज्ञान है। तर्क को छोड कर केवल रूढ परिपाटी के अनुसरण से होने वाली सिद्धि की आयुर्वेद मे निन्दा की गई है। उत्तम बुद्धि वाले छात्र के ऊपर ही यह जिम्मेवारी तथा अधिकार दिया गया है कि वह ऊहापोह के द्वारा शास्त्र मे परिष्कार, परिवृद्धि, परिवर्तन करे। अतएव कहा गया है कि शास्त्र मे चाहे जैसा

कोई नियम बना दिया गया हो उसको एकान्तिक-अपरिवर्तनीय न मान कर तर्क के द्वारा जो अवस्थानुरूप कर्त्तव्य प्रतीत हो वही करना चाहिए। शास्त्र मे वमन आदि का निषेध किया गया है फिर भी बुद्धि से विचार करने पर किसी अवस्था मे उनका प्रयोग आवश्यक समझा जाए तो वही करना चाहिए। अपने तर्क की कसौटी से जो मार्ग प्रशस्त मालूम पड़े उसी का अनुसरण करना चाहिए। शास्त्र का अन्धानुकरण या हठवादिता नही होनी चाहिए। यह छूट स्वय शास्त्रकार ने दे कर उदारता का प्रदर्शन किया है। इसीलिए वैद्य को सर्वदा अपनी बुद्धि-प्रज्ञा का शोधन करते रहने का उपदेश दिया गया है। तथा बहुश्रुत हो कर शास्त्रान्तर और प्रतिपक्षियो से भी ज्ञान लेने का उपदेश दिया है। सम्यक शास्त्र-ज्ञान जितना आवश्यक है उतना ही सम्यग् बुद्धि-योग भी गलती से बचने के लिए आवश्यक समझा गया है। शास्त्रज्ञान एव बुद्धि की तीक्ष्णता दोनो के सयोग से ही चिकित्सा-कर्म मे गलतियो से बचा जा सकता है। बुद्धिविहीन शास्त्रज्ञान अन्धे के हाथ मे दीपक के समान है। इसी स्वतत्रता एव उदारता के कारण ही हमारे शास्त्रों मे उत्तरकाल में आविष्कृत रसशास्त्र से लेकर विदेशो से प्राप्त रोगो तथा औषधो के ज्ञान का यथासमय समावेश किया गया था। तथा वाग्भट्ट जैसे क्रान्तिकारी ने "युगानुरूप सन्दर्भ" निर्माण करने का साहस किया था।

(७) वैद्य को व्यवसायी, कर्माभ्यासरत, क्रियारत अथवा प्रवृत्तिशील होने का आदेश दिया गया है। अर्थात् अर्जित विद्या मे दोष न आए इसलिए तथा प्राप्त हस्तकौशल का लोप न हो एव नवीन प्रयोगो के द्वारा ज्ञान-वृद्धि हो इसलिए पुन पुन विविध क्रियाओ को दोहराते रहना चाहिए। इसके लिए दृढनिश्चयी, अप्रमादी तथा अश्रान्त हो कर क्रिया-शील—प्रयोगशील रहना चाहिए।

(८) परमावश्यक चतुष्टय ज्ञान सम्पन्न—

चरक ने कहा है कि राजाई भिषक बनाने के लिए अर्थात् राजमान्यता प्राप्त करने के लिए कम से कम चिकित्सा विज्ञान के निम्म चारो विभागो का परिपूर्ण होना परमावश्यक है। (१) रोगहेतुज्ञान, (२) रोगलिङ्गज्ञान, (३) रोगप्रशमनज्ञान, (४) रोग के अपुनर्भव का ज्ञान। सफल चिकित्सक बनने के लिए रोगी के उत्पादक कारणो का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। रोगो के लिङ्गज्ञान अर्थात् रोगो के विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान तथा रोगो के विशिष्ट हेतु और विशिष्ट स्वरूप के आधार पर विशिष्ट चिकित्सा का ज्ञान होना परमावश्यक है। किन्तु रोग के प्रशम के बाद उसकी पुनरुत्पत्ति न हो, रोग के आक्रमण से पूर्व ही रोगी को सुरक्षित बचाने के उपाय भी वैद्य को मालूम होने चाहिए। यह प्रत्येक राजाई वैद्य की कसौटी है। हमारी समझ मे वर्तमान काल में भी राज्य किसी भी चिकित्सक समुदाय से यही न्यूनतम अपेक्षा रखता है। प्रत्येक अध्यापन-मन्दिर का लक्ष्य भी अपने

अन्तेवासियो को इन जिम्मेवारियो के लिए सक्षम बना कर निकालने का होना चाहिए। इस आवश्यकता को पूरा करने में विविध शिक्षा-प्रयोग कहा तक सफल हुए हैं यह उनके पुरस्कर्ताओ, नीति-निर्धारको और अधिकारियो से ओझल नही है। हमारे साधन और शक्ति का अपव्यय परस्पर विरोधी मतो के सघर्ष में न करके पूर्वोक्त योग्यता जिस तरह से प्राप्त हो वैसे कार्यक्रम का ऐकमत्य से निर्माण करने में हो हमारे लिए सामाजिक प्रतिष्ठा या राजआश्रय की कुछ आशा की किरण प्राप्त हो सकती है। अन्यथा "अन्धतमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।"

इस प्रकार से वैद्य पूर्व निर्दिष्ट अपने गुणो की वृद्धि के लिए नित्ययत्नवान् रहने पर चिकित्सा का प्रधानपाद गुणवान् एव सबल होगा अतः वह अन्य पादो का अधिक कुशलता तथा समझपूर्वक उपयोग करके सिद्धि प्राप्त करने मे सफल होता है। तथापि अन्य पाद भी सिद्धि के लिए आवश्यक हैं ही।

पाद २—द्रव्याणि —

वैद्य अगर चिकित्सासिद्धि का कर्त्ता बन कर प्रधान कारण है तो द्रव्य भी चिकित्सासिद्धि का उतना ही आवश्यक अग है क्योकि वह सिद्धि का करण है। भेषज द्रव्य वैद्य को अपना लक्ष्य सिद्ध करने मे ठीक उसी तरह आवश्यक उपकरण है जैसे लकडी काटने के लिए कुल्हाडी अथवा लक्ष्य वेध करने के लिए तीर या गोली। कर्त्ता और करण के महत्व मे अन्तर केवल इतना ही है कि कर्त्ता के बगैर करण स्वय कुछ नही कर सकते, इनका प्रयोग करने वाला, प्रवृत्ति कराने वाला कर्त्ता होना ही चाहिए, कर्त्ता चाहे जिस उपकरण से अपनी कार्यसिद्धि कर सकता है। वह उपकरणो की पसदगी मे स्वतन्त्र है। द्रव्यो के सिद्धि देने वाले गुणो के विषय मे शास्त्रो मे कहा है कि:—

(१) द्रव्य मे सम्पत् होनी चाहिए। सम्पत् शब्द प्रशस्ततासूचक है जो स्वाभाविक गुणो की पर्याप्त उपस्थिति से अभिलक्षित होती है। अर्थात द्रव्य के निर्दिष्ट कार्य कर गुणो एव तत्वो की उपस्थिति यथावश्यक मात्रा मे होनी चाहिए। दूध जीवनीय द्रव्य है किन्तु वह स्निग्ध, मधुर आदि ओज के समान गुणो की उपस्थिति होने पर ही जीवनीय होता है। जब वह इन गुणो से हीन केवल श्वेत द्रव होता है तो अभीष्ट कार्य नही कर सकता। इस प्रकार समस्त द्रव्यो मे अपने स्वाभाविक गुणो की यथावद् उपस्थिति ही द्रव्य सम्पत् है। और वही सिद्धि का प्रमुख आधार है। आयुर्वेदीय औषध द्रव्यो की वर्तमान स्थिति का विचार करने पर इस प्रकार के गुणसम्पद्युक्त औषधो की दुष्प्राप्तता ही प्रमुख रूप से नजर आती है। कार्य कर और कीमती औषधियो मे मिलावट, सूखी औषधियो मे पुराणता और जन्तुजग्धता के कारण नि सारता सन्दिग्ध औषधियो मे रूप या गुणसाम्य वाली किन्तु भिन्नकर्मा प्रतिनिधि द्रव्यो की भरमार, ताजे औषधी की प्राप्ति एव सचय की कठिनाइया,

नामरूपज्ञ भिषग् एव वनवासियो का भी क्रमश ह्रास हमारी द्रव्य सम्पत् को घटा कर परम्परा या कार्यक्षमता के निरन्तर प्रतिबधक हैं जिनके निवारण के उपाय अभी तक नही ढूंढे गए हैं।

(२) तत्रयोग्यत्वम्

तत्र तत्तद् रोगे रोगिणि च योग्यत्वम् व्याधि हरत्वेन सम्यक् कर्म कर्तावम्। अर्थात् रोग की अवस्था और रोगी की अवस्था - मृदुमध्य तीक्ष्ण व्यक्ति तथा बालवृद्ध, तरुण, क्षीण बलवान आदि अवस्था भेद के अनुसार जिसका प्रयोग हो सके और सम्यग् योग होकर फल अभीष्ट हो वह योग्य औषध है। इस प्रकार प्रत्येक रोग की विभिन्न अवस्थाओ और रोगी की विभिन्न शरीर स्थिति के अनुसार प्रयोग हो सके इस प्रकार की द्रव्यो का सुलभ होना भी अत्यावश्यक है। बाल मे तीक्ष्ण औषध और बलवान् मे मृदु औषध का प्रयोग तथा तीव्र व्यक्ति मे मृदु औषध और मृदु व्यक्ति मे तीक्ष्ण औषध का प्रयोग अहितकर होता है। अतः अवस्थानुरूप समुचित औषध का सुलभ होना परमावश्यक है। हमारे विशाल औषध समूह मे इस प्रकार के औषधो की सुलभता अवश्य है किन्तु सबके लिए यथोक्त रूप मे सज्ज भेषज होना आर्थिक दृष्टया साध्य नही हो सकता।

(३) बहुता—

पर्याप्त राशि मे औषध प्राप्त होना चिकित्सा की सिद्धि मे इस तरह आवश्यक है कि ठीक मौके पर दुर्लभ औषध की प्राप्ति कठिन होती है अतः प्रत्येक औषध का पर्याप्त मात्रा मे पहले से ही सुलभ हो इस प्रकार से सग्रह कर लेना चाहिये। सगृहीत या असगृहीत किसी भी औषध की किसी भी मौसम मे यथेच्छ मात्रा मे प्राप्ति हो यही चिकित्सा की प्रथम आवश्यकता है। योग्य औषध भी अप्राप्य हो या अल्प राशि मे होने से प्रयोगकाल मे ही निःशेष समाप्त हो जाय तो इससे फल नही मिल सकता। अतएव उपकल्पनीयाध्याय मे पूर्व से ही आवश्यक सचार को तैयार रखने का उपदेश दिया गया है। एक कर्म के लिये अनेक औषध हो यह भी बहुता का तात्पर्य जैसे हमारे यहा ज्वरघ्न कासघ्न आदि के गुण बताये गये हैं जिनमे से जो सुलभ हो उनका एक या अनेक का प्रयोग किया जा सकता है।

अनेक विध कल्पना—

औषध द्रव्य ऐसा हो जिसके विविध प्रकार के निर्माण बनाये जा सकें। रोगी की रुचि एव कोष्ठादि की अवस्था के अनुसार तथा प्रयोगमार्गों की विविधता के अनुसार तथा सर्वकाल के लिए औषध की सुरक्षितता तथा कार्यक्षमता बनी रहे इस दृष्टि से औषध के ऐसे निर्माण-विविधयोग-कल्पनायें बनाई जा सकें जिससे उन विविध उद्देश्यो की पूर्ति हो। हमारे आचार्यों ने निर्माण विकल्पो का उपदेश करने के लिए कल्प स्थान का अलग विभाग रखा है, तो आधुनिक विज्ञान ने इसको एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में ही विकसित किया है।

कल्पना भेद के अनुसार गुण भेद का भी वर्णन किया है। सुरायोग तथा क्षीर, घृत, तैल, लेह, वर्तिक्रिया, प्रेय आदि इनके उदाहरण मात्र हैं किन्तु कल्पना के ये ही प्रकार हैं यह उनका अभिप्राय नही था। नवीन आवश्यकताओ के अनुसार नवीन कल्पना प्रकार भी हो सकते हैं। औषध कल्पना विज्ञान ने आजकल बहुत अधिक विकास किया है और औषधो के क्वाथ, चूर्ण गुटी, सुरायोग आदि प्रकारो के अतिरिक्त सत्वपातन और सूचिका भरण योग भी बनाये जाते है। क्या हम इनको क्षार-सत्व और अर्क पातन के ही प्रकारान्तर मान कर आयुर्वेद के विकास के लिए तथा चिकित्सा सौकर्यार्थं समयानुकूल तथा आवश्यक मान कर अपना सकते हैं? हमारी निर्माण कला का भी उन तरीको का अवलम्बन करके विकास करना उचित है या ये वैद्यो के लिए सर्वथा अग्राह्य हैं? इस विषय में भी ऐकमत्य नही है। नवीन और पुराणवादियो के बीच का सनातन झगडा इस विषय मे भी समाधान तक नही पहुँचा है। इसीलिए हमारे ही द्रव्य अन्यो द्वारा नवीन रूप में परिवर्तित होकर आने पर वे पराए बन जाते हैं अतएव अग्राह्य हो जाते हैं और हमे पुरानी परिपाटी के क्वाथ, कल्क, स्वरस आदि अरुचिजनक आदिम प्रयोगो के लिए बाध्य करते हैं। औषध कल्पना का उद्देश्य यह बताया गया है कि—

(१) औषध के प्रति घृणा या अरुचि होती है वह हटा दी जाय, व अग्लानिकर एव मनस्कान्त बनाया जाए। (२) इसलिए उसमे रुचिकर एव मन.प्रिय गन्ध वर्ण तथा रस बढा दिए जाँए। (३) इन सब परिवर्तनो के साथ भी उसकी दोष-व्याधि-हरण क्षमता अक्षुण्ण रहे। दोषघ्न यथा पूर्व रहे। (४) किसी प्रकार के दुष्परिणाम न पैदा करे अथवा होने पर भी कष्टकर न हो, नगण्य हो; अविकारी च व्यापत्तौ-अन्तरशयमक्षिण्वन् हृदये न चरुक् करम् इत्यादि शब्दो से शरीर के लिए सामान्य दुष्परिणाम से मर्मांगो पर होने वाले अहित प्रभावो को दूर करना कल्पना का उद्देश्य बताया गया है। (५) अल्पमात्रा मे अधिक कार्य करने मे समर्थ हो (अल्पस्यापि महार्थत्वम्) या अधिक मात्रा मे दिए जाने पर भी आवश्यक से अधिक कार्य न करे (प्रभूतस्याल्पकर्मता) (६) आरोग्य देने की विकार शमन की क्रिया अपेक्षाकृत शीघ्रतर हो (क्षिप्रमारोग्यदायित्व)।

इन सब उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए मूल द्रव्य मे आवश्यकतानुसार सजातीय वा विजातीय तुल्यवीर्य वा विरुद्धवीर्य इतर द्रव्यो का सयोग किया जाता है अथवा मूल द्रव्य मे मे अनावश्यक अश हटाये जाते हैं (सयोग-विश्लेष-सस्कार आदिसे)। सस्कार भेद से कल्पना भेद होता है यह हमारे यहा माना गया है। यह सब होते हुए भी आधुनिक प्रकार की कल्पनाओ का इनसे अतिदेश होता है कि नही यह विवादास्पद है।

पाद ३–उपस्थाता–परिचारक—

वैद्य एव औषध इन दो अगो मे चिकित्सा की प्राय. जिम्मेवारी वट जाती है। किन्तु

इन दोनो के कार्यों को सफलता तक पहुचाने वाला तीसरा पाद परिचारक उतना महत्त्व न रखते हुए भी उपेक्षणीय भी नही है। परिचारक के गुणो मे (१) दाक्ष्य और (२) शौच उतने ही आवश्यक हैं जितने कि वैद्य मे। प्रत्येक परिस्थिति मे बिना घबडाये रोगी के हित मे अवस्थानुसार जो आवश्यक हो वह करने की सूझबूझ और तत्परता परिचारक मे भी नितान्त आवश्यक है। इसी प्रकार गम्भीर परिस्थिति मे भी हिम्मत से शुश्रूषा करते रहना एव अपनी दृढता से रोगी तथा उसके सम्बन्धियो को धैर्य बधाना भी दाक्ष्य का आवश्यक अग है। चिकित्सक की सफलता परिचारक के दाक्ष्य पर इस प्रकार महद्दश से अवलम्बित है। शौच भी हाथ-वस्त्र-नख-केशादिक का बाह्य तथा मानसिक शौच परिचर्या के गुणो मे आवश्यक अग हैं। इनके अतिरिक्त—

(३) उपचारज्ञता—अर्थात् शुश्रूषा की कला को जानना। शुश्रूषा के विविध तरीको का यथा—स्वेद, अभ्यग-बस्ति, लेप, अवगाहन आदि का तथा कषायपेया, मण्ड आदि पथ्य तथा स्वरस, शीत, फाट, क्वाथ आदि औषध प्रयोगो के तरीको को जानना परिचारक के लिए आवश्यक है। औषधो का मिश्रण एव वितरण भी इसमे आ जाते हैं। उपचार मे रोगी के साथ बर्त्ताव भी निहित है। रोगी के मन की प्रसन्नता रखते हुए भी नियमित समय पर औषध-पथ्यादि के व्यवहार मे उसके विरोध को दूर करते हुए मधुरता एव मृदुता के साथ दृढता से औषधादि का आज्ञानुसार सेवन कराना यह भी उपचारज्ञता है। इसमे बडी बुद्धिमानी, युक्ति, सहिष्णुता एव दृढता तथा मिष्टभाषिता आदि गुणो के सयोग की आवश्यकता होती है : क्रोध, कटु-भाषिता, आलस्य तथा प्रमाद या अतिमृदुता और दीर्घसूत्रता सम्यगुपचार मे बाधक दोष होते हैं।

(४) भर्तरि अनुराग—सेवा का कार्य सेवा-भावना से कर्त्तव्य के रूप मे किया जाय, या पैसे के बदले मे किया जाय या स्नेह आदि सम्बन्ध विशेष से किया जाय इन सब मे बडा अन्तर होता है। कर्त्तव्य भावना से या स्नेह-भक्ति सम्बन्धवश होने वाली सेवा बोझ रूप नही बनती और बिना प्रत्युपकार की आशा से बडे कष्ट को झेल कर भी अथक रूप से की जाती है। द्रव्यक्रीत सेवा मे यह भावना नही आ सकती। तथापि किसी भी प्रकार के रोगी की सेवा करने वाले मे रुग्ण के प्रति समभाव और सहृदयता होना नितान्त आवश्यक है। इस गुण का सेवा-वृत्ति करने वाले वैद्य और परिचारक मे विकास होने पर ही उनकी सफलता निर्भर करती है।

(५) अजुगुप्सु—परिचारक के इतर गुणो मे यह गुण भी अवश्य होना चाहिए। रोगी की सेवा करने वाले को पहले से ही यह जान लेना चाहिए कि उसको कराहते हुए, बिलखते हुए तथा लाला, मल, मूत्र, शोणित, पूय आदि घृणित एव बीभत्स एव दुर्गन्धित पदार्थों से लिप्त रोगी तथा उसके सामानो का ही सामना करना होगा और इस कार्य को करते समय

उसको नाक-भौंह सिकोडना तथा अन्य घृणा के भाव को प्रदर्शन करना त्यागना होगा। अन्यथा वह परिचर्या नही कर सकेगा और स्वय भी दु खी होगा। घृणा करने से रोगी के और वैद्य के रोष का भी भाजन बनेगा। अत इन परिस्थितियो मे अभ्यस्त बनना और जुगुप्सा के भाव को छोडना ही परिचारक का प्रथम कर्त्तव्य होता है। (६) व्यावित रक्षणे युक्त तथा

(७) अश्रान्त—सर्वदा रोगी को सेवा करके उसको रोग-मुक्त करने के उद्देश्य से और उसके हर कष्ट को कम करने के लिए तत्पर रहना तथा इस क्रिया मे थकान-श्रम का अनुभव न करना। अपने देह को इस प्रकार अभ्यस्त करे कि सेवा-कार्य में घण्टो व्यस्त रहने पर भी श्रम का अनुभव न करे।

(८) बलवान—श्रम सहन कर सके इसलिए परिचारक को बलवान् होना चाहिए। स्वय पूर्ण स्वस्थ और बलवान् न होने पर शुश्रूषा के श्रम से तथा सक्रमण आदि से वह स्वय रोगी हो जाएगा। बल यहा शरीर-शक्ति के साथ रोग प्रतिबधन शक्ति के अर्थ मे भी समझना अधिक सगत होगा। शस्त्र कर्मादि के अवसर पर सहायता के लिए भी बलवान परिचारक की आवश्यकता होती है जो रोगियो के स्थानान्तरण कराने का तथा उठाने का कार्य अविश्रान्त रूप से कर सके।

(९) वैद्यवाक्यकृत अथवा आज्ञाकारी—परिचारक का यह अन्तिम गुण अन्य गुणो से भी अधिक आवश्यक है। वैद्य की आज्ञा का पूर्णतया पालन करना परिचारक का मुख्य कर्त्तव्य है। वैद्य की आज्ञा का अनादर करके मनमाना व्यवहार करने वाला परिचारक अन्य गुणयुक्त होने पर भी अनुपादेय रहता है। क्योंकि वैद्य की सारी प्रतिष्ठा एव सफलता-विफलता का तथा रोगी के जीवन-मरण का आधार उसके बर्ताव पर है। आज्ञालोपी परिचारक से वैद्य क्या आशा रख सकता है।

वर्तमान काल के चिकित्सको वैद्य डॉक्टरो के समान परिचारको का भी एक व्यवसायी वर्ग बन गया है और उनके शिक्षा-दीक्षा आदि के प्रबन्ध चिकित्सक वर्ग के समान ही अलग रूप से किये गए हैं। वर्तमान समाज मे इस वर्ग का बडा महत्त्व माना गया है। हमारे यहा आयुर्वेद के अनुसार सेवा-कार्य के लिए कोई परिचारक वर्ग उपलब्ध नही होता। प्राचीन काल मे कोई खास वर्ग नही था या नही यह जान नही पडता। परिचर्या का कार्य प्राय परिवार के लोग विशेषतया माता, बहिन, पत्नी तथा इतर सम्बन्धी या दास वर्ग किया करते थे। परिचर्या मे रोगी के प्रति स्नेह तथा वैद्य वाक्यवर्तित्व प्रमुख गुण हैं। किन्तु परिचर्या की कला—उपचारज्ञता, दाक्ष्य, शौच, अजुगुप्सा, अश्रान्तत्व इन गुणो के आधार पर ही विकसित हुई है जिनका हमारे आचार्यों ने पूर्वोक्त रूप मे निर्देश किया है। वैद्य और परिचारक का सहयोग हो तो चिकित्सा-कर्म रोगी की व्यथा कम करने मे अवश्य

सफल होता है। परिचारक के गुणो से लाभ उठाने के साथ-साथ यह भी बताया गया है कि रोगी दशा मे रोगी के मन को प्रफुल्ल एव धैर्ययुक्त अवश्य रखना चाहिए किन्तु उसके मानस-विकारो तथा वासनाओ को भडकाने वाली परिस्थिति परिचारक वर्ग द्वारा पैदा न हो यह भी ख्याल वैद्य को रखना चाहिए। मनोरजन के लिए जहा कथा, आख्यायिका, उल्लापक, सगीत, वादित्र आदि के प्रबन्ध का वर्णन दिया है वहा गम्य स्त्रियो का दर्शन भी जो अकृतेऽपि मैथुनकृत दोषो को उत्पन्न करके शरीर के बल ह्रास का निमित्त होता है—वर्ज्य माना गया है।

हमारे नेताओ के आयुर्वेद के इन सेवा-सिद्धातो के आधार पर परिचारक वर्ग का एव प्रसाविका वर्गो का निर्माण करने के लिए शिक्षा तथा सेवा विभाग का आयोजन करने की दिशा मे सोचना चाहिए।

पाद ४ रोगी—

व्याधित पुरुष भी चिकित्सा का एक पाद है किन्तु इसमे अन्तर यह है कि अन्य पाद अपनी सारी क्रियाओ का लक्ष्य तथा आधार इसको बनाते हैं और यह पाद उन क्रियाओ का अधिष्ठान या लक्ष्य बनके उनको अनुभव करता है और तज्जनित भले-बुरे फल का भी वही अधिकरण और अनुभव करने वाला होता है। चिकित्सा कर्म मे वह अधिकाश आधार बन कर निष्क्रिय रूप से भाग लेता है जबकि शेष पाद सक्रिय भाग लेते है। फिर भी रोगी निम्न कुछ रूप मे सक्रिय सहकार भी दे सकता है, अत. चिकित्सा का पाद कहा गया है। रोगी निम्न गुणयुक्त होने पर ही चिकित्सा मे सफलता की आशा की जा सकती है।

(१) स्मृति—अच्छी स्मरण शक्ति होना रोगी के लिए दो तरह से लाभप्रद है। एक तो वह अपने सब लक्षण—पूर्वरूप—हेतु सेवा आदि पूर्ण वृत्तात को बताने मे समर्थ होता है। दूसरा वैद्य की सूचनाओ को भी वह भूलता नही और बराबर पालन करता है।

(२) निर्देशकारित्व या वैद्यवाक्यस्थ—वैद्य को आज्ञानुसार चलना। वैद्य के कथनानुसार औषध-पथ्य आदि का सेवन तथा परिहार्य का परिहार करते रहने से विकार-वृद्धि का कोई नवीन कारण मिलता नही, अतएव सफलता शीघ्र मिलती है।

(३) सत्ववान्-अभीरुत्व—रोगी का यह परमावश्यक गुण है। भीरुता के कारण उसको व्याधि के दुष्परिणामो का वास्तविक या काल्पनिक भय हमेशा सताता रहता है। विषाद को रोगवर्धक कारणो में प्रधान तथा अनिर्वेद अर्थात् अविषाद-निडरता-निर्भीकता आरोग्य-जनक कारणो मे प्रधान माना गया है। अच्छे औषध और अच्छी शुश्रूषा के साथ भी यदि रोगी स्वय साशक तथा भयभीत होकर मन ही मन मे दुष्परिणामो को सोचता रहता है तो औषध-प्रभाव तथा सारा श्रम निरर्थक हो जाता है' क्योकि औषध स्वाभाविक बल को बढा कर ही कार्य कर सकता है जिसकी उसमे कमी होती है।

(४) ज्ञापकत्व—यह भी रोगी का परमावश्यक गुण है। अपनी सब व्यथाओ को एवं कारणो को बिना छिपाए यथार्थ रूप मे यदि रोगी बताता है तो इससे निदान मे सहायता तथा सही चिकित्सा निर्धारण मे सहायक होता है। रोग के विषय मे लज्जा या अन्य कारणवश छिपाने वाले रोगी का ठीक उपचार करना वैद्य के लिए दुष्कर बन जाता है। अपथ्य सेवा या उपद्रव होने पर भी न बताना या विकृत करके बताना ये सब वैद्य को और अपने स्वय को धोखा देना ही है जिसका दुष्परिणाम वैद्य की यशोहानि और रोगी की व्यथा का अप्रशम ही होता है। छिपाने के समान ही अपनी व्यथाओ को बढा चढा कर कहने की प्रवृत्ति निन्दनीय होती है जो रोगी को वैद्य के लिए अनाप्त बनाती है। यथार्थ कथन ही ज्ञापकत्व गुण बनता है। रोगी की छिपाने की या बढा चढा कर कहने की प्रवृत्ति से सत्यान्वेषण करने के लिए ही वैद्य को ऊहापोहवितर्क एव विज्ञानकुशल होने की आवश्यकता होती है।

(५) आस्तिक—वैद्य के तथा उसके औषधोपचार मे अथवा जिस चिकित्सा पद्धति से चिकित्सा करवाता हो उसमे रोगी की श्रद्धा होना भी आवश्यक है। श्रद्धाहीन तथा दोषदर्शी या विरुद्ध मत रखने वाले मे चिकित्सा से अभीष्ट लाभ नही हो सकता। ईश्वर मे तथा देवादि में श्रद्धा भी आस्तिकत्व कही जाती है। इसके रहने पर देवादि की श्रद्धा से धैर्य तथा मनोबल की वृद्धि होती है तथा दैवव्यपाश्रय चिकित्सा प्रार्थना आदि का भी सहयोग मिलता है।

(६) आत्मवान्—रोगी सयमी होना चाहिए तभी उसकी चिकित्सा में यश मिलता है। मन एव इन्द्रियो की लोलुपता रोगवृद्धि में सहायक तथा औषध-सेवन तथा पथ्य के नियमो के पालन मे बाधक होती है। आत्मवान् रोगी ही वैद्य वाक्यस्थ रह सकता है। तथा यह गुण धैर्य क्लेशक्षमत्व आदि सत्वबल को भी सूचित करता है। अनात्मवान्-हीनसत्व को सूचित करता है।

(७) द्रव्यवान्—द्रव्य चिकित्सा का अग है. द्रव्य शब्द यहा मुख्यतया धन के अर्थ में है किन्तु अन्य द्रव्य उपकरणादि भी तन्मूलक होने से इसके द्वारा अर्थापत्ति द्वारा प्राप्त हो जाते हैं। द्रव्य रहने पर औषध एव आवश्यक उपकरणो-सभारो का भरण पूर्व से हो या आवश्यकता पडने पर तत्काल जुटाना आसान रहता है। किन्तु दरिद्र के लिए द्रव्य साध्य औषध उपकरणादि के अभाव में जो कुछ अन्यथा उपलब्ध हो उसी से काम चलाने के सिवाय और कोई चारा नही होता। अत द्रव्य को गुण माना है।

(८) आयुष्मान तथा रोग साध्य हो। अल्पायु या अरिष्टग्रस्त में अथवा असाध्य रोगग्रस्त में चिकित्सा का कोई फल नही मिलता क्योकि आयु हो समाप्त हो चुका होता है या रोग

चिकित्सा की सीमा पर पहुँच चुका होता है। ये सब भेषज के कर्म को विफल कर देते हैं। अत आयु और साध्य रोग रोगी के गुणो मे गिनाये हैं।

इन चार पादो मे रोगी और परिचारक आयुर्वेद तथा इतर चिकित्सा-पद्धतियो के लिए तथा पूर्वकाल मे एव वर्तमान काल मे एकसे ही हैं। इनके विषय मे स्थिति मे विशेष अन्तर नही मालूम होता। किन्तु भिषक् और भेषज इन दोनो की स्थिति मे महदन्तर— पूर्वकाल मे तथा वर्तमान काल मे एव आयुर्वेदानुयायी तथा इतर पद्धति के अनुयायी चिकित्सको मे आ गया है। वैद्य के जिन अभीष्ट गुणो की आवश्यता समझी जाती है और शास्त्रो में जिनके आधान पर बडा जोर दिया हैं उनके विकास के लिए जो जो साधन-शास्त्र ज्ञान के या कर्माभ्यास के होने चाहिए वे सब अपर्याप्त हैं। यह अभी तक के शिक्षा प्रयोगो के परिणामो तथा अनुभवो से स्पष्ट हो गया है। इस स्थिति को सुधारने के लिए परस्पर विरोधी दलो मे विभक्त होकर स्वबन्धु तथा स्वजातीय विरोध मे जो शक्ति एव साधन का दुर्व्यय होता है तथा इससे प्रतिपक्षियो की इष्ट सिद्धि मे साधन बन जाता है, उससे बचना प्रथम कर्त्तव्य है। तथा अखिल भारत स्तर पर शिक्षा एव कर्माभ्यास की एक-रूपता लाने में और एतदर्थ धन-साधन का समान रूप से विनियोग करने मे एकमत्य होना दूसरा कर्त्तव्य है। इसके लिए Indian medical Council के समकक्ष आयुर्वेद के लिए भी उच्च सत्ता प्राप्त अभिकरण या समिति का गठन परमावश्यक हैं। ओजस्वी और कर्मकोविद वैद्य के निर्माण के लिए एकरूपता तथा विपुल साधन स्रोतो का चयन आवश्यक है जो आयुर्वेद को भी उज्वल भावि की ओर लेजा सके।

भेषज की स्थिति को सुधारने के लिए भी वैद्यो के परामर्श से ही ताजे एव सूखे कच्चे द्रव्यो की प्राप्ति का प्रबन्ध, औषध निर्माण कला का विकास, तथा मिलावटो की रोकथाम आदि के लिए शासन एव व्यावसायिक वर्ग के सहयोग से कुछ स्थिति सुधार कर प्रयत्न होना चाहिए जिससे कि जनता के स्वास्थ्य सुधार में आवश्यक औषधें ताजा, पूर्ण शक्तिसम्पन्न तथा सरलता से सर्वत्र सुलभ हो।

इस प्रकार ज्ञान एव साधनो से सुसज्ज वैद्य ही रोगो के उत्पादक कारणो को, रोगो के स्वरूप की विशेषताओ को तथा उनके विशेष उपचारो को भली भाति से समझता हुआ रोग निवारण तथा उसके पुनराक्रमण की रोकथाम में सक्षम तथा सफल बनेगा तब राजाई-राज्य से सम्मान प्राप्त भी अवश्य बनेगा।

रक्तचाप

लेखक - वैद्य प. रामप्रसाद दीक्षित

[वैद्यराज श्री रामप्रसादजी दीक्षित, पीयूषपाणि सफल चिकित्सक होने से 'प्राणाचार्य', तथा आयुर्वेद विज्ञान के तात्विक विद्वान् होने से 'आयुर्वेद महोदधि पारगत रसायन शास्त्र की मार्मिकता को समझाने वाले ज्ञान वयोवृद्ध श्री धन्वन्तरि फार्मेसी (सरदारशहर) के द्वारा भल्लातक (जिसके कि प्रयोगों से आज चिकित्सक जगत् उदासीन व भयभीत है) के आशुफलप्रद प्रयोग से रुग्ण जनजीवन का उपकार कर रहे हैं। आपकी इस अवस्था में भी अन्वेषण की ओर सतत रुचि रहती है। आपने इस सारगर्भित लेख में अपने जीवन के चिरसञ्चित अनुभवों के निचोड़ से आधुनिक विज्ञान को चुनौती दी है। तथा अपना वातरोग पर एक अनुभूत एवं सर्वसुलभ सस्ता प्रयोग लिखकर प्रकाशनार्थ भेज कर महान् उपकार किया है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आधुनिक युग का अति प्रचलित रक्तचाप (Blood presser) जो कि वर्तमान युग के अति प्रक्षुब्ध जीवन मे बहुधा देखा जाता है। यह आयुर्वेदीय ग्रन्थो मे नानात्मज रोगो मे बताया गया रोग लक्षण जैसे श्लेष्म नानात्मज रोगो में बताया गया 'धमनी प्रतिचय' जिसका अर्थ होता है धमनियो की अतिपूर्ति—रस रक्त के अति पोषण से धमनियो की परिधि का अधिक हो जाना, और उनमे रस रक्त की गति का मन्द और गुरु होना। यह धमनियो का विस्तार वात नानात्मज से भी होता है परन्तु उसमे धमनी गुरु तथा मन्द नही होती किन्तु वायु के वैषम्य से कठिन, चल, तीक्ष्ण तथा कभी मन्द व क्षीण हो जाती है। इसे काश्यप ने धमनी उपलेप नाम दिया है और योगीन्द्रनाथ ने इसका अर्थ अति पूरण लिखा है।
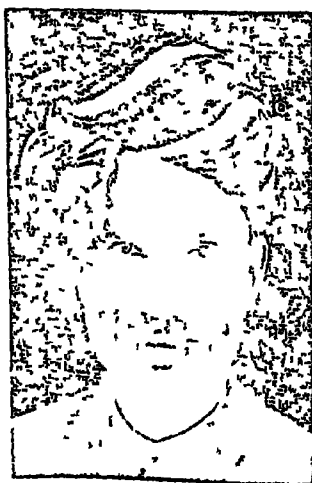
कोई भी द्रव नलियो में बहता हुआ अपना वजन उन नलियो पर डालता है, रक्त भी बहता हुआ अपना भार रक्तवाहिनियो पर डालता है जिसे रक्त चाप या रक्त भार कहते हैं। इसका बढ जाना अर्थात् प्रतिचय, उपलेप या पूरण में तम, शिरोरोग, रक्तपित्त, भ्रम, मद, बुद्धिवैकल्य, तथा मूर्च्छा, सन्यास, पक्षाघात मे परिणति जिसमें रक्तागता, रक्तनेत्रता,

सिरापूर्णता आदि द्वारा प्रकट किया है जिसे हाई ब्लड प्रेसर कहा जाता है। यह रक्ता-धिक्यता के लक्षणो मे प्रकट किया है।

रक्तक्षय के लक्षणो मे बताया गया सिरा शैथिल्य आधुनिक युग के लो ब्लड प्रेसर की ओर सकेत है, जिसका परिणाम मासक्षय, जिससे मास धातु के बने हृदय तथा सिरा-धमनियो मे दुर्बलता होने लगती है। क्योकि सिरा धमनियो का निर्माण मास सूत्रो से होता है—जब कि मास क्षय हो जाने से उनका सकोच प्रसार को प्राकृत क्रिया नही हो पाती।

सिरा पूरण वात तथा पित्त दोनो दोषो के प्रकोप से हो सकता है। पित्त के प्रकोप से तीक्ष्ण गुण बढकर वेगाधिक्य हो जाता है। तथा वात प्रकोप से उन मे सकोच व स्तम्भ होकर उनकी प्राकृतिक क्रिया मे बाधा पैदा कर देते हैं। तथा कफ से मन्द गुण होकर वेग-वहन की मन्दता हो जाती है।

रक्तभारवृद्धि High Blood presser के कारण

(१) स्वतत्रकारण—आनुवशिकता, विष, वृद्धावस्था, मिथ्याविहार।

(२) परतत्रकारण—राजयक्ष्मा, आमवात, वातरत, अर्बुद, मधुमेह, हृद्‌रोग और ससर्गज व्याधिया—

यह लक्षण सामान्यतया वृद्धावस्था की परिहाणि अवस्था मे धातुओ का सम्यक् प्रीणन नही हो पाता तथा रस का योग्य विनियोग नही होने से रसधातु की वृद्धि होती है और वह हृदय तथा धमनी इनमे सचित होता रहता है। इस क्रिया मे मद्यपान, चाय, कॉफी, तम्बाकू आदि मादक और उत्तेजक पदार्थ मास मसाले आदि का सेवन रक्तभार को अत्युच्च करते हैं। स्त्रियो मे रजोनिवृत्ति के समय अर्थात् चालीस वर्ष से ऊपर, तथा मानसिक चिन्तन, उद्वेग, चिन्ता, मनस्सताप से भी रक्तभार वृद्धि होती है।

रक्तभाराधिक्य के लक्षण

मस्तकशूल, चक्कर आना, कर्णनाद, निद्रानाश, चिडचिडापन, वमन, थकावट, घर्घरश्वास, हृदयावसाद, हृद्द्रव, उरोरुक् श्वासोच्छ्वास मे त्रास, मूत्र की अधिक प्रवृत्ति विशेषतया रात्रि मे, पैरो मे पीडा, हृत्प्रदेश मे भार, आदि लक्षण होते हैं।

- रक्तभाराधिक्य रोगी की परीक्षा के समय इसके कारणो की जानकारी करते हुए जीर्ण उपदश, मधुमेह, आनाह, मूत्ररोग जैसे निदानार्थ कर रोग देखना आवश्यक है। क्योकि इसकी चिकित्सा निदान को ध्यान मे रख कर की जाय।

न्यून रक्तचाप (Hypotension)

रक्त का कार्य जीवन व प्रीणन है। यह समस्त शरीर मे भ्रमण कर ये क्रियाएं

करता है, इसके भ्रमण मे सर्वशरीर धातुव्यूहकर है। इसकी धातुव्यूहन की प्रक्रिया में सकोच तथा विकास जो कि हृदय की क्रियाए प्रतिक्षण होती हैं कारणभूत हैं। उसी आधार से रक्त भार सकोच (सिस्टोलिक) तथा विकास (डायस्टोलिक प्रसर) कहलाता है। इसकी न्यूनता से धातु व्यूहन की शिथिलता हो जाती है।

रक्तभारन्यूनता के लक्षण

हाथ पैर ठडा होना, अशक्ति, निरुत्साहिता, थकावट, चक्कर आना, बेसुधता (मोह मूर्छा)

चिकित्सा के लिये जानने योग्य बातें—

सर्व प्रथम कारण ज्ञान प्राप्त कर रोगी के दातो की परीक्षा करे। यदि पूयदन्त या शीताद का रोगी हो तो पहिले इनकी चिकित्सा की ओर ध्यान दें यदि अधिक विकृत है तो निकलवा दिये जाय। रक्तभारपादक यन्त्र (स्फीग्मोमीनोमीटर) का प्रयोग भी रोगी के दिल पर बुरा असर डालने वाला हो जाता है। यदि रोगी मेदस्वी हो तो अपतर्पण की ओर ध्यान दिया जाय। तथा मल शुद्धि व देह शुद्धि, तथा निद्रा की ओर विशेष सतर्कता रखी जाय। यदि अनिद्रा की कोई शिकायत न हो तो रक्त चाप घटाने का प्रयत्न कभी नही करे। वृक्क या मूत्रपिंड विकार न हो तथा मस्तिष्क धमनिया कठोर न हुई हो तो प्रकृति स्वय अपना कार्य यथावत् कर लेगी। रोगी अधिक श्रम न करे, नीद लाने तथा थकावट को कम करने के लिये द्राक्षासव, सारस्वतारिष्ट अश्वगधारिष्ट तीनो का मिश्रण कर सेवन करे। मलशुद्धि के लिये मृदुरेचन या बस्ति प्रयोग करे।

रक्त के दबाव को कम करने के लिये प्रवाही भोजन जैसे मौसबीरस, सतरा, नारियल का पानी, मधुर तक्र, यववारि, आदि का प्रयोग करें। नमक, मिठाई, तले पदार्थ को सर्वथा परित्याग करे। यदि अत्यावश्यक हो तो सैंधव ले। २-३ दस्त हो जाने से रक्त दबाव कम हो जाता है।

अभ्यग—समस्त शरीर मे तिल तैल, नारायण तैल का मालिश किया जाय।

हरा या सूखा लहसुन शाक, सब्जी चटनी आदि मे प्रयोग करे। कच्चे रसोन का प्रयोग रक्तभाराधिक्य मे तथा सस्कृत (छोका हुआ घी मे) रक्तभारन्यूनता मे दिया जाय।

विस्रावण—

अत्यधिक बढे रक्तभार को कम करने के लिये रक्त विस्रावण द्वारा शोधन करे। मुख्यतया तीन उपक्रम (१) रेचन लघन (३) रक्तमोक्षण प्राच्य पाश्चात्य दोनो चिकित्सा-पेथियो द्वारा साहश्यता प्रकट करते हैं।

कुर्याच्छोणित रोगेषु रक्तपित्त हरी क्रियाम्।
विरेकमुपवास वा स्रावण शोणितस्यच।

जलौका प्रयोग नेत्र के पास २ और शङ्खास्थि के पास २ इस प्रकार ४ जलौका के प्रयोग से रक्तविस्रावण करे। उच्च रक्तचाप वातपित्तात्मक व्याधि है अत. जलौका, तथा विरेचन अत्युत्तम प्रयोग है। उपद्रवस्वरूप रक्तपित्त हो तो एरड स्नेह तथा स्वुहरीतकी, तथा तीव्रावस्था मे अश्वकचुकी या इच्छाभेदी का प्रयोग किया जाय।

शमन चिकित्सा—

रोगी दो प्रकार के होते हैं स्थूल, व कृश, स्थूलो मे अपतर्पण तथा कृशो मे सतर्पण करे। अत्यधिक रक्त चाप की वृद्धि पक्षाघात को कारण भी बन जाती है।

अनुभूताचिकित्सा—

(१) सर्पगधा मूलत्वक् २½ से ५ रत्ती शतपत्र्यादिचूर्ण ३ माशा ऐसी एक एक मात्रा दूध और मिश्री के साथ दे।

रात्रि मे त्रिफला चूर्ण ६ माशा गोघृत डालकर गुलकद गुलाब मिला दस तोला जल के साथ दें।

(२) चन्द्रप्रभा ४ रत्ती, आरोग्यवर्धिन रत्तो। ऐसी एक मात्र पुनर्नवाष्टक क्वाथ मे शिलाजतु ६ रत्ती मिला कर सवेरे दें।

दिन मे २ बार द्राक्षारिष्ट, सारस्वतारिष्ट १½ तोला मिला कर दें। रात्रि मे पुनर्नवाष्टक क्वाथ मे एरण्डस्नेह १½ तोला मिला कर दें।

(३) सर्वप्रथम इच्छाभेदी दे कर राजरेचन ३ से ६ माशे जल के साथ दें।

प्रात काल सर्पगधामूलत्वक् ३ रत्ती, शिलाजीत ६ रत्ती दूध के साथ दें।

दिन मे २ बजे चन्द्रावलेह ६ माशे से १ तोला तक दूध के साथ दें। सायकाल कृष्णचतुर्मुख १ रत्ती दूध से दें। रात्रि मे शयन के समय सर्पगधा ३ रत्तो, शिलाजीत ६ रत्ती थोडे से दूध के साथ दें।

यदि हृत्स्पन्दन (Palpitation of Heart) अधिक हो तो—सगेयशव १ रत्ती, अकीकपिष्टी १ रत्ती, मुक्तापिष्टो १ रत्ती आवला के मुरब्बा के साथ दें।

(४) मनस्विनी २-२ रत्ती की मात्रा मे २-२ गोली दे। अनुपान दूध-मिश्री, इससे रक्तभाराधिक्य, चित्तभ्रम, अनिद्रा, मनोविभ्रम, मानसिक दौर्बल्य आदि रोग दूर हो कर शान्त निद्रा आने लगती है, और दिल और दिमाग मे शान्ति प्राप्त होती है।

विशेष—लेखक की 'रामानुभवमञ्जूषा' नामक पुस्तक प्रेस में छप रही है। विस्तारभय से इसका प्रयोग इसमे नही लिखा जा रहा है, यह वहीं देखें।

आधुनिक चिकित्सको के पास इसकी समुचित चिकित्सा नही है किन्तु निम्न उपाय से दौरे सर्वथा बन्द हो जाते हैं।

(५) चिन्तामणि रस (सु. घ) १-२ गुंजा की मात्रा मे अनुपान कुष्माण्ड स्वरस १० से २० तोला के साथ दे। इससे रक्त-चाप कम हो जाने पर फिर कभी रक्त-चाप नही बढेगा।

न्यून रक्त-चाप (Low Blood-pressure)

शारीरिक और मानसिक दुर्बलता से रक्तभ्रमण धीमा हो जाता है जिससे रोगी अनमना, चिन्ताशील उद्विग्न रहता है। ज्यो-ज्यो समय बीतता जाता है रोगी अधिक निःसत्व हो जाता है तथा क्षुधामांद्य, शिरशूल, निद्रानाश आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—

आरोग्यवर्धिनी ४ गुंजा, सुवर्णमाक्षिकभस्म २ गुंजा, प्रातः-साय १ मात्रा दूध-मिश्री के साथ दे।

भोजन के बाद अग्नितुण्डी २-२ गोली पानी के साथ दें। ४ बजे ताप्यादिलौह ४ गुंजा, मुक्ताभस्म १ गुंजा, च्यवनप्राश १ तोला के साथ दे। रात्रि मे शयन-काल मे कृष्ण-चतुर्मुख १ गुंजा दूध के साथ दे। अभ्यंग नारायण तैल से करें।

(२) प्रातःकाल सिद्धमकरध्वज १ रत्ती, विषमुष्टिक १ रत्ती, लौहभस्म १ रत्ती, प्रवालभस्म १ रत्ती आवला के मुरब्बा के साथ दे।

भोजन के बाद—द्राक्षारिष्ट १ तोला, लोहासव १ तोला, अश्वगन्धारिष्ट १ तोला दुगुना जल मिला कर दोनों समय दे।

रात्रि मे रसराज १ रत्ती, शिलाजीत ६ रत्ती दूध के साथ दें।

शिवागुडिका—आयुर्वेद मे जीर्ण और कठिन व्याधियो मे रसायन-प्रयोग का विधान है—"यज्जराव्याधि विध्वसी भेषज तद्रसायनम्"।

जो वृद्धावस्था और रोगो को दूर करे उसे रसायन कहते हैं। परिहाणि की स्थिति की निष्क्रियता, शिथिलता आदि को दूर करने वाले प्रयोगो को रसायन कहते है। इससे रक्त-वृद्धि होती है तथा शक्ति, स्फूर्ति, बल-वृद्धि हो स्वस्थ शरीर बनता है। इसका प्रधान द्रव्य शिलाजतु है "नसोऽस्ति रोगो भुवि साध्य रूपो शिलाह्वय यन्न जयेत्प्रसह्य" धरातल पर ऐसा कोई रोग नही जिसे उचित अनुपान एव सस्कार के साथ शिलाजीत नष्ट न करे। इसके सेवन से उच्च रक्त-चाप, हीन रक्त-चाप इन दोनो लक्षणो मे आशातीत लाभ प्राप्त होता है। ऐसा कई वर्षों का अनुभव है। इसका प्रयोग धैर्यपूर्वक निरतर चलना चाहिए।

विशेष महत्व की सूचना—

१ मन क्षोभ हो, ऐसी स्थिति वार-वार हो, उससे ही रक्त-चाप का विकार होना सम्भव होता है। इसलिए शीघ्र-कोपी मनुष्य को विवेकी बनना चाहिए।

२ सुख-दुःख समेकृत्वा लाभालाभौ जया जयौ । यह गीता की शिक्षा सदैव आखों के सामने रख कर स्थितप्रज्ञ बनना चाहिए । फिर रक्त-चाप का विकार कभी नही होगा ।

३ शारीरिक और मानसिक श्रम बन्द करके सम्पूर्ण विश्राति लेना चाहिए । यह रक्त-चाप की अव्यर्थ महौषधि है ।

४ सयम से रहने और आहार-विहार मे पथ्यापथ्य का पालन करते रहने से ब्लडप्रेशर (रक्त-चाप) का रोग होने पर भी अनेक वर्षों तक जीवन व्यतीत कर सकेंगे । इससे भय करने की आवश्यकता नही है ।

५ सुवर्ण के तन्तु मे पिरोई हुई रुद्राक्ष की १०८ मणका की माला अगूठे, तर्जनी और मध्यमा अगुली की सहायता से माला नित्य नियमित फेरने से एव इष्टदेव का नाम स्मरण करते रहने से शरीर मे इलेक्ट्रीसिटी जागृत होकर जीवन मे शाति और सुख प्रदान करने मे सहायक है । माला गले मे धारण करते रहना चाहिए जिससे इसका स्पर्श अंग पर होता रहे । रुद्राक्ष असली हो, भद्राक्ष नही ।

६ मन को शान्त और स्वस्थ रखना सीखो, रत्तियो की चञ्चलता कम करो, वासनाओ पर सयम रखो, महत्वाकाक्षाओ को मर्य्यादित करो, लोभ और क्रोध पर अकुश रखो । गीता का यह प्रवचन सदैव याद रखो—दुःखे ष्वनु द्विग्नमनः सुखेषु विगतस्पृह. । वीतराग भयक्रोधः स्थितधी. मुनि रुच्यते ।

'जो मनुष्य हितकारी आहार विहार का सेवन करता है, बुद्धिपूर्वक देख-विचार कर काम करता है, विषयो मे प्रवृत्त नही है, समय पर पात्र को दान देता है, वैर-विरोध न रख कर सबमे समभाव रखता है, सत्य बोलता है, क्षमा वाला स्वभाव हो, प्रामाणिक भद्र पुरुषो की सेवा तथा आज्ञा-पालन करने वाला सदा निरोग रहता है । चरक का यह प्रवचन सदैव अपने सामने रखो—नित्य हिताहार विहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः । दातासमः सत्यपरःक्षमावानाप्तोपसेवो च भवत्यरोगः ।

सर्वे सतु निरामया ।

(५) चिन्तामणि रस (सु. य) १-१ गुंजा की मात्रा मे अनुपान कृष्माण्ड स्वरस १० से २० तोला के साथ दे। इससे रक्त-चाप कम हो जाने पर फिर कभी रक्त-चाप नही बढेगा।

न्यून रक्त-चाप (Low Blood-pressure)

शारीरिक और मानसिक दुर्बलता से रक्तभ्रमण धीमा हो जाता है जिससे रोगी अनमना, चिन्ताशील उद्विग्न रहता है। ज्यो-ज्यो समय बीतता जाता है रोगी अधिक नि सत्व हो जाता है तथा क्षुधानाश, शिर शूल, निद्रानाश आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—

आरोग्यवर्धिनी ४ गुंजा, सुवर्णमाक्षिकभस्म २ गुंजा, प्रात -साय १ मात्रा दूध-मिश्री के साथ दे।

भोजन के बाद अग्नितुण्डी २-२ गोली पानी के साथ दें। ४ बजे ताप्यादिलौह ४ गुंजा, मुक्ताभस्म १ गुंजा, च्यवनप्राश १ तोला के साथ दे। रात्रि मे शयन-काल मे कृष्ण-चतुर्मुख १ गुंजा दूध के साथ दे। अभ्यग नारायण तैल से करें।

(२) प्रात काल सिद्धमकरध्वज १ रत्ती, विषमुष्टिक १ रत्ती, लौहभस्म १ रत्ती, प्रवालभस्म १ रत्ती आवला के मुरब्बा के साथ दे।

भोजन के बाद—द्राक्षारिष्ट १ तोला, लोहासव १ तोला, अश्वगन्धारिष्ट १ तोला दुगुना जल मिला कर दोनो समय दें।

रात्रि में रसराज १ रत्ती, शिलाजीत ६ रत्ती दूध के साथ दें।

शिवागुटिका—आयुर्वेद मे जीर्ण और कठिन व्याधियो मे रसायन-प्रयोग का विधान है—"यज्जराव्याधि विध्वसी भेषज तद्रसायनम्"।

जो वृद्धावस्था और रोगो को दूर करे उसे रसायन कहते हैं। परिहाणि की स्थिति की निष्क्रियता, शिथिलता आदि को दूर करने वाले प्रयोगो को रसायन कहते हैं। इससे रक्त-वृद्धि होती है तथा शक्ति, स्फूर्ति, बल-वृद्धि हो स्वस्थ शरीर बनता है। इसका प्रधान द्रव्य शिलाजतु है 'नसोऽस्ति रोगो भुवि साध्य रूपो शिलाह्वय यन्न जयेत्प्रसह्य" धरातल पर ऐसा कोई रोग नही जिसे उचित अनुपान एव सस्कार के साथ शिलाजीत नष्ट न करे। इसके सेवन से उच्च रक्त-चाप, हीन रक्त-चाप इन दोनो लक्षणो मे आशातीत लाभ प्राप्त होता है। ऐसा कई वर्षों का अनुभव है। इसका प्रयोग धैर्यपूर्वक निरतर चलना चाहिए।

विशेष महत्व की सूचना—

१ मन क्षोभ हो, ऐसी स्थिति बार-बार हो, उससे ही रक्त-चाप का विकार होना सम्भव होता है। इसलिए शीघ्र-कोपी मनुष्य को विवेकी बनना चाहिए।

२ सुख-दुःख समेकृत्वा लाभालाभौ जया जयौ । यह गीता की शिक्षा सदैव आंखो के सामने रख कर स्थितप्रज्ञ बनना चाहिए । फिर रक्त-चाप का विकार कभी नही होगा ।

३ शारीरिक और मानसिक श्रम बन्द करके सम्पूर्ण विश्राति लेना चाहिए । यह रक्त-चाप की अव्यर्थ महोषधि है ।

४ सयम से रहने और आहार-विहार मे पथ्यापथ्य का पालन करते रहने से ब्लडप्रेशर (रक्त-चाप) का रोग होने पर भी अनेक वर्षों तक जीवन व्यतीत कर सकेंगे । इससे भय करने की आवश्यकता नही है ।

५ सुवर्ण के तन्तु मे पिरोई हुई रुद्राक्ष की १०८ मणका की माला अगूठे, तर्जनी और मध्यमा अगुली की सहायता से माला नित्य नियमित फेरने से एव इष्टदेव का नाम स्मरण करते रहने से शरीर मे इलेक्ट्रोसिटी जागृत होकर जीवन मे शाति और सुख प्रदान करने मे सहायक है । माला गले मे धारण करते रहना चाहिए जिससे इसका स्पर्श अग पर होता रहे । रुद्राक्ष असली हो, भद्राक्ष नही ।

६ मन को शान्त और स्वस्थ रखना सीखो, वृत्तियो की चञ्चलता कम करो, वासनाओ पर सयम रखो, महत्वाकाक्षाओ को मर्य्यादित करो, लोभ और क्रोध पर अकुश रखो । गीता का यह प्रवचन सदैव याद रखो—दुःखे ष्वनु द्विग्नमनः सुखेषु विगतस्पृहः । वीतराग भयक्रोधः स्थितधी. मुनि रुच्यते ।

'जो मनुष्य हितकारी आहार विहार का सेवन करता है, बुद्धिपूर्वक देख-विचार कर काम करता है, विषयो मे प्रवृत्त नही है, समय पर पात्र को दान देता है, वैर-विरोध न रख कर सबमे समभाव रखता है, सत्य बोलता है, क्षमा वाला स्वभाव हो, प्रामाणिक भद्र पुरुषो की सेवा तथा आज्ञा-पालन करने वाला सदा निरोग रहता है । चरक का यह प्रवचन सदैव अपने सामने रखो—नित्य हिताहार विहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः । दातासमः सत्यपरःक्षमावानाप्तोयसेवो च भवत्यरोगः ।

सर्वे सतु निरामया ।

वातरोगों पर अनुभूत

लेखक प० रामप्रसाद दीक्षित

पुराग्निवज्र—

अशुद्ध (अरुष्कर) भिलावे (वृन्तरहित) १ किलो, अशुद्ध कण गूगल (अशोधित पुर) ½ किलो, अशोधित वज्र (थूहर) ¼ किलो।

प्रथम एक कपडमिट्टी की हुई मजबूत मिट्टी की हाडी ले कर उसके अधोभाग पर अशुद्ध भिलावे आधे रख कर उस पर अशुद्ध गूगल आधा रख दें। फिर उस पर अशुद्ध वज्र सपूर्ण रख कर उस पर शेष आधा भिलावा रख उस पर गूगल रख दें। हाडी के मुख पर मजबूत ढक्कन लगा तीन कपडमिट्टी कर सुखा कर गजपुट मे फूक दें। स्वाग शीतल होने पर निकाल नि.स्नेह काली भस्म को पीस कर मजबूत कार्क वाली शीशी मे रखें।

मात्रा ३ से ६ रत्ती अनुपान घृत, घृतमिश्री, मलाई, गुड का हलवा।

उपयोग—अभिघातजन्य पीडा, अस्थि-भग, चोट से खून का जम जाना, हड्डी का खिसक जाना, लचक जाना, वातव्याधि, अर्दित, पक्षाघात (लकवा), सधिवस कुष्ठ, रक्त-विकार, कटिशूल, अर्श आदि अनेक विकारो मे अत्यन्त लाभप्रद है। अनुपान भेद से अनेक रोगो को दूर कर शक्ति प्रदान करता है। कुछ सक्षिप्त रोगो के अनुपान इस प्रकार हैं—

१ अभिघातयन्य पीड़ा—गुड के हलुवे मे लपेट कर निगल जावें और ऊपर थोडा हलुवा और खा लेवें। भयकर चोट की कैसी भी पीडा क्यो न हो, २४ घण्टे के अन्दर दूर हो जाएगी। रोगी बडी शान्ति का अनुभव करता है।

२ अस्थिभग(Fracture)—हड्डी के टूट जाने पर, हड्डी के लचक-मुड जाने पर, चोट से खून का जम जाना, सूजन पर इसका अच्छा उपयोग होता है।

हड्डी को जोड़ कर भली प्रकार ऊपर मजबूत पट्टी बाध दे और १५ दिन तक न खोलें। इससे टूटी हुई हड्डी जुड कर वह स्थान अत्यन्त मजबूत हो जाएगा। इस पर प्लास्टिक का पक्का पट्टा बाधने की भी आवश्यकता नही है। यह ऐसी चमत्कारिक आयुर्वेदिक महौ-षधि है। व्यवहार कर देखें। जहा डाक्टर लोग महीने दो महीने बाद पट्टी खोलते हैं, इससे १५-२० दिन में ही हड्डी जुड कर अत्यन्त मजबूत हो जाती है। अनुपान—गुड का हलुआ।

३ वातव्याधि—प्रत्येक प्रकार की वायु के रोगी को कृष्णा चूर्ण और शहद के साथ सवेरे, शाम दें।

४ पक्षाघात, अर्दित, गृध्रसी, कटिशूल आदि मे घृत-मिश्री के साथ दे कर ऊपर महारास्नादि क्वाथ पिला दें। शीघ्र लाभ होगा।

रक्तार्श और वातार्श मे रोगी को घृत के साथ दें। कैसा ही खून क्यो न गिरता हो तीन-चार दिन देने से खून बन्द हो जाएगा और अर्शमस्से सिकुड जायेंगे।

६ अर्दित पक्षाघात आदि मे अद्रख तथा पुदीना के रस और मधु के साथ दें।

७ सब प्रकार की अन्य वातव्याधि मे रास्नादि क्वाथ के साथ दें।

८ कम्मर का दर्द, सड़क चलना—शूल शरीर के किसी भाग मे हो, पीडा हो और अशक्ति आदि मे गुड का हलुआ (सीरा) के साथ दें।

९ पशु—गाय, भैंस, अश्व आदि के चोट लग जाने पर इसको ६ माशे से १ तोला तक घी १०-१५ तोले मे मिला कर पिला दें। इसके ५-७ दिन भयकर पीडा दूर हो जायेगी और पशु के शरीर मे अच्छी शक्ति आ जाएगी। पशु को अग्नि और धूप से बचाना।

विशेष वक्तव्य—औषधि सेवन करने से पहले तोला आध तोला भर घृत मुख में डाल कर थोडी देर रख कर निगल कर फिर औषधि सेवन कर लें। मेरे यहा यह औषधि मेरो औषधालय मे सेवन होती है, आप निस्सकोच व्यवहार करें। सद्यफलप्रद चमत्कारिक महौषधि है।

बाल पक्षाघात एवम् आयुर्वेद

लेखक · वैद्य प्रभुदत्त शास्त्री, भिषगाचार्य

[पण्डित प्रभुदत्तजी, भिषगाचार्य, शास्त्री सर्वप्रथम सीकर आयुर्वेद महाविद्यालय के प्राचार्य पद पर आसीन रहते हुए प्राचीन ग्रन्थों में कहा कहा 'वैमत्य' पर खोज की थी। श्री शास्त्रीजी की विद्वत्ता, भाषाज्ञान, सौजन्य एव सरल स्वभाव के विषय में आयुर्वेद जगत भली भाति परिचित ही है।

आप अभी श्री मदनमोहन मालवीय राजकीय आयुर्वेद महा विद्यालय के प्राचार्य हैं। आपने 'बाल पक्षाघात एवम् आयुर्वेद' पर बडी विद्वत्तापूर्ण, खोजपूर्ण एव सरल भाषा में निबन्ध लिखा है। आशा है पाठक इस पर मनन करेंगे।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

प्रकृति, अधिष्ठान, लिंग, आयतन, विकल्प विशेषो के कारण रोगो मे असख्य अवस्थाए उत्पन्न होती हैं, तथाऽपि, सक्षेप मे विवेक करने पर प्रकृति—(१) आगन्तुक और २ निज-भेद से द्विविध हैं। अधिष्ठान भी दोषी है। (१) मन और (२) शरीर। उक्त दोनो अधिष्ठानो मे उत्पन्न होने वाले आगन्तुक और निज दोनो प्रकार के रोगो के प्रत्येक के बाह्य प्रकोपक हेतु (निदान) भी असख्य हैं जिन्हे सक्षेप मे तीन वर्गों मे विभक्त किया गया है। (१) असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग, (२) प्रज्ञापराध, (३) परिणाम।

शरीर या मन मे किसी भी हेतु से उत्पन्न कोई भी विकार प्रतीत होने पर तत्काल उसके नाम की परिकल्पना न भी की जा सके तो आयुर्वेद की दृष्टि मे यह कोई लज्जास्पद नही है। क्योकि, असख्य विकृति विशेषो मे सभी मे रोग विशेषो के नामो के अनुसार स्थिर अवस्थाए नही देखी जाती हैं। वात, पित्त अथवा कफ इन तीनो मे किसी एक दोष के प्रकुपित होने पर भी वह भिन्न-भिन्न प्रकोप के हेतु विशेषो के कारण पृथक्-पृथक् अधिष्ठान विशेषो मे पहुच कर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करता है। अतएव, प्रकृति, अधिष्ठान और समुत्थान आदि के विभेदो को ज्ञात करके ही चिकित्साक्रम निर्धारित करना अपेक्षित होता है ताकि, चिकित्सा मे व्युत्क्रम अथवा असावधानी न हो सके।

चरक सहिता, सूत्र स्थान, अध्याय १८ में वर्णित उपदेशामृत का पान करके तद्नुसार रोग परीक्षा, औषध परीक्षा तथा ज्ञानपूर्वक चिकित्साक्रम निर्धारित कर लेना आवश्यक हो जाता है।

वालपक्षाघात नाम की सार्थकता:—

आयुर्वेद के मूल सहिता ग्रन्थो में "वालपक्षाघात" इस नाम से कोई स्वतन्त्र व्याधि

वर्णित नही है। वात-व्याधि प्रकरण मे पक्षाघात वर्ग मे एकाङ्ग रोग (वात), अर्द्धाङ्ग रोग (वात), सर्वाङ्ग रोग (वात) का स्पष्टतया उल्लेख अवश्य है परन्तु बाल, युवा, वृद्ध का कोई विशेष भेद निर्दिष्ट नही है। नूतन समझे जाने वाले इस प्रकार के आकस्मिक आगन्तुक या सक्रामक रोगो का पूर्ववर्ती आचार्यों ने दोष-दुष्यादि-विवेक करके उन्हे आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तो की परिभाषा मे गुम्फित कर दिया है।

चूकि, यह रोग विश्व के सभी भागो मे १६ वर्ष तक की आयु के बालको को ही ग्रसित करता है। आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार १६ वर्ष तक बाल्यावस्था होती है। बालकों के एक अग, पक्ष अथवा किसी कर्मेन्द्रिय मे क्रियानाशघात (Paralyse) कर देता है अतएव इसको सज्ञा 'बालपक्षाघात' निश्चित की गई है।

"आषोडशवर्षं बाल, बालस्य बालानाम्वा पक्षस्य एक देशस्य पार्श्वस्य, द्वयोरनेकानाम्वा वाम-दक्षिणसक्थि-बाहुकरा दिशारीरावयवानाम्, ऊर्ध्वाध शाखा नाम्ना मध्ये अन्यतरस्य आघात-कार्यं विनाश चेष्टा हानि, अस्मिन् रोगे भवतीति "बालपक्षाघात" इत्युच्यते। 'अर्द्धनारी नटेश्वर न्यायेन" 'नारसिंह न्यायेन वा। तात्स्थ्यात्, तात्साहच्यात्, ताद्धर्म्याद्वा आधिक्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायात्। "गङ्गायां घोष" इतिवल्लक्षणया वा।

कई चिकित्सक इसे शैशवीय अङ्गघात या पक्षाघात, अन्त सौषुम्न शोथ या ज्वर भी कहते हैं। एलोपेथी मे इसके अनेक नाम प्रचलित हैं, यथा — 1. Infantile Paralysis, 2 Acute Anterior Poliomyelitis, 3 Acute Polio encephalitis, 4 Infantile Hemiplegia, 5 Paraplegia आदि इन सब से एक ही लोक प्रसिद्ध 'पोलियो' नामक व्याधि का अवबोध होता है।

ग्रीक शब्द 'पोलियोस्' तथा 'म्यूलोस्' के सयोग से पोलियोमाइलाइटिस् सयुक्त शब्द की उत्पत्ति होती है, जिसका तात्पर्य है – हमारे शरीर मे मस्तिष्क भाग मे स्थित सुषुम्ना नाडी के अन्त स्थ धूसर या भूरे रग के पदार्थ (Gray matter) का शोथ। यह धूसर पदार्थ वातनाडी सस्थान का मूलकोष एव जीवित भाग होता है।

कुछ चिकित्सको की राय है कि, दीर्घकाल के पश्चात् रोगी को स्वतः इस रोग से मुक्ति मिल जाती है, किन्तु प्रत्यक्षत ऐसा नही देखा गया है। हा, यदि कुछ होता ही है तो वह केवल यही है कि, ऊपर वाले अङ्गो से अल्पमात्रा मे प्रभाव हटता है।

आधुनिक वैज्ञानिक इस रोग का मुख्य कारण एक प्रकार का निष्यन्दनशील वायरस (Filterable Virus) नामक विषाणु बतलाते हैं, जो कि, सूक्ष्मदर्शकातीत होने से केवल वद्युत् अणुवीक्षण यन्त्र से ही देखे जा सकते हैं। इनका शरीर मे प्रवेश ग्रैसनिर्धीय लसी काम धातु से होता है, किन्तु रोगो के मल आदि मे भी उसकी विद्यमानता का पता चलने पर आमाशय आदि महास्रोतो अवयवो से भी नासा या मुखमार्ग से इसका शरीर मे उत्तरो-

त्तर प्रसार होने का अनुमान किया जाता है। अमेरिका आदि समृद्ध देशो की प्रयोगशालाओ मे प्राणियो मे कृत्रिम रूप से भी इस रोग को उत्पन्न करने मे सफलता मिली है।

बालपक्षाघात मे रोग परीक्षा पद्धति –

आयुर्वेद मे प्रत्येक रोग की परीक्षा निम्नाकित तीन प्रमाणो के आधार पर सम्पन्न की जाती है:–

१. आप्तोपदेश, २ प्रत्यक्ष, ३ अनुमान

चरक सहिता विमान स्थान अध्याय ४ के सदर्भ के अनुसार प्रत्येक परिज्ञात अथवा अपरिज्ञात रोग विशेष मे निम्नाकित १५ ज्ञेय विषयो का परिज्ञान सर्व प्रथम आत्मोपदेश द्वारा ही प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है। अनन्तर प्रत्यक्ष एव युक्तिपूर्वक तर्क या अनुमान की कसौटी पर कस कर उसे सुदृढ कर लेना आवश्यक है।

आप्तोपदेश द्वारा रोग परीक्षा मे ज्ञेय भाव विशेष –

१- प्रकोपण हेतु (निमित्त कारण), २- योनि-(समवायी कारण), ३- उत्थान (सम्प्राप्ति), ४- आत्मा (स्वलक्षण), ५- वेदना (आतुर वैद्य दु.खानुभव), ६- अधिष्ठान (स्थान विशेष), ७- सस्थान (चिकित्सक वैद्य पूर्व रूप-रूपादि लक्षण समुदाय), ८- शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध (व्याधि विशेष मे पृथक २ आतुर वैद्य तथा चिकित्सक द्वारा परीक्षणीय भाव, अथवा अष्टविध परीक्षा द्वारा ज्ञातव्य विशिष्ट लक्षण (नाडी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, नेत्र, आकृति-परीक्षा) ९- उपद्रव, १०- दोषो का साम्य वैषम्य (वृद्धि-स्थान-क्षमावस्था), ११- उदर्क (परिणाम-साध्य, याप्य, प्रत्याखेद आदि), १२- नाम (सार्थक सज्ञा), १३- योग (दोष-दुष्य-बल-काल-अनल-प्रकृति-वय-सत्व-सातय-आहार आदि के सयोग विशेष का ज्ञान), १४- प्रतीकारार्थ प्रवृति (उपक्षयः), १५- प्रतीकारार्था निवृत्ति (अनुपक्षय)।

उपर्युक्त १५ विषयो का ज्ञान आत्मोपदेश द्वारा प्राप्त करके अनन्तर प्रत्यक्ष और अनुमान के सहचर्य से परीक्षय भावो की पूर्ण परीक्षा (विशद विश्लेषण) कर लेने पश्च प्राप्त रोग विनिश्चय के अनुसार ही सफल चिकित्सा की जा सकती है। वह द्रव्यभूत हो या अद्रव्यभूत, एक द्रव्य से हो या विविध प्रकार के अनेको द्रव्यो की कल्पना विधियो और आहार-विहारादि के सयोग विशेषो से जैसे भी हो रोगी के लिए आरोग्यप्रद हो। यही आयुर्वेद मे वैज्ञानिक चिकित्सको के लिए प्रशस्त राजमार्ग निर्दिष्ट है। और अनुसन्धान या अन्वेषण की सफल पद्धति भी यही कही जा सकती है।

बाल पक्षाघात मे उक्त भावो का विश्लेपण—

(१) प्रकोपक हेतु या निमित्त कारण—

१ आहार अथवा क्षीर-दोष।

२ समुचित प्रकार से पोषण का अभाव ।

३ दन्तोद्भेद के समय उत्पन्न विकृति या दौर्बल्य।

४ निदानार्थकारी रोग विशेष—जैसे—वातश्लैष्मिक ज्वर, मसूरिका, रोमान्तिका, मौक्तिक ज्वर, सान्निपातिक अन्य ज्वरो के पश्चात् उपद्रवात्मक रूप से बाल पक्षाघात ।

५ पैतृक वंशपरम्परागत विकृति या बीज-दोष ।

६ मर्माभिघातज व्यथा ।

७ प्रपतनादिजन्य व्यथा ।

८ मस्तिष्क अथवा सुषुम्ना के बाह्य प्रदेश पर विष-प्रभाव या वृश्चिकादि कीटदंश ।

९ गलग्रंथियाँ और नासार्शो के शस्त्रकर्मप्रभृति ।

१० १ से ५ वर्ष तक की आयु की काल सहायता।

११ विशेषतया वर्षा ऋतु अथवा वसन्त ऋतु ।

१२ रजोधूमाकुल सघन आबादी, आनूप या आर्द्र प्रदेश ।

१३ वात और कफ तथा वातिक एवं श्लैष्मिक ज्वरो के प्रकोपक अन्य निदान ।

उपर्युक्त बाह्य निदानो से बालको मे दुर्बलता अथवा बालपक्षाघात के अनुकूल क्षेत्रता उत्पन्न हो जाने पर ही वायुरसात्म्य विषाणु अपना रोगकारक प्रभाव प्रकट कर सकते हैं। अन्यथा सब बालको मे सहिष्णुता होने पर नही प्रकट कर सकते हैं।

(२) योनि (समवायी कारण) (३) शारीर दोष—

सन्निकृष्ट निदानानि	विप्रकृष्ट निदानानि
१ वायु—१ व्यान—वृद्धतम	१ वायु के—१ रसरक्तादि धातुक्षय
२ प्राण—वृद्धतर	२ प्रमिताशन
३ समान—वृद्ध	३ निदानार्थकर रोग
४ समान वृद्ध	४ गर्भावस्था मे पोषण का अभाव
५ अपान—वृद्ध	५ माता की क्षीर दुष्टि
	६ श्लेष्मावरण

वायु मे तर्पक श्लेष्मा से आवृत साम व्यान एवं प्राण का प्रकोप ही होता है ।

२ कफ—१ स्नेहन या तर्पक —वृद्धतम	२ कफ के—१ कदली किलाटादिसेवन
२ रसक या बोधक—वृद्धतर	२ मधुरातियोग
३ क्लेदक—वृद्ध	३ स्निग्धातियोग

४ अवलम्बक—क्षीण
५ श्लेषक—क्षीण

३ पित्तम्—१ पाचक—क्षीण
२ रजक—क्षीण
३ भ्राजक—क्षीण
४ आलोचक—प्राकृत
५ साधक—प्राकृत

४ पर्युषितातियोग
५ दिवास्वाप

३ पित्तक्षय के—१ अजीर्ण
२ अध्यशन
३ विषमाशन
४ कफकारक हेतु

ख—दूष्य—रस, रक्त, मास, मेदो धातु (प्रारम्भ मे), अन्त मे क्रमशः सप्तधातु।

ग—मानसदोष—

बालको मे मानसिक दोषो का अध्ययन करना बहुत कठिन होता है। इस रोग मे मानसिक विकृति कदाचित् अन्य कारणो से ही पाई जाती है अन्यथा बालको मे बौद्धिक विकास अधिक होता है। प्रारम्भ मे बालको के मानस केन्द्र अविकसित होने से प्रज्ञापराध होना स्वाभाविक ही है इसलिए परिचर्या आदि की असावधानता से उनमे असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग भी स्वाभाविक रूप से होता है। वे उसका निराकरण पूर्णतया नही कर पाते हैं। जनपदोध्वस के समय बालको के शरीर पर काल परिणाम भी विशेष होता है क्योकि, वे अल्पसहिष्णु होते हैं। उक्त तीनो बाह्य हेतुओ से क्षेत्रीकृत शरीर मे आगन्तुक कारणवशात् वायु बलवान होकर श्लेष्म धातु के ससर्ग और आवरण से इस रोग की उत्पत्ति करता है।

(३) उत्थानम् (सप्राप्ति)—

पूर्वप्रदर्शित विप्रकृष्ट एव बाह्य हेतुओ से दुर्बल एव क्षेत्रीकृत बालको के शरीर मे वायुवाहित दूषित विषाभिसग से अथवा अन्य रोगाक्रात व्यक्ति या सक्रमवाहक के ससर्ग से उसके मल या श्लेष्म, सिंघाणकादि से निकल कर वायुरसात्म्य विषाणु रोगी मे नासा या मुखमार्ग से प्रविष्ट हो कर नासा, शिर, उर, आमाशयादि श्लेष्म स्थानो मे सक्षोभ उत्पन्न कर देता है। उनमे श्लेष्मा का सञ्चय एव तरल आस्राव होता है जिससे अग्नि मन्द हो कर साम रस की उत्पत्ति होती है। पाचक एव श्वात्वग्नि की दुर्बलता से उक्त साम श्लेष्मा से वायु आवृत होता है। वात-वह सूक्ष्म स्रोतो के सहारे उक्त सामविष सुषुम्ना नाडी के प्रारम्भिक अग्रिम शृगो तक जा पहुचता है। वहा की रस-रक्त-वहाओ मे सक्षोभ, उत्सेध और शोथ उत्पन्न करता है। वातवहाओ के उत्तेजित होने से उनके इतस्तत धूसर रग के कोषाणु भी शोथाक्रान्त (दोषाक्रान्त) हो जाते हैं। यदि दोष प्रकोप निरन्तर बढता ही जाय तो वे कोषाणु गल कर नष्ट हो जाते हैं तथा शोथ भी सुषुम्ना के अग्रिम शृगो से पश्चिम शृगो तक पहुच जाता है। शोथ का प्रसर कभी नीचे से ऊपर या कभी ऊपर से नीचे की ओर होता है। कभी-कभी सुषुम्ना शीर्ष मे या मस्तिष्क मे भी प्रारम्भ होता है। उक्त अधिष्ठनगत

साम दोषो का यदि स्वात्वग्निया निष्ठापाक और पाचकाग्नि प्रवल हो कर स्वेद-मूत्र-पुरीपादि प्रवृत्ति द्वारा सशोधन एव सशमन कर देती है तब तो तीव्र या तरुण अथवा समावस्था की निवृत्ति होकर रोगी स्वत. स्वस्थ भी हो जाता है। इसमे अच्छे-अच्छे चिकित्सको को इस रोग का पता भी नही चलने पाता है।

अन्यथा यही अवस्था बढती जाय तो पक्षाघात का प्रभाव अगो पर हो जाता है। प्रारम्भ मे तर्पक कफ से आवृत हो कर व्यानवायु विशेष प्रकुपित होता है। वही साम हो कर "खले कपोत" न्याय से चेष्टावह नाडियो के कार्य को नष्ट करता है। साम रस को चरक ने घोर अन्न विष बतलाया है। यह एक प्रकार का दूषी विष के तुल्य पदार्थ है जो कि, वातनाडियो पर उक्त विपरिणाम उत्पन्न करता है।

बालपक्षाघात–सम्प्राप्ति

पञ्चम क्रियाकाल व्याधि व्यक्ति की अवस्था मे अङ्गो मे पक्षाघात हो जाता है जो कि, प्रायश ज्वर निवृत्ति के पश्चात् स्पष्टतया ज्ञात होता है। अङ्गघात से पूर्व तथा अङ्ग-घातावस्था मे सामरस द्वारा अङ्गस्तम्भन या आमवात जैसे लक्षण उत्पन्न होते हैं। चेष्टा-वहावो मे अवरोध उत्पन्न होता है इसे ही साम अवस्था कही जाती है। निराम अवस्था उत्पन्न होने पर भी जो विपरिणाम मास वह स्रोतो पर पड़ता है उससे प्रायशः सक्थियो मे

४ अवलम्बक—क्षीण
५ श्लेषक—क्षीण

३ पित्तम्—१ पाचक—क्षीण
२ रजक—क्षीण
३ भ्राजक—क्षीण
४ आलोचक—प्राकृत
५ साधक—प्राकृत

४ पर्यु षितातियोग
५ दिवास्वाप

३ पित्तक्षय के—१ अजीर्ण
२ अध्यशन
३ विषमाशन
४ कफकारक हेतु

ख—दूष्य—रस, रक्त, मास, मेदो धातु (प्रारम्भ मे), अन्त मे क्रमशः सप्तधातु ।

ग—मानसदोष—

बालको मे मानसिक दोषो का अध्ययन करना बहुत कठिन होता है । इस रोग मे मानसिक विकृति कदाचित् अन्य कारणो से ही पाई जाती है अन्यथा बालको मे बौद्धिक विकास अधिक होता है । प्रारम्भ मे बालको के मानस केन्द्र अविकसित होने से प्रज्ञापराध होना स्वाभाविक ही है इसलिए परिचर्या आदि की असावधानता से उनमे असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग भी स्वाभाविक रूप से होता है । वे उसका निराकरण पूर्णतया नही कर पाते हैं । जनपदोध्वस के समय बालको के शरीर पर काल परिणाम भी विशेष होता है क्योकि, वे अल्पसहिष्णु होते हैं । उक्त तीनो बाह्य हेतुओ से क्षेत्रीकृत शरीर मे आगन्तुक कारणवशात् वायु बलवान होकर श्लेष्म धातु के ससर्ग और आवरण से इस रोग की उत्पत्ति करता है ।

(३) उत्थानम् (सप्राप्ति)—

पूर्वप्रदर्शित षिप्रकृष्ट एव बाह्य हेतुओ से दुर्बल एव क्षेत्रीकृत बालको के शरीर मे वायुवाहित दूषित विषाभिसग से अथवा अन्य रोगाक्रात व्यक्ति या सक्रमवाहक के ससर्ग से उसके मल या श्लेष्म, सिंघाणकादि से निकल कर वायुरसाख्य विषाणु रोगी मे नासा या मुखमार्ग से प्रविष्ट हो कर नासा, शिर, उर, आमाशयादि श्लेष्म स्थानो मे सक्षोभ उत्पन्न कर देता है । उनमे श्लेष्मा का सञ्चय एव तरल आस्राव होता है जिससे अग्नि मन्द हो कर साम रस की उत्पत्ति होती है । पाचक एव श्वात्वग्नि की दुर्बलता से उक्त साम श्लेष्मा से वायु आवृत होता है । वात-वह सूक्ष्म स्रोतो के सहारे उक्त सामविष सुषुम्ना नाडो के प्रारभिक अग्रिम शृगो तक जा पहुचता है । वहा की रस-रक्त-वहाओ मे सक्षोभ, उत्सेध और शोथ उत्पन्न करता है । वातवहाओ के उत्तेजित होने से उनके इतस्तत धूसर रग के कोषाणु भी शोथाक्रान्त (दोषाक्रान्त) हो जाते हैं । यदि दोष प्रकोप निरन्तर बढता ही जाय तो वे कोषाणु गल कर नष्ट हो जाते हैं तथा शोथ भी सुषुम्ना के अग्रिम शृगो से पश्चिम शृगो तक पहुच जाता है । शोथ का प्रसर कभी नीचे से ऊपर या कभी ऊपर से नीचे की ओर होता है । कभी-कभी सुषुम्ना शीर्ष मे या मस्तिस्क मे भी प्रारम्भ होता है । उक्त अधिष्ठनगत

साम दोषो का यदि श्वात्वग्निया निष्ठापाक और पाचकाग्नि प्रवल हो कर स्वेद-मूत्र-पुरीपादि प्रवृत्ति द्वारा सशोधन एव सशमन कर देती है तब तो तीव्र या तरुण अथवा समावस्या की निवृत्ति होकर रोगी स्वत. स्वस्थ भी हो जाता है। इसमे अच्छे-अच्छे चिकित्सको को इस रोग का पता भी नही चलने पाता है।

अन्यथा यही अवस्था बढती जाय तो पक्षाघात का प्रभाव अगो पर हो जाता है। प्रारम्भ मे तर्पक कफ से आवृत्त हो कर व्यानवायु विशेष प्रकुपित होता है। वही साम हो कर "खले कपोत" न्याय से चेष्टावह नाडियो के कार्य को नष्ट करता है। साम रस को चरक ने घोर अन्न विष बतलाया है। यह एक प्रकार का दूषी विष के तुल्य पदार्थ है जो कि, वातनाड़ियो पर उक्त विपरिणाम उत्पन्न करता है।

बालपक्षाघात–सम्प्राप्ति

पञ्चम क्रियाकाल व्याधि व्यक्ति की अवस्था में अङ्गो मे पक्षाघात हो जाता है जो कि, प्रायश. ज्वर निवृत्ति के पश्चात् स्पष्टतया ज्ञात होता है। अङ्गघात से पूर्व तथा अङ्ग-घातावस्था मे सामरस द्वारा अङ्गस्तम्भन या आमवात जैसे लक्षण उत्पन्न होते हैं। चेष्टा-वहावो मे अवरोध उत्पन्न होता है इसे ही साम अवस्था कही जाती है। निराम अवस्था उत्पन्न होने पर भी जो विपरिणाम मास वह स्रोतो पर पड़ता है उससे प्रायश. सक्थियो मे

किसी एक की मास पेशिया प्रायः निष्क्रिय, दुर्बल होकर शिथिल होती जाती हैं। उस अवयव मे कृशता होती जाती है। क्रियानाश होता ही है।

आवरण तथा सामता –

श्लेष्मस्थानगत वायु के प्रकोप से श्लेष्मा द्वारा वायु का मार्गावरण होता है अतः प्रारम्भ मे ही मार्गविरोध को समाप्त करने का उपाय करना अभीष्ट होता है। दोष सामता मे आमाशयगत श्लेष्मावृत वात की वृद्धि से अग्निमान्द्य के कारण आमविष की उत्पत्ति होती है। इसी से ज्वरादिलक्षणो का आविर्भाव होता है। 'ज्वरो की आमाशय समुत्थ"। ज्वर पूर्वक होने से यह रोग भी आमाशय समुत्थ माना गया है।

यदि सक्रमणकाल मे उक्त प्रकार की सम्प्राप्ति हो तब भी शास्त्रीय वचनानुसार रोगाधिष्ठानगत दोषो की अतिशय दुष्टि से भी सामविष जैसी प्रतिक्रिया शरीर मे उत्पन्न होती है जैसे– किण्व के सम्मिश्रण से खमीर उठता है। अथवा प्रसूता के नव ज्वर में गर्भाशयगत दोष दूष्य सम्मूर्च्छना विशेष से सामता उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार दोष दुष्टि सुषुम्ना या मस्तिष्क मे होने पर भी सामता उत्पन्न होती है। विषाभिषङ्ग और दोष प्रकोप जितना ही तीव्र होगा उतना ही सत्वर प्रभाव मस्तिष्क या सुषुम्ना के नाडी केन्द्रो पर होगा। और उन केन्द्रो से सम्बन्धित चेष्टावहनाडियो के आघात से व्यान वह स्रोतो वैगुण्य के कारण तत्तदगो का आघात शीघ्र हो जाता है। बालपक्षाघात मे दोष कोष्ठ से मध्यममार्गानुसारी होते हैं।

(४) बालपक्षाघात का आत्मरूपः–

यह एक आगन्तुज, दारुण, शीघ्रपाकी, आशुकारी, मुहुश्चारी, सामश्लेष्मावृतवात के प्रकोप से उत्पन्न मध्यममार्गाश्रित शिरोमर्मगत ज्वरपूर्वक होने वाला कृच्छ्रसाध्य वात व्याधि वर्ग के अन्तर्गत पक्षाघात नामक विकार है जो कि, प्रायः बालको मे ही उत्पन्न होता है। अध. शाखा ही इससे अधिकतर प्रभावित होती है। उर्ध्व शाखा इससे कम और अन्य अङ्ग बहुत कम आघातीत होते हैं।

(५) वेदना विशेष.– (प्राय आतुर वेद्य)

(क) तरुणावस्था मे–		(ख) जीर्णावस्था मे–
१ प्रतिश्याय	१२ मन्यास्तम्भ	१ सिरा सकोच (विशेष)
२ शिर शूल	१३ मोह	२ स्नायु ,, ,, ,,
३ कण्ठपाक	१४ आक्षेपक	३ मास ,, ,, ,,
४ नेत्रदाह	१५ स्पर्शासहिष्णुता	४ सन्धिबन्ध विमोक्ष
५ अरति	१६ शाखागतिस्तम्भ	५ अङ्गवक्रता

६ अंगमर्द	१७ अर्दित	६ काठिन्य
७ सक्थिसाद	१८ सक्थिशूल	७ खञ्जता
८ मध्यवेगज्वर	१९ सन्धिशूल	८ पंगुता
९ कास	२० अस्थिशूल	९ कुब्जता
१० वमन	२१ विड्बद्धता	१० कलायखञ्जता
११ हृल्लास	२२ क्वचित् अतीसार	११ अङ्गवैकल्य

(६) अधिष्ठानानि:—

आभ्यन्तर- (मध्यममार्ग)	बाह्य- (आघातित)
१- सुषुम्ना	१ अध. शाखा (सक्थि) वाम या दक्षिण
२- सौषुम्नशीर्ष	२ ऊर्ध्व शाखा (बाहू) ,, ,, ,,
३- लघुमस्तिष्क	३ मुखार्द्ध ,, ,, ,,
४- मस्तिष्क	४ अन्य अवयव
५- वातनाडी मण्डल	५ इन्द्रिया ,, ,, ,,
६- आमाशय	
७- पक्वाशय	

(७) सस्थानानि (लक्षणानि) —

"अव्यक्त लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ।"

स्थूलतया इसकी ३ अवस्थाएँ होती हैं।

१- तरुणावस्था, (एक मास तक)	२- मध्यावस्था और (तीन मास तक)	३- जीर्णावस्था (तीन मास के बाद)

तरुण, साम या तीव्र रोगावस्था के भी तीन विभेद करते हैं यही बालपक्षाघात की ३ मुख्य अवस्थाएँ हैं।

१- प्रथमतरुणावस्था— अव्यक्त या ईषद् व्यक्त लक्षण (पूर्वरूप)

२- द्वितीय तरुणावस्था— आत्मरूप या व्यक्त लक्षणावस्था

३- तृतीय तरुणावस्था— उपद्रवावस्था अथवा अपाय या लाघवावस्था।

१ प्रथम तरुणावस्था के लक्षण	२ द्वितीय तरुणावस्था के लक्षण	३ तृतीय तरुणावस्था के लक्षण
१ प्रतिश्याय	सामान्य :—	१ अर्दित
२ गलशोथ	१ ज्वर, २ ग्लानि, ३ भय,	२ पक्षाघात
३ उत्क्लेश	४ अस्थि, सन्धि, सक्थि शूल,	३ एकाग रोग
४ वमन	५ मासस्पर्शासहिष्णुता ६ सन्धि-	४ अर्द्धांगवध
५ शिर.शूल	स्पर्शासहिष्णुता	५ सर्वाङ्गवध
६ कास	स्थानिक :—	६ अधरागवध
७ साधारण ज्वर	१ शिर.शूल, २ प्रतिश्याय,	७ इन्द्रियोपरोध
८ अगगोरव	३ अश्रुपूर्णाक्षिता, ४ गलग्रन्थिशोथ,	८ मूर्च्छा
९ अगावसाद	५ मन्दाग्निता, ६ वमन, ७ अतीसार,	९ अपतानक
१० क्लम	अजीर्ण	१० श्वासरोध
११ स्वेदोद्गम	गम्भीर लक्षण :—	११ हृद्रव
१२ आरक्तमुखता	१ तीव्र शिर.शूल	१२ हृत्साद
	२ रोमहर्ष, ३ कम्प, ४ मन्या-	१३ मृत्यु
	स्तम्भ, ५ मोह, ६ हनुग्रस,	
	७ पृष्ठ वेदना, ८ अगमर्द	
	९ शाखाओ मे तीव्र वेदना	

मध्यावस्था—

तीन या चार सप्ताह के अनन्तर तरुणावस्था के लक्षणो की तीव्रता क्षीण होने के साथ-साथ यह अवस्था प्रारम्भ होती है। इसमे उत्तरोत्तर श्लेष्मा का आवरण और सामता के लक्षण नष्ट होते जाते हैं। इस उपावस्था मे दोषो के लक्षणानुसार चिकित्सा करने पर रोग-निवृत्ति की सभावना अधिक रहती है। अन्यथा उपेक्षा करने पर रोग जीर्णावस्था मे परिणत हो जाता है। और वह याप्य अथवा कृच्छसाध्य समझा जाता है। मध्यावस्था ३ मास तक समझी गई है।

जीर्णावस्था—

इस अवस्था मे रोगी की सक्थि या बाहू पूर्णतया आघात हो जाने से रोगी कोई क्रिया नही कर सकता है। प्रतिसक्रामित क्रिया तथा उत्क्षेपणापक्षेपणादि का अभाव हो जाता है। अतएव मासपेशियो मे अक्रियाजन्य रसरक्तादि धातुओ के सवहन मे मन्दता हो जाती है। उस अवयव की पुष्टि न होने से उत्तरोत्तर मासापचय होने के कारण सिरा-

स्नायुसंकोच तथा सन्धि-बन्ध शैथिल्य उत्पन्न होता है। आघातित सक्थि प्रायः कृश, दुर्बल, ह्रस्व तथा चेष्टारहित हो जाती है। वह सर्वदा के लिए क्षीण, संकुचित और वक्र होती जाती है।

(८) शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध परीक्षा

(केवल तरुणावस्था मे)

क्रम संख्या	१ शब्द श्रवण द्वारा	२ स्पर्श त्वचा द्वारा	३ रूप नेत्रो द्वारा	४ रस रसना द्वारा	५ गन्ध नासा द्वारा
१	स्वरभेद	ज्वर	अंगसंकोच	वैरस्य	वसागन्धित्वम्
२	आयेप (गुड-गुडीयन)	दाह	अर्दितम	—	असृग्गन्धित्वम्
३	दन्तचालन (किटकिटायन)	स्पर्शासहिष्णुता	नेत्राविलता	—	पूयगन्धित्वम्
४	दीनावाक्	आध्मान	मुखरक्तता		
५	अव्यक्तावाक्	संकोच	मन्याग्रह		
६	मूकत्व	शोष	हनुग्रह		
७	मिन्मिनत्व	सुप्ति	पक्षाघात		
८	गद्गदत्व	सन्धिश्लथता	वेपथु		
९	वाक्स्तम्भ	वेपथु	श्वेतावभासता		
१०	हृद्व	शैत्य	अंगघात		
११	श्वासकृच्छ्रता	त्वक्स्वापः	शोष		
१२	—	—	जिह्वावैवर्ण्यम्		

(९) उपद्रवा·—

१ विसर्प, २ दाह, ३ रुजा, ४ संग, ५ मूर्च्छा, ६ अरुचि, ७ अग्निमान्द्य, ८ अतीसार, ९ मांसक्षय, १० बलाक्षय, ११ शोथ, १२ त्वक्स्वाप, १३ भग्न, १४ सन्धिबन्ध विमोक्ष, १५ कम्प, १६ आध्मान, १७ अर्तिः, १८ शरीरार्द्ध अकर्मण्यम्, १९ शरीरार्द्ध विमतेनता, २० शय्याव्रण।

(१०) दोषो की वृद्धि स्थान अभावस्था— (पूर्ववत्)

१ वायु.— वृद्धतम: प्राणव्यान संज्ञक., सामः कफावृतश्च २ पित्त क्षीणम्, ३ कफ.— वृद्ध. आवरकः केवल, तर्पक संज्ञकः।

(११) उवकंमः– साध्यासाध्य लक्षण ।

साध्यलक्षणानि	याप्य, कृच्छ्र साध्यलक्षणानि	प्रत्याख्येय, असाध्य लक्षणानि
१ रोगस्यनवत्वम्	१ रोगस्यसम्वत्सरोत्यत्वम्	१ सन्धिच्युति
२ निरूपद्रवत्वम्	२ केवलवातजत्वम्	२ हनुस्तम्भः
३ आतुरस्य बलवत्वम्	३ सोप द्रवत्वम्	३ कुञ्चनम्
४ श्लेष्मावृतत्वम्	४ आतुरस्य अबलवत्वम्	४ कुब्जता
५ पित्तावृतत्वम्		५ अर्दितम्
६ सामत्वम्		६ पक्षाघात
७ युवावस्थोत्थितम्		७ अगसशोष
८ वायोरव्हाहृतत्वम्		८ पगुत्वम्
९ वायो स्थानस्यत्वम्		९ खुडवातत्वम्
१० वायो. प्राकृतिस्थत्वम्		१० स्तम्भनम्
		११ आढ्यवादता
		१२ मज्जगवातता
		१३ अस्थिगतवातता
		१४ गम्भीरश्यानुगतता
		१५ धातुक्षयत्वम्
		१६ क्षीणत्वम्
		१७ अनिमिषाक्षात्वम्
		१८ प्रसक्तभाषित्वम्
		१९ अव्यक्तभाषित्वम्
		२० गाढमृअर्दितम्
		२१ त्रिवर्षारूढत्वम्
		२२ वेपनत्वम्
		२३ आक्षेपकयुतम्
		२४ अपतानकयुतम्
		२५ गर्भिण्या पक्षाघातः
		२६ सूतिकायाः " "
		२७ बालानां " "
		२८ वृद्धानां " "
		२९ क्षीणानां " "
		३० अण्डव्य सुतीपक्षघात.
		३१ वेदनाराहित्यम्

(१२) नाम— बालपक्षाघात (असाध्य)।

(१३) योग—

पूर्व मे प्रदर्शित दोषदूष्यसम्मूर्च्छनानुसार यह रोग तर्पक श्लेष्मा से ससृष्ट या आवृत प्राण तथा व्यान वायु के प्रकोप से उत्पन्न होता है।

नासिका या मुखमार्ग द्वारा इसके बाह्य आगन्तुक कारण "वायरसाख्य" विषाणु-विशेष के विष का उपसर्ग होने पर दोष वैषम्य उत्पन्न होता है।

"आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो जघन्य वातपित्तश्लेष्मणा वैषम्यमापादयति। निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते जघन्य व्यथामभिनिर्वर्तयन्ति॥

(च० सू० अ० २०। ८)।

(१४) प्रतिकारार्था प्रवृत्ति—

(१) प्रतिबन्धक चिकित्सा—

१ वायु की शुद्धि— धूपन— हवनादि द्वारा।
२ भूमिशोधन — कर्षणलेपनादि द्वारा, प्रक्षालन द्वारा।
३ स्थानपरित्याग— महामारी के स्थान से दूर एकान्त विजनवास
४ जलशोधन — उत्क्वथन, पटपावनादि द्वारा।
५ कालशुद्धि — दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या द्वारा।
६ पूर्णविश्राम
७ नासासिंघाणकादि के वस्त्रो को जला कर नष्ट करना।
८ प्रतिमर्शनस्य— प्रतिदिन देना।
९ सेंश्ववोदक नस्य तथा गण्डूष प्रतिदिन कराना।
१० एकप्रतिघात यथदद्वावनस्यदान।
११ दशमूलादिक्वाथपान।
१२ माता के आहारविहार का नियन्त्रण।
१३ बालको की परिचर्या का पूर्णतया पालन।
१४ बालक की प्रवात से सुरक्षा।
१५ बालक की शीत से सुरक्षा का प्रबन्ध करना।
१६ कुमार कल्याण रस जैसे योगो का सेवन कराना।

(२) चिकित्सा प्रकार—

१ दैवव्यपाश्रय (मणिमगल बल्युपहार पूजा प्रभृतिः)
२ युक्तिव्यपाश्रय (हेतुव्याधिविपरीत एव विपरीतार्थकारी औषधान्नविहारदेशकाल आदि का उपयोग)—

ढूषाः	२० विश्रामः
वला.	२१ उष्णोदकस्नानम्
।म् (क्षौमकाषायकौणिकैः)	२२ अचिन्तनम्
।ोणी प्रवेश	२३ हर्षणाति.
यपिण्डधारणम्	२४ निद्रा (सुखा)

च्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवास्थितौ" । गीता

रूक्ष क्रम. कार्यं तत्रादौ कफनाशनः ।

द्वातविनाशाय शस्यते स्नैहिको विधि. ॥

।णः क्षपण यस्स्यान्न च मारुतकोपनम् ।

तं सर्वदा कार्यम् । ... . ॥"

"बालो मृदुभेषजीयानाम् । बस्तिर्वातहराणाम् । स्वेदो मार्दवकराणाम् । व्यायामः कराणाम् ।" (चरक)

"आमप्रदोष जानाम्पुनर्विकाराणाम पतर्पणे नैवोपरमो भवति । सति त्वनुबन्धे ।पतर्पणानाम् व्याधोना निग्रह निमित्तविपरीतमपास्यौषधमातङ्कविपरीतमेवाऽवचारयेद् ।स्वम् ।

"सर्वविकाराणामपि च निग्रहे हेतुव्याधि विपरीतमौषधमिच्छन्ति कुशला. । दर्थकारि वा ।

विमुक्तामप्रदोषस्य पुन परिपक्वदोषस्य दीप्ते चाऽग्नौ अभ्यगास्थापनानुवासन ।वेधिवत् स्नेहपानञ्च युक्त्या प्रयोज्यम् प्रसमीक्ष्य दोषभेषज-देश-काल-बल-शरीरा-हार सात्म्यसत्व प्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकाराश्च सम्यगिति । (चरक विमान अ० २)

प्रायो भेषजानि चाऽऽमाशय समुत्थाना विकाराणाम्पाचनवमनापतर्पणसशमनान्येव भवन्ति । (चरक वि० अ० ३)

(३) सशमनि चिकित्साः— (हेतुव्याधिविपरीत औषध प्रयोग)

तरुणावस्था मे	जीर्णावस्था मे
१ शोभाजनमूलत्वक्स्वरसः ।	१ अश्वगधा (चूर्णम, सर्पि)
२ अर्धा गवातारिरस ।	२ अर्धा गवातारिरस ।

(४) आहार एव पथ्य —

'क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाज गव्यमथापि वा ।

दद्यादास्तन्य पर्याप्तेर्बालाना वीक्ष्य मात्रया ॥

८ स्नेहगण्डूषाः	२० विश्रामः
९ स्नेहकवला.	२१ उष्णोदकस्नानम्
१० बन्धनम् (क्षौमकाषायकौणिकैः)	२२ अचिन्तनम्
११ चर्मद्रोणी प्रवेश	२३ हर्षणाति.
१२ सिक्थपिण्डधारणम्	२४ निद्रा (सुखा)

"तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवास्थितौ"। गीता

"सर्वो रूक्ष क्रम कार्यं तत्रादौ कफनाशनः।
पश्चाद्वातविनाशाय शस्यते स्नैहिको विधिः॥
श्लेष्मणः क्षपरा यत्स्यान्न च मारुतकोपनम्।
तत्सर्वं सर्वदा कार्यम्। ... . ॥"

"बालो मृदुभेषजीयानाम्। बस्तिर्वातहराणाम्। स्वेदो मार्दवकराणाम्। व्यायामः स्थैर्यंकराणाम्।" (चरक)

"आमप्रदोष जानाम्पुनर्विकाराणाम पतर्पणे नैवोपरमो भवति। सति त्वनुबन्धे कृतापतर्पणानाम् व्याधोना निग्रह निमित्तविपरीतमपास्योषधमातङ्कविपरीतमेवाऽवचारयेद् यथास्वम्।

"सर्वविकाराणामपि च निग्रहे हेतुव्याधि विपरीतमौषधमिच्छन्ति कुशलाः। तदर्थकारि वा।

विमुक्तामप्रदोषस्य पुन परिपक्वदोषस्य दीप्ते चाऽग्नौ अभ्यगास्थापनानुवासन विधिवत् स्नेहपानञ्च युक्त्या प्रयोज्यम् प्रसमीक्ष्य दोषभेषज-देश-काल-बल-शरीरा-हार सात्म्यसत्व प्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकाराश्च सम्यगिति। (चरक विमान अ० २)

प्रायो भेषजानि चाऽऽमाशय समुत्थाना विकाराणाम्पाचनवमनापतर्पणसशमनान्येव भवन्ति। (चरक वि० अ० ३)

(३) सशमनि चिकित्साः— (हेतुव्याधिविपरीत औषध प्रयोग)

तरुणावस्था मे	जीर्णावस्था मे
१ शोभाजनमूलत्वक्स्वरस।	१ अश्वगधा (चूर्णम, सर्पि)
२ अर्धा गवातारिरम।	२ अर्धा गवातारिरस।

(४) आहार एव पथ्य —

'क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाज गव्यमथापि वा।
दद्यादास्तन्य पर्याप्तेर्बालाना वीक्ष्य मात्रया॥

शोधनार्थम्:— विरेकबस्तिवमनानृते कुर्याच्च नात्ययात् ।

बलाधानार्थम्— यावल्लघुत्वादशन दद्यान्मासरसेन च ।

बल ह्यल निग्रहाय दोषाणा बलकृच्च तत् ॥ (अ० हृ० उ० त०)

बालपक्षाघाते पथ्यानि —

बालपक्षाघाते पथ्यानि

१ क्षीरम् (आज, गव्य, मातृजम् वा)

२ मासरसा (आज, कौक्कुट, मायूर, तैत्तिर, क्रौञ्च, वार्ताक, कापोत, जाम्बूक प्रभृतयो रसा)

३ सर्पि (गव्यम्)

४ तैलम् (तिलाना एरण्डजञ्च)

५ वसा (सिंहादीना मत्स्यानाम्वा)

६ मज्जा (हरिणादीनाम्)

७ मधुररसा.

८ अम्लरसा·

९ लवणरसाः

१० दीपनानि

११ पाचनानि

१२ गोधूमा

१३ मुद्गा.

१४ माषा

१५ यवा

१६ वज्रान्नम

१७ शालयः (घृतक्षीरयुक्ता)

१८ चणका (घृतसयुक्ता)

१९ गाभारीफलम्

२० वृन्ताकम्

२१ मेथिका

२२ प्रसारणी

२३ घृतकुमारी

२४ वास्तूकम्

२५ आर्द्रकम्

२६ हरिद्राशाकम्

२७ रमोन

२८ ब्राह्मी

२९ मडूकपर्णी

३० शखपुष्पी

३१ अश्वगधापत्राणि

३२ शोभाजनपुष्पाणि

३३ शोभाजनफलिकाश्च

३४ द्राक्षाफलानि शुष्काणि

३५ सेवफलानि

३६ चीकूफलानि

३७ एरण्डपपीताफलानि

३८ वातादफलानि

३९ अभिषुकाणि

४० प्रियाला

४१ काजूफलानि

४२ अखरोटफलानि

४३ नारिकेलम्

४४ तन्दुलियम्

४५ आमलकफलानि

४६ काम्वलिकयूप

४७ खडयूप

४८ सक्तव

४९ तिलपिष्टम्

५० मद्यम्

५१ आसवाः

५२ लेहा

५३ स्निग्धा स्वेदाः

५४ निवात स्थानम्

५५ गुरुप्रावरणानि

(१५) प्रतिकारार्था निवृत्ति

बालपक्षाघाते अपथ्यानि:—

(क) सामावस्थायाम्	(ख) निरामावस्थायाम्
१ दिवास्वप्न.	१ कटु
२ स्नानम्	२ तिक्त
३ अभ्यग	३ कषाय
४ मैथुनम्	४ रूक्ष
५ क्रोध'	५ विदाहीनि
६ प्रवात	६ क्षारा
७ व्यायामाः	७ अतिव्यायामः
८ कषायरस	८ अतियानम्
९ चक्रमणानि	९ व्यवाय.
१० गुरवो भक्ष्या'	१० प्रवातसेवनम्
११ स्निग्धा भक्ष्याः	११ शोकातिशयः
१२ असात्म्यानि	१२ दैन्यम्
	१३ भयः
	१४ चिन्ता
	१५ प्रजागरः
	१६ लघनम्
	१७ वेगसधारणम्
	१८ शीतम्
	१९ अतिभासनम्
	२० क्षोभ

प्रत्यक्ष, अनुमान एव युक्ति के आधार पर उक्त सिद्धातो को केन्द्रिय आयुर्वेदिक अनुसधानशाला उदयपुर की 'बालपक्षाघात शाखा' मे अनुसधान के लिए विशेषज्ञ-चिकित्सक पद पर नियुक्त रहते हुए जिस प्रकार व्यवहृत किया गया है, तथा जो परिणाम सम्प्राप्त हुए हैं उनको उक्त सस्था द्वारा ही पृथक प्रकाशित किया गया है। कृपया पाठक तत्सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य उक्त विवर्णिका के अध्ययन से प्राप्त कर सकेंगे।

आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता

लेखक डा० विद्यासागर थापर

[कविराज थापर वैद्यवाचस्पति (पजाव) तथा एल् सी पी एस् (बम्बई) व एम् बी बी. एस् (लखनऊ) के साथ आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि देहली से हैं। इस प्रकार आप प्राच्य पाश्चात्य दोनों प्रकार के आयुर्वेदविज्ञान के सिद्धान्तों के मार्मिक तत्ववेत्ता हैं, तथा राजकीय आयुर्वेदिक महाविद्यालय पटियाला (पजाब) में आचार्य पद पर आसीन होकर चिकित्सा विज्ञान की सेवा कर रहे है। आपने 'आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता' शीर्षक निबन्ध द्वारा गूढतम क्लिष्ट सिद्धान्तों को जन-साधारण के हृदयगम के लिए समुचित प्रयास में साफल्य प्राप्त किया है। आपका लेख रुचिकर एव बडा उपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धात (Fundamental Principles) वैज्ञानिक (Scientific) हैं इसमे तनिक भी सन्देह नही है। आयुर्वेद के सिद्धान्तो का मुझे लगभग ३७ वर्षो के अनुभव के कारण आयुर्वेद का मैं भक्त बन चुका हूँ। वास्तव मे मुझे आयुर्वेद के सिद्धान्तो पर दृढ विश्वास हो चुका है और निसदेह आयुर्वेद के सिद्धान्तो का स्तर उच्च कोटि तक पहुचा हुआ है। जितना अधिक समय मे आयुर्वेद के अध्ययन, उसके स्वाध्याय, एव उसके अभ्यास मे व्यतीत करता हूँ उतना ही मुझे आयुर्वेद अपार, अगाध एव अनमोल प्रतीत होता जा रहा है। मेरे अपने विचार मे अभी भी आयुर्वेद के अन्दर इतना भण्डार भरा पडा है कि वह ससार को बहुत कुछ दे सकता है।

आयुर्वेदिक प्रयोगावलि—

आयुर्वेदिक ऋषियो एव वैज्ञानिको ने चिकित्सा क्षेत्र मे विश्व को अद्भुत देन अनेक रूप में दी है। उन्होने प्रत्येक औषध को अथवा औषधियो के सम्मिश्रण को अति सूक्ष्म रूप से निरीक्षण किया है जिसमे औषधि का प्रभाव रोग पर एव रोगी के स्वास्थ्य पर उत्कृष्ट रूप मे होता है। परिणामस्वरूप रोग की निवृत्ति हो कर रोगी पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त करता है एव उसकी आयु की वृद्धि मे भी अवश्य सहायता मिलती है।

रोगी एव रोगपरीक्षा पद्धति —

रोगपरीक्षा विज्ञान मे आयुर्वेद विज्ञान शरीर के पारस्परिक प्रत्येक प्रकार के सम्बन्ध को ध्यान मे रखते हुए, अति उपयोगी व्याख्या एव अर्थ का मनन करते हुए, तर्क एव अनुमान द्वारा पूर्णरूप से विचार करके अति सूक्ष्म एव यथार्थ ज्ञान के प्रदृष्टा एव ज्ञाता होते थे। आयुर्वेद पण्डितो एव अध्यापको मे प्रायोगिक, सम्बन्धित ज्ञान शक्ति अत्यधिक होती थी इसलिए रोगी की आभ्यन्तरिक गम्भीर अवस्था का सम्पूर्ण ज्ञान उनके लिए अति सुगम होता था अतएव वे रोगी के आचार, व्यवहार एव आकृत्यादि स्वरूप को देख कर सूक्ष्म से सूक्ष्म रूपान्तर को भी भली भाति समझ सकते थे।

आयुर्वेद अनेक समय प्रमाणित एव अनेक बार परीक्षित प्राचीन भारत की स्वास्थ्य-कर, आरोग्यकारक, व्याधिनिवारक एव आयुष्प्रदाता सर्वोत्कृष्ट चिकित्सा पद्धति है। कई हजार वर्षों से आयुर्वेदिक औषधियो द्वारा रोग की निवृत्ति मे एव रोगी के स्वास्थ्य मे पूर्णरूप से सफलता हो रही है क्योकि आयुर्वेद का लक्ष्म द्विगुण होता है। एक "रोग चिकित्सा" और दूसरा "स्वास्थ्य परिरक्षण"। अतएव आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता मे तनिक भी सन्देह नही हो सकता।

आयुर्वेद का मूलाधार त्रिदोषवाद —

चिकित्सा क्षेत्र मे आयुर्वेदज्ञो के लिए बहुमूल्य, परमावश्यक, अनमोल एव अनिवार्य्य वस्तु वास्तव मे त्रिदोष विज्ञान है। त्रिदोष विज्ञान का जितना अधिक अध्ययन, स्वाध्याय एव अभ्यास किया जाय उतना ही अधिक। वह बहुमूल्य एव अनिवार्य प्रतीत होता जाता है।

दो रोगी एक ही रोग से रुग्ण हो तथापि उन में से एक रोगी के लिए आयुर्वेद चिकित्सक द्वारा वातनाशक एव उष्ण प्रभावयुक्त औषधिये एव पथ्यापथ्य प्रयुक्त होगे परन्तु दूसरे रोगी के लिए पित्तनाशक एव शीत प्रभावयुक्त औषधिए एव पथ्य पथ्य प्रयुक्त होगे अर्थात् आयुर्वेद चिकित्सक को केवल मात्र रोग का ही ध्यान नही रखना होता है साथ मे रोगी के स्वास्थ्य का ध्यान रखना भी परम आवश्यक होता है। अतएव आयुर्वेद चिकित्सा से निसन्देह अद्भुत एव विशेष सफलता अवश्यम्भावी है।

इसमे तनिक भी सन्देह नही है कि किसी भी रोग की चिकित्सा का प्रारम्भ करने के समय यदि रोगनिर्णय मे कठिनता हो रही हो तो ऐसी अवस्था मे चिकित्सा का प्रारम्भ करने के लिए आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति पाश्चात्य से अति सुगम है क्योकि आयुर्वेद के मौलिक सिद्धात विशेष रूप से त्रिदोप सिद्धात अधिक वैज्ञानिक हैं, वास्तव मे वे अधिक श्रेष्ठ एव उच्चतर हैं और निसन्देह इस विषय मे पाश्चात्य सिद्धात अभी बहुत पीछे हैं। क्योंकि कठिन रोग मे पाश्चात्य विज्ञान को रोग निर्णय के लिए अनेक प्रयोगशाला परीक्षाओं

एव क्षकिरण आदि अनेक परीक्षाओ के लिए एक अथवा दो मास अथवा इससे भी अधिक समय रोग विनिश्चय के लिए चाहिए परन्तु दूसरी ओर आयुर्वेदज्ञ कठिन से कठिन रोग मे भी वात पित्त कफ दोष की प्रधानता का निर्णय करके तुरन्त एव तत्क्षण चिकित्सा प्रारम्भ कर सकता है और सम्भव है कि आयुर्वेद चिकित्सक उस समय तक रोग की निवृत्ति भी कर डालेगा अथवा रोग की तीव्र वृद्धि को पूर्ण रूप से रोक सकेगा जब तक कि पाश्चात्य चिकित्सक अभी तक रोग का निर्णय ही कर रहा होगा। उपर्युक्त से स्पष्ट है कि त्रिदोष विज्ञान आयुर्वेद का एक अमूल्य रत्न है एव विश्व के लिए आयुर्वेद की एक अद्भुत देन है क्योकि आयुर्वेदज्ञ द्वारा प्रयुक्त हुई वही चिकित्सा अमृत एव अपूर्व वस्तु होगी जो कि अनभिज्ञ द्वारा प्रयुक्त हुई निरर्थक एव हानिकारक भी हो सकती है। यहा हम पूर्ण निश्चय से कह सकते हैं कि पाश्चात्य औषध भी यदि आयुर्वेदज्ञ द्वारा इस त्रिदोष सिद्धात के अनुसार प्रयुक्त की जाय तो वह औषध निसन्देह अधिक उपयोगी एव विशेष लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। इसीलिए हम आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतो को अधिक वैज्ञानिक कहते है।

शारीरिक क्रिया विज्ञान के लिए वात पित्त कफ ये त्रिधातु हैं। मानसिक क्रिया विज्ञान के लिए वैसे ही सत्व रज तम त्रिगुण हैं। वास्तव मे वात पित्त कफ इन तत्वो से शरीर की स्वाभाविक क्रियाओ को तथा शरीर की विकृत अवस्थाओ की क्रियाओ को एव चिकित्सा में भेषज प्रयोग मे जो अपूर्व नियम बान्धे गए हैं उन नियमो को एक बार समझने से महर्षियो का दिव्य ज्ञान देख कर हमे विस्मय एव मुग्ध होना पडता है। वात पित्त कफ केवल शरीर के ही तीन स्तम्भ रूप नही हैं परन्तु समग्र आयुर्वेद के हेतु, लक्षण, औषध स्कन्ध के तीन प्रधान स्कन्ध रूप त्रिदोष हैं। मनुष्य का वय क्रम, अहोरात्र, षडऋतु, अन्नविपाक आदि सभी मे वात पित्त कफ का प्रभाव महर्षियो ने स्पष्ट प्रतिपादित किया है जिससे चिकित्सा कार्य मे हर प्रकार की एव पूर्णरूप से सहायता मिलती है। यही नही आयुर्वेद का पचभूत विज्ञान, आत्मा, मन एव चेतना का ज्ञान भी आयुर्वेदिक त्रिदोष विज्ञान मे सहायक होता है। इससे अधिक आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता की पुष्टि क्या हो सकती है।

आयुर्वेदीय पथ्य व्यवस्था —

आयुर्वेद मे प्रत्येक भोज्य पदार्थ का विस्तृत वर्णन, ऋतु अनुसार पृथक २ भोजन का महत्वपूर्ण वर्णन एव परस्पर विरुद्ध भोजन का वैज्ञानिक वर्णन आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता का द्योतक है।

द्रव्यगुण सिद्धात —

आयुर्वेदोक्त द्रव्य गुण मे भी आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता स्पष्ट प्रगट होती

है क्योकि इसमे अन्योपेक्षा विशेषता यह है कि महर्षि लोग पहिले मनुष्य शरीर पर भेषजो की क्रियाओ को देख कर सूक्ष्म विचार एव अतीन्द्रिय ज्ञान से भेषज गुणो को लिखते थे इसलिए उनके कथित द्रव्यो के गुण, रस, वीर्य, विपाक एव प्रभाव अपूर्व हैं।

आयुर्वेदीय रस-चिकित्सा—

रस एवं पारद की योगवाहिता अर्थात् जिन धातुओ के साथ तैय्यार किया जाय उनके गुणो के ग्रहण की शक्ति आयुर्वेद का ही आविष्कार है जिससे आयुर्वेद की वैज्ञानिकता स्पष्ट प्रगट होती है। उदाहरणार्थं स्वर्णघटित मकरध्वज मे स्वर्ण के न बढने पर भी स्वर्ण के अपूर्व गुण उसमें आ जाते हैं। और केवल यही नही भिन्न २ अनुपात से मकरध्वज के गुण भिन्न २ रूप मे प्रकाशित होते हैं। इसी प्रकार रसौषधि में इस गन्धक अथवा हिंगुल का व्यवहार आयुर्वेद मे उपदिष्ट है।

आयुर्वेदोक्त कीटाणुवाद:—

यह आश्चर्य का विषय है कि जीवाणु कारणवाद (Germ Theory) जिसके विषय मे पाश्चात्य विज्ञान ने उन्नति की है जो उनके गर्व का कारण है वह भी आयुर्वेद का ही आविष्कार है। आयुर्वेद मे स्थान २ पर अति सूक्ष्म एव अदृश्य कृमियो का वर्णन है। महर्षि लोग यह भी जानते थे कि विषम ज्वर, प्लेग, श्वसनक ज्वर, विसर्प, कुष्ठ आदि रोग कृमिजन्य हैं। इस विषय में भी आयुर्वेद की वैज्ञानिकता की पुष्टि अवश्य होती है परन्तु आयुर्वेदज्ञ इस विषय को अधिक महत्व नही देते क्योकि उनके विचार मे त्रिदोष सिद्धात एव उसकी सहायता से चिकित्सा सुगम एव विशष फलप्रद होतो है।

आयुर्वेदीय नाड़ी विज्ञान—

आयुर्वेद का एक अद्भुत चमत्कार नाडी विज्ञान (Knowledge of Pulse) भी आयुर्वेद की वैज्ञानिकता का द्योतक है जिसके पूर्ण ज्ञान के लिए दीर्घ अभ्यास की आवश्यकता है उसकी प्राप्ति योग द्वारा होती है अथवा यह भगवान की किसी व्यक्ति विशेष को देन है। इस समय भो ऐसे आयुर्वेदज्ञ उपस्थित हैं जो केवल नाडी परीक्षा द्वारा ही किसी व्यक्ति ने भोजन मे क्या खाया है यह भी बता सकते हैं।

आयुर्वेदीय चिकित्सा वैज्ञानिकता—

आयुर्वेदिक वनस्पतियो के क्वाथो एव स्वरसो मे अनेक स्वच्छ एव ताजे खाद्योज पदार्थो (Vitamins) की उपस्थिति, आन्त्रिक ज्वर (Tyyhhid fever) मे छाछ का अधिकतर प्रयोग, शोपावस्था एव क्षयावस्था से बचाव के लिए सर्वसम्मानित आयुर्वेदीय तैलाभ्यङ्ग का प्रयोग, वृद्धावस्था की क्षीणता से बचाव एव शक्ति की वृद्धि के लिए आयुर्वेदिक रसायन औपधियो का प्रयोग एव उत्तम सन्तानोत्पत्ति के लिए वाजीकरण औषधियो का प्रयोग यह सब आयुर्वेद की वैज्ञानिकता के द्योतक हैं।

आयुर्वेदीय शल्य चिकित्सा:—

यह भी एक आश्चर्यजनक विषय है कि शल्य तन्त्र (Surgery) का जन्म भी आयुर्वेद से ही हुआ है। वर्तमान समय मे पाश्चात्य चिकित्सा मे छेदन भेदन आदि चिकित्सा प्रचलित है तथा उसका जो गौरव हमारे सम्मुख दृष्टिगोचर हो रहा है उन सभी का मूल आयुर्वेद का शल्य तन्त्र ही है। आयुर्वेदिक शास्त्र इतने सूक्ष्म होते थे कि उनसे बाल (hair) को भी काटा जा सकता था। आजकल हम अनेक शस्त्र कर्म (operations) केवल आयुर्वेदिक औषधियो की सहायता से ही कर रहे हैं। आश्चर्य की बात यह है कि हमारे रोगियो मे पूयास्था अथवा ज्वरावस्था की प्रतीति कदापि नही हुई। हमारे अपने विचार से आयुर्वेदिक शल्य तन्त्र आज भी अति शीघ्र उच्च कोटि तक पहुँच सकता है केवल मात्र अभ्यास की आवश्यकता है अतएव इस विषय मे भी आयुर्वेद की वैज्ञानिकता मे तनिक भी सन्देह नही हो सकता। इस विषय में विशेषता यह है कि आयुर्वेदिक औषधिए किसी भी प्रकार की हानि, क्षति एव सकट का कारण नही बनती एव प्रत्येक आयुर्वेदिक औषधि कम अथवा अधिक बलवर्धक होने के कारण पोषण का कार्य भी करती है अतएव आयुर्वेदिक औषधिए निसन्देह रुग्णावस्थापर्यन्त शक्ति प्रधारण मे भी सदा सहायक रहती हैं।

आजकल पाश्चात्य की सूचि वेधन चिकित्सा (Injection treatment) विशेष कर के सीधा शिरारक्त मे औषध पहुँचाना (Intravenous Injection) अधिक वैज्ञानिक समझा जा रहा है क्योकि उससे औषध का प्रभाव तुरन्त एव तत्क्षण हो जाता है। नित्य प्रति इस चिकित्सा विधि के मार्केट खुलते जा रहे है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक रोग मे एव प्रत्येक अवस्था मे शिरा-वेधन अथवा अन्य सूची-वेधन चिकित्सा ही अब एक मात्र चि[illegible] विधि रह गई है और फिर उत्तम परिणाम के लिए अनेक एव बारम्बार सूची-वेधन आवश्यक प्रतीत हो रहे हैं। हमारे विचार मे यह सूची-वेधन विधि अति हानि[illegible] क्योकि इस विधि के अधिक एव बारम्बार प्रयोग के कारण कर्कटार्बुद (Cancer) आ[illegible] घातक रोगो की उत्पत्ति एव वृद्धि हो रही है। विशेष करके ककटार्बुद (Cancer) प्रमुख घातक रोग है। इसके कारण सबसे अधिक मृत्यु सख्या अमेरिका मे हो रही है जहा सूची वेधन चिकित्सा विधि भी सबसे अधिक प्रचलित है। हमारे देश में भी सूची-वेधन चिकित्सा विधि विशेष बढने के कारण यहा भी प्रमुख घातक कर्कटार्बुद (Cancer) की उत्पत्ति एव वृद्धि होती जा रही है। हमे समझ नही पड रहा कि जब चिकित्सा क्षेत्र मे अनेक उत्कृष्ट प्रकार के साधन उपस्थित हैं तो क्या आवश्यकता है कि हम इस हानिकारक सूची-वेधन विधि को अपनाए और कर्कटार्बुद (Cancer) आदि प्रमुख घातक रोगो की उत्पत्ति एव वृद्धि मे कारण बने। हम यहा यह बता देना चाहते हैं कि इस विषय मे आयुर्वेद की वैज्ञानिकता कितने ऊचे स्तर की है। आयुर्वेद मे भी सीधा रक्त मे विशेष औषध पहुँचाने की विधि का वर्णन अवश्य आता है जिससे औषध का प्रभाव तुरन्त एव तत्क्षण हो सके

परन्तु यहा सीधा रक्त मे इस विधि का प्रयोग उस समय के लिए कहा है जब कि रोगी मृत्यु शय्या पर पडा हो, उसकी मृत्यु अति समीप हो, केवल मात्र रोगी का जीवन बचाने के लिए अन्तिम प्रयत्न के रूप मे जब कि अन्य सब चिकित्सा विधिए असफल हो चुकि हो, केवल मात्र तब ही सीधा रक्त मे औषध पहुँचाने की इस विधि का प्रयोग करना चाहिए परन्तु अधिक एव बारम्बार इस विधि का प्रयोग कदापि नही करना चाहिये। इसी कारण आयुर्वेद मे इस विधि का वर्णन स्थान २ पर नही आया है क्योकि इस विधि का अधिक एव बारम्बार प्रयोग कर्कटार्बुद (Cancer) आदि प्रमुख घातक रोगो की उत्पत्ति एव वृद्धि मे निसन्देह कारण बन सकता है। इससे अधिक आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता की पुष्टि क्या हो सकता हैं।

उपसहार:—

पाठकगण! हमारे अनुभव मे ऐसे अनेक उदाहरण है जो कि पाश्चात्य पद्धति की चिकित्सा द्वारा प्रत्यक्ष एव स्पष्ट रूप से असफल एव व्यक्त रोगी भी वैज्ञानिक दृष्टि से आयुर्वेदिक चिकित्सा द्वारा पूर्ण स्वस्थ्य हुए हैं। आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति द्वारा अनेक रोगी अगविच्छेदन (amputation) से बचाए गए हैं। अनेक रोगी वृहद् उदर शस्त्र कर्मों (major abdominal operations) से आयुर्वेदिक औषधियो ने बचाए हैं। अनेक पूतिवस्तु (slongh) से भरपूर पाश्चात्य द्वारा असाध्य कहे गए रोगी आयुर्वेदिक चिकित्सा द्वारा पूर्ण स्वस्थ हुए हैं। हमे एक सात वर्ष के अन्धे बच्चे का ऐसा उदाहरण ज्ञात है जिसको पाश्चात्य द्वारा दृष्टि नाडी शोष (optic nerve atrophy) कह कर त्याग दिया गया था और आयुर्वेदिक औषधियो द्वारा उसको प्रकाश मिला था।

पाठकगण! उपर्युक्त से आपको स्पष्ट हो गया होगा कि आयुर्वेद के प्रत्येक अग एव विभाग मे कितनी वैज्ञानिकता है। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धात कितने अधिक उत्कृष्ट हैं। इसलिए हमारे विचार मे सर्व भारत देश मे यदि प्रत्येक रोगी के लिए एव प्रत्येक अवस्था मे केवल मात्र आयुर्वेदिक चिकित्सा ही प्रचलित कर दी जाय तो निसन्देह हमारे देश के रोगियो की सख्या मे अत्यधिक कमी हो जायगी और स्वास्थ्य एव आयु की वृद्धि अवश्यम्भावी होगी एव मितव्ययता की दृष्टि से, हमारे देश की धनराशि की भी अत्यधिक रक्षा हो सकेगी।

अन्त मे हम अपने देशीय पाश्चात्य विद्वानो से भी प्रार्थना करना चाहते हैं कि वे अब पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति की उपासना एव दासता त्याग कर सत्यता की शरण ले और वास्तविक एव पूर्ण वैज्ञानिक आयुर्वेद के मौलिक सिद्धातो का अध्ययन, स्वाध्याय, मनन एव अभ्यास करें क्योकि आयुर्वेद निसन्देह एक रत्न है, हीराजवाहरात् है एव अनेक अनमोल मोतियो की खान है। इसलिए प्रत्येक पुरुष एव अनेक स्त्री पाश्चात्य चिकित्सक के लिए उचित है कि वे अवश्यमेव प्रथम सस्कृत के विद्वान बनें तत्पश्चात् इस ऐश्वर्यशाली प्राचीन आयुर्वेदिक अगाध समुद्र मे डुबकी लगावें ताकि वे अपने प्यारे देश के लिए आयुर्वेद भण्डार मे से अनेक अनमोल मोतियो को ढूढ २ कर निकाल सकें।

भारतीय पद्धति के सस्ते सेनोटोरियम

लेखक : वैद्य सोहनलाल दाधीच

[वैद्यराज श्री सोहनलालजी दाधीच आयुर्वेदाचार्य, राजस्थान के कर्मठ कांग्रेसी कार्यकर्ता रहे हैं, आपको भारतीयता से अत्यधिक प्रेम है। आपने तुलसी पर जिसके अमूल्य व अतिशय प्रभावकारी गुणों से प्रभावित होकर धर्म का रूप दकर पूजन, सेवन तथा प्रतिदिन ग्रहण करने के विचार पर बल दिया है। तथा इसकी रसायनिक विशेषता जहा इसका पौधा होता है वहा की वायु में विशेष प्रक्रिया द्वारा वायु की शुद्धि जिससे महाव्याधिया कुष्ठ, यक्ष्मा, आदि पर गुणकारी प्रभावों के आधार से 'भारतीय पद्धति के सस्ते सेनाटोरियम' की उपयोगिता पर निबन्ध दिया है। आप गाधी विद्यामन्दिर के अतर्गत चलने वाली आयुर्वेद विश्व भारती में आचार्य पद पर आसीन होकर आयुर्वेद जगत् को अमूल्य सेवा कर रहे हैं।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सपादक]

जहा भारतीय जीवन पर अंग्रेजो तथा पाश्चात्य विचारधाराओ और पद्धतियो का प्रभाव पडा है वहा चिकित्सा जगत पर तो उसने पूर्णरूपेण अधिकार कर लिया है। टी बी तथा अन्य सक्रामक रोगो की चिकित्सा के लिए तो पाश्चात्य पद्धति के खर्चीले सेनेटोरियम का प्रचलन गत डेढ शताब्दि से हमारे देश मे प्रचलित है। पाश्चात्य शिक्षा और आधुनिक वातावरण मे शिक्षित हमारे डॉक्टर क्षय के रोगियो को प्राय भुवाली, धर्मपुर, मदनापल्ली, अल्मोडा आदि सेनेटोरियमो मे रहने का आदेश देते हैं। क्योकि वहा का जलवायु तथा वातावरण अनुकूल प्रभाव रखता है।

वर्तमान सेनेटोरियम—

ये सेनेटोरियम प्राय पहाडी प्रदेशो मे बनाये जाते हैं। वहा चीड, नीम, देवदारू आदि के वृक्ष बहुतायत से पाये जाते है। इनकी स्वच्छ तथा रासायनिक तत्वो से परिपूर्ण वायु क्षय तथा तत्सम जटिल रोगो के कीटाणुओ को नष्ट करने मे आश्चर्यजनक प्रभाव रखती है। ये सेनेटोरियम एकान्त व नीरव स्थानो पर जहा उन्मुक्त स्वच्छ वायु, पक्षियो का मधुर कलरव तथा नयनाभिराम मनोहर व सुन्दर प्राकृतिक दृश्यावलि हो वहा बनाये गए हैं।

किन्तु ये सेनेटोरियम तो बहुव्ययसाध्य होने से केवल देश के धन-कुबेरो के लिए ही सुलभ हो सकते हैं और हमारा भारत अत्यन्त निर्धन है। अत हमारे देश के दरिद्र-नारायण के वर-पुत्रो के लिए भी सस्ते सेनेटोरियमो की महती आवश्यकता है।

तुलसी का महत्त्व—

हमारा सुझाव है कि इस दिशा मे नये प्रयोग किए जाय। ये प्रयोग तुलसी वनो के

सेनेटोरियमो द्वारा किए जा सकते हैं। अभी तक हमारे यहा जिन वनस्पतियो को गुणकारी माना है, उनमे तुलसी सर्वाधिक आश्चर्यजनक लाभदायक वनस्पति है। प्राचीन काल में ऋषि मुनि ऐसे स्वास्थ्यप्रद स्थानो मे तुलसी के पौधो का ही प्रयोग करते थे। तुलसी के असख्य गुणो के कारण ही उसे पूजा का अविभाज्य अग मान लिया गया और सब पूजा-गृहो तथा मन्दिरो मे तुलसी के पौधो को अनिवार्यत स्थान दिया गया। उसके पत्तो को भगवान् के चढाने तथा चरणामृत एव प्रसाद आदि मे उपयोग किया गया। हिन्दू नारियो को प्रतिदिन उसकी गुणकारी वायु मे रखने के लिए सूर्योदय होते ही जल चढाने की पद्धति चालू की गई।

तुलसी और धर्म—

हमारे प्राचीन ऋषि मुनि जहा अध्यात्म के विशेषज्ञ होते थे वहा चिकित्सा शास्त्र के भी मर्मज्ञ होते थे। उन्होने जो तत्व स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन के लिए उपयोगी और आवश्यक समझा उसे धर्म से सयुक्त कर दिया। तत्कालीन नागरिक भी आस्तिक तथा धर्मपरायण होते थे। अतः तुलसी के साथ धर्म को सयुक्त कर उन्होने धर्म और वैद्यक का समन्वय करा दिया।

अर्घ्यदान के लिए तुलसी की परिक्रमा करने का रासायनिक महत्व यह था कि सूर्य की रश्मिया जब तुलसी पर पडती हैं तब तुलसी से एक जीवनदायक वायु उत्पन्न होती है। उक्त वातावरण मे कुछ देर तक निवास कर सके, इसीलिए युगो से तुलसी-परिक्रमा हमारी सस्कृति का अग बनी हुई है और अब भी असख्य हिन्दू नारिया प्रात काल उठ कर उसकी पूजा करती हैं। घर मे तुलसी का पौधा रखना वायु स्वच्छ रखने का एक प्राकृतिक साधन था। जिस गृहस्थ मे तुलसी और गौ नही होती उसे श्मशानतुल्य अपवित्र माना गया है।

तुलसी के गुणो का वर्णन करते हुए हमारे यहा कहा गया है कि—

> तुलसी गधमादाय यत्र गच्छति मारुत ।
> दिशोदश पुनात्याशु भूतग्रामाश्चतुर्विधान् ॥

निष्कर्ष यह है कि तुलसी गधयुक्त वायु न केवल आसपास के समस्त वातावरण को स्वस्थ व सुगन्धित ही बनाती है अपितु अनेक रोगो का समूल नाश भी करती है।

तुलसी की वायु से फेफडे निरोग व स्वस्थ होते हैं। शरीर मे नई स्फूर्ति और नवीन उत्साह पैदा होता है। इसकी हवा जितनी दूर जाती है वहा तक का वायुमण्डल शुद्ध बन जाता है।

तुलसी वन—

यदि तुलसी के पौधो को बडे पैमाने पर खेती कर तुलसी वन बनाये जाय और

भारतीय पद्धति के सस्ते सेनोटोरियम

लेखक : वैद्य सोहनलाल दाधीच

[वैद्यराज श्री सोहनलालजी दाधीच आयुर्वेदाचार्य, राजस्थान के कर्मठ कांग्रेसी कार्यकर्ता रहे हैं, आपको भारतीयता से अत्यधिक प्रेम है। आपने तुलसी पर जिसके अमूल्य व अतिशय प्रभावकारी गुणों से प्रभावित होकर धर्म का रूप दकर पूजन, सेवन तथा प्रतिदिन ग्रहण करने के विचार पर बल दिया है। तथा इसकी रसायनिक विशेषता जहा इसका पौधा होता है वहा की वायु में विशेष प्रक्रिया द्वारा वायु की शुद्धि जिससे महाव्याधिया कुष्ठ, यक्ष्मा, आदि पर गुणकारी प्रभावों के आधार से 'भारतीय पद्धति के सस्ते सेनाटोरियम' की उपयोगिता पर निबन्ध दिया है। आप गाधी विद्यामन्दिर के अतर्गत चलने वाली आयुर्वेद विश्व भारती में आचार्य पद पर आसीन होकर आयुर्वेद जगत् को अमूल्य सेवा कर रहे हैं।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सपादक]

जहा भारतीय जीवन पर अग्रेजो तथा पाश्चात्य विचारधाराओ और पद्धतियो का प्रभाव पडा है वहा चिकित्सा जगत पर तो उसने पूर्णरूपेण अधिकार कर लिया है। टी बी तथा अन्य सक्रामक रोगो की चिकित्सा के लिए तो पाश्चात्य पद्धति के खर्चीले सेनेटोरियम का प्रचलन गत डेढ शताब्दि से हमारे देश मे प्रचलित है। पाश्चात्य शिक्षा और आधुनिक वातावरण मे शिक्षित हमारे डॉक्टर क्षय के रोगियो को प्राय. भुवाली, धर्मपुर, मदनापल्ली, अल्मोडा आदि सेनेटोरियमो में रहने का आदेश देते हैं। क्योकि वहा का जलवायु तथा वातावरण अनुकूल प्रभाव रखता है।

वर्तमान सेनेटोरियम—

ये सेनेटोरियम प्राय पहाडी प्रदेशो मे बनाये जाते हैं। वहा चीड, नीम, देवदारु आदि के वृक्ष बहुतायत से पाये जाते हैं। इनकी स्वच्छ तथा रासायनिक तत्वो से परिपूर्ण वायु क्षय तथा तत्सम जटिल रोगों के कीटाणुओ को नष्ट करने मे आश्चर्यजनक प्रभाव रखती है। ये सेनेटोरियम एकान्त व नीरव स्थानो पर जहा उन्मुक्त स्वच्छ वायु, पक्षियो का मधुर कलरव तथा नयनाभिराम मनोहर व सुन्दर प्राकृतिक दृश्यावलि हो वहा बनाये गए हैं।

किन्तु ये सेनेटोरियम तो बहुव्ययसाध्य होने से केवल देश के धन-कुबेरो के लिए ही सुलभ हो सकते हैं और हमारा भारत अत्यन्त निर्धन है। अत हमारे देश के दरिद्र-नारायण के वर-पुत्रो के लिए भी सस्ते सेनेटोरियमो की महती आवश्यकता है।

तुलसी का महत्त्व—

हमारा सुझाव है कि इस दिशा मे नये प्रयोग किए जाय। ये प्रयोग तुलसी वनो के

सेनेटोरियमो द्वारा किए जा सकते हैं। अभी तक हमारे यहां जिन वनस्पतियो को गुणकारी माना है, उनमे तुलसी सर्वाधिक आश्चर्यजनक लाभदायक वनस्पति है। प्राचीन काल मे ऋषि मुनि ऐसे स्वास्थ्यप्रद स्थानो मे तुलसी के पौधो का ही प्रयोग करते थे। तुलसी के असख्य गुणो के कारण ही उसे पूजा का अविभाज्य अग मान लिया गया और सब पूजा-गृहो तथा मन्दिरो मे तुलसी के पौधो को अनिवार्यत स्थान दिया गया। उसके पत्तो को भगवान् के चढाने तथा चरणामृत एव प्रसाद आदि मे उपयोग किया गया। हिन्दू नारियो को प्रतिदिन उसकी गुणकारी वायु में रखने के लिए सूर्योदय होते ही जल चढाने की पद्धति चालू की गई।

तुलसी और धर्म—

हमारे प्राचीन ऋषि मुनि जहा अध्यात्म के विशेषज्ञ होते थे वहा चिकित्सा शास्त्र के भी मर्मज्ञ होते थे। उन्होने जो तत्व स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन के लिए उपयोगी और आवश्यक समझा उसे धर्म से सयुक्त कर दिया। तत्कालीन नागरिक भी आस्तिक तथा धर्म-परायण होते थे। अत· तुलसी के साथ धर्म को सयुक्त कर उन्होने धर्म और वैद्यक का समन्वय करा दिया।

अर्घ्यदान के लिए तुलसी की परिक्रमा करने का रासायनिक महत्व यह था कि सूर्य की रश्मिया जब तुलसी पर पडती हैं तब तुलसी से एक जीवनदायक वायु उत्पन्न होती है। उक्त वातावरण मे कुछ देर तक निवास कर सके, इसीलिए युगो से तुलसी-परिक्रमा हमारी सस्कृति का अग बनी हुई है और अब भी असख्य हिन्दू नारिया प्रात काल उठ कर उसकी पूजा करती हैं। घर मे तुलसी का पौधा रखना वायु स्वच्छ रखने का एक प्राकृतिक साधन था। जिस गृहस्थ मे तुलसी और गौ नही होती उसे श्मशानतुल्य अपवित्र माना गया है।

तुलसी के गुणो का वर्णन करते हुए हमारे यहा कहा गया है कि—

> तुलसी गधमादाय यत्र गच्छति मारुत।
> दिशोदश पुनात्याशु भूतग्रामाश्चतुर्विधान्॥

निष्कर्ष यह है कि तुलसी गधयुक्त वायु न केवल आसपास के समस्त वातावरण को स्वस्थ व सुगन्धित ही बनाती है अपितु अनेक रोगो का समूल नाश भी करती है।

तुलसी की वायु से फेफडे निरोग व स्वस्थ होते हैं। शरीर मे नई स्फूर्ति और नवीन उत्साह पैदा होता है। इसकी हवा जितनी दूर जाती है वहां तक का वायुमण्डल शुद्ध बन जाता है।

तुलसी वन—

यदि तुलसी के पौधो को बडे पैमाने पर खेती कर तुलसी वन बनाये जाय और

उनमे भारतीय पद्धति के नये सेनेटोरियम खडे किये जाय तो चिकित्सा के क्षेत्र मे एक नया और भारतीय परम्परानुकूल सस्ता क्रान्तिकारी प्रयोग सफल हो सकता है।

तुलसी वनो मे जो सेनेटोरियम बनाये जाय उन कमरो की दीवारें तथा फर्श तुलसी के पौधो के नीचे या आसपास से ली हुई मिट्टी से लीपे-पोते जाय तो विशेष लाभदायक होगे। क्योंकि इस पौधे के रासायनिक गुण मिट्टी तक गहरे व्याप्त हो जाते हैं।

मलेरिया पर तुलसी—

एक बार सर जार्ज वर्डवुड ने २९ अप्रैल १९०४ के टाइम्स मे लिखा था—जब बम्बई में विक्टोरिया गार्डन और एलवर्ट अजायबघर बनाये गए तब वहा काम करने वाले सब कर्मचारियो को मलेरिया ने आक्रान्त कर लिया। उस समय एक भारतीय कर्मचारी की सम्मति से उस बगीचे मे तुलसी के पौधे लगाये गए। परिणामत वहा से मलेरिया तथा मच्छर सदा के लिए विदा हो गये।

अनुसधान से यह भी विदित हुआ कि तुलसी मे थायमल नाम का ऐसा तत्व पाया गया है जो कुष्ठ, कोढ जैसे महा रोग के लिए भी गुणकारी प्रमाणित हुआ है।

कहते हैं क्षय रोगियो के शरीर पर इसका रस मलने से क्षय रोग नष्ट होता है। यदि तुलसी के रस से व्रण प्रक्षालन किया जाय तो व्रण के कीटाणु नष्ट हो कर व्रण शीघ्र भर जाते हैं। सर्व साधारण का यह विश्वास है कि मृत्यु काल मे तुलसी गगाजल देने से सद्गति प्राप्त होती है। सद्गति मिलती या नही भगवान् जाने, यह तो निश्चित है कि तुलसी की गध से आसपास की दूषित गध दूर होती है।

उपयोगी सुझाव—

अत केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय से विनम्र निवेदन है कि वो विदेशी चिकित्सा पद्धति का मोह छोड कर प्रत्येक नगर के बाहर सुन्दर व स्वच्छ स्थान पर तुलसी वनो की स्थापना करें। स्मरण रहे कि तुलसी भारत मे सर्वत्र सुगमता से लगाई भी जा सकती है। तुलसी वनो के मध्य मे स्वास्थ्य-गृहो का निर्माण करावे ताकि भारतीय जन अनुपज भारतीय पद्धति से स्वास्थ्य प्राप्त कर सकें।

रक्त विस्रावण-क्रिया

लेखक : वैद्य ऋषिदेव सोलंकी, जोधपुर

[वैद्यराज श्री ऋषिदेवजी सोलंकी, भिषगाचार्य श्री वैद्यराज रतनलालजी सोलंकी औषधि निर्माण कलाविद् के सुपुत्र हैं। आपने सर्वप्रथम गवर्नमेन्ट फार्मेसी के प्रबन्ध व्यवस्थापक के रूप में कार्य किया तथा निरीक्षक आयुर्वेद विभाग के पश्चात् 'धात्री-कल्पद' प्रशिक्षण केन्द्र के आचार्य भी रहे। श्री सोलंकीजी वर्त्तमान में आयुर्वेद जिलाधिकारी के पद पर कोटा में कार्य कर रहे हैं। श्री सोलंकी स्वरविज्ञान में श्री चरित्रनायक के जिज्ञासु शिष्यों में हैं। आप सुयोग्य प्रशासक एवं स्पष्ट वक्ता होने के साथ २ मिलनसारिता का विशेष गुण रखते हैं। आपका रक्त विस्रावण-क्रिया पर लेख पठनीय है।

—वैद्य बाङ्लाल जोशी, सम्पादक]

शरीर धारण रक्त द्वारा होता है, अत रक्त देह का मूल है। लिये गये आहार के भली प्रकार परिपाक होने से उसका अतिसूक्ष्म प्रसाद भाग रस कहलाता है। इस रस का रजक पित्त द्वारा रासायनिक समिश्रण होकर रक्त सज्ञा बन जाती है। यद्यपि इसमे विस्रता (पार्थिव) द्रवता (जलीय) राग (आग्नेय) स्पन्दन (वायव्य) तथा लघुता (आकाशीय) होती है परन्तु अग्निगुण की अधिकता से रक्त आग्नेय कहा जाता है। यह हृदय से मुख्य २४ धमनियो द्वारा समस्त देह को प्रतिक्षण तर्पण कर बढाता है, धारण करता है, चलाता रहता है, इसका यह कर्म स्वतन्त्र नाडी सस्थान से सम्बन्धित रहता है। दोषो द्वारा इसका प्रकोप पित्त प्रकोपी द्रव, स्निग्ध द्रव्यो के अभिक्षण प्रयोग से, दिवास्वप्न, क्रोध, अग्नि धूप, अभिघात आदि मिथ्या विहार से होकर, कोष्टतोद, गले मे खट्टे रस की अनुभूति, तृषा, दाह, अन्नद्वेष, हृदय मे क्लेद वृद्धि होकर—कोढ, विसर्प, पिडिका, मश, नीलिका, न्यच्छ, व्यग, इन्द्रलुप्त, प्लीहावृद्धि, विद्रधि गुल्म, वातरक्त, अर्श, अर्बुद, रक्तप्रदर, अगमर्द, रक्तपित्त आदि रोग पैदा हो जाते हैं।

दोषनाम	लक्षण
वात	फेनिल, अरुण, कृष्ण, परुष, शीघ्रग, अस्कन्दि।
पित्त	नील, पीत, हरित, श्याव, विस्र, पिपीलिकामाक्षिको के अनिष्ट अस्कन्दि।
कफ	गरिक जल के समान, स्निग्ध, शीतल, बहल, पिच्छिल, चिरस्कन्दी, मासपेशी के रग के समान।
सनिपात	काजिक के समान, दुर्गन्धी, सर्वलक्षण युक्त।
प्राकृतिक	इन्द्रगोप वर्ण के समान, असहत, अविवर्ण, सधान (कषायरस) स्कन्दन (शीतवीर्य से, पाचन (भस्म) सिरा सकोची (दाह)।

वातवहा		पित्तवहा		श्लेष्मवहा		रक्तवह	
(प्राकृतकर्म)	(विकृतकर्म)	(प्राकृतकर्म)	(विकृतकर्म)	(प्राकृतकर्म)	(विकृतकर्म)	(प्राकृतकर्म)	(विकृतकर्म)
कायिक कर्म ठीक होना	नाना प्रकार के-	कान्ति	पीतावभासना	अंगो मे स्नेह,	शुक्लता,	धातुपूरण,	रक्तागता
मानसिक ,, ,,	वातिक रोग	अन्न मे रुचि	संताप	सन्धिस्थिरता,	शीतता,	कान्ति	रक्तनेत्रता
बुद्धिका ,, ,,	कार्श्य,	अग्निदीप्ति	शीतकामित्व	बल	स्थिरता	स्पर्शज्ञान,	सिरापूर्णता
बल प्रसाद	कार्ष्ण्य	निरोगता	अल्पनिद्रता	सन्धिसंश्लेषण (श्लेषक)	गौरव,	वर्ण	
वर्ण ,,	गात्रस्फुरण	राग (रञ्जक)	मूर्च्छा	स्नेहन (रसक)	अवसाद	स्थिरता	
ओज ,,	निद्रानाश	पचन (पाचक)	बलहानि,	रोपण (अवलम्बक)	तन्द्रा	धातुव्यूहन	
प्रस्पन्दन, (व्यान)	गाढवर्चस्त्व,	तेज (आलोचक)	इन्द्रियदौर्बल्य	पूरण (तर्पक)	निन्द्रा		
उद्वहन (उदान)	अल्पबल,	मेधा (साधक)	पीतविट्	बलस्थिरता (क्लेदक)	सन्धिविश्लेष		
पूरण (प्राण)	उष्णकामिता	उष्म (भ्राजक)	पीतमूत्र		अस्थिविश्लेष		
विवेचन (समान)			पीतनेत्र				
धारण (अपान)							

लक्षण	लक्षण	लक्षण	लक्षण
अरुण	उष्ण	शीत	रौहिणी
वायु से भरी हुई	नील	स्थिर	नात्युष्ण
		गौर	नातिशीतल

अवेध्य	स्निग्ध स्विन्नकर	उत्तमांग सिरावेधन	पैर की सिरावेध	हाथ का सिरावेध	पीठ मे
बालक		सूर्य के सामने बैठाना,	सिरावेध के पैर को समस्थान	अंगूठे मुट्ठी के भीतर दबाना	सिधी
वृद्धा	दोषविरुद्ध अन्न का प्रयोग	कुर्सी पर पैर सिकोड कर	दूसरे पैर को ऊंचा रखना,	सुखपूर्वक बैठाना	तनी

रूक्ष क्षतक्षीण	यवागू पिला कर बैठा कर	घुटनो पर कोहनी टेकना, अगुठे मुट्ठी मे बन्द कर गले मे लगाना,	घुटने के नीचे यन्त्रण दोनो हाथो से दबाना गृध्रसी मे जानु सकुचित रखना	फिर यन्त्रण करना, विश्वाची मे कुहनी मोड कर	पीठ फिर झुकाना
भीरु थका हुआ मद्यप ग्रध्व स्त्री कर्षित, शोधन किये का जागरित क्लीव कृश गर्भिणी खासी वाल श्वास रोगी ज्वरी आक्षेपक पक्षाघात प्यासा बेहोश ग्रदृष्टशिरा अयन्त्रित ,, अनुत्थितशिरा	वस्त्रादि से यन्त्रित कर शस्त्र से सिरावेध करे । समशीतोष्ण ऋतु मे	ऊपर कपडे से यन्त्रण, पीछे दोनो चिल्लो को पकडे रखना रक्त स्राव के लिए यन्त्र को पीठ के बीच दबाना रोगी का मुह वायुपूरित रखना,			

सिरावेधनस्थान	रोग
क्षिप्रमर्म से २ अगुल ऊपर	पाद दाह, हर्ष, अवबाहुक, चिप्प, विसर्प, वातरक्त, कातकटक, विचर्चिका, पाददारी, श्लीपद
गुल्फ से ४ अगुल ऊपर जघा में	क्रोष्टुक शोष, खञ्ज, पगु, वातपीडाओ मे
इन्द्रबस्ति से २ अगुल नीचे	अपची
जानुसन्धि से ४ अ गुल ऊपर या नीचे	गृध्रसी
ऊरु मूल में	गलगण्ड
वामबाहु मे कूर्पर सन्धि के अन्दर बाहु के बीच मे	प्लीहावृद्धि मे
दक्षिण बाहु मे कूर्परसन्धि के अन्दर बाहु के बीच मे	यकृद्दाल्य मे कफोदर, कास, श्वास
कूर्परसन्धि से ४ अ गुल ऊपर या नीचे	विश्वाची
	शूलयुक्त प्रवाहिका मे
मेढ्र के मध्य	परिकर्त्ति का, उपदश, शुक्रदोष, शुक्रव्यापत्ति
वृषण पार्श्व की	मूत्रवृद्धि मे
नाभि से ४ अ गुल नीचे वामपार्श्व सेवनी मे	दकोदर
वामपार्श्व के कक्षास्तन के बीच	अन्तर्विद्रधि, पार्श्वशूल
दोनो कन्धो के बीच	बाहुशोष अवबाहुक
त्रिकसन्धि के बीच वाली	तृतीयाक मे
स्कन्धसन्धि के नीचे पार्श्व वाली	चतुर्थक मे
हनुसन्धि के बीच वाली	अपस्मार मे

शिरावेधनस्थान	रोग
शख तथा केशान्त सन्धिगत	उन्माद, अपस्मार
अपाग ललाट मे	
अधोजिह्वा	जिह्वारोग, दन्तव्याधि
कानो के ऊपर चारो ओर	कर्णशूल, कर्णरोग
नासाग्र	गन्धाग्रहण, नासारोग
तालु पर	तालुरोगो मे
उपनासिका, अपाङ्ग, ललाट	तिमिर, अक्षिपाक
,, ,, ,,	शिरोरोग, अधिमन्थ

रक्तनिर्हरण

	स्थान	परिहार्य
शिरामोक्ष	—खूब गम्भीर प्रान्त की रक्त दृष्टि	क्रोध,
विषाण	उपर्युक्त से कम दृष्टि	परिश्रम
तुम्बी	थोड़ा ऊपर	मैथुन
जलौका	त्वचा के नीचे	दिन मे-सोना
पद	त्वचा मे	जोर से बोलना
		सवारी
		अध्ययन
		खड़े रहना
		अधिक बैठना
		घूमना
		अधिक शीत
		अधिक वायु
		अधिक धूप
		विरुद्ध भोजन
		असात्म्य भोजन
		अजीर्ण

जिस प्रकार जलहारिणी नलियो द्वारा बगीचे का पोषण होता है ठीक इसी प्रकार हमारी देह का उपस्नेहन सिराओ द्वारा आकुचन प्रसार से होता है। इनका मूल नाभि (हृदय) तथा ऊपर, नीचे, तथा तिर्यक् जाल बने रहते हैं।

मूल सिराए चालीस जिनमे वातवहा, पित्तवहा, श्लेष्मवहा, तथा रक्तवहा दस दस हैं—परन्तु ये प्रत्येक अपने २ स्थान मे जाकर १७५×४ होने से सात सौ सख्या पूर्ण होती है।

		अशस्त्रकृत्य	कुल अवेध्य
शाखा मे १०० चारो शाखाओ में ४००		जालधरा (तलहृदय) १ लोहिताक्ष १ = ४ चारो शाखाओ मे	१६
श्रोणि मे	३२	कटीकतरुण ८	८
पार्श्व मे	१६	ऊर्ध्वंग २ पार्श्वसन्धिगत २	४

सिरावेधनस्थान	रोग
क्षिप्रमर्म से २ अगुल ऊपर	पाद दाह, हर्ष, अवबाहुक, चिप्प, विसर्प, वातरक्त, कातकण्टक, विचर्चिका, पाददारी, श्लीपद
गुल्फ से ४ अगुल ऊपर जघा में	क्रोष्टुक शीष, खञ्ज, पगु, वातपीडाओ मे
इन्द्रबस्ति से २ अगुल नीचे	अपची
जानुसन्धि से ४ अ गुल ऊपर या नीचे	गृध्रसी
ऊरु मूल में	गलगण्ड
वामबाहु मे कूर्पर सन्धि के अन्दर बाहु के बीच मे	प्लीहावृद्धि मे
दक्षिण बाहु मे कूर्परसन्धि के अन्दर बाहु के बीच मे	यकृद्दाल्य मे कफोदर, कास, श्वास
कूर्परसन्धि से ४ अ गुल ऊपर या नीचे	विश्वाची
	शूलयुक्त प्रवाहिका मे
मेढ्र के मध्य	परिकर्त्ति का, उपदश, शुक्रदोष, शुक्रव्यापत्ति
वृषण पार्श्व की	मूत्रवृद्धि मे
नाभि से ४ अ गुल नीचे वामपार्श्व सेवनी मे	दकोदर
वामपार्श्व के कक्षास्तन के बीच	अन्तर्विद्रधि, पार्श्वशूल
दोनो कन्धो के बीच	बाहुशोष अवबाहुक
त्रिकसन्धि के बीच वाली	तृतीयाक मे
स्कन्धसन्धि के नीचे पार्श्व वाली	चतुर्थक मे
हनुसन्धि के बीच वाली	अपस्मार मे

शिरावेधनस्थान	रोग
शख तथा केशान्त सन्धिगत अपाग ललाट मे	उन्माद, अपस्मार
अधोजिह्वा	जिह्वारोग, दन्तव्याधि
कानो के ऊपर चारो ओर	कर्णशूल, कर्णरोग
नासाग्र	गन्धाग्रहण, नासारोग
तालु पर	तालुरोगो मे
उपनासिका, अपाङ्ग, ललाट	तिमिर, अक्षिपाक
,, ,, ,,	शिरोरोग, अधिमन्थ

रक्तनिर्हरण

	स्थान	परिहार्य
शिरामोक्ष	—खूब गम्भीर प्रान्त की रक्त दृष्टि	क्रोध,
विषाण	उपरोक्त से कम दृष्टि	परिश्रम
तुम्बी	थोडा ऊपर	मैथुन
जलौका	त्वचा के नीचे	दिन मे सोना
पद	त्वचा मे	जोर से बोलना
		सवारी
		अध्ययन
		खड़े रहना
		अधिक बैठना
		घूमना
		अधिक शीत
		अधिक वायु
		अधिक धूप
		विरुद्ध भोजन
		असात्म्य भोजन
		अजीर्ण

जिस प्रकार जलहारिणी नलियो द्वारा बगीचे का पोषण होता है ठीक इसी प्रकार हमारी देह का उपस्नेहन सिराओ द्वारा आकुचन प्रसार से होता है। इनका मूल नाभि (हृदय) तथा ऊपर, नीचे, तथा तिर्यक् जाल बने रहते हैं।

मूल सिराए चालीस जिनमे वातवहा, पित्तवहा, श्लेष्मवहा, तथा रक्तवहा दस दस हैं—परन्तु ये प्रत्येक अपने २ स्थान मे जाकर १७५×४ होने से सात सौ सख्या पूर्ण होती है।

		अशस्त्रकृत्य	कुल अवेद्य
शाखा मे १०० चारो शाखाओ में	४००	जालधरा (तलहृदय) १ लोहिताक्ष १ = ४ चारो शाखाओ मे	१६
श्रोणि मे	३२	कटीकतरुण ८	८
पार्श्व मे	१६	ऊर्ध्वग २ पार्श्वसन्धिगत २	४

पीठ मे	२४	बृहती २	२
उदर मे	२४	मेढ्र पर रोमराजी के इधर उधर दोनो ओर २-२ विटप	४
वक्ष मे	४०	हृदय २ स्तनमूल ४ स्तनरोहित ४ अपलाप २ अपस्तम्भ २	१४
ग्रीवा मे	५६	कृकाटिका २ विधुर २ शृगाटक ४ मातृका ८ उत्क्षेप २ सीमन्त ५ अधिपात ६	१६+८
हनु के दोनो ओर कान मे	१६	शृगाटक की शाखाएँ हनु सधि के दोनो ओर ४ शब्दवाहिनी २	४+२
जिह्वा में	३६	रसवह २ वाग्वह २	४
नासिका मे	२४	नाक के पास ४ मृदुतालुको १ आवर्त २ स्थपनी १ शखर सधि	५+५
नेत्र मे	३२	अपाग की १ केशान्त में ४	२+४

सुविद्ध	दुर्विद्ध	वर्षा	ग्रीष्म	हेमन्त
धारा से रक्त स्राव होना मुहूर्त के बाद रुकना प्रस्थमात्र	अतिविद्ध, पिच्चित, तिर्यविद्ध वेपित, पुन. पुन विद्ध	बादलरहित	शीतलकाल	मध्यान्ह

जिस प्रकार बस्ति उपक्रम कायचिकित्सको की आधी चिकित्सा मानी जाती है ठीक इसी तरह शिरावेध शल्यतन्त्र की आधी चिकित्सा है क्योकि इस उपक्रम से बहुत शीघ्र ठीक हो जाते हैं। किन्तु शिराएँ बड़ी चचल होती हैं अतः इनका बाधना तथा उठाने के लिये ताडन सावधानी से करें।

धमनी

नाम	ऊर्ध्वग १० हृदय मे जाकर त्रिगुण हो जाती है।	अधोग १० पित्ताशय मे जाकर त्रिगुण	तिर्यंग—४

धारण स्थान			धारण	
वातवहा २	नाभि	वातवह २	पक्वाशय	असख्येय, रूप
पित्तवहा २	उदर	पित्तवह २	कटी	से शरीर को
श्लेष्मवहा २		श्लेष्मवह २	मूत्र	गवाक्षित
रक्तवहा २	पृष्ट	रक्तवह २	पुरीष	करती है।

रसवहा २	पार्श्व	रसवह २	गुद,
शब्दवहा २	उरः	अन्नवह २	अन्त्र वस्ति
रूपवहा २	स्कन्ध	तोयवह २	मेढ़
रसवहा २	ग्रीवा	मूत्रवह २	सक्थि
गन्धवहा २	बाहु	शुक्रवह २ (आर्तववह)	
भाषण २		शुक्रविसर्ग २ (आर्तवविसर्ग)	
घोष २		वर्चोनिरसन १	स्थूलान्त्र
स्वपन २		स्वेदवह ८	
प्रतिबोधन २			
अश्रुवहा २			
शुक्रवहा २			
स्त्रियों मे (दुग्धवहा)			

रक्त स्राव को रोकने के उपाय

प्रत्येक शस्त्र कर्म में धमनियो के कट जाने से रक्त स्राव होता है। सामान्य अवस्था मे चोट लगने से तथा दुर्घटनाओं के कारण धमनी तथा शिराओं के कट जाने से रक्त स्राव होता है। अधिक रक्त निकलने से व्यक्ति की मृत्यु तक हो सकती है। यदि किसी व्यक्ति की धमनी कट गई हो तो उनका बन्धन किया जाता है। साधारण रक्त स्राव मे व्रण मे गोज भर कर ऊपर से रूई रख कर कस कर पट्टी बाध देते हैं। रक्त प्रवाह को रोकने के लिये निम्न लिखित साधनो का उपयोग किया जाता है।

(१) धमनियो का बन्धन—धमनी के कटे हुये शिरे को धमनी यन्त्र से पकड़ कर उसके ऊपर रेशम या केट गट का बन्धन लगाने की आवश्यकता नही पडती केवल धमनी यन्त्र से उसको दबा देते हैं। उससे रक्त नही निकलता। धमनी के कटे हुये शिरे को धमनी यन्त्र से पकडने के बाद केट गट से रीफ गाँठ लगाई जाती है। केट गट को धमनी मे डालते समय धमनी यन्त्र को सीधा रखना चाहिये। परन्तु गाँठ बाधते समय टेढा कर देना चाहिये। इस क्रिया से गाँठ धमनी पर से फिसलने नही पाती।

(२) धमनी यन्त्र को मरोडना—धमनी के कटे हुये शिरे को धमनी यन्त्र से पकड़ कर कई बार मरोड देते हैं।

जिसके कारण धमनियो के भीतर के सतह टूट कर ऊपर की ओर मुड जाते हैं। जिससे रक्त मार्ग रुक जाता है।

पीठ में	२४	वृहती २	२
उदर मे	२४	मेढ्र पर रोमराजी के इधर उधर दोनो ओर २-२ विटप	४
वक्ष मे	४०	हृदय २ स्तनमूल ४ स्तनरोहित ४ अपलाप २ अपस्तम्भ २	१४
ग्रीवा मे	५६	कृकाटिका २ विधुर २ शृगाटक ४ मातृका ८ उत्क्षेप २ सीमन्त ५ अधिपात ६	१६+८
हनु के दोनो ओर कान मे	१६	शृगाटक की शाखाएँ हनु सधि के दोनो ओर ४ शब्दवाहिनी २	४+२
जिह्वा में	३६	रसवह २ वाग्वह २	४
नासिका मे	२४	नाक के पास ४ मृदुतालुको १ आवर्त २ स्थपनी १ शखर सधि	५+५
नेत्र मे	३२	अपाग की १ केशान्त में ४	२+४

सुविद्ध	दुर्विद्ध	वर्षा	ग्रीष्म	हेमन्त
धारा से रक्त स्राव होना मुहूर्त के बाद रुकना प्रस्थमात्र	अतिविद्ध, पिच्चित, तिर्यविद्ध वेपित, पुन. पुन विद्ध	बादलरहित	शीतलकाल	मध्यान्ह

जिस प्रकार बस्ति उपक्रम कायचिकित्सको की आधी चिकित्सा मानी जाती है ठीक इसी तरह शिरावेध शल्यतन्त्र की आधी चिकित्सा है क्योकि इस उपक्रम से बहुत शीघ्र ठीक हो जाते हैं। किन्तु शिराएँ बड़ी चचल होती हैं अत' इनका बाधना तथा उठाने के लिये ताडन सावधानी से करे।

धमनी

नाम	ऊर्ध्वग १० हृदय मे जाकर त्रिगुण हो जाती है।	अधोग १० पित्ताशय मे जाकर त्रिगुण	तिर्यग—४

धारण स्थान			धारण	
वातवहा २	नाभि	वातवह २	पक्वाशय	असख्येय, रूप से शरीर को गवाक्षित करती है।
पित्तवहा २	उदर	पित्तवह २	कटी	
श्लेष्मवहा २		श्लेष्मवह २	मूत्र	
रक्तवहा २	पृष्ट	रक्तवह २	पुरीष	

रसवहा २	पार्श्व	रसवह २	गुद,
शब्दवहा २	उरः	अन्नवह २	अन्त्र बस्ति
रूपवहा २	स्कन्ध	तोयवह २	मेढ़्
रसवहा २	ग्रीवा	मूत्रवह २	सक्थि
गन्धवहा २	बाहु	शुक्रवह २ (आर्तववह)	
भाषण २		शुक्रविसर्ग २ (आर्तवविसर्ग)	
घोष २		वर्चोनिरसन १	स्थूलान्त्र
स्वप्न २		स्वेदवह ८	
प्रतिबोधन २			
अश्रुवहा २			
शुक्रवहा २			
स्त्रियो मे (दुग्धवहा)			

रक्त स्राव को रोकने के उपाय

प्रत्येक शस्त्र कर्म में धमनियो के कट जाने से रक्त स्राव होता है। सामान्य अवस्था मे चोट लगने से तथा दुर्घटनाओ के कारण धमनी तथा शिराओ के कट जाने से रक्त स्राव होता है। अधिक रक्त निकलने से व्यक्ति की मृत्यु तक हो सकती है। यदि किसी व्यक्ति की धमनी कट गई हो तो उनका बन्धन किया जाता है। साधारण रक्त स्राव मे व्रण मे गोज भर कर ऊपर से रूई रख कर कस कर पट्टी बाध देते हैं। रक्त प्रवाह को रोकने के लिये निम्न लिखित साधनो का उपयोग किया जाता है।

(१) धमनियो का बन्धन—धमनी के कटे हुये शिरे को धमनी यन्त्र से पकड़ कर उसके ऊपर रेशम या केट गट का बन्धन लगाने की आवश्यकता नही पड़ती केवल धमनी यन्त्र से उसको दबा देते हैं। उससे रक्त नही निकलता। धमनी के कटे हुये शिरे को धमनी यन्त्र से पकडने के बाद केट गट से रीफ गाँठ लगाई जाती है। केट गट को धमनी मे डालते समय धमनी यन्त्र को सीधा रखना चाहिये। परन्तु गाँठ बाधते समय टेढा कर देना चाहिये। इस क्रिया से गाँठ धमनी पर से फिसलने नही पाती।

(२) धमनी यन्त्र को मरोडना:—धमनी के कोट हुये शिरे को धमनो यन्त्र से पकड कर कई बार मरोड देते हैं।

जिसके कारण धमनियो के भीतर के सतह टूट कर ऊपर की ओर मुड जाते हैं। जिससे रक्त मार्ग रुक जाता है।

(३) धमनी को पकड़ना —धमनियो को केवल धमनी यन्त्र के द्वारा दबाने से रक्त स्राव रुक जाता है। कभी २ शस्त्र कर्म मे धमनियाँ इतनी गहराई से कट जाती हैं कि ऊपर बन्धन लगाना सम्भव नही होता। ऐसी अवस्था मे धमनी को धमनी यन्त्र से पकड कर २४ घन्टे तक व्रण के भीतर छोड दिया जाता है। और व्रण को व्रणोपचार वस्तुओ से ढक देते हैं।

(४) दाह कर्मः—यह कर्म एक यन्त्र के द्वारा किया जाता है। जिसे दाह यन्त्र कहते हैं। इसका उपयोग रक्त प्रवाह को रोकने के लिये किया जाता है। इस यन्त्र के अगले भाग मे एक शलाका होती है। जिसको दाह दाह कहते हैं। इसको इतना गर्म किया जाता है कि वह चमक रहित लाल हो जाय। इसके पश्चात इसके द्वारा उस स्थान पर दाह कर्म किया जाता है। इससे धमनियो के कटे हुये शिरे जल कर बन्द हो जाते हैं।

जब रक्त किसी विशेष धमनी से न निकल कर चोट लगे हुये स्थान के सारे पृष्ठ से निकलता है तो उसको रोकने के लिये निम्न लिखित उपाय काम मे लाते हैं।

(१) उष्ण जल·—पानी की गर्मी १३० से १६० फार्म हिट होनी चाहिये। इससे रक्त का एलब्युमिन जम जाता है। और रक्त स्राव बन्द हो जाता है।

(२) शीत उपचार —बर्फ तथा अत्यन्त ठन्डे पानी के प्रयोग से भी रक्त स्राव रुक जाता है।

मुख, भग, गुदा आदि स्थान के रक्त स्राव को भी इसी प्रयोग से ही रोकते हैं। इसका प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिये बर्फ तथा शीतल जल शुद्ध हो।

(३) स्थिति —कभी कभी अग को केवल ऊपर उठा देने से रक्त निकलना बन्द हो जाता है।

(४) रक्त स्तम्भक औषधियाँ.—जब रक्त किन्ही गहरे स्थानो से निकलता है तब इन औषधियो का प्रयोग किया जाता है। यह कई प्रकार से कार्य करता हैं।

(क) कुछ वस्तुऐं केवल उसी स्थान पर करके रक्त के एलब्युमिन को जमा देती हैं। जैसे फिटकरी, टैनीक ऐसिड, माजूफल, सिल्वर नाईटेट इत्यादि।

(ख) कुछ वस्तुऐं रक्त की नलियो की सकोचक होती है जैसे ऐड्रिनलिन नाक से बहने वाले खून को बन्द करता है।

(ग) कुछ औषधियाँ रक्त के जमने की शक्ति को बढाती हैं। आपरेशन करने से पूर्व रोगी को इन औषधियो का सेवन कराया जाता है। जैसे केलसियम लेटेड, प्रवाल भस्म, मुक्ता भस्म आदि।

(घ) कुछ वस्तुओ की क्रिया का अभी तक ज्ञान कम है। जैसे तारपीन तैल के लगाने से रक्त स्राव बन्द हो जाता है।

स्वर-चिकित्सा विज्ञान

लेखक : वैद्य स्वामी ईश्वरदास आचार्य, सरदारशहर

[स्वामी ईश्वरदासजी व्याकरण-साहित्य, दर्शनशास्त्री, आयुर्वेदाचार्य सरदार शहर में गुरु-परम्परा से चिकित्सा का बड़ी दक्षता से कार्य कर रहे है। स्वामीजी विद्वान् होने के साथ 'योग विद्या' के मर्मज्ञ हैं। आपने 'स्वर-चिकित्सा विज्ञान' पर संक्षिप्त लेख लिख कर नई दिशा दी है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, संपादक]

स्वराकार मंगलेवन्दे निराकारञ्चमोहन, तृतीय सूर्यदासञ्च ब्रह्मविष्णु महेश्वरान् ॥१॥

स्वर शब्द का अभिप्राय विभिन्न शास्त्रो की परिभाषा से पृथक् २ है किन्तु यहा पर योग शास्त्र की परिभाषानुसार–स्वर चिकित्सा का अभिप्राय है स्वर नासिका से चलने वाले श्वास प्रवाह (प्राण) से है। नासिका द्वारा प्रवाहित प्राण वायु का नियमन करना ही स्वर चिकित्सा है। अर्थात्–देहस्य प्राणमूलम् ॥ इस शरीर को चलाने वाला प्राणवायु ही है। उसके ऊपर ठीक प्रकार से विजय पाने से मानव अनेक प्रकार के रोगो से मुक्त होकर स्वस्थ सबल बन कर शतायु. बन सकता है जैसा कि वेद कहता है जीवेम ! शरद ! शतम् हमारे भारतवर्ष मे महाविज्ञान लाखो वर्ष पुराना है। इसका पूर्ण ज्ञान हमारे प्राचीन तप पूत त्रिकालदर्शी महर्षियो को था जिसके द्वारा वे तीनो कालो की होने वाली घटनाओ का यथार्थ ज्ञान रखते थे तथा अपने शरीर मे होने वाले रोगादि का ज्ञान करके इस ज्ञान द्वारा निवारण कर लेते थे। इस स्वरज्ञान मे पूर्ण जानकार सुयोग्य अनुभवी गुरु की आवश्यकता है तथा निरतर अभ्यास की आवश्यकता है। तभी स्वर-ज्ञान का रहस्य मालूम हो सकता है।

स्वर का सम्बन्ध नासिका से प्रवाहित (चलने वाले) प्राण-वायु से है। अर्थात् नासिका दो हैं। एक दाईं तथा दूसरी बाईं। इनको ही दक्षिण नासिका वामनासिका कहते हैं। दोनो से बराबर क्रम से श्वास-प्रश्वास चलता है। इस पर थोड़ा ध्यान देने से समझ में आ जाएगा।

योग शास्त्र मे शरीर मे ७२००० बहत्तर हजार नाडियो का वर्णन है उनमे १० प्रधान हैं, जिनके नाम—इडा, पिंगला, सुषुम्ना है ।

वाम नासिका से चलने वाली नाडी को इडा (चन्द्र स्वर) कहते हैं। यथा—वाम इडा स्वर जान चन्द्र पुनि कहियत वाको। दक्षिण नासिका से प्रवाहित स्वर को सूर्य नाडी सूर्य स्वर पिंगला कहते हैं। जब क्रम से दोनो नासिकाओ से श्वास चलता है अर्थात् कभी बाए से तथा कभी दाहिने से चलता है तो उसे सुषुम्ना नाडी कहते है। सुषुम्ना स्वर-प्रवाह मे कोई कार्य नही करना, केवल आत्म-चिंतन करना। निम्न तालिका से ठीक-ठीक समझें :—

वाम नासिका	दक्षिण नासिका	उभय नासिका
इड़ा नाड़ी	पिंगला नाडी	सुषुम्ना नाड़ी
चन्द्र स्वर	सूर्य स्वर	सुषुम्ना स्वर

अब आपको इन तीनो नाडी स्वरो के विषय मे सक्षेप मे यह बतलाया जाएगा कि इन स्वरो के ठीक-ठीक प्रवाह मे कौन कौनसा कार्य करना (आहार-विहार) करना ठीक स्वास्थ्यकर होगा क्योकि आयुर्वेद का मूल सूत्र है कि मिथ्या आहार-विहार द्वारा ही त्रिदोष कुपित होते हैं और त्रिदोष-विकृति से ही सब रोग होते हैं। यथा—रोगस्तु दोष वैषम्यम्।

सूर्य स्वर की क्रिया (आहार-विहार)

सूर्य स्वर (पिंगला नाडी) से जब श्वास चलता हो तो निम्न आहार-विहार करना आरोग्यप्रद है :—

भोजन करना, स्नान करना, स्त्री-सग, विद्या पढना, दौडना, व्यायाम करना, शौच जाना। सूर्य स्वर मे शौच (टट्टी) जाने से कब्ज नही होता है। शौच खुल कर होता है।

कब्ज से होने वाले रोग अर्श (बवासीर), उदर आध्मान (गैस) आदि की बीमारिया नही होती हैं। सूर्य स्वर-प्रवाह मे भोजन करने से आपको अग्निमाद्य, अजीर्ण, अम्ल पित्त, अर्श, विशूचिका तज्जन्य और भी बहुत-से रोगो से जैसे उदर रोग, विबन्ध, आध्मान, यकृतप्लीहादि वृद्धि, गुल्म, अतिसार ग्रहणी, अर्श आदि से छुटकारा मिल जाएगा।

चन्द्र स्वर की क्रिया (आहार-विहार)

बाए (चन्द्र स्वर) प्रवाह मे जल पीना, पतली चीजें पेय पदार्थों का उपयोग करना श्रेष्ठ है। तथा भोजन करने के बाद वाम पार्श्व से लेटना अच्छा है। ऐसा करने से भोजन यथास्थान हो कर ठीक परिपाक होता है। यथा आयुर्वेदेऽपि—भुक्त्वा शतपदगच्छेत्, वाम-पार्श्वे शयीत। जिनको बराबर अग्निमाद्य रहता हो और कब्ज रहता हो, बवासीर हो, टट्टी मे जा कर देर तक बैठे रहने की आदत हो, बार-बार शौच जाना पडता हो उनको

उपर्युक्त स्वर-नियमो का पालन पूर्ण निष्ठा से करना चाहिए। शीघ्र ही लाभ होगा। प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नही है। स्वर-चिकित्सा विज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव क्रिया है इससे सभी प्रकार के मानव क्या गरीब क्या अमीर सभी लाभ उठा सकते हैं। विना मूल्य के केवल सतत् अभ्यास की साधना से सभी लाभ उठा सकते हैं।

यह विज्ञान एक योग का ही विभाग है। योग का सम्बन्ध प्राण से है तथा इसका सम्बन्ध भी प्राण वायु से ही है। इसमे केवल साधना करनी पडती है और कोई खर्च नही होता है। यदि मानव चाहे तो प्राणायाम, आसन तथा स्वर क्रिया साधना इन तीनो साधनो का बराबर सतत् अभ्यास की साधना से पूर्ण स्वस्थ, सबल बन कर आनन्द से सौ वर्ष जी सकता है। उसे अनावश्यक दवाओ के सेवन की बहुत कम आवश्यकता होगी यह एक ध्रुव सत्य है।

उपरोक्त क्रियाओ के अतिरिक्त भी बहुत-सी साधनाए हैं जिनका सक्षेप से निर्देश किया जाता है जिनके करने से आशु लाभ होगा और इस महगाई के युग मे बिना खर्च के आरोग्य लाभ होगा। यदि आपको कोई रोग हो जाय जैसे ज्वर, अतिसार (दस्त), श्वास-वेग, शिरःशूल, पार्श्वशूल आदि में उसी समय जो स्वर चलता हो उस स्वर को बदल देने से तत्काल लाभ होगा। ज्वर का वेग स्वर बदलते ही कम हो जाएगा। अतिसार मे तीव्र वेगो को रोकने के लिए उपरोक्त क्रिया तत्काल करनी चाहिए। शिरःशूल भी तत्काल मिट जाता है। श्वास के तीव्र दौरे मे भी तत्काल स्वर-परिवर्तन द्वारा दौरा कम पड़ जाता है।

स्वर बदलने की क्रिया

जो स्वर चलता हो उधर के ही पसवाडे से (करवट) से लेटने से तथा चलते स्वर को बन्द करने से दूसरा स्वर १०, १५ मिनट मे चालू हो जाता है। कभी-कभी अधिक समय भी लग जाता है। घबराना नही चाहिए। स्वर को बन्द करने के लिए शुद्ध, स्वच्छ रूई को ले कर शुद्ध वस्त्र से वेष्ठित कर गोलीनुमा बना लेना चाहिए। इसे ही काम मे लेना चाहिए। वैसे अरीठा (फल) की भीतरी गोली भी बढिया कार्य देती है, कभी खराब नही होती।

अब आपको स्वर विज्ञान की २, ३ अधिक स्वास्थ्योपयोगी विधिया बतलाई जावेंगी जिनका अभ्यास करने से भावी रोग ज्ञान हो जाएगा और उससे कैसे मुक्ति मिलेगी, यह भी मालूम होगा। १ मास ३० दिन का होता है। तथा महिने मे २ पखवाड़े होवे हैं जो १५, १५ दिन के होते हैं।

जिनके नाम- कृष्ण पक्ष, शुक्ल पक्ष हैं। शुक्ल पक्ष- चन्द्र का प्रधान है तथा कृष्ण पक्ष सूर्य का प्रधान है। इधर शरीर मे शुक्ल पक्ष मे चन्द्र स्वर प्रधान होता है अर्थात्

जब जब शुक्ल पक्ष प्रारम्भ होता है तो उसकी प्रथम तिथि १ प्रतिपद् को प्रात सूर्योदय से पूर्व देखना चाहिये चन्द्र स्वर चलता है या नही। यदि विपरीत स्वर चले तो उससे रोग होगा। अर्थात् उष्णताजन्य रोग होगा। अत उसे उसी समय बन्द कर उपयुक्त स्वर प्रवाहित कर लेवे। शुक्ल पक्ष मे तीन दिन तक प्रात चन्द्र स्वर चलेगा फिर तीन दिन सूर्य स्वर चलेगा। इस तरह तीन २ दिन के क्रम से स्वर पूरे पक्ष भर चलना ठीक है। स्वास्थ्यप्रद है। यथा- शुक्ल पक्ष के आदि ही तीन तिथि लग चन्द्र, फिर सूरज फिर चन्द्र है, फिर सूरज फिर चन्द्र ॥१॥

इसी तरह कृष्ण पक्ष मे भी– आदि की तीन तिथि तक सूर्य स्वर चलना आरोग्य-प्रद है। यथा-कृष्णपक्ष मे आदि ही, तीन तिथि लग भानु, फिर चन्दा धिर भानु है, फिर चन्दा फिर भानुगण। इसके विपरीत चलने से देह मे कोई न कोई रोग होगा। अत तत्काल स्वर क्रिया साधना से बदल देवें।

विशेष नियम– यदि आप बाएँ स्वर प्रवाह मे भोजन करेंगे तथा दाएं मे जल पीयेंगे तो १० दिन के अन्तर रोगाक्रात हो जायेंगे। अतः सावधान रह कर नियम का पालन करें। यदि आप दाये स्वर मे शौच (टट्टी) जावेंगे, और बाऐ स्वर मे लघुशका (मूत्रत्याग) करेंगे तो बहुत से रोगो से बच जायेंगे।

बाए करवट सोइए, जल बाए स्वर पीव।
दाहिने स्वर भोजन करें, तो सुख पावै जीव ॥१॥
चन्द्र चलावै दिवस को, रात चलावै सूर।
नित साधन ऐसे करें, होइ उमर भरपूर ॥२॥

अर्थात् रात्रि को हमेशा वामपार्श्व से सोना चाहिए। इससे बहुत से रोग नही होते हैं। इस स्वर साधना विज्ञान चिकित्सा के साध्य मे पचतत्व ज्ञान की साधना भी है किन्तु वह बहुत सूक्ष्म व अभ्याससाध्य है जिसकी पूर्ण साधना से मानव अजर अमर बन सकता है। तथा बहुत सी आने वाली औषधाओ से बच सकता है। तथा जनता का भी कल्याण कर सकता है। स्वर चिकित्सा विज्ञान की पूर्ण साधना से मानव असम्भव को सम्भव बना सकता है।

पच तत्व ज्ञान के उपाय

हमारे शरीर मे एक नासिका मे १ घटा तक एक स्वर चलता है। जब बदलता है तब दूसरे स्वर से भी १ घटा ही चलता है। इतने समय मे अर्थात् १ घटे मे पाचो तत्व क्रमशः उदय होकर अपनी २ अवधि तक विद्यमान रहते है। जैसे पृथ्वी तत्व २० मिनिट, जल तत्व १६ मिनिट, अग्नि तत्व १२ मिनिट, वायु तत्व ८ मिनट तक, आकाश तत्व ४ मिनिट तक उदय होकर रहते हैं।

तत्वो के जानने की निम्न पाच विधिया हैं।

१ यदि स्वर ठीक मध्य नासिका से चले तो पृथ्वी तत्व होगा, नीचे की ओर चले तो जल तत्व, ऊपर की ओर चले तो अग्नि तत्व, यदि तिरछा चले वायु तत्व और घूम घूम कर चले तो आकाश तत्व का उदय समझना चाहिये।

२ एक साफ दर्पण लेकर उस पर जोर से श्वास छोडो, यदि चोकोर आकृति बने तो पृथ्वी तत्त्व, अर्ध चन्द्राकृति बने तो जल तत्व, त्रिकोण बने तो वायु तत्व का, बिन्दु बिन्दु से बने तो आकाश तत्व का उदय समझें।

३ दोनो हाथो के दोनो अगूठो से दोनो कोनो के छिद्र, दोनो अनामिकाओ से दोनो आखें, दोनो मध्यमाओ से दोनो नथुनो के तथा दोनो तर्जनियो तथा कनिष्ठिकाओ से मुख को बन्द करके देखें, यदि पीला रग दीखे तो पृथ्वी तत्व, सफेद रग दीखे तो जल तत्व, लाल रग का अग्नि तत्व, हरा या बादल का सा काला रग दीखे तो वायु तत्व, रग बिरगी दिखाई दे तो आकाश तत्व समझे।

४ यदि मुख का स्वाद मधुर हो तो पृथ्वी तत्व, कसैला स्वाद, जल का कडवा स्वाद हो तो अग्नि तत्व, खट्टा जान पडे तो वायु तत्व का, तीखा स्वाद आकाश तत्व का है।

५ किसी प्याले मे बारीक रेत लेवे, या हाथ पर ही रेत रख कर उसे बहते हुए नासिका स्वर के पास ले जावें। जहा से अडने लगे वही पर स्थिर कर नापें यदि १२ अगुल है तो पृथ्वी तत्व है। १६ अगुल वायु तत्व है, २० अगुल आकाश तत्व है और ४ अगुल मे अग्नि तत्व का उदय समझना चाहिए। इस तरह स्वर तथा तत्वो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनो की साधना से मानव के सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं। और भी बहुत सी सूक्ष्म विधिया हैं जिनका विस्तारभय से वर्णन नही दिया है जैसे गर्भ मे बच्चा है या बच्ची है। गर्भ है या नही। बच्चा ही पैदा करना, पुत्री ही पैदा होना आदि का ज्ञान भी स्वर के द्वारा होता है। रोगो के अरिष्ट लक्षणो की जानकारी स्वर चिकित्सक को हो जाती है। स्वर ज्ञान द्वारा साध्यासाध्यता का ज्ञान हो जाता है। अपने शरीर के रोगो का, तथा आयु का, मृत्यु का भी ज्ञान पूर्व ही हो जाता है। कौन से दोष की विकृति से रोग होगा, कितने दिन रहेगा आदि बहुत सी बातें हैं जो स्वर चिकित्सा विज्ञान साधना से मालूम हो जाती हैं। अन्तिम लक्ष्य मृत्यु रोगादि से शरीर नाश का पूर्व मे ही ज्ञात होने से मानव सब से वृत्ति हटा कर केवल भगवत्स्मरण करता हुआ मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस तरह इस स्वर विज्ञान चिकित्सा का महत्व बहुत ऊचा है। यथानार्थर्थं नापिकामार्थं मघ भूतदया प्रति-

सर्वे सन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद्दु ख भागभवेत्

॥ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥

भग्न प्रकरण (Fracture)

श्री भागीरथ शर्मा, उदयपुर

[श्री शर्मा परिश्रमशील अध्यवसायी, कर्तव्य-निष्ठ, शान्त तथा सरल व्यक्ति और कुशल चिकित्सक हैं। परोपकार-भावना से निर्धनों को सस्ती और सरल औषधियों का प्रयोग लिखते हैं। आप बागड़ औषधालय कलकत्ता के प्रधान चिकित्सक थे, किन्तु इन्हें राजस्थान से अधिक मोह होने से उदयपुर पधार गये। श्री शर्मा आयुर्वेदाचार्य हैं एवं निर्भीक लेखक हैं। आप सम्पादक मण्डल के सदस्य है। भारत में आयुर्वेदीय राजनीति पर हर वक्त चौकन्ने रहने वाले जागरूक प्रहरी हैं। आप उदयपुर कमिश्नरी वैद्य सभा के वर्षों अध्यक्ष रहे। राष्ट्रीय विचारधारा के कारण आप जनसंघ के कार्यकर्त्ताओं में अग्रणी रहे हैं। आप द्वारा 'भग्न प्रकरण' पर लेख मननीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

जब कोई हड्डी टूट जाती है तो उसे अस्थि भग्न याकाण्ड भग्न कहते हैं परन्तु हड्डी टूटे नही और अपने स्वाभाविक स्थान से हट जाय तो उसे संधिमुक्त कहते हैं। इन दोनो अवस्थाओ में पर्याप्त अन्तर होने पर भी लक्षणो और चिकित्सा की समानता होने से सुश्रुत ने एक स्थान पर वर्णन किया है।

भग्न के कारण

(१) पतन या किसी स्थान से गिरना।
(२) पीडन यानि किसी स्थान पर दबाव पडना।
(३) प्रहार यानि चोट लगना।
(४) आक्षेपण किसी चीज को जोर से फेंकना।

जैसे—गैन्द फेंकना या गोला फेंकना आदि।

(५) जगली जानवरो द्वारा काटे जाने से भी हड्डी टूट सकती है। इन कारणो के अतिरिक्त कुछ विशेष कारण भी है।

जैसे—स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो में अस्थिभग्न ज्यादा होता है। इसके अतिरिक्त अस्थिक्षय, पक्षाघात और फिरग आदि रोगो में अस्थिभग्न ज्यादा होता है।

भग्न के प्रकार—यह दो प्रकार से होता है।

(१) संधिमुक्त (२) काण्डभग्न

संधिमुक्त—यह भी दो प्रकार का होता है। (१) सव्रण (२) अव्रण

सव्रणः—इसमें त्वचा आदि फट जाती है और हड्डी का सम्बन्ध बाहर की वायु से हो जाता है।

अव्रणः—इसमे त्वचा नही फटती और उसका या हड्डी का सम्बध बाहर की वायु से नही होता।

सुश्रुत ने सधिमुक्त के निम्न भेद किये हैं—

१ विश्लिष्टः—इसमे सधि अपने स्थान से पूरी नही हटती।

२ विवर्तितः—इसमें हड्डी एक दूसरे के दाये बाये हट जाती है।

३ उत्पिष्ट—इसमें हड्डी टूट जाती है और सधि भी अपने स्थान से हट जाती है।

४ अवक्षिप्त—यह इस प्रकार का सधिमुक्त है जिसमें अस्थि दूसरी अस्थि के नीचे सरक जाती है।

५ अतिक्षिप्तः—यह इस प्रकार का सधिमुक्त है जिसमें दोनो अस्थि या एक दूसरे से दूर हट जाती है। और उसके बीच जैसे मास, शिरा, धमनी आदि फट जाती है।

६ तिर्यक् क्षिप्त—इसमे सधि टेढी हो जाती है और सधि का पूरा विश्लेषण हो जाता है अर्थात सधि पूर्ण रूप से हट जाती है।

सधिमुक्त के लक्षण—

१ सधिमुक्त की अवस्था मे कुछ प्रभावित सधि के कार्य मे हानि होती है। जैसे उसका फैलना और सिकुडना आदि क्रियाएँ नही होती हैं।

२ सधि स्थान पर सूजन हो जाती है और छूने पर पीडा होती है।

३ सधि मे विषमता आ जाती है।

काण्ड भग्नः—हड्डी के टूटने को काण्ड भग्न कहते हैं। सधिमुक्त की तरह इसके भी दो भेद हैं—(१) सव्रण, (२) अव्रण.

१ सव्रणः—इसमे त्वचा फट जाती है और हड्डी का सम्बन्ध बाहर की वायु से होता है।

२ अव्रण—इसमे त्वचा नही फटती और हड्डी का सम्बन्ध बाहर की वायु से नही होता।

सुश्रुत ने काण्ड भग्न के १२ भेद बताये हैं.—

१. कर्कटक—इसमे केकडे के समान पेचदार हड्डी टूटती है।

२ अश्वकर्ण—इसमे घोड़े के कान की तरह हड्डी तिरछी रेखा में टूटती है।

३. चूर्णित—इसमे हड्डी के छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं।

भग्न प्रकरण (Fracture)

श्री भागीरथ शर्मा, उदयपुर

[श्री शर्मा परिश्रमशील अध्यवसायी, कर्तव्य-निष्ठ, शान्त तथा सरल व्यक्ति और कुशल चिकित्सक हैं। परोपकार-भावना से निर्धनों को सस्ती और सरल औषधियों का प्रयोग लिखते हैं। आप बागड़ औषधालय कलकत्ता के प्रधान चिकित्सक थे, किन्तु इन्हें राजस्थान से अधिक मोह होने से उदयपुर पधार गये। श्री शर्मा आयुर्वेदाचार्य हैं एवं निर्भीक लेखक है। आप सम्पादक मण्डल के सदस्य हैं। भारत में आयुर्वेदीय राजनीति पर हर वक्त चौकन्ने रहने वाले जागरूक प्रहरी हैं। आप उदयपुर कमिश्नरी वैद्य सभा के वर्षों अध्यक्ष रहे। राष्ट्रीय विचारधारा के कारण आप जनसंघ के कार्यकर्ताओं में अग्रणी रहे हैं। आप द्वारा 'भग्न प्रकरण' पर लेख मननीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

जब कोई हड्डी टूट जाती है तो उसे अस्थि भग्न या काण्ड भग्न कहते हैं परन्तु हड्डी टूटे नहीं और अपने स्वाभाविक स्थान से हट जाय तो उसे संधिमुक्त कहते हैं। इन दोनो अवस्थाओं में पर्याप्त अन्तर होने पर भी लक्षणो और चिकित्सा की समानता होने से सुश्रुत ने एक स्थान पर वर्णन किया है।

भग्न के कारण

(१) पतन या किसी स्थान से गिरना।

(२) पीडन यानि किसी स्थान पर दबाव पड़ना।

(३) प्रहार यानि चोट लगना।

(४) आक्षेपण किसी चीज को जोर से फेंकना।

जैसे—गैन्द फेकना या गोला फेंकना आदि।

(५) जंगली जानवरो द्वारा काटे जाने से भी हड्डी टूट सकती है। इन कारणो के अतिरिक्त कुछ विशेष कारण भी है।

जैसे—स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो में अस्थिभग्न ज्यादा होता है। इसके अतिरिक्त अस्थिक्षय, पक्षाघात और फिरंग आदि रोगो में अस्थिभग्न ज्यादा होता है।

भग्न के प्रकार—यह दो प्रकार से होता है।

(१) संधिमुक्त (२) काण्डभग्न

संधिमुक्तः—यह भी दो प्रकार का होता है। (१) सव्रण (२) अव्रण

सव्रण:—इसमे त्वचा आदि फट जाती है और हड्डी का सम्बन्ध बाहर की वायु से हो जाता है।

अव्रण:—इसमें त्वचा नही फटती और उसका या हड्डी का सम्बध बाहर की वायु से नही होता।

सुश्रुत ने सधिमुक्त के निम्न भेद किये हैं—

१ विश्लिष्ट:—इसमे सधि अपने स्थान से पूरी नही हटती।

२ विवर्तित:—इसमें हड्डी एक दूसरे के दाये बाये हट जाती है।

३ उत्पिष्ट—इसमें हड्डी टूट जाती है और सधि भी अपने स्थान से हट जाती है।

४ अवक्षिप्त—यह इस प्रकार का सधिमुक्त है जिसमें अस्थि दूसरी अस्थि के नीचे सरक जाती है।

५. अतिक्षिप्त:—यह इस प्रकार का सधिमुक्त है जिसमें दोनो अस्थि या एक दूसरे से दूर हट जाती है। और उसके बीच जैसे मास, शिरा, धमनी आदि फट जाती है।

६ तिर्यक् क्षिप्त—इसमे सधि टेढी हो जाती है और सधि का पूरा विश्लेषण हो जाता है अर्थात सधि पूर्ण रूप से हट जाती है।

सधिमुक्त के लक्षण.—

१ सधिमुक्त की अवस्था में कुछ प्रभावित सधि के कार्य मे हानि होती है। जैसे उसका फैलना और सिकुडना आदि क्रियाऐं नही होती हैं।

२ सधि स्थान पर सूजन हो जाती है और छूने पर पीडा होती है।

३ सधि मे विषमता आ जाती है।

काण्ड भग्न।—हड्डी के टूटने को काण्ड भग्न कहते हैं। सधिमुक्त की तरह इसके भी दो भेद हैं—(१) सव्रण, (२) अव्रण

१ सव्रण:—इसमे त्वचा फट जाती है और हड्डी का सम्बन्ध बाहर की वायु से होता है।

२ अव्रण—इसमे त्वचा नही फटती और हड्डी का सम्बन्ध बाहर की वायु से नही होता।

सुश्रुत ने काण्ड भग्न के १२ भेद बताये हैं:—

१. कर्कटक—इसमे केकडे के समान पेचदार हड्डी टूटती है।

२. अश्वकर्ण—इसमे घोडे के कान की तरह हड्डी तिरछी रेखा में टूटती है।

३. चूर्णित—इसमे हड्डी के छोटे-छोटे टुकडे हो जाते हैं।

४. पिच्चित —इसमे हड्डी के टूटने के साथ मास, शिरा, धमनी आदि अवयव भी नष्ट हो जाते हैं। इसलिये चिकित्सा की दृष्टि से यह भग्न अनेक उपद्रव वाला होता है।

अस्थिच्छलित —इसमे हड्डी लम्बाई की दिशा मे टूटती है।

६ काण्ड भग्न —इसमे हड्डी चौडाई की दिशा मे टूटती है।

७ मज्जानुगत —इसमे टूटी हुई हड्डी का एक सिरा दूसरी हड्डी की मज्जा मे घुस जाता है।

८ अतिपातित —इसमे हड्डी पूरी तरह टूट जाती है।

६ वक्र —इसमे हड्डी टूटती नही परन्तु टेढी हो जाती है। यह भग्न बच्चो मे विशेष पाया जाता है।

१० छिन्न —इसमे हड्डी का कुछ भाग टूट जाता है परन्तु कुछ भाग हड्डी से लगा रहता है।

११-१२ पाटित स्फुटित —इसमे हड्डी टूटती नहीं परन्तु इसमे दरार पड जाती है। कपालास्थिओ मे यह भग्न विशेष पाया जाता है।

१. काण्ड भग्न के लक्षण —जिस जगह से हड्डी टूटती है उस जगह पर सूजन हो जाता है। तथा उस जगह को छूने से दर्द होता है।

२ अवपीड्यमाने शब्द —यदि उस स्थान को अगुलियो से दबाया जाय तो टूटी हुई हड्डी के सिरो को आपस में टकराने से शब्द पैदा होता है। परन्तु टूटे हुये खण्डो के बीच मे मास आदि धातु आ जाने से यह शब्द नही मिलता।

४ स्रस्तागता —जिस जगह हड्डी टूटती है वह भाग शिथिल हो जाता है। इस कारण यदि उस स्थान में गति कराई जाय तो वह भाग गति नही कर सकता और उसमे वेदना अधिक होती है।

४. सर्वासु अवस्थासु न शर्मलाभ —रोगी को किसी भी अवस्था में सुख नही मिल सकता।

५ भग्न ज्वर —मुख्य बात जो मिलती है वह है भग्न ज्वर।

भग्न चिकित्सा-पथ्य —जिस व्यक्ति की हड्डी टूट जाती है उसे दूध, घृत, मासरस और मटर का रस इत्यादि शरीर को मोटा ताजा करने वाले आहार देना चाहिये। लवण, कटु, क्षार और अम्लप्रधान आहारो का सेवन नहीं करना चाहिये। अधिक जागरण व मैथुन नही करें।

१ कुशा — (खपची) प्राचीन काल में गूलर, पलाश और अर्जुन महुआ आदि वृक्षो

की लकडियो से कुशा का निर्माण किया जाता था। कुशा लगाने का उद्देश्य टूटे हुये अग को विश्राम देना होता है। भिन्न प्रकार के अगो में भिन्न प्रकार की कुशाये बनाई जाती है। आधुनिक चिकित्सा में इन कुशाओ का बहुत प्रयोग किया जाता है।

सुश्रुत ने कपाट शयन नामक कुशा का वर्णन किया है। इसके अन्दर एक लकडी का तख्ता होता है जिसके ऊपर पाच कीले गडी होती हैं। इसमे दो दो कीलें अग को पार्श्व से घेरती हैं। इन कीलो के कारण अग हिल डुल नही सकता और पाचवी कील अन्तिम सिरे पर लगाते है। पाचवी कील से टूटी हुई हड्डी को खीच कर पट्टी बाध कर स्थिर कर देते हैं।

२ आलेप.—मजीठ, मुलेठी, लालचन्दन, इनको शतधौत घृत मे मिला कर भग्न अग पर लेप किया जाता है। इसके शीतल और स्निग्ध प्रभाव से अग की सूजन उतर जाती है।

३ परिषेक—न्यग्रोध आदि कषाय द्रव्यो के शीतल कषाय से परिषेक किया जाता है। यदि शीतल उपचार करना अभीष्ठ न हो तथा अग पर अत्यधिक पीडा हो रही हो तो पचमूल सिद्ध गर्म दूध से सेक करना चाहिये। अथवा गर्म चक्रतेल (ताजा तैल) से सूजे हुये अग पर सेक करते हैं।

४ क्षीरपानः—प्रथम प्रसूता गाय के दूध को बृहण औषधियो से सिद्ध करके शीतल होने पर लाक्षा मिला कर रोगी को देने से अस्थि सघात शीघ्र होता है।

५ यथास्थानानयनः—इसका अभिप्राय यह है कि टूटी हुई हड्डी को हाथ से पकड़ कर ठीक स्थान पर लाते हैं, भग्न मे नीचे दबी हुई हड्डी को ऊपर उठाते हैं और उठी हुई हड्डी को नीचे दबा कर सम अवस्था लाते हैं। यदि हड्डी के सिरे बहुत दूर चले गये हो तो उन्हें खीच कर पास ले आते हैं।

६ बधन—हड्डियो को ठीक स्थास पर बिठाने के बाद उसे स्थिर रखने के लिये बन्धन बाधते हैं।

७ उद्वर्तन व चालन—इसमे रोगी के अग की गति कराई जाती है। क्योकि ऐसा न करने से मासपेशियो के निष्क्रिय होने से सधि का जाम हो सकता है। आधुनिक युग की चिकित्सा मे हड्डी को सैट करने के लिये एक्सरे का सहारा लिया जाता है। एक्सरे द्वारा भली प्रकार देख कर हड्डियो को ठीक सैट करके प्लास्टर ऑफ पैरिस (गौदन्ती तीव्राग्नि द्वारा भस्म करने पर) बाधा जाता है। अथवा चूना को गुड मे मिला कर इसके बाधने से हड्डी अपने स्थान से हटती नही।

हड्डी टूटने पर प्राथमिक उपचार—हड्डी टूटने का इलाज करने के पहले यह जानना

चाहिये कि वह किस प्रकार जुडती है। सबसे पहले टूटे हुये सिरो के बीच मे अस्थि धातु का निर्माण होता है। यह धातु प्रारम्भ मे मुलायम होता है परन्तु शनै शनै दो से छः सप्ताह में कठोर होकर हड्डी बन जाती है। इस अवस्था मे यदि टूटी हुई हड्डी के दानो सिरे यदि उचित स्थिति मे रहते हैं तो हड्डी ठीक जुडती है। इसलिये अस्थिभग्न की चिकित्सा करते हुये उसके टूटे हुये सिरों को हाथ से पकड कर ठीक स्थिति मे लाना चाहिये। अस्थि भग्न के प्राथमिक उपचार मे इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि हड्डी के टूटे हुये सिरों से आसपास की रचनाओ को कोई हानि न पहुचे। और यह सहायता कुशा या स्पिलिन्ट द्वारा ली जाती है। यह स्पिलिन्ट लकडी, टिन अथवा गत्ते की बनाई जाती है। इस स्पिलिन्ट के द्वारा टूटे हुये अग को स्थिर करके ऊपर पट्टी बाधते है जिसके कारण टूटी हुई हड्डी के ऊपर और नीचे के जोड गतिहीन हो जाते हैं। कई अवस्थाओ में जब कि स्पिलिन्ट प्राप्त नही हो सकता निम्नलिखित चीजो का प्रयोग कर सकते हैं।

१ लकडी की छडी, २. छाता, ३ बन्दूक, ४ मुडे हुये अखबार, ५ गत्ता मोटा, ६ मुडे मुडाये कागज के टुकड़े, ७ घासफूस, ८ जुराब या किसी थैलो में मिट्टी या रेत भर कर, ९. साइकिल का पम्प, १० चम्पल या जूते।

स्पिलिन्ट को लगाने के बाद उस पर पट्टी बाधी जाती है। परन्तु कुछ अवस्थाओ में यदि पट्टी पास में न हो तो निम्न वस्तुओ का प्रयोग करें.—१. रूमाल, २ धोती, ३. बैल्ट, ४ टाई, ५ किसी प्रकार की रस्सी का टुकड़ा।

जिस व्यक्ति की हड्डी टूट जाती है उसके कपड़े नहीं उतारने चाहिये परन्तु यदि सव्रण भग्न हो और उसमे खून निकलता हो तो कपडो को उतारना चाहिये।

भग्न की चिकित्सा में निम्न बातो का ध्यान रखा जाता है या रखना चाहिये।

१. सन्देहयुक्त रोगी की भग्न के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

२. सम्पूर्ण स्पिलिन्ट के ऊपर पट्टी बाधनी चाहिये।

३. प्रत्येक प्रकार के भग्न के ऊपर उसको स्पिलिन्ट लगाने के बिना नहीं हिलाना चाहिये।

४. यदि टाग की हड्डी टूट गई हो तो पैर को समकोण पर रखना चाहिये।

५. हाथ मणिबन्द अगुलियो, गुल्फसधि और पैर के भग्नो में स्पिलिन्ट (Splint) के साथ पैड अवश्य लगाना चाहिये।

६. उर्ध्वशाखा के भग्न में हाथ को कोहनी से ऊपर की तरफ इस प्रकार रखना चाहिये कि उसकी अगुलिया फैली हुई हो और अगूठा ठोडी की तरफ सकेत करे।

७. व्रण के ऊपर स्पिलिन्ट (Splint) नही लगानी चाहिये।

शोथ (Inflammation)

वैद्य लालचन्द

[वैद्यराजजी का निवास-स्थान लोसल (सीकर) है। लगभग २६ वर्ष से राज्य-सेवारत है। आपका कार्यक्षेत्र अ श्रेणी चिकित्सालय धौलपुर तथा प्राध्यापक धात्रीकल्पद प्रशिक्षण केन्द्र जोधपुर में रहा है और वर्तमान में अ श्रेणी चिकित्सालय जोधपुर में वरिष्ठ चिकित्सक पद पर कार्य कर रहे हैं। 'शोथ व्याधि' नामक लेख लिखा है। मननीय है।

— वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

ग्रंथि विद्रधि आदि व्याधियाँ प्राय शोथयुक्त हुआ करती हैं, किन्तु उनसे विलक्षण फैला हुआ गाठदार, सम, या विष त्वचा और माँस आदि धातु मे होने वाला वात आदि दोषो का समूह जो शरीर के किसी एक देश मे उत्पन्न होता है। उसे शोथ कहते हैं।

शोथ के प्रकार —शोथ छ प्रकार के होते हैं। (१) वातज, (२) पित्तज, (३) कफज, (४) रक्तज, (५) सन्निपातज, (६) आगन्तुज।

(१) वातज शोथ —वातज शोथ कुछ लाल कुछ काला तथा खुरदरा हाता है, इसमे सुई चुभने जैसी वेदना होती है। वेदना कभी घटती है और कभी बढती है।

(२) पित्तज शोथः—पीले रग का होता है, और शीघ्र बढने वाला होता है। इसमे दाह और वेदना विशेष होती है।

(३) कफज शोथ —सफेद रग का अथवा पाण्डु रग का होता है, यह शीतल तथा धीमे बढने वाला होता है।

(४) रक्तज शोथः—इनमे पित्तज शोथ के लक्षण मिलते हैं।

(५) सन्निपातज शोथ —इसमे तीनो शोथो के लक्षण मिलते हैं।

(६) आगन्तुज शोथ — इसमे पित्तज तथा रक्तज शोथ के लक्षण मिलते हैं, यह हल्के लाल रग का होता है।

जब यह शोथ दोषो की अधिकता के कारण तथा बाह्य उपचार लेप, सेक, उपनाह आदि से। तथा आभ्यन्तर उपचार जैसे रक्त शोधक औषधियो को लेने से शान्त नही होता तो यह पकने लगता है। इस अवस्था मे इसकी तीन अवस्थाये होती हैं।

(१) आमावस्थाः—इस अवस्था मे शोथ के स्थान की त्वचा का रग अन्य स्थान की त्वचा के रग के समान होता है। शोथ का स्थान कुछ गर्म होता है। इसमे हल्की वेदना और हल्की सूजन होती है। इस अवस्था मे यदि शरीर का बल और औषध बल हो तो रोग शान्त हो जाता है।

(२) पच्यमानावस्था—प्रारम्भिक अवस्था मे जीवाणुओ तथा दोषो के प्रबल होने पर तथा योग्य चिकित्सा के न मिलने पर रोग बढने लगता है। इसमे सुइयो के चुभने जैसी वेदना होती है। तथा चीटियो के काटे जाने के समान पीडा होती है। अग्नि से जलाया जाने के समान और बिच्छू के काटने के समान वेदना होती है। इस अवस्था मे उस स्थान की त्वचा का रग बदल जाता है। शरीर मे हल्का ज्वर हो जाता है। रोगी को प्यास अधिक लगती है। और खाने में रुचि नही होती है।

इस अवस्था मे पूय (Pus) के उत्पन्न होने के कारण उसका दबाव वातनाडियो पर पडता है। जिसके कारण अनेक प्रकार की वेदनायें होती हैं।

इस अवस्था मे शरीर मे अनेक प्रकार के विष उत्पन्न हो जाते हैं। जिनका प्रभाव मस्तिष्क स्थित ताप नियत्रक केन्द्र (Heatregulating Centre) पर पडता है, जिससे ज्वर उत्पन्न हो जाता है।

(३) पक्वावस्था—इस अवस्था मे वेदना कम पड जाती है और शोथ कम हो जाता है। तथा त्वचा पर झूर्रियां पड जाती हैं। उस स्थान को अगुली से दबाने पर गढा पड जाता है। शोथ स्थान पर हल्की खुजली आने लगती है। तथा रोग के उपद्रव कम हो जाते हैं।

रक्त परीक्षा करने पर रक्त मे श्वेताणुओ (W. B C) की सख्या बढ जाती है।

व्रण (Ulcer)

व्रण शोथ पक कर फूटने पर व्रण बनता है।

व्रण की परिभाषा—व्रण, जखम, या घाव भरने पर भी जन्म भर शरीर मे उसका चिन्ह रह जाता है, इस प्रकार यह चिन्ह व्रण स्थान को ढक देता है। इसलिए इस व्याधि को व्रण कहते हैं।

व्रण के भेद—व्रण दो प्रकार के होते हैं (१) शरीर व्रण, (२) अगन्तुज व्रण।

१ शरीर व्रण'—शरीर व्रण अन्दर दोषो, विषमता से उत्पन्न होते हैं। यह पाँच प्रकार के हैं, (१) वातज व्रण, (२) पित्तज व्रण, (३) कफज व्रण, (४) रक्तज व्रण, (५) सन्निपातज व्रण।

(क) वातज व्रण—यह व्रण कठिन स्पर्श वाला होता है। इसमे तीव्र पीडा होती है। रग हल्का गुलाबी तथा काला होता है।

(ख) पित्तज व्रण—इस व्रण मे ज्वर हो जाता है, दाह होती है। रोगी को प्यास बहुत लगती है। इसमे क्षार के जलने के समान पीडा होती है। इसका रग पीला तथा हल्का नीला होता है।

(ग) कफज व्रण—यह व्रण बहुत चिकनाहट वाला तथा स्निग्ध होता है। इसमे वेदना कम होती है। इसका रग हल्का पीला होता है।

(घ) रक्तज व्रण—इस व्रण मे पित्तज व्रण के सब लक्षण मिलते है। इसके चारो तरफ काले रग की फून्सियाँ हो जाती है।

(ङ) सन्निपात व्रण—इस व्रण मे तीनो व्रणो के लक्षण, दोष मिलते है।

व्रणो की आकृतियाँ

इसकी चार स्वाभाविक आकृतियाँ होती हैं।

(१) आयत व्रण, ( ) चौकोर, (३) वृत्तय गोल, (४) त्रिकोनी।

इसके अतिरिक्त सभी प्रकार की आकृत्तियाँ विकृत कहलाती हैं। जो कुसाध्य होती है, और बडी कठिनता से ठीक होती है।

(२) आगन्तुज व्रण—यह व्रण मनुष्य, पशु-पक्षी, शेर आदि हिंसक प्राणियो से तथा साँप आदि विषैले जहरीले जानवरो के दातो, नख, तथा ऊँचाई से गिरने से चोट लगने से, अग्नि द्वारा जलने से तथा फरसा, भाला, तलवार आदि शस्त्रो के आघात से होते हैं। इन्हे सध्यो व्रण भी कहते हैं।

आगन्तुज व्रण के भेद

इसके अनेक भेद होते हैं फिर भी सुविधा को दृष्टि से इनके निम्न छ. भेद होते है।

(क) छिन्न व्रण, (ख) भिन्न व्रण, (ग) विद्ध व्रण, (घ) क्षत व्रण, (ण) पिच्चित व्रण, (च) घृष्ट व्रण।

(क) छिन्न व्रण'—शस्त्र द्वारा जो तिरछा या सीधा तथा लम्बा व्रण होता है। तथा जिसमे शरीर का कोई अवयव पूर्ण रूप से अथवा अर्द्ध रूप से कट कर अलग हो जाता हो उसे छिन्न व्रण कहते हैं।

(ख) भिन्न व्रण —किसी नोकदार शस्त्र जैसे भाला, तलवार के आगे का भाग व सींग आदि नुकिले शस्त्र जो व्रण बनाता है, उसे भिन्न व्रण कहते हैं।

(ग) विद्ध व्रण — विद्ध व्रण सूक्ष्म नोक वाले जैसे काटा, आदि से व्रण बनने पर यदि काटा अन्दर रह जाता है, तो व्रण ऊँचा उभर मुख वाला दिखता है, तथा काटे आदि शल्य के निकल जाने पर वह व्रण दबे हुए मुखवाला दिखता है, इस प्रकार के व्रण को विद्ध व्रण कहते हैं। इसमे गहरा व्रण नही होता है।

(घ) क्षत व्रण —जो व्रण न अधिक छिन्न आकृति वाला और न भिन्न आकृति वाला परन्तु दोनो लक्षणो से युक्त विषम आकृति वाला होता है उसे क्षतज व्रण कहते हैं।

(ण) पिच्चित व्रणः—मुदगर आदि के प्रहार से या दरवाजे के बीच दब जाने से या मोटर आदि के नीचे आ जाने से अस्थि सहित जो अग चौडा और चपटा हो जाता है और जिसमे रक्त स्राव होने लगता है उसे पिच्चित व्रण कहते हैं।

(च) घृष्ट व्रण —इस व्रण मे किसी वस्तु की चोट से या रगड से वहाँ की त्वचा हट जाती है तथा व्रण के अन्दर दाह होती है, तथा हल्का रक्त स्राव होता है। तो इसे घृष्ण व्रण कहते हैं।

शुद्ध व्रण के लक्षण

जो व्रण वात, पित्त और कफ इन तीनो दोषो से दूषित नही होता है। जिनके किनारे हल्के नीले रग के होते हैं, जिसमे छोटी २ पिडिकाएँ या मासाकुर दिखाई देते हैं तथा जिसके सब भाग समान होते हैं, तथा जिसमे वेदना नही होती और स्राव नही होता उसे शुद्ध वृण कहते हैं।

दुष्ट व्रण के लक्षण

अधिक छोटे मुख वाला अधिक चौडे मुख वाला, अति कठिन अति मृदु अधिक ठण्डा अधिक गर्म, काला, लाल, पीला और अफेद रगो मे किसी एक रग वाला देखने मे भयानक दुर्गन्धित, पूय और मास वाला अधिक पीडा वाला दाह, पाक, लालिमा, खुजली से युक्त और जिसमें से दूषित रक्त बहता हो और जो बहुत पुराना हो उसे दुष्ट व्रण कहते हैं।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि दुष्ट व्रण की विशेष अवस्था है। जिसमे व्रण बहुत मुश्किल से भरता है। दोषों की अधिकता के अनुसार इसके छ भेद किये गये हैं। जैसे (१) वातज, (२) पित्तज, (३) कफज, (४) रक्तज, (५) सन्निपातज, (६) आगन्तुज।

इनकी यथा दोष चिकित्सा करनी चाहिये.

आघातज एव सद्यो व्रणो को तात्कालिक उपचार विधि

व्रण शब्द का अर्थ शरीर के अवयवो का टूट जाना है। आकस्मिक या बलपूर्वक प्रयुक्त कोई भी साधन जब बाह्य त्वचा या श्लेष्मिक कला (Mucousmembrane) पर क्षत उत्पन्न करदे उसे सद्यो व्रण कहते हैं। इसके ६ भेद पीछे लिखे जा चुके हैं।

उपचार विधि

१ सर्व प्रथम रक्त स्राव को रोकने का प्रयत्न करना चाहिये ? रक्त स्राव को रोकने के लिए उस स्थान को दवा करके अथवा धमनी सदश यन्त्र (Artery Forceps) और बन्धन का प्रयोग किया जाता है। अत्यन्त रक्त प्रवाह से मृत्यु तक हो सकती है।

२ इसके बाद उचित कीटाणुनाशक घोलो द्वारा व्रण को शुद्ध करना चाहिये। यदि उसमे कोई बाह्य पदार्थ कॉच या लकडी के टुकडे रह गये हो तो उनको निकाल देना चाहिये। व्रण मे किसी वस्तु के रह जाने से पूय बन जाती है। और व्रण नही भरता है।

३, यदि व्रण के पूर्ण साफ होने का निश्चय हो तो उसके दोनो किनारो को मिला कर सी देना चाहिये। ऐसा करने से व्रण एक साथ जल्दी भर जाता है।

४ यदि व्रण पूर्णतया शुद्ध नही है तो उसको सीना उचित नही है ऐसी अवस्था मे वृण मे पूय बन जाती है। ऐसी अवस्था मे व्रण को साफ करके कीटाणुनाशक औषधियो द्वारा व्रणोपचार करना चाहिये। इसमे वृण नीचे की तरफ से धीमे भरता है।

५ यदि वृण मे से रक्त स्राव हो रहा हो तो प्रभावित भाग को हृदय के स्तर से ऊपर रखना चाहिये। व्यक्ति को लेटा देना चाहिये। रक्त निकलने वाले स्थान को अगुलियो से दबा देना चाहिये। उस स्थान को साफ करके उस पर टिंचर वैन्जोइन का गाज भिगो कर रख देना चाहिये। उस पर रूई रख कर पट्टी बाध देनी चाहिये।

६ यदि कपालास्थियो का वृण हो गया हो अथवा टूट गई हो व वृण मे कॉच के टुकडे फस गये हो तो उस अवस्था मे कस कर पट्टी नही बाधी जा सकती। इसलिए ऐसी स्थिति मे वृण के पार्श्व मे जगह पर दबाव डालना चाहिये। जाहाँ से रक्त बहता हो तत्पश्चात वृण को शुद्ध गॉज से ढक देना चाहिये बधन या पट्टी नही बाधनी चाहिये।

७ प्रत्येक वृण मे चाहे वह छोटा हो या बडा हो टिन्चर आयोडीन लगा देना चाहिये इससे वृण मे पूय नही बनती है। यदि वृण के किनारे बहुत साफ हैं तो एडेसिवटेप (Adhesivetap) मे चिपका देना चाहिये।

व्रणो के उपक्रम

आदौ विम्लापन कुर्यात् द्वितीयमवसेचनम्।
तृतीयमुपनाहच चतुर्थी पाटन क्रियाम्॥

पञ्चम शोधनम् कुर्यात् षष्ठ रोपणमिष्यते।
एते क्रमा व्रणस्योक्ता. सप्तमम् वैकृतापहम्। (सुश्रुत)

सुश्रुत चिकित्सा स्थान प्रथम अध्याय मे व्रण शोथ के ६० उपक्रम बतलाये हैं, परन्तु सूत्र स्थान मे सक्षेप मे सात उपक्रमो का वर्णन किया गया है।

१ विम्लापन—कठोर और कम पीडा वाले शोफो मे यह क्रिया अधिक लाभदायक सिद्ध होती है। विम्लापन का अर्थ है। स्वेदन करने के बाद शोथ स्थान मे मर्दन करना। बुद्धिमान वैद्य को शोथ स्थान की मालिश करके स्वेदन करना चाहिये तथा उस स्थान को बाँस की पतली डाली हथेली या अगुष्ठ से धीरे २ मसलना चाहिये। इसमे अपतर्पण से विम्लापन तक ६ उपक्रम सम्मिलित हैं।

२ अवसेचन—इसका अर्थ है—दोषो को निकालना या निर्हरण। इसमें विस्रावण स्नेह, वमन और विरेचन, इन चार क्रियाओ का समावेश होता है।

(क) स्नेह—स्नेह का अर्थ कमजोर रोगियो को और ओषधियो से सिद्ध किया हुआ घृत पिलाते हैं।

(ख) वमन—उल्टी कराना। कफ, युक्त शोथो मे वमन कराया जाता है।

(ग) विरेचन—वायु और पित्त से दूषित व्रणो मे विरेचन कराते हैं।

उपनाह Poultice

शोथ स्थान को शान्त करने के लिए अलसी आदि गर्म पदार्थों को गर्म अवस्था में बाधते है। आमावस्था मे इसके द्वारा शोथ शान्त हो जाता है और पच्यमानवस्था में इसका प्रयोग करने से जल्दी पाक हो जाता है। इस क्रिया में पाचन क्रिया का समावेश है। पाचन उपनाह (Poultice) का ही भेद है।

सण, मूली, सरसो के बीज, सहिजना के बीज, तिल, सरसो (जौ चावल का आटा) सुरा बीज, (किण्व) अलसी इन द्रव्यो को समान मात्रा में लेकर उसमे चौगुना दही, और छाछ, सुरा और काँजी मिला कर और उसमें थोडा नमक डाल कर उसे लपसी जैसे बना कर उसे शोथ स्थान पर रख कर ऊपर एरण्ड के पत्ते रख कर बाध देते हैं।

४ पाटन क्रिया.—इसका अर्थ है विद्रधि को खोल कर उसमे से पूय को निकाल देना। इसमें छेदन से सीमन तक ९ उपक्रमो का समावेश है।

(१) छेदन, (२) भेदन, (३) लेखन, (४) वेधन, (५) ऐषण, (६) आहरण, (७) विस्रावण, (८) सीवन, (९) दारण।

दारण—बालक, वृद्ध, कमजोर, भीरु तथा स्त्रियो तथा मर्म स्थान पर विद्रधि होने पर इन अवस्थाओ मे शस्त्र के द्वारा पूय को निकालना उचित नही। ऐसी अवस्था मे दारण

द्रव्यो का प्रयोग करते हैं। जैसे कबूतर की बीठ, गिद्ध की बीठ, क्षार आदि निम्नलिखित दारण द्रव्य हैं।

(१) बडा करज, (२) भिलावा, (३) दन्ती, (४) कनेर की जड, (५) कबूतर की बीठ, (६) गिद्ध तथा कक पक्षी की बीठ। इन्हे पीस कर लेप करते हैं, अथवा क्षार द्रव्यो का लेप करने से दारण कार्य करते हैं।

५-६ शोधन एव रोपणः—इसमे व्रण को शुद्ध करके उसे भरने का यत्न किया जाता है। इसमे सधान रोपण व्रण से धूपन तक १३ उपक्रमो का समावेश है।

१ सधानः—व्रणो के किनारो को मिला कर रखना।

२ पीडन—छोटे मुख वाले व्रणो मे उसे चारो तरफ पीडन द्रव्यो का लेप करते हैं, जिसके कारण पूय (Pus) आदि बाहर आ जाते हैं।

३ शोणिता स्थापन—यदि व्रण मे से बहुत रक्त निकलता हो तो फिटकरी और जामुन के चूर्ण को ऊपर छिडकना चाहिये इससे रक्त स्राव बन्द हो जाता है।

४ निर्वापण·—व्रण मे दाह या जलन होने पर जिंक पाउडर, गिलोय चूर्ण, वश-लोचन, इन्हे घी मे मिला कर लेप करते हैं।

५ उत्कारिका.—वातप्रधान व्रणो मे कठोरता और तीव्र वेदन आदि लक्षण होने पर उत्कारिका बना कर व्रणो को स्वेदन करते हैं। इसके लिए अलसी, सरसो के बीज, एरण्ड के बीज इन्हे समान मात्रा मे और उसे चौगुनी काञ्जी मिला कर गर्म करते हैं। जब वह गाढी हो जाती है तो उसे उत्कारिका कहते हैं।

६ कषाय—नीम के पत्तो का क्वाथ से या त्रिफला क्वाथ से व्रणो को धोते हैं।

७ कल्कः—जिन व्रणो के भीतर शल्य होता है उससे शोधन के लिए मेष शृगी अजगन्धा का कल्क् बना कर तथा उस व्रण पर कल्क् लगाते हैं।

८ वर्त्ति—तिल, मधु और घी इनकी वर्त्ती बना कर व्रण मे रखते हैं।

९-१०. घृत तैल—पित्त प्रधान व्रणों में कपासिया से सिद्ध किया हुआ घी काम में लाते हैं, तथा जात्यादि तेल, पचगुण तेल, दुष्ट व्रणो के शोधन में काम मे लेते हैं।

११ रसक्रिया—साल के वृक्ष की छाल का क्वाथ बनाते हैं। इसका आठवाँ हिस्सा शेष रहने पर उसको और गाढा करते हैं। इसके बाद उसमे थोडी मनशिला और हडताल प्रक्षेप करते हैं। कठिन माँस वाले व्रणो में इसके उपयोग से लाभ होता है।

१२ अवचूर्णन—धाय, लोध और फिटकरी द्रव्यो का चूर्ण बना कर व्रण पर छिडकने से उसका शोधन और रोपण होता है।

१३ व्रण धूपन—नीम की पत्ती, बच, हीग तथा घी मिला कर इनका धुँआ व्रणो पर देते है।

७ वैकृतापह—व्रण के भरने के बाद उसमें कुछ विकृति रह जाती है जिसे दूर करने के लिए उत्सादन से रक्षाविधान तक २६ उपक्रम बतलाये गये हैं।

१. उत्सादन २ अवसादन ३ मृदुकर्म ४. दारुणकर्म ५ क्षारकर्म ६ अग्नि कर्म ७. कृष्णकर्म ८ पाण्डुकर्म ९ प्रतिसारण १० रोमसञ्जनन ११ रोमशातन १२. वस्तिकर्म १३. उत्तर वस्ति १४ बन्ध १५ पत्रदान १६ कृमिघ्न १७ बृंहण १८ विषघ्न १९ शिरोविरेचन २० नस्य २१ कवलग्रह २२. धूम्रपान २३. मधु-सर्पि २४. यन्त्र २५. आहार २६ विहार।

मंत्र यंत्र चिकित्सा

लेखक—वैद्य मेघराज शर्मा सारस्वत

[वैद्यवर श्री मेघराज सारस्वत प० छगनीरामजी के सुपुत्र है। आप समाज सेवक होने के कारण जोधपुर नगरपालिका के भू पू सदस्य रहे। श्री सारस्वतजी ने हिन्दी की प्रभाकर, होम्योपैथी की एम डी तथा आयुर्वेदरत्न, आयुर्वेदाचार्य आदि परीक्षायें उत्तीर्ण की है। आप योग्य पत्रकार है। इनके निबन्धों पर अनेक पदक व वैद्यविनोद वैद्यवर की उपाधि से विभूषित किया गया एव आपको ही सर्वप्रथम राजपूताना प्रान्तीय वैद्य-सम्मेलन पत्रिका, जोधपुर से निकलवाने के लिए प्रबन्ध सम्पादक नियुक्त किया गया एव सम्मेलन के उपमत्री भी रहे। मारवाड आयुर्वेद प्रचारिणी सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की आयुर्वेदीय परीक्षाओं के प्रबन्धक, निरीक्षक, परीक्षक वर्षों तक रहे। श्री सारस्वतजी के मारवाड मे मत्र तत्र एव आयुर्वेद के अनेक शिष्य है। आप चरित्रनायक के विश्वस्त शिष्यों में हैं। आप द्वारा 'मत्र यत्र चिकित्सा' पर लेख परीक्षणीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सपादक]

इस ससार मे त्रिविध ताप का बोध होता है। जिन्हे आध्यात्मिक, आदिभौतिक और आधिदैविक नामो से सबोधित किया जाता है। इन त्रय ताप निवारण के लिए लौकिक और वैदिक उपायो का आश्रय लिया जाता है। प्रायः भौतिक और वैदिक ताप निवारण के लिए मत्र यत्र तत्रादिको का अनुसरण किया जाता है, परन्तु आत्मिक ताप निवारण में जिसके शारीरिक और मानसिक दो भेद हैं। मानसिक के लिए तो इन पूर्व कथित मत्र यत्र तत्र का आश्रय लेते हैं, परन्तु शारीरिक रोग निवारण के लिए भेषजादिक बाह्य उपकरणो को ही अपनाया जाता है। प्राय लोग अज्ञानवश शारीरिक बीमारियो के लिए मत्र यत्र तत्रादिक का कम प्रयोग कर पाते हैं। उनके बोध के लिए सक्षिप्त प्रस्तुत निबध है।

इसमे दी गई मत्र यत्र चिकित्सा पूर्ण अनुभव की हुई है। वैद्य बन्धुओ को इसका प्रयोग करके देखना चाहिए और जनता की सेवा करना चाहिए। यदि कुछ भी इस विषय मे किसी को तनिक भी सदेह हो तो उसका समाधान लेखक द्वारा किया जाने का हर सभव प्रयत्न किया जायगा।

ये मत्र यत्र मेरे पूर्वजो के अनुभूत हैं और मेरे तथा मेरे शिष्य प्रशिष्यो ने भी इनको सिद्ध करके पूर्ण सफलता प्राप्त की है। यदि आप भी पूर्ण श्रद्धा और विश्वास से इनको सिद्ध करेंगे तो आपको इनके चमत्कारिक प्रभाव व शक्ति का ज्ञात हो जायगा। आशा है वैद्य बान्धव इनमे से एक मत्र को तो अवश्य सिद्ध करके जनता की सेवा करेंगे। इसमे स्वार्थ और परमार्थ दोनो सफल होते हैं। भगवान का नाम होने से इस लोक की सब आपत्तियें नाश होकर जीवन सुखमय तो होगा ही।

(१) "राम रक्षा स्तोत्र"

रोग निवारणार्थ राम रक्षा स्तोत्र सफल प्रयोग है। बिच्छू काटने से लेकर बुखार, अस्वस्थता, शिर शूल, उदर शूल, ऋणग्रस्तता (कर्ज), किसी भी प्रकार की विपत्ति, अन्यान्य सकटकालीन परिस्थिति मे काम लिया गया है और आप प्रयोग करके देखें। हर सकट मे इस स्तोत्र से लाभ ही मिलता है। इस स्तोत्र मे अपूर्व शक्ति है। बडा चमत्कारी कवच है। जितनी दृढता से और विश्वास से पाठ किया जायगा उतना ही लाभ होगा और चमत्कार दिखाई देगा।

"राम रक्षा स्तोत्र" के सिद्ध करने की विधि—

आश्विन शुक्ल पक्ष के या चैत्र शुक्ल पक्ष के नवरात्र मे नौ दिनो तक प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त मे स्नानादि और नित्य कर्म से निवृत हो शुद्ध वस्त्र धारण कर कुशासन पर सुखासन से बैठ कर श्री भगवान राम के कल्याणकारी स्वरूप मे ध्यान एकाग्र करके श्री राम रक्षा स्तोत्र का ११ बार यदि न हो सके तो कम से कम सात बार पाठ नियमित रूप से करें, सिद्ध हो जायगा। किसी विपत्ति निवारण के लिए रोगी के पास लगातार पाठ करना चाहिए। साधारणतया एक पाठ नित्य अवश्य करे। जैसा कार्य हो उतना कम या अधिक पाठ करें। इससे ज्वरपीडित रोगी, शिर शूल, कटि शूल, उदर शूल, भयकर वेदना भूतव्याधि मे स्तोत्र का १-३-७ पाठ करके झाडने से रोगी को आराम मिलेगा। रोगी जब तक पूर्ण स्वस्थ न हो तब तक झाड देते रहें।

पवित्र जल कूए का या तालाब का या गगा जल को इस स्तोत्र से अभिमन्त्रित करके रोगी को पिलावें तथा मार्जन करे, इससे भयानक रोग भी शान्त हो जाते है, भूतबाधा भी हट जाती है।

इसके पठन से दैहिक दैविक भौतिक त्रयताप नष्ट होते हैं। हर कार्य के लिए आप इस स्तोत्र का प्रयोग कर सकते हैं। मैंने जो सरल विधि थी वह लिख दी है। अपना २ मनोरथ सिद्ध का ध्यान रख कर भगवान राम से पहले प्रार्थना करें कि अमुक कार्य मेरा सफल हो फिर पाठ करें अवश्य सफलता मिलेगी। इसमे किसी प्रकार का भय नही है।

पाठ करते रहने से आपका मन शान्त व धैर्यवान तथा दृढ बन जायगा। एक अलौकिक शक्ति आपमे आ जायगी।

नोट.—"राम रक्षा स्तोत्र" गीता प्रेस गोरखपुर की छपी स्तोत्र रत्नावलि मे मिल जायगा।

(२)

बीमारी से छुटकारा पाकर आरोग्यता प्राप्ति के लिए।

"अच्युत चामृत चैव जपेदोषध कर्मणि"।

इस मन्त्र का औषधि सेवन काल मे जाप करें। शीघ्र आरोग्यता मिलती है। अगर कोई उपरोक्त मन्त्र न बोल सके तो उसको "अच्युत" (विष्णु) "अमृत" इन नामो को ही रट लगाता रहे। औषध द्विगुण गुणकारी होकर शरीर स्वस्थ हो जायगा।

(३)

रोग और सब प्रकार की व्याधि नाशक—

"मा भयात् सर्वतो रक्ष श्रिय वर्धय सर्वदा।
शरीरारोग्य मे देहि देव देव नमोऽस्तुते॥"

रोगी अपने हाथ मे कोई जल भरा पात्र लेकर उस पर दूसरा हाथ ढक कर इस उपरोक्त मन्त्र को सात बार पढ कर उस जल को पी लेवे। विश्वासपूर्वक इस प्रकार करने से शरीर आरोग्य हो जायगा। इसका प्रयोग करते समय यदि कोई औषधि लेते हो तो ले सकते हैं। मगर इस प्रयोग को जब तक शरीर पूर्ण स्वस्थ न हो, करते रहे। इससे कष्टसाध्य रोग भी शान्त हुए है।

यदि कोई सिद्ध करना चाहे तो १०८ माला जपले और नित्य प्रति ३१-५१ या १०८ मन्त्र जपते रहें, सिद्ध हो जायगा। रोगी पर प्रयोग के समय ७ बार पढें और सकल्प करें कि इस रोगी का रोग शीघ्र शान्त हो, फिर उसे ७ बार पढा हुआ जल पिलावें। निश्चय ही आराम प्राप्त करेगा।

(४)

विष निवारण के मन्त्र—

"ॐ आवित्य रथ वेगेन विष्णोर्बाहु बलेनच। सुपर्ण पक्षपातेन भूम्यां गच्छ महाविष॥
को पक्ष योग पदाज्ञा श्री शिवोत्तम प्रभु पदाज्ञा भूम्यां गच्छ महाविष॥"

इसको सिद्ध करने के लिए चाद या सूर्यग्रहण मे १००८ बार जपें, सिद्ध होगा। दीवाली, होली, नवरात्रि मे भी कम से कम १०८ बार जप लेने से सिद्धि कायम रहती है।

बिच्छू काटे उसको २१-३१-४१ यथावश्यकता पढ कर डक पर झाड दें तो बिच्छू उतरेगा। अन्य किसी भी विष पर इस मन्त्र से दम करके घी, या जल या दूध जैसी रोगी

की अवस्था हो पिलाना चाहिए और चेतना लाने के लिए जल को अभिमन्त्रित करके मार्जन करे। विष शान्त हो जायगा।

नोट—कभी २ विष का प्रभाव तेज होने से धीरे धीरे आराम मिलता है सो इस मन्त्र का प्रयोग करते ही रहें, निराश न हो, अवश्य सफलता मिलेगी। मैंने और मेरे शिष्यों ने बिच्छू के काट पर तथा भग के नशे से बेहोश व्यक्ति को ठीक किया है।

(५)

मुसलमानी मन्त्र

"बिसमिल्ला हिरं रेहमान निरं रहीम"

शुद्ध होकर शुद्ध वस्त्र पहन कर पश्चिम की तरफ मुंह करके बैठें। सामने एक चौकी (काठ की) पर दीपक अगरबत्ती व कुछ पुष्प (चमेली या गुलाब) रखदें। फिर उपरोक्त आयत का पाठ करें। ७८६ मन्त्र नित्य जपना जरूरी है, कम से कम २१-३१ दिन लगातार जपना चाहिये। सिद्ध होगा। फिर हर बृहस्पतिवार व शुक्रवार को ७८६ मन्त्र जपा करें। इससे अपने अन्दर शक्ति बनी रहेगी। जिस काम पर इसका प्रयोग करोगे शीघ्र सफलता मिलेगी।

इसको लिख कर ज्वरपीडित रोगी के गले में बाधने से ज्वर उतर जायगा।

इसको लिख कर किसी भी रोगी के बधवा दे फिर जल को गिलास पर इस मन्त्र से दम करके (अभिमन्त्रित करके) रोगी के शरीर पर मार्जन करे तथा थोडा सा जल पिलादें रोगी को आराम होगा। यह विष, ज्वर, सिरदर्द तथा भूतबाधा पर अनुभूत है। रात्रि में अज्ञात स्थान पर रहना हो या वह स्थान भयावह हो तो इस मन्त्र को ११ बार पढ कर अपने शरीर पर फूक मारदें तथा अपने बिस्तर या ठहरने की जगह के चारो ओर फूक मारदें। किसी भी प्रकार का भय न रहेगा। यह भी अनुभूत है।

(६)

"सूरेफ़ाता" कुरान की आयत है इसको २१-३१ दिन तक में दस हजार जाप कर लें, फिर नित्य प्रति कम से कम ५१ बार जपें। सिद्ध होगा।

१ दात-दाढ के दर्द के वास्ते—सूरेफ़ाता ४१ बार पढ कर दम करें तो दर्द मिटेगा।

२ आंखो की पीडा के लिए—सवेरे के समय ६ बजे बाद दुखती आंख पर सूरेफ़ाता ४१ बार दम करें तो नेत्र रोग जाय, पीडा मिटे।

३. सूरेफ़ाता के हरूप अलग २ लिख कर पानी से धोकर वह रोगी को पिलावें तो हर रोग मे आराम मिलेगा।

नोट—केसर गुलाब जल की स्याही बना कर लिखना चाहिए।

यन्त्र चिकित्सा

पहले अपने इष्ट देव का ध्यान करके उसकी आराधना करने इन यन्त्रों को पतले कागज पर स्याही से लिख कर इकट्ठा करलें, फिर १००१ बार लिख चुकें तब आटे (गेंहूं आदि का आटा) मे गोलियां बना कर मछलियो को चुगादें। यदि दैवात कोई गोली आपकी तरफ आ जाय तो उसे उठाले और लिखा हुआ कागज अपने पास मादलिया (तावीज) में बन्द करके रखल। बड़ा लाभ देगा। मछलियां चुगाने के बाद यन्त्र सिद्ध हो जायगा, फिर किसी व्यक्ति को लिख दे दे। उसे लाभ होगा।

यन्त्र ७८६

२२५	२२८	२३२	२१८
२३१	२१९	२२४	२२९
२२०	२३४	२२६	२२३
२२७	२२२	२१	२३३

जिस औरत के ऋतुमती होने पर चार दिन के बाद अत्यधिक रक्त स्राव रहे (नातर पडे) तो इसको काली स्याही से कागज पर लिख कर तांबे के तावीजमे बन्द कर रुग्णा की कटि मे बाध दे। बाधते समय पहल उस तावीज (मादलिया) को अगरबत्ती का धूप देदें। रुग्ण उसी दिन से आराम होने लगेगी।

७८६

१२	१९	१३
१३	१०	१७
१२	१३	६२

किसी रोगी को दवा असर नही करती हो उस रोगी के गले मे यह यन्त्र बाधने से दवा काम करेगी और रोगी को आराम मिलेगा। अगरबत्ती का धूप देकर बाधें।

यह यन्त्र केसर गुलाब जल की स्याही से लिखे।

७८६

१६	९	१४
११	१३	१५
१२	१७	१०

(कामला) पीलिया, पाण्डु रोग पर यन्त्र रोगी के गले मे या बाजू मे इस यन्त्र को बाधने से आराम होगा। अगरबत्ती का धूप देकर बाधना। केसर गुलाब जल की स्याही से लिखना। मादलिया मे बन्द करके भी बाध सकते हैं।

नोट—हर यन्त्र को लिखते समय अगरबत्ती जला कर सामने रखनी चाहिए और मुह पश्चिम या उत्तर दिशा मे रहना चाहिए।

आत्मवाद जड़वाद

[श्री स्वामी रामप्रकाशजी, पण्डितमार्तण्ड, आयुर्वेदमनिषी विद्वद्वरेण्य स्वामी जयरामदासजी भिषगाचार्य के उत्तराधिकारी शिष्य हैं। विश्ववन्द्य वैद्यसम्राट आयुर्वेदीय युगपुरुष विश्व की महान् विभूति स्वनामधन्य स्वामी लक्ष्मीरामजी महाराज के प्रशिष्य हैं। श्री स्वामी रामप्रकाशजी भारतीय चिकित्सा पंजियन बोर्ड, जयपुर (राजस्थान) के रजिस्ट्रार (पंजियक) रहे। आप वर्तमान राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, (जयपुर) में आचार्य है तथा राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पंजीकृत) के अध्यक्ष हैं। स्वामीजी के चिकित्सा क्षेत्र में आपकी महान् सफलता पर निश्चय (अन्दाज) इस बात से लगाया जाता है कि देश के कोने कोने से आकर रुग्ण लाभ उठाते हैं। इतना ही नहीं आप आधुनिक युग में आयुर्वेद की नैय्या को सहारा दिये हुए हैं। विद्यार्णव, साहित्यवारिधि, आयुर्विज्ञान के विशिष्ट मर्मज्ञ आयुर्वेदमनिषी, प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ-साथ विद्यावैभव तथा आयुर्वेद की सतत सेवा, अध्यापन द्वारा भारत में स्थान-स्थान पर आचार्यजी के शिष्य-प्रशिष्य जनता की सेवा कर रहे हैं। स्वामीजी पर सरस्वती और लक्ष्मी की समान रूप से कृपा है। आप बड़े ही सरल स्वभाव और मधुर भाषी हैं।

"आयुर्वेद के अनुसार चिकित्सा-पुरुष हैं और उसमें पाच भौतिक तत्व के साथ आत्मतत्व और मन का भी समावेश किया गया है। मन और शरीर को रोगाधिष्ठान भी माना है। मन और मानसिक स्वास्थ्य का होना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत निबन्ध में लेखक ने आत्मा और दृश्य जड वस्तु का विवेक कर आत्मसत्ता का प्रतिपादन किया है जो हृदयङ्गम करने योग्य है।" आप सम्पादक मण्डल के सदस्य हैं। चरित्रनायक के प्रति आपकी अनन्त श्रद्धा है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

लेखक . श्री रामप्रकाश स्वामी
एम ए भिषगाचार्य, जयपुर

दृश्य जगत् प्रपञ्च का वर्गीकरण सजीव और निर्जीव सृष्टि के रूप मे किया जाता है। निर्जीव (जड) पदार्थ सम्बन्धी अध्ययन पदार्थ विज्ञान (Physics) और रसायन विद्या (Chemistry) के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। सजीव सृष्टि के ज्ञान के लिए जीवविद्या (Biology) का आश्रय ग्रहण किया जाता है। यदि गम्भीर और सूक्ष्म रूप मे उपर्युक्त सजीव निर्जीव पदार्थ विषयक अध्ययन किया जावे तो अधुना (Nature) नेचर नाम्ना व्यवहृत प्रकृति के ये दोनो वर्ग इतने सश्लिष्ट है कि इनमे वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन होता है। आयुर्वेदाचार्यों के समक्ष भी यही स्थिति उपस्थित हुई थी। आयुर्वेद आत्मवादी शास्त्र है। आत्मतत्त्व को व्यापक तत्त्व के रूप मे अङ्गीकार किया है। आत्मतत्त्व से ही जगत्-प्रपच की उत्पत्ति का निरूपण किया गया

है। एतावता ससार की कोई भी वस्तु आत्मतत्त्वशून्य नही हो सकती। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि चेतनवर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट होती है। इस सत्य सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए आयुर्वेदाचार्यो ने बताया है कि जगत् मे व्यवहारार्थ जड और चेतन का प्रयोग प्रचलित है एव इन्द्रियविकासोपेत द्रव्यो को चेतन और इन्द्रिय-विकासरहित पदार्थ को जड सज्ञा से अभिहित किया गया। आचार्य चरक का निम्न श्लोक इसी मत का उपोद्बलन करता हुआ प्रस्तुत है—

"सेद्रिय चेतन द्रव्यम्, निरिन्द्रियमचेतनम्"—चरक सूत्र

इसलिए मौलिक विचारणा से एक ही तत्त्व के दो पहलू मानकर इस दृश्य जगत् का विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है।

एतद्विषयक स्पष्टीकरण के लिए यह आवश्यक है कि वैज्ञानिको और भौतिकवादियो (Materialists) के दृष्टिकोण का अध्ययन किया जावे। दैनन्दिन अनुभव एव जीवविद्या सिद्धान्त द्वारा सजीव और निर्जीव पदार्थो मे प्रमुख अन्तर ज्ञात होता है। निर्जीव पदार्थ रचना मे अनेक रासायनिक तत्वो (Elements) का सहयोग रहता है।

इस तत्त्व समुदाय का अन्तिम सगठन विद्युन्मय (Electrical) होता है। इन तत्वो के अन्तिम घटक अतीन्द्रिय घन और ऋण विद्युद्वाही कणो (Protons & Electrons) द्वारा निर्मित हैं। इनके क्रियाकलाप का स्पष्टीकरण किसी नियम विशेष के आधीन हो सकता है। इन नियमो का निर्धारण पदार्थ विज्ञान और रसायन शास्त्र द्वारा किया गया है। यह सम्पूर्ण जगत् इन्ही नियमो के आधीन है। यहा जिज्ञास्य प्रश्न है कि सजीव पदार्थ इन नियमो के आधीन है या नही इसके उत्तर मे दो पक्ष हैं। भौतिकवादियो की मान्यता है कि सजीव सृष्टि के यावन्मात्र व्यापारो की व्याख्या निर्जीव जगत् के भौतिक रसायन विद्या के नियमो (Physico-chemical-laws) के माध्यम से सम्पन्न हो सकती है। अधुना ज्ञात नियमो के आधार पर सजीव सृष्टि के व्यापारो की व्याख्या नही हो पा रही है, इसका कारण उन व्यापारो की व्याख्या करने वाले नियमो से अनभिज्ञता है किन्तु जब उन नियमो को ज्ञात कर लिया जावेगा तो मनुष्य शरीर और भौतिक यन्त्रो मे यदि अन्तर होगा तो यह कि मनुष्य शरीर स्वचालित यन्त्र होगा। इस प्रकार जड और चेतन सृष्टि विषयक व्यापार एक ही नियम द्वारा सचालित हो रहे हैं यह सिद्ध हो सकेगा।

दूसरे पक्ष मे जीव विद्याविशारदो का कथन है कि जड पदार्थो से अतिरिक्त सजीव प्राणियो मे विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है। सूक्ष्म प्राणी एमीबा (Amaeba) के व्यापारो का अध्ययन सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता से करें तो ज्ञात होगा कि वह उसी प्रकार सुख-दुःखात्मक जीवन व्यापारो को सम्पन्न करता है। एमीबा पानी मे इधर उधर दौडता हुआ क्रिया करता है। अनुकूल खाद्य पदार्थो को ग्रहण कर सात्म्यीकरण प्रक्रिया द्वारा पाचन

करता है और प्रतिकूल तथा हानिकारक पदार्थों से उद्विग्न हो दूर भागता है। सन्तानोत्पत्ति के द्वारा वशवृद्धि या प्रजनन व्यापारो को करता है। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि सजीव प्राणी मे परिभ्रमण, आहार, श्वासोच्छ्वास, प्रजनन आदि व्यापार दिखाई देते हैं। सजीव प्राणी परिस्थिति (Environment) मे सभावित परिवर्तनो के अनुकूल अपने आपको ढालने का प्रयास करते हैं। सजीव प्राणियो के व्यापार सप्रयोजन होते हैं। बाह्य या आभ्यन्तर उद्दीपको (Stimuli) पर प्रतिक्रिया करना जीवधारियो का प्रमुख लक्षण है। जीवधारियो मे न केवल व्यापारवत्ता ही है अपितु तत्तद् व्यापारो के परिणामत प्राप्त अनुभवो के आधार पर व्यापारो मे परिवर्तन या परिष्कार करना भी आवश्यक देखा गया है। उक्त निरीक्षणो को ध्यान मे रखते हुए सजीव सृष्टि विषयक विचारणाओ के फलस्वरूप जीवविद्याविशारदो की मान्यता है कि सजीव सृष्टि के प्राणी मे जड पदार्थों के रासायनिक तत्वो के अतिरिक्तगुणधर्मात्मक पदार्थ की सत्ता है। रासायनिकतत्त्वातिरिक्तगुणधर्मोपेत सत्ता क्या है ? इस प्रपच को छोड कर केवल उसके अस्तित्व को बता कर प्राणियो के वर्णन को अग्रेसर करते हैं।

जीव विद्याविशारदो एव अनुभव के आधार पर प्राप्त तथा दैनन्दिन निरीक्षणो का भौतिकवादी विरोध न करते हुए भी सजीव सृष्टि के उपर्युक्त व्यापारो की स्पष्टता के लिये अनेक तर्क उपस्थापित कर भौतिक नियमो की परिधि मे बाधना चाहते हैं। अनेक विध कल्पनाओ मे एक कल्पना यह है कि करोडो वर्षो पूर्व किसी अन्य ग्रह से विशेष प्राणी आकर्षण प्रक्रिया द्वारा पृथ्वी पर खिच आये। अनन्तर वातावरण की अनुकूलता प्राप्त कर शनै शनै अधुना परिलक्षित प्राणी सृष्टि का विकास हुआ। इसी प्रकार अन्य कल्पनानुसार अनिश्चित अतीत काल मे किसी समय पृथ्वी के स्तर और वायुमण्डल मे प्रादुर्भूत भौतिक परिवर्तनो (Physical-changes) के परिणामस्वरूप जड पदार्थों मे चैतन्य (Protoplasma) की उद्भूति हुई जो वनस्पति जगत् प्राणी सृष्टि का मूलकारण बनकर क्रमिक विकास के द्वारा अधुना परिदृश्यमान सजीव सृष्टि को विकसित किया।

यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त कल्पनायें कल्पना सीमा को अतिक्रान्त नही कर पाई हैं। प्रयोगो द्वारा इनकी काल्पनिकता ही अधिक प्रमाणित हुई है। ये कल्पनायें किसी ऐतिहासिक तथ्य को भी अपने उपोद्बलन मे प्रस्तुत करने मे असमर्थ हैं क्योकि किसी भी इतिहास ग्रथ मे प्रतिपादित नही हुआ है कि सजीव प्राणी किसी दूसरे ग्रह से पृथ्वी पर आये हैं। किसी प्रकार यह मान भी लिया जाये तो प्रश्न समुपस्थित है, वह कौनसा ग्रह है ? दूसरा प्रश्न होता है उस ग्रह पर सजीव प्राणी कहा से आये हैं ? इस प्रकार दूसरे ग्रहो से सजीव प्राणी के पृथ्वी पर आगमन की कल्पना अनवस्था दोष उपस्थित करती हुई स्वयमेव उपेक्षणीय है। दूसरी कल्पना का भी कोई ऐतिहासिक महत्त्व नही मिलता है,

उपपत्ति द्वारा भी इस कल्पना की पुष्टि नही हो पाती है क्योकि जन्तु शास्त्र की मान्यता है कि जड पदार्थों से सजीव प्राणियो की उत्पत्ति नही हो सकती। साख्य सिद्धान्तानुसार असत् से सत् की अभिव्यक्ति नही हो सकती। यदि तुष्यतु दुर्जनन्याय के अनुसार कट्टर भौतिकवादियो की यह मान्यता कि कभी जड पदार्थों मे से चेतन रस की उत्पत्ति हुई थी अङ्गीकार कर भी ले तो स्ववदतोव्याघातता की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। भौतिकवादी शरीर एव सम्पूर्ण मानस व्यापारो की व्याख्या बिना किसी अपार्थिव तत्त्व की सहायता के जड़ पदार्थ सम्बन्धी नियमो से ही करता है। इन भौतिकवादियो के मत मे जिस प्रकार एककोषीय प्राणी परिस्थिति के अनुसार चेष्टारत हो जीवनक्रम को आगे बढाता है उसी प्रकार कोटयधिक सजीव कोषो के सयोग से निर्मित मानव शरीर जिसे बहुकोषीय प्राणी सज्ञा देना सार्थक होगा, विभिन्न उत्तेजनाओ के अनुसार व्यापार के लिए प्रयत्नशील होता है। इसलिए किसी अपार्थिव अश की सत्ता मान कर उसकी सहायता से व्यापारो की कल्पना अनावश्यक है। मस्तिष्क (Brain) और उससे सम्बन्धित नाडी सूत्रो की व्यापार प्रक्रिया द्वारा ही विचार, भाव और प्रवृत्तियो की व्याख्या सभव है। इसी प्रकार मानव शरीरस्थ नि स्रोतसग्रथियो के स्राव नाडीतत्र को प्रभावित करते हैं। वृषण ग्रथिका अन्तः-स्राव (Testicular Hormone) किसी वृद्ध शरीर मे प्रविष्ट कर दिया जावे तो वृद्धावस्था रहने पर भी कामुकता की वृद्धि होगी। अधिवृक्क ग्रन्थि का स्राव करने पर हृदय की क्रिया मे वृद्धि हो जाती है और व्यक्ति उत्तेजित हो उठता है। इसी प्रकार चाय, काफी, मद्य आदि पदार्थों का सेवन भी नाडीतन्त्र को उत्तेजित करके विचारधारा में वेग ला देता है। जिस व्यक्ति के मस्तिष्क में कार्यक्षमता जितनी अधिक होगी मनुष्य उतना ही बुद्धिमान् होगा। मानव स्वभावो की विविधता और विचित्रता का कारण उन शरीरो की नि स्रोतसग्रन्थियो के स्रावपरिमाण का न्यूनाधिक होना ही है। इसी माध्यम से क्रोधशोकादि मानसभावो का स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत करते हैं। मानवमानस व्यापारो की व्याख्या व स्पष्टीकरण के लिए आत्मा (Soul) मन (Mind) स्पिरिट (Spirit) आदि की परिकल्पना भौतिकवादियो के मत में निरर्थक है।

इसके विपरीत मानव शरीर या प्राणिसृष्टि में जड पदार्थों के अतिरिक्त चेतनसत्ता को स्वीकार करने वाला आत्मवादी उपर्युक्त उपपत्तियो का उत्तर विज्ञान के सहयोग से ही देता है। वैज्ञानिक गवेषणाओ के क्रमिक विकास एव परिष्कार की स्थिति ने आज आत्मवादी के पक्ष को और भी अत्यधिक सुदृढ बना दिया है।

शरीरव्यापारशास्त्रमीमासको की मान्यता है कि भौतिकवादियो (जडवादियो) का यत्रवाद का सहारा लेकर शरीर मानसव्यापारो का स्पष्टीकरण, विवेचन करना असफल प्रयास है। शरीरव्यापारशास्त्रियो के उदाहरणतया अश्रूद्गम, स्वेदोत्पत्ति, पाचनप्रक्रिया

करता है और प्रतिकूल तथा हानिकारक पदार्थो से उद्विग्न हो दूर भागता है। सन्तानोत्पत्ति के द्वारा वंशवृद्धि या प्रजनन व्यापारो को करता है। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि सजीव प्राणी मे परिभ्रमण, आहार, श्वासोच्छ्वास, प्रजनन आदि व्यापार दिखाई देते हैं। सजीव प्राणी परिस्थिति (Environment) मे सभावित परिवर्तनो के अनुकूल अपने आपको ढालने का प्रयास करते हैं। सजीव प्राणियो के व्यापार सप्रयोजन होते हैं। बाह्य या आभ्यन्तर उद्दीपको (Stimuli) पर प्रतिक्रिया करना जीवधारियो का प्रमुख लक्षण है। जीवधारियो मे न केवल व्यापारवत्ता ही है अपितु तत्तद् व्यापारो के परिणामत प्राप्त अनुभवो के आधार पर व्यापारो मे परिवर्तन या परिष्कार करना भी आवश्यक देखा गया है। उक्त निरीक्षणो को ध्यान मे रखते हुए सजीव सृष्टि विषयक विचारणाओ के फलस्वरूप जीवविद्याविशारदो की मान्यता है कि सजीव सृष्टि के प्राणी मे जड पदार्थो के रासायनिक तत्वो के अतिरिक्तगुणधर्मात्मक पदार्थ की सत्ता है। रासायनिकतत्त्वातिरिक्तगुणधर्मोपेत सत्ता क्या है ? इस प्रपच को छोड कर केवल उसके अस्तित्त्व को बता कर प्राणियो के वर्णन को अग्रेसर करते हैं।

जीव विद्याविशारदो एव अनुभव के आधार पर प्राप्त तथा दैनन्दिन निरीक्षणो का भौतिकवादी विरोध न करते हुए भी सजीव सृष्टि के उपर्युक्त व्यापारो की स्पष्टता के लिये अनेक तर्क उपस्थापित कर भौतिक नियमो की परिधि मे बाधना चाहते हैं। अनेक विध कल्पनाओ मे एक कल्पना यह है कि करोडो वर्षो पूर्व किसी अन्य ग्रह से विशेष प्राणी आकर्षण प्रक्रिया द्वारा पृथ्वी पर खिच आये। अनन्तर वातावरण की अनुकूलता प्राप्त कर शनै शनै अधुना परिलक्षित प्राणी सृष्टि का विकास हुआ। इसी प्रकार अन्य कल्पनानुसार अनिश्चित अतीत काल मे किसी समय पृथ्वी के स्तर और वायुमण्डल मे प्रादुर्भूत भौतिक परिवर्तनो (Physical-changes) के परिणामस्वरूप जड पदार्थो मे चैतन्य (Protoplasma) की उद्भूति हुई जो वनस्पति जगत् प्राणी सृष्टि का मूलकारण बनकर क्रमिक विकास के द्वारा अधुना परिदृश्यमान सजीव सृष्टि को विकसित किया।

यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त कल्पनायें कल्पना सीमा को अतिक्रान्त नही कर पाई हैं। प्रयोगो द्वारा इनकी काल्पनिकता ही अधिक प्रमाणित हुई है। ये कल्पनायें किसी ऐतिहासिक तथ्य को भी अपने उपोद्बलन मे प्रस्तुत करने मे असमर्थ है क्योकि किसी भी इतिहास ग्रथ मे प्रतिपादित नही हुआ है कि सजीव प्राणी किसी दूसरे ग्रह से पृथ्वी पर आये हैं। किसी प्रकार यह मान भी लिया जाये तो प्रश्न समुपस्थित है, वह कौनसा ग्रह है ? दूसरा प्रश्न होता है उस ग्रह पर सजीव प्राणी कहा से आय हैं ? इस प्रकार दूसरे ग्रहो से सजीव प्राणी के पृथ्वी पर आगमन की कल्पना अनवस्था दोष उपस्थित करती हुई स्वयमेव उपेक्षणीय है। दूसरी कल्पना का भी कोई ऐतिहासिक महत्त्व नही मिलता है,

उपपत्ति द्वारा भी इस कल्पना की पुष्टि नही हो पाती है क्योकि जन्तु शास्त्र की मान्यता है कि जड पदार्थों से सजीव प्राणियो की उत्पत्ति नही हो सकती। साख्य सिद्धान्तानुसार असत् से सत् की अभिव्यक्ति नही हो सकती। यदि तुष्यतु दुर्जनन्याय के अनुसार कट्टर भौतिकवादियो की यह मान्यता कि कभी जड पदार्थो मे से चेतन रस की उत्पत्ति हुई थी अङ्गीकार कर भी ले तो स्ववदतोव्याघातता की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। भौतिकवादी शरीर एव सम्पूर्ण मानस व्यापारो की व्याख्या बिना किसी अपार्थिव तत्त्व की सहायता के जड़ पदार्थ सम्बन्धी नियमो से ही करता है। इन भौतिकवादियो के मत मे जिस प्रकार एककोषीय प्राणी परिस्थिति के अनुसार चेष्टारत हो जीवनक्रम को आगे बढाता है उसी प्रकार कोटचधिक सजीव कोषो के सयोग से निर्मित मानव शरीर जिसे बहुकोषीय प्राणी सज्ञा देना सार्थक होगा, विभिन्न उत्तेजनाओ के अनुसार व्यापार के लिए प्रयत्नशील होता है। इसलिए किसी अपार्थिव अश की सत्ता मान कर उसकी सहायता से व्यापारो की कल्पना अनावश्यक है। मस्तिष्क (Brain) और उससे सम्बन्धित नाडी सूत्रो की व्यापार प्रक्रिया द्वारा ही विचार, भाव और प्रवृत्तियो की व्याख्या सभव है। इसी प्रकार मानव शरीरस्थ नि.स्रोतसग्रथियो के स्राव नाडीतत्र को प्रभावित करते हैं। वृषण ग्रथिका अन्त -स्राव (Testicular Hormone) किसी वृद्ध शरीर मे प्रविष्ट कर दिया जावे तो वृद्धावस्था रहने पर भी कामुकता की वृद्धि होगी। अधिवृक्क ग्रन्थि का स्राव करने पर हृदय की क्रिया मे वृद्धि हो जाती है और व्यक्ति उत्तेजित हो उठता है। इसी प्रकार चाय, काफी, मद्य आदि पदार्थो का सेवन भी नाडीतन्त्र को उत्तेजित करके विचारधारा में वेग ला देता है। जिस व्यक्ति के मस्तिष्क में कार्यक्षमता जितनी अधिक होगी मनुष्य उतना ही बुद्धिमान् होगा। मानव स्वभावो की विविधता और विचित्रता का कारण उन शरीरो की नि स्रोतसग्रन्थियो के स्रावपरिमाण का न्यूनधिक होना ही है। इसी माध्यम से क्रोधशोकादि मानसभावो का स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत करते हैं। मानवमानस व्यापारो की व्याख्या व स्पष्टीकरण के लिए आत्मा (Soul) मन (Mind) स्पिरिट (Spirit) आदि की परिकल्पना भौतिकवादियो के मत में निरर्थक है।

इसके विपरीत मानव शरीर या प्राणिसृष्टि मे जड पदार्थों के अतिरिक्त चेतनसत्ता को स्वीकार करने वाला आत्मवादी उपर्युक्त उपपत्तियो का उत्तर विज्ञान के सहयोग से ही देता है। वैज्ञानिक गवेषणाओ के क्रमिक विकास एव परिष्कार की स्थिति ने आज आत्मवादी के पक्ष को और भी अत्यधिक सुदृढ बना दिया है।

शरीरव्यापारशास्त्रमीमासको की मान्यता है कि भौतिकवादियो (जडवादियो) का यन्त्रवाद का सहारा लेकर शरीर मानसव्यापारो का स्पष्टीकरण, विवेचन करना असफल प्रयास है। शरीरव्यापारशास्त्रियो के उदाहरणतया अश्रूद्गम, स्वेदोत्पत्ति, पाचनप्रक्रिया

एव रुधिराभिसरण प्रक्रिया केवल यन्त्रवाद की सहायता से नही समझाये जा सकते। उक्त व्यापारो पर शरीर से अतिरिक्त मन का प्रभाव स्पष्ट अनुभूत है। चक्षु मे धूलकण गिर जाने या धुआ का सयोग होने से अश्रुद्गम होता है, शोक और हर्ष के अवसर मे भी अश्रुप्रवृत्ति दृष्टि है। पूर्वावस्था मे अश्रुप्रवाह का कारण बाह्य घटनायें हैं तो दूसरी अवस्था मे केवल मानसिक भावनाओ के परिणामस्वरूप अश्रुप्रवृत्ति होती है। फलितार्थ है कि भौतिक-अभौतिक या पार्थिव अपार्थिव दोनो ही घटनाओ का परिणाम अश्रु प्रवाह एक होता है। विभिन्न कारणजन्य एक रूप काय का उक्त उदाहरण प्रस्तुत है। इसके विपरीत घटनाविशेष का विभिन्न व्यक्तियो पर होने वाला प्रभाव पृथक् पृथक् देखा जाता है। मासपिण्ड को देखकर शाकाहारी व्यक्ति के अन्दर घृणा का भाव उत्पन्न होता है। मासाहारी के मन से मास खाने की प्रवृत्ति जागृत होती है। इसी प्रकार दुष्काल की स्थिति मे खाद्य सामग्री विक्रेता सन्तुष्ट और प्रसन्न होता है जब कि निर्धन हजारो उपभोक्ताओ के मुख मलिन एव क्लान्त होते हैं। एक हो नाटक या चलचित्र को देखते हुए प्रेक्षको पर विभिन्न प्रभाव होते हैं। घटना एक होते हुए भी परिणाम मे इस प्रकार विविधता क्यो होती है? इसका समुचित समाधान केवल यान्त्रिक सहयोग से नही किया जा सकता है। जडवादियो की मान्यतानुसार उक्त विविध प्रभाव तत्तद् व्यक्तियो के मस्तिष्क एव नाडीसूत्रो की वैविध्यापन्न वैयक्तिक भावना के कारण होता है। उनके मत मे मानसिक व्यापारो को नाडीकोषो के व्यापार स्वीकृत किये हैं। यदि व्यक्तिगत भावना को अङ्गीकृत किया गया है तो यन्त्रवाद स्वयमेव परास्त हो जाता है, क्योकि किसी भी रेल के एजिन मे व्यक्तिगत भावना दृष्टिगोचर नही होती। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत प्रभाव मे शरीर एव मन दोनो के सयुक्त योगदान की कारणता है।

यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि पदार्थ विज्ञान के क्षेत्र मे भी भौतिक रसायन के नियमो का पालन दृष्टिगोचर नही होता है। अणु और परमाणु सबन्धी गवेषणाये इसी को इङ्गित करती है कि यन्त्रवाद की सहायता से ज्ञातसामग्री की अपेक्षा अज्ञेयवाद (Mysticism) अधिक विस्तृत है।

मानसशास्त्री या मनोविज्ञान के क्षेत्र मे परीक्षणात्मक पद्धति को अङ्गीकृत कर लिया है। मानसिक व्यापारो को गणितशास्त्र के समीकरण सिद्धान्तो के ढाचे मे स्थापित करने के लिये प्रयत्न हो रहे है। मन की रचना यदि जड पदार्थो से होगी तो मन और मन के व्यापारो पर ऐसे नियम लागू हो सकेगे और मन भी इन नियमो की परिधि मे कस दिया जावेगा अन्यथा मन की अतीन्द्रियता अक्षुण्ण रहेगी और मनोवैज्ञानिको को सदा ही चक्कर मे डाले रहेगा। वह तो केवल अन्तर्मुखिता के कारण ही ज्ञेयकोटि मे समाविष्ट हो सकेगा। जडवादियो के तर्कों को परास्त करने मे नेत्रेन्द्रिय व्यापार से परिचित व्यक्ति

भली भाति जानता है कि नेत्रवितान (Retina) पर किसी भी ग्राह्य पदार्थ का प्रतिबिम्ब उल्टा पडता है। प्रकाश विद्या का नियम ही ऐसा है कि प्रकाश किरणें नेत्रवितान पर प्रतिसक्रान्त उल्टे रूप मे होती है किन्तु इस पर भी हम सब का दैनन्दिन अनुभव यह बताता है कि हमारी चक्षु द्वारा गृहीत पदार्थ उल्टे न दिखाई देकर सीधे ही दिखाई देते है। वैसे उल्टा प्रतिबिम्ब गृहीत होने पर अधोमुख और ऊर्ध्वपाद मनुष्य दिखाई देने चाहिए। इस प्रकार यह परिवर्तित रूप कैसे दिखाई देता है ? जडवादी इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यह अनुभव (Experience) के परिणामस्वरूप परिवर्तित रूप गृहीत होता है। यहा प्रष्टव्य है कि यहा अनुभव किमर्थपरक है और वह अनुभव कहा एकत्रित होता रहता है ? वस्तुत किसी अतिरिक्त चैतन्यतत्त्व (आत्मा) की स्वीकृति के बिना नेत्रन्द्रिय एव अन्य किसी इन्द्रिय के व्यापार को समझना अत्यन्त कठिन ही नही अपितु असभव है। अनुभव, स्मृति, निद्रा आदि व्यापार भी चतन्यता के अभाव मे हो नही सकते । इस प्रकार आधुनिक उपलब्धिया भी आत्मतत्त्व की सिद्धी मे सहायक होती है और उसी की पुष्टि मे लगी हुई हैं। चैतन्य और मन की सत्ता स्वीकार करने पर इन्द्रिय व्यापार तथा अनुभव, स्मृति, निद्रा आदि सब व्यापारो का आश्रयाश्रयित्व सम्पन्न हो जाता है।

यहा पुन जडवादी प्रश्न उपस्थित करते हुए कहते हैं कि मन के बजाय मस्तिष्क के व्यापारो को हो मानसिक व्यापार मान लेने मे आपत्ति क्या है ? क्योकि क्लोरोफार्म सुंघा कर या स्थानिक सज्ञानाशक (Local Anaesthetia) औषध को शरीर के भाग विशेष की नाडियो मे प्रविष्ट करके शस्त्रकर्म कर दिया जाता है और रोगी किसी प्रकार की वेदना का अनुभव नही करता है। इस प्रकार इन जड द्रव्यो के प्रयोग से वेदनानुभव रूप मानस व्यापारो को अवरुद्ध किया जा सकता है। यही नही, मस्तिष्क के भाग विशेष का ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो के साथ साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण उस भाग मे विक्षेप होने पर मानस व्यापारो पर विकृत प्रभाव प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस कारण मस्तिष्क के व्यापारो को ही मानस व्यापार मानना चाहिए और मस्तिष्क के अतिरिक्त अन्य किसी मानस सत्ता के मानने की कोई आवश्यकता नही।

इसका उत्तर देते हुए आत्मवादी कहते हैं कि मस्तिष्क मन का एक अत्युपयोगी साधन है न कि स्वय मन। मन मस्तिष्क एव नाडीसूत्रो के सहयोग से ही स्वव्यापारो को पूर्ति करता है। इनके अभाव मे या इन के क्षतिग्रस्त होने की स्थिति मे मानसिक व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं। करणो से युक्तकर्ता ही कार्यसाधन में समर्थ हो सकता है। शिल्पी जिस प्रकार अपने साधनो की सहायता से ही अनेक शिल्पो का निर्माण करता है, बिना साधन के विशेषज्ञ शिल्पी भी कुछ भी नही कर सकता इस तर्कसम्मत सिद्धान्त के अनुसार मस्तिष्क एव नाडीसूत्रो को मन के साधन के रूप मे अङ्गीकार किया जाता है। ये साधन

यदि उपयुक्त होगे किसी प्रकार की विकृति से ग्रस्त नही होगे तो मानस व्यापार निर्वाध रूप से होते रहेंगे। स्वास्थ्यप्रद वायु पौष्टिक खाद्यपदार्थं नियमित रुधिराभिसरण आदि नाडीतत्र को कार्यक्षम बनाने वाली परिस्थितिया मन को भी स्फूर्तिप्रदायक हैं। मन को मस्तिष्क से भिन्न न मानने की स्थिति मे अन्यमनस्क होते हुए भी मनुष्य को पुरोवर्ती दृश्य का ज्ञान होना चाहिए किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव इसका उपोद्‌बलन नही करता प्रत्युत कहा यह जाता है कि पुरोवर्ती वस्तु को मैंने नहीं देखा क्योकि मेरा ध्यान अन्यत्र था। यही स्थिति अन्य इन्द्रियजज्ञान के साथ होती है। इसी प्रकार शोक की उपस्थिति मे बुभुक्षा होने पर प्रतीत नही होती। ये सब स्थितिया बाध्य करती हैं कि इन्द्रियादि एव आमाशय के रहते हुए भी तदिन्द्रियज ज्ञान एव भूख की प्रतीति नही होती और इन्ही ज्ञानो का होना इस बात को द्योतित करता है कि नाडीतत्र और इन्द्रियो के व्यापार मानस प्रवृत्तिजन्य हैं और मानस व्यापारो की अभिव्यक्ति एव प्रतीति के साधन है इसलिए मस्तिष्क भी एक साधन के रूप मे है यही अधिक युक्तिसङ्गत है।

यद्यपि अधुना चैतन्यसत्ता की स्वीकृति मे कोई विवाद नही है किन्तु शरीर मे स्थित चैतन्य और जडतत्वो का सम्बन्ध किस प्रकार का है यह जीव शास्त्री, शरीर शास्त्री, वैज्ञानिक, आधिभौतिकवादी एव मानस शास्त्री विद्वानो का विवेच्य विषय बन रहा है। अपने अपने मन्तव्यानुसार इस सम्बन्ध के विषय मे मत व्यक्त कर रहे हैं। यहा प्रश्न है शरीर और मन का सम्बध कैसा माना जावे ? एकाकी जडवाद या चैतन्यवाद की मान्यताओ को लेकर दृश्य एव अदृश्य (मानस) सृष्टि के अशेष व्यापारो का समाधान करने मे सक्षम नही हो सकते। वैसे सारे जगत् प्रपच को मनोमय एव मन से ही जगत् प्रपच का उद्‌गम मानने वाला मत भी हमारे समक्ष उपस्थित है।

संक्षिप्त शल्यकर्म की तैयारी

लेखक : राजेश्वर भाटिया, जैसलमेर

[श्री भाटिया जैसलमेर निवासी हैं और बी आई एस. हैं। वर्तमान में राजकीय धात्रीकल्पद प्रशिक्षण केन्द्र जोधपुर में विवेचक पद पर कार्य कर रहे हैं। आपका लेख छात्रोपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

शस्त्रकर्म के तीन विभाग हैं —

लघनादि विरेकान्त पूर्वकर्म व्रणस्य च।
पाटन रोपण पच्च प्रधानकर्म तदस्म्तम् ॥
बलवर्णाग्नि कार्यं तु पश्चात्कर्म समादिशेत्।
(हाराणचन्द्र)

लघन, विरेचन, वस्ति आदि सार्वदैहिक तथा स्थानिक विशोधन (Sterlization) आदि विशेषकर्म पूर्वकर्म कहलाते हैं। इसमे शल्यकर्म करने से पहिले रोगी को उसके लिए तैयार किया जाता है। आधुनिक परिभाषा मे इसे "Preparation of the Patient" कहते हैं।

प्रधानकर्म—मुख्य शल्यकर्म—(Main operation) आता है।

पश्चात्कर्म मे व्रण चिकित्सा तथा रोगी के बल की रक्षा करना विशेष रूप से आता है।

सुश्रुत ने शल्यकर्म करने से पहिले चिकित्सक के लिए कुछ चीजे रखनी आवश्यक बतलायी हैं। जैसे विविध प्रकार के यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका शृग, अलाबु (तुम्बी), पिचु (रूई), प्रोत (वस्त्र), लघु घृत इत्यादि। प्राचीनकाल मे यद्यपि शल्यकर्म मे शुद्धता और पवित्रता का ध्यान रखा जाता था।

आधुनिक शल्यचिकित्सा के प्रवर्तक लार्ड लिस्टर माने गये हैं। व्रणो मे पूय पडने के सम्बन्ध मे खोज करते हुए लार्डलिस्टर ने सोचा कि जिस प्रकार शर्करा मे सुराबीज मिला देने से मद्य बन जाता है उसी प्रकार जीवाणुओ के रक्त मे मिलने से पूय उत्पन्न हो जाती है अतः उन्होने व्रणो के उपचार मे जीवाणुनाशक वस्तुओ का प्रयोग करना शुरू

किया। इससे व्रणो मे पूयोत्पत्ति कम हो गयी। इस प्रकार जन्तुघ्न या विषहरी चिकित्सा (Antiseptic treatment) खोज हुई।

इसका तात्पर्य है कि शस्त्रकर्म मे प्रयुक्त होने वाले यन्त्रो, शस्त्रो एव अन्य साधनो को शुद्ध किया जाय। जीवाणुनाशक औषधियो का प्रयोग करने की अपेक्षा जीवाणुओ को व्रण मे न पहुचने देना उत्तम है। जिस जगह शस्त्रकर्म करना है उस स्थान को, शस्त्रकर्म मे प्रयुक्त होने वाले यन्त्रो, शस्त्रो, गाज, रूई, पट्टी, चिकित्सक के हाथ, वहा के चारो तरफ के वायुमण्डल एवम् जो भी वस्तुएँ शल्यकर्म मे प्रयुक्त हो सबको जीवाणु रहित कर दिया जाय। इस प्रकार करने से व्रण मे जीवाणु नही पहुचते। आधुनिक चिकित्सा मे व्रण मे पूय का पडना असावधानी समझा जाता है। शल्यकर्म करते समय जीवाणुनाशक और जीवाणुरहित दोनो कर्मो की आवश्यकता पडती है। ये दोनो क्रियाएँ अलग-अलग रूप मे असफल हो सकती है परन्तु यदि दोनो क्रियाओ का इकट्ठा प्रयोग किया जाय तो अच्छी सफलता मिलती है।

जीवाणुओ को नष्ट करने के लिए आजकल अनेक प्रकार की क्रियाएँ काम मे आती हैं :—

१. इनमे अग्नि सबसे मुख्य है जिसका प्रयोग भाप के रूप मे होता है। यन्त्रो शस्त्रो को पर्याप्त समय तक भाप मे रखने से वे जीवाणुरहित हो जाते हैं। इसी सिद्धात का उपयोग स्टरलाइजर द्वारा यन्त्रो को शुद्ध करने मे किया जाता है।

२ अनेक प्रकार के रासायनिक जीवाणुनाशक घोल भी यही कार्य करते हैं जैसे एक्रीफ्लेवीन, मरक्यूरोक्रोम, वोरिक एसिड, डेटोल (Detol), लाइसोल (Lysol) इत्यादि।

३ अनेक प्रकार के तीव्रमद्य जैसे अलकोहल, स्प्रिट आदि।

४ विभिन्न शक्ति के अम्ल जैसे कार्बोलिक एसिड।

५. उबला हुआ पानी Boiled water)।

६. धूम।

सुश्रुत ने लिखा है कि शल्य चिकित्सक के बाल और नाखून छोटे होने चाहिए, उसे पवित्र रहना चाहिए और सफेद वस्त्र धारण ... तप्त शस्त्र द्वारा छेदन करना चाहिए। पानी को उबाल कर एक पा ... ही व्रणो-पचार काम मे लेना चाहिए। इत्यादि विवरणो से ... का ध्यान निर्विष चिकित्सा (Aseptic treatment) की ओ

सक्षिप्त शल्यकम के समय ध्यान दने योग्य वातें —

सक्षिप्त शल्यकर्म मे आने वाले ... को शु

चिकित्सक की सहायता करना आदि ऐसे कार्य हैं जो दिखने मे साधारण हैं परन्तु शल्य चिकित्सा मे बहुत महत्व रखते हैं। इसमे निम्न लिखित बातो का ध्यान रखना चाहिए।

१. शुद्ध किये हुए यन्त्र शस्त्र जब किसी अशुद्ध यन्त्र शस्त्र से छू जाते हैं तो वे भी अशुद्ध हो जाते हैं।

२ शुद्ध किये हुए यन्त्र शस्त्रो को शुद्ध बर्तन में रखने चाहिए। उन्हे काम में लाने से पहिले तक ढक कर रखना चाहिए।

३ शुद्ध यन्त्र शस्त्रो को उठाने के लिए संदशयन्त्र (Forceps) का प्रयोग करना चाहिए। फोरसेप्स को प्रयोग मे लाने से पहिले उबालकर साफ कर देना चाहिए तथा गहरे बर्तन (Jar) मे जिसमे ताजा जीवाणुनाशक घोल हो, रखना चाहिए। फोरसेप्स को निकालते या रखते समय बर्तन के ऊपर के किनारो को नही छूना चाहिए।

फोरसेप्स के आगे के दोनो फलको को काम मे लाते समय हमेशा नीचे की तरफ रखना चाहिए।

४ शुद्ध यन्त्र शस्त्रो को निकालते समय बर्तन को सावधानी से खोलना चाहिए। उसके ढक्कन के अन्दर के हिस्से को नही छूना चाहिए। सिरिंजेस (Syrenges) भी इसी तरह निकालनी चाहिए।

५ हमेशा शुद्ध बर्तनो (Sterile Basen & Cups) को उसके पार्श्व मे या नीचे हाथ रख कर पकडना चाहिए। किनारो के ऊपर अगुलियो से कभी नही पकडना चाहिए। सब बर्तनो के ऐसे ही उठाने की आदत बनानी चाहिए।

६ जब कभी बोतलो के या बर्तनो के ढक्कन नीचे रखने हो तो हमेशा उसको उलटा करके रखना चाहिए।

७. बोतल मे से औषधि या औषधि के घोल को उलटते समय ढक्कन को इस तरह से हटाना चाहिए कि उसका नीचे का हिस्सा अशुद्ध न हो। इसके बाद किसी जीवाणुनाशक घोल (Antiseptic Solution) मे भिगोये हुए शुद्ध कपडे से बोतल के मुह को पोछ लेना चाहिए।

यन्त्र शस्त्र प्रकरण

"मन शरीराबाधकराणि शल्यानि।
तेषामाहरणोपायो यन्त्राणि॥ सु०

अर्थात् मन और शरीर को पीडा देने वालो को शल्य कहते हैं तथा उनके निकालने के उपायो का नाम यन्त्र है। यन्त्र १०१ हैं। इनमे हाथ प्रधान यन्त्र है क्योकि बिना हाथ

किया। इससे व्रणो मे पूयोत्पत्ति कम हो गयी। इस प्रकार जन्तुघ्न या विषहरी चिकित्सा (Antiseptic treatment) खोज हुई।

इसका तात्पर्य है कि शस्त्रकर्म मे प्रयुक्त होने वाले यन्त्रो, शस्त्रो एव अन्य साधनो को शुद्ध किया जाय। जीवाणुनाशक औषधियो का प्रयोग करने की अपेक्षा जीवाणुओ को व्रण मे न पहुचने देना उत्तम है। जिस जगह शस्त्रकर्म करना है उस स्थान को, शस्त्रकर्म मे प्रयुक्त होने वाले यन्त्रो, शस्त्रो, गाज, रूई, पट्टी, चिकित्सक के हाथ, वहा के चारो तरफ के वायुमण्डल एवम् जो भी वस्तुएँ शल्यकर्म मे प्रयुक्त हो सबको जीवाणु रहित कर दिया जाय। इस प्रकार करने से व्रण मे जीवाणु नही पहुचते। आधुनिक चिकित्सा मे व्रण मे पूय का पडना असावधानी समझा जाता है। शल्यकर्म करते समय जीवाणुनाशक और जीवाणुरहित दोनो कर्मो की आवश्यकता पडती है। ये दोनो क्रियाएँ अलग-अलग रूप मे असफल हो सकती है परन्तु यदि दोनो क्रियाओ का इकट्ठा प्रयोग किया जाय तो अच्छी सफलता मिलती है।

जीवाणुओ को नष्ट करने के लिए आजकल अनेक प्रकार की क्रियाएँ काम मे आती हैं —

१ इनमे अग्नि सबसे मुख्य है जिसका प्रयोग भाप के रूप मे होता है। यन्त्रो शस्त्रो को पर्याप्त समय तक भाप मे रखने से वे जीवाणुरहित हो जाते हैं। इसी सिद्धात का उपयोग स्टरलाइजर द्वारा यन्त्रो को शुद्ध करने मे किया जाता है।

२ अनेक प्रकार के रासायनिक जीवाणुनाशक घोल भी यही कार्य करते हैं जैसे एक्रीफ्लेवीन, मरक्यूरोक्रोम, बोरिक एसिड, डेटोल (Detol), लाइसोल (Lysol) इत्यादि।

३ अनेक प्रकार के तीव्रमद्य जैसे अलकोहल, स्प्रिट आदि।

४ विभिन्न शक्ति के अम्ल जैसे कार्बोलिक एसिड।

५. उबला हुआ पानी Boiled water)।

६. धूम।

सुश्रुत ने लिखा है कि शल्य चिकित्सक के बाल और नाखून छोटे होने चाहिए, उसे पवित्र रहना चाहिए और सफेद वस्त्र धारण करने चाहिए। अग्नितप्त शस्त्र द्वारा छेदन करना चाहिए। पानी को उबाल कर एक पात्र मे रखना चाहिए तथा इसे ही व्रणोपचार काम मे लेना चाहिए। इत्यादि विवरणो से सिद्ध होता है कि प्राचीन आचार्यो का ध्यान निर्विष चिकित्सा (Aseptic treatment) की ओर प्रारम्भ से था।

सक्षिप्त शल्यकर्म के समय ध्यान दने योग्य बातें —

सक्षिप्त शल्यकर्म मे आने वाले यन्त्रो शस्त्रो को शुद्ध करना और सावधानी से

चिकित्सक की सहायता करना आदि ऐसे कार्य हैं जो दिखने मे साधारण हैं परन्तु शल्य चिकित्सा मे बहुत महत्व रखते हैं। इसमे निम्न लिखित बातो का ध्यान रखना चाहिए।

१. शुद्ध किये हुए यन्त्र शस्त्र जब किसी अशुद्ध यन्त्र शस्त्र से छू जाते हैं तो वे भी अशुद्ध हो जाते हैं।

२ शुद्ध किये हुए यन्त्र शस्त्रो को शुद्ध बर्तन मे रखने चाहिए। उन्हे काम में लाने से पहिले तक ढक कर रखना चाहिए।

३ शुद्ध यन्त्र शस्त्रो को उठाने के लिए संदशयन्त्र (Forceps) का प्रयोग करना चाहिए। फोरसेप्स को प्रयोग में लाने से पहिले उबालकर साफ कर देना चाहिए तथा गहरे बर्तन (Jar) में जिसमें ताजा जीवाणुनाशक घोल हो, रखना चाहिए। फोरसेप्स को निकालते या रखते समय बर्तन के ऊपर के किनारो को नही छूना चाहिए।

फोरसेप्स के आगे के दोनो फलको को काम मे लाते समय हमेशा नीचे की तरफ रखना चाहिए।

४ शुद्ध यन्त्र शस्त्रो को निकालते समय बर्तन को सावधानी से खोलना चाहिए। उसके ढक्कन के अन्दर के हिस्से को नही छूना चाहिए। सिरिंजेस (Syrenges) भी इसी तरह निकालनी चाहिए।

५ हमेशा शुद्ध बर्तनो (Sterile Basen & Cups) को उसके पार्श्व मे या नीचे हाथ रख कर पकडना चाहिए। किनारो के ऊपर अगुलियो से कभी नही पकडना चाहिए। सब बर्तनो के ऐसे ही उठाने की आदत बनानी चाहिए।

६ जब कभी बोतलो के या बर्तनो के ढक्कन नीचे रखने हो तो हमेशा उसको उलटा करके रखना चाहिए।

७. बोतल मे से औषधि या औषधि के घोल को उलटते समय ढक्कन को इस तरह से हटाना चाहिए कि उसका नीचे का हिस्सा अशुद्ध न हो। इसके बाद किसी जीवाणुनाशक घोल (Antiseptic Solution) मे भिगोये हुए शुद्ध कपडे से बोतल के मुह को पोछ लेना चाहिए।

यन्त्र शस्त्र प्रकरण

"मन शरीराबाध कराणि शल्यानि।
तेषामाहरणा पायो यन्त्राणि॥ सु०

अर्थात् मन और शरीर को पीडा देने वालो को शल्य कहते हैं तथा उनके निकालने के उपायो का नाम यन्त्र है। यन्त्र १०१ हैं। इनमे हाथ प्रधान यन्त्र है क्योकि बिना हाथ

के यन्त्रो का सचालन नही हो सकता। वास्तव मे यन्त्रो की कोई निश्चित सख्या नही हो सकती। वे आवश्यकतानुसार घटाये या बढाये जा सकते है।

यन्त्रो के प्रकार.—

यन्त्र छ प्रकार के माने हैं —

अष्ट विध शस्त्र कर्म —

सुश्रुत ने आठ प्रकार के शस्त्र कर्म बतलाये हैं।

१ छेदन —काट कर निकाल लेना जैसे —भगन्दर श्लेष्मिक ग्रथि, अर्श और अर्बुद आदि।

२ भेदन—चीरा लगाना, जैसे विद्रधी वृद्धिरोग और शरीर मे भेदन किया जाता है।

३. लेखन —कुरचना जैसे —पोथ की (रोहे) मास कन्द आदि।

४ वेधन:—नोकदार शस्त्र से छेद करना जैसे –शिरा, मेद और जलोदर मे वेधन किया जाता है।

५ ऐषण —शल्य को ढूढने के लिए एक प्रकार की सलाका का प्रयोग करते हैं। जैसे—नाडी व्रण मे ऐषण किया जाता है।

६ आहरण.—खेन्च कर बाहर निकालना, जैसे दान्त का निकालना।

७. विस्रावण —रक्त, पूय आदि दूषित द्रव्यो को वत्ती के द्वारा खीच कर बाहर निकालने को विस्रावण कहते हैं।

८ सीवनः—सूई के द्वारा टाके लगाना, जैसे—सद्योव्रण।

व्रणो के सीवन प्रकारः—किसी जगह पर चोट लगने पर तथा बडे बडे शल्यकर्म (Operations) करने पर होने वाले व्रणो को सीने की आवश्यकता पडती है। इनको सीने के लिये एक विशेष प्रकार की सूई काम मे आती है, जिसे सूचरिंग नीडल (Suturing Needle) कहते हैं। यह तीन प्रकार की होती है।

१. सीधी सूई (Straight Needle)।

२ वृत्ताकार सूई (Curved Needle)।

२ अर्धवृत्ताकार सूई (Half Curved Needle) व्रण को सीने के लिये निम्न वस्तुओ को काम मे लेते हैं। जैसेः—चादी का तार, घोडे का बाल, रेशम का धागा, केट-कट, शिल्क वर्ग कट।

सीवन दो प्रकार की होती है —

१. बहिः सीवन । २ अन्त. सीवन ।

१ बहि सीवन —बहि.सीवन का प्रयोग अधिकतर किया जाता है। इसमे टाको के द्वारा वृण के दोनो किनारो का मिला कर सी देते है। इस सीवन मे चादी का तार, घोडे का बाल, रेशम के धागे का ज्यादा प्रयोग किया जाता है।

२ अन्त सीवन—अन्त. सीवन का प्रयोग ज्यादातर बडे शल्यकर्म (Major operations) मे अन्दर की रचनाओ को सीने के लिए किया जाता है। इसके लिये "केटकाट" धागे का प्रयोग करते हैं। यह धागा कुछ समय के बाद स्वयमेव शरीर मे घुल जाता है।

वृणो मे सीवन कई प्रकार से की जाती है, जिसमे निम्न दो मुख्य हैं।

१ सविच्छेद सावन (Interupted)।

२. अविच्छेद सीवन (Uninterupted) ।

१ सविच्छेद सीवन (Interupted) टाके एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। उचित आकार की सूई को लेकर उसमे ६" के करीब धागा डाल दिया जाता है। शल्यकर्ता सूई को अगूठे और तर्जनी अगुली के द्वारा पकड कर अथवा चिमटी (सन्दश यन्त्र) से पकड कर उचित स्थान पर सूई को प्रविष्ट करता है। सूई वृण के भीतर की ओर निकल आती है। इसके बाद उसको वृण के दूसरे किनारे मे प्रविष्ट करके चमडी के बाहर उतनी दूरी पर निकालते हैं, जितनी दूरी पर प्रविष्ट किया था। इस समय सूई को धागे से अलग कर देते हैं। इस प्रकार धागे के बीच का भाग, वृण के भीतर और उसके दोनो सिरे किनारो से बाहर को निकले रहते हैं। इन दोनो सिरो को दोनो हाथो मे पकड कर रीफ गाठ (Reef knot) लगाई जाती है। गाठ बाधने के बाद धागे का जितना भाग शेष रह जाता है, उसे काट देते है। परन्तु आधा इन्च के लगभग धागा गाठ के साथ छोड दिया जाता है, इससे टाको को काट कर निकालने मे सुविधा होती है।

२. अविच्छेद सीवनः—(Uninterupted) इसमे टाके अलग नही होते, वे निरन्तर रहते हैं। लगाने का तरीका स्पष्ट है। धागे का वह भाग जो त्वचा के नीचे है टूटी हुई रेखा मे दिखलाया गया है। त्वचा के ऊपर का भाग साफ रेखा मे बताया गया है।

बन्धनकर्म (Bandaging)

तत्र कोष दाम स्वस्तिकानुवेल्लित प्रतोली मण्डल ।
स्थगिका यमक खट्वा चीन विबन्ध वितान गोषणा. ।
पञ्चाङ्गी चेति चतुर्दश बन्ध विशेषाः ।
तेषा नामभिरेवाकृतय प्रायेण व्याख्याताः। सु० सू० १८-१८

आधुनिक युग मे जो बन्धन विधिया प्रयुक्त होती हैं। वे प्राय: करके सुश्रुत मे लिखी गई बन्धन विधियो के अनुसार ही हैं। अत प्राचीन काल मे उपयोग मे आने वाली बन्धन विधियो का आधुनिक बन्धन विधियो के साथ तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। सुश्रुत ने लिखा है कि इन बन्धनो की आकृति का उनके नाम से ही ज्ञान कर लेना चाहिए। अत इन बन्धनो की व्याख्या करनो आवश्यक हो जाती है।

(१) कोशबन्ध (Sheath Bandage) इसकी आकृति तलवार की म्यान के समान होती है। इसका उपयोग अगूठा और अगुली के बान्धने के लिए होता है।

(२) दामबन्ध

"दाम सम्बाधे ङ्गे" तग तथा एठनयुक्त अग मे बान्धा जाता है। पीडायुक्त अगो की पीडा को दूर करने के लिए इस बन्धन का उपयोग होता है। कुछ लोग इसका आकार माला के समान और दूसरे लोग चौपाए की पूछ के समान मानते हैं। आधुनिक शल्य चिकित्सा के ग्रन्थो मे इसके समान नाम वाला नही मिलता है।

(३) स्वस्तिक बन्ध

यह बन्धन अधिकतर सन्धि, कूर्च, स्तनो के बीच का भाग, हस्ततल पादतल और कान मे लगाया जाता है। अससन्धि के विश्लेष मे भी इसी बन्धन के लगाए जाने का विधान है। इसे Cross Bandage, Spica or Figure of Bandage कह सकते हैं।

(४) अनुवेल्लित बन्ध

इस प्रकार का बन्धन शाखाओ मे सन्धिस्थान को छोड कर लगाया जाता है। बेल या लता जिस प्रकार नीचे से ऊपर को चढती है उसी प्रकार बन्धन शरीर पर नीचे से ऊपर को लपेटा जाता है। इसे आधुनिक चिकित्सा पद्धति मे Spiral Bandage या Encircling Bandage कहते हैं।

(५) प्रतोलीबन्ध या मुत्तोलीबन्ध

एक प्रकार का चौडा बन्धन है जिसका उपयोग ग्रीवा और मेढ् के व्रणो के बन्धन में होता है।

(६) मण्डल बन्ध

वृत्ताकार गोल बाधने को कहते हैं। इसका उपयोग शरीर के गोल भागो पर बन्धन कर्म मे होता है। जैसे बाहु, उदर, उरु और पीठ मे इसे आधुनिक चिकित्सा पद्धति मे Circular Bandage कह सकते हैं।

(७) स्थगिका बन्ध

अगूठा, अगुलि और मेढ्राग्र मे इसके बान्धने का विधान है। इसको कोशबन्ध के

साथ समानताहै। कुछ लोग इसकी समानता पान की डब्बी के ढक्कन के साथ करते हैं। आधुनिक चिकित्सा मे इसकी समानता (Stump Bandage) से की जाती है। शाखाओ के कटने के बाद जो ठूठ रह जाता है उसे बान्धने मे इसका उपयोग करते हैं। सुश्रुत ने चिकित्सा मे मूत्रवृद्धि से जल निकालने के बाद अण्डकोष मे इसी बन्धन के बाधने को कहा है। अत. कार्य की दृष्टि से Supporter Bandage से इसकी समानता कर सकते है।

(८) यमक बन्ध.—

एक ही पट्टी के द्वारा एक ही अग पर स्थित दो व्रणो को वाधा जाता है।

(९) खट्वा बन्ध —

यह चार पट्टो का बना हुवा बन्धन है। इसको चतुर्बाहु बन्ध भी कहते हैं। इसका उपयोग शखप्रदेश, अनूप्रदेश, कपोल प्रदेश पर किया जाता है आधुनिक चिकित्सा मे इसे Four Tailed Bandage कह सकते हैं।

१० चीन बध —

आँख के बन्धनो मे इसका उपयोग किया जाता है। आधुनिक चिकित्सा मे इसे Eye Bandage कह सकते है।

(११) विबन्ध बन्ध —

यह बन्धन उदर प्रदेश, उरः प्रदेश और पृष्ट प्रदेश मे लगाया जाता है। यह बन्धन एक बडे कपड मे कई चीरे लगा कर बनाया जाता है। आधुनिक चिकित्सा मे इसे Many taibel Bandage कह सकते हैं।

(१२) वितान बन्ध —

शामीयाना की तरह यह बन्धन शिर पर फैलाया है। शिर की चोट मे इसका उपयोग करते है। आजकल इस प्रकार का बन्धन दो पट्टियो को मिला कर बनाया जाता है इसमे एक पट्टी मस्तक को चारो तरफ घेरती है तथा दूसरी सिर पर ऊपर से घेरती है। पट्टी के पूरी तरह बन्ध जाने पर इसकी आकृति पगडी के समान हो जाती है। आधुनिक चिकित्सा मे इसे Capheline Bandage कह सकते हैं।

(१३) गोफणा बन्ध —

इसका उपयोग ठोढी, नाक, होठ अस और बस्ति मे बन्धन के लिये होता है। गोफणा शब्द का अर्थ है एक प्रकार का साधन जिसके द्वारा चिडियो से खेत की रखवाली की जाती है यह तिकोनी पट्टी द्वारा बनाया जाता है। आधुनिक चिकित्सा मे इसे Arm Sling Bandage कह सकते है। स्थान और कार्य की दृष्टि से इसे T Bandage कह सकते है। इसका उपयोग गुदा और वृषण के व्रणो के लिए किया जाता है।

(१४) पञ्चाङ्ग बन्ध—

इस बन्धन मे पाच पट्ट होते हैं एक ऊपर की तरफ और चार नीचे की तरफ स्थान की दृष्टि से इसका उपयोग जन्तु के ऊपर के भागो मे होता है।

(१५) उत्सङ्ग बन्धः—

वाग्भट्ट ने इसका वर्णन किया है। वर्णन के अनुसार यह गले से बाहु को लटकाने के काम आता है। आधुनिक चिकित्सा के अनुसार इसे Arm Sling Bandage कह सकते हैं।

इस प्रकार सुश्रुत ने चौदह और वाग्भट्ट ने पन्द्रह बन्धनो का वर्णन किया है।

शस्त्र चिकित्सा मे बन्धेज का बहुत काम पडता है। प्रत्येक व्रणोपचार बन्धेज लगा कर समाप्त किया जाता है। यदि कही अस्थिभग्न हो जाता है तो वहा भी कुशा को पट्टी द्वारा बान्धा जाता है। इस कारण पट्टियो का बाधना शस्त्र चिकित्सा का मुख्य कर्म है।

बन्ध का उद्देश्य —

१, बन्धेज लगाने का उद्देश्य यह है कि जो अङ्ग घायल हो गया है उसे सुरक्षित रखा जाय।

२. घाव की दवा, गद्दी व रूई आदि अपने स्थान पर रहे।

३ बाहर के विषले कीटाणु घाव मे प्रवेश न कर सके।

४ रोगी को पीडा या कष्ट कम हो जाय।

उत्तम बन्ध —

१ वह है जो सारे स्थान पर एक समान भार डाले और अङ्ग को सुरक्षित रखे।

२ बन्ध न इतना सख्त हो जिससे रक्तसचार बन्द हो जाय और रोगी को कष्ट पहुचे और न इतना ढीला हो जिससे औषधि, रूई आदि अपने स्थान से हट जाय। उत्तम बन्ध से अङ्ग को विश्राम मिलता है और बुरे बन्धन से दु:ख मिलता है।

बन्धेज वस्त्र —

बन्धेज लगाने के लिए किसी भी साधारण वस्त्र का उपयोग किया जा सकता है। वस्त्र चिकना, दृढ और स्वच्छ होना चाहिए। इसके लिए गाज, मलमल, लट्ठा, फलालेन इत्यादि का उपयोग किया जाता है।

बधेजो का आकार —

१. ६ इन्च चौडे और ८ गज लम्बे—इनका अधिक प्रयोग नही होता। ये वक्ष प्रदेश पर लपेटने मे काम आते हैं।

२ २॥ इन्च चोडे और ४ गज लम्बे —इनका अधिक प्रयोग होता है। व्रण इत्यादि को बाधने मे तथा कुक्षा आदि को बाधने मे इनका प्रयोग किया जाता है।

३. १½ इन्च चोडे और ८ फुट लम्बे —इनका प्रयोग भी अधिक होता है। शाखाओ के व्रणो पर इसी आकार के बन्ध लगाये जाते हैं।

४. ½ इन्च चोडे और ४ फुट लम्बे —ये छोटी आकार के बन्धन अगूठे और उगलियो पर विशेष रूप से बाधे जाते हैं।

इसके अतिरिक्त दूसरी प्रकार के बन्धन आवश्यकतानुसार बना कर बाधे जाते है।

बन्धेज प्रकार —

पट्टी तीन प्रकार की होती है।

१. लम्बी पट्टी (Roller Bandage) यह अङ्ग के चारो ओर लपेट कर बाधी जाती है।

२. तिकोनी पट्टी (Triangular Bandage) इसको मोड कर अङ्ग पर बाधते है।

३ चिरेदार (Tiled Bandage) यह कपड़े को दोनो ओर चीर कर और चिरें बनाकर बाधी जाती है।

साधारणत लम्बी पट्टी (Roller Bandage) ही बाधने के काम आती हैं। इन्हे बाधते समय निम्न बातो को विशेष ध्यान मे रखना चाहिए।

(१) पट्टी को हाथो से लपेट कर उसका एक छोटा बेलन बना लिया जाता है। इसको लपेटने के लिए एक मशीन भी आती है।

(२) पट्टी का बेलन मजबूत और एक समान लिपटा होना चाहिए।

(३) प्रत्येक पट्टी के एक शिर और एक पूछ (tail) होता है। जो भाग पहले अङ्ग पर लपेटा जाता है वह शिरा और दूसरा जो अन्त पर रहता है पूंछ कहलाता है।

(४) बन्धेज के दो पृष्ठ होते हैं एक पूर्व (Anterior) जो लगाने वाले की ओर रहता है। दूसरा पश्चिम (Posterior) जो पीछे रहता है।

(५) बेलन को इस प्रकार पकडना चाहिए कि रोगी के बायें अग पर पट्टी बाधते समय बेलन चिकित्सक की ओर दाहिने हाथ मे और पट्टी का शिरा बायें हाथ में रहे। इससे पट्टी का पश्चिम पृष्ठ रोगी के अङ्ग के सम्पर्क मे रहेगा।

(६) पट्टी सदा भीतर से बाहर की ओर को लगानी चाहिए। अर्थात् बेलन अग के भीतर की ओर से आरम्भ होकर अग के ऊपर होता हुआ बाहर की ओर वहा से फिर अङ्ग के नीचे होता हुआ।

कॅथिटर और उनका उपयोग

इनका आकार लम्बी नली के समान होता है जिसके आगे का भाग मुडा होता है। इनके अगले सिरे पर पार्श्व की ओर एक लम्बा छिद्र होता है जिसे कॅथिटर का नेत्र (Eye) कहते हैं। इसमे होकर मूत्र कॅथिटर मे प्रवेश करता है। ये कॅथिटर ३ प्रकार के होते हैं।

१ रबर कॅथिटर।
२. गम ईलास्टिक कॅथिटर।
३ मेटल कॅथिटर।

रबर के कॅथिटर सब से कोमल होते हैं। दूसरे प्रकार के कॅथिटर रबर के कॅथिटरो से कडे किन्तु धातु के कॅथिटरो से नरम होते हैं। इनको चाहे जैसे मोड सकते है। और जब तब इनको दूसरी तरफ न मोडा जाय तब तक वह उसी दशा मे रहते है। मूत्र मार्ग के भीतर ये स्वय ही मुडते चले जाते हैं। इनके प्रयोग के समय भी बल नही लगाना चाहिये। ये दोनो प्रकार के कॅथिटर प्राय. न० १२ तक के आते है। १२ नम्बर सब से मोटा होता है।

धातु के कॅथिटर प्राय निकल अथवा चादी के बनाये जाते हैं। चादी की अपेक्षा के कॅथिटर की चमक शीघ्र नष्ट हो जाती है।

ये कॅथिटर आगे की ओर से मुडे होते हैं। यह भाग अत्यन्त स्वच्छ और चिकना होता है।

कॅथिटर द्वारा मूत्र निकालने के लिये सब से पहले रबर के कॅथिटर का प्रयोग करना चाहिये। इनसे किसी का भय नही रहता। जब इनसे सफलता नही मिलती तब गम इलास्टिक कॅथिटर का प्रयोग किया जाता है। धातु के कॅथिटरो का अन्त मे प्रयोग करते हैं। नवशिक्षितो को इसका प्रयोग नही करना चाहिये।

कॅथिटरो की शुद्धि—प्रयोग करने से पहिले कॅथिटरो को अच्छी तरह शुद्ध करना चाहिये। इनके शुद्ध न करने से मूत्राशय मे शोथ हो सकती है। रबर और धातु के कॅथिटरो अन्य यन्त्रो की भाति जल मे उबाल कर शुद्ध किये जाते हैं। इनको १० मिनट तक उबालना चाहिये।

गम इलास्टिक के कॅथिटरो को फोरमेलिन के द्वारा शुद्ध किया जाता है। इसके लिये एक विशेष आकार का पात्र आता है जिसमे दो खड होते हैं। ऊपर के खड मे कॅथिटर रखे जाते हैं और निचले खड मे फोरमेलिन की टिकियाँ या तरल फोरमेलिन रहती है। पात्र के नीचे स्पिरिट लेम्प रहता है। फोरमेलिन से जो वाष्प उत्पन्न होता है वह कॅथिटरो को पूर्ण शुद्ध कर देता है।

औरतो का पेशाब निकालना

उपकरणः—१ स्टरलाइज कैथिटर।

२ स्टरलाइज प्याला।

३ प्याला जिसमे गर्म बोरिक लोशन हो।

४. पेशाब के लिये स्टरलाइज वर्तन।

५ मोमजामा।

विधि—बीमार को पीठ के बल लिटा कर रखना चाहिय। उसके उरू और उदर के प्रान्त को शुद्ध तौलिया से ढक देना चाहिये। कैथिटर डालने से पहले धात्री को अपने हाथ अच्छी तरह शुद्ध करने चाहियें। दूसरी धात्री को उसकी सहायता के लिये तैयार रहना चाहिये। सबसे पहले उस नर्स को जिसके हाथ शुद्ध हैं रुग्ण के दोनो भगोष्ठो (Labias) को अपने बाये हाथ के अगूठे और अगुली की सहायता से पृथक करना चाहिये। अब उसे भगोष्ठो के बीच के भाग को बोरिक लोशन से पोछना चाहिये। पोछते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि फोये को ऊपर से नीचे की तरफ ले जाना चाहिये। जिससे कि गुदा के पास से कोई सक्रमण मूत्रमार्ग तक न पहुच जाय। आखिरी फोये को योनि मे ही रखना चाहिये, जिससे योनि का सक्रमण मूत्रमार्ग तक न पहुच जाय। इसके बाद स्टरलाइज बरतन को रोगी की टागो के बीच रखना चाहिये।

कैथिटर को जहा तक हो सके हलका पकडना चाहिये। अब कैथिटर को धीरे से मूत्रमार्ग के छेद मे प्रविष्ट करना चाहिये। प्रविष्ट करते समय ध्यान रखना चाहिये कि कैथिटर दूसरी किसी जगह पर न छूये। यदि छूना है तो दूसरा कैथिटर काम मे लेना चाहिये। यदि बीमार अपने आपको तग रखता है तो उसे कहना चाहिये कि वह मुंह खोल कर गहरी सास लेवे। इससे शरीर ढीला हो जाता है। जब कैथिटर निकालना हो तो नर्स को चाहिये कि वह उसे दबा कर या उसके सिरे पर अगुली रख कर बाहर निकाले। जिससे कि बची हुई पेशाब विस्तर पर न गिरे।

यदि आदेश दिया गया हो तो पेशाब को नापना चाहिये। या जाच के लिये रखना चाहिये। पेशाब निकालने के बाद रोगी को पोछ कर सुला करके उसे आराम से रखना चाहिय।

आदमियो का पेशाब निकालना

उपकरण—१ स्टरलाइज कैथिटर।

२ स्टरलाइज प्याला।

३ प्याला जिसमे गर्म बोरिक लोशन हो।

४ पेशाब के लिये स्टरलाइज बर्तन ।

५ मोमजामा ।

विधि —सर्व प्रथम धात्री कल्पद को अपने हाथो को पूरी तरह शुद्ध करना चाहिये। इसके बाद लिंग (Penis) को शरीर से ६०^{0} के कोण पर पकडना चाहिये और उसके आगे की त्वचा को हटा कर किसी जीवाणुनाशक घोल से साफ करना चाहिये। कभी २ इस जगह पर स्टरलाइज गाज बाध देते है। अब कैथिटर को अन्त से दो इन्च की दूरी पर स्टरलाइज क्लाम्प से या हाथ से पकड कर दूसरे सिरे को तेल मे डुबो कर धीरे धीरे मूत्र मार्ग मे प्रविष्ट करते हैं। जब तक कि पेशाब न आने लग जाय। कैथिटर डालते समय जोर कभी नही लगाना चाहिये।

आँख, नाक, गले और कान में प्रविष्ट द्रव्यो को निकालने की युक्ति —

(१) नाक मे प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in the Nose)

मटर आदि कई प्रकार के बीज और इनके समान अन्य पदार्थ नाक मे फस जाया करते हैं और जब इनको निकालने का प्रयत्न किया जाता हैं तो वे और ज्यादा अन्दर चले जाते हैं और व्यक्ति को कष्ट पहुँचता है। इसलिए इनको बाहर निकालना अत्यावश्यक हो जाता है। इसके लिए निम्न उपाय काम मे लाते हैं —

(१) प्राय. करके जिस जगह यह पदार्थ फसा हुआ होता है वहा की श्लैष्मिक कला उत्तेजित होती है जिससे व्यक्ति को छीक आकर पदार्थ बाहर निकल आता है।

(२) कई बार छीक नही आती है परन्तु नाक की श्लैष्मिक कला के उत्तेजित होने से नासास्राव होने लगता है जिसमें फसा हुआ पदार्थ चिकना होकर बाहर आ जाता है। मटर जैसे बीजो के दाने फूल जाते हैं और नाक मे ज्यादा फस जाते हैं परन्तु इनका फसना अस्थाई होता है क्योकि मटर फूल कर चिकने हो जाते है और नाक के सिडकने पर बाहर आ जाते हैं।

(३) किसी तार के टुकड़े को आगे से वडिश (Hook) की तरह मोड देते हैं और फिर इसको नाक मे फसे हुए पदार्थ के साथ लेजा कर घुमा देते हैं और हुक को बाहर खीच कर पदाथ को भी निकाल देते हैं। आजकल इस कार्य के लिए एक प्रकार का यन्त्र आता है जिसे शल्य निष्कासक यन्त्र (Foreign body remover or Aural Hook) कहते हैं। इससे पकड कर भी निकाल सकते हैं।

(४) यदि जलोका (Leech) नाक मे फस जाती है तो नाक को नमकीन पानी (Salt water) से धोते हैं। इसको धोने के लिए पिचकारी का प्रयोग करना चाहिए। यदि पिचकारी नही मिलती हो तो केवल लवणजल को नाक मे सूंसना चाहिए।

२ २॥ इन्च चौडे और ४ गज लम्बे —इनका अधिक प्रयोग होता है। व्रण इत्यादि को बाधने मे तथा कुशा आदि को बाधने मे इनका प्रयोग किया जाता है।

३. १' इन्च चौडे और ८ फुट लम्बे —इनका प्रयोग भी अधिक होता है। शाखाओ के व्रणो पर इसी आकार के बन्ध लगाये जाते हैं।

४ ¾ इन्च चौडे और ४ फुट लम्बे —ये छोटी आकार के बन्धन अगूठे और उगलियो पर विशेष रूप से बाधे जाते हैं।

इसके अतिरिक्त दूसरी प्रकार के बन्धन आवश्यकतानुसार बना कर बाधे जाते है।

बन्धेज प्रकार —

पट्टी तीन प्रकार की होती है।

१. लम्बी पट्टी (Roller Bandage) यह अङ्ग के चारो ओर लपेट कर बाधी जाती है।

२ तिकोनी पट्टी (Triangular Bandage) इसको मोड कर अङ्ग पर बाधते है।

३ चिरेदार (Triled Bandage) यह कपड़े को दोनो ओर चीर कर और चिरें बनाकर बाधी जाती है।

साधारणत लम्बी पट्टी (Roller Bandage) ही बाधने के काम आती है। इन्हे बाधते समय निम्न बातो को विशेष ध्यान मे रखना चाहिए।

(१) पट्टी को हाथो से लपेट कर उसका एक छोटा बेलन बना लिया जाता है। इसको लपेटने के लिए एक मशीन भी आती है।

(२) पट्टी का बेलन मजबूत और एक समान लिपटा होना चाहिए।

(३) प्रत्येक पट्टी के एक शिर और एक पूछ (tail) होता है। जो भाग पहले अङ्ग पर लपेटा जाता है वह शिरा और दूसरा जो अन्त पर रहता है पूंछ कहलाता है।

(४) बन्धेज के दो पृष्ठ होते हैं एक पूर्व (Anterior) जो लगाने वाले की ओर रहता है। दूसरा पश्चिम (Posterior) जो पीछे रहता है।

(५) बेलन को इस प्रकार पकडना चाहिए कि रोगी के बायें अग पर पट्टी बाधते समय बेलन चिकित्सक की ओर दाहिने हाथ मे और पट्टी का शिरा बाये हाथ मे रहे। इससे पट्टी का पश्चिम पृष्ठ रोगी के अङ्ग के सम्पर्क मे रहेगा।

(६) पट्टी सदा भीतर से बाहर की ओर को लगानी चाहिए। अर्थात् बेलन अग के भीतर की ओर से आरम्भ होकर अग के ऊपर होता हुआ बाहर की ओर वहा से फिर अङ्ग के नीचे होता हुआ।

कैथिटर और उनका उपयोग

इनका आकार लम्बी नली के समान होता है जिसके आगे का भाग मुडा होता है। इनके अगले सिरे पर पार्श्व की ओर एक लम्बा छिद्र होता है जिसे कैथिटर का नेत्र (Eye) कहते हैं। इसमे होकर मूत्र कैथिटर मे प्रवेश करता है। ये कैथिटर ३ प्रकार के होते हैं।

१ रबर कैथिटर।

२. गम ईलास्टिक कैथिटर।

३ मेटल कैथिटर।

रबर के कैथिटर सब से कोमल होते हैं। दूसरे प्रकार के कैथिटर रबर के कैथिटरो से कड़े किन्तु धातु के कैथिटरो से नरम होते हैं। इनको चाहे जैसे मोड सकते हैं। और जब तब इनको दूसरी तरफ न मोड़ा जाय तब तक वह उसी दशा मे रहते हैं। मूत्र मार्ग के भीतर ये स्वय ही मुडते चले जाते हैं। इनके प्रयोग के समय भी बल नही लगाना चाहिये। ये दोनो प्रकार के कैथिटर प्राय न० १२ तक के आते है। १२ नम्बर सब से मोटा होता है।

धातु के कैथिटर प्राय निकल अथवा चादी के बनाये जाते हैं। चादी की अपेक्षा के कैथिटर की चमक शीघ्र नष्ट हो जाती है।

ये कैथिटर आगे की ओर से मुडे होते हैं। यह भाग अत्यन्त स्वच्छ और चिकना होता है।

कैथिटर द्वारा मूत्र निकालने के लिये सब से पहले रबर के कैथिटर का। प्रयोग करना चाहिये। इनसे किसी का भय नही रहता। जब इनसे सफलता नही मिलती तब गम इलास्टिक कैथिटर का प्रयोग किया जाता है। धातु के कैथिटरो का अन्त में प्रयोग करते हैं। नवशिक्षितो को इसका प्रयोग नही करना चाहिये।

कैथिटरो की शुद्धि—प्रयोग करने से पहिले कैथिटरो को अच्छी तरह शुद्ध करना चाहिये। इनके शुद्ध न करने से मूत्रशाय मे शोथ हो सकती है। रबर और धातु के कैथिटरो अन्य यन्त्रो की भाति जल मे उबाल कर शुद्ध किये जाते हैं। इनको १० मिनट तक उबालना चाहिये।

गम इलास्टिक के कैथिटरो को फोरमेलिन के द्वारा शुद्ध किया जाता है। इसके लिये एक विशेष आकार का पात्र आता है जिसमे दो खड होते हैं। ऊपर के खड में कैथिटर रखे जाते हैं और निचले खड मे फोरमेलिन की टिकियाँ या तरल फोरमेलिन रहती है। पात्र के नीचे स्पिरिट लेम्प रहता है। फोरमेलिन से जो वाष्प उत्पन्न होता है वह कैथिटरो को पूर्ण शुद्ध कर देता है।

औरतो का पेशाब निकालना

उपकरणः—१ स्टरलाइज कैथिटर।
२ स्टरलाइज प्याला।
३ प्याला जिसमे गर्म बोरिक लोशन हो।
४ पेशाब के लिये स्टरलाइज वर्तन।
५ मोमजामा।

विधि—बीमार को पीठ के बल लिटा कर रखना चाहिय। उसके उरू और उदर के प्रान्त को शुद्ध तौलिया से ढक देना चाहिये। कैथिटर डालने से पहले धात्री को अपने हाथ अच्छी तरह शुद्ध करने चाहिये। दूसरी धात्री को उसकी सहायता के लिये तैयार रहना चाहिये। सबसे पहले उस नर्स को जिसके हाथ शुद्ध हैं रुग्ण के दोनो भगोष्ठो (Labias) को अपने बाये हाथ के अगूठे और अगुली की सहायता से पृथक करना चाहिये। अब उसे भगोष्ठो के बीच के भाग को बोरिक लोशन से पोछना चाहिये। पोछते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि फोये को ऊपर से नीचे की तरफ ले जाना चाहिये। जिससे कि गुदा के पास से कोई सक्रमण मूत्रमार्ग तक न पहुच जाय। आखिरी फोये को योनि मे ही रखना चाहिये, जिससे योनि का सक्रमण मूत्रमार्ग तक न पहुच जाय। इसके बाद स्टरलाइज बरतन को रोगी की टागो के बीच रखना चाहिये।

कैथिटर को जहा तक हो सके हलका पकडना चाहिये। अब कैथिटर को धीरे से मूत्रमार्ग के छेद मे प्रविष्ट करना चाहिये। प्रविष्ट करते समय ध्यान रखना चाहिये कि कैथिटर दूसरी किसी जगह पर न छूये। यदि छूना है तो दूसरा कैथिटर काम मे लेना चाहिये। यदि बीमार अपने आपको तग रखता है तो उसे कहना चाहिये कि वह मुंह खोल कर गहरी सास लेवे। इससे शरीर ढीला हो जाता है। जब कैथिटर निकालना हो तो नर्स को चाहिये कि वह उसे दबा कर या उसके सिरे पर अगुली रख कर बाहर निकाले। जिससे कि बची हुई पेशाब बिस्तर पर न गिरे।

यदि आदेश दिया गया हो तो पेशाब को नापना चाहिये। या जाच के लिये रखना चाहिये। पेशाब निकालने के बाद रोगी को पोछ कर सुला करके उसे आराम से रखना चाहिय।

आदमियो का पेशाब निकालना

उपकरण—१ स्टरलाइज कैथिटर।
२ स्टरलाइज प्याला।
३ प्याला जिसमे गर्म बोरिक लोशन हो।

४ पेशाब के लिये स्टरलाइज बर्तन।

५ मोमजामा।

विधि —सर्व प्रथम धात्री कल्पद को अपने हाथो को पूरी तरह शुद्ध करना चाहिये। इसके बाद लिंग (Penis) को शरीर से ६०° के कोण पर पकडना चाहिये और उसके आगे की त्वचा को हटा कर किसी जीवाणुनाशक घोल से साफ करना चाहिये। कभी २ इस जगह पर स्टरलाइज गाज बाध देते है। अब कैथिटर को अन्त से दो इन्च की दूरी पर स्टरलाइज क्लाम्प से या हाथ से पकड कर दूसरे सिरे को तैल मे डुबो कर धीरे धीरे मूत्र मार्ग मे प्रविष्ट करते हैं। जब तक कि पेशाब न आने लग जाय। कैथिटर डालते समय जोर कभी नही लगाना चाहिये।

आँख, नाक, गले और कान में प्रविष्ट द्रव्यो को निकालने की युक्ति —

(१) नाक मे प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in the Nose)

मटर आदि कई प्रकार के बीज और इनके समान अन्य पदार्थ नाक मे फस जाया करते हैं और जब इनको निकालने का प्रयत्न किया जाता हैं तो वे और ज्यादा अन्दर चले जाते हैं और व्यक्ति को कष्ट पहुँचता है। इसलिए इनको बाहर निकालना अत्यावश्यक हो जाता है। इसके लिए निम्न उपाय काम मे लाते हैं —

(१) प्राय. करके जिस जगह यह पदार्थ फसा हुआ होता है वहा की श्लैष्मिक कला उत्तेजित होती है जिससे व्यक्ति को छीक आकर पदार्थ बाहर निकल आता है।

(२) कई बार छीक नही आती है परन्तु नाक की श्लैष्मिक कला के उत्तेजित होने से नासास्राव होने लगता है जिसमें फसा हुआ पदार्थ चिकना होकर बाहर आ जाता है। मटर जैसे बीजो के दाने फूल जाते हैं और नाक मे ज्यादा फस जाते हैं परन्तु इनका फसना अस्थाई होता है क्योकि मटर फूल कर चिकने हो जाते है और नाक के सिडकने पर बाहर आ जाते हैं।

(३) किसी तार के टुकडे को आगे से वडिश (Hook) की तरह मोड देते हैं और फिर इसको नाक मे फसे हुए पदार्थ के साथ लेजा कर घुमा देते हैं और हुक को बाहर खीच कर पदाथ को भी निकाल देते हैं। आजकल इस कार्य के लिए एक प्रकार का यन्त्र आता है जिसे शल्य निष्कासक यन्त्र (Foreign body remover or Aural Hook) कहते हैं। इससे पकड कर भी निकाल सकते हैं।

(४) यदि जलौका (Leech) नाक मे फस जाती है तो नाक को नमकीन पानी (Salt water) से धोते हैं। इसको धोने के लिए पिचकारी का प्रयोग करना चाहिए। यदि पिचकारी नही मिलती हो तो केवल लवणजल को नाक मे चूंसना चाहिए।

(२) कान मे प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in the Ear)

(१) कीड़े मकोडे (Insects) जब कान मे घुस जाते हैं तो उनके चलने से कान मे पीडा होती है ऐसी अवस्था मे साधारण तैल को गरम करके कान मे डालते हैं जिससे कीड़े मर जाते है और फिर उन्हे बाहर निकाल देते हैं।

(२) मटर आदि के बीज कान मे फस जाते हैं। इस अवस्था मे कान मे गरम पानी का फोया डाला जाता है। इसको कुछ समय तक रखते हैं इससे बीज मुलायम हो जाते हैं। इसके बाद कान के छेद को नीचे की तरफ रखते है और इस अवस्था मे कर्ण मे पिचकारी लगाई जाती है जिससे बीज बाहर निकल आते हैं।

यदि मटर का बीज कान मे फूला नही है तो उसे कान मे केवल तैल की पिचकारी लगा कर निकाल सकते हैं।

(३) किसी तार का फन्दा (Wire loop) बना कर भी कान से वस्तु को निकाल सकते हैं जैसा कि नाक से निकालने मे किया था। यदि कान मे फसी हुई चिमटी (forceps) की पकड मे हो तो उससे पकड कर निकाल सकते हैं।

आजकल ऐसे पदार्थों को निकालने के लिए शल्य निष्कासक यन्त्र (Foreign body remover) or (Aural Hook) प्रयोग मे लाते हैं।

(४) एक पतली शलाका को लेकर उसके ऊपर पतली रूई लपेट कर मजबूत फुरैरी बनाई जाती है। इसको गाढे गोद, लेई या सरेश (glue) मे डुबो कर फिर हलका पोछ देते हैं। इस प्रकार बनी हुई फुरैरी को कान मे ले जाते हैं और अन्दर फसे हुए पदार्थ के पास रख देते है और इसे कुछ समय तक वही रहने देते हैं। सूखने पर फुरैरी को खीच कर पदार्थ को बाहर निकाल देते हैं।

इन सब क्रियाओ को करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कान के दूसरी तरफ मुलायम कान का पर्दा होता है। पिचकारी तेज लगाने से या शलाका का गलत प्रयोग करने से पर्दे को हानि पहुँच सकती है और व्यक्ति सदा के लिए बधिर हो सकता है।

(३) आंख मे प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in the eye)

(१) आख में पडे हुए साधारण पदार्थ जैसे धूलि के कण, छोटे छोटे कीडे मकोडे इत्यादि हाथ की हथेली मे पानी भर कर उसमे आख को खोलने और बन्द करने से निकल जाते है और आख साफ हो जाती है।

(२) यदि कोई पदार्थ आँख की पलक के साथ चिपक गया है और ऊपर की विधि से न पृथक होता हो तो हाथ मे रूई या गाज का स्वच्छ टुकडा ले कर उससे आख को

पोछ लेना चाहिए। यदि वस्तु पलक के अन्दर की तरफ लगी हो तो पलक को उलट देना चाहिए और वस्तु को पोछ लेना चाहिए।

(३) कई बार रेलगाडी मे यात्रा करते हुए कोयले की चिनगारी आख मे लग जाती है जिससे आख मे व्रण बन जाता है। रेत के कणो के लगने से भी व्रण बन जाता है। ऐसी अवस्था मे शुद्ध एरण्ड स्नेह (Pure Castor oil) आख मे डालने से लाभ होता है। इससे वस्तु चिकनी हो कर आख के कोने मे आ जाती है और बाहर निकल जाती है।

कई बार आख से वस्तु तो बाहर निकल जाती है परन्तु उसका व्रण रह जाता है जिससे आख मे पीडा होने लगती है। इस अवस्था मे भी शुद्ध एरण्ड स्नेह के डालने से अच्छा लाभ होता है। Penicillin eye ointment भी लाभदायक है।

(४) लोहे का काम करने वालो को आख मे लोहे के छोटे छोटे टुकडे पड जाते हैं और वे पीडा करते हैं। इन टुकडो को हल्की चुम्बक (Light Megnet) का उपयोग करके निकालते हैं।

कई बार गावो मे चुम्बक नही मिलता है। ऐसी अवस्था मे परिस्रुत जल मे बनाया हुआ हलका तुत्थ घोल (DiI Copper Sulphate Solution 3 grs in one ounce) को आँख मे डालते हैं। इससे लोहे के कण घुल जाते है और उस जगह से हट जाते हैं जिन्हे धो कर निकाला जा सकता है।

(५) कई बार काटेदार चीज आख मे चुभ जाती है उसको स्वच्छ सूचिका से पृथक कर सकते हैं।

(४) गले मे प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in the throat)

रोगी के शिर को पीछे की तरफ कर देना चाहिए और जीभ को बाहर की तरफ खीचना चाहिए। इसके बाद टोर्च द्वारा प्रकाश डाल करके प्रविष्ट द्रव्य की वास्तविक स्थिति को जानना चाहिए। गले मे फसे हुए द्रव्य की स्थिति और आकृति जानने के बाद तदनुसार चिकित्सा की जाती है।

(१) यदि मछली के काटे जैसी हड्डी गले में फस गई है तो उसे चिमटो (forceps) से पकड कर निकाल देना चाहिए।

(२) यदि हड्डी बहुत पतली हो तो अगुली के ऊपर कुछ जूट के रेशे (jute fibres) लपेट कर उसे गले मे ले जाते हैं और उससे गले को पोछते है। इससे कई बार वस्तु के बारीक टुकडे जूट के रेशो मे लग कर अगुली के साथ बाहर आ जाते हैं।

(३) यदि वस्तु गले मे बहुत नीचे की ओर चली गई हो तो उसे वमन द्वारा बाहर निकालने का यत्न किया जाता है। इसके लिए हलका तुत्थवारी या गाढा नमकीन पानी पिलाते हैं अथवा मदनफल देते हैं।

(४) यदि ऊपर के तरीको से वस्तु न निकले तो एक शलाका मे रूई लपेट कर उसके द्वारा वस्तु को पीछे की तरफ धकेल देना चाहिए। रोगी को मुलायम और हलका भोजन देना चाहिए। पानी बहुत कम देना चाहिए। इससे वस्तु के चारो तरफ आवरण बन जाता है और वस्तु आन्त्र को बिना हानि पहुँचाए बाहर निकल जाती है। इस अवस्था मे विरेचन नही देना चाहिए।

(५) यदि गले में जलौका अटक गई हो तो रोगी को नमकीन पानी पिलाना चाहिए। इससे या तो जलौका मर जायगी या वमन के साथ बाहर आ जायगी।

(५) गुप्तागो मे प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in Private Parts)

(१) यदि गुप्तागो मे फसा हुआ पदार्थ अगुली से अनुभव किया जा सके तो उसे चिमटी से पकड कर निकाल देना चाहिए।

(२) यदि पदार्थ ज्यादा अन्दर चला गया हो और गर्भाशय तक पहुँच गया हो तो उसे शल्य कर्म द्वारा निकालना चाहिए।

(३) यदि जलौका फस गई हो तो नमक के पानी की पिचकारी लगानी चाहिए। इससे जलौका स्थान से हट जाती है और पानी के साथ बाहर आ जाती है।

(६) श्वास प्रणाली मे प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in the Trachea)

(१) श्वास प्रणाली मे किसी पदार्थ के फसने से बहुत तकलीफ होती है और व्यक्ति का दम घुटने लगता है। इसके लिए सर्व प्रथम टोर्च द्वारा प्रकाश डाल कर वास्तविक स्थिति जाननी चाहिए। यदि पदार्थ नजदीक हो और अगुली की पकड मे हो तो अगुली से पकड कर निकालना चाहिए।

(२) यदि अगुली की पकड़ से दूर हो तो तार का हुक बना कर उससे पदार्थ को निकालना चाहिए।

(३) यदि श्वास लेने मे कठिनता हो तो कृत्रिम श्वास देना चाहिए।

धूमोपहत Asphyxia (धूए से घुटा हुआ)

धुए के अन्दर अनेक प्रकार की विषैली गैसें मिली रहती है। जैसे कार्बन डाइ-ओक्साइड "कार्बन मोनो ओक्साइड" गन्धक का धूआ आदि इनके श्वास द्वारा फुफ्फुसो मे पहुचने पर रक्त को आवश्यक ओक्सीजन नही मिलती है, जिससे रक्त दूषित हो जाता है, जिसके कारण रोगी को श्वास में कठिनाई होती है। उसे छीकें आती हैं, आँखो मे जलन होती है, मुख लाल हो जाता है, और श्वास धूआ-सा निकलने लगता है। इसके बाद शरीर अकड जाता है, उसे बहुत प्यास लगती है, और ज्वर हो जाता है, अन्त मे रोगी बेहोश (मूर्च्छित) होकर मर जाता है।

पोछ लेना चाहिए। यदि वस्तु पलक के अन्दर की तरफ लगी हो तो पलक को उलट देना चाहिए और वस्तु को पोछ लेना चाहिए।

(३) कई बार रेलगाडी मे यात्रा करते हुए कोयले की चिनगारी आख मे लग जाती है जिससे आख में व्रण बन जाता है। रेत के कणो के लगने से भी व्रण वन जाता है। ऐसी अवस्था मे शुद्ध एरण्ड स्नेह (Pure Castor oil) आख मे डालने से लाभ होता है। इससे वस्तु चिकनी हो कर आख के कोने मे आ जाती है और बाहर निकल जाती है।

कई बार आख से वस्तु तो बाहर निकल जाती है परन्तु उसका व्रण रह जाता है जिससे आख मे पीडा होने लगती है। इस अवस्था मे भी शुद्ध एरण्ड स्नेह के डालने से अच्छा लाभ होता है। Penicillin eye ointment भी लाभदायक है।

(४) लोहे का काम करने वालो की आख मे लोहे के छोटे छोटे टुकडे पड जाते हैं और वे पीडा करते है। इन टुकडो को हल्की चुम्बक (Light Megnet) का उपयोग करके निकालते हैं।

कई बार गावो मे चुम्बक नही मिलता है। ऐसी अवस्था मे परिस्रुत जल मे बनाया हुआ हलका तुत्थ घोल (Dil Copper Sulphate Solution 3 grs in one ounce) को आँख मे डालते हैं। इससे लोहे के कण घुल जाते है और उस जगह से हट जाते हैं जिन्हे धो कर निकाला जा सकता है।

(५) कई बार काटेदार चीज आख मे चुभ जाती है उसको स्वच्छ सूचिका से पृथक कर सकते हैं।

(४) गले मे प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in the throat)

रोगी के शिर को पीछे की तरफ कर देना चाहिए और जीभ को बाहर की तरफ खीचना चाहिए। इसके बाद टोर्च द्वारा प्रकाश डाल करके प्रविष्ट द्रव्य की वास्तविक स्थिति को जानना चाहिए। गले मे फसे हुए द्रव्य की स्थिति और आकृति जानने के बाद तदनुसार चिकित्सा की जाती है।

(१) यदि मछली के काटे जैसी हड्डी गले में फस गई है तो उसे चिमटो (forceps) से पकड कर निकाल देना चाहिए।

(२) यदि हड्डी बहुत पतली हो तो अगुली के ऊपर कुछ जूट के रेशे (jute fibres) लपेट कर उसे गले मे ले जाते हैं और उससे गले को पोछते हैं। इससे कई बार वस्तु के बारीक टुकड़े जूट के रेशो मे लग कर अगुली के साथ बाहर आ जाते हैं।

(३) यदि वस्तु गले मे बहुत नीचे की ओर चली गई हो तो उसे वमन द्वारा बाहर निकालने का यत्न किया जाता है। इसके लिए हलका तुत्थवारी या गाढा नमकीन पानी पिलाते हैं अथवा मदनफल देते हैं।

(४) यदि ऊपर के तरीको से वस्तु न निकले तो एक शलाका मे रूई लपेट कर उसके द्वारा वस्तु को पीछे की तरफ धकेल देना चाहिए। रोगी को मुलायम और हलका भोजन देना चाहिए। पानी बहुत कम देना चाहिए। इससे वस्तु के चारो तरफ आवरण बन जाता है और वस्तु आन्त्र को बिना हानि पहुँचाए बाहर निकल जाती है। इस अवस्था मे विरेचन नही देना चाहिए।

(५) यदि गले मे जलौका अटक गई हो तो रोगी को नमकीन पानी पिलाना चाहिए। इससे या तो जलौका मर जायगी या वमन के साथ बाहर आ जायगी।

(५) गुप्तागो मे प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in Private Parts)

(१) यदि गुप्तागों मे फसा हुआ पदार्थ अंगुली से अनुभव किया जा सके तो उसे चिमटी से पकड कर निकाल देना चाहिए।

(२) यदि पदार्थ ज्यादा अन्दर चला गया हो और गर्भाशय तक पहुँच गया हो तो उसे शल्य कर्म द्वारा निकालना चाहिए।

(३) यदि जलौका फस गई हो तो नमक के पानी की पिचकारी लगानी चाहिए। इससे जलौका स्थान से हट जाती है और पानी के साथ बाहर आ जाती है।

(६) श्वास प्रणाली मे प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in the Trachea)

(१) श्वास प्रणाली मे किसी पदार्थ के फसने से बहुत तकलीफ होती है और व्यक्ति का दम घुटने लगता है। इसके लिए सर्व प्रथम टोर्च द्वारा प्रकाश डाल कर वास्तविक स्थिति जाननी चाहिए। यदि पदार्थ नजदीक हो और अंगुली की पकड में हो तो अंगुली से पकड कर निकालना चाहिए।

(२) यदि अंगुली की पकड से दूर हो तो तार का हुक बना कर उससे पदार्थ को निकालना चाहिए।

(३) यदि श्वास लेने मे कठिनता हो तो कृत्रिम श्वास देना चाहिए।

धूमोपहत Asphyxia (धूए से घुटा हुआ)

धुए के अन्दर अनेक प्रकार की विषैली गैसे मिली रहती है। जैसे कार्बन डाइ-ओक्साइड "कार्बन मोनो ओक्साइड" गन्धक का धूआ आदि इनके श्वास द्वारा फुफ्फुसो मे पहुचने पर रक्त को आवश्यक ओक्सीजन नही मिलती है, जिससे रक्त दूषित हो जाता है, जिसके कारण रोगी को श्वास में कठिनाई होती है। उसे छीकें आती हैं, आंखो मे जलन होती है, मुख लाल हो जाता है, और श्वास धूआ-सा निकलने लगता है। इसके बाद शरीर अकड जाता है, उसे बहुत प्यास लगती है, और ज्वर हो जाता है, अन्त मे रोगी बेहोश (मूर्च्छित) होकर मर जाता है।

सामान्य चिकित्सा

१ रोगी को धूए के स्थान से हटा कर खुली हवा मे रखना चाहिए।

२ गले व वक्ष पर यदि तग कपडे हो तो उन्हे उतार देने चाहिए अथवा ढीले कर देने चाहिए।

३ वक्ष और मुख पर ठण्डे पानी के छीटे देने चाहिए।

४ जीभ को पकड कर बीच २ मे बाहर खीचते रहना चाहिए।

५ हाथो पैरो पर गर्म सेक करना चाहिए।

६ वमन—रोगी को घी, गन्ने का रस, दूध अथवा शर्बत पिला कर वमन कराना चाहिए, अथवा आमाशय प्रक्षालन करना चाहिए।

७ शिरो विरेचन—रोगी के बलाबल को देखकर नस्य देना चाहिए "कट्फल चूर्ण" "त्रिकटु चूर्ण" उत्तम है। नव्य चिकित्सक अमूनिया गैस सुघाते हैं।

विशेष चिकित्सा—उपरोक्त उपायो से रोगी स्वस्थ हो जाता है, विशेष अवस्था मे निम्नलिखित विशेष विधियो का प्रयोग किया जाता है।

१ रोगी को कृत्रिम श्वास देना।

२ रोगी को ओक्सीजन देते है, इसके लिए विशेष प्रकार की मशीन आती है, जिसका उपयोग बडे चिकित्सालयो मे किया जाता है।

३ रोगी की अवस्था ज्यादा खराब मालूम होती हो तो "शिरावेध" करके ४० से ८० तोला तक खराब रक्त निकाल देते हैं। और उतनी ही मात्रा मे शिरा के द्वारा लवणोदक (नोरमल सेलाइन) देते हैं।

४ रोगी के हृदय के लिए उत्तेजक औषधिया देनी चाहिए, जैसे—"जवाहर मोहरा" "ब्राह्मीवटी" अथवा "कोरामीन" सूची (इन्जेक्शन) व वटी व प्रवाही आदि।

इन विधियो के द्वारा हृदय और श्वास के मस्तिष्क मे स्थित केन्द्र उत्तेजित हो जाते हैं, जिससे श्वास अवरोध (रुकावट) दूर हो कर श्वास क्रिया ठीक चलने लगती है।

अग्निदग्ध (Burn)

सुश्रुत मे अग्निकर्म का वर्णन किया गया है। चिकित्सा की दृष्टि से कई रोगो मे अग्नि कर्म किया जाता है, परन्तु अग्निकर्म के अतिरिक्त समय मे आकस्मिक दाह हो जाने पर जो अवस्था उत्पन्न होती है, उसे इतरथा दग्ध कहते है। यह आकस्मिक दग्ध जब किसी उष्ण द्रव द्वारा होता है, तो उसे स्निग्ध दाह कहते है। जैसे गर्म पानी, गर्म तेल आदि। जब यह आकस्मिक दाह रूक्ष पदार्थों से होता है, तो उसे रूक्ष दग्ध कहते हैं—जैसे तपा हुआ लोहा, अग्नि की ज्वाला, इसमे से स्निग्ध दाह अधिक भयकर होता है।

अग्निदग्ध के भेद:—अग्निदग्ध की गहराई व विस्तार के अनुसार चार भेद जाते है।

१ प्लुष्ट:—इसमे त्वचा झुलस जाती है और उसका रग बदल जाता है, इस प्रभाव त्वचा के बाह्य स्तर पर होता है।

२ दुर्दग्ध —इसमे त्वचा मे बडे २ फफोले पड जाते है। जलन अत्यधिक हो है। त्वचा का रग लाल हो जाता है, अत्यधिक पीडा होती है।

३ सम्यक् दग्ध —इस अवस्था में व्रण बहुत अधिक गहरा नही होता, पर दूसरी अवस्था की अपेक्षा कुछ अधिक होता है। जो व्रण बनता है, उसका रग ताड फल के समान होता है। इसके अतिरिक्त वेदना और दाह अधिक होते है। परन्तु उसः प्रभाव अधिक गहरा नही होता है। और उसके कारण त्वचा की स्वेद ग्रन्थिया औ स्पर्शांकुर जल जाते है, तो वेदना बहुत अधिक होती है।

अतिदग्ध —इसमे त्वचा की सब सतह (तह) जल जाती है। मासपेशिया, शिरा स्नायु और अस्थि तक इसका प्रभाव हो जाता है। रोगी को ज्वर दाह मूर्च्छा और तृष्ण (प्यास) आदि लक्षण होते हैं। उसके अगो मे विकृति हो जाती है। और व्रण भरने ं कठिनाई होती है।

लक्षण —उपरोक्त स्थानीय लक्षणो के अतिरिक्त अग्निदग्ध का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पडता है। सुश्रुत ने लिखा हैं कि अग्निदग्ध से मनुष्य का रक्त दूषित हो जाता है और यह रक्त पित्त को कुपित करता है। इस प्रकार पित्त और रक्त के तुल्य वीर्य होने से प्रभावित मनुष्य को अत्यन्त पीडा, ज्वर, दाह आदि लक्षण होते है।

अग्निदग्ध के बारे मे निम्न बाते विशेष ध्यान देने योग्य है।

अग्निदग्ध की गहराई की अपेक्षा उसका विस्तार अधिक होना कष्टदायक होता है।

बच्चो का दग्ध व्रण अधिक भयकर होता है। मर्मस्थान का दग्ध अधिक कष्टकारक होता हैं। उसके पेट की दीवार के जलने पर (दग्ध होने पर) मृत्यु तक हो जाती हैं।

चिकित्सा —

१ रोगी को ठण्डी हवा नही लगनी चाहिये। उसे गर्म कमरे में रखना चाहिये।

२ उसे गर्म उत्तेजक पेय जैसे—चाय, कॉफी आदि पिलानी चाहिये।

२. अधिक पीडा होने पर सूक्ष्ममात्रा में अफीम देना चाहिये, अथवा मार्फिया सूची (इन्जेक्शन) लगाना चाहिये।

४. प्लुष्ट की अवस्था मे रोगी को गर्म रखना चाहिये।

५ दुर्दग्ध की अवस्था मे फफोलो को फोड कर (काट कर) हरड और बहेडे के कषाय से धोना चाहिये। और इसके बाद निम्न प्रकार का लेप करना चाहिये।

शुद्ध चूना १० ग्राम। मोम २० ग्राम। नारियल का तेल १६० ग्राम। सबसे पहले मोम और तेल को मिला कर अग्नि पर गर्म करे, उसके बाद उसमे चूना मिला दे, यह लेप अग्निदग्ध मे फायदेवन्द है। अथवा फफोलो को नही काटना चाहिये तथा उस पर हल्के तोल के गर्म तेल से सेक करना चाहिये। और उसके ऊपर वशलोचन, रतनजोत, मेंहदी और टकण इन्हे समान मात्रा मे मिला कर चूर्ण बना लिया जाता है और फफोलो पर छिडकते है।

७ सम्यक दग्ध में उपरोक्त चूर्ण को घृत में मिला कर अथवा नारियल के तेल मे मिला कर लेप (उपनाह) करते हैं।

७. रोगी को खाने के लिये "अकीक भस्म" बहुत उत्तम है।

जलनिमग्न (जल मे डूबना) से सज्ञानयन (होश मे लाना) का उपाय

डूबना—मृत्यु का वह रूप है जिसमें सारा शरीर अथवा केवल मुख नासिका के पानी में अथवा किसी अन्य द्रव में डूबे रहने से फुफ्फुसो में वायुमडल की वायु प्रवेश नही कर सकती।

अवस्थाऐं

जब कोई व्यक्ति पानी में गिरता है तो वह शरीर के भार के कारण उसमें डूब जाता है, परन्तु हाथो और पैरो के चलने के कारण पानी के ऊपर आ जाता है। यदि वह व्यक्ति तैरना नही जानता है तो अपनी सहायता के लिए चिल्लाता है। इस समय पानी उसके मुख और नाक में प्रवेश कर जाता है तथा वहा से आमाशय और फुफ्फुसो में पहुच जाता है, फुफ्फुसो में पानी के पहुचने से कास (खासी) उत्पन्न होती है जिसके कारण फुफ्फुसो की वायु बाहर निकल जाती है और वायु के स्थान पर पानी पहुच जाता है इस प्रकार शरीर का भार बढ जाता है और वह पुन डूब जाता है इसके बाद हाथो पैरो की अनैच्छिक गति से वह फिर पानी की सतह पर आ जाता है, इस समय थोडा सा पानी दुबारा फुफ्फुसो मे पहुच जाता है और व्यक्ति दुबारा पानी में डूब जाता है। इस प्रकार पानी मे डूबना और ऊपर आना तब तक होता है जब तक कि फुफ्फुसो की सम्पूर्ण वायु बाहर नही निकल जाती। और उसके स्थान पर पानी नही भर जाता है ऐसा प्राय करके तीन बार होता है इसके बाद व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है और पानी के नीचे पहुच कर मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

१. यदि कोई व्यक्ति पानी मे एक घन्टा रह जाता है तो उसे मृत समझना चाहिये

तथापि व्यक्ति को बचाने के लिए शान्ति से और सावधानी से प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न जल्दी से जल्दी शुरू कर देना चाहिए और कम से कम एक घन्टा तक जारी रखना चाहिए। इसमे विशेष कर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्ति की श्वास की गति प्रारम्भ हो जाय।

२. व्यक्ति के पहने हुए कपडे ढीले कर देना चाहिए।

३ उसके मु ह के अन्दर अगुली डाल कर फसे हुए कीचड, घास, मिट्टी आदि को निकाल देना चाहिए।

४ यदि डूबा हुआ व्यक्ति बच्चा हो तो उसे उल्टा लटका देना चाहिए और यदि युवा व्यक्ति हो तो उसे कमर से पकड कर लटका देना चाहिए, ऐसे कुछ सैकेण्ड तक रखते हैं जिससे कि फेफडो का पानी बाहर आ जाय और यदि कोई व्यक्ति बहुत मोटा और भारी हो जिसको एक व्यक्ति नही उठा सकता हो तो उसके पेट के नीचे कुछ कपडा रख कर मु ह से पानी निकालने का यत्न करना चाहिये।

५ यदि व्यक्ति का श्वास चलता हो तो उसे अमोनिया सु घानी चाहिए और उसकी छाती तथा अगो को सेक करना चाहिए अथवा मालिश करनी चाहिए।

६ यदि व्यक्ति का श्वास रुक गया हो तो कृत्रिम श्वास देना चाहिए।

कृत्रिम श्वास-सचार

यदि रोगी का श्वास रुक जाता है तब कृत्रिम श्वास करना पडता है। कई अवस्थाओ मे इसका करना आवश्यक हो जाता है—रोगी के गले में फासी आने पर पानी आदि मे डूबने पर धुऐं से घुटने पर यह क्रिया लाभदायक होती है इसकी तीन विधिया प्रचलित हैं।

(१) प्रोफेसर शेफर की विधि (२) डॉ० सिलवेस्टर की विधि (३) लेबोर्डे की विधि।

१ प्रोफेसर शेफर को विधि—

पानी में डूबे हुए व्यक्तियो मे यह विधि अधिक लाभदायक होती है इसमे रोगी को भूमि पर मुख नीचा करके लेटा दिया जाता है उसकी छाती के नीचे एक तकिया रख दिया जाता है उसका मुख एक तरफ मोड दिया जाता है जिससे कि नाक और मुख से श्वास आ जा सके, इसके बाद चिकित्सक रोगी की पीठ पर दोनो ओर जमीन मे घुटने टेक कर सवार हो जाता है परन्तु वह रोगी की पीठ पर बैठता नही है इसके बाद अपने दोनो हाथो को रोगी की छाती के नीचे दोनो तरफ रखता है और आगे झुक कर अपने शरीर के भार को हाथो पर डाल कर रोगी की छाती को खूब दबाता है जिससे फेफडे सिकुड जाते है इसके बाद वह अपने शरीर को फिर पीछे की ओर पूर्व दशा मे ले आता है जिससे छाती का

४. प्लुष्ट की अवस्था मे रोगी को गर्म रखना चाहिये।

५. दुर्दग्ध की अवस्था मे फफोलो को फोड कर (काट कर) हरड और बहेडे के कषाय से धोना चाहिये। और इसके वाद निम्न प्रकार का लेप करना चाहिये।

शुद्ध चूना १० ग्राम। मोम २० ग्राम। नारियल का तेल १६० ग्राम। सबसे पहले मोम और तेल को मिला कर अग्नि पर गर्म करे, उसके वाद उसमे चूना मिला दे, यह लेप अग्निदग्ध मे फायदेवन्द है। अथवा फफोलो को नही काटना चाहिये तथा उस पर हल्के तोल के गर्म तेल से सेक करना चाहिये। और उसके ऊपर वशलोचन, रतनजोत, मेंहदी और टकण इन्हें समान मात्रा मे मिला कर चूर्ण बना लिया जाता है और फफोलो पर छिडकते है।

७ सम्यक दग्ध में उपरोक्त चूर्ण को घृत में मिला कर अथवा नारियल के तेल में मिला कर लेप (उपनाह) करते है।

७ रोगी को खाने के लिये "अकीक भस्म" बहुत उत्तम है।

जलनिमग्न (जल मे डूबना) से सज्ञानयन (होश मे लाना) का उपाय

डूबना—मृत्यु का वह रूप है जिसमें सारा शरीर अथवा केवल मुख नासिका के पानी में अथवा किसी अन्य द्रव में डूबे रहने से फुफ्फुसो में वायुमडल की वायु प्रवेश नही कर सकती।

अवस्थाएँ

जब कोई व्यक्ति पानी मे गिरता है तो वह शरीर के भार के कारण उसमें डूब जाता है, परन्तु हाथो और पैरो के चलने के कारण पानी के ऊपर आ जाता है। यदि वह व्यक्ति तैरना नही जानता है तो अपनी सहायता के लिए चिल्लाता है। इस समय पानी उसके मुख और नाक में प्रवेश कर जाता है तथा वहा से आमाशय और फुफ्फुसो में पहुच जाता है, फुफ्फुसो में पानी के पहुचने से कास (खासी) उत्पन्न होती है जिसके कारण फुफ्फुसो की वायु बाहर निकल जाती है और वायु के स्थान पर पानी पहुच जाता है इस प्रकार शरीर का भार बढ जाता है और वह पुन डूब जाता है इसके बाद हाथो पैरो की अनैच्छिक गति से वह फिर पानी की सतह पर आ जाता है, इस समय थोडा सा पानी दुबारा फुफ्फुसो में पहुच जाता है और व्यक्ति दुबारा पानी में डूब जाता है। इस प्रकार पानी में डूबना और ऊपर आना तब तक होता है जब तक कि फुफ्फुसो की सम्पूर्ण वायु बाहर नही निकल जाती। और उसके स्थान पर पानी नही भर जाता है ऐसा प्राय करके तीन बार होता है इसके बाद व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है और पानी के नीचे पहुच कर मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

१. यदि कोई व्यक्ति पानी मे एक घन्टा रह जाता है तो उसे मृत समझना चाहिये

तथापि व्यक्ति को बचाने के लिए शान्ति से और सावधानी से प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न जल्दी से जल्दी शुरू कर देना चाहिए और कम से कम एक घन्टा तक जारी रखना चाहिए। इसमे विशेष कर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्ति की श्वास की गति प्रारम्भ हो जाय।

२. व्यक्ति के पहने हुए कपडे ढीले कर देना चाहिए।

३ उसके मुह के अन्दर अगुली डाल कर फसे हुए कीचड, घास, मिट्टी आदि को निकाल देना चाहिए।

४ यदि डूबा हुआ व्यक्ति बच्चा हो तो उसे उल्टा लटका देना चाहिए और यदि युवा व्यक्ति हो तो उसे कमर से पकड कर लटका देना चाहिए, ऐसे कुछ सैकेण्ड तक रखते हैं जिससे कि फेफडो का पानी बाहर आ जाय और यदि कोई व्यक्ति बहुत मोटा और भारी हो जिसको एक व्यक्ति नही उठा सकता हो तो उसके पेट के नीचे कुछ कपडा रख कर मुह से पानी निकालने का यत्न करना चाहिये।

५ यदि व्यक्ति का श्वास चलता हो तो उसे अमोनिया सुघानी चाहिए और उसकी छाती तथा अगो को सेक करना चाहिए अथवा मालिश करनी चाहिए।

६ यदि व्यक्ति का श्वास रुक गया हो तो कृत्रिम श्वास देना चाहिए।

कृत्रिम श्वास-सचार

यदि रोगी का श्वास रुक जाता है तब कृत्रिम श्वास करना पडता है। कई अवस्थाओ मे इसका करना आवश्यक हो जाता है—रोगी के गले मे फासी आने पर पानी आदि मे डूबने पर धुएं से घुटने पर यह क्रिया लाभदायक होती है इसकी तीन विधिया प्रचलित हैं।

(१) प्रोफेसर शेफर की विधि (२) डॉ० सिलवेस्टर की विधि (३) लेबोर्डे की विधि।

१ प्रोफेसर शेफर को विधि—

पानी मे डूबे हुए व्यक्तियों मे यह विधि अधिक लाभदायक होती है इसमे रोगी को भूमि पर मुख नीचा करके लेटा दिया जाता है उसकी छाती के नीचे एक तकिया रख दिया जाता है उसका मुख एक तरफ मोड दिया जाता है जिससे कि नाक और मुख से श्वास आ जा सके, इसके बाद चिकित्सक रोगी की पीठ पर दोनो ओर जमीन मे घुटने टेक कर सवार हो जाता है परन्तु वह रोगी की पीठ पर बैठता नही है इसके बाद अपने दोनो हाथो को रोगी की छाती के नीचे दोनो तरफ रखता है और आगे झुक कर अपने शरीर के भार को हाथो पर डाल कर रोगी की छाती को खूब दबाता है जिससे फेफडे सिकुड जाते हैं इसके बाद वह अपने शरीर को फिर पीछे की ओर पूर्व दशा मे ले आता है जिससे छाती का

दबाव हट जाता है और सिकुडे हुए फेफडे फैल जाते हैं जिसके कारण बाहर की वायु भीतर को खीच आती है।

२ डॉ० सिलवेस्टर की विधि —

रोगी को मेज या तख्त पर पीठ के बल लेटा दिया जाता है उसके शिर को थोड ऊँचा उठा दिया जाता है और जीभ को आगे की ओर खीच लिया जाता है वह क्रिया अत्यावश्यक है क्यो कि अचेतनावस्था मे जीभ की जड पीछे को मुड जाती है इसके बाद चिकित्सक रोगी के सिरहाने की तरफ खडा होकर कोहनी से रोगी की दोनो भुजाओ को पकड कर उसकी छाती के दोनो ओर रख कर अपने पूरे जोर से दाबता है जिससे छाती दबती है भीतर की वायु बाहर निकल जाती है इसके बाद चिकित्सक वहा से दोनो भुजाओ को पकड कर बलपूर्वक रोगी के शिर की तरफ ऊपर की ओर ले जाता है। जिससे छाती चौडी होती है, फेफडे फंलते है इससे वायु फेफडो मे प्रवेश करती है। यह क्रिया एक मिनट मे पन्द्रह बार से अधिक नही करनी चाहिए। कम से कम आधे घन्टे तक करनी चाहिए।

डॉ० लेबोर्डे की विधि:—इस विधि मे रोगी की जीभ को रूमाल की सहायता से पकड कर आगे की ओर खीचते हैं और छोडते है। यह क्रिया एक मिनट मे पन्द्रह बार करनी चाहिए, इस विधि का उपयोग स्वतन्त्र रूप से अथवा अन्य विधियो के साथ करना चाहिए।

शिशु व्याधियां

वैद्या दुर्गादेवी सोलंकी, जोधपुर

[वैद्या दुर्गादेवी सोलंकी ने आयुर्वेद की शिक्षा अपने पति श्रीमान् ऋषिदेवजी सोलंकी, भिषगाचार्य से ही प्राप्त की है। आप इन्डियन मेडिसिन बोर्ड, जयपुर (राजस्थान) की भूतपूर्व सदस्या थीं। श्रीमती सोलंकी वैद्याचार्य, आयुर्वेदरत्न है। समयाभाव रहते हुए भी बालरोग विशेषज्ञ होने से बाल "शिशु व्याधियां" नामक लेख लिखा है जो छात्रोपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

नवजात शिशु का शरीर अति कोमल होता है तथा वह नवीन वातावरण मे आया है ऐसी स्थिति मे प्रसवकालीन आघात तथा नालच्छेद कर्म मे या उसके बाद की अशुद्धि तथा असावधानी से सक्रामक जीवाणुओ के आक्रमण से विविध प्रकार के रोग हो जाते हैं। जैसे ज्वर, श्वसन क्रिया मे कठिनाई, जिसे दूर करने के लिए नासामार्ग को साफ करना या कृत्रिम श्वसन करना चाहिए। नाभि नाडी पांच दिन मे गिर जानी चाहिए और उसके तीन दिन बाद ठीक हो जानी चाहिए परन्तु कभी २ इससे रक्त रस आने लगता है, ऐसी स्थिति में दिन मे दो बार अल्प तुत्थ को उष्ण घी मे डाल कर पिचु से लगाए। नाभि काटने मे अशुद्धि रहने से निम्न रोग हो जाते हैं।

१ उत्तुण्डिका- लम्बाई चौडाई मे फैल कर ऊपर उठ जाना।

२ पिण्डलिका- मण्डलाकृति मे।

३ विनाभिका- बीच मे दबकर इधर उधर शोथ।

४ विजृम्भिका- बार २ बढ जाना।

इनमे वायु और पित्त विरोधी द्रव्यो से साधित घी का सेक करें।

५ नाभितुण्डि- वायु से आध्यान तथा वेदनायुक्त।

६ नाभिपाक- मृत्पिण्डस्वेदन, तैल से सेक कर।

नाभिकुण्डल- चारो ओर कुण्डलाकार शोथ।

नाभिनाडी शोथ Omphalitis नाभिपाक Septic thrombosis जिसका कि परिणाम जीवाणु सक्रमण General Septicaemia हो कर नाना विकार हो जाते हैं। जैसे हनुस्तभ, रक्तस्राव, विस्फोट आदि।

शिर कपालवृद्धि- यह प्राय पार्श्विकास्थियो मे अस्थि तथा अस्थिवेष्ट के मध्य रक्त सचय से हो जाता है जो कि लगभग ३ माह मे ठीक हो जाता है। नेत्राभिष्यन्द- जन्म के ३ सप्ताह के भीतर पूयमय नेत्राभिष्यन्द गोनो कोकस के सक्रमण से होता है। शिशु के खण्डोष्ट या तालु विदार तो नही। या क्षीरा लसक तो नही हो रहा है।

क्षीरालसक	Epidermic Diarrhora	पीत, श्वेत, मूत्रता, तृष्णा ज्वर चर्छदि अरुचि वमन, अन्त्रकूजन,	वचादिगण, निशादिगण
विबन्ध	Constipation	पोपकमात्रा की अल्पता,	शर्करामिश्रित दूध, अमलतास सिद्ध दुग्ध
गुदपाक			रसाजनलप, अजा दूध से
रुद्धगुद		गुदा का स्रोत सकुंचित होना,	अमलतास सिद्ध दुग्ध गुदवर्ती
गुदभ्रंश		मलाशय की कला का बाहिर आना,	स्नेह म्यक्त, वस्वेदनकर प्रविष्ट करें। गोफणा बन्द करें।
गण्डूपदकृमि	Round worm	रक्तशोथ, आध्मान, अतिसार शीतपित, मल मे रक्त	पलाशबीजादिचूर्ण
सूत्रकृमि	Threed worm	उदर शीष शूल, क्षय	पारदमलहर, गन्धकवटी
स्फीतकृमि	Tape worm	मल परीक्षा से	त्रिवृतादीकल्क
बालशोष	Wasting	कफवहस्रोतो रोध से अरुचि, अनशन, अजीर्ण आदि से दौर्बल्य	मयूरपिच्छभस्म, मुक्तापचामृत, कच्छपास्थिभस्म, गोदन्ती, चरकोक्त, उत्तमपरिचर्या, कुमारकल्याण-शिवामोदक
फक्क	Rickets	पैरो से न चलना, मूक, अस्थिवक्रता	कल्याणक, पट्पल, ब्राह्मी घृत या दुग्ध का प्रयोग। राजतैल का अभ्यग, नीललोहितातीतकिरण चिकित्सा
आमवात	Rheumatism In childhood	सधिशूल, आमवातज ग्रन्थिया हृद्गत विकृतिया, रक्तविस्फोट, आक्षेप उरस्तोय, तुण्डीकेरी	शर्करा, रसोनप्रयोग
श्वासप्रणालीशोथ	Bronchitis	सस्वर घर्घरशब्द,	उष्णपेयर्द। मुक्तादिचूर्ण, रसोनक्षीर प्रयोग।
मसूरिका		दोषानुसार, धातु अनुसार,	मास्यादि क्वाथ, रुद्राक्षा काली मिरच का घासा,
कणमूलिकशोथ	Mumps	शूनमुखता, ज्वर	कालीजीरी अफीम का लेप, प्रस्तरस्वेदन,
रोहिणी	Diptheria	हृदय व नाडी सस्थान पर विषैला प्रभाव भूरे से सफेद रग के कठ मे धब्बे दुर्गन्ध प्रश्वास, फूली हुई ग्रैविक ग्रन्थियो	रसो न शर्करा प्रयोग

आन्त्रिक ज्वर	Typhoid fever	ज्वर, दाह, भ्रम, वमि, तृषा, मुखशोष, सर्षपसमान ग्रिवामे स्फोट	खूबकला २ माशे, मुनक्का ५ दाने, बनफ्शा ३ माशे गुडूची १ माशा, तुलसी पत्र १०, क्वाथ मधु, पीपर शुण्ठी मिला कर
मस्तिष्कावरण-शोथ	Meningitis		
पूर्वरूपावस्था	Prod romal Stage	शिर शूल, वमन विबन्ध, तीव्र ज्वर	दशमूल दुग्ध
प्रक्षोभावस्था	Irritative Stage	उन्मेष, मन्यास्तम्भ	
अ गघातिकावस्था	Paralytic	वक्रदृष्टि, आन्ध्य, बाधिर्य, अर्दित, सर्वा ग-अर्धा गघात	व्योषादि वटी, गोजिह्वादिक्वाथ
तालुकटक		अतिसार, तालुपात, तृषा, वमन	मधुरक सिद्ध घृत, हरीतकी, वचा, कुष्ट चूर्णं मधु से
नाडीशोथ	nue rilis		

शल्य

लेखक : वैद्य माधवलाल जोशी, जोधपुर

[श्री माधवलालजी जोशी स्थानीय सरदार आयुर्वेद औषधालय (दातव्य) के प्रधान चिकित्सक है व सजीवन आयुर्वेद फार्मेसी के सञ्चालक भी। आप राजस्थान प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के प्रधान मत्री एव मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष रहे है। श्री जोशी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आयुर्वेद की व विद्यापीठ की परीक्षाओं के परीक्षक, निरीक्षक कई वर्षो से रहते आये है आप मिलनसार, कुशल औषधि निर्माता एव शिक्षाशास्त्री हैं। आपके आयुर्वेद क्षेत्र में अनेक शिष्य हैं। चरित्रनायक के आप कृपापात्र विश्वस्त व्यक्तियों में हैं। आप अभिनन्दन ग्रन्थ में सम्पादक मण्डल के सदस्य हैं। समयाभाव रहते हुए भी 'शल्य' नामक सक्षिप्त लेख लिखा है वह छात्रोपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सपादक]

अथर्ववेद के रूपाग आयुर्वेद के ८ अ ग हैं, शल्य, शालाक्य, काय, भूतविद्या, कोमारभृत्य, अगद, रसायन तथा वाजीकरण हैं।

शरीर तथा अन्त करण मे पीडा करने वालो को शल्य कहते हैं। उदाहरण के रूप मे तृण, काष्ठ, पत्थर, धूलि, लौह, मिट्टी, हड्डी, केश, नाखून, पूय, स्राव आदि विजातीय द्रव्यो के प्रवेश से तथा दूषित व्रण, गर्भ (मृत) आदि शरीर की प्रकृति मे विकृति कराने के कारण अन्त शल्य कहे जाते हैं - इन अन्तः शल्यो को शरीर से बाहिर निकालने के उपाय - यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि व व्रणो की आम, पच्यमान और पक्व अवस्था आदि के ज्ञान को बताने वाले शास्त्र को शल्य तन्त्र (Surgery) कहते हैं।

शल्यतन्त्र की श्रेष्ठता'—विकृत प्रदेश को रुजा कर तत्वो को सपूर्णतया देह से पृथक करने का सर्वश्रेष्ठ साधन इस तन्त्र से प्राप्त होता है, अतः इससे पुण्य तथा यश सत्वर मिल जाता है।

शस्त्र तथा प्रायोगिक ज्ञान को महत्व देते हुए इस सम्प्रदाय ने कर्म क्षेत्र मे प्रवृत्ति से पूर्व योग्या (कर्माभ्यास) पर विशेष बल दिया है।

शल्य को निकालने के उपाय को यन्त्र कहते हैं। इनमे प्रधानता चिकित्सक के हाथ की है। इनकी सख्या अनिश्चित या सैकडो है। ये आवश्यकता के अनुसार बनाये जा सकते है। प्रकार भेद से इन्हे ६ प्रकार के माने जाते हैं।

१ स्वस्तिक यन्त्र (Cruciform Instruments)

२ सदश यन्त्र (Forceps)

३ ताल यन्त्र (Scoop or spoon)
४ नाडी यन्त्र (Subular Instrument)
५ शलाका यन्त्र (Rods)
६ उपयन्त्र (Accessory Instruments)

(१) स्वस्तिक यन्त्र—इनकी आकृति स्वस्तिक के आकार की होती है। इनकी सख्या २४ बतलाई है। इनकी आकृति विविध पशु पक्षियो पर दी गई है। जैसे श्येन मुख स्वस्तिक यन्त्र (Universal tooth forceps), धमनी ग्राही स्वस्तिक यन्त्र (Arteny-forceps), क्रौंच मुख स्वस्तिक यन्त्र (Bullet forceps), इत्यादि।

(२) सदश यन्त्र— इसे आजकल व्रणोपयोगी चिमटी (Dressing forceps) कहा है। इनमे कील नही होती है। ये दो प्रकार की हैं (१) सनिग्रह जिनमे कील होती है (२) अनिग्रह जिनमे कील नही होती है। वाग्भट्ट ने तीसरे प्रकार के सदश यन्त्र का वर्णन किया है जिसे भुचुण्डी कहा है। इसमे एक छल्ला लगा होता है जिससे चिमटी खुलती और बन्द होती है।

(३) तालयन्त्र— इनकी आकृति मछली के तालु के समान बतलाई है। ये दो प्रकार के होते हैं (१) एक ताल (Single scoop) (२) द्विताल (Double scoops) इनका कार्य कर्ण नासा और नाडी व्रण इत्यादि से शल्य को निकालना है।

(४) नाड़ी यन्त्र— ये भीतर से खोखले होते हैं। कुछ एक ओर खुले होते हैं और आजकल इनका बहुत प्रयोग किया जाता है जैसे नासा देखने के लिए Nasal speculum। गुदा देखने के लिए Rectal speculum इत्यादि। इनकी सख्या २० बतलाई है।

(५) शलाका यन्त्र— इनकी आकृति शलाका की तरह होती है और इनकी सख्या २८ बतलाई है। जैसे गण्डूपद मुख शलाका (Blunt probe) सर्पफण मुखी शलाका (Retractors) इत्यादि।

(६) उपयन्त्र— यन्त्रो मे सहायता करने वाले पदार्थों को उपयन्त्र कहते हैं। इनकी सख्या २५ बतलाई है जैसे रज्जु, वस्त्र, पट्टी, लता इत्यादि।

शस्त्र (Sharp Instruments)

तेज धातु वाले हथियारो को शस्त्र कहते हैं। सुश्रुत ने इनकी सख्या २० तथा वाग्भट्ट ने इनकी सख्या २६ बतलाई है।

१ मण्डलाग्र (Sharp spoon) २ करपत्र (Saw) ३ वृद्धिपत्र (Scalpels) ४ नखशस्त्र (Nail parer) ५ मुद्रिका शस्त्र (Ring Knife) ६ उत्पल शस्त्र (Lancet) ७ अर्धधार शस्त्र (Helf edged Knife) ८ सूची (Suture Needle) ९ कुशपत्र

शल्य

लेखक : वैद्य माधवलाल जोशी, जोधपुर

[श्री माधवलालजी जोशी स्थानीय सरदार आयुर्वेद औषधालय (दातव्य) के प्रधान चिकित्सक हैं व सजीवन आयुर्वेद फार्मेसी के सञ्चालक भी। आप राजस्थान प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के प्रधान मंत्री एव मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष रहे है। श्री जोशी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आयुर्वेद की व विद्यापीठ की परीक्षाओं के परीक्षक, निरीक्षक कई वर्षों से रहते आये है आप मिलनसार, कुशल औषधि निर्माता एव शिक्षाशास्त्री हैं। आपके आयुर्वेद क्षेत्र में अनेक शिष्य हैं। चरित्रनायक के आप कृपापात्र विश्वस्त व्यक्तियों में हैं। आप अभिनन्दन ग्रन्थ में सम्पादक मण्डल के सदस्य हैं। समयाभाव रहते हुए भी 'शल्य' नामक सक्षिप्त लेख लिखा है वह छात्रोपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सपादक]

अथर्ववेद के रूपाग आयुर्वेद के ८ अ ग हैं, शल्य, शालाक्य, काय, भूतविद्या, कोमारभृत्य, अगद, रसायन तथा वाजीकरण है।

शरीर तथा अन्त करण मे पीडा करने वालो को शल्य कहते हैं। उदाहरण के रूप मे तृण, काष्ठ, पत्थर, धूलि, लौह, मिट्टी, हड्डी, केश, नाखून, पूय, स्राव आदि विजातीय द्रव्यो के प्रवेश से तथा दूषित व्रण, गर्भ (मृत) आदि शरीर की प्रकृति मे विकृति कराने के कारण अन्त शल्य कहे जाते हैं - इन अन्तः शल्यो को शरीर से बाहिर निकालने के उपाय - यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि व व्रणो की आम, पच्यमान और पक्व अवस्था आदि के ज्ञान को बताने वाले शास्त्र को शल्य तन्त्र (Surgery) कहते हैं।

शल्यतन्त्र की श्रेष्ठता:—विकृत प्रदेश को रुजा कर तत्वो को सपूर्णतया देह से पृथक करने का सर्वश्रेष्ठ साधन इस तन्त्र से प्राप्त होता है, अत इससे पुण्य तथा यश सत्वर मिल जाता है।

शस्त्र तथा प्रायोगिक ज्ञान को महत्व देते हुए इस सम्प्रदाय ने कर्म क्षेत्र मे प्रवृत्ति से पूर्व योग्या (कर्माभ्यास) पर विशेष बल दिया है।

शल्य को निकालने के उपाय को यन्त्र कहते हैं। इनमे प्रधानता चिकित्सक के हाथ की है। इनकी सख्या अनिश्चित या सैकडो है। ये आवश्यकता के अनुसार बनाये जा सकते हैं। प्रकार भेद से इन्हे ६ प्रकार के माने जाते हैं।

१ स्वस्तिक यन्त्र (Cruciform Instruments)

२ सदश यन्त्र (Forceps)

३ ताल यन्त्र (Scoop or spoon)
४ नाडी यन्त्र (Subular Instrument)
५ शलाका यन्त्र (Rods)
६ उपयन्त्र (Accessory Instruments)

(१) स्वस्तिक यन्त्र—इनको आकृति स्वस्तिक के आकार की होती है। इनकी सख्या २४ बतलाई है। इनकी आकृति विविध पशु पक्षियो पर दी गई है। जैसे श्येन मुख स्वस्तिक यन्त्र (Universal tooth forceps), धमनी ग्राही स्वस्तिक यन्त्र (Arteny-forceps), क्रौंच मुख स्वस्तिक यन्त्र (Bullet forceps), इत्यादि।

(२) सदंश यन्त्र— इसे आजकल व्रणोपयोगी चिमटी (Dressing forceps) कहा है। इनमे कील नही होती है। ये दो प्रकार की हैं (१) सनिग्रह जिनमे कील होती है (२) अनिग्रह जिनमे कील नही होती है। वाग्भट्ट ने तीसरे प्रकार के सदंश यन्त्र का वर्णन किया है जिसे मुचुण्डी कहा है। इसमे एक छल्ला लगा होता है जिससे चिमटी खुलती और बन्द होती है।

(३) तालयन्त्र— इनकी आकृति मछली के तालु के समान बतलाई है। ये दो प्रकार के होते हैं (१) एक ताल (Single scoop) (२) द्विताल (Double scoops) इनका कार्य कर्ण नासा और नाडी व्रण इत्यादि से शल्य को निकालना है।

(४) नाड़ी यन्त्र— ये भीतर से खोखले होते हैं। कुछ एक ओर खुले होते हैं और आजकल इनका बहुत प्रयोग किया जाता है जैसे नासा देखने के लिए Nasal speculum। गुदा देखने के लिए Rectal speculum इत्यादि। इनकी सख्या २० बतलाई है।

(५) शलाका यन्त्र— इनकी आकृति शलाका की तरह होती है और इनकी सख्या २८ बतलाई है। जैसे गण्डूपद मुख शलाका (Blunt probe) सर्पफण मुखी शलाका (Retractors) इत्यादि।

(६) उपयन्त्र— यन्त्रो मे सहायता करने वाले पदार्थों को उपयन्त्र कहते हैं। इनकी सख्या २५ बतलाई है जैसे रज्जु, वस्त्र, पट्टी, लता इत्यादि।

शस्त्र (Sharp Instruments)

तेज धातु वाले हथियारो को शस्त्र कहते हैं। सुश्रुत ने इनकी सख्या २० तथा वाग्भट्ट ने इनकी सख्या २६ बतलाई है।

१ मण्डलाग्र (Sharp spoon) २ करपत्र (Saw) ३ वृद्धिपत्र (Scalpels) ४ नखशस्त्र (Nail parer) ५ मुद्रिका शस्त्र (Ring Knife) ६ उत्पल शस्त्र (Lancet) ७ अर्धधार शस्त्र (Helf edged Knife) ८ सूची (Suture Needle) ९ कुशपत्र

(Paget's Knife) १० आटीमुख (Lancet) ११ शरारी मुख (Scissors) १२ अन्तर्मुख (Syme's Abscess knife) १३ त्रिकूर्चक (Brush) १४ कुठारिका (Axe) १५ व्रीहिमुख (Trocar and canula) १६ आरा (Awe) १७ वेतसपत्र (Senald knife) १८ बडिश शस्त्र (Sharp Hooks) १९ दन्तशंकु (Tooth scaler) २० एषणी (Sharp probe)

वाग्भट्ट के अनुसार —

१ सर्पास्य (Snake lancet) २ लिंग नाश वेधिनी शलाका (Catract Needle) ३ कूर्च (Brush) ४ खज (मथाणी) ५ कर्तरी (Pair of Scissors) ६ कर्णवेधनशस्त्र

कौंसिल आफ स्टेट बोर्डस् एण्ड फैकल्टीज आफ इंडियन मेडिसिन

ले० श्री प्रेमशकर शर्मा, भिषगाचार्य

[राजवैद्य श्री प्रेमशकरजी शर्मा चिकित्सक चूडामणि, आयुर्वेदपारगत सिद्धवैद्य श्री शंकरलालजी शर्मा के सुपुत्र हैं, तथा भारत के सर्वोच्च कोटि के विद्वान् युगप्रवर्तक स्वामी श्री लक्ष्मीरामजी के प्रिय शिष्यों में से हैं। आप भी आयुर्वेद के उद्भट विद्वान् हैं अत आयुर्वेदबृहस्पति, प्राणाचार्य तथा विद्यार्णव, आयुर्वेदमहोपाध्याय हैं। आप राजस्थान में आयुर्वेद विभाग के सर्वोच्च निदेशक पद पर आसीन होकर आयुर्वेद की सर्वांगीण सेवा कर रहे हैं। आपने कौंसिल ऑफ स्टेट बोर्डस् एण्ड फैकल्टीज ऑफ इन्डियन मेडिसिन के १२ वें अधिवेशन पटना के अध्यक्ष पद से जो सारगर्भित, शुद्ध व मिश्र पाठयक्रम के बारे में उद्बोधन दिया उसके अश हृदयगम करने के योग्य हैं। आप संपादक मडल के सदस्य हैं। आपका सर्वविध सहयोग रहा है तथा चरित्रनायक के प्रति अत्यधिक आस्था है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

व्याख्यामासरसप्रकाशनमिद स्वस्मिन्यदि प्राप्यते
क्वापि क्वापि कणो गुणस्य तदसौ कर्णेसरण दीयताम् ॥

आयुर्वेद-चिकित्सा के मौलिक सिद्धान्तो के विषय मे सक्षेप से विचार करने पर चिकित्सा एव स्वास्थ्य की आधारभूमि लोक शब्द की महत्ता पर ही सभी पदार्थ केन्द्रित हैं, जैसा कि सुश्रुत ने "पचविंशति-तत्वात्मक पुरुष माना है और चरक ने चतुर्विंशतितत्त्वात्मक पुरुष माना है। और षड्धातुक पुरुष भी। और केवल एक चेतना धातु को भी पुरुष माना है परन्तु एक चेतना धातु चिकित्सा का अधिष्ठान नहीं। अत षड्धातुक-पुरुष चातुर्विंशिकी या पचविंशतितत्वात्मक पुरुष को ही चिकित्सा का आधार माना है। या रोग अथवा आरोग्य का अधिष्ठान स्वीकृत किया गया है जैसा कि चरक सूत्रस्थान मे

"सत्वमात्मा शरीरञ्च त्रयमेतद् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति सयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
सपुमान् चेतन तच्चतच्चाधिकरण स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थंहि वेदोऽय सप्रकाशित च०सू० १। ४५-४६
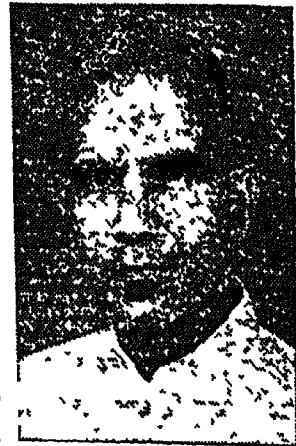
इससे यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान का आधार स्वस्थ शरीर या अस्वस्थ शरीर है। इसलिए आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान के दो मुख्य प्रयोजन माने गये हैं, जैसा कि स्वास्थस्य स्वास्थ्यरक्षण, आतुरस्य विकार-प्रशमने अप्रमादः से स्पष्ट है। स्वस्थ शरीर के लक्षण प्रसग मे दोष अग्नि अथवा धातु आदि की समानता मानने के साथ-साथ आत्मा एव मन की प्रसन्नता का भी महत्व माना गया है। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार स्वस्थ का लक्षण निम्न प्रकार है।

समदोष. समाग्निश्च समधातुमलक्रिय'।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमन स्वस्थइत्यभिधीयते॥

इससे स्पष्ट ही स्वास्थ्य का आश्रय शरीर और मन माना गया है। इसी प्रकार व्याधियो का आश्रय भी शरीर और मन को ही स्वीकृत किया है।

शरीर सत्वसज्ञञ्च व्याधीनामाश्रयोमत तथा सुखानाम्—सु०प्र०

इस विवेचना से वैज्ञानिको के सम्मुख यह विशेष विवादास्पद विषय नही है कि स्वास्थ्य-सरक्षण के लिए शरीर के रसरक्तादि धातु-दूष्य-धमनी, शिरा, रसायनी, स्नायु आदि स्रोत, हृदय, यकृत् प्लीहा आदि अवयव और वात-पित्त-कफ दोषो की समान क्रिया से स्वास्थ्य और असमान क्रिया से अस्वास्थ्य की परपराए चलती है। अस्वास्थ्य की परम्पराओ के चालू रखने मे नानाविध रोग या रोगसमूह कारण हैं अन आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान सम्मत समस्त सामान्य विशेष द्रव्य गुण, कर्म और प्रभावसज्ञक पदार्थों का सम्यक् और असम्यक् प्रयोग ही क्रमश स्वास्थ्य और रोग के कारण हैं। इस विवेचना से स्वस्थ व्यक्ति के लिए स्वस्थवृत का अनुष्ठान एव सदाचार सेवन आवश्यक है, जिससे अनागत रोगो से बचने का अवसर उपस्थित होता है। परन्तु दूष्य और दोषो की असमानता या विकृति से अनेक रोग जब होते हैं उस समय असख्य रोग भेदो के होते हुए भी एव चिकित्सा की सुविधा के लिए वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक रोगो को भी हम दो भेदो मे ही विभाजित कर सकते हैं। प्रथम रोगसमूह को सौम्य रोग समूह मे तथा दूसरे को आग्नेय रोग-समूह मे वर्गीकृत किया जा सकता है, क्योकि 'अग्निषोमात्मक जगत्'—इस सिद्धान्त के अनुसार सभी पदार्थ आग्नेय और सौम्य दो भेदो मे ही विभक्त किये जा सकते हैं। शरीर के घटक रसरक्तादि धातु और वातपित्तकफ दोष और विविध मलो को आग्नेय और सौम्य वर्ग मे रख सकते हैं। अस्थि, रक्त, पित्त, आग्नेय वर्ग मे, रस, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र और कफ सौम्य वर्ग मे, इसी तरह धमनिया एव पित्तवाहिनियाँ आग्नेय वर्ग मे, शिराएँ, रसनीया आदि सौम्यवर्ग मे परिगणित कर सकते हैं। दोषो मे भी वात, पित्त को आग्नेय वर्ग मे तथा कफ को सौम्य वर्ग मे मानते हुए इन प्रभाव भी शरीर म उष्ण और शीत रूप मे प्रतिभासित होते हैं। अतः प्रत्येक सौम्य व्याधि मे आग्नेय आहार-विहार और औषध का

सहज बल
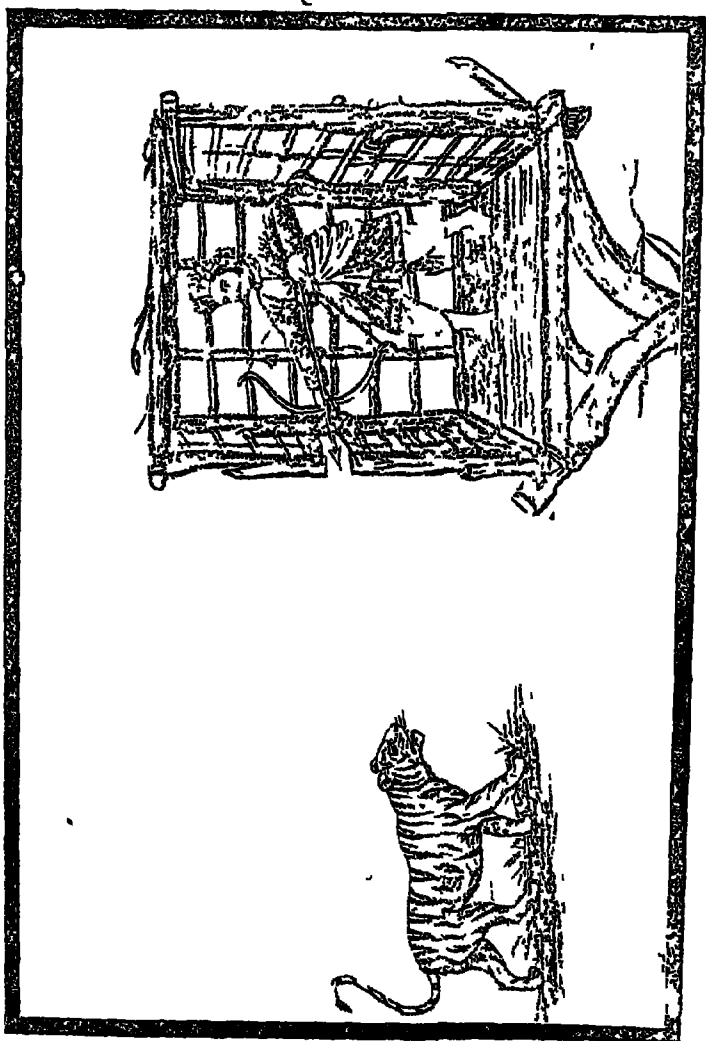
युक्तिकृत बल

उपयोग और प्रत्येक आग्नेय व्याधि मे सौम्य आहार-विहार एव औषधि का उपयोग करने से लाभ होता है। यही एक कायचिकित्सा का आधारबिन्दु है, जिसके सम्यक अनुशीलन से समस्त रोगो को चिकित्सा मे कुशलता प्राप्त होती है। इसी सौम्याग्नेय रोगसमूह को सतर्पण तथा अपतर्पणजन्य व्याधिसमूह भी स्वीकृत किया है जैसा कि चरक के लघन बृहणीय अध्याय मे।

"लघन बृहण काले रूक्षण स्नेहन तथा।
स्वेदन स्तम्भन चैव जानीते य स वै भिषक्॥

इसमे भी लघन, रुक्षण और स्वेदन ये तीन उपक्रम आग्नेय वर्ग मे या अपतर्पण वर्ग में समाविष्ट हैं और बृहण, स्नेहन तथा स्तभन ये भी उपक्रम सौम्यवर्ग मे या सतर्पण वर्ग मे माने गये। इससे यह सकेत किया गया है कि मात्रा और काल का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त छहो उपक्रम सभी साध्य रोगो के निवारण मे सफल माने हैं। इस तरह चिकित्सा को छ उपक्रमो मे विभक्त करके भी सौम्य-आग्नेय भेद से या सतर्पण अपतर्पण भेद से दो प्रकार की मानी गई है। आयुर्वेद सम्मत इस सिद्धान्त से यह समझने मे कठिनता नही होती है कि सौम्य कारणो से उत्पन्न रोग समूह मे अपतर्पण या आग्नेय चिकित्सा की जाती है और आग्नेय कारणो से उत्पन्न रोगो मे सौम्य या संतर्पण चिकित्सा की जाती है।

इस सौम्य और आग्नेय द्विविध रोग समूह मे वायव्य रोग का तीसरा भेद भी वायु के योग का ही होने से सौम्य व आग्नेय मे ही वायव्य रोगसमूह भी अन्तर्भूत होते हैं। इससे धनुर्वातादि शुद्ध वातजन्य रोगो मे भी पित्त और कफ का साहचर्य होने से वातरोगो मे जो आहार, विहार और औषधकल्पना मे सौम्य और आग्नेय का दृष्टिकोण रखना पडता है और आवरक एव धातुक्षयजन्य वात रोगो मे सशोधन या अपतर्पण, बृंहण या सन्तर्पण, दूसरे शब्दो मे आग्नेय या सौम्य चिकित्सा विधियो का ही आश्रय लेना पडता है। यह एक विचारशैली है जिससे कि हम पथ्य एव औषध कल्पना के लिए सौम्य एव आग्नेय रोगसमूह का चिन्तन कर, चिकित्सा मे वैशिष्ट्य प्राप्त कर सकते हैं। इन सौम्य और आग्नेय रोगसमूहो की चिकित्सापद्धतियाँ मुख्यत: तीन प्रकार की है, जैसा कि दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय, और सत्वावजय तीन प्रकार की मानी गई हैं, और तीनो पद्धतियो का विश्लेषण करते हुए जो व्याख्या आचार्य चरक द्वारा की गई है वह निम्नाकित वाक्यो से स्पष्ट है।

तत्रदैवव्यपाश्रय मत्रौषधिमणिमंगलबल्यु पहार होमनियम प्रायश्चित्तोपवास स्वस्त्ययन प्रणिपात-गमनादि, युक्तिव्यपाश्रय पुनराहारौषधद्रव्याणा योजना, सत्वावजय पुनरहितेभ्यो. अर्थेभ्यो मनोनिग्रह" — च० सू० ११:

इसी तरह शरीर दोषप्रकोप को लेकर अन्त परिमार्जन, बहि परिमार्जन, और शस्त्र-प्रणिधान त्रिविध चिकित्सा निर्देश किया गया है जैसा कि इनके व्याख्याप्रसग मे.—

यन्त्रान्त परिमार्जनम्-यदन्तः शरीरमनुप्रविश्यौषधम्-आहार जातव्याधीन् प्रमार्ष्टि, यत्रपुनः बाहिस्पर्शनमाश्रित्य अभ्यगस्वेदप्रदेहपरिषेकोन्मर्दनाद्यै -रामयान प्रमार्ष्टितद् बहिपरिमार्जनम् । शस्त्रप्रणिधान पुन छेदनभेदन व्यधन दारणलेखनोत्पाटनप्रच्छनसीवनैषणक्षारजलोकसश्चेश्ति '—

से स्पष्ट सकेत किया गया है। इनकी विस्तृत व्याख्या समस्त आयुर्वेदशास्त्र मे यत्र-तत्र उपलब्ध है । अत रोगप्रशमन के लिए आरम्भ ही से प्रमादरहित होकर उत्तम त्रिविध चिकित्सा-विधियो से चिकित्सा कराने मे जागरूकता रक्खे, अन्यथा शत्रु की तरह बढा हुआ रोग भी घातक होता है। इस सतर्कता से चिकित्सा कराने की सूचनाएँ आचार्यों ने स्थान-स्थान पर दी हैं, जैसा कि निम्नाकित पद्यावली से उक्त तथ्यो की पुष्टि की गई है :—

प्राज्ञो रोगे समुत्पन्ने बाह्येनाभ्यन्तरेण वा ।
कर्मणा लभते शम शस्त्रोपक्रमणेन वा ।।
बालस्तु खलु मोहाद्वा प्रमादाद्वा न बुध्यते ।
उत्पद्यमान प्रथम रोग शत्रुमिवाबुध ।।
अणुर्हि प्रथम भूत्वा रोग पश्चाद्विवर्धते ।
स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मते ।।
मूढो न लभते सज्ञा तावद्यावन्न पीड्यते ।
पीडितस्तु मति पश्चात्कुरुते व्याधिनिग्रहे ।।
अथ पुत्राश्च दाराश्च ज्ञातीश्चाहूयभाषते ।
सर्वस्वेनापिमे मे कश्चिद्भिषगानीयतामिति ।।
तथाविध च कः शक्तो दुर्बल व्याधिपीडितम् ।।
कृश क्षीणेन्द्रिय दीन परित्रातु गतायुषम ।
स त्रातारमनासाद्य बालस्त्यजति जीवितम् ।
गोधा लांगूलबद्धेवा कृष्यमाणा बलीयसा ।
तस्मात्प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा ।
भेषजै प्रतिकुर्वन्ति य इच्छेत्सुखमात्मन ।।

इन समस्त विचारधाराओ से यह स्पष्ट है कि प्राणिवर्ग की चिकित्सा मे कितनी सावधानी अपेक्षित है, चाहे वह मानव जाति की चिकित्सा का प्रश्न हो या मानव जाति के अतिरिक्त पशुपक्षी और वनस्पतियो को रोगरहित रखने का प्रश्न हो । मानव बुद्धिजीवी होने से उसके स्वास्थ्य के सरक्षण के लिए पशुपक्षी तथा वनस्पतियो को स्वस्थ रखना नितात आवश्यक है और जिस तरह मानव जाति के लिए त्रिदोष-विज्ञान और पचमहाभूत के सिद्धान्तो के आधार पर चिकित्सा का विचार किया है इसी प्रकार पशु चिकित्सा के लिए गो, गज, अश्व आदि पशुओ एव विविध पक्षियो की चिकित्सा का वर्णन भी पशुपक्षी-आयुर्वेद-शास्त्र के नाम से किया गया है जिनके प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं । इसी प्रकार वनस्पतियो की विभिन्न विकृतियो को मिटाकर उनको अधिक फलयुक्त बनाने का सविधान भी अग्नि-

पुराण आदि ग्रन्थो मे यत्र तत्र उपलब्ध होता है। इसके लिऐ अग्निपुराण के अनेक अध्यायो मे इसका वर्णन मिलता है वहा से इसका अनुशीलन किया जाना चाहिये। सक्षेप मे यही सकेत किया जा सकता है कि मानव जाति को पूर्ण स्वस्थ रखने के लिए पशु पक्षी एव वृक्षादि वनस्पतियो को भी निरोग रखना नितान्त अपेक्षित है। अत आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान के मनिषियो के सम्मुख मानव को नीरोग रखने के लिए उपरिनिर्दिष्ट चिकित्सा-विधियो मे कितना विकास आज अपेक्षित है, इस सम्बन्ध मे भी हमको सतर्कता रखनी होगी कि पशुपक्षी और वृक्षो की चिकित्सा के लिए उपदिष्ट चिकित्सा-ज्ञान का भी अनुसधानात्मक विश्लेषण करना आवश्यक ही नही, अनिवार्य रूप से हमारा उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए हमे आज इस परिषद् मे विचार करना है और समय-समय पर हमने इस परिषद् के माध्यम से पाठ्यक्रम आदि विषयो मे एकरूपता लाने के बारे में विचार किया भी है। जो मुख्य प्रश्न आज हमारे सामने उपस्थित है वह चिकित्सा की चतुष्पाद सम्पत्ति को समृद्ध बनाने का है। चतुष्पाद सम्पत्ति मे चिकित्सक का स्थान सर्वोपरि है, अत चिकित्सक को रोगो के निमित्त, पूर्वरूप, उपशय, सख्या, प्राधान्य, विधि, विकल्प, बल, काल विशेषो तथा दोष, भेषज, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सार, सात्म्य, प्रकृति और वय के परिमाण का ज्ञान करना व्याधिनिग्रह के लिए नितान्त अपेक्षित है। इसी प्रकार दोषादिमानज्ञ चिकित्सक ही दोष और व्याधिनिग्रह करने मे सक्षम होता है और वही चिकित्साप्राभृत चिकित्सक होने के लिए अधिकृत है। जैसा कि —

चिकित्साप्राभृतोविद्वान् शास्त्रवान् कर्मतत्पर ।
नर विरेचयति य स योगात् सुखमश्नुते ॥
य वैद्यमानीत्वबुधो विरेचयति मानवम् ।
सोऽतियोगादयोगाच्च मानवो दुःखमश्नुते ॥

अत प्राणाभिसर या चिकित्साप्राभृत चिकित्सक ही मान्य चिकित्सक है।

तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने ।
भिषग् चतुष्टये युक्त. प्राणाभिसर उच्यते ॥
हेतौलिंगे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे ।
ज्ञान चतुर्विध यस्य स राजार्हो भिषक्तम ॥

च० सू० ६-१६-१०

उक्त पद्यो से भी यह प्रमाणित है कि ज्ञानवान चिकित्सक ही राजार्ह या राजमान्य चिकित्सक माना जा सकता है और ऐसे चिकित्सक के निर्माण के लिए रोगो के हेतुलक्षण प्रशमन के लिए तथा रोगो की अनुत्पत्ति के लिए जिस चिकित्सक को ज्ञान हो उसी चिकित्सक की महत्ता मानी गई है। अत चिकित्सा सम्बन्धी समस्त ज्ञान चाहे वह शरीर-रचना या शरीरक्रिया सम्बन्धी हो या प्रसूति-कौमारभृत्य से सम्बन्धित हो रोग-निदान एवं

काय चिकित्सा से सबधित हो और चाहे वह शल्य-शालाक्य से सम्बन्धित हो सभी तरह के ज्ञान से चिकित्सक को समृद्ध बनाने का स्पष्ट निर्देश है। चाहे इस प्रकार का ज्ञान भारतवर्ष मे आविष्कृत हुआ हो चाहे उत्तर देशो से लिया गया हो। जो प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तोपदेश से प्रमाणित कर लिया गया हो— ऐसे चिकित्सा-विषयक ज्ञान को लेकर आयुर्वेद चिकित्सा-विज्ञान को समृद्ध बनाने का प्रश्न समस्त भारत के वैद्यसमाज के सम्मुख उपस्थित है। इस सम्बन्ध मे अधिक भ्रमजाल मे पड कर आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सिंहावलोकन करें तो वैदिक काल से ले कर नागार्जुन काल तक का ज्ञान—विनिमय का इतिहास मुह खोल कर हमको कहता है कि—

"धन्य यशस्यमायुष्य लोकहित यद्वच तदादेयम् अनु विधातव्यञ्च, आचार्यः सर्वचेष्टासुलोक एवहि धीमतः। अनुकुर्यात्-तमेवातो लौकिकेऽर्थेपरीक्षक ॥

इन सूक्तियो से भी यह डिण्डिमघोष किया गया है कि खुला मस्तिष्क रख कर विश्व की अच्छी बातें ग्रहण करनी चाहिए और उदाराशय रख कर अपनी अच्छी बातें विश्व को देनी चाहिए। यही ज्ञानविनिमय का महत्व है। अतः अच्छे स्नातको के निर्माण के लिए हमे एक आदर्श पाठ्यक्रम को समस्त भारतवर्ष मे चालू करना है और इस सम्बन्ध मे हमने पिछले अधिवेशनो मे भी इस दिशा मे सफल यत्न किये हैं।

आयुर्वेद शिक्षा — मुझे जहा तक स्मरण है और आप सभी मनीषी इस बात को जानते हैं कि विभिन्न प्रदेशो मे विभिन्न नामो के पाठ्यक्रम चलते रहे हैं और विभिन्न उपाधिया भी दी जाती रही है। प्रत्येक प्रदेश को अपने-अपने यहा की उपाधियो का नाम रखने का व्यामोह रहा है और एक दूसरी उपाधि को अच्छी बुरी मानने का भी दुराग्रह बढता रहा है। कई स्थानो पर पाठ्यक्रम मे एलोपैथी के अधिकतम विषयो का समावेश किया गया है। उन डिग्रियो का नाम भी एम० बी० बी० एस० की तरह कुछ शब्दो को घटा-बढा कर रखा गया है। यह स्वाभाविक था कि स्नातको मे वैद्य शब्द के प्रति निराशा होने लगी और वे अपने आपको 'डाक्टर' शब्द से सम्बोधित करने मे अधिक सम्मान समझने लगे। इन विवेकहीन परम्पराओ से आयुर्वेद-कॉलेज मेडिकल कॉलेजो के रूप मे परिणत होने लगे, यह आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान के मनीषियो के लिये गौरव की बात नही मानी जा सकती।

पाठ्यक्रम के विषय को समस्त प्रदेशो के इण्डियन मेडिसिन बोर्ड्स, विभागीय शिक्षा बोर्ड्स, एव विभिन्न विश्वविद्यालयो की फैकल्टियो द्वारा बहुत सशोधन, परिवर्तन परिवर्धन द्वारा बनाया गया और विभिन्न प्रदेशो मे चलाया जाता रहा। परिणामस्वरूप पाठ्यक्रम मे एकरूपता लाने और सर्वत्र एक ही उपाधि सर्वत्र मानी जाने की विचारपरम्परा समृद्ध नही बन सकी। लखनऊ मे उत्तरप्रदेश सरकार ने सम्पूर्णानन्द—कमेटी द्वारा भी

एक पाठ्यक्रम बनाया तथा अन्य पाठ्यक्रम भी बनाये गये—इन सभी पाठ्यक्रमो को ध्यान मे रखते हुए इस कौसिल ने अब तक इस बात का प्रयत्न किया है कि पाठ्यक्रम मे एक-रूपता आवे और एक ही उपाधि सभी स्थानो पर दी जा सके। इस कौसिल के जयपुर अधि-वेशन मे भी एक पाठ्क्रम तय किया गया था जिसको सर्वसम्मत पाठ्यक्रम मान लिया गया था। और शरीरक्रियाविज्ञान, प्रसूति कौमारभृत्य, शल्यशालाक्य आदि नवीन विषयो को जितने अशो मे समाविष्ट किया जाना उपयुक्त समझा गया, समाविष्ट किया गया। इस पाठ्यक्रम मे आयुर्वेद-शिक्षा का वास्तविक स्वरूप सुरक्षित रक्खा गया और चिकित्सा-सम्बन्धित-विषयो मे आयुर्वेद चिकित्सा-विषयक ज्ञान का ही प्राधान्य रक्खा गया है। यह पाठ्यक्रम आज भी आपके सम्मुख प्रस्तुत है, जिसमे शुद्ध और मिश्रवाद को भी प्रोत्साहित होने का कोई अवसर उपस्थित नही होता। हमे आज इस बात का निर्णय कर लेना होगा कि हम शुद्ध-मिश्र के झगडे से ऊपर उठकर आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान का प्रतीक जो भी पाठ्यक्रम हो, स्वीकार कर लें और उसी को केन्द्रिय शासन के सम्मुख प्रस्तुत कर भारत-सरकार से साग्रह अनुरोध करें कि वह इस पाठ्यक्रम को समस्त भारत में लागू करे।

पिछले अध्यक्षीय भाषणो मे भी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और मैं भी इस सम्बन्ध मे सहमत हूँ कि आयुर्वेद जैसे वैज्ञानिक चिकित्सा-विज्ञान के विकास के लिये चिकित्सा-विषयक समस्त अन्वेषणो का प्रकाश आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान मे भी लिया जाना चाहिये। इससे विज्ञान बढता है।

शुद्ध और मिश्र का भ्रमनिवारण— किसी भी विज्ञान के आरम्भिक स्वरूप का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस चिकित्सा-विज्ञान मे अन्य चिकित्सा-विज्ञानो का प्रकाश लिया गया है। एलोपैथी चिकित्सा-विज्ञान का उदाहरण ही इस सत्य को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होगा। ऐसी स्थिति मे नागार्जुन काल से अब तक जिन किन्ही परिस्थितियो मे भी अब तक आयुर्वेदिक, यूनानी चिकित्सा मे अनुसधान की प्रवृत्ति के अभाव मे आयुर्वेद यूनानी चिकित्सा-विज्ञान का साहित्य आगे नही बढ सका। न तो पशुपक्षी और न वृक्षायुर्वेद के बारे मे ही कोई गवेषणाए आगे बढी और न शल्यशालाक्य मे ही सुश्रुत के काल से आगे प्रगति हो सकी। जो कुछ आयुर्वेदचिकित्साविषयक ज्ञान है वह भी अधूरा है। जो काय चिकित्सा का ज्ञान प्रचलित है उससे भी हम आज आगे बढ नही पा रहे हैं। इसका मुख्य कारण स्वतन्त्रताप्राप्ति के पूर्व तात्कालिक राज्यशासन द्वारा की गई उपेक्षा मानी जा सकती है परन्तु वैद्यजगत् का परमुखापेक्षी रहना भी एक कारण है। धार्मिक सम्प्रदायो में जिस तरह अनेक मतान्तर हैं, आयुर्वेद एव यूनानी सम्प्रदाय के व्यक्तियो मे भी अनेक मतान्तर कई वर्षों से चल रहे हैं। इस सम्बन्ध मे यह कहना अनुचित नही होगा कि सैकडो वर्षों मे नवीन अन्वेषणो के अभाव मे उपलब्ध ग्रन्थो मे प्राप्त ज्ञान को

सर्वस्व आयुर्वेद मान कर उससे आगे न बढने की प्रवृत्ति आयुर्वेदचिकित्सा-विज्ञान के विकास के लिए घातक सिद्ध हुई है। मैं इस सबध मे इस कौसिल के माध्यम से आप सभी का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहूगा कि आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान के विकास के लिए यदि हमे कुछ करना है तो आज जो शुद्ध तथा मिश्र का झगडा है उसको समाप्त करना होगा। शुद्ध सम्प्रदाय वाले यदि यह कहे कि एक शब्द भी किसी नवीन चिकित्सा-विज्ञान का उसमे नही लिया जाय या उपयुक्त ज्ञान का समावेश न किया जाय तो यह कहना दुराग्रहमूलक और भ्रान्त धारणाओ के आधार पर आधारित होगा, क्योकि शुद्ध पाठ्यक्रम मे भी स्थान-स्थान पर अनेक विषय नवीन चिकित्सा-विज्ञान से लिए गए हैं जिनकी चर्चा करना उचित नही होगा। इसी तरह मिश्र पक्ष वाला सम्प्रदाय, जिसका पृथक एक सगठन भी नेशनल मेडिकल एसोसियेशन के नाम से बना है और उस सम्प्रदाय वाले चिकित्सको की मागें भी पृथक रूप से बढती जा रही हैं, यह स्थान-स्थान पर अनुभव किया जा रहा है। अन्तस्तल को टटोल कर विचार करें तो निष्पक्ष विचारको के सम्मुख यह सत्य भी प्रतिफलित होता है कि मिश्र या इण्टिग्रेशन के नाम से बना यह पृथक सम्प्रदाय भी आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान के लिए घातक सिद्ध होगा। इस अवसर पर मैं यही नम्र निवेदन करना उपयुक्त समझता हूँ कि शुद्ध और मिश्र के नाम से बने हुए ये दोनो सम्प्रदाय किसी भी परिस्थिति मे आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान का उत्कर्ष नही कर सकेंगे। इतिहास इस बात का साक्षी है कि एलोपैथिक चिकित्सा मे वायुर्वेद यूनानी चिकित्सा की अनेक अच्छी बातें ली गई हैं, परन्तु उस विज्ञान को इण्टीग्रेटेड नही कहा जाता। इसी तरह आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान मे नागार्जुन काल तक अनेक सशोधन और परिष्कार हुए, परिवर्तन और परिवर्धन भी हुए परन्तु उसको शुद्ध-मिश्र के नाम से कभी व्यवहृत नही किया गया। ऐसी स्थिति मे आयुर्वेद यूनानी-चिकित्सा विज्ञान के सामूहिक हित का प्रश्न जहा उपस्थित हो वहा शुद्ध-मिश्र का झगडा करते हुए आज तक हम अपने स्नातकस्तर पाठ्यक्रम मे भी एकरूपता नही ला सके।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी इस विवाद मे उलझे रह कर हम अब तक स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम और अनुसधान की रूपरेखा मे एकरूपता का दिग्दर्शन नही करा सके। आखिरकार इसका उत्तरदायित्व किस पर है? अस्तु, "गतनशोचामि" इस सिद्धात के अनुसार अब भी हमे रागद्वेषरहित होकर शुद्ध-मिश्र शब्द के दुराग्रह को छोडना है जब कि हम सभी पाठ्यक्रमो के बारे मे अपने मौलिक सिद्धातो की आधारशिला पर नवीन विषयो के विनिमय मे एकमत हैं।

निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद सम्मेलन के मौजूदा अधिवेशन के सम्मुख भी इस बात का आश्वासन मिला है कि शुद्ध आयुर्वेद-पाठ्यक्रम समिति ने भी शुद्ध उठा लिया है।

अतः अकारण बढते हुए इन भ्रान्त धारणाओ पर आधारित शुद्ध-मिश्र के विवाद को अब दोनो ही पक्षो की ओर से समाप्त किया जाना चाहिये।

शासन और आयुर्वेद के विकास की योजनाए आयुर्वेद एव यूनानी सिद्धसम्प्रदाय एव आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति — मैं पूर्व ही यह निवेदन कर चुका हू कि कई भ्रान्त धारणाओ के वश ऐसी परम्पराए हमारे यहा पड गई है कि हम उनको शीघ्र ही हटा नही सकते। ठीक इसी तरह आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान के अविभाज्य अग सिद्धचिकित्सा को भी आयुर्वेद से पृथक् चिकित्सा पद्धति मानने लगे है। मद्रास, केरल, मैसूर और आन्ध्र प्रदेश मे आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान से सिद्ध सम्प्रदाय का पृथक् अस्तित्व मानते हैं। परन्तु यह वास्तविकता से बहुत दूर है। सिद्ध चिकित्सा पद्धति के विशेषज्ञो का पृथक् सम्प्रदाय दक्षिण मे है, यह सौभाग्य की बात है। परन्तु आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति से पृथक् मानते हुए सिद्ध चिकित्सा पद्धति का विकास सभव नही है, क्योकि जिन पचमहाभूत, रस, गुण, वीर्य विपाक एव वात, पित्त, कफ के मौलिक आधारो पर आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान आधारित है, सिद्ध-चिकित्सा पद्धति का भी वही आधार है। अत सिद्ध चिकित्सा पद्धति के साथ ही आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान का प्रश्न भी हल किया जाना चाहिए।

राज्य शासन योजना और आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा पद्धतियो की विकास योजनाएँ — भारत की स्वतन्त्रता के बाद यद्यपि ऐलोपैथी के मुकाबले में आयुर्वेद एव यूनानी चिकित्सा विज्ञान के विकास के लिए शासन द्वारा १० करोड की रकम आवटित की गई है फिर भी दस करोड को राशि भारत के समस्त प्रदेशो के लिये निर्धारित करना ऐलोपैथी पर खर्च की जाने वाली ४०० करोड की राशि के मुकाबले मे नगण्य है। १० करोड की राशि के अन्तर्गत भी आयुर्वेद, यूनानी, नेचरोपैथी, यौगिक, होमियोपैथी तथा सिद्ध चिकित्सा पद्धति के लिये सहायता देने का प्रावधान है। इस प्रावधान के अन्तर्गत विभिन्न प्रादेशिक सरकारो ने आयुर्वेद, यूनानी एव सिद्धचिकित्सा आदि के विकास के लिये प्रगति का कदम उठाया है। उनमे राजस्थान, गुजरात, उत्तरप्रदेश, केरल, मध्यप्रदेश आदि का नाम लिया जा सकता है। राजस्थान मे १६०० आयुर्वेदिक औषधालय चल रहे हैं जिनमे १५ से २० रोगी शय्याओ वाले, १६ अ श्रेणी के औषधालय हैं और १०० रोग शय्याओ वाले दो आयुर्वेदिक होस्पिटल हैं। तीन डिग्री कालेज तथा ६ डिप्लोमा कालेज राज्य मे चल रहे हैं, जिनमे एक यूनानी है। राज्य मे दो आयुर्वेद के डिग्री कालेज हैं। अवशिष्ट मे भिषगाचार्य के स्तर वाले प्राइवेट कालेजो को ७५ प्रतिशत तथा डिप्लोमा तक के कालेजो को ५० प्रतिशत आर्थिक सहायता दी जाती है। अन्य चिकित्सा सस्थाओ को, जिनकी सख्या १०० से भी अधिक है, ५० प्रतिशत आर्थिक सहायता दी जाती है। वैद्यो को अधिक योग्यता प्राप्त कराने की दृष्टि से एक वर्ष का रिफ्रेशर कोर्स भी चालू है और राज्य मे

धात्री तथा उपवैद्यो के प्रशिक्षण के लिए भी तीन प्रशिक्षण केन्द्र राज्य की ओर से सचालित हैं। इस प्रकार राजस्थान मे वैद्य, परिचारक, औषध और आतुरशय्याओ की व्यवस्था कर गुणवत् चतुष्पाद सम्पत्ति सुस्थिर करने की योजनाए क्रियान्वित की गई हैं। इन सभी योजनाओ पर इस समय १ करोड ४५ लाख रुपया खर्च हो रहा है और चतुर्थ योजना से ८५ पिच्चासी लाख रुपया इन योजनाओ को समृद्ध बनाने तथा स्नातकोत्तर प्रशिक्षण प्रारम्भ करने तथा वनस्पति-अनुसधान एव उत्पादन के लिए स्वीकृत है। भारत-सरकार के सहयोग से राजस्थान-सरकार द्वारा बढाया गया यह प्रगति का कदम प्रशसनीय है।

इसी तरह गुजरात शासन द्वारा भी थोडे से समय मे जामनगर मे स्नातकोत्तर शिक्षण को सफल बनाने के साथ आयुर्वेद-विश्वविद्यालय की योजना को सफल बनाने का सक्रिय कदम प्रशसनीय है। उत्तरप्रदेश शासन द्वारा आयुर्वेद-शिक्षास्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास किया गया है और राज्य मे आतुरालय वाले चिकित्सालयो को अधिक विकसित करने का कदम भी बढाया है। और राजस्थान और गुजरात मे वैद्यो का वेतनस्तर भी अधिक समृद्ध बनाने का प्रयास किया गया है।

केरल, मध्यप्रदेश और पन्जाब मे भी आयुर्वेदचिकित्सालय अव आयुर्वेद महा-विश्वविद्यालयो का सचालन किया गया है। उडीसा, बगाल तथा बिहार प्रदेश मे भी आयुर्वेद के लिये कुछ-न-कुछ प्रगति के कार्य किये जा रहे हैं तथा सोचे जा रहे हैं। परन्तु यह सभी कार्य अभी तक सतोषजनक नही माने जा सकते हैं।

इस प्रकार समस्त भारत के विभिन्न प्रदेशो में आयुर्वेद, यूनानी एव सिद्ध चिकित्सा के लिए कुछ-न-कुछ विकास हुआ है, फिर भी अभी तक शल्य शालाक्य, प्रसूति, कौमार-भृत्य, द्रव्यगुण, रसशास्त्र, कायचिकित्सा आदि चिकित्सा के विशिष्ट अगो मे विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिये स्नातकोत्तर प्रशिक्षण-केन्द्रो का अभाव खटकता है। स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्रो के अभाव मे विभिन्न विषयो पर होने वाला अनुसधान कार्य भी आज सतोषजनक स्थिति में नही है। इससे भ्रान्त धारणाए आज फैल रही हैं। उनका निराकरण तब तक होना सभव नही है जब तक कि मौलिक सिद्धातो के आधार पर विभिन्न विषयो के विशेषज्ञ तैयार नही किये जायँ और अनुसधान कार्य को अधिक प्रोत्साहित नही किया जाय।

इस सम्बन्ध मे भारत-सरकार ने अनेक कमेटिया गठित की हैं, जिनमे पण्डित कमिटी, चोपडा कमिटी, उडुप्पा कमिटी का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। उक्त कमिटियो की रिपोर्ट्स के आधार पर योजनाएँ चालू होने पर भी शुद्ध-अशुद्ध पाठ्यक्रम के विवाद ने भी हमको आगे बढने से रोका है। किसी एक पक्ष का आग्रह रख कर किसी एक पक्ष को अच्छा या बुरा कहने का या मानने का मेरा कोई अभिप्राय नही है, परन्तु मेरी निजी मान्यता है कि आयुर्वेदिक एव यूनानी चिकित्सा के मौलिक सिद्धातो की

आधारशिला पर नवीनतम आविष्कारो के प्रकाश से आयुर्वेद एव यूनानी चिकित्सा-विज्ञान को अवश्य ही समृद्ध बनाया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध मे जैसा कि पहले भी मैं निवेदन कर चुका हूँ, जयपुर-कन्वेन्शन के समय जो इस कौन्सिल के द्वारा पाठ्यक्रम तैयार किया गया उसको आधार बिन्दू मानते हुए हमे पाठ्यक्रम के बारे मे निश्चित ही एकमत हो जाना चाहिये।

राजस्थान-विश्वविद्यालय ने एक पचवर्षीय पाठ्यक्रम भी इसी आधार पर बनाया है, जिसकी उपाधि 'आयुर्वेदाचार्य' है। इस प्रकार शुद्ध आयुर्वेद की केन्द्रीय शिक्षा-समिति द्वारा प्रस्तावित पचवर्षीय पाठ्यक्रम और राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा निर्मित पाठ्यक्रम तथा इस कौन्सिल द्वारा निर्मित जयपुर कौन्सिल मे स्वीकृत पाठ्यक्रम को आधार मानते हुए समस्त भारतवर्ष के लिये एकरूप पाठ्यक्रम सचालित करने के लिये भारत-सरकार से अनुरोध करना चाहिये। अब हमारा बहुत समय शुद्ध-अशुद्ध के विवाद मे नष्ट हो चुका है। अब समय विवाद का नही है। एकमत होकर सारे भारतवर्ष मे एक ही तरह का आयुर्वेद पाठ्यक्रम, स्नातक, एव स्नातकोत्तर का कार्य चालू करवाना हमारा पवित्र कर्त्तव्य हो गया है। आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान के लिये पाठ्यक्रम, अनुसधान, औषधनिर्माण सर्वसाधारण जनस्वास्थ्य सरक्षण योजनाओ को सफल बनाने के लिये इस समय एक स्थिर नीति की आवश्यकता है, और ऐसी स्थिर नीति का निर्धारण तब तक सम्भव नही है जब तक कि मेडिकल कौन्सिल की तरह आयुर्वेदिक कौन्सिल बनाने का निर्णय भारत-सरकार द्वारा नही ले लिया जाता। लम्बे अरसे से इस सम्बन्ध मे प्रयास हमारे राष्ट्र के प्रख्यात मनीषी एव आयुर्वेद के नेता कर रहे हैं और यह कौन्सिल भी आरम्भ से अन्त तक इस प्रश्न को लेकर प्रयत्नशील है। विदित हुआ है कि इसका एक बिल भी तैयार किया जा चुका है और शीघ्र ही ऐसी कौन्सिल भारत-सरकार द्वारा बनाई जा रही है। यदि यह सत्य है तो निश्चित ही आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान का विकास स्वतन्त्र रूप से इस देश मे तो होगा ही, परन्तु आयुर्वेद-चिकित्सा के अनुपम उपहार अन्य देशो को भी दिये जा सकेंगे और खुले मस्तिष्क से अन्य देशो का सत्य भी लिया जा सकेगा। अत, आयुर्वेद कौन्सिल की स्थापना का लक्ष्य भी इस कौन्सिल का रहा है और हमे आज भी इसके लिए दृढता-पूर्वक कदम उठाना चाहिए।

चिकित्सा में 'चरक' की विशिष्टता

ले०—वैद्य मदनकुमार शास्त्री

[श्री शर्मा आयुर्वेद विषय के अच्छे विद्वान् हैं। आपने भिषगाचार्य सर्वप्रथम से उत्तीर्ण कर स्वर्ण पदक प्राप्त किया है। वर्तमान में राजकीय मदनमोहन मालवीय आयुर्वेद महाविद्यालय उदयपुर में आचार्य पद पर हैं। आपका मूल लेख संस्कृत में था, परन्तु पाठकों की सुविधा के लिए हिन्दी अनुवाद किया गया है जिससे कि जनसाधारण भी चरक के सम्बन्ध में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त कर सके। आपका लेख 'चरक की चिकित्सा विशेषता' मननीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

वैद्यक ग्रन्थो में चरक संहिता या अग्निवेशतन्त्र सारे आयुर्वेद सूत्रण मे उच्चकोटि का ग्रथ कहा जाता है इसमें किसी को भी आपत्ति नही हो सकती। जिस प्रकार धनुर्धर कहने से एक मात्र अर्जुन का बोध होता है तद्वत् चिकित्सा मे चरक ग्रथ की महिमा प्रत्येक वैद्य मात्र के ध्यान में रहती ही है।

अब हमें देखना यह है या यह विचार करना है कि चरक ने रोगो की चिकित्सा किस चतुरता के साथ कही है। ये सब बाते तो चरक के आद्योपान्त अध्ययन से ही सम्भव है परन्तु आज हम भी कुछ विशेषताओ पर विचार करते हैं। आयुर्वेद के आठ अग सरलता व सुबोधता की दृष्टि से किये है। उन आठ अङ्गों में "काय चिकित्सा" नामक अङ्ग बडा ही गभीर अर्थ वाला व बहुप्रयोजन वाला होने से अष्टाग के वर्णन में पहिले उसे रखा है।

काय बालग्रहोर्ध्वांग शल्य दंष्ट्रा जरा वृषान्।

व्याकरण की दृष्टि से काय शब्द का निर्माण चिञ् चयने धातु से हुआ है जिसका अर्थ होता है प्रशस्त दोष धातु मलो से देह का चयन हुआ है, जब इन दोष धातु मलो की अप्रशस्तता हो जाती है तो नाना प्रकार के रूजाकर हो जाते हैं। इस प्रकार सपूर्ण शरीर को उपतप्त करने वाले दोषस्थान आमाशय, पक्वाशय, मलाशय आदि स्थानो से उत्पन्न होने वाले ज्वर, रक्तपित्त, अतिसार आदि रोगो मे सशोधन व सशमन आहार, आचार आदि उपायो से जो भी प्रतिकार किया जाता है वह काय चिकित्सा के अग में आता है।
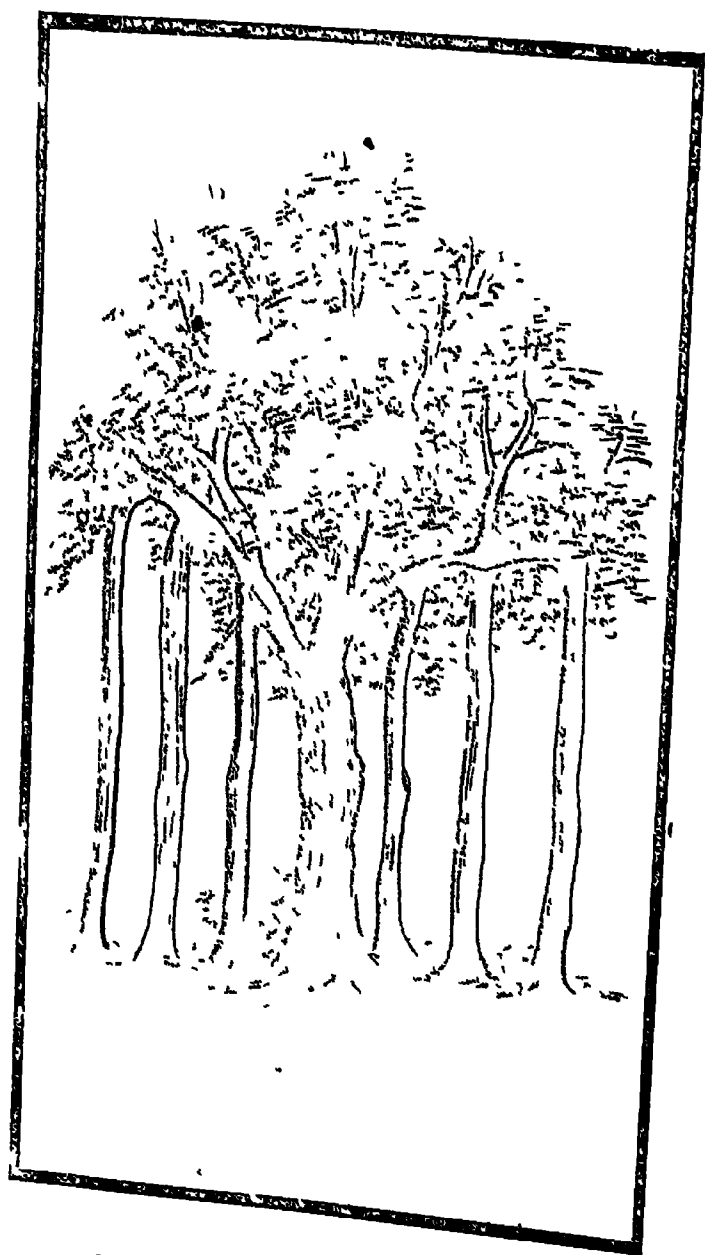
शाखा प्रशाखाओं से न्याधिसुदृढ हो जाती हैं।

अथवा "कायति" अर्थात् शब्द करता है व्युत्पत्ति से काय से जठराग्नि अर्थ भी लिया जाता है, जैसा कि चक्रपाणि ने कहा है—

जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्त चिकित्से न्सीदन्त स वै कायचिकित्सक ॥

क्योकि ज्वर, अतिसार आदि रोग विशेष कर अग्निदोष से होते हैं क्योकि आचार्य ने स्पष्ट बताया है कि शरीर तथा लोक मे पाचभौतिक तत्व प्राप्त होते हैं यह समानता तो रहती है, परन्तु बाह्य तत्वो से शरीरतत्व के निर्माण होने के लिये पाचकाग्नि माध्यम है "तत्राग्नि हेतुराहाराच्च ह्यपक्वाद्रसादय:"। इसीलिये जिन भावो की सपत आरोग्य का या देह का कारण है उन्ही भावो की विपत् ही नाना प्रकार के रोगो का कारण भी है। इसलिये आयुष्य चाहे सुख, असुख, हित या अहित हो, वर्ण, देश भेद से प्राणियो के नाना वर्ण हो सकते हैं। जिस देश मे जिस महाभूत की अधिकता होगी उसी के अनुसार वर्ण परिवर्तन इस प्रकार चाहे वायु की छाया अप्रशस्त कही है साथ ही सातो प्रकार की प्रभा, बल, ओज पर निर्भर है, इसके सहज, कालकृत व्यक्तिकृत तीन भेद किये हैं, परन्तु सहनन, व सार की श्रेष्टता से उत्तम मध्यम आदि भेद हो जाते हैं। स्वास्थ्य, यह आयुर्वेद की समतुला है इसमे समदोष, समाग्नि, समधातु मलक्रिय आत्मा इन्द्रिय मन की प्रसन्नता होना इसीसे सर्व प्रकार की चेष्टाव व्यापार मे उत्साह, पुष्टी, ओज, तेज व दूसरी जितनी भी अग्निये प्राण आदि सब जठराग्नि के ऊपर ही निर्भर हैं इसलिये—

शान्तेग्नौ म्रियते, युक्ते चिरजीवत्यनामय.।
रोगीस्याद्विकृते मूलमग्नि स्तस्मान्निरुच्यते ।।

इस प्रकार चिकित्सा का अधिकरण भूत शरीर को काय शब्द से प्रतिपादन कर दूसरे प्रकार मे काय शब्द से अग्नि नाम दिया है यह बहुत अच्छी व्युत्पत्ति मालूम देती है और उसमे जो उत्पन्न हो गई व्याधि उसका प्रतिकार करने के लिये किस धातु से चिकित्सा शब्द बना है,

चतुर्णां भिषगादीना शस्ताना धातु वै कृते
प्रवृत्ति र्धातु साम्यार्था चिकित्से त्यधीयते ।

इसमे धातु वै कृते अर्थात् रोग मे आरोग्य के लिये जो उपाय किये जाते हैं उन्हे चिकित्सा कहा जाता है। चिकित्सा प्राभृतीय अध्याय मे अग्निवेशने आचार्य से पूछा कि महाराज चिकित्सा किसलिये की जाती है ? चिकित्सा के क्या लक्षण है ? इसके लिये आचार्य कहते हैं—

कथं शरीरे धातूना वैषम्य न भवेदिह,
समाना चानुबन्ध स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया।
अथवा—याभि क्रियाभि जीयन्ते शरीरे धातव समा,
सा चिकित्सा विकाराणा कर्म तद्भिषजा मतम्।

दोष धातुमला अग्नि आदि मे जिस प्रकार समयोगता हो उसे चिकित्सा कहा है इसमे सामान्य व विशेष के सिद्धान्त अनुसार अधिक को कम करना, कम है उन्हे बढा देना आदि उपायो से धातु वैषम्य की परपरा को दूर करते हुए सम धातु सन्तानता बना देना ही चिकित्सा है। धातुसाम्य का अनुबन्ध की स्थापना कर देना ही चिकित्सा का प्रयोजन है—

"धातुवैषम्य नाम विकारागम' तन्निवृत्तिश्चिकित्सा"

इस प्रकार की चिकित्सा के चरक ने दो विभाग किये हैं—

(१) स्वस्थोजस्कर (२) व्याधिनिर्घातकर।

आयुर्वेद के आठ अगो मे आने वाले रसायन वाजीकरण प्रथम चिकित्सा मे आ जाते हैं यद्यपि रसायन जराव्याधिविध्वसि के कहने से, व वाजीकरण भी व्यवायादि से हुए प्रतिलोमक्षय मे शुक्रधातु का पुष्टिकर होने से स्वस्थोर्जस्कर होता ही है।

व्याधिनिर्घातकर चिकित्सा मे तीन प्रकार की व्याधि ये शरीर, आगन्तु, मानस मे होने वाले ज्वर आदि रोगो को ठीक करने के उपाय विस्तार से कहे गये हैं, पर इनकी चिकित्सा करने के पहिले दोष, औषधि आदि के प्रभाव को जानने का प्रयत्न करें, इनका ज्ञान हुए बिना चिकित्सा मे सफलता प्राप्त नही हो सकती। क्योकि वही दोष जब कारणो के समिश्रण से गभीर धातुओ मे प्रविष्ट हो जाने से विरुद्धोपक्रम होने से कृच्छ्रसाध्य या असाध्य हो जाता है, इसलिये दोष आदि की विशेषता से रोग मृदु दारुण, क्षिप्रसमुत्थान, चिरकारी होते हैं अतः चिकित्सा दोषादि के प्रमाणज्ञान के आधार पर होती है। दोषादि के मान को नही जानने वाला वैद्य रोग का प्रतिकार करने मे असमर्थ होता है, इसलिये प्रत्येक रोग के निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सप्राप्ति आदि को समझते हुए दोष, औषधि, देश, काल, बल, शरीर, सार, आहार, सत्व, प्रकृति, वय की अवस्थान्तर का सूक्ष्म रूप से ध्यान कर चिकित्सा करता है तो उसकी चिकित्सा निष्फल नही हो सकती यही चरक का सिद्धान्त है।

व्याधि हर औषधि को तीन विभाग में बाटा जा सकता है जैसा कि तिस्रैषणीय अध्याय मे बताया है।

(१) दैव व्यपाश्रय, (२) युक्तिव्यपाश्रय, (३) सत्वावजय।

इसमे युक्तिव्यपाश्रय औषध को उस औषधि के प्रयोग के अनुसार (१) अतः परिमार्जन (२) बहि परिमार्जन (३) शस्त्र प्रणिधान रूप से तीन प्रकार की होती हैं। काय चिकित्सा मे अतः परिमार्जन तथा बहिः परिमार्जन की प्रधानता रहती है, शस्त्र प्रणिधान का विषय शल्य शालाक्य अंग का प्रधान भूत होने से वह हमारा विषय नहीं होने से उसे यही छोड दिया जाता है।

अत: परिमार्जन औषध के प्रयोग मे औषधि शरीर मे प्रविष्ट होकर दोषो का शोधन या शमन कर रोग को नष्ट करती है। उसी प्रकार शरीर के बहि: स्पर्श से सबन्धित होकर जैसे अभ्यग, स्वेद, आलेप, परिषेक आदि द्वारा रोग निवृत्तिकर होती है उसे बहि: परिमार्जन कहते है। अभिप्राय यह कि इन दोनो प्रकार से शोधन व शमन रूप दो कर्म होते हैं, इस प्रकार शोधनरूप अत परिमार्जन, शमन रूप अत परिमार्जन, शोधनरूप, बहि परिमार्जन, शमनरूप बहि: परिमार्जन, चार प्रकार विषय भेद से हो जाता है।

"लघन बृहण काले रूक्षण स्नेहन तथा।
स्वेदन स्तम्भन चैव जानीतेयः सर्वभिषक् ॥

इस उपरोक्त पद्य मे रोग प्रतिकार के छ उपक्रम बताये हैं तथा इन्ही छ के बारे मे आगे बताया है कि सारे रोगो के ये ही छ उपक्रम होते हैं—

दोषाणां बहुसंसर्गात् संकीर्यन्ते ह्युपक्रमाः
षट्त्वं तु नाति वर्तन्ते त्रित्व वातादयो यथा,

किन्तु इसके बाद ही सतर्पणीय अध्याय मे इन छहो उपक्रमो के सतर्पण, अपतर्पण दो भेद के रूप में, लंघन स्वेदन रूक्षण इन उपक्रमो को अपतर्पण चिकित्सा मे तथा बृहण, स्नेहन, स्तम्भन इन तीनो का अन्तर्भाव सन्तर्पण चिकित्सा मे किया है।

लघन, स्वेदन रूक्षण को अपतर्पण मे मान लेने पर भी अपतर्पण के तीन भेद किये हैं, (१) लघन, (२) लंघनपाचन, (३) दोषावसेचन, इनमे अल्पदोष व अल्पबल वालों को लघन तथा मध्यबल, व मध्य दोष बल वालो को लघन पाचन, बहु दोषी रोगियों के लिये दोषाव सेचन करना चाहिये।

आचार्य चरक ने सतर्पण व अपतर्पण रूप उपक्रम सूत्रस्थान मे बता कर विमान स्थान मे कुछ और भी उपक्रम कहे है जैसे क्रिमि चिकित्सा को ध्यान मे रख कर अपकर्षण, प्रकृतिविघात, निदान परिवर्जन ये तीन उपक्रम बताये हैं, उनमें भी अपकर्षण-बाह्य व आभ्यन्तर भेद से—बाह्यअपकर्षण क्रिमि रोगो मे तथा शल्य आदि का किया जाता है—आभ्यन्तर अपकर्षण दोष सशोधनात्मक वमन विरेचन आदि उपायो से किया जाता है। यहा बताये हुए अपकर्षण का अपतर्पण सशोधन मे अन्तर्भाव होता है, तथा प्रकृति विघात का अन्तर्भाव सतर्पण सशमन मे होता है, वह भी बाह्य आभ्यन्तर भेद से २ प्रकार का होता है—बाह्य प्रकृति विघात स्वेद, अभ्यग परिषेक, आलेप आदि उपायो से बहि: स्पर्श से सम्बन्धित होकर दोष सशमन करता है, आभ्यन्तर प्रकृति विघात शरीरस्थित दोषो का शमन करता है अत इन दोनो को शमन चिकित्सा मे अन्तर्भाव होता है। रहा निदान परिवर्जन वह दोष के अनुसार उन २ रोगो मे शीत, उष्ण, भोजन, व्यायाम आदि को त्यागना सब रोगो के साथ बताया गया है, जैसा कि कहा है—

दोष धातुमला अग्नि आदि मे जिस प्रकार समयोगता हो उसे चिकित्सा कहा है इसमे सामान्य व विशेष के सिद्धान्त अनुसार अधिक को कम करना, कम है उन्हे बढा देना आदि उपायो से धातु वैषम्य की परपरा को दूर करते हुए सम धातु सन्तानता बना देना ही चिकित्सा है। धातुसाम्य का अनुबन्ध की स्थापना कर देना ही चिकित्सा का प्रयोजन है—

"धातुवैषम्य नाम विकारागम. तन्निवृत्तिश्चिकित्सा"

इस प्रकार की चिकित्सा के चरक ने दो विभाग किये हैं—

(१) स्वस्थोजस्कर (२) व्याधिनिर्घातकर।

आयुर्वेद के आठ अगो मे आने वाले रसायन वाजीकरण प्रथम चिकित्सा मे आ जाते हैं यद्यपि रसायन जराव्याधिविध्वंसि के कहने से, व वाजीकरण भी व्यवायादि से हुए प्रतिलोमक्षय मे शुक्रधातु का पुष्टिकर होने से स्वस्थोर्जस्कर होता ही है।

व्याधिनिर्घातकर चिकित्सा मे तीन प्रकार की व्याधि ये शरीर, आगन्तु, मानस मे होने वाले ज्वर आदि रोगो को ठीक करने के उपाय विस्तार से कहे गये हैं, पर इनकी चिकित्सा करने के पहिले दोष, औषधि आदि के प्रभाव को जानने का प्रयत्न करें, इनका ज्ञान हुए बिना चिकित्सा मे सफलता प्राप्त नही हो सकती। क्योकि वही दोष जब कारणो के समिश्रण से गभीर धातुओ मे प्रविष्ट हो जाने से विरुद्धोपक्रम होने से कृच्छ्रसाध्य या असाध्य हो जाता है, इसलिये दोष आदि की विशेषता से रोग मृदु दारुण, क्षिप्रसमुत्थान, चिरकारी होते हैं अतः चिकित्सा दोषादि के प्रमाणज्ञान के आधार पर होती है। दोषादि के मान को नही जानने वाला वैद्य रोग का प्रतिकार करने मे असमर्थ होता है, इसलिये प्रत्येक रोग के निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति आदि को समझते हुए दोष, औषधि, देश, काल, बल, शरीर, सार, आहार, सत्व, प्रकृति, वय की अवस्थान्तर का सूक्ष्म रूप से ध्यान कर चिकित्सा करता है तो उसकी चिकित्सा निष्फल नही हो सकती यही चरक का सिद्धान्त है।

व्याधि हर औषधि को तीन विभाग में बाटा जा सकता है जैसा कि तिस्रैषणीय अध्याय मे बताया है।

(१) दैव व्यपाश्रय, (२) युक्तिव्यपाश्रय, (३) सत्वावजय।

इसमे युक्तिव्यपाश्रय औषध को उस औषधि के प्रयोग के अनुसार (१) अत. परिमार्जन (२) बहि परिमार्जन (३) शस्त्र प्रणिधान रूप से तीन प्रकार की होती हैं। काय चिकित्सा मे अतः परिमार्जन तथा बहि परिमार्जन की प्रधानता रहती है, शस्त्र प्रणिधान का विषय शल्य शालाक्य अंग का प्रधान भूत होने से वह हमारा विषय नही होने से उसे यही छोड दिया जाता है।

अत परिमार्जन औषध के प्रयोग मे औषधि शरीर मे प्रविष्ट होकर दोषो का शोधन या शमन कर रोग को नष्ट करती है। उसी प्रकार शरीर के बहि स्पर्श से सबन्धित होकर जैसे अभ्यग, स्वेद, आलेप, परिषेक आदि द्वारा रोग निवृ त्तिकर होती है उसे बहिः परिमार्जन कहते है। अभिप्राय यह कि इन दोनो प्रकार से शोधन व शमन रूप दो कर्म होते हैं, इस प्रकार शोधनरूप अत परिमार्जन, शमन रूप अत परिमार्जन, शोधनरूप, बहि परिमार्जन, शमनरूप बहिः परिमार्जन, चार प्रकार विषय भेद से हो जाता है।

"लघन बृहण काले रूक्षण स्नेहन तथा।
स्वेदन स्तम्भन चैव जानीतेयः सर्वभिषक् ॥

इस उपरोक्त पद्य मे रोग प्रतिकार के छ उपक्रम बताये हैं तथा इन्ही छ के बारे मे आगे बताया है कि सारे रोगो के ये ही छ उपक्रम होते हैं—

दोषाणां बहुसंसर्गात् सकीर्यन्ते ह्युपक्रमा.
षट्त्व तु नाति वर्तन्ते त्रित्व वातादयो यथा,

किन्तु इसके बाद ही सतर्पणीय अध्याय मे इन छहो उपक्रमो के सतर्पण, अपतर्पण दो भेद के रूप में, लघन स्वेदन रूक्षण इन उपक्रमों को अपतर्पण चिकित्सा मे तथा बृहण, स्नेहन, स्तम्भन इन तीनो का अन्तर्भाव सन्तर्पण चिकित्सा मे किया है।

लघन, स्वेदन रूक्षण को अपतर्पण मे मान लेने पर भी अपतर्पण के तीन भेद किये हैं, (१) लघन, (२) लघनपाचन, (३) दोषावसेचन, इनमे अल्पदोष व अल्पबल वालों को लघन तथा मध्यबल, व मध्य दोष बल वालो को लघन पाचन, बहु दोषी रोगियो के लिये दोषाव सेचन करना चाहिये।

आचार्य चरक ने सतर्पण व अपतर्पण रूप उपक्रम सूत्रस्थान मे बता कर विमान स्थान मे कुछ और भी उपक्रम कहे हैं जैसे क्रिमि चिकित्सा को ध्यान मे रख कर अपकर्षण, प्रकृतिविघात, निदान परिवर्जन ये तीन उपक्रम बताये हैं, उनमें भी अपकर्षण-बाह्य व आभ्यन्तर भेद से—बाह्यअपकर्षण क्रिमि रोगो मे तथा शल्य आदि का किया जाता है—आभ्यन्तर अपकर्षण दोष सशोधनात्मक वमन विरेचन आदि उपायो से किया जाता है। यहा बताये हुए अपकर्षण का अपतर्पण सशोधन मे अन्तर्भाव होता है, तथा प्रकृति विघात का अन्तर्भाव सतर्पण सशमन मे होता है, वह भी बाह्य आभ्यन्तर भेद से २ प्रकार का होता है—बाह्य प्रकृति विघात स्वेद, अभ्यग परिषेक, आलेप आदि उपायो से बहिः स्पर्श से सम्बन्धित होकर दोष सशमन करता है, आभ्यन्तर प्रकृति विघात शरीरस्थित दोषो का शमन करता है अत इन दोनो को शमन चिकित्सा मे अन्तर्भाव होता है। रहा निदान परिवर्जन वह दोष के अनुसार उन २ रोगो मे शीत, उष्ण, भोजन, व्यायाम आदि को त्यागना सब रोगो के साथ बताया गया है, जैसा कि कहा है—

त्यागा द्विषमहेतूना समाना चानु शीलनात्
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातव समा

सक्षेप मे निदान परिवर्जन अर्थात् जिन कारणो से रोगोत्पत्ति सभव होती है उनका त्याग कर देना भी चिकित्सा ही है। इस प्रकार के भेद बता कर फिर औषधि के प्रकारातर से भेद किये हैं—(१) हेतु विपरीत (२) व्याधिविपरीत (३) हेतु व्याधिविपरीत। हेतु विपरीत जिस प्रकार के कारण से रोगोत्पत्ति हुई है उसके विपरीत कारणो का सेवन करना जैसे—

शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विद.
ये तुशीतीकृता रोगास्तेषामुष्णं भिषग्जितम्।

इसी प्रकाक गुरु, स्निग्ध, शीत आदि गुणो से उत्पन्न व्याधि मे विपरीत लघु, रूक्ष, उष्ण आदि हेतु विपरीत द्रव्यो का उपयोग किया जाता है वैसे ही अपतर्पण के कारण से उत्पन्न रोगो मे सन्तर्पण चिकित्सा, तथा सन्तर्पण कारण से उत्पन्न रोगो मे अपतर्पण चिकित्सा द्वारा रोग प्रशमन करना आदि उदाहरण हैं।

व्याधिविपरीत—ज्वर मे नागर मोथा, पित्तपापडा, खस, चन्दन, नेत्रवाला, आदि का जल तथा ज्वर सात्म्य होने से ज्वर को नष्ट करने वाले यवागू (दलिया) का प्रयोग वैसे ही प्रमेह मे हल्दी तथा जौ का उपयोग, कुष्ठ मे खैर सार का श्वास, कास, पार्श्वशूलादि मे पुष्कर मूल का प्रयोग करना व्याधिविपरीत अर्थात् जिस स्थान मे दोष सग होकर रोगोत्पत्तिकारक हुआ है उस स्थान वैगुण्य को मिटाने की चिकित्सा व्याधिविपरीत चिकित्सा कहलाती है।

हेतु व्याधिविपरीत औषधि—वातजन्य शोथ दशमूल का प्रयोग जो कि वायु तथा शोथ दोनो को नष्ट करता है इसी तरह विपरीतता के साथ विपरीतार्थकारि भी जाने। इन विपरीत तथा विपरीतार्थकारी के साथ औषध, अन्न विहार के होने से उपशय के जो अट्ठारह भेद है वह अट्ठारह भेद भी चिकित्सा के माने जा सकते है। इन्ही अट्ठारह भेद की चिकित्सा को उपशय नाम से सबोधित करते हैं। इसी मे सब प्रकार की चिकित्सा विधियो का अन्तर्भाव हो जाता है।

जैसे कि प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धात बिना औषधि के केवल अन्न जल द्वारा अर्थात् हेतु विपरीत अन्न तथा विहार द्वारा रोगो की चिकित्सा करते है "विनापि भैषजै-र्व्याधि पथ्यादेव निवर्तते।"

वैसे विष की चिकित्सा मे विष का प्रयोग करना "सम सम शमयाति के सिद्धात से होमियोपैथी चिकित्सा के सिद्धात विपरीतार्थकारी चिकित्सा मे कही जा सकती है, तथा सर्वव्यापक एलोपैथी चिकित्सा जो कि लक्षणविरोधी ही चिकित्सा करते है का अन्तर्भाव

व्याधिविपरीत चिकित्सा कही जाती है। इस प्रकार की चिकित्सा से शरीर मे जो दुख की परम्परा हो रही थी कि निवृत्ति होकर आरोग्य रूप सुखानुबन्ध हो जाता है।

सभी प्रकार की चिकित्सा द्रव्य से निर्भर होती है। आचार्य चरक ने सभी प्रकार के आहार, आचार, देश, काल लघन आदि मे काम आने वाले द्रव्य व अद्रव्य का चिकित्सा में उपयोग जिस २ युक्ति व प्रयोजन से होता है उनका वर्णन किया है

वैशेषिक शास्त्रो मे द्रव्य शब्द से नव द्रव्यो का ग्रहण है परन्तु आयुर्वेद मे पाच भौतिक जगम, उद्भिद, पार्थिव आदि सपूर्ण द्रव्यो का चिकित्सा मे उपयोग बताया है "जगत्येव मनौषधम्" अद्रव्य चिकित्सा मे—उपवास, वात, आतप, देश, काल, स्वप्न, जागरण, धावन, प्लवन, सवाहन, त्रास, क्षोभण हर्षण आदि भावो का उपयोग इन्ही भावो से सम्बन्धित विकारो की चिकित्सा में कहा है। इन अद्रव्य रूप भावो का चिकित्सा में प्रयोग प्रकरणानुसार जैसे ज्वर मे

लघनं स्वेदन कालो यवाग्वस्तितक्तकोरस,
पाचनान्यवि पक्वाना दोषाणा तरुणज्वरे।

तरुण ज्वर में पाचन के लिये अमूर्तरूप लघन काल आदि का वैसे हो एक देश में वृद्ध या कुपित दोष दूसरे देश में सुखसाध्य हो जाते हैं।

स्वदेशी निचिता दोषा अन्यस्मिन्कोप मागताः
नतथा बलवन्तः स्यु ....।

देश को भू या शरीर रूप क्षेत्र भेद से दो प्रकार का कहा है इनमें भू रूप देश के जागल, आनूप साधारण तीन भेद होते हैं अत. औषधि प्रयोग के पूर्व रोगी की परीक्षा में रोगी का जन्म किस देश मे हुआ है का निरीक्षण करें क्योकि किस २ देश में मनुष्यो का सात्म्य आहार विहार रीति रिवाज क्या होते हैं के रूप भू स्वरूप देश हुआ। शरीर रूप देश जहाँ कि चिकित्सक को अपनी चिकित्सा करनी है इसीलिये इसे कार्य देश भी कहा है उसको परीक्षा, दर्शन स्पर्शन प्रश्न या पचेन्द्रियो से अथवा अष्टविध परीक्षा के साथ २ प्रकृति से विकृति से, सार से, सहनन से, प्रमाण से, सात्म्य से, सत्व से, आहार शक्ति से, व्यायाम शक्ति से, आयुष्य से परीक्षा करें।

निमेष से लेकर वर्षपर्यन्त की गणना से बताए काल जो कि प्रतिक्षण चलता ही रहता है उसी मे होने वाले रोगो की विविध अवस्थाएँ आम, पच्यमान, पक्व, नव, पुराण, मृदुतीक्ष्ण आदि अवस्थाओ से नित्यग तथा आवस्थिक दो भेद बताए हैं। क्योकि चिकित्सा मे इसका महत्व भी बहुत अधिक रखना पडता है 'नह्यच प्राप्तातीत कालमौषध यौगिक भवति" इस प्रकार अमूर्तराय काल की शीत या उष्ण अवस्थाओ की उपयोगिता रहती है। उपक्रमो के विधान बताते हुए आचार्य ने उस अवस्था को विशेष रूप से वर्णन दिया है—

"पूर्वाह्ने वमन देय मध्यान्हे तु विरेचनम्,
मध्यान्हे किंचिदावृत्ते बस्ति दद्याद्विचक्षणः ॥

इस तरह व्याधि को नष्ट करने वाले सब विधियो के द्रव्यभूत व अद्रव्यभूतो का सक्षेप से वर्णन किया है परन्तु यह सारा ही क्रम सन्तर्पण व अपतर्पण दोनो विधियों मे समाविष्ट हो जाता है।

उपक्रम्यस्य हि द्वित्वात् द्विधैवोपक्रमोमित
एक सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पण।

उपरोक्त दोनो विधियो मे ही लघन बृहणादि व शोधन शमन रूप का अ भाव हो जाता है। लघन शोधन को अपतर्पण तथा बृहण शमन को सतर्पण चिकित्सा समझें। ऐसे हमने युक्ति व्यपाश्रय औषधि के बारे मे कुछ विचार किया। किन्तु यही व्याधि नाश के लिए प्रयोग करने पर इनके रोगप्रशमन, व रोगापुनर्नव कर दो भेद करते हैं क्योकि व्याधि ठीक हो जाने पर भी थोडे से उपचार से पुनरावृति कर देती है क्योकि दोषो द्वारा थोडे समय पहिले ही दोषो ने रोगोत्पत्ति कर मार्ग बना दिया था, इसके लिए उदाहरण बताया है अग्नि का, जैसे थोडी भी अग्नि शेष रही तो वह मार्ग बना लेती है तद्वत् दोष भी थोडे कारण से पुन रोगोत्पत्तिकर हो जाता है। इसलिए रोगापुनर्नवकर अर्थात् दोषो की वृद्धि को देह से बाहिर निकाल देने से रूप चिकित्सा है वह समूलोच्छेदक है जैसे कि—

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लघन पाचनैः
ये तु सशोधनैश्शुद्धा, न तेषा पुनरुद्भव.।

इसलिए चिकित्सा करते वक्त चिकित्सक को पहिले यह निश्चय करना चाहिए कि इसकी चिकित्सा मुझे किस प्रकार की करनी है, व कैसी चिकित्सा की यहा उपयोगिता है—सतर्पण या अपतर्पण की ? किस मात्रा मे ? कैसा दोषो का बल है ? किस प्रकार की औषधि किस युक्ति से प्रयोग की जाय ? क्योकि— "दोषानुरूपोहि भैषज्य वीर्य प्रमाण-विकल्पो व्याधि व्याधित बलापेक्षो भवति"। क्यो कि अल्पबल रोगी के लिए अति मात्रा मे प्रयुक्त किया गया सशोधन रोगी के प्राण हरण कर लेता है। और अगर्चे व्याधिबल अधिक है वैसी स्थिति मे प्रयोग मे लाई गई सशमन चिकित्सा उस बीमारी को शान्त न कर दूसरी नई अनुबन्ध रूप उपद्रव पैदा कर देती है या उस रोगी को शान्त कर नयी व्याधि पैदा कर दे उसे आयुर्वेद शास्त्र मे शुद्ध चिकित्सा नही कही जा सकती—

प्रयोग शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्य मुदीरयेत्।
नासौ विशुद्ध, शुद्धस्तु शमये द्योन कोपयेत् ॥

इसलिए सारी बातो को सपूर्णतया विचार कर योग्य चिकित्सा को प्रयुक्त करे। द्रव्य के बारे में पहिले पूर्ण विचार करे कि यह इस प्रकार के रस वाला, गुणवाला, तथा

वीर्य वाला या विपाक वाला होने से इसके कार्य व प्रभाव होगे साथ ही तत्तद् देश मे या तत्तदृतु मे परिपक्व होने से या तत्तस्थान मे रखने से, ग्रहण करने से, या सस्कारित कराने से अथवा उन २ ओषधियो के समिश्रण से, इस युक्ति से, इस मात्रा से, इस ऋतु मे, अमुक पुरुष के लिए इतने २ दोष का अपकर्षण या शमन करता है, यह ज्ञान युक्ति अनुमान से भी जाने । ऐसे सारी बातो का विचार कर भली प्रकार चिकित्सा मे अधिक दोष वल वाले रोगो मे सशोधन के लिए काम मे लिए जाने वाले वमन, विरेचन आदि पचकर्म वाली औषधें सर्व शरीरगत दोष व विकार को नष्ट करने मे सक्षम होती हैं, तथा लघन पाचनादि दोष सशमन के लिए हैं ?

यहा भी शोधन चिकित्सा का व उसके अगभूत पचकर्म के नेत्कृष्ट महत्व सब जगह देखा जाता है, इसीलिए चरक के प्रारम्भ मे सूत्र स्थान के प्रथम अध्याय मे पचकर्म के अवयवी मूलिनी फलिनी का निर्देश किया है, उसके बाद पचकर्म के साधनभूत दोष सशमन अन्य द्रव्यो का निर्देश दिया है व पचकर्म कैसे करने चाहिए इसे सविस्तृत बताया है ।

"तान्यु पस्थि तदोषाणा स्नेह स्वेदो पपादनैः,
पचकर्माणि कुर्वीत मात्रा कालो विचारयन् ।। इत्यादि

यहा पचकर्म करने के पूर्व स्नेहस्वेदन करे इस प्रकार स्नेह स्वेद के सप्तकर्म हो जाते हैं इस प्रकार की शका के उत्तर मे चक्रपाणि ने स्पष्टीकरण किया है कि कर्म से अभिप्राय यह कि जिनसे दोषो का शरीर से बहिर्निसारण हो, स्नेहन स्वेदन से यह होता नही, हा दोषो का कोष्ट मे लाने रूप दोष सशमन का कार्य इनसे अवश्य होता है, वे ही स्नेह स्वेद पचकर्म के अगरूप होने से दोषो का स्वस्थाना नयन कारक होते हैं लेकिन वमनादि पचकर्म दोष सशोधन रूप दोष निर्हरण करते हैं, पचकर्म मे बताया हुआ अनुवासन भी दोष निर्हरण नही करता तो भी पुरीष से सबोधित पक्वाशय का स्थानी दोष वायु का अनुलोमन रुप बहिर्निस्सारण कारक होने से पचकर्म मे इसका मुख्य स्थान भी है । उत्तर बस्ति, निरूह आदि का स्नेहबस्ति मे ही अतर्भाव होता है ।

अब हम पचकर्मो का दोष सशोधन रूप विषय विभाग के बारे मे सक्षेप से विचार करते हैं—

वमन का सम्यक् प्रयोग आमाशय के ऊर्ध्व नामस्थित कफ का विशेषतया निर्हरण करता है, उसके बाद कुछ पित्त का उसके बाद सामान्यतया वायु के आवरण को तोड़ने रूप शोधन करता है ।

विरेचन का सम्यक् प्रयोग आमाशय के आधे भाग तथा पच्यमानाशय मे रहने वाले पित्त का विशेषतया निर्हरण करता है, उसके बाद थोडी मात्रा मे कफ व वायु का भी शोधन करता है ।

"पूर्वाह्ने वमन देय मध्यान्हे तु विरेचनम्,
मध्यान्हे किंचिदावृत्तो बस्ति दद्याद्विचक्षणः ॥

इस तरह व्याधि को नष्ट करने वाले सब विधियो के द्रव्यभूत व अद्रव्यभूतो का सक्षेप से वर्णन किया है परन्तु यह सारा ही क्रम सन्तर्पण व अपतर्पण दोनो विधियों मे समाविष्ट हो जाता है।

उपक्रम्यस्य हि द्वित्वात् द्विधैवोपक्रममित॰
एक सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पण।

उपरोक्त दोनो विधियो मे ही लघन वृहणादि व शोधन शमन रूप का अ र्भाव हो जाता है। लघन शोधन को अपतर्पण तथा वृहण शमन को सतर्पण चिकित्सा समझें। ऐसे हमने युक्ति व्यपाश्रय औषधि के बारे मे कुछ विचार किया। किन्तु यही व्याधि नाश के लिए प्रयोग करने पर इनके रोगप्रशमन, व रोगापुनर्नव कर दो भेद करते हैं क्योकि व्याधि ठीक हो जाने पर भी थोडे से उपचार से पुनरावृति कर देती है क्योकि दोषो द्वारा थोडे समय पहिले ही दोषो ने रोगोत्पत्ति कर मार्ग बना दिया था, इसके लिए उदाहरण बताया है अग्नि का, जैसे थोडी भी अग्नि शेष रही तो वह मार्ग बना लेती है तद्वत् दोष भी थोडे कारण से पुन रोगोत्पत्तिकर हो जाता है। इसलिए रोगापुनर्नवकर अर्थात् दोषो की वृद्धि को देह से बाहिर निकाल देने से रूप चिकित्सा है वह समूलोच्छेदक है जैसे कि—

दोषाः कदाचित्कुप्यान्ति जिता लघन पाचनैः
ये तु सशोधनैश्शुद्धा, न तेषा पुनरुद्भव ।

इसलिए चिकित्सा करते वक्त चिकित्सक को पहिले यह निश्चय करना चाहिए कि इसकी चिकित्सा मुझे किस प्रकार की करनी है, व कैसी चिकित्सा की यहा उपयोगिता है—सतर्पण या अपतर्पण की ? किस मात्रा मे ? कैसा दोषो का बल है ? किस प्रकार की औषधि किस युक्ति से प्रयोग की जाय ? क्योकि— "दोषानुरूपोहि भैषज्य वीर्य प्रमाण-विकल्पो व्याधि व्याधित बलापेक्षो भवति"। क्यो कि अल्पबल रोगी के लिए अति मात्रा मे प्रयुक्त किया गया सशोधन रोगी के प्राण हरण कर लेता है। और अगचें व्याधिबल अधिक है वैसो स्थिति मे प्रयोग मे लाई गई सशमन चिकित्सा उस बीमारी को शान्त न कर दूसरी नई अनुबन्ध रूप उपद्रव पैदा कर देती है या उस रोगी को शान्त कर नयी व्याधि पैदा कर दे उसे आयुर्वेद शास्त्र में शुद्ध चिकित्सा नही कही जा सकती—

प्रयोग शमयेद् व्याधि योऽन्यमन्य मुदीरयेत्।
नासौ विशुद्ध', शुद्धस्तु शमये द्योन कोपयेत् ॥

इसलिए सारी बातो को सपूर्णतया विचार कर योग्य चिकित्सा को प्रयुक्त करे। द्रव्य के बारे में पहिले पूर्ण विचार करे कि यह इस प्रकार के रस वाला, गुणवाला, तथा

वीर्य वाला या विपाक वाला होने से इसके कार्य व प्रभाव होगे साथ ही तत्तद् देश मे या तत्तदृतु मे परिपक्व होने से या तत्तस्थान मे रखने से, ग्रहण करने से, या सस्कारित कराने से अथवा उन २ औषधियो के समिश्रण से, इस युक्ति से, इस मात्रा से, इस ऋतु मे, अमुक पुरुष के लिए इतने २ दोष का अपकर्षण या शमन करता है, यह ज्ञान युक्ति अनुमान से भी जाने । ऐसे सारी बातो का विचार कर भली प्रकार चिकित्सा मे अधिक दोष बल वाले रोगो मे सशोधन के लिए काम मे लिए जाने वाले वमन, विरेचन आदि पचकर्म वाली औषधें सर्व शरीरगत दोष व विकार को नष्ट करने मे सक्षम होती हैं, तथा लघन पाचनादि दोष सशमन के लिए हैं।?

यहा भी शोधन चिकित्सा का व उसके अगभूत पचकर्म के नेत्कृष्ट महत्व सब जगह देखा जाता है, इसीलिए चरक के प्रारम्भ मे सूत्र स्थान के प्रथम अध्याय मे पचकर्म के अवयवी मूलिनी फलिनी का निर्देश किया है, उसके बाद पचकर्म के साधनभूत दोष सशमन अन्य द्रव्यो का निर्देश दिया है व पचकर्म कैसे करने चाहिए इसे सविस्तृत बताया है।

"तान्यु पस्थि तदोषाणा स्नेह स्वेदो पपादनं,
पचकर्माणि कुर्वीत मात्रा कालो विचारयन् ।। इत्यादि

यहा पचकर्म करने के पूर्व स्नेहस्वेदन करे इस प्रकार स्नेह स्वेद के सप्तकर्म हो जाते हैं इस प्रकार की शका के उत्तर मे चक्रपाणि ने स्पष्टीकरण किया है कि कर्म से अभिप्राय यह कि जिनसे दोषो का शरीर से बहिर्नि सारण हो, स्नेहन स्वेदन से यह होता नही, हां दोषो का कोष्ट मे लाने रूप दोष सशमन का कार्य इनसे अवश्य होता है, वे ही स्नेह स्वेद पचकर्म के अगरूप होने से दोषो का स्वस्थाना नयन कारक होते हैं लेकिन वमनादि पचकर्म दोष सशोधन रूप दोष निर्हरण करते हैं, पचकर्म मे बताया हुआ अनुवासन भी दोष निर्हरण नही करता तो भी पुरीष से सबोधित पक्वाशय का स्थानी दोष वायु का अनुलोमन रुप बहिर्निस्सारण कारक होने से पचकर्म में इसका मुख्य स्थान भी है। उत्तर बस्ति, निरूह आदि का स्नेहबस्ति मे ही अंतर्भाव होता है।

अब हम पचकर्मों का दोष सशोधन रूप विषय विभाग के बारे मे सक्षेप से विचार करते हैं—

वमन का सम्यक् प्रयोग आमाशय के ऊर्ध्व भागस्थित कफ का विशेषतया निर्हरण करता है, उसके बाद कुछ पित्त का उसके बाद सामान्यतया वायु के आवरण को तोड़ने रूप शोधन करता है।

विरेचन का सम्यक् प्रयोग आमाशय के आधे भाग तथा पच्यमानाशय मे रहने वाले पित्त का विशेषतया निर्हरण करता है, उसके बाद थोड़ी मात्रा मे कफ व वायु का भी शोधन करता है।

निरुह् बस्ति पक्वाशय के स्थानी दोष वायु का शोधन कर किंचिन्मात्रा मे पित्त कफ का भी शोधन करते हैं।

उपरोक्त प्रकार से कफ पित्त वात दोषो के वमन विरेचन निरुह् बस्ति रूप तीन कर्म उन २ स्थानो की शुद्धि करते हैं। तथा दूसरो का सामान्यतया शोधन कार्य करते हैं। इसलिये कहा है "सर्वाणि सशोधनानि कफ स्यौषघ विशेषाद् वमनम्, सर्वाणि शोधनानि पित्तस्यौषघ विशेषाद्विरेचनम्, तथा च सर्वाणि सशोधनानि वातस्यौषध विशेषाद्वास्तिरिति।"

अभिप्राय इसका यह हुआ कि दोषो के आपस मे आवरण होते हैं, जैसे पित्तावृत वात मे विरेचन-पित्तहरण करता हुआ आवरण के नष्ट होने से वातशोधक भी है, इसी प्रकार कफवृत प्राण या उदान आदि मे वमन कफ को नष्ट कर आवरण नष्ट होने से वात-शोधक भी है, उसी प्रकार मलादि से आवृत वायु मे निरुह् तथा शुद्ध वात मे विशेष कर अनुवासन ये दोनो बस्तिमल तथा वायु का शोधन करते हैं इस प्रकार दोष सशोधन के ये तीनो कर्म वमन विरेचन बस्ति रूप इन तीनो की सामान्य विशेष से विशेषता निर्देशित की है।

भगवान् के निर्देशानुसार ऊर्ध्व मूल स्वरूप शिर का शोधन करने के लिये जो कि ऊर्ध्व जत्रु गत रोगो मे दोष निर्हरण के लिये प्रायः किया जाता है। इस प्रकार शोधन के अगभूत पचकर्मों का दोषानुसार, व स्थानानुसार वर्णन हुआ।

रक्त मोक्षण या अस्त्र श्रुति भी दोष निर्हरण के लिये काम मे लाया जाता है इसका प्रयोग धातुओ में दोषो द्वारा स्थान सश्रय कर लेने पर विसर्प कुष्ठ आदि रोगो मे प्रायः प्रयोग किया जाता है—

पक्षात्पक्षाच्छर्दना न्युम्युपेया
न्मासान्मासात् स्तसर्न चाप्यधस्तात्।
त्र्यहा त्र्यहाश्च स्तत स्चावपीडान्
मासेष्वस्टह् मोक्षयेत् षट्सु षट्सु।

उपरोक्त बताये गये पचकर्मों का प्रयोग देह शुद्धि के लिए किया जाता है परन्तु इनमें बस्ति का प्रयोग इन सबमे श्रेष्ठ माना जाता है। क्योकि तीन दोषो मे चल स्वभाव वाले वायु की विशेषता है तथा इससे वायु का शमन होता है।

तस्माच्चिकित्सार्धमुदाहरन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिरेके।

अर्थात् चरक ने बस्ति को आधी चिकित्सा कही है परन्तु कुछ आचार्यों का मत यह भी था कि इसी से सपूर्ण चिकित्सा हो जाती है। यहा बस्ति शब्द से अनुवासन, निरुह् व उत्तर बस्ति समझना चाहिये। निरुह् का ही दूसरा नाम आस्थापन है वह दोष

दूष्य समूर्च्छना के अनुसार नाना द्रव्यो के सयोग से बहुत भेदो की कल्पना की जाती है। उसी के कई एक भेद प्रयोजन के अनुसार उन उन विकारो में प्रयोग किये जाते हैं। जैसे उत्क्लेशन, शोधन, शमन, लेखन, बृंहण, वाजीकरण, पिच्छा, माधुतैलिक बस्ति आदि। माधुतैलिक के पर्याय यापन, युक्तस्थ, दोषहर सिद्ध बस्ति हैं। इस तरह शरीर मे हुए विविक्त प्रदेश रूप सुषिरता का रोहण करने से व दोष निर्हरण करने से अचिन्त्य प्रभाव की तर्कणा करने से इसे निरुह नाम से पुकारते हैं। या वय की स्थापना कारक व दोषो की सम्यक् स्थापना करने से इसका नाम आस्थापन है। या यह समझो कि जो द्रव्य शरीर में रह जाने पर भी किसी प्रकार का विकार नही कर सकता अतः इसे अनुवासन कहते हैं, इसका प्रयोग यथोक्त औषधियो से साधित स्नेहो द्वारा किया जाता है। उसी का विकल्प मात्रा बस्ति जिसमे स्नेह की छोटी मात्रा का प्रयोग होता है। उत्तर बस्ति भी स्नेहन के लिये अनुवासन की तरह स्नेह से तथा शोधन के लिये निरुह की तरह दी जाती है। वह उत्तर द्वार द्वारा दी जाती है अत इसे उत्तर बस्ति कहते हैं इस प्रकार इन त्रिधा विकल्पित बस्तियो का उपयोग कोष्ठ शाखा मर्मास्थि सन्धिगत रोगो मे होता है, तथा इनका प्रयोग बच्चे से लेकर बुड्ढे तक सारे रोगो की सारी अवस्थाओ मे शोधन के रूप में बिना अपाय के सभव है अतः इसकी प्रशस्ति पचकर्मों में मुख्य है इसमें कोई दो बात नही जैसा कि वातव्याधि चिकित्सा में—

> स्वेदैर्विष्यन्दितः श्लेष्मा यदा पक्वाशये स्थित
> पित्त वा दर्शयेल्लिग बस्तिमिस्तौ विनिर्हरेत्।
> श्लेष्मणानुगतं वात मुष्णैर्गोमूत्र सयुतैः
> मधुरौषधसिद्धैश्च तैलैस्मनुवासयेत्।
> मूत्रलानि तु मूत्रेण स्वेदा सोत्तरबस्तय.।
> सर्वस्थानावृतेऽप्याशु तत्कार्यं मासतेहितम्
> यापनाः बस्तयो प्राय मधुराः सानुवासना

शोधन चिकित्सा के प्रस्ताव मे बताये हुए इन पच कर्मो मे जिस कर्म का दोषस्थान के अनुसार निकटता है जिस कर्म के द्वार की उसी कर्म से दोष निर्हरण करादे। वायु स्थान बस्ति पित्त का हृदय कफ का शिर होने से उस २ के समीपस्थ द्वार से हरण कर्मों का प्रयोग करें। इस प्रकार प्रयुक्त सशोधन रोगो का अपुनर्भवकारक होते हैं।

अब थोडा शमन औषधियो के बारे मे विचार करते हैं। बलवान् रोग मे दोष सशोधन के बाद तथा क्षीण बल वाले दोषोद्भव रोगो मे शमन चिकित्सा करनी चाहिये, या शोधन के अयोग्य रोगियो व रोगो मे बिना शोधन के उस २ रोग को नष्ट करने वाले द्रव्यो से शमन किया जाता है। रोग के दोषो को भली प्रकार जान कर औषधि का समुचित प्रयोग करने से दोष शमन हो जाता है। चाहे यह द्रव्य रूप हो या अद्रव्य रूप

दोनो प्रकार से दोष शामक होने से शमन कहलाता है। यह दोष दूष्य निदान के विपरीत किन्तु निश्चित हित रूप है वह रोग का भली प्रकार नियन्त्रण कर देती है। यह पहिले बताये गये उपशय के अट्ठारह भेदो मे हेत्वादि विपरीत, विपरीतार्थकारी शोधन की ही तरह शमन में भी गृहीत होती है।

जहा दोषो के क्षय रूप से प्रकारान्तर से रोगोत्पत्ति होती है वहा उस २ क्षय लक्षणो वाले दोष के गुण कर्मो को बढाने वाले द्रव्यो का उपयोग हेतु विपरीतता से ही सशमन के लिये प्रयुक्त होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि दोषक्षय से उत्पन्न व्याधि मे उसी दोष के विरोधी नही अपितु दोषक्षय की विरोधी चिकित्सा की जानी चाहिए। इससे क्षीण दोषो को बढाने वाली जो औषधि उस २ दोष आदि के समान भी वास्तव मे तो विपरीतार्थ होकर सम्यक् प्रयोग होने से दोषसाम्यता बना कर व्याधि निवारण करती है। जैसे पित्त कफ क्षय से उत्पन्न रोगो में पित्त कफवर्द्धक भेड के दूध व उडद आदि द्रव्यों के उपयोग से क्षीण दोष बढ कर धातु साम्यताकर होता है।

शमन चिकित्सा में दोषो की अंशाश रूप कल्पना को जान कर उसके बाद द्रव्य में रहने वाले रस गुण वीर्य विपाक प्रभाव आदि कामी उस २ दोष के प्रशमन में शक्ति प्रकर्षका ध्यान कर दोषादि से विपरीत, या विपरीत गुण भूयिष्ठ का विचार किया जाता है। भाव यह हुआ कि दोष विरोधी द्रव्यो के द्वारा की गई चिकित्सा को शमन चिकित्सा के नाम से कहते हैं। और उस २ द्रव्य के प्रयोग करने पर द्रव्य का कुछ काम द्रव्य स्वभाव से तथा कुछ रस विपाक से, कुछ वीर्य से दोष सशमनात्मक कार्य करता है इसमें द्रव्य में रहनें वाले रस गुण वीर्य विपाक आदि गुण ही युक्ति से धातु साम्यता के लिये अभ्यास करने चाहिये। यहा भी द्रव्यो के स्वरूप का ज्ञान रसो से या शेष द्रव्यों में रहने वाले गुर्वादिगुण, वीर्य विपाक आदि का बोध भी रस से किया जा सकता है इसलिये रसों की प्रधान कहा है वे रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु तिक्त कषाय नाम से छ सख्या में हैं। चिकित्सा में इनका उपयोग उस २ दोष को नष्ट करनें वाले रस विशेष द्रव्यो की योजना करनी होती है। दोष प्रशमन में इनकी प्रधानता रस विमान में कही है—जैसे

कटुतिक्त कषाय	वायुकारक है।
मधुर, अम्ल, लवण	वायुनाशक है।
कटु अम्ल लवण	पित्तकारक हैं।
मधुर अम्ल कषाय	पित्तशामक हैं।
मधुर अम्ल लवण	श्लेष्मकारक है।
कटु तिक्त कषाय	श्लेष्मशामक हैं।

इसी प्रकार दोषों का व रसो का ६३ प्रकार का विकल्प बताया है, उनमें पहिले दोष विकल्प को जान कर रस कल्पना में युक्त बैठने वाले रसयुक्त औषधि के प्रयोग से

उस २ दोष का सशमन करती है—कहा भी यही है जो रसो की कल्पना व दोषो की कल्पना को सम्यक् समझता है रोगो के हेतु लिंग की शान्ति मे कभी त्रुटि नही करता। इस प्रकार की कल्पना का विचार करते हुए कही एक रस का कही दो का कही मिले हुए तीन, चार, पाँच छ रसो का प्रयोग करें।

सयुक्त रसो वाले द्रव्यो की प्राप्ति पर वैसी वैसी स्थिति मे उन २ द्रव्यो का प्रयोग करें लेकिन जब ऐसे द्विरस आदि का एक द्रव्य न प्राप्त हो सके तो उन २ विभिन्न रसो वाले द्रव्यो के समिश्रण से बनाये द्रव्य का प्रयोग किया जाय। इसी प्रकार के बहुत से प्रयोग आचार्य चरक ने अपनी सहिता मे लिखे हैं। लेकिन ऐसे रसो का उपयोग दोषो की अशाश कल्पना पर ही निर्भर है इसी तरह कुष्ट चिकित्सा मे बताया हुआ महातिक्तक घृत दूसरे अधिकार मे बताये गण्डमाला आदि रोगो की शान्ति भी करता है। द्रव्यो के रसो को व विकारो को तथा दोषो को, देशकाल शरीर को सपूर्णतया जानता है वही भिषक् कहलाने का अधिकारी है।

पहिले रसो से दोषो की उत्पत्ति व दोष शामकता रूपी कार्य बता दिया है लेकिन इनके द्वारा उस २ दोष की उत्पत्ति व शमन में भी गुण तारतम्य तो है ही। इसी से यहां जो कटु तिक्त कषाय रुक्ष गुण के कारण से वातजनक हैं साथ ही कफशामक भी हैं पर हैं वे भी प्रवर, अवर मध्य प्रकार से सो इनमें कषाय रस अत्यन्त रूक्ष होने से वायु को अधिक प्रकुपित करता है व कफ के स्नेहाश को अत्यन्त शुष्क कर उसका विशेष शामक है किन्तु कटु तिक्त रस रूक्ष गुण में मध्य व अवर रूप से वायु का प्रकोप तथा कफ का शमन करते हैं। इसी प्रकार रस अति स्निग्ध होने से कफ को अधिक तथा वायु का विशेष शमन करता है व अम्ल लवण स्नेह गुण में मध्य तथा अवर है इसलिये मध्य व अवर रूप से ही क्रम से वातप्रकोप तथा कफप्रकोपक होते हैं—इससे वही मधुर रस अति शीत से पित्त का विशेष शामक व कषाय तिक्त मध्य व अवर पित्तशामक है इस प्रकार सपूर्णतया विचार कर जहा जिसका प्रयोग वाछनीय हो वही उसका प्रयोग करना सफल प्रयोग कहलाता है।

रस नाम	गुण	प्रवर	मध्य	अवर	
(शीत) कषाय	रूक्ष	+			कफशामक—वातकोपक
कटु	"		+		" "
(शीत) तिक्त	"			+	" "
(शीत) मधुर	स्नेह	+			कफकर पित्तशामक
अम्ल	"			+	" "
लवण	"			+	" "

शोधन चिकित्सा मे वमन विरेचन बस्ति रूप तीनो कर्म कफ पित्त वायु के विशेष

उपक्रम कहे हैं वैसे ही यहा शमन चिकित्सा मे कफ, पित्त वायु का शमन करने के लिये तीन द्रव्य शहद, घी, तैल का प्रधान रूप से वर्णन किया है। तैल मे स्निग्धता, उष्णता, गुरुतायुक्त होने से इसके अभ्यास से वात शमन होता है। क्योकि वायु के रूक्ष, लघु, शीत गुणो का शमन उपरोक्त तैलास्थित विशिष्ट गुणो द्वारा होता है। इसी तरह घी भी मधुर, शीत, मन्द गुण के कारण उष्ण, तीक्ष्ण, अमधुर पित्त का शामक वैसे ही कफ स्निग्ध, मन्द, मधुर होता है अत उसके विरोधी गुण रूक्ष, तीक्ष्ण, कषाय वाला मधु कफशामक है। इसी तरह के और भी इन वातपित्त कफ के विरोधी गुणो वाले द्रव्य होते हैं वे इनका शमन करते हैं अर्थात् सामान्य द्रव्य गुण कर्मो से वृद्धि व विशेष द्रव्य गुण कर्मो से ह्रास होता है।

उपरोक्त इन तीनो द्रव्यो के द्वारा तीनो दोषो का शमन प्रधानतया कहा है परन्तु इनसे दूसरे दोषो का भी शमन होता है परन्तु कषाय, मधुर, रूक्ष गुण के कारण मधु पित्त को भी शमन करता है वैसे ही स्निग्ध घृत रूक्ष गुण वाले वायु का, वैसे ही तैल उष्ण होने के कारण कुछ अशो मे शामक होता ही है, यह उपरोक्त तीनो शमन रूपी औषधियें व्याधि के हेतुभूत दोषो का ही शमनकारक होने से इन्हे हेतु विपरीत कहते हैं। अगर वायु रूक्ष आदि गुणो से सर्व भावो द्वारा सब प्रकार से कुपित हो तो सर्व रूप से विरोधी तैल द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। लेकिन जब कि वायु का प्रकोप रूक्ष गुण से न होकर शीत गुण से हुआ होता वहा तैल का प्रयोग न कर उष्ण गुण युक्त सोठ आदि हेतु विपरीत औषधि का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार सब जगह ही विचार करना चाहिये। यह सब विचार निघण्टु या द्रव्य गुण शास्त्र द्वारा प्राप्त होता है। द्रव्य गुण अनुशीलन से एक ही औषधि द्रव्य का शोधन व शमन के लिये भली प्रकार उपयोग किया जा सकता है, सिद्धौषधियो का भी स्वरस, कल्क, चूर्ण, आसव, अरिष्ट वटिका अवलेह स्नेह आदि प्रक्रिया द्वारा द्रव्य के अवयवो का विचार कर प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार सशोधन चिकित्सा करने के बाद शमन चिकित्सा द्वारा रोग शान्त हो जाने पर भी उस २ रोगाधिकार मे कहे उस २ रोग के या रोग स्थान की विगुणता का नष्ट करने वाले औषधि के सतत अभ्यास से निवृत्त व्याधि के पुनरावर्तन का उच्छेद हो जाता है। बलवस्थिर हुए रोगो में योग के प्रयोगो का अभ्यास करने से रोग निवृत्ति होती है।

आधुनिक चिकित्सा लक्षण विरोधी औषधि द्वारा की जाती है। अगरचे इस प्रकार की चिकित्सा व्याधि प्रत्यनीक होने से शीघ्र गुणकारी होती है जैसे शिर शूल मे एस्प्रीन, विषम ज्वर मे क्विनैन आदि द्रव्य व्याधि प्रत्यनीक होने से शिरः शूल व विषम ज्वर को शीघ्र ही शमन करती हैं तो भी रोगो के मूल जो दोष है उनकी साम्यता हुए बिना स्वस्थता नही बन पाती है, इसलिये एक बार रोग शान्ति हो जाने पर भी रोगो का पुन पुनः आक्रमण होता रहता है। अगरचे इसी प्रकार की व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा चरक मे भी बतायी है

परन्तु उसकी उचितता उस क्रियासरणी के अनुसार ही है आधुनिको की तरह पेटेन्ट औषधियो की भरमार नही है, क्रिया की प्रधानता वाद तो सब जगह ही देखा जाता है।

हेतु प्रत्यनी व चिकित्सा में प्रकृति की सहायता भी प्राप्त होती है क्योकि रोग होते हैं दोष विषमता से अर्थात् शरीर मे जो विकार हुए उनका कारण होता है दोष धातु मलो की विषमता, और वह विषमता दोष धातु मल अग्नि आदि की जहाँ जहाँ स्थान सश्रय करते है उसी २ स्थान के अनुसार रोगोत्पत्ति हो जाती है। जैसे दोष विकृति ने यदि आमाशय मे अपना दुर्ग किया तो ज्वरोत्पत्ति, इसलिये इसकी चिकित्सा मे लघन, पाचन मे सन्ताप, स्वेदादि लक्षणो से शरीर शुद्धि प्रकृति स्वय भी शोधन करने का प्रयत्न करती है, इस स्थिति मे यदि लक्षण विरोधी उपायो द्वारा अचानक रोग लक्षणो को रोका जाय तब देहस्थ दोष भली प्रकार से बाहिर नही निकल सकते हैं अत उस रोग के शान्त हो जाने पर भी वे दोष वैषम्य रूप रोग लक्षण देहस्थ रहते हुए कालान्तर मे जीर्ण ज्वर आदि नाना प्रकार की गभीर व्याधियो को उत्पन्न कर देते हैं। यदि ऐसी स्थिति मे बाहर निकलने वाले इन दोषो को पहिले शोधन कर बाद मे लघन पाचन पेया आदि उपायो से दोष पाक कर बाद मे व्याधि स्थान विपरीत औषधि का सेवन कराया जाय तब वही औषधि आमाशय मे जाकर सम्यक् परिपाक होकर सारे शरीर मे उत्पन्न विकार समूह का नाश कर बन जाती है। लघन व पाचन आदि उस अवस्था मे हुई प्रकृति विकृति का सहायक रूप मे ही बनते हैं।

ऐसे ही अतिसार रोग मे साम व निराम की भली प्रकार परीक्षा कर दीपन पाचन आदि चिकित्सा की जाती है। जैसे आम लक्षणो वाला पुरीष गुरुत्व के कारण जल मे डूबती है जबकि पक्व जल पर तैरता है परन्तु कभी २ आम भी द्रवाधिक्य से तैरने लगतो है तथा पक्व अति सघात से मज्जन कर जाती है अत अतिसार मे आटोप, विष्टभ, अति दुर्गन्ध लक्षणो से सामता तथा इनसे विपरीत लक्षणो मे निरामता का विचार करते हुए आमावस्था मे अनशन रूप लघन ह्रीबेरादि पाचन यथायथ दोषो का विचार कर उपयोग किया जाता है न कि व्याधि लक्षण से विपरीत सग्रहणीय औषधि का प्रयोग क्योकि आमावस्था मे रोकने वाली औषधि का प्रयोग न करे, यदि कर दिया गया तो शोथ, पाण्डु, प्लीह, कुष्ठ, गुल्म, उदर, ज्वर दडक, अलसक, ग्रहणी, अर्श आदि रोगो को उत्पन्न करने वाले बनते हैं, अत. इसके प्रति पूरा ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। अत. निराम अवस्था हो जाने पर ही सग्रहणीय द्रव्य का प्रयोग करे। कोई ऐसी ही परिस्थिति आ पडी हो कि जहाँ रोगी अत्यन्त बल क्षीण है तो साम दोष का स्तम्भन करना पडता है, लेकिन उस दशा मे भी स्तम्भन पाचन स्वभाव का ही हित तय होता है। इसी प्रकार अतिसार जैसे सामान्य रोग की चिकित्सा मे हुई गल्तो से बहुत से उपद्रवो की उत्पत्ति हो जाती है।

सक्षेप मे हेतु प्रत्यनीक आदि पूर्व वर्णित समस्त चिकित्सा विधियां का कार्य चिकित्सा मे धातु साम्यता की स्थिति बनाने के लिये ही उपदेश है। परन्तु इनकी साम्यता रहती है अग्नि की साम्यता से, और अग्नि का बल, स्नेह, अन्न पान विधि से, चूर्ण अरिष्ट, सुरा, आसव आदि के सम्यक् प्रयोग से बना रहता है। इस प्रकार यहा हेतु विपरीत योजना से मन्दाग्नि की चिकित्सा भी धातु साम्यता के लिये ही है।

अति स्नेह से हुए अग्निमान्द्य मे चूर्ण आरिष्ट आसव दें।
उदावर्त से हुए अग्निमान्द्य मे निरुह, स्नेह बस्तिया दें।
दोष वृद्धि से हुए अग्निमान्द्य मे दोष सशोधन करें।
व्याधि से हुए अग्निमान्द्य मे घृत ही अग्नि दीपक है।
उपवास से हुए अग्निमान्द्य मे यवागू के साथ घृत पान दें।

इसी प्रकार तीक्ष्ण व विषमाग्नि मे भी इनकी चिकित्सा तब तक करनी चाहिये जब तक समाग्नि न हों।

इस प्रकार किसी भी उत्पन्न रोग मे हुई धातु वैषम्यता की स्थिति मे जब तक धातु-साम्यता न होवे तब तक सावधानी के साथ शोधन शामन आदि चिकित्सा द्वारा युक्ति व्यपाश्रय रूप व्याधि निर्धान कर औषधि का निरन्तर अनुशीलन करना चाहिये।

चरक सहिता या अग्निवेशतन्त्र समुद्र के समान गभीर है उसमे आज तक की समग्र चिकित्सा विधियो का समावेश भी शक्य है परन्तु उसकी चिकित्सा विधि के अद्भूतता की विशेषता भी साथ ही साथ रहती है जिसका हमने एक देश से यहा बताने का प्रयत्न किया है।
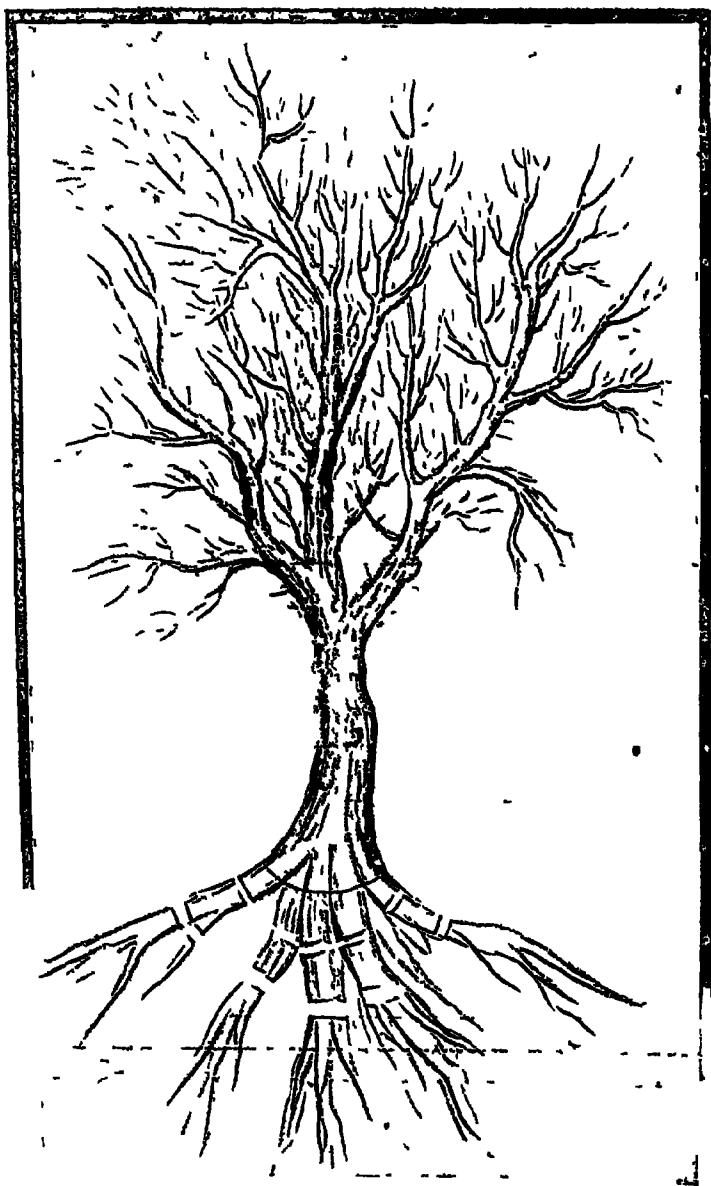
वृक्षायुर्वेद में राजरोग ऐसे वृक्षों की औषधि

चिकित्सा में चरक की विशेषता

लेखक : वैद्य विरिञ्चि शर्मा

[श्री शर्मा इस्लामपुर निवासी आयुर्वेदाचार्य वैद्य है। आप इन्डियन मेडिसिन बोर्ड राजस्थान के भूतपूर्व सदस्य भी रह चुके हैं। आपका शेखावाटी में विशेष प्रचार है। लेख का विषय अति गंभीर है, आवश्यकता है वैद्यों द्वारा इसे समझने की विशाल समुद्र में से व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही प्राप्त करता है, एक ही विषय के दो लेख पाठकों के सम्मुख है। पढ कर निर्णय कर लाभ उठाए।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सपादक]

सम्पूर्ण चिकित्सा पद्धतियो मे चरक का वैशिष्टय स्थान आजकल की प्रचलित सभी चिकित्सा पद्धतियो मे आयुर्वेद अपना सर्व प्रथम स्थान ही नही रखता लेकिन यह कहना उचित है कि आयुर्वेद ही अन्य चिकित्सा प्रणालियो का मूल है। अर्थात् यही से अन्य देशो मे चिकित्सा पद्धति का प्रसार हुआ। वर्तमान मे एलोपैथिक पद्धति जो प्रचलित है वह भी इसी आयुर्वेद से निकली है अतएव हमारे चिकित्सा क्षेत्र मे चरक की वैशिष्टयता है कि सैकडो वर्षों तक रिसर्च री सामग्री मौजूद है और इसी आधार पर तो महर्षि चरक ने कहा है और दावा किया है कि—

यदि हास्ति तदन्यत्र
यन्नेहास्तिनतत्कचित् ॥

इतिहासो से जो कुछ पाया गया है और वह प्रत्यक्ष है आपसे छुपा नही है—अष्टाग आयुर्वेद द्वारा हम हर प्रकार के रोगो का मुकाबला करते आये हैं तथा हमने पीडित रोगियो की जीवन रक्षा की हर तरह की रक्षा करने मे सफलता प्राप्त की है हमारे चरक की चिकित्सा पद्धति आज भी किसी चिकित्सा पद्धति से पीछे नही है इस विषय मे हमारे चरक ने चिकित्सा क्रम के छ प्रमुख आधार माने है वैसे रोगो के अनन्त भेद है लेकिन उनका निराकरण करने के लिए जो उपाय काम मे लाये जाते है वे उपाय इन छ आधारो मे ही सन्निहित है। ये छ आधार हैं—लघन, बृहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन, स्तम्भन। अर्थात् शरीर मे विवर्द्धित दोषो का लघन द्वारा, शरीर के क्षीण प्राण तत्वो का बृहण द्वारा—शरीर मे स्नेह की कमी का स्नेहन द्वारा शरीर मे रुके हुए दोषो का स्वेद द्वारा, शरीर के प्रवाहित तत्वो का स्तभन द्वारा ही निराकरण सभव है जैसा कि चरक मे निर्देश किया है—चरक सूत्र स्थान अध्याय २२

लघन बृहण काले,
रूक्षण स्नेहन तथा।
स्वेदन स्तम्भन चैव,
जानीतेय स वैभिषक् ॥

वृक्षायुर्वेद में राजरोग ऐसे वृक्षों की औषधि हानिप्रद हैं।

चिकित्सा में चरक की विशेषता

लेखक : वैद्य विरिञ्चि शर्मा

[श्री शर्मा इस्लामपुर निवासी आयुर्वेदाचार्य वैद्य हैं। आप इन्डियन मेडिसिन बोर्ड राजस्थान के भूतपूर्व सदस्य भी रह चुके हैं। आपका शेखावाटी में विशेष प्रचार है। लेख का विषय अति गंभीर है, आवश्यकता है वैद्यों द्वारा इसे समझने की विशाल समुद्र में से व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही प्राप्त करता है, एक ही विषय के दो लेख पाठकों के सम्मुख है। पढ कर निर्णय कर लाभ उठाए।
—वैद्य बाबूलाल जोशी, सपादक]

सम्पूर्ण चिकित्सा पद्धतियो मे चरक का वैशिष्ट्य स्थान आजकल की प्रचलित सभी चिकित्सा पद्धतियो मे आयुर्वेद अपना सर्व प्रथम स्थान ही नही रखता लेकिन यह कहना उचित है कि आयुर्वेद ही अन्य चिकित्सा प्रणालियो का मूल है। अर्थात् यही से अन्य देशो मे चिकित्सा पद्धति का प्रसार हुआ। वर्तमान मे एलोपैथिक पद्धति जो प्रचलित है वह भी इसी आयुर्वेद से निकली है अतएव हमारे चिकित्सा क्षेत्र मे चरक की वैशिष्टयता है कि सैकडो वर्षों तक रिसर्च री सामग्री मौजूद है और इसी आधार पर तो महर्षि चरक ने कहा है और दावा किया है कि—

यदि हास्ति तदन्यत्र
यन्नेहास्तिनतत्कचित् ॥

इतिहासो से जो कुछ पाया गया है और वह प्रत्यक्ष है आपसे छुपा नही है—अष्टाग आयुर्वेद द्वारा हम हर प्रकार के रोगो का मुकाबला करते आये हैं तथा हमने पीडित रोगियो की जीवन रक्षा की हर तरह की रक्षा करने मे सफलता प्राप्त की है हमारे चरक की चिकित्सा पद्धति आज भी किसी चिकित्सा पद्धति से पीछे नही है इस विषय मे हमारे चरक ने चिकित्सा क्रम के छ प्रमुख आधार माने है वैसे रोगो के अनन्त भेद है लेकिन उनका निराकरण करने के लिए जो उपाय काम मे लाये जाते है वे उपाय इन छ आधारो मे ही सन्निहित है। ये छ आधार हैं—लघन, बृहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन, स्तम्भन। अर्थात् शरीर मे विवर्द्धित दोषो का लघन द्वारा, शरीर के क्षीण प्राण तत्वो का बृहण द्वारा—शरीर मे स्नेह की कमी का स्नेहन द्वारा शरीर मे रुके हुए दोषो का स्वेद द्वारा, शरीर के प्रवाहित तत्वो का स्तभन द्वारा ही निराकरण सभव है जैसा कि चरक मे निर्देश किया है—चरक सूत्र स्थान अध्याय २२

लघन बृहण काले,
रुक्षण स्नेहन तथा।
स्वेदन स्तम्भन चैव,
जानीतय. स वैभिषक् ॥

इसी प्रकार रसायन और बाजीकरण मे ससार की कोई चिकित्सा पद्धति आयुर्वेदीय चरक चिकित्सा पद्धति के सामने टिकने का साहस नही कर सकती इसके अलावा भी इस पद्धति की वैज्ञानिकता उपयोगि तो व्यावहारिकता सरलता, प्राकृतिक अनुकूलता तथा आर्थिक दृष्टि से मितव्ययिता-बडे २ विद्वान एलोपैथ सदैव ही मानते आये है, यहा तक कि अयुर्वेद के विरोधि तत्वो ने भी इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है कि जिस समय विश्व के प्रागण मे अज्ञानता और असभ्यता का बोल बाला था उस समय हमारे भारत मे सभ्यता वैज्ञानिकता चरम सीमा पर थी उस समय आयुर्वेद ही भारतीय चिकित्सा की नालन्दा तक्षशिला के विश्वविद्यालयो मे अन्य देशो के लोग आकर चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा लेते थे अब इतना न होते हुए भी तथा हमे बलपूर्वक आयुर्वेद की वैज्ञानिकता को चुनौती देते ही रहते हैं लेकिन यह ध्रुव सत्य है कि आयुर्वेद का प्रादुर्भाव स्वस्थ व्यक्तियो के स्वास्थ्य रक्षा के लिए तथा व्याधित व्यक्ति को निरोग करने के लिये ही हुआ है। अतएव कहा है स्वस्थस्प स्वास्थ्य रक्षण तथा व्याधितस्य रोग निवृत्यंम्। इसी तरह देह धातु की विषमता को समकरना इसका मुख्य उद्देश्य है अतएव कहा भी है—धातु साम्य क्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्थ प्रयोजनम्" अन्यत्र भी इसी आशय को लेकर कहा है—रोगस्तुदोष वैषम्य दोष साम्य मरोगता। आधुनिक चिकित्सा पद्धतियो मे रोग व रोगी की परिचर्या का ही अधिकतर विचार किया है लेकिन चरक मे तो आयुर्वेद को निरुक्ति का वर्णन अषो लिखित है—

हिताहित सुख दुख आयुस्तस्यहिताहितम्
मानञ्च तच्चयत्रोक्त मायुर्वेद स उच्यते ॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि चरक चिकित्सा मे "शरीरेन्द्रिय सत्वात्म सयोगोधारि जीवितम्" आगे कहते हैं—नित्य गश्चानु बन्धश्च पर्यामैरायु रुच्यते—इति शरीर इन्द्रिय मन तथा आत्मा के सयोग से जो उपलक्षित काल है चरक-सू १ अध्याय अर्थात् आयुर्वेद आयु के लिए हित तथा अहित द्रव्य गुण कर्म का विचार करता है जैसे कहा है—यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणिच द्रव्य गुणकर्माणिवेदयति अतोप्यायुर्वेदः—आदि चारक के उक्त वक्तव्यो से आयुर्वेद की महत्ता के साथ २ चरक के चिकित्सा भी प्रत्यक्ष जनहित कारिणी सिद्ध होती है। यह कोई कोरी कल्पना तथा अपने पूर्वजो के प्रति अधविश्वास ही नही अपितु सभी साधना के प्रति श्रद्धाजली मात्र है जो कि रज और तम से निर्मुक्त महर्षियो के द्वारा सहस्रो वर्षो द्वारा कल्पी जाती रही है अतएव कहा भी है रजोस्तमोम्यानिर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेनये। अर्थात् आज का प्रत्यक्ष ज्ञान रज और तम से निर्मुक्त नही है पैसे के बल पर प्राधान्य हैं आयुर्वेद का सिद्धान्त तो इसके विपरोत ही है—जो इस प्रकार है

नात्मार्थं नापिकर्मार्थमथभूतदयाप्रति।
वर्ततेय चिकित्साया ससर्वमतिवर्त तँ॥

आयुर्वेद का यह पुनीत उपदेश बिल्कुल सत्य है और वह चिकित्सा मे चरक के श्रेष्ठ सूत्रो मे है। जय आयुर्वेद

शोधन

लेखक—वैद्य शकरलाल शर्मा

[श्री शर्मा परम्परागत सिद्ध चिकित्सक, चिकित्सक चूडामणि बडी सादडी उदयपुर के निवासी है। आप आयुर्वेदीय परम्परा के पोषक, अनुभवी कर्मठ विद्वान है। आपने अपने सुपुत्र श्री प्रेमशकरजी शर्मा निवर्तमान निदेशक आयुर्वेद विभाग, राजस्थान तथा पौत्र को भी आयुर्वेद विज्ञान की उच्च शिक्षा दीक्षा से अलकृत किया है। आपका "शोधन" नामक लेख बडा ही उपयोगी तथा चरक के कल्पस्थान का अतिसक्षिप्त ग्राह्य सार भाग है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]
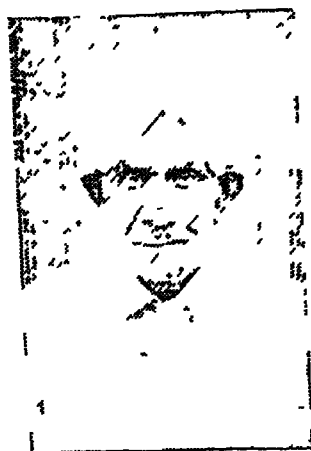
शरीर मे पीडा यद्यपि दोषो के वैषम्य से उत्पन्न होती है परन्तु यह दोष वैषम्य शरीरस्थ स्रोतो मे अति प्रवृत्ति, सग, सिराग्रथिया आदि होकर उन स्रोतो मे स्रुत होने वाले द्रव्यो को विमार्ग प्रवृत्ति फलस्वरुप स्रोतो के स्वय के कार्य में बाधा होने से पीडा की प्रतीति होने लगती है। चिकित्सक को स्रोतो वैगुण्य की स्थिति समझकर उन स्रोतो मे लीन दोषो को बाहिर निकालने के लिये सर्वप्रथम स्नेहन तथा स्वेदन करना चाहिये। इससे दोष द्रवित हो जाते हैं। उपरान्त इसके सशोधन योग्य रोगियो को चित्र में बताये गये द्रव्यो का प्रयोग करने से देह सशोधन हो जाता है। सशोधन के पश्चात् पेया, विलेपी, अकृत यूष, रस, एक, दो या तीन, अवर, मध्य या प्रधान शुद्ध रोगी को दिया जाय।

वमन

वमन के रोगी, वमन नहीं कराए						परिहार	सेवनीय
पीनस	क्षत-क्षीण	वमन देकर 1 मुहूर्त प्रतिक्षा करे।	योग	अयोग	अतियोग	जोर से बोलना	सुखोष्णजल सेचन
कुष्ठ	अतिस्थूल	पसीना आने पर (दोष विलयन)	काले प्रवृत्ति	अप्रवृत्ति	फेनिल	अधिक भोजन	षाटी चावल
							यवागू २ दिन
नव ज्वर	अति कृश	रोगटें खड़े होना (दोष प्रचलन)	पीडा न होना	औषधि भ्रंश	रक्तचन्द्रिकायुक्त	अधिक बैठना	विलेपी
कास	बाल-वृद्ध	आध्मान (कुक्षि मे आना)	हृत शुद्धि	वेग बन्ध	तृषा	अधिक घूमना	मुद्गयूष
श्वास	श्रान्त	हृल्लास, मुँह में पानी आना (ऊर्ध्वमुख)	पार्श्व ,,	स्फोट	मोह	अधिक क्रोध	स्नेहिक धूम
गलग्रह	पिपासित	कुर्सी पर रोगी को बैठाए	मूर्धा शुद्धि	कोठ	मूर्च्छा	अधिक शोक	वैरेचनिक धूम
गलगण्ड	क्षुधित	ललाट पकड़ने वाला	इन्द्रिय शुद्धि	कण्डू	वातकोप	अधिक शीत	उपशमनीय धूम
श्लीपद	उपवास	पार्श्व पकड़ने वाला	यथाक्रम दोष	हृत् अविशुद्धि	निद्राहानि	अधिक धूप	
प्रमेह	व्यायाम	नाभि पकड़ने वाला	निर्हरण	स्रोत शुद्धि	बलहानि	अधिक ओस	
अग्निमांद्य	चिन्तित	पीठ पकड़ने वाला	स्वय रुकना	गुरुगात्रता		अधिक वायु	
अजीर्ण	गर्भिणी		पित्तान्त			अधिक सवारी	
अलसक	ऊर्ध्वरक्तपित्त	उदीर्णवेग को प्रकट करे,	तीक्ष्ण		उपद्रव—	मैथुन	
विष गर,पीत	ऊर्ध्ववात	ग्रीवा कुछ झुकाए,	वेग ८		आध्मान	रात्रि जगना	
दष्ट, दग्ध, विदग्ध	हृद्रोग	अंगुलि या कुमुदनालको	चारसेर		परिकर्तिका	दिन मे सोना	
अयोग रक्त पित्त	उदावर्त	गले में स्पर्श करे।	मध्य		परिस्राव	विरुद्ध भोजन	
अर्श	मूत्राघात		वेग ६		हृदयोपसरण	अजीर्ण भोजन	
हृल्लास	प्लीहोदर		तीन सेर		अंगग्रह	असात्म्य ,,	
अरुचि	गुल्म		मृदु		जीवादान	अकाल ,,	

अपची अष्ठीला
अपस्मार स्वरभेद
उन्माद तिमिर
अतिसार पक्ष
शोफ कर्णशूल
पाण्डु नेत्र शूल

वेग ४
दो सेर

विभ्रंश
स्तम्भ
क्लम

प्रमित ,,
अतिहीन ,,
गुरु ,,
विषम ,,
वेगसधारण
वेगोदीरण

वमन कल्प

क्र.स.	नाम द्रव्य	उपयोगी अंग	उपयोग कल्पना	मात्रा	अनुपान	रोगो में उपयोग
१	मदन फल	फल पिप्पली	चूर्ण, कषाय, फाण्ट, दूध, घी, वर्ति, अवलेह, मोदक, पेया, पूड़ी, मालपुआ, मद्य, षाडव,	अतर्नरव मुष्टि	मधु सैंधव	सर्पविष, श्वास
२	देवदाली	फल फूल	दूध, पेया, घृत	क्षुभित २ तो.	गुडूची कषाय सुरामण्ड, दूध, वमन द्रव्य कषाय	कास, पाण्डु, ज्वर, श्वास, हिक्का, अरुचि,
३	कडवीतुंबी	गूदा, पुष्प पत्र	दूध, आसव, मद्य, पेया, दधि-घृत, बीजतैल	पत्ते अतर्नरवमुष्टि		कफज्वर, पाण्डु, स्वर भेद, पीनस, मधुमेह, कुष्ट विष, गुल्म, उदर, गण्डमाल, श्लीपद
४	आमार्गव,	बीज, पीले फूल	पत्रस्वरस, दूध, मलाई, सुरामण्ड चूर्ण, यवागू, मधु,	चूर्णवटी वेर-प्रमाण		गर, गुल्म, उदर, कास, श्वास
५	इन्द्रजव	फल चूर्ण	तिलयुक्त खिचड़ी	अतर्नरवमुष्टि		हृद्रोग, ज्वर, वातरक्त, विसर्प, रक्तपित्त
६	कृतवेधन (कडवी तोरइ)	फल पुष्प	दूध, घृत, आसव		इक्षु रस,	गाढरोग, कुष्ट, पाडु, प्लीहा वृद्धि, शोथ, गुल्म, गरविष

रेचन कल्क

७	निशोथ	मूल (श्वेत अरुणाभ)	दाडिम स्वरस, एलादालचीनी मिला कर पथ्यादि मोदक, आसव, अरिष्ट, कल्याणक गुड	६ माशा		मूत्र, त्रिफलाक्वाथ, नमक,दूध,इक्षुरस,	हिक्का, कास, श्वास, अरुचि, हृत्, त्रिक, बस्तिशूल
८	आरग्वध	फलमज्जा, फूल	अगूर रस से, मुनक्का क्वाथ से, निशोथ क्वाथ, दूध, घृत, आसव, अरिष्ट		बाल वृद्ध		ज्वर, हृद्रोग, वातरक्त, उदावर्त, विबन्ध, अर्श
९	शावरलोध,	शावरमूलत्वचा,	दही, 'छाछ, सुरामड, बेर की कांजी, आमलकी की स्वरस, मदिरा, आसव, अवलेह	पाणितल १ तोला			मधुमेह, रक्तपित्त
१०	डहा थूअर अधिक काटे वालीका	शिशिर ऋतु मे गृहीत दुग्ध,	पचमूल क्वाथ में डाल कर पका कर सुखा कर शोधन करे। घृत, कांजी,		अतिक्रूर कोष्ठ दोषतिसचय	वृहत्पचमूलकषाय, मुद्ग यूष,	पाण्डु, उदर, दकोदर, गुल्म
११	दन्ती द्रवन्ती (जमालगोटा)	मूल, बीज, (तीक्ष्ण, आशु उष्ण)	आसव, अरिष्ट, इच्छा भेदी रस चूर्ण,	½ चावल	,,	दही, छाछ, सुरामड, मधुमेह	

आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता त्रिदोष-सिद्धान्त

ले० कविराज लाला बदरीनारायण सेन

[कविराज लाल बदरीनारायण जी सेन जी ए० एम० एस० है, आपका औषधालय कन्हैलीराम बाग रोड, मुजफ्फर (बिहार) में है। श्री सेन सुयोग्य लेखक हैं आपका "आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता त्रिदोष-सिद्धान्त" पठनीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आयुर्वेद वैज्ञानिक है या अवैज्ञानिक इसे सिद्ध करने की कोई विशेष आवश्यकता नही। अपनी भाषा मे तो यह "वेद" याने विज्ञान है ही आज की भाषा मे भी यह उतना ही वैज्ञानिक है जितना कोई भी अन्य विज्ञान। बल्कि आज के आयु वैज्ञानिको को रक्त परिभ्रमण पाचन एव शोषण आदि जिन बातो पर अपने को वैज्ञानिक कहने का गर्व है वे आयुर्वेद से ग्रहण किये गये हैं—हा इतना ही भर कहा जा सकता है कि उनकी व्याख्या इन्होने सुगम रूप से किया है। आयुर्वेद मे वर्णित रस रक्त सवहन शरीर की प्राकृत क्रियाये पाचन शोषण रस गुण विर्य्य विपाक तथा धातुवो (metals) का इस रूप मे परिवर्तन की वे शरीर के लिये आसानी से ग्राह्य हो सके आदि क्या अवैज्ञानिक है? नही। आज का आयु. विज्ञान भी इसी पथ से होता हुआ आगे बढ रहा है उसका अन्य कोई पथ नही है। अतः यदि वह वैज्ञानिक है तो यह भी वैज्ञानिक है।

जितना विज्ञान स्वत वैज्ञानिक है आयुर्वेद उतना वैज्ञानिक तो है ही उसमे कोई सदेह हो ही नही सकता, साथ ही साथ इस के विज्ञान की एक अपनी मौलिकता है जिस ओर अभी तक आज के वैज्ञानिक नही बढे हैं और वह है इसका "त्रिदोष वाद"। केवल शरीर को ही नही सृष्टि के सारे भौतिक द्रव्यो को आयुर्वेद ने त्रिदोष वाद के सूत्र से बांध रखा है इसकी व्यापकता के सम्बन्ध में इतना तक कहा है कि जिस प्रकार चन्द्रमा-सूर्य्य एव वायु ससार मे व्याप्त है और उसे धारण किये है उसी प्रकार त्रिदोष भी शरीर ही नही हा भौतिक द्रव्यो मे व्याप्त है और उन्हे धारण किये रहने वाला है।

मगर इसे दुर्भाग्य कहे या काल के कारण थपेडो का प्रभाव कि आयुर्वेद के उपलब्ध ग्रन्थो मे इस महत्त्वपूर्ण विषय पर कोई स्पष्ट व्याख्या नही मिलती कि वास्तव मे यह क्या है इसकी उत्पत्ति कैसे है। किस प्रकार यह इतना व्यापक है और कैसे यह शरीर का धारक है। उपलब्ध आयुर्वेद ग्रन्थो मे इस सम्बन्ध मे जो कुछ छिटपुट पक्तिया मिलती हैं वे इतनो अधिक परस्पर विरोधी हैं "त्रिदोष मीमासा" जैसे आलोचनात्मक पुस्तको को प्रकाश

मे आने का अवसर मिला है। एक ओर जहा त्रिदोष के अत्यन्त सूक्ष्म व्यापक एव धारक होने का बात कहा है वही दूसरी ओर उसके स्वरूप का वर्णन कर उसे अत्यन्त स्थूल एव सीमित भी बना डाला है। मगर सिवाय इन पक्तियो के जिनमे इसके स्वरूप का वर्णन है और कही भी इनके स्थूल एव सीमित होने को आभास तक नही मिलता। इससे यह मालूम पडता है कि या तो ये बाद के योग (addstion) हैं या इसका वह अर्थ नही जिसे हम लोग आज ले रहे। [लेखक इसी का समर्थक है] अत त्रिदोष वास्तव मे क्या है इस समय सबसे अधिक विवादग्रस्तविषय है और विभिन्न प्रकार के विचार इस समय इस पर प्रगट किये जा रहे हैं। इस पर लेखक का भी अपना विचार है जो इसमे प्रगट किया जा रहा है।

वात पित्त एव श्लेष्म के सूक्ष्मता एव व्यापकता के सम्बन्ध मे आयुर्वेद मे इतना अधिक कहा गया है कि इससे यह सहज ही अनुमान होता है कि यह तो पचमहाभूतो ही की तरह एक व्यापक एव सूक्ष्म वस्तु है या उससे सीधा सम्बन्धित कोई वस्तु है। मगर चू कि सारे भौतिक द्रव्यो का उपादान कारण पचमहाभूत ही है अन्य कुछ नही—इसलिये त्रिदोष उन्ही के समान अन्य कोई वस्तु हो यह युक्ति युक्त नही है मगर जिन के उपादान कारण पचमहाभूत हैं उनको धारण किये रहने वाला या उनके अस्तित्व को बनाये रखने वाला कारण यह है इसलिये यह पचमहाभूतो से सीधा सम्बन्ध रखने वाला कोई वस्तु है—ऐसा अनुमान होता है। चू कि ऐसा कहा गया है कि रज (ova) एव वीर्य्य (Sperm) जो पचमहाभूतो के शुद्धतम योग है उनमे भी त्रिदोष अपने अनुपात में रहता है यदि विपरीत हो तो उस रज वीर्य्य की अपनी क्रिया याने प्रजोत्पादन सम्भव नही। इतना ही नही यदि रज वीर्य्य के सयोग से प्रथम परमाणुस्वरूप उत्पन्न प्रजा मे भी यह अपने अनुपात मे नही रहे तो वह परमाणुरूप प्रजा, विकास प्राप्त कर परिपूर्ण देह वाला नही बन सकता, वह नष्ट हो जाता है, इन बातों से यह अनुमान किया जा सकता है कि पचमहाभूतो के सयोग के साथ ही त्रिदोष उत्पन्न होता है और उनके योग को धारण किये रहने वाला है।

यह निर्विवाद है कि ससार के जितने भी भौतिक द्रव्य हैं वे सभी पचभौतिक हैं। नवीन विज्ञान कुछ तत्वो को जिनकी सख्या लगभग १०० की बताई जाती है समस्त भौतिक द्रव्यो का उपादान कारण मानता है। यद्यपि कि प्राचीन भारतीय दर्शन एव विज्ञान ऐसा नही मानता—वह इन तत्त्वो को भी अपनी भाषा मे भौतिक ही मानता है फिर भी वस्तुस्थिति एक ही रहती है और वह यह कि समस्त भौतिक द्रव्यो के उपादान कारण एक ही है चाहे उन्हे पचमहाभूत कहे या सौ तत्त्व कहे।

सृष्टि विकास के सम्बन्ध मे आयुर्वेद एव अन्यान्य सभी भारतीय दर्शनो का मत है कि सारी सृष्टि का उपादान कारण है क्रिया—एव शक्ति का सयोग। शक्तिविहीन क्रिया—याने निष्क्रिय क्रिया की सज्ञा मूल प्रकृति एव क्रियाविहीन शक्ति का परमचेतन।

इन दोनो की सामूहिक सज्ञा अव्यक्त भी है। इन दोनो के सयुक्त रूप को याने शक्तियुक्त मूल क्रिया को महत्त्व कहते है। शक्तिसम्पन्न क्रिया का परिणाम अवश्य होगा अतः महत्त्व के परिणामस्वरूप अहकार होता है। मगर चूकि यह शक्ति सम्पन्न क्रिया के परिणाम रूप है इसलिये यह भी शक्तिसम्पन्न क्रिया रूप ही होता है। इस प्रकार शक्ति-सम्पन्न क्रिया एव उनके परिणामो की परम्परा चल पडती है और एक के बाद दूसरा दूसरे के बाद तीसरे—चौथे परिणामो का अस्तित्त्व आने लगता है। इन परिणामो को आयुर्वेद ने दो वर्गो मे रखा है एक अभौतिक दूसरा भौतिक। अव्यक्त-महत्व, अहकार-पचतन्मात्रा, एकादश इन्द्रिया एव पचमहाभूत ये सबके सब अभौतिक वर्ग मे है। इसलिये इन्हे आयुर्वेद मे २४ ताव के नाम से कहा गया है। मगर पचमहाभूत नामक शक्तिसम्पन्न क्रियाओ के परिणामस्वरूप जो कुछ अस्तित्व मे आते है वे सभी भौतिक वर्ग मे रखे गये है। इन क्रियायो के परिणामस्वरूप जो कुछ भी अस्तित्व मे आते है उनकी विशेपता यह है कि वे केवल शक्तिसम्पन्न क्रिया मात्र ही नही रहते बल्कि एक ऐसे रूप मे आता है जिसमे उसका उपादान कारण कर्म एव गुण ये तीनो एक साथ समवाय रूप में रहते हैं। आयुर्वेद मे महाभूतो के सयोग से उत्पन्न ऐसे परिणामो की सज्ञा "द्रव्य" दी गई है।

इससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि पचमहाभूतो के सयोग से उसके परिणामो के साथ ही साथ एक ऐसे अन्य वस्तु का भी प्रादुर्भाव होता है जो परिणामो के उपादान कारण, कर्म एव गुणो को वाध (समवाय रूप से) धारण किये रहने का काम करता है। और यह तीन रूप मे इस काम को करता है। एक तो गन्धगति स्पर्श का रूप दे बाधे रखता है दूसरा ताप या वर्ण का रूप दे बाध रखता—और तीसरा एक स्थान को घेर कर रखे रहने का रूप दिया करता है। इन तीनो मे कौनसा किस मात्रा में उत्पन्न होगा यह सयुक्त होने वाले महाभूतो के सख्या, मात्रा एव अनुपात पर निर्भर करता है। यो ता ये तीनो अलग भी उत्पन्न हो सकते है एक साथ न्यूनाधिक्य रूप से भी उत्पन्न हो सकते है और यह सब पचमहाभूतो के सख्या मात्रा एव अनुपातादि के अनुसार होता है) मगर जब ये तीनो एक साथ और सम रूप मे होते है तब साकारता का प्रादुर्भाव होता है। इन तीनो को क्रमश वात (गति गन्ध स्पर्श), पित्त (ताप या वर्ण) एव श्लेष्मा (स्थान घेर मे) कहते है।

"वा" गति गन्धनयोरितिधातु 'तप' सतापे, "श्लिष" आलिगने ऐतेषा कृद्विहितै प्रत्ययै वातपित्त श्लष्मिति ॥ सु० सू० २१ अ० श्लो ४ ॥

यदि किसी भी साकार वस्तु की साकारता पर ध्यान दे तो हर साकार वस्तु मे तीन वातो को समान रूप में (common) अवश्य पायेंगे। एक तो यह कि उसमे एक स्पर्श अवश्य रहता है दूसरा यह कि उसमें एक रूप या वण अवश्य रहता है और तीसरा यह कि वह एक स्थान को अवश्य घेरता है। इसमें सन्देह नही हर वस्तु विशष मे ये

विशिष्ट २ प्रकार के होते हैं। अगर ये तीनो एक साथ और सम रूप मे अवश्य रहते हैं। [यह विशेषता महाभूतो के विभिन्न सख्या-मात्रा एव अनुपात के अनुरूप होता है]। यदि किसी साकार वस्तु मे से इन तीनो मे से किसी एक का भी सर्वथा अभाव कर दिया जाये तो उस वस्तु का अस्तित्व ही नही रहता। अत यह कहा जा सकता है कि किसी भी वस्तु विशेष की विशेषता का धारक यही तीन है।

साकारता के धारक इस वस्तु विशेष (धातु) मे दो विशेषतायें हैं एक तो यह सहज ही अन्य बातो से प्रभावित होने वाला है और प्रभावित हो अपने मूल रूप से कुछ अन्य रूप धारण कर लेता है—जैसे एक टिन के डिब्बे को लें, इसका एक स्पर्श विशेष है, इसका एक रूप विशेष है—और यह एक स्थान विशेष को घेर कर रखता है तब कही जाकर यह एक डिब्बा कहाता है; यदि इसे हथौडे से कूट डाले तो इसके उक्त तीनो बातें परिर्वातत हो जाती है। कूटा हुआ वस्तु टिन तो रह जाता है मगर डिब्बा नही रह पाता न इसका डिब्बे वाला कर्म एव गुण रह जाता है। अर्थात् यह सहज ही मे अपने मूलरूप से परिवर्तन पा जाने वाला या मलिन हो जाने वाला है जिससे उसका पूर्व कर्म एव गुण नही रह पाता। यद्यपि उपादान कारणो मे कोई अन्तर नही रहता है—टिन के डिब्बे एव उसे कूटने के बाद के उसके रूप मे—दोनो ही मे उपादान कारण ज्यो के त्यो है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि अन्य वस्तुओ के सयोग से आकर परिर्वातत हो उपादान कारणो को ही दूषित कर देता ह जैसे टिन के डिब्बे को यदि मिट्टी पानी के सयोग मे कुछ दिन रहने दे तो वह जग (Rust) से भर जाता है याने उसका पूर्व रूप परिर्वातत हो उसके उपादान कारणो को ऐसे दोषमय बना देता है जिससे डिब्बा यत्र-तत्र से टूट जाता है छिद्रमय हो जाता है और डिब्बे का जो कर्म गुण है वह नही रह जाता है।

इस प्रकार यह पाते है कि पचमहाभूतो के सयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न वस्तुओ के उपादान कारण कर्म एव गुण इन तीनो को समवाय रूप से बाध रखने वाला वस्तु महाभूतो के सयोग के साथ ही साथ उत्पन्न होता है और वह महाभूतो के सयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न वस्तुओ को एक रूप (Form) देता है, इसके माध्यम से परिणाम रूप उत्पन्न वस्तुओ के कर्म एव गुण परिवर्तित हो सकते है या इसके माध्यम से इसके उपादान कारणो मे कुछ योग दे उसके कर्म ग्रहण मे परिवर्तित ला सकते है। अर्थात् उसके उपादान कारणो को पूर्ववत् नही रहने देकर उसे दोषयुक्त कर सकते है। और चू कि यह महाभूतो के सयोग के साथ ही प्रादुर्भूत होता है इसलिए यह सभी भौतिक द्रव्यो मे व्यापक (common) रूप से वर्त्तमान रहता है चाहे वे साकार हो या निराकार—सेन्द्रिय हो या निरिन्द्रिय।

ससार मे जितने भी भौतिक द्रव्य है सभी के उपादान कारण यद्यपि पचमहाभूत

है तथापि न तो सभी के रूप (Form) एक है और न कर्म गुण। पचमहाभूत चू कि सख्या, परिमाण एव पृथकत्व और सयोग विभाग गुण वाले हैं—इसलिये इनका पारस्परिक सयोग सख्या, परिणाम एव अनुपातादि मे होता है। और इनके सख्या, परिमाण एव अनुपातादि के ही अनुरूप वह वस्तु उत्पन्न होता है जो इनके सयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न वस्तु के उपादान कारण के होते हुए भी समवायरूप से बाध रखता हैं अत एक ही उपादान कारण के होते हुए भी विभिन्न प्रकार के रूप (Form) होते है और रूप के अनुसार ही कर्म एव गुण होता है चू कि रूप ही उपादान कारण के विभिन्न सख्या-मात्रा एव अनुपातादि का धारक होता हैं जिसके एक अपने सम्मिलित कर्म और गुण होते हैं। अर्थात् द्रव्य (पचमहाभूतो के सयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न वस्तु) के कर्म एव गुण उसके रूप (Form) के अनुसार होते है। यदि इसके रूप मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन होता है तो उसके कर्म एव गुण भी परिवर्तन होता हैं।

महाभूतो का सयोग दो प्रकार का होता है एक वह जिसे शुद्ध योग कहते है दूसरा वह जिसे मिश्र योग कहते है। शुद्ध योग वह है जिसमे केवल पचमहाभूतो का ही योग होता है, इसके योग से उत्पन्न (परिणामस्वरूप) वस्तु के हर अश का रूप कर्म एव गुण सवदा एक ही रहता है इसे मूल द्रव्य या शुद्ध द्रव्य कहते हैं। सख्या मात्रा एव अनुपातादि के अनुसार इनके विभिन्न रूप (Form) होते है जैसे वायव्यरूप (गैसस्) ठोस (सोलिड) रूप आदि [औक्सीजन, हाइड्रोजन, लौह, ताम्र आदि]। मिश्रयोग वह योग है जिसमे महाभूतो के सयोग के साथ साथ मूल द्रव्यो का भी योग हो। इस योग से उत्पन्न वस्तु का नाम मिश्रद्रव्य हैं। महाभूतो एव मूल द्रव्यो के सख्या परिमाण एव अनुपातादि के अनुसार इसके भी विभिन्न रूप हुआ करते हैं—जैसे मानव, पशु-पक्षि, जल वनस्पति आदि। ऐसे योगो से उत्पन्न वस्तु के हर अशो का रूप गुण एव कर्म एक नही होता है, विभिन्न प्रकार के रूप कर्म एव गुण मिल कर ही एक विशिष्ट प्रकार के कर्म एव गुण तथा रूप का सृजना करते है।

आज के विज्ञान मे जिसे तत्त्व या "ऐलिमेन्टस्" कहते है वह प्राचीन भारतीय विज्ञान के अनुसार मूल द्रव्य है और तत्त्व न होकर पच भौतिक है।

द्रव्य चाहे मूलद्रव्य हो या मिश्रद्रव्य हो सभी का एक अपना अपना रूप और कर्म गुण होता है रूप उपादान कारणो के अनुरूप होता है और कर्म गुण उस रूप के अनुरूप होता हैं अर्थात् सयोग रूप का जनक है और रूप कर्म गुण को अपने मे बाध कर रखने वाला है। अत मूल द्रव्य या मिश्रद्रव्य या दोनो ही एक साथ परस्पर सयोग पाते जाये तो एक रूप का प्रादुर्भाव होगा जिसका एक अपना कर्म एव गुण होगा। योगो के समय (भौतिक योगो के समय) यदि इन्द्रियो का भी योग हो जाये तो वे योग सेन्द्रिय या चेतन योग

कहाते है और उनके परिणाम स्वरूप उत्पन्न द्रव्य सेन्द्रिय या चेतन द्रव्य कहे जाते है। इन्द्रियो के योग से उसके रूप मे तो कोई अन्तर नही आता है मगर कर्म एव गुण मे बिना अन्तर लाये एक वृद्धि या योग हो जाता हं और वह यह होता है कि वह अपना वृद्धि एव विकाश स्वय करने लगता ह मगर यह भी उसके रूप एव कर्म गुण के ही अनुरूप होता है। इन्द्रियो का योग भो भौतिक योगो के साथ स्वत ही होता है मगर सभी भौतिक योगो के साथ ही इसका सयोग नही होता है खास खास भौतिक योगो के साथ इसका योग होता है; कैसे भौतिक योगो के साथ इसका योग होता है इस तक अभी मानव ज्ञान नही पहुच सका है।

सेन्द्रिय द्रव्यो के विकाश एव वृद्धि का भी एक क्रम है और वह यह है कि सेन्द्रिय द्रव्य का आरम्भिक रूप जिसे आदि परमाणु कहते हैं (Pochotecll) वहा केवल अपने आकार मे ही वृद्धि नही करता है बल्कि एक सीमित आकार तक वृद्धि कर स्वत ही विभाजित हो एक से दो हो जाता है पुन एक हो के ये दोनो अश एक सीमित आकार तक वृद्धि कर विभाजित हो जाते हं और दो से चार हो जाते है। इस प्रकार उत्तरोत्तर इनकी सख्या में वृद्धि आती जाती है। केवल सख्या मे ही वृद्धि करना इनकी क्रिया का अन्त नही है—ये अपनी सख्या मे वृद्धि भी करते जाते हं और साथ साथ परस्पर सयुक्त भी होते जाते है। मगर सयोग चू कि एक रूप का भी जनक है—इसलिये इनका (cells परमाणुयो) सयोग भी ऐसा ही होता है जो आरम्भिक रूप (Mother Cells—मूल परमाणु) के रूप कर्म एव गुण अनुरूप ही रहता है। [सेन्द्रिय द्रव्यो के आरम्भिक रूप का नाम आरम्भिक सेल या परमाणु है—प्रथम सेल को मदरसेल या मूल परमाणु कहते है] परमाणु सयुक्त हो एक दूसरे रूप का निर्माण करते हं जिसे तन्तु (Tissues) कहते है। यद्यपि तन्तु का एक अपना अलगरूप एव कर्म गुण होता है तथापि उसका यह रूप एव कर्म गुण भी उसी के अनुसार होता है जो आदि सेन्द्रिय द्रव्य याने मूल परमाणु का रहता है यह केवल उसके मूल रूप कर्म एव गुण के विकाश का एक अश मात्र (विकसित अश) होता है। ये तन्तु (Tissue) भी केवल सख्या मे ही वृद्धि नही करते बल्कि ये भी सयुक्त होते जाते है। ये सयुक्त हो एक दूसरे रूप का निर्माण करते है जिसे अवयव (organ) कहते है। यद्यपि अवयवो का भी अपना अपना रूप एव कर्म गुण होता हं तथापि ये भी मूल रूप एव कर्म गुण के विकाश का एक विकसित अश मात्र होता है। ये अवयव सयुक्त हो एक दूसरे रूप का निर्माण करते है जिसे "शरीर" (Body) कहते है। यद्यपि शरीर का एक अपना रूप एव कर्म गुण हं तथापि यह भी मूल रूप के अनुरूप ही रहता है। यह मूल रूप, कर्म एव गुणो का पूर्ण विकसित रूप मात्र है शरीर मूल सेन्द्रिय द्रव्य के रूप एव कर्म गुण का पूर्ण विकसित रू । है अत अब आगे इसका विकाश नही होता—अब एक निर्धारित सीमा तक अपने आकार तक वद्धि करता है और उस आकार तक वृद्धि कर चुकने बाद उसका केवल प्रतिपालन (Maintainance) करता है।

इस प्रकार यह पाते है कि एक सेन्द्रिय द्रव्य अपने रूप कर्म एव गुणो का विकाश स्वत उस हद तक करता है जिस हद तक वह कर सकता है जब कि एक निरेन्द्रिय द्रव्य स्वत अपने रूप कर्म एव गुणो का विकाश नही कर सकते है। इस विकाश क्रम मे सेन्द्रिय द्रव्य विभिन्न प्रकार के रूप कर्म एव गुणो (तन्तु अवयवादि) का निर्माण करता जाता है जिनके रूप-कर्म एव गुण यद्यपि भिन्न २ होते है तथापि ये सभी मूल रूप के रूप, कर्म एव गुणो के अनुरूप ही रहते है अत विभिन्न रूप कम एव गुणो का निर्माण होता हुआ भी सभी एक सूत्र मे बन्धे होते है चू कि वे विकाश के एक अश मात्र ही होते हैं। जैसे मास तन्तु-अस्थि तन्तु हृदय आमाशय, यकृत्, वृक्क आदि सभी विभिन्न रूप कर्म एव गुण वाले होते है मगर इनका रूप, कर्म एव गुण सभी उस मूल रूप के रूप, कर्म गुण के अनुरूप ही होते है जिससे कि इन सबो ने अपना विकाश प्राप्त किया है।

यह पहले लिखा जा चुका है कि रूप (Form) ही वह वस्तु विशेष है जो द्रव्यो के उपादान कारण, एव उनके कर्म एव गुणो का धारक होता है और यह रूप तीन बातो के कारण होता है—स्पर्श (वात) वर्ण (पित्त) एव स्थान का घेरा "श्लेष्मा" महाभूतो के सयोग से जो कर्म एव गुण प्रगट होते है उन कर्म एव गुणो मे से कुछ का धारक तो वात (स्पर्श) होता है कुछ का पित्त (वर्ण) और कुछ का श्लेष्मा।

पंचमहाभूतो के सयोग से उत्पन्न निम्नलिखित कर्म एव गुणो का धारक निम्न-लिखित रूप होते है।

वातः—

गति, विस्तार, हर्ष, साद, वर्त्त, मर्द-कम्प, चाल, तोद, शोष सुप्ति-आकुञ्चन, प्रसारण, स्तम्भन, स्र श, भ्रंश, उच्छ्वास, नि श्वास चेष्टा-सवहन, ग्रहण, व्याश, धारण, सधान प्रवृत्ति आदि कर्मों का जो उपादान कारणानुसार उनके सयोग से उत्पन्न होते है उनका धारक होता है।

रूक्ष, शीत लघु, शुष्क, कर्कश-खर विशद आदि गुणो का जो उपादान कारणानुसार उनके सयोग से उत्पन्न होता है उसका धारक होता है।

पित्त —

ताप, उष्मा, स्वेद, क्लेद, कोथ, स्राव, राग, गन्ध वर्ण, रसोत्पादन, दर्शन, क्षुत पिपासा, प्रसन्नता-मेधा आदि कर्मों का जो उपादान कारणानुसार उनके सयोग से उत्पन्न होते है उनका धारक होता है।

उष्ण, तीक्ष्ण द्रव सार-स्नेह आदि गुणो का जो उपादान कारणानुरूप उत्पन्न होते है उनका धारक होता है।

श्लेष्मा—

स्थिरता-स्तम्भता, सुप्ति, क्लेद बन्ध, उपदेह, मधुरता कठिनता आदि कर्मो का जो उपादान कारणानुसार उनके सयोग से उत्पन्न होता है उनका धारक होता है।

गुरु-शीत, स्निग्ध, स्थिर स्थूल-मन्द आदि गुणो का जो उपादान कारणानुसार उत्पन्न होते है उनका धारक होता है।

उपर जितने कर्म एव गुणो का उल्लेख किया गया है उतने ही कर्म एव गुण हो ऐसी बात नही, महाभूतो के सख्या परिमाण एव अनुपातादि के अनुसार इसके अतिरिक्त भी कर्म एव गुण होते है। उपरोक्त कर्म एव गुण प्रमुख कर्म एव गुण है इन्ही के अनुसार अन्य विविध कर्म एव गुणो का विभाजन करना चाहिये।

महाभूतो के सयोग से दो बातें एक साथ उत्पन्न होती है एक रूप (Form) और दूसरा कर्म एव गुण। इसमे रूप, उपादान कारणो एव कर्म तथा गुणो का धारक होता है—रूप इन दोनो को धारण कर महाभूतो के सयोग के परिणाय स्वरूप उत्पन्न वस्तु को द्रव्य का रूप देता है। अतः प्रत्येक द्रव्या का चाहे वह सेन्द्रिय हो या निरेन्द्रिय एक रूप तथा कर्म एव गुण होता है। महाभूतो के सयोग से प्रारम्भ मे जो रूप तथा कर्म एव गुणो का समुदाय द्रव्य के रूप मे प्रकट होता है वह उस द्रव्य का स्वभाविक कर्म गुण एव रूप कहाता है। चू कि रूप ही उपादान कारण तथा कर्म एव गुणो का धारक होता है इसलिये इसका प्रभाव इन दोनो ही पर होता है, और चू कि रूप अन्य बातो से सहज ही प्रभावित हो जाने वाला वस्तु है इसलिये इसकी दो अवस्थायें होती है एक तो वह जिसमे यह उसी रूप मे रहे जिस रूप मे यह आरम्भ में उत्पन्न हुआ था इस अवस्था का नाम "समावस्था" है। दूसरा वह जिसमे स्वकारए वशात इसमे कुछ परिवर्तन या न्यूनाधिक्य का हो जाना हो जाये—इस अवस्था का नाम "विषमावस्था" है। जब तक रूप अपने स्वभाविक अवस्था मे है कर्म एव गुण भी स्वभाविक अवस्था मे रहते है—इसमे जरा भी परिवर्त्तन आया कि कर्म एव गुण मे भी परिवर्तन आता है याने स्वभाविक नही रहता है।

मानव एक सेन्द्रिय द्रव्य है—इसके उपादान कारणो के सयोग से एक रूप (Form) तथा कर्म एव गुण उत्पन्न होता है; रूप उपादान कारणो एव कर्म तथा गुण का धारक होता है। चू कि यह एक सेन्द्रिय द्रव्य है इसलिये इसके रूप एव कर्म तथा गुण का विकाश होता है रूप एव कर्म गुण विकाश प्राप्त करता हुआ एक मानव शरीर तथा उसके कर्म एव गुण मे विकशित होता है। विकाश क्रम मे इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के रूप एव कर्म तथा गुणो का निर्माण होता है जो सभी मिल कर वही रूप एव कर्म तथा गुण के रूप मे रहते हैं जो उसका आदि का था।

चू कि रूप ही कर्म एव गुणो का धारक होता है इसलिये शरीर के अवयवो एव तन्तुओ के रूप यदि स्वभाविक रहे तो उसके कर्म एव गुण स्वभाविक रहेगे। शरीर के तन्तुओ एव अवयवो के कर्म एव गुण का स्वभाविक अवस्था मे रहना ही शरीर का स्वस्थावस्था मे रहना कहाता है। यदि किसी अवयव या तन्तु का कर्म एव गुण अस्वभाविक होता हं तो शरीर रुग्ण या अस्वस्थ कहाता है। शरीर के किसी भी अवयव या तन्तु का कर्म एव गुण का अस्वभाविक होना तब तक सम्भव नही जब तक उसका "रूप" अस्वभाविक न हो जाये। अत कोई भी अस्वभाविक कर्म एव गुण अस्वभाविक रूप को ही ईगित करता है। हर अवयव एव तन्तुओ के अपने २ कर्म एव गुण होते है जो उनके स्वभाविक कर्म एव गुण कहे जाते हं जिनका वर्णन "शरीर के प्राकृत क्रिया" के रूप मे आयुर्वेद एव अन्य सभी आयुविज्ञान मे किया गया हं। अस्वभाविक कर्मो (लक्षणो) से (जिनका वर्णन आयुर्वेद मे "निदान" के रूप मे एव अन्य विज्ञानो मे "शरीर विकृति विज्ञान" के रूप मे किया गया है) यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि शरीर का कौन २ सा अवयव कौन २ सा अस्वभाविक कर्म कर रहा हं और इन अस्वभाविक कर्मों से यह अनुमान किया जा सकता हं कि कर्मों का धारक वस्तु "रूप" (वात, पित्त एव श्लेष्मा का समुदाय) का कौन सा अश (वात अथवा पित्त अथवा श्लेष्मा) विकृत या अस्वभाविक हुआ है इस प्रकार शरीर के मूल रूप, कर्म एव गुणो का तथा इन मूल रूप कर्म एव गुणो के विकाश क्रम मे होने वाले विभिन्न रूप कर्म एव गुणो का (जो कि मूल के केवल विकाश मात्र होते हैं) वर्णन आयुर्वेद मे किया गया है। मनुष्य शरीर के इस वर्णन के बाद मनुष्य शरीर से अतिरिक्त अन्य सभी द्रव्यो का भी वर्णन या विश्लेषण आयुर्वेद ने इसी आधार पर किया है।

चू कि सृष्टि मे जितने भी द्रव्य है सभी पच भौतिक ही है अत सभी के साथ उनका अपना २ रूप कर्म एव गुण है। यद्यपि उपादान कारण सभी के एक हं तथापि महाभूतो के सख्या, परिमाण एव अनुपातादि के कारण सभी के रूप गुण एव कर्म में विभेद रहता है। अत आयुर्वेदज्ञो ने द्रव्यो का विश्लेषण इसी आधार पर किया और उनके विभिन्न रूपो-गुणो तथा कर्मों को अलग अलग रखा।

चू कि रूप ही वह पहली वस्तु है (न उपादान कारण न कर्म एव गुण) जो ससर्ग या सयोग मे प्रभावित होता है और तद प्रभावानुरूप कर्म एव गुण तथा उपादान कारणो में परिवर्तन लाता है इसलिये शरीर को स्वभाविक रूप में अथवा अस्वभाविक रूप में रखने या लाने का काम द्रव्यो के सयोग से हो सकता है। इसी विश्लेषण के क्रम में आयुर्वेदज्ञो ने द्रव्यो के प्रयोग को दो भागो में रखा—एक केवल कर्म एव गुण के आधार पर और दूसरा रूप, कर्म एव गुण के आधार पर। प्रथम वर्ग में द्रव्यो का उपयोग केवल उसके कर्म एव गुण पर होता है जैसे पिपासा शामक एव शीतल कर्म गुण वाला द्रव्य

श्लेष्मा—

स्थिरता-स्तम्भता, सुप्ति, क्लेद बन्ध, उपदेह, मधुरता कठिनता आदि कर्मो का जो उपादान कारणानुसार उनके सयोग से उत्पन्न होता है उनका धारक होता है।

गुरु-शीत, स्निग्ध, स्थिर स्थूल-मन्द आदि गुणो का जो उपादान कारणानुसार उत्पन्न होते है उनका धारक होता है।

उपर जितने कर्म एव गुणो का उल्लेख किया गया है उतने ही कर्म एव गुण हो ऐसी बात नही; महाभूतो के सख्या परिमाण एव अनुपातादि के अनुसार इसके अतिरिक्त भी कर्म एव गुण होते है। उपरोक्त कर्म एव गुण प्रमुख कर्म एव गुण है इन्ही के अनुसार अन्य विविध कर्म एव गुणो का विभाजन करना चाहिये।

महाभूतो के सयोग से दो बातें एक साथ उत्पन्न होती है एक रूप (Form) और दूसरा कर्म एव गुण। इसमे रूप, उपादान कारणो एव कर्म तथा गुणो का धारक होता है— रूप इन दोनो को धारण कर महाभूतो के सयोग के परिणाय स्वरूप उत्पन्न वस्तु को द्रव्य का रूप देता है। अतः प्रत्येक द्रव्या का चाहे वह सेन्द्रिय हो या निरेन्द्रिय एक रूप तथा कर्म एव गुण होता है। महाभूतो के सयोग से प्रारम्भ मे जो रूप तथा कर्म एव गुणो का समुदाय द्रव्य के रूप मे प्रकट होता है वह उस द्रव्य का स्वभाविक कर्म गुण एव रूप कहाता है। चू कि रूप ही उपादान कारण तथा कर्म एव गुणो का धारक होता है इसलिये इसका प्रभाव इन दोनो ही पर होता है, और चू कि रूप अन्य बातो से सहज ही प्रभावित हो जाने वाला वस्तु है इसलिये इसकी दो अवस्थायें होती है एक तो वह जिसमे यह उसी रूप मे रहे जिस रूप मे यह आरम्भ में उत्पन्न हुआ था इस अवस्था का नाम "समावस्था" है। दूसरा वह जिसमें स्वकारए वशात इसमे कुछ परिवर्तन या न्यूनाधिक्य का हो जाना हो जाये—इस अवस्था का नाम "विषमावस्था" है। जब तक रूप अपने स्वभाविक अवस्था मे है कर्म एव गुण भी स्वभाविक अवस्था मे रहते है—इसमे जरा भी परिवर्त्तन आया कि कर्म एव गुण में भी परिवर्तन आता है याने स्वभाविक नही रहता है।

मानव एक सेन्द्रिय द्रव्य है—इसके उपादान कारणो के सयोग से एक रूप (Form) तथा कर्म एव गुण उत्पन्न होता है, रूप उपादान कारणो एव कर्म तथा गुण का धारक होता है। चू कि यह एक सेन्द्रिय द्रव्य है इसलिये इसके रूप एव कर्म तथा गुण का विकाश होता है रूप एव कर्म गुण विकाश प्राप्त करता हुआ एक मानव शरीर तथा उसके कर्म एव गुण मे विकशित होता है। विकाश क्रम मे इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के रूप एव कर्म तथा गुणो का निर्माण होता है जो सभी मिल कर वही रूप एव कर्म तथा गुण के रूप मे रहते है जो उसका आदि का था।

चूंकि रूप ही कर्म एव गुणो का धारक होता है इसलिये शरीर के अवयवो एव तन्तुओ के रूप यदि स्वभाविक रहे तो उसके कर्म एव गुण स्वभाविक रहेंगे। शरीर के तन्तुओ एव अवयवो के कर्म एव गुण का स्वभाविक अवस्था मे रहना ही शरीर का स्वस्थावस्था मे रहना कहाता है। यदि किसी अवयव या तन्तु का कर्म एव गुण अस्वभाविक होता है तो शरीर रुग्ण या अस्वस्थ कहाता है। शरीर के किसी भी अवयव या तन्तु का कर्म एव गुण का अस्वभाविक होना तब तक सम्भव नही जब तक उसका "रूप" अस्वभाविक न हो जाये। अत कोई भी अस्वभाविक कर्म एव गुण अस्वभाविक रूप को ही ईंगित करता है। हर अवयव एव तन्तुओ के अपने २ कर्म एव गुण होते है जो उनके स्वभाविक कर्म एव गुण कहे जाते है जिनका वर्णन "शरीर के प्राकृत क्रिया" के रूप मे आयुर्वेद एव अन्य सभी आयुविर्ज्ञान मे किया गया है। अस्वभाविक कर्मों (लक्षणो) से (जिनका वर्णन आयुर्वेद मे "निदान" के रूप मे एव अन्य विज्ञानो मे "शरीर विकृति विज्ञान" के रूप मे किया गया है) यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि शरीर का कौन २ सा अवयव कौन २ सा अस्वभाविक कर्म कर रहा है और इन अस्वभाविक कर्मों से यह अनुमान किया जा सकता है कि कर्मो का धारक वस्तु "रूप" (वात, पित्त एव श्लेष्मा का समुदाय) का कौन सा अश (वात अथवा पित्त अथवा श्लेष्मा) विकृत या अस्वभाविक हुआ है इस प्रकार शरीर के मूल रूप, कर्म एव गुणो का तथा इन मूल रूप कर्म एव गुणो के विकाश क्रम मे होने वाले विभिन्न रूप कर्म एव गुणो का (जो कि मूल के केवल विकाश मात्र होते है) वर्णन आयुर्वेद मे किया गया है। मनुष्य शरीर के इस वर्णन के बाद मनुष्य शरीर से अतिरिक्त अन्य सभी द्रव्यो का भी वर्णन या विश्लेषण आयुर्वेद ने इसी आधार पर किया है।

चूंकि सृष्टि मे जितने भी द्रव्य है सभी पच भौतिक ही है अत सभी के साथ उनका अपना २ रूप कर्म एव गुण है। यद्यपि उपादान कारण सभी के एक है तथापि महाभूतो के सख्या, परिमाण एव अनुपातादि के कारण सभी के रूप गुण एव कर्म में विभेद रहता है। अत आयुर्वेदज्ञो ने द्रव्यो का विश्लेषण इसी आधार पर किया और उनके विभिन्न रूपो-गुणो तथा कर्मों को अलग अलग रखा।

चूंकि रूप ही वह पहली वस्तु है (न उपादान कारण न कर्म एव गुण) जो ससर्ग या सयोग से प्रभावित होता है और तद प्रभावानुरूप कर्म एव गुण तथा उपादान कारणो में परिवर्तन लाता है इसलिये शरीर को स्वभाविक रूप में अथवा अस्वभाविक रूप में रखने या लाने का काम द्रव्यो के सयोग से हो सकता है। इसी विश्लेषण के क्रम में आयुर्वेदज्ञो ने द्रव्यो के प्रयोग को दो भागो में रखा—एक केवल कर्म एव गुण के आधार पर और दूसरा रूप, कर्म एव गुण के आधार पर। प्रथम वर्ग में द्रव्यो का उपयोग केवल उसके कर्म एव गुण पर होता है जैसे पिपासा शामक एव शीतल कर्म गुण वाला द्रव्य

उद्बोधन करती हुई

भारतमाता

काय चिकित्सा में पाश्चात्य चिकित्सा से आयुर्वेद की विशेषता

स्वामी श्री मगलदास

[त्यागमूर्ति विद्वद्वरेण्य स्वामीजी श्री मंगलदासजी महाराज भारत की विभूति हैं। आप जयपुर नगर की एक मात्र सेवाभावी दादू महाविद्यालय नामक सस्था के प्राचार्य एवं संरक्षक हैं। आपने 'काय चिकित्सा में पाश्चात्य चिकित्सा से आयुर्वेद की विशेषता' नामक लेख द्वारा सरल हिन्दी भाषा के माध्यम से निगूढतम आयुर्वेद विज्ञान के रहस्यों का प्रतिपादन कर वैज्ञानिकों के लिये रुग्णता जन-मानस के अतस्तल की वेदनाओं को समझने तथा उनके प्रतिकार की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया है।

समादरणीय लेखक महोदय अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादक भी है तथा विश्ववद्य युगप्रवर्त्तक स्वामी लक्ष्मीरामजी महाराज के प्रमुख शिष्यों में आपका विशिष्ट स्थान रखते हैं। आप इस पीढी के पथप्रदर्शक हैं, आयुर्वेद जगत् आपसे बड़ा आशावान् है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक

भारतीय विज्ञ महानुभावो ने आयुर्विज्ञान को आठ भागो मे विभक्त किया है उनमे से एक अग है (काय चिकित्सा)। काय चिकित्सा से अभिप्राय है जिन रोगो मे सम्पूर्ण शरीर पर रोग का प्रभाव हो उनकी जिन सिद्धान्तानुसार चिकित्सा की जाय वह काय चिकित्सा का अग है।

जैसे ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अजीर्ण, पाण्डु, रक्तपित्त, क्षय, कुष्ठ प्रमेह, श्वास, कास तृष्णादि रोग।

इस समय वैज्ञानिक युग है। पाश्चात्य देशो मे विज्ञान की वृद्धि के लिए अनवरत प्रयास चल रहा है। सैकडो विज्ञान शालायें विविध क्षेत्रो के अनुसधान में सलग्न हैं।

चिकित्सा क्षेत्र मे भी नित नवीन नवीन आविष्कार हो रहे हैं। विविध प्रकार के यन्त्र शस्त्र औषध सामने आ रहे हैं। पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के प्रचार व प्रसार का प्रबल प्रयत्न हो रहा है। सरकार की ओर से करोडो रुपए इस पद्धति पर व्यय हो रहे हैं।

शल्य की तरह अब वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति काय चिकित्सा को भी अपने आधिपत्य में कर लेने की प्रबल चेष्टा कर रही है। अनुभूत औषध व इन्जेक्शनो की बढती हुई बाढ को देखते हुए सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आयुर्वेद की काय चिकित्सा में वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति से अब भी कुछ विशेषता रहेगी ?

इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर तभी प्राप्त हो जब हम उभय चिकित्सा पद्धतियो के उन सिद्धातो को विवेक दृष्टि से देखें जिनको आधार मान कर इनका प्रयोग किया जाता है।

चिकित्सा की जाती है रोगो की। अत रोगोत्पत्ति के सिद्धातानुसार ही चिकित्सा का सिद्धात स्थिर किया जाता है।

रोग क्यो और कैसे होता है? उसके उत्पादक हेतु क्या हैं? रोग का स्वरूप क्या है? इन पर आयुर्वेद तथा वैज्ञानिक पद्धति मे जिस तरह विचार किया गया है उसमे बहुत मतभेद है।

रोग और चिकित्सा दोनो ही का आधार है मानव शरीर, मानव शरीर की रचना तथा उसके स्वस्थ रहने के हेतु आयुर्वेद भिन्न रूप से मानता है, पाश्चात्य चिकित्सा सिद्धात भिन्न रूप से।

यदि हम इन प्रश्नो पर तुलनात्मक विवेचन से विचार करें तो विषय अधिक विस्तृत होता है। यदि इन प्रश्नो को सर्वथा छोड दें तो उभय चिकित्सा की न्यूनता विशेषता का भान सम्भव नही अत इन प्रश्नो पर सक्षेप से विचार करना आवश्यक है।

सृष्टि-क्रम और मानव-शरीर,

पाश्चात्य सिद्धात।

मनुष्य शरीर सृष्टि का एक प्राणी है। सृष्टि की रचना मे जिन हेतुओ की प्रधानता है वे ही हेतु मानव-शरीर के बनाने वाले हैं।

पाश्चात्य-विज्ञान सृष्टि-रचना में दो मत रखता हैं। अधिकाश वैज्ञानिक जडवादी थे, कुछ चैतन्य को मानने वाले। जडवादियो मे भी अधिक का झुकाव डार्विन के विकाशवाद की ओर था पर अब स्थिति बदल रही है जडवाद का सिद्धात धीरे-धीरे धराशायी होता जा रहा है। इनके सिद्धात से प्रकृति के कुछ मूल तत्त्व हैं जिनके सयोग विभाग से इस जड जगत का निर्माण होता है। उनकी तात्विक-गणना करीबन नव्वे ऊपर पहुँच गई हैं। अभी वृद्धि और भी हो सकती है।

रेडियो किरण के आविष्कार से पूर्व स्वीकृत सिद्धातो मे बहुत उलटफेर हो गया है, पहिले ऐसा सिद्धात सार्थकतत्वो के परिमाणु अखण्डित होते हैं। रेडियो किरण के आविष्कार से अब यह मत स्थिर हो गया है कि मौलिक तत्व विभाजित होते रहते हैं, इन मौलिक तत्वो मे से करीव तीस के प्राणी-शरीर की रचना मे काम आते हैं। इनमे से कर्वन, ओषजन, नोषजन, उज्जन, स्फुर, गन्धक, पाशुज, पोटिशियम, मगनेशियम, खटिक, लोहा सैधक, सोडियम और सिलकन अधिकता से होते हैं।

ये पदार्थों की तीन अवस्था मानते हैं, घन, द्रव, वायव्य । प्राणी शरीर का उत्पादक पदार्थ पहिले एक द्रवावस्था मे होता है. प्राणी शरीर की रचना एक सैल से आरम्भ होती है । सैल से अभिप्राय उस सयोगी मूर्त द्रव्य का है जो प्राणी-सृष्टि का प्रमुख आधार है । इस सैल मे उपरोक्त मौलिक तत्वो मे से जाति भेद से अनेको तत्वो का समावेश रहता है सैल के रासायनिक परीक्षण मे प्रोटोप्लाज्मा, प्रोटोने जीवाणु आदि कई रासायनिक द्रव्य पाए जाते हैं ।

सैलो की अनन्त जातिऐं हैं । सैलो के सयोग से ही विभिन्न-विभिन्न प्राणियो की रचना होती है । मानव शरीर की उत्पादक (डिम्व) आर्तव तथा शुक्र सैरो हैं । वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से सृष्टि रचना का यह सक्षिप्त सामान्य दिगदर्शन है । भारतीय दर्शनो मे भी दार्श-निक मत भिन्नता से सृष्टिक्रम की कुछ भिन्नताऐं मानी गई हैं । साख्य योग न्याय वैशेषिक दर्शनो मे जड-चेतन दो पदार्थों की प्रमुख सत्ता स्वीकार की गई है ।

चिकित्सा शास्त्र ने साख्य मत का अनुगमन किया है । अत त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति से अन्य महदादि सात प्रकृतिऐं और एकादश इन्द्रियग्राम व पचभूत रूप पोडश विकार मिलकर चेतन सयुक्त हो जगत का निर्माण करता है । स्थूल पदार्थों की रचना का आधार पचमहाभूत हैं । इन्ही के सयोग विशेष से सम्पूर्ण ससार की रचना होती है । इन्ही पचभूतो से युक्त शुक्र-शोणित सयोग मानव-शरीर का निर्मायक है ।

मानव शरीर के स्थूल कारण शुक्र शोणित को दोनो पद्धति स्वीकार करती है । शुक्र शोणित के मूल पदार्थ कौन हैं इनकी चाहे उभय पद्धति मे भिन्न-भिन्न नामो से उल्लेख करे पर उनका परिणाम जो कुछ होता है उसमे विशेष भेद नही है । आयुर्वेद पचभूतात्मक शरीर को त्रिदोषात्मक नाम से पुकारता है उसने शरीरस्थ पचभूतो की अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति के निमित्त से वात, पित्त श्लेष्मा सज्ञा स्थिर की हैं । जैसा कि दोष भेदीय के आरम्भ मे सग्रहकार कहते हैं ।

वाय्वा का शाम्या वायु. । आग्नेय पित्तम् । अम्भ पृथिवी भ्या श्लेष्मा ।

व्रण प्रश्नीय मे सुश्रुताचार्य निर्देश करते हैं—

वात, पित्त श्लेष्माण एव देह सभव हेतव । तरे वाय्वा पन्नेरधोमध्योर्ध्वं सन्निविष्टे शरीर मिद धार्यतेऽगार मिव स्थूणाभिस्तिसृभि अत· त्रिस्थूण माहु रेके । दोषा एव च व्यापन्ना प्रलय हेत व ।

अर्थ स्पष्ट है कि वायु आकाश तत्व की वायु, आग्नेय तत्व की पित्त, पृथ्वी अपकी श्लेष्मा सज्ञा है ।

वात पित्त श्लेष्मा ही देहोत्पत्ति के कारण है । इन्ही अविकृत वातादि दोषो के सम्पूर्ण

शरीर मे समस्थिति मे रहने से यह शरीर स्थिर रहता है जैसे मकान स्तभो के आश्रित—ये स्तभ रूप वातादि दोष जब हेतु विशेष से व्यापन्न (अनवस्थित) हो जाय तब ये शरीर के प्रलय के हेतु हो जाते हैं। इस तरह उभय-पद्धति सृष्टि-क्रम तथा मानव शरीर मे अपना अपना दृष्टिकोण अभिव्यक्त करती है। (रोगोत्पादक हेतु)

अब लीजिए रोगोत्पादक-हेतु को। जहाँ तक मेरा सामान्य ज्ञान है पाश्चात्य विज्ञान रोगोत्पत्ति के लिए किसी एक या दो हेतुओ को रोग का कारण मानता हो ऐसा नही, उसने रोग की विभिन्नताओ को मानते हुए कई प्रकार के रोगोत्पादक हेतु माने हैं। उनमे मुख्य-मुख्य निम्नलिखित हैं।

जैसे— १. रोगाणु, २ विषाक्त जन्तु, ३ पारम्परिक, ४ गर्भ विकृति, ५. आकस्मिक दुर्घटना, ६. आघात, ७ अधिक शीत, अधिक उष्णता, अग विशेष की विकृति, ९. भोजन अस्वस्थ्यकर, १० खनिज द्रव्यो की कीम, ११ नशीली वस्तुओ का अधिक उपयोग, १२. रोग के कारण दौर्बल्य तज्जन्य अन्य रोग—।

इनके विचार मे इन विविध हेतुओ से विभिन्न-विभिन्न रोग उत्पन्न होते हैं, इससे यह प्रतीत होता है कि ऊपर जिन कारणो का उल्लेख किया गया है सीधे रोग उन्हीं से पैदा होते हैं और ये मानते भी ऐसा ही हैं। पर हम थोडे गहराई मे जावें तो यह तथ्य सगत मालूम नही होता। कारण मे विविध हेतु हैं, इनमे से अधिकाश या शरीर के बाहर रहने वाले हैं। शरीर का और इनका तादात्म्य नही है। इन बाह्य कारणो का शरीर से जब सम्बन्ध होता है तब शरीरस्थ वस्तुओ पर इनका प्रभाव पडता है, शरीरस्थ वस्तुओ को स्थिति जब अनवस्थित होती है तब रोग होता है। इस दशा मे इन हेतुओ को रोगोत्पादक हेतु कहें तो शरीरस्थ वे वस्तुएँ (जिनकी अनवस्था से रोग होता है) फिर क्या कहलाएगी ? बात सीधी है कि रोगी होता है शरीर, शरीर के रोगी होने का अभिप्राय यह है कि शरीर का जो क्रियाकलाप व शरीर का निर्माण व स्थैर्य्य करने वाली वस्तुएँ हैं। उनकी व्यवस्था ठीक नही है अत. इससे स्पष्ट ही यह सिद्ध होता है कि रोगोत्पादक हेतु वस्तुत शरीर मे है। हाँ शरीरस्थ उन हेतुओ को अव्यवस्थित करने वाली जो बाह्य सामग्री है वह शरीरस्थ हेतुओ को अनवस्थित करने का कारण अवश्य है न कि वे रोग को उत्पन्न करने के स्वतन्त्र कारण हैं।

आयुर्वेद की विचार-सरणी इससे सर्वथा भिन्न है। वे शरीरोत्पादक तत्वो को लेकर चले हैं। उनके सिद्धात से शरीर का निर्माण पृथिव्यादि पचभूताश्रित है। शरीरस्थ पचभूतो को ही उन्होने "त्रिदोष" मे विभाजित कर शारीरिक शास्त्र की रचना की है।

वे कहते हैं कि जिन तत्वो से शरीर का निर्माण हुआ है। उन्ही तत्वो की कमी बेशी से अर्थात् उनके सन्तुलन (साम्यावस्था) के बिगड जाने ही से सम्पूर्ण रोग होते हैं।

अशेष पदार्थों की रचना जिन द्रव्यो से हुई है शरीर भी उन्ही द्रव्यो से बना है। शरीर का पोषण उन्ही द्रव्यो से होता है। उन द्रव्यो का शरीरानुरूप समस्थिति मे रहना ही शरीर की आरोग्यावस्था है।

जब भी इस समस्थिति मे अन्तर आता है तभी शरीर मे रोगोत्पत्ति होती है। इस समस्थिति को विकृत करने वाले हेतु चाहे जितने अनन्त हो पर उन सब का शरीर मे शरीर पर जो भी प्रभाव होगा वह शरीर की इस अवस्था को गडबड करने वाला होगा।

अभिप्राय यह हुआ कि बाह्य हेतुओ का आनन्त्य होते हुए भी परिणाम एक रूप का है अत सिद्धात मे परिणाम की प्रधानता मान सम्पूर्ण बाह्य हेतुओ को दोष प्रकोप के रूप एक ही हेतु मे समाविष्ट कर लिया गया है। थोड मे कहे तो आयुर्वेद का क्रम यह है कि—

१ रोग का एक कारण (त्रिदोष) वात, पित्त, कफ की विकृति। (आभ्यन्तर हेतु) विकृति दो प्रकार की होती है वृद्धिरूप और क्षयरूप—तीसरी आवरणजन्य विकृति और है पर उसका समावेश स्थानीय वृद्धि मे ही हो जाता है।

२ दोष विकृति के हेतु अनन्त होते हुए भी बाह्य हेतुता से सबका समावेश एक ही "बाह्यहेतु" मे कर लिया गया है, जैसा कि निर्देश है।

कालार्थं कर्मणा योगो हीन मिथ्याति मात्रक।
सम्यक् योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैक कारणम्॥१॥

काल अर्थ, कर्म (जिनमे कि हमारे आहार-विहार के अशेष उन कारणो का समावेश हेतु के हमारे शरीर के साथ हीन, मिथ्या, अतियोग रोग का तथा सम्यक् योग आरोग्य का एक हेतु है।

त्रिदोष— ऊपर कह आये हैं कि आयुर्वेद मे पचभूत पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु-आकाश अशेष पदार्थों के उत्पादक-हेतु माने गए हैं। शरीर भी इन्ही पचभूतो से माना गया है। शरीर शास्त्र मे इनकी सज्ञा विशेष (त्रिदोष) (त्रिधातु) नाम से की गई है। यह शब्द वात पित्त श्लेष्मा के समूह का द्योतक है। इन वातादि दोषो के विकृत करने के जितने भी कारण हैं उन सबका वर्गीकरण कर आयुर्वेद त्रिदोष विकृति के तीन हेतु मानते हैं।

१ असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग, २. प्रज्ञापराध, ३ परिणाम। इन त्रिविध कारणो से दोष विकृत होते हैं। दोष विकृति से रोग उत्पन्न होता है। पाश्चात्य पद्धति से जिन बारह प्रकार के रोग हेतुओ का ऊपर उल्लेख किया है आयुर्वेद के सिद्धात से वे कारण सीधे स्वय रोग के उत्पादक कभी नही हो सकते। उन सब हेतुओ का आयुर्वेद मे उपरोक्त त्रिविध दोष प्रकोप के हेतुओ मे समावेश हो जाता है।

वैसे चिकित्सा-सौकर्य के विचार से दोषज रोगो के दो वर्गीकरण कर दिए हैं। कारण

वातादि दोषो की विकृति दो तरह से मानी गई हैं एक तो शरीर मे ही मिथ्या आहार विहार से दोषो का धीरे-धीरे सतुलन बिगड कर दोपज रोग हो इस प्रकार के उत्पन्न रोगो की सज्ञा "निज" नाम से की गई है। जिन हेतुओ से अर्थात् शरीर मे रहने वाले वातादि दोष चयादि अवस्था द्वारा रोगोत्पत्ति करते हैं वे निज नाम से व्यवहृत हैं।

दूसरी अवस्था पतन, आघात, विषादि, कीटाणु ससर्ग से होने वाली हैं इस अवस्था मे दोषो का सचय प्रकोप प्रसरणादि क्रम न रह कर सहसा रोगोत्पत्ति होती है साथ ही दोप विकृति। इस अवस्थाजन्य रोगो को आगन्तुज नाम से व्यवहृत किया गया है।

वैसे रोगहेतुता दोनो ही अवस्थाओ मे वातादि दोषो ही को है। पर उनकी विकृति मे जो विभिन्नता है उसी के दिग् दर्शनार्थ ये निज-आगन्तुज दो सज्ञायें की गई हैं जिससे चिकित्सा करते समय निजोत्थ दोष विकृति मे तदनुरूप व आगन्तुज दोष विकृति मे तदनुरूप क्रिया कर्म (चिकित्सा) का ध्यान रहे।

दोष विकृति के अनन्त-हेतु हैं। हेतु विशेष से दोष विकृत हो तज्जन्य रोग होते हैं। उनका वर्गीकरण आयुर्वेद मे भी किया गया है। इसका एक उदाहरण देखिये—

सप्तविधा. खलु रोगा भवन्ति। सह गर्भ जात पीडा काल प्रभाव स्वभावजा। ते तु पृथग् द्वि विधा.। तत्र सहजा शुक्रार्तव दोषान्वया'। कुष्ठार्श मेहादय। पितृजाः मातृजाश्च। २ गर्भजा. जनन्यभिचारात् कौब्ज्य पंगल्य किलासादयो ऽन्नरसजा दौहृद विमानजाश्च। ३ जातजा स्वापचारात् सन्तर्पणजा. अपतर्पणजाश्च। ४ पीडाकृत. क्षतभग प्रहार क्रोध शोकभयादय. शारीर मानसाश्च। ५. कालजा. शीतादिकृताः ज्वरादयो व्यापन्नजा असरक्षण जाश्च। ६ प्रभावजाः देवगुरूलघन शापाथर्वणादि कृता ज्वरादय. पिशाचादयश्च। ७ स्वभावजा. क्षुत्पिपासा ज्वरादय कालजा अकालजाश्च। तत्र कालजाः रक्षण कृता। अरक्षणकृता. अकालजाश्च। तएते समासत. पुनर्द्विविधा. भवन्ति।

विशषता को लेकर रोग सात तरह के होते हैं।

१ सहज— माता-पिना के आर्तव शुक्र की विकृति के कारण कुष्ठ अर्शप्रमेहादि

२ गर्भज— गर्भावस्था मे माता के आहार विहारादि की अनवस्था से या दौहृद मे माता को इच्छा विघात से, कुब्ज, पगुता मुख, नासा, कर्ण, दन्त हस्त पादादि विकृति

३ जातज— अपने आहार विहारादि के व्यत्यय से विशेष व अपत'. विशेप से ज्वरातिसार, ग्रहणी, पाण्डु, रक्तपित्त क्षयादि।

४. पीड़ाकृत— क्षत, व्रण, भग (अस्थिभग) प्रहार, `क भयादि कृमि, विष, भूत, ससर्गादि से शारीरिक व मानसरोग।

५. कालज— ऋतुओं के अतियोग अयोग मिथ्या योगादिजन्य। अन्न, फल, औषधादि व जल वायु विकृति से तथा ऋतु जन्य काल विषय में से शरीर की रक्षा न करने पर शीतोष्ण-अतियोग से।

६ प्रभावज— देव गुरु माता पितादि के अतिधर्षण (तिरस्कार) वा अथर्व विहित विधिकर्मों के अनुष्ठान व्यत्यय से।

७ स्वभावज— क्षुधा तृष्ण निद्रादि जन्य दोष प्रकोप के हेतु विशेषों को लेकर किया गया यह विवरण पाश्चात्य वैज्ञानिक पद्धति के उपरोक्त द्वादश हेतुओं से मिलाइये ; उनके विवरण से इस विवेचन की कितनी साम्यता है। उनका ३ पारम्परिक यहाँ सहज शब्द से व्यवहृत है। उनकी गर्भ विकृति और यहाँ का गर्भज एक ही है। उनके ९-१०-११ अस्वास्थ्यकर भोजन- खनिज द्रव्यो की कमी नशीली वस्तुओं का विशेष उपयोग तीनों यहाँ के तीन जातज मे समाविष्ट होते हैं। उनके ५-६ आकस्मिक दुर्घटना व आघात यहाँ पीडाकृत नाम से व्यवहृत हैं। उनका ७ वा अधिक शीत अधिक उष्णता यहाँ कालज नाम से उल्लिखित है।

उनके क्रिमि जन्य व विषाक्त जन्तु जन्य का समावेश यहाँ के पीडा कृत मे ही हो जाता है। क्योंकि क्रिमि विष आदि आयुर्वेद मे आगन्तुज कारण माने गए हैं। अब उनके अग विशेष की विकृति वाला एक हेतु शेष रहता है।

उसका समावेश आयुर्वेद मे मार्गभेद से रोगो का विवेचन किया गया है, उसमे हो जायगा।

मार्गभेद से रोगभेद कैसे होता है तदर्थ आयुर्वेद मे वातादिदोषो के तीन मार्ग माने गए हैं। बाह्य, मध्य और आभ्यतर। बाह्य से अभिप्राय है रक्तादि छ. धातु और त्वक वातादि-दोष इस मार्ग का अनुसरण कर रोगोत्पत्ति करते हैं तब गण्ड, पिडिका, अलजी, अपची, चर्मकील, अर्बुद, अधिमास, अर्श व्यग आदि व्याधिये पैदा होती हैं।

मध्यमार्ग से अभिप्राय है मस्तिष्क, हृदय वस्ति आदि मर्म विशेष अस्थि सधियें तथा तदनुबन्धी स्नायुशिरा कण्डरादि। दोष इनमे आश्रय लेकर रोगाभिव्यक्ति करते हैं तब पक्षवध हनुग्रह, अपतानक दण्डापतानक, अर्दित यक्ष्मा अस्थि सन्धि शूल गुदभ्रंशादि तथा ऊर्ध्वांगो के रोग होते हैं।

आभ्यन्तर मार्ग से अभिप्राय है महास्त्रोत। यह गले से लेकर गुदभाग तक के अवयवो का द्योतक है। इसमे हृदय, आमाशय, पक्वाशय, मलाशय, मूत्राशय, प्लीहा, यकृत, वृक्क पुप्फुस सबका समावेश है। दोष इस मार्ग से प्रसरण कर रोगोत्पत्ति करते हैं तब ज्वर अतिसारादि, छर्दि, अलसक, विशूचिका, श्वास, कास, हिक्का, आनाह, उदर, प्लीहा, यकृत, विसर्प, शोफ अन्तर्विद्रधि गुल्मादि रोग उत्पन्न होते हैं।

वातादि दोषो की विकृति दो तरह से मानी गई हैं एक तो शरीर मे ही मिथ्या आहार विहार से दोषो का धीरे-धीरे सतुलन बिगड कर दोषज रोग हो इस प्रकार के उत्पन्न रोगो की सज्ञा "निज" नाम से की गई है। जिन हेतुओ से अर्थात् शरीर मे रहने वाले वातादि दोष चयादि अवस्था द्वारा रोगोत्पत्ति करते हैं वे निज नाम से व्यवहृत हैं।

दूसरी अवस्था पतन, आघात, विषादि, कीटाणु ससर्ग से होने वाली है इस अवस्था मे दोषो का सचय प्रकोप प्रसरणादि क्रम न रह कर सहसा रोगोत्पत्ति होती है साथ ही दोष विकृति। इस अवस्थाजन्य रोगो को आगन्तुज नाम से व्यवहृत किया गया है।

वैसे रोगहेतुता दोनो ही अवस्थाओ मे वातादि दोषो ही को है। पर उनकी विकृति मे जो विभिन्नता है उसी के दिग् दर्शनार्थ ये निज-आगन्तुज दो सज्ञायें की गई हैं जिससे चिकित्सा करते समय निजोत्थ दोष विकृति मे तदनुरूप व आगन्तुज दोष विकृति मे तदनुरूप क्रिया कर्म (चिकित्सा) का ध्यान रहे।

दोष विकृति के अनन्त-हेतु हैं। हेतु विशेष से दोष विकृत हो तज्जन्य रोग होते है। उनका वर्गीकरण आयुर्वेद मे भी किया गया है। इसका एक उदाहरण देखिये—

सप्तविधा खलु रोगा भवन्ति। सह गर्भ जात पीडा काल प्रभाव स्वभावजा। ते तु पृथग् द्वि विधा:। तत्र सहजा शुक्रार्तव दोपान्वया:। कुष्ठार्श मेहादय। पितृजा: मातृजाश्च। २ गर्भजा जनन्यभिचारात् कौब्ज्य पंगल्य किलासादयो ऽन्नरसजा दौहृद विमानजाश्च। ३ जातजा स्वापचारात् सन्तर्पणजा. अपतर्पणजाश्च। ४ पीडाकृत. क्षतभग प्रहार क्रोध शोकभयादय: शारीर मानसाश्च। ५. कालजा. शीतादिकृता: ज्वरादयो व्यापन्नजा असरक्षण जाश्च। ६ प्रभावजा' देवगुरूलघन शापाथर्वणादि कृता ज्वरादय. पिशाचादयश्च। ७ स्वभावजा. क्षुत्पिपासा ज्वरादय. कालजा अकालजाश्च। तत्र कालजा: रक्षण कृता। अरक्षणकृता' अकालजाश्च। तएते समासत. पुनर्द्विविधा भवन्ति।

विशषता को लेकर रोग सात तरह के होते है।

१ सहज— माता-पिता के आर्तव शुक्र की विकृति के कारण कुष्ठ अर्शप्रमेहादि।

२ गर्भज— गर्भावस्था मे माता के आहार विहारादि की अनवस्था से या दौहृद काल मे माता की इच्छा विघात से, कुब्ज, पगुता मुख, नासा, कर्ण, दन्त हस्त पादादि विकृति।

३ जातज— अपने आहार विहारादि के व्यत्यय से सन्तर्पण विशेष व अपतर्पण विशेष से ज्वरातिसार, ग्रहणी, पाण्डु, रक्तपित्त क्षयादि।

४. पीड़ाकृत— क्षत, व्रण, भग (अस्थिभग) प्रहार, (चोट) क्रोध, शोक भयादि कृमि, विष, भूत, ससर्गादि से शारीरिक व मानसरोग।

५. कालज— ऋतुओ के अतियोग अयोग मिथ्या योगादिजन्य। अन्न, फल, औषधादि व जल वायु विकृति से तथा ऋतु जन्य काल विपद मे से शरीर की रक्षा न करने पर शीतोष्ण-अतियोग से।

६ प्रभावज— देव गुरु माता पितादि के अतिक्रमण (तिरस्कार) वा अथर्व विहित विधिकर्मों के अनुष्ठान व्यत्यय से।

७ स्वभावज— क्षुधा तृष्ण निद्रादि जन्य दोष प्रकोप के हेतु विशेषो को लेकर किया गया यह विवरण पाश्चात्य वैज्ञानिक पद्धति के उपरोक्त द्वादश हेतुओ से मिलाइये : उनके विवरण से इस विवेचन की कितनी साम्यता है। उनका ३ पारम्परिक यहाँ सहज शब्द से व्यवहृत है । उनकी गर्भ विकृति और यहाँ का गर्भज एक ही है। उनके ९-१०-११ अस्वास्थ्यकर भोजन- खनिज द्रव्यो को कमी नशीलो वस्तुओ का विशेष उपयोग तीनो यहाँ के तीन जातज मे समाविष्ट होते हैं। उनके ५-६ आकस्मिक दुर्घटना व आघात यहाँ पीडाकृत नाम से व्यवहृत हैं। उनका ७ वा अधिक शीत अधिक उष्णता यहाँ कालज नाम से उल्लिखित है।

उनके क्रिमि जन्य व विषाक्त जन्तु जन्य का समावेश यहाँ के पीडा कृत मे ही हो जाता है। क्योकि क्रिमि विष आदि आयुर्वेद मे आगन्तुज कारण माने गए हैं। अब उनके अग विशष की विकृति वाला एक हेतु शेष रहता हैं।

उसका समावेश आयुर्वेद मे मार्गभेद से रोगो का विवेचन किया गया है, उसमे हो जायगा।

मार्गभेद से रोगभेद कैसे होता है तदर्थ आयुर्वेद मे वातादिदोषो के तीन मार्ग माने गए है। बाह्य, मध्य और आभ्यतर। बाह्य से अभिप्राय है रक्तादि छ धातु और त्वक वातादि-दोष इस मार्ग का अनुसरण कर रोगोत्पत्ति करते हैं तब गण्ड, पिडिका, अलजी, अपची, चर्मकोल, अर्बुद, अधिमास, अर्श व्यग आदि व्याधिये पैदा होती हैं।

मध्यमार्ग से अभिप्राय है मस्तिष्क, हृदय वस्ति आदि मर्म विशेष अस्थि सधियें तथा तदनुबन्धी स्नायुशिरा कण्डरादि । दोष इनमे आश्रय लेकर रोगाभिव्यक्ति करते हैं तब पक्षवध हनुग्रह, अपतानक दण्डापतानक, अर्दित यक्ष्मा अस्थि सन्धि शूल गुदभ्रंशादि तथा ऊर्ध्वांगो के रोग होते हैं।

आभ्यन्तर मार्ग से अभिप्राय है महास्रोत। यह गले से लेकर गुदभाग तक के अवयवो का द्योतक है। इसमे हृदय, आमाशय, पक्वाशय, मलाशय, मूत्राशय, प्लीहा, यकृत, वृक्क पुप्फुस सबका समावेश है। दोष इस मार्ग से प्रसरण कर रोगोत्पत्ति करते हैं तब ज्वर अतिसारादि, छर्दि, अलसक, विशूचिका, श्वास, कास, हिक्का, आनाह, उदर, प्लीहा, यकृत, विसर्प, शोफ अन्तर्विद्रधि गुल्मादि रोग उत्पन्न होते हैं।

आयुर्वेद के रोगभेदक उपरोक्त हेतु विशेष पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के रोग हेतुओ के बिलकुल समान हैं फिर भी इस समानता के होते हुए भी सिद्धात मे दोनो सर्वथा भिन्न है। आयुर्वेद के ये रोग क्रम के हेतु स्वतन्त्र रूप से रोगोत्पत्ति के हेतु नही ये सब वातादि दोषो को विकृति रोग जनक है, वैज्ञानिक पद्धति इन कारणो ही को रोगोत्पादक मान रही है।

इस तरह रोगोत्पत्ति मे उभयपद्धतियो मे अत्यन्त मौलिक भेद हैं। एक सब रोगो का एक ही हेतु मानता है एक विभिन्न हेतुओ से विभिन्न रोगो की उत्पति मानता है।

रोगोत्पादक हेतु की तरह रोग के आश्रय मे भी उभयपद्धतिये भिन्न दृष्टिकोण रखती है। वैज्ञानिक पद्धति रोग के आश्रय कई तरह के मानती है। जैसे— हृदय, फुफ्फुस, वृक्क, प्लीहा, यकृत, आमाशय, किडनी आदि अग उपागो को लेकर। सिद्धात रूप से आयुर्वेद मानता है। शरीर और मन को। वैसे अग उपागो के नाम से आयुर्वेद मे भी रोगो के नाम-करण हैं जैसे ग्रहणी हृदयरोग, उदर, प्लीहोदर, शिरोरोग, नेत्ररोग, दन्त, नासा, जिह्वारोगादि पर ये स्थान विशेष को लेकर रोगो की सज्ञा विशेष के ही द्योतक हैं।

युक्तिपूर्वक विचार किया जाय तो यह बात सभी के समझ मे आ सकती है कि स्थान विशेष के रोग जब स्थान की क्रिया या स्थान के कर्म मे कमी वेशी होने से होते हैं, अब स्थान ही उसका उत्पादक हेतु हो यह बात कैसे ठीक हो। स्थान की क्रिया और कर्म को कमी वेशी जिन कारणो मे हुई वे कारण ही वस्तुतः स्थानदुष्टि के प्रधान कारण हैं।

इस जगह यह भी ध्यान रखने की बात है कि क्या हृदयादि स्थान, जिनके आश्रित विविध रोग होते हैं, अपनी अपनी क्रिया व अपने अपने कर्म निस्पादन मे सर्वथा स्वतन्त्र हैं?

हम देखते हैं कि एक व्यक्ति को अतिसार हुआ है। अतिसार के तीव्र आक्रमण से उस के शरीर की सम्पूर्ण शक्ति ही न्यून हो गई है। आवाज, घूमना, फिरना, उठना, बैठना, श्रम करना, सब मे शैथिल्य है। हृदय की गति मन्द हो गई है। अतिसार हुआ पक्वाशय मलाशय को क्रिया व कर्म मे कमी वेशी से उसका प्रभाव हुआ अन्य अवयवो पर। इसी तरह अर्श की व्याधि है। मलाशय के आश्रित रक्तार्श से नित्य रक्त निकलता है। थोडे दिन मे उसके सम्पूर्ण शरीर की क्रियाये शिथिल हो जायेंगी। ज्वर का तीव्र आक्रमण हुआ उसका आश्रय है रसवह स्रोत पर, परिणाम होता है अशेष अवयवो पर।

उपरोक्त तीनो उदाहरण इस बात के द्योतक हैं कि ये बीमारियें हृदय से सम्बन्धित नही है। फिर भी हृदय की क्रिया व कर्म मे कमी हो जाती है, यह कमी चाहे पारस्पर्य सम्बन्ध से ही होती जरूर है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शरीर के सम्पूर्ण अवयवो की क्रिया व कर्म का सचालन एक ऐसी शक्ति के द्वारा होता है जिसका सम्बन्ध शरीर के

अशेष अवयवो से हैं। अधिकाश रोगो मे देखने मे आता है कि प्राय॰ वृक्क, आमाशय, मलाशय, हृदय पुपफुस आदि सभी अवयवो का काम शिथिल हो जाता है। इससे यह निश्चित होता हैं कि सम्पूर्ण शरीर का सचालन जिसके आश्रित है उन्ही पर रोग का आक्रमण होता है। उन्ही की कमी वेशी से रोग होते हैं पर ये रोग उस आश्रय की स्वतत्र सत्ताजन्य हो यह बात नही। अत. स्थान विशेष के रोगो मे स्थान विशेष की प्रधानता ही मानी जाय यह ठीक नही कारण कि स्थान-विशेष भी तो किसी अन्य के आश्रित है अत अधिक युक्तियुक्त यही है कि जिस स्थूल शरीर के आश्रित हृदयादि सम्पूर्ण अग है उसी को प्रधानता दी जाय।

वैसे रोगो की अनन्तता दिखाते हुए आयुर्वेद मे और भी कई कारण रोग-भेदक माने गए हैं जैसे सग्रहकार निर्देश करते हैं—

"तस्मादेकाकारा एव रोगा रुक्सामान्यादसख्यभेदान्विता वा प्रत्येक समुत्थान स्थान-सस्थान-वर्ण-नाम-वेदना प्रभावोपक्रम विशेषात्।

असख्येय त्वाच्च दोष लिंगैरेव रोगानुपक्रमे च विभजेत्।

वेदना की समानता से एक प्रकार के सब रोग हैं। यदि उनकी विभिन्नताओ का विचार करें तो प्रत्येक रोग समुत्थान (दोष प्रकोप हेतु) स्थान (सम्पूर्ण अवयवसहित शरीर) सस्थान (रोग के दोष दूष्य सयोग वा रोगी की प्रकृति, वल वय देश काल आदि से उत्पन्न लक्षण विशेष) वर्ण (पाण्डु श्वेत, श्यावरक्तादि) नाम (सज्ञा विशेष) वेदना (शूल, स्तम्भादि) प्रभाव (व्याधि की शक्ति) उमक्रम (आवस्थिक चिकित्सा विशेष) भेद से अनेक रूपो मे देखे जा सकते हैं।

इस असख्येयता का दिग्दर्शन कराते हुए भी आचार्य चिकित्सक को सचेष्ट करते हैं कि उपरोक्त विभिन्नता से रोग के अनेक रूप दिखाई दे तो भी तुम किसी भ्रम मे न उलझना। यदि इस अनन्तता के भ्रम मे उलझ गए तो एक रोग की ही चिकित्सा करनी कठिन है।

चिकित्सा के लिए तुम्हे अपने दोष सिद्धांत पर ही दृढ रहना चाहिए। इसी से वे निर्देश करते हैं कि रोग की असख्येय सूक्ष्मावस्थाओ मे दोष तथा दोषज लक्षणो की प्रधानता का निश्चय करके चिकित्सा करिए। चिकित्सा करते समय दोषो ही को क्यो प्रधान माना जाय तदर्थ आयुर्वेद कहता है कि—

"दोषा एव सर्व रोगैककारणम् (यथैव शकुनिः सर्वत परिपतन् दिवस स्वच्छाया नातिवर्तते। यथा वा कृत्स्न विकार जात वैश्वरूप्येण व्यवस्थित गुण त्रयमप्यतिरिच्यवर्तते। तथैतदविकारजम दोषविकासजस दोषत्रयमिति।"

दोष ही सम्पूर्ण रोगो का प्रधान कारण है। वे दो दृष्टातो से इसकी सार्थकता प्रदर्शित करते हैं जैसे पक्षी दिन मे अनन्त जगह अनन्त तरह से आता जाता है पर वह जहाँ भी जाता है। अपनी प्रतिच्छाया का कही परित्याग नही करता इसी तरह सम्पूर्ण भौतिक जगत का अनन्त रूपो मे आविर्भाव होता है। पर वे अनन्त पदार्थ (सत्व, रज, तम, गुणत्रय से रहित नही होते) ऐसी ही शारीरिक या मानस निज या आगन्तुज अशेष व्याधि मे, हेतु विशेष, आश्रय दोषदूष्य, सयोग, विशेष, प्रकृति, बलाबल, देश, काल, वेदना, सज्ञा, आदि को विशेषताओ से अनेक रूपो मे व्यक्त होते हुए भी दोषत्रय वात, पित्त, श्लेष्मा के अनुबन्ध से रहित नही होती।

आयुर्वेद का यह प्रवचन सिद्धात निर्देशक है कि इसका अभिप्राय यह नही समझना चाहिए कि एकान्तत एक मात्र दोषो को लक्ष करके ही चिकित्सा की जाय। यदि ऐसा ही होता तो दूष्य (रस, रक्त, मास मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, मल, मूत्र, स्वेद) देश (आतुर देश, रोगी का शरीर, भूमि, देश, (जागल, आनूप, साधारण) बल (सहज, कालज, युक्ति कृत) काल (ऋतु काल, रोग काल) अनल (भौतिक, पाचकादि, धात्वग्नि) प्रकृति (वातादि दोषभेद से सप्तविध) वय (बाल किशोर तरुणादिभेदयुक्त) सत्व (प्राणशक्ति मनोबल) सात्म्य (अनुकूल) आहार (भोज्य वस्तु के उपयोग का परिमाण) अवस्था (आतुर व रोग की) इनको ध्यान मे रखते हुए चिकित्सा करने का जो उपदेश है वह निरर्थक सिद्ध हो। अत हमे उभय प्रकार के उपदेशो को मान्य मानते हुए यह समझना चाहिए कि चिकित्सा-काल मे दोष के बलाबल के साथ इन सब सहायी-कारणो का भी उचित ध्यान रखा जाय।

एकान्ततः सब रोगो मे या रोग की व अवस्थाओ मे दोष ही की चिकित्सा की जाय यह बात नही ऐसे रोग-विशेष भी हैं जिनमे हेतु, तथा स्थान की प्रधानता को ध्यान मे रखते हुए दोष विशेष की चिकित्सा करने का निर्देश है; मतलब आशय को लेकर पाश्चात्य विज्ञान तथा आयुर्वेद के विवेचन मे सर्वांश मे समानता नही है। वे अपने अपने सिद्धात से उनकी उपादेयता भिन्न रूप से मानते हैं।

रोग

रोग क्या है ? इस बारे मे दोनो पद्धतियो मे विशेष अन्तर नही है। वैज्ञानिक पद्धति मे शरीर का सम्पूर्ण आवयविक भाग यथावत काम करते हुए शरीर के अशेष क्रियाकलाप को उचित स्थिति मे स्थिर रखे इसी का नाम नीरोगावस्था है। इससे विपरीत अर्थात् शरीर के अशेष यन्त्रो, स्रोतो, या यन्त्र विशेष स्रोत विशेष अवयव विशेष के क्रिया तथा कर्म मे कमी वेशी हो वह रुग्णावस्था है। मतलब शरीर की विषम-स्थिति का नाम ही रोग है।

आयुर्वेद का इस विषय मे सूक्ष्म सूत्र है "रोगस्तु दोष-वैषम्यम्" दोषो का (शरीरोत्पादक वातादि सज्ञा विशेष वाले पचभूत) वैषम्य (क्षयवृद्धि आवृत अवस्था से बदली हुई दशा) ही रोग है।

रोग के लक्षण की तरह स्वास्थ्य का भी सक्षिप्त लक्षण है।

"दोष साम्यमरोगता" समदोष समाग्निश्च समधातु मलक्रिय ॥
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मना स्वस्थमित्युपदिश्यते ॥१॥

दोष (अर्थ विशेष को प्रतिपादित करने वाले विशेष सज्ञा से अन्वित वात, पित्त, कफ) अग्नि, (पाचकादि पचविध भौतिक पचविध धात्वग्नि सप्तविध तथा मलोष्मा), धातु (उपधातु सहित रसादि शुक्रात), मल (मल, मूत्र, स्वेद धातुओ की परिणमनावस्था के मलो सहित), क्रिया (मन, ज्ञानतन्तु, वाततन्तु सहित शरीर के सम्पूर्ण यत्रो तथा अवयवो का व्यापार) इन पाँचो की समावस्था। समावस्था से अभिप्राय है प्रत्येक शरीर मे इन दोष धात्वग्नि आदि का उचित अवस्था मे अपना अपना कार्य सम्पादित करते रहना। शरीर की यह अवस्था ही मन, आत्मा, इन्द्रियो की प्रसन्नता का हेतु है। इसी का नाम स्वास्थ्य है।

इस तरह रोग क्या है ? इसमे अधिक अन्तर नही है। दोनो ही शरीर की परिवर्तित दशा को रोग मानते हैं।

हाँ इसकी अभिव्यक्ति मे दोनो की विचार-सरणी भिन्न है। वैज्ञानिक पद्धति मे रोग की अभिव्यक्ति भी रोगोत्पादक-हेतुओ की तरह कई तरह से है। उनके अधिकाश रोग कीटाणुजन्य हैं। अत रोगाभिव्यक्ति मे उन्ही कीटाणुओ की क्रियाओ का प्राधान्य रहता है। कही कीटाणु स्वय विवर्द्धित हो कर रोग को अभिव्यक्त करते हैं तो कही वे रक्त कणो को नष्ट करके कही रक्त के श्वेत कणो को नष्ट करके, कही रस शोष करके तो कही रक्त शर्कर का नाश करके, कही हृदय पर उनका प्रभाव होता है तो कभी मस्तिष्क व सुषुम्ना-मार्ग पर, कोई फेफडो पर ही अधिक असर करते हैं तो कोई किडनी (वृक्क) मे। इस तरह विभिन्न कीटाणुओ की विभिन्न स्थिति होने से उनके मत मे रोगाभिव्यक्ति भी नाना तरह से होती है। जिन रोगो के अभी कीटाणु नही मिले हैं उनकी अभिव्यक्ति के लिए उनका विज्ञान मौन है। यदि कुछ तदर्थ उल्लेख है तो इतना ही कि शरीर की रोग-निवारक क्षमता के कम हो जाने से भी अनेक रोग होते हैं।

रोग-निवारक क्षमता की कमी का सम्बन्ध अब कीटाणुजन्य रोगो मे भी जोडा जाने लगा है। कारण अनेक जगह ऐसी स्थितियाँ सामने आती है कि तज्जनक रोग के कीटाणु तो शरीर में मौजूद मिलते हैं पर रोग उत्पन्न नही होता। रोग-निवारक क्षमता का अभी

दोष ही सम्पूर्ण रोगो का प्रधान कारण है। वे दो दृष्टातो से इसकी सार्थकता प्रदर्शित करते हैं जैसे पक्षी दिन मे अनन्त जगह अनन्त तरह से आता जाता है पर वह जहाँ भी जाता है। अपनी प्रतिच्छाया का कही परित्याग नही करता इसी तरह सम्पूर्ण भौतिक जगत का अनन्त रूपो मे आविर्भाव होता है। पर वे अनन्त पदार्थ (सत्व, रज, तम, गुणत्रय से रहित नही होते) ऐसी ही शारीरिक या मानस निज या आगन्तुज अशेष व्याधि मे, हेतु विशेष, आश्रय दोषदूष्य, सयोग, विशेष, प्रकृति, बलाबल, देश, काल, वेदना, सज्ञा, आदि को विशेषताओ से अनेक रूपो मे व्यक्त होते हुए भी दोषत्रय वात, पित्त, श्लेष्मा के अनुबन्ध से रहित नही होती।

आयुर्वेद का यह प्रवचन सिद्धात निर्देशक है कि इसका अभिप्राय यह नही समझना चाहिए कि एकान्तत एक मात्र दोषो को लक्ष करके ही चिकित्सा की जाय। यदि ऐसा ही होता तो दूष्य (रस, रक्त, मास मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, मल, मूत्र, स्वेद) देश (आतुर देश, रोगी का शरीर, भूमि, देश, (जागल, आनूप, साधारण) वल (सहज, कालज, युक्ति कृत) काल (ऋतु काल, रोग काल) अनल (भौतिक, पाचकादि, धात्वग्नि) प्रकृति (वातादि दोषभेद से सप्तविध) वय (बाल किशोर तरुणादिभेदयुक्त) सत्व (प्राणशक्ति मनोबल) सात्म्य (अनुकूल) आहार (भोज्य वस्तु के उपयोग का परिमाण) अवस्था (आतुर व रोग की) इनको ध्यान मे रखते हुए चिकित्सा करने का जो उपदेश है वह निरर्थक सिद्ध हो। अत हमे उभय प्रकार के उपदेशो को मान्य मानते हुए यह समझना चाहिए कि चिकित्सा-काल मे दोष के बलाबल के साथ इन सब सहायी-कारणो का भी उचित ध्यान रखा जाय।

एकान्ततः सब रोगो में या रोग की व अवस्थाओ मे दोष ही की चिकित्सा की जाय यह बात नही ऐसे रोग-विशेष भी हैं जिनमे हेतु, तथा स्थान की प्रधानता को ध्यान मे रखते हुए दोष विशेष की चिकित्सा करने का निर्देश है; मतलब आमय को लेकर पाश्चात्य विज्ञान तथा आयुर्वेद के विवेचन मे सर्वा श मे समानता नही है। वे अपने अपने सिद्धात से उनकी उपादेयता भिन्न रूप से मानते हैं।

रोग

रोग क्या है ? इस बारे मे दोनो पद्धतियो मे विशेष अन्तर नही है। वैज्ञानिक पद्धति मे शरीर का सम्पूर्ण आवयविक भाग यथावत काम करते हुए शरीर के अशेष क्रियाकलाप को उचित स्थिति मे स्थिर रखे इसी का नाम नीरोगावस्था है। इससे विपरीत अर्थात् शरीर के अशेष यन्त्रो, स्रोतो, या यन्त्र विशेष स्रोत विशेष अवयव विशेष के क्रिया तथा कर्म मे कमी वेशी हो वह रुग्णावस्था है। मतलब शरीर की विषय-स्थिति का नाम ही रोग है।

आयुर्वेद का इस विषय मे सूक्ष्म सूत्र है "रोगस्तु दोष-वैषम्यम्" दोषो का (शरीरोत्पादक वातादि सज्ञा विशेष वाले पचभूत) वैषम्य (क्षयवृद्धि आवृत अवस्था से बदली हुई दशा) ही रोग है।

रोग के लक्षण की तरह स्वास्थ्य का भी सक्षिप्त लक्षण है।

"दोष साम्यमरोगता" समदोष समाग्निश्च समधातु मलक्रिय ॥
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मना स्वस्थमित्युपदिश्यते ॥१॥

दोष (अर्थ विशेष को प्रतिपादित करने वाले विशेष सज्ञा से अन्वित वात, पित्त, कफ) अग्नि, (पाचकादि पचविध भौतिक पचविध धात्वग्नि सप्तविध तथा मलोष्मा), धातु (उपधातु सहित रसादि शुक्रात), मल (मल, मूत्र, स्वेद धातुओ की परिणमनावस्था के मलो सहित), क्रिया (मन, ज्ञानतन्तु, वाततन्तु सहित शरीर के सम्पूर्ण यत्रो तथा अवयवो का व्यापार) इन पाँचो की समावस्था। समावस्था से अभिप्राय है प्रत्येक शरीर मे इन दोष धात्वग्नि आदि का उचित अवस्था मे अपना अपना कार्य सम्पादित करते रहना। शरीर की यह अवस्था ही मन, आत्मा, इन्द्रियो की प्रसन्नता का हेतु है। इसी का नाम स्वास्थ्य है।

इस तरह रोग क्या है ? इसमे अधिक अन्तर नही है। दोनो ही शरीर की परिवर्तित दशा को रोग मानते हैं।

हाँ इसकी अभिव्यक्ति मे दोनो की विचार-सरणी भिन्न है। वैज्ञानिक पद्धति मे रोग की अभिव्यक्ति भी रोगोत्पादक-हेतुओ की तरह कई तरह से है। उनके अधिकाश रोग कीटाणुजन्य हैं। अत रोगाभिव्यक्ति मे उन्ही कीटाणुओ की क्रियाओ का प्राधान्य रहता है। कही कीटाणु स्वय विवर्द्धित हो कर रोग को अभिव्यक्त करते हैं तो कही वे रक्त कणो को नष्ट करके कही रक्त के श्वेत कणो को नष्ट करके, कही रस शोष करके तो कही रक्त शर्कर का नाश करके, कही हृदय पर उनका प्रभाव होता है तो कभी मस्तिष्क व सुषुम्ना-मार्ग पर, कोई फेफडो पर ही अधिक असर करते हैं तो कोई किडनी (वृक्क) मे। इस तरह विभिन्न कीटाणुओ की विभिन्न स्थिति होने से उनके मत मे रोगाभिव्यक्ति भी नाना तरह से होती है। जिन रोगो के अभी कीटाणु नही मिले हैं उनकी अभिव्यक्ति के लिए उनका विज्ञान मौन है। यदि कुछ तदर्थ उल्लेख है तो इतना ही कि शरीर की रोग-निवारक क्षमता के कम हो जाने से भी अनेक रोग होते हैं।

रोग-निवारक क्षमता की कमी का सम्बन्ध अब कीटाणुजन्य रोगो मे भी जोडा जाने लगा है। कारण अनेक जगह ऐसी स्थितियाँ सामने आती है कि तज्जनक रोग के कीटाणु तो शरीर में मौजूद मिलते हैं पर रोग उत्पन्न नही होता। रोग-निवारक क्षमता का अभी

ठीक २ विश्लेषण नही हुआ है। अभी तो शरीर की स्वाभाविक शक्ति के नाम से ही यह व्यवहृत हो रही है। सम्भव है इसका उचित विश्लेषण होने पर नवीन पद्धति आयुर्वेद के अधिक समीप आ जाय। इस तरह रोगाभिव्यक्ति मे वैज्ञानिक पद्धति का कोई स्थिर सैद्धातिक दृष्टिकोण नही है।

आयुर्वेद मे इसका सिद्धात स्थिर किया हुआ है। वे रोग की अभिव्यक्ति "निजागन्तु" निदान भेद से दो तरह की मानते हैं। जितने भी रोग हैं उनका उद्भव या तो आगन्तु हेतु की या निज हेतु की प्रधानता से है। आगन्तु हेतु मे वे सब कारण आ जाते हैं जो शरीर से सम्बन्धित होते ही रोग पैदा कर दे। जैसे शस्त्र, लकडी, पत्थर, मुष्टि आदि का आघात, गिरना, दबना, टक्कर खाना, विषाक्त वातादिका स्पर्श, विषाक्त जन्तुओ का काटना, विषाक्त या अविष जन्तुओ का शरीर मे चला जाना। हाथी, घोडे, ऊँट, बैल, साईकिल, मोटर, रेल, आदि की झपेट मे आ जाना। विषाक्त औषधि गन्ध, अभिचार, अभिशाप, भूताभिसग आदि। ये या इस तरह के ऐसे हेतु जिनसे तत्काल रोगोत्पत्ति होती है, इनको दोष प्रकोप के आगन्तु हेतु-नाम से अभिव्यक्त किया है। इन हेतुओ से उत्पन्न होने वाले रोगो की अभिव्यक्ति हेत्वनुरूप होती है।

अभिव्यक्ति मे नाना हेतुओ का सम्बन्ध होते हुए भी रोग का लाक्षणिक रूप बनने के समय वातादि दोषो का ही प्राधान्य हो जाता है। इस तरह नाना हेतु से नाना रूप मे विभिन्न रोगो का उद्भव होता है, पर वे सब रोग अभिव्यक्ति के साथ ही वातादि सम्बन्धो से एक स्थिति मे आ जाते हैं। इस अवस्था मे बाहरी हेतु का शरीर से सम्बध होते ही तत्काल शरीर की साम्यावस्था का व्यत्यय और तत्काल ही रोगोत्पत्ति होती है।

व्रण, शोथ, भग्न, विसर्प, उपदश, मूत्राघात, ज्वर, ऊरुक्षत, विषज इस अवस्था के प्रमुख रोग हैं। दूसरी अवस्था है "निज"। निज अवस्था से अभिप्राय है वाह्य हेतुओ से शरीरस्थ शारीरिक तत्वो का सतुलन बिगड रोग उत्पन्न होना। इस अवस्था में हेत्वनुरूप रोग का शीघ्र अथवा विलम्ब से उद्भव होता है; अजीर्ण, विशूचिका, अलसक, विलविका, वमि, तृष्णादिरोग शीघ्र अभिव्यक्त होते है। क्षय, कास, अतिसार, ग्रहणी, पाण्डु, रक्त पित्तादि रोग विलम्ब से उद्भूत होते हैं। विलम्ब और शीघ्रोत्पत्ति मे रोग की जाति का प्राधान्य नही है। प्राधान्य है हेतु विशेष का। हेतुविशेष बलशाली होगे तो दोष प्रकोप शीघ्र होगा। हेतुविशेष अल्पबल वाले होगे तो दोष प्रकोप विलम्ब से होगा।

निजावस्था मे रोग की उत्पत्ति क्रमिक होती है। निजावस्था का रोग-चय-प्रकोप प्रसरण, स्थान सश्रय, इन चार अवस्थाओं मे गुजरने के पश्चात् उद्भूत होता है। अभि-व्यक्ति उसकी पचावस्था है। रूपान्तर उसकी अन्तिम व छठी अवस्था है।

निज हेतु से विकृत दोप बिना चयादि अवस्थाओ के तत्काल रोग पैदा नही करता। नाना प्रकार के मिथ्या आहार विहार से शरीरस्थ वातादितत्व विशेप बढते हैं तो पहिले वे अपने आश्रय स्थान मे ही रहते हैं। यह दोपो की सचित स्थिति है। वैसे दोपो का आश्रय स्थान सम्पूर्ण शरीर है। परजिन शारीरिक विशेप भागो मे रह कर दोप विशेप कर्मों की पूर्ति करते हैं तदर्थ उनके स्थान विशेपो की सज्ञा की गई है। ऐसे प्रत्येक दोप के पाँच पाँच प्रधान स्थान हैं। इन स्वकीय स्थानो मे जिस जिस दोप का विवर्धन होता है उसी को चयावस्था कहते हैं। दोष वृद्धि से अपने स्थान का पूरा पूरा भर जाना वह उसकी दूसरी प्रकोपावस्था है। दोप विकृति की ये दोनो अवस्थायें अपने स्थान तक सीमित रहती हैं। इस अवस्था तक यदि उनके प्रतिकार का आरम्भ न हो तो फिर प्रसरण और स्थान सश्रय नाम की तृतोयावस्था व चतुर्थावस्था आती है।

विवर्द्धित दोषज अपने स्थान मे समाहित नही रह सकने की दशा मे आ जाते हैं तब वे आगे बढते हैं। जिस तरह वस्तु विशेप पात्र से अधिक मात्रा मे होने पर पात्र से बाहर फैलने लगती है इस तरह विवर्द्धित दोष अपनी आश्रय-सीमा से बाहर निकल फैलने लगते हैं। यह दोषो की प्रसरण काल रूप तृतोयावस्था है, फैलने वाले दोप फिर कही न कही आश्रय लेते हैं इसको स्थान सश्रय रूप चतुर्थावस्था कहते हैं। प्रसरण और स्थान-सश्रय यहाँ तक दोषो की जो स्थिति रहती है यह रोग का पूर्व रूप है। इन चार अवस्थाओ मे से तीन तक दोषो ही के विशेष लक्षण अभिव्यक्त होते रहते हैं। प्रसरणावस्था तक किसी रोग विशेष की स्थिति पैदा नही होती।

आयुर्वेद सिद्धात से चय, कोप प्रसरण यह रोग उत्पन्न होने की पृष्ठभूमि है। इनमे दोष-वृद्धि ही प्रमुख रहती है। स्थान सश्रय से रोग विशेष का अकुर उत्पन्न होता है। इसको आयुर्वेद रोग की पूर्वावस्था कहता है। जिन जिन रोगो मे पूर्वरूप के लक्षण कहे गए हैं वे सब इस स्थान सश्रय रूप चतुर्थावस्था के प्रतिपादक हैं।

स्थान सश्रय के पश्चात् रोग विशेषो की अभिव्यक्ति होती है। इसी को रूप कहते हैं। इस अवस्था मे रोग विशेष अपने लक्षण विशेषो को अभिव्यक्त करता है। अत इसकी व्यक्तावस्था सज्ञा कही है। अन्तिम अवस्था रोग भेद हैं, रोग उत्पन्न हो कर जिन जिन अवस्थाओ मे बदलता है यह रोग की अवस्था विशेष है यही अन्तिम भेदसज्ञक अवस्था है। निज सज्ञक हेतुओ से उत्पन्न होने वाला रोग आयुर्वेद सिद्धात से इन छः स्थितियो का अवश्य अतिक्रमण करता है। जैसा कि आचार्य सुश्रुत का उपदेश है—

सचयञ्च प्रकोपञ्च प्रसर स्थान सश्रयम्।
व्यक्ति भेदञ्चयोवेत्ति दोषाणा सभवेद् भिषक् ॥१॥

जितने शारीरिक रोग हैं इनमे से अधिक रोग निज हेतु से उत्पन्न होने वाले रोगो की

उपरोक्त अभिव्यक्ति कितनी शोधपूर्ण है। भारतीय चिकित्सा शास्त्र की इस विवेचन सरणी से 'कीटाणु हैं और रोग क्यो ? नही" पर मौन होने का कभी मोका नही आता।

यहाँ तो हेतु दौर्बल्य से, विपरीत देश, काल, प्रकृति से प्रकुपित दोष चय प्रकोप प्रसरण-वस्था तक ही शान्त हो गया तो रोग अभिव्यक्त होता ही नही।

रोगाभिव्यक्ति तभी होती है जब प्रकुपित दोष स्थान सश्रय की अवस्था मे पहुँचे। चय प्रकोपादि अवस्था के लक्षण-विशेषो को यहाँ उल्लेख लेखवृद्धिभय से नही किया है।

इन चयादि अवस्थाओ का विवेचन (रोग ज्ञान) मे ही सहायक हो यह बात नही इससे चिकित्सा करने मे भी पूरी सहायता मिलती है।

रोगाभिव्यक्ति मे दोनो पद्धतिया किस विचार-सरणी का अनुगमन करती हैं। उपरोक्त विवरण से इसका कुछ आभास मिल जाता है। इसी तरह रोगोत्पादक हेतु आश्रय भेद से रोग भेद रोग और रोगाभिव्यक्ति का सामान्य दिग्दर्शन कर अब चिकित्सा पर विचार करना सगत रहेगा।

चिकित्सा

उभय पद्धतियें जैसे रोग-हेतु-आश्रय, रोगरूप व रोगोद्भव मे भिन्न विचार रखती है, वैसे ही चिकित्सा मे भी इनका दृष्टिकोण भिन्न भिन्न है।

वैज्ञानिक-चिकित्सा-पद्धति जहाँ तक देखने मे आती है तीव्र-प्रतिरोध-मूलक है। किसी निश्चित सिद्धात को मान कर चिकित्सा की जाय ऐसा उसका ध्येय नही। जिन रोगो में कीटाणुओ को प्रधानता नही है। जिन रोगो में कीटाणुओ की प्रधानता है उनमे कीटाणु-विनाशक-उपाय ही प्रधान चिकित्सा है। जिनमे कीटाणु ही मिलते उन रोगो की चिकित्सा चिकित्सको की अपनी जिम्मेवारी पर होती है।

विशेषत रोगोत्पत्ति के हेतु-विशेष को लेकर ही इस चिकित्सा का चिकित्सा-क्रम चलता है। जहाँ तक देखने मे आता है रोगोद्भव होने से पहिले रोका जा सके इस तरह का कोई चिकित्सा का अग निश्चित किया हुआ नही है।

हाँ— हैजा, चेचक, प्लेग आदि सक्रामक व्याधियो का जब आरम्भ होता है तब उसकी वृद्धि को रोकने के लिए स्वस्थ्य-मनुष्यो के टीका लगा कर व्याधि-सक्रामण की वृद्धि को रोकने के चेष्टा की जाती हं पर यह रोग की किसी अवस्था को चिकित्सा नही है।

आरम्भ मे तो इस चिकित्सा-पद्धति मे चिकित्सा काल मे रोगी की किसी प्रकार की खान-पान सम्बन्धी रोक टोक भी नही रहती थी। पर अब कुछ समय से पथ्य-योजना की ओर ध्यान दिया जाने लगा है।

काय चिकित्सा क्षेत्र के जिन-जिन शारीरिक, मानसिक रोगो मे कीटाणुग्रो का अनुबन्ध इसके सिद्धान्त से स्वीकृत है विशेषत उन्ही रोगो की विशेष चिकित्सा का क्रम कुछ कुछ स्थिर होने लगा है। इसमे भी कीटाणु+विनाश कैसे हो इसी की प्रधानता दी जाती है। कीटाणुग्रो के विषय मे इस पद्धति का ही यह निर्णय है कि रोग कीटाणु शरीर मे पहुच एक प्रकार की विषोत्पत्ति करते हैं।

इनसे उत्पन्न की हुई यह विषाक्तता ही फिर अवयव विशेष मे या सम्पूर्ण शरीर मे रोगोत्पत्ति का कारण बनती है। शरीर मे रहने वाले रक्तादि इस विष को विनष्ट करने का प्रयत्न किया करते हैं। यदि कीटाणुग्रो से उत्पन्न विषाक्तता सामान्य स्थिति की हो तो रोग कुछ समय के लिए ठहरा रहता है। यदि इस विषाक्तता को थोडी मात्रा मे शरीर के रक्तादि-तत्वो मे उत्पन्न कर दिया जाय तो उनमे रोग-प्रतिकार की विशेष क्षमता आजाती है। इञ्जेक्शन का उपयोग इसी सिद्धान्त को लेकर किया जाता है।

कीटाणुजन्य रोगो के चिकित्सा-क्रम मे प्रमुखतया यही ध्यान दिया गया है कि शरीरस्थ विषाक्तता का परिहार कर दिया जाय। परिहार करने वाले द्रव्य का रोग की विषाक्तता को छोड शरीर के अन्य तत्वो, स्रोतो तथा अवयव विशेषो पर क्या ? प्रभाव होता है। इस पर शायद जितना ध्यान दिया जाना चाहिए, नही दिया गया हैं। अत. रोग को विषाक्तता के साथ-साथ शरीरस्थ अन्य तत्वो का भी नाश होता हो तो कोई आश्चर्य की बात नही।

चिकित्सा-क्रम में जिन-जिन ओषधियो का प्रयोग किया जाता है उनमे भी ऐसी विषाक्तता का प्राधान्य रहता है। जो रोग की विषाक्तता को दवा देने वाली हो। इस स्थिति मे इस चिकित्सा-क्रम का एकान्तत रोग-निर्मूलक-परिणाम नही होता। परिणाम मे एक रोग के उन्मूलन के साथ-साथ शायद अन्य रोग के उत्पादन काभी बीजारोपण होता रहता है।

चिकित्सा-क्रम मे ओषध प्रयोग के लिए काल विशेष की कोई पाबन्दी नही है। रोग के लक्षण अभिव्यक्त होने के साथ ही ओषध का प्रयोग कर दिया जाता है।

जहा तक देखने मे आता है देश, काल, रोगी की अवस्था, प्रकृति आदि का विशेष ध्यान रखा जाता हो, सो बात नही।

मलेरिया के सभी रोगी कुनीन के व्यवहार के उपयोगी हैं। निमोनिया के सब रोगियो पर (६९३) के उपयोग निरापद हैं। पुरानी प्रवाहिका में (एमी टीन) का इञ्जेक्शन एकान्त ओषध है। मतलब प्रकृति बलाबल से रोग की चिकित्सा में विभिन्नता रहनी चाहिए, इस सिद्धान्त को इस चिकित्सा पद्धति में कोई विशेष स्थान नही दिया गया है।

ज्वर, अतिसार, रक्तार्श, रक्तपित्त, वमि (उल्टी) आदि मे रोग की आम पक्वावस्था का भेद मान कर चिकित्सा को जानी चाहिए ऐसा भी सिद्धान्त नही है।

उपरोक्त अभिव्यक्ति कितनी शोधपूर्ण है। भारतीय चिकित्सा शास्त्र की इस विवेचन सरणी से 'कीटाणु है और रोग क्यो ? नही" पर मौन होने का कभी मौका नही आता।

यहाँ तो हेतु दौर्बल्य से, विपरीत देश, काल, प्रकृति से प्रकुपित दोष चय प्रकोप प्रसरणवस्था तक ही शान्त हो गया तो रोग अभिव्यक्त होता ही नही।

रोगाभिव्यक्ति तभी होती है जब प्रकुपित दोष स्थान सश्रय की अवस्था मे पहुँचे। चय प्रकोपादि अवस्था के लक्षण-विशेषो को यहाँ उल्लेख लेखवृद्धिभय से नही किया है।

इन चयादि अवस्थाओ का विवेचन (रोग ज्ञान) मे ही सहायक हो यह बात नही इससे चिकित्सा करने मे भी पूरी सहायता मिलती है।

रोगाभिव्यक्ति मे दोनो पद्धतिया किस विचार-सरणी का अनुगमन करती हैं। उपरोक्त विवरण से इसका कुछ आभास मिल जाता है। इसी तरह रोगोत्पादक हेतु आश्रय भेद से रोग भेद रोग और रोगाभिव्यक्ति का सामान्य दिग्दर्शन कर अब चिकित्सा पर विचार करना सगत रहेगा।

चिकित्सा

उभय पद्धतियें जैसे रोग-हेतु-आश्रय, रोगरूप व रोगोद्भव मे भिन्न विचार रखती है, वैसे ही चिकित्सा मे भी इनका दृष्टिकोण भिन्न भिन्न है।

वैज्ञानिक-चिकित्सा-पद्धति जहाँ तक देखने मे आती है तीव्र-प्रतिरोध-मूलक है। किसी निश्चित सिद्धात को मान कर चिकित्सा की जाय ऐसा उसका ध्येय नही। जिन रोगो मे कीटाणुओ को प्रधानता नही है। जिन रोगो में कीटाणुओ की प्रधानता है उनमे कीटाणु-विनाशक-उपाय ही प्रधान चिकित्सा है। जिनमे कीटाणु ही मिलते उन रोगो की चिकित्सा चिकित्सको की अपनी जिम्मेंवारी पर होती है।

विशेषत रोगोत्पत्ति के हेतु-विशेष को लेकर ही इस चिकित्सा का चिकित्सा-क्रम चलता हैं। जहाँ तक देखने मे आता हैं रोगोद्भव होने से पहिले रोका जा सके इस तरह का कोई चिकित्सा का अग निश्चित किया हुआ नही है।

हाँ— हैजा, चेचक, प्लेग आदि सक्रामक व्याधियो का जब आरम्भ होता है तब उसकी वृद्धि को रोकने के लिए स्वस्थ्य-मनुष्यो के टीका लगा कर व्याधि-सक्रामण को वृद्धि को रोकने के चेष्टा की जाती हैं पर यह रोग की किसी अवस्था को चिकित्सा नही हैं।

आरम्भ मे तो इस चिकित्सा-पद्धति मे चिकित्सा काल मे रोगी की किसी प्रकार की खान-पान सम्बन्धी रोक टोक भी नही रहती थी। पर अब कुछ समय से मध्य-योजना की ओर ध्यान दिया जाने लगा है।

अजवायन, जायफल, सोफ, गुलाब, जीरा, सोया, लोग, इलायची, हीग, जटामासी आदि सैकडो देशी-भेषज वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोगो मे प्रबल-मात्रा मे व्यवहृत होने लगी हैं।

युद्ध-जनित परिस्थिति मे देशी औषधियो के प्रयोगो मे और भी अनेक अनुसधान हुए हैं। यह सब होते हुए भी कुछ स्वार्थ-विशेष की परिस्थितियो के कारण देशी भेषजो को विदेशी-आवरण पहिना कर उनका प्रयोग किया जाता है जिससे कि उनकी आयुर्वेद-चिकित्सा पद्धति से भिन्नता बनी रहे।

ऊपर लिखित कुछ बातें ऐसी हैं जिनको हम सभ्यता के रूप मे या उभयपद्धतियो के साविध्य के हेतु रूप से मान सकते हैं। पर नवीन पद्धति के चिकित्सक ऐसा शायद नही मानते। वे भारतीय चिकित्सा-पद्धति से बहुतसी सामग्री लेकर भी उसको अपने अनुसन्धान का फल ही उद्घोषित करते हैं।

इस चिकित्सा-पद्धति मे चिकित्सा का प्रधान सिद्धान्त क्या ? है यह अभी ठीक से कहना कठिन है। फिर भी अब तक के चिकित्साक्रम मे यह आभास तो प्राप्त होता ही है कि शरीर मे उत्पन्न होने वाली विषाक्तता का तीव्र प्रतिरोध किया जाय। जहाँ तक औषधो-पचार का रूप सामने आया या आता है उससे सिद्ध होता है कि इसके चिकित्सा-क्षेत्र मे उग्रवीर्य-भेषज ही का अधिक प्रयोग होता है।

जब रोग में विष का अनुबन्ध स्वीकृत है तो उसके परिहार में भी विष का या उग्रवीर्य भेषज का प्रयोग होना सगत ही है। यही हेतु है कि बहुधा औषधोपचार की थोडी भी असावधानी होने से कभी-कभी भयकर परिणाम सामने आते हैं।

जीवाणु तथा कीटाणु-जन्य रोगो के परिहार में तो अब सिद्धान्तत सीरम व वैक्सीन का ही मुख्य प्रयोग होता है। सीरम में प्रतिविष (रोगाणुओ के विष को दबा देने वाला विष) का प्राधान्य रहता है। विभिन्न-विभिन्न रोगो के लिए विभिन्न-विभिन्न सीरम बनाये जाते हैं।

वैक्सीन में रोग पैदा करने वाले विष का प्राधान्य है यह भी नाना रोगो के अनुसार नाना प्रकार की निर्मित होती है। सीरम तथा वैक्सीन दोनो का प्रयोग इन्जेक्शन से किया जाता है। पर ये हैं दोनो ही विष। इन विषो का प्रयोग इस सिद्धान्त से किया जाता है कि इनको लघु-मात्राओ के प्रयोग से शरीर में धीरे-धीरे रोगक्षमता उत्पन्न होती है। पर्याप्तरोग क्षमता उत्पन्न हो जाने पर रोग का निवारण हो जाता है।

थोडे में कहें तो इसका अभिप्राय यह है कि हम सीरम या वैक्सीन के इन्जेक्शनो से शरीर को विषाक्त बनाते है जिससे रक्तकण या शैलो के द्वारा प्रतिविष की मात्रा शरीर में अधिक उत्पन्न होजाय ताकि रोग के विष का शरीर पर प्रभाव न हो या असर हो गया हो तो उसका असर नष्ट हो जाय।

रोग की साध्यासाध्य अवस्था मान कर रोग विशेष मे चिकित्सा का विशेष क्रम चलना चाहिए ऐसा भी निश्चित सिद्धात नही है।

प्रत्येक रोग मे अनुबन्धी रोग और भी रहते है। जैसे—ज्वर मे अतिसार, अरुचि, वमि, तृष्णा, प्रलापभ्रम, अनिद्रा आदि। इनको प्रधान रोग के अनुगामी रोग मान कर ही चिकित्सा करनी चाहिए ऐसा इस चिकित्सा मे निश्चय किया हुआ नही है। वे इनके परिहार की चिकित्सा इनको विभिन्न रोग मान कर ही करते है।

रोग से उत्पत्ति के सिद्धात को (वैज्ञानिक पद्धति) भी मानती है। ऐसे रोगो की चिकित्सा मे पूर्व रोग के अनुबन्ध तथा हेतुता का पूरा ध्यान रखा जाता है।

कालानुबन्ध तथा धातुगत स्थिति से रोग की स्थिति बदल जाती है, यह सिद्धात भी कुछ-कुछ मान्य होने लगा है।

इस प्रकार के रोगो मे चिकित्सा का दीर्घकालिक अनुबन्ध रखना आवश्यक है, यह बात भी व्यवहार मे आने लगी है। इस तरह नई शोध से कई बातो मे साम्य भी आता जाता है।

शोथ वाले रोगो मे नमक का प्रयोग न करना, पिशाब मे शर्करा जाने वाले रोगो मे मधुर रस का प्रयोग न करना, जलोदर की व्याधि मे मूत्र अधिक से अधिक मात्रा मे आवे ऐसा उपचार करना। इस तरह की साम्यता उभय पद्धतियो मे दिन-दिन बढती जाती है।

धातु तथा रसो का प्रयोग आज से बीस वर्ष पहिले इस चिकित्सा पद्धति से सर्वथा वर्ज्य था। धातुओ के कणो को अघुलनशील मान कर उसके उपयोग को अहितकर बतलाया जाता था। पर अब लोहा, चादी, शीशा, जसद, ताम्र, स्वर्णादि का प्रयोग इस पद्धति में भी बहुतायत से होने लग गये हैं। वे उनका प्रयोग करते हैं टिंचर के रूप मे स्वर्ण तथा लोहे के इजेक्शन भी दिये जाने लग गए हैं।

सबसे प्रबल जिस पारद पर आक्षेप होते थे, मकरध्वज की हसी उडाई जाती थी, उस पारद का प्रयोग भी अब चिकित्सा-पद्धति में अत्यधिक होने लग गया है। विषो का प्रयोग तो इसमे आरम्भ से स्वीकृत था ही, उसके प्रयोगो व प्रकारो में और भी वृद्धि हुई व होती जा रही है। धीरे-धीरे अनुसन्धान का क्रम बढता जाता है, वैसे-वैसे "आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति" से स्वीकृत भेषज-प्रयोगो के प्रयोग नवीन- चिकित्सा-पद्धति मे अधिक से अधिक स्थान पाते जाते हैं।

वासा, विल्व, सनाय, गन्धक, शख, अतीस, चिरायता, सखिया, धतूरा, अफीम, गाजा, फिटकरी, चूना, तूतिया, कुचीला, जस्त, चादी, शीशा, नौसादर, सोठ, धनिया, सोरा, चाल-मोगरा, बबूल, केला, विजयसार, हरड, माजूफल, कपूर, अकरकरा, दालचीनी, सोठ, पीपल,

अजवायन, जायफल, सोफ, गुलाव, जीरा, सोया, लोग, इलायची, हीग, जटामासी आदि सैकडो देशी-भेषज वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोगो मे प्रवल-मात्रा मे व्यवहृत होने लगी हैं।

युद्ध-जनित परिस्थिति मे देशी ओषधियो के प्रयोगो मे और भी अनेक अनुसधान हुए हैं। यह सब होते हुए भी कुछ स्वार्थ-विशेष की परिस्थितियो के कारण देशी भेषजो को विदेशी-आवरण पहिना कर उनका प्रयोग किया जाता है जिससे कि उनकी आयुर्वेद-चिकित्सा पद्धति से भिन्नता बनी रहे।

ऊपर लिखित कुछ बातें ऐसी हैं जिनको हम सभ्यता के रूप मे या उभयपद्धतियो के साविध्य के हेतु-रूप से मान सकते हैं। पर नवीन पद्धति के चिकित्सक ऐसा शायद नही मानते। वे भारतीय चिकित्सा-पद्धति से बहुतसी सामग्री लेकर भी उसको अपने अनुसन्धान का फल ही उद्घोषित करते हैं।

इस चिकित्सा-पद्धति मे चिकित्सा का प्रधान सिद्धान्त क्या ? है यह अभी ठीक से कहना कठिन है। फिर भी अब तक के चिकित्साक्रम मे यह आभास तो प्राप्त होता ही है कि शरीर में उत्पन्न होने वाली विषाक्तता का तीव्र प्रतिरोध किया जाय। जहाँ तक ओषधो-पचार का रूप सामने आया या आता है उससे सिद्ध होता है कि इसके चिकित्सा-क्षेत्र मे उग्रवीर्य-भेषज ही का अधिक प्रयोग होता है।

जब रोग में विष का अनुबन्ध स्वीकृत है तो उसके परिहार में भी विष का या उग्रवीर्य भेषज का प्रयोग होना सगत ही है। यही हेतु है कि बहुधा ओषधोपचार की थोडी भी असावधानी होने से कभी-कभी भयकर परिणाम सामने आते हैं।

जीवाणु तथा कीटाणु-जन्य रोगो के परिहार में तो अब सिद्धान्तत सीरम व वैक्सीन का ही मुख्य प्रयोग होता है। सीरम में प्रतिविष (रोगाणुओ के विष को दबा देने वाला विष) का प्राधान्य रहता है। विभिन्न-विभिन्न रोगो के लिए विभिन्न-विभिन्न सीरम बनाये जाते हैं।

वैक्सीन में रोग पैदा करने वाले विष का प्राधान्य है यह भी नाना रोगो के अनुसार नाना प्रकार की निर्मित होती है। सीरम तथा वैक्सीन दोनो का प्रयोग इञ्जेक्शन से किया जाता है। पर ये हैं दोनो ही विष। इन विषो का प्रयोग इस सिद्धान्त से किया जाता है कि इनको लघु-मात्राओ के प्रयोग से शरीर में धीरे-धीरे रोगक्षमता उत्पन्न होती है। पर्याप्तरोग क्षमता उत्पन्न हो जाने पर रोग का निवारण हो जाता है।

थोडे में कहें तो इसका अभिप्राय यह है कि हम सीरम या वैक्सीन के इञ्जेक्शनो से शरीर को विषाक्त बनाते है जिससे रक्तकण या सैलो के द्वारा प्रतिविष की मात्रा शरीर में अधिक उत्पन्न होजाय ताकि रोग के विष का शरीर पर प्रभाव न हो या असर हो गया हो तो उसका असर नष्ट हो जाय।

शरीर को इस तरह विषाक्त बनाने का क्रम कहाँ तक उपादेय है। इसके बारे में अभी कुछ कहना उचित नही होगा। पर इस तरह कृत्रिम-रोगक्षमता की उत्पत्ति का यह प्रयास निरापद है या नही इस पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। किसी व्यक्ति को ऐसा ज्वर हुआ जिसमे सीरम या वैक्सीन का प्रयोग किया गया। महीने या दो महीने बाद उसी व्यक्ति के दूसरी व्याधि हुई वह भी ऐसी ही हो कि जिससे सीरम या वैक्सीन का प्रयोग किया जाय दैवयोग से दो महीने के अन्तर से उसी को तीसरी व्याधि हुई उसमे भी उपचार उसी प्रकार का हुआ इस तरह छ. मास के समय मे एक व्यक्ति के शरीर को तीन तरह के विष से विषाक्त बनाने का नम्बर आया। प्रत्येक रोग के लिए कृत्रिम रोग-क्षमता पैदा करने के लिए विभिन्न विष का प्रयोग किया गया उससे उत्पन्न हुई रोगक्षमता रोग निवारण के काम के साथ-साथ क्या अपनी तीव्र कृत्रिमशक्ति के कारण शरीर की स्वा० भाविक-शक्ति पर किसी प्रकार का दबाव नही डालेगी।

क्या इससे शरीर के आवश्यक अग-उपागो का कर्म व्यापार घटेगा बढेगा नही इस प्रक्रिया का प्रभाव ज्ञानवह-तन्तुओ तथा वातवहतन्तुओ पर कैसा होता है? जिनका कि शरीर की क्रिया शक्ति से विशेष सम्बन्ध है।

स्नायु-बन्धनो पर इसका क्या असर होता है? जिस पर शरीर की दृढता व स्थिरता अवलम्बित है।

ये तथा ऐसे और भी कई प्रश्न इस विषय मे उत्पन्न हो सकते हैं जिनका ठीक-ठीक समाधान भविष्य के गर्भ मे है।

इञ्जेक्शनो की तरह और भी व्यवहार मे आने वाली कई औषधियें हैं। जिनका रोग निवारण के अतिरिक्त शरीर पर क्या प्रभाव पडता है। इसका ठीक ठीक निश्चय नही हुवा है। जैसे साल्वरसन, टारटरेटड एण्टीमेनी, यूरोनाईनाइट्रास, क्लोराइन, ब्रोमाइड्, ब्रोमीन, आयो डीन, क्लोरोफार्मऔर एट्रोपाइन आदि……।

सक्षेप मे "वैज्ञानिक-चिकित्सा पद्धति" के क्रिया कर्म का विश्लेषण करें तो निम्नलिखित बातें सामने आवेंगी।

१. अधिकाश-चिकित्साक्रम तीव्रप्रतिरोध-मूलक है।
२. रोगोत्पति के बाद ही चिकित्सा का आरम्भ होता है।
३ एक रोग का सर्वत्र सर्वदा समान उपचार है।
४ औषधियो में उग्रवीर्य-औषध अधिक है।
५. इञ्जेक्शन व अनुभूत औषधियो का प्रयोग रोग हर परिणाम से भिन्न परिणाम के यथार्थ-निश्चय के बिना किया जाता है।
६. प्रत्येक रोग के लिये परिमित भेषज है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति

चिकित्सा का ध्येय और परिभाषा

अन्य शास्त्रो की तरह भारतीय आयुर्वेद का भी अपना विशेष ध्येय है। आयुर्वेदागम का अनुशीलन करने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता कि आयुर्वेद का निर्माण जनहित की एकान्त भावना से हुआ है।

आयुर्वेद-शब्द की निरुक्ति "आयुरस्मिन् विद्यते, अनेनवाऽऽयुर्विन्दति" से ही इनके निर्माण का मुख्य ध्येय प्रदर्शित हो जाता है। आयुर्वेद का उपदेश आयु ज्ञान के लिए है। आयु ज्ञान मे आयुर्वेद के तीनो स्कन्धो का उपदेश आ जाता है।

केवल रोगापहरण के लिए ही चिकित्सा-शास्त्र का निर्माण हुवा हो ऐसो बात नही चिकित्सात-शास्त्र निर्मित हुवा था स्वस्थ मनुष्य को रोगी न होने देने के लिए इसो से इसमे ऋतुचर्यादि द्वारा स्वस्थ-मनुष्य को स्वास्थ रक्षा के लिए किस प्रकार के आहार-विहार करने चाहिये। इसका विस्तृत उपदेश किया गया है।

स्वास्थ्य-रक्षा के नियमोल्लघन से किस प्रकार रोगोत्पत्ति होती है और कैसे उसका प्रत्याख्यान किया जा सकता है। इसका भी पूरा विवेचन आयुर्वेद मे हैं। रोग उत्पन्न न हो हुए हुए का प्रतिकार कैसे किया जाय उभयात्मक विवेचन का वर्णन करते हुए भी आयुर्वेद का आयुर्वेद का विशेष लक्ष्य स्वास्थ्य परायण ही है। जैसा कि चरकीय चकित्सा शब्द की परिभाषा से सम्यक् ज्ञात होता है—

> कथ शरीरे धातूना वैषम्यम् न भवेदिति।
> समानाञ्चानुबन्ध स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया॥

यह चिकित्सा लक्षण अग्निवेश के "का वा चिकित्सा भगवन्" इस प्रश्न के उत्तर मे उपदेश किया गया है। इस लक्षण मे आयुर्वेद के प्रयोजन को किस रूप मे स्पष्ट किया है। आचार्य शिष्य के प्रश्न का प्रत्युत्तर देते हैं कि शरीर मे किन साधनो से रहने पर धातु-वैषम्य नही होता, जो धातुसमस्थिति मे है उनका सतत अनुबन्ध कैसे बना रहे "इत्यर्थं क्रिया क्रियते" इस प्रयोजन सिद्धि के लिये ही क्रिया चिकित्सा की आवश्यकता है।

इस जगह क्रिया शब्द केवल रोग परिहार के उपक्रम को ही लक्ष्य मे रख कर प्रयुक्त नही किया गया है अपितु उसका प्रयोग है धातुसाम्य स्थिति को विशेष लक्ष मे रख कर क्योकि महर्षि को क्रिया शब्द मे प्रयोग मे यही अर्थ-विशेष अभिप्रेत है। जैसाकि "धातु साम्य क्रियाप्रोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्" से स्पष्ट है।

रोग-निवारण की अपेक्षा रोगी न होने देना अधिक आवश्यक है। यदि रोगी होने पर ही आयुर्वेदशास्त्र का उपयोग हो तो इसे "आयु शास्त्र" कहना कैसे सफल हो।

आयु के हित या आयु का सरक्षण तो वस्तुत· तभी होता है जब मनुष्य रोगी हो ही नही कारण रोग तो आयु-क्षय का प्रधान हेतु है। रोग तो होता रहे और उसके निवारणार्थ क्रिया का प्रयोग होता रहे तो इस उपक्रम से आयु सरक्षणरूप फल की सिद्धि कभी नही हो सकती। हित आयु और सुखायु की उपलब्धि तभी हो सकती है जब स्वस्थावस्था को उसी रूप मे सुरक्षित रखा जाय इसीसे आयुर्वेद शब्द की अन्वर्थ सज्ञा सफल हो सकी है। जैसाकि आयुर्वेदाभिधेय-प्रदर्शन से अभिव्यक्त होता है।

यथा—हिताहित सुख दुखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेद. स उच्यते ॥१॥

हित-अहित, सुख-दु ख से अन्वित आयु के हिताहित का तथा कालानुबन्धरूप आयु के परिमाए का यथोचित विवेचन ही आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन है। इस प्रयोजन की पूर्ति है स्वास्थ्य के आश्रित, स्वास्थ्य है धातुसाम्य स्थिति के आश्रित अत धातुसाम्यस्थिति को बनाये रखना आयुर्वेद शास्त्र सिद्धान्त से क्रिया शब्द की यही वास्तविक परिभाषा है।

चिकित्सा के सिद्धान्त—

उपरोक्त क्रिया शब्द की परिभाषा से क्रिया के प्रयोग की दो परिस्थितियें हमारे सागने आती हैं पहली स्वस्थावस्था मे दूसरी आतुरावस्था में।

स्वस्थावस्था मे दिनचर्यादि रात्रिचर्या ऋतुचर्यादि मे विहित आहाराचारादिका समुचित प्रयोग करना 'क्रिया' शब्दवाच्य है। इसी मे रसायन बाजीकरण प्रयोगो का समावेश हो जाता है कारण साम्यावस्था को सुस्थिर रखने के लिये ही इनके प्रयोगो की आवश्यकता होती है।

आतुरावस्था मे क्रिया का प्रयोग रोग की विभिन्न-विभिन्न परिस्थितयो के आश्रित हैं। जैसा रोग होगा तदनुरूप ही उसका क्रिया कर्म निर्धारित करना होगा। स्वस्थातुर (उभयात्मक) अवस्था मे प्रयुक्त किये जाने वाले क्रिया-कर्म का मूल-सिद्धान्त एक ही है "धातुसाम्य"। स्वस्थ के दोषसाम्य को सुरक्षित रखने के लिये विशेष क्रिया कर्म की आवश्यकता है। आतुर के दोष-वैषम्य को समस्थिति मे लाने के लिये चिकित्सा का प्रयोग है।

दोनो स्थितियो मे चिकित्सा करने का कारण व परिणाम समान है और वह है "धातुसाम्य"।

चरक ने धातु शब्द का प्रयोग किया है वह वात, पित्त, कफ को अविकृतावस्था मे देहधारक होने के कारण धातु शब्द से व्यवहार किया है। वैसे धातुशब्द का सामान्य प्रयोग रसादि धातुओ केलिये होता है। अत. दोषो के लिये धातु शब्द के प्रयोग मे सामान्य विशेष अर्थ ज्ञान बिना भ्रान्ति न हो जाय तदर्थ हृदयकार ने धातु शब्द के स्थान पर दोष शब्द का ही प्रयोग किया है। यथा—"रोगस्तु दोषवैषम्य दोष साम्यमरोगता"।

वैसे दोषो के लिए धातुशब्द का प्रयोग सग्रहकार ने भी किया है। यथा—

> अतश्च दोषा देहस्य स्थिरी कारणात् स्थूणा इत्युच्यन्ते।
> धारणादधातव । मलिनीकरणा दाहार मलत्वच्च मला ।
> दूषण स्वभावाद्दोषा इति।

कार्यं भेद से दोषो की दोष मल तथा धातु स्थूणादि सज्ञायें हैं। चिकित्सा मे मुख्य आधार ये दोष ही हैं। कारण अशेष रोगोत्पत्ति का मूल आयुर्वेद मे इन्ही को माना गया है पीछे के प्रकरण मे इसका विवेचन आ चुका है।

दोषो की विकृति के अनन्त हेतु हैं आहार-विहार के नानात्व का कोई अन्त नही है। देश, काल, प्रकृति, अनल, वय आदि से व्यक्तियो की अपनी अनन्तायें हैं। दूष्य रसादि धातु, स्तन्यादिउपधातु, विट्मूत्र स्वेदादि मल, इनके सयोग इस तरह दोषविकृति के कारण और रूपका विश्लेषण करना चाहें तो किसी भी तरह सभव नही है। हाँ इन अनन्त-हेतुओ तथा तज्जन्य परिणामो की ओर ध्यान दिया जाय तो रास्ता निकल आता है। आचार्यो ने इसी दृष्टि से अशेष-दोष-प्रकोप के हेतुओ को "निजागन्तु" भेद से दो वर्गो मे बाँट लिया है। हेतुओ के परिणाम को भी इसी तरह वृद्धि तथा क्षय-रूप दो अवस्थाओ मे विभाजित कर लिया है।

रोग चाहे जिस हेतु से, चाहे जिस दोष दूष्य विकृति से चाहे जिस अवयव विशेष मे आश्रय ग्रहण करें किन्तु वात, पित्त श्लेष्मा के अनुबन्ध से रहित नही हो सकता। रोगोत्पत्ति व रोगस्थिति में दोषो की यह प्रधानता आयुर्वेद मे सर्वत्र स्वीकार की गई है। अतः चिकित्सा मे भी इन्ही का प्रधान माना गया है। चिकित्सा करनो है रोग की—रोग मे प्रधानता हैं दो स्थितियो की—१. रोगात्पादक हेतु,

२. हेतुजन्यदोष विकृति से रोगाभिव्यक्ति।

इन्ही की प्रधानता को ध्यान मे रख चिकित्सा की तीन प्रणालियें निश्चित की गई हैं उनकी सज्ञा हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा, व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा, हेतुव्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा।

आभ्यन्तर दोष दूष्यादि-बाह्य हेतुमिथ्याहार विहारादि इन उभयात्मक-हेतुओ पर जिन औषधियो का प्रभाव पडे वह हेतु-प्रत्यनीक-भेषज शब्द मे वाच्य है।

विविध दोषदूष्य-सम्बन्ध से उत्पन्न व्याधि मे दोष विशेष की अनुकूलता के बिना रोग की सभी स्थितियो मे जिन औषधियों का व्याधि निवारक-परिणाम सामने आता है वे भेषज व्याधि-प्रत्यनीक हैं।

हेतु और व्याधि उभय पर जिनका परिणाम फल एकसा होता है वह भेषज "हेतुव्याधि-प्रत्यनीक" शब्द से सम्बोधित होती है।

आयु के हित या आयु का सरक्षण तो वस्तुत. तभी होता है जब मनुष्य रोगी हो ही नही कारण रोग तो आयु-क्षय का प्रधान हेतु है। रोग तो होता रहे और उसके निवारणार्थ क्रिया का प्रयोग होता रहे तो इस उपक्रम से आयु सरक्षणरूप फल की सिद्धि कभी नही हो सकती। हित आयु और सुखायु की उपलब्धि तभी हो सकती है जब स्वस्थावस्था को उसी रूप मे सुरक्षित रखा जाय इसीसे आयुर्वेद शब्द की अन्वर्थ सज्ञा सफल हो सकी है। जैसाकि आयुर्वेदाभिधेय-प्रदर्शन से अभिव्यक्त होता है।

यथा—हिताहितं सुख दुखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेद. स उच्यते ॥१॥

हित-अहित, सुख-दु ख से अन्वित आयु के हिताहित का तथा कालानुबन्धरूप आयु के परिमाण का यथोचित विवेचन ही आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन है। इस प्रयोजन की पूर्ति है स्वास्थ्य के आश्रित, स्वास्थ्य है धातुसाम्य स्थिति के आश्रित अत. धातुसाम्यस्थिति को बनाये रखना आयुर्वेद शास्त्र सिद्धान्त से क्रिया शब्द की यही वास्तविक परिभाषा है।

चिकित्सा के सिद्धान्त—

उपरोक्त क्रिया शब्द की परिभाषा से क्रिया के प्रयोग की दो परिस्थितियें हमारे सामने आती हैं पहली स्वस्थावस्था मे दूसरी आतुरावस्था मे।

स्वस्थावस्था मे दिनचर्यादि रात्रिचर्या ऋतुचर्यादि मे विहित आहाराचारादिका समुचित प्रयोग करना 'क्रिया' शब्दवाच्य है। इसी मे रसायन बाजीकरण प्रयोगो का समावेश हो जाता है कारण साम्यावस्था को सुस्थिर रखने के लिये ही इनके प्रयोगो की आवश्यकता होती है।

आतुरावस्था मे क्रिया का प्रयोग रोग की विभिन्न-विभिन्न परिस्थितयो के आश्रित हैं। जैसा रोग होगा तदनुरूप ही उसका क्रिया कर्म निर्धारित करना होगा। स्वस्थातुर (उभयात्मक) अवस्था मे प्रयुक्त किये जाने वाले क्रिया-कर्म का मूल-सिद्धान्त एक ही है "धातुसाम्य"। स्वस्थ के दोषसाम्य को सुरक्षित रखने के लिये विशेष क्रिया कर्म की आवश्यकता है। आतुर के दोष-वैषम्य को समस्थिति मे लाने के लिये चिकित्सा का प्रयोग है।

दोनो स्थितियो मे चिकित्सा करने का कारण व परिणाम समान है और वह है "धातुसाम्य"।

चरक ने धातु शब्द का प्रयोग किया है वह वात, पित्त, कफ को अविकृतावस्था मे देहधारक होने के कारण धातु शब्द से व्यवहार किया है। वैसे धातुशब्द का सामान्य प्रयोग रसादि धातुओ केलिये होता है। अत दोषो के लिये धातु शब्द के प्रयोग मे सामान्य विशेष अर्थ ज्ञान विना भ्रान्ति न हो जाय तदर्थ हृदयकार ने धातु शब्द के स्थान पर दोष शब्द का ही प्रयोग किया है। यथा—"रोगस्तु दोषवैषम्य दोष साम्यमरोगता"।

चिकित्सा की इन तीनो प्रणालियो मे "दोष साम्यता के सिद्धान्त को नही भुलाया जाता है। कारण चिकित्सा का मुख्य अभिध्येय यही है। जैसा कि म० चरक ने निर्देश किया है—

याभि क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समा।
सा चिकित्सा विकाराणा कर्म तद भिषजा मतम् ॥१॥

अर्थ स्पष्ट है जिस क्रिया से जिस चिकित्सा कर्म से शरीर के धातुवो की साम्यावस्था हो वही विकारो की वस्तुत चिकित्सा है। इस कार्य की पूर्ति करना यह वैद्य का कर्त्तव्य है।

इस निर्देश से उपरोक्त भाव की पूरी पुष्टि होती है। क्रिया चाहे जिस रूप की का प्रयोग किया जाय उसका परिणाम-धातुसाम्य-रूपका होना चाहिये आयुर्वेद-सिद्धान्त से तभी रोग-निवृत्ति मानी जायगी। यदि क्रिया का परिणाण धातु-साम्यन न हुवा तो वस्तुत रोग-निवृत्ति न होगी।

आजकल ऐसो क्रियायें भी अत्यधिक-रूप से प्रचलित है जो या तो रोग के अश को दवा देती हैं या शरीर मे ऐसो उत्तेजना पैदा कर दी जाती है जिससे रोग की प्रतीति नही होती। उसके प्रचलित उदाहरण सामने देखने मे आते ही हैं जैसे—उदरशूल मे अफीम का इञ्जेक्शन शिर शूल मे ऐस्प्रीन की गोली ज्ञानवहस्रोतो की व्याधियो मे ब्रोमाइड् का प्रयोग इनसे धातु-साम्य कभी उत्पन्न नही होता है इस प्रकार की क्रिया को आयुर्वेद चिकित्सा-शब्द से व्यवहार करता। जैसा कि स्पष्ट प्रवचन है—

याह्युदीर्णं शमयति नान्य व्याधि करोति च।
सा क्रिया—नतु या व्याधि हरत्यन्यमुदीरयेत् ॥

जो उदीर्ण दोषो की विकृति का प्रत्याख्यान करे दूसरी किसी व्याधियोके पैदा करने का सामान एकत्रित न करे वही सच्ची चिकित्सा है जिससे एक व्याधि का तो प्रशमनसा दिखाई दे पर साथ ही दूसरी व्याधि का अकुर अकुरित हो तो वह चिकित्सा नही कही जा सकती।

एस्प्रीन, अफीम और ब्रोमाइड् अवयव-विशेषो की क्रिया को किस प्रकार शिथिल कर देते है यह बताने की आवश्यकता नही। इसी से आयुर्वेद ने रोग-निवृत्ति या रोग रुकने को चिकित्सा का फल न बता कर धातु-साम्य को चिकित्सा का फल बतलाया है।

इसी बात का पोषण चरक ने पुन इन शब्दो द्वारा किया है—

चतुर्णां भिषगादीना शस्तानां धातुवैकृते।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥

रोगी, परिचारक, वैद्य और भेषज ये चार चिकित्सा के पद माने गये हैं प्रत्येक पाद के चार-चार प्रधान गुण माने हैं इस तरह आयुर्वेदोक्त चिकित्सा षोडश-सम्पद्-युक्त है। इसका

धातुनिवृत्ति मे धातु-साम्यार्थं प्रयोग ही (चिकित्सा) है। इसी भाव का समर्थन "वृद्धजीव-कीय तन्त्रकार" काश्यप इन शब्दो से करते है—

समानां रक्षणं कुर्यात् दोषादीनां विचक्षण ।
कुपितानां प्रशमन क्षीणानामभिवर्धनम् ॥
क्षपणञ्चैव वृद्धानां मेतावद्धि चिकित्सितम् ॥

समान दोषो को समस्थिति मे बनाये रखना क्षीणो को विवर्द्धित बढे हुयो को समस्थिति मे लाना इसी का नाम चिकित्सा है।

सक्षेप मे कहें तो आयुर्वेदिक-चिकित्सा का मूल-सिद्धान्त है 'धातु साम्य" चिकित्सा के जितने भी प्रकार हैं उन सबका अन्तिम लक्ष्य यही है।

रोगातुर परीक्षा—

रोगमादौ परीक्षेत तदनन्तर भेषजम् ।
तत कर्म भिषक् पश्चात् ज्ञान पूर्वं समाचरेत् ॥

वैसे चिकित्सा स्वस्थातुर-परायण है पर स्वस्थ-पुरुष की विशेष परीक्षा करने की आवश्यकता नही है उसका निश्चय तो समदोष समाग्निश्च समधातु मल क्रियः।" इत्यादि स्वास्थ्य लक्षण से करलें।

चिकित्सा का आतुर के लिये उपयोग किया जाय वहाँ आतुर की विशेष तरीके से परीक्षा करनी आवश्यक है। "आयुर्वेद" त्रिस्कन्धात्मक है हेतुस्कन्ध, लक्षणस्कन्ध और औषध-स्कन्ध।

चिकित्सा की सफलता तथा विफलता का आधार इन तीनो स्कन्धो का साधर्म्य, वैधर्म्य ज्ञान है। हेतु और लक्षण स्कन्ध का सम्बन्ध आतुर से है। हेतुस्कन्ध मे वाह्याभ्यन्तर सभी कारणो का समावेश है। उनका कुछ विवरण पीछे आ चुका है सक्षेप से हृदयकार के ये दो श्लोक हैं इनमे हेतुस्कध तथा लक्षण-स्कन्ध का सभी परीक्ष्य-विषय आ जाता है—

यथा—दूष्य देश बल कालमनल प्रकृति वय ।
सत्व सात्म्य तथाऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधा. ॥
सूक्ष्मसूक्ष्मा समीक्ष्यैषां दोषौषध निरूपणे: ।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित् ॥

दूष्य से अभिप्राय वातादि दोषत्रय को छोड शरीर के अन्य समस्त भावो से है उनमे रसादि धातु स्तन्यादि उपधातु मल, मूत्र स्वेदादि, हृदयादि यन्त्र विशेष उनका आवश्यक कर्म, उदक, श्वास, रक्त, लसीका, वातवहस्रोत, शरीर के अग उपाग मर्मत्वक् आदि सब का समा-वेश है।

देश—जागल-आनूप-साधारण तथा आतुर शरीर—

बल—सहज-कालज-युक्तिकृत् ।

काल—अयन भेद से, ऋतुभेद से, आदानविसर्ग भेद से, मास, पक्ष, दिवस, प्रहर, मुहूर्तादि भेद से ।

प्रकृति—चतुर्विध प्रकृति, सप्तविध प्रकृति ।

वय—वाल्यादि भेद से ।

सत्व—मनोबल प्रवर, मध्य अवर भेद से ।

सात्म्य—अपने अनुकूल पडने वाला आहार-विहार ।

आहार—परिमाण, वय परिणमनादि स्थिति ।

अवस्था—रोग की चय प्रकोपादि आम पक्वादि इन सबका यथार्थ ज्ञान हो जाय फिर यदि औषध का तदनुरूप निश्चय कर प्रयोग करे तो चिकित्सा कभी विफल नही हो सकती ।

म० चरक रोग भिषगजितीय विमान मे इन दश को विशेष परीक्षा भी निर्येश करते हैं । वे दश १. करण २. कारण ३. कार्ययोनि ४. कार्य ५. कार्यफल ६ अनुबन्ध ७. देश ८. काल ९. प्रवृत्ति और १० उपाय । इनका सबका विशद वर्णन वही देखिये ।

मैं इनमे से देश परीक्षा के एक अग आतुर शरीर के परीक्षण का अवतरण इसलिए दे रहा हूँ कि आतुर शरीर की परीक्षा का यह रूप कैसा है इस पर हमारा ध्यान जा सके ।

(च०) तस्मादातुर परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च सारतश्च सहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चेति । बल प्रमाण विशेष ग्रहणहेतो ।

आतुर की यह परीक्षा उसकी शारीरिक स्थिति को ठीक ठीक समझने के लिये हैं ।

पहिला परीक्षण रोगी की प्रकृति का है । प्रकृति में शुक्रशोणित, गर्भकाल, महाभूत विकार तथा आहारविहारादि भावो से है । दोषभेद से वातादि सप्त प्रकृति हैं वे भी इसमें सम्मिलित हैं । विकृति इसमे हेतु, दोष, दूष्य, देश, काल बलादि उपरोक्त हृदयकारके सभी भावो का समावेश है ।

सार—त्वक्, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि, शुक्र तथा सत्व ये आठ तरह के हैं ।

सहनन—(शारीरिक गठन) सुविभक्त अस्थि, मास, सुबद्धसन्धि, सुनिविष्ट-मास, शोणित ।

प्रमाण—शरीर का कौनसा अवयव कितना लम्बा, कितना चौडा और कितना मोटा होना चाहिए । नख से शिखा पर्यन्त सब अगो का उत्सेध विस्तार तथा आयाम इसमे निर्देष है ।

कालजबल

तीनो दोषो की समता, तेरह अग्नियो की समता, सातो धातुओ की क्रिया की समता, सातो मलो की क्रिया की समता, प्रसन्न आत्मा, प्रसन्न इन्द्रिय, प्रसन्न मन

सात्म्य—घृत तैल क्षीरादि मधुराम्लरसादि, धान्य, गोधूम टिलादि, भक्ष्य भोज्यादि आहार मे किस मनुष्य को कौनसी वस्तुयें अनुकूल हैं। इसका निश्चय सात्म्य से होता है।

सत्व—मनोबल त्रिविध रूप का

आहार-शक्ति—मे मात्रा तथा उसकी परिणमन सामर्थ्य।

व्यायाम शक्ति—श्रमशीलता प्रवर मध्य अवर भेद से।

आयु—बाल, मध्यजीर्ण भेद से।

आतुर के इस उभयात्मक-परीक्षण शैली से क्या ? हमे यह प्रतीत नही हो सकता कि आयुर्वेदिक-चिकित्सा शैली है तो किसी सिद्धात के आश्रित।

क्या ? उपराक्त परीक्षण विधि से आतुर की परीक्षा आज के इस यान्त्रिक-युग मे कुछ आगे बढी है इस प्रश्न का उत्तर विचारशील-व्यक्ति स्वय ही अपने आप अपने विचार से निश्चित कर लेंगे।

दर्शन स्पर्शन प्रश्नै सपरीक्षेत रोगिणम्।

दर्शन, स्पर्शन और प्रश्नो से रोगी की परीक्षा करनी यह सामान्य सिद्धान्त है इसमे रोगी की आकृति रोगस्थान, जिह्वा-नेत्र, शरीर का वर्ण, निस्सरण होने वाले दोषो का वर्ण, मल, मूत्र, नाड़ी, हृदय की गति, श्वासगति, निद्रा, वेदना विशेष, पुप्फुस, आमाशय, मलाशयादिको की किया व उपरोक्त भावो का परीक्षण करना सब आ जाते हैं। यह ठीक है कि आज ऐक्सरे के प्रयोग से भीतरी अवयम विकृति का भी कुछ पता लग जाता है। यह आधुनिक परीक्षण-प्रणाली की विशेषता है।

मल, मूत्र, रक्त परीक्षा मे भी आज की पद्धति ने विशेष उन्नति की है। वैसी मूलभूत कारणो की परीक्षा मे उपेक्षा है। वहाँ रोग कारण की भिन्न सत्ता के कारण प्रमुख हेतुओ को हेतु रूप से जानने की अभी जरूरत ही प्रतीत नही हुई है।

आयुर्वेद में मूलभूत-हेतुओ के परीक्षण पर ही अधिक वल दिया गया है और यही कारण है कि आयुर्वेद इसी एक निश्चित सिद्धान्त के कारण सहायी-उपकरण मन्द होते हुए भी चिकित्सा-क्षेत्र मे कभी विफल नही होता।

रोगातुर परीक्षण का उपरोक्त निर्देश सामान्य सिद्धान्तो का है रोग-विशेप मे विशेष-परीक्षण की आवश्यकता है वह प्रतिरोग मे साध्यासाध्यादि लक्षणो के साथ निर्दिष्ट की गई है।

सात्म्य—घृत तैल क्षीरादि मधुराम्लरसादि, धान्य, गोधूम द्विलादि, भक्ष्य भोज्यादि आहार मे किस मनुष्य को कौनसी वस्तुयें अनुकूल हैं। इसका निश्चय सात्म्य से होता है।

सत्व—मनोवल त्रिविध रूप का

आहार-शक्ति—मे मात्रा तथा उसकी परिणमन सामर्थ्य।

व्यायाम शक्ति—श्रमशीलता प्रवर मध्य अवर भेद से।

आयु—बाल, मध्यजीर्ण भेद से।

आतुर के इस उभयात्मक-परीक्षण शैली से क्या ? हमे यह प्रतीत नही हो सकता कि आयुर्वेदिक-चिकित्सा शैली है तो किसी सिद्धात के आश्रित।

क्या ? उपरोक्त परीक्षण विधि से आतुर की परीक्षा आज के इस यान्त्रिक-युग मे कुछ आगे बढी है इस प्रश्न का उत्तर विचारशील-व्यक्ति स्वय ही अपने आप अपने विचार से निश्चित कर लेगे।

दर्शन स्पर्शन प्रश्नै सपरीक्षेत रोगिणम्।

दर्शन, स्पर्शन और प्रश्नो से रोगी की परीक्षा करनी यह सामान्य सिद्धान्त है इसमे रोगी की आकृति रोगस्थान, जिह्वा-नेत्र, शरीर का वर्ण, निस्सरण होने वाले दोषो का वर्ण, मल, मूत्र, नाड़ी, हृदय की गति, श्वासगति, निद्रा, वेदना विशेष, पुप्फुस, आमाशय, मलाशयादिको की क्रिया व उपरोक्त भावो का परीक्षण करना सब आ जाते हैं। यह ठीक है कि आज ऐक्सरे के प्रयोग से भीतरी अवयम विकृति का भी कुछ पता लग जाता है। यह आधुनिक परीक्षण-प्रणाली की विशेषता है।

मल, मूत्र, रक्त परीक्षा मे भी आज की पद्धति ने विशेष उन्नति की है। वैसी मूलभूत कारणो की परीक्षा मे उपेक्षा है। वहाँ रोग कारण की भिन्न सत्ता के कारण प्रमुख हेतुओ को हेतु रूप से जानने की अभी जरूरत ही प्रतीत नही हुई है।

आयुर्वेद मे मूलभूत-हेतुओ के परीक्षण पर ही अधिक बल दिया गया है और यही कारण है कि आयुर्वेद इसी एक निश्चित सिद्धान्त के कारण सहायी-उपकरण मन्द होते हुए भी चिकित्सा-क्षेत्र मे कभी विफल नही होता।

रोगातुर परीक्षण का उपरोक्त निर्देश सामान्य सिद्धान्तो का है रोग-विशेष मे विशेष-परीक्षण की आवश्यकता है वह प्रतिरोग मे साध्यासाध्यादि लक्षणो के साथ निर्दिष्ट की गई है।

चिकित्सा

रोगी रोग तथा तदनुरूप भेषज का निश्चय कर लेने पर चिकित्सा का आरम्भ होता है।

चिकित्सा के आरम्भ करते ही जिन कारणो से रोगोत्पत्ति हुई है उन कारणो का बन्द कर देना अत्यन्त आवश्यक है। चिकित्सा की यह पहली सीढी है, जैसा कि आचार्य निर्देश करते हैं :

"सक्षेपत क्रियायोगो निदान परिवर्जनम्" ॥

निदान परिवर्जन रोगो के चालू हेतुओ को रोक देना, उनका शरीर से सम्बन्ध न रहने देना "सक्षेप मे यही" क्रिया योग, अर्थात् चिकित्सा क्रम है।

इस निर्देश का यह प्रयोजन है कि रोग चाहे जैसे (निजागन्तु) हेतुओ से हुवा हो रोगोत्पत्ति मे आहार-विहार की गफलत का पूरा हाथ रहता है। रोग को अवस्था मे भी वह असावधानी प्रचलित रहे तो जितनी औषध देते जाइए रोग-निवारण रूप फलोत्पत्ति नही हो सकती।

इसलिए भारतीय चिकित्सा पद्धति मे उचित आहार-विहार यानी पथ्यचर्या पर अत्यन्त बल दिया गया है। प्रत्येक रोग मे पथ्यापथ्य की पूरी सावधानी रखने की आवश्यकता है। इसका न तो यह ही अभिप्राय है कि रोगी को सब कुछ बन्द सा कर दिया जाय न यही कि वह चाहे जैसा खान-पान करता रहे। जैसा रोग हो रोग का जिस अवयव विशेष से सम्बन्ध हो, रोग मे जिस दोष की प्रधानता हो उन सबका ध्यान रख कर निदान-परिवर्जन के साथ चिकित्सा का आरम्भ किया जाय।

निदान परिवर्जन के साथ भेषज प्रयोग करना है। वह भेषज भी उसी दोष-सिद्धान्त के आधार पर प्रयुक्त करना चाहिए, जिसको कि रोगोत्पत्ति मे प्रधानता दी गई है।

रोगोत्पत्ति है दोषो की, क्षय-वृद्धि की अत चिकित्सा करनी है वृद्धि तथा क्षय के निवृत्ति की—वृद्धि का निवारण क्षय से, क्षय का निवारण वृद्धि से होता है। अत वृद्ध क्षय निवारण के लिए लघन वृ हण यही प्रमुख उपचार, यही प्रमुख भेषज है जैसा कि आचार्य निर्देश करते हैं—

उपक्रमस्य हि द्वित्वाद्द्विधैवोपक्रमो मत ।
एक सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पण ॥१॥
वृ हणोलघनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतो ।

उपक्रम चिकित्सा—वह सक्षेप मे दो तरह की हो हो सक्ती है। अत उसे सन्तर्पण तथा अपतर्पण ये दो सज्ञायें की गई हैं। इनके पर्याय शब्द वृ हण लघन भी हैं। चिकित्सा

के ये दो प्रकार परिणाम भेद से है, नाम, रूप, गुण, योनि भेद से औषधियें अनन्त हैं पर शरीर मे उनका प्रयोग करने पर उनका परिणाम होगा वह इन सतर्पण अपतर्पण-रूप में ही होगा-इसलिए जाति, रूप, गुणादि भेद से अनन्त औषधिये फलि विशेष की जनक होने के कारण फलानु रूप उपरोक्त दो भागो मे विभाजित करली गई है—

ससार मे आज तक उपलब्ध तथा प्रयुक्त की जाने वाली औषधिये अनन्त हैं और अनन्त रूप मे ही उनका प्रयोग होता है तथा होगा। पर हेतु विपरीत तथा हेतु व्याधि उभय विपरीतार्थकारी-परिणाम-जनक होने से (क्षयज रोगो मे सन्तर्पण वृद्धिजन्य रोगो मे अपतर्पण) सबकी सब सन्तर्पण या अपतर्पणभेषज हैं।

सन्तर्पण तथा अपतर्पण का सक्षेप मे अर्थ क्या ? है वह आचार्य ही के शब्दो मे सुनिये।

बृहणयद्‌बृहत्त्वाय लघनलाघवाययत्।
देहस्य भवत प्राणो भौमापमितरच्च ते ॥१॥

शरीर की वृद्धि जिससे हो वह बृहण है। जिनके उपयोग से शरीर का उपचय या वजन कम हो वह लघन है। पार्थिव व उपभूत प्रधान भेषज-द्रव्य हैं वे बृहणकारक है—ख, वायु, अग्नि तत्व प्रधान भेषज-द्रव्य है वे (अपतर्पण) लघन कमी करने वाले हैं।

महर्षि चरक ने लघन, बृहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन स्तम्भन इस तरह छः प्रकार के भेपज द्रव्यो का निर्देश किया है। वह निर्देश चिकित्सा विशेष की स्थिति को ध्यान मे रख कर किया गया है। सिद्धान्त रूप से यदि देखें तो रूक्षण और स्वेदन दोनो ह्रासोत्पादक होने के कारण लघन ही के अग हैं। इसी तरह स्नेहन और स्तम्भन हैं वे वृद्धि के कारण हैं। अतः उनका समावेश बृहण मे हो ही जाता है। इसी से सग्रहकार ने लिखा है—

"स्नेहन रूक्षण कर्म स्वेदनस्तम्भनचयत्।
भूताना तच्च द्वैविध्यात् द्वितयनातिवर्तते।"

अर्थ वही है जो ऊपर लिखा गया है।

चिकित्सा के इसी मूल सूत्र को म० काश्यप इन शब्दो मे अभिव्यक्त करते हैं।

"कुपिताना प्रशमन क्षीणानामभिवर्धनम्।
क्षपणचैव वृद्धानामेतावद्धि चिकित्सितम् ॥"

स्वस्थान मे सामान्य प्रकुपित दोष का प्रशमन—स्वस्थान मे विशेष विवर्द्धित व स्थानान्तर मे गये हुए दोषो का क्षपणक्षीण हुए दोषो का अभिवर्धन इसी का नाम चिकित्सा है। शब्द-भेद के अतिरिक्त मूल अभिप्राय एक ही है। उपरोक्त निरूपण से यह सिद्ध हुआ कि आयुर्वेद दोष-भेद से उत्पन्न अशेष रोगो को सन्तर्पण तथा अपतर्पणमूलक मानते हुए उनकी बृहण लघन रूप चिकित्सा करने का उपदेश देता है। उसका चिकित्सा के लिए यही सामान्य सिद्धान्त है।

अपतर्पण-भेषज द्रव्य नाम, रूप, गुण, योनिभेद से अनन्त होते हुए भी रोगोत्पादक प्रमुख हेतु वातादि दोषो पर प्रभाव भेद से वह शोधन शमन रूप दो भेदो से प्रयुक्त होता है।

जिस रोग मे दोष स्वकीयस्वरूप परिणाम से अत्यन्त अधिक मात्रा मे बढे हुए हैं वैसे दोषो को शरीर से बाहर निकालने के लिए भेषज का प्रयोग होगा वह (शोधन) शब्द से सम्बोधित की जाएगी।

जिस रोग मे दोष अल्प प्रमाण मे बढे हो उनको वही अपने उचित प्रमाण मे लाने के उपचार का नाम (शमन भेषज) है। अभिप्राय यह हुआ कि अपतर्पण भेषज की प्रयोग भिन्नता को लेकर पुनः शोधन शमन रूप दो सज्ञायें की गई हैं। जैसा कि सग्रहकार निर्देश करते है।

"शोधन शमनञ्चेति द्विधा तत्रापि लघनम्।
यदीरयेत् वहिर्दोषान पञ्चधाशोधनञ्चतत् ॥१॥

लघन (अपतर्पण) भेषज के शोधन शमन दो भेद हैं जो सचित, विवर्द्धित दोषो को शरीर से बाहर निकाल देने का काम करे वह शोधन भेषज है। उसके भी पाच प्रकार और हैं। वे हैं—"निरूहो वमन कायशिरोरेकोऽस्र विस्रुति.।" निरूह, वमन, शिरोविरेचन, काय विरेचन और रक्त मोक्षण।

शमन

"न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समी करो तिविषमान् शमन ·······॥

जो भेषज-द्रव्य सचित-प्रकुपित दोषो को बाहर निकाले नही, समस्थिति दोषो को घटावे बढावे नही, विषम स्थिति (यानी सामान्य वृद्धि क्षयावस्था वाले) दोषो को समस्थिति मे ले आए वे शमन-भेषज हैं।

तच्च सप्तधा—

पाचन दीपन क्षुत् तृट्-व्यायामातप-मारुता।
वृहण शमनन्त्वेव वायो. पित्तानिलस्य च ॥१॥

वह शमन-भेषज सात प्रकार का है। पाचन, दीपन, क्षुत्, प्यास, व्यायाम, आतप, मारुत।

रोगो की परिस्थिति के अनुसार लघन-भेपज के इन बारह प्रकारो का प्रयोग होता है।

अवयव-विशेष के आश्रित दोषो को निकालने के लिए या लेखन के लिए, धूम, कवलग्रह अजन, आश्च्योतनादि का प्रयोग, वृणाश्रितपूय वा मूढगर्भादि विविध शल्यो के निर्हरण के

लिए, छेदन-भेदन, लेखन, व्यधादिशस्त्रकर्म का प्रयोग इन सबको सचित-दोप निष्कासन का कार्य करने के कारण (शोधन) भेपज कहा जा सकता है।

इसी तरह रोग-विशेप की परिस्थिति के विचार से प्रयुक्त पाचन, दीपन, व्यायाम, उपवास, आतप मारुतादि शोथ-शान्ति के लिए प्रयुक्त निर्वापण, विम्लापन उपलेपादि तथा प्रायोगिक घूम, नस्य, गण्डूप, कवलग्रह, अञ्जन, आश्च्योतन, आलेप स्नानादि-दोपो को समान स्थिति मे लाने का एक परिणाम पैदा करने वाले होने से सब "शमन" भेपज कहे जा सकते हैं।

अपतर्पण के इन द्विविध-भेदो की तरह सन्तर्पण-भेपज भी वल्य, बृंहणादि गण भेद से असगन्ध शतावरी, वला, क्षीर काकोली आदि व्यक्ति भेद से, मास रस दुग्धादि योनि भेद से, अनुवासन, बृंहण रूप वस्तिकर्म, स्नान, अभ्यग, गण्डूप, अजनादि कर्म भेद से अनेक प्रकार के होते हुए दुर्बल व क्षीण हुए शरीर व शरीरस्थ अवयवो को पोपण व सवल करने वाले एव परिणाम के कारण सबकी सब (बृंहण) भेपज कही जाती है। दौर्बल्य व क्षयावस्था का प्रत्याख्यान न करने के कारण न्यून हुए धातुओं को उचित उचित परिमाण मे लाने के कारण इनको "शमन" भी कहते हैं।

इस तरह सन्तर्पण अर्थात् बृंहण को तथा अपतर्पण के शमन-अग को शमन भेपज व अपतर्पण के शोधन-अग को शोधन-भेषज के नाम से व्यवहृत कर "शोधन शमनञ्चेति समासादौषध द्विधा" कहा गया है।

ये सब शोधन, शमन या बृंहण लघन भेषज विपरीत, विपरीतगुण, विपरीतगुण भूयिष्ठता, व विपरीत प्रभावोत्पादकता को ध्यान मे रख रोगोत्पादक हेतु-निवृत्ति के लिए न रोग-निवृत्ति या उभय-निवृत्ति के लिए प्रयुक्त किए जाने पर अपने भेषजत्व परिणाम को सफल बनाने मे देश, काल, मात्रादि सहायक कारणो की पूरी पूरी अपेक्षा रखती है। बिना इन सहायी कारणो के ये भेषज द्रव्य अपने पूर्ण परिणाम को सफल नही कर सकते जैसा कि आचार्य निर्देश करते हैं।

विपरीत गुणैर्देश मात्रा कालोपपादितैः ॥
भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकाराः साध्य समता. ॥१॥

अभिप्राय स्पष्ट है विपरीत वा विपरीतार्थकारी गुण, धर्म, वाली भेषज का देश काल मात्रा का ध्यान रख साध्य-रोगो पर प्रयोग करने से रोग अवश्य निवृत्त हो जाते हैं।

उपरोक्त औषध-द्रव्य जाति भेद, जगम, औद्भिद, पार्थिव आयुर्वेद में व्यवहृत किए गए हैं।

प्राणियो से प्राप्त कर या प्राणियो के शारीरिक व आवयविक भाग जिनका कि रोग

विशेष मे प्रयोग किया जाता है वे सब जगम-भेषज हैं। जैसे मधु, घृत, दुग्ध, दधि, मूत्र, विड्, नख, दन्त, खुर, चर्म, शृग, केश, रोम, रोचन, पित्त, वसा, मज्जा, रुधिर, मास, रेत, अस्थि, स्नायु आदि।

पृथ्वी को भेदन कर उत्पन्न होने वाले द्रव्यो को (औद्‌भिद) कहते हैं ये चार प्रकार के हैं। पहिले विना फूल आये फल देने वाले वट, पीपल, उदुम्बरादि वृक्ष विशेष जिनको सज्ञा (वनस्पति) है। दूसरे वे जो फूल देकर पश्चात् फल देते है, जैसे — आम्र, कदली, जम्बीर, लकुचादि इनकी सज्ञा (वानस्पत्य) है। तीसरे वे जो फल पकने पर स्वय समाप्त हो जाते हैं। जैसे, गेहूँ, धान, मोठ मूँग, बाजरा आदि इनकी सज्ञा (औषध) है। चौथे वे जिनके प्रतान चलते हैं जिनका प्रसार भूमि पर ही होता है, जैसे, कटेली, गोखरू, शखपुष्पी आदि इनकी सज्ञा (विरुध) है।

उपरोक्त चतुर्विध औदिभद्-भेषज जिनके मूल, त्वक्, सार, निर्यास, नाल, स्वरस, पल्लव, क्षीर (पुष्प, फल, तैल, भस्म, क्षार, सत्व तथा कण्टक, शृग, कन्द, प्ररोहो का आवश्यकतानुसार प्रयोग होता है।

उपरोक्त निर्दिष्ट की गई, जगम, औद्भिद्-भेषज, मृदु आवयविक होने से इनके रस गुणो की अधिक काल तक स्थिरता नही रहती। काल स्वभाव से ये भेषज द्रव्य हीन बल वीर्य हो जाते हैं। कालानुबन्ध के अतिरिक्त, देश, बीज, भौमी, जल, वायु,-सम्पद् के औचित्य अनौचित्य से भी इनके गुण धर्मों मे भी न्यूनाधिकता होती रहती है।

इनके रस, गुण, वीर्य विपकादि को अधिक समय सुस्थिर रखने के लिए आचार्यों ने भावना-विधि का निर्देश किया है। हम जिस किसी काष्ठौषधिजन्य योग को अधिक समय तक रसादि गुण सम्पद् सम्पन्न रखना है तो हम तत् तत् रसादि गुण धर्म साम्यता वाली भेषजो के रसो की उस योग मे भावना दे ताकि उस प्रयोग के गुण धर्मों मे सुस्थिरता आवे।

पृथ्वी मे समाहित रहने वाले द्रव्यो को "पार्थिव" सज्ञा है। आजकल सामान्यतः जिनको खनिज द्रव्यो के नाम से प्रयुक्त किया जाता है वे सब (पार्थिव-भेषज, हैं। जैसे— धातु-लोह, ताम्र, सुवर्ण, तार आदि उपधातु स्वर्ण-माक्षिकादि-रस, उपरस, रत्न, उपरत्नाहि। ये जाति-भेद से विविध-भेषज-द्रव्य जिनका प्रयोग रोग-प्रतिकार के लिए किया जाता है, स्वभावत रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव, इन पाच प्रकार की सपत्ति से सम्पन्न होते हैं।

वस्तुत· देखा जाय तो द्रव्य विशेष मे रहने वाले ये रस, गुण, वीर्य, विपाकादि ही अवस्थानुसार उचित रूप में प्रयुक्त होने से धातु-साम्य का कार्य करते हैं।

प्रत्येक द्रव्य भौतिक सयोग-विशेष से, विभिन्न, रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव वाला

होता है। पर इनमे फिर रस साम्यता, गुण साम्यता वीर्य, विपाक साम्यता भी होती है। जैसे– इक्षु-मधु शर्करा, मधुक, मधूक, काकोली आदि विभिन्न द्रव्य होते हुए भी सब मधुर-रस-प्रधान द्रव्य हैं।

इसी तरह गुणादि वीर्य विपाकादि साम्यता वाले अनेक द्रव्य मिलते हैं। रोग-विशेष मे इनका प्रयोग करने पर ये भेषज-द्रव्य कही रस से कही गुण से, कही वीर्य से, कही विपाक से कही रस, गुण दोनो से, कही रस, गुण, वीर्य से, कही रस, गुण, वीर्य, विपाक चारो से और कही रस से प्रभावान्त पाचो से रोग-निवारण का कार्य करते रहते हैं।

समान गुण-धर्मी होते हुए भी दो द्रव्य भिन्न भिन्न प्रकार के परिणाम करते हुए देखे जाते हैं। रस, गुण, वीर्य की समानता होते हुए भी परिणाम मे अन्तर क्यो होता है। इस का हेतु है द्रव्य का प्रभाव। प्रभाव से अभिप्राय है रस, गुण, वीर्य, विपाक से, भिन्न द्रव्य का प्राकृतिक प्राकृतिक-स्वभाव। द्रव्य का यह स्वभाव द्रव्याश्रित रहने वाले रस गुणादि को दबा कर कार्य करता है।

रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव का अर्थ इनके लक्षण इनके प्रयोग के फलाफलादि का विस्तृत विवेचन यहाँ शक्य नही। परिणाम भेद से दो प्रकार की जाति-भेद से तीन तरह के भेषज-द्रव्य, व्यक्ति भेद से अनन्त है। इनके प्रयोग भी कल्क, क्वाथ, फाण्ट, शीत, कषाय, घृत, तैल, आसव, अरिष्ट, चूर्ण, वटी, अवलेह, वर्ति, चक्रिकादि अनेक रूप मे अनन्त तरह मे किए जाते हैं। इन भेषजो को चाहे जैसे चाहे जिस रूप मे प्रयोग किया जाय अन्तिम परिणाम है (धातु साम्यता) यही आयुर्वेदीय-चिकित्सा का मूल-सिद्धान्त है। इस मूल-सिद्धात के सक्षिप्त-विवेचन से ही भारतीय-चिकित्सा-पद्धति का वैशिष्ट्य समझ मे आ जाता है।

चिकित्सा की तफसील मे उतरने से तो विस्तार बहुत हो जाता है, जैसे हेतु-विपरीत व्याधि-विपरीत, उभय-विपरीत भेषज किन किन रोगो मे कैसे प्रयुक्त की जाय, हेतु विपरीतार्थकारी,-भेषज द्रव्यो का किन किन रोगो मे कैसे कैसे प्रयोग होता है। इनके अन्तर इनके विवेचन के विभिन्न-व्यवहार की सार्थकता, इनका क्षेत्र।

कौन कौन से रोग हैं जिनमे बृहण-भेषज ही प्रयुक्त करनी चाहिये। जैसे— व्याधि भेषज्य मद्य स्त्री शोक कर्पितान्)" । भारा ध्वोर. क्षतक्षीण रूक्ष दुर्बल वातलान्।

कौन कौन से रोग हैं जिनमे शोधन शमन का प्रयोग करना है। जैसे—

मेहाम दोषाति स्निग्ध ज्वरोरु स्तम्भ कुष्ठिनः।
विसर्प विद्रधि आदि . . . लघयेत् नियम्।
तत्र सशोधनं स्थौल्य बलपित्त कफादिकान्।

विधि मे भी अवस्था भेद से निषेध मे भी स्थिति-भेद से अन्तर कहा करना। जैसे—

"न बृंहयेल्लघनीयान् बृंह्यांस्तु मृदु लघयेत्।"

इत्यादि विवेचन का अत्यधिक विस्तार है। देश काल मात्रादि का व द्रव्यो के गुणधर्मों का विचार करें तो कैसे पूर्ति हो।

भेषज मे क्या ? गुण-सम्पद् आवश्यक है कैसी दवा प्रयोग की जानी चाहिए। सस्कार से परिवर्तित कौनसी भेषज किन किन रोगो मे कैसी अवस्था मे प्रयुक्त करना चाहिए।

भेषज की दशविध अवचारणा उसका उचित प्रयोग ऐसे अनन्त प्रकरण हैं चिकित्सा सम्बन्ध रखने वाले उनका सक्षिप्त परिचय भी देना शक्य नही।

अत चिकित्सा के उपरोक्त मूल सिद्धात का सामान्य सा दिग्दर्शन करा अब दो रोगो की तुलनात्मक-चिकित्सा का सक्षिप्त-उद्धरण दे दिया जाता है। इससे उभय-पद्धतियो के अन्तर का आभास हमारे सामने आ जायगा।

ज्वर-चिकित्सा—

वैज्ञानिक-पद्धति ज्वर-रोग के दो भेद मानती है। कीटाणुजन्य तथा बिना कीटाणु के। कीटाणु-जन्म मे सिर्फ कीटाणु-नाश कर देना यही उनका क्रिया कर्म है कीटाणु-विहीन ज्वरो मे औषध-प्रयोग किया जाता है वह ज्वर के विभिन्न रूपो के अनुरूप भिन्न भिन्न हैं। जहा तक सिद्धात से सम्बन्ध है चिकित्सा का कोई मूल-सिद्धात नही है। कारण जबकि रोगोत्पत्ति मे एक सिद्धात-स्वीकृत नही तब चिकित्सा मे एक सिद्धात को स्थान कैसे मिले।

इन्जेक्शन मे औषधियो के सीरम तथा वैक्सीन सभी के इन्जेक्शन प्रयुक्त होते हैं। चढे हुए ज्वर को उतारने के लिए भी कुछ भेषज-द्रव्य हैं जो ज्वर को हल्का कर देते हैं पर वे हृदयावसाद के प्रबल हेतु है।

इन्जेक्शनो मे क्वीनेन, डिजिट्रेलीन, स्ट्रीकनीन, ईथर, एड्रिनिलीन, पिच्युट्रीन, कार्डियोजोंल आदि का प्रयोग होता है।

ज्वर उतारने को एस्परीन्, फिनेस्टीन, एण्टी फ्राइबीन, फेनेजोन, नोवलजीन आदि का प्रयोग होता है।

उपद्रव विशेष की चिकित्सा तदनुरूप की जाती है। अधिकाशत चिकित्सा का क्रम एक ज्वर मे सभी रोगियो के लिए एकसा है। परिमित प्रयोग होने से उनका ही उपयोग करना पडता है। साम, निरामादि भेद न मानने से आरम्भ से ही प्रतिरोध-मूलक उपक्रम का आरम्भ हो जाता है।

आयुर्वेद निजागन्तु भेद से ज्वर को दो प्रकार का मानता है। उभय-हेतु जन्य मे दोषो की प्रधानता स्वीकार की गई है। प्राय. ही 'ज्वरोत्पत्ति' रस धातु की विकृति से होती है। अत. अधिकाश ज्वर साम दोषजन्य होते हैं। सामदोषान्वित ज्वर होते हैं वे सब वृद्धिजन्य

है—अत इस प्रकार के ज्वरो की चिकित्सा (लघन) भेषज साध्य है। जैसा कि आचार्य निर्देश करता है। "ज्वरे लघन मेवादौ।"

यहा लघन शब्द का उपवास रूप विशेष अर्थ मे प्रयोग है।

वैसे लघन भेषज दस तरह का बतलाया गया है। चरक

चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुता तपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लघनम् ॥१॥

उपवास रूप लघन का प्रयोग आरम्भ मे उन सब ज्वरो मे कराना आवश्यक है जो दोष वृद्धि से आमाशय की विकृति के कारण रस सामता के साथ उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसे ज्वरो मे खान-पान बन्द न किया जाय तो ज्वर-वृद्धि के साथ-साथ अन्य व्याधियो की उत्पत्ति होती है जिनके प्रत्याख्यान मे पीछे पर्याप्त कठिनाई का सामना करना पडता है।

इन ज्वरो की दोष-स्थिति के कारण चार अवस्थाए मानी गई हैं। आम, पच्यमान, पक्व तथा जीर्णावस्था। उपवास-रूप लघन का प्रयोग आमावस्था के लिए है। पच्यमान अवस्था मे पाचन-भेषज का प्रयोग दोषो की पक्वावस्था मे शोधन शमन का प्रयाग होना चाहिए। दोषो की जीर्णावस्था मे वृहण रूप शमन भेषज का प्रयोग उपादेय है।

अवस्था भेद से आम तथा पच्यमान ज्वरो मे वमन-विरेचनादि की तरह लघन का भी प्रयोग किया जाता है। मारुत, व्यायाम रूप लघन का तरुण ज्वर मे निषेध है। शेष का अवस्थानुरूप प्रयोग किया जाना चाहिए।

भारतीय-पद्धति से दोष वृद्धिजन्य ज्वरो की आम तथा पच्यमान अवस्था मे ज्वर को रोकने की भेषज कभी नही दी जानी चाहिए। कारण इस अवस्था मे एक प्रकार की शरीर मे विषाक्तता उत्पन्न होती है। उसका लघन तथा पाचन से परिहार करना जरूरी है। यदि इस दशा मे ज्वर को रोक देते हैं तो रस स्रोतो से सचालित सम्पूर्ण शरीरगत, दोष विकृतिजन्य विषाक्तता उसी दशा मे शरीर मे रुक जाती है। जिसका कि परिणाम पुन. पुन ज्वरोत्पत्ति, रक्त-निर्माता अवयवो की विकृति, पाचन प्रणाली की गडबडी तथा ओज क्षय रूप सामने आता है।

रोगी महीनो तक सुलझने नही पाता—लघन पाचन से विषाक्तता निर्मल हो जाने पर शमन भेषज का प्रयोग कराना चाहिए।

क्षयजन्य ज्वरो मे आरम्भ से ज्वर रोकने की भेषज का प्रयोग करना सगत है। कारण न तो वहा सामता है न रस-विकृति है। जिस तरह वृद्धिजन्य ज्वरो मे प्रारम्भ मे शमन भेषज का निषेध है उसी तरह क्षयजन्य मे लघन का निषेध है। यथा—

. ... ऋते ज्वरात्।

क्षयानिल भय क्रोध काम शोक श्रमोद्भवात् ॥१॥

इत्यादि विवेचन का अत्यधिक विस्तार है। देश काल मात्रादि का व द्रव्यो के गुणधर्मों का विचार करें तो कैसे पूर्ति हो।

भेषज मे क्या ? गुण-सम्यद् आवश्यक है कैसी दवा प्रयोग की जानी चाहिए। सस्कार से परिवर्तित कौनसी भेषज किन किन रोगो मे कैसी अवस्था मे प्रयुक्त करना चाहिए।

भेषज की दशविध अवचारणा उसका उचित प्रयोग ऐसे अनन्त प्रकरण हैं चिकित्सा सम्बन्ध रखने वाले उनका सक्षिप्त परिचय भी देना शक्य नही।

अत चिकित्सा के उपरोक्त मूल सिद्धात का सामान्य सा दिग्दर्शन करा अब दो रोगो की तुलनात्मक-चिकित्सा का सक्षिप्त-उद्धरण दे दिया जाता है। इससे उभय-पद्धतियो के अन्तर का आभास हमारे सामने आ जायगा।

ज्वर-चिकित्सा—

वैज्ञानिक-पद्धति ज्वर-रोग के दो भेद मानती है। कीटाणुजन्य तथा बिना कीटाणु के। कीटाणु-जन्म मे सिर्फ कीटाणु-नाश कर देना यही उनका क्रिया कर्म हैं कीटाणु-विहीन ज्वरो मे औषध-प्रयोग किया जाता है वह ज्वर के विभिन्न रूपो के अनुरूप भिन्न भिन्न हैं। जहा तक सिद्धात से सम्बन्ध है चिकित्सा का कोई मूल-सिद्धात नही है। कारण जबकि रोगोत्पत्ति मे एक सिद्धात-स्वीकृत नही तब चिकित्सा मे एक सिद्धात को स्थान कैसे मिले।

इन्जेक्शन में औषधियो के सीरम तथा वैक्सीन सभी के इन्जेक्शन प्रयुक्त होते हैं। चढे हुए ज्वर को उतारने के लिए भी कुछ भेषज-द्रव्य हैं जो ज्वर को हल्का कर देते है पर वे हृदयावसाद के प्रबल हेतु हैं।

इन्जेक्शनो मे क्वीनेन, डिजिट्रेलीन, स्ट्रीकनीन, ईथर, एड्रिनिलीन, पिच्युट्रीन, कार्डियो-जोंल आदि का प्रयोग होता है।

ज्वर उतारने को एस्परीन्, फिनेस्टीन, एण्टी फाइबीन, फेनेजोन, नोवलजीन आदि का प्रयोग होता है।

उपद्रव विशेष की चिकित्सा तदनुरूप की जाती है। अधिकांशत चिकित्सा का क्रम एक ज्वर मे सभी रोगियो के लिए एकसा है। परिमित प्रयोग होने से उनका ही उपयोग करना पडता है। साम, निरायादि भेद न मानने से आरम्भ से ही प्रतिरोध-मूलक उपक्रम का आरम्भ हो जाता है।

आयुर्वेद निजागन्तु भेद से ज्वर को दो प्रकार का मानता है। उभय-हेतु जन्य मे दोषो की प्रधानता स्वीकार की गई है। प्राय ही 'ज्वरोत्पत्ति' रस धातु की विकृति से होती है। अत अधिकाश ज्वर साम दोषजन्य होते हैं। सामदोषान्वित ज्वर होते हैं वे सब वृद्धिजन्य

है—अत' इस प्रकार के ज्वरो की चिकित्सा (लघन) भेपज साध्य है। जैसा कि आचार्य निर्देश करता है। "ज्वरे लघन मेवादौ।"

यहा लघन शब्द का उपवास रूप विशेप अर्थ मे प्रयोग है।

वैसे लघन भेषज दस तरह का बतलाया गया है। चरक ' '

चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुता तपो। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लघनम् ॥१॥

उपवास रूप लघन का प्रयोग आरम्भ मे उन सब ज्वरो मे कराना आवश्यक है जो दोष वृद्धि से आमाशय की विकृति के कारण रस सामता के साथ उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसे ज्वरो मे खान-पान बन्द न किया जाय तो ज्वर-वृद्धि के साथ-साथ अन्य व्याधियो की उत्पत्ति होती है जिनके प्रत्याख्यान मे पीछे पर्याप्त कठिनाई का सामना करना पडता है।

इन ज्वरो की दोष-स्थिति के कारण चार अवस्थाए मानी गई हैं। आम, पच्यमान, पक्व तथा जीर्णावस्था। उपवास-रूप लघन का प्रयोग आमावस्था के लिए है। पच्यमान अवस्था मे पाचन-भेषज का प्रयोग दोषो की पक्वावस्था मे शोधन शमन का प्रयाग होना चाहिए। दोषो की जीर्णावस्था मे बृहण रूप शमन भेषज का प्रयोग उपादेय है।

अवस्था भेद से आम तथा पच्यमान ज्वरो मे वमन-विरेचनादि की तरह लघन का भी प्रयोग किया जाता है। मारुत, व्यायाम रूप लघन का तरुण ज्वर मे निषेध है। शेप का अवस्थानुरूप प्रयोग किया जाना चाहिए।

भारतीय-पद्धति से दोष वृद्धिजन्य ज्वरो की आम तथा पच्यमान अवस्था मे ज्वर को रोकने की भेषज कभी नही दी जानी चाहिए। कारण इस अवस्था मे एक प्रकार की शरीर मे विषाक्तता उत्पन्न होती है। उसका लघन तथा पाचन से परिहार करना जरूरी है। यदि इस दशा मे ज्वर को रोक देते हैं तो रस स्रोतो से सचालित सम्पूर्ण शरीरगत, दोप विकृतिजन्य विषाक्तता उसी दशा मे शरीर मे रुक जाती है। जिसका कि परिणाम पुन. पुन ज्वरोत्पत्ति, रक्त-निर्माता अवयवो की विकृति, पाचन प्रणाली की गडबडी तथा ओज क्षय रूप सामने आता है।

रोगी महीनो तक सुलझने नही पाता—लघन पाचन से विषाक्तता निर्मल हो जाने पर शमन भेषज का प्रयोग कराना चाहिए।

क्षयजन्य ज्वरो मे आरम्भ से ज्वर रोकने की भेषज का प्रयोग करना सगत है। कारण न तो वहा सामता है न रस-विकृति है। जिस तरह वृद्धिजन्य ज्वरो मे प्रारम्भ मे शमन भेषज का निषेध है उसी तरह क्षयजन्य मे लघन का निषेध है। यथा—

.. .. ऋते ज्वरात्।
क्षयानिल भय क्रोध काम शोक श्रमोद्भवात् ॥१॥

काम, क्रोध, शोक से उत्पन्न ज्वर, श्रम विशेष की थकावट के कारण उत्पन्न ज्वर, रसादि धातुओ की कमी के कारण, निरामवात वृद्धिजन्य ज्वरो मे कभी लघन नही कराना। इस प्रकार के ज्वरो मे(शमन)भेषज से ही चिकित्सा का आरम्भ करना चाहिए।

हेतु तथा अवस्था विशेष के कारण लघन, शमन या वृहण शमन का प्रयोग करना चाहिए। इस तरह वृद्धिक्षयात्मक ज्वरो मे लघन, वृहण, भेषज का प्रयोग सामान्य सिद्धान्त है। वैसे अवस्था विशेष मे वृद्धिजन्य ज्वरो मे विभिन्न प्रकार के उपक्रमो की आवश्यकता होती है। जसा कि चरक उपदेश करते हैं—

लघन स्वेदन कालो यवाग्वस्तिक्तको रस.।
पाचनान्यविपक्वाना दोषाणा तरुण ज्वरे ॥

+ +

कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोषानामाशय स्थितान्।
वुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्याना वमनै हरेत् ॥

+ +

वमित लघित काले यवागूभिरुपाचरेत्।
ऊर्ध्वगे रक्तपित्तेच यवागूर्न हिता ज्वरे ॥
तत्र तर्पण मेवाग्रे प्रयोज्य लाजसक्तुभि:।
ज्वरापहै फलरसै.युक्त समधु शर्करम् ॥

+ +

स्तम्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषम ज्वरम्।
दोषा वद्धा कषायेण स्तभित्वा तरुणे ज्वरे ॥

+ +

परि पक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पान यथामृतम्।
वद्ध प्रच्युत दोष वा निराम पयसा जयेत् ॥
अक्षीणवल मासाग्नेः शमयेत्त विरेचनै.।
ज्वर क्षीणस्य नहित वमन न विरेचनम्।
काम तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान् ॥

+ +

रूक्ष वद्ध पुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम्।
गौरवे शिरस शूले विवद्धेष्विन्द्रियेपुच।
जीर्णज्वरे रुचिकर कुर्यान्मूर्ध विरेचनम् ॥

+ +

अभ्यगांश्च प्रदेहांश्च परिषेकावगाहने।
विभज्य शीतोष्ण कृत कुर्याज्जीर्णं ज्वरे भिषक् ॥

+ +

धूमनाञ्जययोगैश्च यान्ति जीर्णं ज्वरा शमम् ।
त्वङ्मात्रशेषा येषाञ्च भवत्यागन्तुरन्वय. ॥

+ +

उपरोक्त क्रिया कर्म का उपदेश अवस्थानुसार है। इसमे लघन, वमन, विरेचन, वस्ति, अनुवासन यवागू, तर्पण, तिक्तरस, पाचन, शमन भेपज, घृत, पय, प्रयोग, शिरो विरेचन, नस्य, गण्डूष, कवलधारण, अभ्यग, प्रदेह, अवगाहन, रक्त मो क्षण, धूप, अजनादि विविध उपक्रमो का निर्देश है।

इनमे भी फिर विधि निपेध का तार तम्य चलता है अवस्था मे अन्तर आते ही विहित-कर्म निषिद्ध और निषिद्ध कर्म विहित हो जाता है। इन अवस्था-भेदो के उद्धरण जिन्हे देखने हो चरक मे देखें।

उपरोक्त ज्वर के चिकित्सा क्रम को वैज्ञानिक पद्धति के चिकित्सा क्रम से मिलाइए, वमन अनुवासन, यवागू, तर्पण, तिक्तरस, पाचन, घृत, शिरोविरेचन, नस्य, गण्डूप, कवल, धारण, अभ्यग, प्रदेह, अवगाहन, धूप, अञ्जनादिका वहा नाम तक नही। सामान्यत लघन, विरेचन, वस्ति का प्रयोग मिलता है। भेषज प्रयोग दोनो पद्धतियो मे है। इञ्जेक्शन इस पद्धति का विशेष उपक्रम है। औषध-योग भारतीय-पद्धति मे इतने अधिक हैं कि जिनकी समता वैज्ञानिक-पद्धति मे कुछ भी नही।

दोष चयकाल से रोगाभिव्यक्ति तक का चिकित्सा क्रम देशी पद्धति की विशेष विशेपता है। रोग निवृति के पश्चात् अनुबन्ध चिकित्सा-क्रम का आयोजन भी इसका विशेष उपक्रम है। पथ्य का आवश्यक अनुबन्ध भी इसकी अपनी विशेषता है।

आवस्थिक चिकित्सा का तथा रोगी को स्वकीय परिस्थिति के कारण विभिन्न चिकित्सा का जो क्रम देशी पद्धति मे है उसकी बराबरी अभी तक कोई चिकित्सा पद्धति नही कर सकती। ज्वर की तरह (ग्रहणी) रोग का उभयात्मक विवेचन देखिए।

ग्रहणी

ग्रहणी-रोग के विषय मे स्वतन्त्ररूप से ऐलो पैथी मे विशेप विचार किया गया है या नही— नही कहा जा सकता। इन ने इसको पाचन प्रणाली की बिमारियो मे सामिल किया है इनके सिद्धात से इस रोग मे आमाशयिक-रस की उत्पत्ति बहुत कम हो जाती है। अत चिकित्सा मे आमशयिक रस की वृद्धि करना ही लक्ष रहता है। इनके सिद्धात से अभी तक ऐसी कोई औषध अविष्कृत नही हुई है जिसके एकाकी प्रयोग से आमाशयिक-रस की अभिवृद्धि हो। जो कुछ औषधियें इनके यहा है वे उदरस्थ-श्लैष्मिक-ग्रन्थियो की शक्ति को उत्तेजित करती है जिससे कुछ समय तक अधिक इसकी उत्पत्ति हो तदर्थ—हाइड्रोक्लोरिक् एसिड, टिञ्चर नक्सवॉमिका ग्लेसरीन, पेप्सीन, जैन्सीयन आदि का प्रयोग किया जाता है।

अब शायद यकृत् की क्रिया को सशक्त करने के लिए इन्जेक्शनो का प्रयोग भी आरभ हुआ है। जहा तक देखने में आता है ग्रहणी के रोगो मे इस पद्धति द्वारा की जाने वाली चिकित्सा विशेष लाभप्रद नही होती।

आयुर्वेद-पद्धति से इस रोग की चिकित्सा बहुत सफलता के साथ की जाती है। इस पद्धति मे इस रोग की आम पक्व दो अवस्थाए मानी गई हैं। आमावस्था मे आम दोषो को पक्वावस्था मे परिवर्तित कर निकाल देना चाहिए। अर्थात् आमावस्था वाले इस रोग मे पहिले लघन भेषज के, पाचन शोधन, अगो का प्रयोग करना चाहिए। आम दोषो का निर्हरण हो जाने पर आमाशय की शुद्धि के पश्चात् दीपन योगो का प्रयोग करना चाहिये। यदि रोग की अवस्था निराम है तो उसमे पाचन दीपन का प्रयोग उपादेय है। इस रोग का सक्षिप्त क्रिया-कर्म चरकाकित देखिए ताकि ज्ञात हो कि उपक्रम का यह विधान कितना युक्तियुक्त है।

ग्रहणीमाश्रित दोष, विदग्धाहार मूर्च्छितम्।
आमलिगान्वित दृष्ट्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत्॥

+ +

लीन पक्वाशयस्थ वाऽऽप्याम स्राव्य सदीपनं।
शरीरानुगते सामे रसे लघन पाचनम्॥
विशुद्धामाशयायास्मै ··· · · ·· ··· · ।
दद्यात्पेयादि लघ्वन्न पुनर्योगाश्चदीपनान्॥

+ +

ज्ञात्वातु परिपक्वाम मारुत ग्रहणीगदम्।
दीपनीययुत सर्पि पाययेताल्पशो भिषक्॥

+ +

किंचित् सधुक्षिते ह्यग्नौ सक्त विण्मूत्र मारुतम्।
द्वयह त्र्यहवा सस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्त निरूहयेत्॥
तत ऐरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा।
सक्षारेणानिले शान्ते स्रस्तदोष विरेचयेत्॥

+ +

शुद्ध रूक्षाशय बद्धवर्चस चानुवासयेत्।

+ +

निरूढ च विरिक्त च सम्यक् चैवानुवासितम्।
लघ्वन्न प्रति सभुक्त सर्पिरभ्यासयेत् पुनः॥
मज्जत्यामा गुरुत्वाद् विट् पक्वातु प्लवते जले।
परीक्ष्यैव पुरा साम निरामञ्चाथ रोगिणाम्॥
विधिनोपाचरेत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा।
स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टमग्निनिर्वापक भिषक्॥

पित्तञ्ज्ञात्वा विरकेण निर्हरेद् वमनेन वा।
ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां वमितस्य यथाविधि॥
कट्वम्ललवणक्षारैस्तिक्तैश्चाग्निं विवर्धयेत्।
त्रिदोषे विधिवद् वैद्यः पञ्चकर्माणि कारयेत्॥

+ +

क्रियायां चानिलादीनां निर्दिष्टा ग्रहणीं प्रति।
व्यत्यासात्ता समस्ता वा कुर्याद् दोष विशेषवित्॥
स्नेहन स्वेदन शुद्धिलंघन दीपनञ्च यत्।
चूर्णानि लवणक्षार मध्वरिष्ट सुरासवा॥
विविधास्तक्रयोगाश्च दीपनानाञ्च सर्पिषाम्।
ग्रहणी रोगिभिः सेव्याः॥

यह ग्रहणी रोग की सामान्य चिकित्सा का दिग्दर्शन है। इसमे, पाचन, वमन, विरेचन निरूह, स्नेह, स्वेद, अनुवासन, लघन तथा दीपन-क्रियाओ के सयोग का अवस्थानुसार निर्देश किया गया है। आवस्थिक-चिकित्सा और भी विशेष है। जैसा कि आचार्य स्वय प्रवचन करते हैं।—

... ...क्रियाञ्चावस्थिकी शृणु . .।
ष्ठीवन श्लैष्मिके रूक्ष दीपन तिक्त सयुतम्॥
सकृद्रूक्ष सकृत्स्निग्ध कृशेबहुकफे हितम्।
परीक्ष्याम शरीरस्य दीपन स्नेह सयुतम्॥
बहुवातस्य तु स्नेह लवणाम्ल युतहितम्।

+ +

स्नेह मेव पर विद्या द् दुर्बलानलदीपम्॥
मन्दाग्निविषमर्वं तु पुरीष योऽतिसार्यते।

+ +

दीपनीयौषधै युंक्ता घृतमात्रा पिबेत्तुस॥
काठिन्यात् य पुरीषन्तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः।

+ +

सघृतैर्लवणै युंक्त नरोऽन्न निग्रह् रिबेत्।
रौक्ष्यान्मन्दे पिबेत् सर्पिः तैलवा दीपनैर्युतम्॥

+ +

भिन्ने गुदोपलेपात्तु मले तैल सुरासवा.।
उदावर्तात्तु मन्देऽग्नौ यवागूभि पिबेद् घृतम्॥

+ +

दीर्घकालप्रसगात्तु क्षामक्षीण कृशान्नरान्।
प्रसहाना रसै. साम्लै भोजयेत् पिशिताशिनाद्॥

अब शायद यकृत् की क्रिया को सशक्त करने के लिए इन्जेक्शनो का प्रयोग भी आरभ हुआ है। जहा तक देखने में आता है ग्रहणी के रोगो मे इस पद्धति द्वारा की जाने वाली चिकित्सा विशेष लाभप्रद नही होती।

आयुर्वेद-पद्धति से इस रोग की चिकित्सा बहुत सफलता के साथ की जाती है। इस पद्धति मे इस रोग की आम पक्व दो अवस्थाए मानी गई हैं। आमावस्था मे आम दोषो को पक्वावस्था मे परिवर्तित कर निकाल देना चाहिए। अर्थात् आमावस्था वाले इस रोग मे पहिले लघन भेषज के, पाचन शोधन, अगो का प्रयोग करना चाहिए। आम दोषो का निर्हरण हो जाने पर आमाशय की शुद्धि के पश्चात् दीपन योगो का प्रयोग करना चाहिये। यदि रोग की अवस्था निराम है तो उसमे पाचन दीपन का प्रयोग उपादेय है। इस रोग का सक्षिप्त क्रिया-कर्म चरकाकित देखिए ताकि ज्ञात हो कि उपक्रम का यह विधान कितना युक्तियुक्त है।

ग्रहणीमाश्रित दोष, विदग्धाहार मूर्च्छितम्।
आमलिगान्वित दृष्ट्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत्॥

+ +

लीन पक्काशयस्थ वाऽऽप्याम स्राव्य सदीपनं.।
शरीरानुगते सामे रसे लघन पाचनम्॥
विशुद्धामाशयायास्मै ······· ······ ।
दद्यात्पेयादि लघ्वन्न पुनर्योगाश्चदीपनान्॥

+ +

ज्ञात्वातु परिपक्वाम मारुत ग्रहणीगदम्।
दीपनीययुत सर्पि पाययेताल्पशो भिषक्॥

+ +

किंचित् सधुक्षिते ह्यग्नौ सक्त विण्मूत्र मारुतम्।
द्वयह् श्यहवा सस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्त निरूहयेत्॥
तत ऐरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा।
सक्षारेणानिले शान्ते स्रस्तदोषं विरेचयेत्॥

+ +

शुद्ध रूक्षाशय बद्धवर्चस चानुवासयेत्।

+ +

निरूढ च विरिक्त च सम्यक् चैवानुवासितम्।
लघ्वन्न प्रति सभुक्त सर्पिरभ्यासयेत् पुनः॥
मज्जत्यामा गुरुत्वाद् विट् पक्कातु प्लवते जले।
परीक्ष्यैव पुरा साम निरामञ्चाथ रोगिणम्॥
विधिनोपाचरेत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा।
स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टमग्निर्निर्वापक भिषक्॥

पित्तज्ञात्वा विरकेण निर्हरेद् वमनन वा ।
ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टाया वमितस्य यथाविधि ॥
कट्वम्ललवणक्षारैस्तिक्तैश्चाग्नि विवर्धयेत् ।
त्रिदोषे विधिवद् वैद्य. पचकर्माणिकारयेत् ॥

\+ \+

क्रियाया चानिलादीना निर्दिष्टा ग्रहणीं प्रति ।
व्यत्यासात्ता समस्ता वा कुर्याद् दोष विशेषवित् ॥
स्नेहन स्वेदन शुद्धिलंघन दीपनञ्च यत् ।
चूर्णानि लवणक्षार मध्वरिष्ट सुरासवा ॥
विविधास्तक्रयोगाश्च दीपनानाञ्च सर्पिषाम् ।
ग्रहणी रोगिभि. सेव्याः ॥

यह ग्रहणी रोग की सामान्य चिकित्सा का दिग्दर्शन है । इसमे, पाचन, वमन, विरेचन निरूह, स्नेह, स्वेद, अनुवासन, लघन तथा दीपन-क्रियाओ के सयोग का अवस्थानुसार निर्देश किया गया है । आवस्थिक-चिकित्सा और भी विशेष है । जैसा कि आचार्य स्वय प्रवचन करते हैं ।—

.. . ..क्रियाञ्चावस्थिकी शृणु .. . ।
ष्ठीवन श्लैष्मिके रूक्षं दीपन तिक्त सयुतम् ॥
सकृद्रुक्षा सकृद्स्निग्ध कृशेबहुकफे हितम् ।
परीक्ष्याम शरीरस्य दीपन स्नेह सयुतम् ॥
बहुवातस्य तु स्नेह लवणाम्ल युतहितम् ।

\+ \+

स्नेह मेव पर विद्या दु्र्बलानलदीपम् ॥
मन्दाग्निविपक्वं तु पुरीष योऽतिसार्यते ।

\+ \+

दीपनीयौषधैं युंक्ता घृतमात्रा पिवेत्तुस ॥
काठिन्यात् य. पुरीषन्तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः ।

\+ \+

सघृतैर्लवणै युंक्त नरोऽन्न निग्रह् रिवेत् ।
रौक्ष्यान्मन्दे पिवेत् सर्पि. तैलवा दीपनैर्युतम् ॥

\+ \+

भिन्ने गुदोपलेपात्तु मले तैल सुरासवाः ।
उदावर्तातु मन्देऽग्नौ यवागूभि पिवेद् घृतम् ॥

\+ \+

दीर्घकालप्रसगात्तु क्षामक्षीण कृशान्नरान् ।
प्रसहाना रसै. साम्लै भोजयेत् पिशिताशिनाम् ॥

इस प्रवचन से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि एक ही रोग दोष दूष्य सयोग रोगी की प्रकृति बलाबल तथा आश्रय-भदेक देश, काल के अनुबन्ध से विभिन्न-अवस्थाओ मे बदलता रहता है। चिकित्सा करते समय यदि इन परिवर्तन होने वाली अवस्थाओ का ध्यान न रखा जाय तो चिकित्सा मे सफलता मिलनी सभव नही। आयुर्वेदिक-पद्धति प्रत्येक रोग मे इसी तरह दोष-सिद्धान्त से चिकित्साक्रमका प्रति पादन करती है। रोग की सामान्य चिकित्सा का मूल सिद्धान्त सर्वत्र त्रिदोषाश्रित है। विशष-चिकित्सा लक्षणाश्रित है।

इस तरह सिद्धान्त तथा उहवा के साथ सामान्य-विशेष चिकित्सा का निरूपण आयुर्वेदिक-पद्धति मे किया गया है। रोग को प्रत्येक अवस्था मे तदनुरूप आहार निहार का निर्देश भी सम्यक् रूप से किया गया है। रोगी को जिस औषधि का सेवन कराना है। उस औषधि के निराकरण के विषय मे सबसे अधिक विचार करने की जरूरत है। रोग की दवा होते हुए भी उसका प्रयोग सब रोगियो को सब अवस्थाओ मे नही कराया जा सकता। इसका थोडा सा विवरण देखिये।—

सग्रहकार—योग्यमपि चौषधमेव परीक्षेत। इदमेव रसवीर्यं विपाक, एव गुण, एव द्रव्य, एव कर्म, एव प्रभावम्, अस्मिन् देशेजात, अस्मिन् ऋतौ, एव गृहीतम्, एव विहित, एव निषिद्ध, एवमुपसस्कृतम् एव सयुक्त, एव युक्तम्, अनयामात्रया, एव विधस्य पुरुषस्य, एव विधे काले एतावन्त दोष अपकर्षति उप शमयति वा।

रोगानुरूप औषध की भी इस प्रकार परीक्षा करें। यह औषध किस रस, गुण वीर्य० विपाक वाली है। इसके आश्रय-द्रव्य मे किस भूत को प्रधानता है। यह औषध किस द्रव्य का निष्पादन करेगी—इसका प्रभाव क्या रहेगा। इसका उत्पत्ति स्थान कोनसा है। किस ऋतु मे कैसे गृहीत की गई है। कैसे रखी गई है। किस स्थिति मे तथा किस रूप मे बदल जाने पर इसका प्रयोग निषिद्ध है। गुणाधान के लिये किस प्रकार उप सस्कृत की गई है। ऊपर किन औषधियो से सयुक्त है। किस मात्रा मे किस पुरुष को किस काल मे देने पर किस दोष का किस तरह शोधन करती है। किस का किस स्थिति मे शमन करती है।

काल सम्बन्ध से औषध मे कितना हेर-फेर होता है। इस पर भी पूरा विचार किया गया है। किस ऋतु मे कैसी भेषज उपयोगी है कैसी नही किस काल के निकल जाने पर कौनसी भेषज गुणहीन हो जाती है? कैसे सयोगी-द्रव्यो से औषध के गुण वीर्य की वृद्धि तथा ह्रास हो जाता है? किन-किन रोगियो को किस प्रकार की भेषज का प्रयोग करना किसका नही करना इत्यादि विषयो का विवेचन बहुत विस्तार से है। यहाँ इस थोडे से अश का उद्धरण देता हूँ जिसमे रोगी को औषध देनी ही न चाहिये।

म० काश्यप—क्षीण धात्विन्द्रिये श्रान्ते क्लान्ते तान्ते वुभुक्षिते।
भैषज्यदग्धकोष्ठे भेषज नैवापचारयेत्॥१॥

क्रुद्धे विपन्ने शोकार्ते रात्रीजागरिते तथा।
विदग्धाजीर्णे भुक्तश्च भेषज नैवापचारयेत् ॥२॥

कर्मातिभाराभिहते निरूढे सानुवासिते।
उपापिते विरक्ते च भेषज नापचारयेत् ॥
यत्किञ्चिदप्यु पात्ताग्ने मूर्च्छिते घर्मतापिते।
सद्य पीतोदके चैव भेषज नैव चारयेत् ॥

असमत्वागत प्राण दोषधातु बलौजसाम्।
अत्यन्त सुकुमाराणा कुमाराणा बलायुषो ॥
क्षीणातिवृद्ध क्रुद्धाना क्षीण धात्विन्द्रियोजसाम्।
एकान्तेनौषध पीत सूर्यस्तोयमिवाल्पकम् ॥

यस्य पीतस्य याकान्ते दोष सूक्ष्मोऽपि लक्ष्यते।
व्याधेश्च प्रशमो न स्यात्तच्चवर्ज्यं विजानता ॥

यन्नातुर बल हन्ति व्याधिवीर्यं निहन्ति च
तदेवास्यावचार्यंस्यादाव्याध्युच्छेद दर्शनात्।

कृश रोगपरिध्वस्त सुकुमार समात्यिकम्
तीक्ष्णौषध प्रयोगेण हन्ति चाप्यतिमात्रया ॥

महारोग महाहार महासत्व महाबलम्।
मृद्वल्पौषध योगेन क्लेशयत्यातुर भिषक् ॥

उपक्रम्यो बलीतस्मादद्दुर्बलो निरुपक्रम ।
मध्यमुक्तैरुपक्रम्य न चाहारान्निवर्तयत् ॥
कृश विश्राम्य विश्राम्य पथ्यैरौषधसाधनैः।
धारयेद्वार्धयेदग्नि मग्नो वृद्धे हि जीवति ॥१॥

इसका भावार्थ स्पष्ट है। इसमे बतलाया गया है कि किन-किन अवस्थाओ मे कैसे मनुष्यो को औषध नही देनी चाहिये। कैसे स्वभाव तथा कैसी शरीर सम्पद् वाले रोगियो को निरन्तर दीर्घकाल तक औषध न देना। किस प्रकार की औषध न देना। किस प्रकार की औषध का प्रयोग जारी नही रखना।

कैसे रोगी तथा कैसे रोग मे तीक्ष्ण भेषज का कैसे रोगी और कैसे रोग मे मृदु वीर्य भेषज का प्रयोग करना विफल है। रोगावस्था मे रोगी की मानसिक तथा शारीरिक-स्थिति मे अन्तर आ जाता है। उसकी पाचन क्रिया का कार्य भी गडबडा जाता है। अत. किसी भी औषध का प्रयोग किया जाय यह ध्यान मे रखा जाय कि उससे पाचन-कर्म मे सहायता पहुँचे अन्यथा औषध का रोग-प्रशमक-रूप-फल कभी सम्पादित नही होगा। चिकित्सा-सिद्धात उसके व्यावहारिक-रूप तथा औषध के विषय मे यह थोडासा दिग्दर्शन-मात्र है। अधिक कहने की आवश्यकता नही विवेक-शील व्यक्ति उपरोक्त क्रम को तुलनात्मक-दृष्टि से परी-

इस प्रवचन से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि एक ही रोग दोष दूष्य सयोग रोगी की प्रकृति बलाबल तथा आश्रय-भदेक देश, काल के अनुबन्ध से विभिन्न-अवस्थाओ मे बदलता रहता है। चिकित्सा करते समय यदि इन परिवर्तन होने वाली अवस्थाओ का ध्यान न रखा जाय तो चिकित्सा मे सफलता मिलनी सभव नही। आयुर्वेदिक-पद्धति प्रत्येक रोग मे इसी तरह दोष-सिद्धान्त से चिकित्साक्रमका प्रति पादन करती है। रोग की सामान्य चिकित्सा का मूल सिद्धान्त सर्वत्र त्रिदोषाश्रित है। विशष-चिकित्सा लक्षणाश्रित है।

इस तरह सिद्धान्त तथा उहवा के साथ सामान्य-विशेष चिकित्सा का निरूपण आयुर्वेदिक-पद्धति मे किया गया है। रोग की प्रत्येक अवस्था में तदनुरूप आहार निहार का निर्देश भी सम्यक् रूप से किया गया है। रोगी को जिस औषधि का सेवन कराना है। उस औषधि के निराकरण के विषय में सबसे अधिक विचार करने की जरूरत है। रोग की दवा होते हुए भी उसका प्रयोग सब रोगियो को सब अवस्थाओ मे नही कराया जा सकता। इसका थोडा सा विवरण देखिये।—

सग्रहकार—योग्यमपि चौषधमेव परीक्षेत। इदमेव रसवीर्यं विपाक, एव गुण, एव द्रव्य, एव कर्म, एव प्रभावम्, अस्मिन् देशेजात, अस्मिन् ऋतौ, एव गृहीतम्, एव विहित, एव निषिद्ध, एवमुपसस्कृतम् एव सयुक्त, एव युक्तम्, अनयामात्रया, एव विधस्य पुरुषस्य, एव विधे काले एतावन्त दोष अपकर्षति उप शमयति वा।

रोगानुरूप औषध की भी इस प्रकार परीक्षा करें। यह औषध किस रस, गुण वीर्य० विपाक वाली है। इसके आश्रय-द्रव्य मे किस भूत की प्रधानता है। यह औषध किस द्रव्य का निष्पादन करेगी—इसका प्रभाव क्या रहेगा। इसका उत्पत्ति स्थान कौनसा है। किस ऋतु मे कैसे गृहीत की गई है। कैसे रखी गई है। किस स्थिति मे तथा किस रूप मे बदल जाने पर इसका प्रयोग निषिद्ध है। गुणाधान के लिये किस प्रकार उप सस्कृत की गई है। ऊपर किन औषधियो से सयुक्त है। किस मात्रा मे किस पुरुष को किस काल मे देने पर किस दोष का किस तरह शोधन करती है। किस का किस स्थिति में शमन करती है।

काल सम्बन्ध से औषध मे कितना हेर-फेर होता है। इस पर भी पूरा विचार किया गया है। किस ऋतु मे कैसी भेषज उपयोगी है कैसी नही किस काल के निकल जाने पर कौनसी भेषज गुणहीन हो जाती है? कैसे सयोगी-द्रव्यो से औषध के गुण वीर्य की वृद्धि तथा ह्रास हो जाता है? किन-किन रोगियो को किस प्रकार की भेषज का प्रयोग करना किसका नही करना इत्यादि विषयो का विवेचन बहुत विस्तार से है। यहाँ इस थोडे से अश का उद्धरण देता हूँ जिसमे रोगी को औषध देनी ही न चाहिये।

म० काश्यप—क्षीण धात्विन्द्रिये शान्ते क्लान्ते तान्ते बुभुक्षिते।
भैषज्यदग्धकोष्ठे भेषज नैवापचारयेत् ॥१॥

क्रुद्धे विषण्णे शोकार्ते रात्रौजागरिते तथा।
विदग्धाजीर्णे भुक्तश्च भेषज नैवापचारयेत् ॥२॥

कर्मातिभाराभिहते निरूढे सानुवासिते।
उपापिते विरक्ते च भेषज नापचारयेत् ॥
यत्किञ्चिदप्यु पात्राणे मूर्च्छिते घर्मतापिते।
सद्य पीतोदके चैव भेषज नैव चारयेत् ॥

असमत्वागत प्राण दोषधातु बलौजसाम्।
अत्यन्त सुकुमाराणा कुमाराणा बलायुषो ॥
क्षीणातिवृद्ध क्रुद्धाना क्षीण धात्विन्द्रियौजसाम्।
एकान्तेनौषध पीत सूर्यस्तोयमिवाल्पकम् ॥

यस्य पीतस्य याकान्ते दोष सूक्ष्मोऽपि लक्ष्यते।
व्याधेश्च प्रशमो न स्यात्तच्चवर्ज्य विजानता ॥

यन्नातुर बल हन्ति व्याधिवीर्यं निहन्ति च
तदेवास्यावचार्यंस्याद्व्याध्युच्छेद दर्शनात्।

कृश रोगपरिध्वस्त सुकुमार समाश्रितकम्
तीक्ष्णौषध प्रयोगेण हन्ति चाप्यतिमात्रया ॥

महारोग महाहार महासत्व महाबलम्।
मृद्वल्पौषध योगेन क्लेशयत्यातुर भिषक् ॥

उपक्रम्यो बलीतस्माददुर्बलो निरुपक्रम।
मध्यमुक्तैरुपक्रम्य न चाहारान्निवर्तयत् ॥
कृश विश्राम्य विश्राम्य पथ्यैरौषधसाधनै।
धारयेद्धावयेदग्नि मग्नो वृद्धे हि जीवति ॥१॥

इसका भावार्थ स्पष्ट है। इसमे बतलाया गया है कि किन-किन अवस्थाओ मे कैसे मनुष्यो को औषध नही देनी चाहिये। कैसे स्वभाव तथा कैसी शरीर सम्पद् वाले रोगियो को निरन्तर दीर्घकाल तक औषध न देना। किस प्रकार की औषध न देना। किस प्रकार की औषध का प्रयोग जारी नही रखना।

कैसे रोगी तथा कैसे रोग मे तीक्ष्ण भेषज का कैसे रोगी और कैसे रोग मे मृदु वीर्य भेषज का प्रयोग करना विफल है। रोगावस्था मे रोगी की मानसिक तथा शारीरिक-स्थिति मे अन्तर आ जाता है। उसकी पाचन क्रिया का कार्य भी गडबडा जाता है। अत किसी भी औषध का प्रयोग किया जाय यह ध्यान मे रखा जाय कि उससे पाचन-कर्म मे सहायता पहुँचे अन्यथा औषध का रोग-प्रशमक-रूप-फल कभी सम्पादित नही होगा। चिकित्सा-सिद्धात उसके व्यावहारिक-रूप तथा औषध के विषय मे यह थोड़ासा दिग्दर्शन-मात्र है। अधिक कहने की आवश्यकता नही विवेक-शील व्यक्ति उपरोक्त क्रम को तुलनात्मक-दृष्टि से परी-

इस प्रवचन से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि एक ही रोग दोष दूष्य सयोग रोगी की प्रकृति बलाबल तथा आश्रय-भदेक देश, काल के अनुबन्ध से विभिन्न-अवस्थाओ मे बदलता रहता है। चिकित्सा करते समय यदि इन परिवर्तन होने वाली अवस्थाओ का ध्यान न रखा जाय तो चिकित्सा मे सफलता मिलनी सभव नही। आयुर्वेदिक-पद्धति प्रत्येक रोग मे इसी तरह दोष-सिद्धान्त से चिकित्साक्रमका प्रति पादन करती है। रोग की सामान्य चिकित्सा का मूल सिद्धान्त सर्वत्र त्रिदोषाश्रित है। विशष-चिकित्सा लक्षणाश्रित है।

इस तरह सिद्धान्त तथा उहवा के साथ सामान्य-विशेष चिकित्सा का निरूपण आयुर्वेदिक-पद्धति में किया गया है। रोग की प्रत्येक अवस्था मे तदनुरूप आहार निहार का निर्देश भी सम्यक् रूप से किया गया है। रोगी को जिस औषधि का सेवन कराना है। उस औषधि के निराकरण के विषय मे सबसे अधिक विचार करने की जरूरत है। रोग की दवा होते हुए भी उसका प्रयोग सब रोगियो को सब अवस्थाओ में नही कराया जा सकता। इसका थोडा सा विवरण देखिये।—

सग्रहकार—योग्यमपि चौषधमेव परीक्षेत। इदमेव रसवीर्य विपाक, एव गुण, एव द्रव्य, एव कर्म, एव प्रभावम्, अस्मिन् देशेजात, अस्मिन् ऋतौ, एव गृहीतम्, एव विहित, एव निषिद्ध, एवमुपसस्कृतम् एव सयुक्त, एव युक्तम्, अनयामात्रया, एव विधस्य पुरुषस्य, एव विधे काले एतावन्त दोष अपकर्षति उप शमयति वा।

रोगानुरूप औषध की भी इस प्रकार परीक्षा करें। यह औषध किस रस, गुण वीर्य० विपाक वाली है। इसके आश्रय-द्रव्य मे किस भूत की प्रधानता है। यह औषध किस द्रव्य का निष्पादन करेगी—इसका प्रभाव क्या रहेगा। इसका उत्पत्ति स्थान कौनसा है। किस ऋतु मे कैसे गृहीत की गई है। कैसे रखी गई है। किस स्थिति मे तथा किस रूप में बदल जाने पर इसका प्रयोग निषिद्ध है। गुणाधान के लिये किस प्रकार उप सस्कृत की गई है। ऊपर किन औषधियो से सयुक्त है। किस मात्रा मे किस पुरुष को किस काल मे देने पर किस दोष का किस तरह शोधन करती है। किस का किस स्थिति मे शमन करती है।

काल सम्बन्ध से औषध मे कितना हेर-फेर होता है। इस पर भी पूरा विचार किया गया है। किस ऋतु मे कैसी भेषज उपयोगी है कैसी नही किस काल के निकल जाने पर कौनसी भेषज गुणहीन हो जाती है? कैसे सयोगी-द्रव्यो से औषध के गुण वीर्य की वृद्धि तथा ह्रास हो जाता है? किन-किन रोगियो को किस प्रकार की भेषज का प्रयोग करना किसका नही करना इत्यादि विषयो का विवेचन बहुत विस्तार से है। यहाँ इस थोडे से अश का उद्धरण देता हूँ जिसमे रोगी को औषध देनी ही न चाहिये।

म० काश्यप—क्षीण धात्विन्द्रिये श्रान्ते क्लान्ते तान्ते बुभुक्षिते।
मंपज्यदग्धकोष्ठे भेषज नैवापचारयेत्॥१॥

क्रुद्धे विषण्णे शोकार्ते रात्रौजागरिते तथा।
विदग्धाजीर्णं भुक्तश्च भेषज नैवापचारयेत् ॥२॥

कर्मातिभाराभिहते निरूढे सानुवासिते।
उपापिते विरक्ते च भेषज नापचारयेत् ॥
यत्किञ्चिदध्व पात्ताग्रे मूच्छिते घर्मतापिते।
सद्य पीतोदके चैव भेषज नैव चारयेत् ॥

असमत्वागत प्राण दोषधातु बलौजसाम्।
अत्यन्त सुकुमाराणा कुमाराणा बलायुषो ॥
क्षीणातिवृद्ध क्षुद्धाना क्षीण धात्विन्द्रियोजसाम्।
एकान्तेनौषध पीत सूर्यस्तोयमिवाल्पकम् ॥

यस्य पीतस्य याकान्ते दोष सूक्ष्मोऽपि लक्ष्यते।
व्याधेश्च प्रशमो न स्यात्तच्चवर्ज्यं विजानता ॥

यच्चातुर बल हन्ति व्याधिवीर्यं निहन्ति च
तदेवास्यावचार्यंस्यादाव्याध्युच्छेद दर्शनात्।

कृश रोगपरिध्वस्त सुकुमार समाल्पिकम्
तीक्ष्णौषध प्रयोगेण हन्ति चाप्यतिमात्रया ॥

महारोग महाहार महासत्व महाबलम्।
मृद्वल्पौषध योगेन क्लेशयत्यातुर भिषक् ॥

उपक्रम्यो बलीतस्माद्दुर्बलो निरुपक्रम।
मध्यमुक्तैरुपक्रम्य न चाहाराग्निवर्तयत् ॥
कृश विश्राम्य विश्राम्य पथ्यैरौषधसाधनै।
धारयेद्वार्धयेदग्नि मग्नो वृद्धे हि जीवति ॥१॥

इसका भावार्थ स्पष्ट है। इसमे बतलाया गया है कि किन-किन अवस्थाओ मे कैसे मनुष्यो को औषध नही देनी चाहिये। कैसे स्वभाव तथा कैसी शरीर सम्पद् वाले रोगियो को निरन्तर दीर्घकाल तक औषध न देना। किस प्रकार की औषध न देना। किस प्रकार की औषध का प्रयोग जारी नही रखना।

कैसे रोगी तथा कैसे रोग में तीक्ष्ण भेषज का कैसे रोगी और कैसे रोग मे मृदु वीर्य भेषज का प्रयोग करना विफल है। रोगावस्था मे रोगी की मानसिक तथा शारीरिक-स्थिति मे अन्तर आ जाता है। उसकी पाचन क्रिया का कार्य भी गडबडा जाता है। अत. किसी भी औषध का प्रयोग किया जाय यह ध्यान मे रखा जाय कि उससे पाचन-कर्म मे सहायता पहुँचे अन्यथा औषध का रोग-प्रशमक-रूप-फल कभी सम्पादित नही होगा। चिकित्सा-सिद्धात उसके व्यावहारिक-रूप तथा औषध के विषय मे यह थोडासा दिग्दर्शन-मात्र है। अधिक कहने की आवश्यकता नही विवेक-शील व्यक्ति उपरोक्त क्रम को तुलनात्मक-दृष्टि से परी-

क्षण करेंगे तो उनको स्वतः ही निश्चय हो जायगा चिकित्सा का क्रम किसका अधिक यथार्थ है। मेरी समझ से निम्नलिखित-विशेषतायें आयुर्वेद-पद्धति की अपनी हैं।

आयुर्वेदिक-चिकित्सा-पद्धति की विशेषाताऐं—

१ प्रत्येक-रोग की दोष-सिद्धान्त से चिकित्सा।

२ सामान्य-चिकित्सा के साथ-साथ आवस्थिक-चिकित्सा।

३ रोगोत्पत्ति से पहिले चयादि अवस्था की चिकित्सा।

४. भविष्य में होने वाले रोगो की दोष सिद्धान्त से चिकित्सा।

५. प्रत्येक रोग व रोग की अवस्था-विशेष मे पथ्यापथ्य।

६. लघन-भेषज मे पचकर्म तथा उपवासादि कर्मो का प्रयोग।

७ रोग निवृत्ति के पश्चात् स्वास्थ्यानुबध के लिये अनुबन्ध चिकित्सा।

८. उग्रप्रतिरोध-मूलक चिकित्सा की अपेक्षा शमन-चिकित्सा की प्रधानता।

९. काष्ठौषधि-प्रधान-चिकित्सा के कारण औषध-सव्यापद् का सर्वथा अभाव।

१०. तीव्रविषादि प्रयोग से होने वाली हानि से रहित।

११ चिकित्सा का मूल-ध्येय शरीर की स्वाभाविक-स्थिति को समस्थिति में रखने के कारण सौम्य-गुण-प्रधान भेषजो का अधिक व्यवहार।

१२. शरीर के अवयवो की क्रिया-विशेष को बलपूर्वक उत्तेजित करने या दबाने का परिहार।

१३ औषधि तथा योगो की प्रचुरता जिससे सब स्थिति को चिकित्सा में सुलभता।

ये इस चिकित्सा-पद्धति की मौलिक विशेषतायें हैं। अपनी अल्पज्ञता के कारण कही अनुपादेय उल्लेख हुआ तो तदर्थ क्षमा।

लेखक वैद्य अम्बालाल जोशी

[आयुर्वेदकेशरी, साहित्य आयुर्वेदरत्न "श्री जोशी" परम्परागत चिकित्सक रत्नों में से हैं। आप जोधपुर नगर की नगरपालिका के मान्य सदस्य कई बार रह चुके हैं। आप [illegible] मिलनसार व्यक्ति हैं तथा अनेक पत्र पत्रिकाओं के सम्पादक व आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका के [illegible] सम्पादक भी रह चुके हैं। समय समय पर आपके सारगर्भित लेख कई पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं तथा आप इस अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादक मंडल में हैं तथा चरित्र नायक के प्रति अ बड़ी आस्था है।

आपके पिता श्री मोहनलालजी आयुर्वेदकेशरी साहित्य तथा संगीत के उत्कट विद्वान् रहे तथा आपके पितामह पंडितमार्त्तण्ड प्राणाचार्य दाधीचशिरोमणि श्री [illegible] अपने समय के [illegible] प्रसिद्ध नाडीविशेषज्ञ माने जाते थे। श्री जोशी का 'रस शास्त्र' सम्बन्धी ज्ञान [illegible] व सारगर्भित है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आयुर्वेद मे रसशास्त्र एक नवीन अध्याय के रूप मे जुडा। रसशास्त्र का प्रधान द्रव्य 'रस' है। इसे पारद की सज्ञा दी गई है। पारद का प्रयोग आयुर्वेद रसशास्त्र मे दो प्रकार से किया गया है—१ देह सिद्धि तथा २ धातु सिद्धि। देह सिद्धि के लिये पारद के आठ सस्कार आवश्यक बताये गये हैं तथा धातु सिद्धि के लिये आठरह सस्कार। धीरे-धीरे ज्यो-ज्यो रस-शास्त्र का विकास हुआ आयुर्वेद मे यह अलग नामाकित किया जाने लगा। रस-शास्त्र के चिकित्सक अपने आपको अन्य चिकित्सको से अधिक पटु मानने लगे। इसीलिये उनके औषध निर्माण स्थान को रस शाला, स्वय रस चिकित्सक, रस सिद्धि (धातु सिद्धि) करने वालो को रस सिद्ध आचार्य, उनकी निर्मित औषधियो को रस-रसायन आदि पुकारा जाने लगा।

पारद रसशास्त्र का प्रमुख द्रव्य है। इसके नाम शास्त्रो मे रस, रसेन्द्र, सूत, रसेश्वर, चपल, रसराज तथा पारद हैं। पारद एक खनिज-द्रव्य है। यह अशुद्ध रूप मे प्राप्त होता है। मुख्यतः इसकी अशुद्धियाँ यह बताई गई हैं—नाग, बग, मल, वह्नि, चापल्य, विष, गिरि, असह्याग्नि। ये दोष पारद के स्वाभाविक दोष हैं इससे मुक्त करने के लिये शोधन आवश्यक है तथा इसके प्रभाव को अधिक तीव्र बनाने के लिए इसके आठ सस्कार परमावश्यक हैं। अशुद्ध पारद मानव शरीर मे प्रवेश कर निम्न विकार उत्पन्न कर देते हैं—व्रण, कुष्ठ, जडता, तापवृद्धि, शुक्रक्षय, मृत्यु, देहस्फोट, मोह।

उपरोक्त विकार ऊपर वर्णित मलो के प्रतिफलस्वरूप क्रमश यहाँ लिखे गये हैं। इसके सिवाय पारद मे सात कचुकी दोष भी माने गये हैं। इन कचुकियो के नाम—भेदी, द्रावी, मलकरी, ध्वाक्षी, पर्पटिका, अधकारी, पाटली।

ऊपर हम यह कह आये हैं कि रसो के निर्माण मे मूल द्रव्य पारद ही है और इसी की प्रधानता के कारण उनका नामकरण रस-रसायन किया गया है। रसो मे डाला जाने वाला पारद शुद्ध होता है अशुद्ध नही इसीलिये उसकी शुद्धि आवश्यक मानी गई है। पारद की सामान्य शुद्धि तथा विशेष शुद्धि दो प्रकार की शुद्धि बताई गई है।

सामान्य शुद्धि—

(१) गृहधूम, हरिद्रा, ईंट का चूण, बारीक काटी हुई ऊन मे पारद को घोट कर काजी के अम्ल जल से धो लेने से उसकी सामान्य शुद्धि होती है।

(२) पारद को समभाग चूने मे ३ दिन मर्दन करें। फिर कपडे मे छान कर पारद निकाल लें। छने हुए पारद को लहसुन, नमक डाल कर खरल करें। लहसुन काला हो जाने पर काजी से धो कर साफ कर लें।

(३) घृत कुमारी, चित्रक छाल, लाल सरसो, छोटी कटेली तथा त्रिफला क्वाथ में मर्दन करने से पारद शुद्ध होता है।

शिव शक्ति—समायोगात्प्राप्यते परमं पदम्

गन्धक के साहचर्य से पारद—शक्ति में उत्कर्षता होती है।

(४) गुड त्रिकटु अजवायन, पाचो नमक, चित्रक, त्रिफला, यवक्षार सज्जीखार, सुहागा, धतूर बीज और सरसो इन सब का पृथक पृथक पारद के साथ मर्दन करने से पारद शुद्ध होता है।

(५) पान के रस, अद्रक रस, यवक्षार, सज्जीक्षार, सुहागा को मिलाकर तीन दिन तक पारद को इनमे खरल कर कांजी से धोने से पारद शुद्ध होता है।

विशेष—हिंगुलोत्थपारद का निर्माण—

(१) हिंगलू रूमी को नीबू के रस मे मर्दन कर टिकिया बनालें फिर सूखने पर इस टिकिया को डमरू यन्त्र मे रख कर आच देकर पारद उडालें।

(२) नीबू के रस मे शुद्ध किये गये हिंगलू को एक कपडे मे लपेट कर पिण्ड बनालें फिर इस पिण्ड मे धीरे से आग लगादें तथा किसी मिट्टी के बरतन मे रख कर ऊपर मजबूत ढक लगादें। कपडा जल जावेगा और पारद निकल आवेगा। छान कर शीशी मे रख लें।

पारद के सस्कार—

१ स्वेदन २ मर्दन ३ मूर्च्छन ४ उत्थापन ५ ऊर्ध्वपातन, अध पातन तथा तिर्यग्-पातन ६ बोधन ७. नियमन और ८. दीपन ये आठ सस्कार देह सिद्धि के लिये बताये गये हैं। परन्तु धातु सिद्धि के लिये ९ गगनभक्षण प्रमाण १० सचारण ११ गर्भद्रुति १२. बाह्य द्रुति १३ जारण १४ ग्रास १५ सारण १६ सक्रामण १७ वेधन १८ शरीर योग ये सस्कार और बताये गये हैं। नीचे हम केवल पारद के आठ सस्कारो की विधि मात्र बतायेंगे।

पारद के सशोधन तथा गुण-वृद्धि के लिये सस्कार बताये गये हैं।

(१) दोला यन्त्र मे क्षारीय या अम्ल द्रव को भर कर पारद की पोटली उसमे लटका कर उबाला जाता है। वाष्प से स्वेद होने को स्वेदन सस्कार कहते हैं। पारद का सोलहवा भाग—पिपली, मिरच, चित्रक, अद्रक, सौंठ, सेंधा नमक, त्रिफला को काजी मे मिला कर उबालें। तीन दिन तक स्वेदन किया जाता है।

स्वेदन के लिये अन्य द्रव्य भी प्रयोग मे आते हैं उनका उल्लेख लेख के विस्तार भय से यहा नही किया जा रहा है।

(२) सैंधव, गृहधूम, राई, हल्दी, लहसुन, अदरक, त्रिफला को १।१६ लेकर पारद मे तीन दिन तक खरल करें। मर्दन सस्कार है।

(३) पारद के मल, वह्निो आदि विष दोषो को दूर करने के लिये घृत कुमारी के स्वरस में पारद को मर्दन कर नष्ट पिष्ट बना लेने से समूर्च्छन सस्कार पूर्ण होता है। यह सात दिन किया जाता है।

शिव शक्ति—समायोगात्प्राप्यते परमं पदम्

साधक के साहचर्य से पारद—शक्ति में उत्कर्षता होती है।

(४) गुड त्रिकटु अजवायन, पाचो नमक, चित्रक, त्रिफला, यवक्षार सज्जीक्षार, सुहागा, धतूर बीज और सरसो इन सब का पृथक पृथक पारद के साथ मर्दन करने से पारद शुद्ध होता है।

(५) पान के रस, अद्रक रस, यवक्षार, सज्जीक्षार, सुहागा को मिलाकर तीन दिन तक पारद को इनमे खरल कर काजी से धोने से पारद शुद्ध होता है।

विशेष—हिंगुलोत्थपारद का निर्माण—

(१) हिंगलू रूमी को नीबू के रस मे मर्दन कर टिकिया बनालें फिर सूखने पर इस टिकिया को डमरू यन्त्र मे रख कर आच देकर पारद उडालें।

(२) नीबू के रस मे शुद्ध किये गये हिंगलू को एक कपडे मे लपेट कर पिण्ड बनालें फिर इस पिण्ड मे धीरे से आग लगादें तथा किसी मिट्टी के बरतन मे रख कर ऊपर मजबूत ढक लगादें। कपडा जल जावेगा और पारद निकल आवेगा। छान कर शीशी मे रख लें।

पारद के सस्कार—

१ स्वेदन २ मर्दन ३ मूर्च्छन ४ उत्थापन ५ ऊर्ध्वपातन, अध पातन तथा तिर्यग्-पातन ६ बोधन ७. नियमन और ८. दीपन ये आठ सस्कार देह सिद्धि के लिये बताये गये हैं। परन्तु धातु सिद्धि के लिये ९ गगनभक्षण प्रमाण १० सचारण ११ गर्भद्रुति १२. बाह्य द्रुति १३ जारण १४ ग्रास १५ सारण १६ सक्रामण १७ वेधन १८ शरीर योग ये सस्कार और बताये गये हैं। नीचे हम केवल पारद के आठ सस्कारो की विधि मात्र बतायेंगे।

पारद के सशोधन तथा गुण-वृद्धि के लिये सस्कार बताये गये हैं।

(१) दोला यन्त्र मे क्षारीय या अम्ल द्रव को भर कर पारद की पोटली उसमे लटका कर उबाला जाता है। वास्प से स्वेद होने को स्वेदन सस्कार कहते हैं। पारद का सोलहवा भाग—पिपली, मिरच, चित्रक, अद्रक, सौठ, सेंधा नमक, त्रिफला को काजी मे मिला कर उबालें। तीन दिन तक स्वेदन किया जाता है।

स्वेदन के लिये अन्य द्रव्य भी प्रयोग मे आते हैं उनका उल्लेख लेख के विस्तार भय से यहा नहीं किया जा रहा है।

(२) सैंधव, गृहधूम, राई, हल्दी, लहसुन, अदरक, त्रिफला को १।१६ लेकर पारद मे तीन दिन तक खरल करें। मर्दन सस्कार है।

(३) पारद के मल, वह्नि आदि विष दोषो को दूर करने के लिये घृत कुमारी के स्वरस में पारद को मर्दन कर नष्ट पिष्ट बना लेने से समूर्च्छन सस्कार पूर्ण होता है। यह सात दिन किया जाता है।

(४) सुहागा, लवण, मधु के साथ पारद को अच्छी तरह मर्दन कर इसका एक गोला बना कर पोटली मे बाँध कर अम्लद्रव मे स्वेदन करें तीन वार करने से पारा उत्थित हो जाता है। प्रथम तीन सस्कारो से पारद मे जो नपुसकता आ जाती है उसे पुन पूर्ण रूप प्रदान करने के लिये यह सस्कार किया जाता है। इसे उत्थापन सस्कार कहते हैं।

(५) (अ) सजीखार, जवखार, हीग, पाचो नमक तथा आलवर्गीय ओषधियो के साथ पारद को मर्दन कर इस कल्क को हाँडी मे डाल कर ऊर्ध्व पातन यत्र मे ऊपर उडालें। पारद ऊपर की हाडी के चिपका हुआ मिलेगा। इसे एकत्रित कर छान ले। यह ऊर्ध्व पातन सस्कार है।

(ब) समभाग गधकयुक्त पारद को मर्दन कर कज्जली बनाले। फिर पारद के समभाग चित्रक, सहजना, राई, सैंधा नमक, कवचबीज का चूर्ण मिला कर जम्बीरी के रस मे मर्दन कर पिस्ट बनालें। इस पिस्टी को ऊर्ध्व पातन यत्र के ऊपर के भाग मे भीतर लेप करदें। फिर ऊपर आग लगा कर नीचे के भाग में पारद एकत्रित करलें। यह अधः पातन सस्कार है।

(स) सैंधा नमक काजी आदि ऊपर की दवाओ में पारद मिलादो—इसे पीसें। फिर तिर्यग् पातन यत्र में रख कर तिरछा उडावे। यह पारद का तिर्यग् पातन सस्कार है।

(६) सैंधा नमक को काजी में पीस कर पारद मिला दें फिर पीस कर किसी काँच की शीशी में डाल कर मुह बन्द कर गढे मे जमीन मे गाड दें ऊपर से लघु पुट देने से पारद का षण्ड दोष दूर होता है और वीर्य वृद्धि होती है। इसे बोधन या रोधन सस्कार कहते हैं।

(७) बोधन सस्कार द्वारा लब्ध वीर्य पारद की चापल्यदोष को दूर करने के लिये नियमन सस्कार किया जाता है। नियामकगणो को सम्पूर्ण या इनमे से कुछ को लेकर इनके स्वरस या क्वाथ मे स्वेदन करने से पारद नियमित हो जाता है।

नियामक गण ये हैं—सहदेवी, गगेरण, कच्ची इमली, पुनर्नवा, मूषा कर्णी, पिया बास, अडूसा, मकोय गोखरू, शरपखा, अपराजिता चौलाली, कोयल काली, शतावर, शख पुस्पी श्वेत आक धतूरा, लकम, बहूने दण्डी, गिलोय, सैंधा नमक, पाठ, इन्द्रायण, और मछेछी।

(८) दोला यत्र मे उक्त पारद को डालकर क्षारीय या अम्ल द्रवो मे इतना स्वेदन करे कि उससे उसमे धातुओं एव गधक आदि को ग्रास करने की शक्ति आ जाय। इसके लिए कालीस, काली मिर्च, फिटकडी, सहीजना, काजी, सुहागा, पाची नमक, चित्रक, राई काम मे आते हैं। यह सस्कार दो दिन तक किया जाता है। यह दीपन सस्कार।

उपरोक्त अष्ट सस्कारित पारद तथा हिंगुलोत्थ पारद मे रोगनाशक शक्ति पैदा करने के लिए इसे षड गुण गधक जीर्ण करना जरूरी है। इस कार्य के लिए निम्न विधि है।

पारद मे एक साथ छ गुना गधक मिला कर उसे अग्नि देकर जारण करें। यदि ऐसा न कर सकें तो– समान भाग गधक मिला कर– छ बार कर अग्नि दें। यह सत्त पातन विधि से भी किया जा सकता है।

इस शुद्ध सस्कृत पारद की दो प्रकार की मूर्च्छना मानी गई है। (१) अन्तर्धूम तथा (२) बहिर्धूम। पारद की कज्जली को काच कूपी मे रख कर डाट लगा कर धीरे धीरे आच मे पकाने से अन्तर्धूम मूर्छना कहते हैं। तथा बिना डाट लगाए आंच देकर, तदन्तर डाट लगा कर रस सिन्दूर तैयार करने को बहिर्धूम मूर्च्छना कहते हैं। गधक सहित की गई मूर्छनायुक्त पारद देह को हानि नही पहुँचाता परन्तु गधकविहीन मूर्छित पारद उपदश आदि रोगो मे ही काम लिया जा सकता है और इसमे भी हानि करने का अन्देशा रहता है।

मुग्ध रस

शुद्ध पारद तथा शुद्ध खटिका को खरल करें। इसे अच्छी तरह घोटने से इसमे चमक नही रहती। इसे मुग्ध रस कहा जाता है। मात्रा $\frac{1}{2}$ रत्ती फिरग, बाल अतिसार आदि रोगो मे उपयोगी।

रस पुष्प

पारद ५ तोले, सैधव ५ तोले, शुद्ध कसीस ५ तोले तीनो को एक साथ खरल मे मर्दन कर काच कूपी मे भर लें। फिर वालुका यन्त्र मे अग्नि प्रदान कर (छ घन्टे) काच की शीशी के गले मे लगे हुए सफेद चमकदार पदार्थ को निकाल लें। धूम निकल जाने पर उस पर डाट लगा दें। तथा गले को चार अगुल छोड कर बालुका रखे। यही रस पुष्प है– इसे रस कपूर। रस कुसुम भी कहा गया है।

कज्जली

पारद तथा गधक समान मात्रा, आधा, दुगना या चतुर्थांश लेकर खरल करें। कृष्ण वर्ण की बिना चमक की कज्जली बन जाती है। इसमे द्रव पदार्थ मिलाने से कीट कहा जाता है।

इसी कज्जली से पर्पटी बनाई जाती है। जो ग्रहणी रोग मे लाभ करती है। कज्जली को कलछी मे गरम कर पिघलालें फिर कदली पत्र पर डाल कर ऊपर से कदली पत्र ढक कर दोनो ओर भैस का गोबर लगा दें। ठण्डा होने पर पपडी को निकाल लें। यह रस-पर्पटी कहलाती है।

रस सिन्दूर

आठ तोले शुद्ध पारद, आठ तोले शुद्ध गधक डाल कर कज्जली बनादें। बड़ के अकुर

स्वरस डाल कर या कपास के पुष्पो का स्वरस डाल कर पिट्ठी बनालें फिर सुखा कर कूपी मे डाल कर कपड मिट्टी कर बालुका यन्त्र मे रख कर मद, मध्य तथा तीव्र आच दे। ६ घटे बाद गधक जीर्ण हो जाने पर कूपी के मुख पर डाट लगा लें (गुड तथा चूने को मिट्टी के गोल चकरे पर लगा कर डाट लगा दे) फिर ६ घटे को तीव्र अग्नि देकर रस सिंदूर निकाल लें। यह कूपी के गले मे लगा मिलेगा गहरे लाल वर्ण का होगा। यह गलस्थ रस सिन्दूर है। गलस्थ रस सिन्दूर बनाने के लिए उपरोक्त अनुसार कज्जली को कूपो मे डाल कर उसके मुंह पर डाट लगा दें। फिर जमीन मे एक हाथ लम्बा तथा उतना ही चौडा गड्ढा खोद कर इसके बीच मे शीशी रख कर चारो तरफ चार अगुल ऊचे तक कर जला दे। स्वागः शीतल होने पर गले मे चिपका बालू भर दे। फिर जगलो गोवर भरा हुआ रक्त वर्ण का रस सिन्दूर निकाल लें। इस यत्र का नाम अध संकत यत्र है।

अर्घ गधक जीर्ण करने के लिए गधक के समान भाग नोसादर मिलाना चाहिए। इसी प्रकार द्विगुण, त्रिगुण, षड गुण आदि के बारे मे करना चाहिए। अधिक गधक जीर्ण करने के लिए अधिक समय तक आच देनी पडती है।

पारद भस्म

शुद्ध पारद को समान भाग शुद्ध गधक मे खरल कर कज्जली बनालें फिर बड के दूध मे घोट इस कज्जली को एक मिट्टी के पात्र मे रख कर चूल्हे के नीचे मद मद अग्नि दें। मिट्टी मे पडे पारद को बड दण्ड से हिलाते रहे। इस प्रकार १२ घटे मे कृष्ण वर्ण की भस्म हो जावेगी जो निर्धूम तथा गौरव आदि गुण लिए होगी।

पारद भस्म बनाने की अन्य विधिया स्थानाभाव से यहा नही दी जा रही हैं।

महारस ८

महारस	जाति भेद	उपयोगी	ग्राह्य	शोधन	मारण
१ अभ्रक Biotite	पिनाक, नाग, मण्डूक, वज्र, श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण, मेग्ने-शिया, आइरन	तपाने से कोई विकार न हो कृष्ण वज्राभ्रक	स्निग्ध, सूक्ष्म दल वजनदार, पत्र सरलता से छूटे	तपाकर–दूध, कांजी, त्रिफला-क्वाथ गोमूत्र मे ८ बुझावा दें। ¼ चावल के साथ कंबल मे पोटली बांध रखें	कसौदी रस से घोट कर १० पुट दें। ७ अर्क दूध से ३ वटांकुर क्वाथ से चन्द्रिका रहित होने पर प्रयोग करे।
२ वैक्रान्त Tourmaline	आठ कोण, फलक ८ या ६ श्वेत, पीत, रक्त, नील, श्याम, कृष्ण, कर्बुर कबूतरी सोडियम लीथीयम, पोटेशियम	पांच रगो का सुनहरी कृष्णवर्ण Deepblack	इसकी कठोरता ७ ७·५	कुलत्थ क्वाथ मे स्वेदन करे।	सम भाग गधक के साथ निंबू रस मे घोट कर ८ पुट दें।
३ माक्षीक	स्वर्ण Copper Pyrites रौप्य Iron Pyrites			¼ सेंधा नमक नीबू रस ५ गुणे मे कढाई मे डाल तेज अग्नि मे पकाए। शुष्क व लाल होने पर उतार कर जल से धोकर नमक निकाले।	कुलत्थ क्वाथ, एरड तेल, मठे, अजामूत्र से ३–४ पुट दें।
४ विमल	स्वर्ण Marcasite रौप्य Pyrrhatine कांस्य Lollingite	कांस्य विमल		अड़ूसे के रस मे स्वेदन करे।	गधक के साथ लोधी रस मे घोट कर १० पुट दें।
५ शिलाजीत Ozokerite	गोमूत्रगधी ससत्व Paraffin कर्पूरपूर्व निःसत्व Naphthene	अग्नि मे लिंगाकार धूमरहित, जल-विलेय		यवक्षार, कांजिक, गो मूत्र से धोकर त्रिफला द्रव से यत्न-पूर्वक शोधन करे।	गधक, हरिताल को बिजौरे के साथ घोटकर ८ उपलों मे पुट दे।

६ सस्यक Copper Sulphate	ताम्र, गधक का यौगिक (दाहक क्षारकर्म)	मयूर कठ सम-छाया भारनुक्त	कडाई मे ६८ तुत्थ चूर्ण को कपडे मे बाध रख ऊपर ४२० त्रिफलाक्वाथ डाल जल भर दें। एक माहतक खुला रखें, शुद्ध ताम्र शेष मिलेगा।	नींबू रस से मर्दन कर लघु पुट देकर वही की २ भावना दे।	लकुचद्राव, गधक, टकरण के साथ घोट मूषा मे कुक्कुट पुट दें।
७ चपल Bismuth	गौर, श्वेत, अरुण, कृष्ण	वग की तरह द्रवण शीघ्र	स्फटिकच्छाय,षट् अस्र स्निग्ध गुरु	जबीर, ककोडा शुण्ठी रस की भावना दे।	
८ रसक	दर्दुर, सदल, सत्त्वपातन / कारवेल्लक निर्दल औषधि Zinccarbonati, Silicate Zinco Znosio			कडवी तुम्बी के रस मे पाक से निर्दोष पीत वर्ण हो जाता है।	

सत्व	सत्वशोधन	सत्वमृदुकरण	सत्व मारण	प्रयोग	रोगानुसार
१ चतुर्थांश अभ्रक से सुहागा मुसली रस से मिला कोष्ठी-यन्त्र मे धमन करे।	द्रवितकर काजीक मे ७ वार बुझा-वादे व चूर्ण लोहरवल्व मे करे	द्रवित कर, मधु, तैल, वसा आज्य मे बुझावा दें १०	घृत, धात्रीपत्ररस, पुनर्नवा, १०-१० पुट तथा गंधक के १० पुट।	वेल्ल, व्योष घृतयुक्त मात्रा १ वल्ल।	क्षय पाण्डु, ग्रहणी, कुष्ठ, श्वास प्रमेह, कास, अग्निमांद्य, उदर।
२ नवसादर के साथ मेषशृंगी के रस मे घोट कर पिण्ड कर कोष्ठी यन्त्र मे धमन कर सत्वपातन करे।				चतुर्थांश स्वर्णभस्म के साथ पीपर, घृत मिला कर १ रत्ती।	यक्ष्मा, पाण्डु, अर्श, श्वास,कास ग्रहणी, उर क्षत
३ ,¹₀ भाग नाग को क्षारव अम्लवर्ग से मूषामे धमन करे	७बार द्रवित कर निर्गुण्डी रस मे बुझावा दे।			पारद, गंधक, अभ्रसत्व लवण यन्त्र मे मृदुवन्हि से पाक करे।	तुल्य लोहत्रय मेलन रसायन
४ मोक्षकक्षार के साथ घोटकर अन्धमूषामे रख धमन कर चन्द्रकिरणवत् सत्व ग्रहणकरें				व्योष, विडगसे मधु से	रजत भस्म ,¹₀ वैक्रान्त ,¹₀ व्योष, त्रिफला, घृत से ज्वर-शोथ, पाण्डु प्रमेह, गृहणी-यक्ष्मा, कास, पित्तवातव्याधिहर ज्वर, पाण्डु, शोफ, मेह, मन्दाग्नि मेद, यक्ष्मा, गुल्म, प्लीह, उदर, आम, स्वयोग विषहर, शूलहर, कुष्ठ, अम्लापित्त, विबन्धहर, रसायन, धामक, रेचक गरघ्न, श्वित्रापह, लेखन, स्निग्ध, देह लोहकर तिक्त, उष्ण, मधुर, सप्रमेहघ्न, कफ पित्तहर नेत्ररोग क्षय,

६ सस्यक Copper Sulphate	ताम्र, गधक का यौगिक (दाहक क्षारकर्म)	मयूर कठ सम-छाया भारयुक्त	कडाई मे ६८ तुल्य चूर्ण को कपडे मे बाध रख ऊपर ६२० त्रिफलाक्वाथ डाल जल भर दें। एक माहतक खुला रखें, शुद्ध ताम्र शेष मिलेगा।	नीबू रस से मर्दन कर लघु पुट देकर दही की ३ भावना दे।	लकुचद्राव, गधक, टंकण के साथ घोट मूषा मे कुक्कुट पुट दें।
७ चपल Bismuth	गौर, श्वेत, अरुण, कृष्ण	वग की तरह द्रवण शील	स्फटिकच्छाय,षट् अस्र स्निग्ध गुरु	जबीर, कर्कोटा शुण्ठी रस की भावना दे।	
८ रसक	दर्दुर, सदल, सत्वपातन | कारवेल्लक निर्दल औषधि Zinccarbonati, Silicate Zinco Znosio			कडवी तुम्बी के रस मे पाक से निर्दोष पीत वर्ण हो जाता है।	

सत्व	सत्वशोधन	सत्वमृदुकरण	सत्व मारण	प्रयोग	रोगानुसार
१ चतुर्थांश अभ्रक से सुहागा मुसली रस से मिला कोष्ठी-यन्त्र मे धमन करे।	द्रवितकर काजीक मे ७ बार बुझावे व चूर्ण लोहरवत्व मे करे	द्रवित कर, मधु, तैल, वसा आज्य मे बुझावा दें १०	घृत, धात्रीपत्ररस, पुनर्नवा, १०-१० पुट तथा गंधक के १० पुट।	वेल्ल, व्योष घृतयुक्त मात्रा १ वल्ल।	क्षय पाण्डु, ग्रहणी, कुष्ठ, श्वास प्रमेह, कास, अग्निमांद्य, उदर।
२ नवसादर के साथ मेषशृंगी के रस मे घोट कर पिण्ड कर कोष्ठी यन्त्र मे धमन कर सत्वपातन करे।				चतुर्थांश स्वर्णभस्म के साथ पीवर, घृत मिला कर १ रत्ती।	यक्ष्मा, पाण्डु, अर्श, श्वास, कास ग्रहणी, उर क्षत
३ १/१० भाग नाग को क्षारव अम्लवर्ग से मूषामे धमन करे	७बार द्रवित कर निर्गुण्डी रस मे बुझावा दे।			पारद, गंधक, अभ्रसत्व लवण यन्त्र मे मृदुवन्हि से पाक करे।	वृष्य-लोहद्वय मेलन रसायन
४ मोक्षकक्षार के साथ घोटकर अन्धमूषामे रख धमन कर चन्द्रकिरणवत् सत्व ग्रहणकरें				व्योष, विडंगसे मधु से	रजत भस्म १/१० वैक्रान्त १/१० व्योष, त्रिफला, घृत से ज्वर-शोष, पाण्डु प्रमेह, गृहणी-यक्ष्मा, कास, पित्तवातव्याधिहर ज्वर, पाण्डु, शोफ, मेह, मन्दाग्नि मेद, यक्ष्मा, गुल्म, प्लीह, उदर, आम, त्वग्रोग विषहर, शूलहर, कुष्ठ, अम्लपित्त, विषम्घहर, रसायन, वामक, रेचक गरघ्न, हिक्कापह, लेखन, स्निग्ध, देह लोहकर तिक्त, उष्ण, मधुर, सर्वमेहघ्न, कफ पित्तहर नेत्ररोग क्षय,

५	गुड़, गुग्गुलु, गुंजा, आज्य व अम्ल के साथ घोट कर मूषा मे रख धमन करे।			पारद, गंधक, सत्व सम त्रिगुण हरिताल मन-शिला पाचभाग, बालुका यन्त्र मे रख पकाए। शिलाभस्म, कान्त, वै कान्त, फलत्रिक, कटुत्रिक घी के साथ	
६	चतुर्थांश सौभाग्य के साथ करजतैल मे घोट अन्ध मूषा मे रख, धमन कर इन्द्रगोप के आकार का सत्वपातन करे	इसमे सूनाग सत्व मिश्र कर मुद्रिका शूलघ्नी, सद्य.सूति कर, बनेग रोग जायगा			
७	काजी के साथ उपविष मिला कर घोट कर पिण्ड बाध कर धमन करे।				
८	हलदी, त्रिफला, राल, सैंधव धूम, टकण, भिलावा प्रत्येक ¼ भाग अम्ल वर्ग से मर्दन कर वृन्ताक मूषा मे रख धमन करे। जब अग्नि ज्वाला नील से सफेद हो तब मूषा उठा कर धीरे से जमीन पर ढाले। इस प्रकार ३-४ बार कर सपूर्ण सत्व ग्रहण करे।		सत्वमे हरिताल-मिश्र खर्पट मे लोह दड से मर्दन करने भस्म हो जाती है।	सत्वभस्म, कान्तभस्म के साथ मिला त्रिफला चूर्ण ८ गुजामिश्र त्रिफला क्वाथ से सेवन करे।	मधुमेह, पित्त, क्षय, पाण्डु श्वयथु गुल्म, रक्तगुल्म प्रदर, सोमरोग, योनिरोग, रज कृच्छ्र, कास-श्वास हिक्काह।

नामउपरस		शोधन		
गधक	शुकपुच्छ (आवलासार) उत्तम	मधुर, कटुपाक, उष्ण, रसायन	घी मिलाकर गर्म कर गलाए। बर्तन मे दूध डाल कर कपड़ा रखकर ऊपर डाले फिर जल से धोए।	
Sulfar (ज्वलनशील लवण)	पीतवर्ण शुक्लग	कण्डू कुष्ठ, विसर्प, विषघ्न पाचक		
गैरिक Heamatite	पाषाण (ताम्रवर्ण कठिन) स्वर्ण (स्निग्ध, मसृण, लाल) Kidney Iron ore	स्वादु, कषाय, स्निग्ध, शीत नेत्र्य, रक्तपित्त, हिक्का-वमि विषघ्न।	गोदूध की भावना से	
कासीस Ferri Sulph	बालुका (पाशु) (लोह गधक) पुष्प (कणदार)	उष्ण, कषाय, अम्ल आयशोषक, विष-श्वित्रघ्न, केशरजन	भागरे के रस से मर्दन ३ घटे तक	गधक के साथ घोटकर पुट दे।
काक्षी Alum-Potash Alumkalanite	श्वेतवर्ण रक्तवर्ण लोह के कारण	गुरु, स्निग्ध, व्रण कुष्ठहर केश्य, नेत्र्य विष-श्वित्रघ्न कषाय, कटुक, अम्ल	भून ले।	
ताल	पत्र(तनु) गुरु, स्निग्ध, चमकदार	स्निग्ध, उष्ण, दीपन, कटुक	कूष्माजल, तिलक्षारजल	पलाश मूल कषाय गाढा बना कर मर्दन कर महिषी मूत्र के साथ घोट १० उपलो के १२ पुट दे।
Orpiment Arsenictri sulphide	पिण्ड अल्पसत्व	कुष्ठ-स्त्रीपुष्पघ्न	चूनाजल, कणश कर दोला यत्र से स्वेदन करे।	

मन:शिला	श्यामांगी (रक्ता, गौरा, भाराढया)	तिक्त कटु, उष्ण	अदरक के रस की ७ भावना दे	अष्टमाश गुड, गुग्गुलु, घृत, किट्ट के साथ मर्दन कर कोष्ठी यन्त्र मे धमन कर सत्व निकाले
Realgar-Arsenic sulphide	कणवीरका (तेजस्विनी निर्गौरा ताम्राभा) खडा (चूर्णीभूता अतिरक्ता, समारा	कफवातघ्न रसायन		
अजन	सौवीर Lead sulphide-Galena (धूम्राभ) रसाजन Yellow oxideoy Mercury HGO (पीताभ) स्रोतोजन, Living stonite वामी के आकार, तोडने पर श्वेताभ, घिसने पर लाल, पुष्पाजन Zink oxide सिताभ नीलाजन Antimony नीलाभ	रक्तपित्त, हिक्का, विष, नेत्ररोग, व्रणघ्न शीत मुखरोग, विष, श्वास, हिक्का वात पित्त रक्त रोगघ्न हिम, स्निग्ध, कषाय, मधुर, लेखन नेत्र्य हिक्का, विष च्छदि कफ, पित्तरक्त रोगघ्न स्निग्ध, शीत, नेत्ररोग, हिक्का विष, ज्वरघ्न, गुरु, स्निग्ध, नेत्र्य, सन्निपातघ्न, रसायन, सुवर्णघ्न, लोहमार्दनकर ।	भृंगराज रस की भावनादे ।	
कंकुष्ठ	नालिका-पीतप्रभ, गुरु, स्निग्ध	तिक्त कटु, कुष्ण, अतिरेचन व्रण, उदावर्त, शूल, गुल्म प्लीहा, अर्शघ्न	अदरक रस की ३ भावना दे ।	
Gambogia	रेणुका–श्याम पीत, लघु सद्यो जात हाथी का मल, अश्वनाल			

साधारण रस

	विवरण	गुण	शोधन	मारण
कम्पिल्ल	ईंट के चूर्ण के समान चन्द्रिकायुक्त सौराष्ट्र मे पैदा होने वाला।	पित्त, व्रण, आध्मान विबन्धघ्न श्लेष्मोदर, कृमि, गुल्म, शोथ ज्वर, शूलघ्न रेचन।	अदरक रस की भावना	
गौरीपाषाण पिट्रियस-आर्सेनिक Arsenic	पीत, कृष्ण, रक्त स्फटिकाभ शखाभ	रस बन्धकर, दोषघ्न स्निग्ध, रस-वीर्यकृत	करेले के फल रस मे स्वेदन करे।	मूली की या अपामार्ग की राख हाडी मे भर बीच मे मल्लरख आंच मन्द १२ घटे दें।
नवसादर चुल्लिका-लवण Ammonium Chloride		रसेन्द्र जारण, लौहद्रावण, गुल्म, प्लीहा, मुखशोष, अग्निमांद्यघ्न		
कपर्द Courisshell	पीताभा, पीठ पर गांठो वाली दीर्घ, वृत १॥ निष्क श्रेष्ठ १ निष्क मध्यम शेष अधम	परिणाम शूल, ग्रहणी, क्षयघ्न, कटु, कफघ्न, रसेन्द्रजारण, उष्ण, दीपन, वृष्य, नेत्र्य	काजिक में स्वेदन १ पहर	घी गु यार मे घोट कर पुट दें।
अग्निजार Ambergris	अग्नि नक्र की जरायु समुद्र से बाहर फेंकी जाती है व सूर्य ताप सूखती है।	त्रिदोषघ्न, दीपन, जारण धनुर्वात, वात आदि रोगघ्न, रस-वीर्यवर्द्धक		

गिरिसिंदूर Red Quide of mercury		त्रिदोषघ्न, रसबन्धन, भेदी, देहलोहकर, नेत्र्य	बिजोरा या अदरक रस की तीन भावना	
हिंगलु Red Sulphide of mercury	शुकतुड (चर्मार अल्प गुण) हंसपाक (श्वेत रेख प्रवालाभ)	सर्व दोषघ्न, सर्व रोगघ्न, दीपन, रसायन, वृष्य	७ बार अदरक रस की भावना दे।	
मुद्दारश्रृंग सीस सत्व Plumbi Oridum	दलयुक्त पीला	गुरु श्लेष्मघ्न, पुरुषरोगघ्न रसबन्धन केशरञ्जन	बिजोरा या अदरक रस की ३ भावना	
राजावर्त	अल्प रक्त, नीलाभ	गुरु, मसृण, प्रमेह, क्षय, अर्श, पाण्डुघ्न दीपन पाचन वृष्य	निम्बू रस गोमूत्र मे क्षार सहित २—३ बार स्वेदन करे।	गंधक के साथ लुगाबु से घोट कर सात पुट दे।

नाम रत्न	पहिचान	ग्रह से सम्बन्ध	गुण	शोधन	मारण
सूर्यकान्त Sunstone	स्फटिक जातिका	सूर्य	उष्ण, मेध्य, रसायन		
हीरा Diamond	चिपिटाकार, गोल नारी ३॥ १० नपुंसक, श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण, कोण फलक, अतिभासुर इन्द्रधनुषवत्-नर ६ ८—	शुक्र	आयुष्य, वृष्य, दोषत्रयशामक समग्र रोगो को नष्ट करने वाला पारद का बन्धन करने वाला है।	कुलत्थ क्वाथ में दोला यन्त्र मे स्वेदन	

मोती चन्द्रकान्त Moon Stone गोदन्ता	स्फटिक जातिका—	सोम	शीत, स्निग्ध, हृद्य, दाह, पित्त, ज्वर, रक्तपित्तघ्न	जयन्ती के स्वरस मे दोला यन्त्र मे
राजावर्त Lapislag-ule				
गरुडोद्गार पन्ना Emerald	३३—७॥ हरिद्वर्ण, गुरु, स्निग्ध, मसृण भासुर स्फुरद्रश्मिचय— एल्युमिना, बेरिलियम, ओक्सीजन का यौगिक है—	बुध	ज्वर, छर्दि, विष, श्वास, सन्निपात, अग्निमांद्य, अर्श, पाण्डु शोथघ्न	गाय के दूध मे ,,
पुष्पराग पुखराज Lopag	गुरु, काठि, गुरु, स्निग्ध, स्वच्छ, स्थूल ६—९ ८ सम, मसृण अल्युमिनियम, सिकता सिलिका का यौगिक	गुरु	दीपन, पाचन लघु, विष, वमन कफ वात दाह कुष्ठघ्न	काजी मे ,,
गोमेद (Cinnamon stone) (Hessonite)	३ ७ स्वच्छ, स्निग्ध, सम, गुरु, निर्दल, मसृण	राहु	दीपन, पाचन, मेध्य, क्षय पाण्डुघ्न	गोरोचन घोल मे ,,

स्फटिक काचमणि Rock crystal Pebal	एल्युमिनियम, सिकता सिलिका ओक्साइड ऑफ आयरन, ओक्साइड ऑफ मेगनीज नियताकार ६ पहलू, षट्कोण, चिकना घनाकार, काच काटने वाला, श्वेत वर्ण प्रायः । गुरुत्व काठिन्य २.६ २ ८ ८	मधुर, बल्य, शीत, रक्त पित्त, ज्वर, दाहघ्न
पिरोजा Turgucise	पीला, हरा, नीला, गुरु, काठिन्य २ ७५ ६	कषाय, मधुर, शीत, दीपन, सारक, विष, नेत्र रोगघ्न
कहरवा Amber सूखी घास को खेंचने वाला	एल्यूमिनियम, लोह, ताम्र के फास्फेट है । अश्मी भूतराल हलका पीला, ललाई लिये पीला	भीतदिल, अनुष्णाशीत

		गुण		मारण
स्वर्ण	प्राकृत, सहज, वन्हिज, खनिज, रसेंद्रवेधज	स्निग्ध, बृंहण, वृष्य, रुच्य, मधुरपाक मेध्य, विषघ्न, रोगघ्न, यक्ष्मा, उन्माद		पारदभस्म के साथ लुगाम्बु से घोट कर १० लघु पुट दें।
रजत	सहज खनिज कृत्रिम	मधुविपाक, कषाय, अम्ला, शीतसर, लेखन, स्निग्ध, दीपक बल्य, वयस्कर, मेध्य	ज्योतिष्मती तैल में ३ बार बुझा कर दे।	पारदपल कुच द्रव का लेप कर भूषा मे ऊपर नीचे गंधक रख वालुका यन्त्र मे स्वेदन करे। फिर १२ पुट दे।

ताम्र	म्लेच्छ नेपालक—स्निग्ध, मृदु शोण	तिक्त, कषाय, मधुरपाक, उष्ण, उदर, कुष्ठ, आम, क्रिमिघ्न, वामक, रेचक, अर्श, क्षय, पाण्डुघ्न	क्षाराम्ल व गैरिक से पिघला कर महिषी तल मे ७ बार बुझवा दे।	पत्रको को अमीर रस से ताम्र पत्र पर लेप कर शराव सम्पुट कर ३ पुट दे।
लौह	मुड—मृदु, कुण्ठ, कडार तीक्ष्ण—खर, सार, हृन्नाल तारष, वाजिर, काल, लोहकांत भ्रामक, चुबंक कर्षक, द्रावक	आयुष्य, बल्य, वृष्य, रोगघ्न, रसायन	त्रिफल, तिल तैल, छार्छ, गोमूत्र में ७—७ बार बुझावा दे।	त्रिफला क्वाथ, अबूरस मे १ माह रख कर पुट दे।
नाग	पूतिगंध, बहि-कृष्ण, महाभार, छेदे — कृष्ण समुज्वल		पिघला कर निर्गुण्डी स्वरस मे ३ बार बुझावा दे।	अर्क दुग्ध मे मन शिल घोटकर नाग पत्र पर लेप कर पुट दे।
वंग	खुरक—धवेन, मृदु, स्निग्ध, मुद्र मिश्रक, प्रिश्रित	तिक्त, उष्ण, रुक्ष, वातप्रकोपकमेह, श्लेष्म, द्वेषघ्न, मेदोघ्न, कृमिनाशक	निर्गुण्डी रस मे २१ बुझावा दे।	हरिताल को अर्क दुग्ध के साथ वग पत्र पर लेप कर चिचा-त्वचा क्षार के साथ पुट दें।
पित्तल	रीतिका, काकतुण्डी	तिक्त, रुक्ष, जन्तुल रक्त पित्तनुत्, पाडु कुष्ट हर, उष्णवीर्य	निर्गुण्डी रस मे ५ बार बुझावा दे।	मैनाशील, गधक को निंबू रस मे घोट कर पित्तल पत्र पर लगा कर पुट दे।
कास्य	ताम्र व वग २, तीक्ष्ण शब्द, मृदु, स्निग्ध, श्यामल, शुभ्र, निर्मल	लघु, तिक्त, उष्ण लेखन, नेत्रप्रसादन क्रिमि-कुष्ठघ्न	तपा कर गोमूत्र मे बुझावा दे।	गधक हरिताल के ५ पुट दे।
वर्त लोह	कास्य, अर्क, रीति, नाग,	भस्म, कटुक, रुक्ष, उष्ण, स्वच्छ, क्रिमिघ्न, नेत्र्य	पिघला कर अश्व मूत्र मे बुझावा दे।	गधक हरिताल से पुट दे।

सूर्यक्षार, शोरक, Nitrate of Potas, यवक्षार, Potassium Carbonate, निम्बुक्षार, Potassium citras, सर्जिकाक्षार, Sodium Carbonate, टकण क्षार, Borax, टकणाम्ल, Boric Acid, शख, Conch shell, मुक्ताशुक्ति, Oyster shell, यत्रनाम, दोला, स्वेदनी, पाताल, अध पातन, कच्छप, दीपिका, डेकी, जारण, विद्याधर, सोमानल, गर्भ, हसपाक, बालुका, लवण, नालिका, भूधर, पुट, कोष्ठी, वलभी, तिर्यक्पातन, पालिका, घट, इष्टिका, डमरु, नाभि, ग्रस्त, स्थाली, धूप, कन्दुक, खल्ल, मूषा, वज्रमूषा, योगमूषा, वज्रद्रावणीमूषा, गारमूषा, वरमूषा, वर्णमूषा, रूप्यमूषा, विड्मूषा, वृन्ताकमूषा, गोस्तनीमूषा, मल्लमूषा, पक्वमूषा, गोलमूषा, महामूषा, मण्डूकमूषा।

महारस

रस प्रकाश सुधाकर के अनुसार अभ्रक, माक्षिक, वैक्रान्त, विमल, सस्यक (तुत्थ) शिलाजतु, राजावर्त आदि को कहा गया है।

उपरस

हरताल, फिटकरी, गधक, ककुष्ठ, मनःशिला, सौवीर, स्वर्णगैरिक, कासीस आदि।

साधारण रस

नौसादर, विड, वराटिका, अग्निजार, गिरिसिन्दूर, हिंगुल, मृद्दारशृंग आदि।

उपरस (आयुर्वेद प्रकाश से)

गंधक, हिंगुल, अभ्रक, हरिताल, मन शिला, स्रोताञ्जन, टकण, राजावर्त, चुम्बक, स्फटिक, शख, खटिका, गैरिक, कासीस, रसक, कपर्द, सिक्ता (रेत), बोल, ककुष्ट, सौराष्ट्री।

धातु

स्वर्ण, रजत, ताम्र, बग, यशद, सीसक, लोह।

रत्न

वज्र, विद्रुम, मुक्ता, अर्कांत, गरुत्मत, वैदुर्य, गोमेद, माणिक्य, इन्द्रनील, पुष्पराग।

उपरत्न

वैक्रांत, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, राजावर्त।

शोधन

उपरोक्त द्रव्यो का शोधन दो प्रकार से होता है—

(१) सामान्य शोधन (२) विशेष शोधन

(१) तैल, छाछ, गोमूत्र, काजी, कुलथी मे इनके ७-७ बार तपातपा कर बुझा देने से ये शुद्ध होते हैं।

(२) ताम्र का विशेष शोधन आवश्यक है। इसके लिए—आक के पत्तो के रस मे अथवा नीम्बू के रस मे २१ बार बुझाना चाहिए।

धातुओ का शोधन विशेष सावधानी के साथ करना चाहिए। थोडी सी असावधानी से जलने का भय रहता है। बग तथा नाग आदि पिघलने वाली धातुओं का शोधन द्रव पर ढक्कन लगा कर उसमें छिद्र कर करना चाहिए।

गधक का शोधन गोदुग्ध में घृत मिला कर करना चाहिए। आवलासार गधक को लेकर एक बर्तन मे ½ घी डाल कर पिघलावें फिर दूध के बर्तन पर कपडा बाध कर उस पर गधक डालें। दूध मे गधक गिरने से शुद्ध होता है। यह क्रिया बार बार करने से विशेष शुद्धि होती है।

रत्नो का शोधन नीम्बू के स्वरस मे होता है।

हरताल का शोधन चूने के पानी तथा कूष्माण्ड स्वरस, तिल तैल मे दोला यत्र मे स्वेदन करने से होता है।

मन शिला का शोधन अद्रक के स्वरस मे होता है।

टकण तथा फिटकडी को फुलाने से शुद्ध होता है।

नौसादर को भर्जित करना उसका शुद्धिकरण है।

शुद्ध द्रव्यो को देह शुद्धि के लिए उनका अणु निर्माण करना आवश्यक है। यह अणुकरण ही मारण कहा जाता है। इनका कारण होने के पश्चात् ही ये मानव देह मे सात्म्यीकरण होते हैं।

द्रव्यो का मारण तीन प्रकार से होता है– (१) सूर्य (२) चन्द्र (३) अग्नि द्वारा। विशेष तौर से रत्नो का मारण सूर्य अथवा चन्द्र की किरणो के सहयोग से होता है। ये भस्में अग्नि द्वारा मारित भस्मो की अपेक्षा गुणो में सौम्य होती हैं। खरल में रत्नो के चूर्ण को डाल कर खरल किया जाता है और धूप अथवा चादनी मे खरल को रख दिया जाता है। इस प्रकार इनकी पिष्टी या भस्म बन जाती है।

अग्नि द्वारा धातुओ का मारण विशेष तौर से तथा रत्नो का मारण भी किया जाता है। धातुओ के लिए अग्नि की मात्रा धातु के अनुसार दी जाती है परन्तु रत्नो मे अल्प अग्नि देना उपयुक्त है। धातुओ को भस्म बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमे मारक गण के द्रव्यो के स्वरसो की भावना दी जाय।

मारक वर्ग के द्रव्य

चित्रक, चमेली, सरपुरवा, घृत कुमारी, स्नूही, सहदेवी, नीम, निर्गुंडी, सफेद आक, लाल आक, अपराजिता, वाराही कद, मछली, हल्दी, पुनर्नवा, धतूर, वन्ध्या, कर्कोटक, तुलसी, सहजना, भृगराज, सर्सन, पलाश आदि।

अम्ल वर्ग

अम्लवेत, जम्बीर, बीजोरा, असवीया, चणक क्षार, सन्तरा, नीम्बू, चागेरी, दाडिम, करौंदा, कमरक्ष ।

लवण वर्ग

सामुद्र नमक, सैंधव, विड, सौवर्चल, रोमक, नौसादर ।

मूत्र वर्ग

हाथी, ऊँट, घोडा, गाय, बकरी, भेड, स्त्री, पुरुष ।

द्रावक वर्ग

गुञ्जा, टकण, शहद, घृत, गुड ।

पित्त वर्ग

मछली, गाय, घोडा, हरिण (रूरु), मयूर ।

क्षार वर्ग

साजी, टकण, यवक्षार ।

अब हम रस कार्य मे प्रयोग आने वाले कुछ यन्त्रो का वर्णन कर रहे हैं ।

तप्त खल्व

बकरे की मीगणी तथा कचरा (घास फूस) को जमीन मे खड्डा खोद कर गाड दे– ३ भाग आग भर कर ऊपर खरल (लोहे का) रख कर पारद का मर्दन करे ।

दौला यत्र

मिट्टी की हाडी मे द्रव्य डाल कर उसके मुख पर लकडी रख कर द्रव्य को कपड़े मे बाध कर इस प्रकार लटकादें कि वह खोलने वाले द्रव से दो अगुल ऊपर रहे । इस प्रकार उबले द्रव की वाष्प देने से द्रव के सस्कार होते हैं ।

बालुका यत्र

एक हाडी मे छेद कर छेद पर अभ्रक का टुकडा रख कर आतसी शीशी को उस पर रखे फिर उसके चारो ओर रेत (बालू) भर दे फिर हाडी के नीचे अग्नि (मन्द मध्य, तीव्र) दें । गधक जीर्ण होने पर चूने वा गुड से डाट लगावें । आतशी शीशी को भी कपड मिट्टी कर प्लास्टर करें । यह यत्र कूपी पक्व रस निर्माण के प्रयोग में आता है ।

अध पातन यत्र

एक हाडी मे पानी भरे तथा दूसरी हाडी के पैंदे में औषधि लेपदे फिर दोनो के मुख मुद्रा कर छोटा सा गड्डा खोद कर पानी वाली हाडी को इस प्रकार रक्खें कि दोनो के

सन्धि बन्धन पर रेत आजाय। इसके बाद ऊपर आच लगादे। यह यत्र पारद के अध-पातन के काम में आता है।

तिर्यक पातन यत्र

दो घडो के मुख को मुद्रा कर टेढा रख दे। एक घडे पर आच लगावे तथा दूसरे के ऊपर ठडा कपडा गीला कर रखें। इसे अग्रेजी में डिलेशन अपरेटस कहते हैं।

ऊर्ध्व पातन यत्र

(डमरू यत्र) दो हाडियो की मुख मुद्रा कर आग पर रक्खें- नीचे से आच दें- उपर की हाडी को गीले कपडे से ठडी रक्खें। यह हिंगुलोत्थ पारद निस्काशन के लिए प्रयोग में आता है।

मूषा

द्रव्यो को गलाने के लिए एक पत्र मिला करता है। यह विशेष प्रकार की धातुमिश्रित मिट्टी से बनता है। यह तीव्र आच लगने के बावजूद भी गलता नही है। आजकल तैयार मूषा बाजार में उपलब्ध हो सकती है आवश्यकतानुसार इसकी आकृति का परिमाण कई प्रकार का होता है।

सत्व पातन यत्र

जिस द्रव्य का सत्व निकालना हो उसमे भिन्न वर्ग के द्रव्यो (भैंस की आख तथा गोड तथा मल, गुगल, ऊन, शहद, घी) मिला कर गोला बना कर आँच मे रख कर धोकनी से धमो- अधिक तीव्र अग्नि देने से मोती के समान कणो वाला काला दाणा निकल जाता है। जो चुम्बक से पकडा जाता है।

पुट

यह विभिन्न प्रकार की अग्नि देने के लिए होता है। लवा पुट, कपोत पुट, गज पुट, महा पुट आदि मन्द, मध्य, तीव्र तथा तीव्रतर अग्नि देने के लिए प्रयोग मे आते हैं। द्रव्यो की स्थिति को देखते हुए इनका प्रयोग किया जाय।

परिभाषायें

भावना

द्रव्य मे जिस द्रव्य स्वरस के डाला जाय उसे भावना कहते हैं।

आवाय

द्रव्य को जिस द्रव्य मे डाला जाता है वह आवाय कहलाता है।

प्रतिवाय

स्वर्ण को गलाने के लिए सुहागा उसमे डाला जाता है उसे प्रतिवाय कहते हैं।

निर्वाप

द्रव्य को गर्म कर द्रव मे बुझाने को निर्वाप कहते हैं।

अभिशेष

गर्म यत्र पर कपडा रख कर उस पर ठडे पानी को डालना अभिशेष कहलाता है।

स्वांगशीत

पुट लगने के बाद पुट मे रखे हुए द्रव्य को अपने आप ठडा हो जाने देना स्वांगशीत कहलाता है।

बहिशीत

पुट के बाहर द्रव्य को निकाल कर ठडा होने देना बहिशीत कहलाता है।

वारण

पारद मे बीज मिला कर पुनः उसका पृथक्करण पातन या गालन से भी न हो तथा उसका तेल पूर्वावस्था में रहे।

निरुत्थ

धातु के भस्म निर्माण के बाद भस्म को मित्र पचक के साथ पुट देने पर भी कठोरता का न होना निरुद्ध कहलाता है।

वारितर

भस्म का इतना हल्का बनना कि जल पर डालने से वह उसमे डूबे नही।

रेखापूर्ण

अगुली तथा अगूठे पर भस्म को घसने से वह पुनः उसकी रेखाओ मे से न निकलना रेखापूर्ण भस्म कहलाती है।

बिड़

जारणा के लिए बीज के साथ मिलाये जाने वाले क्षारीय द्रव्य को बिड कहते हैं।

बीज

पारद मे दिया जाने वाला धातु ग्रास बीज कहलाता है।

बध

हल्की धातु को उत्तम धातु मे परिवर्तन करना लोहबध तथा रुग्ण शरीर को स्वस्थ बनाना देहबध कहलाता है।

आयुर्वेद मे धातु मारण का सामान्य प्रसग ऊपर दिया जा चुका है। अब धातु के मारण के विशेष तथा नवीन प्रसग यहा उपस्थित किए जा रहे हैं। धातुओ का मारण आधुनिक शास्त्र के अनुसार होने के बाद क्या होता है— यह प्रसग यहा सक्षेपतः उल्लेख करना आवश्यक है। धातुओ की भस्म निम्न प्रकार की बनती है— आग्नेय (oxidation) गधीकरण (sulphidation) पौटेशियम, सल्फाइड, सल्फेट, लवणीकरण, द्रुतिकरण। इनका पृथक वर्णन यहा करना शक्य नही है।

द्रव्यगुणशास्त्रो रसनिरूपण

लेखक : फूलचन्द शर्मा, भिषगाचार्य
अध्यापक, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, जयपुर

[श्री फूलचन्द शर्मा, भिषगाचार्य वैद्य श्री बद्रीनारायणजी सिद्धवैद्य के सुपुत्र हैं। सिद्धवैद्यजी अपने समय में जयपुर के राजघराने में तत्कालीन जयपुर नरेश श्री माधवसिंहजी के निकट सपर्क के व्यक्ति थे तथा पक्षाघात महारोग की सफलतापूर्वक चिकित्सा किया करते थे। उनका अव्यर्थ परपरागत योग को श्री शर्मा ने प्रकाशनार्थ भेजकर महान् अनुग्रह किया है। श्री शर्मा वर्तमान में राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय जयपुर में अध्यापन करा रहे हैं। आप राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पन्जीकृत) के सयुक्त मत्री एव प्रगतिशील युवा चिकित्सक है। आप का 'द्रव्यगुण रस' पर लेख पठनीय है। इसके बाद ही अनुभूत सफल प्रयोग पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय द्वारा जिस ज्ञान की प्रतीति होती है, अर्थात् आस्वादन किया जाता है उसे रस कहते हैं। जिह्वा इन्द्रिय दोनो प्रकार की है अर्थात् ज्ञान व कर्म— आस्वाद रूप ज्ञान की प्रतीति का माध्यम है। बोधक कफ, अर्थात् जिह्वा के इतस्तत: मुख गुहा मे प्रकृति ने निरतर स्रावी छ लालाग्रन्थियो को लगा रखा है, इनमे बनने वाला बोधक कफ किसी भी द्रव्य के जिह्वा पर पहुँचते ही उसे अपने मे विलयन करता है। तत्काल ही जिह्वा इन्द्रिय मे रहने वाले स्वादाकुर इसका ज्ञान मस्तिष्क को कराते हैं।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि रसज्ञान केवल मात्र जिह्वा तथा स्वादाकुर से ही नही हो सकता जब तक कि मस्तिष्क रसज्ञान केन्द्र तथा स्वादाकुरो से जाने वाले वातसूत्र स्वस्थता के साथ अपना कार्य सम्यक नही कर पाता, क्योकि मन का लक्षण—जिसकी इन्द्रियबुद्धि के साथ उपस्थिति रहने पर ही उस इन्द्रियजन्य ज्ञान का बोध तथा साथ न रहने पर ज्ञानाभाव अर्थात् इन्द्रियज्ञान इन्द्रियबुद्धि तथा मन के साहचर्य द्वारा ही तत्तत् ज्ञान की प्रत्यक्ष ज्ञान की निष्पत्ति हो सकती है।

रस कहां रहता है—

। रस द्रव्य मे रहता है, अर्थात् द्रव्य मे रहने वाले नानागुणो मे रस भी एक गुण है। गुण रूपवान् नही होता—रस गुण है अतः इसके रूप नही हो सकता अर्थात् यह आश्रयी है, अभिप्राय यह कि रस द्रव्य मे रहते हैं।

रस की प्रधानता—

शास्त्र मे द्रव्य के भेद बताते हुए कहा है कि द्रव्य के दो प्रकार—रस प्रधान, (२) वीर्यप्रधान रस प्रधान द्रव्य को आहार कहते हैं—तथा आहार से मानव की जीवन यात्रा चलती है।

"रसायत्त आहारस्तास्मिन्श्च प्राणा, सु सू अ ४० केवल यही बात नही आयुर्वेद का प्रयोजन "स्वास्थ्यरक्षण, तथा विकारप्रशमन है—स्वस्थ्य रक्षण के लिये तो ऊपर बताया ही गया परन्तु विकारप्रशमन के बारे मे दोषो के सचय, प्रकोप तथा प्रशम इन तीनो अवस्थाओ मे हित या अहित रसो का ही उल्लेख किया गया है।

तत्राद्यामारुत घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादय कफम्।
कषायतिक्त मधुरा। पित्तमन्येचकुर्वते।

यही क्यो सुचिकित्सक की परिभाषा भी यही निर्देशित की गई है कि दोपकल्पनाओ के साथ रस कल्पना का सपूर्ण ज्ञान हो तथा द्रव्यो के प्रभाव तत्व का वर्णन रस के माध्यम से ही वर्णन उपलब्ध होता है। वेदो मे भी रस की महत्ता को मुक्तकण्ठ से यत्रतत्र बताया है।

"किंचिदिव्यायँ मधुरमाहुरेदिति"

रसो की सख्या

रस छः होते हैं—

मधुर, अम्ल लवण, कटु,तिक्त कषाय द्रव्य का निर्माण पचमहाभूत से होता है द्रव्यश्रयी रस का निर्माण भी पचमहाभूत से ही होता है। यह द्रव्यनिर्माण पचमहाभूतो के अन्योन्यानुप्रवेश द्वारा यथावत् होता है। द्रव्य का आश्रय पृथिवी है—अर्थात-पृथिवी मे नानाद्रव्यो की उत्पत्ति होती है—उसका क्लेदन सोम द्वारा तथा शोषण सूर्य द्वारा होता रहता है।

रसो की उत्पत्ति

रसनिष्पत्ति—

दो दो भूतो की अधिकता से छ रसो का निर्माण होता है। जल मे अव्यक्त (अप्रकट) रस रहता है लेकिन दूसरे भूत के ससर्ग से ही इसका प्रकटीकरण होता है। वह प्रपत्र मे बताया गया है।

पचभूत के गुणविवेचन से सिद्ध है कि रस जलभूत का ही गुण है। दृश्यमान स्थूल जल तो पाचभौतिक जल है—जैसे बाष्पयन्त्र द्वारा जल को परिस्रुत किया जाय तो उसका

अव्यक्त रस ही होता है—परन्तु तत्तत्पात्र के आश्रय से तथा वर्षों का जल जोकि आकाश से पृथिवी पर गिरता है वह स्थावर जगम वस्तुओ मे अनुप्रविष्ट होकर तत्रत्य भूतो के सयोग से विभिन्न रूप तथा इसको प्राप्त होता है—इस तरह ये छ रस बनते हैं।

तथा भगवान् सूर्य भी उत्तर व दक्षिण गति विशेष से छ ऋतुऐं बनाता है तथा ये ऋतुऐं अपने २ काल मे उन २ महाभूतो की विशेषता से रसो की उत्पत्ति करते हैं।

१ मार्गस्वभाव से वायु सूर्य अत्यत तीक्ष्ण, ऊष्ण, रुक्ष गुण होने से पार्थिव सौम्यता का विनाशकर तिक्त कषाय कटु रसो का बल बढता है।

२ यह आग्नेय है। अतः प्राणियो का बल उत्तरोत्तर न्यून होता है।

१ यहा रवि का तेज अल्प तथा सोम का बल अधिक रहता है। मेघानिल, व वृष्टि की वायु से प्रथिवी का ताप शान्त होकर अम्ल लवण मधु रस बन पाते है।

मधुर रस

आज भी रस के अधिकरण सूक्ष्य कणो की पाच भौतिकता जैसे कि मधुर रस का आधारभूत शर्करा कण मे पृथिवी तथा जल की अधिकता रहती है जैसे कार्बन ६ भाग, आक्सीजन ६ भाग तथा हाईड्रोजन के १२ भाग मिलकर रहते हैं। अभिप्राय यह हुआ कि हाईड्रोजन तथा ऑक्सीजन से जल तथा कार्बन (पार्थिव) इस प्रकार इन दोनो पृथिवी तथा जल महाभूत से मधुर रस की उत्पत्ति सिद्ध होती है।

अम्ल रस

अम्ल रस की उत्पत्ति पृथिवी तथा अग्नि भूत से बताई गई है। यह भी प्रकारान्तर से आधुनिक विज्ञान के मत से पुष्ट होता है। पार्थिव गन्धक के साथ तथा कार्बन के साथ हाईड्रोजन ऑक्सीजन के मिलने से अम्लोत्पत्ति होती है हाईड्रोजन ऑक्सीजन की यात्रा अधिक रहती है। ऑक्सीजन से अग्नि की उत्पत्ति होती है अतः यह आग्नेय है। ऑक्सीजन की अपेक्षा से हाईड्रोजन का अश न्यून होने से जलीय अश को दबाकर आग्नेयाश की ही प्रधानता होती है इसलिये पृथिवी अग्नि गुण की बहुलता से अम्लरस की निष्पत्ति होती है।

लवण रस

लवण रस के कणो का उपादान है जल व अग्नि महाभूत,—सोडियम तथा क्लोरिन के मिश्रण से लवण बनता है। इनमे कोन जलीयाश है तथा कोन आग्नेयाश इसका निर्णय नही किया जा सकता है। परन्तु लवण-रसप्राधान्य द्रव्यो का आर्द्रवायु के सपर्क से आर्द्रता आ जाती है—उसमे हाईड्रोजन जलीयाश है तथा प्राचीनो ने लवण का समवायी कारण जल को प्रत्यक्ष किया है। आधुनिक भी लवण के द्रावण को बनाकर परीक्षण करें तो प्राचीन मत की ही पुष्टि होती है।

कटुक रस

वायु तथा अग्नि गुण की प्रचुरता से कटुक रस होता है। इसीलिये यह वातपित्त वर्धक होता है। आधुनिक इसे रस नही मानते क्योकि ऐसे ऐसे द्रव्यो को यदि त्वचा पर भी लगाए जाय तो जलन होने लगती है। तथा रसना अत्यन्त कोमल होने से ऐसे द्रव्यो का उस पर अति प्रभाव होता है। लेकिन यह ठीक नही हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं यदि किसी व्यक्ति को इस रस के भक्षण से मनाही की जाती है तो लोग इसे लेने के लिये अत्यन्त आतुर हो जाते हैं तथा इसे जिह्वा पर निपात से तत्काल अनुभूति होती है अतः इसे रसनेन्द्रिय ज्ञेय गुण कटुरस मानना सर्वथा उचित है।

तिक्त रस

वायु, आकाश की बहुलता से तिक्त रस होता है। आकाश तत्व को पृथक् परीक्षण करने के यन्त्र अभी नही बने हैं लेकिन तिक्त रस के उपादान नाईट्रोजन को स्वीकार किया जाता है। स्थूल वायु के १०० भागो मे ७६ भाग नाईट्रोजन के हैं। इसलिये तिक्त रस मे वायु व आकाश की बहुलता है जिससे कि इस रस के अधिक सेवन से वायुवृद्धि होती है।

कषाय रस

पृथिवी वायु की बहुलता से कषाय रस बनता है। आधुनिक भी इसी बात को मानते हैं। उनके मत से इसके बनाने मे १२ भाग कार्बन के तथा ९ भाग हाईड्रोजन के, नव भाग ऑक्सीजन के मिलकर होता है। इस तरह हाईड्रोजन व ऑक्सीजन की अधिकता से वाय-वीयता है। तथा इस रस का ज्ञान सभी इन्द्रियो से हो जाने से इसे भी रस नही मानते।

क्षार—निम्न गति प्रवेश होने से इसे क्षार कहते हैं तथा इसका ज्ञान कई इन्द्रियो से होने से इसे रस नही मानते।

रस

जिह्वासंसर्ग होते ही सुस्पष्ट तथा जिस का ज्ञान हो उसे रस कहते हैं। और जिसका अस्पष्ट तथा बाद मे ज्ञान हो उसे अनुरस कहते हैं।

रस संगठन

नाम रस	उत्पत्ति भूत	कार्य	गुण	उत्पादक ऋतु
मधुर	पृथ्वी-जल	जीवन, तर्पण, बृंहण, सधानकर, स्थैर्यकर बल-वर्णवर्धन, आयुष्य सप्तधातुवर्धन आजन्मसात्म्य, षडिन्द्रिय प्रसादन, पित्त-वायु विष तृष्णा दाह मूर्च्छा प्रशमन कृमि-कफ-स्तन्यवर्द्धन, मुखलेपी	स्निग्ध, शीत, गुरु, मृदु (अति) (अल्प) (अति)	हेमन्त
अम्ल	पृथ्वी अग्नि	आस्यस्रावण, प्रीणन, पाचन, क्लेदन, भुक्तापकर्षण, दीपन, बृंहण, तर्पण, अनुलोमन ऊर्जा बलवर्द्धन, इन्द्रिय दार्ढ्यकर, हृद्य, विदाही मुखक्षालन	लघु, उष्ण, स्निग्ध, व्यवायी (अल्प) (मध्य) कफकर	वर्षा
लवण	जल-अग्नि	दीपन, पाचन, च्यवन, छेदन, अवसादी, आस्यस्रवण, स्रोतोविशोधन क्लेदन, भेदन, अवकाशकर, रोचन, स्नेहन, स्वेदन, शोधन, कफविष्यन्दन, सृष्टमूत्रपुरीष, मुखस्पन्दक	तीक्ष्ण, सर, उष्ण, गुरु (अति) (अल्प) विकासी, व्यवायी, स्निग्ध	शरद्
कटु	अग्नि वायु	नासानेत्ररेचन, रुचिकर, दीपन, पाचन, शोधन, शोषण, लेखन-बद्धमूत्रपुरीष, जिह्वायो-श्वयथु-उपचय-उदर्द-स्नेह-क्लेद-मल-श्लेष्म-कृमि स्वेद-कफ-विष स्तन्य-मेदोहर	लघु उष्ण, रूक्ष (मध्य) (मध्य) (अल्प)	ग्रीष्म
तिक्त	आकाश वायु	स्वयम् अरोचक-अरुचि-विष-कृमि मूर्च्छा दाह तृष्णा हर, स्वेद मूत्र-पुरीष-पित्त शोषण बद्धमूत्रपुरीष, ज्वरहर, मुखशोषक	रूक्ष (अति) शीत (मध्य) लघु (अति)	शिशिर
कषाय	पृथ्वी-वायु	संशमन, संग्राही, पीडन, रोपण, शोषण, स्तम्भन, लेखन, प्रीणन, श्लेष्म-पित्त-रक्त-क्लेद स्तम्भन, जिह्वा जाड्यकर, स्रोतोविबन्धकर	रूक्ष, शीत, (अल्प) (मध्य) गुरु (मध्य)	वसन्त

द्रव्य		रस	कर्म		विपाक
पार्थिव	गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर, विशद, सान्द्र, स्थूल, गन्ध, सार	ईषत्कषाय प्राय मधुर	उपचय, सघात, गौरव-स्थैर्य-बलकर	अधोगति	गुरु
आप्य	द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु, पिच्छिल, रस, स्तिमित गुरु सान्द्र	ईषत्कषाय अम्ललवणमधुर रसप्राय	उपक्लेद, स्नेह, विष्यन्द, मार्दव, प्रह्लाद, बन्धन	,,	गुरु
तैजस	उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, लघु, रूक्ष विशद रुप, खर	ईषदम्ललवण, कटुरसप्राय	दाह, पाक, प्रभा, प्रकाश, धारण, तापन, वर्ण	ऊर्ध्वगति	लघु
वायव्य	लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म, स्पर्श	ईषत्तिक्त प्राय. कषाय	रौक्ष्य, ग्लानि, विचार, वैशद्य, लाघव, शैत्य, कर्षण	,,	लघु
नाभस	मृदु, लघु सूक्ष्म, श्लक्ष्ण, शब्द, व्यवायि, विशद विवक्त	अव्यक्त रस	मार्दव' शौषिर्य, लाघव	,,	लघु

पक्षाघात व बालपक्षाघात पर अमोघ प्रयोग

भैंसागूगल २ किलो पातालयन्त्र द्वारा चुवा कर १-१ माशा की गोली बनाएँ। इसे बूरा (जो शक्कर से तैयार किया जाता है) १ तोला से २ तोला के साथ आवेष्ठित कर दूध के साथ दें। बालपक्षाघात मे इसको अल्प मात्र दे। अवश्य लाभकारी सिद्ध होगी।

पृथ्वी

गुण	कर्म
गुरु	उपचय
खर	गौरव
कठिन	स्थैर्य
मन्द	
स्थिर	
विशद	
सान्द्र	
स्थूल	
गधबहुल	
ईषत्कषाय	
प्रायः मधुर	

चरक संहिता का इन्द्रिय स्थान

लेखक वैद्य विद्याधर शर्मा
प्रिन्सिपल– श्री सनातन धर्म आयुर्वेद महाविद्यालय, बीकानेर

[स्वनामधन्य पारीक ब्राह्मण प० श्री विद्याधर जी आयुर्वेदाचार्य सनातन धर्म आयुर्वेद महाविद्यालय, बीकानेर के प्राचार्य है। श्री शास्त्री श्रमशील, कर्त्तव्यनिष्ठ, कुशल शिक्षाशास्त्री हैं। आप भूतपूर्व राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के वर्षों प्रधान मन्त्री रहे हैं। श्री शास्त्री भारतीय आयुर्विज्ञान से सबन्धित महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित अरिष्ट लक्षणों में 'स्वप्न' विषय पर गुणागुण जानने के लिये भारतीय चिकित्सा विज्ञान की आधार-भूमि आयुर्वेद प्रणाली को स्वप्न के सम्बन्ध मे अतर्दर्शीय विचार-प्रणाली से ऊहापोह कर उष्ट्र (ऊँट) के स्वप्न के स्थान पर क्या स्कूटर का स्वप्न संभव है? श्री शास्त्री ने वैद्य समाज के सामने एक समस्या रखी है, जिसका अनुशीलन परमावश्यक है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]
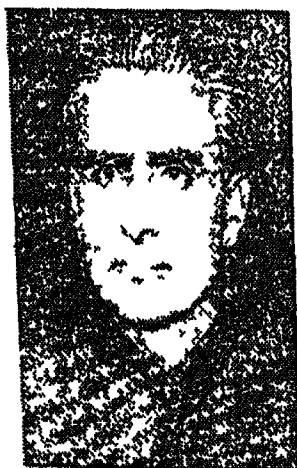
चरक सहिता मे आयुर्विज्ञान का जिस क्रम से वर्णन किया गया है वह अपना एक विशेष महत्व रखता है। प्रारम्भ मे सूत्र स्थान का वर्णन करते हुए महर्षि ने आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तो का सूत्र रूप मे वर्णन किया है। इसका आशय यह नही समझना चाहिए कि आगे सिद्धान्त प्रकरण नही है। वैसे समग्र सहिता का एक एक श्लोक अपने आप मे नवीन है और हम उसे ज्ञान-वर्धन का एक एक सोपान भी कह सकते हैं। ऊचाई पर चढने के लिए हमे प्रत्येक सोपान को लाघना होगा।

जब सिद्धात का प्रतिपादन किया तो मुख्य उद्देश्य चिकित्सा के सम्बन्ध मे कुछ लिखने के पूर्व निदान की आवश्यकता समझी गई। जब तक रोगो के निदान के सम्बन्ध में ज्ञान नही होता तब तक चिकित्सा सफल चिकित्सा नही हो सकती है। अतएव निदान स्थान सूत्र स्थान के बाद ही वर्णित किया गया।

निदान स्थान के बाद विमान स्थान का वर्णन किया गया है। विमान शब्द की व्युत्पत्ति की गई है, "विशेषेणमीयते दोष भेषजाद्यनेनेति विमान" दोष भेषजादीना प्रभावादि विशेष इत्यर्थ। बहुत से ऐसे विषय जिनका निदान स्थान में उल्लेख करना आवश्यक और उचित भी नही था उनका विमान स्थान में वर्णन किया गया ताकि वास्तविक उद्देश्य चिकित्सा किसी भी प्रकार से असफल न हो।

इस क्रम से यद्यपि आगे चिकित्सा के पास पहुँचना चाहिए था परन्तु बीच में ऐसे विषय पर महर्षि को कुछ और कहना शेष था जिसके ज्ञान के बिना चिकित्सा शरीर का ज्ञान प्राप्त नही किया जा सकता है। बिना चिकित्स्य के ज्ञान के चिकित्सा किसकी की जाय। अतएव शरीर स्थान में शरीर की उत्पत्ति का प्रथम आध्यात्मिक रूप में वर्णन किया और बाद में गर्भधारण से लेकर समस्त शरीर का वर्णन किया गया। यद्यपि आधुनिक दृष्ट्या शरीर ज्ञान सर्वप्रथम ज्ञातव्य माना गया है और उसके बाद अन्य तथापि आयुर्वेद में इस क्रम को जो नही रखा गया है उसमें विशेष कारण है। आयुर्वेद ज्ञान के लिए उसके वैशेषिक दर्शन पर आधारित अध्यात्म प्रकरण को जब तक हम प्रथम हृदयगम नही करलें तब तक मौलिक शरीर रचना का ज्ञान भी विशेष उपयोगी नही होगा। अतएव प्रथम सूत्र, निदान, विमान का वर्णन कर बाद में शरीर स्थान का उल्लेख है।

बीमार को हाथ में लेने से पूर्व जब तक कोई अपने आप में आश्वस्त नही हो जाए कि बीमारी चिकित्सा की सीमा के अन्दर है और उससे हमें भी चिकित्सा का यश प्राप्त होगा तभी हम चिकित्सा प्रारम्भ करेंगे। इसीलिए महर्षि ने चिकित्सा स्थान का वर्णन करने से पूर्व इन्द्रिय स्थान का वर्णन किया। शास्त्र में कहा गया है– अर्थ विद्या यशोहानि मुपक्रोश मसदग्रहः प्राप्नुयान्नियत वैद्यो योऽसाहृय समुपाचरेत्।

अर्थात् जो चिकित्सक साध्यासाध्य विवेकशून्य होकर असाध्य रोगियो की चिकित्सा करता है उसके धन, विद्या तथा यश को हानि होती है। जनता मे उसके लिए इस प्रकार का अपवाद फैल जाता है कि भविष्य मे उसके पास चिकित्सार्थ लोग कम आते हैं, इसके साथ ही कभी राजदण्ड का भी भागी बनना होता है। इसको देखते हुए भी यदि कोई इन्द्रिय स्थान के सम्यक् अध्ययन किए बिना चिकित्सा मे प्रवृत्त हो तो उसका परिणाम क्या होगा– यह लिखा ही जा चुका है।

इन्द्रिय स्थान शब्द में इन्द्रिय शब्द की इस प्रकार व्याख्या की गई है:— इन्द्र शब्देव प्राण उच्यते तस्यान्तर्गतस्य लिग रिष्टाख्यमिन्द्रिय। अर्थात्-इन्द्र शब्द प्राण का वाचक है। इन्द्र याने प्राण के अन्तर्गत अरिष्ट लक्षण जिसमें वर्णित हो उसको इन्द्रिय कहते हैं। अरिष्ट का लक्षण इस प्रकार बताया गया है— "नियत मरणाख्यापक लिङ्गमरिष्ट" अर्थात– जो लक्षण निश्चित मरण को बतलाते हैं उनको अरिष्ट कहते हैं।

इन्द्रिय स्थान के विषय का निम्न अध्यायो में विविध रूपो में वर्णन किया गया है—

१ वर्ण स्वरीय इन्द्रिय (वर्ण, स्वर)

२. पुष्पितक इन्द्रिय (गन्ध, रस)

३. परिमर्शनीय इन्द्रिय (स्पर्श)

४. इन्द्रियानीक इन्द्रिय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्श)

५ पूर्वरूपीय इन्द्रिय (व्याधि, पूर्व, रूप)
६ वातमानि शरीरीय इन्द्रिय (रोगानुसारिक असाध्य लक्षण)
७. पन्नरूपीय इन्द्रिय (छाया, प्रतिच्छाया, रूप अरिस्ट लक्षण)
८. अवाक् शिरसीय इद्रिय (अवाक् शिरा शब्द से प्रारम्भ होने वाला अध्याय)
९. यस्य श्याव निमित्तीय इन्द्रिय (यस्य श्याव शब्द से प्रारम्भ होने वाला अध्याय)
१०. सध्योमरणीय इन्द्रिय (सध्यो मारक लक्षण, तीन रात्रि अथवा सात रात्रि)
११. अणुज्योतीय इन्द्रिय (अणुज्योति शब्द से प्रारम्भ होने वाला अध्याय)
१२. गोमच चूर्णीय इन्द्रिय (गोमच चूर्णीय शब्द से प्रारम्भ होने वाला अध्याय)

इन ११ अध्यायो मे इन विषयो का वर्णन किया गया है।

वर्ण, स्वर, गन्ध, रस, स्पर्श (काठिन्यादि), चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, स्पर्शन (त्वगिन्द्रिय), सत्व (मन), भक्ति (इच्छा), शौच (पवित्रता), शील, आचार (शास्त्रवर्णित व्यवहार), स्मृति, आकृति, प्रकृति, विकृति, बल, ग्लानि, मेधा, हर्ष, रौक्ष्य, स्नेह, तन्द्रा, आरम्भ (रोगारम्भ), गौरव, लाघव, गुण, आहार, विहार, आहार परिणाम, उपाय (रोगो का होना), उपाय (रोगो का विनाश), व्याधि, व्याधि पूर्वरूप, वेदना, उपद्रव, छाया, प्रतिच्छाया, स्वप्नदर्शन, दूताधिकार, पथिऔत्पातिक (रास्ते के उत्पात), आतुरबले भावावस्थान्तराणि (बीमार के घर मे प्रवेश काल मे लक्षित विशेष भाव), भेषज संवृत्ति (औषध निर्माण में कठिनाई उपस्थित होना), भेषज विकार युक्ति (औषध विशेष का रोग विशेष मे प्रयोग) करना) कुल ४७

इन्द्रिय स्थान के ५वें अध्याय मे स्वप्नो का विवेचन किया गया है। इस अध्याय के ३० श्लोको में या तो अरिस्ट लक्षणो का वर्णन किया गया है अथवा कोई २ लक्षण इस बात के सूचक हैं कि इनके स्वप्न में उपस्थित होने पर स्वस्थ्य मनुष्य होगा या कष्ट को प्राप्त करता है और रोगी मृत्यु को।

नीचे इन ३० श्लोको का साधारण अर्थ मात्र दिया जाता है। वैसे प्रत्येक श्लोक में शका उत्पन्न की जा सकती है परन्तु उसका समाधान उतना ही दुरूह होगा। स्वप्न विज्ञान के युगप्रवर्तक विद्वान फ्रायड का नाम भी इस शास्त्र की विवेचना करते समय छोडना कठिन है। हमारे यहा जो उदाहरण दिए गए है अथवा दिए जा सकते हैं उनका फ्रायड-वर्णित स्वप्न विज्ञान में प्राप्त होना कठिन है। उन्होने जिस प्रकार इसका विवेचन किया है और यूरोपीय संस्कृति से सम्बन्धित विषयो का विवेचन किया है उसमें की हमारे यहा उपलब्धि कठिन है। दोनो का समन्वय बैठना किसी उभयज्ञ विद्वान द्वारा ही सभव है।

स्वप्न दर्शन सम्बन्धी प्रकरण—

चरक—इन्द्रिय स्थान—अध्याय ५

श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वाऽपि याति यो दक्षिणा दिशम्।
स्वप्ने यक्ष्माणमासाद्य जीवित स विमुञ्चति ।।८।।

अर्थ–जो स्वप्न मे कुत्ते, ऊँटो व गधो पर सवारी करके दक्षिण दिशा की ओर जाता है वह यक्ष्मा रोग से आक्रात हो कर मर जाता है।

ज्वर के मारक पूर्वरूप—

प्रेतैः सह पिबेन्मद्य स्वप्ने च कृष्यते शुना।
सुघोर ज्वरमासाद्य स जीवित स विमुचति ।।९।।

अर्थ–जो स्वप्न में प्रेतो के साथ शराब पीता है अथवा कुत्तो से खीचा व घसीटा जाता है वह अति घोर ज्वर से आक्रान्त हो कर मृत्यु को प्राप्त होता है।

रक्तस्रग्रक्तसर्वांङ्गो रक्तवासो मुहुर्हसन्।
च. स्वप्ने ह्रियते नार्या स रक्त प्राप्य सीदति ।।११

अर्थ–जो व्यक्ति स्वप्न में लाल माला को धारण किए हुए बार २ हंसता हुआ स्त्री से ले जाया जाता है, वह रक्तपित्त से आक्रात होकर कष्ट प्राप्त करता है(प्राण त्याग करता है।

लताकण्टकिनी यस्य दारुणा हृदि जायते ।
स्वप्ने गुल्मस्तमन्ताय क्रूरो विशति मानवम् ।।१३

अर्थ–स्वप्न में जिस पुरुष के हृदयदेश पर काटो वाली लता उत्पन्न होती है, उसकी मृत्यु के लिए दारुण गुल्म उस पुरुष का आश्रय लेता है अर्थात् घोर गुल्म से उसकी मृत्यु होती है।

कुष्ठ के मारक लक्षण—

नग्नस्याज्यावसिक्तस्य जुहृतोऽग्निमनर्चिषम् ।
पद्मान्युरसि जायन्ते स्वप्ने कुष्ठैर्मरिस्यतः ।।१५

अर्थ–स्वप्न मे जो पुरुष नग्न हो कर और अगो पर घी चुपडे हुए ज्वालारहित व अप्रज्वलित अग्नि मे आहुति देता है और स्वप्न में ही छाती पर पद्म (कमल) उत्पन्न हो जाते हैं वह कुष्ठ से मृत्यु को प्राप्त होता है।

स्नेह बहुविध स्वप्ने चण्डालैः सह यः पिबेत्।
बध्यते स प्रमेहेण स्पृश्यतेऽन्ताय मानव. ।।१७

अर्थ–स्वप्न मे जो पुरुष चण्डालो के साथ बहुत प्रकार के स्नेहो (घृत, तेल, वसा, मज्जा) को पीता है उसे प्रमेह रोग हो जाता है और उससे ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

नृत्यन् रक्षोगणैः सार्ध यः स्वप्नेऽम्भासि सीदति।
स प्राप्य मृगमुन्माद याति लोकमत. परम् ।.२१

अर्थ-स्वप्न मे जो राक्षसो के साथ नृत्य करता हुआ जल मे डूब जाता है व हठात् उन्माद को प्राप्त होकर परलोक मे जाता है ।

मत्त नृत्यन्तमाविध्य प्रेतो हरति य नरम् ।
स्वप्ने हरति त मृत्यु रपस्मारपुर सुर ॥२३

अर्थ- स्वप्न मे मत्त होकर नाचते हुए जिस मनुष्य का सिर नीचे की ओर करके प्रेत ले जाता है उस मनुष्य की अपस्मार होकर मृत्यु हो जाती है ।

शष्कुलीर्वाऽप्यपूपान् वास्वप्ने खादति योनरः ।
स चेत्तादृक्छर्दयति प्रतिबुद्धो न जीवति ॥२५

अर्थ-जो पुरुष स्वप्न मे शस्कुली (तिल, तण्डुल वा मापके पिष्टक से बनाया हुआ खाद्य विशेष) (लोकप्रचलित जलेबी) वा अपूपो (पूडो) को खाता है वह जागने पर यदि वैसी ही कै करता है तो वह व्यक्ति जीवित नही रह सकता ।

इमावस्थाप्यपरान् स्वप्नान् दारुणानुपलक्षयेत् ।
व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महेतऽपिवा ॥२७

अर्थ-रोगियो के विनाश तथा महान् कष्ट को जानने के लिये इन स्वप्नो का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

अन्य दारुण व अशुभ स्वप्नो का कथन—

यस्योत्तमाङ्गे जायन्ते वंशगुल्मलतादयः ।
वयांसि च निलीयन्ते स्वप्ने मौण्ड्यामियाच्च य. ॥२८
गृध्रोलूकश्वकाकाद्यैः स्वप्ने यः परिवार्यते ।
रक्षः प्रेतपिशाचस्त्री चण्डाल द्रविडान्धकैः ॥२९
वंश वेत्रलता पाश तृण कंटक संकटे ।
सं सजाति हि यः स्वप्ने यो गच्छन् प्रपतत्यपि ॥३०
भूमौ पांशूपधानायां वल्मीके वाऽथ भस्मनि ।
श्मशानायतने श्वभ्रे स्वप्ने य' प्रपतत्यपि ॥३१
कलेषुऽम्भसि पङ्के वा कूपे वा तमसाऽऽवृते ।
स्वप्ने मज्जति शीघ्रेण स्त्रोतसा ह्रियते च यः ॥३२
स्नेहपानं तथाऽभ्यङ्गः स्वप्ने बन्ध पराजयौ ।
हिरण्यलाभ. कलहः प्रच्छर्दनं विरेचने ॥३३
उपानद्युगनाशश्च प्रपातः पादचर्मणोः ।
हर्षः स्वप्ने प्रकुपितैः पितृभिश्चावभर्त्सनम् ॥३४
दन्तचन्द्रार्कनक्षत्र देवता दीप चक्षुषाम् ।
पतन वा विनाशो वा स्वप्ने भेदो नगस्य वा ॥३५

श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वाऽपि याति यो दक्षिणा दिशम्।
स्वप्ने यक्ष्माणमासाद्य जीवित स विमुञ्चति ॥८॥

अर्थ–जो स्वप्न मे कुत्ते, ऊँटो व गधो पर सवारी करके दक्षिण दिशा की ओर जाता है वह यक्ष्मा रोग से आक्रात हो कर मर जाता है।

ज्वर के मारक पूर्वरूप—

प्रेतैं सह पिबेन्मद्य स्वप्ने च कृष्यते शुना।
सुघोर ज्वरमासाद्य स जीवित स विमुचति ॥९॥

अर्थ–जो स्वप्न में प्रेतो के साथ शराब पीता है अथवा कुत्तो से खीचा व घसीटा जाता है वह अति घोर ज्वर से आक्रान्त हो कर मृत्यु को प्राप्त होता है।

रक्तस्त्रग्रक्तसर्वाङ्गो रक्तवासो मुहुर्हसन्।
च. स्वप्ने ह्रियते नार्या स रक्त प्राप्य सीदति ॥११

अर्थ–जो व्यक्ति स्वप्न में लाल माला को धारण किए हुए बार २ हँसता हुआ स्त्री से ले जाया जाता है, वह रक्तपित्त से आक्रात होकर कष्ट प्राप्त करता है(प्राण त्याग करता है।

लताकण्टकिनी यस्य दारुणा हृदि जायते।
स्वप्ने गुल्मस्तमन्ताय क्रूरो विशति मानवम् ॥१३

अर्थ–स्वप्न में जिस पुरुष के हृदयदेश पर काटो वाली लता उत्पन्न होती है, उसकी मृत्यु के लिए दारुण गुल्म उस पुरुष का आश्रय लेता है अर्थात् घोट गुल्म से उसकी मृत्यु होती है।

कुष्ठ के मारक लक्षण—

नग्नस्याज्यावसिक्तस्य जुहुतोऽग्निमनर्चिषम्।
पद्मान्युरसि जायन्ते स्वप्ने कुष्ठैर्मरिष्यतः ॥१५

अर्थ–स्वप्न मे जो पुरुष नग्न हो कर और अगो पर घी चुपडे हुए ज्वालारहित व अप्रज्व-लित अग्नि मे आहुति देता है और स्वप्न मे हो छाती पर पद्म (कमल) उत्पन्न हो जाते हैं वह कुष्ठ से मृत्यु को प्राप्त होता है।

स्नेह बहुविध स्वप्ने चण्डालैः सह यः पिबेत्।
बध्यते स प्रमेहेण स्पृश्यतेऽन्ताय मानवः ॥१७

अर्थ–स्वप्न मे जो पुरुष चण्डालो के साथ बहुत प्रकार के स्नेहो (घृत, तेल, वसा, मज्जा) को पीता है उसे प्रमेह रोग हो जाता है और उससे ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

नृत्यन् रक्षोगणैं सार्धं यः स्वप्नेऽम्भासि सीदति।
स प्राप्य भृशमुन्माद याति लोकमतः परम् ॥२१

अर्थ–स्वप्न मे जो राक्षसो के साथ नृत्य करता हुआ जल मे डूब जाता है व हठात् उन्माद को प्राप्त होकर परलोक मे जाता है।

मत्त नृत्यन्तमाविध्य प्रेतो हरति य नरम्।
स्वप्ने हरति त मृत्यु रपस्मारपुर सुर ॥२३

अर्थ- स्वप्न मे मत्त होकर नाचते हुए जिस मनुष्य का सिर नीचे की ओर करके प्रेत ले जाता है उस मनुष्य की अपस्मार होकर मृत्यु हो जाती है।

शष्कुलीर्वाऽप्यपूपान् वास्वप्ने खादति योनरः।
स चेत्ताद्दवच्छर्दयति प्रतिबुद्धो न जीवति ॥२५

अर्थ–जो पुरुष स्वप्न मे शस्कुली (तिल, तण्डुल वा मापके पिष्टक से बनाया हुआ खाद्य विशेष) (लोकप्रचलित जलेबी) वा अपूपो (पूडो) को खाता है वह जागने पर यदि वैसी ही कै करता है तो वह व्यक्ति जीवित नही रह सकता।

इमाश्चाप्यपरान् स्वप्नान् दारुणानुपलक्षयेत्।
व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महेतऽपिवा ॥२७

अर्थ–रोगियो के विनाश तथा महान् कष्ट को जानने के लिये इन स्वप्नो का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अन्य दारुण व अशुभ स्वप्नो का कथन—

यस्योत्तमाङ्गे जायन्ते वंशगुल्मलतादयः।
वयांसि च निलीयन्ते स्वप्ने मौण्ड्यमियाच्च य. ॥२८
गृध्रोलूकश्वकाकाद्यै' स्वप्ने यः परिवार्यते।
रक्षः प्रेतपिशाचस्त्री चण्डाल द्रविडान्ध्रकैः ॥२९
वंश वेत्रलता पाश तृण कटक सकटे।
स सजाति हि यः स्वप्ने यो गच्छन् प्रपतत्यपि ॥३०
भूमौ पांशूपधानायां वल्मीके वाऽथ भस्मनि।
श्मशानायतने श्वभ्रे स्वप्ने यः प्रपतत्यपि ॥३१
कलेषुऽम्भसि पङ्के वा कूपे वा तमसाऽऽवृते।
स्वप्ने मज्जति शीघ्रेण स्त्रोतसा ह्रियते च यः ॥३२
स्नेहपानं तथाऽभ्यङ्गः स्वप्ने बन्ध पराजयौ।
हिरण्यलाभः कलह. प्रच्छर्दन विरेचने ॥३३
उपानद्युगनाशश्च प्रपातः पादचर्मणोः।
हर्षः स्वप्ने प्रकुपितैः पितृभिश्चावभर्त्सनम् ॥३४
दन्तचन्द्रार्कनक्षत्र देवता दीप चक्षुषाम्।
पतन वा विनाशो वा स्वप्ने भेदो नगस्य वा ॥३५

रक्तपुष्प वन भूमि पापकमलिय चिताम् ।
गुहान्धकारसबाध स्वप्ने यः प्रविशत्यपि ॥३६
रक्तमाली हसन् चर्वादिवासा दक्षिणा दिशम् ।
दारुणा मटवी स्वप्ने कपियुक्तेन याति वा ॥३७
काषायिणा मसौम्याना नग्नाना दण्डधारिणाम् ।
कृष्णाना रक्तनेत्राणा स्वप्ने नेच्छन्ति दर्शनम् ॥३८
कृष्णा पापा निराचारा दीर्घ केशनखस्तनी ।
विरागमाल्यवसना स्वप्ने कालनिशा मता ॥३९
इत्येते दारुणाः स्वप्ना रोगी भैर्याति पञ्चताम् ।
अरोगः सशय गत्वा कश्चिदेव विमुच्यते ॥४०॥

अर्थ–स्वप्न मे जिसके सिर पर बास गुल्म (झाडियों के समूह) तथा लता आदि उत्पन्न होते हैं, पक्षी उनमे अपने घोसले बना कर रहने लगते हैं, जिसका सिर स्वप्न मे मुडित हो जाता है ॥२८॥

जो स्वप्न मे गिद्ध, उलूक, कौआ, कुत्ता आदि से घिर जाता है एव जो राक्षस, प्रेत, पिशाच, स्त्री दौडते हुए वा अधे पुरुषो से घेरा जाता है । ॥२९॥

स्वप्न मे जो बास, बेंत, लता, जाल अथवा तृण और कण्टको के समूह मे चलता हुआ मोह को प्राप्त होता है (फस जाता है) निकलने की युक्ति नही सूझती और गिर भी जाता है ।

जो स्वप्न मे धूल से युक्त भूमि व वल्मीक (दीमको का घर) का भस्मराशि (राख का ढेर) मे गिर जाता है अथवा जो श्मशान स्थान तथा गड्ढे मे प्रविष्ठ हो जाता है (गिर पडता है) । १३१

जो स्वप्न मे मलिन जल मे कीचड मे अथवा ऊँघेटे कूए मे डूब जाता है और जो वेग से बहने वाले स्रोत से बहाया जाकर दूसरी जगह ले जाया जाता है । ३२

स्वप्न मे स्नेहपान करना, मालिश करना, उल्टी करना विरेचन लेना, स्वर्णलाभ, कलह, बन्दी होना, युद्ध मे पराजित होना । ३३

स्वप्न मे पैर के जूतो का नष्ट होना, गुम होना अथवा चुराया जाना, धूल और चमडे का गिरना, हर्षित होना तथा क्रोधित पितरो द्वारा धमकाया जाना । ३४

स्वप्न मे दात, चन्द्रमा, सूर्य नक्षत्र, देवता, दीपक नेत्र का गिरना अथवा नष्ट होना, वृक्ष अथवा पर्वत का फटना । ३५

स्वप्न मे लाल पुष्पो वाले वन मे, भूमि मे, पाप कर्म के स्थान वैश्यालय आदि मे, तथा गुहा के अन्धकार के सदृश बाधाजनक दुर्गम स्थानो मे प्रविष्ट होता है । ३६

जो स्वप्न मे लाल माला को धारण किये हुए अट्टहास करता हुआ, नग्न होकर दक्षिण दिशा को जाता है तथा जो वानर को साथ लेकर दारुण वन की ओर जाता है। ३७

स्वप्न मे कषाय वस्त्र धारण किये हुए पुरुषो का जो सोम्य मूर्ति नहो हो उनका नग्न, दण्डधारी, कृष्ण वर्ण के तथा लाल केशो वाले पुरुषो का दर्शन शुभ नही है। ३८

स्वप्न मे काली, पापिन, दुराचारी, लम्बे केश, नख तथा स्तनो वाली, लाल वर्ण की माला तथा वस्त्रो को धारण करने वाली स्त्री के दर्शन कालरात्रि के समान हैं। ३९

ये उपर्युक्त सब दारुण स्वप्न कहे गये हैं जिन्हे देख कर रोगी पुरुष मृत्यु को प्राप्त होता है और स्वस्थ्य पुरुष का जीवन सशय मे पड जाता है याने कोई ही बच पाता है। ४०

स्वप्न क्यो आते हैं—

मनोवहाना पूर्णत्वाद्दो षैरतिबलै स्त्रिभि ।
स्त्रोतसा दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे ॥ ४१

अर्थ-दारुण काल मे अति बलवान् वात पित्त कफ तीनो दोषो से मनोवह स्रोतो के पूर्ण होने के कारण मनुष्य दारुण स्वप्नो को देखता है।

नीतिप्रसुप्त: पुरुष सफलानफलानपि ।
इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यायनेकधा ॥ ४२

अर्थ-पूर्ण निद्रा मे न हो ऐसा पुरुष इन्द्रियो के अधिष्ठाता अथवा प्रेरक मन द्वारा फलयुक्त और फलरहित अनेक प्रकार के स्वप्न देखा करता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि स्वप्न दो प्रकार के होते हैं— १. सफल २ निष्काम ये दोनो भेद फलाफल के कारण हैं।

स्वप्न के प्रकार.—

दृष्ट श्रुतानुभूत च प्रार्थित कल्पित तथा।
भाविक दोषज चैव स्वप्नं सप्तविध विदु ॥ ४३

अर्थ-सात प्रकार बताये गये हैं.—

१. दृष्ट—जिसे प्रत्यक्ष कर चुके हो अथवा देख चुके हो।
२ श्रुत—जिसे हम सुन चुके हो।
३ अनुभूत—जिसका अनुभव, अनुमान, युक्ति आदि के द्वारा कर चुके हो।
४. प्रार्थित—जिसकी आकाक्षा की जाती है।
५ कल्पित—जिसकी मनमें पूर्व कल्पना की जा चुकी है।
६ भाविक—जो भावी शुभ व अशुभ फल के सूचक होते हैं।
७. दोषज—जो वातादि दोषो के कारण उत्पन्न होते हैं।

तत्र पञ्चविध पूर्वमफल भिषगादिशेत् ।
दिवास्वप्न मतिह्रस्व मति दीर्घं तथैव च ।। ४४

अर्थ–चिकित्सक इनमे से प्रथम पाच को निष्फल जाने इनका कोई फल नही होता है । शेष २ भाविक और दोषज फल देने वाले होते हैं । दिन मे देखे हुए सब स्वप्न और रात्रि मे देखे हुए वे स्वप्न जो बहुत छोटे हो वा बहुत लम्बे हो उनका भी कोई फल नही होता है ।

दृष्ट. प्रथमरात्रे य स्वप्न सोऽल्पफलो भवेत् ।
न स्वपेद्य पुनर्दृष्ट्वा स सद्य स्यान्महफलः ।।४५

अर्थ–जो स्वप्न रात्रि के प्रथम प्रहर मे देखा जाता है वह अल्प फल वाला होता है । एक बार स्वप्न देख कर यदि नीद नही आए तो उसका शीघ्र ही महाफल होता है ।

अकल्याणमपि स्वप्न दृष्ट्वा तत्रैव यः पुन. ।
पश्यंत्सौम्य शुभकार तस्यविद्याच्छुभफलम् ।।४६

अर्थ–बुरे स्वप्न को देख कर जो पुन उसी रात शुभ और सौम्य स्वप्न देखता है उसका फल शुभ नही होता ।

पूर्वरूपाण्यथ स्वप्नान् य इमान्वेत्ति दारुणान् ।
न स मोहादसाध्येषु कर्माण्यारभते भिषक् ।।४७

अर्थ–जो इन दारुण पूर्व रूपो और स्वप्नो को जानता है वह वैद्य कभी भी मोह से असाध्य रोगो की चिकित्सा नही करता ।

चरक मे कहा गया है—

यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ।

इस उक्ति को अनेक विद्वान अक्षरश ठीक मानते हैं । किन्ही अशो मे यह ठीक भी है। स्वप्नो के प्रकार बताते हुए कहा गया है ।

दृष्ट श्रुतानुभूत च प्रार्थित कल्पित तथा ।

प्रत्येक प्रकार की विवेचना करने से इस लेख का कलेवर बहुत अधिक बढ जाने की सम्भावना है तथापि कुछ विचार आवश्यक है ।

विचार—श्लोक सख्या ८ मे जिन सवारियो का उल्लेख किया गया है वे किसी समय मे उपयुक्त थी । क्या आज का शहर मे रहने वाला कोई भी व्यक्ति दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित तथा कल्पित मे ऊट का इस रूप मे प्रयोग करेगा ? कुछ ने ऊट के दर्शन भी नही किए होगे । आगे आने वाले समय के लिए यह वर्णन और भी कठिन होगा और हमारे सामने इस श्लोक को सार्थक करने वाला शायद ही कोई प्रमाण उपलब्ध हो । इसी श्लोक मे दक्षिण दिशा की तरफ जाने का वर्णन है । हिन्दू धर्म शास्त्र मे दक्षिण दिशा का वर्णन

ही ऐसा मिलेगा परन्तु अन्य देशो मे दक्षिण दिशा का वर्णन इस रूप का नही मिलेगा। फिर यह कहा जा सकता है कि अन्य देशवासियो के रोगियो को भी इस प्रकार का स्वप्न आना सम्भव नही है क्योकि दक्षिण दिशा भी अमगल के रूप मे हमारे सामने ही इस प्रकार प्रस्तुत की गई है।

विचार—श्लोक सख्या १३ मे वात के कष्टकारक रूप को कटकलता का प्रतीक मान कर वर्णन किया गया है।

विचार—श्लोक सख्या १७ मे प्रमेहपीडित रोगी की स्नेहपान की दवी भावना विकृत रूप मे चण्डाल के साथ पान करने के रूप मे उद्‌भूत हैं।

दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित तथा कल्पित स्वप्नो को वैसे ही निष्फल माना है। इनमे भी प्रथम रात्रि मे देखा हुआ स्वप्न अल्प फल वाला होता है। दारुण स्वप्न देखने से यदि नीद वापिस नही आए (जैसा कि होता ही है) तो उसका महाफल होता है। अतः अच्छे स्वप्नो को देख कर पुन. नीद लाने का निषेध वताया गया है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं यदि इन्द्रिय स्थान का सम्यक् अध्ययन किया जाए और प्रत्येक स्वप्न का स्वप्न शास्त्र के अनुसार विवेचन किया जाए और यथास्थान कुछ सशोधन के साथ विवेच्य विषय को यथास्थान व्यवहार्य बनाया जाय तो हम समीचीन चिकित्सा द्वारा मानव समाज का अधिक कल्याण कर सकते हैं।

आयुर्वेद में विज्ञान

[स्वर्गीय श्री.स्वामीपादा अनुवादक मंगलदास स्वामी, जयपुर

[स्वर्गीय पूज्यपाद प्रात स्मरणीय विश्ववन्द्य युगप्रवर्तक स्वामी लक्ष्मीरामजी महाराज (जयपुर) ने आयुर्वेद में विज्ञान नामक निबन्ध गीर्वाण वाणी के माध्यम से लिखा जो आचार्य चरक द्वारा प्रतिपादित संहिता में उन उन स्थानों के प्रकीर्ण सूत्रों का भाष्यरूप में विवचन है। यथा-क्रिया, ऊष्मा, स्नेहार्द्रता द्वारा दोषों की सूक्ष्म रूपता का कार्यानुमेय परिचय और सामान्य विशेष द्वारा वृद्धि ह्रास, इससे धातुवैषम्यज व्याधि प्रकार, और उनकी विविध कारणता तथा धातुओं के क्षय-वृद्धि की लक्षणों द्वारा ज्ञान, और दोषवैषम्य की विविध सूक्ष्म अवस्थाओं से शरीर पर होने वाली प्रतिक्रिया तथा महामारियों के एकमात्र कारण-चातुष्ट्य को बड़े ही सुन्दर ढंग से समझाया है।

आधुनिक समय के समझे जाने वाले रोग के एकमात्र कारण "कीटाणु" के सम्बन्ध में स्वामीजी ने उल्लेख किया कि रोगोत्पत्ति का विशेष कारण तो रोगनिवारक शक्ति की न्यूनता को मानना चाहिये। क्योंकि कीटाणु शरीर में पहुंच जाने पर भी कभी रोग पैदा कर देते हैं कभी नहीं। अत आशयविशेष, धातुविशेष, स्रोतोविशेष की कमी वेशी को ही रोग क्यों न कहा जाय?

तत्पश्चात् व्याधिसाकर्य को जानने के लिये अनेक विध परीक्षा-परीक्ष्य के विवेचन के साथ प्रकृतिपरीक्षण पर विशेष बल देकर काय चिकित्सा के अनेक विध प्रकारों को बताते हुए धातुवैषम्य के परिहार व धातुसाम्य के संपादन के लिये जो भी व्यवहार में लाये जाय संक्षेप में चिकित्सा संज्ञा उसी की है। साथ ही पथ्य-व्यवस्था की उपादेयता तथा द्रव्य व भेषज प्रकारों का विश्लेषण करते हुए आयुर्वेदसमत चिकित्सा पद्धति व नियमों को सर्वसाधारण के जानने की भाषा में त्यागमूर्ति तपोधना विद्यावागीश स्वामी श्री मंगलदासजी महाराज ने अनूदित कर वैद्यजगत् का अनुपम हित करते हुए स्वर्गत स्वामिपादा के विचारों को मूर्त रूप देकर आने वाली पीढी का पथप्रदर्शन किया है। इसका संपूर्ण लाभ विज्ञ पाठक मनन करने से स्वान्त सुख के साथ नानाविध संदेहनिवृत्ति प्राप्त कर अलोक पुंज को देख सकेगा। वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

परिचय—संवत् १९८० मे मद्रास की प्रान्तीय सरकार ने एक कमेटी 'देशी चिकित्सा पद्धति' संबधी सम्पूर्ण विवरण प्राप्त करने के लिये नियुक्त की थी। इस कमेटी ने भारत के सभी प्रमुख प्रमुख नगरो का दौरा किया था। और आयुर्वेद, यूनानी व रस चिकित्सा पद्धति की बाबत उन उन चिकित्सा पद्धतियो के विशेषज्ञो से साक्षी ग्रहण की थी।

उस कमेटी के सदस्य 'आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति' के विषय मे चिकित्सा साक्षी ग्रहण करने को जयपुर मे स्वर्गीय आयुर्वेदमार्तण्ड स्वामी श्री लक्ष्मीरामजी महाराज के पास भी आये थे। कमेटी की ओर से एक प्रश्नावली थी। पूज्य स्वर्गीय श्री स्वामीजी महाराज ने उसी प्रश्नावली के उत्तर गीर्वाण भाषा मे लिखित रूप मे दिये थे। उसी निबन्ध को सम्वत् १९८३ मे संस्कृत मे ही 'आयुर्वेद विज्ञान' नाम से मुद्रित कराया था। उस निबन्ध की अधिकाश कापियें समाप्त हो गई पुन उसका प्रकाशन संस्कृत भाषा मे हो या हिन्दी मे यह भविष्य के गर्भ मे है।

आजकल जगह जगह से यह आवाज आ रही है कि आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति मे वस्तुत कुछ तथ्य है भी या नही? जो जो आक्षेप आज विज्ञान की आड मे किये जा रहे हैं उनके मूल अश उस समय भी उत्पन्न हो गये थे। कमेटी की प्रश्नावली मे ऐसे प्रश्न हैं जिनका सामञ्जस्य आज के अनेक आक्षेपो से बैठता है। उन प्रश्नो के उत्तर एक ऐसे महानुभाव के द्वारा दिये गये थे, जिन्होने अपनी आयु के पचास वर्ष निरन्तर आयुर्वेद के अध्यापन व चिकित्सा क्षेत्र मे व्यतीत किये। उनके उत्तरो मे शास्त्रीय-तत्वो का वास्तविकता

अपहृत्य तमः संततमर्थान् खिलान् प्रकाशिनी

वीणवादन के प्रति चरित्रनायक की मूर्त कल्पना

स्वकीय दीर्घकालीन अनुभव के आधार पर की गई है। उस सस्कृत निबन्ध का भाव मे विज्ञवैद्य महानुभावो को हिन्दी-भाषा मे समर्पित करना सगत समझता हूँ। वैद्य महानुभाव इससे यह जान सकेंगे कि आयुर्वेद मे वस्तुत क्या वास्तविकता है। और आयुर्वेद विज्ञान के नाम पर किये जाने वाले आक्षेपो का उत्तर किस तरह दिया जा सकता है।

समिति के प्रश्नो का उत्तर देने से पहिले स्वामीजी ने कुछ बातें अपनी ओर से विशेष रक्खी थी। जिनका सीधा सम्बन्ध उन प्रश्नो से नही है पर वे मन्तव्य भी कुछ विशेषता रखते हैं। अत उनका भावार्थ देकर पश्चात् प्रश्नोत्तर रूप मे इस निबन्ध का आरम्भ करना अधिक सगत रहेगा।

स्वामीजी के विशेष विचार—

(१) मेरी सम्मति मे 'आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति' की वास्तविकता का निर्णय जानने के लिये नियुक्त की गई कमेटी मे एक विद्वान् वैद्य भी नियुक्त किया जाता तो ज्यादा अच्छा रहता। मेरी यह तीव्रतर आशा है कि अब भी कोई विशिष्ट वैद्य इस समिति में सम्मिलित किया जायगा।

वह चाहे प्रवास-काल मे समिति मे सम्मिलित न किया जा सके पर जिस समय साक्षियो की सम्मतियो पर बैठकर विचार किया जाय उस समय एक शास्त्र-मर्मज्ञ-वैद्य का समिति मे रहना नितान्त आवश्यकीय है। जिससे साक्षियो की सम्मतियो का ठीक ठीक विश्लेषण हो सके व उनके भावो को ठीक ठीक से समझा सके।

(२) अतीत युग मे आयुर्वेद का स्वरूप कैसा उन्नत था इस विषय मे अधिक कहने की आवश्यकता नही कारण उस समय जन-साधारण के स्वास्थ्य का वही आधार था इसलिये उस समय आयुर्वेद की उन्नति अभिवृद्धि व उपयोगिता के लिये विविध प्रकार के आश्रय व अनेक प्रकार के उपाय काम मे लाए जाते थे। राजा और प्रजा दोनो ही आयुर्वेद को समुन्नत करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। यही कारण है कि इस शास्त्र ने उस समय अगोपागो द्वारा अपना विशाल रूप बनाया व अत्यत महत्व प्राप्त किया था।

(३) आयुर्वेद शास्त्र की रचना का कारण क्या है। दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न महर्षियो व शास्त्रक्रिया निपुण वैद्य महानुभावो के हजारो वर्षों के प्रयत्न व प्रयोगो का अनुभव बिना किसी स्वार्थकामना के प्राणी मात्र पर स्वाभाविक दयार्द्र भावना का परिणाम हो इसकी रचना व वृद्धि का सच्चा कारण है।

अनन्तकाल बीत जाने पर भी परीक्षित औषधियो का आज भी व्यभिचारविहीन परिणाम दिखाई देता है। इसका यही हेतु है कि ये योग अनन्तकाल तक अनन्त शरीरो के रोगो को शान्त करने के पश्चात् ही चिकित्सा क्षेत्र में प्रसिद्धि पा सके हैं।

दयार्द्र हृदय प्राचीन ऋषियो व निस्वार्थसेवी वैद्य महानुभावो ने किसी स्वार्थ की प्रेरणा से इन योगो का सकलन नही किया था। इन्होने तो इनका निर्माण आर्त रोगाक्रात प्राणियो के आतक निवारण के लिए ही किया था।

(४) जिस तरह औषधियो के ये योग अनत काल के अनुभव के पश्चात् स्थिर किए थे, क्या इसी तरह आयुर्वेद के व्यापक सिद्धान्त भी अनन्तकाल तक परीक्षण की कसोटी पर कसे जाने के बाद ही स्थिर नही किए गए हैं ? जो कि इतना समय निकल जाने पर भी किसी प्रकार का सशोधन किए बिना आज भी उसी तरह बिना किसी व्यभिचार के, बिना किसी तरह की व्यर्थता के वैसा ही परिणाम प्रदर्शित करते है। इस तरह के व्यापक सिद्धान्त साधारण ज्ञान के सहारे मात्र से नही स्थिर किय जा सकते। जो व्यापक सिद्धान्त आयुर्वेद शास्त्र के स्थिर किए गए हैं उनके मूलाधार का नाम ही (त्रिदोष पद्धति) है।

जिसको आजकल की भाषा मे वैज्ञानिक पद्धति की भाषा मे शरीर की सरक्षणी शक्तिया शरीर विघातनी-शक्ति कह सकते हैं। वही आयुर्वेद के त्रिदोष वादानुसार वात-पित्त-श्लेष्म की स्वाभाविक गति रूप अवस्था तथा विकृत गति रूप अवस्था है। प्रकृतावस्था मे सम-स्थिति मे रहे हुए वात, पित्त, श्लेष्मा, धातु, आशय, मर्म, श्रोत आदि द्वारा शरीर की सम्पूर्ण क्रियाओ का समुचित सम्पादन करते हुए शरीर की सरक्षणी शक्ति को ठोक बनाए रहते हैं, यही मनुष्य की नीरोगावस्था है।

जब वात, पित्त, श्लेष्मा, बाह्य, आभ्यतर हेतु, विशेष से वृद्धि ह्रास द्वारा समस्थिति का त्याग कर विकृत अवस्था मे धातु, आशय, मर्म, स्रोतादि का आश्रय ग्रहण कर शरीर सरक्षणीय शक्ति का विघात करते हैं। इसी का नाम आतुरावस्था है।

वात, पित्त, श्लेष्मा जिनको कि आयुर्वेद के सिद्धात से दोष या धातु शब्द से व्यवहृत किया गया है, शारीरिक शक्ति के सरक्षण और विघात मे हेतु क्यो माने जाँय। शरीर सरक्षणी शक्ति का एक इससे क्या सम्बन्ध ? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर से पहिले यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि आयुर्वेद-सिद्धान्त से सम्पूर्ण शरीर की उत्पत्ति का जो शुक्र शोणित सयोग हेतु माना जाता है। वह शुक्र, शोणित भी वात, पित्त, श्लेष्मा से अन्वित है।

सूक्ष्म (द्रव्यरूप) वात पित श्लेष्मा का प्रत्येक शुक्र कण वा शोणित कण से सम्बन्ध रहता है। इसी से आयुर्वेद मे शारीरिक प्रकृतियो का वात पित्त श्लेष्मा के आधार से सात भेद करके विवेचन किया गया है।

जब शरीरोत्पत्ति के हेतु-भूत शुक्र शोणित दोषो के सूक्ष्म रूप से ओतप्रोत है ? तब तज्जन्य शरीर की शक्तियो का आधार दोषो से भिन्न कौन हो सकता है।

सूक्ष्म रूप मे रहने वाले दोषो का कार्य द्वारा ही अनुमान से प्रत्यक्षीकरण होता है। उनका कार्य शरीर मे क्या है ? उस विवेचन को देखने के पश्चात् हमे तुरन्त ज्ञात हो

जायगा कि शारीरिक शक्ति के सरक्षण व विघात मे इन दोषो का कितना हाथ है। हम शरीर मे होने वाले कार्य विशेषो का वर्गीकरण करे तो हमे मालूम होगा कि शरीर मे प्रधानतया क्रिया, ऊष्मा, स्नेह और आर्द्रता से ही अधिकाश कार्य सम्पादित होते है। इन चार प्रकार की शक्तियो का आधार तलाश करें तो वायु (क्रिया) पित्त (ऊष्मा) श्लेष्मा (स्नेह आर्द्रता) से भिन्न कोई द्रव्य शरीर मे उपलब्ध नही होगा।

हृदय, यकृत, प्लीहा, वृक्क, शुक्राशय, सुषुम्नाप्रणाली, स्नायु, धमनो, शिरा, मासपेशी, त्वचा फुफ्फुस उभय मस्तिष्क, आमाशय, पक्वाशय, मलाशय आदि शरीर के सम्पूर्ण अग उपाग मे तथा मानसिक क्षेत्र मे जो जो क्रियाये होती है, उन सबका सचालन शरीर मे जिस द्रव्य विशेष से होता है यानि जिस द्रव्य विशष के आधार से ही ये अखिल क्रियायें निष्पन्न होती है। आयुर्वेद मे उस आधारभूत द्रव्य का नाम (वात) है।

(अनल) अन्न के परिपाक से आरम्भ होकर धातुओ और त्वचाओ के निर्माण तक की जो सम्पूर्ण पाक प्रणाली है उसको पूर्ति शरीरस्थ अग्नि (ऊष्मा) से होती है।

शरीर मे मुख्यतया अग्नि के दो प्रकार के कार्य दृष्टिगत होते है। पहिला कार्य शरीर को प्रतिदिन व्यापार विशेष से होने वाली कमी की पूर्ति। अर्थात् शरीर के पोषण करने का काम पूरा करना दूसरा काम है शरीर को सुस्थिर (टिकाऊ) बनाना। शरीर का शौर्य (अधिक आयु तक शरीर का सबल रहना) धातुओ की दृढता पर है। धातुओ की दृढता शरीर की उचित ऊष्मा के आश्रित है इस तरह अन्न परिपाक व धातु परिपाक द्वारा अनल शरीर का पोषण व स्थिरीकरण का कार्य प्रधान रूप से सम्पादन करता है। इनके अतिरिक्त ऊष्मा एक और भी विशेष कार्य करती है।

खान, पान, रहन-सहन की अव्यवस्था कारण शरीर मे कुछ ऐसे विरोधी तत्व सचित होते रहते हैं जो शरीर के रस रक्तादि रूपो मे परिवर्तित नही होते उनको विनष्ट करना इस तरह शरीर के पोषण शौर्य और बचाव का काम जिस ऊष्मा (अनल) द्वारा सम्पन्न होता है। आयुर्वेद उसके आधारभूत द्रव्य को पित्त नाम से निर्देश करता है। क्रिया और विद्युत्प्रवाह से शरीर के प्रत्येक अवयवो परिमाणुओ मे अनवरत सघर्ष चलता रहता है। इससे उत्पन्न होने वाले रुक्ष विषय बहुत विस्तृत हैं अत इस जगह इसका विवेचन न कर केवल इतना ही दिग्दर्शन करा देना पर्याप्त है कि दोषो की सम विषम स्थिति से शरीर को सरक्षण वा विनाशक शक्ति का क्या सबध है ? इसको ठीक ठीक समझ लेने पर उपरोक्त प्रश्न का समाधान स्वतः ही प्राप्त हो जाता है।

वात, पित्त, कफ सूक्ष्म स्थूल भेद से शरीर मे उपलब्ध होते हैं। उनमे सूक्ष्म रूप से रहने वाले तीनो दोष केवल कार्यानुमेय ही हैं। उनका आयुर्वेद सिद्धान्त से किसो यत्र

इसलिए रोग के स्वरूप ज्ञान का निश्चय करने के लिए औषध निश्चय करने के समय विपरीत ज्ञान की आवश्यकता होती है।

ऐसे जितने भी स्थूल से स्थूल या सूक्ष्म से सूक्ष्म सम्पूर्ण रोगोत्पत्ति हेतु हैं वे सामान्य ज्ञान द्वारा रोग की जाति विशेष निर्णय करने के समय अत्यन्त सहायक होते हैं।

न केवल उपरोक्त कारणो से ही सामान्य विपरीत ज्ञान की आवश्यकता है, प्रत्युत स्वास्थ्य रक्षा के लिए किन किन पदार्थों को शरीर मे जाने की जरूरत है तथा कौन कौन से अनुपादेय व शरीर-विनाशक पदार्थ शरीर मे न पहुँचने चाहिएँ इसकी पूर्ति के लिए प्रतिक्षण सामान्य व विपरीत ज्ञान की आवश्यकता रहती है।

केवल व्यवहार मे आने वाले भोज्य द्रव्य व औषध द्रव्यो के प्रभाव ज्ञान के लिए ही उनका विशेष उपयोग हो या यही एकमात्र उनके ज्ञान कराने मे कारण हो—यह सिद्धान्त न समझा जाय क्योकि अन्नादि व औषध द्रव्यो के अशेष गुणावगुणो का निश्चित निर्णय सामान्य विपरीत ज्ञान से हो ही जाय यह कोई निश्चित नियम नही।

पदार्थों मे मूर्त अमूर्त दोनो तरह के तत्व हैं कैमीकल परीक्षण से मूर्त पदार्थों का शायद विश्लेषण हो जाय अमूर्त पदार्थो का विश्लेपण उनके दायरे की वस्तु नही।

इसलिए इस प्रकार की स्थिति मे विशिष्ट अनुभवसम्पन्न आप्त पुरुषो का अनुभूत उपदेश ही अधिक उपादेय प्रमाण है। क्योकि पदार्थों की अशेप शक्ति का सम्पूर्ण ज्ञान सर्वज्ञ ईश्वर को ही सम्भव है। दूसरो को नही।

यह बात केवल आदर्श की भावना से नही कही जा रही है, यह तथ्य इस समय के विज्ञान से सिद्ध हो रहा है। विज्ञान किसी समय किस पदार्थ को किसी शक्ति से सम्पन्न मानता है, कुछ समय बाद उसी पदार्थ मे उससे भिन्न और कई शक्तियो का पता लगाता है। 'कुनेन' मलेरिया के निवारण की शक्ति रखता है पर साथ ही शरीर की जीवनीय शक्ति पर भिन्न असर करता है। इसके परिमार्जन का अभी तक कोई हल नही निकला। इससे सिद्ध है कि विज्ञान युग मे पदार्थ के अशेष गुण धर्मो का पता लग ही जाय यह सम्भव नही, इसी लिए सामान्य विपरीत ज्ञान के साथ आप्तोपदेश की सहायता आवश्यक है।

(६) आयुर्वेद शास्त्र ने अपने आठ अगो मे से सात का ह्रास होते हुए भी 'काय-चिकित्सा' नामक एक अग मे अकिंचन अपर्याप्त थोडी-सी सहायता के सहारे ही कितने ही सग्रह-ग्रथो का निर्माण कर पूर्वकाल मे पर्याप्त उन्नत अवस्था की प्राप्ति की थी। जिससे उसका 'काय चिकित्सा पद्धति' का अङ्ग आज भी चिकित्सा सूत्र, आवस्थिक चिकित्सा, अनुबन्ध चिकित्सा, चिकित्सा के उपयोग के लघन, पाचन शोधन शमनादि अनेक प्रकार, भेषज प्रयोग में गुटिका, कसाय, घृत तैल, अवलेह आदि पच कर्मादि रसायन, वाजीकरणादि अनेक साधन, भेषज प्रयोग के विविध प्रकार, शरीर से भेषज का सम्बन्ध, अनुपान पथ्यादि

अनेक उपयोगी विषयो से सम्पन्न हैं।

बौद्धकाल के पश्चात अनेक विघ्न बाधाओ के आने, अनेक प्रकार के आक्रमण होते रहने पर भी इस समय तक आयुर्वेद अपना अस्तित्व बनाए हुए है इसका एक मात्र कारण आयुर्वेद का शेष बचा कार्य चिकित्सा अग ही है। इसी के सहारे यह आज भी अनन्त प्रतिगामी शक्तियो के आक्रमणो को सहन करते हुए भी अपना उपादेयता सिद्ध करने में समर्थ है।

(७) आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति का यह वर्तमान काल छिन्न भिन्न अवस्था वाला भग्नावशेषमात्र का द्योतक है।

राज्याश्रय के अभाव व शिक्षा के समुचित प्रबन्ध न होने के कारण दिन दिन इसके वाङ्मय भण्डार व चिकित्सागो की परम्परा में शैथिल्य ही उपस्थित होता रहा है ऐसी स्थिति मे उपरोक्त कारणो के कारण हम वैद्य लोग इस पद्धति के सम्पूर्ण सिद्धान्तो व विशेष तत्वो का पूर्ण परिचय प्राप्त करने मे सफल नही हो सके हैं। इसलिये आयुर्वेद का पूरा महत्व हम प्रकट न कर सकें तो भी इसकी इस अवस्था मे प्राप्त सामग्री के सहारे से हमने इसके सिद्धान्तो का अनुसरण कर चिकित्सा-क्षेत्र मे जो अद्भुत सफलताऐं प्राप्त की हैं व देखी हैं उनके अनुमान से हम दृढतापूर्वक साग्रह यह कहने का साहस करते हैं कि इस पद्धति को राज्याश्रय प्रदान कर शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाय तो यह पद्धति अपनी पूर्व स्थिति मे (आने पर) देश और आतुर जन-समुदाय का अल्प व्यय मे अत्यन्त कल्याण साधन कर सकती है।

(८) पचास वर्ष पहिले पाश्चात्य-औषध-विज्ञान (मेडिकल साइन्स) की जो स्थिति थी और इस समय जो स्थिति है इसकी तुलना करने से यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि आयुर्वेद औषधियो का किस तीव्र गति से इसमे समावेश हो रहा है।

जिस तरह आज आयुर्वेदोक्त औषधियो का इसमे समावेश हो रहा है सभव है आगे आयुर्वेद के अनेक चिकित्सा-सिद्धान्त व प्रक्रियायें भी परीक्षण के साथ साथ पाश्चात्य भेषज-पद्धति मे ग्राह्य हो जायेंगी।

(९) आधुनिक-विज्ञान के मूलग्रन्थ आँग्ल-भाषा मे हैं। मेरा आँग्ल-भाषा से परिचय नही है अत मैं केवल आयुर्वेद शास्त्र के ज्ञान के आधार से ही आपके प्रश्नो का यथामति यथास्थान सस्कृत भाषा में उत्तर लिख रहा हूँ।

१. पहिला प्रश्न—

देशी चिकित्सा-पद्धति के दायरे मे आयुर्वेद, यूनानी और सिद्धवैद्यक (रस चिकित्सा पद्धति) ये तीनो पद्धतियें आती हैं। आप इनमे से (एक को या अधिक को) किनको प्रमुख मान व्यवहार मे ला रहे हैं।

२. द्वितीय प्रश्न—

(अ) आप जिस प्रणाली के अनुसार चिकित्सा करते हैं उसके अनुसार रोग को पैदा करने वाले कारणभूत सिद्धान्तो का नामकरण क्या है ? आपकी प्रणाली के वे सिद्धान्त आधुनिक (वैज्ञानिक) चिकित्सा प्रणाली के अनुसार क्या परीक्षा की कसौटी मे पूरे उतर सकते हैं ? (आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार परीक्षा के पश्चात् उनमे परिवर्तन की सभावना हो तो आप कहा तक उन सिद्धान्तो के परिशोध के लिये उद्यत हैं) इस विषय मे आप अपने भावो को स्पष्ट रूप में प्रकाशित कर समिति को अनुगृहीत करें।

(आ) आपके चिकित्सा-तन्त्रानुसार रोग के निश्चय करने में, रोग-निवारणार्थ चिकित्साक्रम निश्चय करने मे किस पद्धति से, किन नियमो को, उपादेय मानते हैं।

आपकी चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार चिकित्सा करने पर सामान्यतया क्या परिणाम सामने आता है ? यदि सुव्यवस्थित रिकार्डों द्वारा यह बात सिद्ध की जा सकती है तो किन किन सस्थाओ तथा औषधालयो द्वारा कितने समय मे कितने रोगो की चिकित्सा की जाने पर सख्यानुपात से जो परिणाम सामने आये हो, वे यथार्थता के साथ सप्रमाण समिति के समक्ष रख आप अपने आशय से समिति को उपकृत करें।

(इ) क्या आप यह भी दृढ सम्मति रखते हैं कि कुछ रोगो की कुछ अवस्था विशेष में अन्य चिकित्सा पद्धतियो की अपेक्षा आपकी चिकित्सा प्रणाली का समान सख्यानुपात से प्रयोग करने पर सर्वदा परिणाम विशेष रहता है यदि ऐसा है तो आप उदाहरणपूर्वक आपके इस कथन को सप्रमाण सिद्ध करें। इनका स्वर्गीय स्वामी जी ने जो विस्तृत उत्तर दिया है उसका भावार्थ निम्न रूप मे है। (नोट्) मैं वैद्य महानुभावो का ध्यान इस ओर आकर्षित कर देना चाहता हूँ कि, मैं यह सस्कृत का शब्दानुवाद नही कर रहा हूँ, मेरा यह अनुवाद भावानुवाद है, इसमे कई जगह किसी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए अधिक भी लिखा जायगा, किसी जगह न्यून भी अत इस बात को ध्यान मे रखते हुए ही इसके औचित्यानौचित्य का विचार करें।

प्रश्नों का उत्तर —

(१) मैंने सस्कृत भाषा मे निर्मित आयुर्वेदशास्त्र के अध्ययन व अध्यापन मे आज तक श्रम किया है। इसी के सिद्धान्तानुसार रोगो का निर्णय व चिकित्साक्रम का निश्चय करता हूँ अत इस विषय में उसी के सिद्धान्तो का समर्थन करने का उद्योग करता हू।

वह आयुर्वेद आरम्भ में तथा अतीत की अनेक शताब्दियो तक पूर्वाचार्यों द्वारा चिकित्सा को सुचारु रूप से सम्पादित करने के अभिप्राय से कार्यविभाग द्वारा आठ अङ्गो में विभाजित किया गया था। आठ अङ्ग इस रूप में थे—

(१) शल्य चिकित्सा (२) शालाक्य चिकित्सा (३) काय चिकित्सा (४) कौमार-भृत्य चिकित्सा (५) रसायन तन्त्र (६) वाजीकरण तन्त्र (७) अगद तन्त्र और (८) भूतविद्या।

१ इनमे से जिस तन्त्र मे विद्रधि, मूढगर्भ, नाडीव्रण, अश्मरी, अर्श आदि शस्त्रसाध्य रोगो का व उनके परिहार के लिए यंत्र शस्त्रादि साधनो का वर्णन किया गया वह 'शल्य-चिकित्सा' नाम का अग कहा जाता था।

२. जिस तन्त्र मे नेत्र, कान, घ्राण, मुख तथा मस्तिष्क के सम्पूर्ण रोगो का तथा उनके परिहार के लिए आश्च्योतन, अञ्जन, नस्य, तर्पण, धूम्रपानादि साधनो का व शलाकादि के प्रयोगो का वर्णन किया वह 'शालाक्य चिकित्सा' नाम का तन्त्र कहा जाता था।

३ जिस तन्त्र मे आमाशय, पक्वाशय, मलाशय, मूत्राशय, वृक्क, प्लीहा, यकृत्, फुफ्फुस, हृदयादि प्रदेशो मे उत्पन्न सम्पूर्ण शरीर को सतप्त करने वाले ज्वर, अतिसार, पाण्डु, ग्रहणी, कास-श्वास, रक्तपित्त, क्षयादि रोगो का व उनके प्रतिकार का समुचित वर्णन किया है वह 'काय चिकित्सा' नाम का तंत्र उपदेश किया जाता था।

४. जिसमे सम्पूर्ण शरीर के बल, उपचय, धातु अपकर्षण करने वाले बाल्यावस्था मे बच्चो के होने वाले सामान्य विशेष रोगो का, उनके प्रतिकार करने वाले उपक्रमो का धात्री दुग्धादि के उपादेय, शुद्धाशुद्ध लक्षणो का, उनसे उत्पन्न रोग विशेष व उनके निवारणो का, बच्चे को किस तरह, किन नियमो से, किस अवस्था तक, कैसे रखना जाय इन सब विषयो का समुचित विवेचन है वह 'कौमारभृत्य तन्त्र' नाम से व्यवहृत होता था।

५ जिसमे सम्भावित समय असमय मे आने वाले बुढापे व क्लैब्यादि दोषो के परि-हार के लिए व रोगाक्रामक शक्ति का परिहार करने के लिए रोग-निवारण शक्ति-सम्पन्न शरीर को बनाने के लिए अनेक प्रकार के, शरीर को ऊर्जस्कर (सशक्त) बनाने वाले प्रयोगो का विषद विवेचन किया गया था, उसको 'रसायन तन्त्र' नाम से सम्बोधित किया जाता था।

६ जिसमें अल्प शुक्र वाले विविध व्याधियो या आहार-विहार की अनुपादेयता से क्षीण शुक्र व विकृत शुक्र वाले पुरुषो के लिए पूर्ण शुक्र व विशुद्ध शुक्रोत्पादनार्थ प्रयोग विशेषो का निर्माण व उपयोग वर्णित था वह "बाजीकरण तन्त्र" नाम का तन्त्र कहा जाता था।

७. जिसमे स्थावर-जगम भेद से उत्पन्न ससार मे अनेक प्रकार की विष जातियो, उनके शरीर पर होने वाले परिणामो, देशकाल स्थिति भेद से बनने वाले हीन विष, दूषीविप, गर आदि के लक्षणो व उनके परिहार के लिये विविध उपायो व प्रयोगो का कृत्रिम रूप से

बनाये जाने वाले विषो, सामूहिक रूप से वायु, जल, पशुभूमि, वस्त्रादि मे प्रयुक्त किये जाने वाले विष प्रयोगो तथा तज्जन्य परिणामों का परिहार करने के उपायो का विशद वर्णन था वह "अगद तन्त्र" के नाम से प्रसिद्ध था।

८. जिसमें आधिदैविक कारणो से उत्पन्न होने वाले कर्मज रोगो व उनके परिशमन के लिये शास्त्रीय व अथर्ववेदीय प्रतिकर्म्मों का विवेचन किया गया वह "भूतविद्या" नामक तन्त्र कहलाता था।

इस विविधाग भूषित आयुर्वेद के और अङ्ग तो दैवसयोग से या देश की परिवर्तित अवस्था से, या शासन की विचलित व विभिन्न परिवर्तित होने वाली नीति से, या आयुर्वेद को उपयोग मे लाने वाले वैद्यो की शिथिलता से, इनमें से एक या इन सब कारणो से धीरे-धीरे तिरोहित होते गये, केवल एक "काय चिकित्सा" अङ्ग ही वैद्यो के जैसे तैसे व्यवहार मे आता रहा।

प्राचीन समय मे इस अङ्ग पर अनेक उपादेय सहितायें रची गई थी। उनमें से केवल एक ही प्राचीन "चरक-सहिता" शेष रही है और कुछ वाग्भट आदि सग्रह ग्रथ भी हैं, इस अवशिष्ट रहे तन्त्र की इस उपलब्ध सहिता मे, रोगो के कारण, रोगो के स्वरूप निश्चय के हेतु, रोगो के बदलने की अवस्थायें, उनके परीक्षण के प्रकार, रोगो के परिहार करने वाले चिकित्सा-व्यवस्थापक सिद्धांत हैं उन्ही को मैं यथामति समिति के समक्ष उपस्थित करता हूँ।

२. प्रश्न का उत्तर—

(नोट) उपागों सहित दूसरे प्रश्नो मे आयुर्वेद को कसौटी पर कसने की सभी बातें आ गई हैं इसके उत्तर मे भी स्वामीजी महाराज ने शास्त्रपद्धति से गागर में सागर भरने की कहावत के अनुसार सक्षेप में सम्पूर्ण सिद्धातो का कैसा क्रमबद्ध विवेचन किया है यह आयुर्वेदप्रेमियो को विशेष रूप से अवलोकनीय है।

२ आयुर्वेद की पद्धति के अनुसार रोग को पैदा करने वाले सिद्धान्तो का विवेचन करने से पहिले यह कौनसा रोग है इसका निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है।

फिर रोगोत्पादक हेतुओ की खोज तलाश करने से पहिले स्वास्थ्य क्या है ? इसका विवेचन भी आवश्यक है। क्योंकि जितनी भी चिकित्सापद्धतियें हैं वे सब इस विषय मे एकमत हैं कि स्वास्थ्य से विपरीत परिस्थिति का नाम ही रोग है।

इस स्थिति मे रोग तत्व और रोगोत्पत्ति तत्त्वो का निर्णय करने को प्रस्तुत होने पर स्वास्थ्य तत्त्व का निर्णय स्वय ही उपस्थित हो जाता है। इसलिये सब से पहिले आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार स्वास्थ्य क्या है ? इसी का विवेचन करना सगत है। क्योंकि स्वास्थ्य प्राप्ति

(१) शल्य चिकित्सा (२) शालाक्य चिकित्सा (३) काय चिकित्सा (४) कौमार-भृत्य चिकित्सा (५) रसायन तन्त्र (६) वाजीकरण तन्त्र (७) अगद तन्त्र और (८) भूतविद्या।

१ इनमे से जिस तन्त्र मे विद्रधि, मूढगर्भ, नाडीव्रण, अश्मरी, अर्श आदि शस्त्रसाध्य रोगो का व उनके परिहार के लिए यंत्र शस्त्रादि साधनो का वर्णन किया गया वह 'शल्य-चिकित्सा' नाम का अग कहा जाता था।

२. जिस तन्त्र मे नेत्र, कान, घ्राण, मुख तथा मस्तिष्क के सम्पूर्ण रोगो का तथा उनके परिहार के लिए आश्च्योतन, अञ्जन, नस्य, तर्पण, धूम्रपानादि साधनो का व शलाकादि के प्रयोगो का वर्णन किया वह 'शालाक्य चिकित्सा' नाम का तन्त्र कहा जाता था।

३ जिस तन्त्र मे आमाशय, पक्वाशय, मलाशय, मूत्राशय, वृक्क, प्लीहा, यकृत्, फुपफुस, हृदयादि प्रदेशो मे उत्पन्न सम्पूर्ण शरीर को सतप्त करने वाले ज्वर, अतिसार, पाण्डु, ग्रहणी, कास-श्वास, रक्तपित्त, क्षयादि रोगो का व उनके प्रतिकार का समुचित वर्णन किया है वह 'काय चिकित्सा' नाम का तत्र उपदेश किया जाता था।

४. जिसमे सम्पूर्ण शरीर के बल, उपचय, धातु अपकर्षण करने वाले बाल्यावस्था मे बच्चो के होने वाले सामान्य विशेष रोगो का, उनके प्रतिकार करने वाले उपक्रमो का धात्री दुग्धादि के उपादेय, शुद्धाशुद्ध लक्षणो का, उनसे उत्पन्न रोग विशेष व उनके निवारणो का, बच्चे को किस तरह, किन नियमो से, किस अवस्था तक, कैसे रक्खा जाय इन सब विषयो का समुचित विवेचल है वह 'कौमारभृत्य तन्त्र' नाम से व्यवहृत होता था।

५ जिसमे सम्भावित समय असमय मे आने वाले बुढापे व क्लैब्यादि दोषो के परि-हार के लिए व रोगाक्रामक शक्ति का परिहार करने के लिए रोग-निवारण शक्ति-सम्पन्न शरीर को बनाने के लिए अनेक प्रकार के, शरीर को ऊर्जस्कर (सशक्त) बनाने वाले प्रयोगो का विषद विवेचन किया गया था, उसको 'रसायन तन्त्र' नाम से सम्बोधित किया जाता था।

६ जिसमें अल्प शुक्र वाले विविध व्याधियो या आहार-विहार की अनुपादेयता से क्षीण शुक्र व विकृत शुक्र वाले पुरुषो के लिए पूर्ण शुक्र व विशुद्ध शुक्रोत्पादनार्थं प्रयोग विशेषो का निर्माण व उपयोग वर्णित था वह "वाजीकरण तन्त्र" नाम का तन्त्र कहा जाता था।

७. जिसमे स्थावर-जगम भेद से उत्पन्न ससार मे अनेक प्रकार की विष जातियो, उनके शरीर पर होने वाले परिणामो, देशकाल स्थिति भेद से बनने वाले हीन विष, दूषीविष, गर आदि के लक्षणो व उनके परिहार के लिये विविध उपायो व प्रयोगो का कृत्रिम रूप से

बनाये जाने वाले विषो, सामूहिक रूप से वायु, जल, पशुभूमि, वस्त्रादि मे प्रयुक्त किये जाने वाले विष प्रयोगो तथा तज्जन्य परिणामो का परिहार करने के उपायो का विशद वर्णन था वह "अगद तन्त्र" के नाम से प्रसिद्ध था।

८. जिसमें आधिदैविक कारणो से उत्पन्न होने वाल कर्मज रोगो व उनके परिशमन के लिये शास्त्रीय व अथर्ववेदीय प्रतिकर्म्मों का विवेचन किया गया वह "भूतविद्या" नामक तन्त्र कहलाता था।

इस विविधाग भूषित आयुर्वेद के और अङ्ग तो दैवसयोग से या देश की परिवर्तित अवस्था से, या शासन की विचलित व विभिन्न परिवर्तित होने वाली नीति से, या आयुर्वेद को उपयोग मे लाने वाले वैद्यो की शिथिलता से, इनमे से एक या इन सब कारणो से धारे-धीरे तिरोहित होते गये, केवल एक "काय चिकित्सा" अङ्ग ही वैद्यो के जैसे तैसे व्यवहार मे आता रहा।

प्राचीन समय मे इस अङ्ग पर अनेक उपादेय सहितायें रची गई थी। उनमे से केवल एक ही प्राचीन "चरक-सहिता" शेष रही है और कुछ वाग्भट आदि सग्रह ग्रथ भी हैं, इस अवशिष्ट रहे तन्त्र की इस उपलब्ध सहिता मे, रोगो के कारण, रोगो के स्वरूप निश्चय के हेतु, रोगो के बदलने की अवस्थायें, उनके परीक्षण के प्रकार, रोगो के परिहार करने वाले चिकित्सा-व्यवस्थापक सिद्धात हैं उन्ही को मैं यथामति समिति के समक्ष उपस्थित करता हूँ।

२ प्रश्न का उत्तर—

(नोट) उपागो सहित दूसरे प्रश्नो मे आयुर्वेद को कसौटो पर कसने की सभी बातें आ गई हैं इसके उत्तर मे भी स्वामीजी महाराज ने शास्त्रपद्धति से गागर मे सागर भरने की कहावत के अनुसार सक्षेप मे सम्पूर्ण सिद्धातो का कैसा क्रमबद्ध विवेचन किया है यह आयुर्वेदप्रेमियो को विशेष रूप से अवलोकनीय है।

२ आयुर्वेद की पद्धति के अनुसार रोग को पैदा करने वाले सिद्धान्तो का विवेचन करने से पहिले यह कौनसा रोग है इसका निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है।

फिर रोगोत्पादक हेतुओ की खोज तलाश करने से पहिले स्वास्थ्य क्या है? इसका विवेचन भी आवश्यक है। क्योकि जितनी भी चिकित्सापद्धतियें हैं वे सब इस विषय मे एक-मत हैं कि स्वास्थ्य से विपरीत परिस्थिति का नाम ही रोग है।

इस स्थिति मे रोग तत्व और रोगोत्पत्ति तत्वो का निर्णय करने को प्रस्तुत होने पर स्वास्थ्य तत्व का निर्णय स्वय ही उपस्थित हो जाता है। इसलिये सब से पहिले आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार स्वास्थ्य क्या है? इसी का विवेचन करना सगत है। क्योकि स्वास्थ्य प्राप्ति

के लिये प्रत्येक प्राणी प्रयत्नशील है। जिसके प्राप्त होने पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारो पुरुषार्थों को सिद्ध किया जा सकता है।

यदि आरोग्य प्राप्ति नही है, शरीर स्वस्थ नही है, तो सम्पूर्ण भोग्य पदार्थों की साधन सामग्री होते हुए भी दोषो का उपभोग नही किया जा सकता।

जिसके आधार पर ही जीवन के साफल्य का, कर्मसिद्धि का दारोमदार है उस 'स्वास्थ्य" का आयुर्वेद किन चमत्कारी थोडे शब्दो मे उद्घोष करता है—

समदोष समाग्निश्च, समधातुमलक्रिय ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना, स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

आज की उन्नति के सिद्धान्तानुसार, सभव है, "स्वास्थ्य" पर अनेक उपादेय पुस्तको की रचना हुई हो। एक-एक स्वास्थ्य सबधी विषय को लेकर बहुत विस्तृत विवेचन किया गया हो। पर इतने थोडे शब्दो मे इतनी उत्कृष्टमयी "स्वास्थ्य" की परिभाषा शायद ही कही दिखाई पड सके।

उपर्युक्त श्लोक मे निर्दिष्ट किये दोष, धातु, मल, क्रिया, जठराग्नि पदार्थों का पृथक् पृथक् विवेचन आगे किया जायगा क्योकि आयुर्वेदशास्त्र मे विवेचनीय मुख्य विषयो मे इनका प्रमुख स्थान है। श्लोक का भावार्थ यह है—जिस अवस्था मे शरीर से सम्बन्ध रखने वाले हृदय, फुफ्फुस, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, आमाशय, पक्वाशय, वास्त, किडनी, मस्तिष्क, सुषुम्ना प्रणाली, सिरा, धमनी, स्नायु, माशपेशी आदि सम्पूर्ण यन्त्र, वातादि दोष, जाठराग्नि, धातु और धाताग्नि पचविध भूताग्नि आदि सम्पूर्ण तत्त्व अपनी २ क्रिया व अपने २ व्यापार को उचित दशा मे (अर्थात् शरीर के अशेष क्रियाकर्म करने वाले तत्त्वो की सतुलन स्थिति को) सम्पादित करते रहे। यह शरीर की प्राकृतिक दशा है। शरीर की इस प्राकृतावस्था का नाम ही स्वास्थ्य है।

दूसरे शब्दो मे कहे तो ऐसा कहा जा सकता है कि नाना प्रकार की क्रिया व व्यापार को पूरा करने वाले शरीर के सम्पूर्ण भाव एक दूसरे के सहायक होते हुए अपने अपने कर्म से शरीर को स्वाभाविक स्थिति में बनाये रखें वही दशा 'स्वास्थ्य' शब्दाभिधेय है।

स्वास्थ्य क्या है ? उसका लक्षण या उसका स्वरूप जान लेने पर उसको सम्पादित करने वाले हेतुओ को जानना भी जरूरी है, जिससे स्वास्थ्य को रक्षा की जा सके और स्वास्थ्य मे गडबडी होने पर उसकी कमी का परिहार किया जा सके।

आयुर्वेद शास्त्र मे स्वास्थ्य प्राप्ति के हेतुओ का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन पद्धति द्वारा अनेक तरह से वर्णन किया गया है उस सब का विशद वर्णन अशक्य है। फिर भी कुछ दिग्मात्र से प्रदर्शित कर रहा हूँ। अपने अपने ऋतुकाल मे ग्रीष्म, वर्षा, शीत का सम्यग्

योग, देशकालानुसार सम्यग्योग युक्त ऋतुओ मे ऋतुचर्या, दिनचर्या की विधि अनुसार आहार विहारो का उपयोग। आहार विहार मे सब प्रकार के अतियोग और मिथ्यायोगो का परित्याग। वात मूत्र पुरुषादि वेगो का अवरोध न करना, आगत वेगो का सम्यक् त्याग। सक्षेप मे उन्ही को स्वास्थ्य का हेतु कहा जा सकता है।

थोड़े मे कहे गये उपर्युक्त शब्दो मे देशकाल के भेद, देशकाल भेद से ऋतुभेद, ऋतु में स्वकीय धर्म का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग, सम्यग्योग, उनके लक्षण, ऋतु अनुसार दोषो के चय, प्रकोप, प्रशमन का अनुबन्ध ऋतु अनुसार आहार विहार का निर्देश, उसके प्रयोग के प्रकार, ऋतु मे दिनचर्या का विवेचन, दिनचर्या मे प्रातः उठने से लेकर मल मूत्र त्याग, दन्त धावन, गण्डूष धारण, अभ्यङ्ग, व्यायाम, स्नान, वस्त्राचन, गन्धादि धारण, भोजन, भोजन के पदार्थ, पदार्थो मे सात्म्यासात्म्य, सात्म्यादि के विवेचन, भोजन के पदार्थों के स्वरूप भेद, रसानुबन्ध से उनका उपयोग, भोजन का काल पहिले किये गये भोजन के सम्यक् पाचन अपाचन का निश्चय।

शीतोष्ण भेद से, गांगेयादि उदक भेद से, उत्तर दक्षिणाभिपथवाहिनी नदियो के देश भेद से, तडाग, वापी कूप, सर आदि आश्रय भेद से जल के भेद व उनके ऋतु अनुसार उपयोग, शुद्धाशुद्ध जल के लक्षण, विषाक्त दूषित जल के सशोधित करने के उपाय, दिग् भेद से वायु के लक्षण, ऋतु भेद से वायु सेवन, अनुपादेय वातसेवन का निषेध, रात्रिचर्या, शरीरसम्पत्, अवस्था, ऋतुभेद से स्त्री सहवासादि के नियम इन सबका समावेश हो जाता है।

आहार विहार मे द्रव्य गुण कर्म्मों की प्रधानता है। द्रव्य शब्द के कथन से आहार के उपयोग की सम्पूर्ण वस्तुओ, स्नान, अभ्यग, लेप, आच्छादन, उपधानादि के लिये व्यवहार मे आने वाले अपर उपकरणो और देशकाल का ग्रहण समझना चाहिए।

गुण शब्द से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सयोग सस्कार, परिणामादि सहित शीत, उष्ण, गुरु, लघु, स्नेह, रूक्षादि सुश्रुतोक्त बीस गुणो का उपयोग समझना चाहिये।

उपर्युक्त रूप से हम जिसको स्वास्थ्य कहते हैं उससे विपरीत अवस्था होना यही सामान्यत रोगावस्था है।

मतलब, शरीर व शरीरस्थ सम्पूर्ण कार्यवाहक यन्त्र व उनके स्वाभाविक कर्म व्यापार मे, उन द्वारा होने वाले स्वाभाविक शरीर निर्माण कार्य मे तथा उनके एक दूसरे के सहायक रूप मे वैषम्य पैदा होने का नाम ही रोग है।

इससे भी सक्षेप मे कहे तो यह कह सकते हैं कि शरीर को जो स्वाभाविक आहरण शक्ति है (यानी बाहर से आने वाले पदार्थों को शरीर के अनुरूप बदलने का काम है, जैसे अन्न से अन्न रस उत्पादन करना, रस से रस रक्तादि धातुओ का बनाना) वह कम हो जाय

या उसमे अनवस्था हो जाय उसी अवस्था का नाम रोग है, वह 'धातुवैषम्य' अवस्था से कोई भिन्न वस्तु नही है। धातुवैषम्य से अभिप्राय यही है कि जो क्रिया पचन व स्नेहन व्यापार द्वारा शरीर के सगठन, परिवर्त्तन व स्थिरीकरण का काम करने वाली मौलिक शक्तियें जिन (वात पित्त श्लेष्म) द्रव्यो के आश्रित हैं उनकी स्वाभाविक स्थिति मे परिवर्तन हो जाना।

अभिप्राय यह है कि आयुर्वेद शास्त्र के सिद्धान्त से शरीर मे तीन प्रधान तात्त्विक द्रव्य समान द्रव्य दशा मे रहते हुए कार्य करते रहे वह 'धातुसाम्यावस्था' मानी जाती है और वृद्धि और ह्रास रूप से, आवरण या अवरोध रूप से उनकी उस प्राकृतावस्था मे अदल बदल होना 'धातुवैषम्य' कहलाता है।

स्वास्थ्य और धातु साम्यावस्था, रोग और धातु वैषम्यावस्था एक ही अर्थवाची शब्द-विशेष समझने चाहिये। स्वास्थ्य का ठीक अवस्था मे बनाये रखना ही आयुर्वेद शास्त्र का एकमात्र ध्येय है। जैसा कि चरक अभिव्यक्त करते हैं—

'धातुसाम्यक्रिया प्रोक्ता, तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्'

धातुवैषम्य क्यो होता है ? किन कारणो से होता है ? यदि विषय सबसे अधिक विस्तृत है। धातुवैषम्य के वैसे प्रत्येक कारण को लेकर निरूपण किया जाय तो इतने अनन्त ग्रन्थ बनाने पड़ें जिनकी सख्या नियत नही की जा सकती। ससार के सम्पूर्ण द्रव्य जिनका शरीर से किसी भी रूप मे सम्बन्ध होता है, उनको अनुपादेय ढग से व्यवहार मे लाने पर वे सब धातुवैषम्य के कारण बन सकते हैं।

इस स्थिति मे क्या ? प्रत्येक पदार्थ का विवेचन सभव है ? यदि ऐलान कर कुछ का ही विवेचन किया जाय तो वह अपूर्ण विवेचन होगा। आचार्यो ने गभीर गवेषणा के पश्चात् उस पथ का आविष्कार किया, जिससे ससार के व्यवहार मे आने वाले सब पदार्थों का समुचित निरूपण भी हो जाय, और उनका रूप अत्यन्त विस्तृत न होगा। वह मार्ग है वर्गीकरण का।

उन्होने सूक्ष्म स्थूल भौतिक द्रव्यो को आकाशादि पच वर्गो मे आत्मा, मन, दिक्, काल अतीन्द्रिय द्रव्यो को एक एक वर्ग मे रख ससार के जड चेतन अशेष द्रव्यो को नौ वर्गों मे समाहित कर लिया। इन नौ द्रव्यो के सयोग, विभाग से ही दृश्य, अदृश्य ससार के सम्पूर्ण पदार्थो का आविर्भाव होता है।

उपरोक्त नौ विभागो मे विभाजित द्रव्यो का और भी सक्षेप करें तो उन्हे चेतन अचेतन रूप से दो ही वर्गो मे विभाजित कर सकते हैं जैसा कि चरक निर्देश करते हैं—

सेन्द्रिय चेतन द्रव्य निरिन्द्रियमचेतनम्"

उपरोक्त नौ या दो वर्गों मे विभाजित द्रव्यो का विभिन्न रूप मे होने वाला शरीर के साथ का सयोग उपयोग ही धातु वैषम्य का सामान्य कारण कहा जा सकता है।

आयुर्वेद शास्त्र के सिद्धान्त से रोगोत्पत्ति का एक मूल कारण "धातु-वैषम्य" है। उस धातुवैषम्य के उत्पादक जितने भी कारण हैं उनको बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो भागो मे समाविष्ट कर सकते हैं। इन दो भागो मे एक तो ऐसे पदार्थ हैं जिनका हमे बाहर से उपयोग करना पडता है, या जो बाहर से शरीर पर अपना प्रभाव डालते हैं, वे सब बाह्य हेतु के अन्तर्गत आ जाते हैं। दूसरे वे पदार्थ हैं जो हमारे शरीर मे विविध रूपो मे विविध स्थितियो से रहते हैं। ये जब तक शरीर के निर्माण व स्थैर्योत्पादक स्थिति मे रहते हैं तब तक इन्हे साम्यावस्था सज्ञा से सम्बोधित करते हैं, जब ये इन दोनो स्थितियो से भिन्न दशा मे पलटते हैं जो कि शरीर की हितावह दशा नही है, उनका इस तरीके का परिवर्तन ही आभ्यन्तर हेतु है। इन बाह्य आभ्यन्तर हेतुओ से बाह्य हेतु को आयुर्वेद मे "निदान" सज्ञा से व्यवहृत किया है।

बाह्य हेतु

वह निदान सज्ञा वाला बाह्य हेतु अनन्त द्रव्य, गुण, कर्म के आश्रित होने के कारण अनेक तरह का है, तो भी पूर्वाचार्यों ने उसके उपयोग की स्थिति को विभाजित कर १ असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग २ प्रज्ञापराध ३ परिणाम भेद से उसको तीन रूपो ही मे वर्णित किया है।

विभिन्न आचार्यों ने "बाह्य हेतु" का विभाजन चार, तीन, आदि की विभिन्न सख्याओ मे भी किया है। पर वे सब उक्त, अनुक्त, बाह्य हेतु भेद इन्ही उपरोक्त तीन अवस्थाओ के अन्तर्भावित हो जाते हैं। उनमें पहिला "असात्म्येन्द्रियार्थसयोग" है। शरीर में घ्राण, श्रोत्र, जिह्वा, चक्षु, त्वक् सज्ञा वाली पाच ज्ञानेन्द्रिय हैं। गन्ध, शब्द, रस, रूप, स्पर्श ये इनके विषय हैं। इन्द्रियो का अपने २ विषयो से असात्म्य, अनुपादेय (हीन, मिथ्या, अतियोग) रूप मे सम्बन्ध होना ही "असात्म्येन्द्रियार्थसयोग" नामक बाह्य रोग हेतु है।

जब तक बाह्य भौतिक द्रव्यो का शरीर के साथ सम्बन्ध न हो तब तक उनसे शरीर के हिताहित का कोई कार्य सम्पादित नही होता। शरीर से चाहे जिस पदार्थ का सम्बन्ध हो वह बिना इन्द्रियो के सभव नही। ज्ञानेन्द्रिया शरीर मे पाच हैं, पाच ही इनके विषय हैं। अतः पञ्चविध ही इनका सयोग है। इस पञ्चविध सयोग मे से एक एक इन्द्रिय का ही अपने अपने विषय से (अवान्तर अनेक भेदो के कारण) अनेक तरह का सयोग होता है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के विषय प्रकाश और रूप अनेक तरह के हैं। एक प्रकाश के ही योनिभेद से सहस्रो भेद हो सकते हैं। इसी तरह रूप के भी योनि तथा आश्रय भेद से अनेको भेद

होते ही हैं। पर वे सब अनन्त भेदो से विभाजित होने वाले प्रकाश और रूप सब चक्षु के विषय यानि चक्षु से सम्बन्धित हो कर ही शरीर मे धातुसाम्य या धातुवैषम्य की क्रिया पैदा करते हैं। इसलिए वे सब अनन्त होते हुए भी एक ही चक्षु इन्द्रिय द्वारा गृहीत होने से चक्षुर्ग्राह्यता के सामान्य सिद्धात से एक ही प्रकार के मान लिए गए हैं जिससे कि उपदेश (विषयप्रतिपादन) का कार्य सक्षेप में सम्पन्न हो जाय।

चक्षु के उदाहरण की तरह अन्य इन्द्रियो के विषय पदार्थों का भी अनेक स्वरूप भेदो से व्यवहार होते हुए भी अपने अपने अनन्त विषयो की अपनी इन्द्रियो द्वारा एक ही तरह की ग्राह्यता होने के कारण ग्राह्यतासामान्य से सबका समावेश एक एक ही में कर लिया गया है। इस तरह अशेष भौतिक द्रव्यो को विषय भेद से पाच वर्गों मे विभाजित कर पाच ही तरह के इन्द्रियार्थसंयोगो मे समाविष्ट कर लिया है। जो कि प्रवचन शैली से अत्यन्त उचित व युक्तिसगत है।

उपर्युक्त पाच भागो में विभक्त किया गया इन्द्रियार्थसयोग" सयोग भेद से चार प्रकार का है। १ हीनयोग २. मिथ्यायोग ३ अतियोग ४ समयोग। इन मे से समयोग तो स्वास्थ्य का हेतु है। क्योकि शरीर के निरन्तर कार्य मे व्यापृत रहने से शारीरिक शक्ति की जो कमी प्रतिदिन होती रहती है, उसको पूर्ति समयोग से ही सम्पादित होती है। अत यह समयोग ही स्वास्थ्य की परम्परा बनाए रखने का साधन है। बाकी रहे हीन, मिथ्या, अतियोग" वे इन्द्रियार्थसयोग मे असात्म्य विपरीत फल पैदा करने के कारण रोग के निदान कहे जाते हैं।

इस तरह स्पर्श व अन्य इन्द्रियो से ग्रहण किए जाने वाले जितने भी विषय हैं, उनका स्वकीय इन्द्रियो के साथ हीन, मिथ्या अतियोग रूप से सम्बन्ध होने से सब एक ही "असात्म्येंन्द्रियार्थसयोग" नाम रोग हेतु कहे जाते हैं। ऐसे ही शरीर, मन और वाणी से जितने भी कर्म व्यापार होते हैं उनका परिणाम यदि शरीर मे धातुवैषम्य उत्पन्न करने वाला होता है, तो वह "प्रज्ञापराध" नाम से आयुर्वेद मे व्यवहृत किया जाने वाला दूसरा धातुवैषम्योत्पादक हेतु है। इसी तरह कालज-शीतोष्ण वर्षा आदि धर्मों का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग हो अथवा समयोग होते हुए भी काल स्वभाव से होने वाले दोष चय, प्रकोप से शरीर की रक्षा न की जाय तो यह कालसयोगजन्य धातुवैषम्य है। आयुर्वेद इस काल सयोग से होने वाले धातुवैषम्योत्पादक तीसरे हेतु का "परिणाम" शब्द से व्यवहार करता है। उपर्युक्त इन विभिन्न तीन हेतु समुदायो में भारतीय चिकित्सा सिद्धात से उक्त, अनुक्त, ज्ञात, अज्ञात, सभी हेतुओ का सामान्यत. समावेश हो जाता है।

देशी चिकित्सा पद्धति के अनुसार जितने भी निदानग्रन्थ (रोगोत्पादक हेतुओ के वर्णन करने वाले ग्रन्थ) निर्मित हैं उनमें स्थान स्थान पर प्रतिरोग के हेतुओ का जहा जहा प्रबन्ध

किया गया है, वहा वहा इन्ही उपरोक्त तीन वाक्य हेतुओ के उदाहरण मिलेंगे। अत सामान्यतः यही तीन कारण धातुवैषम्योत्पादक माने गए हैं।

इन प्रमुख निदान रूप हेतुओ के अतिरिक्त और भी जो विशेष सूक्ष्म रोगोत्पादक हेतु हैं उनका भी सब जगह दिग्मात्र से विवेचन कर दिया गया है। पर यह ध्यान मे रहे कि ये सूक्ष्म विशेष रोगोत्पादक हेतु सयोगो मे उन सामान्य हेतुओ की तरह सर्वदा सब अवस्थाओ में अनुबन्धी ही हो यह नियम नही है। इन कारणो की स्थिति विशेष है अत. वे अव्याप्त विशेष हेतु हैं जिनका सम्बन्ध विशेष स्थिति व विशेष अवस्था से है।

इस तरह सामान्य विशेष रूप से रोगोत्पादक धातुवैषम्य पैदा करने वाले बाह्य निदान का उपयोग, व्यवहार व सम्बन्ध शरीर से होता है। तब तज्जन्य शरीर मे अनेक प्रकार के विभिन्न व्यापार होते हुए दिखाई पडते हैं। जैसे कुछ कारण तो ऐसे हैं कि जिनसे पहिले धातुवैषम्य पैदा होकर पश्चात् रोग उत्पन्न होते हैं। कुछ कारण ऐसे हैं कि जो रोग पहिले पैदा कर फिर तुरन्त ही धातुवैषम्य की क्रिया आरम्भ करते हैं—

पहिले प्रकार के हेतुओं का जब शरीर मे सम्बन्ध होता है तब वे सचय, प्रकोप, प्रसरण, स्थान सश्रयादि अवस्थाक्रम से दोषो का व्यापार करते हुए शरीर की साम्यावस्था (शरीर के मौलिक तत्वो की स्वाभाविक दशा) की वृद्धि, ह्रास के रूप मे बदल कर पश्चात् किसी रोग की अभिव्यक्ति करते हैं।

दूसरे प्रकार के हेतु जो पहिले रोग पैदा करते हैं वे पश्चात् रोगोत्पत्ति के साथ ही उपरोक्त उसी क्रम से दोषो का सचय प्रकोपादि व्यापार पूरा करते हैं। बाह्य निदान से रोगोत्पादक ये उभय प्रणालियाँ क्रम से पहिली निज व दूसरी आगन्तुज सज्ञा धारण कर अपनी प्रणाली से उत्पन्न होने वाले रोगो को भी निज तथा आगन्तुज नाम भेद से दो रूपो में विभाजित कर देती हैं।

इनका यह रोगोत्पादक व्यापार अवश्य विभिन्न रूप मे दो प्रकार का दिखाई पड़ता है, पर रोग के उत्पन्न होने के पश्चात् दोनो प्रणालियो की सर्वथा एक ही स्थिति हो जाती है।

विशेष—

यहा यह शङ्का की जा सकती है कि आगन्तुज हेतुओ से उत्पन्न होने वाला रोग जब दोषो के चय, प्रकोप प्रसरणादि अवस्थाक्रम के बिना ही उत्पन्न हो जाता है तब रोग पैदा होने के पश्चात् दोषनिबन्ध या धातुवैषम्य का सम्बन्ध आगन्तुक हेतुओ से जोडना व्यर्थ है। कारण आयुर्वेद सिद्धान्त से तो कोई भी रोग 'दोषवैषम्य' के बिना होना ही नही, और आगन्तुक हेतु दोषवैषम्य किये बिना रोग पैदा करता ही है, इससे मुख्य सिद्धान्त में अव्याप्ति दोष आता है। 'धातुवैषम्य' का परिणाम है रोग उत्पन्न होना, यदि धातुवैषम्य हुए बिना ही रोग उत्पन्न हो गया तो फिर दोषवैषम्य होने का क्या परिणाम ? व क्या सार्थकता ?

है। देखने में यह शङ्का सर्वथा उपादेय प्रतीत होती है। पर यदि यह इस गम्भीरता से विचार करें तो शङ्का का स्वत ही निराकरण हो जायगा।

उदाहरणत: एक तलवार या छुरी या लाठी से किसी ने किसी व्यक्ति पर आक्रमण किया। दौडता हुआ कोई पशु आया उसकी झपेट से कोई व्यक्ति घायल हो गया। मोटर के धक्के से किसी के बेहोशी हो गई। क्लोरोफार्म की तरह किसी जहरीली गैस से कोई मूछित हो गया। सर्प, बिच्छू आदि विषैले जन्तुओ से कोई काटा गया। इन या ऐसे और भी आगन्तुक कारणो से पैदा होने वाले रोग हम आगन्तुक रोग व तदुत्पादक हेतुओ को आगन्तुक हेतु कहते हैं।

रोग चाहे जैसे हेतु से उत्पन्न रोगोत्पादक हेतु का रोग के साथ अनुबन्ध रहना आवश्यक है। हाँ! उस अनुबन्ध की स्थितियो मे हेर-फेर होते रहना सम्भव है पर रोग पैदा करने के साथ ही रोगोत्पादक हेतु का सम्बन्ध विछिन्न हो जाय तो रोग की स्थिति हो ही नही सकती। इसको स्वीकार करके भी आप कह सकते हैं कि इससे क्या ? आघातादि जन्य या सर्पादि दशजन्य जो रोग उत्पन्न होते हैं उनके हेतु का सम्बन्ध उसी क्षण विछिन्न हो जाता है पर हेतु जन्य परिणाम का तो सम्बन्ध विच्छेद के साथ विनाश नही होता आघात व दंश के कारण शरीरस्थ तत्वो पर जो विपरीत प्रभाव पडता है उसके निवारण मे समय की अपेक्षा रहती है। रोग की स्थिरता के लिए यह युक्ति उपादेय नही है। कारण आघात व दश करने वाले हेतुओ का केवल शरीर की बाहरी स्थिति से ही सम्बन्ध नही होता है, प्रत्युत उनका शरीरस्थ उन तत्वो से सम्बन्ध होता है जिन पर स्वास्थ्य व रोग का दारोमदार है। आघात दशादिजन्य सम्बन्ध क्षणिक काल के अन्तर से रोग व रोगोत्पादक धातुवैषम्य की सचय प्रकोपादि स्थिति को पैदा करने का काम करता है।

जैसे तलवार से शरीर का भाग कट गया। कटते ही "व्रण" रूप रोग की उत्पत्ति हुई, पर व्रण होने के साथ ही व्रण वाले स्थान पर रहने वाले शारीरिक भावो की स्थिति मे भी तुरन्त वैषम्य पैदा होने लगता है। व्रण स्थान के त्वक् मास कट गये हैं, शिरा, धमनी आदि रक्त स्रोतो पर आघात लगने से रक्त प्रवाह का क्रम अनवस्थित हो गया है, क्रिया निष्पन्न करने वाली व परिणामन करने वाली शक्तियो का उस स्थान मे ह्रास हो गया है। इस प्रकार से उस आघातज आगन्तु हेतु से रोग उत्पन्न हुवा, पर साथ ही रोग उत्पादक मुख्य हेतु धातुवैषम्य भी अवश्य हुवा और ऐसा होने ही से व्रण के साथ-साथ शोथ रक्तस्राव, अर्ति, पूय आदि अनेक विकृतियो की उत्पत्ति होती है। अत इससे स्पष्ट है कि आगन्तु हेतु बिना धातुवैषम्य के अनुबन्ध के रोग पैदा करता है ऐसा नही, क्योकि उसका शरीर के शेष भागो से कोई सम्पर्क नही होता हो या उससे शरीरस्थ मूलभावो की कोई क्षति नही होती हो सो बात नही प्रत्युत वह रोग के साथ ही धातुवैषम्य भी करता है। यदि हम इससे विपरीत

आगन्तु हेतु को एकान्तत' रोगहेतु मानें तो यह कथन अत्युक्तियुक्त होगा । यह वास्तविकता इस दूसरे उदाहरण से अधिक स्पष्ट समझ मे आ सकती है।

हम टिकट लेने की खिडकी पर खडे है, पीछे से टिकट लेने वाले और अनेक व्यक्तियो की धक्कापेल चली आरही है यह भी एक तरह का आघात है और आगन्तु हेतु के रूप का है। पर यह आघात जब तक शरीर के बाहरी स्तर तक ही परिणाम रखने वाला है तबतक धक्का लगा हम आगे पीछे हुये, धक्का रुका हम फिर सुस्थिर हो गये।

किन्तु यदि धक्के का वेग ऐसा आया कि वह बाहरी स्तर को भेद शरीर के भीतरी भाग के किसी अवयव पर व वक्ष की अस्थि या पर्शुका की अस्थि पर दबाव डाल गया तो धक्का रुक जाने पर भी हम उसके परिणाम से छुटकारा नही पा जाते। कारण उस धक्के ने हमारे शरीर के आन्तरिक आवयविक भाग मे विषमता पैदा करदी है। जब तक वह आत-रिक विषमता दूर न हो तब तक हम तज्जन्य रोग से पीडित ही रहेंगे।

रोग या रोग का यह सम्बन्ध केवल शरीर की बाहरी स्थिति से ही नही आतरिक स्थिति से सम्बन्ध रखता है, अत हमे यह स्वीकार करना होगा कि इन आगन्तुज हेतुओ से पैदा होने वाले रोग भी हमारे शरीर की आन्तरिक स्थिति से या धातुवैषम्य से वैसा ही सम्बन्ध रखते हैं, जैसा पहिले धातुवैषम्य पैदा कर पश्चात् रोग पैदा करने वाले निज हेतु रखते हैं। दशादि या विषाक्त गन्धादि हेतु तो आगन्तुज होते हुए भी स्पष्टतः शरीर के भीतरी भागो पर असर करने के साथ ही धातुवैषम्य पैदा करते ही हैं यह प्रत्यक्ष है ही।

इस तरह उभयात्मक प्रणाली से रोग व रोगानुबन्ध के परिणाम को पैदा करने वाले ये त्रिविध हेतु निजागन्तु सज्ञा से बाह्यहेतु (रोगनिदान) है। यह अत्यन्त सक्षिप्त बाह्यहेतु का दिग्दर्शन मात्र है।

आभ्यन्तर हेतु—

बाह्य हेतु की तरह आभ्यन्तर हेतु के भी बहुत से प्रकार हैं। आभ्यन्तर हेतु का अर्थ है शरीरस्थ कारण। वह कारण प्रधानत द्रव्य, गुण, कर्माश्रित है शरीर व शरीर के अशेष व्यापार मे इन्ही तीनो को कार्य करते हुए देखेंगे। इन तीनो की अनेक स्थितियें होती हैं, जैसे—द्रव्य शरीर मे धातु रूप से, दोष रूप से, मल रूप से, प्रसाद रूप से, आश्रय रूप से, आश्रयि रूप से, अङ्ग उपाङ्ग भेद व अवयव भेद से विद्यमान रहता है। इसी तरह गुण, धात्वादि मे रहने वाले मधुरादि षड्रस, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, श्लक्ष्ण, कर्कश, द्रव, घनत्व आदि विविध भावो के रूप मे दिखाई पडते हैं। तथा कर्म भी शरीर के भीतर वातादि दोष-जन्य, रसरक्तादि, धातुजन्य, हृदय, फुफ्फुस, वृक्क, यकृत, प्लीहा, अन्त्र, मस्तिष्कादि यन्त्रो द्वारा किये जाने वाले रक्तसक्रमण, अन्नपचनादि, मल, मूत्र परित्यागादि, धातुपरिवर्त्तनादि विविध व्यापारो को निष्पन्न करते हुये नजर आते हैं। शरीर मे रहने तथा विविध कार्य

सम्पन्न करने वाले ये उपरोक्त तीनो द्रव्य, गुण, कर्म बाह्यहेत्वनुसार विकृत होकर स्वकीय विकृति के अनुसार तदनुरूप रोगोत्पत्ति के कारण होते है।

जैसे असात्म्येन्द्रियार्थसयोग, प्रज्ञापराध, परिणाम, ये तीन वर्गीकरण बाह्यहेतुओ के थे कुछ-कुछ वैसे ही द्रव्य, गुण, कर्म रूप से आभ्यन्तर हेतुओ के भी तीन वर्गीकरण हो जाते हैं। जिस तरह रोगोत्पादक प्रणाली की बाह्यहेतुओ मे विभिन्नता थी उसी तरह आभ्यन्तर हेतु मे भी रोगोत्पादक प्रणालो मे कई विशेषतायें हैं।

ऊपर निर्दिष्ट किये हुये तथा तद्भिन्न और भी जितने आभ्यन्तर हेतु हैं उन सब आभ्यन्तर कारणो मे कुछ ऐसे हैं जो दूषकत्व व्यापार से, कुछ ऐसे हैं जो दूषत्व व्यापार से, कुछ आश्रय व कुछ मार्गभेद की पूर्ति द्वारा रोग के कारणत्व को प्राप्त होते हैं।

यह ऊपर व्यक्त किया जा चुका है कि आभ्यन्तर हेतु हैं वे विकृत होने पर ही रोगोत्पत्ति के निमित्त बनते हैं। इनकी विकृति एकान्तत. बाह्य हेतुओ के आश्रित है। पर इसका यह अर्थ नही है कि प्रत्येक बाह्य हेतु सब प्रकार के आभ्यन्तर हेतुओ को विकृत कर सकते हैं। बाह्य हेतुओ मे भी कइयो का प्रभाव केवल दोषो पर ही होता है अन्य भावो पर नही।

इसी तरह कुछ बाह्य हेतुओ का विभिन्न २ द्रव्यो पर, कुछ का आश्रय स्थानो पर, कुछ का ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक् (शाखा, कोष्ठ, मर्मादि), मार्गों पर, कुछ का द्रव्य आश्रय दोनो पर, और कुछ का मार्ग, आश्रय व द्रव्य तीनो पर प्रभाव पडता है। इस तरह नानाविध बाह्य हेतुओ द्वारा नानाविध द्रव्य, गुण, कर्म, रूप आभ्यन्तर हेतुओ की विकृति से विभिन्न २ रोगो की उत्पत्ति होती है। उत्पन्न होने वाले रोग के दोष, दूष्य, देश, काल, प्रकृति, कोष्ठ, वयादि के बलाबल से विविध प्रकार के लक्षण होते हैं। प्रत्येक रोग का हेतुभेद से विकृत दोष, दूष्य, आश्रयानुसार नियत रूप होता है, और होते हैं उसके विशेष गुण, कर्म।

इस अभिप्राय को दूसरे शब्दो मे कहे तो ऐसे कहा जा सकता है—रोग क्या है? शरीर मे रहने वाले विविध भावो की विभिन्न रूप मे विकृति। शारीरिक के भावो से अभिप्राय है दोष तथा दूष्य। दोष है (वात, पित्त, श्लेष्मा), स्थान तथा कार्य भेद से इनकी जो भिन्न-भिन्न स्थितिया हैं, भिन्न-भिन्न व्यापार हैं उन सबका समावेश "दोष" काल मे ही समझना चाहिए।

दूष्य से अभिप्राय रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि, शुक्र ये सात धातु शिरा, धमनी, स्नायु, नाडी कण्डरादि उपधातु, फुफ्फुस, हृदय, यकृत, प्लीहा, अन्त्र, वृक्कादिक विविध प्रकार के यन्त्र, कला, आशय, विट्, मूत्र, स्वेदादि मलो से है।

दोष, दूष्य के समुदाय का नाम ही "शरीर भाव" है। इन शारीरिक भावो के स्वाभाविक गुण कर्मों की वृद्धि, ह्रास या विपर्यास होना ही रोगशब्दवाच्य है।

शारीरिक भावो के स्वाभाविक गुण कर्म क्या हैं ? शरीर के प्रत्येक अवयवो मे, उन अवयवो को बनाने वाले द्रव्यो के स्वरूप, परिणाम, सयोग, लक्षणादि को यथोचित रूप मे बताते रहना ये उन भावो के स्वाभाविक गुण हैं।

प्रीणन, जीवन, बृहण, स्नेहन, धारणादि, रक्त-सचालन, उद्वहन, स्पन्दन, पूरण, विरेचन, पचन, पृथक्करणादि, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सवेदन, सकल्प, अध्यवसायादि, तज्जन्य क्रिया व उसकी अनुभूति कराना, उच्छ्वास निश्वास, परिपाक, विट्मूत्रादि का विश्लेषण व उनका त्याग, शरीर के स्वास्थ्य को ठीक बनाये रखने के लिए अनवरत होने वाले इन कर्मों का अनुष्ठान है यही इन भावो के प्राकृतिक कर्म हैं।

इन भावो की (अर्थात दोष, दूष्य, शब्दवाच्य शरीरस्थ अशेष क्रियाकलापो की) विकृति (स्वाभाविक गुण कर्मों की स्थिति का परिवर्त्तन) बाह्य कारणो की अनन्तता के कारण अनेक प्रकार की होती है। तो भी सक्षेप में उन विकृतियो का वर्गीकरण किया जाय तो वृद्धि, ह्रास (बढने-घटने के रूप मे) रूप दो स्थितियो मे ही सम्पूर्ण प्रकार की विकृतियो का समावेश हो जाता है। वृद्धि से सामान्य अभिप्राय बढने का है। पर आयुर्वेद पद्धति से वृद्धि का अर्थ इस रूप मे होगा।

शरीर के प्रत्येक भाव (स्थूल सूक्ष्म रूप से किसी भी प्रकार का कार्य सम्पादन करने वाले शरीरस्थ वस्तु समुदाय) का व उन भावो को उत्पन्न करने वाले मौलिक द्रव्यो का स्वरूप से, परिणाम से, लक्षण से, सख्या से या और किसी प्रकार से विवर्द्धित होना "वृद्धि" है। इसका ज्ञान कि अमुक पदार्थ की, अमुक भाव की वृद्धि हुई है, उसके अपने स्वाभाविक गुण धर्मों के बढने से होगा। वृद्धि की विपरीत अवस्था का नाम ही "ह्रास" है।

क्षय की क्षयावस्था से उत्पन्न होने वाले भाव व उनके गुण कर्मों की हेत्वनुरूप वृद्धि होती है। जैसे पित्त का ह्रास हुआ उस स्थिति मे पाचन, परिणमनादि, सब भावो को न्यूनता होगी। इससे अपचन, अपरिणामनादि भावो की (जो ह्रास अवस्था के भाव हैं) वृद्धि होगी। रक्त क्षय होने पर रक्त की कमी, अशक्ति, त्वचा मे पीलापन, उपचय की न्यूनता आदि रक्त क्षय स्थिति से सम्बन्ध रखने वाले लक्षण समुदाय की वृद्धि हो जाएगी। मतलब जिस पदार्थ का, जिस द्रव्य का ह्रास होता है, तदनुसार उस पदार्थ व द्रव्याश्रित रहने वाले गुण कर्मों का तो ह्रास होगा, किन्तु ह्रास की अवस्था से उद्भूत होने वाले गुण कर्मों की वृद्धि हो जाएगी। जैसे—किसी व्यक्ति ने ऐसे पदार्थो का अधिक सेवन किया जो सन्तर्पण (शरीर व शरीर के किसी अवयव विशेष मे स्नेह, उपचय व गुरुत्व की वृद्धि करने) का काम करते हैं उस सन्तर्पण से यदि किसी अवयव विशेष या धातु विशेष तथा उसके गुण कर्मों की वृद्धि होगी तो तत्सम दूसरे अवयव व धातु विशेष तथा उसके गुण कर्मों

की भी अवश्य वृद्धि होगी, पर साथ ही उससे विपरीत परिस्थिति वाले अवयव तथा धातु व उसके गुण कर्मों का स्वभावत ह्रास भी होगा।

इसी तरह ह्रास (क्षय) पैदा करने वाले बाह्य हेतुरूप अपतर्पण (रौक्ष्य, लाघव, शोष) सेवन करने से किसी अवयव व धातु विशेष के गुण कर्मों का ह्रास होगा तो तत्सम दूसरे अवयव व धातुविशेष के गुण कर्मों का भी ह्रास होगा पर साथ ही उस ह्रासजन्य उद्भूत लक्षणो की वृद्धि भी होगी। ऐसे शरीरस्थ सम्पूर्ण भाव बाह्यहेतु विशेष से वृद्धि ह्रासरूप किसी अवस्था मे बदलने पर परस्पर एक दूसरे भाव की समान विपरीत स्थिति से वृद्धिह्रास के कारण होते हैं। वृद्धिह्रासात्मक द्वैविध्य आभ्यन्तर रोग हेतुओ से शारीरिक अशेष भावो के किस प्रकार वृद्धिह्रास होते हैं, इसका सप्रमाण विशेष ज्ञान प्राप्त करना हो तो चरक विमानस्थान का पञ्चम अध्याय अवलोकन करना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि शरीर के किसी भी भाव की विशेष वृद्धि होने पर उससे विपरीत परिस्थिति वाले अन्य भावो के स्वाभाविक कार्यों का क्षय होता है। उस विवर्द्धित भाव विशेष से सम्बन्ध रखने वाले अवयव के कर्म व्यापार मे वृद्धिजन्य मान्द्य, शैथिल्य, गौरवादि दोषो से कमी ही होती है।

इस तरह वृद्धि और ह्रास दोनों प्रणालियो से शरीरस्थ भावविशेषो की स्वाभाविक अवस्था मे परिवर्त्तन, व स्वाभाविक कर्मव्यापार मे जो अनवस्था होती है उसी का नाम "धातुवैषम्य" है। और यह धातुवैषम्य (दोष विकृति) ही रोग का एकमात्र आभ्यन्तर कारण है।

वस्तुतः देखा जाय तो बाह्य हेतु विशेष के सेवन या असम्यक् सम्बन्ध विशेष से शरीर के आन्तरिक भाव या भाव विशेषो की स्वाभाविक स्थिति के अव्यवस्थित होने का नाम ही "रोग" है।

पर यह "रोग" नाम विशेष से सम्बोधित करने की स्थिति मे नही है। कारण इसकी यह अनभिव्यक्त दशा है। इसके स्पष्ट रूप मे व्यक्त होने के लिए कई अन्य व्यापारो की सहायता आवश्यक होती है वे व्यापार हैं—चय-प्रकोप-प्रसरण स्थानसश्रयादि। आश्रय व्यापारभेदयुक्त वातादि दोष व दूष्य समुदाय मे से विभिन्न रूप के दोष दूष्य सयोग विशेष ही चयादि व्यापारो के हेतु हैं। इस दोष दूष्य सयोग विशेष जन्य चय, प्रकोप-प्रसरण स्थान सश्रय तक के व्यापार का नाम आयुर्वेद शास्त्र में "सम्प्राप्ति" है।

यह सम्प्राप्ति जहा जाकर समाप्त होती (आभ्यन्तर हेतु दोष दूष्य-तज्जन्य चयादि से स्थान सश्रयान्त व्यापार) है वही से रोग की अभिव्यक्त अवस्था का आरम्भ होता है जिसको कि आयुर्वेद सम्मत भाषा मे हम "रूप" कहते हैं। मतलब, रूपावस्था के आने पर ही ज्वर, अतिसार, अर्श, पाण्डु, क्षय, श्वास आदि रोगो के नाम निर्देश किये जाते हैं।

केवल दोष वैषम्यरूप अवस्था वाला रोग जो कि अव्यक्तावस्था मे है किस क्रम से सच-यादि अवस्थाओ मे बदलता हुआ ज्वरादि व्यक्त अवस्था मे पहुँचता है इसको ठीक-ठीक समझने के लिए चयादि अवस्थाओ का समुचित ज्ञान आवश्यक है, क्योकि बिना इन अव-स्थाओ का यथार्थ ज्ञान हुये रोग का निश्चय सम्भव नही है। उन छ अवस्थाओ का किंचित् दिग्दर्शन यहाँ कराया जा रहा है।

(१) चय—

दोष की सामान्य वृद्धि वह पहिली अवस्था है जिसको "चय" नाम से सम्बोधित करते हैं। दोष की यह अवस्था अपने आश्रयस्थान तक ही सीमित होती है। वैसे सामान्यत. दोपो को सर्व शरीरगत माना ही है, पर आश्रय व व्यापार भेद से भी दोपो की सीमायें निर्दिष्ट की गई हैं। चय अवस्था दोष की विवर्द्धित स्थिति का नाम है। जिस आश्रय स्थान मे जिस जिस दोष का जहाँ तक कार्य व्यापार है, वह स्थान दोष का आश्रय स्थान है। स्वाभाविक दशा मे इन स्थानो मे दोषो का अपनी उचित अवस्था मे आवागमन होता रहता है तब सबसे पहिले इस आवागमन की क्रिया मे गडबडी उत्पन्न होती है। अर्थात् आश्रय स्थान उन विवर्द्धित दोषो से व्यावृत हो जाते हैं जिससे कि उनकी स्वाभाविक सचरण क्रिया में रुकावट होने लगती है। विकृति की यह पहिली अवस्था है जो दोषो को अपने अपने आश्रय स्थानो में सचरणशील से असचरणशील बना देती है। इस अवस्था का हेतु विवर्द्धित दोष भाग से आश्रय स्थान का भर जाना है, अतः इसको चय या सचय दशा कहते हैं।

(२) प्रकोप—

जब इस चयावस्था में दोष सचार का आश्रय रूप वह आशय सब का सब बढे हुए दोष से व्याप्त हो जाता है तब वृद्धि करने वाले पदार्थो से द्वेष उत्पन्न होता है यह चयरूप पहली अवस्था से भिन्न अवस्था है। कारण पहली चयावस्था में दोष सचार की क्रिया के अवरोध के अतिरिक्त किसी भाव विशेष की अभिव्यक्ति नही हुई थी। इस दूसरी अवस्था मे उन पदार्थों से विद्वेष पैदा होता है, जिन पदार्थों से शरीर मे जिस दोष की वृद्धि हुई थी, अतः यह रोग की आरम्भिक अभिव्यक्तता का श्रीगणेश है। इसको "प्रकोप" सज्ञक दूसरी अवस्था कहते हैं।

उदाहरणत. हमारा कुछ दिन ऐसा खान पान चले जिसमे मधुर, स्निग्ध, शीत, द्रव की प्रधानता हो वह खान पान श्लेष्मा को बढाने वाला है। उससे आश्रयस्थान आमाशय मे श्लेष्मा की वृद्धि हुई यह धातुवैषम्य चयरूप प्रथमावस्था वाला है। इससे आमाशय मे दोषो की जो स्वाभाविक क्रिया होती थी उसमे अवरोध होने लगा। पर सम्पूर्ण आशय

ही जब इस चयावस्था से व्याप्त हो जाय तब मधुरादि पदार्थों से (जो श्लेष्म वृद्धि के हेतु हैं) द्वेष होने लगता है। इस भावविशेष की उत्पत्ति से हम समझ जाते है कि दोषो की प्रकोपावस्था का आरम्भ हो गया है।

(३) प्रसरण—

प्रकोप के पश्चात दोष जब अपने पूरे के पूरे आश्रय को व्याप्त कर लेते हैं तब वे आगे बढते हैं। आगे बढकर दूसरे दोष के सचरण स्थान मे प्रवेश करते हैं, इस स्थिति मे दोष-वृद्धि के विपरीत गुण वाले पदार्थो की इच्छा, वृद्धि हेतु के समान गुण वाले पदार्थों से द्वेष उत्पन्न होता है। प्रकोप मे केवल वृद्धि करने वाले हेतुओ से द्वेष भावना की उत्पत्ति होती है। यहा द्वेष के साथ साथ वृद्धि करने वाले पदार्थो से विपरीत गुण, धर्म रखने वाले पदार्थों के उपयोग की भी इच्छा होती है। दोष यहा अपने आश्रय स्थान से आगे निकल दूसरे दोष के आश्रय स्थान मे चले गए है अत. दोषवैषम्य की इस अवस्था को "प्रसर" नाम से कहा जाता है।

(४) स्थान सश्रय—

प्रसरावस्था दूसरे दोष के आश्रय स्थान मे प्रवेश करने की सज्ञा थी। दोष जब अपने सञ्चरण स्थान को व्याप्त कर अन्य दोष के स्थान मे व्याप्त हो जाते हैं; तब दोषो के विवर्द्धित अवस्था मे प्रगट होने वाले को रौक्ष्य, गौरव, औष्ण्ययादि लक्षण प्रगट होने लगते हैं। इससे हमे यह निश्चय होता है कि दोष स्वाश्रय व्याप्त कर अपर दोष के आश्रय मे भी व्याप्त हो गए हैं इसी को आयुर्वेद मे "स्थान सचय" अवस्था मानी है।

(५) रोगाभिव्यक्ति—

इस तरह बाह्य हेतुओ से शरीर के भीतर होने वाले दोषदूष्यादिभाव समुदाय की स्वाभाविक अवस्था मे उलट फेर होते हुए विकृत दोषदूष्य समुदाय से रोग विशेष के लक्षणो की अभिव्यक्ति होती है। इसको अभिव्यक्त विकृतावस्था व इसी को व्यक्त रूपावस्था कहते हैं, क्योकि इसी अवस्था में लक्षणविशेषो की अभिव्यक्ति के कारण, ग्रहणी, पाण्डु आदि रोग का रूप स्पष्टतया प्रगट होता है।

(६) भेद—

उत्पन्न होने के पश्चात् रोग कई अवस्थाओ में परिवर्तित होता है। सुखसाध्य, साध्य, कृच्छ्रसाध्य, याप्य, असाध्यादि अवस्थाओ से ही रोग का अल्प या दीर्घकालिक अनुबन्ध बनता है। उपर्युक्त अवस्थाएँ रोग को विभिन्न दशाओ में बदलने का कार्य करती है। इसी से आयुर्वेदज्ञो ने इसका 'भेदावस्था' नाम रखा है।

चयावस्था आरम्भ हुई दोषवैषम्यरूप विकृति विभिन्न अवस्थाओ में बदलती हुई अन्त

में भेदावस्था तक पहुँचती है। चय से स्थानसश्रय तक रोग बनने की अवस्थायें हैं। इन अवस्थाओ में शरीर रोगयुक्त अवश्य रहता है, पर इनमें यह नही कहा जा सकता कि शरीर अमुक रोगग्रस्त है। कारण स्थानसश्रय तक की दशायें रोग की अनभिव्यक्त दशा के रूपान्तर मात्र हैं। जब अभिव्यक्तावस्था का आरम्भ होता है तभी रोग का नाम निर्देश करने की स्थिति उत्पन्न होती है। क्योंकि उसी अवस्था में जिन लक्षणो से रोगविशेष की सज्ञा होती है उन लक्षणो का प्रादुर्भाव होता है। अत. अभिव्यक्त व भेदाख्य दशायें रोग व रोग की बदलती अवस्था की ज्ञापक हैं।

इस तरह बाह्य तथा आभ्यन्तर हेतुओ से रोग उत्पन्न होते हैं। वैसे और भी कुछ ऐसे दूसरे कारण रोगोत्पत्ति के हैं, पर उनका इन आभ्यन्तर हेतुओ में ही अन्तर्भाव हो जाता है। उदाहरणत. जैसे कुष्ठ, मधुमेह, अर्श, शोथ, वातव्याधि, उपदश आदि कई "सहज" अर्थात् वशज सज्ञा वाले अनेक रोग होते हुए दिखाई पडते हैं। उनके कारण वैसे देखें तो माता पिता हैं। क्योंकि, माता पिता में से किसी के यह व्याधि होती है तो वह उसकी सन्तान में भी, उपर्युक्त द्विविध हेतुओ के हुए बिना भी उत्पन्न हो जाती है। पर इसका यह अभिप्राय नही है कि माता पिता के यह रोग था इसी से सन्तान के यह रोग उत्पन्न हो गया या हो जाता है। माता पिता के उपर्युक्त रोग हो कर, उस रोग का प्रभाव माता पिता के शुक्रशोणित धातु (सन्तान के बीजहेतु) पर पडता है। जिन माता पिता के शुक्रशोणित कुष्ठादि विकारो से विकृत हो जाते हैं उन विकृत शुक्रशोणित सयोग से जो सतान पैदा होती है उन्ही के ये सहज वशज) सज्ञा वाले रोग पैदा होते हैं। बीजभूत शुक्रशोणित मे वातादि धातु अनुव्याप्त है अत. उनकी विकृति से ही उनकी विकृति होती है। इसलिए सहज सज्ञा वाले ये रोग हेत्वन्तर से उत्पन्न होते हुए भा इनका उपर्युक्त रीति से आभ्यन्तर हेतुओ में समावेश किया जा सकता है।

सहज की तरह तन्त्रकारो ने रोगोत्पत्ति का एक और भी भिन्न सा कारण निर्दिष्ट किया है, जैसा कि प्रवचन है। "रोगोऽपि रोगकारणम्"।

रोग भी रोग का कारण होता है जैसे ग्रहणी ज्वर, व्रण, नाडीव्रण, गण्डमालादि रोगो का अधिक दिन अनुबन्ध रहे तो इनसे "शोष" रोग की उत्पत्ति हो जाती है। इसी तरह अपने कारण से उत्पन्न हुआ शोष रोग चिरकाल शरीर मे रह कर ज्वर ग्रहणी आदि रोगो का जनक बन जाता है। प्रतिश्याय से कास, कास से क्षय ऐसे अनेक रोगो के उदाहरण मिल सकते हैं जो पहिले अपने २ बाह्य आभ्यन्तर हेतु समुदायो से उत्पन्न हो शरीर के जिस आश्रय स्थान मे आश्रित हो विकृति पैदा करते हैं, शरीर के उस आश्रय स्थान से सम्बन्ध रखने वाले अपर रोगो के उत्पन्न करने के भी वे कारण बन जाते हैं। इस तरह रोगो का विविध तरह का साकर्य सामने आता है, पर इन सब का समावेश भी उपर्युक्त रीति से बाह्याभ्यान्तर हेतुओ ही मे हो जाता है।

रोग की उत्पत्ति के पश्चात् रोग को परिवर्तित अवस्था मे "उपद्रव" रूप अन्य रोगों की उत्पत्ति, सुखसाध्य, साध्य, कष्टसाध्य, असाध्यादि विभिन्न अवस्थायें भी प्रायः प्रति रोग मे देखने मे आती हैं। बहुत से उपद्रवानुबन्धी रोग है उनमे उनकी उत्पत्ति के बाद भिन्न २ रूप के अन्य रोग उत्पन्न होते हैं उनकी सज्ञा शास्त्रकारो ने "उपद्रव" नाम से रखी है। उपद्रव रूप मे जो रोग उत्पन्न होते हैं उनकी उत्पत्ति का मूल कारण वही होता है जो उस रोग की उत्पत्ति का मूल हेतु है। वहाँ वह मूल कारण ही कही अपने प्रभाव से तथा कही अन्य अपने सहायी कारणो के प्रभाव से विकारोत्पत्ति का हेतु बनता है ऐसा समझना चाहिये।

हम पहले कह आये हैं कि बाह्य निदान है, उसका शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर वह दो प्रणालियो से रोग उत्पन्न करता है। एक वह प्रणाली है जिससे दोषदूष्यसयोग से सचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसश्रयादि क्रम से रोग पैदा होता है। इसको "निज" नाम से सम्बोधित किया है। इस प्रणाली से उत्पन्न हुए रोगो की भी सज्ञा "निज" है।

दूसरी प्रणाली वह है जिससे पहिले रोग उत्पन्न हो और साथ ही तुरन्त दोषदूष्य, प्रकोप, प्रसरणादि से रोग का अनुबन्ध स्थिर हो। इस प्रणाली को "आगन्तुज" और इस प्रणाली से पैदा हुए रोगो को "आगन्तुज" रोग कहते हैं।

आगन्तुज रोगो के और भी दो प्रकार दृष्टिगत आते हैं। वे हैं स्वतन्त्र रूप से या सक्रमण रूप से। स्वतन्त्र रूप वह है जिसमें शस्त्रादि आघात से व्रणादि की उत्पत्ति हो। सक्रमण रूप वह है जिसमें सक्रामक रोग एक बीमार से दूसरे स्वस्थ मनुष्य में पहुँच जाय। कुष्ठ ज्वर, शोष, नेत्राभिष्यन्दादि व्याधियें आयुर्वेद सिद्धान्त से एक से दूसरे व्यक्ति में सक्रमण कर सकती है। ये व्याधियें एक से दूसरे मनुष्य में कैसे पहुचती है, इनके पहुचने के लिए कई मार्ग है जिनको इनके सक्रमण-द्वार कहे गये हैं। जैसे कि चरक सूत्रस्थान के बीसवें अध्याय में निर्देश किया है।

"मुखानि तु खलु आगन्तोर्नखदशनपतनाभिचाराभिशापाभिषङ्गाभिघातव्यबन्धनवेष्टन-पीडनरज्जुदहनशस्त्राशनिभूतोपसर्गादीनि।"

अर्थ स्पष्ट है—आगन्तु रोगो के प्रवेश के ये द्वार है—नख, दांत, गिर पडना, अभिचार, अभिशाप, अभिषग, अभिघात, वध, बन्धन, वेष्टन, पीडन, रज्जु, दहन, शस्त्र, अशनि, भूतोपसर्गादि। अभिचार से अभिप्राय विधिविहित कर्मो का विधिविहीन अव्यवस्थित ढग से करने से है।

माता पिता गुरुजनादि जिनके प्रति समादरणीय भावना रखनी चाहिये, उनके अन्त-क्लेश से उत्पन्न शरीरस्थ व्यत्यय वह अभिशापजन्य कहा गया है।

अभिषग से अभिप्राय भूताभिषग से है। हमारे शरीर के साथ बाह्य सूक्ष्म भूतो का भी सम्पर्क होता रहता है, ऐसे सम्पर्क का नाम अभिषग है। आयुर्वेद-सिद्धान्त से कीटाणुओ का इसी आगन्तुक हेतु भेद में अन्तर्भाव होता है। कीटाणु भी एक प्रकार के सूक्ष्म भूत प्राणी है। इनके ससर्ग से भी व्याधि हो सकती है और वह व्याधि बाह्य हेतु के आगन्तुक कारणो का एक भेद मात्र है। अन्य बाह्य हेतुओ की तरह इस हेतु से जो भी रोग उत्पन्न होता है उसके स्थैर्य का तथा अभिव्यक्ति का सिद्धान्तत दोष दूष्य ही प्रमुख आश्रय है।

भूतोपसर्ग से अभिप्राय है बाह्य भौतिक (प्रकाश, वायु, जल, पृथ्वी) द्रव्यो की विकृतिजन्य उपद्रव, इसका सम्यग् विवेचन आगे करेंगे। शेष शब्दो का अर्थ स्पष्ट है।

इनके अतिरिक्त रोगपीडित मनुष्य के साथ अधिक सम्पर्क रखना, उसके साथ ही एक शय्या पर सोना, एक ही बर्तन मे उसके साथ भोजन करना, एक ही वस्त्र ओढ कर एक शय्या पर सोना, जिससे उसके श्वासोच्छ्वास का वायु अपने श्वासोच्छ्वास मे आवे, रोगी का झूठा छोडा हुआ खाद्य पेय खाना पीना, बिना अच्छी तरह साफ किये उसी के खाये हुये बर्तनो मे खाना, उसके ओढने बिछाने के वस्त्र अपने ओढने बिछाने के काम मे लाना, रोगी के पहने हुये तथा स्वेदादि से युक्त वस्त्रो को धारण करना, रोगी के व्यवहार मे आने वाले तैल, साबुन, छाता, लकडी, छडी आदि अन्य सामग्री का उपयोग करना, उसकी सूघी हुई अथवा पहिनी हुई माला आदि का धारण भी एक से दूसरे मे रोग पहुँचने के मार्ग हैं। जैसा कि निम्न पद्य मे स्पष्ट है।

> प्रसगात् गात्रसस्पर्शात् नि श्वासात्सहभोजनात्।
> एकशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
> कुष्ठ ज्वरश्चशोषश्च नेत्राभिष्यन्द एवच।
> औपसर्गिक रोगाश्च सक्रामन्तिनरान्नरम् ॥२॥

श्लोक का भावार्थ ऊपर दिया जा चुका है। आगन्तुक हेतु भेदजन्य सक्रमण रूप रोगोत्पत्ति का समावेश उपरोक्त बाह्य हेतु मे ही हो जाता है।

ऊपर के प्रकरण मे एक आगन्तु हेतु के द्वार का स्पष्टीकरण शेष रह गया था। वह था "भूतोपसर्ग"। इसको रोगोत्पत्ति का एक विभिन्न रूप भी कह सकते हैं। कारण इसमे एक प्रकार की बीमारी एक ही साथ सहस्त्रो, लाखो मनुष्यो को हो जाती है। आयुर्वेद मे इस प्रकार देश या देश के किसी भाग विशेष मे रोग विशेष के फैलाव को "जनपदध्वस" कहते हैं। जनपदध्वस का शब्दार्थ एक रूप की बीमारी का मनुष्य समुदाय पर आक्रमण करना है।

देश भेद से मनुष्यो के आहार बिहार मे बहुत अन्तर रहता है। मनुष्यो की शरीर सम्पत् शरीर का उपचय, प्रकृति, बलादि भी भिन्न २ होते हैं। आयु भी मनुष्य की छोटी बडी विभिन्न रहती है। इस स्थिति मे सब तरह की विभिन्नतायें होते हुए भी एक तरह

की बीमारी का सभी प्राणियो पर एक साथ आक्रमण क्यो होता है ? आयुर्वेद इसके उत्तर मे उन चार हेतुओ का निर्देश करता है। जिन हेतुओ से इस स्थिति का निर्माण होता है। वे हेतु हैं देश, काल, जल, वायु ये चारो मिल कर ही "जनपदध्वस" को जन्म देते हैं।

निम्न लिखित लक्षणो से इनकी व्यापक विकृति का ज्ञान होता है। चारो हेतुओ मे अपेक्षाकृत वायु सबसे प्रधान है।

(१) वायु—

विकृत वायु मे सबसे पहिली बात होती है उसके स्वाभाविक गुण व कर्मो मे अन्तर, गति मे तीव्रता या अत्यन्त शिथिलता, अत्यन्त ठडापन या अत्यन्त औष्ण्य, अत्यन्त खर या अत्यन्त अभिष्यन्दी, असात्यगन्धयुक्त (गन्ध मे असात्यता से अभिप्राय यह है कि जिस गध से शरीर की स्वाभाविक स्थिति मे गडबडी पैदा हो जैसे, विषाक्त गन्ध) अत्यन्त पूतिगध-युक्त, पूतिगधयुक्त से अभिप्राय है जिस गध मे वस्तुविशेष के सडने पर होने वाली गन्ध हो, सामगन्ध, जिस गन्ध से शरीर मे मल, आम, श्लेष्मा, पुरीषादि सडने वाली वस्तुओ की अभिवृद्धि होना, असात्म्य वाष्प सम्पन्न।

यद्यपि असात्म्य गन्धादि मे अनेक प्रकार के अन्य विकृत पदार्थो का भी सम्बन्ध होता है, ये सब विभिन्न पदार्थ वायु के धर्म नही हैं फिर भी विशेष शक्ति वायु की शक्ति है। विकृत परिमाणुओ को वायु अपने द्वारा न मालूम किस देश विशेष मे लाकर किस देशविशेष के प्राणियो के शरीर से सम्बन्धित कर देता है। इसलिए विभिन्न पदार्थो के सम्बन्ध द्वारा होने वाली विकृति भी वायु द्वारा व्याप्त होने के कारण वायु ही का व्यपदेश किया गया है।

(२) जल—

जल भी गन्ध, वर्ण, रस, स्पर्श व जल की विशुद्धता को नष्ट करने वाले जीवाणुओ से व्याप्त होकर रोगोत्पत्ति मे हेतु होता है। यहाँ भी गन्ध, रस, स्पर्शादि के हेतु जल से भिन्न विविध प्रकार के इतर पदार्थ हैं, पर वे जल के द्वारा ही शरीर मे पहुँचते हैं अत उनके प्रवेश के आश्रय साधन रूप जल ही को हेतु रूप मे निर्देश कर दिया गया।

(३) देश—

देश से अभिप्राय उस भू भाग से है जिसमे कारण विशेष से विकृति पैदा हो जाय। भूमि मे भी उसकी मृत्तिका का वर्ण व उसमे रहने वाले गन्ध, रस, स्पर्शादि (जो भूमि के स्वाभाविक भाव विशेष हैं) की विकृति होती है। वर्ण विपर्यय व गन्ध विपर्यय वर्ण तथा गन्ध की विकृति है। विविध प्रकार के मशक, शलभ, मक्खिये, मूसे, व्यालादि का विवर्धित होना व फैलना, उपवनो मे तृणपत्रादि का अभाव, प्रतानादिको की आवश्यकता व औचित्य

से अधिकता, असमय मे औषधियो की उत्पत्ति पाक व विनाश ये सब भूमि की विकृति के निर्देशक हैं।

४ काल—

सपूर्ण ससारव्यापी, व प्राणियो के शरीरव्यापी भावो को क्षण क्षण मे विलक्षणता प्रदान करते हुए उद्भिद, जगम, अडज, स्वेदज, सम्पूर्ण स्थावर जगमादि रूप और पार्थिवादि भौतिक द्रव्यसमूह रूप द्रव्यो मे उलट फेर करते हुए काल जनपदध्वस का कारण बनता है। इन भौतिक द्रव्यो की विकृति किन हेतुओ से होती है, वे हेतु क्यो और कैसे पैदा होते हैं ? इनका विस्तृत विवरण जानना हो तो चरक विमानस्थान का "जनपद-विध्वसनीय" अध्याय देखना चाहिए। युद्ध भी जनपदध्वस के कारणो मे एक विशेष कारण है। जिसका परिणाम भयकर रूप से अशेष भारत मे व्याप्त होने वाले इन्फ्लूएजा से लगाया जा सकता है। रोगोत्पत्ति के इस कारण का भी बाह्य, आभ्यन्तर हेतुओ मे सम्यक् अन्तर्भाव हो जाता है। कारण बाह्य भौतिक पदार्थों की व्यापक रूप से विकृति हो तब उनका सम्बन्ध शरीरस्थ आभ्यन्तर हेतुओ से होता ही है। अतः बाह्य हेतुओ का बाह्य मे और आभ्यन्तर हेतुओ का आभ्यन्तर मे अन्तर्भाव सगत है। ये रोगोत्पत्ति की कुछ विभिन्नताए प्राचीन पद्धति के अनुसार हैं।

अब थोडा सा विचार उस "कीटाणुवाद" पर भी कर लिया जाय जो आधुनिक पद्धति मे रोगो के उत्पादन का विशेष हेतु स्वीकार किया गया है।

'कीटाणुवाद' के सिद्धात मे मेरा ध्यान है जहा तक यह निर्देश सिद्धातरूप से किया गया है कि प्रत्येक रोग के भिन्न-भिन्न कीटाणु होते है। अब कीटाणु के रोगकारणत्व पर विचार करिये। आधुनिक विवेचन जो कीटाणु की रोगोत्पत्तिहेतुता पर है उसके सुनने व समझने से ज्ञात होता है कि स्वय कीटाणु अपने आप बिना अपर हेतुओ की सहायता के शायद बहुत ही थोडे जैसे कुष्ठादि कुछ रोग ही स्वातन्त्र्य रूप से उत्पन्न कर सकते हैं।

अधिकाश कीटाणु हैं वे सक्रमण रूप से ही रोगोत्पत्ति में कारण होते हैं। उत्पादकत्व और सक्रमणत्व मे पर्याप्त अन्तर है। उत्पन्न करने मे तो उस हेतु की स्वकीय सत्ता का प्राधान्य रहता है। सक्रमण मे वह किसी अपर पदार्थ या अपर हेतु के आश्रय से किसी व्यापार की पूर्ति करता है। जिन कृमियो मे स्वतन्त्र रूप से उत्पादकत्व धर्म है उन कृमियो मे खुद की उत्पत्ति, पोषण व वर्द्धन के उत्पादक कौन हैं ? मानना पड़ेगा कि वायु, जल, देश, काल इन्ही से कृमिविशेष की उत्पत्ति व पोषण वर्द्धन होता है।

जल वायु आहार रूप से, देश विशेष विहार रूप से उन-उन कृमियों के (जो जो जैसे जैसे जलवायु देश मे पैदा हो सकते हैं) उत्पादक, पोषक व वर्द्धक हेतु हैं। सामान्य सिद्धातानुसार इससे यह सिद्ध होता है कि विभिन्न कीटाणुओ के तदनुकूल जल, वायु देश ही उनके

कारण हैं। जैसा कि आधुनिक विवेचन से स्पष्ट है कि काला आजार आदि के कीटाणु देश विशेष ही मे पाये जाते हैं। इससे सिद्ध हो ही जाता है कि जल वाय्वादि ही कीटाणुओ की उत्पत्ति आदि के हेतु हैं। लोक मे वे ही वायु, अग्नि, सोम के नाम से और शरीर मे वात, पित्त, श्लेष्मा के नाम से व्यवहृत होते है। अतः इन सोम, सूर्य अनिल, जल, वाय्वादि यानि वात, पित्त, श्लेष्मा की अनुकूलता ही ससार मे सब प्रकार के जगम, उद्भिद प्राणियो की तथा उन्ही मे अन्तर्भावित विविध कीटाणुओ की उत्पत्ति वृद्धि का कारण है। इन त्रिविध त्रयसघात (जल, वायु, अग्नि, सोम, सूर्य, अनिल, वात पित्त, कफ) की प्रतिकूलता उभयात्मक प्राणियो के विनाश का कारण है। इस तरह सब जगह वात, पित्त, कफ का अव्यभिचार सम्बन्ध है। केवल आगन्तु हेतु मे पौर्वापर्य के भेद को छोड और कोई भिन्नता कीटाणुओ के हेतुत्व मे विशेष प्रतीत नही होती।

ससार मे वायु, सूर्य, सोम हैं वे ही शरीर मे वात, पित्त, श्लेष्मा कैसे माने जायें तदर्थ आयुर्वेद मे सुश्रुत तथा चरक मे स्पष्ट निर्देश किया गया है .

> विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
> धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥१॥—सुश्रुत अ० २१ सूत्र०
> लोके वाय्वर्कसोमाना दुर्विज्ञेया यथा गति।
> तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च ॥१॥—चरक चिकित्सा अ० २८

जैसे सोम, सूर्य, अनिल ससार को धारण करते हैं वैसे ही मनुष्य शरीर को वात, पित्त, कफ धारण करने वाले हैं। जिस तरह ससार मे वायु, सूर्य और सोम की अशेष गतियो का ज्ञान होना सम्भव नही है इसी तरह शरीर मे व्यापार करने वाले वातादि दोषो की भी अशेष गतियो का ज्ञान होना सम्भव नही है। उपरोक्त जितने भी रोगोत्पत्ति के हेतुभेदो का विवेचन किया गया है उन सबका समाहार आयुर्वेद के उन्ही उभयात्मक रोगोत्पादक बाह्य आभ्यन्तर हेतुओ में हो जाता है।

इन बाह्य, आभ्यन्तर हेतुओ से शरीरस्थ धातुओ का वैषम्य होता है, धातुओ का यह वैषम्य ही "रोग" शब्दवाच्य है। इस तरह आयुर्वेद सिद्धात से अशेष व्याधियें जो आज तक ससार मे व्यक्त हो चुकी हैं तथा भविष्य मे जो और व्यक्त होगी उन सबका एक ही कारण रहा है तथा रहेगा और वह एकमात्र कारण है आयुर्वेद के शब्दो मे "धातुवैषम्य"।

धातुवैषम्य से अभिप्राय है शरीरस्थ अशेष व्यापक धातुओ से। वे हैं शरीरस्थ वात, पित्त, कफ। अतः वात, पित्त, कफ की विकृत अवस्था का नाम रोगावस्था है। कोई भी रोग किसी भी कारण विशेष से क्यो न हो ? वात, पित्त, कफ की विकृति उसमे अवश्य होगा। चाहे रोग कीटाणुओ से हो, चाहे रोग आहार-विहार की अनवस्था से हो, चाहे

ससर्ग से, चाहे रोग से रोग हो। जितने भी रोगो को पैदा करने वाले कारण समूह विभिन्न चिकित्सा शास्त्रो ने कहे हैं उनका सम्बन्ध अशेष शरीर मे व्याप्त रहने वाले वातादि दोषो से हुये बिना नही रहता। अवयव विशेष की व्याधि, आशय विशेष की व्याधि, मार्गविशेष के रोग सबका सम्बन्ध वातादि दोषो से है उन्ही की विकृति से अवयव, आशय, मार्ग की विकृति होती है। अत विकृति के मूलाधार वातादि दोष ही हैं।

यदि हम अवयव विशेष आशय विशेष या मार्ग विशेष को रोग हेतु मानें तो वे न तो अशेष शरीरव्यापी हैं, न ही उनके एक के व्यापार से शरीर के ऊपर सम्पूर्ण व्यापारो से सम्बन्ध रहता है इस स्थिति मे रोग की उत्पत्ति व उसका सम्पूर्ण शरीर मे सम्बन्ध सम्भव नही। रोग उत्पन्न होने के बाद उसका प्रतिफल सम्पूर्ण शरीर पर होता है। यह प्रत्यक्ष है ही। फिर उपरोक्त हेतुओ से सब प्रकार की व्याधियें हो यह भी सम्भव नही। कारण व्याधि से उसका अपना सम्बन्ध तो अवश्य रहना ही चाहिये सब बीमारियें ऐसी होती नही जिनका सम्पूर्ण अवयवो, श्रोतो व आशयो से सम्बन्ध हो। अतः यह कथन तो युक्तिसगत प्रतीत नही होता।

अब रही कीटाणुओ की बात। कीटाणुओ के विषय मे जैसा कि ऊपर कहा गया है कि सब के सब रोगोत्पादक कीटाणु अपने आप बिना किसी की सहायता के रोग उत्पन्न नही करते बहुत से कीटाणुओ के लिए अन्य सहायी कारणो की पूरी-पूरी अपेक्षा रहती है। इस स्थिति मे वे सक्रामक रूप के हेतु होते हैं न कि उत्पादक रूप के हेतु। फिर वे कीटाणु कभी कभी बहुत समय तक शरीर में रहते हुए भी रोग पैदा नही करते।

जब कीटाणु ही व्याधि है और वे हेतु विशेष से या सहायी कारणो से शरीर मे पहुँच गये तो शरीर मे पहुँचते ही व्याधि पैदा हो जानी चाहिए। पर ऐसा होता नही। बहुत सी बीमारियो के कीटाणु शरीर मे मौजूद रहते हुए भी बीमारी पैदा करने मे सफल नही होते जैसे टी० बी० के कीटाणु ये अर्से तक मनुष्य के शरीर मे जीवित अवस्था मे रहते हैं पर रोग पैदा नही करते। इससे यह व्यभिचार स्पष्ट है कि कीटाणु शरीर मे पहुँच जाने पर भी कभी रोग पैदा कर देते हैं कभी नही। पहिली कमी तो उन्हे शरीर मे पहुँच जाने के आश्रय की है दूसरी फिर शरीर में पहुँच जाने के बाद भी ऐसी अनुकूल अवस्था की अपेक्षा की है। जिसमे वे रोग पैदा करने में सफल हो सकें इस स्थिति से उनकी स्वतत्र रोगोत्पादक सत्ता स्वीकार करना कैसे सगत है ?

जब शरीर की रोगनिवारक शक्ति न्यून हो जाय तभी शरीर मे गये हुये कीटाणु रोग पैदा कर पायें तो फिर रोगोत्पत्ति का विशेष कारण तो शरीर की रोगनिवारक शक्ति की न्यूनता को मानना चाहिए। कारण उसकी कमी ही रोगावस्था का कारण बनती है। यदि शरीर मे रोगनिवारण शक्ति सबल है तो कीटाणु डेरा डाले ही पड़े रहेगे। उनकी दाल

तब तक गलती नही है जब तक शरीर की रोग निवारक शक्ति न्यून होकर उन्हे अपना अड्डा जमाने की सहायता नही देती। रोग निवारक शक्ति को कम करना या अधिक करना ये कीटाणु का काम नही। वह होती है इनसे भिन्न कारणो के कारण। इस स्थिति मे कीटाणुओ की रोगोत्पादकता कहाँ तक सिद्धात के रूप में स्वीकृत की जानी चाहिए यह प्रश्न विचारणीय है। यदि कीटाणुओ द्वारा रोगोत्पत्ति ऊपर लिखे ढग से ही हो सकती है तो फिर कीटाणुओ का बाह्यहेतुओ ही मे अन्तर्भाव होगा। रोग के मूल कारण कीटाणु नही हो सकते।

एक उदाहरण भी इस बारे मे दे दिया जाय तो असगत नही होगा। डाक्टर त्रिलोकी-वर्मा ने कई पुस्तकें हिन्दी मे लिखी है उनमे एक है "स्वास्थ्य और रोग" वे उस पुस्तक मे रोगोत्पत्ति के अनेक कारण बतलाते हुए- जहा कीटाणुओ से रोग होने के प्रकरण मे पहुँचता है वहा वे लिखते हैं — (पृष्ठ १०४) "दो आदमियो के एक ही प्रकार की चोट लगती है एक के फोडा बना जाता है, दूसरे के नही। दो आदमी ठन्ड मे सोते हैं, एक के जुकाम होता है दूसरे के नही ऐसी ऐसी बातें हम प्रतिदिन देखते हैं। यदि कीटाणुओ से ही रोग होते हैं तो क्या कारण है कि एक मनुष्य को रोग हो, दूसरे को नही ?

इसका उत्तर यह है कि हमारे शरीर मे एक शक्ति होती है जिसको रोग नाशक शक्ति कहते है। यह स्वाभाविक शक्ति किसी मनुष्य मे कम होती है किसी मे ज्यादा। वह शक्ति जितनी कम होती है उतनी ही रोग होने की सभावना अधिक होती है। यह रोग-नाशक शक्ति भिन्न भिन्न रोगो के लिए भिन्न भिन्न व्यक्तियो मे भिन्न भिन्न मात्रा मे पाई जाती है। थकान, अच्छा और पौष्टिक भोजन प्राप्त न होना, खराब जलवायु, रज और फिक्र किसी रोग से बहुत समय तक पीडित रहना और ऐसे ही अन्य कारण रोगनाशक शक्ति को कम करते हैं।

रोगाणुओ से रोग उत्पन्न होने के लिए दो बातो का होना आवश्यक है:—

(१) प्रबल रोगाणुओ का शरीर मे प्रवेश करना।

(२) किसी व्यक्ति मे उस समय रोगनाशक शक्ति का कम होना या न होना।

जब ये दो बातें साथ साथ मिलती है तभी रोग उत्पन्न होता है।

यदि यह विवेचन आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार है तो स्पष्ट ही है कि रोगो-त्पादक कीटाणु स्वतन्त्र रूप से सर्वदा रोग पैदा कर सकें यह बात नही। उनको दो सहाय-तायें मिलने पर ही वे रोगोत्पत्ति के हेतु बनते हैं। पहिली सहायता शरीर मे प्रवेश करने की और वह भी प्रबल समूह व प्रबल शक्तिसम्पन्न होने के बाद। पहिली सहायता की ठीक पूर्ति हो जाने पर भी यदि शरीर मे रोगनिवारक शक्ति सामना करने को तैयार मिली

तो शरीर मे कीटाणु शक्तिसमूह पहुँच जाने पर भी काम बनेगा नही। अत दूसरी सहायता रोगनिवारक शक्ति की न्यूनता वही मुख्य रोगोत्पत्ति मे साधन रूप है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कीटाणु रोग तभी पैदा कर सकते हैं जब शरीर की स्वाभाविक रोगनाशक शक्ति क्षीण हो जाय। दूसरे शब्दो मे कहें तो यह कहा जा सकता है कि, जब तक शरीरस्थ भावो की स्वाभाविक शक्ति व्यवस्थित रहे तब तक कोई रोग पैदा नही होता। चाहे कीटाणुओ की फौज का धावा होता ही रहे।

शरीरस्थ भावो की स्वाभाविक व्यापार शक्ति से न्यूनता होने पर ही रोगोत्पादक कीटाणु अपना काम कर पाते हैं। शरीरस्थ भावो की स्वाभाविक शक्ति या स्वाभाविक व्यापार को ठीक रखने का नाम "धातुसाम्य" है। इनके व्यापार व इनके कर्मों की अव्यवस्था का नाम ही "धातुवैषम्य" है। आयुर्वेद का धातुवैषम्य और शरीरस्थ स्वाभाविक रोगनाशक शक्ति की न्यूनता एक ही बात है। इस स्थिति मे कीटाणुओ की रोगोत्पत्ति मे कितनी स्वतन्त्र सत्ता है यह अज्ञात नही रहता। फिर कीटाणुओ की प्रमुखता का खण्डन वैज्ञानिक प्रकृति की चिकित्सा से भी होता है। जैसे–क्षय रोग। इसकी चिकित्सा की जाती है वह कीटाणुओ को विनष्ट करने की नही की जाती। यदि क्षय, टी बी, के कीटाणुओ से होता है तो जैसे मलेरिया के कीटाणुओ को नष्ट करने के लिए क्वीनैन का प्रयोग किया जाता है। वैसे ही टी बी के कीटाणुओ को विनष्ट करने का भी कोई विशेष औषध प्रयोग किया जाना चाहिए था पर देखने मे आता है कि ऐसा न होकर चिकित्सा की जाती है। शरीर की स्वाभाविक रोगनाशक शक्ति को सबल करने की सुवर्ण के इन्जेक्शन खाद्य पदार्थों मे अधिक विरेमन पैदा करने वाली सामग्री विश्राम, मनोविनोद, स्वच्छ हवा से रहना, ये सब उपचार शरीर के बल वर्ण प्रसाद को विवर्द्धित करने वाले हैं। इन उपचारो का टी. बी. के कीटाणुओ पर कोई घातक असर होता हो यह नही। इस उपचार से यही सिद्ध होता है कि-यदि शरीर सबल हो जाय–शरीर की क्षीण हुई स्वाभाविक शक्ति अपने ठीक रूप मे बन जाय तो टी बी के कीटाणु चाहे बने रहे पर मनुष्य क्षय रोग से छुटकारा पा जायगा। अब आयुर्वेद के सिद्धान्त से इसकी समानता करें तो शब्द भेद के अतिरिक्त सिद्धान्त क्या भेद रहता है ? आयुर्वेद के सिद्धान्त से बाहरी जितने भी दोष प्रकोप के हेतु है, उनके ससर्ग से शरीर के भीतर रहने वाले वातादिधातुओ मे वैषम्य पैदा होता है। उसीसे रोग पैदा होता है। वातादि वैषम्य का निवारण कर दिया जाय। रोग निवृत्त हो जायगा। आयुर्वेद की चिकित्सा मे इसी तत्व की प्रधानता रक्खी गई है। प्रकुपित हुए दोषो को समत्व स्थिति मे लाना ही उपक्रम है। दोषो की सम स्थिति ही "स्वास्थ्य" का कारण है। उचित रोग निवारक शक्ति सम्पन्न शरीर ही स्वस्थ्य शरीर कहा जाता है।

तब तक गलती नही है जब तक शरीर की रोग निवारक शक्ति न्यून होकर उन्हे अपना अड्डा जमाने की सहायता नही देती। रोग निवारक शक्ति को कम करना या अधिक करना ये कीटाणु का काम नही। वह होती है इनसे भिन्न कारणो के कारण। इस स्थिति मे कीटाणुओ की रोगोत्पादकता कहाँ तक सिद्धात के रूप में स्वीकृत की जानी चाहिए यह प्रश्न विचारणीय है। यदि कीटाणुओ द्वारा रोगोत्पत्ति ऊपर लिखे ढग से ही हो सकती है तो फिर कीटाणुओ का बाह्यहेतुओ ही मे अन्तर्भाव होगा। रोग के मूल कारण कीटाणु नही हो सकते।

एक उदाहरण भी इस बारे मे दे दिया जाय तो असगत नही होगा। डाक्टर त्रिलोकी-वर्मा ने कई पुस्तकें हिन्दी मे लिखी है उनमे एक है "स्वास्थ्य और रोग" वे उस पुस्तक मे रोगोत्पत्ति के अनेक कारण बतलाते हुए- जहा कीटाणुओ से रोग होने के प्रकरण में पहुँचता है वहा वे लिखते हैं — (पृष्ठ १०४) "दो आदमियो के एक ही प्रकार की चोट लगती है एक के फोडा बना जाता है, दूसरे के नही। दो आदमी ठन्ड मे सोते हैं, एक के जुकाम होता है दूसरे के नही ऐसी ऐसी बातें हम प्रतिदिन देखते हैं। यदि कीटाणुओ से ही रोग होते हैं तो क्या कारण है कि एक मनुष्य को रोग हो, दूसरे को नही ?

इसका उत्तर यह है कि हमारे शरीर मे एक शक्ति होती है जिसको रोग नाशक शक्ति कहते है। यह स्वाभाविक शक्ति किसी मनुष्य मे कम होती है किसी मे ज्यादा। वह शक्ति जितनी कम होती है उतनी ही रोग होने की सभावना अधिक होती है। यह रोग-नाशक शक्ति भिन्न भिन्न रोगो के लिए भिन्न भिन्न व्यक्तियो मे भिन्न भिन्न मात्रा मे पाई जाती है। थकान, अच्छा और पौष्टिक भोजन प्राप्त न होना, खराब जलवायु, रज और फिक्र किसी रोग से बहुत समय तक पीडित रहना और ऐसे ही अन्य कारण रोगनाशक शक्ति को कम करते हैं।

रोगाणुओ से रोग उत्पन्न होने के लिए दो बातो का होना आवश्यक है:—

(१) प्रबल रोगाणुओ का शरीर में प्रवेश करना।

(२) किसी व्यक्ति मे उस समय रोगनाशक शक्ति का कम होना या न होना।

जब ये दो बातें साथ साथ मिलती हैं तभी रोग उत्पन्न होता है।

यदि यह विवेचन आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार है तो स्पष्ट ही है कि रोगोत्पादक कीटाणु स्वतन्त्र रूप से सर्वदा रोग पैदा कर सकें यह बात नही। उनको दो सहायतायें मिलने पर ही वे रोगोत्पत्ति के हेतु बनते हैं। पहिली सहायता शरीर मे प्रवेश करने की और वह भी प्रबल समूह व प्रबल शक्तिसम्पन्न होने के बाद। पहिली सहायता की ठीक पूर्ति हो जाने पर भी यदि शरीर मे रोगनिवारक शक्ति सामना करने को तैयार मिली

इस तरह आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से जिनको रोगोत्पादक हेतु माने गये हैं। आयुर्वेद मे वे दोष प्रकोप के हेतु हैं। यह शब्द-भेद अभी शायद निवृत न हो, पर सम्भव है समय आये कि प्रत्येक रोग के विभिन्न कारण मानने की अपेक्षा, सभी रोगो का एक कारण आधुनिक विज्ञान स्वीकार कर लें और वैसा हो सकना अधिक असभव नही है। कारण, अब ऐसा तो माना जाने ही लगा हैं कि शरीर मे एक स्वाभाविक रोगनाशक शक्ति है। उसकी कमी ही रोग पैदा होने का मुख्य हेतु है। यह रोगनाशक स्वाभाविक शक्ति ही किन मौलिक तत्वो के आश्रित है। इसका निणय होते ही उपरोक्त प्रश्न का निवारण हो जाएगा।

आयुर्वेद इस शक्ति का आश्रय वात, पित्त, श्लेष्मा को मानता है। एव सम्पूर्ण रोगो का हेतु त्रिदोषो का वैषम्य है।

नोट—यह विशेष कथन मेरा अपना है। इसका सम्बन्ध पूज्य स्वर्गीय स्वामीजी के कथन से नही है। इस विशेष कथन मे जो कुछ सैद्धांतिक त्रुटिया हो तो वे मेरी अपनी ही हैं। इस कथन की विशृखलता का सम्बन्ध स्वामीजी के कथन से न जोडा जाय।

यह द्वितीय प्रश्न के (अ) भाग का उत्तर हुआ। इसके आगे द्वितीय प्रश्न के (आ) भाग का उत्तर उल्लेखित किया जाता है। इसमे यह ज्ञात किया गया है कि—आपकी पद्धति से—रोग का निश्चय कैसे किया जाय कि अमुक व्यक्ति के यही रोग है। उसके जानने के और निश्चय करने के उपकरणो का उल्लेख किया जाय।

रोगपरीक्षा-प्रकार

आयुर्वेद पद्धति के आश्रय से जो वैद्य रोग निश्चय करने के लिए अवधानतापूर्वक उद्यत हो उनको निम्न तीन उपायो का आश्रय लेना होता है। १ उपदेश, २ प्रत्यक्ष प्रमाण, ३ अनुमान प्रमाण।

(१) उपदेश

अभिप्राय यह है कि अध्ययन पद्धति से योग्य गुरु द्वारा शास्त्रानुसार प्रति रोग के हेतु लक्षण बतलाने वाले सूत्रो का श्रवण, मनन और गुरु द्वारा रोग परीक्षा का स्वकीय अनुभव व उसका प्रत्यक्षीकरण। आप्त ऋषियो द्वारा तन्त्रोपदेश से ही रोगो के बाह्य और आभ्यन्तर कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक उसका स्वरूप विविध प्रकार की होने वाली रोग विशेष की वेदनाए, उसके आश्रय व प्रसार के स्थान, उपद्रव, उसके प्रतिकार के लिए विभिन्न प्रकार से की जाने वाली चिकित्सा और उसके निवृत होने के लक्षणो का यथार्थ ज्ञान होता है। इस तरह शास्त्रीय सिद्धान्तो द्वारा रोग का ज्ञान कर लेने पर वैद्य रोग-परीक्षण के लिए प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण का आश्रय लेता है।

कीटाणु शरीर मे पहुच कर शरीरस्थ धातुओ या आशयो व स्त्रोतो की परस्थिति में कमी वेशी कर के ही तो रोग पैदा करते हैं। तब उस शरीर के अवयव विशेष, आशय विशेष, धातु विशेष, स्त्रोत विशेष, की कमी वेशी ही को रोग क्यो न कहा जाय ? वस्तुत रोग तो वही है—उस कमी वेशी के करने के जैसे अतिश्रय, अतिव्यषाय, रूक्ष-भोजन, वेगनिरोध, असाल्य भोजन, विरुद्ध भोजन, अकाल भोजन, दूषित, देश, काल, वायु अनुपादेय विहारादि कारण हैं। वैसे ही एक कीटाणु भी कारण हो सकता है।

इस तरह रोगोत्पादक कीटाणुओ का निदान मे ही अन्तर्भाव हो जाता है। छूत से जो कीटाणु रोग पैदा करते हैं-वे सक्रामक हैं। रूप के हेतु हैं। ये भी शरीर मे जाकर उसी तरह शरीरस्थ किसी भाव की कमी वेशी करते हैं। इनकी हेतुता मे ही थोडा भेद है। यह सक्रामक रूप से वैषम्य पैदा करते हैं। जैसा कि पोछे विवेचन किया जा चुका है।

आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के प्रमुख पाच हेतु रोगोत्पादक माने गये हैं। उनमे से एक हेतु छूत है। छूत से होने वाली बीमारिया हैं वे ही कीटाणु-जीवाणुजन्य हैं। शेष चार हेतु निम्न रूप से निर्देश किये गये हैं :

१ वशानुगत (माता-पिता के कारण)।

२ अज्ञात कारण—(जिन बीमारियो का अभी यह निश्चय नही हुआ कि ये किन्ही कीटाणुओ से पैदा होती हैं या नही)।

३ अपौष्टिक भोजन—(विटेमिनो की न्यूनता वाली खूराक)।

४ रोग से रोगोत्पत्ति—(एक बीमारी के कारण शारीरिक रोगनिवारक शक्ति के न्यून हो जाने से दूसरा रोग हो जाना)।

इनमे से अज्ञात कारण को छोड, वश-परम्परा, मिथ्या आहार-विहार, रोग से रोग पैदा करने वाले हेतुओ को आयुर्वेद मे दोष प्रकोप के हेतु माने ही गये हैं। अज्ञात कारण आयुर्वेद मे स्वीकार नही किया गया है। आयुर्वेद सिद्धान्त से ज्ञात अज्ञात जो भी कारण हैं वे सब दोष प्रकोप के निमित्त हैं। रोग पैदा होता है वह दोष प्रकोप के कारण से होता है। अतः दोषप्रकोप के हेतु का ठीक-ठीक पता न लगे तो भी रोगोत्पत्ति अज्ञात नही रहती। दोष सम्बन्ध से रोगोत्पत्ति का ज्ञान हो ही जाता है। आयुर्वेद मानता है कि—सब रोग ससार मे अभिव्यक्त हो चुके हो, ऐसी बात नही। कालभेद से नवीन रोगो की उत्पत्ति होती रहती है। रहन-सहन, खान-पान के बदलने वाले तरीके तथा देश की भौगोलिक स्थिति के बदलने व कालान्तर से ऋतु आदि के भेद होने से नवीन योग भी पैदा हो सकते हैं। पर चाहे जब चाहे जिन कारणो से रोग पैदा हो वह शरीरस्थ वातादि दोषो की विकृति के बिना नही होगा। अत. आगे होने वाले रोगो का भी दोषवैषम्य मे समाहार किया हुआ है।

इस तरह आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से जिनको रोगोत्पादक हेतु माने गये हैं। आयुर्वेद मे वे दोष प्रकोप के हेतु है। यह शब्द-भेद अभी शायद निवृत न हो, पर सम्भव है समय आये कि प्रत्येक रोग के विभिन्न कारण मानने की अपेक्षा, सभो रोगो का एक कारण आधुनिक विज्ञान स्वीकार कर लें और वैसा हो सकना अधिक असभव नही है। कारण, अब ऐसा तो माना जाने ही लगा हैं कि शरीर मे एक स्वाभाविक रोगनाशक शक्ति है। उसकी कमी ही रोग पैदा होने का मुख्य हेतु है। यह रोगनाशक स्वाभाविक शक्ति ही किन मौलिक तत्वों के आश्रित है। इसका निणय होते ही उपरोक्त प्रश्न का निवारण हो जाएगा।

आयुर्वेद इस शक्ति का आश्रय वात, पित्त, श्लेष्मा को मानता है। एव सम्पूर्ण रोगो का हेतु त्रिदोषो का वैषम्य है।

नोट—यह विशेष कथन मेरा अपना है। इसका सम्बन्ध पूज्य स्वर्गीय स्वामीजी के कथन से नही है। इस विशेष कथन मे जो कुछ सैद्धातिक त्रुटिया हो तो वे मेरी अपनी ही हैं। इस कथन की विशृ खलता का सम्बन्ध स्वामीजी के कथन से न जोडा जाय।

यह द्वितीय प्रश्न के (अ) भाग का उत्तर हुआ। इसके आगे द्वितीय प्रश्न के (आ) भाग का उत्तर उल्लेखित किया जाता है। इसमे यह ज्ञात किया गया है कि—आपकी पद्धति से—रोग का निश्चय कैसे किया जाय कि अमुक व्यक्ति के यही रोग है। उसके जानने के और निश्चय करने के उपकरणो का उल्लेख किया जाय।

रोगपरोक्षा-प्रकार

आयुर्वेद पद्धति के आश्रय से जो वैद्य रोग निश्चय करने के लिए अवधानतापूर्वक उद्यत हो उनको निम्न तीन उपायो का आश्रय लेना होता है। १ उपदेश, २ प्रत्यक्ष प्रमाण, ३ अनुमान प्रमाण।

(१) उपदेश

अभिप्राय यह है कि अध्ययन पद्धति से योग्य गुरु द्वारा शास्त्रानुसार प्रति रोग के हेतु लक्षण बतलाने वाले सूत्रो का श्रवण, मनन और गुरु द्वारा रोग परीक्षा का स्वकीय अनुभव व उसका प्रत्यक्षीकरण। आप्त ऋषियो द्वारा तन्त्रोपदेश से ही रोगो के बाह्य और आभ्यन्तर कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक उसका स्वरूप विविध प्रकार की होने वाली रोग विशेष की वेदनाए, उसके आश्रय व प्रसार के स्थान, उपद्रव, उसके प्रतिकार के लिए विभिन्न प्रकार से की जाने वाली चिकित्सा और उसके निवृत होने के लक्षणो का यथार्थ ज्ञान होता है। इस तरह शास्त्रीय सिद्धान्तो द्वारा रोग का ज्ञान कर लेने पर वैद्य रोग-परीक्षण के लिए प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण का आश्रय लेता है।

प्रत्यक्ष मे अपनी चक्षु, त्वक्, श्रवणेन्द्रियादि ज्ञानेन्द्रियो द्वारा रोगी के शरीर मे रोग विशेष से उत्पन्न होने वाले शब्द स्पर्श रूपादिको का परीक्षण करता है।

श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा रोग मे क्या-क्या विशेष शब्द ज्ञातव्य हैं ? जैसे—अतिसार मे फेनयुक्त शब्द करते हुए रक्त का निस्सरण है वह ज्ञात कराता है। रक्त प्रेरक यहा वायु है। आतो मे गुडगुडाहट, सन्धियो मे होने वाले शब्द, रोगी के अवयव विशेष मे होने वाले शब्द, आवाज मे स्वर विशेष का परिवर्तन ये श्रवणेन्द्रियो द्वारा जानने पडते हैं। स्वर विशेष मे दो भेद हैं। मनुष्यो की आवाज प्रकृति-भेद से भिन्न-भिन्न होती है। अत एक स्वर तो वे हैं जो मनुष्य के प्रकृति भेद से स्वाभाविक होते हैं। इन स्वाभाविक स्वरो मे रोगानुबन्ध से अन्तर पड जाता है। जैसे—क्षय, प्रतिशाय, कास आदि रोगो मे स्वर की विकृति हो जाती है। ये विकृत हुए स्वर अस्वाभाविक हैं। ऐसे अस्वाभाविक, स्वाभाविक स्वर का ज्ञान श्रवणेन्द्रिय द्वारा ही होता है।

चक्षु—

रोग विशेष के कारण मल मूत्र के बदले हुए रङ्ग, श्लेष्मा का रग विशेष घनत्व द्रवत्व, ग्रथितत्व रूप, रक्त का पतलापन, गाढापन, छिछडे, वर्ण विशेष शुक्र-रज के शुद्ध व विकृत स्वरूप, मल, मल के विविध वर्ण, गन्ध, द्रव, घन-ग्रन्थिल, शुष्कादि आकृति, मूत्र के विविध वर्ण-गन्ध, तथा उसमे मिश्रित होकर निकलने वाले रक्त, शुक्र, क्षार, स्नेह आदि व्रण द्वारा निकलने वाले विविध प्रकार के वर्ण, आकृतिवमन मे निकलने वाले पदार्थों की विभिन्न सूरतें, शरीर के अवयवो की बदली हुई आकृति, वर्ण, प्रभा आदि नेत्रो की कुटिल, स्थिर, विस्फारित, निर्मलतादि आकृतियें, जिह्वा की, श्याव, पीत, श्वेत रक्तादि रगत, शुष्क, स्वर, लित्यादि उसकी आकृति विशेष, त्वग्, नख आदि का वर्ण, सम्पूर्ण शरीर की आभा, वर्ण आदि का परिवर्त्तित रूप, अवयव विशेषो के प्रमाण की न्यूनाधिकता, अवयव विशेषो के सकोच विकाश को प्राप्त हुए आकार, तथा और भी जितने भाव जो चक्षुग्राह्य है वे सब चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष करने पडते हैं।

गन्ध—

शरीर में या शरीर के अवयव विशेषो में, रोगी के मल, मूत्र, वमन, श्लेष्मा, रक्त, पूय आदि निकलने वाले पदार्थों मे, माता, मोतीझरा आदि रोगो मे जो गन्ध आती है उसका घ्राण के द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है।

स्पर्श—

नाडियो का स्पन्दन, हृदय की धड़कन, शीत, उष्ण, चिकना, खरधरा, कठोर, मुलायम, ग्रन्थी, प्लीहा, यकृत, अन्त्र, गुल्म, आन्तरिक, शोथ आदि शरीर मे व शरीर के अवयव

विशेषो मे होने वाले हेरफेर का ज्ञान, स्पर्श प्रत्यक्षीकरण के विशेष अवयव हाथ द्वारा किया जाता है।

ज्ञानेन्द्रियो द्वारा उपरोक्त रूप से रोग के चिन्ह विशेषो का प्रत्यक्ष करने के पश्चात् बहुत सी ऐसी बातें और शेष रह जाती हैं, जिन की यथार्थता जाने विना रोग का पूरा निश्चय होता नही। उन शेष भावो को जानने के लिए अनुमान का आश्रय लेना चाहिए।

अनुमान —

रोगी की सम, विषम, मन्द, तीक्ष्ण अग्नि का पाचन क्रिया द्वारा, व्यायाम शक्ति से, श्रम शक्ति से बल का, ज्ञानेन्द्रियो की विकृति का विषय ग्रहण शक्ति की न्यूनता के द्वारा, हर्ष, शोक, भय, चिन्ता, सुख, दु खादि, क्रोध, धैर्यादि द्वारा मानसिक स्थिति का, कर्म प्रवृत्ति के उत्साह अनुत्साह से वीर्य का रूप, शब्द, स्पर्शादि द्वारा सज्ञा असज्ञा का, आयु भोजन मे सात्म्यासात्म्य, व्याधि के उत्पन्न होने से पहिले व उस समय उत्पन्न हुए लक्षणो का, कालानुबन्ध, शरीरस्थ अवयव, उपशय, अनुपशय से वेदना विशेष का, रेचन द्वारा कोष्ठ के मृदु कठोर रूप का, अनुकूल, प्रतिकूल भावना का हर्ष द्वेष से अनुमान द्वारा ज्ञान किया जाता है। तथा शास्त्रो मे वर्णित रोग विशेष के पूर्व रोगो का, शरीरस्थ अवयव विशेष की विकृति का, मल मूत्रादि, क्षुधा, प्यास आदि की प्रवृति इच्छा का ज्ञान रोगी को पूछ कर उसके उत्तरानुरूप अनुमान से किया जाता है।

उपद्रव —

रोग विशेषो मे उस रोग के उत्पन्न कुछ समय पश्चात् और भी कई रोग विशेषो की उत्पत्ति होती है। जैसे ज्वर मे अतिसार, दाह, वमनादि। अतिसार में श्वास, शूल, पिपासा, ज्वरादि। अर्श मे तृष्णा, अरुचि, शूल, अर्ति, शोथ, अतिसारादि। अजीर्ण मे मूर्च्छा, प्रलाप, वमथु-प्रसेक, सदन भ्रमादि। रक्त, पित्त मे दौर्बल्य, श्वास, कास, ज्वर वमथु आदि मे व्याध्युत्तर काल मे उत्पन्न होने के कारण, व्याध्युत्तर कालानुबन्ध से 'उपद्रव' नाम से ज्ञेय हैं।

अरिष्ट व असाध्य:—

आयुर्वेद के सिद्धात से रोग की ऐसी दो अवस्थायें और मानी गई हैं जिन अवस्थाओं मे पहुँचने पर रोग का निवारण असभव हो जाता है।

रोगी के अवयव विशेष जैसे नाक चक्षु, भ्रू, जिह्वा, नखत्वगादि, व उसकी मानसिक स्थिति, स्वभाव, प्रकृति आदि मे सहसा परिवर्तन हो जाना, तथा कुछ अकारण शरीर में विशेष चिन्हो या लक्षणो का उत्पन्न होना, इससे रोग की अरिष्ठावस्था का ज्ञान होता है। अरिष्ट शब्द का अर्थ है जिन लक्षणो के उत्पन्न होने पर रोगी के बचने की सभावना न रहे। वे लक्षण अरिष्ट नाम से सम्बोधित किए गए हैं।

उपरोक्त रूप मे ही शारीरिक भावो की विकृति हो, रोग की अवस्था में परिवर्तन हो जाय तथा उससे कुछ रोग मे विशेष लक्षणो की उत्पत्ति हो उन लक्षणो से रोग की "असाध्या वस्था" का ज्ञान होता है। असाध्यावस्था की दो स्थितियें हैं। कुछ रोग तो ऐसे हैं कि वे उन लक्षणो के अभिव्यक्त होने के बाद निवृत नही होते, पर शरीर का वे विनाश भी नही करते ऐसे लक्षणो वाले रोग को "याप्यासाध्य" कहते हैं। जिन लक्षणो के अभिव्यक्त होने पर न रोग की निवृति की सभावना रहे- न शरीर के रहने की वह- "असाध्य" शब्द वाच्य है। अरिष्ट और इस द्वितीय असाध्यावस्था का अर्थ है शरीर व शरीर के अवयवो की जीवनी व शक्ति का ह्रासोन्मुख अवसाद।

इस तरह आयुर्वेद सिद्धातो द्वारा उपरोक्त प्रकारो से रोग विशेष, रोगोत्तर काल मे उत्पन्न होने वाले उपद्रव, निश्चित मृत्युकारक लक्षणो से मुक्त रोग की अरिष्टावस्था मृत्युपर्यन्त न निवृत होने वाली रोग की याप्यावस्था, अवधि विशष से अधिक शरीर के न रहने वाली असाध्यावस्था का शास्त्रोपदेश प्रत्यक्ष व अनुमान से निश्चय किया जाता है। जैसा कि शास्त्र उपदेश करते है — (चरक विज्ञान ४ अध्याय)

> आप्तयतश्चोपदेशन प्रत्यक्ष करणेन च
> अनुमानेन च व्याधीन् सम्य(ग) विद्याद् विचक्षणः ॥१॥
> सर्वथा सर्व मालोच्य यथा सम्भव मर्थवित्
> अथा ध्यवस्येत् तत्वे च कार्ये च त्वदनन्तरम् ॥२॥
> ज्ञान बुद्धि प्रदीपे न यो ना विशति तत्ववित्
> आतुरस्यन्तरात्मान न स रोगांश्चिकित्सति ॥३॥

विद्वान् वैद्य आप्तोपदेश (शास्त्र) प्रत्यक्ष व अनुमान से अच्छी प्रकार व्याधि के स्वरूप का निश्चय करे। शास्त्रीय यथार्थ ज्ञान को जानने वाला वैद्य, रोग का निश्चय करने वाले सब साधनो से अच्छी तरह रोग का निश्चय कर, तात्विक बातो को ध्यान मे ला उसके पश्चात् चिकित्सा मे प्रवृत्त हो। जो तत्वज्ञ वैद्य ज्ञान और प्रत्युत्पन्न मति के दीपक को ले रोगी की आभ्यन्तरिक अवस्था मे प्रवेश नही करता वह रोगो की अच्छी चिकित्सा नही कर सकता। मतलब रोग के निश्चय करने में पूरी-पूरी सावधानी रखने की आवश्यकता है। रोग निश्चय करने के जितने भी साधन हैं उन सबका सम्यक् उपयोग कर रोग का ठीक-ठीक निर्णय करना चाहिए। जब तक रोग का ठीक निश्चय न हो सकेगा तब तक उसकी चिकित्सा करना सम्भव नही। इसीलिए उपरोक्त रोग ज्ञान के प्रकारो को निर्देश करते हुए आचार्य रोगपरीक्षा में दूष्यादि की परीक्षा का भी आवश्यक उपदेश देते है।

रोग विशेष के निश्चय करने से पहिले वह चिकित्सा विशेष का निर्धारण करने से पहिले दूष्य, देश, बल, काल, अग्नि, प्रकृति, सत्व, सात्म्याहार, वय तथा इनकी परिवर्त्तित होने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म अवस्थायें अवश्य जाननी चाहिए।

उपरोक्त निर्दिष्ट ज्ञातव्य विशेषो की सम्यक् समीक्षा कर पश्चात् इस उपक्रम का आरम्भ किया जायगा वह उपक्रम ही सद्य फलदायी सिद्ध होगा।

दूष्य:—

रोग को आरम्भ करने वाले प्रधान मूलभूत आभ्यन्तर कारण, दोष तथा उनकी वृद्धि क्षयरूप अवस्था मे जो सहायी कारण हैं उनको दूष्य नाम से सम्बोधित किया जाता है। जैसे—प्रमेह मे मेद, मांस, शरीर क्लेदादि, कुष्ठ मे त्वक्, रक्त, माम, लसीकादि, अर्श मे गुद वलिस्थित त्वक्, रक्त, मांस मेदादि, अपस्मार, सन्यास, मूर्च्छादि मे मन व मस्तिष्कादि इस तरह दूष्य की धातु, उपधातु, मल, आश्रय, मार्गादि भेद से अनेक प्रकार की वृद्धि ह्रासात्मक विकृतियो का, व उन दूष्य विशेष से सम्बन्ध रखने वाले रोग विशेषो का अपने-अपने अधिकरणो मे विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

रोग की साध्य असाध्य अवस्था का ज्ञान अधिकाशत दूष्य के सम्बन्ध पर ही निर्भर है। क्योकि दूष्यो मे अनेक वायु के समान गुण वाले हैं। अनेक पित्त समान गुण भूयिष्ठ हैं। अनेक श्लेष समान गुण भूयिष्ठ हैं। जब दोष के समान गुण धर्म वाले दूष्य दोष के साथ मिलते हैं तो दोष का बल दूष्य सयोग से और भी प्रबल हो जाता है। इस स्थिति मे दोष के समान गुण धर्म वाले दूष्य सयोग से उत्पन्न व्याधि, वह उत्पत्ति काल मे ही असाध्य अवस्था को लेकर अभिव्यक्त होती है। इसीलिए शास्त्रकारो ने "न च तुल्य गुणोदूष्योन दोष. प्रकृतिर्भवेत्" का प्रवचन किया है।

वात पित्त श्लेष्मा को छोड जिन्हे शरीरस्थ दोष कहते हैं, शरीर के सम्पूर्ण आभ्यन्तरिक भाव दूष्य हैं। इनमे रस-रक्तादि सातो धातु शिरा, स्नायु, धमनी, रादि उपधातु, रक्त रस शुक्र, मलमूत्रादि आश्रय, हृदयादि यन्त्र उनकी आवरक कलायें उदक, अन्न, श्वास, रक्त लसीका, वातवह स्रोत, शरीर के अशेष अग उपाग, मर्म, त्वक आदि सब का समावेश है।

दोषो की वैषम्यावस्था का इन्ही शरीरस्थ भावो पर असर पडता है। विषम स्थिति वाले दोष उपरोक्त शारीरिक भावो को अव्यवस्थित करते हैं। दूषित दोष संयोग से जब शरीर के सरक्षक व सचालक ये सहायी भाव दूषित होते हैं तभी शरीर की स्वाभाविक स्थिति मे परिवर्तन होता है अत. रोग निश्चय मे दोषो के पश्चात् इन दूष्यो का कितना हाथ है यह स्पष्ट है। इसीसे रोग निश्चय मे दूष्य परीक्षण को आवश्यक माना गया है।

देश –

देश शब्द से आयुर्वेद मे दो देश आते हैं। एक भूमि, दूसरा देह। रोग-परीक्षा मे उपदेशो की परीक्षा की आवश्यकता रहती है जैसे यह रोगी किस देश का जन्मा हुआ है।

किस देश मे रोगी हुआ, जिसमें यह उत्पन्न हुआ व विवर्द्धित हुआ और जिसमें यह रोगाक्रान्त हुआ, उन देशो में मनुष्यो का क्या आहार-बिहार है ? किस तरह की उनकी रहन-सहन है ? वहाँ के निवासियो का स्वाभाविक शरीर बल, मानसिक बल कैसा है ? उनके कौनसा खान पान सात्म्य है ? देश में स्वभाव से आनूप जोगल साधारण भेद से किस दोष की प्रधानता रहती है ? कौन से रोग विशेष उस देश में अधिकतर होते हैं ? (जैसा कि अनूप जाँगलादि देशो के लिए विशेष निर्देष किया है) उस देश में रहते हुए क्या-क्या अहित हैं ? क्या क्या अहित हैं ? इस तरह को देश से सम्बन्ध रखने वाली बातो के ज्ञान से रोग के उत्पन्न करने वाले कारण विशेषो का दोष-दूष्य के बलात्मक का ज्ञान होता है।

आतुर देश —

शरीर को देश शब्द से सम्बोधित क्यो किया ? क्योकि यही चिकित्सा का प्रधान अधिष्ठान है। इसो से इसको देह-देश शब्द से निर्देश किया है। रोगी का शरीर आयु प्रमाण ज्ञान द्वारा व दोष प्रमाण ज्ञान आतुर शरीर से कैसे किया जाय ? तदर्थं कहते हैं कि आतुर की प्रकृति (स्वभाव) विकृति, सोसारत· आतुर का शरीर रक्तसार है, आचिसार है या शुक्रसार है। शरीर निर्मायिक तात्विक सघात व उपचप से शरीर की लम्बाई चौडाई से रोगी को स्वभावत क्या २ आहार विहार अनुकूल पड़ता है ? रोगी का मनोबल कैसा है ? आहार शक्ति से, परिश्रम या व्यायाम की शक्ति से, आयु से, दोष प्रमाण व आयु प्रमाण का ज्ञान होता है।

प्रकृति :—

जाति, कुल, देश भेद से मनुष्य के स्वभावो मे अन्तर होता है। इसी तरह आयु काल व प्रत्यात्मनियत शक्ति भी प्रकृति की विभिन्नता के हेतु हैं। इस तरह स्थूल रूप से जाति, कुल, देश, काल, वय, प्रत्यात्मनियत शक्ति भेद से छं प्रकृतियें होती हैं। इनमे अन्तिम प्रत्यात्मनियता प्रकृति शरीर भेद से वात, पित्त श्लेष्म, वात-पित्त, वात श्लेष्म, पित्तश्लेष्म, वात-पित्त श्लेष्म ऐसे सात तरह की होती है। मानसिक प्रकृति त्रिविध सत्व भेद से पन्द्रह प्रकार की होती है।

दोष भेद से होने वालो शारीरिक प्रकृतियो के निर्माण मे शुक्र शोणित सयोग काल की प्रकृति, कालनुबन्ध सहित गर्भाशयस्थ प्रकृति, गर्भ काल मे माता के आहार विहार से उत्पन्न प्रकृति, महाभूत विकारो की प्रकृति इन चार प्रकृतियो का विशेष सम्बन्ध रहता है। इन्हो के भाव विशेषो से उपरोक्त दोष भेद वालो सात प्रकृतियें बनतो हैं।

उपरोक्त चतुर्विध प्रकृतियें जिस जिस दोष विशेष से या समस्थिति वाले दोषो से सयुक्त होतो हैं, उन दोषो से गर्भस्थ शरीर का सम्बन्ध होता है। इसीसे गर्भोत्पत्ति काल से ही गर्भ का दोष विशेष से सम्बन्धित उपरोक्त चतुर्विध भावो से पोषण होने के कारण

गर्भ का जो रूप बनता है वह उन-उन दोषो से अन्वित होने के कारण जन्म से मृत्युपर्यन्त उस प्रकृति का, उस गर्भ से सम्बन्ध बना रहता है। इसी से उपरोक्त सप्तविन्ध शारीरिक प्रकृतियो का निर्माण होता हैं।

ये प्रकृतियें ठीक भी हैं या नही ? इसका निर्णय प्रत्यक्ष द्वारा चाहे जब किया जा सकता है। वात प्रकृति वाले पुरुष के जो लक्षण निर्देश किए हैं वैसे व्यक्ति को वातवर्द्धक पदार्थों का सेवन कराइये तुरन्त ही वात प्रकोप से लक्षण अभिव्यक्त हो जायेंगे। इसी तरह पित्त श्लेष्मा व द्वन्दज, सन्निपातज प्रकृति वालो को देख लीजिए। दोप विशेप की प्रकृति वाला पुरुष जब भी स्वकीय प्रकृति के दोष को विवर्द्धित करने वाले आहार-विहार उपयोग में लावेगा, तभी उसका प्रकृतिभूत दोष विवर्द्धित हो अपने द्वारा होने वाले रोग विशेषो को जन्म देकर बल, वर्ण, सुख, आयु का विनाश करते हुए शरीर को पीडित करता है।

इस तरह प्रत्यक्ष दृष्टि में आने वाले शरीरो को जो जो विभिन्न प्रकृतियें हैं उनके जो जो कारण आप निर्धारित करेंगे, अन्वेषण करने पर उन कारणान्तरो के मूल में वात, पित्त श्लेष्मा का अनुबन्ध आप अवश्य पायेंगे। इसका विशेष कारण देखना हो तो चरक का विमान स्थान देखा जाय। उपरोक्त प्रकृति भेद से देह देश का ज्ञान रोग निश्चय करने मे कितना सहायी कारण है, यह इस विवेचन से ज्ञात हो ही जाता है।

बल :—

शरीर से बाहर की आक्रामक शक्ति का परिहार करने वाली शारीरिक मानसिक सामर्थ्य का नाम बल है। अपने से सम्पन्न होने वाले कामो मे श्रम की प्रतीति न होना यह "बल" सम्पद् का मुख्य लक्षण है।

शरीर व्यापार को ठीक सम्पन्न करने के लिए शरीर, इन्द्रिय, धात्वादि की यथावत् सामर्थ्य, कर्मेन्द्रिय की बिना आलस्य कर्म प्रवृत्ति रसादि शुक्रान्त धातुओ की पुष्टि का निमित्त इसी को आयुर्वेद मे बल कहते हैं जैसा कि निर्दिष्ट किया गया है—

'चेष्टासु पाट व यत्तु बल तदभि धीयते'

अपर शब्दो मे कहें तो ऐसे कह सकते हैं कि दोषो की साम्यावस्था के कारण शरीर की स्वाभाविक शक्ति जो कि शरीर के सम्पूर्ण भावो की सचालक शक्ति है 'बल' नाम से कही जा सकती है।

यह बल सहज, कालज युक्तिकृत ऐसे तीन तरह का हो सकता है। शरीर सम्पत् व मानसिक सम्पत् के कारण जो स्वाभाविक शरीर व मन की शक्ति है वह सहज बल है। इस स्वाभाविक बल सम्पद के सहायक हेतु ये हैं—बलशाली देश में जन्म, बलवान माता-पिता से जन्म, बलवान काल मे बलवान शुक्र-शोणित सयोग, हिताहार-विहार से गर्भ-पोषण,

प्राक्तन प्रारब्ध कर्म व भौतिक संयोग से सबल सत्व सम्पद इन सहायीकरणो से मनुष्य स्वभावतः ही 'बलशाली' उत्पन्न होता है ।

कालज बल वह है जो ऋतु विशेष के कारण होता है । तथा आयु भेद से जैसे युवा काल मे बल विशेष होता है वह भी कालज है ।

युक्तिकृत बल वह है जो आहार-विहार की विशेष प्रक्रिया से पैदा किया जाय । सात्म्य और हर्ष इसके सहायी कारण हैं । अच्छे खान-पान, पथ्य पदार्थ, व्यायामादि कर्म, मनोविनोद के उचित साधनो द्वारा यह युक्ति कृत बल पैदा किया जा सकता है ।

शरीर मन की बलाबल स्थिति से रोगकर वैद्य को भ्रमात्मक ज्ञान पैदा हो जाता है । जैसे एक व्यक्ति सहज बलशाली है । उसके शारीरिक, मानसिक उभय बल पूर्ण हैं । ऐसा व्यक्ति रोग से पीडित होने पर रोग को बर्दाश्त करने मे अधिक सक्षम रहता है । वह रोग के तीव्र आघात को सहन कर लेता है । इससे बिना ठीक परीक्षण किए उसकी चिकित्सा करने मे यह समझ लिया कि रोग साधारण है तो वहा चिकित्सा क्रम का उपयोग अनुपादेय ढग का होगा ।

इसी तरह अबल शरीर मन वाला रोगी साधारण से रोग से इतना बेचैन हो जाता है कि उसकी ऊपरी स्थिति को देख कर यह मालूम देने लगता है कि रोगी अत्यन्त भयकर व्याधि से पीडित है । इसमे रोग को अत्यन्त बलशाली समझ चिकित्सा तीव्र की जाय तो व्यापद विशेष की उत्पत्ति होना अनिवार्य है । अत रोग व चिकित्सा निर्णय मे बलाबल परीक्षण भी आवश्यक है ।

काल —

काल के भी सवत्सर व आतुर, काल-भेद से दो भेद किये गए हैं । सवत्सर काल के दक्षिणायन, उत्तरायण—विसर्ग, आदान भेद से दो भेद—शीत, उष्ण, वर्षा से तीन भेद—वसत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त; शिशिर ऋतु भेद से छः, फाल्गुन, चैत्रादि मास भेद से बारह, पक्ष भेद से चौबीस, सप्ताह, दिन, प्रहर, घटिका, मुहूर्त्त, पलादि भेद से बहुत भेद किए जा सकते हैं । पल से वर्षान्त तक के काल का उपयोग व्याधि निश्चय करने मे हेतु है । काल, अर्थ, कर्म रूप त्रिविध रोग कारणो मे काल ही प्रधान माना गया है । कारण असात्म्य इन्द्रियार्थ सयोग, प्रज्ञापराध के हीन मिथ्याति योग से होने वाले रोग व्यापन्न ऋतु सयोग से और भी बलवान बन जाते हैं । जैसा कि शास्त्रो मे काल को सबसे बलवान व अपरिहार्य हेतु कहा गया है :

वाताज्जलं जलाद्देश देशात् काल स्वभावतः ।
विद्याद्दुष्परिहार्यत्वाद्गरीयस्तरमर्थवित् ॥१॥—चरक विमान, अध्याय ३

जनपद ध्वंस के हेतु चतुष्टय मे सबसे बलवान काल को घोषित किया गया है। ऋतु विपर्यय रूप काल के अयोगादि से ही रोग हो, यह बात नही। अपितु काल का समयोग होते हुए भी अर्थात् शीतोष्ण वर्षा के अपनी-अपनी ऋतुओ मे उचित रूप से होते हुए भी अपरिरक्षण से तथा ऋतुचर्या मे विहित आहार-विहारादि का व्यत्यय करने से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थ, कर्म के समयोग से रोग कभी नही होता। इसीलिए धन्वन्तरि भगवान ने कालजन्य रोगो के दो विभाग किए हैं। १—व्यापन्न ऋतुकृत। २—अव्यापन्न ऋतुकृत।

व्यापन्न ऋतुकृत का अर्थ है—अपने ऋतु काल मे अपने धर्म का उचित रूप मे व्याप्त न होना। जैसे—वर्षा मे वर्षा का उचित रूप मे न होना। शीत मे शीत का यथावत् न पडना। ग्रीष्म मे गर्मी का यथावत् प्रादुर्भाव न होना। यह सब व्यापन्न ऋतु—ऋतुविपर्यय का रूप है। इसके कारण अनेको व्याधिया ऐसी होती हैं जिनका प्रभाव उस भू-भाग के समग्र क्षेत्र पर पडता है जितने भू-भाग मे ऋतु का व्यत्यास होता है।

अव्यापन्न ऋतुकृत का अभिप्राय है—समयोग ऋतु से। इसका एक उदाहरण ऊपर दे ही आये हैं। उन परिरक्षण व ऋत्वनुरूप आहार-विहार का अभाव। दूसरा उदाहरण इसका चयादि स्थिति है। ऋतु स्वभाव से अपनी-अपनी ऋतुओ मे वातादि दोषो का चय-प्रकोप प्रशम होता ही है। यह भी अव्यापन्न ऋतुकृत ही है। जैसा कि निर्देश किया है :

चय प्रकोपोपशमा, वायोर्ग्रीष्मादिषुत्रिषु।
वर्षादिषु च पित्तस्य, श्लेष्मणः शिशिरादि षु॥

उपरोक्त वाक्य से दोषो के चय प्रकोप काल से दोषो के सचय व प्रकोप की अवस्था का ज्ञान तथा तदुत्पन्न व्याधि विशेष का ज्ञान यथावत् रूप से हो जाता है। ऋतु ही नही, आयु, दिन, रात व भोजन के काल मे भी दोषो के चय प्रकोप प्रशम का सम्बन्ध है।

हमारा सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन काल से सर्वदा सम्बन्धित रहता है। अर्थ, कर्म का सम्बन्ध शरीर से सर्वदा रहे, यह नियम नही। पर काल के विषय मे ऐसा नही कहा जा सकता। काल का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। जीवन मे कोई क्षण ऐसा नही आता जब कि हम काल से छुटकारा पा सकें। जब काल का इस तरह शरीर से अटूट सम्बन्ध है तब रोग निर्धारण मे इसकी कितनी आवश्यकता है इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

रोग निर्धारण की तरह औषध निर्धारण मे भी काल की उतनी ही उपादेयता है। औषध का भी सम्बन्ध उत्पत्ति से उपयोग तक काल से होता है। औषध मे सवत्सर काल व आतुर काल, दोनो की आवश्यकता होती है। औषध की उत्पत्ति, परिपाक, ग्रहण तथा उपयोग ये सब काल ही के आश्रित हैं। चिकित्सा तो काल के बिना सफल होती ही नही,

प्राकृतन प्रारब्ध कर्म व भौतिक संयोग से सबल सत्व सम्पद इन सहायीकरणो से मनुष्य स्वभावतः ही 'बलशाली' उत्पन्न होता है ।

कालज बल वह है जो ऋतु विशेष के कारण होता है । तथा आयु भेद से जैसे युवा काल मे बल विशेष होता है वह भी कालज है ।

युक्तिकृत बल वह है जो आहार-विहार की विशेष प्रक्रिया से पैदा किया जाय । सात्म्य और हर्ष इसके सहायी कारण हैं । अच्छे खान-पान, पथ्य पदार्थ, व्यायामादि कर्म, मनोविनोद के उचित साधनो द्वारा यह युक्ति कृत बल पैदा किया जा सकता है ।

शरीर मन की बलाबल स्थिति से रोगकर वैद्य को भ्रमात्मक ज्ञान पैदा हो जाता है। जैसे एक व्यक्ति सहज बलशाली है। उसके शारीरिक, मानसिक उभय बल पूर्ण हैं । ऐसा व्यक्ति रोग से पीडित होने पर रोग को बर्दाश्त करने मे अधिक सक्षम रहता है । वह रोग के तीव्र आघात को सहन कर लेता है । इससे बिना ठीक परीक्षण किए उसकी चिकित्सा करने मे यह समझ लिया कि रोग साधारण है तो वहा चिकित्सा क्रम का उपयोग अनुपादेय ढग का होगा ।

इसी तरह अबल शरीर मन वाला रोगी साधारण से रोग से इतना बेचैन हो जाता है कि उसकी ऊपरी स्थिति को देख कर यह मालूम देने लगता है कि रोगी अत्यन्त भयकर व्याधि से पीडित है । इसमे रोग को अत्यन्त बलशाली समझ चिकित्सा तीव्र की जाय तो व्यापद विशेष की उत्पत्ति होना अनिवार्य है । अत. रोग व चिकित्सा निर्णय मे बलाबल परीक्षरण भी आवश्यक है ।

काल —

काल के भी सवत्सर व आतुर, काल-भेद से दो भेद किये गए हैं । सवत्सर काल के दक्षिणायन, उत्तरायण–विसर्ग, आदान भेद से दो भेद—शीत, उष्ण; वर्षा से तीन भेद—वसत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त; शिशिर ऋतु भेद से छः, फाल्गुन, चैत्रादि मास भेद से बारह, पक्ष भेद से चौबीस, सप्ताह, दिन, प्रहर, घटिका, मुहूर्त्त, पलादि भेद से बहुत भेद किए जा सकते हैं । पल से वर्षान्त तक के काल का उपयोग व्याधि निश्चय करने मे हेतु है । काल, अर्थ, कर्म रूप त्रिविध रोग कारणो मे काल ही प्रधान माना गया है । कारण असात्म्य इन्द्रियार्थ सयोग, प्रज्ञापराध के हीन मिथ्याति योग से होने वाले रोग व्यापन्न ऋतु सयोग से और भी बलवान बन जाते हैं । जैसा कि शास्त्रो मे काल को सबसे बलवान व अपरिहार्य हेतु कहा गया है :

वाताज्जल जलाद्देश देशात् काल स्वभावतः ।
विद्याद्दुष्परिहार्यत्वाग्गरीयस्तरमर्थवित् ॥१॥—चरक विमान, अध्याय ३

जनपद ध्वस के हेतु चतुष्टय मे सबसे बलवान काल को घोषित किया गया है। ऋतु विपर्यय रूप काल के अयोगादि से ही रोग हो, यह बात नही। अपितु काल का समयोग होते हुए भी अर्थात् शीतोष्ण वर्षा के अपनी-अपनी ऋतुओ मे उचित रूप से होते हुए भी अपरिरक्षण से तथा ऋतुचर्या मे विहित आहार-विहारादि का व्यत्यय करने से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थ, कर्म के समयोग से रोग कभी नही होता। इसीलिए धन्वन्तरि भगवान ने कालजन्य रोगो के दो विभाग किए हैं। १—व्यापन्न ऋतुकृत। २—अव्यापन्न ऋतुकृत।

व्यापन्न ऋतुकृत का अर्थ है—अपने ऋतु काल मे अपने धर्म का उचित रूप मे व्याप्त न होना। जैसे—वर्षा मे वर्षा का उचित रूप मे न होना। शीत मे शीत का यथावत् न पडना। ग्रीष्म मे गर्मी का यथावत् प्रादुर्भाव न होना। यह सब व्यापन्न ऋतु—ऋतुविपर्यय का रूप है। इसके कारण अनेको व्याधिया ऐसी होती हैं जिनका प्रभाव उस भू-भाग के समग्र क्षेत्र पर पडता है जितने भू-भाग में ऋतु का व्यत्यास होता है।

अव्यापन्न ऋतुकृत का अभिप्राय है—समयोग ऋतु से। इसका एक उदाहरण ऊपर दे ही आये हैं। उन परिरक्षण व ऋत्वनुरूप आहार-विहार का अभाव। दूसरा उदाहरण इसका चयादि स्थिति है। ऋतु स्वभाव से अपनी-अपनी ऋतुओ में वातादि दोषो का चय-प्रकोप प्रशम होता ही है। यह भी अव्यापन्न ऋतुकृत ही है। जैसा कि निर्देश किया है :

चय प्रकोपोपशमा, वायोर्ग्रीष्मादिपुत्रिपु।
वर्षादिषु च पित्तस्य, श्लेष्मणः शिशिरादि पु॥

उपरोक्त वाक्य से दोषो के चय प्रकोप काल से दोषो के सचय व प्रकोप की अवस्था का ज्ञान तथा तद्‌द्भव व्याधि विशेष का ज्ञान यथावत् रूप से हो जाता है। ऋतु ही नही, आयु, दिन, रात व भोजन के काल मे भी दोषो के चय प्रकोप प्रशम का सम्बन्ध है।

हमारा सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन काल से सर्वदा सम्बन्धित रहता है। अर्थ, कर्म का सम्बन्ध शरीर से सर्वदा रहे, यह नियम नही। पर काल के विषय मे ऐसा नही कहा जा सकता। काल का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। जीवन मे कोई क्षण ऐसा नही आता जब कि हम काल से छुटकारा पा सकें। जब काल का इस तरह शरीर से अटूट सम्बन्ध है तब रोग निर्धारण मे इसकी कितनी आवश्यकता है इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

रोग निर्धारण की तरह औषध निर्धारण मे भी काल की उतनी ही उपादेयता है। औषध का भी सम्बन्ध उत्पत्ति से उपयोग तक काल से होता है। औषध मे सवत्सर काल व आतुर काल, दोनो की आवश्यकता होती हैं। औषध की उत्पत्ति, परिपाक, ग्रहण तथा उपयोग ये सब काल ही के आश्रित हैं। चिकित्सा तो काल के बिना सफल होती ही नही,

ऐसा कहा जाय तो असगत नही। कारण आतुर के आवस्थिक काल से ही चिकित्सा का निर्णय किया जाता है।

रोगो की विभिन्न दशायें हैं जिनका कि पीछे विवेचन कर आये हैं। उन चयादि अवस्था मे जो कुछ उपचार किया जाय वह उस अवस्था काल की सहायता से ही किया जा सकता है।

ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त, प्रतिश्यायादि रोगो मे दोषो की आम अवस्था, पच्यमान अवस्था, परिपक्व अवस्था व जीर्णावस्था ऐसे कई स्थितियें बदलती हैं। साध्य, कष्ट-साध्य, असाध्यादि अवस्थायें भी होती हैं। इन सब अवस्थाओ मे कालानुसार भेषजोपचार करने ही से सिद्धि उपलब्ध होती है। अन्यथा चिकित्सा का कोई फल नही होता।

लघन, पाचन, शोधन, शमनादि भेषज का उपयोग कालक्रम से ही किया जा सकता है। स्वेद, स्नेह, वमन, विरेचन, निरूह, अनुवासन, उत्तर, वस्ति, नस्य, धूम, अजनादि उपक्रम भी कालानुबन्धी ही हैं। चिकित्सा क्षेत्र मे काल का इतना व्यापक अन्वय है जिसका प्रतिपादन शास्त्रो मे स्थान स्थान पर किया गया है। सक्षेप में – सवत्सर, आतुर, आवस्थिक, त्रिविध काल, रोग निर्धारण व औषध निर्धारण करने मे परम सहायक है। जैसा कि ऊपर के सक्षिप्त दिग्दर्शन से अवगत होता है।

अग्नि:—

भौमादि भेद से तेज के दार्शनिक भेद किए गए हैं। पर यहा जिस अग्नि का सम्बन्ध है वह औदर्याग्नि है। चतुर्विध आहार शरीर मे पहुँच कर परिणमन होता हुआ- जिसके द्वारा शरीर के रक्त मे बदलता है वह "अनल" नाम से निर्दिष्ट है। प्रकृति भेद से या परिणमन की स्थिति भेद से अग्नि के भी मन्द, तीक्ष्ण, विषम, सम चार भेद किए गए हैं।

सम को छोड शेष सब अग्नियें रोगोत्पत्ति मे सहायक होती हैं। शरीरस्थ दोषो के वैषम्य मे प्रधान हाथ मिथ्या आहार विहार का, आहार के परिणमन का एकान्तत अग्नि से है। शरीर के भीतर पहुँची हुई वस्तुयें यथावत् शरीर के अनुरूप जब तक न बने तब तक वे स्वास्थ्यकर नही हो सकती। पथ्य भोजन की अग्नि के उचित सयोग बिना सम्यग् परिणाम को प्राप्त नही होता। अत मन्द, तीक्ष्ण, विषम अग्नि तो स्वभावत· आहार का सम्यग् परिणमन न करने के कारण दोषो के सचय प्रकोप की सहायक है ही। सम भी यदि उसका सर्वदा सरक्षण न रखा जाय तो रोगोत्पत्ति करने वाले कारणो का सहायक हो जाता है। इसी से आचार्यों ने अग्नि की रक्षा का विशेष रूप से उपदेश दिया है।

अन्नस्य पक्ता सर्वेषा पक्तॄणामधिपो मत ।
तन्मूलास्तेहितद्वृद्धि क्षय वृद्धि-क्षयात्मका ॥

तस्मातविधिवद्युक्तै रन्नपानेन्धनैर्हित ।
पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ।।—चरक चिकित्सा

शरीर मे अन्न से रस और रस से रक्तादि धातुओ का परिणमन होता है। वह सब अग्न्याश्रित ही है । इसलिए आचार्य कहते हैं कि शरीर मे जितनी भी अग्नियें परिणमन का कार्य करती है, (धात्वग्नि, पचभौतिक अग्नि) उनमे अन्न का परिणमन करने वाली अग्नि ही प्रमुख है। कारण, शरीरस्थ शेष अग्नियें उसके आश्रय से बढती घटती हैं। इसलिए ऋतुचर्या, दिनचर्यादि विधानपूर्वक उचित समय मे सात्म्य व पथ्य अन्न पान से जाठराग्नि की सर्वदा रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि आयु और बल (शरीर की स्वाभाविक शक्ति) अग्नि के उचित कार्य पर ही निर्भर है।

सामान्यतः यह कहा जाय कि अधिकाश रोग अग्नि की गडबडी के कारण आहार का सम्यक् परिपाक न होने ही से होते हैं तो असगत नही। वैसे ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अजीर्ण, अग्निमान्द्यादि रोग तो एकान्तत. अग्नि की अनवस्था से ही होते हैं। अग्नि के बलाबल से ही रोगी के आहारादि परिणमन का अनुमान किया जा सकता है। अग्नि की स्थिति से ही रोग मे आमादि अनुबन्धी सहायको का निश्चय किया जा सकता है। औषध पथ्यादि की कल्पना भी पाचन शक्ति के अनुमान से ही करनी पडती है। अत रोग निर्धारण मे अग्नि का बलाबल भी परीक्षण मे आवश्यक है। प्रकृति का निर्देश ऊपर आ ही गया है। सत्व, सात्म्याहार, आयु— मनोबल, पथ्याहार आयु भी रोगनिर्धारण मे उपरोक्त दूष्य, देश, बल, कालादि की तरह सहायक हेतु है। बर्दाश्त करने की शक्ति मनोबल पर निर्भर है। कष्टसहिष्णुता जिस व्यक्ति मे अधिक होती है उसका मनोबल बलिष्ठ होता ही है। जो मनुष्य थोडोसी परेशानी में घबडा उठते हैं, वे अवश्य ही न्यून मानसिक शक्ति वाले होते हैं। रोग की अवस्था को उचित अनुचित रूप मे व्यक्त करने मे मनोबल का विशेष हाथ रहता है। वैद्य यदि मनोबल को ध्यान मे न रक्खे तो रोग की वस्तुस्थिति जानने मे धोखा खाया जा सकता है। अत रोग निर्धारण मे मनोबल का परीक्षण भी अवश्य करना चाहिए।

आहार जीवन का प्रधान आश्रय है ही। स्थूल शरीर के पोषण का सम्पूर्ण सम्बन्ध आहार से है। आहार का विवेचन आयुर्वेद मे बहुत विस्तार से किया है। उसका पूरा विवरण यहाँ देना शक्य नही। ऋतुभेद से, प्रकृतिक भेद से, अग्नि भेद से, आयु भेद से, आहार की विभिन्न उपयोगितायें हैं। आहार विधि के—प्रकृति, करण, सयोग, राशि, देश, कालादि आठ आयतनों का भी निर्देश है। स्वस्थावस्था मे, आतुरावस्था मे भी आहार की विभिन्न कल्पना का निर्देश है ही। प्रति रोग मे आहार विशेष के कारण दोषादि प्रकोप मे जो हेतुता होती है उसका दिग्दर्शन निदान ग्रथो मे सर्वत्र है ही। अतः रोगनिर्धारण मे आहार से उत्पन्न वैषम्य का ज्ञान करना ही पड़ता है।

ऐसा कहा जाय तो असगत नही। कारण आतुर के आवस्थिक काल से ही चिकित्सा का निर्णय किया जाता है।

रोगो की विभिन्न दशायें हैं जिनका कि पीछे विवेचन कर आये हैं। उन चयादि अवस्था मे जो कुछ उपचार किया जाय वह उस अवस्था काल की सहायता से ही किया जा सकता है।

ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त, प्रतिश्यायादि रोगो मे दोषो की आम अवस्था, पच्यमान अवस्था, परिपक्व अवस्था व जीर्णावस्था ऐसे कई स्थितिये बदलती हैं। साध्य, कष्ट-साध्य, असाध्यादि अवस्थायें भी होती हैं। इन सब अवस्थाओ मे कालानुसार भेषजोपचार करने ही से सिद्धि उपलब्ध होती है। अन्यथा चिकित्सा का कोई फल नही होता।

लघन, पाचन, शोधन, शमनादि भेषज का उपयोग कालक्रम से ही किया जा सकता है। स्वेद, स्नेह, वमन, विरेचन, निरूह, अनुवासन, उत्तर, वस्ति, नस्य, धूम, अजनादि उपक्रम भी कालानुबन्धी ही हैं। चिकित्सा क्षेत्र मे काल का इतना व्यापक अन्वय है जिसका प्रतिपादन शास्त्रो मे स्थान स्थान पर किया गया है। सक्षेप मे—सवत्सर, आतुर, आवस्थिक, त्रिविध काल, रोग निर्धारण व औषध निर्धारण करने मे परम सहायक है। जैसा कि ऊपर के सक्षिप्त दिग्दर्शन से अवगत होता है।

अग्निः—

भौमादि भेद से तेज के दार्शनिक भेद किए गए हैं। पर यहा जिस अग्नि का सम्बन्ध है वह औदर्याग्नि है। चतुर्विध आहार शरीर मे पहुँच कर परिणमन होता हुआ- जिसके द्वारा शरीर के रक्त मे बदलता है वह "अनल" नाम से निर्दिष्ट है। प्रकृति भेद से या परिणमन की स्थिति भेद से अग्नि के भी मन्द, तीक्ष्ण, विषम, सम चार भेद किए गए हैं।

सम को छोड शेष सब अग्नियें रोगोत्पत्ति मे सहायक होती हैं। शरीरस्थ दोषो के वैषम्य मे प्रधान हाथ मिथ्या आहार विहार का, आहार के परिणमन का एकान्तत अग्नि से है। शरीर के भीतर पहुँची हुई वस्तुयें यथावत् शरीर के अनुरूप जब तक न बने तब तक वे स्वास्थ्यकर नही हो सकती। पथ्य भोजन की अग्नि के उचित सयोग बिना सम्यग् परिणाम को प्राप्त नही होता। अत मन्द, तीक्ष्ण, विषम अग्नि तो स्वभावत· आहार का सम्यग् परिणमन न करने के कारण दोषो के सचय प्रकोप की सहायक है ही। सम भी यदि उसका सर्वदा सरक्षण न रखा जाय तो रोगोत्पत्ति करने वाले कारणो का सहायक हो जाता है। इसी से आचार्यों ने अग्नि की रक्षा का विशेष रूप से उपदेश दिया है।

अन्नस्य पक्ता सर्वेषा पक्तृणामधिपो मत ।
तन्मूलास्तेहितद्वृद्धि क्षय वृद्धि-क्षयात्मका· ॥

तस्मातविधिवद्युक्तै रन्नपानेन्धनैर्हित ।
पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ॥—चरक चिकित्सा

शरीर मे अन्न से रस और रस से रक्तादि धातुओ का परिणमन होता है। वह सब अग्न्याश्रित ही है । इसलिए आचार्य कहते हैं कि शरीर मे जितनी भी अग्नियें परिणमन का कार्य करती है, (धात्वग्नि, पचभौतिक अग्नि) उनमे अन्न का परिणमन करने वाली अग्नि ही प्रमुख है। कारण, शरीरस्थ शेष अग्नियें उसके आश्रय से बढती घटती है। इस-लिए ऋतुचर्या, दिनचर्यादि विधानपूर्वक उचित समय मे सात्म्य व पथ्य अन्न पान से जाठ-राग्नि की सर्वदा रक्षा करनी चाहिए। क्योकि आयु और बल (शरीर को स्वाभाविक शक्ति) अग्नि के उचित कार्य पर ही निर्भर है।

सामान्यतः यह कहा जाय कि अधिकाश रोग अग्नि की गडबडी के कारण आहार का सम्यक् परिपाक न होने ही से होते हैं तो असगत नही। वैसे ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अजीर्ण, अग्निमान्द्यादि रोग तो एकान्तत. अग्नि की अनवस्था से ही होते हैं। अग्नि के बलाबल से ही रोगी के आहारादि परिणमन का अनुमान किया जा सकता है। अग्नि की स्थिति से ही रोग मे आमादि अनुबन्धी सहायको का निश्चय किया जा सकता है। औषध पथ्यादि की कल्पना भी पाचन शक्ति के अनुमान से ही करनी पडती है। अत रोग निर्धा-रण मे अग्नि का बलाबल भी परीक्षण मे आवश्यक है। प्रकृति का निर्देश ऊपर आ ही गया है। सत्व, सात्म्याहार, आयु— मनोबल, पथ्याहार आयु भी रोगनिर्धारण मे उपरोक्त दूष्य, देश, बल, कालादि की तरह सहायक हेतु है। बर्दाश्त करने की शक्ति मनोबल पर निर्भर है। कष्टसहिष्णुता जिस व्यक्ति मे अधिक होती है उसका मनोबल बलिष्ठ होता ही है। जो मनुष्य थोडोसी परेशानी में घबडा उठते हैं, वे अवश्य ही न्यून मानसिक शक्ति वाले होते हैं। रोग की अवस्था को उचित अनुचित रूप मे व्यक्त करने मे मनोबल का विशेष हाथ रहता है। वैद्य यदि मनोबल को ध्यान मे न रक्खे तो रोग की वस्तुस्थिति जानने मे धोखा खाया जा सकता है। अत॰ रोग निर्धारण मे मनोबल का परीक्षण भी अवश्य करना चाहिए।

आहार जीवन का प्रधान आश्रय है ही। स्थूल शरीर के पोषण का सम्पूर्ण सम्बन्ध आहार से है। आहार का विवेचन आयुर्वेद मे बहुत विस्तार से किया है। उसका पूरा विवरण यहाँ देना शक्य नही। ऋतुभेद से, प्रकृतिक भेद से, अग्नि भेद से, आयु भेद से, आहार की विभिन्न उपयोगितायें हैं। आहार विधि के—प्रकृति, करण, सयोग, राशि, देश, कालादि आठ आयतनो का भी निर्देश है। स्वस्थावस्था मे, आतुरावस्था मे भी आहार की विभिन्न कल्पना का निर्देश है ही। प्रति रोग मे आहार विशेष के कारण दोषादि प्रकोप मे जो हेतुता होती है उसका दिग्दर्शन निदान ग्रथो मे सर्वत्र है ही। अतः रोगनिर्धारण मे आहार से उत्पन्न वैषम्य का ज्ञान करना ही पडता है।

आयु ज्ञान से भी रोग निश्चय मे सहायता मिलती है। शरीर सम्पद्, अग्नि, शरीर के बलाबल का आयु के साथ पर्याप्त सम्बन्ध है। रोग का बलाबल भी आयु के कारण मद अधिक हुआ करता है। कुछ विशेष ऐसे रोग भी हैं जिनका विशेषत. आयु से ही सम्बन्ध रहता है। इस तरह रोग निर्धारण मे दूष्य, काल, बल, देश, प्रकृति, अग्नि, सत्व, सात्म्याहार, आयु आदि सभी की उपादेयता है। इन सब का सम्यक अवधारण करने ही से रोग की सम्पूर्ण स्थिति का सम्यक् ज्ञान होना सभव है। जैसा कि आचार्य निर्देश करते हैं—

> दूष्य देश बल कालमनल प्रकृति वय ।
> सत्व सात्म्य तथाहाग्मवस्था च पृथग्विधा ॥
> सूक्ष्मसूक्ष्मा समोक्ष्यैषा दोषौषध निरुपणे ।
> यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित् ॥२॥

रोग परीक्षा की आयुर्वेदीय इस पद्धति का पूरा उपयोग किया जाय तो रोग तत्व निर्धारण मे बहुत अश तक सफलता प्राप्त हो जाती है।

(१) चिकित्सा के नियम व पद्धति—

चिकित्सा के नियमो का निर्देश करने से पहिले आयुर्वेद मे "चिकित्सा" किस का नाम है, यह समझ लेना ठीक है।

धातुवैषम्य के परिहार व धातु साम्य के सम्पादन के लिए जो भी उपाय व्यवहार मे लाये जाय सक्षेप मे उसी को चिकित्सा कहा जाता है।

> याभि क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातव सम। ।
> सा चिकित्सा विकाराणा कर्मतद्भिषजांमतम् ॥१॥ —च० सू०

धातुवैषम्य के परिहार के लिए बढे हुए धातुओ को कम करना, क्षीण हुए धातुओ को बढाना, काठिन्य को प्राप्त हुए धातुओ को मृदु करना, कोमलता मे परिवर्तित हुओ को कठोर करना सघात रूप से एकत्रित हुओ को विलीन करना, विलीन हुओ को सघात की सूरत मे लाना, बहते हुओ को स्तभित करना, स्तब्ध स्थिति वालो को स्वेदादि से तरल करना इत्यादि अनेक प्रकार के क्रियाकलाप करने पडते हैं। यह सब किया जाने वाला क्रिया कलाप शरीर द्रव्य गुणो के वृद्धि क्षयरूप मे तत्समान द्रव्य गुणो के उपयोग द्वारा पूरा किया जाता है।

उपयोग मे लाये गये द्रव्य शरीरस्थ जाठराग्नि द्वारा जब तक शरीरानुरूप भावो मे परिवर्तित न हो तब तक वे शरीर मे रोग के कारण क्षीण विवर्धित हुये भावो को वृद्धि क्षय द्वारा समस्थिति मे लाने का कार्य सम्पन्न नही कर सकते। किसी भी सेवन किये गये द्रव्य का शरीरानुरूप सूरत मे बदलना जाठराग्नि के व्यापार पर आश्रित है। आतुरावस्था मे प्राय

ही रोग के कारण जाठराग्नि की स्थिति मे हेर फेर हो ही जाता है। जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है।

अत चिकित्सा के समय रोगनिवारण के लिए उपरोक्त रूप का जो क्रियाकलाप किया जाता है उसके प्रयोग किये जाने वाले द्रव्यो मे यह ध्यान रखना होगा कि वे जाठराग्नि को उत्तेजित करने मे सहायक हो। जाठराग्नि से ही धातुओ की ऊष्मा को उत्तेजना मिलती है। धातुसाम्यार्थ प्रयुक्त चिकित्सा-जाठराग्नि को सहाय प्रदान कर प्रयुक्त द्रव्यो को सम्यक् शरीरानुरूप भावो मे परिणमन करने मे सहायक होती है। धातुओ की ऊष्मा को उत्तेजित कर धातु निर्माण के कार्य को सपादन करती है। स्रोतो की शुद्धि, घूमना, दौडना, तैरना आदि बलदायक विहारो का उपयोग, रसायन प्रयोगो का सेवन, रोग उत्पन्न करने वाले हेतुओ का परित्याग आदि सब चिकित्सा ही के अनेक अग हैं।

चिकित्सा के इस रूप का प्रयोग करने पर, हेतु विशेष से उत्पन्न रोग की धातुवैषम्य अवस्था बदल कर साम्यावस्था में आ जाती है। निदान परित्याग से धातुवैषम्य को मिलाने वाली सहायता रुक जाती है। मनुष्य शीघ्र आरोग्यता प्राप्त कर लेता है। जैसा चरक निर्देश करते हैं—

त्यागाद् विषम हेतूना समानाचोपसेवनात्।
विषमानुवध्नन्ति जायन्ते धातव' समा ॥१॥

धातुवैषम्य पैदा करने वाले हेतुओ के त्याग से और समास्यति उत्पन्न करने वाले हेतुओ के सेवन से धातुए समस्थिति मे आ जाती है।

आयुर्वेद चिकित्मा पद्धति का सिद्धान्त केवल रोग निवारण करने का नही है। अपितु उसका ध्येय है रोग को जहाँ तक हो, होने ही न देना। इसीलिए शास्त्रकारो ने चिकित्सा के बारे मे स्थान स्थान पर इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि आयुर्वेद के सिद्धान्त रोग और रोग के परिहार के ज्ञान के लिए ही नही निर्मित हुए हैं प्रत्युत् यह बताने को कि मनुष्य हो सके जहाँ तक रोगाक्रान्त हो ही नही जैसा कि स्पष्ट प्रवचन है —

'कथ शरीरे धातू नाँ वैषम्य भवेदिति ॥
सामानाँ चानुबन्ध स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया ॥१॥

शरीर मे धातुवैषम्य किस तरह नही हो सकता ? धातुसाम्य की स्थिति का अनुबन्ध किन उपायो से हो ? चिकित्सा के उपरोक्त दो ही मुख्य उद्देश्य हैं। इन हेतुओ की पूर्ति के लिए, चिकित्सा कैसे सर्वांगपूर्ण हो ? तदर्थ पञ्चविध व्यवस्था का निर्देश किया गया है। वह पञ्चविध व्यवस्था इस रूप में है –(१) भेषज व्यवस्था। (२) आहार व्यवस्था। (३) विहार व्यवस्था। (४) देश व्यवस्था। (५) काल व्यवस्था।

जब तक चिकित्सा के इन पचागो का ठीक ठीक समन्वय नही होगा तब तक चिकित्सा पूर्ण फलवती कभी नही हो सकेगी। आयुर्वेद में दवा ही का नाम भेषज नही है। धातु-साम्य की परिस्थिति को उत्पन्न करने वाले सभी उपाय "औषध" शब्द से कहे जाते हैं। अत आहार, विहार, देश, काल, ये सभी औषध हैं। पर यह ध्यान में रखने की बात है कि ये चारो सभी समय औषध-रूप मे काम करते हो, यह बात नही है। जब इनका उपयोग व प्रभाव हेतु व्याधि विपरीत व हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी परिणाम पैदा करने में सफल हो तभी ये भेषज का द्रवाच्य हैं।

निष्कर्ष यह होता है कि सभी भेषज में हेतु व्याधि विपरीत व हेतु व्याधि विपरीतार्थकारीपन अवश्य होना चाहिए। हम इन पचविध भेषज व्यवस्था का हेतु व्याधि विपरीत व हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी ज्ञान तभी प्राप्त कर सकते हैं, जबकि हमे रोग हेतुओ का, रोग लक्षणो का, भेषज व्यवस्था का और साधर्म्य वैधर्म्य का ज्ञान अच्छी तरह हो।

रोगो को उत्पन्न करने वाले वाह्य आभ्यन्तर अनन्त हेतु हैं। रोग रोग के अवस्था भेद से अनेक लक्षण हैं रोगो की सख्या के विषय मे कहा ही क्या जाय। वर्त्तमान तक जितने रोग अभिव्यक्त हैं भविष्य में न मालूम और किन किन रोगो की अभिव्यक्ति हो। भेषज शब्द में ससार के सभी दृश्यमान पदार्थो का समावेश है इन अनन्त रूप, रस, गुणभेद वाली अशेष भेषजो का सामान्य ज्ञान ही कठिन है। फिर इन सब के साधर्म्य का ज्ञान होना सहज कार्य नही।

हेतु, लक्षण, औषध इन तीनो आयुर्वेद स्कन्धो का उचित ज्ञान कैसे हो इसी के लिए महर्षियो ने अनन्त ऊहा-पोह के पश्चात् 'त्रिदोष-विज्ञान' का निश्चय किया। जितने भी रोग के हेतु हैं, जिनको हम चाहे जिस नाम से सम्बोधिन करे, शरीर में पहुचने के बाद वे शरीरस्थ चाहे जिस धातु, आशय, स्रोतादि को विकृत करें उस विकृति के मूल में त्रिदोष का सम्बन्ध अवश्य रहता है। इसी तरह चाहे जैसा रोग पैदा हो, उनके अनन्त विभिन्न लक्षणो का समन्वय वातादिविकृत दोषो के लक्षणो के साथ अवश्य रहता है। अर्थात् रोग के जो भी लक्षण अभिव्यक्त होगे उनमें कुछ लक्षण सभी बीमारियो में आवश्यक रूप से उपलब्ध होगे जो कि वात पित्त श्लेष्मा के विकृत लक्षण होगे।

यही बात औषध व्यवस्था को समझिये। औषध भी जो कि विभिन्न अवस्था से विभाजित है शरीर मे पहुँचने पर या शरीर से सम्बन्धित होने पर उससे जो भी परिणाम होगा उसका सम्बन्ध भी शरीरस्थ वात, पित्त, श्लेष्मा से अवश्य होगा। अत उपरोक्त तीनो स्कन्धो के सम्यक् ज्ञान के लिए हमें वात पित्त, श्लेष्मा के साधर्म्य वैधर्म्य ज्ञान का ही प्रधान रूप से यत्न करना चाहिए।

विशेष —

रोग के हेतुओ मे अधिकांश जो खान पान की चीजें हैं, वे भौतिक सघातजन्य हैं।

कीटाणु आदि भी भौतिक सघातजन्य हैं। विहार, यह शरीर का व्यापार विशेष है। दोनो का परिणाम जिस शरीर पर होता है वह भी भूत सघात से ही बना हुआ है।

मतलब जो चीजें शरीर के बनाने वाली हैं उन्ही का उपयोग विविध रूप मे हमें आहार-विहार मे करना पडता है। इन उपयोग मे लाई जाने वाली वस्तुओ को उचित तरीके से व्यवहार मे न लाने ही से शरीर रोगी होता है। शरीर के रोगी होने मे भी उन्हीं भूत सघातो की कमी वेशी होती है जिनसे शरीर बना है या जिनसे शरीर पोषित होता है। शरीर के रोगी होने पर जो चिन्ह अभिव्यक्त होते हैं उनमे सहायी हेतुओ के लक्षणो को छोड़ कुछ लक्षण ऐसे अवश्य होते हैं जिनका सम्बन्ध उस भूत सघात से रहता है जिससे कि शरीर का निर्माण हुआ है।

रोग-निवारण के लिए जो चिकित्सा करनी है वह उस भूत सघात की न्यूनाधिकता की निवृत्ति के करने ही का काम करती है। चिकित्सा मे भेषज आहार विहार और देश सब भूत सघात से ही बने हुए हैं। काल से भी भूत सघातो का सम्बन्ध है। चिकित्सार्थं जिनका उपयोग किया जायगा वे भी भूत सघातजन्य हैं। उनका परिणाम भी भूत सघात की ही अनवस्था को निवृत करने का है। इस तरह सर्वत्र भूत सघात का सम्बन्ध ऐक सा है। इसी भूत सघात का नाम आयुर्वेद मे वात, पित्त, श्लेष्मा है। अतः इसके साधर्म्य वैधर्म्य ज्ञान से तीनो स्कन्धो के व साधर्म्य वैधर्म्य ज्ञान की पूर्त्ति हो जाती है।

त्रिदोष साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान होने पर उसी के अनुसार औषध का प्रयोग करने से भेषज प्राय व्याधिप्रशमक होती है। यह ध्यान मे रखने की बात है कि औषध का भी उन्ही तत्वो के आधार से साधर्म्य वैधर्म्य, विवेचन करना आवश्यक है। समझ लीजिए, शरीर मे गुरु स्निग्ध मधुरादि सेवन व दोष से श्लेष्मा (पृथ्वी अपभूत) की वृद्धि हुई। श्लेष्मा से अभिप्राय है—पार्थिव अपभूत सघात का। इस वृद्धि के कारण शरीर मे भारीपन, अरुचि, अग्नि की परिणमन शक्ति की न्यूनता, आमरस का सचय, अनुत्साहादि रूप रोग अभिव्यक्त हुआ। इसके निवारण के लिए औषध का निश्चय करने मे यह ध्यान रखने की जरूरत है कि विवर्द्धित भूत सघात को जो न्यून करे, साथ ही शेष भूत सघातो पर बढाने घटाने का प्रभाव पैदा न करे उस रूप का आहार-विहार भेषज यहा उपादेय है। अभिप्राय यह हुआ कि हमें हेतु व्याधि विपरीत या विपरीतार्थकारी भेषज यहा उपादेय हैं।

हेतु कौन, मधुर-गुरु स्निग्धादि, व्याधि क्या, अरुचि, आमरस का सचय, अनुत्साह, शरीर का गुरुत्वादि, विपरीत व विपरीतार्थकारी भेषज कौन ? लघन, तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, कटुकादि, तात्पर्य क्या हुआ ? रोग हेतु व व्याधि हेतुओ की वृद्धि करने वाले द्रव्य गुण से लघु रूक्ष, कटु श्लेष्मघ्न द्रव्य गुण वैधर्म्य रखने वाला है। श्लेष्मोत्पादक व श्लेष्मा विकृत करने वाला द्रव्य गुण साधर्म्य कहलायेगा।

उक्त रूप से भेषज प्रयोग करने पर भी परिणाम अनुकूल न हो तो पुनः स्कन्धत्रय के साधर्म्य-वैधर्म्य का विशेष तत्परता से अनुसन्धान करें। हेतु स्कन्ध के साधर्म्य-वैधर्म्य विश्लेषण के समय वाह्य शीतोष्णादि भाव विशेषो का दोष दूष्य स्त्रोत आशय आदि आभ्यन्तरिक विकृतियो का, रोग मे सहायक होने वाले व शरीरावयव के व्यापार का भी ध्यान रखना चाहिए।

हेतु स्कन्ध के विभिन्न-विभिन्न वर्ग के हेतुओ मे से किसी भी हेतु का विघात करने वाला हेतु है, उसी का नाम 'विपरीत' है। जो हेतु समान गुणधर्मी होते हुए परिणाम मे विघातक फल पैदा करे वह हेतु 'विपरीतार्थकारा' है।

व्याधिस्कन्ध मे चय, प्रकोप, प्रसर, स्थान, सश्रयादि, अवस्था विशेष, अवस्थानुसार अभिव्यक्त हुए रोग के लक्षण, उपद्रवादिको का ग्रहण समझना चाहिए। इनमे से किसी का भी जो विघातक हो वह उपक्रम 'व्याधिविपरीत' कहलायेगा। विपरीतार्थकारी का अभिप्राय यहा भी उपराक्त रूप मे समझना चाहिए।

हेतु व्याधि के विपरीत द्रव्यो मे से कोई द्रव्य हेतु के एक ही भाव का विघायक है। कोई दो का, कोई अशेष हेतुओ का इसी तरह व्याधि विपरीत द्रव्यो मे भी कोई व्याधि की, किसी अवस्था का, कोई व्याधि को, किसी अन्य अवस्था का व कोई अशेष व्याधि का व्याघातक हो सकता है। इस तरह अक्षास भावो की कल्पना से औषध स्कन्धो की अनन्त कल्पनायें हो सकती है। अत इनके उपयोग के समय हमे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि दोष प्रकोप के हेतु अनन्त हैं। प्रकुपित दोषो के तारतम्य से योग से दोषवैषम्य की अवस्थायें अनन्त हैं। इन अनन्त रूप मे अभिव्यक्त हेतु व्याधि, परिहार के लिए भेषज का प्रयोग करना है। वह भेषज भी अधिष्ठान भेद से अनन्त है।

इन सब अनन्तो का हम ठीक-ठीक तरह से सामञ्जस्य करने वाली भेषज व्यवस्था निश्चित कर सकें तो बिना किसी व्यापद व व्यभिचार के अवश्य ही रोग का परिहार हो जाएगा। भेषज की ऐसी अवस्था मे कभी विफल होने का अवसर नही आता। जैसा कि आचार्य निर्देश करते हैं

> य॰ स्याद्रस विकल्पज्ञ., स्या च्चदोष विकल्पवित्।
> न स मुह्येे द्विकाराणा, हेतु लिंगोप शान्ति षु ॥१॥

जो रस के वैकल्पिक ज्ञान मे निपुण है (रस विकल्पना मे ही व्याधि हेतु द्रव्य ज्ञान का समावेश है) और दोषो की विभिन्नताओ को जानने मे दक्ष है वह सब प्रकार के दोष हेतु व रोग हेतुओ को समन करने मे सर्वदा सफल होगा। वह कभी भी रोग की किसी अवस्था को दख कर कमोहित नही होगा।

उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि रोगोत्पादक हेतुओ से विपरीत गुण धर्म वाला उपाय करना ही भेषज व्यवस्था है इससे निष्कर्ष निकलता है कि रोग पैदा करने मे यदि शैत्य धर्म की प्रधानता है तो भेषज उष्ण धर्मप्रधान होनी चाहिए। व्याधि का रूपयदि, दाह प्रथन-सरए विवन्धात्मक है तो भेषज निर्वापण, विम्लापन, स्तम्भन, भेद-नात्मक होनी चाहिये। जैसे हेतुव्याधि विपरीत के ये उदाहरण हैं। ऐसे ही उभय हेतुओ के विपरीत भेषज की कल्पना करनी चाहिए।

भेषज की तरह आहार-व्यवस्था का भी रोग विशेष मे व दोष विशेष मे, तथा उभयात्मक हेतुओ मे विपरीत गुणधर्मात्मक प्रयोग होने से वह पथ्य रूप में तत् तत् हेतुओ का निवारक होगा। यही स्थिति विहार की समझनी चाहिए। बैठे रहने के कारए उत्पन्न हुए प्रमेह मेदादि वृद्धि रूप रोगो मे भ्रमण रूप विहार, उरुस्तम्भ की व्याधि मे जल तरए रूप व्यवहार हेतु विपरीत व व्याधि विपरीत गुए धर्म होने ही से उन उन हेतु व्याधियो मे लाभप्रद है। वैसे ही देशभी शीतोष्णता भेद से व्याधि हेतु व व्याधि उत्पादक है। तो उस का विकल्प से प्रयोग (शीत देश मे व्याधि हुई है तो उष्ए देश में चले जाने से, उष्ण देश मे व्याधि हुई है तो शीत देश में चले जाने से) देश में प्राप्त सहायता का निवारण हो जायगा। विपरीत गुण धर्म के कारण ही रोग प्रशमक हो सकता है। इसी तरह काल भी विपरीत गुण, धर्म, परिणाम से प्रयुक्त होने पर हेतु व्याधि तथा दोनो का प्रशमक बन जाता है। यहा यह विशेष ध्यान में रखना चाहिए कि विपरीत शब्द से सम्पूर्ण भावो से विपरीत अथवा अधिकाश भावो से विपरीत व विपरीत प्रभाव लेना चाहिए।

ये सब औषध रूप में व्यवहार किए जाने वाले भेषज, आहार, विहार, देश, काल, रोगो के अनन्त रूपो में विविध प्रकार से प्रयुक्त होने पर भी सन्तर्पण, अपतर्पण रूपपरिणाम से भिन्न परिणाम पैदा नही करते। इसलिए अशेष भेषज, सन्तर्पण अपतर्पण, इन दो वर्गों में ही आ जाती है।

शरीर पर जब इन उपयोग की जाने वाली सामग्री के दो तरह के प्रभाव होते हैं। तब इनके प्रयोग की अनवस्था से उत्पन्न होने वाले रोग भी इन्ही दो वर्गों मे समाहित हो जाते हैं।

जैसे प्रमेह ज्वरकुष्ठ आम दोष, अतिस्थौल्य, हृद्रोगादि अनेक व्याधियें गुरु, मधुर, स्निग्ध रस गुण प्रधान भोजन से, अति भोजन से, श्रम न करने से पैदा होते हैं। ये रोग दोष तथा आश्रय भेद से अनेक तरह के होते हुए भी वृद्धि समानता को लेकर सब के सब परिणाम मे एकत्व भाव वाले सन्तर्पण होने के कारण सभी सन्तर्पएजन्य कहे जा सकते हैं।

ऐसे ही, शोष, कास, बलमासक्षय, ज्वर, विण्मूत्रग्रहादिव्याधियें शारीरिक भावो के ह्रास के कारण उत्पन्न होती हैं। ह्रास पैदा करने वाले अपुष्टिकर भोजन, शरीर व शरीर की

आवयविक भावो की पूर्ति की कमी किसी रोग का अधिक समय तक ठहरे रखना, वमन, विरेचनादि का अतियोग लघन का दीर्घकालिक अनुबन्ध आदि अनेक हेतु हैं पर इन सब हेतुओ का परिणाम एक "क्षय" होने के कारण सब हेतुओ को क्षयोत्पादक-हेतु और उनसे उत्पन्न होने वाली विभिन्न व्याधियो को अपतर्पणजन्य व्याधियें कहेंगे।

ऊपर कह ही आये हैं कि ओषधियें नाम, रूप, गुण, योनिभेद से अनेक प्रकार के होते हुए भी हेतु व्याधि के विपरीत व विपरीतार्थकारी परिणाम पैदा करने के कारण (क्षयज रोगो मे सन्तर्पण वृद्धिजन्य रोगो मे अपतर्पण) सबकी सब सन्तर्पण या अपतर्पण भेषज हैं।

अपतर्पण के उपरोक्त नाम रूपादि भेद से अनन्त भेद होते हुए भी रोग पैदा करने वाले दोषो पर प्रभाव भेद से उसके शोधन शमन दो भेद होते हैं।

जिस रोग मे दोषस्वकीय स्वरूप परिणाम से अत्यन्त अधिक मात्रा में बढे हुए हैं वैसे दोषो को शरीर से बाहर निकालने का काम करने वाली भेषज शोधन शब्द से सम्बोधित की जायगी।

जिस रोग मे दोष अल्पप्रमाण मे बढे हो उनको अपने उचित प्रमाण मे लाने के उपचार का नाम "शमन भेषज" है।

शोधन भेषज की रोग विशेष के अनुसार अनेक कल्पनायें हैं जैसे विवर्धित दोषो के लिए वमन, विरेचन, निरूहवस्ति, शिरोविरेचन रक्तमोक्षणादि।

अवयव-विशेष के आश्रित दोषो को निकालने के लिए या लेखन के लिए धूम, कवलग्रह अजन, आश्च्योतनादि का प्रयोग पूय, मूढगर्भादि विविध शल्यो के निर्हरण के लिए छेदन, भेदन, लेखन, व्यधदि शस्त्रकर्म का प्रयोग इन सबको एकत्रित दोष निष्कासन का परिणाम करने के कारण शोधन भेषज कहा जाता है।

इसी तरह रोग विशेष की परिस्थिति के विचार से प्रयुक्त पाचन, दीपन, व्यायाम, उपवास, आतप, मारुतादि दोष शान्ति के लिए प्रयुक्त निर्वापण, विमलापन, उपलेपादि तथा प्रायोगिक धूम, नस्य, गण्डूस, कवलग्रह, अजन आश्च्योतन, आलेप स्नानादि दोषो को समान स्थिति मे लाने का एक परिणाम पैदा करने वाले होने से सब 'शमन' भेषज कहे जाते हैं।

अपतर्पण की तरह सन्तर्पण भेषज भी वल्य बृहणादि गण भेद से असगन्ध शतावरी, वला, क्षीर काकोली आदि व्यक्ति-भेद से, मास रस दुग्धादि भोजन, अनुवासन, बृंहणरूप वस्तिकर्म, स्नान, अभ्यग, गण्डूष, अजनादि अनेक प्रकार की होते हुए भी दुर्बल और क्षीण हुए शरीर वा शरीरस्थ अवयवो को पोषण व सबल करने वाले एक परिणाम के कारण बृहण भेषज कही जाती है। इसको शमन भी कहते हैं।

आतुरावस्था की तरह स्वस्थावस्था मे भी रसायन वाजीकरण रूप भेषज के प्रयोग हैं। वे ओजवर्धक, बलवर्धक होने के कारण बृंहण नाम से कहे जाते हैं।

उपरोक्त विविध भेदीय भेद युक्त होते हुए भी भेषज मात्र को द्विविध परिणामजनक होने के कारण सामान्य व सक्षिप्त सिद्धान्त से दो वर्गों ही मे ग्रहण करली गई हैं। इन सबको विपरीत, विपरीत गुण, विपरीतगुण भूयिष्ठता वे विपरीत प्रभावोत्पादकता को ध्यान मे रख रोगोत्पादक हेतु या रोग-निवारणार्थ प्रयोग करने पर अपने भेपज रूप परिणाम को सफल बनाने मे देश काल मात्रादि सहायक कारणो की पूरी-पूरी अपेक्षा रहती है।

बिना इन सहायो कारणो के ये अपने पूर्ण प्रभाव को सम्पन्न नही कर सकते, जैसा कि आचार्यों ने उपदेश किया है।

विपरीतगुणैर्देशकाल मात्रोपपादितै ।
भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकारा साध्यसम्मताः ॥१॥

अभिप्राय यह है कि विपरीत गुण-धर्म वाली भेषज का देश, मात्रा, काल का ध्यान रख साध्य रोगो पर प्रयोग करने से रोग अवश्य निवृत्त हो जाते हैं।

दोष, रोग, भेषज का अवस्थानुसार विवेचन करके फिर चिकित्सा कर्म का प्रयोग किया जाय वह शतप्रतिशत फलदायक हो सकता है। इन सबका आवस्थिक ज्ञान शास्त्रो के सम्यक् श्रवण, मनन से, गुरुपासना या गुरु के पास प्रत्यक्ष अभ्यास से अनवरत रोग स्थिति का पुनः-पुन. अध्ययन करने से प्राप्त होता है, यह पहिले प्रतिपादित कर ही आये हैं।

परिणाम भेद से सन्तर्पण, अपतर्पण, रूप भेषज जिनका कि विविध रोगो मे प्रयोग करना है आयुर्वेद शास्त्र मे जाति भेद से जगम, औद्भिद, पार्थिव नाम से व्यवहार किए जाते हैं।

प्राणियो से प्राप्त कर प्रयोग किए जाने वाले या प्राणियो के शारीरिक आवयविक भाग जिनका कि रोग विशेषो मे प्रयोग किया जाता है वे सब "जगम" भेषज हैं। जैसे मधु, घृत, दुग्ध, दधि, मूत्र, विड्, नख, दन्त, खुर, चर्म, शृग, केश, लोम, रोचन, पित्त, वसा मज्जा, रुधिर, मास, रेत, अस्थि, स्नायु आदि।

(१) जो द्रव्य पृथ्वी को फोडकर उत्पन्न होते हैं वे सब औद्भिद भेषज हैं। इनके चार भाग हैं एक वे जो बिना फूल देकर पश्चात् फल देने वाले है जैसे वट, पीपल, उदुम्बरादि हैं जिनकी सज्ञा, वनस्पति है।

(२) दूसरे वे जो पहिले फूल देकर पश्चात् फल देने वाले हैं जैसे आम्र, कदली, जम्बीर लकुचादि इनकी सज्ञा वानस्पत्य है।

(३) तीसरी वे हैं जो फल पकने पर स्वय समाप्त हो जाती हैं। इनकी सज्ञा औषध है जैसे गोधूमादि।

(४) चौथी वे जिनके प्रतान चलते हैं जो भूमि पर ही फैलती हैं वे "विरुद्ध" संज्ञा वाली भेषज हैं। जैसे शखपुष्पी इत्यादि।

उपरोक्त चारो प्रकार की भेषज, उनकी मूल, त्वक्, सार, निर्यास, नाल, स्वरस, पल्लव, क्षीर, फल, पुष्प, तैल, भस्म, क्षार, सत्व तथा कटक, शुग, कन्द तथा प्ररोहो का आवश्यकतानुसार प्रयोग होता है।

ये स्वभावत भेषज द्रव्य जिनका रोग प्रतिकार के लिए प्रयोग किया जाता है, रस गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव से सम्पन्न होते हैं।

वस्तुत देखा जाय तो द्रव्य विशेष मे रहने वाले ये रस गुण, वीर्य, विपाकादि ही अवस्थानुसार उचित प्रयोग करने से धातुसाम्य का कार्य करते हैं।

इसका अभिप्राय यह समझना चाहिए कि प्रत्येक द्रव्य भौतिक सयोग विशेष से विभिन्न रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव वाला होता है। पर इनमे फिर रससाम्यता, गुणसाम्यता, वीर्य, विपाकसाम्यता भी होती है। जैसे इक्षु, मधु, शर्करा, मधुका, मधूक, काकोली आदि मधुर रस प्रधान द्रव्य हैं इसी तरह गुणादि साम्यता वाले भी अनेक द्रव्य मिलते हैं।

रोग विशेष मे इनका प्रयोग किये जाने पर ये भेषज द्रव्य कही रस से, कही गुण से, कही वीर्य से, कही विपाक से, कही रस-गुण दोनो से, कही रस वीर्य विपाक तीनो से, कही रसादि पाचो से रोग-निवारण का कार्य करते हैं।

समान गुण-धर्मी होते हुए भी दो द्रव्य भिन्न भिन्न प्रकार के कार्य करते हुए भी मिलते हैं। रस, गुण, वीर्य, विपाक की समानता होते हुए भी परिणाम मे यह अन्तर क्यो दिखाई पड़ता है। वह द्रव्य के प्रभाव का, प्रभाव शब्द का अभिप्राय रस, वीर्य, विपाक सभिन्न द्रव्य का स्वभाव विशेष है। द्रव्य का यह स्वभाव द्रव्याश्रित रहने वाले रस, गुण, वीर्य विपाक को दबा कर कार्य करता है।

भेषज-द्रव्यो की यह विभिन्नतायें ध्यान मे रख प्रयोग करने ही से विशेष फल की सिद्धि होती है।

उपरोक्त निर्दिष्ट की गई, जगम औद्भिद, भेषज मृदु आवयविक होने से इनके रस, गुणादिको की अधिक काल तक स्थिरता नही होती। थोडे समय मे ही ये काल स्वभाव से हीन बलवीर्य हो जाती हैं। कालानुबन्ध के अतिरिक्त देश, काल, बीज, जल वायु, सम्पद् के औचित्य अनौचित्य से सभी गुण धर्मों मे न्यूनाधिकता होती रहती है।

कालानुबन्ध से इनकी शक्ति का ह्रास देख आचार्यों ने उन द्रव्यो का अनुसन्धान व प्रयोग करना आरम्भ किया जो चिर काल तक स्थिर आवयविक स्थितियुक्त व प्रभूत वीर्य-सम्पन्न रह सकें। वे हैं धातु, उपधातु, रस, उपरस, रत्न, उपरत्नादि। इनकी सज्ञा है पार्थिव

द्रव्य। ये पार्थिव द्रव्य भी भेषज रूप में प्रयुक्त होने पर जगमादि की तरह रस, गुण, वीर्य, विपाक प्रभाव द्वारा ही कार्य करते हैं।

परिणाम-भेद से दो प्रकार की, गति-भेद से तीन तरह की ये भेपज, व्यक्ति-भेद से अनन्त तरह की हैं। इनके प्रयोग भी कल्क, क्वाथ, फाण्ट, शीत कषाय, घृत, तेल, आसव, अरिष्ट, चूर्ण, वटी, अवलेहवर्त्ति चक्रिकादि रूप मे अनन्त तरह से किया जाता है।

ये विविध भेषज रस-गुण-वीर्य-विपाकादि के तारतम्य भावो का विवेचन कर रोगो की यथावत् अवस्था मे देश, काल, मात्रादि का ध्यान रखते हुए प्रयोग करने पर उन उन दोष विकृतियो, धातु विकृतियो, मार्ग विकृतियो, स्थान विकृतियो का अवश्य निवारण करती हैं। साथ ही और किसी प्रकार की अन्य विकृति को उत्पन्न नही करती। औषधियो के ऐसे प्रयोग भी सामने आते हैं जिनका उपयोग करने पर तत्काल वेदना विशेष के शमन के कारण रोग-निवृत होता हुआ दिखाई देता है। किन्तु ऐसे भेपज प्रयोग वस्तुत व्याधि का प्रशमन नही करते। प्रत्युत व्याधि पैदा करने वाले हेतु विशेष का परिहार करने के कारण व्याधि-निवारक की तरह तद्वत् प्रतीत होते हैं।

पर उनमे हेतु विशेष को निवारण करने के गुण-धर्मों के साथ-साथ ऐसे अन्य गुण-धर्म भी रहते हैं जो अन्य स्रोतो व आशयो पर तत्काल या कुछ समय पश्चात् ऐसा प्रभाव पैदा करते हैं कि जिससे दूसरी विभिन्न व्याधि उत्पन्न हो रोगी के आतुर शरीर और भी आतुर कर अनर्थ की उत्पत्ति करते हैं।

इसी विचार से आचार्यो ने इस प्रकार की सदोष प्रयोग प्रणाली का निषेध कर एकान्तत. विशुद्ध प्रयोग प्रणाली की चिकित्सा का उपदेश किया है, तद्यथा—

> प्रयोग शमयेद्व्याधि योन्य मन्य मुदीरयेत्।
> नासौ विशुद्ध शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥१॥
> तदात्वे चानुबन्धे च यस्यस्यादशुभफलम्।
> कर्मणस्तन्न कर्त्तव्यमेतद् बुद्धिमता मतम् ॥२॥

भेषज का जो प्रयोग एक व्याधि का प्रशमन कर दूसरी व्याधि को पैदा न करे वही विशुद्ध प्रयोग है। जो एक व्याधि को दबा कर दूसरी व्याधि को पैदा करे वह औषध प्रयोग अशुद्ध है। जिस भेषज प्रयोग से तत्काल या कालान्तर मे अशुभ पणिाम की उत्पत्ति हो वैसा चिकित्सा क्रम वैद्य को नही करना चाहिए।

आयुर्वेद शास्त्रसम्मत चिकित्सा पद्धति व उनके नियमो का यह सक्षिप्त दिग्दर्शन है।

अब दूसरे प्रश्न के (आ) भाग के उस अश का उत्तर दिया जाता है जिससे आयुर्वेद पद्धति से चिकित्सा करने पर उसके फलाफल का सख्यादि प्रमाण द्वारा उत्तर चाहा है।

(४) चौथी वे जिनके प्रतान चलते हैं जो भूमि पर ही फैलती हैं वे "विरुद्ध" संज्ञा वाली भेषज हैं। जैसे शखपुष्पी इत्यादि।

उपरोक्त चारो प्रकार की भेषज, उनकी मूल, त्वक्, सार, निर्यास, नाल, स्वरस, पल्लव, क्षीर, फल, पुष्प, तैल, भस्म, क्षार, सत्व तथा कटक, शुग, कन्द तथा प्ररोहो का आवश्यकतानुसार प्रयोग होता है।

ये स्वभावत. भेषज द्रव्य जिनका रोग प्रतिकार के लिए प्रयोग किया जाता है, रस गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव से सम्पन्न होते हैं।

वस्तुत देखा जाय तो द्रव्य विशेष मे रहने वाले ये रस गुण, वीर्य, विपाकादि ही अवस्थानुसार उचित प्रयोग करने से धातुसाम्य का कार्य करते हैं।

इसका अभिप्राय यह समझना चाहिए कि प्रत्येक द्रव्य भौतिक सयोग विशेष से विभिन्न रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव वाला होता है। पर इनमे फिर रससाम्यता, गुणसाम्यता, वीर्य, विपाकसाम्यता भी होती है। जैसे इक्षु, मधु, शर्करा, मधुका, मधूक, काकोली आदि मधुर रस प्रधान द्रव्य हैं इसी तरह गुणादि साम्यता वाले भी अनेक द्रव्य मिलते हैं।

रोग विशेष मे इनका प्रयोग किये जाने पर ये भेषज द्रव्य कही रस से, कही गुण से, कही वीर्य से, कही विपाक से, कही रस-गुण दोनो से, कही रस वीर्य विपाक तीनो से, कही रसादि पाचो से रोग-निवारण का कार्य करते हैं।

समान गुण-धर्मी होते हुए भी दो द्रव्य भिन्न भिन्न प्रकार के कार्य करते हुए भी मिलते हैं। रस, गुण, वीर्य, विपाक की समानता होते हुए भी परिणाम मे यह अन्तर क्यो दिखाई पडता है। वह द्रव्य के प्रभाव का, प्रभाव शब्द का अभिप्राय रस, वीर्य, विपाक सभिन्न द्रव्य का स्वभाव विशेष है। द्रव्य का यह स्वभाव द्रव्याश्रित रहने वाले रस, गुण, वीर्य विपाक को दबा कर कार्य करता है।

भेषज-द्रव्यो की यह विभिन्नतायें ध्यान में रख प्रयोग करने ही से विशेष फल की सिद्धि होती है।

उपरोक्त निर्दिष्ट की गई, जगम औद्भिद, भेषज मृदु आवयविक होने से इनके रस, गुणादिको की अधिक काल तक स्थिरता नही होती। थोड़े समय मे ही ये काल स्वभाव से हीन बलवीर्य हो जाती हैं। कालानुबन्ध के अतिरिक्त देश, काल, बीज, जल वायु, सम्पद् के औचित्य अनौचित्य से सभी गुण धर्मों मे न्यूनाधिकता होती रहती है।

कालानुबन्ध से इनकी शक्ति का ह्रास देख आचार्यों ने उन द्रव्यो का अनुसन्धान व प्रयोग करना आरम्भ किया जो चिर काल तक स्थिर आवयविक स्थितियुक्त व प्रभूत वीर्य-सम्पन्न रह सकें। वे हैं धातु, उपधातु, रस, उपरस, रत्न, उपरत्नादि। इनकी सज्ञा है पार्थिव

द्रव्य । ये पार्थिव द्रव्य भी भेषज रूप मे प्रयुक्त होने पर जगमादि की तरह रस, गुण, वीर्य, विपाक प्रभाव द्वारा ही कार्य करते हैं।

परिणाम-भेद से दो प्रकार की, गति-भेद से तीन तरह की ये भेषज, व्यक्ति भेद से अनन्त तरह की हैं। इनके प्रयोग भी कल्क, क्वाथ, फाण्ट, शीत कषाय, घृत, तेल, आसव, अरिष्ट, चूर्ण, वटी, अवलेहवर्त्ति चक्रिकादि रूप मे अनन्त तरह से किया जाता है।

ये विविध भेषज रस-गुण-वीर्य-विपाकादि के तारतम्य भावो का विवेचन कर रोगी की यथावत् अवस्था मे देश, काल, मात्रादि का ध्यान रखते हुए प्रयोग करने पर उन उन दोष विकृतियो, धातु विकृतियो, मार्ग विकृतियो, स्थान विकृतियो का अवश्य निवारण करती हैं। साथ ही और किसी प्रकार की अन्य विकृति को उत्पन्न नही करती। औषधियो के ऐसे प्रयोग भी सामने आते हैं जिनका उपयोग करने पर तत्काल वेदना विशेष के शमन के कारण रोग-निवृत होता हुआ दिखाई देता है। किन्तु ऐसे भेषज प्रयोग वस्तुत व्याधि का प्रशमन नही करते। प्रत्युत व्याधि पैदा करने वाले हेतु विशेष का परिहार करने के कारण व्याधि-निवारक की तरह तद्वत् प्रतीत होते हैं।

पर उनमे हेतु विशेष को निवारण करने के गुण-धर्मों के साथ-साथ ऐसे अन्य गुण-धर्म भी रहते हैं जो अन्य स्रोतो व आशयो पर तत्काल या कुछ समय पश्चात् ऐसा प्रभाव पैदा करते हैं कि जिससे दूसरी विभिन्न व्याधि उत्पन्न हो रोगी के आतुर शरीर और भी आतुर कर अनर्थ की उत्पत्ति करते हैं।

इसी विचार से आचार्यों ने इस प्रकार की सदोष प्रयोग प्रणाली का निषेध कर एकान्तत विशुद्ध प्रयोग प्रणाली की चिकित्सा का उपदेश किया है, तद्यथा—

प्रयोग शमयेद्व्याधि योन्य मन्य मुदीरयेत्।
नासो विशुद्ध शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥१॥
तदात्वे चानुबन्धे च यस्यस्यादशुभफलम्।
कर्मणस्तन्न कर्त्तव्यमेतद् बुद्धिमता मतम् ॥२॥

भेषज का जो प्रयोग एक व्याधि का प्रशमन कर दूसरी व्याधि को पैदा न करे वही विशुद्ध प्रयोग है। जो एक व्याधि को दबा कर दूसरी व्याधि को पैदा करे वह औषध प्रयोग अशुद्ध है। जिस भेषज प्रयोग से तत्काल या कालान्तर मे अशुभ पणिाम की उत्पत्ति हो वैसा चिकित्सा क्रम वैद्य को नही करना चाहिए।

आयुर्वेद शास्त्रसम्मत चिकित्सा पद्धति व उनके नियमो का यह सक्षिप्त दिग्दर्शन है।

अब दूसरे प्रश्न के (आ) भाग के उस अश का उत्तर दिया जाता है जिससे आयुर्वेद पद्धति से चिकित्सा करने पर उसके फलाफल का सख्यादि प्रमाण द्वारा उत्तर चाहा है।

(ख) आयुर्वेद शास्त्रानुसार की जाने वाली चिकित्सा का परिणाम विशेषत चिकित्सक वैद्य की योग्यता पर निर्भर है।

यदि चिकित्सक शास्त्रीय विषयो का पूर्ण मर्मज्ञ, तर्क-शक्ति सम्पन्न, स्मृतिमान्, क्रिया-कुशल व तत्परता से युक्त है तो उसके द्वारा की जाने वाली चिकित्सा नि सन्देह अधिकाशत फलवती ही होती है।

भषज, वैद्य, रोगी, परिचारक ये चिकित्सा के चार पाद माने गये हैं। प्रत्येक पाद अपने अपने पूर्ण गुणो से युक्त हो तो वह चतुष्पादपूर्ण चिकित्सा कही जाती है।

चिकित्सा का फलाफल इसके प्रत्येक पाद की पूर्णता अपूर्णता पर विशेष निर्भर है। क्योकि यदि इन चार बातो मे एक भी पाद अपूर्ण या अव्यवस्थित है तो वैद्य उचित चिकित्सा करके भी इष्ट फल सम्पादन नही कर सकता।

हमारे पद्धति भेषज पाद का जो रूप है वह पाश्चात्य पद्धति के भेषज पाद से बहुत विभिन्न है।

पाश्चात्य चिकित्सा के भेषज परिमित औषध प्रयोग प्रयुक्त भेषज का अल्प समय तक असर रहना। प्रयोगो मे विविध प्रकार के विषो का समिश्रण, प्रयोग करने के थोडे समय बाद ही परिणाम के साथ या परिणाम भ्र स से अन्य विविध उपद्रवो का उत्पन्न होना कुछ ऐसी बातें हैं जो देशी पद्धति मे नही के समान हैं।

देशी औषधियें यही इस देश मे उत्पन्न होती हैं। रसवीर्य परिपूर्ण, अपने अपने काल में प्राप्त थोडे व्यय से उपलब्ध सरल विधि से निर्मित हो जाती हैं। इस प्रणाली के काष्ठौषधि प्रयोग तो सर्वा श मे ही निर्दोष है, रसादि प्रयोगो मे भी बहुत थोडे ऐसे योग हैं जिनमे विशेष व्यापद की सभावना रहती है। एक एक रोग के लिए प्रकृति, देश, काल बल, अग्नि व रोगावस्था की विभिन्नताऐं ध्यान मे रख अनेक योगो का सकलन है।

यही कारण है कि देशी पद्धति से प्रयुक्त की जाने वाली चिकित्सा प्रयोग बाहुल्य से निर्दोष विधि द्वारा सम्पादित होने से नवीन दशा में प्रयोग की जाने से अधिक समय तक स्थायी फल पैदा करने वाली होती हैं।

इसी से सग्रहकार कहते हैं।

> वीर्यवद् भावित सम्यक् स्वरसैरसकृल्लघु
> रस गन्धादि सम्पन्न काले जीर्णे च मात्रया ॥१॥
> एकाग्र मनस युक्त भैषज्य म मृताय ते ॥

देशी चिकित्सा पद्धति की सफलता के लिए एक और भी स्वाभाविक हेतु है और वह यह है कि इस देश मे उत्पन्न होने वाले मनुष्य के लिए इसी देश मे उत्पन्न होने वाले अन्न और औषधियें सर्वदा अनुकूल रहती हैं।

क्योंकि इसी देश मे उत्पन्न हुई भेषज का प्रभाव तुरन्त ही उसके शरीर के अनुकूल बन जाता है। आयुर्वेद शास्त्र मे व्याधि-निवृत्त करने वाली भेषज सात्म्य भी हो यह नियम नही, व्याधि निवारण करने तथा सात्म्य होने के हेतु भिन्न भिन्न हैं। सात्म्य का अर्थ है अनुकूल। अर्थात् जो द्रव्य अपने रसादि गुण धर्मो व अपने स्वाभाविक प्रभाव से अपने शरीर के प्रतिकूल न हो उसका नाम है "सात्म्य" एक रोग को निवारण करने वाली अनेक औषधियें हो सकती है। जो औषध रोगी को सात्म्य है उसका प्रभाव उस बीमारी पर बहुत जल्दी होगा बजाय असात्म्य भेषज के।

यह उचित भी है क्योकि जो द्रव्य उस व्यक्ति को दीर्घ काल से अनुकूल है उसका प्रभाव रोगावस्था मे भी विशेषत अनुकूलता को ही सम्पादन करगा।

फिर उस द्रव्य मे यदि उस व्याधि को निवृत्त करने की भी शक्ति है तो उसका विशेप फलप्रद परिणाम उत्पन्न होना सर्वथा न्यायसगत है।

देशी चिकित्सा की सफलता मे यह हेतु प्रबल सहायक है।

सग्रहकार ने निर्देश भी किया है कि—

उचितो यस्य यो देश स्तज्ज तस्यौषध हितम्।
देशोऽन्यत्रापि वसतस्तत्तुल्य गुणजन्म च ॥१॥

चिकित्सा के फलाफल को प्रमाणित करने के लिए सख्यानुपात की आवश्यकता प्रगट की गई तदर्थ यह कहना है कि वैद्यो मे डाक्टरो की तरह रजिस्टर रखने, रोगियो के सम्मति-पत्र प्राप्त कर सग्रह करने तथा नाम लिखने की प्रथा प्रचलित नही इसलिए रोगियो की सख्या व प्रमाणपत्रादि का विवरण देना मेरे जैसो के लिए कठिन काम है।

राज्य द्वारा देशी औषधालयो की स्थापना कर तथा आतुरालय स्थापित कर इस पद्धति के अनुकूल सब प्रबन्ध रख फिर देखना चाहिए कि इससे कितनी सफलता मिलती है। प्रतिशत सख्यादि अनुपात का ठीक ठीक फल तभी ज्ञात हो सकता है।

(ग) देशी चिकित्सा पद्धति के विषय मे मेरी राय यह है कि अनेक जीर्ण रोगो मे तथा महा रोगो मे अन्य चिकित्सा पद्धतियो की अपेक्षा आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति विशेष फलप्रद होती है।

वात व्याधि, ग्रहणी, वात ग्रन्थि, अम्लपित्त उपदशादि रोगो से पीडित अनेक रोगियो को चिकित्सा मैंने की है। इन रोगो के निवारण करने में आयुर्वेदिक औषधियो ने अनेक बार विस्मयोत्पादक चमत्कार दिखाये हैं।

परन्तु रजिस्टर आदि मे नाम लिखने की पद्धति न रखने से उनका प्रमाण उपस्थित कर सकना शक्य नही।

अन्य चिकित्सा-पद्धतियो की चिकित्सा से आरोग्य प्राप्त न करने वाले, जीवन की आशा छोड़े हुए अनेक मुमूर्षं रोगी आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति से मेरे द्वारा स्वस्थ हुए हैं। उन मे से पाच-छ. के अब प्रमाण-पत्र प्राप्त कर उनकी प्रतिलिपि भेज रहा हूँ। ये सब महानुभाव राज्यमान्य या राजा सम सुप्रतिष्ठत है।

ऐसे पुरुष किसी भी चिकित्सा-पद्धति की ओर तभी आकर्षित होते है जब उसके द्वारा अनेक रोगो का परिणाम प्रत्यक्ष देख लेते हैं।

समिति के सदस्य महानुभाव! इसी से अनुमान लगालें कि कितने रोगी इस चिकित्सा पद्धति से लाभान्वित होते हैं।

रोगी - परीक्षा

वैद्य बाबूलाल जोशी

[रोग विज्ञान बड़ा ही जटिल विषय है। विज्ञान की व्युत्पत्ति विशिष्ट ज्ञान से होती है। जैसे कि भगवान ने कहा है कि 'ज्ञान तेऽह सविज्ञानमिद वक्ष्याम्यशेषत' रोगों का यह विशिष्ट ज्ञान आर्ष संहिताओं में स्थान २ पर कई प्रकार से बताया गया है। क्योंकि चिकित्सक की प्रथम कार्य यही है कि रोग (वेदना लक्षण) को समझे।

परीक्ष्य कारिणो हि कुशलाः भवन्ति—च. सू. अ १० में यही बताया गया है कि जो ठीक प्रकार परीक्षा कर सके वही चतुर कहा जा सकता है, तथा वह चतुर चिकित्सक अपनी सामग्री के साथ रोगियों की रोग मुक्ति कर आरोग्य लाभ देता है, परीक्षा (१) द्विविधा (अनुमान, प्रत्यक्ष) (२) त्रिविधा (आप्तोपदेश के साथ) (३) चतुर्विधा (साध्य, कृच्छ्र साध्य, प्रत्याख्येय असाध्य) (४) षड्विधा (पाचों इन्द्रिय प्रश्न) (५) अष्टविधा व दोष धातु मलों के तत्तद् लक्षणों व आशय विकृति, श्रोतो विकृति आदि से कई प्रकार की कही है।

सम्पूर्ण रूप से जानने योग्य विषय विज्ञान को ज्ञान के किसी एक अंश मात्र से नहीं जाना जा सकता। यदि परीक्षा ठीक प्रकार से नहीं हुई तो चिकित्सा के युक्तिज्ञान में महान धोखा हो सकता है। जिसका परिणाम रोगी व वैद्य के लिए हितकर नही होता। इस प्रकार अत्यन्त ही निगूढतम सूक्ष्मतम अग्राह्य कल्पना के विषय को भली प्रकार समझने व समझाने के लिए विज्ञ लेखक श्री जोशी जो कि चरित्रनायक के विश्वस्त एवं श्रद्धालु शिष्य हैं, ने सरल भाषा में गागर में सागर की तरह प्रपत्र बनाए हैं।

इनके अध्ययन से पाठकों ने लाभ उठाया तो रोगी-हितों के साथ आयुर्वेद-हित भी सम्भव होगा।

—सम्पादक]

मैं अपनी रोगनिर्णायक पद्धति मे कुछ प्रपत्रो का अनुशीलन करता हुआ रोग-परीक्षण कर चिकित्सा कार्य करता हूँ इससे मुझे चिकित्सा मे बड़ी सुविधा मिलती है। ये प्रपत्र आर्ष सहिता के ही कुछ अश है, सर्वसाधारण को समझने व समझाने मे उपयोगी होगे। मेरी यह मान्यता है कि रोगी-परीक्षा कई प्रकार से की जाने के बाद ही रोग निर्णय करना चाहिए। पहिले सभी तरह से रोग की परीक्षा कर निश्चय किया जाता है तो भविष्य मे चिकित्सा करते समय कभी भी असफलता नही होती। परीक्षा करने की सक्षिप्त विधि प्रपत्रो मे बताई जा रही है आशा है विज्ञ पाठक इसका अनुशीलन कर लाभ उठायेंगे तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा।

अन्य चिकित्सा-पद्धतियो की चिकित्सा से आरोग्य प्राप्त न करने वाले, जीवन की आशा छोडे हुए अनेक मुमूर्षु रोगी आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति से मेरे द्वारा स्वस्थ हुए हैं। उन मे से पाच-छः के अब प्रमाण-पत्र प्राप्त कर उनकी प्रतिलिपि भेज रहा हूँ। ये सब महानुभाव राज्यमान्य या राजा सम सुप्रतिष्ठत है।

ऐसे पुरुष किसी भी चिकित्सा-पद्धति की ओर तभी आकर्षित होते है जब उसके द्वारा अनेक रोगो का परिणाम प्रत्यक्ष देख लेते हैं।

समिति के सदस्य महानुभाव ! इसी से अनुमान लगालें कि कितने रोगी इस चिकित्सा पद्धति से लाभान्वित होते हैं।

रोगी - परीक्षा

वैद्य बाबूलाल जोशी

[रोग विज्ञान बड़ा ही जटिल विषय है। विज्ञान की व्युत्पत्ति विशिष्ट ज्ञान से होती है। जैसे कि भगवान ने कहा है कि 'ज्ञान तेऽह सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत' रोगों का यह विशिष्ट ज्ञान आर्ष संहिताओं में स्थान २ पर कई प्रकार से बताया गया है। क्योंकि चिकित्सक की प्रथम कार्य यही है कि रोग (वेदना लक्षण) को समझे।

परीक्ष्य कारिणो हि कुशलाः भवन्ति—च. सू. अ. १० में यही बताया गया है कि जो ठीक प्रकार परीक्षा कर सके वही चतुर कहा जा सकता है, तथा वह चतुर चिकित्सक अपनी सामग्री के साथ रोगियों की रोग मुक्ति कर आरोग्य लाभ देता है, परीक्षा (१) द्विविधा (अनुमान, प्रत्यक्ष) (२) त्रिविधा (आप्तोपदेश के साथ) (३) चतुर्विधा (साध्य, कृच्छ्र साध्य, प्रत्याख्येय असाध्य) (४) षड्विधा (पाचों इन्द्रिय प्रश्न) (५) अष्टविधा व दोष धातु मलों के तत्तद् लक्षणों व आशय विकृति, स्रोतो विकृति आदि से कई प्रकार की कही है।

सम्पूर्ण रूप से जानने योग्य विषय विज्ञान को ज्ञान के किसी एक अंश मात्र से नहीं जाना जा सकता। यदि परीक्षा ठीक प्रकार से नहीं हुई तो चिकित्सा के युक्तिज्ञान में महान धोखा हो सकता है। जिसका परिणाम रोगी व वैद्य के लिए हितकर नहीं होता। इस प्रकार अत्यन्त ही निगूढ़तम सूक्ष्मतम अगाध कल्पना के विषय को भली प्रकार समझने व समझाने के लिए विज्ञ लेखक श्री जोशी जो कि चरित्रनायक के विश्वस्त एव श्रद्धालु शिष्य हैं, ने सरल भाषा में गागर में सागर की तरह प्रपत्र बनाए हैं।

इनके अध्ययन से पाठकों ने लाभ उठाया तो रोगी-हितों के साथ आयुर्वेद-हित भी सम्भव होगा।

—सम्पादक]

मैं अपनी रोगनिर्णायक पद्धति मे कुछ प्रपत्रो का अनुशीलन करता हुआ रोग-परीक्षण कर चिकित्सा कार्य करता हूं इससे मुझे चिकित्सा मे बड़ी सुविधा मिलती है। ये प्रपत्र आर्ष संहिता के ही कुछ अश है, सर्वसाधारण को समझने व समझाने मे उपयोगी होगे। मेरी यह मान्यता है कि रोगी-परीक्षा कई प्रकार से की जाने के बाद ही रोग निर्णय करना चाहिए। पहिले सभी तरह से रोग की परीक्षा कर निश्चय किया जाता है तो भविष्य मे चिकित्सा करते समय कभी भी असफलता नही होती। परीक्षा करने की संक्षिप्त विधि प्रपत्रो मे बताई जा रही है आशा है विज्ञ पाठक इसका अनुशीलन कर लाभ उठायेंगे तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा।

आतुर परीक्षा विधिः
Clinical Method

(1)	परिप्रश्न	Interogatory
(2)	प्रत्यक्ष	Observational
(3)	अनुमान	Inferential

आतुर बल प्रमाण परिज्ञानम्

Evaluation of the vitality of the patient as a whole man in terms of.

(क)	प्रकृति से	Constitution
(ख)	सारतः	Essential make up
(ग)	संहननतः	Compactness
(घ)	प्रमाणतः	Bodily proportions (Anthropomentry)
(ङ)	सात्म्यतः	Homologation
(च)	सत्वतः	Psychic make up
(छ)	आहार शक्तितः	Gastric capacity
(ज)	व्यायाम शक्तितः	Capacity for exercise
(झ)	वयस्तः	Age
(ञ)	देशतः	Habital

प्रकृति से Constitutional

(1)	गर्भशरीर प्रकृति	Genetic typical factors
	शुक्रशोणित प्रकृति	Genetic traits - Spermogermic
	कालगर्भाशय प्रकृति	Gestatory period and uterin condition
	मातुराहारविहार प्रकृति	The diet and regimen of the expectant mother
	महाभूतविकार प्रकृति	Proto elemental traits
(2)	जातशरीर प्रकृति	Paratypical or environmental factors
	जातिप्रसक्ता प्रकृति	Social
	कुलप्रसक्ता प्रकृति	Familial
	देशानुपातिनी प्रकृति	Climatic
	कालानुपातिनी प्रकृति	Seasonal factors
	वयोऽनुपातिनी प्रकृति	Age factors

प्रत्यात्म नियता प्रकृति.

Phenotypical Characteristics indivisual constitution with reference to

आहार	Diet
विहार	Regimen (Behaviours)
निद्रा	Sleep
सात्म्यम्	Homologation
ओकसात्म्य	Acquired of homologation (habituation with regard to
औषध से	Drug
अन्न से	Food
पान से	Drink
चेष्टा से	Activities
भक्तिः	Proctivity
शौचम्	Cleanliness
शीलम्	Character
आचारः	Conduct
स्मृतिः	Memory
मेधा	Intelligence
आरम्भ	Initiative
गुणा	Qualities
अन्तरग्निः	Gastric fire
सम	Regular
विषम	Irregular
तीक्ष्ण	Acute
मन्द	Dull
कोष्ठ	Bowel condition
क्रूर	Hard
मृदु	Soft
मध्य	Ordinary
वातप्रवृत्तिः	Flow of flatus
मूत्रप्रवृत्तिः	Flow of urine
पुरीषप्रवृत्तिः	Flow of fleces
आर्तवप्रवृत्ति	Flow of menstrual blood
स्तन्यप्रवृत्ति.	Flow of breast milk
स्वेदप्रवृत्तिः	Flow of sweat
सिङ्घाणकप्रवृत्तिः	Flow of nasal secretion
दूषिका (नेत्रमल) प्रवृत्ति	Flow of sebum palper bab

प्रजननमल प्रवृत्ति	Flow of sebum preputii
त्वक्स्नेहप्रवृत्ति:	Flow of sebum cutaneous
कर्णमलवृद्धि. अवृद्धिः	Decrease or increase of cerumen
लालाप्रवृत्तिः	Flow of saliva
रक्तप्रवृत्ति	Flow of blood
कफप्रवृत्तिः	Flow of phlegm
पित्तप्रवृत्ति·	Flow of bile
केशवृद्धिः अवृद्धिः	Increased or decreased hair growth
नखवृद्धिः अवृद्धि	Increased or decreased nail growth
इन्द्रिय कर्माणि	Sense functions
सत्वम्	Mental condition
बलम्	Strength
पूर्वव्याधयः	Previous illnesses
परिणीत.	Married or unmarried condition

(4) मानसिक प्रकृतयः

Psychic types of constitution

(क) सात्त्विक प्रकृति

ब्राह्मसत्वम्	
आर्षं सत्वम्	
ऐन्द्र सत्वम्	
याम्य सत्वम्	
वारुण सत्वम्	
कौबेर सत्वम्	
गान्धर्वं सत्वम्	

(ख) राजसिक प्रकृति

आसुर सत्वम्	
राक्षस सत्वम्	
पैशाच सत्वम्	
सार्पं सत्वम्	
प्रेत सत्वम्	Ghost type
शाकुन सत्वम्	Avian type

(ग) तामस प्रकृति

पाशव सत्वम्	Bestial type
मात्स्य सत्वम्	Piscine type
वानस्पत्य सत्वम्	Vegetative type

(5) समप्रकृते लक्षणानि

The characteristics of the man belonging to the equi balance vitial type

समदोष:	Proper proportion of humors
समाग्नि	Regularity of the digestive function
समधातुक्रिय	Regularity of the functions of the body elements
सममलक्रिय.	Regularity of the excretory function
प्रसन्नात्मा	Clarity of the self
प्रसन्नेन्द्रियः	Clarity of the senses
प्रसन्नमना	Clarity of the mind
सममांसप्रमाण	Proper proportion of flesh
समसंहननः	Proper compactness
दृढेन्द्रियः	Firmness of sense organs
क्षुत्पिपासा सहः	Capacity to endure hunger and thirst
शीतातप सह	Capacity to endure cold and heat
व्यायाम सह:	Capacity for exercise
समजर	Aging at the proper time all over the body
समसर्वरस सात्म्यः	Equally homologous to all tastes

रुगपगमनम्
स्वरवर्णयोग
शरीरोपचयो
बलवृद्धि
अभ्यवहार्याभिलाषो
रुचिराहारकाले
अभ्यवहृतस्य आहारस्य काले सम्यग्जरणम्
निद्रालाभो यथाकालम्
वैकारिकाणां स्वप्नानामदर्शनम्
सुखेनच प्रतिबोधनम्
वातमूत्रपुरीषरेतसां मुक्ति
मनोबुद्धीन्द्रियाणामव्यापत्ति
मनोबुद्धीन्द्रियशरीरतुष्टि

निदानत परीक्षा

Examination of the patient with reference to general signs and symptoms

प्रत्यक्षेण (इन्द्रिय) Physical Examination

चक्षुषा परीक्षा Inspection Examination with the eye

उपचय.	Increase
अपचयः	Decrease
ग्लानिः	Depression
हर्ष	Exhilaration
रौक्ष्यम्	Dryness
स्नेह	Unctuousness
वर्णः	Colour
संस्थानम	Location or shape
प्रमाणम्	Size
छाया	Shadow

विशेषत परीक्ष्या Particulars

नखा Nails
नयने Eyes
पक्ष्मणी Eye lashes
भ्रुवौ Eye brows
नासा Nose
दन्ता Teeth
ओष्टौ Lips
हस्तौ Hands
पादौ Feet
प्रभा Lustre
केशा Hair of the head
लोमानि Body hair
मन्ये The sides of the neck
उच्छ्वासः Respiration
कुमारिके Pupils
मूत्रम् Urine
पुरीषम् Feces
छाया Shadow
प्रतिच्छाया Reflection

स्पर्शन परीक्ष्या—Examination with the hand

स्पर्श पचविध

(१) परिमर्शनम् Palpation
(२) प्रपीडनम् Pression
(३) आयमनम् Extension
(४) आकोटनम् Percussion
(५) लुञ्चनम् Traction

शीतता	उष्णता	Cold or heat
स्निग्धता	अस्निग्धता	Moist or dry
गुरुता	लघुता	Heavy or light
सुप्तता	असुप्तता	Insensitive or sensitive
भावता	अभावता	Present or absent
खरता	श्लक्ष्णता	Rough or smooth
स्तब्धता	अस्तब्धता	Rigid or loose
पतितता	उन्नतता	Depressed or elevated
सशूलता	निःशूलता	Painful or painless
स्थिरता	अस्थिरता	Immovable or movable
मृदुता	कठिनता	Soft or hard
स्पन्दता	अस्पन्दता	Pulsating or non-pulsating
पृथुता	अक्षिप्तता	Diffused or limited
घनता	द्रवता	Solid or fluid

विशेषत परीक्ष्या

अक्षिणी Eyes
कर्णौ Ear
पार्श्वे
भ्रुवौ Eye brows
शङ्खौ Temples
ग्रीवा Throat
मेढ्र Phallus
नाभि Umbilicus
तालु Palate
ओष्ठौ Lips
ललाटम् Fore head
हनु Jaws
नासिके Nose
पाणी Hands
अंसौ Shoulder girdle

पादौ Feet
जानुनी Knees
ऊरू Thighs
गुल्फौ Ankles
मणिके Wrists
स्फिचौ Hips
स्तनौ Breasts
उदरम् Abdomen
पार्श्वे Sides
पृष्ठेषिका Spinal column
वङ्क्षणौ Groins
गुदम् Rectum
वृषणौ Testes
पर्शुका Ribs

निदानत परीक्षा

Examination of the patient with reference to general signs and symptoms

प्रत्यक्षेण (इन्द्रिय) Physical Examination

चक्षुषा परीक्षा Inspection Examination with the eye.

उपचय	Increase
अपचयः	Decrease
ग्लानिः	Depression
हर्ष	Exhilaration
रौक्ष्यम्	Dryness
स्नेह	Unctuousness
वर्णः	Colour
संस्थानम	Location or shape
प्रमाणम्	Size
छाया	Shadow

विशेषत परीक्षा Particulars

नखा Nails
नयने Eyes
पक्ष्मणी Eye lashes
भ्रुवौ Eye brows
नासा Nose
दन्ता. Teeth
ओष्टौ Lips
हस्तौ Hands
पादौ Feet
प्रभा Lustre
केशा Hair of the head
लोमानि Body hair
मन्ये The sides of the neck
उच्छ्वासः Respiration
कुमारिके Pupils
मूत्रम् Urine
पुरीषम् Feces
छाया Shadow
प्रतिच्छाया Reflection

स्पर्शन परीक्षा—Examination with the hand

स्पर्श पचविध

(१) परिमर्शनम् Palpation
(२) प्रपीडनम् Pression
(३) आयमनम् Extension
(४) आकोटनम् Percussion
(५) लुञ्चनम् Traction

शीतता	उष्णता	Cold or heat
स्विन्नता	अस्विन्नता	Moist or dry
गुरुता	लघुता	Heavy or light
सुप्तता	असुप्तता	Insensitive or sensitive
भावता	अभावता	Present or absent
खरता	श्लक्ष्णता	Rough or smooth
स्तब्धता	अस्तब्धता	Rigid or loose
पतितता	उन्नतता	Depressed or elevated
सशूलता	निःशूलता	Painful or painless
स्थिरता	अस्थिरता	Immovable or movable
मृदुता	कठिनता	Soft or hard
स्पन्दता	अस्पन्दता	Pulsating or non-pulsating
पृथुता	अक्षिप्तता	Diffused or limited
घनता	द्रवता	Solid or fluid

विशेषत परीक्षा

अक्षिणी Eyes
कर्णौ Ear
पार्श्वे
भ्रुवौ Eye brows
शङ्खौ Temples
ग्रीवा Throat
मेढ्र Phallus
नाभि Umbilicus
तालु Palate
ओष्ठौ Lips
ललाटम् Fore head
हनु Jaws
नासिके Nose
पाणी Hands
अंसौ Shoulder girdle
पादौ Feet
जानुनी Knees
ऊरू Thighs
गुल्फौ Ankles
मणिके Wrists
स्फिचौ Hips
स्तनौ Breasts
उदरम् Abdomen
पार्श्वे Sides
पृष्ठेषिका Spinal column
वङ्क्षणौ Groins
गुदम् Rectum
वृषणौ Testes
पर्शुका Ribs

श्रवणेनपरीक्ष्या Examination with the ear

अन्त्रकूजनम् Gurgling of the intestines

सन्धिस्फुटनम् Craking of the Joints and Knuckles

अंगुलिपर्वणि. स्फुटनम् Sound produced by knuckles

ध्वनिविशेष फुप्फुस हृदयादीनाम् Sound emanating from the heart, the lungs and other parts

स्वर विशेषा Characteristics of the voice

अंगुल्याकोटनध्वनय Sound produced by percussion with the finger

ये चान्ये केचिच्छरीरोपगता शब्दा Any other sounds observable in the body

घुर्घुरकम् Gurgling (Groaning)

कठकूजनम् Moaning weezig

कल ध्वनिः Inarticulate

ग्रस्त ध्वनिः Impeded

अव्यक्त ध्वनि. Indistinct

गद्‌गद ध्वनि Broken

क्षाम ध्वनि Feeble

दीन ध्वनि. Low speech

रसनया परीक्षा Examination with the toung

आतुरमुख वैरस्य परिप्रश्नेन Change of taste in the patients mouth by interrogation

शरीरवैरस्य यूकापसर्पणेन Vitiation of the body fluid by observing the exodus of lice etc from the patients body

शरीरमाधुर्यं मक्षिकोपसर्पणेन Sweetning of the body fluid by observing the swarming of flies

चारिलोहितम् श्वकाकादिभ क्षणेन Vital blood by its being accepted by dogs crones etc.

लोहितपित्तम् श्वकाकाद्यभक्षणेन Bilious blood by its being rejected by dogs crows itc.

घ्राणेन परीक्षा Examination with the Nose

सर्वशरीरगता प्रकृतिवैकारिका गन्धविशेषा.
इष्टा. ,,
अनिष्टा. ,,
वियोनयः ,,
विदुराः ,,

निदानतः परीक्षा परिप्रश्नेन

Examination of the patient with reference to disease's condition in General —By Interrogation

लिंगम् Etiological factors General सामान्य Special विशेष
पूर्वरूपम् Premonitory symptoms ,, ,, ,, ,,
रूपम् Signs of Symptoms Pathognomonic
General सामान्य Special विशिष्ट
Pathognomonic
उपशय Homologatory Symptoms and
हेतु causative factors विपरीत Directly antagonistic
व्याधि Disease condition विपरीतार्थकारी Antagonistic in effect
अनुपशय Nonhomologatory signs and symptoms
विपरीत causative factors Directly antagonistic
विपरीतार्थकारी Disease condition Anta gonistic in effect
संप्राप्ति Pathogenesis (Disease Course)
जाति दोषोत्पत्ति Origin of disease
आगति. दोषवृद्धि Progress of disease
संप्राप्ति रोगाभिनिवृत्ति Full development of

अनुमानेन परीक्षा Examination by reference methodr

अग्नि Gastric fire	जरणशक्त्या By	power of digestion
बलम् Strength	व्यायामशक्त्या	By capacity for exercise
श्रोत्रादीनि Sense faculties such at hearing etc		
शब्दाद्यर्थग्रहणेन By their power of perception		
मन Mind	अर्थाव्यभिचरणेन	By the power of conceentration
विज्ञानम् Understanding	व्यवसायेन	By the purposeful nature of the action
रज Passion	संगेन	By strength of attachment
मोह Ignorance	अविज्ञानेन	By lack of understanding
क्रोध Anger	अभिद्रोहेण	By violent action
शोक Grief	दैन्येन	By dejection
हर्ष. Joy	आमोदेन	By exhilaration
प्रीति. Pleasure	तोषेण	By the sense of satisfaetion
भयम् Fear	विषादेन	By despair
धैर्यम् Fortitude	अविषादेन	By cheerfulness
वीर्यम् Vitality	उत्थानेन	By enthusiasm for undertaking (enter-prize)
अवस्थानम् Resolution	अविभ्रमेण	By absence of vacillation
श्रद्धा Indination	अभिप्रायेण	By likes
मेधा Intelligence	ग्रहणेन	By power of comprehension
संज्ञा Wits	नामग्रहणेन	By correct recognition
स्मृतिः Memory (modesty)	स्मरणेन	By power of recollection
ह्री·	अपत्रपणेन	
शीलम् Character	अनुशीलेन	By conduct
द्वेष Aversion	प्रतिषेधेन	By aboidence
उपाधि Motive	अनुबन्धेन	By subsequent performance
धृति. Steadiness	अलौल्येन	By the absence of fickleness
वश्यता Docility	विधेयतया	By compliance

वयोभक्ति सात्म्य व्याधिसमुत्थानानि Age, prodilection, homologation etiological factors

काल देशोपशय वेदना विशेषेण By the stage of life residence, homologatory signs and the type of pain respectively

गूढलिङ्गव्याधि . Disease with latent symptoms

उपशयानुपशयाभ्याम् By homologatory and non-homologatory tests

दोषप्रमाणविशेषम् Digree of the morbidity

अपचार विशेषेण By intensity of provocative facto r

आयुष: क्षय: Imminence of death अरिष्टै By evil prognostic signs
उपस्थित श्रेयस्त्वम् Expectation of recovery
कल्याणाभिनिवेशेन By auspicious (wholesome) incination
अमल सत्वम् clarity of mind अविकारेण By absence of disorder

हेतुविशेषत परीक्षा Examination of the patient with reference to specific (Disttinc-tive) etiological factors.

कालस्य Time अयोग: Absence of contact अतियोग Excessive contact
मिथ्यायोगः Erroneous contact

बुद्धि.	Understanding
इन्द्रियस्य	Perception
मुखम्	Predisposing
प्रेरणम्	Exciting
विप्रकृष्टम्	Remoti
सन्निकृष्टम्	Proximal
आध्यात्मिकम्	Endogenous
आदिबलप्रवृत्त	Genetic
जन्मबल प्रवृत्त	Congenital
दोषबल प्रवृत्त	Constitutional
आधिभौतिक	Exogenous (Environmental)
सघातबल प्रवृत्त	Injuries resulting from external impact
आधिदैविक	Providential
कालबल प्रवृत्त	Seasonal
दैवबल प्रवृत्त	Super natural
स्वभावबल प्रवृत्त	Natural

वात

		प्राकृत	वृद्ध	क्षय
गुण	कर्म	उत्साह	कार्श्य	अगसाद
लघु	रौक्ष्य	उच्छ्वास	कार्ष्ण्य	अल्पभाषित
शीत	ग्लानि	नि श्वास	उष्णकामता	अल्पचेष्टा
रुक्ष	विचार	चेष्टा	कम्प	सज्ञामोह
खर	वैशद्य	वेगप्रवर्तन	आनाह	अग्निसाद
विशद	लाघव	धातुसम्यग्गति	शकृद्ग्रह	प्रसेक
सूक्ष्य		अक्षपाटव	बलभ्र श	
स्पर्श		चल	निद्रा,,	
ईषत्तिक्त		गतिशीलो	इन्द्रिय,,	
›ाय.कषाय		का समान मोक्ष	प्रलाप	
			भ्रम	
			दीनता	

चय	कोप	गुण	वातल के लक्षण	प्रकोपकारण	१
उष्णता	शीतता	रूक्ष	रूक्ष, अपचित अल्प, शरीरा, जागरूका	तिक्त	१
के साथ	के साथ		प्रतत रूक्ष क्षामभिन्न मन्द सक्त जर्जर स्वरा,	कटु	१
रूक्षादि	रूक्षादि	लघु	लघु चपलगति चेष्टाहारा विहारा	कषाय	३
गुण	गुण	चल	अनवस्थित सन्धि अक्षि भ्रू हनु ओष्ठ जिह्वा	अल्प भोजन	६
			शिर स्कन्ध पाणि पादा,	रूक्ष ,,	६
		बहु	बहु प्रलाप कण्डरा सिरा प्रताना	प्रमित ,,	५
		शीघ्र	शीघ्र समारम्भ क्षोभ विकारा शीघ्रत्रास	वेगरोध	
			राग-विराग, श्रुतग्राहिणो, अल्प स्मृतय,	वेगोदीरण	
		शीत	शीतासहिष्णवो प्रतत शीतकोद्वेपकस्तभाः,	रात्रिजागरण	
		पारुष्य	परुष-केशश्मश्रु, रोम, नख, दशन, वदन	अत्युच्चभाषण	
			पाणि, पादागा.	क्रिया का अतियोग	
		वैशद्य	स्फुटित-अग-अवयवा- सतत सन्धि	भय ,,	
			शब्दगामिनश्च	शोक ,,	
				चिन्ता ,,	
				व्यायाम ,,	
				मैथुन	
				ग्रीष्म के अन्त मे(वर्षा)	
				दिन के अन्त में	
				रात्रि के अन्त मे	
				भोजन के अन्त मे	

साम—कुक्षि मे पीडा, आध्मान, प्रसचर, विबन्ध, अग्निमांद्य, तन्द्रा, गुडगुडाहट, कटिपीडा, पार्श्वपीड़ा,(आढ्यवात, मा

निराम—विशद, रूक्ष, विबन्धरहित, अल्पवेदना,

आहार— मृदु, स्निग्ध, उष्ण, लवण, अम्ल, मधुर,

वात

		प्राकृत	वृद्ध	क्षय
गुण	कर्म	उत्साह	कार्श्य	अवसाद
लघु	रौक्ष्य	उच्छ्वास	काष्र्ण्य	अल्पभाषित
शीत	ग्लानि	नि श्वास	उष्णकामता	अल्पचेष्टा
रुक्ष	विचार	चेष्टा	कम्प	संज्ञामोह
खर	वैशद्य	वेगप्रवर्तन	आनाह	अग्निसाद
विशद	लाघव	धातुसम्यग्गति	शकृद्ग्रह	प्रसेक
सूक्ष्य		अक्षपाटव	बलभ्रंश	
स्पर्श		चल	निद्रा,,	
ईषत्तिक्त		गतिशीलो	इन्द्रिय,,	
[illegible]य.कषाय		का समान मोक्ष	प्रलाप	
			भ्रम	
			दीनता	

वात

		प्राकृत	वृद्ध	क्षय
गुण	कर्म	उत्साह	कार्श्य	अगसाद
लघु	रौक्ष्य	उच्छ्वास	कार्ष्ण्य	अल्पभाषित
शीत	ग्लानि	नि श्वास	उष्णकामता	अल्पचेष्टा
रुक्ष	विचार	चेष्टा	कम्प	सज्ञामोह
खर	वैशद्य	वेगप्रवर्तन	आनाह	अग्निसाद
विशद	लाघव	धातुसम्यग्गति	शकृद्ग्रह	प्रसेक
सूक्ष्य		अक्षपाटव	बलभ्रंश	
स्पर्श		चल	निद्रा,,	
ईषत्तिक्त		गतिशीलो	इन्द्रिय,,	
[illegible]ाय.कषाय		का समान मोक्ष	प्रलाप	
			भ्रम	
			दीनता	

८ मेधा (ज्ञान)	१८ निद्राल्पता	ईषदम्ल
९ धी (ज्ञान धारण)		ईषद्लवण
१० शौर्य		प्रायः कटु
११ तनु		
१२ मार्दव		
१३ प्रसाद		
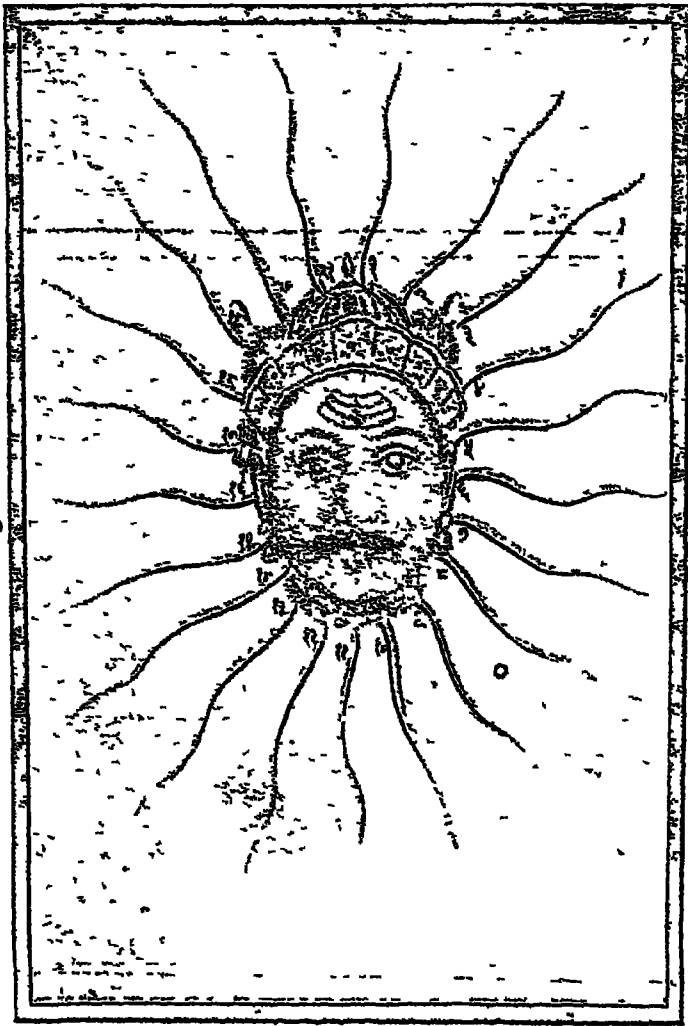
पित्त

प्राकृत	वृद्ध	क्षय	गुण	कर्म
१ पक्ति	१४ पीत विट्	१९ अग्निमाद्य	उष्ण	दाह
२ ऊष्मा	पीत मूत्र	२० शीत	तीक्ष्ण	पाक
३ दर्शन	पीत नेत्र	२१ प्रभाहानि	सूक्ष्म	प्रभा
४ क्षुत्त	पीत त्वक्		लघु	प्रकाश
५ तृड्	१५ क्षुधा		रूक्ष	वर्ण
६ रुचि	१६ तृषा		विशद	
७ प्रभा	१७ दाह		रूपबहुल	

पित्त

चय	कोप	गुण	लक्षण	प्रकोपकारण	प्रयोजन	रोग	आत्मरूप	कम
शीतता	उष्णता	उष्ण	उष्णासहा उष्णमुखा सुकुमारावदात गात्रा.	कटु, अम्ल लवण	मध्यबलाः	श्रोष प्लोष दाह दवथु	उष्णता तीक्ष्णता	दाह उष्णता
केसाथ	केसाथ		प्रभूतपिप्लुव्यग तिलपिडकाः क्षुत्पिपासा वन्त. क्षिप्रव-	तीक्ष्ण, उष्ण	मध्यायुषा	धूमक अम्लक विदाह अन्तर्दाह	गमनशीलता, द्रव	पाक स्वेदाधिक्य
तीक्ष्णादि	तीक्ष्णादि		लीपलीत खालित्यदोषाः	क्रोध	मध्यज्ञान	असदाह ऊष्माधिक्य अतिस्वेद अग गध	अधिक स्ने का न होना	क्लेथ
गुण	गुण		मृदु अल्प कपिलश्मश्रु लोमकेशा.	विदाही	मध्य विज्ञान	गध अगावदरणम् शोणितक्लेद	पित्त का श्वेत वर्ण	कोथ
		तीक्ष्ण	तीक्ष्णपराक्रमः तीक्ष्णाग्नय. प्रभूत अशन पाना,	शरत्काल	मध्य वित्ता.	मासक्लेद त्वग्दाह, त्वगवदरण	कच्चे मास के समान गन्ध,	खुजली
			क्लेशासहिष्णु, ददशूका	मध्यान्ह	मध्य उपकरणवन्तः	रक्तविस्फोट	कटु अम्ल रस	स्राव
		द्रव	शिथिल मृदु सन्धि मासा प्रभूत सृष्ट स्वेद मूत्र पुरीषा	रात्रिकामध्य		रक्तपित्त, मण्डल, हरितत्व, नीलिका,		.लालिमा
				भोजनकी-		कामला, मुखतिक्तता,		
		विस्र	पूतिवक्ष॰ कक्षा आस्य शिरः शरीर गधा	विदग्धावस्था		मुख से दुर्गन्ध, तृषा, अतृप्ति		
		कटु अम्ल	अल्प शुक्र व्यवायापत्याः			मुखपाक, गलपाक, नेत्रपाक गुदपाक तिमिर		
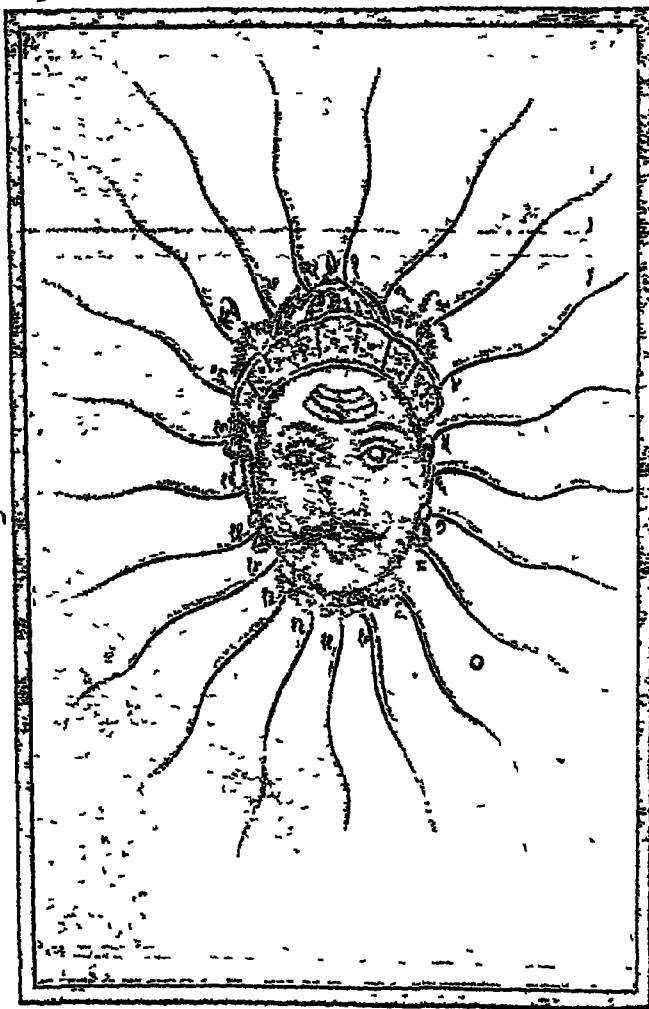
पित्त

प्राकृत	वृद्ध	क्षय	गुण	कर्म
१ पक्ति	१४ पीत विट्	१९ अग्निमाद्य	उष्ण	दाह
२ ऊष्मा	पीत मूत्र	२० शीत	तीक्ष्ण	पाक
३ दर्शन	पीत नेत्र	२१ प्रभाहानि	सूक्ष्म	प्रभा
४ क्षुत्त	पीत त्वक्		लघु	प्रकाश
५ तृड्	१५ क्षुधा		रुक्ष	वर्ण
६ रुचि	१६ तृषा		विशद	
७ प्र[illegible]	१७ दाह		रुपबहुल	

उपक्रम—

तिक्त मधुर कषाय शीत स्नेह विरेक प्रदेह परिषेक अभ्यग

सर्पि पान,

मृदु सुरभि शीत हृद्य गन्ध,

शिशिरजलावगाहन

मनोऽनुकूल सुखस्पर्श (मुक्तामणि वैदूर्य पद्मराग, चन्द्रकान्त)

कुन्दमल्लिका मालाधारण

सुगन्धित जल के टाटे लगाना,

श्रुतिसुखद सगीत

समवयस्क अनुकूलमित्रो के साथ गोष्ठी

प्रिय सतानो का आश्लेष

मृदु स्निग्ध वस्त्रालङ्कारविभूषित प्रियतमा का मिदयाश्लेष

च द्रकिरणो मे धारागृहो का सेवन

मध्यान्ह मे जलाशय किनारे स्थित बडी वृक्षो वाली वाटिकाओ मे घूमकर समय बिताए।

दिवास्वप्न को छोड कर ग्रीष्मऋतुचर्या

साम	निराम
दुर्गन्धयुक्त	ताम्र
ईषतकाला	अनेकरगी
कटु	पीत
बहल	अत्युष्ण
गुरु	तीक्ष्ण
हरित्	तिक्तरस
अम्ल	अस्थिर
स्थिर	(जल मे फैलने वाला)
गुरु	गन्धशून्य
अम्लोद्गार	रुचिकर
कठदाह	अग्निकर
हृद्दाह	बलकर

श्लेष्मा-सोम

प्राकृत	वृद्धि	क्षय	गुण	कर्म
शीतत्व	अग्निसाद	भ्रम	द्रव	उत्क्लेद
स्थिरत्व	प्रसेक	उर शून्य	स्निग्ध	स्नेह
स्निग्धत्व	आलस्य	शिर शून्य	शीत	बन्ध
सन्धिबन्ध	गौरव	सन्धि शून्य	मन्द	विष्यन्द
सन्धिक्षम	श्वेतागता	हृद्द्रव	मृदु	मार्दव
बल,	शीतागता	श्लथसन्धि	पिच्छिल	प्रह्लाद
ओज	श्लथागता		रसबहुल	
स्नेह	श्वास		ईणत्कषाय	
गुरुता	कास		ईणदम्ल	
वृषता	अतिनिद्रा		ईषल्लवण	
क्षमा			प्राय. मधुर	
धृति				
लोभरहित				

कफ

चय	कोप	गुण	कफज लक्षण	प्रकोप कारण	प्रयोजन	रोग	आत्मरूप	कर्म
शीतलता	उष्णता	स्निग्ध	स्निग्धांगा	मधुर, अम्ल, लवण	बलवन्त	तृप्ति तन्द्राविषयम	स्नेह	श्वैत्य
के साथ	के साथ	श्लक्ष	श्लक्ष्णांगाण	स्निग्ध, गुरु	वसुमन्तः	निद्राधिक्यम् स्तैमित्यम्	शैत्य	शैत्य
स्नेहादि	स्नेहादि	मृदु	दृष्टि सुख सुकुमार अवदात-गात्रता	अभिष्यन्दी, शीत	विद्यावन्त॰	गुरुगात्रता आलस्यम्	शैथिल्य	कण्डु
गुण	गुण	मधुर	प्रभूत शुक्र—व्यवाय-अपत्या.	आस्या सुख	ओजस्विनः	मुखमाधुर्यम् मुखस्राव	गौरव	स्थैर्य
	,	सार	सारसहत स्थिर शरीरा	स्वप्न सुख	शान्ता॰	श्लेष्मोदिगरणम् मलस्याधिक्यम्	माधुर्य	गौरव
		सान्द्र	उपचित परिपूर्ण सर्वगात्रता.	अजीर्ण दिवास्वप्न	आयुष्मन्त	बलासक हृदयोपलेप	स्थैर्य	स्नेह
		मन्द	मन्दचेष्टा आहार विहारा	अतिवृहण वमन का अयोग		कठोपलेप धमनी प्रतिचय	पैच्छिल्य	स्तम्भ
		स्तिमित	अशीघ्र आरम्भ क्षोभ विकाराः	भोजन के बाद		गलगण्ड अतिस्थौल्य	मार्त्स्न्य	सुप्ति
		गुरु	सार अधिष्ठित अवस्थितगति	बसन्त मे		शीताग्निता उदर्द		क्लेद
		शीत	अल्पक्षुत तृष्णा सन्ताप स्वेददोषा॰	दिन के पूर्वभाग मे रात्रि के ,,		श्वेतावभारता मूत्र-नेत्रवर्चस्त्वम्		उपदेह
		विज्जल	सुश्लिष्ट-सार सन्धि बन्धना					बन्ध
		अच्छ	प्रसन्न-दर्शन आनना स्निग्ध वर्ण स्वरा					माधुर्य चिरकारित्व

श्लेष्मा-सोम

प्राकृत	वृद्धि	क्षय	गुण	कर्म
शीतत्व	अग्निसाद	भ्रम	द्रव	उत्क्लेद
स्थिरत्व	प्रसेक	उर.शून्य	स्निग्ध	स्नेह
स्निग्धत्व	आलस्य	शिर शून्य	शीत	बन्ध
सन्धिबन्ध	गौरव	सन्धि शून्य	मन्द	विष्यन्द
सन्धिक्षम	श्वेतागता	हृद्द्रव	मृदु	मार्दव
बल,	शीतागता	श्लथसन्धि	पिच्छिल	प्रह्लाद
ओज	श्लथागता		रसबहुल	
स्नेह	श्वास		ईषत्कषाय	
गुरुता	कास		ईषदम्ल	
वृषता	अतिनिद्रा		ईषल्लवण	
क्षमा			प्राय. मधुर	
धृति				
लोभरहित				

कफ

चय	कोप	गुण	कफज लक्षण	प्रकोप कारण	प्रयोजन	रोग	आत्मरूप	कर्म
शीतलता	उष्णता	स्निग्ध	स्निग्धांगा	मधुर, अम्ल, लवण	बलवन्त	तृप्ति तन्द्राधिक्यम	स्नेह	श्वैत्य
के साथ	के साथ	श्लक्ष्ण	श्लक्ष्णांगाः	स्निग्ध, गुरु	वसुमन्तः	निद्राधिक्यम् स्तैमित्यम्	शैत्य	शैत्य
स्नेहादि	स्नेहादि	मृदु	दृष्टि सुख सुकुमार अवदात-गात्रता	अभिष्यन्दी, शीत	विद्यावन्तः	गुरुगात्रता आलस्यम्	शौक्ल्य	कण्डु
गुण	गुण	मधुर	प्रभूत शुक्र—व्यवाय-अपत्या॰	आस्या सुख	ओजस्विनः	मुखमाधुर्यम् मुखस्राव	गौरव	स्थैर्य
	,	सार	सारसंहत स्थिर शरीरा	स्वप्न सुख	शान्ताः	श्लेष्मोद्गिरणम् मलस्याधिक्यम्	माधुर्य	गौरव
		सान्द्र	उपचित परिपूर्ण सर्वगात्रताः	अजीर्ण दिवास्वप्न	आयुष्मन्त	बलासक हृदयोपलेप	स्थैर्य	स्नेह
		मन्द	मन्दचेष्टा आहार विहाराः	अतिबृंहण वमन का अयोग		कठोपलेप धमनी प्रतिचय	पैच्छिल्य	स्तम्भ
		स्तिमित	अशीघ्र आरम्भ क्षोभ विकाराः	भोजन के बाद		गलगण्ड अतिस्थौल्य	मात्स्र्य	सुप्ति
		गुरु	सार अधिष्ठित अवस्थितगति	बसन्त मे		शीताग्निता उदर्द		क्लेद
		शीत	अल्पक्षुत तृष्णा सन्ताप स्वेददोषा॰	दिन के पूर्वभाग मे रात्रि के ,,		श्वेतावभासता मूत्र-नेत्रवर्चस्त्वम्		उपदेह
		विज्जल	सुश्लिष्ट-सार सन्धि बन्धनाः					बन्ध
		अच्छ	प्रसन्न-दर्शन आनना स्निग्ध वर्ण स्वरा					माधुर्य चिरकारित्व

साम	निराम
मैला	सामविपरीत
तन्तुयुक्त	निर्मल
बहुल (गाढा)	स्वच्छ
प्रलेपी	पिंडाकार
पिच्छिल	विशद
आविल	झागयुक्त श्वेत
(बूचियां)	मधुर रस
कठलेपी	पाण्डुवर्ण
दुर्गन्धी	नि सार
क्षुधारोधी	जल पर तैरने वाला
उद्गारोधी	ष्ठीवन सरलता से निकलना
	मुखशोधी

उपक्रम —

कटु तिक्त कषाय रूक्ष उष्ण तीक्ष्ण स्वेद वमन शिरो विरेचन व्यायाम
तीक्ष्ण मद्योपन,
रूक्षगुणवाले कटु तिक्त कषाय रस के भोजन,
चिरकालीन पुराने मद्य,
धावन, लघन, प्लवन, जागरण, कुश्ती,
सम्भोग,
रूक्ष द्रव्यो का उबटन,
उपवास, धूम्रपान, गण्डूष,
बसन्त ऋतुचर्या

समूर्च्छना

	चय (१)	कोप (२)	प्रसर (३)	स्थानसंश्रय	(पूर्वरूप बनना (४))	व्यक्ति (५)
				उदर	गुल्म, विद्रधि, उदर, अग्निमांद्य आनाह	साम स्वेदावरोध,
		उदर में चुभने की सी वेदना	विरुद्ध मार्ग गमन		विशूचिका, अतिसार, प्रवाहिका विलम्बिका	मूत्रावरोध,
वात	स्तब्ध कोष्ठता	वायु सचार	(ऊर्ध्वं अधः तिर्यक्			बलहानि गौरव
	पूर्ण "		आटोप	बस्ति	प्रमेह, अश्मरी, मूत्राघात, मूत्रदोष	वायु का असम्यक्
			(शोषक स्वभाव	मेढ़	निरुद्धप्रकश, उपदंश, शूकदोष	सचार
			से धातुक्षय)	गुद	भगन्दर, अर्श	आलस्य अजीर्ण
				वृषण	वृद्धि	
		अम्लोद्गार	उष्णता			थूक का अधिक
पित्त	त्वचा पीत		चूसने की सी वेदना	ऊर्ध्वजत्रु	कर्ण, नासा, अक्षि, मुख, शिरोरोग	आना
	नखपीत	पिपासा	दाह	त्वचा, माँस,	क्षुद्ररोग, कुष्ठ, विसर्प	मलावरोध
	नेत्र पीत	दाह	धूमवत् उद्गार	रक्त		अरुचि
			(कटु, उष्ण गुण से	मेद	ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, गलगण्ड अलजी,	क्लम
			धातुक्षय)	अस्थि	विद्रधि, अनुशयी	(उपरोक्त लक्षण
				पाद	श्लीपद, वातरक्त, वातकण्टक,	से विपरीत
				सर्वाङ्ग	ज्वर, सर्वाङ्गवातव्याधि, पाण्डु, प्रमेह, शोथ,	निराम)
		अन्नद्वेष	अरुचि	शाखा	फोड़ा, फुनसी, अलजी, अपची, चर्मकील,	
कफ	ऊष्मा की मदता		अजीर्ण		अधिमांस, मस्सा, कुष्ठ, व्यंग, (बहिर्मार्गज)	
	अंगों का भारीपन	अरुचि	अनायास अकाम वमन		विसर्प, शोथ, गुल्म, अर्श, विद्रधि	
	आलस्य	हृल्लास	(स्रोतोऽवरोध से	मर्मास्थि	पक्षाघात, पक्षग्रह, अपतानक, अर्दित, शोष,	
			धातुक्षय	सन्धि	यक्ष्मा, अस्थिशूल, सन्धिशूल, गुदभ्रंश, शिरोरोग, हृद्रोग बस्तिरोग	
				कोष्ठ	ज्वर, अतिसार, वमन, अलसक, विशूचिका, कास श्वास, हिक्का, आनाह, उदर, प्लीहा, (आभ्यन्तर मार्ग में) विसर्प, शोथ, गुल्म अर्श, विद्रधि	

भिषजा परीक्ष्याणि

वर्ण	प्रकृति	वैकारिका	अरिष्टभूता
वर्ण ग्लानि हर्ष रौक्ष्य स्नेहाः	कृष्ण कृष्णश्याम श्यामावदात अवदात	नील श्याव ताम्र हरित शुक्ल	अर्धं प्रा. अर्धं वि. (सव्यदक्षिण) (ऊर्ध्वमध) (पूर्वपश्चिम) (अन्तर्बहि) नख नयन वदन मूत्र पुरीष हस्तपाद ओष्ठादि मे भी, स्नेहोमुखार्धे रौक्ष्यच तथैव ग्लानिः हर्षो नखदतेषु पुष्पाणि दन्तसंश्रितः पंक. चूर्णकोवा
स्वर	हंस क्रौंचनेमि दुन्दुभि कलविंक काक-कपोत	भेक सूक्ष्म रूक्ष दीन अनुकीर्ण अनुच्चार	स्वरानेकता
गन्ध		चदन कूठ तगर अगरु मधु	
रस		कुणप आस्यवैरस्य अति स्वादुत्व	शुभाशुभाः अनिमित्तेन—नानापुष्पोपमगन्ध
स्पर्श	नित्योष्मणा मृदु श्लक्ष्ण सता मांस शोणित (शीत) (दारुण) (खरता) (असद) वीतीभाव	स्विन्न शीत स्तब्ध दारुणवीत मांसशोणित स्रस्त व्यस्त च्युत	मक्षिका यूकाः मशका. बिरसादपसर्पन्ति मक्षिका भृशमायान्ति पाद जघोरु स्फिगुदर पार्श्व पृष्ठेषिका पाणी ग्रीवा तालु ओष्ठ ललाट गुल्फ जानु वक्षण गुद वृषण मेढ्रनाभि अंस स्तन मणिक पर्शुका हनु नासिका कर्ण अक्षि भ्रू शखा
चक्षु	दृष्टपांयच्य विजानीयात्पद्मरूपी कुमारिकाम प्रतिच्छायामयीयक्ष्मो	अत्युत्पिण्डित प्रविष्टजिह्म विषम मुक्तबन्धने प्रस्तुते सततोन्मिषिते	उच्छ्वास अतिदीर्घं (ह्रस्वोवा) मन्ये न स्पन्देयाताम् दन्ता परिकीर्णा श्वेता —जातशर्करा सततनिमिषिते, निमेषोन्मेषातिवृते विभ्रान्तदृष्टिके विपरीतदृष्टिके हीनदृष्टिके व्यस्तदृष्टिके नकुलान्ध्ये (दिवाशुक्ल) कपोतान्ध (रात्रीकृष्ण) अलातवर्णे कृष्ण पीत नील श्याव ताम्र हरित हारिद्र शुक्ल वर्ण

वर्ण	प्रकृति	वैकारिका	अरिष्टभूता
			केश लोमा न्यायम्यमानानि प्रलुच्येरन् नवेदयेयु उदरसिराः प्रकाशेरन् नखा. वीतमांसशोणिता पक्वजाम्बववर्णा आयम्यमाना अगुली नस्टेयु.
श्रोत्र		अशब्दस्य श्रोता, शब्द को नही सुनने वाला	
घ्राण			सवृत्यांगुलिभिः कर्णौ ज्वालाशब्द आतुरो न श्रृणोति
रसनम्	स्पर्शनम् भक्ति शौच शील आचार	स्मृति आकृति गौरव लाघव गुणा वेदना उपद्रव छाया	विकृति बल ग्लानि मेधा हर्ष रौक्ष्य स्नेह तन्द्रा आरम्भ आहार विहार आहार परिणाम उपाय अपाय व्याधि व्याधि पूर्व रूप प्रतिच्छाया स्वप्नदर्शन दूताधिकारः

वेगरोध से होने वाले रोग व उनकी चिकित्सा

नाम	वेगधारण से उत्पन्न लक्षण	चिकित्सा कर्म	आहार
मूत्र	वस्तिशूल मेहनशूल मूत्रकृच्छ्र, शिरोरुजा विनाम वक्षणानाह अश्मरी	वस्ति त्रिविधा भोजन से पूर्व घृतपान अवपीडक नस्य	
पुरीष	पक्वाशय शूल शिरःशूल वाताप्रवृत्ति मलाप्रवृत्ति पिण्डिकोद्वेष्टन आध्मान ऊर्ध्ववायु परीकर्त हृदयोपरोध मुख से विट् प्रवृत्ति	स्वेद अभ्यंग अवगाहन वर्तयः वस्ति	प्रमाथि अन्नपान (विडभेदी)
शुक्र	मेढ्रशूल वृषण शूल अंगमर्द हृत्पीडा मूत्र विबन्ध शुक्रास्राव ज्वर-वृद्धि अश्म, षण्ढता	अभ्यंग अवगाह पयोनिरीह मैथुन	शाली मदिरा चरणायुध
वात	वात-मूत्र-पूरीस संगता, आध्मान क्लम रुजा पेट मे गुल्म उदावर्त दृष्टि वध अग्निवध हृद्रव.	स्नेह स्वेद वर्तय· वस्ति वातानुलोमन	वातानुलोमन अन्नपान
छर्दि	कण्डू कोठ अरुचि व्यंग शोथ पाण्डुरोग ज्वर कुष्ट हृल्लास वीसर्प कास श्वास	भुक्त्वाच्छर्दन धूम लंघन रक्तमोक्षण व्यायाम विरेक	रूक्ष अन्नपान
क्षवथु	मन्यास्तम्भ शिरःशूल अर्दित अर्धावभेदक इन्द्रियदौर्बल्य	ऊर्ध्वजत्रु गत अभ्यंग स्वेद धूम नस्य औत्तरभक्तघृत	वातघ्न अन्नपान
उद्गार	हिक्का श्वास अरुचि कम्प हृदय छाती का विबन्ध आध्मान कास	तीक्ष्ण अंजन अर्क बिलोकन	
क्षुत्	कार्श्य दौर्बल्य वैवर्ण्य अंगमर्द अरुचि भ्रम अङ्ग भङ्ग	हिक्कावत्	
जृम्भा	विनाम आक्षेप संकोच सुप्ति कम्प प्रवेपन	वातघ्न औषध	स्निग्ध उष्ण लघुभोजन
पिपासा	कण्ठशोष आस्यशोष बाधिर्य श्रम साद हृदिव्यथा मोह भ्रम	शीत तर्पण	
बाष्प	प्रतिश्याय अक्षिरोग हृद्रोग अरुचि भ्रम पीनस	स्वप्न प्रिया कथा	मद्य
निद्रा	जृम्भा अङ्गमद तन्द्रा शिरोरोग अक्षिगौरव मोह	स्वप्न संवाहन	
श्रम श्वास	गुल्म हृद्रोग मोह	विश्राम वातघ्न क्रियाक्रम	
कास	कास वृद्धि श्वास अरुचि हृद्रोग शोष हिक्का	कासघ्न	

लोभ शोक भय क्रोध मानवेगान्विधारयेत् । नैलज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ।
परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्यच । वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम् ।
स्त्रीभोगास्तेय हिंसाद्यास्तासा वेगान्विधारयेत् ।।

सहननतः परीक्षा Examination of the patient with reference to the compactness of the Body formation

संहनन, संघात, सयोजनमित्येकोऽर्थं. Compactness, Union and Assemblage are synonymous

समसुभक्तास्थि॰	Bones which are symmetrical and well knit
सुबद्ध सन्धिः	Joints that are well knit
सुनिविष्टमांसशोणितम्	Well placed flesh and blood
सुसहत शरीरा.	Those with well compacted body
बलवन्त	Are strong
असहतशरीराः	Those with ill-compacted body
अल्पबलाः	Are weak
मध्य सहत शरीरा	Those with moderately-compacted body
मध्यबलाः	Are moderately strong

सात्म्यत॰ परीक्षा Examination of the patient with reference to his Homologation

सर्वरससात्म्या॰ All the six tastes are homologous

- बलवन्तः Strong
- क्लेशसहा Tolerant of hardships
- चिरजीविन Long lived

एकरससात्म्या One of the tastes are homologous.

- अल्पायुष Low vitality
- अल्प साधना Admit of treatment by limited means of medication

व्यामिश्रसात्म्या Mixed homologation

- मध्यबला Moderate strength

सत्वत परीक्षा Examination of the patient with reference to his psychic make-up

१. प्रवरसत्वा॰ The Highly endowed निजागन्तु महापीडासु अव्यथा इव

२ मध्यसत्वा. Moderately endowed अपरानात्मन्युपनिधाय सस्तम्भयन्ति-आत्मानम् परैश्चापि सस्तम्यन्ते

३ अवरसत्वा. Poorly endowed नात्मना नापि परै सत्वबल प्रतिशक्यन्ते उपस्तम्भयितुम् ।

वेगरोध से होने वाले रोग व उनकी चिकित्सा

नाम	वेगधारण से उत्पन्न लक्षण	चिकित्सा कर्म	आहार
मूत्र	बस्तिशूल मेहनशूल मूत्रकृच्छ्र, शिरोरुजा विनाम वंक्षणानाह अश्मरी	बस्ति त्रिविधा भोजन से पूर्व घृतपान अवपीडक नस्य	
पुरीष	पक्वाशय शूल शिर:शूल वाताप्रवृत्ति मलाप्रवृत्ति पिण्डिकोद्वेष्टन आध्मान ऊर्ध्ववायु परीकर्त हृदयोपरोध मुख से विट् प्रवृत्ति	स्वेद अभ्यंग अवगाहन वर्तयः बस्ति	प्रमाथि अन्नपान (विडभेदी)
शुक्र	मेढ्रशूल वृषण शूल अंगमर्द हृत्पीडा मूत्र विबन्ध शुक्रास्राव ज्वर-वृद्धि अश्म, षण्ढता	अभ्यंग अवगाह पयोनिरीह मैथुन	शाली मदिरा चरणायुध
वात	वात-मूत्र-पुरीस संगता, आध्मान क्लम रुजा पेट मे गुल्म उदावर्त दृष्टि वध अग्निवध हृद्रव.	स्नेह स्वेद वर्तय· बस्ति वातानुलोमन	वातानुलोमन अन्नपान
छर्दि	कण्डू कोठ अरुचि व्यंग शोथ पाण्डुरोग ज्वर कुष्ट हृल्लास वीसर्प कास श्वास	भुक्त्वाच्छर्दन धूम लंघन रक्तमोक्षण व्यायाम विरेक	रूक्ष अन्नपान
क्षवथु	मन्यास्तम्भ शिरःशूल अर्दित अर्धावभेदक इन्द्रियदौर्बल्य	ऊर्ध्वजत्रुगत अभ्यंग स्वेद धूम नस्य औत्तरभक्तघृत	वातघ्न अन्नपान
उद्गार	हिक्का श्वास अरुचि कम्प हृदय छाती का विबन्ध आध्मान कास	तीक्ष्ण अंजन अर्क विलोकन	
क्षुत्	कार्श्य दौबल्य वैवर्ण्य अंगमर्द अरुचि भ्रम अङ्गभङ्ग	हिक्कावत्	
जृम्भा	विनाम आक्षेप संकोच सुप्ति कम्प प्रवेपन	वातघ्न औषध	स्निग्ध उष्ण लघुभोजन
पिपासा	कण्ठशोष आस्यशोष बाधिर्य श्रम साद हृदिव्यथा मोह भ्रम	शीत तर्पण	
बाष्प	प्रतिश्याय अक्षिरोग हृद्रोग अरुचि भ्रम पीनस	स्वप्न प्रिया कथा	मद्य
निद्रा	जृम्भा अङ्गमर्द तन्द्रा शिरोरोग अक्षिगौरव मोह	स्वप्न संवाहन	
श्रम श्वास	गुल्म हृद्रोग मोह	विश्राम वातघ्न क्रियाक्रम	
कास	कास वृद्धि श्वास अरुचि हृद्रोग शोष हिक्का	कासघ्न	

लोभ शोक भय क्रोध मानवेगान्विधारयेत् । नैर्लज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ।
परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्यच । वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम् ।
स्त्रीभोगास्तेय हिंसाद्यास्तासां वेगान्विधारयेत् ॥

सहननतः परीक्षा Examination of the patient with reference to the compactness of the Body formation

संहनन, संघात, सयोजनमित्येकोऽर्थं Compactness, Union and Assemblage are synonymous

समसुभक्तास्थि Bones which are symmetrical and well knit
सुबद्ध सन्धिः Joints that are well knit
सुनिविष्टमांसशोणितम् Well placed flesh and blood
सुसहृत शरीरा. Those with well compacted body
बलवन्त. Are strong

असहृतशरीराः Those with ill-compacted body
अल्पबलाः Are weak

मध्य संहृत शरीरा Those with moderately-compacted body
मध्यबलाः Are moderately strong

सात्म्यत परीक्षा Examination of the patient with reference to his Homologation

सर्वरससात्म्या All the six tastes are homologous
- बलवन्तः Strong
- क्लेशसहा Tolerant of hardships
- चिरजीविन Long lived

एकरससात्म्या One of the tastes are homologous
- अल्पायुष Low vitality
- अल्प साधना. Admit of treatment by limited means of medication

व्यामिश्रसात्म्या Mixed homologation
- मध्यबला Moderate strength

सत्वत परीक्षा Examination of the patient with reference to his psychic make-up

१. प्रवरसत्वा The Highly endowed निजागन्तु महापीडासु अव्यथा इव
२ मध्यसत्वा. Moderately endowed अपरानात्मन्युपनिधाय सस्तम्भयन्ति-मात्मानम् परैश्चापि मस्तम्यन्ते
३ अवरसत्वाः Poorly endowed नात्मना नापि परै सत्वबल प्रतिशक्यन्ते उपस्तम्भयितुम् ।

स्रोतोवि

स्रोतो के नाम	मूल स्थान च०	मूल स्थान सु०	दुष्ट के विशेष विज्ञान	स्रोतो दुष्टि के कारण
प्राणवह	हृदय महास्रोत	हृदय रसवाहिधमन्य	अतिसृष्ट बद्ध अल्पाल्प अभीक्ष्ण सशब्द शूल उच्छ्वास	(अतिप्रवृत्ति सगो सिराग्रन्थि विमार्गगमन) क्षय सधारण रौक्ष्य व्यायाम क्षुधित के दारुण
उदकवह	तालु क्लोम	तालु क्लोम	जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोम शोष अतितृषा	औष्ण्य आम भय अतिपान अतिशुष्काश सेवन तृष्णारोध
अन्नवह	आमाशय वामपार्श्वं	आमाशय अन्नवाहि ,,	अरोचक अविपाक अनन्नाभिलाष छर्दि अश्रद्धा अरुचि आस्यवैरस्य अरसज्ञता हृल्लास गौरव तन्द्रा	अकाल अतिमात्रा से अहित भोजन अग्निवैगुण्य गुरू शीत अतिस्निग्ध अतिमात्र भोजन अतिचिन्तन
रसवह	हृदयं दशधमन्यः	हृदय रसवाहिधमन्य.	अगमर्द ज्वर तम पाण्डु क्लैब्य साद कृशाग अग्निनाश वलि पलित	
शोणितवह	यकृत प्लीहा	रक्तवाहिनीधमन्य यकृत प्लीहा	कुष्ठ विसर्प पिडिका रक्तपित्त रक्तप्रदर गुदमेढ्र आस्य पाक प्लीहा गुल्म पामा विद्रधि नीलिका कामला व्यंग पिप्लव तिल दद्रु चर्मदल श्वित्र कोठ मण्डल	विदाही अन्नपान स्निग्ध उष्ण द्रव आतप अग्नि-सेवन से
मांसवह	स्नायु त्वक्	स्नायुत्वचरक्तवहधमनी	अधिमांस अर्बुद कील गलशालूक शुण्डिका अलजी पूतिमांस गड गडमाला उपजि-ह्विका	अभिष्यंदी स्थूल गुरु दिवास्वाप
मेदोवह	वृक्कौ वपावहनम्	कटि वृक्कौ	जटिली भाव केशो का आस्य माधुर्यकरपाद सुप्तिदाह मुख तालुकण्ठ शोष बस्त गन्ध पिपासाम् आलस्यकार्यच्छिद्रेपु मल षट्पद पिपीलिकाभिशरीर मूत्राभिसरण	अव्यायाम दिवास्वाप मेध व वारुणी का अति-सेवन

अस्थिवह	मेदो जघनम्		अध्यस्थि अधिदन्त दन्त अस्थिभेद शूल वैवर्ण्य केशलोमश्मश्रु दोष	व्यायाम अतिसंक्षोभ अस्थिविघट्टन वातल द्रव्यों का सेवन
मज्जवह	अस्थि सन्धि		पर्वरुक भ्रम मूर्च्छा तम स्थूल मूल मरुः पर्वज	उत्पेष अत्यभिष्यदी अभिघात प्रपीडन विरुद्ध सेवन
मूत्रवह	बस्ति वङ्क्षणौ	बस्तिमेढ्रे	अतिसृष्ट अतिबद्ध पितमल्पाल्पमभीक्ष्ण वा बहुलमूत्र मन्तम् सशूलम्	मूत्र वेग में जल भोजन स्त्री सेवन मूत्रनिग्रह क्षीण व क्षत
शुक्रवह	वृषणौ शेफ	स्तनौ वृषणौ	क्लैब्य अहर्षण गर्भ स्राव पात मृत वन्ध्यत्व	अकाल योनिगमन निग्रह अतिमैथुन शस्त्र क्षार अग्नि
पुरीषवह	पक्वाशय स्थूलगुद	पक्वाशय गुद	कृच्छ्रेणाल्पाल्प सशूलमति द्रवमति ग्रथित-मति बहुचोपविशन्तम्	विधारण अत्यशन अजीर्ण में अध्यशन कृश दुर्बलाग्नि
स्वेदवह	मेदो रोम कूपा		अस्वेदन मति स्वेदन पारुष्य मतिश्लक्ष्णता अगस्य परिदाह लोमहर्ष	व्यायाम अतिसंताप शीतोष्ण का क्रम से असेवन क्रोध शोक भय ।
आर्तववह		गर्भाशय आर्तववाहिधमन्य	कृच्छ्रेणालाभमति वातावर्ण, गर्भपात, स्राव, अभिघात, दुष्ट सङ्क्रमण	

सार

Examination of the patient with reference to the essential make up various system of his body

त्वक्सार		रक्तसार		मांससार		मेदसार	
स्निग्ध लोमा	Glossy	कर्णं स्निग्ध रक्तता	Ears, glossy, ruddy	स्थिर	Firm	वर्ण स्नेह	Complexion
श्लक्ष्ण ,,	Smooth	अक्षि ,, ,,	Eyes	गुरु	Heavy	स्वर ,,	Voice
मृदु ,,	Soft	मुख ,, ,,	Mouth	शुभ	Well formed	नेत्र ,,	Eyes
प्रसन्न ,,	Clear	जिह्वा ,, ,,	Toung	मांसोपचित ,,	paded	केश ,,	Hair
सूक्ष्म ,,	Fine	नासा ,, ,,	Nose	शंख	Temples	लोम ,,	
अल्प ,,	Meagre	ओष्ठ ,, ,,	Lips	ललाट	Forehead	नख ,,	Nails
गम्भीर ,,	Deep rooted	पाणितल,, ,,	Palms	कृकाटिका	Nape of Neck	दन्त,,	Teeth
सुकुमार ,,	Delicate	पादतल ,, ,,	Soles	अक्षि	Eyes	ओष्ठ,,	Lips
सप्रभा ,,	Shining	नख ,, ,,	Nail	गण्ड	Cheeks	मूत्र ,,	Urine
		ललाट ,, ,,	Forehead	हनु	Jaws	पुरीष,,	Feces
		मेहन ,, ,,	Phallus	ग्रीवा	Neck		
		श्रीमद्	Auspicious	स्कन्ध	Shoulders		
		भ्राजिष्णु	Lustrous	उदर	Abdomen		
				कक्ष	Armpits		
				वक्षण	Groin		
				पाणि	Hands		
				पाद	Feet		
				सन्धयः	Joints		

लाभ

त्वक्सार		रक्तसार		मांससार		मेदसार	
सुख	Happiness	सुख	Happiness	क्षमा	Endurance	वित्त	Wealth
सौभाग्य	Prosperity	मेधा	Talent	धृतिः	Resolution	ऐश्वर्य	Authority
ऐश्वर्य	Authority	मनस्विता	Magnanimity	अलौल्य	Stead fastness	सुख	Happiness
उपभोग	Ample means	सुकुमारता	Delicacy	वित्त	Wealth	उपभोग	Ample means
बुद्धि	Intelligence	मध्यबलः	Moderate strength	विद्या	Learning	आर्जव	Generosity
विद्या	Learning	असहिष्णुः	Intolerance	सुख	Happiness	सुकुमार	Mild medica-tions
आरोग्य	Health			आर्जव	Rectitude		
हर्ष	Inthusiasm			बल	Strength		
दीर्घायु	Longevity			आयु	Long life		
				आरोग्य	Health		

सार

अस्थिसार		मज्जसार		शुक्रसार		सत्वसार	
स्थूल पार्ष्णि	Thickness of the heels	मृदु गाः	Softness of their limbs	सौम्यप्रेक्षिणः	Gentle eyed	स्मृतिमन्त.	Remarkable for their memory
,, गुल्फ	,, ,, Ankles	बलवन्त	Strength	क्षीरपूर्णलोचनाइव	Filled with milk	भक्तिमन्तः	,, ,, Devotion
,, जानुः	,, ,, Knees	स्निग्ध वर्ण	Glossy complexion	प्रहर्षं बहुलाः	Highly Sexed	कृतज्ञा	Gratitude
,, अरत्नि	,, ,, Elbows	,, स्वरा.	Glossy voice	स्निग्ध दशन	Glossy teeth	प्राज्ञा	Intelligence
,, जत्रुः	,, ,, Collar bone	स्थूल सन्धयः	Thick joints	वृत्त ,,	Rounded ,,	शुचयो	Purity
,, चिबुकः	,, ,, Chin	दीर्घं सन्धय॰	Long joints	सार ,,		महोत्साहा	Great enthusiasm
,, शिर॰	,, ,, Head	वृत्त ,,	Rounded ,,	सम ,,	Symmetrical teeth	दक्षा.	Efficiency
,, पर्व	,, ,, Digits			संहत ,,	Compact teeth	धीराः	Courage
,, नखाः	,, ,, Nails			शिखर ,,	Beautiful teeth	सुव्यवस्थितगति	Steady gait
,, दन्ता॰	,, ,, Teeth			प्रसन्नवर्णा	Clear complexion	गम्भीर बुद्धि	Deliberate judgment
				प्रसन्नस्वरा	Clear voice	गम्भीर चेष्टा	,, action

स्निग्धवर्णाः	Glossy complexion	कल्याणाभिनिवेशिनः	Devoted to good pursuits
स्निग्धस्वरा.	Glossy voice		
भ्राजिष्णवः	Full of lustre		
महास्फिच.	Broad thighs		

लाभ

अस्थिसार		मज्जसार		शुक्रसार		सत्वसार	
महोत्साहा	Great enthusiasm	दीर्घायुषो	Long lived	स्त्रीप्रियोपभोगा	Favourite with the female sex	समरविक्रातयोधिन	Valorous fighters in the battle field
क्रियावन्तः	Industry	बलवन्तः	Strong	बलवन्त	Strong		
क्लेशसहाः	Endurance	श्रुतभाजः	Possesed of learning	सुखभाज	Endowed with happiness	त्यक्तविषादा	Free from dejection
स्थिरशरीरा.	Compact and firm bodies	विज्ञानभाजः	„ knowledge	ऐश्वर्यभाज	„ Authority		
आयुष्मन्तः	Long life	अपत्यभाजः,	„ Progeny	आरोग्यभाज	„ Health		
		समानभाजः	„ Honour	वित्तभाज	„ Wealth		
				समानभाजः	„ Honour		
				अपत्यभाजः	„ Progeny		

सार

अस्थिसार		मज्जसार		शुक्रसार		सत्वसार	
स्थूल पार्ष्णि	Thickness of the heels	मृदु गात्रः	Softness of their limbs	सौम्यप्रेक्षिणः	Gentle eyed	स्मृतिमन्त-	Remarkable for their memory
„ गुल्फ	„ „ Ankles	बलवन्त	Strength	क्षीरपूर्णलोचनाइव	Filled with milk	भक्तिमन्तः	„ „ Devotion
„ जानुः	„ „ Knees	स्निग्ध वर्णं	Glossy complexion	प्रहर्ष बहुलाः	Highly Sexed	कृतज्ञा	Gratitude
„ अरत्नि	„ „ Elbows	„ स्वरा.	Glossy voice	स्निग्ध दशन	Glossy teeth	प्राज्ञा	Intelligence
„ जत्रुः	„ „ Collar bone	स्थूल सन्धयः	Thick joints	वृत्त „	Rounded „	शुचयो	Purity
„ चिबुकः	„ „ Chin	दीर्घ सन्धय·	Long joints	सार „		महोत्साहा.	Great enthusiasm
„ शिरः	„ „ Head	वृत्त „	Rounded „	सम „	Symmetrical teeth	दक्षा.	Efficiency
„ पर्वः	„ „ Digits			संहत „	Compact teeth	धीराः	Courage
„ नखाः	„ „ Nails			शिखर „	Beautiful teeth	सुव्यवस्थितगति	Steady gait
„ दन्ताः	„ „ Teeth			प्रसन्नवर्णा	Clear complexion	गम्भीर बुद्धि	Deliberate judgment
				प्रसन्नस्वरा	Clear voice	गम्भीर चेष्टा	„ action

मांस (स्नायुत्वक्)

मांससार	गुण	क्षय	वृद्धि	रोग	प्रकोप कारण
शङ्ख-गूढता	क्षमा	नितम्ब क्षीणता	नितम्ब स्थूलता	अधिमांस	अभिष्यन्दी भोजन
कृकाटिका ,,	धैर्य	कपोल ,,	कपोल ,,	अर्बुद	स्थूल ,,
नेत्र ,,	चांचल्यरहित	ओष्ठ ,,	ओष्ठ ,,	अर्श	गुरु ,,
कपोल ,,	धन	शिश्न ,,	शिश्न ,,	अधिजिह्वा	दिवास्वाप
हनु ,,	विद्या	जंघा ,,	ऊरु ,,	उपजिह्वा	
ग्रीवा ,,	सुख	उर ,,	बाहु ,,	उपकुश	
स्कन्ध ,,	सरलता	ग्रीवा ,,	जंघा ,,	गलशालूक	
उदर ,,	आरोग्य	कक्षा ,,	गौरव ,,	गलशुण्डिका	
कक्षा ,,	बल	पिण्डली ,,		अलजी	
छाती ,,	दीर्घायुष्य	रूक्षता		मांससंघात	
सन्धि ,,	शरीरपुष्टि	चुभने की सी		ओष्ठप्रकोप	
सन्धि स्थिरता	मेदपुष्टि	वेदना		गलगण्ड	
सन्धि गुरुता		श्रम		गण्डमाला	
शरीर भरा हुआ		धमनी शैथिल्य		मांस दुर्गन्ध	
		(रक्त भार न्यूनता)			

रस (धमनीवश)

सार	रस	स्थायी (कारण)	पोषक क्षय	वृद्धि	रस दोषज रोग	प्राकृत	मूल
त्वक्सार	लाभ	गुरु द्रव्य	प्राकृतकर्म ह्रास	अग्निमांद्य	अश्रद्धा (अन्नद्वेष)	जीवन	हृदय
स्निग्ध रोम	सुख	शीत ,,	इतरधातुक्षय	उत्क्लेद	अरुचि (मुह के नीचे अन्न नहीं उतरना)	तर्पण	दशधमनी
						धारण	
						द्रवानुसारी स्नेह	
श्लक्ष्ण रोम	सौभाग्य	स्निग्ध ,,	मुखशोष	प्रसेक	रस ज्ञान न होना	सौम्य	
मृदु ,,	ऐश्वर्य	अतिमात्रामें भोजन	रूक्षता	वमन	अग्निमांद्य	प्रीणन	
निर्मल ,,	उपभोग	अतिचिन्तन	तृष्णा	आलस्य	अजीर्ण	रक्तपुष्टि	
सूक्ष्म ,,	बुद्धि		आमाशयशून्यता	गौरव	अङ्गमर्द	यापन उपक्रम-लंघन	
अल्प ,,	विद्या		हृदय ,,	श्वेतता	तृप्ति	अवष्टंभन	
गंभीर ,,	आरोग्य		मनकी ,,	अल्पता	हृल्लास		
सुकुमार ,,	प्रहर्षण		श्रम	शैथिल्य	अवसाद		
प्रभायुक्तत्वचा	आयुष्मान्		शब्दासहिष्णु	श्वास	गौरव		
निर्मल ,,	प्रमाण		हृद्घट्टन	कास	तन्द्रा		
मृदु ,	अजलि ९		हृत्कम्प	अनिद्रा	ज्वर		
			हृद्द्रव	स्थूलता	हृद्रोग		
			हृच्छूल		पाण्डुरोग		
			श्रम		स्रोतोऽवरोध		
			क्लम		कृशता		
			श्वास		मुखवैरस्य		
			कृशता		ग्लानि		
					तम		
					वली		
					पलित		
					क्लीबता		

मांस (स्नायुत्वक्)

मांससार	गुण	क्षय	वृद्धि	रोग	प्रकोप कारण
शख-गूढता	क्षमा	नितम्ब क्षीणता	नितम्ब स्थूलता	अधिमांस	अभिष्यन्दी भोजन
कृकाटिका ,,	धैर्य	कपोल ,,	कपोल ,,	अर्बुद	स्थूल ,,
नेत्र ,,	चांचल्यरहित	ओष्ठ ,,	ओष्ठ ,,	अर्श	गुरु ,,
कपोल ,,	मन	शिश्न ,,	शिश्न ,,	अधिजिह्वा	दिवास्वाप
हनु ,,	विद्या	जंघा ,,	ऊरु ,,	उपजिह्वा	
ग्रीवा ,,	सुख	उर ,,	बाहु ,,	उपकुश	
स्कन्ध ,,	सरलता	ग्रीवा ,,	जंघा ,,	गलशालूक	
उदर ,,	आरोग्य	कक्षा ,,	गौरव ,,	गलशुण्डिका	
कक्षा ,,	बल	पिण्डली ,,		अलजी	
छाती ,,	दीर्घायुष्य	रूक्षता		मांससंघात	
सन्धि ,,	शरीरपुष्टि	चुभने की सी		ओष्ठप्रकोप	
सन्धि स्थिरता	मेदपुष्टि	वेदना		गलगण्ड	
सन्धि गुरुता		श्रम		गण्डमाला	
शरीर भरा हुआ		धमनी शैथिल्य		मांस दुर्गन्ध	
		(रक्त भार न्यूनता)			

रस (धमनीस्था)

रस		स्थायी	पोषक				
सार		(कारण)	क्षय	वृद्धि	रस दोषज रोग	प्राकृत	मूल
त्वक्सार	लाभ	गुरु द्रव्य	प्राकृतकर्म ह्रास	अग्निमांद्य	अश्रद्धा (अन्नद्वेष)	जीवन	हृदय
स्निग्ध रोम	सुख	शीत ,,	इतरधातुक्षय	उत्क्लेद	अरुचि (मुँह के नीचे अन्न नहीं उतरना)	तर्पण	दशधमनी
						धारण	
						द्रवानुसारी स्नेह	
श्लक्ष्ण रोम	सौभाग्य	स्निग्ध ,,	मुखशोष	प्रसेक	रस ज्ञान न होना	सौम्य	
मृदु ,,	ऐश्वर्य	अतिमात्रामें भोजन	रूक्षता	वमन	अग्निमांद्य	प्रीणन	
निर्मल ,,	उपभोग	अतिचिन्तन	तृष्णा	आलस्य	अजीर्ण	रक्तपुष्टि	
सूक्ष्म ,,	बुद्धि		आमाशयशून्यता	गौरव	अङ्गमर्द	यापन उपक्रम-लघन	
अल्प ,,	विद्या		हृदय ,,	श्वेतता	तृप्ति	अवष्टंभन	
गंभीर ,,	आरोग्य		मनकी ,,	शैत्यता	हृल्लास		
सुकुमार ,,	प्रहर्षण		श्रम	शैथिल्य	अवसाद		
प्रभायुक्तत्वचा	आयुष्मान्		शब्दासहिष्णु	श्वास	गौरव		
निर्मल ,,	प्रमाण		हृद्घट्टन	कास	तन्द्रा		
मृदु ,	अंजलि ९		हृत्कम्प	अनिद्रा	ज्वर		
			हृद्द्रव	स्थूलता	हृद्रोग		
			हृच्छूल		पाण्डुरोग		
			श्रम		स्रोतोऽवरोध		
			क्लम		कृशता		
			श्वास		मुखवैरस्य		
			कृशता		ग्लानि		
					तम		
					वली		
					पलित		
					क्लीबता		

मांस (स्नायुत्वक्)

मांससार	गुण	क्षय	वृद्धि	रोग	प्रकोप कारण
शख-गूढता	क्षमा	नितम्ब क्षीणता	नितम्ब स्थूलता	अधिमांस	अभिष्यन्दी भोजन
कृकाटिका ,,	धैर्य	कपोल ,,	कपोल ,,	अर्बुद	स्थूल ,,
नेत्र ,,	चांचल्यरहित	ओष्ठ ,,	ओष्ठ ,,	अर्श	गुरु ,,
कपोल ,,	धन	शिश्न ,,	शिश्न ,,	अधिजिह्वा	दिवास्वाप
हनु ,,	विद्या	जघा ,,	ऊरु ,,	उपजिह्वा	
ग्रीवा ,,	सुख	उर ,,	बाहु ,,	उपकुश	
स्कन्ध ,,	सरलता	ग्रीवा ,,	जघा ,,	गलशालूक	
उदर ,,	आरोग्य	कक्षा ,,	गौरव ,,	गलशुण्डिका	
कक्षा ,,	बल	पिण्डली ,,		अलजी	
छाती ,,	दीर्घायुष्म	रूक्षता		मांससघात	
सन्धि ,,	शरीरपुष्टि	चुभने की सी		ओष्ठप्रकोप	
सन्धि स्थिरता	मेदपुष्टि	वेदना		गलगण्ड	
सन्धि गुरुता		श्रम		गण्डमाला	
शरीर भरा हुआ		धमनी शैथिल्य		मांस दुर्गन्ध	
		(रक्त भार न्यूनता)			

रक्त (यकृत्प्लीहा)

सार	कार्य	कारण विहार	प्रकोप आहार	क्षय	रोग		लक्षण विकृति वात
स्निग्धरक्तवर्ण	धातुपुष्टि	अतिक्रोध	प्रकृतिविरुद्ध	सिराशैथिल्य	पिडिका	मद	(तपाहुमास्वर्णवर्ण)
,, नेत्र	अग्निदीप्ति	,, शोक	मात्राधिक	रूक्ष त्वचा	त्वग्रक्तता	कम्प	कृष्णारुण
,, मुख	बलमूल	,, चिंता	विषम	म्लान ,,	मूत्र ,,	स्वरभंग	तनु
,, जिह्वा	वर्ण ,,	,, भय	पर्युषित	अम्लप्रिय	नेत्र ,,	निद्राविक्षय	रूक्ष
,, नासा	सुख ,,	,, श्रम	अध्यशन	शीत ,,	नासादुर्गन्ध	आलस्य	फेनिल
,, ओष्ठ	स्पर्शज्ञान ,,	,, उपवास	अजीर्ण	अग्निमांद्य	मुख ,,	तम	शीघ्रगति
,, हथेली	जीवन	,, मैथुन	अतिभोजन		रक्तगुल्म	कण्डू	(न जमनेवाला)
,, तलुए	पित्त(मल)	,, चंक्रमण	तिलतैल		उपकुश	व्रण	
,, नख	आठअंजली	,, अग्नि	खली		विसर्प	कोठ	
,, ललाट		,, आतप	कुलथ		रक्तपित्त	पिडिका	पित्त
,, शिश्न		,, वायु	माष	वृद्धि	तन्द्रा	दद्रू	नील
					मुखपाक	दाह	
प्रसन्नवर्ण		,, चोट	चवला		विद्रधि	विवश	हरित
,, इन्द्रिय		,, तीक्ष्ण	सरसो	सिरापूर्णता	रक्तप्रदर	पामा	पीत
,, कार्य		,, उष्ण	अलसी	नेत्ररक्तता	वातरक्त	रक्तमण्डलकुष्ठ	श्याम
समाग्नि		,, लवण	दही	त्वचा ,,	विवर्णता	चर्मदल	आमगन्धि
सुखयुक्त		,, क्षार	शुक्त		कामला	मशक	मक्षिका अप्रिय

पुष्टि ,,	,, अम्ल	तक्र	अग्निमांद्य	नीलिका	चींटी ,,
बल ,,	,, कटु	कूर्चिका	पिपासा	पिप्लु	(न जमने वाला)
	,, विदाही	मस्तु	गौरव	तिल	कफ
वर्ण	,, द्रव	सौवीरक	दौर्बल्य	न्यच्छ	ईषत्पाण्डु
वीरबहूटी जैसा	,, गुरु	खट्टे फल			(गेरू के समान)
लाल	,, स्निग्ध	कटवर	अरुचि	व्यंग	पिच्छिल
	दिवास्वाप	हरे शाक	शिरःशूल	इन्द्रलुप्त	तन्तुमान्
	वमनवेगविधारण	पिण्डालु ,,	अम्लीका	प्लीहोदर	गाढा
	रक्तमोक्षणाभाव	गोधामांस	श्रम	रक्तार्श	स्निग्ध
	शरदृतु	मत्स्य ,,			शीतल
		बकरी ,,	क्रोध	अर्बुद	मन्दगति
		भेड़ ,,			(शीघ्र जमनेवाला)
		जलज ,,	बुद्धिवैकल्य	अगमद	मांसपेशी के समान
		आनूपज ,,	लवणमुखता	गुदपाक	
		बिलेशय ,,	शरीर दुर्गन्ध	मेढ्रपाक	सन्निपात
		प्रसह ,,			काजी के समान
					दुर्गन्धी

मेद (वृक्कौ कटी)

सारता	गुण	क्षय	वृद्धि	रोग	कारण
वर्ण स्निग्धता	धन	सन्धियों का टूटना	उदरवृद्धि	मेदोज अण्ड वृद्धि	दिवास्वाप
स्वर ,,	ऐश्वर्य	सन्धिशून्यता	पार्श्व वृद्धि	अन्त्र वृद्धि	मेद्य सेवन
नेत्र ,,	सुख	आयास	कास	मेदो वृद्धि	वारुणी सेवन
केश ,,	दान	निष्प्रभ आँखें	श्वास	गलगण्ड	अव्यायाम
लोम ,,	भोग	त्वचा रूक्षता	दौर्गन्ध्य	अर्बुद	
नख ,,	सरलता	केस ,,	स्निग्धांगता	ओष्ठ प्रकोप	
स्वेद ,,	सुकुमारता	कर्ण ,,		सर्व प्रमेह	
दन्त ,,	असहिष्णुता	छोटा पेट		मधुमेह	
ओष्ठ ,,	(श्रम)	प्लीहावृद्धि		अतिस्थौल्य	
मूत्र ,,	अस्थिपुष्टि	मेदयुक्त मांस पर प्रीति		अतिस्वेद	
पुरीष ,,				मेदोग्रन्थि (Lipoma)	
विशाल देह					
स्वेद					
मार्दव					

अस्थि (जघन मेदसी)

सार	गुण	क्षय	वृद्धि	रोग	कारण
पार्ष्णि स्थूलता	उत्साही	आस्थितोद	अध्यस्थि	अध्यस्थि	अतिव्यायाम
गुल्फ ,,	क्रियाशील	दन्त भगुरता	अस्थ्यर्बुद	अधिदन्त	मानसिकक्षोभ
जानु ,,	क्लेशसहिष्णु	नख भगुरता	Osteoma	दतभेद	अतिघट्टन
मुट्ठी ,,	स्थिर	रूक्षता	अधिदन्त	अस्थिभेद	वातल आहार
कन्धा ,,	बली	केश झड़ना	केशवृद्धि	शूल	वातल विहार
ठोढी ,,	दीर्घायु	श्मश्रु झड़ना	नखवृद्धि	विवर्णता	
सिर बड़ा	मज्जापुष्ठि	लोम ,,		केश रोग	
पर्व बड़े	देह धारण	थकान		श्मश्रु रोग	
अस्थि ,,		संधि शैथिल्य		लोम रोग	
नख ,,		फक्क रोग		नख रोग	
दाँत ,,					

मज्जा (अस्थिसन्धि)

सार	गुण	क्षय	वृद्धि	कारण	रोग
मृदु पुष्टांग	दीर्घायु	शुक्रकी न्यूनता	सर्वाङ्ग गौरव	कुचलना	अन्धेरी आना
बलसपन्न	बलयुक्त	अस्थितोद	नेत्र गौरव	आघात	मूर्च्छा
स्निग्ध वर्ण	श्रुतयुक्त	सन्धितोद		दब जाना	भ्रम
स्निग्ध स्वर	सौभाग्ययुक्त	अस्थिशून्य		शोथ	अस्थिपर्वों पर व्रण
गम्भीर स्वर	वित्तयुक्त	दुर्बलता		विष्माहार	आंख आना
स्थूल सन्धि	शिल्पयुक्त	लघुता			पर्व भेद
विशाल सन्धि	अपत्ययुक्त				
गोल सन्धि	सम्मानयुक्त				
बड़े नेत्र वाले	स्नेहयुक्तयुक्त				
	शुक्रपुष्टीयुक्त				
	अस्थिपूरण				

शुक्रवहाना स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च

सार	गुण	क्षय	वृद्धि	रोग	कारण
सौम्य	स्त्रीप्रिय	दुर्बलता	शुक्राश्मरी	क्लीबता	दूषित योनिगमन
सौम्यदृष्टि वाले	,, उपभोग	मुख का सूखना	अति प्रवृत्ति	स्त्रियों में उदासीनता	अकाल गमन
मानो दूध भरे नेत्र वाले	बलवान्	पाण्डुता		मैथुनाशक्ति	कामवेग रोध
अतिहृष्ट	सुखयुक्त	शिथिलता		शुक्राश्मरी	अति मैथुन
श्वेत दन्तावली अस्थि नख	ऐश्वर्ययुक्त	आयास		शुक्रमेह	शस्त्र प्रयोग
स्निग्ध दन्तावली नख	आरोग्य युक्त	क्लीबता		गर्भ अस्थिरता	क्षार प्रयोग
घन दन्तावली अस्थि नख	वित्त युक्त	मैथुनाशक्ति		गर्भ स्राव	अग्नि प्रयोग
पुष्ट दन्तावली अस्थि नख	सम्मान युक्त	शुक्र की अप्रवृत्ति			
सम दन्तावली अस्थि नख	संतान युक्त	विलम्ब च्यवन			
दृढ दन्तावली अस्थि नख	धैर्य	रक्तमिश्रित च्यवन			
सुन्दर दन्तावली अस्थि नख	च्यवन	शिश्न वेदना			
प्रसन्न वर्ण स्वर	प्रीति	वृषण ,,			
स्निग्ध वर्ण स्वर					
दीप्त विशाल स्फिक्प्रदेश					

अनल

भौम	दिव्य	उदर्य
काष्ठेन्धनज	उदकेन्धन	उभयेन्धनः
ऊर्ध्वज्वलनस्वभाव	पर्यग्ज्वलनशील	पर्यग्ज्वलशील
पचन समर्थ	वाडव	आहार परिणाम कर
स्वेद समर्थ	विद्युद्	

समयोग	ऊष्मा	वायु	क्लेद	स्नेह	काल
	पचति	अपकर्षति	शैथिल्यम्	मृदुता	पर्याप्ति

परिणाम धातु साम्यकर

१ अपने स्थान मे विजातीय द्रव्य को प्रवेश कराना। २ प्रविष्ट को निकालने की शक्ति।
३ प्रतिकूल भाग को अनुकूल भाग बनाना।

काल रोगनिर्धारण

संवत्सर	आतुरावस्था	
२ अयन	बहु प्रकार	शास्त्र
३ शीतोष्ण वर्षा	बहु रूप	गुरुपदेश
६ ऋतु	बहु उपयोगी	कर्मदर्शन
१२ मास	बहु अभ्यासबोध्य	अभ्यास मनन

(व्यापन्न अव्यापन्न ऋतु)

अपरिरक्षण (ऋतुचर्या उपेक्षण)

शीत वात आतप

भेषजनिर्धारण

साधारण ऋतु मे संशोधन प्रवृत्ति— दूसरी ऋतुओ मे विराम

आवश्यकक्रियाकाल

बल शरीर मन:सामर्थ्य

व्याधिबल	प्रबल
निदानादि सपूर्ण शरीर बल	निदानादि अवयव रूप से पाचकाग्नि बल

(१) बल—दूसरे को दबाने के लिए शरीर तथा मन की समर्थता।
(२) उचित कार्य के श्रम से नही थकना।
(३) इन्द्रियो का अपना उचित कार्य करना।
(४) कर्मेन्द्रिय कुशलता।
(५) सातो धातुओ की उचित पुष्टि।

(१) सहज
शरीर मन का स्वाभाविक
बली पुरुष की सन्तान
बलिष्ठ देश मे जन्म
बलिष्ठ समय से
बीज गुण सम्पत्
क्षेत्र गुण सम्पत्
शरीर सम्पत्
मन सम्पत्
स्वभाव ससिद्धि
(बलजनक कर्म-ससिद्धि)

आहार सम्पद्— बली आहार, अभ्यवहरण शक्ति, जरण शक्ति
सात्म्य सम्पद्— घी, दूध, तैल, मांसरस, सर्व रस, क्लेशसह, चिरजीविन

वायु के आवरण

वायु का प्रकोप क्षय-वृद्धि के अतिरिक्त आवरण से भी होता है। आवरण का अर्थ है पर्दा या ढकना,— वायु गतिशील द्रव्य है इसका लक्षण तर्कसग्रह मे—

शरीरान्त सचारी वायु' प्राण.। सचैकोऽप्यु-पाधिभेदात्प्राणापानादि सज्ञा लभते।

ये सज्ञायें ५ हैं किन्तु वैदिक ग्रथों मे अन्य पाच वायु भी कहे हैं।
(१) नाग,—उद्गार (२) कूर्म—उनमेष (३) कृकर—क्षुधा (४) देवदत्त—जभाई, तथा पांचवा धनञ्जय सर्वव्यापी है। जोकि मृत्यु के पश्चात् भी शरीर में रहता है। यह आवरण, वायु मे अपने भेदो द्वारा तथा देहस्थ धातु, मल, दोषो द्वारा बन जातो है। ऐसी स्थिति मे शरीर में नाना लक्षण रूप विकृतियें हो जाती हैं। इन विकृतियो की चिकित्सा के पूर्व यह भी जानना परमावश्यक हो जाता है कि कौन से दोष, धातु मल का आवरण बना है। क्योकि इस प्रकार की स्थिति मे यदि सवत्सर का अतिक्रमण हो जाता है तो रोग असाध्यता या प्रत्याख्येयता को प्राप्त हो जाता है। इसकी चिकित्सा मे वायु के उन ५ भेदो के स्थानो को ध्यान मे रखते हुए आवरण हटाकर उसे अपने स्थान मे लाने का प्रयत्न करें। जैसे उदानवायु को ऊपर की ओर तथा अपान को अनुलोमन करें। यह स्वभावतया अधोग है। समान वायु विकृति मे अधोग (पृथ्वीसोमीय) या ऊर्ध्वग (शेष द्रव्य) द्रव्यो का उपयोग न करते हुए शमन चिकित्सा द्वारा ठीक करें। व्यान विकृति मे यथा रोग शोधन व शमन चिकित्सा करें। किन्तु प्राण वायु की चिकित्सा धैर्य व प्रयत्नपूर्वक रक्षा करें।

वायु	स्थान	कर्म
प्राण	मूर्धा, उर कठ जिह्वास्य नसा	ष्ठीवन, क्षवथूद्गार, श्वसा, आहार
उदान	नाभि उर कठ,	वाक्प्रवृत्ति, प्रयत्न, ऊर्जा, बल, वर्ण
समान	स्वेदवाहि, दोषवाहि, अबुवाहि, अ तरग्नि के समीप	अग्नि, बल, प्रद।
व्यान	सर्वशरीरग	गति, प्रसरण, आक्षेप, निमेषादि
अपान	वृषणी, बस्ति, मेढ्र, नाभि, उरु, वक्षण, गुद, अन्त्र	शुक्र, मूत्र, शकृत्, आर्तव, गर्भस्त्रज

वायु के आवरण, भेद एवं चिकित्सा

आवरण	लक्षण	चिकित्सा
पित्तावृत	दाह, पिपासा, शूल, तथा भ्रम कटु अम्ल लवण से विदाह होता है।	शीतल और उष्ण चिकित्सा को बार-बार (सैकडो बार) करना चाहिए तथा जीवनीय घृत, जागल मास, जौ, शाली खिलायें, तथा दूधयुक्त मृदु विरेचन देवें। दूधयुक्त बस्तिया देवें। बृहत्पचमूल और बला से सिद्ध दूध देवें। अनुवासन के योग्य समय मे मधुर औषधियो से सिद्ध तेल से अनुवासन देवें। यष्टीमधुतैल (अ हृ चि अ २२ श्लोक ४१ व ४५) से बला तैल से, घृत से तथा दूध से परिषेक उत्तम है। बृहत्पचमूल के क्वाथ से या शीतल पानी से पित्तावृत्त वायु मे परिषेक उत्तम है।
कफावृत	शीतलता, शूल, भारीपन, कटु होना आदि रसो का अधिक अनुकूल आना अरुचि छर्दि।	जौ के भक्ष्य, जागल पशु पक्षी-मास, स्वेद, तीक्ष्ण निरुहण, वमन और विरेचन, पुरातन घृत, तिल और सरसो का तैल उत्तम है। वक्तव्य कडुवे तैल को खाना श्वास मे उत्तम माना है।
रक्तावृत	त्वचा मास के बीच दाहयुक्त पीड़ा, सुर्खी वाला शोथ मण्डल, जडता उत्पन्न होते हैं।	वात रक्त की चिकित्सा करें। गुडूची घृत, कैशोरगुग्गु, लु, गुडूची लोह।
मासावृत	कठिन एव विवर्ण शोथ, पिटिका तथा रोमाच होते हैं, चीटियो का चलना-सा प्रतीत होता है।	स्वेदन, अभ्यग, मास रस, दूध और स्नेह उत्तम है।
मेदसावृत	अरोचक, आढ्यवात स्निग्ध, कोमल और शीत शोथ अङ्गो मे होता है।	प्रमेहनाशक, मेदोनाशक और वातनाशक औषध उत्तम है।

वायु के आवरण

वायु का प्रकोप क्षय-वृद्धि के अतिरिक्त आवरण से भी होता है। आवरण का अर्थ है पर्दा या ढकना,— वायु गतिशील द्रव्य है इसका लक्षण तर्कसग्रह मे—

शरीरान्त सचारी वायु: प्राण:। सचैकोऽप्यु-पाधिभेदात्प्राणापानादि सज्ञा लभते।

ये सज्ञायें ५ हैं किन्तु वैदिक ग्रथों मे अन्य पाच वायु भी कहे हैं।
(१) नाग,—उद्‌गार (२) कूर्म—उनमेष (३) कृकर—क्षुधा (४) देवदत्त—जभाई, तथा पांचवा धनञ्जय सर्वव्यापी है। जोकि मृत्यु के पश्चात् भी शरीर में रहता है। यह आवरण, वायु मे अपने भेदो द्वारा तथा देहस्थ धातु, मल, दोषो द्वारा बन जाता है। ऐसी स्थिति मे शरीर मे नाना लक्षण रूप विकृतियें हो जाती हैं। इन विकृतियो को चिकित्सा के पूर्व यह भी जानना परमावश्यक हो जाता है कि कौन से दोष, धातु मल का आवरण बना है। क्योकि इस प्रकार की स्थिति मे यदि सवत्सर का अतिक्रमण हो जाता है तो रोग असाध्यता या प्रत्याख्येयता को प्राप्त हो जाता है। इसकी चिकित्सा मे वायु के उन ५ भेदो के स्थानो को ध्यान मे रखते हुए आवरण हटाकर उसे अपने स्थान मे लाने का प्रयत्न करें। जैसे उदानवायु को ऊपर की ओर तथा अपान को अनुलोमन करें। यह स्वभावतया अधोग है। समान वायु विकृति मे अधोग (पृथ्वीसोमीय) या ऊर्ध्वग (शेष द्रव्य) द्रव्यो का उपयोग न करते हुए शमन चिकित्सा द्वारा ठीक करें। व्यान विकृति मे यथा रोग शोधन व शमन चिकित्सा करें। किन्तु प्राण वायु की चिकित्सा धैर्य व प्रयत्नपूर्वक रक्षा करें।

वायु	स्थान	कर्म
प्राण	मूर्धा, उर कठ जिह्वास्य नसा	ष्ठीवन, क्षवथूद्‌गार, श्वसा, आहार
उदान	नाभि उर कठ,	वाक्प्रवृत्ति, प्रयत्न, ऊर्जा, बल, वर्ण
समान	स्वेदवाहि, दोषवाहि, अबुवाहि, अतरग्नि के समीप	अग्नि, बल, प्रद
व्यान	सर्वशरीरग	गति, प्रसरण, आक्षेप, निमेषादि
अपान	वृषणो, बस्ति, मेढ्र, नाभि, उरु, वक्षण, गुद, अन्त्र	शुक्र, मूत्र, शकृत्, आर्तव, गर्भस्त्रज.

वायु के आवरण, भेद एव चिकित्सा

आवरण	लक्षण	चिकित्सा
पित्तावृत	दाह, पिपासा, शूल, तथा भ्रम कटु अम्ल लवण से विदाह होता है।	शीतल और उष्ण चिकित्सा को बार-बार (सैकड़ो बार) करना चाहिए तथा जीवनीय घृत, जागल मास, जौ, शाली खिलायें, तथा दूधयुक्त मृदु विरेचन देवें। दूधयुक्त बस्तिया देवें। बृहत्पचमूल और बला से सिद्ध दूध देवें। अनुवासन के योग्य समय मे मधुर औषधियो से सिद्ध तेल से अनुवासन देवें। यष्टीमधुतैल (अ हृ चि. अ. २२ श्लोक ४१ व ४५) से बला तैल से, घृत से तथा दूध से परिषेक उत्तम है। बृहत्पचमूल के क्वाथ से या शीतल पानी से पित्तावृत्त वायु मे परिषेक उत्तम है।
कफावृत	शीतलता, शूल, भारीपन, कटु होना आदि रसो का अधिक अनुकूल आना अरुचि छर्दि।	जौ के भक्ष्य, जागल पशु पक्षी-मास, स्वेद, तीक्ष्ण निरुहण, वमन और विरेचन, पुरातन घृत, तिल और सरसो का तैल उत्तम है। वक्तव्य कड़ुवे तैल को खाना श्वास मे उत्तम माना है।
रक्तावृत	त्वचा मास के बीच दाहयुक्त पीडा, सुर्खी वाला शोथ मण्डल, जड़ता उत्पन्न होते हैं।	वात रक्त की चिकित्सा करें। गुडूची घृत, कैशोरगुग्गु, लू, गुडूची लोह।
मासावृत	कठिन एव विवर्ण शोथ, पिटिका तथा रोमाच होते हैं, चीटियो का चलना-सा प्रतीत होता है।	स्वेदन, अभ्यग, मास रस, दूध और स्नेह उत्तम है।
मेदसावृत	अरोचक, आढ्यवात स्निग्ध, कोमल और शीत शोथ अङ्गो मे होता है।	प्रमेहनाशक, मेदोनाशक और वातनाशक औषध उत्तम है।

वायु के आवरण

वायु का प्रकोप क्षय-वृद्धि के अतिरिक्त आवरण से भी होता है। आवरण का अर्थ है पर्दा या ढकना,— वायु गतिशील द्रव्य है इसका लक्षण तर्कसग्रह मे—

शरीरान्त सचारी वायु· प्राण.। सचैकोऽप्यु-पाधिभेदात्प्राणापानादि सज्ञा लभते।

ये सज्ञायें ५ हैं किन्तु वैदिक ग्रथों मे अन्य पाच वायु भी कहे हैं।
(१) नाग,—उद्‌गार (२) कूर्म—उनमेष (३) कृकर—क्षुधा (४) देवदत्त—जभाई, तथा पाचवा घनञ्जय सर्वव्यापी है। जोकि मृत्यु के पश्चात् भी शरीर में रहता है। यह आवरण, वायु मे अपने भेदो द्वारा तथा देहस्थ धातु, मल, दोषो द्वारा बन जाती है। ऐसी स्थिति मे शरीर मे नाना लक्षण रूप विकृतियें हो जाती हैं। इन विकृतियो की चिकित्सा के पूर्व यह भी जानना परमावश्यक हो जाता है कि कौन से दोष, धातु मल का आवरण बना है। क्योकि इस प्रकार की स्थिति मे यदि सवत्सर का अतिक्रमण हो जाता है तो रोग असाध्यता या प्रत्याख्येयता को प्राप्त हो जाता है। इसकी चिकित्सा मे वायु के उन ५ भेदो के स्थानो को ध्यान मे रखते हुए आवरण हटाकर उसे अपने स्थान मे लाने का प्रयत्न करें। जैसे उदानवायु को ऊपर की ओर तथा अपान को अनुलोमन करें। यह स्वभावतया अधोग है। समान वायु विकृति मे अधोग (पृथ्वीसोमीय) या ऊर्ध्वग (शेष द्रव्य) द्रव्यो का उपयोग न करते हुए शमन चिकित्सा द्वारा ठीक करें। व्यान विकृति मे यथा रोग शोधन व शमन चिकित्सा करें। किन्तु प्राण वायु की चिकित्सा धैर्य व प्रयत्नपूर्वक रक्षा करें।

वायु	स्थान	कर्म
प्राण	मूर्धा, उर कठ जिह्वास्य नसा	ष्ठीवन, क्षवथूद्‌गार, श्वसा, आहार
उदान	नाभि उर कठ,	वाक्प्रवृत्ति, प्रयत्न, ऊर्जा, बल, वर्ण
समान	स्वेदवाहि, दोषवाहि, अबुवाहि, अ तरग्नि के समीप	अग्नि, बल, प्रद
व्यान	सर्वशरीरग	गति, प्रसरण, आक्षेप, निमेषादि
अपान	वृषणो, बस्ति, मेढ्र, नाभि, उरु, वक्षण, गुद, अन्त्र	शुक्र, मूत्र, शकृत्, आर्तव, गर्भस्रज·

वायु के आवरण, भेद एव चिकित्सा

आवरण	लक्षण	चिकित्सा
पित्तावृत	दाह, पिपासा, शूल, तथा भ्रम कटु अम्ल लवण से विदाह होता है।	शीतल और उष्ण चिकित्सा को बार-बार (सैकडो बार) करना चाहिए तथा जीवनीय घृत, जागल मास, जौ, शाली खिलायें, तथा दूधयुक्त मृदु विरेचन देवें। दूधयुक्त बस्तिया देवें। बृहत्पचमूल और बला से सिद्ध दूध देवें। अनुवासन के योग्य समय मे मधुर औषधियो से सिद्ध तैल से अनुवासन देवें। यष्टीमधुतैल (अ हृ चि. अ २२ श्लोक ४१ व ४५) से बला तैल से, घृत से तथा दूध से परिषेक उत्तम है। बृहत्पचमूल के क्वाथ से या शीतल पानी से पित्तावृत्त वायु मे परिषेक उत्तम है।
कफावृत	शीतलता, शूल, भारीपन, कटु होना आदि रसो का अधिक अनुकूल माना अरुचि छर्दि।	जौ के भक्ष्य, जागल पशु पक्षी-मास, स्वेद, तीक्ष्ण निरुहण, वमन और विरेचन, पुरातन घृत, तिल और सरसो का तैल उत्तम है। वक्तव्य कडुवे तैल को खाना श्वास मे उत्तम माना है।
रक्तावृत	त्वचा मास के बीच दाहयुक्त पीडा, सुर्खी वाला शोथ मण्डल, जडता उत्पन्न होते हैं।	वात रक्त की चिकित्सा करें। गुडूची घृत, कैशोरगुग्गु, लू, गुडूची लोह।
मासावृत	कठिन एव विवर्ण शोथ, पिटिका तथा रोमाच होते हैं, चीटियो का चलना-सा प्रतीत होता है।	स्वेदन, अभ्यग, मास रस, दूध और स्नेह उत्तम है।
मेदसावृत	अरोचक, आढ्यवात स्निग्ध, कोमल और शीत शोथ अङ्गो मे होता है।	प्रमेहनाशक, मेदोनाशक और वातनाशक औषध उत्तम है।

अस्थ्यावृत	अङ्गो मे सूई चुभने की वेदनायुक्त शूल	घृत, तैल, वसा, मज्जा ये महा स्नेह (अथवा मध्यम नारायणादि तैल) उत्तम है
मज्जावृत	अङ्गो का मुडना, जम्भाई, ऐंठन या रस्सी आदि से लपेटे होने का अनुभव शूल (विनमन-गात्रशैथिल्लिम् — तोडर)	" " " "
शुक्रावृत	शुक्र का अतिशय वेग होता है अथवा नही होता तथा गर्भोत्पत्ति नही होती है ।	प्रहर्षण करना तथा कौंच, उडद आदि शुक्र का मार्ग रुका हुआ हो तो विरेचन देवें । विरेचन के पीछे थोडा भोजन देकर पूर्वोक्त (प्रहर्षणादि) चिकित्सा करें । वायु से गर्भ के शुष्क होने पर मिश्री, गुम्भारी और मुलहठी से सिद्ध दूध नागोदर, उपविष्टक, लीन आदि मे उत्थापन बढाने के लिए देना चाहिए ।
अन्नावृत	उदर मे वेदना जो भोजन के जीर्ण होने पर शान्त होती है ।	पाचनीय औषध, वमन, दीपन, (आग्नेय गुणयुक्त), लघु, औषध उत्तम है ।
मूत्रावृत	मूत्र की अप्रवृत्ति और वस्तिका आध्मान होता है ।	खीरा, ककडी आदि गोक्षुरादि क्वाथ मूत्रल औषधिया स्वेद और उत्तरवस्तिया उत्तम हैं ।
विडावृत	पक्वाशय और गुदा मे अपान वायु का अवरोध होता है । स्नेह का पाचन, भोजन से आध्मान, अन्न से दबाया हुआ मल शुष्क देर से बाहर आता है ।	एरण्ड स्नेह की भेदन वस्तिया उत्तम हैं ।
सर्व धात्वावृत	श्रोणि, वक्षण, पीठ मे शूल, वायु की विमार्ग गति, असुख और हृदय अतिशय पीडित होता है ।	जो औषध कफ और पित्त का विरोधी न हो और वायु का अनुलोमन करने वाली हो जो अनभिष्यन्दी (क्लेद न करने वाला) स्निग्ध एव स्रोतो का शोधन करने वाला, खान-पान या औषध ही बरतनी चाहिए ।

		यापन वस्तियो को तथा प्राय. करके मधुर और स्नेह-वस्तियो को देवें। वल (दाप-वल) को अधिकता को देख कर मृदु विरेचन देना चाहिए। शिलाजतु का और गुग्गुलु का दूध से उपयोग श्रेष्ठ है। च्यवनप्राशावलेह इसी प्रकार आमल की रसायन आदि
पित्ता-वृत प्राण	भ्रम, मूर्च्छा, पीडा, दाह और अन्न के विदाह अवस्था मे वमन	वातव्याधि चिकित्सा के अनुसार, प्राणादि-कोपजनित रोग आदि की दृष्टि से प्राणादि मे जो कोई समीप हो उसके विचार से (जिस रोग मे प्राण आदि जो समीपस्थ हो, उसकी ही तथा प्राण आदि मे जो अधिक बलवान् हो) उसकी प्रथम चिकित्सा करे।
पित्ता-वृत प्रदान	अन्तर्दाह, बलक्षय, भ्रम, मूर्च्छा, शूल, शीतकामता छर्दि	आमल की रसायन, पटोलादि, गुडूच्यादिघृत
पित्ता-वृत व्यान	सब अङ्गो मे दाह क्लम, शरीर के व्यापार का अवरोध, सन्ताप, पीडा, गात्रविक्षेप	" "
पित्ता-वृत समान	अग्नि का नाश, अतिस्वेद, बेचैनी, पिपासा, दाह, मूर्च्छा	" "
पित्ता-वृत अपान	मल मे हारिद्र वर्ण, अत्यधिक आर्तव (रज की अधिकता, तथा योनि मेहन और वायु मे सन्ताप)	" "
कफा-वृत प्राण	तन्द्रा, अरुचि, वमन, थूक का आना तथा छीक उद्गार, निश्वास और उच्छ्वास का अवरोध	रसोनप्रयोग
कफा-वृत	शरीर मे भारीपन, अरुचि, वाणी और स्वर का पकडा जाना, बल और वर्ण	" "

उदान	का नाश	
कफावृत व्यान	अस्थि और वाणि का अवरोध तथा सब अगो का भारीपन तथा चलने में अतिशय लडखडाता है।	,, ,,
कफावृत समान	अङ्गो का बर्फ की भाति ठण्डा पड जाना, पसीना न आना तथा अग्नि का मन्द होना	रसोनक्षीर प्रयोग
कफावृत अपान	मूत्र और मल कफ के साथ प्रवृत होते हैं। भिन्न वर्चं कफमेह	,, ,,

वायु का वायु से आवरण

प्राणावृत	व्यान	सर्वेन्द्रियाणा शून्यत्व, स्मृतिक्षय, बलक्षय
,,	समान	जड, गद्‌गद, मूकता
,,	उदान	शिरोग्रह, प्रतिश्याय, निश्वासग्रह, उच्छ्‌वासग्रह, हृद्रोग, मुखशोष
,,	अपान	छर्दि, श्वास
उदानवृत	प्राण	ओजोनाश, बलनाश, वर्णनाश, मृत्यु
,,	समान	
,,	व्यान	स्तब्धता, अल्पाग्निता, स्वेदाभाव, चेष्टाहानि
,,	अपान	
समानवृत	प्राण	
,,	उदान	
,,	व्यान	मच्छां, तन्द्रा, प्रलाप, अगसाद, अग्निक्षय, ओजक्षय, बलक्षय
,,	अपान	ग्रहणी, पार्श्वशूल, हृद्‌गद, आमाशय शूल
व्यानावृत	प्राण	अत्यर्थस्वेद, लोमहृष, त्वग्दोषः, सुप्तगात्रता
,,	उदान	
,,	समान	
,,	अपान	वमि, आध्मान, उदावर्त, गुल्म, अर्ति.परिकर्तिका
अपानावृत	प्राण	मोह, अग्निमाद्य, अतिसार
,,	उदान	
,,	समान	

"	व्यान	विण् मूत्र शुक्र की अति प्रवृत्ति
कोष्ट		मूत्रग्रह, वर्चोग्रह, व्रध्नहृद्रोग, गुल्म, अर्श, पार्श्वशूल
सर्वाङ्ग		गात्रस्फुरण, गात्रभजन, सन्धिरुक्, सन्धिस्फुटनम्
गुद		विण्मूत्रवातग्रह, शूलाध्माश्मशर्करा
		जघोरु त्रिकयात्पृष्ट रोग, शोष
आमाशय		हृद्रुक्, नाभिरुक्, पार्श्वरुक् उदररुक्, तृष्णा, उद्गार, विसूचिका, कास, कंठ-शोष, मुखशोष, छर्दि, मूर्च्छा मोह, पिपासा
पक्वाशय		अन्त्रकूजन, अन्त्रशूल, अन्त्राटोप, मूत्रकृच्छ्रता, आनाह, पुरीष कृच्छ्रता, त्रिकपीडा
श्रोत्रादि		जिस जिस इन्द्रिय मे स्थानसश्रय करता है उस इन्द्रिय का वध
त्वग्		रुक्षा, स्फुटिता, भेद, वैवर्ण्य, स्फुरण, चुमचुमायन, सुप्ता, कृशा, कृष्णा, तोद, विस्तार रागयुक्त, पर्वरुक्
रक्त		तीव्ररुजा, सताप, विवर्णता, कृशता, अरुचि, अरुषी भुक्तस्यस्तभ.
मास		अगगौरव, अत्यन्त तोद, रुक्, अत्यन्त श्रमित
मेदोगत		मन्दपीडा काली व्रणरहित गाठें
अस्थि		अस्थिभेद, अस्थिशोष, पर्वभेद, सन्धिशूल, मासक्षय, बलक्षय, अनिद्रा, सतत-रुक्, मज्जा, पीडाएँ निरन्तर बनी रहना
शुक्र		शीघ्रस्राव, चिरस्राव, (गर्भ का शुक्रका) विकृत गर्भ का बनना
स्नायु		बाह्यायाम, आभ्यान्तरायाम, खल्लि, कौब्ज्य, सर्वागरोग, एकागरोग,
	सिरा	मन्दरक्त, शोफ, सिराशोष, स्पन्दन, सुप्ति, तनुता, महत्ता,
	सन्धि	वातपूर्णदृतिस्पर्श, शोथ, प्रसारण, आकुचन मे पीडा

पचमहाकषाय

क्र स	गणनाम	अंग्रेजी नाम	यूनानी नाम	आयुर्वेदीय औषधियाँ
१	जीवनीय	Nutrients	मुगव्जी	जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुग्दपर्णी (वनमूग), वनउडद, जीवन्ती, मुलहठी।
२	वृंहणीय	Weight promotings drugs (Roborants)	मुसम्मिन वदन	दुग्धिका, असगंध, काकोली, क्षीरकाकोली, श्वेतबला, पीतबला, वनकपास, विदारीकन्द, विधारा।
३	लेखनीय	Weight Reducing drugs (Revulsives)		नागरमोथा, कूठ, हल्दी, दारु हल्दी, वच, अतीस, कुटकी, चित्रक, करंज, सफेद वच।
४	भेदनीय	Purgatives	मुलय्यिन, मुसहिल	निशोथ, आक, एरंड, कलिहारी, दन्ती, चित्रक, करंज, श्वेत वुन्हा, कटुका, स्वर्णक्षीरी।
५	सन्धानीय	Union-Promoters		मुलेठी, गिलोय, पिठिवन, पाठा, मजीठ, मोचरस, धायकाफूल, लोध, प्रियंगु, कायफल।
६	दीपनीय	Stomachics and Digestives	मुस्तही	पीपर, पीपरामूल, चव्य, चित्रक, अदरख, अम्लवेत, मरिच, अजमोद, गोडुम्बी, हींग।
७	बल्य	Tonics	मुकब्बी	ऐन्द्री, (गोरख ककडी) कोंच बीज, शतावरी, माषपर्णी, क्षीरकाकोली, असगन्ध, सरिवन, कटुका, बला, अतिबला।
८	वर्ण्य	Complexion Promoters		चन्दन, नागकेशर, पद्मकाठ, खस, मुलहठी, मजीठ, अनन्तमूल, क्षीरविदारी, श्वेतदूर्वा, श्यामदूर्वा।
९	कण्ठ्य	Voice Promoters		अनन्तमूल, ईख की जड, मुलहठी, पीपर, मुनक्का, विदारीकन्द, कायफल, हंसपदी, बडी कटेरी, छोटी कटेरी।
१०	हृद्य	Cardiac Tonics		आम, आमडा, बडहर, करौंदा वृक्षाम्ल, अम्लवेत, बडीबेर, छोटीबेर, अनारदाना, मातुलुंग।
११	तृप्तिघ्न	Appetisers		सोंठ, चव्य, चित्रक, वायविडंग, मूर्वा, गिलोय, वच, नागरमोथा, पीपर, पटोल।

१२ अर्शोघ्न	Anti Hemorrhoidals		कुटज, बिल्व, चित्रक, सोंठ, अतीस, हरड़, जवासा, दारुहल्दी, वच, चव्य ।
१३ कुष्टघ्न	Curative of Dermatosis		खदिर, हरड़, आंवला, हल्दी, भिलावा, सप्तपर्ण, अमलतास, कनेर, वायविडंग, चमेली के पत्ते ।
१४ कण्डुघ्न	Anti Pruritics		चन्दन, जटामांसी, अमलतास, लताकरज, नीम, कुटज, सरसो, मुलहठी, दारुहल्दी, नागरमोथा
१५ क्रिमिघ्न	Anthelmintics	कातिल दीदान	नागरमोथा या सहिजना, मरिच गण्डीर, केबुक, वायविडंग, निर्गुण्डी, क्रिणिही, गोखरू, वृषपर्णी, मूषाकर्णी ।
१६ विषघ्न	Antidotes	तिरियाक फाद जहर	हल्दी, मजीठ निशोथ, छोटी इलायची, कालानिशोथ, चन्दन, निर्मली, शिरीष, निर्गुण्डी, लसोड़ा ।
१७ स्तन्य जनन	Galactogogues		खस, शालि, साठी चावल, इक्षुवालिका, डाभ, कुश, कांस, गुन्द्रा, इत्कट, रोहिषतृण ।
१८ स्तन्य शोधन	Galacto Purifiers		पाठा, सोंठ, देवदारु, नागरमोथा, मूर्वा, गिलोय, इन्द्रजौ, चिरायता, कटुकी, अनन्तमूल ।
१९ शुक्र जनन	Semeno or Spermo-Poietic	मुवल्लिद मनी	जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, वनमूंग, वनउड़द, मेदा, शतावरी, उच्चटा, कुलिंग ।
२० शुक्र शोधन	Semeno or Spermo-Purifiers		कूठ, एलुवा, कायफल, समुद्रफेन, कदम्ब का गोंद, ईख, काडेक्षु, तालमखाना, वसुक, खस ।
२१ स्नेहोपग	Adjuvants inoleation Therapy		मुनक्का, मुलहठी, गिलोय, मेदा, विदारीकन्द, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, जीवन्ती, शालपर्णी ।
२२ स्वेदोपग	Adjuvants in Sudation Therapy		सहिजना, एरंड, आक, श्वेतपुनर्नवा, रक्तपुनर्नवा, जव, तिल, कुलत्थ, उड़द बेर ।
२३ वमनोपग	Adjuvants in Emetic Therapy		मधु, मुलहठी, कोविदार, (लाल कचनार) श्वेत कचनार, कदम्ब, विदुल, कुन्दरु, वनसीलिया आक, अपामार्ग ।
२४ विरेचनोपग	Adjuvants in Purgative Therapy		मुनक्का, गम्भारी का फल, फालसा, हरड़, आंवला, बहेड़ा, बड़ीबेर, जड़बेर, पीलू ।
२५ आस्थापनोपग	Adjuvants in nonoily Enemeta		निशोथ, बेल, पीपर, कूट, सरसो, वच, इन्द्र जौ, सौंफ, मुलहठी, मैनफल ।

२६ अनुवासनोपग	Adjuvants in oily Enemeta		रास्ना, देवदारु, वेत, मैनफल, सोफ, श्वेतपुनर्नवा, लालपुनर्नवा, गोखरू, अरणी, सोनापाठा।
२७ शिरोविरेचनोपग	Adjuvants in Errhiness		नकछिकनी, मालकागनी, मरिच, पीपर, वायविडंग सहिजना, सरसो, अपामार्ग, श्वेत अपराजिता, नील अपराजिता।
२८ छर्दि निग्रहण	Anti Emetics	मुसकिन	जामुन की पत्ती, आम की पत्ती, बिजौरा, बेर, अनार, जव, साँठी चावल, खस, मिट्टी, धान का लावा।
२९ तृष्णानिग्रहण	Anti Thirst drugs		सोंठ, जवासा, नागरमोथा, पित्तपापडा, चन्दन, चिरायता, गिलोय, सुगन्धवाला, धनिया, पटोल।
३० हिक्कानिग्रहण	Anti Hicough drugs	मुसक्किनफवाक	कचूर, पोहकरमूल, बेर, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गिलोय, हरड़, पीपर, जवासा, काकड़ासीगी।
३१ पुरीष संग्रहणीय	Intestinal Astringents		प्रियगु, अनन्तमूल, आम की गुठली, सोनापाठा, (अरलु) लोध, मोचरस, लज्जालु, धाय के फूल, भारगी, कमल केशर।
३२ पुरीष विरजनीय	Corrective of facial Pigments		जामुन, कुन्दरुछाल, कौंच, महुवा, सेमर, गन्धबिरोजा, भूनी मिट्टी, विदारीकन्द, नीलकमल, तिल।
३३ मूत्र संग्रहणीय	Urinary Astringents		जामुन, आम, प्लक्ष, बरगद, कपीतन, गूलर, पीपल, भिलावा, अश्मन्तक, खदिर।
३४ मूत्र विरजनीय	Corrective of Urinary Pigmento		कमल, नीलकमल, नलिन, कुमुद, सौगन्धिक, पुण्डरीक, शतपत्र, मुलेठी, प्रियगु, धायफूल।
३५ मूत्र विरेचनीय	Diuretics	मुदिरें बौल	वन्दाक या विदारीकद गोखरु पुनर्नवा, सूर्यावर्त, पाषाणभेद, दर्भ, कुश, कास, गुन्द्रा, इत्कट
३६ कासहर	Bronchial Sedatives	मुजय्यल सुर्फा	मुनक्का, हरड़, आवला पीपर, दुरालभा, काकड़ासीगी, कटेरी, श्वेतपुनर्नवा, रक्तपुनर्नवा, भूम्यामलकी।
३७ श्वासहर	Bronchial Anti Spasmodics	मुसक्किन तनफ्फुस	कचूर, पुष्करमूल, अम्लवेत छोटी इलायची, हीग, अगर, तुलसी, भूम्यामलकी, जीवन्ती, चोरपुष्पी।
३८ शोथहर	Anti Dropsy drugs	मुहल्लिल वर्म	पाढल, अरणी, सोनापाठा, बिल्व, गम्भारी, कटेरी, बड़ी कटेरी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखरु।

३९ ज्वरहर	Anti Pyretics	मानिय नौबत दुम्मा	अनन्तमूल, शर्करा, पाठा, मजीठ, मुनक्का, पीलु, फालसा, हरड़, आंवला, बहेड़ा ।
४० श्रमहर	Anti Fatigue drugs or Acopics		मुनक्का, खजूर, प्रियाल, बेर, अनार, अंजीर, फालसा, ईख, यव, साठी चावल ।
४१ दाह प्रशमन	Anti Burning Syndrome drugs Refrigerants	मुत्फी, तपलील हरारत मुसक्किन हरारत	लाजा, चन्दन, गम्भार, महुआ, शर्करा, नीलकमल, खस अनन्तमूल, गिलोय, सुगंधवाला।
४२ शीत प्रशमन	Calefacients		तगर अगर, धनियां, सोंठ, अजवायन, वच, कटेरी, अग्निमन्थ, सोनापाठा, पीपर ।
४३ उदर्द प्रशमन	Pnti Urticarials		तिन्दुक, चिरौंजी, बेर, खेर, कदर, सप्तपर्णी, शाल, अर्जुन, विजयसार, अरिमेद ।
४४ अंगमर्द प्रशमन	Restoratives		सरिवन, पिठवन, बड़ी कटेरी, कटेरी, एरण्ड, काकोली, चन्दन, खस, छोटी इलायची, मुलहठी ।
४५ शूल प्रशमन	Analgesics		पीपर, पीपरामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, मरिच, अजमोद, अजगंधा, जीरा, गण्डीर ।
४६ शोणित स्थापन	Haemostatics		मधु, मुलहठी, रुधिर, (केशर कुंकुमम्) मोचरस, मृत्कपाल, लोध्र, गैरिक, प्रियगु, शर्करा, लाजा ।
४७ वेदना स्थापन	Anodynes		शाल, कायफल, कदम्ब, पद्माक, तेजबल, मोचरस, शिरीष, जलवेंत, एलुआ, अशोक ।
४८ संज्ञा स्थापन	Resuscitatives		हींग, कटफल, अरिमेद, वच चोरपुष्पा, ब्राह्मी, गोलोमी, जटामासी, गुग्गुलु, कटुक ।
४९ प्रजा स्थापन	Procreants		ऐन्द्री, ब्राह्मी, दूर्वा, दूर्वामेद, पाटला, गुडूची, हरड़, कुटकी, कंघी, प्रियगु ।
५० वयः स्थापन	Rejurenators		गिलोय, हरड़, आवला, मुक्ता, श्वेताअपराजिता, जीवन्ती, शतावरी, मण्डूकपर्णी सरिवन, पुनर्नवा ।

अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य

लेखक : मुनि कान्तिसागर, उदयपुर

[आयुर्वेद का प्राचीन ग्रन्थ-भण्डार बहुत बड़ा है। हमारे पूर्वज हमारे लिए बहुत बड़ी ग्रन्थ-सम्पत्ति छोड़ गए है। आयुर्वेद आज यदि जीवित है तो प्राचीन जैन यति, ऋषि मुनियों की स्व-साधना में अनुरक्त रहने वाले महर्षियों के बल पर ही आज तक आयुर्वेद टिका रहा है। मुनिश्री ने अपने लेख में विवरण दिया है कि, 'गुणरत्न माला' भाव मिश्रजी के भाव प्रकाश ही का अङ्ग माना है? सुधानिधि, सुख जीवन-प्रकाश, रसराज-बोध प्रकाश आदि का परिचय भी प्रस्तुत किया गया है। काय चिकित्सा-सम्बन्धी, विशेषकर बाल और स्त्री-चिकित्सा पर भी प्रकाश डाला गया है। इस समय भारतवर्ष में लुप्त साहित्य जहा यत्र तत्र बिखरा हुआ है उसका श्री मुनिजी के पास सग्रह भी है। श्री मुनि कान्तिसागरजी उदयपुर निवासी है। आपका अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य नामक लेख खोज पूर्ण है एव पठनीय है। आप चरितनायक के प्रति अत्यन्त आस्थावान है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

विद्या-व्यसनो सुप्रसिद्ध विद्वान श्री महामहोपाध्याय विश्वेश्वरनाथजी रेऊ से विदित हुआ कि आयुर्वेद जगत के विख्यात विज्ञ और जोधपुर के लब्धप्रतिष्ठ राजवैद्य श्री यतिवर्य उदयचन्दजो चाणोद गुरा सा० का निकट भविष्य में अभिनन्दन किया जा रहा है। इस पुनीत प्रसग पर उनकी सेवाओ को ध्यान मे रखते हुए एक 'अभिनन्दन ग्रन्थ' भी भेंट (समर्पित) किया जाएगा। मेरे परमपूज्य गुरुवर्य श्री उपाध्याय पद-विभूषित श्री सुखसागरजी महाराज सा० के साथ इनका वर्षों का सम्पर्क रहा है। बचपन मे इन पक्तियो का लेखक भी आपकी चिकित्सा से लाभान्वित हुआ है। अत मुझे प्रसन्नता होना स्वाभाविक था। श्री यतिवर्य उदयचन्द्रजी की आयुर्वेद-विषयक सेवाए सर्वविदित ही रही हैं। आपने अपनी प्राचीन परम्परा को आज भी बनाए रखा है। यदि इन्हे यतियो की परम्परा के अन्तिम कहे तो अत्युक्ति न होगी। चिकित्सको का परम सौभाग्य है कि ऐसे श्रमशील विद्वान् के अभिनन्दन का पावन प्रसग प्राप्त हुआ है। यद्यपि आयुर्वेदविषयक ज्ञान इन पक्तियो के लेखक का अत्यन्त सीमित रहा है, पर जहा तक अनुराग का प्रश्न है वह आयुर्वेद—चिकित्सा पद्धति मे विश्वस्त रहा है।

विश्व का प्रत्येक प्राणी स्वास्थ्यकामी होता है। सभी निरोगी जीवन की कामना करते हैं। समुचित स्वास्थ पर ही मानसिक विकास अवलम्बी है। स्वास्थ्म सुदृढ राष्ट्र की धुरी है। भारत की पुरातन विद्याओ मे स्वास्थ्य विद्या का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। इस विद्या-परम्परा को आयुर्वेद की सज्ञा दी गई हैं जिसका तात्पर्य दीर्घ और स्वस्थ

आयुष्य से है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने स्व-साधना मे अनुरक्त रहते हुए भी एतद्विषयक साहित्य प्रचुर परिमाण मे रच कर जो महदुपकार किया है उसे हम नही भूल सकते। सांसारिकता से विरक्त रह कर भी वे सार्वभौमिक दया अनुकम्पा को वे उपेक्षणीय कैसे रखते। अहिंसा मे विश्वस्त और आश्वस्त मानव या साधक दूसरो को सुख पहुँचाने मे ही आत्मसतोष का वास्तविक अनुभव करता है।

यहा पर प्रसगत' एक बात का उल्लेख करना अनिवार्य जान पडता है कि गुरांसा जिस परम्परा के अनुगामी रहे हैं उसने आयुर्वेद के विकास, सरक्षण और परिवर्द्धन मे मूल्यवान् सहयोग दिया है। मेरा तात्पर्य जैन साहित्य प्रणेताओ से है। साहित्य सृजन के क्षेत्र मे जैन यति-मुनियो ने न तो कभी साम्प्रदायिकता को पनपाया और न कभी जनोन्नय-नमूलक किसी भी कार्य से मुह मोडा। सेवा करना उनकी नीति नही अपितु धर्म था। यही कारण है कि उन उदारचेता तपस्वियो द्वारा प्रणीत साहित्य सभी आवश्यक विषयो से परिपूर्ण है। कामसूत्र से लगा कर अध्यात्म जैसे विषयो तक उनका क्षेत्र व्यापक था।

एक समय था जब यूरोपीय प्राच्यतत्वविदो मे यह भ्रम फैला था कि प्राचीन भारतीय लोगो ने आध्यात्मिक, धार्मिक और तार्किक विषयो मे ही प्रावीण्य प्राप्त किया था भौतिक विषयो को उन्होने अछूता ही रखा। परिणामत भौतिक याने प्रत्यक्ष तत्वो को न समझ सकने की परम्परा हिन्दू सभ्यता मे आनुवशिक रूप से उतर आई है। अर्थात् आध्यात्मेतर विषयो को आत्मसात् करने की बौद्धिक क्षमता भारतीयो मे नही रही। यह अभियोग आयुर्वेद पर भी चरितार्थ होता है। सुप्रसिद्ध सस्कृत साहित्य के लेखक श्री ए० ए० मेकडोनल का निम्न वक्तव्य प्रेक्षणीय है—

1. 'With regard to the intrinsic value of the works of the old Indian writers on medicine, the opinion of competeot judges who have hitherto examined them is not favourable. Nor is it likely that the Indian mind, since it never showed any eptituda for natural science, should have accomplished anything great in this direction. Probably the only valuable contribution to surgery to which India can lay claim is the art of forming artificial noses'

—'Imperial Cazetteer of India', Vol II. p. 266.

उपर्युक्त वाक्यावली मे पूर्वग्रह का स्पष्ट प्रदर्शन है। एक जर्मन विद्वान् हास ने तो यहाँ तक कह डाला कि "हिन्दुओ की वैद्यक विद्या का विकास १० से १६ शती तक का ही है।" कितना हास्यास्पद विश्लेषण है। परन्तु परवर्ती विद्वान् जोली ने इन मतो का निरसन "हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसन" मे भली भाति कर दिया है।

श्रद्धाजीवी मानस कभी-कभी भावुकतावश कह बैठता है कि पूर्णतया आध्यात्मिक जीवन

यापन करने वाले मुनियो का आयुर्वेद जैसे भौतिक विषय से क्या सम्बन्ध ? जैन मुनियो का विरक्त जीवन इससे कैसे बैठायेगा ? इन स्वरो मे प्राणी मात्र को सुख पहुँचाने की प्रवृत्ति धूमिल हो जाती है। वे अहिंसा की सूक्ष्म व्यापकता से परिचित होते और दया का वास्तविक मर्म आत्मसात् किये होते तो शायद यह विचार ही उनके मस्तिष्क-पटल पर अङ्कित न होता। इतना ही नही प्राचीन जैन साहित्यानुशीलन से अवगत होता है कि आयुर्वेद की समस्त शाखाओ के विकास मे क्रियाशील आचार्यों का प्रधान सहयोग रहा है। प्रभावक आचार्य को सर्व विषयो मे निष्णात होना आवश्यक है। रसायन शास्त्रो के परम विद्वान् नागार्जुन के गुरु आचार्य पाललिप्तसूरि जी को यदि चिकित्सा का ज्ञान और अनुभव न होता तो मुरुण्ड राजा के मस्तक रोग का निवारण उन द्वारा सम्भव न था। कालिकाचार्य रसायनशास्त्र के न केवल सैद्धान्तिक विद्वान् ही थे अपितु इसका इन्हें सक्रिय ज्ञान था। कहने का तात्पर्य है कि न केवल जैन यति-मुनियो ने स्वतत्र आयुर्वेद के प्रामाणिक और महत्वपूर्ण ग्रन्थो का ही प्रणयन किया अपितु एतद्विषयक दुर्बोध कृतियो पर विस्तृत एव आलोचनात्मक टीका टिप्पणी लिखकर सर्वाधिक लोक भोग्य भी बनाया। सस्कृतानभिज्ञ प्रेमियो के लिए कई रचनाओ पर स्तबक, टबा और बालावबोध या अनुवाद कर उसे सुरक्षित रख जो सेवा आयुर्वेद जगत की की है वह आज के वैज्ञानिक व शोध के युग मे भी अभिनन्दनीय ही नही, अपितु अनुकरणीय है। नागार्जुन-रचित "योगरत्नमाला" जैसे कतिपय ऐसे ग्रथ हैं जिन पर जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत सुबोध वृत्ति समुपलब्ध है। ऐसी रचनायें उन दिनो की हैं जिन दिनो स्वल्प शैथिल्य भी समाज की दृष्टि मे अक्षम्य अपराध माना जाता था। अपने प्रारम्भिक आचार और शास्त्रीय नियमो का पूर्णतया दैनिक जीवन व्यवहार मे साकार करने वाले परम निस्पृह मुनि ही इस कार्य के अधिकारी हो सकते थे। वे अपनी साधना और अनुभवो को छिपाने की अपेक्षा जन-कल्याणार्थ सार्वजनिक प्रदर्शन करने मे तनिक भी सकोच नही करते थे। प्रयोग छिपाने से हमारी चिकित्सा के क्षेत्र मे कितनी हानि हुई यह बतलाने की आवश्कता नही। यहा जैनो द्वारा रचित आयुर्वेद की समस्त शाखाओ को परिपुष्ट करने वाले साहित्य की न तो समीक्षा करनी है और न क्रमबद्ध इतिहास ही उपस्थित करना है, पर यह कहने का लोभ भी सवरित नही कर सकता कि आज ६ दर्जन से अधिक एतद्विषयक रचनाये प्राप्त हैं। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो जहाँ तक राजस्थान का प्रश्न है, विशुद्ध आयुर्वेदीय परम्परा को सुरक्षित रूप से रखने और अधिकाधिक लोक भोग्य बनाने मे सर्वाधिक सक्रिय योग जैन यति-मुनियो का ही रहा है। यह एक ऐसा ऐतिहासिक सत्य है जिसकी गवाही मे शताधिक मौलिक और सकलित कृतियाँ समुपस्थित की जा सकती हैं।

सकलनो से मेरा तात्पर्य आम्नाय ग्रथो से है। सम्पूर्ण भारत मे इस प्रकार की अनुभूत प्रयोगो की शताधिक पोथिया उपलब्ध हैं, पर राजस्थान के जैन भडारो मे तो इनका इतना

बाहुल्य है कि यदि उन सबका सामूहिक प्रकाशन किया जाय तो कई जिल्दें सरलता से तैयार हो सकती हैं। पुन. पुन. प्रयुक्त शास्त्रीय प्रयोगो की छाप तो ऐसे सकलनो पर होती है पर पारम्पर्य अनुभवमूलक योग भी हजारो की सख्या मे पाये जाते हैं जो तत्काल अपना मूल्यवान् प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। ऐसे योग केवल काष्टादिक औषधो से ही सम्बद्ध नही रखते अपितु रासायनिक-धातु परिवर्त्तन और विषोपविषो से सबध रखने वाले योग भी मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ सिंग्रफ ही लें, शास्त्रीय दृष्टि से इसे गौ या महिषी के पय मे खरल कर सात बार नीबू के रस मे घोट कर शुद्धि की पद्धति प्रचलित है पर पुराने अनुभवमूलक पत्रो मे इस पलाण्डु, घृत और पलाण्डु रस सयुक्त, नागर बेल के पान के रस के साथ वच्छनाग के चूर्ण मे रखकर या उत्तम मद्ययोग से शुद्ध करने की कई प्रकियाएँ मिलती हैं। भल्लातक के हिंगुलु मिश्रित कई प्रयोग विभिन्न रोगो पर इन पक्तियो के लेखक ने शताधिक बार अनुभव किया है, पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। रासायनिक प्रयोग भी अव्यर्थ प्रमाणित हुए। जिन विशिष्ट रोगो को दूर करने के जिन धातुओ का वर्णन शास्त्रीय कृतियो मे आया है उन-उन रोग-निवारणार्थ सबद्ध काष्टादिक वनस्पतियो के रस मे यदि उन्हे भावित कर काम मे लाया जाय तो कोई कारण नही कि चिकित्सक को असफलता का सामना करना पडे। जैसे मधु-मेह के निरसन के लिये प्रयुक्त भस्मो को इस रोगनाशक वनस्पतियो के रसो के योग से बनाए तो तत्काल फल मिल जाता है। इन पक्तियो के लेखक ने हिंगलु तथा मधुमेह पर यह प्रक्रि-याए कई बार प्रयुक्त की हैं। कहने का तात्पर्य कि ऐसे सकलनो का बहुत बडा महत्त्व है। ऐसे आम्नाय ग्रथ १४वी शती से मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं, सम्भव है इस पूर्व के भी प्राप्त होते हो, पर मेरे सग्रह की कृतियो मे जो सर्वाधिक प्राचीन हैं वे रचनाए १५वी की ही हैं और सुप्रसिद्ध जैनाचार्यो की पारम्परिक आम्नाये हैं। मुझे इन प्रयोगो ने कभी अपयश नही दिया। १० सकलन इन पक्तिकाओ मे लेखक के सग्रह मे हैं। यद्यपि इनके प्रयोग बहुल-लतया वानस्पतिक होते हैं, अल्पव्ययी रुग्ण भी इनसे लाभान्वित हो सकते हैं। यहा स्मरणीय है कि ऐसी रचनाओ मे केवल प्रयोग ही सग्रहीत हो सो बात नही है, कई तो निदान संयुक्त भी प्राप्त हैं। १६वी शताब्दी का एक सकलन मेरे सग्रह मे जिनमे आपाद-मस्तक सर्वाङ्ग का वर्णन, रोग, कारण परिचर्या और चिकित्सा का विशद और प्रामाणिक विवेचन सकलित है। इसमे सग्रहकर्त्ता को जो योग जिस-जिस महानुभाव से प्राप्त हुआ उनके नाम भी विद्यमान हैं। जिन पर प्रयोग किया गया उनके नाम भी मिलते है, जैसे "सिंहवाहिनी" गुटिका के साथ महाराणा कुंभा का नाम जुडा है।

हा, तो कहने यह जा रहा था कि किस प्रकार शास्त्रीय कृतियो के गवेषण, प्रकाशन और अनुसधान पर आज बल दिया जा रहा है उसी प्रकार ऐसे सकलनात्मक साहित्य पर सर्वाधिक ध्यान देने की परमावश्यकता है। यह हमारे पूर्वजो की वर्षों की शताधिक बार की परीक्षित

अमूल्य निधि है। इन सग्रहात्मक रचनाओ के अतिरिक्त भी अनपढ जनता और वयः प्राप्त मानव के कठ मे महान् औषधि प्रयोग वर्षो से चले आ रहे हैं, उनका भी लिपिबद्ध हो जाना अत्यन्त वाछनीय है। कभी-कभी अनुभव किया गया है कि जहा दिग्गज विफल हो जाते हैं वहा ये ग्रामीण कहलाने वाले मानव सफल होते देखे गये हैं।

आज का युग खोज और अन्वेषणप्रधान है। अनुसधित्सुओ ने अपनी मूल्यवान् साधनाओ द्वारा कई ऐसी वस्तुओ पर प्रकाश डाला है कि उन चमत्कारो से आश्चर्यान्वित हो जाना पडता है। आयुर्वेद के उद्धारार्थ भी प्रचुर प्रयत्नो की आवश्यकता है। यही एक ऐसी रोग-निवारण पद्धति है जिसने शताब्दियो से मानव के स्वास्थ्य को सुरिक्षत रखने मे बहुमूल्य योग प्रदान किया है। आज के सीमित अनुसधानो ने प्रमाणित कर दिया है अयुर्वेद की शक्ति अपार है, क्रान्तदर्शी ऋषियो की साधना आज नवमूल्याकन की अपेक्षा रखती है उन द्वारा प्रणीत और प्रकाशित आयुर्वेदिक साहित्य से भी अभी मूल्यवान् रचनाए अप्रकाशित अवस्था मे पड़ी हुई उद्धार की प्रतीक्षा मे हैं। प्राचीन ज्ञानाकारो मे, सम्भ्रान्त परिवारो मे और मठ-मदिरो मे न जाने कितना साहित्य दिनानुदिन नष्ट हुआ जा रहा है, दीमको का भोजन बन रहा है जिसका परिष्कार और प्रकाशन वाछनीय है।

इस प्रबध मे मै अपने सग्रह के कतिपय अज्ञात या अल्पप्राप्त ग्रथो का परिचय दे रहा हूँ जिनका सबध आयुर्वे से है। यो तो सकलनात्मक प्रयोगो के १० बृहत्तर सग्रह तथा स्फुत पत्र इतने अधिक हैं कि उनकी सख्या १००० से कम नही है, पर यहा तो केवल उन्ही का उल्लेख होगा जो स्वतत्र कृतिया हैं। यदि कोई आयुर्वेदप्रेमी इनके प्रकाशन की व्यवस्था कर सके तो उत्तम है।

१ योगसुधानिधी

सस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध विद्वान् और परम साहित्यसेवी आफ्रेकट के "कैटलोगस-कैटलोगम" मे इस कृति का उल्लेख, जहा तक मुझे स्मरण है, आया है और वहा बताया गया है कि इसकी एक प्रति इडिया ऑफिस लायब्रेरी लडन और लाहौर मे किसी के संग्रहालय मे है। अद्यावधि प्रकाशित श्री जोली, दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री, अत्रिदेव गुप्तादि द्वारा आलेखित आयुर्वेद शास्त्र के किसी भी इतिहास मे इसका उल्लेख नही हुआ है। सर्वप्रथम यही इसका परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। इस मूल्यवान् रचना के प्रणेता जगदीश मिश्र के पुत्र वदि मिश्र है। लेखक ने अपनी इस कृति मे विशेषकर बाल और स्त्री चिकित्सा पर ही विचार किया है। वैद्यक परम्परा आनुवंशिक सस्कार के रूप में लेखक को प्राप्त हैं। जैसा कि प्रशस्ति से सिद्ध है। कवि के पूर्वज श्री भवानीदास स्वय कुशल वैद्य और चिकित्सक थे। यदि मिश्र ने कृति मे कई प्रयोगो मे अपने पूर्वजो द्वारा प्रवर्त्तित सज्ञा दी है। कवि को प्रान्तीय चिकित्सा पद्धतियो का भी अनुभव था जैसा कि

निनामी की चिकित्सा मे इस प्रकार उल्लेख किया है "तस्मिन्गुर्ज्जरदेशजात सुयवा दारस्य-चूर्णं क्षिपेदल्पपान विधानतो हरतितद्बाल्पस्यनिनामिकाम् ।"

ग्रथकार ने बालक जन्म से लगाकर जब तक वह वयस्क नही हो जाता तब तक की पूरी चिकित्सा का वर्णन किया है। बिल्कुल अल्पावस्था मे औषधि लेने की स्थिति नही होती उस के लिए लेप और धूप की व्यवस्था की गई है या माता को दवा देने का विधान निर्दिष्ट है। सर्व प्रथम दुग्ध शुद्धि और लक्षण का परिचय वर्णित है। तदन्तर षष्टिपूजा कात्तिकेवपूजन, वशपूजा, शखपूजा, नारायणपूजा, षोडश मातृकापूजा, कुलदेवता पूजा, हलपूजा आदि कृत्यो के बाद सूर्यावलोकन सस्कार सपन्न किया जाना बताया गया है। बालरोगो मे दाह, कूकूण नाभि शोथ, गुदापाक, मुखस्राव, दतोद्भेद, निनामी, ज्वर, कास, हिक्का, श्वास, छर्दि, मूर्च्छा, भ्रम, उन्माद, अपस्मार, मूत्र के कई रोग, गुल्म, यकृतप्लीहा शोथ, हृदयरोग, श्लीपद, विद्रधि, ग्रध्रसी, अस्थिसधान, भगदर, नाडीव्रण, उपदश, कुष्ट, शुक, अम्लपित्त, अतिसार, दूध फेकना, विसर्प, विस्फोट और शूद्र रोगादि पर सु दर प्रकाश डाला गया है। कामला—पाण्डु की चिकित्सा का उदाहरण देना उपयुक्त जान पडता है।

अथ पाण्डुरोगे चिकित्सा

गोमूत्र शुद्ध मण्डूर सप्पिषामधुनासह।
भक्षयेत्वाण्डुरोगघ्न पक्तिशूल हर शिशो ॥
लोहपात्रे स्थितक्षीर सप्ताह पथ्यभुक्शिशु।
पिबेत्वावामलाहर, ग्रहणी सोक नाशनम् ॥

अथ कामलायाम्

अजयेत्कामलार्त्ताना चक्षुषी दोष शान्तये।
निशा गैरिक धात्रिभि द्रौणिपुष्पी रसेन च ॥
गडूचीपत्र कल्क तु पिबेत्क्षेरण वा शिशु।

उपर्युक्त सभी प्रयोग लेखक के शतशोनुभूत हैं।

कृति के अन्तःपरीक्षण से विदित होता है कि लेखक को शास्त्रीय ज्ञान भी पर्याप्त था। अपनी चिकित्सा पद्धति को प्रमाणभूत बनाने के लिए रावण कृत "कुमार तन्त्र" का स्थान स्थान पर उल्लेख किया है। विशेषकर स्त्री चिकित्सा वाले प्रकरणो में तो बृहद्त्रयी का पूरा उपयोग परिलक्षित होता है। कौनसा प्रयोग कहा से लिया, यथास्थान सकेत स्पष्ट है। दोनो विभागो में लेखक ने अनेक स्थान पर मन्त्र और यन्त्रो द्वारा भी रोग निवारण का उपदेश दिया है। प्राचीन अन्य एतद्विषयक कृतियो में इस प्रकार की परम्परा पाई जाती है विद्वत्परिचर्यार्यं कृति का आदि भाग उद्धृत है—

अमूल्य निधि है। इन संग्रहात्मक रचनाओ के अतिरिक्त भी अनपढ जनता और वयः प्राप्त मानव के कठ मे महान् औषधि प्रयोग वर्षो से चले आ रहे हैं, उनका भी लिपिबद्ध हो जाना अत्यन्त वाछनीय है। कभी-कभी अनुभव किया गया है कि जहा दिग्गज विफल हो जाते हैं वहा ये ग्रामीण कहलाने वाले मानव सफल होते देखे गये हैं।

आज का युग खोज और अन्वेषणप्रधान है। अनुसधित्सुओ ने अपनी मूल्यवान् साधनाओ द्वारा कई ऐसी वस्तुओ पर प्रकाश डाला है कि उन चमत्कारो से आश्चर्यान्वित हो जाना पडता है। आयुर्वेद के उद्धारार्थ भी प्रचुर प्रयत्नो की आवश्यकता है। यही एक ऐसी रोग-निवारण पद्धति है जिसने शताब्दियो से मानव के स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने मे बहुमूल्य योग प्रदान किया है। आज के सीमित अनुसधानो ने प्रमाणित कर दिया है अयुर्वेद की शक्ति अपार है, क्रान्तदर्शी ऋषियो की साधना आज नवमूल्याकन की अपेक्षा रखती है उन द्वारा प्रणीत और प्रकाशित आयूर्वेदिक साहित्य से भी अभी मूल्यवान् रचनाए अप्रकाशित अवस्था मे पड़ी हुई उद्धार की प्रतीक्षा मे हैं। प्राचीन ज्ञानाकारो मे, सम्भ्रान्त परिवारो मे और मठ-मदिरो मे न जाने कितना साहित्य दिनानुदिन नष्ट हुआ जा रहा है, दीमको का भोजन बन रहा है जिसका परिष्कार और प्रकाशन वाछनीय है।

इस प्रबध मे मै अपने सग्रह के कतिपय अज्ञात या अल्पप्राप्त ग्रथो का परिचय दे रहा हूँ जिनका सबध आयुर्वे से है। यो तो सकलनात्मक प्रयोगो के १० वृहत्तर सग्रह तथा स्फुत पत्र इतने अधिक हैं कि उनकी सख्या १००० से कम नही है, पर यहा तो केवल उन्ही का उल्लेख होगा जो स्वतत्र कृतिया हैं। यदि कोई आयुर्वेदप्रेमी इनके प्रकाशन की व्यवस्था कर सके तो उत्तम है।

१ योगसुधानिधी

सस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध विद्वान् और परम साहित्यसेवी आफ्रेकट के "कैटलोगस-कैटलोगम" मे इस कृति का उल्लेख, जहा तक मुझे स्मरण है, आया है और वहा बताया गया है कि इसकी एक प्रति इ डिया ऑफिस लायब्रेरी लडन और लाहौर मे किसी के संग्रहालय मे है। अद्यावधि प्रकाशित श्री जोली, दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री, अत्रिदेव गुप्तादि द्वारा आलेखित आयुर्वेद शास्त्र के किसी भी इतिहास मे इसका उल्लेख नही हुआ है। सर्वप्रथम यही इसका परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। इस मूल्यवान् रचना के प्रणेता जगदीश मिश्र के पुत्र वदि मिश्र है। लेखक ने अपनी इस कृति मे विशेषकर बाल और स्त्री चिकित्सा पर ही विचार किया है। वैद्यक परम्परा आनुवंशिक सस्कार के रूप में लेखक को प्राप्त है। जैसा कि प्रशस्ति से सिद्ध है। कवि के पूर्वज श्री भवानीदास स्वय कुशल वैद्य और चिकित्सक थे। यदि मिश्र ने कृति मे कई प्रयोगो मे अपने पूर्वजो द्वारा प्रवर्त्तित सज्ञा दी है। कवि को प्रान्तीय चिकित्सा पद्धतियो का भी अनुभव था जैसा कि

अमूल्य निधि है। इन सग्रहात्मक रचनाओ के अतिरिक्त भी अनपढ जनता और वयः प्राप्त मानव के कठ मे महान् औषधि प्रयोग वर्षो से चले आ रहे हैं, उनका भी लिपिबद्ध हो जाना अत्यन्त वाछनीय है। कभी-कभी अनुभव किया गया है कि जहा दिग्गज विफल हो जाते हैं वहा ये ग्रामीण कहलाने वाले मानव सफल होते देखे गये हैं।

आज का युग खोज और अन्वेषणप्रधान है। अनुसधित्सुओ ने अपनी मूल्यवान् साधनाओ द्वारा कई ऐसी वस्तुओ पर प्रकाश डाला है कि उन चमत्कारो से आश्चर्यान्वित हो जाना पडता है। आयुर्वेद के उद्धारार्थ भी प्रचुर प्रयत्नो की आवश्यकता है। यही एक ऐसी रोग-निवारण पद्धति है जिसने शताब्दियो से मानव के स्वास्थ्य को सुरिक्षत रखने मे बहुमूल्य योग प्रदान किया है। आज के सीमित अनुसधानो ने प्रमाणित कर दिया है अयुर्वेद की शक्ति अपार है, क्रान्तदर्शी ऋषियो की साधना आज नवमूल्याकन की अपेक्षा रखती है उन द्वारा प्रणीत और प्रकाशित आयुर्वेदिक साहित्य से भी अभी मूल्यवान् रचनाए अप्रकाशित अवस्था मे पड़ी हुई उद्धार की प्रतीक्षा मे हैं। प्राचीन ज्ञानाकारो मे, सम्भ्रान्त परिवारो मे और मठ-मदिरो मे न जाने कितना साहित्य दिनानुदिन नष्ट हुआ जा रहा है, दीमको का भोजन बन रहा है जिसका परिष्कार और प्रकाशन वांछनीय है।

इस प्रबध मे मैं अपने सग्रह के कतिपय अज्ञात या अल्पप्राप्त ग्रथो का परिचय दे रहा हूँ जिनका सबध आयुर्वे से है। यो तो सकलनात्मक प्रयोगो के १० बृहत्तर सग्रह तथा स्फुत पत्र इतने अधिक हैं कि उनकी सख्या १००० से कम नही है, पर यहा तो केवल उन्ही का उल्लेख होगा जो स्वतत्र कृतिया हैं। यदि कोई आयुर्वेदप्रेमी इनके प्रकाशन की व्यवस्था कर सके तो उत्तम है।

१ योगसुधानिधी

सस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध विद्वान् और परम साहित्यसेवी आफ्रेकट के "कैटलोगस-कैटलोगम" मे इस कृति का उल्लेख, जहा तक मुझे स्मरण है, आया है और वहा बताया गया है कि इसकी एक प्रति इडिया ऑफिस लायब्रेरी लडन और लाहौर मे किसी के संग्रहालय मे है। अद्यावधि प्रकाशित श्री जोली, दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री, अत्रिदेव गुप्तादि द्वारा आलेखित आयुर्वेद शास्त्र के किसी भी इतिहास मे इसका उल्लेख नही हुआ है। सर्वप्रथम यही इसका परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। इस मूल्यवान् रचना के प्रणेता जगदीश मिश्र के पुत्र वदि मिश्र हैं। लेखक ने अपनी इस कृति मे विशेषकर बाल और स्त्री चिकित्सा पर ही विचार किया है। वैद्यक परम्परा आनुवंशिक सस्कार के रूप में लेखक को प्राप्त है। जैसा कि प्रशस्ति से सिद्ध है। कवि के पूर्वज श्री भवानीदास स्वय कुशल वैद्य और चिकित्सक थे। वदि मिश्र ने कृति मे कई प्रयोगो मे अपने पूर्वजो द्वारा प्रवर्तित सज्ञा दी है। कवि को प्रान्तीय चिकित्सा पद्धतियो का भी अनुभव था जैसा कि

निनामी की चिकित्सा में इस प्रकार उल्लेख किया है "तस्मिन्गुर्ज्जरदेशजात सुयवा दारस्य-चूर्णं क्षिपेदल्पपान विधानतो हर्ततितद्वाल्पस्यनिनामिकाम् ।"

ग्रथकार ने बालक जन्म से लगाकर जब तक वह वयस्क नही हो जाता तब तक की पूरी चिकित्सा का वर्णन किया है। बिल्कुल अल्पावस्था में औषधि लेने की स्थिति नही होती उस के लिए लेप और धूप की व्यवस्था की गई है या माता को दवा देने का विधान निर्दिष्ट है। सर्वं प्रथम दुग्ध शुद्धि और लक्षण का परिचय वर्णित है। तदन्तर षष्टिपूजा कात्तिकेयपूजन, वशपूजा, शखपूजा, नारायणपूजा, षोडश मातृकापूजा, कुलदेवता पूजा, हलपूजा आदि कृत्यो के बाद सूर्यावलोकन सस्कार सपन्न किया जाना बताया गया है। बालरोगो मे दाह, कुकूण नाभि शोथ, गुदापाक, मुखस्राव, दतोद्भेद, निनामो, ज्वर, कास, हिक्का, श्वास, छर्दि, मूर्च्छा, भ्रम, उन्माद, अपस्मार, मूत्र के कई रोग, गुल्म, यकृतप्लीहा शोथ, हृदयरोग, श्लीपद, विद्रधि, ग्रध्रसी, अस्थिसधान, भगदर, नाडीव्रण, उपदश, कुष्ट, शुक, अम्लपित्त, अतिसार, दूध फेंकना, विसर्प, विस्फोट और शूद्र रोगादि पर सु दर प्रकाश डाला गया है। कामला-पाण्डु की चिकित्सा का उदाहरण देना उपयुक्त जान पडता है।

अथ पाण्डुरोगे चिकित्सा

गोमूत्र शुद्ध मण्डूर सर्प्पिषामधुनासह ।
भक्षयेत्पाण्डुरोगघ्न पक्तिशूल हर शिशो ॥
लोहपात्रे स्थितक्षीर सप्ताह पथ्यभुक्शिशु ।
पिबेत्त्वावामलाहर, ग्रहणी शोक नाशनम् ॥

अथ कामलायाम्

अजयेत्कामलात्तानि चक्षुषी दोष शान्तये ।
निशा गैरिक धात्रिभि द्रोंणिपुष्पी रसेन च ॥
गडूचीपत्र कल्क तु पिबेत्क्रेण वा शिशु ।

उपर्युक्त सभी प्रयोग लेखक के शतशोनुभूत हैं।

कृति के अन्तःपरीक्षण से विदित होता है कि लेखक को शास्त्रीय ज्ञान भी पर्याप्त था। अपनी चिकित्सा पद्धति को प्रमाणभूत बनाने के लिए रावण कृत "कुमार तत्र" का स्थान स्थान पर उल्लेख किया है। विशेषकर स्त्री चिकित्सा वाले प्रकरणो में तो वृहद्त्रयी का पूरा उपयोग परिलक्षित होता है। कौनसा प्रयोग कहा से लिया, यथास्थान सकेत स्पष्ट है। दोनो विभागो में लेखक ने अनेक स्थान पर मत्र और यन्त्रो द्वारा भी रोग निवारण का उपदेश दिया है। प्राचीन अन्य एतद्विषयक कृतियो मे इस प्रकार की परम्परा पाई जाती है विद्वत्परिचयार्थं कृति का आदि भाग उद्धृत है—

श्री गणेशाय नम

नत्वा धन्वतरी भवत्वा चिकित्सा क्षीरनीरधिम् ।
विलोक्य बुध्वा बहुशः कलामि सकलकृत ।।१।।
गदधर्मार्त्ता बालाना सुखाय भिषजा तथा ।
क्रियते वन्दिमिश्रेण सोऽय "योगसुधानिधि" ।।२।।
शेराज्यरम्य पुरमिष्टकाख्यं, मनोरम श्रोत्रियमदिरश्च ।
अगस्तिगोत्रो वसतिस्म तत्र, सर्वेच पूज्योहि भवानीदास ।।३।।
पुत्रोथ द्विजराजराजवन्दितपदः श्रीमान्सता वल्लभ.
स्फूहाद्गोत्रधरो बभूव भिषजा मान्स्य नारायण ।।४।।
कल्याणोऽस्यसुतस्समस्त भुवनानन्दैकहेतु तमतो ।
जातोर्षा जगदीश्वरो भुविगतो विष्णोरिवाषस्वयम् ।।५।।
वन्दिमिश्रेणात्मजेनास्य सोय ग्रन्थ' पु सा व्याधिवधायव्यधामबद्धः ।
सर्वे योगा यत्रमत्रादयोस्मिन्सिद्धाएव श्रीभवानीवरेण ।।६।।

ग्रथकार ने आत्मवृत्त देने मे कृपणता कर दी है । जहा से मुझे यह प्रति प्राप्त हुई उन सज्जन का कथन है कि हमारी परम्परा मे यह प्रसिद्ध रहा है कि ये भाव मिश्र के प्रपौत्र थे जिसकी रचना भावप्रकाश प्राप्त है । परन्तु यह कोरी किंवदन्ती है, इसके पीछे कोई ठोस आधार नही है, अतः प्रमाणभूत ऐतिहासिक साधन जब तक न मिले तब तक इनका अस्तित्व समय ग्रथकार के गर्भ मे ही रहेगा, हा भाव मिश्र का समय सुनिश्चित होता तब भी कोई बात नही थी, पर उनका भी काल अज्ञात ही है । यहा तो इतना ही निसकोच कहा जा सकता है कि यह कृति आग्ल सपर्क के बाद की है अर्थात् सत्रहवी शताब्दी के अनन्तर ही इसका प्रणयन हुआ होगा कारण कि इसमे उपदश का स्पष्ट उल्लेख है । अनुसधित्सुओ से निवेदन है कि यदि किसी के सग्रह में इसकी अन्य प्रति प्राप्त हो तो इन पक्तियो के लेखक को सूचित करने का कष्ट करें । इसकी मुद्रणा योग्य प्रतिलिपि मैंने तैयार कर ली है । इसका प्रकाशन नितान्त वाछनीय है ।

गुणरत्नमाला—

हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन मे सुप्रसिद्ध आयुर्वेद-गवेषक श्री जोली ने उपर्युक्त कृति का उल्लेख करते हुए सूचित किया है कि इसकी एक प्रति लडन के "इण्डिया आफिस" सग्रहालय मे सुरक्षित है । श्रीयुत दुर्गाशकर भाई केवलरामजी शास्त्री ने भी अपने "आयुर्वेद के इतिहास" मे इसी बात को दुहराया है । इससे यही फलित होता है कि भारत मे कही भी इसकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त नही है । मेरे उदयपुर-निवास-दरम्यान स्थानीय विद्वान् श्री आलम शाह खान सा० ने मुझे अपने सग्रह के पुराने हाथ के लिखे स्फुट पन्नो का ढेर बताया

उसमे यह कृति आकस्मिक रूप से प्राप्त हो गई और इन्होने मुझे अपने सग्रह के लिए सहर्ष समर्पित भी कर दी। सम्भव है अन्य विद्वानो के वैयक्तिक सग्रह में भी दूसरी प्रति उपलब्ध हो जाय, इस प्रति के प्रारम्भ के २ से लगाकर १४ पत्र विलुप्त हैं।

अभी तक भाव मिश्र की केवल एक ही रचना—"भावप्रकाश" प्रसिद्ध थी और जब इस कृति का नाम अनुसधानको ने सुना तो बडी प्रसन्नता हुई होगी। अन्वेपण का यह सामान्य नियम रहा है कि किसी भी कृतिकार की आत्मा को भी यदि पहचानना है तो उनकी रचनाओ का अनुशीलन नितात वाछनीय है। जैसा कि मैं पूर्व ही मे अपने आयुर्वेदिक सीमित ज्ञान का उल्लेख कर चुका हूँ, तथापि मैंने विषय की दृष्टि से भावप्रकाश को देखा और गुणरत्नमाला को भी समझने का प्रयास किया तो पता चला कि वह कृति भले ही स्वतन्त्र रचना प्रतीत होती हो परन्तु वस्तुत' यह भावप्रकाश का ही एक अग है। या यो कहना चाहिए कि भाव मिश्रजी ने प्रथम इसका प्रणयन किया तदनन्तर इसी का विस्तार भावप्रकाश में किया, कारण कि कृति का अधिक तो नही पर आशिक जो परीक्षण किया और शालिग्राम वैश्य सपादित भावप्रकाश के साथ इसमे वर्णित विषयो का निरीक्षण किया तो स्पष्ट हो गया है। इसमे केवल द्रव्य गुण विज्ञान का ही समावेश है, आगे ऋतुचर्या, परिचर्या और सामान्य वातादि के गुण दोषो की चर्चा है और कृति समाप्त हो जाती है।

द्रव्य गुण विज्ञान का सक्षिप्त रूप मै इसलिए कहता हूँ कि भावप्रकाश मे वनस्पति नाम, पहचान के बाद गुणो का वर्णन किया है जब कि इसमे केवल गुणो का ही विवेचन है। इसके सभी श्लोक भावप्रकाश से मिलते है। वर्णन-क्रम भी भावप्रकाश के ही अनुकूल है। मेरा तो यही अनुमान है कि भाव मिश्रजी ने बाल बुद्धि वैद्यो के लिए विद्यार्थियो के लिए ही सक्षिप्त मे तैयार किया है। चिकित्सा को छोड कर यदि इस गुणरत्नमाला को भावप्रकाश का सक्षिप्त सस्करण कह दिया जाय तो अत्युक्ति न होगी।

गुणरत्नमाला से इतना नवीन ज्ञातव्य अवश्य प्रकाश मे आया कि सुप्रसिद्ध विद्वान भाव मिश्र के पिता का नाम लटकन मिश्र था।

रसायनसार और सुखसजीवन प्रकाश—

उदयपुर के निवासी सुखवाल विप्र की ये दोनो कृतिया हैं। ये अद्यावधि प्रकाशित हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासो मे अनुल्लिखित कवि हैं। आयुर्वेद के इतिहासो मे भी इनका नाम नही मिलता है। इन कृतियो का अपना-अपना महत्व है। दोनो का सम्बन्ध रसायन शास्त्र से है, जिनका उद्देश्य धातु-परिवर्तन विद्या से है। इन कृतियो का उद्धार कबाडियो से किया गया है।

आयुर्वेद में रसायन की उपयोगिता सर्वविदित है। एक धातु को किसी दूसरी मूल्यवान धातु मे परिवर्तित कर देना भारतीयो का ही कौशल है। नागार्जुन इस विषय के

आचार्य माने जाते रहे हैं। यद्यपि इन कृतियो पर वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले महानुभाव बहुत ही स्वल्प विश्वास करते हैं, पर जिनको रुचि इन ग्रथो मे है और वर्षों से जो श्रम करते हैं वे सफल ही हुए हैं। चिकित्सा के क्षेत्र मे भी रसायन का अपना बहुत ही ऊचा स्थान है। रस-चिकित्सा शीघ्र फलदायिनी होती है। रस का तात्पर्य पारद मिश्रित औषध से भी है।

कवि की प्रथम कृति "रसायनसार" है जिसमे रसायन निर्माण की ३२ प्रक्रियाओ का विशद विवेचन है। दूसरी रचना में धातुओ की शुद्धि और कृत्रिम मणि रत्नो का विधान दिया गया है। ताबरा को स्वच्छकर माणिक्य रूप में कैसे परिवर्तित किया जाता है और अहिफेन आदि का निर्माण कैसे होता है, रत्नो पर पानी कैसे चढाया जाता है आदि कई उपादेय विषयो पर कवि ने अनुभवमूलक प्रकाश डाला है। इन आश्चर्योत्पापश प्रयोगो पर साहसिक विश्वास होना कठिन ही है, अतः कवि ने बार-बार जनता से आग्रह किया है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, अनुभव और गुरुगम के आधार पर ही लिखा है, अविश्वास करने का कोई कारण नही है। इन पक्तियो के लेखक की दृष्टि में और भी इस विषय की रचनाऐं और स्फुट प्रयोग देखने मे आये हैं, नही कहा जा सकता है इसमें कितना सत्याश है। कृत्रिम मोती के लिए तो आज के युग में प्रमाण देने की आवश्यकता नही रहती।

कवि ने कृति में जो रचना-सवत दिया है उस से पता चलता है कि वह सम्वत १७०० में विद्यमान था। "राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखितो की खोज" भाग एक मे इनकी एक और कृति "शकुन सवच्छरसार" उल्लिखित है। इसका रचनाकाल मेनारिया ने स० १७६० दिया है जो विचारणीय है। कारण कि रसायनसार कवि ने आख्यनृत देते हुए इसका प्रणयन समय स० १७०० भाद्रपद शुक्ला ५ रविवार बताया है। श्री मतीलाल मेनारिया ने इसो हृदयानन्द जोशी को महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय (राज्य काल स० १७६६ १७६०) का आश्रित बताया है पर अपने इस कथन के समर्थन में एक भी सम-सामयिक तथा कवि द्वारा स्वीकृत ऐसा कोई अकाट्य प्रमाण उपस्थित नही किया है। मेनारिया स्वय उदयपुर के निवासी और कथित अन्वेषक भी माने जाते हैं, कही ऐसा तो नही है कि उन्होने अपनी ही रिपोर्ट में प्रदत्त "नैउवें" शब्द को सही मान कर महाराणा के आश्रित रहने की कल्पना कर डाली हो ? रसायनसार मे "सवत सत्रह सइकरे" स्पष्ट अकित है।

कवि का लघुनाम "नन्द" था। ये भारती गुसाई के परम भक्त थे। कृति में बाबाइ भारती जी को याद किया है और इस रचना का पूरा श्रेय भी उन्ही को दिया है। यह कहने की यहा शायद ही आवश्यकता प्रतीत होती है कि उदयपुर के राजघराने से गुसाइयो का बहुत प्राचोन सबध रहा है। १८वी शताब्दी के जैन विज्ञप्ति पत्रो में और उदयपुर के तात्कालिक ऐतिहासिक वर्णनो में इनका वैभव वर्णित है। लादूबास के गुसाई प्रसिद्ध हैं।

यहां पर स्पष्टता वाछनीय है कि यदि कवि महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय का आश्रित होता तो कम से कम आश्रयदाता का नामोल्लेख तो करता ही जैसा कि राज्याश्रित कवि ग्रथांत मे आश्रयदाता को ही कृति बता दिया करते थे, बल्कि इसके विपरीत मेनारिया ने जो उद्धरण दिया है उससे तो कवि का उदयपुर का होना तक प्रमाणित नही होता। आज भी उदयपुर में इस जाति के पर्याप्त घर हैं। विद्वत्वरचयित कृति के आदि अत भागो के उद्धरण प्रस्तुत हैं—

कवि ने रसायनसार नाम "रसराज बोधप्रकाश" भी सूचित किया है—

रसराज बोधप्रकाश

आदि—

श्री गणेशाय नमः

अथ गुसांई भारथीजी कृत रसायण ग्रथ लिख्यते

दोहा

प्रनमें गुरु इक भारती जिन घट कियो उजास।
और अनेक सुशिष्य गुरु वचने बचन प्रकास ॥१॥
जिनतें वस्तु भली मिलै सोई सतगुरु जान।
वस्तु भुला दे गांठ की सो कुसग कुबषान ॥२॥

चन्द्रायनौ

सपत धात उपधात चतुरदस जानीये।
इनमे सब ही स्यालषिलार बषानीये॥
उतपतिय है वैद्य षिलारी सब कहे।
हरि हा कैसो गुरगम होय सो तैसी विध लहै ॥३॥
धात हि धात वैद्य कह्यो उपधात यो।
कही धात उपधात आदि ज्यू जानियौं॥
उतपति सब स्याल षिलारी यौं कहे।
थिरता वेध कलक क्यौं पैहचानिये ॥४॥

अन्त भाग—

सवत सत्रैह सईकरै, भादो उज्जल पक्ष।
तिथि पाचम रविवार दुत, रचना रची सु दक्ष॥
सिषिवाल नि मैं सोभतो, जोसी हृदयानन्द।
चागिन गोत्रे चामुण्डा, पिता सु ताराचन्द॥

नगर उदैपुर के विषै, कवि नद को वास।
सद्य रसायन ग्रंथ को, जग मे कर्यो प्रकाश॥

इति श्री ताराचन्द सुत सिषवाल गोत्रे हृदयानन्द विरचिते 'रसराजबोधप्रकाश' ग्रंथ घातुरबाद विचारनीय समाप्त॥

सुखसजीवन प्रकाश—

आदि—

सुखजीवन प्रकाश भाषा जोसी हृदयानन्द कृत लिख्यते

दोहा

कहै नद कर जोरिकै, सुनि दशनामी राय।
सुखसजीवनप्रकाश को, सतगुर कथा सुनाय॥१॥

जो मति सुचि जीवै विदुर, नित प्रति चपल उपाय।
विधि-निषि वस्तु अनेक जिहा, पराधीन दुष पाय॥२॥

जो सद् विद्या जगत मे, जिनमे षोट न होय।
कै हैं कृपासु भारथी, सुष सु जीव उपाय॥३॥

अन्त—

पल इक हीरा हींग सु शुद्ध मगाइयै।
दुगुनो नागरमोथ मध्य मिलाइयै॥

लसन कुली इक पोत सू च्यार पल का हियै।
हरि हा अष्ट निबोरी मींग सु पालो सराहियै॥

उड़द मुग की पिष्ट सुकोरम जानियै।
वीलागिरक बत्तीस परक्ख ठानियै॥

हरि हा टांक एक अफीम मसाल्ला मानियै।
गाडर दूध मिलाय रु वस्त घसाइयै॥

अति सूक्ष्म जब होई पीड बधाइयै।
आले गर्द्धं के चर्म ताहि भराइयै॥

इति हींग पचम विधि सम्पूर्ण

सुषसजीवन प्रकास जोसी हृदयानन्द कृत भाषा बाइसमी विधि समाप्त॥

लघनपथ्य निर्णय

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति मे पथ्य और लघन का अमुक रोगो मे विशिष्ट महत्व है। वस्तुतः पथ्य स्वास्थ्य के लिए आवश्यक तत्व है। रोग विजारण मे दोनो की उपयोगिता असदिग्ध है। इस विषय पर मनीषियो ने गभीरतापूर्वक विचार किया है। यह

वैद्यक का ऐसा अग है जिस पर ध्यान देना परमावश्यक है। स्वास्थ्य को प्रकृतिस्थ बनाए रखने के लिये भी माह मे एकाध बार लघन करना समुचित ही है। जिस रचना पर यहा विचार किया जा रहा है वह सूचित परिचर्या का एक अङ्ग ही है। किस किस रोग मे कितने दिनो तक अनाहार रहा जाय और किन किन रोगो मे क्या पथ्य ग्रहण किया जाय आदि बातो का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत है। यह बताने की शायद ही आवश्यकता प्रतीत होती हो कि पथ्य भी देशज होते हैं। इसमे विशेषत मारु और जागलादि राजस्थान के जलवायु को ध्यान मे रखते हुए रोगी के पथ्य की व्यवस्था है। औषधि के परम सहयोगी तत्व पर पाश्चात्य-चिकित्सको ने सभवतः इतना ध्यान नही दिया है।

इस कृति के प्रणेता हैं खरतरगच्छीय आचार्य श्रीजिनदत्तसूरिजी की पारम्परिक मुनि लक्ष्मीनाथ वाचक जो दयातिलक के शिष्य थे। महामहोपाध्याय दयातिलक स्वय कवि और सयमी सत थे। इनकी अन्य रचनाए १८ वी शती के दूसरे चरण की मिलती हैं। वाचक लक्ष्मीनाथ ने "लंघनपथ्य निर्णय" का प्रणयन महाराजा जयसिंह के राज्य मे उन्हो के पाट नगर जयपुर मे स० १७९२ माघ शुक्ला प्रतिपदा बृहस्पतिवार को दिया। इससे विदित होता है कि उनका संस्कृत भाषा पर अधिकार था। अपने अनुभवमूलक विचारो को बहुत ही सरल और सुबोध भाषा मे उपस्थित कर सामान्य या स्वल्प-बुद्धि वालो के लिये महदुपकार किया है।

"जैन सिद्धान्त भास्कर" भाग ५, किरण २, पृष्ठ ११५ पर "लंघनपथ्य विचार" नामक कृति का उल्लेख है। इसका प्रणयन समय स० १७९२ ही है, पर वहा प्रणेता का नाम दीपचन्द दिया है।

कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है-

आदि

ओसवंश नमस्कृत्य भयताप निवारकः।
चतुर्गति प्रहर्त्ता च सर्व सौख्य प्रदायकः ॥ १ ॥
परमात्मा पर ज्योति-चिचदानन्दमयमहं।
अज्ञानध्वान्त नष्टस्य केवलज्ञान दायकः ॥ २ ॥
सु वेषा च मनोज्ञा च मुक्ताभरण भूषिता।
हसवाहिनी या सा सारदा वरदास्तुनः ॥ ३ ॥
गणनार्थं नमस्कृत्य किन विघ्न निवारकः।
मगल श्रेयकर्त्ता च गौर्यापुत्र नमोस्तु ते ॥ ४ ॥
धन्वतरि नमस्कृत्य सर्व रोगापहारकः।
आयुर्वेदस्य वक्ता च आयुर्दाता यश प्रदः ॥ ५ ॥
महामहोपाध्याय श्री पूर्व दयातिलक सद्गुरुन्।
तच्चरण प्रणम्यादौ मया ग्रथ विरच्यते ॥ ६ ॥

पचेतान्नमस्कृत्य पचेते विघ्नवारकाः।
पचेते श्रेयकर्ता च पचेते च यश प्रदाः ॥ ७ ॥

अन्त भाग—

विद्वज्जनान्य संपूज्य नमस्कृत्य गुरु प्रति।
सर्वशास्त्रादि सवीक्ष्य आत्मबुद्धयानुसारत ॥३३५॥
द्विनन्दमुनिभूपवर्षे मासे च माघ सज्ञके।
शुक्ले प्रतिपदाया चवासरेभृगु सज्ञके ॥ ३३६ ॥
सपूर्ण क्रियते ग्रथ निर्णयपथ्यलंघनम्।
श्रीजयपुरे महद्रम्ये राज्ये जयसिंहभूपतेः ॥ ३३७ ॥
पूर्णग्रथ मनोज्ञश्च वैद्याना च हितावहे।
मुखाधीत कृतौ येन विद्वन्मध्ये तु शोभते ॥ ३३८ ॥
कपोल कलित चास्ति पूर्वाचार्यानुसारत ।
वाचक लक्ष्मीनाथेन एकत्री कृत शास्त्रतः ॥ ३३९॥
मया च मदबुद्धया च कुर्यात्पथ्य च निर्णय।
शुद्धाशुद्ध च विज्ञाय मम कोपो न कार्यता ॥ ३४० ॥
कृपा कुरुध्व भो सतो मम् विज्ञप्ति एव च।
यावद्विजयते ग्रथः तावच्चन्द्र दिवाकरौ ॥ ३४१ ॥

इति श्री लघनपथ्यनिर्णय ग्रथ सपूर्ण ॥
शुभं भूयात् श्रीकृष्णोर्पणमस्तु ॥

वैद्यबोध

इसके प्रणेता चरणदासी सप्रदाय के सतप्रवर श्री अखैरामजी हैं। ये न केवल आध्यात्मिक साधक ही थे अपितु जन सेवा भी उनका आवश्यक व्रत था। प्रस्तुत रचना मे उनके आयुर्वेद विषय ज्ञान का पाण्डित्य परिलक्षित होता है। ये "अनुभवी" सत थे वैसे ही एतद्वि कवि ने "ज्वर दर्पण" "वृ द विनोद", भावप्रकाश, सन्निपात लक्षण, त्रिशति, योगचितामणि, योगशतक, वीरसिंहावलोक, कालज्ञान, कुमारतन्त्र और बालचिकित्सा जैसे वैद्यक के प्रामाणिक ग्रथो का आधार स्थान-स्थान पर अकित किए हैं। इन्ही से उनका अध्यवसाय झलकता है। कृति मे कवि ने दो बातो का विशेष ध्यान दिया है एक तो वह कि रोग निवारणार्थ जो भी औषधिया हैं सभी कष्टादि ही हैं जो लगभग राजस्थान मे ही सरलता से सर्वत्र उपलब्ध हो जाती हैं दूसरा अधिकतर उन रोगो का ही विवेचन है जिनका सबध मुख्यतया राजस्थान की जनता से है, यद्यपि रोगो का जहाँ तक प्रश्न है इन्हे किसी प्रान्त विशेष की सीमा मे आबद्ध नही किया जा सकता है पर तो भी प्रान्तीय जलवायु की प्रतिक्रिया कुछ वैशिष्ट्य को लिए हुए तो रहती है। कुछ रोग तो राजस्थान की ही देन हैं जैसे स्नायु।

मेरे पास इसकी मूल प्रति लगभग ७ वर्ष से है और मैंने इसके कई प्रयोग आजमाये हैं, सफलता ही मिली है। इस मे पक्षाघात की चिकित्सा बहुत सुदर और विस्तार से लिखी है। वायुमात्र पर के लिए यह अव्यर्थ महौषध है।

पक्षाघात का तैल

सूचित बीमारी का प्रयोग यहा दे देना आवश्यक है—

देवदारू, कूठ, भारगी, दोनो हल्दियें, त्रिकुटा, त्रिफला, पुष्करमूल, पाषाणभेद, कूडावीज, बच, चित्रक, विधारा, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, ककोल, पद्माख, दोनो अजवाइन, नागरमोथा, पतीस, अतीस, अजमोद, सतावरी, पुननवा, कुलिजन, जायफल, जावत्री, कायफल, लौंग, अहिफेन, राई, मालकागणी, कपूरकाचरी, इन सब वस्तुओ को कूट कर तैल बनाना चाहिए। इसमे आकड़ा, धतूरा, भागरा, कुमार, अरडो, सरजना, अडूसा, कटेरी, निर्गुण्डी आदि का रस पाचन करना आवश्यक है। विधिवत् इस तैल की मालिश से कैसा भी पक्षाघात क्यो न हो तत्काल लाभ मालूम देगा। मैं इसका व्यवहार ७ वर्ष से कर रहा हूँ, सामान्यत यह तैल चोट, मोच, लग जाना, बादी आ जाना, चणक आदि अनेक वात विषयक रोगो पर आशीर्वाद सिद्ध हुआ है। जो जो लक्षण कृति मे बताये हैं तदनुसार अनुभव होने पर इस की मालिश अधिक दिनो तक भी की जा सकती है। कवि ने तो परहेज बहुत विस्तृत बताया है पर विशेष ध्यान इस बात का रखना अनिवार्य है कि शीतल भोजन और पेय सर्वदा निशिद्ध है।

इसमे भी बाल और स्त्री चिकित्सा के स्वतन्त्र प्रकरण हैं। कई रोगो पर तो अनेक अनुभूत प्रयोग हैं और कतिपय पर तो एक ही प्रयोग है, पर वह रामबाण ही प्रमाणित हुआ है। आख का केवल एक ही योग है, पर सभी चक्षु रोगो पर लाभदायक सिद्ध हुआ है।

कवि का विशेष वृत जानने के लिए भारतीय साहित्य का प्रथमाक देखना चाहिए जो आगरा विश्वविद्यालय से प्रकाशित है।

विद्वत्परिचयार्थं कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

आदि भाग—

श्रीगणेशाय नमः

अखैराम कृत वैद्यबोध ग्रथ भाषा लिख्यते

प्रथम श्रीगणेशजी कूं मगलाचरण कहत है—

छप्पै

एक रदन गज बदन सकल तत्वारथ म्यासी।
जोग जुक्ति अहिनिसि भाल इक चद प्रकासी॥

पाटंबर बनि पोति छ्वि दरसीइ हुम्र छिय ।
भुज ककण नी कातिलाल मुक्तताहु लसछिय ॥
अखैराम गनपति सुमिरि बुद्धि अपूर्व बल दीजिये ।
सरस उकति इछा तणी नवित प्रणम तुव कीज्जिये ॥१॥

सुखदेवजी कू स्तुति करत है—

दोहा

दिग अबर द्विज पुत्र है, ध्यावं अलख अमेव ।
लोक तीन मे गति सदा, जय-जय श्रीसुखदेव ॥२॥

बहुरि हरिदेवजी कू स्तुति करत है—

दोहा

जै जै श्री हरिदेवजी, तुम देवन के देव ।
तुम सेवन पातक नसै, लहै अमरपुर भेव ॥३॥
निराकार आकार हरि, अगम अगोचर देव ।
कई रूप निहरूप हो, कोइय न पावं भेव ॥४॥
गुरु किरपा जानी यही, हरि बिन और न कोय ।
थिर चर कीट प्रजत मे, व्याप रह्यो हरि सोय ॥५॥

बहुरि चरणदासजी कू स्तुति करत है—

दोहा

चरणदास सतगुरु तणा, चरण नमू जिस दीस ।
अलिय विघन दूरं हरं, निश्चय जानं जगीस ॥६॥

बहुरि छीनाजी को स्तुति करत है—

दोहा

गुरु छींना गुन आगरे, दया दृष्टि अतिसार ।
ताहि कृपा करि कीजियं, वैद्य ग्रथ विस्तार ॥७॥
गुरु छींना किरपा करो, लहू ग्रथन की भेव ।
बुद्धि सुद्धि मोहि दीजियं, अविनाशी गुरुदेव ॥८॥
गुरु छींना परताप सू, तम अज्ञान नसाय ।
गुपत बात परगट लहै, आनन्द नाहि समाय ॥९॥
अखैराम के सदगुरु, गुरु छींना सुख कद ।
चिंता टारन मैं हरन, मेटत सब सुख दद ॥१०॥
तुच्छ बुद्धि मम अलप है, ग्रथ करन को चाव ।
जैसे पिंगल पुरुष को, गिरि चढवे को चाव ॥११॥

अखैराम की बीनती, गुरु ईश्वर सुनि लेहु।
बुद्धि सुद्धिसुख धाम के, मो हिरदे सुख देहु ॥१२॥

बार बार परनाम कर, कर जोडु सरि नाय।
सतगुर तुम्हरी सरन हो, सब सदेह मिटाय ॥१३॥

अन्त—

चौपाई

वैद्यबोध यह नाम बखान्यो, बहुत ग्रथ को भेव सु ठान्यो।
मम मति अलप कहा उनपाना, ग्रथ अपार कवत्रि सम जाना ॥

गुरु किरपा तै ज्ञान लह्यो है, वैद्यबोध यह ग्रथ कह्यो है।
पुनि वय देखि चिकित्सा कीजै, युक्ता-युक्त विचार जु दीजै ॥

देस काल अहु बन्हि विचारौ, व्याधि ओपधि सब चित धारो।
इह विचार करि दीजै सोई, अखैराम भापित इह होई ॥

अथ ग्रथ बचन—

तैल नीर मिश्री जु कहेई, इनसे रिक्षा करि तुम लेई।
सिथल बय तै रिक्षा कीज्यो, मूढ पीय कै कर मति दीज्यो ॥

छप्पै

ख-सर-नाग-तुम जानि रूप धरि सवत कहियै।
माघ मास सुनि नाम पक्ष प्रथमा सुख लहियै ॥

पुनि विरचि तिथि जानि सूर्य सुतवार बखानू।
ता दिन ग्रथ समाप्ति होत अति हर्षित जानू ॥

श्री सवाई जयनगर मे ग्रथ पूर्णता जानिये।
गुर प्रसाद तै इह सही वैद्यबोध बखानिये ॥

इति श्री अखैराम कृत वैद्यबोध भाषायां बात रक्त उरुस्थभन आम बात परिणाम सूल सूल उदावर्त हृद्रोग मूत्रकृच्छादि प्रमेह ' ' ।

इन पक्तियो के लेखक ने इनके कतिपय प्रयोगों को पक्षाघात, मधुमेह, श्वास, आंख आदि आदि—कई बार अजमाया है, पर असफलता न मिलो।

लक्ष्मीप्रकाश

इसके प्रणेता प० लक्ष्मीचद जैन है। स० १९३७ मे इसे पूर्ण किया। इस रचना की विशेषता यह है कि इसमे प्रयुक्त लगभग सभी योग स्वानुभवमूलक हैं। कृतिकार ने स्थान-स्थान पर इसको सूचना दी है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमे सर्वप्रथम रोग का निदान और पूर्व लक्षण विस्तार से किये हैं तदनन्तर शास्त्रीय चिकित्सा का वर्णन है।

जिन जिन सज्जनो से लेखक को योग प्राप्त हुए उनके नामो का भी कवि ने कृतज्ञता के साथ उल्लेख किया है। बागभट, माधवनिदान, भावप्रकाश, योगचिंतामणि आदि ग्रथो की सहायता ली गई है।

इसका आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

प्रथम हि जिनकू सुमरिये, दूजी सारदा माय।
ज्ञानी गुन गावै सदा, ध्यानी धरे जु ध्यान ॥१॥
सर्व हि विघ्न निवारिकै, पचपरमेष्ठी सार।
सदा काल तिनकौं नमो, भवदधि पार उतार ॥२॥
वैद्य धन्वतरि कौं नमो, नमू वागभट सार।
सस्कृत अनुसार मय, कहु ज भाषा सार ॥३॥

अन्त भाग—

रोगी रोग निदान करि पीछे औषध देय।
वाको निकई जानिकै ताकी विधि करैय ॥
जाति चिकित्सा रोग की वात पित कफ आदि।
उलटि लपटि करि जानिये सर्व रोग की लाधी ॥
लक्ष्मीप्रकाशज ग्रथ है पूर्व ग्रथ की साख।
माधवग्रथ निदान कृत भावप्रकाश की साख ॥
योगचिंतामणि उपाय करि चरक वागभट जान।
शारगधर इत्यादि सब एही उपाय बखान ॥
साको अठारा में कह्यो उपरि दोय बधाय।
ता दिन मे वो ग्रथ है इह विधि कह्यो जिताय ॥
सवत उगणीसे अधिक वर्ष ऊपरि सैंतीस।
वदि वैशाख एकादशी बुध दिन प्रगटीस ॥
सिंघ लग्न मे पूर्ण है लक्ष्मीग्रथ प्रकाश।
अल्प बुद्धि करि कीजिये ग्रथ वरण को भाव ॥
शहर पचारी शुभ वसो जैनि जन को वास।
ता बिच मदिर जन को भगवत को निज दास ॥
निज सेवक हैं भक्त जन बुध कुशाल अरु चद।
ता कुल को परमान है ताकै शिष्य नैनचद ॥
ताकइ शिष्य मोतीराम है ताकै शिष्य श्रीलाल।
ताकै शिष्य लक्ष्मीचद है ताकै शिष्य महिलाल ॥

बुध लक्ष्मीचद कीजियँ ग्रथ पढनो नही मंद ।
ता गुन वर्धन कारणे हित मिट करि आनन्द ॥
साधु संत दयाल को कृपा भई हित काल ।
बाल बुद्धि के कारणें प्रगट करि जो विचार ॥
पूर्व ग्रथ की साक्ष्य करि अल्प बुद्धि अनुसार ।
अद्धा शुद्ध जो होय करि बुध जन लेहु सुधार ॥
बुधजन लक्ष्मीचद कृत आत्म हित के काज ।
तुच्छ बुधि करि कीजिये पूरण ग्रथ समाज ॥
दोहा सवैया चौपई छप्पय सोरठा जान ।
एक सहस्र अरु सातसै ऊपरि बीस बखांण ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मीप्रकाश ग्रन्थ सम्पूरण ॥

मिति वैशाख कृष्णा ३० स० १९४५ लिपीकृत ब्राह्मण रामनाथेन सांपूर्णि मध्यं लिखेल ॥ पठनार्थ बाबाजी श्री श्री १०८ जुगराजजी के ताई ॥

निघटु—

किसी भी देश की चिकित्सा पद्धति मे द्रव्य गुण विज्ञान का महत्व सर्वोपरि होता है। जब तक इस तत्व का समुचित ज्ञान नही होता तब तक वैद्य चिकित्सा अधिकारी नही माना जाता। प्राचीन भारतीयो ने इस पर बहुत ध्यान दिया है। चरक काल पर दृष्टि केन्द्रित करने से विदित होता है कि उस समय वैद्यो का इस पर ध्यान आकृष्ट हुआ था। चरक के "अन्नपान विधि" (सू, अ, २७) अध्याय मे खाद्य वस्तुओ की विवेचना करते हुए प्रत्येक के गुण दोषो पर वैद्यक प्रकाश डाला गया है। सूत्र स्थान के ३८ वें अध्याय मे ३७ द्रव्य गुणो की परिगणना है जो वैद्यकीय प्रगति की परिचायिका है। वाग्भट भी इसी का अनुसरण करते हैं। यहा ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के पूर्व उक्त बात का स्पष्टीकरण वाछनीय है कि द्रव्य गुण विज्ञान के बीज चरक मे होने के बावजूद भी इसके पृथक् विवेचन का युग वृद्धत्रयो के बाद का है। प्राप्त निघटुओ मे सर्व प्राचीन धन्वतरि निघटु को माना जाता है, पर वनस्पति शास्त्र के पर्यालोचन से उसकी प्राचीनता असदिग्ध नही है। ५ वी शती के सुप्रसिद्ध विद्वान् और कोशकार अमरसिंह ने भी वनस्पतियो के नाम दिये हैं, पर उनका दृष्टिकोण भिन्न था, वैद्यकीय नही था। मालवपति मुज के समकालिक कवि हलायुध की अभिधान रत्नमाला और चक्रदत्त के "द्रव्यगुणसग्रह" को प्राचीन निघटु मानने मे आपत्ति नही है। दोनो कृति चरक से परिचित थे। धन्वतरि का प्रभाव भी इन पर नही है ऐसा नही कहा जा सकता है। इसकी कृति को "द्रव्यावली" की सज्ञा से अभिषिक्त किया गया है। बारहवी शती के गुजराती विद्वान् सोढल को हम विस्मृत नही कर सकते जिनने वनस्पतियो का प्रत्यक्ष अनुभव कर अपने विचारो को विस्तार से उपस्थित किया। भेद-

जिन जिन सज्जनो से लेखक को योग प्राप्त हुए उनके नामो का भी कवि ने कृतज्ञता के साथ उल्लेख किया है। बागभट, माधवनिदान, भावप्रकाश, योगचिंतामणि आदि ग्रथो की सहायता ली गई है।

इसका आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

प्रथम हि जिनकू सुमरिये, दूजी सारदा माय।
ज्ञानी गुन गावै सदा, ध्यानी धरै जु ध्यान ॥१॥
सर्व हि विघ्न निवारिकै, पचपरमेष्ठी साथ।
सदा काल तिनकौं नमो, भवदधि पार उतार ॥२॥
वैद्य धन्वतरि कौं नमो, नमू वागभट सार।
सस्कृत अनुसार मय, कहू ज भाषा सार ॥३॥

अन्त भाग—

रोगी रोग निदान करि पीछे औषध देय।
ताकौ निकई जानिकै ताकी विधि करैय॥
जाति चिकित्सा रोग की वात पित कफ आदि।
उलटि लपटि करि जानियै सर्व रोग की लाधो॥
लक्ष्मीप्रकाशज ग्रथ है पूर्व ग्रथ को साख।
माधवग्रथ निदान कृत भावप्रकाश की साख॥
योगचिंतामणि उपाय करि चरक वागभट जान।
शारगधर इत्यादि सब एही उपाय बखान॥
साको अठारा में कह्यो उपरि दोय बधाय।
ता दिन मे वो ग्रथ है इह विधि कहो जिताय॥
सवत उगणीसे अधिक वर्ष ऊपरि सैंतीस।
वदि वैशाख एकादशी बुध दिन प्रगटीस॥
सिंघ लग्न मे पूण है लक्ष्मीग्रथ प्रकाश।
अल्प बुद्धि करि कीजिये ग्रथ वरण को भाव॥
शहर पचारी शुभ वसो जैनि जन को वास।
ता विच मदिर जन को भगवत को निज दास॥
निज सेवक है भक्त जन बुध कुशाल अरु चाद।
ता कुल को अरमान है ताकै शिष्य नैनचद॥
ताकइ शिष्य मोतीराम है ताकै शिष्य श्रीलाल।
ताकै शिष्य लक्ष्मीचद है ताकै शिष्य महिलाल॥

बुध लक्ष्मीचद कीजियै ग्रथ पढनो नही चद।
ता गुन वर्णन कारणे हित मिट करि आनन्द ॥

साधु सत दयाल की कृपा भई हित काल।
बाल बुद्धि के कारणै प्रगट करि जो विचार ॥

पूर्व ग्रथ की साख्य करि अल्प बुद्धि अनुसार।
अद्धा शुद्ध जो होय करि बुध जन लेहु सुधार ॥

बुधजन लक्ष्मीचद कृत आत्म हित के काज।
तुच्छ बुधि करि कीजिये पूरण ग्रथ समाज ॥

दोहा सवैया चोपई छप्पय सोरठा जान।
एक सहस्र अरु सातसै ऊपरि बीस वखाण ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मीप्रकाश ग्रन्थ सम्पूरण ॥

मिति वैशाख कृष्णा ३० स० १९४५ लिपीकृत ब्राह्मण रामनायेन सांपूर्ण मध्यं लिखेख ॥ पठनार्थं बाबाजी श्री श्री १०८ जुगराजजी के ताई ॥

निघटु—

किसी भी देश की चिकित्सा पद्धति मे द्रव्य गुण विज्ञान का महत्व सर्वोपरि होता है। जब तक इस तत्व का समुचित ज्ञान नही होता तब तक वैद्य चिकित्सा अधिकारी नही माना जाता। प्राचीन भारतीयो ने इस पर बहुत ध्यान दिया है। चरक काल पर दृष्टि केन्द्रित करने से विदित होता है कि उस समय वैद्यो का इस पर ध्यान आकृष्ट हुआ था। चरक के "अन्नपान विधि" (सू, अ, २७) अध्याय मे खाद्य वस्तुओ की विवेचना करते हुए प्रत्येक के गुण दोषो पर वैद्यक प्रकाश डाला गया है। सूत्र स्थान के ३८ वें अध्याय मे ३७ द्रव्य गुणो की परिगणना है जो वैद्यकीय प्रगति की परिचायिका है। वाग्भट भी इसी का अनुसरण करते हैं। यहा ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के पूर्व उक्त बात का स्पष्टीकरण वाञ्छनीय है कि द्रव्य गुण विज्ञान के बीज चरक मे होने के बावजूद भी इसके पृथक् विवेचन का युग वृद्धत्रयो के बाद का है। प्राप्त निघटुओ मे सर्व प्राचीन धन्वतरि निघटु को माना जाता है, पर वनस्पति शास्त्र के पर्यालोचन से उसकी प्राचीनता असदिग्ध नही है। ५ वीं शदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् और कोशकार अमरसिंह ने भी वनस्पतियो के नाम दिये हैं, पर उनका दृष्टिकोण भिन्न था, वैद्यकीय नही था। मालवपति मुज के समकालिक कवि हलायुध की अभिधान रत्नमाला और चक्रदत्त के "द्रव्यगुणसग्रह" को प्राचीन निघटु मानने मे आपत्ति नही है। दोनो कृति चरक से परिचित थे। धन्वतरि का प्रभाव भी इन पर नही है ऐसा नही कहा जा सकता है। इसकी कृति को "द्रव्यावली" की सज्ञा से अभिषिक्त किया गया है। बारहवी शती के गुजराती विद्वान् शोढल को हम विस्मृत नही कर सकते जिनने वनस्पतियो का प्रत्यक्ष अनुभव कर अपने विचारो को विस्तार से उपस्थित किया। भेद-

प्रभेदो पर प्रकाश डाला। यह पहला व्यक्ति है जिसने अपने गदनिग्रह मे अहिफेन का उल्लेख किया है। वैद्य केशव प्रणीत "सिद्ध मन्त्र" भी अनुपेक्षणीय नही। अति प्रसिद्धि प्राप्त यदि कोई निघटु है तो वह मदनपाल निघटु है जिसकी रचना १४वें शतक मे होना प्रमाणित है। डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र और महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरी नाथजी रेऊजी ने इसे कन्नौज का गहुरवबार वशीय माना है, पर प्रकाशित निघटु की प्रशस्ति से स्वतः सिद्ध है कि वे जमनातटीय कच्छदेशीय नरेश थे जिसकी अवस्थिति दिल्ली के उत्तर से उत्तर की ओर रही है। मदनपाल ने अपने निघटु की रचना करते समय एतद्विषयक अन्य सामग्री का भी एक पर्याप्त अध्ययन किया था। उस समय और निघटु रहे होगे। अभिधान चूडामणि भी एक मूल्यवान् कृति है जो मदनपाल, अभिधानरत्नमाला, विश्वप्रकाश, अमर-कोश आदि के निरीक्षण के पश्चात् लिखी गई है। आयुर्वेदीय औषधि शास्त्र के क्रमिक विकास की दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्व है। विस्मृत वनस्पतियो के नाम भी इसमे विद्यमान हैं। सापेक्षत यह औषधियो के अधिक नाम देता है। यहा क्षेम शर्मा के "क्षेम-कुतूहल" को विस्मृत नही कर सकते जिसकी रचना स० १६०५ में हुई है। पाकशास्त्र का विशद् विवेचन इसी मे प्राप्त होता है। कवि ने आत्मवृत्त देते हुए सूचित किया है कि मेरे प्रपितामह ने दिल्ली के सुल्तान की सेवा कर ११ ग्राम प्राप्त किये थे। कवि ने स्वय भी विक्रमसेन राजा की सेवा कर कुछ ग्राम पाये थे। पर वह कहाँ का नरेश था, कहना कठिन है। इसने उस समय के प्रचलित अन्य ग्रथो का उल्लेख किया है, पर वे आज अप्राप्य हैं। इनके अतिरिक्त राजवल्लभ कृत "द्रव्यगुणसग्रह" (रचना काल स० १७६० ई०) माधव कृत "द्रव्यावलि", आदि कई निघटुसज्ञक रचनाए प्राप्त हैं।

सूचित निघटुओ मे राज निघटु के बाद सर्वोत्कृष्ट जो सूचना देने वाला निघंटु उपलब्ध है वह हैं भावप्रकाश जिसकी रचना भाव मिश्र द्वारा हुई और उसकी एतद्विषयक एक और रचना गुणरत्नमाला है जिसका परिचय इसी प्रबध मे ऊपर की पक्तियो मे दिया जा चुका है।

ज्यो ज्यो समय बीतता गया, वानस्तिक शास्त्र का विकास होता गया। वैद्यो के लिये इसका प्रत्यक्ष ज्ञान नितान्त आवश्यक ही नही अनिवार्य है। बिना परिचय के भेषज्य कल्पना असभव है। पर आज बहुत कम ऐसे चिकित्सक हैं जिन्हे वनस्पतियो का प्रत्यक्ष ज्ञान हो। पसारियो पर निर्भर रह कर सफल चिकित्सक नही बना जा सकता है। ऊपर की पक्तियो मे निघटुओ का विस्तृत अवलोकन इसलिये करना पडा कि मेरे सग्रह मे एक ऐसा निघटु है जिसका परिचय यहा दिया जा रहा है। यद्यपि यह कृति खडित है पर फिर भी इसका मूल्य कम नही होता। रचना काल और रचयिता अज्ञात हैं। इसका महत्व इसलिए भी हैं कि यह प्राचीन निघटुओ की अन्तिम कडी है सभव है १८-१९ वी शती की रचना हो। इसमे प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रत्येक वनस्पति का नाम, गुण और किस

प्रदेश मे अधिक प्राप्त होती है तथा वहा उसका क्या ग्रामीण नाम है, तत्रस्थित जनता उसे किस काम मे विशेषतया लाती है आदि अनेक मूल्यवान् सूचनाओ का इसमे उपादेय सग्रह किया गया है। इसमे सदेह नही कि इसकी रचना भावप्रकाश के बाद की है, कारण कि जहा कवि ने वनस्पतियो का वर्णन किया है वहा यह भी सकेत किया है कि अमुक वनस्पति के भावप्रकाश ने इतने विशेष नाम दिए हैं, और कैयदेव तथा धन्वतरि ने इतने दिये हैं। प्रमाणस्वरूप गुणरत्नमाला का भी ६ स्थान पर उल्लेख है। ग्रथकार अमरकोश और इन्द्रकोश के नाम भी देता है। इसकी दूसरी विशेषता है आयुर्वेद मे प्रचलित औषध यूनानियो में क्या स्थान रखते हैं और उनके गुणो मे वे क्या अन्तर बताते हैं। साथ ही यूनानी औषध पाषाणादिका पूरा परिचय देकर दोनो पद्धतियो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर वैद्य समाज पर महदुपकार किया है। इसमे कई प्रान्तीय नूतन वनस्पतियो का भी सविस्तृत वर्णन है जिसका उल्लेख अद्यतन निघटुओ मे नही मिलता। जो औषध प्राचीन काल मे विदेशो से आते थे उनकी सूची पृथक् दे रखी है। प्रान्तीय औषध जैसे लोहवान कूर्माचल मे प्राप्त होता है, ममीरा चीन से, रोषा जिसका तैल बनता है, बुरहान, पुर प्रान्त मे अधिक मिलता है। अन्त परीक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि इतना विस्तृत वर्णन तो भावप्रकाश में उपलब्ध नही। परवर्त्ती साहित्य में विकसित तथ्यो का समाविष्ट होना स्वाभाविक है।

यहा कुछ उद्धरण देना आवश्यक है—

जल भिलामा— भल्लातक मज्जा भिलोली इति दक्षिण देशे प्रसिद्ध बहुधा तत्रैव भोजनादौप्रचारः।

भृ गमारी (भेंठा)— मालवे च प्रसिद्ध पुष्पविशेष. नाम, क्वचिरभाषाया भटवास इति प्रसिद्धः। आम्रस्यवाटिकाया भेटतरु. सुजायते किल नितरा हस्तद्वयोच्चमान., पत्राणि ताम्बूल सदृशाणि ॥

सोष— ब्रजमण्डले तत्काष्टस्यदतधावन कुर्वंति जना।

माण कद— बगदेगे मानकच्छरि प्रसिद्ध।

माई— भावप्रकाशे पश्चिमदेशे मोई आईति लोके प्रसिद्धि इति वृक्ष विशेष।

शाह पसदः— ख्यात श्याह पसद स लता भेद एव हि पर्वत प्रान्ततश्चात्रदेशेपि समुरागतः जायते लक्ष्मणपुर (लखनऊ) प्रान्ते तद्बोजमारुण।

सुरवाली— इन्द्रप्रस्थेति प्रसिद्धा, ब्रजदेशे मिलतीति प्रसिद्धा वर्षाकाले अवपितैवक्षेत्रे जायते तत्पत्र नलिकायाश्चशाक कुर्वंति जनाः।

तद्बीजानि सूक्ष्माणि कृष्णवर्णानि कातियुतानि भवति ॥ निघट्वादौसुनिष्ण सितवार इति नाम्ना विख्यातः। मदननोदे तु सुनिषण शितवारो पृथक् लिखितो अन्य निघट्टुषु भावप्रकाश कैयदेव प्रभृतिषु एकैव लिखित. ॥

कपूर— अथ चीनकोपि अस्योपभेदः लोके चीनिया इति प्रसिद्ध तस्य नामगुणाः

चीनकश्चीनकर्पूर कृत्रिमोधवल पटुः।
मेघसारस्तुषारस्तु दीपकर्पूरजस्मत.
चीनकः कटु तिक्तोष्ण ईषत्पीतकफापह ॥
कठदोष हरोमेध्य पाचनक्रिमिनाशनः
पित्त प्रशमनः प्रोक्त कुष्टकडूतिनाशनम्।
छर्दि प्रणाशन. सर्वव्याधिजन्मैककारणम्

तदुत्पत्तेर्विशेष लक्षणम्

शिरोमध्यतलश्चति कर्पूरस्त्रिविधस्मृतः
शिरस्तभाग्र सजात मध्यपार्श्वेतलेतल ॥
पुलकभावविशद शिरोजात तु मध्यमे।
सामान्यपुलक स्वल्प तलेचूर्ण तु पौरव ॥
स्तभगर्भस्थित श्रेष्ठ स्तभबाह्ये च मध्यमः।
स्वच्छमीषद्हरिद्राभ शुभतन्मध्यज स्मृत ॥
अदृष्टशुभ्र रुक्ष तु पुलकबाहुज स्मृत।

स्वच्छ मृगाभपत्र लघुतर विशद तोलनेतिक्तक च।
स्वादेशैत्य सुहृच बहुलपरिमल मौक्तीरभदायी ॥
निस्नेह दार्ढ्यपत्रों शुभतरमतिचेद्राज्य योग्य प्रशस्त
कर्पूर चान्यथाचेद्बहुतरमशने स्फोटदायिन्नणाय ॥

अदर च भीमसेनी कर्पूर इति लोके विख्यातः तस्य नेत्ररोगेषु विशेषत प्रचार. जयपुरे दक्षिणदेशेचास्यप्राप्ति निघट्वादो तदुत्पत्तिर्लक्षण न दृश्यते परन्तु बृद्ध पुरुषेभ्य एव श्रूयते पुराकिलमद्रदेश लाहोरनामकनगरे भीममेननामावणिग्जनोन्यवसत् स च नानाविधौषधीना-क्रयविक्रय व्यवहारार्थं बहुसग्रह कृतवान् तत्र कर्पूरस्यापि आधिक्यमभवत् पुनश्चैवदैवयोगेन कदाचिदग्निनातद्ग्रहे दाहेजाते सवोषधिनामपि दाहोजातस्तत्रकर्पूरस्तुनानाविधौषधि सबधेन-उड्डीयतद्गृहस्थोर्ध्वंस्थितकाष्टादौसलग्न सच तमालोक्यातिशुभ्र सुगधगुणवत्तर च सर्वतः सगृहीतवान् पुनश्चयस्यकस्यापि जनस्यनेत्रव्यथायातर प्रयोगे प्रयोजितवान् तेनारोग्यमभवत् सच त भीमसन कर्पूरमिदमित्यभिधायस्थायिवान इति सचाधुनाबहुकालेनोच्छिन्न एवासीत्

आधुनिकास्तु सामान्यकपूंरकस्तूरीकेशरादिनाना सुगधिद्रव्य सयुक्त वह्निनाउड्डीनविधाय भीमसेनकपूंरस्थाने सएवायमितिव्यवहरति यत्रयत्रऔषध्यादि मयोगिक प्रयोजयति ॥

नही कहा जा सकता भीमसेनी कपूंर उत्पत्ति की किंवदन्ति मे कितना सत्याश है। पर कथा को खूब रोचक बनाया गया है। सूचित कपूंर कृत्रिम है यह तो सत्य है ही।

आगे चल कर चाय का भी ऐसा ही रोचक इतिहास और उसकी प्रयोग विधि बताई है, पर स्थान सीमित होने से उसे उपेक्षणीय रखना पड रहा है।

इसकी रचना शैली बहुत सुन्दर और आकर्षक है। भाषा सरल और बोधगम्य होने के साथ वस्तु तत्व का प्रोद्घाटन कर देती है। इसमे वर्गों का विभाजन वस्तुपरक न होकर अकारादि क्रमानुसार जैसे कि, उदाहरणार्थ जैसे जैसे ककारादि वर्ग लिया तो कादिसूचक सभी वस्तुए इसमे आ गई हैं, चाहे वह लता हो, वृक्ष हो या अन्न हो।

क्या ही अच्छा होता इसकी पूर्ण प्रति उपलब्ध हो जाती ?

इन रचनाओ के अतिरिक्त 'सग्रहणी चिकित्सा पद्धति' हसराज कृत 'भिषक् चक्रचित्तोत्सव' आदि कई कृतिया हैं जिनका वैद्यक शास्त्रो मे अपना महत्व है, पर उन सबकी विशद चर्चा का यह स्थान नही है।

यहा सूचित करना अनिवार्य है कि जिस प्रकार निघटुओ मे वनस्पतियो का विवेचन सन्निविष्ट है उसी प्रकार औषधि कल्पो के कई सग्रह प्राप्त होते हैं, जिनमे एक ही औषधि का मान्त्रिक महत्व प्रदर्शित रहता है और साथ ही रोगनिवारणार्थ भी प्रयोग सग्रहीत रहते हैं। जिस प्रकार मत्र-गर्भित स्तुतिया रची जाती थी उसी प्रकार औषधिगर्भित रचनाए भी निर्मित हुआ करती थी। इस प्रकार की रचनाओ का श्रेय जैन कलाकारो को है। आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी का ऐसा एक मत्रौषधि गर्भित प्राप्त भी है।

प्रकीर्णक आम्नाय सकलन

एक ओर जहा प्राचीन पद्धति का अनुसरण करने वाले मौलिक ग्रन्थ हैं, वहा दूसरी ओर गुरु-परम्परा प्राप्त आम्नाय सग्रहो की भी कमी नही है। शताब्दियो से प्रयुक्त योगो का उपादेय सग्रह ऐसी ही रचनाओ मे सुरक्षित रहता है। रोग-निवारणार्थ इसकी उपयोगिता किसी मौलिक और शास्त्रीय कृति से कम नही है। सद्य. फलदायक इस प्रकार का साहित्य ही आज आयुर्वेदिक जगत मे सर्वाधिक उपेक्षणीय रहा है। राजस्थान के ज्ञानागारो मे, मन्दिरो और मठो मे जितना भी एतद्विषयक सग्रह है उसका परिशीलन अनिवार्य है। एक समय था जबकि स्वास्थ्य और शिक्षा का उत्तरदायित्व यतियो के सुदृढ कन्धो पर था, नगर गुरु का आसन यो ही सुशोभित नही किया जा सकता था, ऐसी स्थिति मे सभी सम्प्रदायो के धार्मिक स्थान इस प्रकार के साहित्य से परिपुष्ट रहे हो तो क्या आश्चर्य है? कई

विष-विज्ञान (Toxicology)

लेखक : वैद्य बुद्धिप्रकाश आचार्य, आयुर्वेदवाचस्पति, जोधपुर

[श्री आचार्य, विद्यावागीश प० धनराजजी के सुपुत्र है। और दयाभिनन्दन ग्रन्थ के मन्त्री एव सम्पादक-मडल के सदस्य हैं तथा राजस्थान प्रदश वैद्य सम्मेलन (पजीयत) के प्रधानमत्री रहे हैं। इतने रचनात्मक कार्यों के साथ ही साथ महावीर जैन दातव्य औषधालय मे नि:शुल्क सेवाये समर्पित करते हुए आचार्य आयुर्वेदाश्रम का सफलतापूर्वक सचालन कर रहे है व आयुर्वेदीय नियमउपनियमों के विशेषवेत्ता हैं एव राजस्थान आयुर्वेद-परामर्शदातृ मण्डल के मान्य सदस्य हैं।

आपने झासी विश्वविद्यालय से वैद्यवाचस्पति किया है और औषधिनिर्माण में विशेषता रखते हैं। अपने विष-विज्ञान पर अध्ययनयोग्य लेख लिखा है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

अथर्ववेद के निम्नाकित मन्त्रो से प्रमाणित होता है कि हम भारतवासी वैदिक युग ही से विष-विज्ञानवेत्ता रहे हैं व हमारे देश मे उस प्राचीन काल मे भी विष सम्बन्धी विधि एव निषेध नियम प्रचलित थे —

"यदग्नौ सूर्ये विष पृथिव्यामोषधीषु यत्।
कान्दा विष कनक्नक निरैत्वैतु ते विषम्॥" १०।४।२२

(यत्) जो (विषम्) विष (अग्नौ) अग्नि मे है, (पृथिव्या) पृथिवी मे और (ओषधीषु) ओषधियो मे है, और जो (कान्दाविषम्) कन्दो मे है, व (कनक्नक) धतूरे आदि मादक द्रव्यो में है, 'हे सर्प', उनके द्वारा (ते विषम्) तेरा विष (निर् एतु एतु) सर्वथा दूर हो।

इस मन्त्र मे निर्देशित चिकित्सा सूत्रानुसार, आधुनिक विद्वान् वर्तमान मे भी सर्प-विष-चिकित्सा दहन (अग्नौ), स्वर्ण नीरेय (Gold Chloride) (पृथिव्या), तिर्यक (Tiriyag) आदि ओषधियो (ओषधीषु) एव प्रतिगरल लसीका (Anti Venene) (कनक्नक), आदि से करते हैं। यही सिद्धात आयुर्वेद दर्शनो मे भी मिलता है— यथा —

"जङ्गम स्यादूर्ध्वभागम धोभाग तु मूलजम्।
तस्माद्दष्ट्रविष मौल हन्ति मौल च दष्ट्रिजम्॥"

ऐसे सकलन मैंने देखे हैं जिनमे चारित्र-पात्र आचार्यों की आम्नाए उन्ही के नाम से उल्लिखित हैं।

आयुर्वेद की ऐसी कृतिया भारतीय भाषा विज्ञान और नाप तौल के क्रमिक विकास और प्रसार पर भी आशिक प्रभाव डालती हैं। जन-भाषा का वास्तविक स्वरूप इनमे उपलब्ध हो जाता है और किस-किस प्रदेश मे कौन-कौन सा नाप प्रचलित था और कितने तोलो का सेर कहा प्रचलित था आदि अनेक मूल्यवान तथ्यो की जानकारी सहज ही सकलनात्मक रचनाओ से मिल जाती है। कही-कहो तो मुद्राओ तक का उल्लेख होता है, उदाहरणार्थ स १६७५ का एक आयुर्वेद का गुटका मेरे सग्रह मे है जो जयपुर के निकटवर्ती स्थान जोबनेर मे प्रतिलिपित है। इसमे जितने भी नाप हैं सभी 'सेरशाही मुद्रा' मे हैं। इससे साफ जाहिर है कि उन दिनो भी सेरशाह के सिक्के राजस्थान मे प्रचलित थे और विविध प्रान्तीय मुद्राओ का भी उल्लेख है जिनका अपना महत्व कम नही है।

सूचनात्मक अनुपूर्ति

प्रान्तीय भाषाओ मे क्षेत्रीय आयुर्वेदिक रचनाए पर्याप्त प्राप्त हैं, उनका सशोधन अनिवार्य है। प्रकाशित रचनाओ को पुरानी प्रतियो पर ध्यान देना भी आवश्यक है। रस विषयक ऐसे कई ग्रथ हैं जिनका प्रकाशन होने के बाद भी पुरातन सस्करण महत्व रखते हैं। मेरे सग्रह मे १५ शताब्दि के रस-रत्नाकर के कतिपय पत्र है जिनमे पारद शुद्धि के विवेचन के साथ तद्विषयक विविध मन्त्र दिए गए हैं।

आज आवश्यकता है आयुर्वेदिक विस्तृत इतिहास की, क्योकि आज तक स्फुट इतिहास के अतिरिक्त विशद् और आलोचनात्मक इतिवृत्त तयार नही हुआ, जबकि सशोधनप्रधान युग मे इसकी महती आवश्यकता है। पुराने प्रयोगो का उद्धार और इतिहास-लेखन पर यदि चिकित्सक समाज ने ध्यान दिया तो बहुत बडा कार्य हो जाएगा। यह प्रयास भी वाछनीय होगा कि आयुर्वेदिक कृतियो की स्वतन्त्र शोध करवाई जाय और उनका सामूहिक इतिवृत्त भी प्रकाशित हो, जिससे पता तो चले कि इस विषय की कितनी साधन-सामग्री हमारे पास सुरक्षित है। वैज्ञानिक युग मे भारतीय चिकित्सा परम्परा को जीवित रखना है एव पाश्चात्य पद्धति से टक्कर लेनी है तो इस क्षेत्र मे सतत् संशोधन को प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए, अन्यथा ऋषि-मुनियो की दुहाई देने मात्र से कार्य-सिद्धि असभव है।

विष-विज्ञान (Toxicology)

लेखक . वैद्य बुद्धिप्रकाश आचार्य, आयुर्वेदवाचस्पति, जोधपुर

[श्री आचार्य, विद्यावागीश प० धनराजजी के सुपुत्र है। और उदयाभिनन्दन ग्रन्थ के मन्त्री एव सम्पादक-मडल के सदस्य हैं तथा राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पजीयत) के प्रधानमत्री रहे है। इतने रचनात्मक कार्यो के साथ ही साथ महावीर जैन दातव्य औषधालय मे नि:शुल्क सेवाये समर्पित करते हुए आचार्य आयुर्वेदाश्रम का सफलतापूर्वक सचालन कर रहे है व आयुर्वेदीय नियमउपनियमों के विशेषवेत्ता हैं एव राजस्थान आयुर्वेद-परामर्शदातृ मण्डल के मान्य सदस्य है।

आपने झासी विश्वविद्यालय से वैद्यवाचस्पति किया है और औषधिनिर्माण में विशेषता रखते है। अपने विष-विज्ञान पर अध्ययनयोग्य लेख लिखा है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

अथर्ववेद के निम्नाकित मन्त्रो से प्रमाणित होता है कि हम भारतवासी वैदिक युग ही से विष-विज्ञानवेत्ता रहे हैं व हमारे देश मे उस प्राचीन काल मे भी विष सम्बन्धी विधि एव निषेध नियम प्रचलित थे —

"यदग्नौ सूर्ये विष पृथिव्यामोषधीषु यत्।
कान्दा विष कनक्नक निरैत्वैतु ते विषम् ॥" १०।४।२२

(यत्) जो (विषम्) विष (अग्नौ) अग्नि मे है, (पृथिव्या) पृथिवी मे और (ओषधीषु) ओषधियो मे है, और जो (कान्दाविषम्) कन्दो मे है, व (कनक्नक) धतूरे आदि मादक द्रव्यो मे है, 'हे सर्प', उनके द्वारा (ते विषम्) तेरा विष (निर् एतु एतु) सर्वथा दूर हो।

इस मत्र मे निर्देशित चिकित्सा सूत्रानुसार, आधुनिक विद्वान् वर्तमान मे भी सर्प-विष-चिकित्सा दहन (अग्नौ), स्वर्ण नीरेय (Gold Chloride) (पृथिव्या), तिर्यक (Tiriyag) आदि ओषधियो (ओषधीषु) एव प्रतिगरल लसीका (Anti Venene) (कनक्नक), आदि से करते हैं। यही सिद्धात आयुर्वेद दर्शनो मे भी मिलता है— यथा —

"जङ्गम स्यादूर्ध्वभागम धोभाग तु मूलजम्।
तस्माद् द्ष्ट्रिविषं मौल हन्ति मौल च दष्ट्रिजम् ॥"

जगम विष ऊपर की ओर गति करता है और मूलज अर्थात् स्थावर विष नीचे की ओर। अतएव परस्पर विरुद्धगति होने से दष्ट्रिविष (जगमविष) मूलज का और मूलज (स्थावर) जगम विष का घातक होता है। आधुनिको द्वारा किया गया विषो का वर्गीकरण भी इसी प्रकार का प्रतीत होता है —
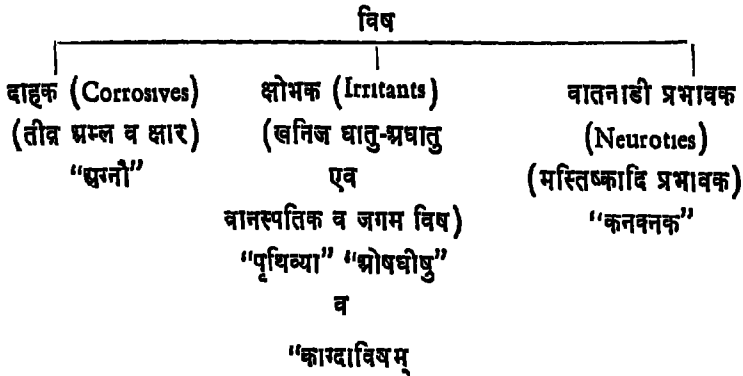
"ये अपीषन् ये अदिहन् ये आस्यन् ये अवासृजन्।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृत.॥४।६।७"

इस मत्र मे व मत्र सख्या ४।६।८ मे विष के पदार्थों को पीसने, सग्रह करने, उत्पन्न करने, खानो से खनन करने व विषो को पृथक सुरक्षित रखने का निदेश है। इसी मूलाधार पर भारत में विदेशी शासको द्वारा सन् १९०४ ईस्वी मे पहला विष सम्बन्धी अधिनियम (Poisons Act) बनाया गया था। इसका प्रतिसस्कार सन् १९१९ ई० मे हुआ जिसके प्रावधानो के अनुसार प्रत्येक पञ्जीकृत चिकित्सक को विष-विक्रयार्थ अनुज्ञापत्र (License) स्वीकृत करवाना आवश्यक है। एक अन्य अधिनियम "प्राणघातक औषधि अधिनियम" (Dangerous Drugs Act), सन् १९३० ई० मे प्रभावशाली हुआ व उसके सशोधन सन् १९३३ व १९३८ ई० मे हुए। यह अधिनियम प्राणघातक औषधियो के निर्माण, उत्पादन, सग्रह विक्री व प्रयोग आदि के नियत्रण के सम्बन्ध मे है। तीसरा अधिनियम, "औषधि अधिनियम" (Drugs Act) सन् १९४० ई० मे लागू किया गया जिसके अनुसार प्रत्येक औषधालय मे विषयुक्त औषधियो को पृथक अलमारी या पेटिका मे बद रखना व प्रत्येक शीशी आदि पर लाल रग से "विष" शब्द सहित "नामपत्र" (Label) होना अनिवार्य है।

विष शब्द की निरुक्ति

आयुर्वेद दर्शन मे 'विषादजननत्वाच्च विषमित्यभिधीयते' कहा गया है। महर्षि चरक व वाग्भट्ट के शब्दो मे 'जगद्विषण्ण त दृष्ट्वा तेनासौ विषसज्ञित' अर्थात् विषपुरुष को देख कर सारा ससार विषण्ण हो गया, अत उसे 'विष' सज्ञा है।

परिभाषा

आयुर्वेदीय आर्ष ग्रन्थो मे विष-विज्ञान की सूत्ररूप परिभाषा 'अगदतन्त्र नाम सर्पकीट-लूतामूषकादिदष्ट विष व्यञ्जनार्थं विविध-विष-सयोगोपशमनार्थंच', कह कर की गई है। स्थूलरूपेण, जिस शास्त्र मे विषो के प्रभाव, गुण व प्रकृति, विषो द्वारा उत्पादित लक्षण, घातक प्रभावो के विभिन्न स्वरूप, विष-क्रिया, एव विष-प्रभावनाशक प्रतिकारो का उपदेश हो, उसे विष विज्ञान कहते हैं।

एक ही पदार्थ का युक्तियुक्त सेवन अमृतोपम अथवा आवश्यक होते हुए भी उसका अन्यथा सेवन घातक हो सकता है। यथा—दहातुलमणो (Salts of Potassium) का अल्प मात्रा मे सेवन स्वप्नावस्था की अक्षुण्णता के लिए आवश्यक होते हुए भी उनका प्रचुर मात्रा मे सेवन प्रचण्ड घातक विष हो जाता है। अस्तु, विष वह द्रव्य है जो किसी भी प्रकार के बाह्य अथवा आभ्यन्तरिक प्रयोग से रुग्णावस्था, हानिप्रद प्रभाव अथवा मृत्युकारी हो। ऐसा द्रव्य स्थावर, जङ्गम अथवा कृत्रिम, किसी भी वर्ग का, और मुख, नि श्वास, त्वचा, श्लैष्मिककला या अन्त क्षेपण आदि किसी भी प्रकार या मार्ग से प्रयुक्त किया जाने वाला हो सकता है।

वर्गीकरण (भेद)
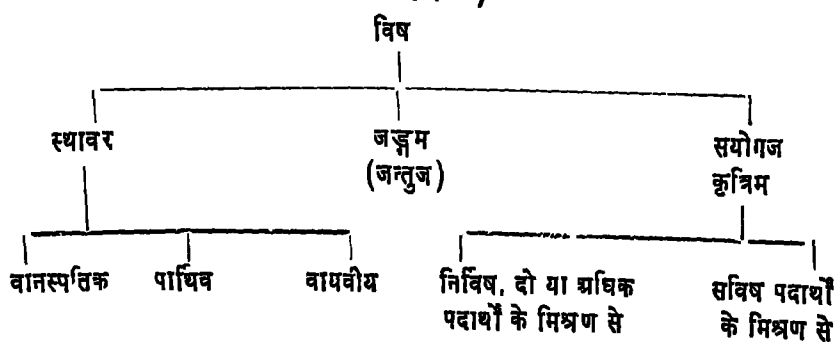
१ स्थावर विष

पूर्वाचार्यों ने आश्रय भेद व अधिष्ठानानुसार स्थावर विष के दस भेद कहे हैं, यथा—(१) मूल ८, (२) पत्र ५, (३) फल १२, (४) पुष्प ५, (५-६) व (७) त्वक्-सार व निर्यास ७, (८) क्षीर ३, (९) कन्द १३ व (१०) धातु २।

रसशास्त्रशाखा में कद विष ९ कहे है व उन्हे "विष" सज्ञा दी है, व अन्य वानस्पतिक विषो को "उपविष" माना गया है। उनके मतानुसार ९ विषो के नाम, १. कालकूट, २ वत्सनाभ, ३ शृङ्गक, ४. हालाहल ५ प्रदीपक ६. सौराष्ट्रिक ७ ब्रह्मपुत्र ८ हारिद्र व ९ सक्तुक हैं। मतान्तर मे १३ विष कहे गए हैं, जिनमे १ प्रथम चार पूर्ववत्, २ ५-६ व ७ वें के स्थानो पर क्रमश· सर्षपक, कर्दम व मुस्ताक, ३ अन्तिम दो पूर्ववत्, व ४. इनके अतिरिक्त (क) मूलक, (ख) महाविष, (ग) कर्कट, व (घ) वालुक हैं। अपर मतान्तर मे १८ विष कहे गए हैं जिनमे ८ को 'सौम्य' (खाने से मृत्युकारी) व १० को 'उग्र' (गधमात्र से मृत्युकारी) माना गया है।

वे हैं:—

विष
सौम्य
उग्र
वत्सनाभ (Aconite)
सर्षप
मुस्तक
शृङ्गिक
सक्तुक
कौर्म
दारक
सैकत
कालकूट
हालाहल
कर्कटक
मेषशृङ्गी
दर्दुरक
ग्रन्थि
हारिद्रह
रक्तशृङ्गी
केशर
यमदंष्ट्र
उपविष
करवीर (Oleander) कनेर
गुञ्जा (Abrus-Preuatoriua) चिरमी
विजया (Cannabss Indica) भाग
कनक (Dhatuta) धतूरा
जयपाल (Croton Seel) जमालगोटा
विषमुष्ठी (Nux-Vo-mica) कुचीला
भल्लातक (Narking Nut) भिलावा
अहिफेन (Opium) अफीम
स्नुही (Euphor-bia) थूहर
अर्क (calos-ropis Gigantea) आक
लागली (Gloriosa Superba) कलिहाही
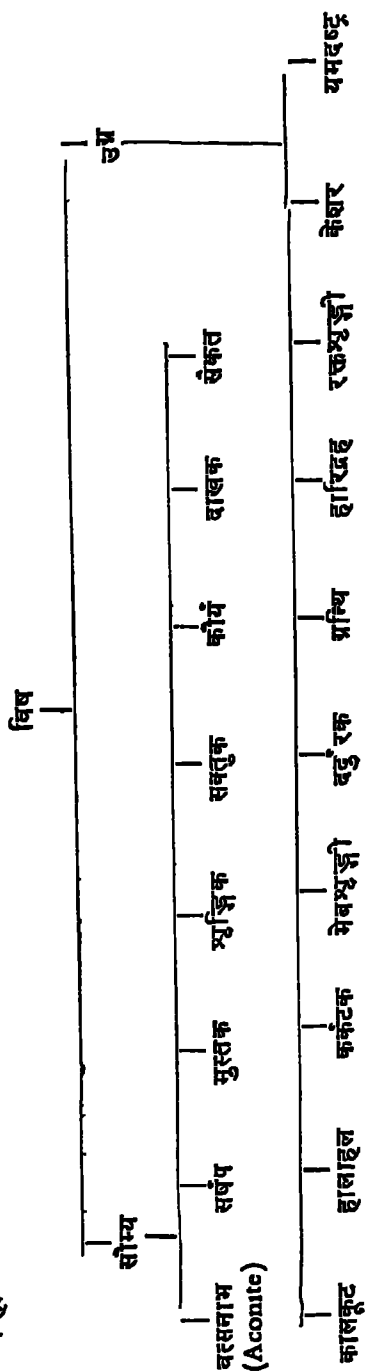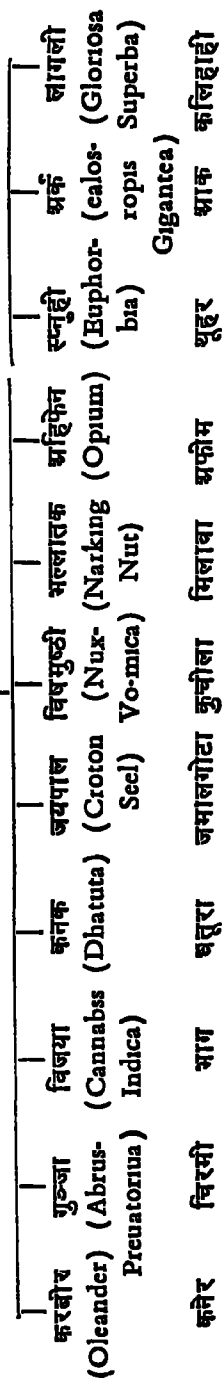
रसशास्त्रविद सभी रसोपरस, धातु-उपधातु व वज्र आदि को भी विष मानते हैं। आधुनिक विद्वान् इनके अतिरिक्त कतिपय वायवीय एव अधातु खनिजो का भी उल्लेख करते हैं।

स्थावर विषो के महर्षि सुश्रुत ने ७ व चरक ने ८ वेग कहे हैं।

वेग

चरकोक्त	सुश्रुतोक्त
१. प्यास, मोह, दतहर्ष, लाला प्रसेक, छर्दि व क्लम।	१. जीभश्यामवर्ण, जड़मूर्च्छा, व श्वास
२. विवर्णता, भ्रम, कपकपी, मूर्च्छा, जभाई, व अ ग चिमचिम।	२. कप, शिथिलता, दाह, गले व हृदय मे दर्द
३ मण्डल, कण्डू, शोथ, व कोठ।	३ तालुशोष, आमाशय मे तीव्र शूल व अक्षिशोथ
४. देह मे शूल व मूर्च्छा।	४. पक्वाशय-आम शय मे तोद, कास, शिर का भारीपन, आतो मे गड-गडाहट व हिक्का
५. नीला दिखना व नेत्र के आगे अंधेरा।	५. कफस्राव, विवर्णता पर्वटूटना व पक्वाशय वेदना
६. हिक्का	६ अतिसार, बुद्धि व प्राणनाश
७ स्कन्धभङ्ग (स्कन्ध सन्धि का काम न करना)	७. स्कन्ध, पीठ व कटि टूट जाना, श्वासावरोध व मृत्यु।
८ मृत्यु	

२. जगम विष

पूर्वाचार्यों ने १६ प्रकार के जङ्गम विष कहे हैं, यथा—(१) दृष्टि, (२) नि श्वास, (३) दष्ट्रा, (४) नख, (५) मूत्र, (६) पुरीष, (७) शुक्र, (८) लाला, (९) आर्तव, (१०) मुखसदश (व काटे), (११) विशर्दित, (१२) तुण्ड, (१३) अस्थि, (१४) पित्त (१५) शूक व (१६) शव। उन्होने विषैले जन्तु ४५ कहे हैं, यथा—(१) सर्प, (२) बिल्ली, (३) कुत्ता, (४) शृगाल, (५) भेडिया, (६) रीछ, (७) व्याघ्र, (८) बदर, (९) मकर मण्डूक, (१०) पाक मत्स्य, (११) राजीव मत्स्य, (१२) गोह, (१३) शम्बूक, (१४) प्रचालक, (१५) ग्रह गोधिका (छिपकली), (१६) मकडी, (लूता) (१७) चिपट, (१८) पिच्चिटक, (१९) कषाय वासिक, (२०) सर्षपक, (२१) तोटक, (२२) वर्च, (२३) कोण्डिन्यक, (२४) चित्रशिर, (२५) सराव, (२६)

कुदर्शित, (२७) दारुकारि, (२८) मेदक, (२९) सारिमुखा, (३०) मूषक, (३१) मक्खी, (३२) कणभ, (३३) जौक, (३४) वृश्चिक, (३५) विश्वम्भर, (३६) वरटी, (३७) उच्चिटिंग, (३८) सूक्ष्म तुण्ड, (३९) शतपदी, (४०) शूक, (४१) बलमीका, (४२) भृगी, (४३) भ्रमर, (४४) समुद्र वृश्चिक व (४५) तरक्ष।

पूर्वाचार्यों ने ८० प्रकार के सर्प कहे हैं, यथा—(१) दर्वीकर २७, (२) मण्डली २६, (३) राजिमान १२, (४) निर्विष १२, एव (५) वैकरञ्ज ३।

उन्होने कीटो के १६७ प्रकार कहे हैं, यथा—(१) वातप्रकोपक १८, (२) पित्त-प्रकोपक २४, (३) कफप्रकोपक १३, (४) सन्निपातप्रकोपक १२, (५) गोधेरक ५, (६) गलगोलिका ६, (७) शतपदी ८, (८) मण्डूक ८, (९) पिपीलिका ६, (१०) विश्वम्भरा १, (११) अहिण्डुका १, (१२) कण्डूका १, (१३) शूकवृत १, (१४) मक्षिका ६, (१५) मशक ५, (१६) जलौका ६, (१७) वृश्चिक ३०, और (१८) लूता १६।

उन्होने मूषक की १८ जातिया कही हैं, यथा—(१) लालन, (२) पुत्रक, (३) कृष्ण, (४) हसिर, (५) चिक्किर, (६) छुछुन्दर, (७) अलस (८) कषाय, (९) दशन, (१०) कुलिग, (११) अजित, (१२) चपल, (१३) कपिल-कोकिल, (१४) अरुण, (१५) महाकृष्ण, (१६) उन्दुर, (१७) महा-श्वेत, और (१८) कपिल-कपोताभ।

रस शास्त्र मे सर्प-विष व पित्त-विषो का उपयोग मिलता है। वेदो मे सैकडो सर्प-जातियो का उल्लेख है।

अर्वाचीन विद्वानो ने वर्तमान विषैले सर्पों का वर्गीकरण इस प्रकार दिया है —

विश्व मे सर्प जातिया १७०० (भारत मे उनमे से ३३० उपलब्ध)
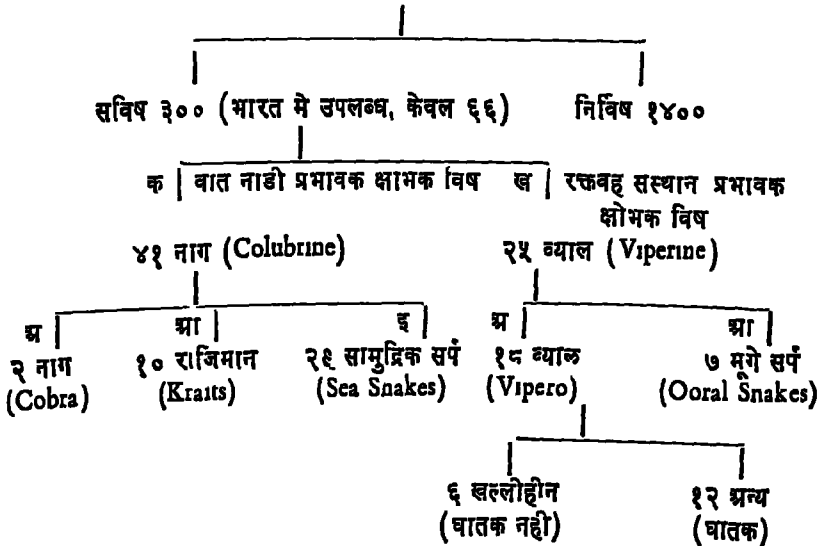
मक्षिकाओ मे हरिभृंग (Cantharis) को आजकल प्रमुख माना जाता है। एक इंच लम्बी यह मक्खी प्रत्येक ऋतु मे सभी स्थानो पर पाई जाती है। इसे सुखा कर चूर्ण कर हरिभृंगी (Cantharides) का प्रयोग होता है।

जल-सन्त्रास (Hydrophobia)

पागल कुत्ते, शृगाल व भेडिया आदि जानवरो के काटने से जो विष उनके थूक द्वारा विषाणु (Virus) के उपसर्ग से उत्पन्न होता है उसे जल-सन्त्रास कहते हैं।

सयोगज विष

"सयोगजञ्च द्विविध तृतीय विषमुच्यते।
गर स्यादविष तत्र सविष कृत्रिम मतम्"

सयोगज विष दो प्रकार का होता है। (१) निर्विष द्रव्यो के मिश्रण से, जिसे "गर विष" कहते हैं व (२) सविष द्रव्यो के मिश्रण से बना, जिसे "कृत्रिम विष" कहते हैं।

पूर्व मे स्थावर विषो को जङ्गम विषनाशक एव जङ्गम विषो को जो स्थावर विष-नाशक कहा गया है वहा कारण 'प्रभाव' है। प्रभाववश ही कतिपय निर्विष द्रव्यो के मिश्रण भी घोर विष बन जाते हैं। यथा सम मात्रा मे मिश्रित घृत व मधु। यदि घृत अकेला खाया जाय तो कदापि विष नही व इसी प्रकार केवल मधु खाई जाय तो वह भी विष नही किन्तु दोनो का सम भाग मे मिश्रण सर्वथा "विष" है। महर्षि चरक ने अपनी सहिता के सूत्र स्थान मे इस प्रकार के अनेक मात्रा, देश, काल, अग्नि, सात्म्य, वातादि, सस्कार, वीर्य, कोष्ठ, अवस्था, क्रम, परिहार, उपचार, पाक, सयोग, हृद्, सपद् और विधि-विरुद्ध अनेक अहित कद आहारो का वर्णन किया है। ये सभी पूर्वोक्त परिभाषानुसार प्रथम प्रकार के सयोगज विष हैं। इसी प्रकार प्रभाव के ही कारण अनेक आधुनिक तीक्ष्णाम्लादि भी प्रथम प्रकार के सयोगज विष के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

मल्ल के अनेक यौगिक यथा ताम्र मल्लीय (Copper Arsenate), मल्ल पच शुल्बेय (Arsenic-penta Sulphide), मल्ल त्रिजारय (Arsenic Trioxide) आदि द्वितीय प्रकार के सयोगज विषो के उदाहरण हैं।

उभय प्रकार के अनेक मद्य तत्तद्मिश्रणानुसार सयोगज विष हैं। प्राचीन आचार्यों ने मदात्यय को स्वतन्त्र रोग माना है जहाँ अर्वाचीन विद्वान् मद्यादि को वातनाडी-प्रभावक सयोगज विष मानते हैं।

प्रयोग मार्ग :—

शरीर मे विष प्रविष्ट करने के निम्न बाह्याभ्यन्तर मार्ग हैं :—

१. आभ्यन्तर (क) निगरण द्वारा—यथा मुख से या गुदा मे बस्ति से

(ख) अन्तर्विलयन द्वारा—यथा कर्ण, नासिका, योनि आदि मे डाल कर

२ बाह्य (क) त्वचा पर लेपाभ्यञ्जन द्वारा

(ख) अधस्त्वर्मीय अन्तःक्षेपण द्वारा यथा त्वचान्त, पेश्यन्त व सिरान्त।

इन प्रयोगो का वर्गीकरण आधुनिक विद्वान दो भागो मे करते हैं-(१) अन्न द्वारा प्रचूषणीय प्रयोग व (२) अन्यथा प्रयोग। मुख या गुदा द्वारा प्रयुक्त विषो का प्रचूषण अन्त श्लैष्मिक कला द्वारा होता है। वे हृदय द्वारा सर्व शरीर मे उदञ्चित होने के पूर्व याकृत प्रतिहारिणी द्वारा गतिशील होते हैं। स्वस्थ त्वचा पर लेपादि से केवल कुछ ही विष प्रभावशाली हैं। बहुधा-अपघर्षण, घात या खुले व्रणो पर प्रयुक्त विषो का शीघ्र प्रचूषण होता है।

प्राचीन आर्ष ग्रन्थो मे दतौन, तैलाभ्यङ्ग, अंजन, अन्न, स्नान व धूम्र आदि मे विष प्रयोगो का उल्लेख मिलता है।

विषो से प्रचूषणोत्तर आचरण :

प्रचूषण के पश्चात् विविध विष विविध काल तक देह धृत रह जाते हैं अथवा वमनादि द्वारा कुछ या समग्र ही देह से निकल भी सकते हैं। इस प्रकार धृत या परिवर्तित विष विभिन्न सस्थानो व अगो मे विभिन्न सकेंद्रित रूप मे रह सकते हैं। विषो का निरन्तर सकेंद्रित सचय, उन्ही या अन्य सस्थानो या अङ्गो मे विषाद उत्पन्न कर सकता है यथा यकृत् मे सीधा सचय स्थल पर या अन्य स्थल पर भी विषाद उत्पन्न हो जाता हैं, जैसा कि महर्षि सुश्रुत ने कहा है :—

'यत् स्थावर जङ्गमकृत्रिमवा देहादशेष यदनिर्गत तत्।
जीर्ण विषघ्नौषधिभिर्हत वा दावाग्निवातातपशोषित वा ।।२५।।

स्वभावतो वा गुणविप्रहीन विष हि दूषीविषतामुपैति।
वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत् कफावृत वर्षगणानुबन्धि ।।२।२६।।

अर्थात् विष पच कर या औषधियो से नष्ट होकर अथवा दावानल,वायु या धूप से सूख कर या अपने ही स्वभाव से, गुणो मे कुछ न्यून होकर आशुघाती न रह कर कफ से आवृत होने के कारण कई वर्षों तक बना रहता है।

विषोत्सर्ग मार्ग

देह से विष का उत्सर्ग तद्रूप अथवा रासायनिक परिवर्तित रूप मे होता है जिसके मुख्य मार्ग मल, मूत्र या चर्म हैं। कतिपय विषो का प्रदान लालास्राव, श्वास या लस्यस्राव मे भी किया जा सकता है। ये या तो मलादि मे उत्सृष्ट होते हैं अथवा उदासर्जित मात्रानुसार पुन देह मे प्रचूषित हो जाते हैं। कतिपय विष माता के दुग्ध द्वारा निकल जाते हैं जिससे

दुग्धाशी बच्चे विषाक्त हो जाते हैं। चरक मे दातिक विष मे पुलाक व नाडी स्वेद श्लैष्मिक मे कफ स्वेद, वमन, विरेचन, नस्य व अजन आदि द्वारा विविध मार्गो से विषोत्सर्ग करवाने का उपदेश मिलता है।

विषक्रियाए—

लघु एव विशद गुणयुक्त होने के कारण विष अस्थिर रहता है। जङ्गम विष ऊपर की ओर एव स्थावर नीचे की ओर गति करता है। विषक्रियाओ के ४ भेद हैं—

१. 'दष्टविद्धयोदशदेशे स्यात्' अर्थात् विष प्रभावित स्थान तक सीमित क्रिया। इसे 'स्थानीय कहते हैं।

२. 'क्षरति विष तेजसा ऽसृक्' विष सपर्कित स्थान से परे होने वाली क्रिया—यथा यकृत, वृक्कादि मे, जिसे 'दूरस्थ क्रिया' कहते हैं।

३ 'पीत मृतस्य हृदि तिष्ठति' जाठरअन्नपथ आदि पर क्रिया, जिसे 'सस्थानीय क्रिया' कहते हैं।

४ 'सर्वतः पिण्डित विषम्' 'एकाधिक सस्थान पर पिण्डितं विषम्' एकाधिक सस्थान पर क्रिया जिसे 'साधारण क्रिया' कहते हैं।

विष-प्रभाव बहुधा ऋतु एव अप्रत्यक्ष प्रभावो के सयोग से उत्पन्न होते हैं अत तत्सबधी ज्ञान विष चिकित्सा मे महत्वपूर्ण माना गया है। विषाक्त रोगी पर विष का कहाँ, कैसा व कितना प्रभाव हुआ है, यह समझ लेने के पश्चात् ही विष को बाहर निकालने या प्रतिविष देने या अन्य लाक्षणिक चिकित्सा करने का निर्णय लिया जा सकता है।

विषक्रिया परिवर्त्तक कारण

'प्रयाति मन्दवीर्यत्व विष तस्माद्घनात्यये' पूर्वाचार्यों ने विष वीर्य पर ऋतुओ का प्रभाव माना है। उपरोक्त वचनानुसार शरद ऋतु मे विष का वीर्य मद हो जाता है। इसके अतिरिक्त निम्न चार और कारण हैं—

१ मात्रा

विष प्राणहर तच्च युक्तियुक्तिं रसायनम्।
अहितस्याति मात्रस्य पीतस्य विधिवर्जितम्॥

प्राय यही समझा जा सकता है कि प्रचुर मात्रा मे सेवित विष आशुघातक होते हैं, किन्तु कही-कही प्रचुर मात्रा की उत्तेजना से वमन होकर विषोत्सर्ग होना भी सभव है यथा तुत्थ प्रयोग से। विष-प्रभाव विषमात्रानुसार विभिन्न होता है। मल्ल प्रचुर मात्रा मे क्षोभक लक्षण व्यक्त किए बिना ही सहसा मारक होता है किन्तु प्राणहर मात्रा से न्यून मात्रा के शनैः शनै. प्रयोग से उसका सचय होकर चिरकाल पश्चात् मृत्यु होती है। जो विष सपूर्ण रूप से

बाहर न निकले किन्तु पचकर या विषघ्न औषधादि से न्यून गुण कर हो जाता है उसे 'दूषी-विष' कहते हैं।

२. उपप्रकार

(क) भौतिक

वायवीय अथवा वाष्पीय दशा मे प्रयुक्त विष तुरन्त व अत्यन्त ऊर्जयाप्रभावी होते हैं। चूर्णों की अपेक्षा घोल त्वरा से प्रभावशाली होते हैं। ठोस अवस्था के विष मथर गति से प्रभावी होते हैं एव कभी कभी नितान्त अघातक भी सिद्ध हो जाते है।

(ख) रासायनिक मिश्रण

यदि किसी तीक्ष्णाम्ल का सेवन क्षार के साथ किया जाय तो विषैला प्रभाव प्राय: समाप्त हो जाता है।

कुछ विषो का मिश्रण अविष हो जाता है—यथा हरिजा (Baryta) व शुल्वाम्ल (Sulyhuric Acid) का मिश्रण। (पृथक् पृथक् प्रयुक्त हो तो दोनो ही महाविष हैं।)

कतिपय विष जो जल मे अघुलनशील हैं वे आमाशय के उदासर्जन मे घुल जाते हैं व शीघ्रमारक हो जाते है—यथा ताम्रमल्लीय (Copper Arsenate)। यह आमाशय की श्लैष्मिक कला द्वारा प्रचूषणार्थ घुल जाया करता है।

(ग) यान्त्रिक मिश्रण

यान्त्रिक मिश्रणो से विष क्रिया पर उल्लेखनीय प्रभाव पडता है, यथा—तीक्ष्णाम्ल मे पानी प्रचुर मात्रा मे मिला कर देने से उसका प्रभाव न्यून या हीन हो जाता है—यथा शख-द्राव अर्क का प्रयोग।

यदि मल को पानी के साथ किसी पात्र मे मिलाया जाय तो वह तलकुट हो जायेगा व बलि उसे कदापि ग्रहण नही करेगा।

३ सवन-विधि

वायवीय अथवा वाष्पो के नि श्वसन द्वारा अन्त क्षेपण व खुले व्रण पर प्रयोग द्वारा विष शीघ्र क्रियाशील होते हैं, व लस्यस्तर पर लगाने से, कोशोयऊति मे प्रयोग से एव श्लैष्मिक कला पर प्रयोग से क्रमश, न्यून, न्यूनतर एव न्यूनतम क्रिया होती है। शुद्ध त्वचा पर प्रयोग से अत्यन्त हीन प्रभाव होने के कारण पानो की अपेक्षा तैल मे घुली औषधियो का प्रयोग अधिक होता है। आमाशय व क्षुद्रान्त्र की प्रचूषण शक्ति, वृहदन्त्र व गुदा से अधिक होने के कारण मुख से निगरित विष, गुदवस्ति द्वारा प्रविष्ट विषो से अपेक्षाकृत शीघ्र क्रियाशील होते हैं। विष प्रचूषणा गति के अनुरूप ही विषोत्सर्जन को त्वरित कर देने से पूर्णत.

निर्विष स्थिति प्राप्त हो सकती है, अन्यथा विष, सस्थानो मे सचित होता रहता है। भूखे पेट विष का प्रभाव अधिक होता है। मुख से भक्षित विषो की अपेक्षा अन्त क्षेपित विष अधिक हानिप्रद होते हैं।

४ देहदशा

दोषस्थानप्रकृती प्राप्यान्यतम ह्युदीरयेत्।

—च० चि० २३।६

विष यद्यपि तीनो दोषो को प्रकुपित करता है तथापि, दोष के स्थान व व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार अन्तर आता है।

भीतमत्ता बलोष्णक्षुत्तृपार्तें वर्धते भृशम्।
विष प्रकृतिकालौ च तुल्यौ प्राप्याल्पमन्यथा ॥

—च० चि० २३।१६१

भयभीत, मद्युक्त, निर्बल, गर्मी से पीडित और भूखे प्यासे व्यक्तियो मे विष अत्यन्त प्रवृद्ध होता है। तथा च यदि पुरुष की प्रकृति और काल विष के समान हो तो भी विष की वृद्धि होती है व इनकी विपरीत अवस्थाओ में विष की वृद्धि अल्प होती है।

अर्वाचीनो ने भी १. आयु, २. जाति स्वभाव, ३. वृत्त, ४. स्वस्थावस्था व ५. निद्रा व मदावस्था नामक ५ कारण माने हैं :—

(क) आयु :—

यद्यपि साधारणतया विष बालक व वृद्धों पर अधिक प्रभावशाली होता है तथापि कुछ द्रव्य यथा पारद-नीरेय (Calomel) बालको द्वारा अधिक सहन होते पाये गये हैं। अनुभव में आया है कि बाल्यावस्था मे रसौषधिया सेवन कराने से थोडे ही दिनो मे शरीर मोटा बन जाता है जहा बडे मनुष्यो मे मसूढो पर नीलवर्ण रेखा व लाला-वृद्धि की जाच, रसौषधि के सेवनकाल मे हर १०-१० दिन के पश्चात्, करनी होती है।

(ख) असात्म्य

कुछ व्यक्तियो मे किसी द्रव्य की खाद्य अथवा औषधोपयोगी मात्रा भी विषाद उत्पन्न कर देती है, जहा वही मात्रा अन्य व्यक्तियो के लिये उत्तम औषधि या भोजन साबित होती है। यथा लीलावती वटी। इसके सेवन से कुछ व्यक्तियो को कुछ भी असर नही होता जहा अन्य कुछ व्यक्तियो को बीसियो वमन व अतिसार हो जाते हैं।

(ग) वृत्ति सात्म्य

व्यसनी व्यक्तियो मे कतिपय विषो की घातक मात्रा भी किसी सीमा तक विषैला प्रभाव नही डालती। हमारे एक रोगी श्री चादमल जो २-२ रत्ती अहिफेन नित्य

प्रात साय सेवन करते हैं उन पर अहिफेन युक्त योग साधारण मात्रा मे अप्रभावशाली रहते हैं।

(घ) काकतालीय

यद्यपि रोगियो पर स्वस्थ पुरुषो की अपेक्षा विष का प्रभाव शीघ्र होता है तथापि कतिपय रोगो मे विषो की घातक मात्रा भी लाभप्रद होती है यथा धनुर्वात मे अहिफेन व जलोदर मे स्नुहीक्षीर स्थानीय एक जलोदर के रोगी द्वारा एक बार मे १ तोला थूहर का दूध पीकर १ चम्मच मिरचिया कद स्वरस पीकर स्वास्थ्य-लाभ करना लेखक के ज्ञान मे है। कुछ ऐसे भी रोग हैं जिनमे विषो की स्वल्प मात्रा भी घातक होती है यथा जीर्णकफज वृक्क शोथ मे पारद।

(ङ) मद या सुप्तावस्था '—

कभी २ विष खाने के तुरन्त पश्चात् विषभक्षी निद्रा लेले तो विष का प्रभाव शारीरिक क्रिया के शिथिल हो जाने के कारण विलबित हो जाता है। यही दशा मदमत्तता मे विष भक्षण से होती हैं।

निदान—

यद्यपि राज्य-नियम भय से कोई भी व्यक्ति सत्य गाथा नही कहता, तथापि निम्न विशिष्ट लक्षणो से निदान किया जा सकता है ·

१ पूर्वोक्त विषवेग ज्ञान से।

२ यदि स्वस्थ पुरुष मे अकस्मात् वमन, अतिसार आदि लक्षण प्रकट हो जाँय तो। किन्तु यहा यह विशेष दृष्टव्य है कि चिरकालीन विषो में विष लक्षण शनै शनैः प्रकट होते हैं जिससे किसी रोग के होने का भ्रम होकर मिथ्या निदान हो जाने का भय रहता है। यथा विसूचिका जहा ऐसे लक्षण सहसा प्रकट होते हैं। ऐसी स्थिति मे सापेक्षिक निदान आवश्यक हो जाता है।

३ साधारणतया औषध भोज्य या पेय पदार्थों के साथ विष भक्षण के लगभग १ घटे के भीतर ही लक्षण उपस्थित होने प्रारम्भ हो जाते हैं किन्तु विसूचिका, आमाशय-विदार (Rupture of Stomach) आदि रोगो मे भी ऐसे लक्षण, भोजन या जलपान के तुरन्त पश्चात् अकस्मात प्रकट हो जाते हैं। ऐसी दशा मे सावधानी रखनी आवश्यक है। अभियुक्त कभी कभी जनपदोध्वसनीय सक्रामक व्याधियो के प्रकोप के समय विष प्रदान कर स्थिति का अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं।

४ लक्षण अतिशीघ्र बढ कर घोर अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं जिससे मृत्यु अथवा शीघ्र विष से मुक्ति हो जाती है। कभी कभी मद विष देह मे रह जाता है जो चिर काल

तक कष्ट देता रहता है। एक विष का प्रभाव अन्य विषो से भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार किसी विष का न्यून मात्रा मे प्रयोग, अल्प मात्रा मे यौगपद्येन सेवित अन्य विष को सहायक शक्ति से शीघ्रमारक भी हो सकता है। यथा सुपव (alcohol) के साथ कोलमिहेय (Barbiturate)

५. एक ही प्रकार का भोजन या पान एक ही समय करने वाले सभी व्यक्ति समानरूपेण एक ही काल मे लक्षणान्वित होते हैं।

६. इन सभी लक्षणो के अतिरिक्त सब से अधिक प्रामाणिक वस्तु रासायनिक विश्लेपण है। एतदर्थ वमन, मूत्र व मल को सुरक्षित कर रासायनिक विश्लेपणात्मक परोक्षा करनी या करवानी अति आवश्यक है।

विष का सदेह होने पर वैद्य के कर्त्तव्य

जहा तक वैद्य को पूर्ण प्रमाणित विश्वास न हो जाय कि अमुक व्यक्ति विषाक्त है, उसे कोई भी लिखित अथवा मौखिक राय व्यक्त नही करनी चाहिये। उसे सदेहित विष की प्रकृति पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिये जिससे वह उचित उपचार द्वारा रोगी के प्राण बचा सके। मन्द विष के सदेह मे २४ घटो का मल-मूत्र व वमन सग्रह कर उनका परीक्षा के लिये भिजवाना नितात आवश्यक है।

(क) साक्षी के लिए, चिकित्सा करने के पश्चात् तक भी वमन, आमाशय प्रक्षालन से प्राप्त द्रव्य व मल, मूत्र सुरक्षित रखें।

(ख) विष-सेवी के निकट बोतल, कप, कटोरी, गिलास आदि वस्तुए जिनमे विष मिलाये जाने का सदेह हो जाय, पेषणकर्त्ता खरल व कागज का टुकडा जिसमे सेवनार्थ विष डाले जाने का सन्देह हो, उन्हे भी वैद्य अपने अधिकार मे ले ले। ऐसा न करने पर भारतीय दण्ड विधान की धारा २०१ के अनुसार साक्षीलोपन के अभियोग मे वह दण्डनीय हो जाता है।

(ग) परहत्या के लिए दण्ड-प्रयोग का सन्देह होने पर वैद्य को अनिवार्यतः धारा ४४ दण्ड-विधि सहिता के अनुसार निकटतम पुलिस अधिकारी या न्यायाधीश को सूचना दे देनी चाहिए। इस प्रावधान के उल्लघन करने पर भारतीय दण्ड विधान की धारा १७६ के अन्तर्गत वह वैद्य दण्ड का भागी होता है। उक्त धारा ४४ के अनुसार आत्महत्या का पुष्ट प्रमाण प्राप्त होने के पश्चात् भी वैद्य को अपनी ओर से किसी आत्महत्या की सूचना देना आवश्यक नही है किन्तु यदि इस विषय मे उने न्यायालय आहूत करे तो धारा १७५ दण्ड विधि सहिता के अनुसार उसे अपने ज्ञान के सभी तथ्य बता देने आवश्यक हैं। यदि उनमे से कुछ भी बात प्रच्छन्न रखदे या विकृत करदे तो वह भारतीय दण्ड विधान की धारा २०२ के अनुसार अभियुक्त समझा जाता है। मिथ्या सूचना देने पर भारतीय दण्ड विधान की धारा १९३ के अनुसार दण्डनीय होता है।

विषाक्त व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर वैद्य उसके लिए कदापि मृत्यु प्रमाण-पत्र न दे। ऐसी दशा मे उसे निकटतम पुलिस अधिकारी को मृत्यु की सूचना अग्रिम कार्यवाही हेतु प्रेषित कर देनी चाहिए।

सामान्य चिकित्सा

पूर्वाचार्यों ने विष चिकित्सा के २४ उपक्रम कहे हैं यथा—१, मत्र, २ अरिष्टा बन्धन, ३. उत्कर्तन, ४ निष्पीडन, ५ चूषण, ६ अग्नि से दग्ध करना, ७ परिषेचन, ८ अवगाहन, ९ रक्त-मोक्षण, १० वमन, ११ विरेचन, १२ उपधान, १३ हृदयावरण, १४ अजन, १५ नस्य, १६. धूम, १७ लेह, १८. औषध, १९ प्रधमन, २०. प्रतिसारण, २१, प्रतिविष, २२ सज्ञास्थापन, २३ लेप और २४. मृत-सजीवन।

आधुनिक विद्वान् केवल ४ उपक्रमो का वर्णन करते हैं, यथा—१. अशोषित विषो का निर्हरण, २. प्रतिविषो से, ३ प्रणालियो मे चूषित विषो का निर्हरण व ४. सामान्य लक्षणो व उपद्रवो की चिकित्सा।

प्राचीनो का मत्र उपक्रम सदैव, अरिष्टा-बन्धन, उत्कर्तन व निष्पीडन, दष्ट्र पुरुष के दशस्थान से जब तक विष देह मे नही फैले तब तक (दष्ट स्थान के ऊपर बांधा जाता है, व दष्ट स्थान को सम्यगतया निष्पीडन कर मर्मो को बचाते हुए मास काटा जाता है); चूषण व रक्त-मोक्षण तत्पश्चात् क्रमश प्रतिकरण, लेप, दाह, वमन, विरेचन, हृद्रक्षा, अजन व नस्य, सज्ञा-स्थापन, उपधान व प्रधमन व धूम उपक्रमो से चिकित्सा की जाती है।

प्रत्येक वैद्य को विष चिकित्सार्थ सदैव एक पृथक् पेटिका मे विषघ्न औषधिया व उपकरण तैयार रखने चाहिए जिससे व्यर्थ समय न खोना पडे।

साधारण उपकरण

१, कैथेटर (कृश रबर नलिका Stomach Pump)
२ आमाशय प्रक्षालन यन्त्र
३. रबर की रज्जु (Rubber Tourniquet)
४ चाकू
५ १०-२० सी. सी की एक रेकर्ड सिरिञ्ज
६ शिरा मे औषध देने का यन्त्र
७ प्राणवायु सुघाने का यत्र

साधारण औषधियां

१ श्वेतनक्षोद (Bleaching Powder)
२ चूर्णातुतीरेय (Calcium Chloride)

३. विष तिन्दुक (सत्व) (Strychnine)
४ दहातु प्रतिलोहकीय (Pot. Permengnate)
५ सर्प प्रतिविष व अन्य प्रकार के प्रतिविष ।

अशोषित या प्रसूचित विषो का निर्हरण

वायवीय पदार्थों के निःश्वसन की स्थिति मे रोगी को तुरन्त अभिनव हवा मे ले जाया जाना चाहिए । आवश्यकतानुसार कृत्रिम स्वास क्रिया व तत्पश्चात् शुद्ध जारक (Oxygen) भी ६ से ८ लीटर प्रति मिनट के हिसाब से देना चाहिए ।

काटने या अत क्षेपण की स्थिति मे तुरन्त ही व्रण के ऊपर के भाग पर तग बध लगा देना चाहिए व उसे प्रत्येक १० या १५ मिनट बाद २० या ३० सैकण्ड के लिए बारम्बार ढोला करते रहना चाहिए जिससे कोथ की उत्पत्ति न हो । बरफ या शीतल बन्ध लगा कर विष का निर्हरण प्रचूषण द्वारा करने की चेष्टा करनी चाहिए, किन्तु ऐसा करते समय मुख मे व्रण न होने चाहिए । व्रण का छेदन कर उपयुक्त रासायनिक द्रव्य से विष को क्लीव कर देना चाहिए ।

त्वचा या व्रण पर प्रयुक्त, योनि, गुदा या मूत्राशय मे प्रविष्ट विष को, उन भागो को प्रचुर मात्रा मे पानी द्वारा धो कर अथवा निर्दिष्ट रासायनिक घोलो द्वारा निर्विष करना चाहिए ।

यदि विष निगला गया हो तो आमाशय प्रक्षालन द्वारा उसका निर्हरण करना चाहिए । यदि विष निगलने के २ से ५ घण्टो के भीतर ही यह क्रिया की जाय तो वह अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध होती है । एतदर्थ आमाशय-उदञ्च अथवा एक रबर की नली आधा इच व्यास की व लगभग ६ फीट लम्बी ली जानी चाहिए जिसके एक छोर पर काच का निवाप (Funnel) लगा हो । इसके २० इच के निशान तक शुद्ध घी से स्निग्ध कर वह नली मुंह द्वारा आमाशय मे प्रविष्ट कर देनी चाहिए । ऐसा करते समय जिह्वा को अगुली द्वारा ग्रसनी (Pharynix) के पीछे दबानी चाहिए । शनै-शनै २० इच के निशान की प्राप्ति तक प्रविष्ट करते रहना चाहिए । प्रक्षालन करने के पूर्व यह विश्वास हो जाना आवश्यक है कि नली आमाशय में है, श्वास नलिका (Trachea) मे नही है । रोगी को बायें पार्श्व सुलाना चाहिए व उसका शिर शय्या के ऊपले कैसे नीचे लटकता रहना चाहिए जिसे एक परिचारक सम्भालता रहे । लगभग ½ पिंट उपयुक्त घोल नली के ऊपर स्थित निवाप द्वारा डाला जाय । जब निवाप रिक्त हो जाय तो उसके नीचे वाली नलिका को अगुष्ठ व अगुली से सपीडन कर आमाशय के तल से नीचे कर दी जाय जिससे निनाल क्रिया (Syphon action) द्वारा सभी अन्तर्वस्तुए खाली हो जावे । यह क्रिया पुन. पुनः तब तक दोहराई जाय जब तक कि स्वच्छ व निर्गन्ध तरल बाहर न आ जाय । प्रथम

विषाक्त व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर वैद्य उसके लिए कदापि मृत्यु प्रमाण-पत्र न दे। ऐसी दशा मे उसे निकटतम पुलिस अधिकारी को मृत्यु की सूचना अग्रिम कार्यवाही हेतु प्रेषित कर देनी चाहिए।

सामान्य चिकित्सा

पूर्वाचार्यों ने विष चिकित्सा के २४ उपक्रम कहे हैं यथा—१, मन्त्र, २ अरिष्टा बन्धन, ३. उत्कर्तन, ४ निष्पीडन, ५ चूषण, ६ अग्नि से दग्ध करना, ७ परिषेचन, ८ अवगाहन, ९ रक्त-मोक्षण, १० वमन, ११ विरेचन, १२ उपधान, १३ हृदयावरण, १४ अजन, १५ नस्य, १६. धूम, १७ लेह, १८. औषध, १९ प्रधमन, २० प्रतिसारण, २१, प्रतिविष, २२ सज्ञास्थापन, २३ लेप और २४. मृत-सजीवन।

आधुनिक विद्वान् केवल ४ उपक्रमो का वर्णन करते हैं, यथा—१ अशोषित विषो का निर्हरण, २. प्रतिविषो से, ३ प्रणालियो मे चूषित विषो का निर्हरण व ४. सामान्य लक्षणो व उपद्रवो की चिकित्सा।

प्राचीनो का मन्त्र उपक्रम सदैव, अरिष्टा-बन्धन, उत्कर्तन व निष्पीडन, दष्ट्र पुरुष के दशस्थान से जब तक विष देह मे नही फैले तब तक (दष्ट स्थान के ऊपर बाधा जाता है, व दष्ट स्थान को सम्यगतया निष्पीडन कर मर्मों को बचाते हुए मांस काटा जाता है); चूषण व रक्त-मोक्षण तत्पश्चात् क्रमश प्रतिकरण, लेप, दाह, वमन, विरेचन, हृद्रक्षा, अजन व नस्य, सज्ञा-स्थापन, उपधान व प्रधमन व धूम उपक्रमो से चिकित्सा की जाती है।

प्रत्येक वैद्य को विष चिकित्सार्थ सदैव एक पृथक् पेटिका मे विषघ्न औषधिया व उपकरण तैयार रखने चाहिए जिससे व्यर्थ समय न खोना पड़े।

साधारण उपकरण

१, कैथेटर (कृश रबर नलिका Stomach Pump)
२ आमाशय प्रक्षालन यन्त्र
३. रबर की रज्जु (Rubber Tourniquet)
४ चाकू
५ १०-२० सी सी की एक रेकर्ड सिरिन्ज
६ शिरा मे औषध देने का यन्त्र
७ प्राणवायु सुघाने का यत्र

साधारण औषधियां

१ श्वेतनक्षोद (Bleaching Powder)
२ चूर्णातुनीरेय (Calcium Chloride)

३. विष तिन्दुक (सत्व) (Strychnine)

४. दहातु प्रतिलोहकीय (Pot Permengnate)

५ सर्प प्रतिविष व अन्य प्रकार के प्रतिविष।

अशोषित या प्रसूचित विषो का निर्हरण

वायवीय पदार्थों के निःश्वसन की स्थिति मे रोगी को तुरन्त अभिनव हवा में ले जाया जाना चाहिए। आवश्यकतानुसार कृत्रिम स्वास क्रिया व तत्पश्चात् शुद्ध जारक (Oxygen) भी ६ से ८ लीटर प्रति मिनट के हिसाब से देना चाहिए।

काटने या अन्त क्षेपण की स्थिति मे तुरन्त ही व्रण के ऊपर के भाग पर तग वध लगा देना चाहिए व उसे प्रत्येक १० या १५ मिनट बाद २० या ३० सैकण्ड के लिए बारम्बार ढीला करते रहना चाहिए जिससे कोथ की उत्पत्ति न हो। बरफ या शीतल बन्ध लगा कर विष का निर्हरण प्रचूषण द्वारा करने की चेष्टा करनी चाहिए, किन्तु ऐसा करते समय मुख मे व्रण न होने चाहिए। व्रण का छेदन कर उपयुक्त रासायनिक द्रव्य से विष को क्लीव कर देना चाहिए।

त्वचा या व्रण पर प्रयुक्त, योनि, गुदा या मूत्राशय मे प्रविष्ट विष को, उन भागो को प्रचुर मात्रा मे पानी द्वारा धो कर अथवा निर्दिष्ट रासायनिक घोलो द्वारा निर्विष करना चाहिए।

यदि विष निगला गया हो तो आमाशय प्रक्षालन द्वारा उसका निर्हरण करना चाहिए। यदि विष निगलने के २ से ५ घण्टो के भीतर ही यह क्रिया की जाय तो वह अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध होती है। एतदर्थ आमाशय-उदञ्च अथवा एक रबर की नली आधा इच व्यास की व लगभग ६ फीट लम्बी ली जानी चाहिए जिसके एक छोर पर काच का निवाप (Funnel) लगा हो। इसके २० इच के निशान तक शुद्ध घी से स्निग्ध कर वह नली मुंह द्वारा आमाशय मे प्रविष्ट कर देनी चाहिए। ऐसा करते समय जिह्वा को अगुली द्वारा ग्रसनी (Pharynix) के पीछे दबानी चाहिए। शनै-शनै २० इच के निशान की प्राप्ति तक प्रविष्ट करते रहना चाहिए। प्रक्षालन करने के पूर्व यह विश्वास हो जाना आवश्यक है कि नली आमाशय मे है, श्वास नलिका (Trachea) मे नही है। रोगी को बायें पार्श्व सुलाना चाहिए व उसका शिर शय्या के ऊपले केसे नीचे लटकता रहना चाहिए जिसे एक परिचारक सम्भालता रहे। लगभग ½ पिंट उपयुक्त घोल नली के ऊपर स्थित निवाप द्वारा डाला जाय। जब निवाप रिक्त हो जाय तो उसके नीचे वाली नलिका को अगुष्ठ व अगुली से सपीडन कर आमाशय के तल से नीचे कर दी जाय जिससे निनाल क्रिया (Syphon action) द्वारा सभी अन्तर्वस्तुए खाली हो जावें। यह क्रिया पुन. पुनः तब तक दोहराई जाय जब तक कि स्वच्छ व निर्गन्ध तरल बाहर न आ जाय। प्रथम

धोवन का अंश रासायनिक विश्लेषण व परीक्षणार्थ सुरक्षित रखा जाय। नलिका को आमाशय से निकालने के पूर्व उसी से आजातु शुल्वीय (Magnasium Sulphate) या क्षारातु शुल्वीय (Sodium Sulphate) २५० (ml) म ल. निवाये पानी मे, अथवा चन्द्रक्षार २ माशा ३०० ml पानी मे, या १०० ml. मद्वसा तरल (Liquid Parathin) १५० ml पानी मे मिला कर अथवा अन्य निर्विषकर्त्ता औषधिया आमाशय मे डाल देनी चाहिए।

अधिमूच्छित रोगी की श्वास नलिका मे कृश रबर नलिका (Catheter) प्रविष्ट करनी चाहिए। इसके पूर्व भिंचे दात खोल कर मुख-खोलक-यन्त्र (Mouth Cag) लगा देना चाहिए व ८ से १२ नम्बर तक के फ्रेंच कैथेटर शिशुओ व बालको के लिए प्रयुक्त करने चाहिए जो लगभग १० इच लम्बे हो, जिससे वे आमाशय मे पहुँच सकें।

आमाशय नलिका दाहक विषो के लिए प्रांगविक अम्ल (Carbolic Acid) के अतिरिक्त कदापि प्रयुक्त नही की जानी चाहिए क्योकि ऐसा करने से अनिष्ट परिणाम हो जाते हैं। क्षोभक विषो मे भी नलिका सावधानी से प्रविष्ट करनी चाहिए।

नलिका के अभाव में वामक द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए या अगुली या पख मुह मे डाल कर वमन करानी चाहिए। प्रसगवश कुछ वामक द्रव्य नीचे दिये जा रहे हैं —

१ सैंधव लवण २ तोला या राजिका चूर्ण १ तोला, उष्णोदक ४ छटाक के साथ पिलायें।

२ केवल उष्णोदक प्रचुर मात्रा में पिलायें।

३ मैनफल ½ तोला उष्णोदक से, आदि।

यदि रोगी ने केरोसीन तेल या तीव्र क्षार या अम्ल खाये हो तो वमन कराना निषिद्ध है। यथावश्यकता स्वेदल, मूत्रल, व विरेचक औषधिया भी दी जानी चाहिए।

२ प्रतिविषो द्वारा विष निर्हरणः—

प्रतिविषो के प्रयोग विषो को निष्क्रिय करते हैं। इनके ३ प्रकार हैं—

(क) यांत्रिक

यान्त्रिक प्रतिविष वे हैं जो अपनी यान्त्रिक प्रक्रिया से विष को अक्रिय कर देते हैं— यथा २ से ४ रत्ती की मात्रा मे प्रयुक्त लकडी के कोयलो का श्लक्ष्ण चूर्ण कतिपय विषो का प्रचूषण करता है व अपने रध्रों मे लगभग सभी प्रांगारिक और कतिपय खनिज विषो का प्रतिधारण कर लेता है। इसी प्रकार स्नेह, तैल एव अण्डे की श्विति श्लैष्मिक कला पर एक आवरण उत्पन्न कर विष क्रिया को रोक देते हैं व प्रपुञ्ज भोजन खाए हुए काच को अपने छिद्रो में लपेट लेता है व काच की विषक्रिया को रोक देता है।

(ख) रासायनिक

रासायनिक प्रतिविष वे हैं जो उनके सम्पर्क मे आने वाले भक्षित विषो को अघातक व अघुलनशील यौगिक बना कर उनकी क्रिया का प्रतिविधान करते हैं। उदाहरणस्वरूप १, अम्लो के क्षार २ खनिज अम्लो के आजा (magnesia) व क्षारीय प्रांगारीयण (alkaline Carbonates), ३. तिग्मिक अम्ल (oxalic Acid) के लिए चूर्णक (lime), ४ क्षाराभ (al Kaloids) के लिए श्विति (al bumin) व शल्कि (tannin) ५ नाग के लिए क्षारातु शुल्कीय (Sodium Sulphate)

यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि सदैव केवल ऐसे ही द्रव्य एतदर्थ चुने जाय जो स्वय अनपकारिन प्राय हो, जिससे उनके अति प्रयोग से भी अपकार का भय न रहे। उदाहरणस्वरूप दह क्षारक (Caustic Alkali) के सिरका या नीबू स्वरस ही प्रयुक्त किए जाय खनिज, अम्ल, यथा- लवणाम्ल गधकाम्ल आदि न काम में लाए जाय क्योकि ऐसे प्रतिविष मूलविष की भाँति घातक हो जाते हैं।

यांत्रिक प्रतिविष

महत्वपूर्ण रासायनिक प्रतिविषो में आधुनिक विद्वान् दहातु अतिलोहकीय (Potassium Permangnate) को उच्च स्थान देते हैं। अहिफेन विष भक्षी को एक पिंट शुद्ध जल में इसका ५ से ८ रत्ती प्रक्षेप कर, घुलने पर पिलाते हैं। यह पदार्थ अपने जारेय गुण धर्म से रासायनिक प्रतिक्रिया द्वारा उक्त विष को अक्रियाशील कर देता है। इसका प्रयोगजारेय-द्रव्यो द्वारा विषाक्तो पर भी होता है यथा भास्वर Phosphorus उदेश्यामिक अम्ल श्यामेय hydrocyanic acid Cyanides), कोलमिहिक अम्ल (Barpituric acid) व उनसे व्युत्पन्न विष, अमोली (Morphine) बाहंती (atropine) इत्यादि अन्य क्षाराभ। विष भक्षी जितना पी सके, वमन के पूर्व व पश्चात्, उक्त घोल उसे पिलाया जाय। यदि वह मूर्च्छावस्था में हो तो यही घोल उदर उदञ्च की सहायता से प्रविष्ट किया जाय। ऐसा करने के पूर्व वैद्य को चाहिए कि पुलिस व न्यायाधीश की जानकारी के लिए उदर को शुद्ध जल से धोकर उदर से प्राप्त धोवनकोरासायनिक जाचकर्ता के लिए बोतल में भर, नामपत्र (lable) लगा कर व सील करके रख दे क्योकि दहातु अतिलोहकीय घोल से धोने के पश्चात् विष भक्षण का पुष्ट प्रमाण विद्यमान नही रहता। यदि शुद्ध जल से धोने में विलम्ब हो जाने से ऐसी स्थिति आने का सदेह हो कि रोगी प्राण त्याग देगा, तो उसके प्राणो की रक्षा के लिए वैद्य सहसा दहातु अतिलोहकीय घोल प्रयुक्त कर देने को भी मुक्त है।

यदि दहातु अतिलोहकीय अप्राप्त हो तो उस समय जम्बुकी निष्कर्ष (Tincture Iodine) का घोल, ½ गिलास गरम पानी में १५ बूद के हिसाब से मिला कर उदर प्रक्षालनार्थ बना कर प्रयुक्त करे, यह घोल क्षाराभो को तलछट कर देता है।

जहा सदिग्ध विष का सदेह हो अथवा १ से अधिक विषो के मिश्रण वाले सयोजक विष का सदेह हो वहाँ लकडी के कोयले का चूर्ण २ भाग शल्किक अम्ल (Tannic Acid) १ भाग व आजा (Magnesium Oxide) १ भाग मिलाकर १ गिलास पानी मे उक्त मिश्रण २-३ तोला घोल कर पिलावें।

पाश्चात्य विद्वानो के अनुभवानुसार लकडी के कोयले की १ माशा भर की मात्रा लगभग ४ रत्ती विष तिंदुकसत्व (Strychnine) के लिए प्रर्याप्त है। शल्किक अम्ल (Tannic Acid) क्षाराभो, मधुमेय (Glucosides) व अनेक अन्य खनिज विषो को तलछट कर देता है। आजा (Magnesium oxide) अम्लो को अक्रिय करता है और मल्ल का प्रति विष है। वैसे मल्ल का अधिक प्रभावशाली प्रतिविष तो जलोपित आयसिक जारेय (Hydrated Ferric oxide) है, किन्तु यदि वह न हो तो आजा से काम चलाया जाना चाहिये।

क्रिया-विरुद्ध प्रतिविष —

ये शरीर की ऊतियो पर प्रभाव डालते हैं, विषो व विकरो (enzymes) पर प्रतिकूल क्रिया करते हैं। यदि चयन करने मे त्रुटि रह जावे तो क्रिया-विरुद्ध प्रतिविष स्वय मारक हो सकते हैं। बाहृंती (atropine) का प्रयोग प्रमीमी (Morphine) के प्रतिविष के रूप मे किया जाना आधुनिक विद्वान बताते हैं किन्तु ऐसा करने से प्रेरकचेता को पक्षाघात हो जाने का भय व उससे मृत्यु हो जाने की सभावना रहती है। अस्तु सावधानी से ही प्रति विषो का चयन करना चाहिये। बाहृंती (atropine) एव नमतफली (Pilocarpine), विष तिंदुक सत्व (Strychnine) एव दुरेय (Bromides) नीरसु जलेद सह (with chloral hydrate), सूचीवीणा घण्टा एव वत्सनाभ, समोहन (Chloroform) एव मण्डल भूयित (anyl Nitrite) विशुद्ध क्रिया विरुद्ध प्रतिविष हैं। भल्लातक विष के लिये श्वेततिल+बकरी का दुग्ध+नवनीत क्रिया विरुद्ध प्रतिविष है। आदि।

आधुनिक विद्वानो का "बाल" (British Antic Lewisite) नामक रासायनिक यौगिक मल्ल अथवा पारद विष का उत्तम क्रिया विरुद्ध प्रतिविष है। यह देह की उक्त कोशाओ पर क्रिया करता है एव ऊति विकरो (Acsine enzymes) मे शुल्वोदल शाखिका (sulphydryl radicles) के साथ धातुओ को सम्मिलित होने से रोक कर उन धातुओ का विस्थापन करता है और ऊतिरस की ओर धकेलता है। विशेषत. वह प्रसर (Plasma) की ओर व वहा से मूत्र की ओर धकेलता है। इस भेषज के प्रयोग से मूत्रोत्सर्ग मे वृद्धि होती है।

पहले २ दिन १० प्रतिशत "बाल" (B A L) व २० प्रतिशत धूपल (Benzyl) धूपीय (benzoate) का, भूमुद्गतैल (arachis oil) मे बना घोल २ मोलोलीटर की मात्रा मे पेश्यन्त गहरे वेध द्वारा नितब देश में ४-४ घटे से प्रविष्ट किया जाता है। तदनु १० दिन

तक दिन मे २ बार किया जाता है। इस यौगिक का प्रयोग सुवर्ण, भिदातु (Bismuth) आदि भारी धातुओ के विषो मे भी लाभदायक है। यकृत के क्षतिग्रस्त होने की दशा में इसका उपयोग निषिद्ध है। सोम गुल्वोय (Ephedrine Sulphate) की १।४ रत्ती को मात्रा इसका दर्प, यदि हो जाय, नष्ट करती है।

इसी प्रकार 'प्राणघातक' (Lethidrone) जो कि अमीली (Morphine) से बनता है वह अमीलो, मीली (Codeine) शुक्त अमीली (Heroin), पैथोडीन (Pethidine) व प्रोद-मीली (Methadone) के विषो का सफल प्रतिविष है जो लीलया श्वसनक्रिया को सुधारता है व रक्तचाप के निपात को भी नियन्त्रित करता है। इसका प्रयोग १/४ से १/३ रत्ती की मात्रा मे शिरान्त, पेश्यन्त अथवा अधश्चर्मीय अतर्वेष्ट द्वारा होता है। विष की प्रबलता-नुसार १५-१५ मिनट से अथवा ३-३ घटो से किया जाता है।

चूर्णातु द्विक्षारातु वर्सीनेट (Calcium disodinm versenate) नामक नखरी अभिकर्ता नागविष का विशिष्ट प्रतिविष आधुनिको ने खोज निकाला है। यह अन्य भारी खनिजो यथा ताम्र, केत्वातु (Cobalt), मृण्धात (Cadmium), रूपक (Nickel) व लोह (iron) आदि विषो पर भी उपयोगी है। इसका प्रयोग ५ प्रतिशत मधुम (Glucose) विलयन के मथर शिरात प्रवेश के साथ किया जाता है। मात्रा—१ कीलो मधुम विलयन मे १/५ रत्ती ५ दिन पर्यन्त, एव २ या ३ दिन तक आवश्यकतानुसार पुनरावृत्ति। इस औषधि की वटो ० ५ ग्रे० की मद विष मे दिन मे ४ बार दी जाती है।

देह मे प्रणालियो मे शोषित विषो का निर्हरण

ये प्रचुर मात्रा मे शिरामार्ग से प्रविष्ट होने पर तरल विषोत्सर्जन मे वृक्क की सहायता करते है। इसमे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अब्धातु की वृद्धि से कही क्लोम शोथ न हो जाय।

वामक, विरेचक, स्वेदल व मूत्रल औषधिया यथा मदनफल, चौक, जायफल, अतीस, शोरा, यवक्षार आदि का प्रयोग इस कार्य के लिए किया जाता है। पूर्वाचार्यो ने एतदर्थ कई सफल प्रयोगो का उल्लेख किया है।

वृक्कावसाद की दशा मे आधुनिको द्वारा उदरगुहीय श्याश्लेषण (Peritoneal dialysis) किया जाता है।

कृत्रिम वृक्क कई विषो मे उपयोगी होता है—यथा कोलमिहेय (Barbiturates) दुरेय (Bromide) टाकिक अम्ल (Boric Acid) नम्रलीय (Salicylates) एव प्रोदल सुषव (Methyl Alcohol) मे। रक्त हस्तान्तरण क्रिया, जिसमे नूतन आगामी रक्त प्रागारएक-जारेय (Carbon Monoxide) व लोह लवणोयुक्त हो वह बालको मे हितावह है।

साधारण उपद्रवो की उत्पत्ति एव उनके उपचार

विषभक्षी के निम्न उपद्रवो का उपचार तुरन्त करना श्रेयस्कर होता है—

१ अभिघात, २ शूल, ३. अपर्याप्तश्वसन के कारण जारक (Oxygen) की कमी, ४ पारिणाहिक-परिचलन-समवसाद, ५ आक्षेप ६ अधिमूर्च्छा ७ यकृत अवसाद ८ श्वसनीससर्ग व ९ वृक्कद्वारा मूत्रनिर्माण बद होना।

अभिघात मे रक्तचापन्यूनता, वेगवती नाडी, स्वेदक्लिन्नचर्म, मदतापक्रम, पीताभता की उपस्थिति प्रायः पाई जाती है। कभी कभी देहनीलता, अतिभार, वमन व उदर शूल क्षोभक एव दाहक विषाक्त रोगियो मे पाये जाते हैं।

अब्धातु न्यूनता, शूल एव विगोपता मुख्य स्तम्भ हैं जो विषाक्तो मे अभिघात उत्पन्न करते हैं, एव कालान्तर मे वृक्क अथवा यकृत पर दुष्प्रभाव डाल कर उनका अवसाद व तत्पश्चात् अभिघात उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार श्वसनीय ससर्ग या रक्त-प्रवाह भी अभिघात उत्पन्न करते हैं।

ऐसे उपद्रवो की शाति के लिए निम्न उपचार प्रशस्त हैं :—

१ रोगी को कम्बलो से ढक दें जिससे कम्प मे लाभ हो। एतदर्थ बोतलो (गरम पानी वाली) व विद्युत आदात्राशय का प्रयोग नही करें। यदि तापमान १०२ फा हा से अधिक हो तो गरम पानी के तोलिये के प्रयोग से उसे न्यून कर दिया जावे।

२. मस्तक को निम्न तल पर रखे व पैरो की तरफ शैय्या के नीचे ९ इच ऊची ईटें या पत्थर रखे जाय जब तक कि रक्त की हृत्कुचन निपीड १०० एव हृत्स्फारे निपीड ६० तक न आ जाय।

३ रक्तालपताजन्य अभिघात मे रक्त-सक्रामण लाभदायक होता है। अभाव मे ३ पाव के लगभग रक्त, प्ररस, या उसके प्रतिनिधि यथा शर्करा (Dextran) आदि प्रदान कर ५ प्रतिशत मधुम-साधारण लवण सहित का घोल ३ से ४ पिंट चढा दें। यदि मूत्र की मात्रा २४ घण्टो मे २५ तोला से न्यून हो जावे तो केवल ५ से ३० प्रतिशत मधुम का परिष्कृत-वारि मे बना घोल प्रयुक्त किया जाय। पारिणाहिक परिचलन समवसाद मे ऋजु उपवृक्क द्रप्सन (Nor-adrenative drip) प्रयुक्त की जाय एव रक्तचाप पर निरन्तर टकटकी रखी जाय व कालान्तर मे मैथेड्रीन नामक औषधि को १५ से ३० मिली ग्राम की मात्रा मे शिरा मार्ग से प्रविष्ट की जाय। हृदय ग्रह हो तो तुरन्त बाह्य अभ्यङ्ग या हृदय मे ३० मिलीलीटर की मात्रा मे १ प्रतिशत अल्पवेतनी उदनीरेय (Procaine hydrochloride) या ½ मिली लीटर मात्रा मे ५ प्रतिशत दहातु नीरेय (Potascium chloride) या १० प्रतिशत चूर्णातिनीरेय (Calcium chloride) २ से ४ मिलीलीटर की मात्रा मे प्रविष्ट किया जाय।

४. शूल के लिए प्रमीली गुल्वेय (Morphine Sulphate) की ⅙ से ¼ रत्ती अधस्त्वचीं

सूची द्वारा प्रदेश अथवा पेंथोडीन ५० से १०० मिली ग्राम पेशीय सूची द्वारा प्रवेश करना उत्तम माना गया है किन्तु यकृत के रोगी, श्वलन अवसाद आदि मे इसका प्रयोग निषिद्ध है। बाहंती १/१०० रत्ती उदरशूल मे व ३/४ से १½ रत्ती ल्नूमीनोल या ५ से १० मिलीलीटर परासुव्युद Paraldehyde) पेश्यन्त सूची द्वारा प्रवेश करना आक्षेप व वेचंनो मे उपयोगी है। विष तिन्दुकीसत्व (Strychnine) विष भक्षण से उत्पन्न आक्षेपो मे कटुविपी अन्यचेतनी (Pierotoxin Procaine) का प्रयोग शिरामार्ग से फलप्रद होता है।

५. सभी अचेत रोगियो के लिए हवा के मार्ग मुक्त रखे जाय। वमन अगुलियो के प्रयोग से कराई जाय। भिचे दात खोलकर जिह्वा को अन्दर धँसने न दी जाय। मुख खोलक यन्त्र (Mouth Gag) के प्रयोग से दात चिपकने न दिये जाय। क्लोम शोथ की दारुणता नष्ट करने जरिय (Oxygen) प्रचुर मात्रा मे दी जाय। वह नासिका कंथेटर से ५ से ६ लीटर प्रतिमिनट चढाया जाय। जरिय को पानी के स्थान पर यथावश्यकता २० प्रतिशत दक्षुल सुषव (Ekhyl Alcohal) के साथ चढाया जाय। प्रमोली व तिक्तोपर्णीय (Aminophyline) भी लाभप्रद है।

कृत्रिम श्वसन भी करवाना चाहिये। उदसर्ग वृद्धि सहित सतापीय वायु या धूम के कारण क्लोमनलीयग्रह मे शुल्वीय वाहंती (Atropine Sulphate) १/१२० रत्ती का सूचोवेध या सोम सुख द्वारा दिया जाना चाहिये। श्वसनीय सक्रमण को रोक थाम प्रति जंविकी (Antidiotics) यथा ५ से १० लाख इकाई के स्फट्य कूचंकी (Crystalline Penicillin) १/४ रत्ती स्ट्रेप्टोमाइसीन के साथ दिन में दो बार मासपेशी द्वारा प्रविष्ट किया जाय। अथवा विस्तृत रगावली प्रति जैविक यथा सूचीवेध या मुख द्वारा ऐक्रोमाइसीन का प्रयोग किया जाय। वायु-सन्ताप के कारण उत्पन्न फुप्फुस से प्रतिक्षेप, चिरकालीन वमन, केन्द्र के विक्षोभ अथवा वृक्क या यकृत अवसादजन्य वमन का उपचार शिरा द्वारा मधुम प्रविष्ट कर करना चाहिए। क्षारातु मडुक (Sodium Finytal) ल्यूमीनोल या बाहंती या लार्जेक्टल आदि शामक औषधियो का प्रयोग भी प्रशस्त है किन्तु यकृत अवसादयुक्त रोगियो को ये नही दिये जायेंगे।

१/६ या १/१२ रत्ती प्रमीली शुल्वीय (Morphine Sulphate) के सूचीवेध से क्लोम-शोथ का उपचार करना चाहिए व क्लोमनलीय ग्रह (Bronchial Spacine) का उपचार शिरा द्वारा तिक्ती पर्णंयि (Aminophyline) द्वारा व जारेय (Oxygen) द्वारा किया जाना चाहिए।

रोगी को आहारपोषणीय स्थिति का सावधानीपूर्वक ध्यान रखना चाहिए। ५ से १० प्रतिशत मधुम कोल ३ लीटर तक प्रतिदिन दिया जा सकता है किन्तु सावधान रहना है कि अत-प्रविष्ट तरल विनष्ट तरल से अधिक न हो जाय। कभी-कभी उदरनलिका से भी आहार व्यवस्था करनी पड़ती है।

विष के विप्रकष्ट 'प्रभावो का भी सम्यग्तया उपचार करना चाहिए, यथ श्राण, सकोच प्रवृत्ति आदि दाहक विषो मे व मल्ल चिर विष मे चेता कोप।

दक्ष काक मयूराणा मासासृक मस्तके क्षते।
मूर्ध्नि देयमधो दष्टस्य ऊर्ध्वदष्टस्य। च. चि २३। ८१

यदि देह के नीचे के भाग मे दष्ट हो तो मस्तक पर काक पदाकार क्षत करके ऊपर मुर्गा, कौवा या मोर का रक्तयुक्त मास रख देना चाहिये। यदि देह के ऊपर के भाग मे दश हो तो दोनो पैरो मे क्षत करके वहा वह रक्तयुक्त मास रखना चाहिये। ऐसा करने से विष ऊपर रखे मास मे सक्रमण कर जाता है।

सर्पदंश की अन्य चिकित्सा

१. विषस्तभन

यह कार्य सबसे पहले रज्जुबंधन (Ligature) से होता है .—

सर्वैरेवादित सर्पै शाखा दष्टस्य देहिन।
दशस्योपरि बध्नीयादरिष्टाश्चतुरगुलै— .....
. सातु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विष प्रतिकारी मता। सुश्रुत क ५।३ से ८ तक

यह कर्म, यथा उपदेश, केवल शाखाओ के देशो के लिए उपयोगी है 'शाखादष्टस्य' धड पर या शिर पर सर्प काटा हो तो इसका उपयोग नही होता। बधन के लिये रबड की रस्सी सबसे उत्तम है। रबड की रस्सी के अभाव मे साफा, पगडो, धोती, रूमाल, सूतली आदि अन्य वस्तुओ का तुरन्त उपयोग कर लेना चाहिये क्योकि समय लग जाने से विष फैलकर मृत्यु हो जाने का भय रहता है—यथा —

मात्राशत विष स्थित्वा देशेदष्टस्य देहिन
कुर्याच्छीघ्र यथा देहे विषवल्ली न रोहति। अष्टाग संग्रह

सर्प-विष अल्पकाल ही मे दश स्थान नै प्रचूषित हो कर रक्त मे मिल जाता है अतः चिकित्सा मे शीघ्रता अपेक्षित है। दश के दश मिनट से अधिक समय हो जाने पर यह क्रिया व्यर्थ हो जाती है। जिस स्थान पर केवल १ हड्डी हो वही पर अरिष्टा बधन करना चाहिये। यदि दश स्थान एक हड्डी के स्थान से दूर हो तो दश स्थान के ४ अंगुल ऊपर १ बधन और बाधना चाहिये। बध कस कर बाधे जिससे सिरा व लसिकावाहनियो से रक्त व लसीका के प्रवाह पूणतया बद हो जाय। धमनीगत रक्तप्रवाह रोकना आवश्यक नही है। प्रत्येक २०-२० मिनट बाद ३०-३० सैकण्ड के लिये बध ढीला कर दें ताकि शोथ न होने पावे।

२. विषनिर्हरण

दश स्थान तथा उसके आसपास की त्वचा पानी से साफ कर चाकू आदि से भेदन

(incision) करते हुए दंश की गहराई के अनुरूप गहरा चीरा रक्तवाहनियो एव वात नाडियो को बचाते हुए लगावें। पश्चात् स्तनचूषक आदि की सहायता से रक्त निकालें। फिर एक और गहरा चीरा शोथ के किनारे तक लगावें। यदि इस क्रिया के पश्चात् भी शोथ आ जाय तो शोथ के किनारे तक १ और चीरा लगावें।

अगुली के दंश मे, जिस अगुली के सर्प-दंश हुआ हो उसका अभ्युच्छेदन (Amputation रोगी स्वय करे अथवा वैद्य करे।

समन्तत सिरा दंशाद्विध्येत्तु कुशलो भिषक्।
रक्ते निर्ह्रियमाणेतु कृत्स्न निर्ह्रियते विषम ॥
तस्माद्विस्रावयेद्रक्त सा ह्यस्य परमा क्रिया। सु. क. ५।१४ व १५

इसमे दो बध लगाये जाते हैं। पहला बध इतना कस कर बाधा जाता है कि धमनी-गत रक्तप्रवाह पूर्णतः बन्द हो जाय। इसके नीचे द्वितीय बध लगाया जाता है जो सिरा व लसीकावाहिनियो के रक्त व लसीका-प्रवाह को बद करता है। तदनु सर्प काटे हुए स्थान से रक्त ले जाने वाली सिरा को वेध कर ऊपर वाला बध बीच बीच मे १–२ मिनट के लिये शिथिल कर दिया जाता है जिससे धमनीय प्रवाह पुनः प्रारम्भ हो जाय। इस प्रकार ५० से ७५ तोला रक्त निकाला जाता है।

इस क्रिया के पश्चात् दहातु अतिलोहकीय (Petassium Pormenganate) को दंश स्थान पर खूब मले और ५ प्रतिशत इसके घोल से दंश स्थान का प्रक्षालन करे। २ प्रति-शत इसका घोल सूची द्वारा व पिचकारी द्वारा दंश स्थान के भीतर तथा अडौस-पडौस में १।२ इन्च गहरा प्रविष्ट करे। इसी प्रकार श्वेतन क्षोद (Bleaching Powder) का प्रयोग दहातु अतिलोहकीय के स्थान पर होता है। सुवर्ण नीरेय (Gold Chloride) का १ से ५ प्रतिशत घोल भी इसी प्रकार उपयोग मे लाया जाता है। सुवर्ण नीरेय एवं दहातु अतिलोह-कीय द्वारा क्षत जो होते हैं वे अति विलम्ब से भरते हैं किन्तु श्वेतन क्षोद से यह उपद्रव नही होता। तिरियाक नामक औषधि (Tiriyaq) दंश स्थान पर डाल कर कपडे की इससे भीगी पट्टी व्रण पर बांधी जाती है।

प्रतिगरल, सूची से दंश के आसपास प्रविष्ट किया जाता है। (Lyophilsed Polyva-lent Anti Snake Venom Serum) नामक प्रति गरल लसिका का उपयोग प्रायः सभी सविष सर्पों के लिए उत्तम है। परिश्रुतवारि (distilled water) २० सीसी मे एक मात्रा घोल कर दी जाती है। दूसरी मात्रा २० सीसी की प्रकोपानुसार २ घण्टे से व तीसरी ६ घंटे से दी जाती है जब तक कि विष-लक्षण निवृत्त न हो जाय।

उपद्रवो की चिकित्सा पूर्वोक्त प्रकार से करनी चाहिये।

वृश्चिक दंश चिकित्सा

वृश्चिक काटे हुए स्थान के कुछ ऊपर बंधन बांधे व हल्का चीरा लगा कर दहातु अतिलोहकीय के घोल से प्रक्षालन करें। काटने के स्थान पर प्राचेतनी (Cocaine) या नवाचेतनी (Novocaine) को सूची द्वारा प्रविष्ट करते हैं। यदि सूचीवेध सम्भव न हो तो नीबू के सत्व का चूर्ण उस स्थान पर रख कर पानी की २ बूंदें डाली जाती हैं जिससे वहां एक धीमी सी आवाज होकर शूल नष्ट हो जाता है। वत्सनाभ, दंतीबीज, चित्रकमूल, पुनर्नवा मे से किसी एक को पानी मे पीस कर लेप किया जाता है। प्याज पीस कर लेप करते हैं।

कीट पतंग दंश चिकित्सा

डंक निकाल कर उस स्थान पर जम्बुकी विलयन (Tincture Iodine) लगावें। फिर गरम सेक करे अथवा एलुवा का लेप लगावें।

अलर्क विष चिकित्सा

यह चिकित्सा संचय काल मे ही व तुरत की जानी चाहिये। कुत्ते के दंश स्थान को चारो ओर से निपीडन द्वारा पर्याप्त मात्रा मे रक्त मोक्षण कराया जाय। फिर रसकर्पूर के घोल से धोवें व स्थान को भूमिक अम्ल (Nitric Acid) से जला दें।

कसारी एक को गुड मे लपेट कर खिलाने से अलर्क विष नष्ट होता है। जल मे रोगी को मुंह नही देखने दिया जाय।

प्रति-आलर्क (Anti Rabies) सूचीवेध इसको सफल चिकित्सा मानी जाती है।

मकडी के विष मे हल्दी, दारुहल्दी, मजीठ व नाग केशर का समभाग मे किया चूर्ण शीतल जल मे लेप करना हितावह है। सीसक अवनेग (Lead Lotion) की पट्टी लाभकारी है।

गरविष चिकित्सा

> सूक्ष्म ताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्रं हृद्विशोधनम्।
> शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत्॥ च चि २३।२३८

हृदय-शोधनार्थं ताम्र-प्रयोग मधु के साथ व तदनु सुवर्ण प्रयोग गर विष-शमनार्थं उत्तम है।

> विरुद्धाध्यशन क्रोध क्षुद्भयायास मैथुनम्।
> वर्जयेद्विषमुक्तोऽपि दिवा स्वप्न विशेषत॥ च चि २३।२२७

विष के हट जाने के पश्चात् भी रोगी जब तक पूर्ण स्वस्थ न हो जाय तब तक विरुद्ध भोजन, अध्यशन, क्रोध, भूख लगने पर भी न खाना, भय, आयास, मैथुन तथा दिन मे सोना त्याग दे।

अब हम कतिपय प्रसिद्ध विषो की जानकारी देते हुए विश्राम लेंगे।

दाहक विष

विष का नाम	घातक मात्रा	घातक काल	निदान	चिकित्सा
खनिज अम्ल (Mineral Acid)	सान्द्र या सकेंद्रिकावस्था मे स्वल्प भी	तुरन्त स्पर्श के बाद जलन होती है व कुछ घटो बाद कण्ठ में झटके के साथ या शोफ से मृत्यु हो जाती है। अगर २४ घटे मे मृत्यु नही होती तो सप्ताहान्त मृत्यु होती है। जिसका कारण पूयिकप्रचूषण होता है। सप्ताहान्त के बाद मृत्यु महीनो बाद या कुछ साल बाद भूखे रहने से होती है।	मुह मे जलन के साथ दर्द होता है। जलन मुह, गले और अंतरग गले के हिस्से मे होती है। ज्यादा मात्रा मे विष के खा लेने से पेट व खाने की नलिका बुरी तरह से सक्षारित हो जाते हैं। इस दशा मे वमन नही हो पाता क्यू कि पेट की आतें इसके अन्दर मौजूद पदार्थ को बाहर फैंकने मे असमर्थ रहती हैं। आवाज भारी, अप्रिय एव अस्पष्ट होजाती है। स्वासोच्छ्वास भी मुश्किल से होता है। आखें फट जाती है व डूबीसी लगती है चमडी ठडी रहती है, रक्त-	इसमे वमन कही करवाना चाहिये। अम्ल की सकेन्द्रिता को नष्ट करने के उपाय करने चाहियें। इसके लिए रोगी को दुग्ध मे मेग्नेशियम ऑक्साइड या केल्शियम आक्साइड या एल्मूनियम हाइड्रोक्साइड (कोई एक चार चम्मच दुग्ध १ पिंट) देवें। अगर स्वास के लेने मे कुछ कठिनाई आवे तो कृतिम स्वास दिया जाना श्रेयस्कर है। दर्द से छुटकारा दिलाने के लिए अमोली का अन्तःक्षेप दिया जाना अच्छा रहता है। इसमे चन्द्रक्षार या किसी क्षारीय अंगारीय को नही देना चाहियें अन्यथा पेट की नली का निच्छिद्रण हो जाने का डर रहता है। अडे की सफेद जर्दी, पिघला हुआ घी, जौ का पानी, साबुन का पानी तुरन्त देनें से फायदा होता है। अगर अम्ल आख मे किसी कोमल अंग पर गिर गया है तो ३० मिनट तक पानी या नमक मिश्रित पानी से धोना लाभकारी रहता है।

			चाप काफी कम हो जाता है, नाडी की गति तीव्र लेकिन निर्बल होती है। लेकिन मृत्युपर्यन्त दिमाग बराबर कार्य करता है।	
गुरुवाम्ल (काचर का तेल) H_2SO_4 Sulphuric acid	सकेन्द्रिक १ शाए	१८ से २४ घण्टे	अगर अत्यंत सकेन्द्रिक अम्ल हुआ तो थोडीसी मात्रा से ही दम घुटकर मृत्यु होजाती है। विष खाये हुये व्यक्ति के मुख व गले मे फफोले पड जाते हैं व ऐसा दिखता है जैसे उसका अग जल गया हो।	सामान्य चिकित्सा में देखिये।
भूयिक अम्ल HNO_3 Nitric acid	सकेन्द्रिक २ शाए	१२ से २४ घण्टे	होठ, जिह्वा, श्लेष्मल कला ढीली पड जाती है और सफेद हो जाते हैं। कुछ देर बाद ये पीले होजाते है। दात भी पीले पड जाते हैं। और दूसरी चमडी व कपडे जो इस अम्ल का स्पर्श पाते है। पीले	,, ,,

			पड जाते हैं । अगर ऐमोनिया का घोल इन पर डाला जावे तो ये पीले धब्बे नारगी रग के हो जाते हैं । जबडो का जुड जाना व सशा नाश होना इसके विशेष रूप है ।	
उदनीरिक अम्ल HCl Hydro Chloric acid व विझीयिक अम्ल Muratic Acid	सर्कोन्द्रिक ४ धाण	१८ से ३० घण्टे	यह अम्ल उपरोक्त अम्लो से कम कार्यशील है अत: इसके लक्षण व स्वरूप स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होते । न तो ये चमडी पर धब्बे डालता है नही कपडो पर। गहरे रग के कपडो पर यह रक्तिम भूरे रग के धब्बे डालता है । इससे विषाक्त रोगी के होठो का पक्षाघात हो जाता है। यह इसका विशेष रूप है ।	सामान्य चिकित्सा मे देखिये ।
उदतरस्विक अम्ल (H F) Hydro Fluoric acid	४ धाण	कुछ मिनट से २ घण्टे तक	जलन, वमन, समयसन्नता इसके लक्षण है । इससे बने जलन के घाव मुश्किल से भरते है । इससे विषाक्त रोगी के पेट मे दर्द, वमन व उदरनलिका का निच्छिन्दरण हो जाता है । रोगी	दुग्ध व अरण्डी का तेल विरेचक के रूप मे देने चाहिए । चमडो के घाव धोने के लिये अम्ल के गिरने के तुरन्त बाद सोडे के घोल से ग्रसित अग को धोना चाहिये ।

			चाय काफी कम हो जाता है, नाडी की गति तीव्र लेकिन निर्बल होती है। लेकिन मृत्युपर्यन्त दिमाग बराबर कार्य करता है।	
गुरयाम्ल (काचर का तेल) H_2SO_4 Sulphuric acid	सर्केन्द्रिक १ धारा	१८ से २४ घण्टे	अगर अत्यंत सर्केन्द्रिक अम्ल हुआ तो थोडीसी मात्रा से ही दम घुटकर मृत्यु होजाती है। विष खाये हुये व्यक्ति के मुख व गले मे फफोले पड जाते हैं व ऐसा दिखता है जैसे उसका अग जल गया हो।	सामान्य चिकित्सा मे देखिये।
भूयिक अम्ल HNO_3 Nitric acid	सर्केन्द्रिक २ धारा	१२ से २४ घण्टे	होठ, जिह्वा, श्लेष्मल कला ढीली पड जाती है और सफेद हो जाते है। कुछ देर बाद ये पीले होजाते है। दांत भी पीले पड जाते है। और दूसरी चमडी व कपडे जो इस अम्ल का स्पर्श पाते है। पीले	,, ,,

			पड जाते हैं । अगर ऐमोनिया का घोल इन पर डाला जावें तो ये पीले धब्बे नारगी रग के हो जाते हैं । जबडो का जुड जाना व सज्ञा नाश होना इसके विशेष रूप है ।	
उदनीरिक अम्ल HCl Hydro Chloric acid व विडीयिक अम्ल Muratic Acid	सर्कन्द्रिक ४ डाम	१८ से ३० घण्टे	यह अम्ल उपरोक्त अम्लो से कम कार्यशील है अतः इसके लक्षण व स्वरूप स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होते । न तो ये चमडी पर धब्बे डालता है नही कपडो पर। गहरे रग के कपडो पर यह रक्तिम भूरे रग के धब्बे डालता है । इससे विषाक्त रोगी के होठो का पक्षाघात हो जाता है । यह इसका विशेष रूप है ।	सामान्य चिकित्सा मे देखिये ।
उदतरस्विक अम्ल (H F) Hydro Fluoric acid	४ डाम	कुछ मिनट से २ घण्टे तक	जलन, वमन, समवसन्नता इसके लक्षण है । इससे बने जलन के घाव मुश्किल से भरते है । इससे विषाक्त रोगी के पेट मे दर्द, वमन व उदरनलिका का नि-च्छिन्द्रण हो जाता हैं । रोगी	दुग्ध व अरण्डी का तेल विरेचक के रूप मे देने चाहिए । चमडो के घाव धोने के लिये अम्ल के गिरने के तुरन्त बाद सोडे के घोल से प्रसित अग को धोना चाहिये ।

			का मस्तिष्क व वृक्क क्षति ग्रस्त हो जाते है। कण्ठ द्वार के बन्द होने से रोगी की मृत्यु हो जाती है।	
तांम्रकाम्ल Oxalic acid COOH]	४ माशा	१ से २ घण्टे	तृषा, शूल, जलन, अम्लीय-स्वाद ये इसके लक्षण है। ये सब, मुह, गले और पेट में महसूस होते है। शीघ्र ही वमन होने लगता है। और मृत्यु-पर्यन्त होता रहता है। वमन किया हुआ पदार्थ हरित-भूरा या काला (कॉफी से मिलता हुआ) होता है। कभी कभी वमन नही भी होता। बलात्मलोत्सर्जन की प्रवृत्ति (Tenesmus) होती है। लेकिन मलोत्सर्जन नही होता, कम होता है। अग सुसुप्त होते हैं। नाडी की गति धीमी, निर्बल व व्याकुल होती है। श्वास त्वरित व उखडा हुआ होता है। समावसन्नावस्था अधिमूर्च्छावस्था मे बदल जाती है व अन्त मे मृत्यु हो जाती है।	चाक, अण्डे की सफेद जर्दी, दुग्ध के साथ दें। चूने का पानी सर्वोत्तम औषध मानी गई है। रोगी को क्षार (तीव्र) व ज्यादा पानी न दें। अरण्डी का तेल विरेचक के रूप मे दें।

प्रागविक अम्ल Carbolic Acid OH	४ ग्राम	३ से ४ घण्टे	संकेन्द्रितावस्था में खाये जाने पर शीघ्र ही खाने के बाद मुह मे जलन पैदा करता है। मुह, गले व पेट मे जलन व वमन होता है। वमन फेनीय साम पदार्थ निकलता है। वमन के कुछ देर बाद भ्रम होता है व समावसन्नावस्था को रोगी प्राप्त होता है। समावसन्नावस्था कुछ ही देर मे अधिमूर्छावस्था मे बदल जाती है। चेहरा पीला या श्याम वर्ण का हो जाता है। पुतलिया सिकुड जाती है। तापक्रम अध-सामान्य हो जाता है व शरीर की त्वचा ठडी व क्लिन्न: हो जाती है, मुह कडा पड जाता हैं व सफेद हो जाता हैं। नाडी की गति लघु व दुर्बल होती है। श्वास धीमे २ आता हैं। श्वास मे प्रागविकाम्ल की गध होती हैं। जबडी का जुडना व शरीर का एकदम सिकुडना भी सम्भव हैं। मृत्यु श्वशनीय प्रकरण केन्द्र के पक्षाघात से होती हैं।	साधारण वमन करवाने वाले पदार्थ वमन करवाने मे असमर्थ रहते हैं क्योंकि प्रागविक अम्ल उदर नली को सज्ञाहीन कर देता है। अत॰ प्रथम उदर को उदर नलिका से खूब मात्रा मे कोष्ण जल से धोना चाहिये। पानी मे कुछ साबुन का घोल अथवा माधुरी (Glycerine) मिला कर धोना चाहिये। जब धोये हुए जल मे एक खास किस्म की बू का आना बन्द हो जावे तब ५ तोला अरडी का तेल रोगी को देना चाहिए। सुषव इसमे नही देना चाहिए। लेकिन त्वचा पर इसके कारण (Alcobal) बने घावो को धोकर दक्षुल सुषव (C_2H_5OH) और अरडी का तेल लगाना अच्छा रहता है।

शुक्तिक अम्ल CH_3COOH Acetic Acid	१ धाण	१ से ४८ घंटे	शरीर का जो कोई भाग इससे छूता है नर्म हो जाता है व पीला मिश्रित सफेद रंग का हो जाता है। मुह से पेट तक तीव्र शूल होता है। वमन, निगलने मे कष्ट, आक्षेप व समावसन्नता इसके अन्य लक्षण हैं, इससे स्वास मे रुकावट भी होती देखी गई है। काल भेद इसका निरन्तर स्वरूप है।	चूने का पानी देकर अम्लत्व दूर करना चाहिए, फिर दूध पिलाना चाहिए, दर्द से छुटकारा दिलाने के लिए अमीली का अतक्षेप देना चाहिये।
न्यासविक अम्ल (Tastaric acid) CHOH COOH | CHOH COOH	¼ से १ तोला	७ से ९ दिन में	इसकी प्रकृति क्षोभक ज्यादा है बनिस्पत सक्षारण के। मुह, गले व पेट मे जलन होती है व वमन होती है। थकावट से मृत्यु सम्भावित है। कभी कभी आक्षेप भी हो सकता है।	चूने का पानी अम्लत्व दूर करने के लिये दें। विरेचन अरडी के तेल से करें व अमीली अन्त क्षेप से दर्द से छुटकारा दिलावें। चन्द्रक्षार १ से २ रत्ती दें।
कास्टिक पोटास KOH दहसर्जि दहविक्षार (Sodium Hydroxide or Caustic Soda) NaoH	१¼ माशा ,, ,, ,, ,, ,,	२४ घंटे	जिह्वा का स्वाद कटु, स्निग्ध हो जाता है। वमन किया हुआ पदार्थ प्रबल क्षारीय होता है। जमीन पर पड़ने के बाद बुलबुले पैदा नही करता दस्त आना इनका विशेष	प्रथम क्षारत्व को दूर करने के लिए नीम्बू का रस या कोई और हल्का प्राकृतिक अम्ल देना चाहिए फिर उदर को उदर नालिका से धोना चाहिए। धोने के बाद घृत, अण्डे की सफेद जर्दी देनी चाहिए। बर्फ के टुकड़े देना भी अच्छा रहता है। अमीला का उपयोग दर्दशमन के लिए किया जा सकता है।

यवक्षार K_2Co_3	,,		लक्षण है। दस्त के वक्त दर्द होता है। मल मे खून व आव निकलते है। इसमें उदर व मुह मे जलन होती है और बाद मे यकृत के क्षत होने का भय रहता है। दम घुटने से भी मृत्यु हो सकती है।	
सज्जीक्षार Kta_2 Co_3	२½ माशा			
चूना[$Ca(OH)_2$] Calcium Hydroxide	बहुत ज्यादा खाने पर	२४ घंटे	मुह, पेट, गले मे जलन, वमन, उबाक, तृषा, ठण्डी व गीली चमडी, तीव्र, निर्बल नाडी, समासन्नावस्था और बाद मे मृत्यु।	,,
क्षोभक विष				
फेनाश्म (Arsenic)	२ ग्राम	१२ घंटे से ४८ घंटे	विषखाने के आधे घटे बाद रोगी को ग्लानी व अवसाद महसूस होते हैं व उबाक आती है। फिर गले मे व पेट मे जलन होती है। निरन्तर तृषा व वमन इसके मूल लक्षण है। पहले वमन मे उदर मे स्थित पदार्थ निकलते है बाद मे कुछ खून व आम निकलता है। इसका रग गहरा-भूरा, पीला हरा व आसमानी होता है। ज्यादा मात्रा मे बिना कुछ लक्षण दिखाए मृत्यु हो जाती है।	प्रथम कार्य इस विष के शमन के लिए विरेचन है। लेकिन अम्लीय विरेचक काम मे नही लेने चाहिए। विरेचन के बाद शुद्ध घृत पिलावें। जौ का पानी पिलावें। प्यास बुझाने को बर्फ के टुकडे दें। शरीर की गर्मी गर्म पानी की थेलियो के सेक से स्थिर रखने का प्रयास करना चाहिए। हृदय को सबल करने की औषधि देना भी उपयोगी सिद्ध होगा।

भास्व्य Phosphorus (वात नाडी प्रभावक)	½ से १ रत्ती	४ घण्टे से ७ दिन	शीर्षगत प्रभाव मूर्च्छा व मृत्यु दस्त हैजा की अवस्था के समान आते है।	साधारण चिकित्सा प्रकरण देखे।
Potassium cyanide KCN	५० मि०ग्रा०	तत्काल मृत्यु	जिस अग मे घाव हो वहा पर यह लग जाए तो उस अग को काटकर वहा का खून निकाल देना चाहिए रक्त मे एक बार यह मिल गया तो मृत्यु निश्चित है।	नही मालूम
घासलेट, मिट्टी का तेल, किरॉसीन	१० मि० ली० से २५० मि० ली०	४ घटे से ४८ घटे	उबाक, वमन, खासी, ज्वर, कमजोरी, अवसाद, धीमा व उच्छ्वास, मूर्च्छा, अधिमूर्च्छा व इसके बाद मृत्यु यह इसके रूप हैं। मृत्यु का कारण श्वासावरुद्ध होना है। पहले आंखे सिकुडती है बाद मे अधिमूर्च्छावस्था मे फैल जाती है।	उदर को धोना चाहिए। धोने के लिए चन्द्रक्षार मिश्रित कोष्ण पानी काम मे लेना चाहिए। अगर श्वास रुकने लगे तो कृत्रिम श्वास देना चाहिए। शेष साधारण चिकित्सानुसार
पारद व उसके योगिक मर्क्यूरिक क्लोराइड	३ से ५ मा०	३ से ५ दिन	आधा घटे बाद लक्षण दिखाइ देते है। गले मे अवरुद्धता, स्वर कर्कश, श्वासावरुद्धता, मुख, जिह्वा व मसूडे क्षरित हो जाते है व उन पर भस्मांगश्वेत आवरण देखा जाता है। गरम जलन मुह मे महसूस होती है जो गले व पेट तक फैलती जाती	अगर स्वतः वमन नही हो रहा हो तो कोई वामक दे कर उदर को धोना चाहिए। धोने के लिए आजातु प्रागारिक ($MgCo_3$) मिश्रित गरम पानी काम मे लेना चाहिए। अण्डे का सफेद भाग व वनस्पति आश्लेष (Vegitabla gluten) + माथित तक्र दीर्घ मात्रा मे

			है। नाड़ी की गति लघु, तीव्र व व्याकुल होती है लक्षण सभी रोगियो मे एक से नही होते। चाहे सभी ने समान मात्रा ली हो। यह ध्यान देने योग्य बात है।	देना हितकारी होता है। इसके देने के बाद प्रबल विरेचक देना चाहिए। यामनक पेय देना भी लाभप्रद है। ४ चम्मच प्राण्याङ्गार एक पिन्ट पानी मे मिलाकर पिलाने से लाभ होता है। आजानु शुल्बीय मिलाने से और भी ज्यादा फायदा होता है। श्वक का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।
ताम्र व उसके लवण	अनिश्चित	१ से ३ दिन तक	विष खाने के १५ या २० घंटे बाद मुह से लार गिरने लगते है, उदर में जलन, तृषा, उबाक, वमन इसके लक्षण है। वमन का पदार्थ आसमानी या हरा होता है। अगो का पूर्ण पक्षाघात हो जाता है। इसके बाद डूबा २ सा लगता है। समासन्नता आ जाती है फिर मूर्छा जो कि चेतनावस्था मे कभी नही बदलती आ जाती है व मृत्यु हो जाती है।	विरेचक की जरुरत नही। दूध व अण्डा खूब खिलावें। दर्द से छुटकारा पाने के लिए अमीली का अंतक्षेप दें।
कांच का चूरा	अज्ञात	अनिश्चित	यान्त्रिक अभिचूयण से निश्छिद्रीकरण हो जाता है रोगी को झटका लगता है व मृत्यु हो जाती है।	खाने के लिए पहले चावल दें फिर वामक और विरेचक दोनो देकर उदर शुद्धि करें। समासन्नावस्था का पूर्ण सावधानी से उपचार करें।

(वातनाड़ी प्रभावक) दशु (Ether)	४ ग्राम	६ से ८ घण्टे	गले मे जलन, पेट मे जलन, वमन, आखें धुधली, शराब के नशे मे हो जैसी हालत, खा लेने के थोड़ी देर बाद ही अचेतनावस्था को प्राप्त हो जाता है। फिर मृत्यु हो जाती है।	रोगी को प्राण वायु की अत्यन्त आवश्यकता होती है अतः दी जानी चाहिए ताकि उसका हृदय कार्य करना बन्द न कर दे।
नीरव म्रल (Chloroform)	५% स्वास वायु मे	४ से ५ दिन	प्रथमावस्था मे रोगी का शरीर सज्ञाशून्य हो जाता है। रोगी अट-शट बकने लगता है। नाडी की गति तीव्र हो जाती है व रोगी को सारे शरीर मे जलन महसूस होती है। यह अवस्था सिर्फ ४ मिनट तक रहती है फिर रोगी की आखें निद्रावस्था मे हो उस तरह बद हो जाती हैं। यह द्वितीयावस्था है। इस अवस्था मे रोगी ४० से ४५ मिनट तक रहता है। अगर स्वास के साथ नीरवम्रल का देना बद कर दिया गया है तो। नही तो रोगी के शरीर का पक्षाघात होना चालू हो जाता है व हृदय के पक्षाघात से या जिह्वा के दबाव के कारण श्वासावरुद्धता से रोगी की मृत्यु हो जाती है।	नीरवम्रल की प्रतिशत घटाकर शून्य कर देनी चाहिये। सिर को नीचा करके जीह्वा को खीच कर बाहर निकालना चाहिये व कृत्रिम श्वास देकर रोगी के श्वास को रुकने से बचाना चाहिये व जरूरत पडे तो प्राण वायु भी देना चाहिये।

नीरवम्ल Chloroform) का पीना	अनिश्चित	५ – ६ घण्टे	मुह, गले व पेट मे जलन । जलन के तुरन्त बाद वमन व विरेचन होता है । वमन मे खून निकलता है । फिर बेहोशी आती है व रोगी अचेत हो जाता है । हृदय के पक्षाघात से या श्वसन प्रणाली के पक्षाघात से मृत्यु हो जाती है ।	गरम पानी से उदर प्रक्षालन करना चाहिये उसके बाद भर पेट दूध पिलावें और प्रबल विरेचन देवें । फिर दुबारा उदर प्रक्षालन करे । इसके बाद सुरा पिलावें ।
आंगार द्विजारेय (CO_2) Carbon dioxide	५% २५-३०% श्वास मे मृत्युकारक ६०-७० प्रतिशत से तत्काल मृत्यु होती है ।	अनिश्चित	सिर मे भारीपन, भ्रम, कानो मे भिनभिनाहट की आवाज, पेशियो मे कमजोरी महसूस होती है । दम घुटकर मृत्यु हो जाती है ।	रोगी को शुद्ध हवा मे ले आना चाहिये । प्राण वायु देना चाहिये । श्वास के रुकने पर कृत्रिम श्वांस देना चाहिये ।
आगार एक जारेय (CO)	६० से ९० प्रतिशत के सर्केन्द्रियता मे वायु के १ प्रतिशत श्वास लेने से	१ से ५ मिनट मे मृत्यु होती है ।	रासायनिक प्रक्रिया के कारण मृत्यु हो जाती है ।	रोगी को स्वच्छ वायु देवें व कृत्रिम श्वास दें । खुली हवा मे रखें ।

वानस्पतिक विष

क्र स	विष नाम	मारक मात्रा	मारक काल	मृत्यु का क्रम व कारण
१	वत्सनाभ (Aconite)	$1\frac{1}{2}$ से ३ माशा (मूल चूर्ण) व टिंचर एकोनाइट की ६० बूद	३ से ४ घटे	इसे वातनाडी प्रभावक वर्ग का हृद् प्रभावक विष माना गया है। मुख कण्ठ, जिह्वादि सम्पर्क मे आने वाले सभी भागो मे झन झनाहट, दाह, लाला स्राव, शून्यता, वमन. उदर शूल नाडी दुर्बल मन्द, पुतलियो का कभी विस्कार कभी सकोच, श्वास क्रिया में कठिनता, श्वास प्रश्वासगति मदता, त्वचा मे कम्प, आक्षेप, श्वासावरोध, हृदयावसाद व मृत्यु।
२	अहिफेन (Opium) (निद्रालु) वातनाडी प्रभावक विष	२ से $2\frac{1}{2}$ रत्ती	८ से १२ घटे	श्वासावरोध, दम घुटना व मृत्यु।
	(क) प्रमीली (Morphine)	$1\frac{1}{2}$ से २ रत्ती		
	(ख) मीली (Codeine)	$\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ रत्ती		
३	गुञ्जा (Abrus Precatoreus (क्षोभक विष)	१ से २ रत्ती	३ से ४ दिन	हृदय का पक्षाघात व मृत्यु
४	जयपाल (croton seeds) (क्षोभक विष)	तेल २ से ३ बूद मृत्यु बीज ४ नग	४ से ६ घटे	विजलीयन (Dehydration) अवसाद व
५	कनक (Dhatura)	अनिश्चित १ पक्का फल या ५-७ बीजो का चूर्ण	१२ से २४ घटे	श्वास, हृदयावरोध व मृत्यु

६ विजया (Canna bis-Indica)	अनिश्चित या १ से ३ माशा	१२ घंटे	श्वासारोध व मृत्यु
७ भल्लातक (Marking Nut)	६ माशा से १½ तोला	१२ से २४ घंटे	प्रायः अघातक (मृत्यु नहीं होती)
८ कुचीला (Nux Vomica)	१५ से २५ रत्ती	५ मि. से ५ घंटे तक	आक्षेप, पुतली फैलना, जबाड़े जकड़ना व मृत्यु
९ धान्यचक् (Ergot)	अनिश्चित	२४ घंटे	दम घुटना व मृत्यु
१० एरण्ड (Caster Oil Seed)	तैल ३ से ५ तोला सत्व ⅛ रत्ती बीज १० से २० नग	८ से १२ घण्टे	विजलीयन (debydration) अवसाद व मृत्यु
११ अर्क (Callotropis Gigantea)	अनिश्चित्	½ से ८ घण्टे	अवसाद मृत्यु
१२ चित्रक रक्त (Plumbago Rosea)	"		प्राय गर्भ पात के लिये प्रयुक्त होता है। जलन, दम घुटना, व श्वासावरोध व मृत्यु
१३ लाल मिरच (Capsicum Annum)	अनिश्चित		प्राय अमृत्युकारी
१४ कनेर (Oleander)	श्वेत व पीत कनेर मूल १¼ तोला कराबिन १½ रत्ती श्वेत कनेर बीज ३ नग पिसे हुए पीतकनेर बीज ८ से १० तक	१० से १२ घण्टे	निगलने व बोलने में कष्ट, अत्यधिक लाला स्राव, त्वरित श्वासक्रिया, विस्फारित नेत्र पेशियो मे आक्षेप, तन्द्रा मूर्च्छा व मृत्यु
१५ इन्द्रायण (Colocynth)	३ से ६ माशा	३-४ दिन	वमन-विरेचन शीतलता मदनाडी, हृदयावसार व मृत्यु
१६ कलिहारी (Gloriosa Superba)	६ से ८ रत्ती	१२ घण्टे	वमन विरेचन, आक्षेप अवसाद व हृदयावरोध, स्वेद व मृत्यु

१७ कुमारिति (एलुवा) (Aloes)	३ से ६ माशा	१२ से ३६ घण्टे	रक्तातिसार अवसाद व मृत्यु
१८ काम्बोज (रेवचीणी का सीरा) (Gamboge)	१ से ३ माशा	१२ से ३६ घण्टे	,, ,,
१९ तिधारा थूहर (Euphorbium)	१ चम्मच क्षीर या स्वरस	३ दिन	क्षोभ, अवसाद, मृत्यु
२० रतनजोत (Jatropha)	तैल की १२ से १५ बूंद या ५ बीज	१ से ३ दिन	वमन-विरेचन अवसाद व मृत्यु
२१ सत्यानाशी (Argemone Mexicana)	तैल ३० से ६० बूंद बीज ६ से ९ माशा	१ से ३ दिन	श्वास कृच्छ्रता यकृतवसाद, मृत्यु
२२ सुखदर्शन (Crinum Deflexum)	१ से २ तोला	१ से ३ दिन	क्षोभ, अवसाद, मृत्यु
२३ निशोथ (Ipomoea Turpethum)	$1\frac{1}{2}$ से ९ माशा	अनिश्चित	क्षोभ, अवसाद, मृत्यु
२४ तम्बाखू (Lobelia Inflata)	२ से ६ माशा	३ से ३६ घण्टे	पेशीय सकोच, सज्ञानाश, अवसाद, मृत्यु
२५ सूची वीणा घटा (Digitalis Purpurea)	३ से ६ माशा	$\frac{3}{4}$ से २४ घण्टे	सन्निपात, हृदयावरोध, मृत्यु
२६ स्वेदन पत्र (Pilocarpus Microphyllus)	४ से ६ रत्ती	१५ मिनट से १० घंटे	श्वास कृच्छ्रता, आक्षेप, हृदयावसाद, मृत्यु
२७ विहुपुपा (Savin)	तैल १ से ४ बूंद पत्ते २ से ५ रत्ती	४ घण्टे से ३ दिन	श्वास लेने मे कठिनता, मूर्च्छावस्था, अवसाद, मृत्यु
२८ आकाश वेल (Cuscuta Reflexa)	१ से २ तोला	१ दिन	(गर्भपातार्थ प्रयोग) अवसाद, मृत्यु

२९ तालीश पत्र (Taxus Baccata)	१ चम्मच भरे पत्ते	४ से ८ घण्टे	नाडी क्षीणता, अवसाद, आक्षेप, सन्निपात, श्वास व हृदयावसाद, मृत्यु
३० काली कुटकी (Helleborus Niger)	अनिश्चित	अनिश्चित	रक्तचाप न्यूनता, स्वेदाधिक्य आक्षेप, सज्ञानाश, मृत्यु
३१ पारसीक यवानी (Hyoscyamus Niger)	१ से ४ रत्ती	२४ घण्टे	पक्षाघात, आक्षेप, अवसाद, मृत्यु
३२ सर्पिमाष (Calabar Bean)	६ से १० बीज	अनिश्चित	दम घुटना, मृत्यु
३३ हिरण्यतुल्ययहि (Colchicum)	$\frac{१}{१०}$ रत्ती	३० घण्टे	निगलने मे कठिनाई, तृषा, आक्षेप, अवसाद, मृत्यु
३४ काकमारी (Cocculus Subcrosus)	३ से ६ माशा	१ से ३ दिन	स्वेदाधिक्य, सज्ञानाश, श्वासावरोध, मृत्यु
३५ काला दाना (Pharbits Seeds)	बीज २ से ४ माशा सत्व १ से ४ रत्ती	अनिश्चित	क्षोभ, अवसाद मृत्यु
३६ बेहडा (Terminalia Bellerica)	१ से २ तोला	२ से ३ दिन	शिरा शूल सज्ञानाश, श्वास कृच्छ्रता, आक्षेप मृत्यु
३७ अरीठा (Sapindas Trifoliatus)	१० से ३० रत्ती	अनिश्चित	हृदयावसाद, मृत्यु
३८ जदवार (Delphinium Staphi Sagria)	२ से ३ माशा	८ घण्टे	वमन, अतिसार, स्वेदाधिक्य, आक्षेप, सज्ञानाश, मृत्यु
३९ विष तिन्दुकी सत्व (Strychnine)	$\frac{१}{४}$ से १ रत्ती	१ से ५ घण्टे	आक्षेप, हृदयावसाद, दम घुटना, मृत्यु
४० प्राचेतनी (Cocaine)	१ से १० रत्ती	५ मिनट से ३ घटे	श्वास कृच्छ्रता, अवसाद, मृत्यु

४१	सुदाब (Ruta Graveolcus)	तैल ५ से ६ बूंद	अनिश्चित	क्षोभ, अवसाद, मृत्यु
४२	सहीजना (Moringa Pterygo Sperma)	¼ से १ तोला	१ से ३ दिन	रक्तचाप वृद्धि, अवसाद, मृत्यु
४३	कर्पूर (Camphor)	६ से १६ रत्ती	४ घण्टे से ३ दिन	आक्षेप, सन्निपात संज्ञानाश, अवसाद, मृत्यु
४४	शकमुनिया (Scammony)	२ से ६ रत्ती	अनिश्चित	शोथ, अवसाद, मृत्यु
४५	पीतजातिमूल (Gelsemium)	१ से २रत्ती चूर्ण १२ बूंद तरल सत्व	३–४ घंटे	आक्षेप, श्वासावरोध मृत्यु
४६	करमर्दफला (Atropa Belladona)	३ से ९ माशा	३ से २४ घंटे	स्वेदाधिक्य, उन्माद, अवसाद, मृत्यु
४७	जुलापा (Jalap)	२ से ६ माशा	अनिश्चित	अवसाद, मृत्यु
४८	वनपलाण्डु (Urginea Scilla) या (Urginea Indica)	१२ से ३० रत्ती	२ दिन	अतिसार, वमन, आमाशय व आन्त्र में दाह, अवसाद, मृत्यु
४९	सर्पगन्धा (Rauwolfia)	३ माशा से ३ तोला	२ दिन	स्वेदाधिक्य, अवसाद, श्वासावरोध, मृत्यु
५०	अचेतन (Coca)	१ से ३ माशा	१ से ६ घंटे	श्वासावरोधन, हृद्गत्यवरोध, मृत्यु
५१	सर्पबूटी (मीना)	१ से ३ माशा	तत्काल	अवसाद, आक्षेप, मृत्यु
५२	नरसल (Lobelia Nicotianaefotia)	१ से ३ माशा	२ से ६ घंटे	स्वेदाधिक्य, जलन्यूनता, अवसाद, मृत्यु
५३	विष गर्जर (Conium)	१ रत्ती चूर्ण या १० से १५ बूंद सत्व	५ मिनट से ४ घंटे	आक्षेप अवसाद, मृत्यु
५४	बादाम कटु (Almond)		अनिश्चित	प्रायः अघातक

यान्त्रिक क्षोभक विष

१	काच चूर्ण	अनिश्चित	२ घंटे से ६ दिन	रक्त वमन, सन्निपात, मृत्यु
२.	वज्र चूर्ण	"	अनिश्चित	अनिश्चित
३.	सूची	"	"	"
४.	पशुओ के केश	"	"	"

कुछ विशिष्ट लक्षण जो अनेक विषो मे व रोगो मे समानरूपेण व्यक्त होते है. उनकी सूची

१. नेत्र पुतलियाँ

(क) सकुचित विष :—(१) अहिफेन
(२) अमोली
(३) आङ्गविक अम्ल (Carbolic Acid)
(४) नीरसु जलीय (Chloral Hydrate)
(५) नफतफली (Pilocarpine)
रोग .— तृतीय नाडी क्षोभ (नेत्र)

(ख) विस्तीर्ण विष —(१) करमर्दफला (Bellodona)
(२) पारसीक यवानी (Hyoscyamus)
(३) धतूरक (Stramonium)
(४) कनक
(५) वत्सनाभ
(६) पीतजातिमूल (Gelsemium)
(७) प्राचेतनी (Cocaine)
(८) तम्बाकू (Nicotine)
(९) सुषव (Alcohol)
रोग .– नेत्र की तृतीय नाडी का पक्षाघात

२ श्वास

(क) द्रुत विष .—(१) कनक
(२) प्राचेतनी (Cocaine)
(३) आगार द्विजारेय (Carbon di-oxide
(४) नीरजी (Chlorine)
रोग :– श्वसनकज्वर

(ख) विलंबित विष .— (१) अहिफेन
(२) आगार एक जारेय
(३) श्यामेय (Cyanides)
(४) नम्रलीय (Salicylates)
रोग :–यूरीमिया

३ त्वचा

(क) शुष्क — विष :— (१) करमर्दफला (Belladona)
(२) पारसीक यवानी (Hy o Scyamus)
(३) कनक
रोग – ज्वर, श्वसनक ज्वर

(ख) आर्द्र — विष :— (१) अहिफेन
(२) सुषव
(३) वत्सनाभ
(४) तम्बाकू व
(५) अजन
रोग – तीव्र आमवात

४. वमन — विष —(१) दाहक एव क्षोभक विष
(२) अम्ल
(३) सुषव
(४) ताम्र शुल्व (Copper Sulphate)
(५) अन्नविष (Food Poisoning)
(६) जम्बुकी (Iodin e)
(७) मल्ल
(८) सक्रव्यपव (Ly Sol)
(९) वत्सनाभ और
(१०) सूचीवीणाघटा (Digitalis)
रोग .– ऊर्ध्ववात, अम्लपित्तज क्षत, विसूचिका, अम्लपित्त

५. अतिसार — विष ,— (१) क्षोभक विष
(२) अन्नविष
(३) सूचीवीणा घटा और
(४) हिरण्यतुल्यति Calchicum)
रोग :– प्रवाहिका, विसूचिका , मथर ज्वर व क्षय ।

६. देहनीलता (Cyanosis) — विष — (१) विनीली (Aniline)
(२) एण्टीफेब्रीन
(३) एक्सलजीन
(४) अहिफेन
(५) भूम धूपेय (Nitrobenzene)
(६) भा ज. (Phosgene)
रोग :– हृद्रोग व श्वसन सस्थान के रोग

७. आन्त्र शूल — विष :—(१) नाग
(२) ताम्र
(३) मल्ल व
(४) धान्यरुक् (Ergot)
रोग :— स्रोतोवरोध

८. अपतान — विष :—(१) मल्ल
(२) अञ्जन व
(३) नाग
रोग :— हैजा, अतिसार, शीताङ्गता

९. आक्षेप — विष :—(१) विषमुष्टी
(२) कर्पूर
(३) श्यामेय (Cyanides) व
(४) कृमिद्रावि (Santonin)
रोग :— धनुर्वात शीर्षसौषुम्न ज्वर, अपस्मार हिस्टीरिया व बालकों के दाँतों के उपद्रव।

१०. अवसाद — विष :—(१) दाहक विष
(२) मल्ल
(३) तम्बाखू (Lobelia) (वमघास)
(४) ज्वरघ्नी (Antipyrine)
रोग :— अग्निरोहिणी, हैजा, ज्वर।

११. अधिमूर्च्छा — विष :—(१) अहिफेन
(२) प्रमीली
(३) वर्नोल
(४) ट्रिनोल
(५) शुल्वीय (Sulphonal)
(६) परासुक्षुद (Paraldebyde)
(७) सुषव
(८) कर्पूर
(९) नाग
(१०) वार्हृवि (Atropine)
(११) पारसीक यवानी
(१२) श्यामेय (Cyanides)
(१३) प्राङ्गार एक आरेय
(१४) नीरवञ्जल (Chloroform)
(१५) कीटघ्न (Insecticides)

रोग :– यकृत् या वृक्क अवसाद, मधुमेह, अपस्मार, हिस्टीरिया व बालको के दाँतो के उपद्रव।

१२. प्रलाप

विष —(१) कनक
(२) करमर्दफला (Belladona)
(३) पारसीक यवानी
(४) सुषव
(५) कर्पूर
(६) प्राचेतनी (Coccaine)
(७) प्रतिऊतितिक्ती (Anti Lystanine)
(८) दुरेय (Bromide)
(९) विजया व
(१०) मद्य

रोग :– श्वसनक ज्वर, क्षय, शीर्पंसीषुम्नज्वर, उन्माद सन्निपात

१३ क्षेपरहितता

विष —(१) कोलमिहैय (Barpiturate)
(२) प्रमीली
(३) दर्शव (Phenoe)

रोग –स्नायुदौर्बल्य, व बाल पक्षाघात

४१. बिस्तर के कपडे पकडना

विष—(१) कनक
(२) सुषव
(३) मिट्टी का तैल

रोग —मन्थर ज्वर मे सन्निपात।

१५ पक्षाघात

विष —(१) विषगर्जर (Conium)
(२) वत्सनाभ
(३) पीतजातिमूल (gelsenium)
(४) मल्ल
(५) नाग व
(६) गरल प्रतिविष

रोग – शीर्षाघात, हिस्टीरिया व सन्यास

१६. श्वेतमुख (Mucosa)

विष —(१) सभी अम्ल व
(२) सक्रय्यपव (lysol)
(३) दाहक क्षार

रोग –रस कर्पूर सेवी फिरग रोगी

रोगो के समान लक्षणो को प्रकट करने वाले दो विषो का सापेक्षिक निदान

I मल्ल

लक्षण	मल्ल विष मे	विषूचिका (हैजें) रोग मे
(क) कंठ मे शूल	वमन के पूर्व	नही होता
(ख) अतिसार	वमन के पश्चात	प्राय. वमन के पूर्व
(ग) मल	मलोत्सर्ग के समय गुदसक्षोभ व उदर शूल, मल अविरंजित, रक्त सह, पानी की तरह पतला जिसमे रक्त व पित्त हो व कभी कभी चावलो के धोवन सदृश।	सदैव चावलो के धोवन सदृश श्वेत व निरतर उत्सर्ग किन्तु पित्त व रक्त अनुपस्थित। कभी कभी रक्त आता है।
(घ) वामित द्रव्य	आम, पित्त व रक्तयुक्त	जल या मस्तु सदृश, श्लेष्मा पित्त या रक्त नही।
(ङ) गुदा	शोथ	सामान्य
(च) शब्द	सामान्य	विशिष्ट, चीख वाला, भारी
(छ) बलि	एक, दो या अधिक व्यक्ति जिन्हें विष दिया गया हो	महामारी के रूप मे एक ही स्थान पर अनेक व्यक्ति रोगग्रस्त मिलेंगे
(ज) अणुवीक्ष यन्त्र द्वारा परीक्षा	अतिसार व वमन पदार्थ मे मल्ल की उपस्थिति	जीवाणु सवर्धन क्रिया करने पर विसूचिका के जीवाणु (Coma Bacille) पाये जाते है।

II विष मुष्टी

लक्षण	विष मुष्टी विष मे	धनुर्वात मे
१	लक्षण सहसा उपस्थित होते है	शनैः शनै लक्षण प्रकट होते है।
२	विष भक्षण के तुरन्त पश्चात लक्षण प्रकट होते है।	प्राय. शरीर पर आघात का इतिहास मिलता है व तत्पश्चात लक्षण प्रकट होते है।
३	आक्षेपो के बीच के समय मास पूर्णत पेशिया शिथिल हो जाती है	ऐसा नही होता, थोडी बहुत सकुचितावस्था मे रहती है।
४	विष भक्षी मे लक्षण त्वरा से बढते है	लक्षण मथर गति से बढते है मृत्यु २४

रोग :- यकृत् या वृक्क अवसाद, मधुमेह, अपस्मार, हिस्टीरिया व बालकों के दाँतो के उपद्रव ।

१२. प्रलाप

विष —(१) कनक
(२) करमर्दफला (Belladona)
(३) पारसीक यवानी
(४) सुषव
(५) कर्पूर
(६) प्राचेतनी (Coccaine)
(७) प्रतिऊतितिक्ती (Anti Lystanine)
(८) दुरेय (Bromide)
(९) विजया व
(१०) मद्य

रोग :- श्वसनक ज्वर, क्षय, शीर्षसौषुम्नज्वर, उन्माद सन्निपात

१३ क्षेपरहितता

विष —(१) कोलमिहेय (Barpiturate)
(२) प्रमीली
(३) दर्शव (Phenoe)

रोग —स्नायुदौर्बल्य, व बाल पक्षाघात

४१. बिस्तर के कपड़े पकड़ना

विष.—(१) कनक
(२) सुषव
(३) मिट्टी का तैल

रोग —मन्थर ज्वर मे सन्निपात

१५ पक्षाघात

विष —(१) विषगर्जर (Conium)
(२) वत्सनाभ
(३) पीतजातिमूल (gelsenium)
(४) मल्ल
(५) नाग व
(६) गरल प्रतिविष

रोग — शीर्षाघात, हिस्टीरिया व सन्यास

१६. श्वेतमुख
(Mucosa)

विष —(१) सभी अम्ल व
(२) सकव्यपव (lysol)
(३) दाहक क्षार

रोग .-रस कर्पूर सेवी फिरग रोगी

रोगो के समान लक्षणो को प्रकट करने वाले दो विषो का सापेक्षिक निदान

I मल्ल

लक्षण	मल्ल विष मे	विसूचिका (हैजें) रोग मे
(क) कठ मे शूल	वमन के पूर्व	नही होता
(ख) अतिसार	वमन के पश्चात	प्राय· वमन के पूर्व
(ग) मल	मलोत्सर्ग के समय गुदसक्षोभ व उदर शूल, मल अक्षिरजित, रक्त सह, पानी की तरह पतला जिसमे रक्त व पित्त हो व कभी कभी चावलो के धोवन सदृश।	सदैव चावलो के धोवन सदृश श्वेत व निरतर उत्सग किन्तु पित्त व रक्त अनुपस्थित। कभी कभी रक्त आता है।
(घ) वामित द्रव्य	आम, पित्त व रक्तयुक्त	जल या मस्तु सदृश, श्लेष्मा पित्त या रक्त नही।
(ङ) मुजा	शोथ	सामान्य
(च) शब्द	सामान्य	विशिष्ट, चीख वाला, भारी
(छ) बलि	एक, दो या अधिक व्यक्ति जिन्हे विप दिया गया हो	महामारी के रूप मे एक ही स्थान पर अनेक व्यक्ति रोगग्रस्त मिलेंगे
(ज) अणुवीक्ष यन्त्र द्वारा परीक्षा	अतिसार व वमन पदाथ मे मल्ल की उपस्थिति	जीवाणु सवर्धन क्रिया करने पर विसूचिका के जीवाणु (Coma Bacille) पाये जाते है।

II विष मुष्टी

लक्षण	विष मुष्टी विष मे	धनुर्वात मे
१	लक्षण सहसा उपस्थित होते है	शनैः शनै लक्षण प्रकट होते हैं।
२	विष भक्षण के तुरन्त पश्चात लक्षण प्रकट होते हैं।	प्रायः शरीर पर आघात का इतिहास मिलता है व तत्पश्चात लक्षण प्रकट होते है।
३	आक्षेपो के बीच के समय मास पूर्णत पेशिया शिथिल हो जाती है	ऐसा नही होता, थोडी बहुत सकुचितावस्था मे रहती है।
४	विष भक्षी मे लक्षण त्वरा से बढते है	लक्षण मथर गति से बढते है मृत्यु १४

व मृत्यु ४–६ घण्टो मे हो जाती है या तत्पश्चात वह स्वस्थ होने लगता है	घण्टे तक कभी नही होती व मृत्यु या अच्छा होने मे कुछ दिन लग जाते हैं।
ग्रीवा व मुख की पेशियो पर अन्त मे प्रभाव पडता है व जबडे अन्त मे जकडते है शरीर की सभी पेशियो मे एक साथ सकोच प्रारम्म होते है व हनुस्तभ कभी कभी होता है। मुख नही खुलता।	ग्रीवा व मुख की पेशियाँ पहले प्रभावित होती हैं व प्रारम्भ में ही जबडे अकड जाते है और मुख बद हो जाता है। शरीर की अन्य पेशियो मे क्रम से सकोच होता है।
वमन व अतिसार का रासायनिक विश्लेषण करने पर विषतिन्दुकी सत्व या विषमुष्टी विष मिलता है।	सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा व्रण के स्राव की परीक्षा करने पर अथवा सवर्धन क्रिया से धनुर्वात के कीटाणु (Bacillus Tetanus) मिलते हैं।

चौरासी रत्न

लेखक — वैद्य परमानन्द शर्मा, साहित्यायुर्वेदाचार्य, एम् ए
प्राचार्य-श्री नारायण आयुर्वेद महाविद्यालय, जोधपुर

[श्री शर्मा जोधपुर के अध्यवसायी वैद्य हैं। आप श्री नारायण आयुर्वेद रसायनशाला व औषधालय के साथ-साथ कई सहकारी समितियां तथा कांग्रेस के प्रमुख कार्य-कर्त्ता है तथा राजस्थान प्रान्तीय वैद्य-सम्मेलन के कई वर्षों तक प्रधान मन्त्री रहे तथा राजस्थान आयुर्वेदपरामर्शदातृमण्डल के भी सदस्य रहे हैं। आपका खोजपूर्ण सद्य-परिचायक रत्नों पर लिखा लेख अत्युपयोगी है। चरित्रनायक के प्रति आपकी बड़ी आस्था है।

—वैद्य बापूलाल जोशी, सम्पादक]

मूल्यवान् प्रस्तरो को सञ्ज्ञा रत्न है। इनका सर्वसाधारण के लिए प्राय दुर्लभ दर्शन होता है अतः इनका सपूर्णतया ज्ञान प्राप्त नही होता। कहा भी है कि "रत्नादि सद्सज्ज्ञान मभ्यासादेव जायते" अत निरन्तर अभ्यास से ही इसका ज्ञान प्राप्त हो सकता है फिर भी अल्प बुद्धिमताम् हिताय तथा विज्ञ व्यक्तियो के सौकर्य के लिए सक्षेप मे चौरासी रत्न के शीर्षक से लेख लिखा है, आशा है पाठकगण इससे प्रभावित होंगे।

(१) माणिक (माणक)-लाल रग का होता है। (२) हीरा- श्वेत और गुलाबी रग का होता है। (३) पन्ना- सब्ज और गुलाबी रग का होता है। (४) नीलम- नीले रग का होता है। (५) लसनीया- बिल्ली के आख के समान होता है। (६) मोती- श्वेत होता है, किन्तु कही-कही काला व गुलाबी भी पाया जाता है। (७) मूंगा- लाल रग का होता है। (८) पुखराज- पीला, सफेद एव नीले रग का होता है। (९) गोमेदक- लाल धूए के समान होता है। (१०) लालडी- गुलाब के फूल के समान होती है। यदि यह २४ रत्ती के ऊपर हो तो लाल कहा जाता है। (११) फीरोजा- आसमानी रग का होता है, किन्तु ये पत्थर नही काकरो मे उत्पन्न होता है। (१२) ऐमनी- अधिक थोडा स्याहीपन लिए होता है। (१३) जबरजद्द- सब्ज स्याही लिए होता है। (१४) तुरमली- रग पाच प्रकार के, जात पुखराज की है। लेकिन हल्का और नरम होता है। (१५) उपल- रग नाना प्रकार का, और इसके ऊपर एक तरह अब्र पड़ता है। (१६) नरम- लाल जरदपन लिए होता है। (१७) सुनहला- सोने मे धूए के समान होता है। (१८) धुनेला- सोने मे धूए के समान होता

है। (१६) कटेला- बैंगन के समान रग का होता है। (२०) सगे सितारा- बहुत प्रकार का रग, ऊपर सोने का छीटा होता है। (२१) स्फटिक बिल्लोर सफेद रग का होता है। (२२) गउदता- गौ के दात के समान थोडी जर्दी लिए सफेद रग का होता है। (२३) तामडा- काला सुर्ख रग का होता है। (२४) लुधिया- मजन्टा अथवा चिरमी (रत्ती) के समान लाल होता है। (२५) मरियम- सफेद रग का, इसको पालिश अच्छी होती है। (२६) मकनातीस- थोडा स्याहीपन लिए सफेद चमकदार होता है। (२७) सिन्दूरिया- सफेदपन लिए गुलाबी रग का होता है। (२८) लीली- जात नीलम की है किन्तु नीलम से नर्म एव थोडा जर्द होता है। (२६) बेरुज- हल्का सब्ज, इसकी खान (टोडा) मे है। (३०) मरगज- जात पन्ने की रग सब्ज, इसमे पानी नही होता। (३१) पितोनिया- सब्ज के ऊपर सुर्ख छीटेदार होता है। (३२) बासी- सब्ज हल्का और सगे सम से हल्का एव नर्म होता है। लेकिन पालिश अच्छी होती है। (३३) दुरेलजफ- कच्चे धान के समान रग का, पालिश अच्छी होती है। (३४) सुलेमानी- काला ऊपर सफेद डोरा। (३५) आलेमानी- भूरा रगदार ऊपर डोरा, जात सुलेमानी की। (३६) जजेमानी- रग पारे के समान, जात सुलेमानी की। (३७) सिवार- सब्ज ऊपर भूरे रग की रेखा। (३८) तुरसारा- गुलाबीपन लिए जर्द होता है, पत्थर बहुत नर्म होता है। (३६) अहवा- गुलाबी ऊपर बडे बडे छीटे होते हैं। (४०) आबरी- कालापन लिए सोने माफिक होता है। (४१) लाजवरद- नीले रग का होता है। (४२) कुदरत- काले रग का होता है, सफेद एव जर्द दाग होता है। (४३) चित्ती- काले ऊपर सोने का छीटा और सफेद डोरा मालूम देता है। (४४) सगेसम- जात दो, अगूरी और सफेद, जिसमे अगूरी अच्छा होता है। (४५) लास- जात मारवर की। (४६) मारवर- रग पारे के समान, रग लाल व सफेद मिला होने से मकराना कहलाता है। (४७) दाना फिरग- पिस्ते के समान थोडा सब्ज होता है, इसके तीन भेद होते हैं (क) सोना कस (ख) लोहा कस (ग) चादी कस (लोहे के टुकडे पर नीबू के रस को निचोड कर रगडने से ये तीन कस होते हैं। वृक्कशूल मे कटि मे बाधने से आराम मिलता है।) अन्त के दोनो मिलता है, पहिला नही मिलता। (४८) कसौटी- काला रग, इससे सोने के कस की परीक्षा की जाती है। (४६) दारचना- चने की दाल के समान पीला तथा लाल टिकिया के मुताबिक स्याह जमीन पर होता है। (५०) हकीके कुल बहार- सब्जपन के साथ जर्द मिला होता है, मुसलमान जपने की माला बनाते हैं, यह पत्थर जल मे होता है। (५१) हालन- गुलाबी मैला, हिलाने से हिलता है। (५२) सिजरी- सफेद ऊपर श्याम दरखत दीखता है। (५३) सुवेनजफ- सफेद मे बाल के समान लकीर होती है। (५४) कहरवा- पीला रग का, जिसका बोरखा तथा माला बनती है। (५५) झरना- महिया रग का, जिस मे पानी देने से सब पानी झर जाता है। (५६) सगेवसरी- आख के सुरमे मे पडता है। रग काला होता है। (५७) दातला- जरदपन लिए सफेद, पुराने शख की माफिक होता

है। (५८) मकड़ो- सादापन लिये हुए काला, ऊपर मकडी के जाल के समान। (५६) सगीया- शख के समान सफेद, इसका घडो का लाकेट बनता है। (६०) गुदरी- नाना प्रकार के रगवाला होता है। इसे फकीर लोग पहिनते हैं। (६१) कासला- सब्जपन लिए सफेद होता है। (६२) सिफरी- सब्जपन लिये आसमानी रग का होता है। (६३) हदीद- भूरा-पन लिये स्याह, वजन में भारी, मुसलमान इसकी तसबीह बना कर जप करते हैं। (६४) हवास- सोनापन लिये सब्ज होना है, औषधिप्रयोग में काम आता है। (६५) सीगली- जाति माणिक की, स्याही और सुर्खी मिला हुआ रग होता है। (६६) ढेडी- काला रग, इसके खरल तथा कटोरे बनते हैं। (६७) हकीक- अनेक प्रकार के रगो वाला जिससे घडी के मुट्ठे व खिलौने बनते हैं। (६८) गोरी- अनेक प्रकार के रगो वाला तथा सफेद सूत होता है, इससे कटोरे व जवाहर तोलने के बाट बनते हैं। (६९) सोचा- काले रग का, इससे नाना प्रकार की मूर्तियां बनतो है। (७०) सोमाक- लाल जर्द एव कुछ स्याह माइल होता है ऊपर सफेद जर्द और गुलाबी छींटा होता है, इसके खरल तथा कटोरे बनते हैं। (७१) मूसा- सफेद रग, इसके खरल तथा कटोरे बनते है। (७२) पनघन- कुछ सब्जपन लिये काले रग का होता है। (७३) अमलीया- कुछ कालापन लिये गुलाबी रग का होता है। (७४) डूर- कत्थे के समान रग का, जिसके खरल बनते हैं। (७५) तिलोमर- काला ऊपर सफेद छींटा, इसके भी खरल बनते हैं। (७६) स्वारा- सब्जपन लिये काले रग का, इसके भी खरल बनते हैं। (७७) पायजहर- सफेद पारे के समान का रग, विष के घाव पर लगाने से घाव सूख जाता है। (७८) सिरखडी- मिट्टी के समान रग का होता है, खिलौने बनते हैं, घिस कर लगाने से घाव सूख जाता है। (७९) जहरमोहरा- कुछ सफेदपन लिये सब्जरग का होता है, किसी विषमिश्रित चीज मे इसको रख देने से विष का दोष जाता रहता है। (८०) रतुवा- लाल रग का, रात्रि ज्वर मे गले में बाधने से आराम होता है। (८१) सोनामक्खी- नीले रग का औषधियो में उपयोगी। (८२) हजरते यहुद- सफेद मिट्टी के समान, मूत्ररोगो में लाभप्रद। (८३) सुरमा- काले रग का, अजन के लिये। (८४) पारस- काला रग, लोहे पर लगाने से स्वर्ण हो जाता है।

मोती मिलने के प्रकार.—

(१) गज (२) मत्स्य (३) सर्प (४) वश (५) शख (६) खनि (७) शूकर।

मणियो के नाम —

(१) सूर्यकान्त (२) चन्द्रकान्त (३) इन्द्रनील (४) पद्मराग (५) मरकत (६) सर्प (७) करकेतक (८) स्फटिक (९) वेदूर्य (१०) लसनिया (११) लाजवर्द (१२) पुष्पराग (१३) गोमेदक (१४) मासर (१५) विजना।

आयुर्वेदीयस्त्रिदोषसिद्धान्तः कीटाणुवादश्च

ले० : आचार्यश्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री, पण्डितमार्तण्ड, विद्याभूषणः, विद्यावागीश, जामनगरस्थः

श्रीमतामायुर्वेदमार्तण्डानाम्, प्राणाचार्याणाम्, वैद्यावतसानाम्, महोपाध्यायानाम्, राजमान्यानाम, स्वनामधन्यानाम्, आयुर्वेदचन्द्रोदयानामपि आयुर्वेदसूर्योदयानाम्, चाणोदगुरूणाम्, श्रीमदुदयचन्द्रभट्टारकमहाभागाना प्रस्तुतोऽय हीरकजयन्तीसमारोहस्तदभिनन्दनग्रन्थसमर्पणमहोत्सवश्च । यथाय द्वयोरनयोः समारोहयोर्वर्तते शुभ समन्वयावसर, तथा निबन्धेऽस्मिन् विषययो शीर्षकनिर्दिष्टयोरपि यदि स्यात्समन्वयः तदा सुवर्णे सौगन्ध्यमिव सर्वमिद स्यात्सुश्लिष्टमिति तदर्थं प्रयत्यते ।

आयुर्वेदस्य त्रिदोषवाद, पाश्चात्त्याना कीटाणुवदश्च बहो. कालात्परस्पर विरुद्धौ मन्येते। तन्मूलक एव द्वयोश्चिकित्सापद्धत्योरनुयायिनामपि वर्तते चिरात् सघर्ष । वस्तुत आयुर्वेदस्य सर्वविधा प्रगतिरिदानीमवरुध्यते एतेनैव सघर्षेण । अतो महत्त्वपूर्णेऽस्मिन् विषये यदि स्यात् कथचित् समन्वय, तदा अनेका. समस्या समाधातु शक्येरन् ।

त्रिदोष सिद्धान्त —

आयुर्वेदस्य त्रिदोषवाद सर्वत प्रमुख सिद्धान्त । एत मूलसिद्धान्त पुरस्कृत्यैव स्वास्थ्यसरक्षणस्य, रोगोत्पत्ते, चिकित्सायाश्च सर्वे सिद्धान्ता व्याख्यायन्ते । तत्र—१. वात, २. पित्तम्, ३. कफश्च—इत्येते एव त्रयो भावास्त्रयो 'दोषाः' इत्युच्यन्ते । यद्यपीमे त्रयो धातवोऽपि सन्ति, तथापि सुप्रसन्नेष्वेषु यथा धातुत्व तथा कुपितेषु सर्वशरीरविकारकत्वाद् दोषत्वमपीति निग्रहानुग्रहरूप द्विविधमेषा सामर्थ्यमुपलक्ष्य 'दोष' व्यपदेश एवायुर्वेदाचार्यैर्भूयसा कृत । तत्र 'वातो' नाम 'वा गतिगन्धनयो' इति धातोर्निष्पद्यमानो देहे जायमानाना सर्वविधाना धात्वादिगतीना च सर्वविधाना गन्धनाना (सञ्ज्ञारूपचेष्टारूपसूचनाना) च वाचक. । तस्मात् शरीरे याश्च यावत्यश्च काश्चन गतय क्रिया वा भवन्ति, ता. सर्वा आयुर्वेदे वातात्मिका मन्यन्ते । एतस्येयन्महत्त्व यत् इतरयोर्द्वयोः पित्तकफयोरपि याः काश्चन क्रिया भवन्ति ता. अपि वातस्यैव । अत एव 'पित्त पङ्गु कफ पङ्गु पङ्गवो मलधातव' इत्यादिक आभाणकोऽत्र प्रसृत । शरीरे वर्तमाना क्रिया वातश्चेति अभिन्नौ पदार्थौ इति तु सारसक्षेप अथ 'पित्त' यद्यपि सुश्रुतेन 'तप सतापे' इति धातोर्वर्णव्यत्ययादिना निष्पादितम्, तेन च शरीरे ऊष्मोत्पादस्तस्य प्रधान कार्यं प्रतीयते, तथापि 'तप दाहे' इति, 'तप ऐश्वर्ये' इति चान्यावपि द्वौ धातू समुपलभ्येते । तयोरपि 'पित्त' शब्दनिष्पादने बाधकाभावादौचित्याच्च परिग्रहमुचित मन्यामहे । तथा च ऊष्मातिरिक्ता अन्या अपि या. काश्चित् सघातभेदन

(डिसइण्टिग्रेशन)[1] पाचन, (डाइजेशन)[2] दहन (आक्सिडेशन)[3] प्रभृतयः पञ्चविधेषु पित्तेषु पाचकपित्तस्य, रसरञ्जनाद्या रञ्जकपित्तस्य, देहविलिप्ततैलौषधादिवीर्यपाचनवर्णभ्राजनादिरूपा भ्राजकपित्तस्य, नयनकरणकरूपालोचनादिरूपा आलोचकपित्तस्य, बुद्धिसम्पाद्यानामनेकेषां कार्याणां साधनादिरूपाश्च साधकपित्तस्येति सर्वा अपि क्रियास्ताभ्यां धातुभ्यां पूर्वेण च संगृहीताः स्युः। अथ च 'कफो' नाम केनजलेन फलतिवर्धते' इति वा, 'केनस्फायते वर्धते' इति वा व्युत्पत्त्या देहे सर्वविधोपचयजनन-पोषण-बलाधान-श्लेषण-बोधन क्लेदनालम्बन-तर्पण रूपाः सर्वाः क्रियाः सम्पादयन् स्वनाम सार्थकं करोति।

कथं कुतश्चोत्पद्यन्ते वातादयो दोषाः—

वातादीनामुत्पत्तिविज्ञानाय 'पञ्चभूतसिद्धान्तः' इहापेक्षणीयो भवति। अयं सिद्धान्तोऽपि त्रिदोषसिद्धान्त इवातितमां विवादग्रस्तः। आक्षिपन्ति खलु पाश्चात्यपद्धत्यभिज्ञास्तदनुसारिणः केचन वैद्या अपि तत्त्वानभिज्ञा आयुर्वेदसिद्धान्तसर्वस्वायितानि पञ्चभूतान्यपि। पाश्चात्यविज्ञाने हि संप्रति यानि प्रसिद्ध्यन्ति एलिमेन्ट[4] संज्ञानि कदाचिद् द्वानवतिमितान्यपि परस्तात् शताधिकां संख्यामतिक्रान्तानि तत्त्वानि, तेषां कैश्चित् प्रयोगैः प्रदर्शितेन चाकचक्येनाकृष्टान् तान् वयं न प्रत्याक्षिपामः। केवलं त्वेतदेव ब्रूमो यत्—प्रत्येकस्मिन् वस्तुनि भवन्ति नानाविधाः कार्यकारणभावाः, गुणाः धर्माश्च। तस्मादेको विज्ञो येन दृष्टिकोणेन तद् वस्तु विवेचयति, तदन्यो यदि भिन्नेन दृष्टिकोणेन तद्वस्तु विवेचयेत्तर्हि नासौ तस्य दोषो न वा परस्य विवादस्यावकाशः। अत एव यस्याथर्ववेदस्यायुर्वेद उपवेदस्तस्यैव विज्ञानभूते गोपथब्राह्मणेऽयं सिद्धान्तो व्यवस्थापितः—'नानाप्रवचनानि ह वा एतानि भूतानि भवन्ति। तद्यन्न ह वा इदं विद्यमानं चाविद्यमानं चाभिनिदधाति, तद् ब्रह्म, तद् यो वेद स ब्राह्मणोऽधीयानोऽधीती इत्याचक्षते' इति (गोपथ० २।१३) तथा 'आत्मानं निरुध्य संगममात्रीं भूतार्थचिन्तां चिन्तयेत् सवितर्कं ज्ञानमयमित्येतैः प्रश्नैः प्रतिवचनैश्च यथार्थं पदमनुविचिन्त्य प्रकरणज्ञो हि प्रबलो विषयी स्यात् सर्वस्मिन् वाकोवाक्ये' (गोपथ० १।३०) इति च।

तस्माद् 'एलिमेन्ट'संज्ञकतत्त्वरूपेण भूतानां विचारं चिकीर्षवस्तथा कुर्वन्तु, आकाशादिभूतपञ्चकरूपेण विचारो येषामभीष्टस्ते तथैव कुर्वन्तु, नात्रान्योन्यं खण्डनालोचनावसरः।

वस्तुतस्तु, मानवदेहे पञ्चैव श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणरूपाणि ज्ञानसाधनानि सन्ति। तेषु चैकैकेन साधनेन यद्गुणाश्रयस्य भूतद्रव्यस्य साक्षात्कारोऽभूत्, तत्तदेव वास्तविकं भूतमभ्युपेतेति भूतानि पञ्चैव सिध्यन्ति। अन्यानि कान्यपि भूतानि सन्ति, न वा सन्तीति स्वीकारपरिहारौ न केनापि कर्तुं शक्यौ।

---

१. Disintegration २. Digesion ३. Oxidation ४. Element

ये तु प्रतिदिन परिवर्धमनाना नूतनतत्त्वानाम् 'अलिमान्त' सज्ञाना समूहभूतां पृथ्वी, तथा मूर्तमेव जल तेजो वायु च मन्यमाना आकाशचावकाशमेव स्वीकुर्वन्त एषा मौलिकतत्त्वता खण्डयन्ति, तेऽपि 'इलेक्ट्राण'[1] 'प्रोत्तान'[2], न्युत्राणा'[3] दित्त्वानामाविष्कारे सत्यधुना स्वमत परित्यजन्ति। आयुर्वेदीयतत्त्वज्ञानेऽपि भूतानि मौलिकतत्त्वानि न सन्ति, अपि तु सायोगिकानि एकोत्तरगुणवृद्ध्या प्रवृत्तानि सन्ति। वर्गीकरणप्रक्रिया पदार्थतत्त्वशोधनमेवायुर्वेदाचार्याणामभिप्रेतम्, तथा च पाश्चात्यविज्ञानसिद्धानामलिमान्तानामपि पञ्चतु वर्गेष्वेव सन्निवेश कर्तुं शक्यते—इति तेषामाक्षेपाय नास्ति किंचित् स्थानम्।

सिद्धायामेव पञ्चभूताना सत्तायाम्-भूताना मूलतत्त्वस्य आकाशः सर्वप्रथमाऽवस्था, पृथिवी तु सर्वान्तिमाऽवस्था। मध्यागतानि वायुतेजोजलरूपाणि तत्त्वानि तु पृथिवीपर्यन्तानामवस्थाना विविधपरिणाम सजनकानि भवन्ति। अत एवोच्यते—

शीतांशु क्लेदयत्युर्वी विवस्वान् शोषयत्यपि।
तावुभावपि सश्रित्य वायु पालयति प्रजा ॥

(सु० सू० ६।८ इति)

एते त्रयोऽपि भावा दिव्या 'आधिदैविका' सन्ति। मानवाहारव्यवहारयोरुपयुज्यमानेषु स्थावरजङ्गमात्मकेषु औषधिवनस्पतिखनिजजैवादिपदार्थेषु ये भवन्ति एतेषा भौतिकाः परिणामाः अर्थाद् एतेभ्यो ये 'पार्थिवा' उत्पद्यन्ते, त एव 'भौतिका' 'आधिभौतिका' वा भावा कथ्यन्ते। तेषां खलु भौतिकाना भावानामुपयोगेन मानवादिशरीरेषु ये जायन्ते क्लेदकादय, पाचकादयः गतिरूपा गतिसम्पादका वा भावास्ते खलु भवन्त्याध्यात्मिका. भावा। आत्मनि शरीरे वा मनसि वा समुत्पन्ना 'आध्यात्मिका' भवन्ति। तत्र शरीरे समुत्पन्नास्त्रिविधा भावा एव 'वातपित्तकफा' उच्यन्ते, मानसास्तु सत्त्वरजस्तमासि' कथ्यन्ते। शास्त्रेषु हि आध्यात्मिकानामाधिभौतिकानामाधिदैविकाना च भावानामेकत्वमेव स्वीक्रियते, अवस्थाभेद एव केवल तेषु तेषु रूपेषु। तदुक्त श्रीमद्भागवते (२।१०।८)

योऽध्यात्मिकोऽय पुरुष सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेद. पुरुषो ह्याधिभौतिक ॥ इति।

उक्त चैतज्जगद्गुरुभि श्रीशंकरभगवत्पादैब्रह्मसूत्रभाष्ये—'न ह्यभिन्ने तत्त्वे पृथगनुचिन्तन न्याय्यम्। दर्शयति च श्रुतिरपि अध्यात्ममधिदैवत च तत्त्वमिदम्-अग्निर्वाग्भूत्वा मुख प्राविशत्' (ऐ० २।४) इत्यारभ्य 'तथा त एत सर्वेसमा सर्वेऽनन्ताः (बृ० १।५।१३) इत्याध्यात्मिकाना प्राणानामाधिदैविकीविभूतिमात्मभूता दर्शयति। तथाऽन्यत्रापि तत्र तत्रा-

---

१ Electron २. Proton ३ Neutron

ध्यात्ममधिदैवतं च बहुधा तत्त्वाभेददर्शनं भवति'। (अ० सू० शो० भा० ३।३।२७।४३ इति।

उक्तं च चरकेण—

अध्यात्मलोको वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः।
पीड्यते धार्यते चैव विकृताविकृतैस्तथा॥

(च०चि० २६, २९२) इति

अवस्थाभेदे नामभेदोऽपि—

इत्थमत्र विश्वजीवातुभूतानां सोमसूर्यानिलानामधिदैवतभावानामेव शरीरे वातादिरूपेण परिणाम इति सिद्धम्। परन्तु अवस्थाभेदे नामभेदोऽपि व्यवहारसौकर्याय तेषु भवत्येव ते एव भावा अधिदैवतं सोमसूर्यानिला कथ्यन्ते, अधिभूतं च कारणद्रव्यात्मना जलानलानिला उच्यन्ते, कार्यद्रव्यात्मना चाहारविहारादिषूपयुज्यमानानन्ततत्तद्द्रव्यनामभिरुच्यन्ते, अध्यात्मं चैते भावा क्रमशः कफपित्तवातनाम्ना व्यपदिश्यन्ते। यद्यपि भवति क्वचित्साकेतिकभाषास्थलादौ आधिदैविकमूलतत्त्वनाम्नाऽपि व्यवहार, परन्तु नासौ सार्वत्रिकः। यथा—

जिह्वामूले स्थितो देवि! सर्वतेजोमयोऽनलः।
तदग्रे भास्करश्चन्द्रस्तालुमूले प्रतिष्ठितः॥

इति (प्राणाग्निहोत्रोपनिषत्)

पाश्चात्यचिकित्सापद्धत्यनुयायिनोऽधुना मुखस्थलालाया बोधककफवद् यान् 'म्युसीन'[1] 'पेप्सीन'[2] प्रभृतीन् पंत्तिकान् काश्चित्पदार्थान् वर्णयन्ति, त एवेह अनलभास्करचन्द्रादिनामभिरुच्यन्ते। सोऽयं वर्णनशैलीभेद एवाचार्याणा, न तत्र तत्त्वभेदे तात्पर्यं पर्येष्टव्यम्।

वातादीनां विश्वव्यापकत्वम्—

'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव', 'वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (कठ० ५, ९-१०)', पय, पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयोधा' (यजु० १८-३६) इत्यादिश्रुतिवचनै. वातरवीन्द्वात्मना वा, वाय्वग्निजलात्मना वा, वातपित्तकफात्मना वा सर्वमेतज्जगद् व्याप्तं वर्तते। नैकमण्वपि तादृशं किमपि वस्तु वा स्थानं वर्तते, यदेतैर्वातादिभिर्व्याप्तं, प्रभावितं, सबद्धं वा न स्यात्। सर्वत्रैव एषामबाधितं साम्राज्यं विराजते।

वातादीनां देहधातूनां च संघटनम्

उक्तस्त्रयाणां दोषाणां विकाशः पञ्चभ्यो भूतेभ्य.। तत्र-आकाशवायुभ्यां शरीरे वायोर्विकाशः तेजोजलाभ्यां पित्तस्य, जलपृथिवीभ्यां च कफस्य विकाश.। अन्येषां चापि देहधातूनां पाञ्चभौतिकमेव संघटनम्। तच्चाधस्तादुपदर्श्यते—

---

१. Mucin २ Pepsin

१७. रसैः सह संबधः
१८ वीर्येण सह संबध.
१९ विपाकेन सह संबध
२० प्रभावेण सह संबध
२१. कल्पनाया को हेतु. ?
२२ प्रकृति (शरीरवाङ्मन संबद्धा)
२३ विकृति
२४ स्रोतासि सामान्यविशेषात्मकानि
२५ प्राकृतकर्माणि
२६ वैकृतकर्माणि
२७ रोगविशेषदृष्टि
२८ इन्द्रियेन्द्रियार्थविशेषसंबंध
२९ वयोऽवस्थादिसंबधः
३०. ऋत्वहोरात्रादिकालसंबध
३१ आहारविहारादिविशेषसंबध
३२. तिर्यगादिजन्तुविशेषसंबध

अलमेतावता। अन्येऽपि बहव सन्ति विज्ञेया विशेषा, परन्तु स्थानसमययोरभावान्न तत्र पदक्रमः कर्तुं शक्य.। वैज्ञानिकश्चिकित्सकोऽवश्यमेतान् विज्ञायैव कर्ममार्गमविविशति।

वातादीनां प्रत्यक्षीकार.—

महानय विषयः, पुरतोऽवस्थाप्यते आयुर्वेदभक्ताना यत्—"अधुना शवव्यवच्छेदपदार्थ-परीक्षणादिप्रणाली यन्त्रादिसाहाय्येनाभूतपूर्वामुन्नति लब्धवती। शारीराणा तन्त्रयन्त्राणाम्-न्येषा च सूक्ष्मतमानामपि भावानां तथा परिज्ञान कृतमस्ति, यथाऽणुतोऽप्यणुतराणि वस्तूनि तेषा कार्याणि चापरिज्ञातानि न स्थितानि। परन्तु बहुश. कृतेऽपि परीक्षणे गवेषणे च वाता-दीना त्रयाणा दोषाणा न क्वचिदपि किंचदपि चिह्नमधुनावामधि समासादितमिति"। नेताव-त्येव विश्रान्ति, अपि तु रागद्वेषादिविहीनान्, नि स्वार्थान्, विश्वहितायात्मबलिदान कृतवतो महामहिमशालिनो महर्षीन् प्रत्यपि निन्दावाक्यानि अभद्रा गालिश्च श्रोतुं बाधिता भवामस्त्रि-दोषविषयेऽत्युग्रनवीनतावादिनाम्। तानेतान् विप्रतिपन्नान् प्रेम्णाऽऽमन्त्रयामः— भो! भोः! प्रत्यक्षैकमात्रजीविता बन्धव! आगच्छत, मनो निष्कल्मष समाधाय पश्यत, वातादीन् प्रत्यक्षं प्रदर्शयाम.। मानवादिशरीरे हि त्वग्रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रातपदार्थेषु तु न केषामपि विप्रतिपत्तिः स्यात्, तेषा निर्माणक्रमे विवादेऽपि, सूक्ष्मरचनाविवेचने नवीनानामेकाधिकारेऽपि च तदीयप्रत्यक्षीकरणे सर्वेषामेकमत्ये बाधकाभावात्। अथ तु क्रियाशरीरे विवेच्यमाने एतदतिरिक्तास्तत्तेषामवयवाना विविधान् स्रावान्, तेषा कार्याण्यपि च यन्त्रादिसाहाय्येना-धुना सौलभ्येन प्रत्यक्षीकुर्वन्त्येव सर्वे। तत्र—ये मधुरलवणरसवन्त पुष्ट्युपचयादिजनना. पदार्थास्ते एवायुर्वेदेन कफवर्गं निवेशिता, क्षाराम्लप्रतिक्रियावन्त सघातभेदनपाचनदहना-दिक्रियाकारिणो एव स्रावपदार्था आयुर्वेदेन पित्तवर्गे परिगण्यन्ते, अथ ये नि स्रोतस्कग्रन्थ्या-दीना स्रावा अन्यान् कांश्चित् शारीरभावान् स्वस्वक्रियां सम्पादयितु प्रभावयन्ति, प्रेरयन्ति, चालयन्ति, उत्तेजयन्ति वा, सर्वेषा च धात्वादीना गत्यादिकान् नियमयन्ति, सर्वविधानि सज्ञाचेष्टावहानि नाड्यादितन्त्राणि च परिचालयन्ति तरलविरलभावाभ्या, ते सर्वे पदार्था इह वातशब्दव्यपदेश लभते-इति नव्यजनामिमतेष्वेव पदार्थेषु वय वातादीना समन्वयाय सनद्धा

स्मः। यदि तेषां स्रावादय इमे प्रत्यक्षास्तर्हि आयुर्वेदस्य वातादयोऽपि प्रत्यक्षा एवेति दृढं प्रतिपादयामः केवलं नाममात्रे एव विवादो विभेदगतश्च, न तु वस्तुतत्त्वे न खलु आयुर्वेदेन वातादयस्त्रय एकैकवस्तुरूपा स्वीक्रियन्ते, अपितु विभिन्नकार्यकारिणां विभिन्नरूपाणां च नानाविधानां तत्त्वानां केनचित् सामान्येन पूर्वं पञ्चधा चैषान् परिकल्प्य, तदनन्तरं च तेषामपि अन्येन सामान्येन कल्पितास्त्रयो वर्गा एव वातादयस्त्रय।

शङ्कासमाधाने —

ननु, अतीव नवीनमिदमुपन्यस्यते, यदद्यावधि न क्वचिद् दृष्टं न चापि विश्रुतम्। पित्तकफयोर्हि द्रवत्वाभ्युपगमात् तयोः प्रत्यक्षीकृतेषु स्रावविशेषेष्वन्तर्भावेऽपि, वातस्य "वायोरात्मैवात्मा" (सु० सू० ४२।५) इत्यायुर्वेदसिद्धांताद् वायोर्द्रवत्वं प्रतिपाद्यमानं कथमिव सगच्छेत ? इति चेत्, श्रोतव्यम्—वैदिके विज्ञाने सर्वेषां ध्रुव-धर्त्र-धरुण[1]रूपा (घन-तरल-विरलरूपा) तिस्रोऽवस्थाः स्वीक्रियन्ते, यथा-जलस्य हिमं घनम्, आपस्तरलाः, सोमो विरल इति। इमाश्चावस्था पदार्थान्तरसंयोगविशेषमवाप्य स्वयं जायन्ते, पुरुषप्रयत्नेन वा जायन्ते। पृथिव्यप्तेजांसि पूर्वं वायुरूपाण्येव भवन्ति। स्वयं वायुश्च सूक्ष्मं प्राणरूपं पदार्थः, "प्राणो ह्येष योऽयेपवते" इत्यादिश्रुते। एकोनपञ्चाशद्विधश्चायं वायुर्विज्ञात आसीद् वैदिके विज्ञाने। तेषामनेकेषां समूहरूपोऽयं भौतिको वायुः। एतेषु च द्वौ वायू अम्भः सोमपवमानसोम[2]नामकावपि स्तः। अम्भः सोमो जलजननो दाह्यः पदार्थः, पवमानसोमस्तु अग्निजननो दाहकः पदार्थः। एतयोर्द्वयोर्योगादेवस्थूलं पेयादिरूपं जलं निष्पद्यते। एतद्विज्ञानसूचमेकं जलनाम वर्तते 'वाताप्यम्' इति। एतन्निर्वचनाय निरुक्तकारस्तत्रभवान् महर्षिर्यास्को वक्ति-'वाताप्यमुदकं भवति, वात एतदाप्याययति" (नि० नै० ११३ पृ० ५२०) इति। एतद्भाष्यकृद्दुर्गाचार्यं कथयति-"आप्याययतिवृद्ध्यर्थं, पुरोवातेन हि वृष्टिभूतमुदकं संवर्धते" इति। अन्यापि निरुक्तिरिह स्यात्-"वाताभ्यादिवविधाभ्याममम्भः सोमपवमानसोमरूपाभ्यामाप्यते-लभ्यते" इति। ततेवमाधिदैविकेऽवस्थाविशेषे यदा वातविशेषाभ्यां जलप्रादुर्भावस्तदा अध्यात्ममपि वातविशेषयोः कयोश्चित् केषुचिदवयवेषु तदीयस्रावरूपेणोपलब्धिर्भवेत् तर्हि किमाश्चर्यम् ? ब्रुवन्ति हि क्रियाशारीरलेखका नवीना वैज्ञानिका सज्ञाचेष्टावहेषु नाडीतन्तुषु शाखाविभागस्थले सज्ञादिवहनप्रयोजनां परिस्रावोत्पत्तिम्। तस्मात्सुसगतमेव तदिदं नवीनमप्यतीव प्राचीनं वैदिकं निरूपणम्। इदं त्ववधेयम्-नात्र प्राणरूपस्य वा विभिन्नवायव्य (गैसादि[3]) रूपस्य वा वायोः सर्वथैव द्रवता स्यात्, विभक्तरूपेणापि तस्योपलब्धेः। यावदावश्यकं तावदेव प्राकृतिकव्यवस्थया द्रवत्वं तत्र स्यात्। तदेवं सक्षेपेण परीक्षितस्त्रिदोषसिद्धांतः। कीटाणुवादमधुना परीक्षामहे।

1– Solid-Liquid Gases 2– Hydrogen and Oxygen 3– Gases.

कीटाणुवादः—

आयुर्वेदीया चिकित्सा पद्धतिर्यथाऽऽधारीकुरुते त्रिदोषसिद्धांत तथा पाश्चात्या चिकित्सा-पद्धतिराधारीकुरुते 'कीटाणुवादम्'। द्वयोरेतयो पद्धत्यो सर्वा हर्म्यावलो उक्तसिद्धातद्वयमून-मित्योश्रयेणेव स्थितेति प्रत्यक्षम्। सिद्धातपरित्यागे तु तत्कालमेव परिध्वसेत सा सा पद्धति-रेव। परन्त्वाश्चर्यमेतदेव यत्-या पद्धतिः प्रत्यह स्वसिद्धातान् परिवर्तितवती परिवर्तयति च, साऽपि उदरम्भरितामात्रलक्ष्ये केश्चन विष्टब्धा शाश्वतीममरामविचाल्यामपि अधुना न केवल विचालयितुमेव, अपि तु मूलादुत्पाटयितुं प्रवर्तते, सचालयति च चीनभारतयोरिव तुमुल सीमाविवादम्। आसीन्नाम कदाचन द्वयोरनयो सिद्धातयो समन्वयोऽपि च सगमोऽपि च, यथाऽधस्तनाद् वेदमन्त्रादवगम्यते—

यत्रोषधीः समग्मत राजान समिताविव।
विप्र स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः॥

(शुक्र १०, ८, ९७, ७) इति

मन्त्रेऽस्मिन् भिषजि नानाविधाना सिद्धौषधाना यथा विशिष्ट विज्ञानमावश्यकमुक्तम्, रक्षसा हननमहिम्ना यातन चाप्यावश्यकत्वेनोपदिष्टम्। तत्र 'रक्ष' शब्दो राक्षसभूतप्रेतपिशा-चादीनामिव कीटाणूनामपि वाचको वेदे स्वीक्रियते, 'अमीव' शब्दस्तु सर्वथैव कीटाणुवाचक। अनयोर्द्वयोर्यदर्थं पुनरुक्त्या प्रयोग कृतस्तत्रास्ति किंचिद् विशिष्ट तात्पर्यम्। तत्र 'रक्ष' शब्द. "रक्ष रक्षितव्यमस्मात्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ अक्षते-गच्छति इति वा" (निरुक्ते पृ० ३०८) इति व्युत्पत्तिभिर्बहिष्टः आक्रमणकारी कीटाणुरभिधीयते, य खल्वागन्तुकान् रोगानु-त्पादयति, 'अमीवा' तु "अमरोगे" इति धातोर्निष्पन्न शारीराग्नेर्मान्द्यादामप्रादुर्भावे सति आमयजनित आमयजनको वा आन्तरिक कीटाणुर्भवति। भिषक् खलु औषधप्रयोगे रोग समूलमुन्मूलयन् बाह्येभ्य क्रिमिभ्य आन्तरिकेभ्यश्चोभयविधेभ्यो रोगिणो रक्षा रक्षोहननेना-मीवचातनेन च कुर्यादिति स्पष्टमुपदिशति भगवान् वेद।

क्रिमीणां (कीटाणूना) विशिष्ट वर्णनमथर्ववेद—

उक्ता' खलु ऋग्वेदमन्त्रेण बाह्याह आभ्यन्तराश्च द्विविधा कीटाणव. क्रिमयो वा। अथर्ववेदे तेषा विशिष्टमद्भुत च वर्णनमुपलभ्यते। यथाऽऽधुनिका 'दीमक' पदबोध्याना वम्रीणा मधुमक्षीकादीना च पृथगेव कस्यचिज्जगतः कल्पना कुर्वन्ति, तत्र च आहाराहर्त्तृणा, भवननिर्मातृणा, शत्रुनिराकरणाय योद्धृणा व्यवस्था दर्शयन्ति, तथैवाथर्ववेदेन रोगसम्बद्धेषु क्रिमिषु 'स्थपति'-सज्ञया गृहनिर्मातृणामण्डदायिनीना मातृसज्ञाना च स्पष्टं नाम उद्घोष्यते। क्रिमिषु योद्धारो 'राजसज्ञयाख्यायन्ते, तेषा भ्रातृणां स्वसृणा चापि समूहरूपेणोद्भवता नाम निर्दिश्यते। दृश्यतामधस्तनो मन्त्र.—

हतो राजा क्रिमीणामुतैषा स्थपतिर्हतः।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा॥

(अथर्व० ५,२३,११) इति।

क्रिमयो यत्रापि देहावयवे पद कुर्वन्ति, तत्रैव "क्रिमिः क्रव्ये मेवति" (निरुक्ते पृ० ४७२) इति निरुक्त्यनुसारमाममांसादीनि लभन्ते, तानि गवेषयन्त किमिदानीमस्मद्भक्षणायावशिष्टम्, किं वाऽन्यत्र लप्स्यते इति गवेषणकरणात् 'किमिदिन' इति व्यपदिष्टा दृढान् स्वनिवेशानुपनिवेशाश्च स्थापयन्ति, तत्र स्थिताश्च चिर जीवन्तस्ते साधारण्येन कथञ्चित् शान्ता इव दृश्यमाना पुनरुत्पातमारभन्ते। अतो वैद्येन तेषा दुर्गभूत निवेशा उपनिवेशचापि ध्वसनीयाः, यथोक्तम्—

हतसो अस्य वेशसो हतास परिवेशास.।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हता॥

(अथर्व० ५, २३, १२) इति।

इह्योत्तरार्धेन ये क्षुद्रा इव प्रतीयमाना अण्डरूपा स्युस्तेऽपि नोपेक्षणीया इत्युपदिश्यते। एतेषा क्रिमीणामुपद्रवान् विनाश्य मानवजीवन स्वस्थ सुखि च सम्पादयितु बहवो महर्षयो गवेषणा कृत्वा स्वसप्रदायानस्थापयन्, येषु केषाचिन्नामानि सगौरव श्रूयन्ते वेदे यथा—

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा स पिनष्म्यह क्रिमीन्॥

(अथर्व० ५, २३, १०) इति

इह स्वल्पीयसि अवकाशे न परिपूर्णं विवेचन कर्तुं शक्यम्। दिग्दर्शनमात्रमिह कृतम्।

क्रिमीणां नामविशेषै रोगविशेषसम्बन्धः—

बहून्येषा क्रिमीणा नामानि वेदे आयुर्वेद च श्रूयन्ते, यैस्तेषा स्वरूपस्य, अवयवसस्थानस्य, क्रियाकलापस्य, उत्पाद्यरोगादीना च सम्बन्धः सुष्ठु परिचीयते। इह जिज्ञासूना परिबोधाय रोगविशेषसबधसूचकानि व्युत्पत्तिसहितानि कानिचिन्नामानि निर्दिशाम—

१ अजवा—

नास्ति जव. वेगो येषु ते 'अजवा', मन्दसचारा. इत्यर्थ। सुश्रुतेन क्रिमय इमे पुरीषजा उक्ता.। अजवत्वादेते मल विबध्नन्ति इति सभाव्यते।

२ अन्त्रादा—

अन्त्राणि अदन्ति=खादन्ति इति अन्त्रादा, अन्त्रेषु क्षतादि जनयित्वा पिच्छास्रावमन्याश्च महास्रोतोदुष्टिजान् रोगानेते उत्पादयन्तीति शास्त्रेण वेद्यम्।

३ उदरादा—

उपरम्=उदरगुह्याम् अदन्ति इति व्युत्पत्त्या उदरच्छदाया कलाया जलोत्पादादिविकृति-कारिण एते क्रिमयः स्युरित्यनुमीयते। चरकेण क्रिमय इमे कफजा उक्ता'।

४ उदरावेष्टा—

उदरम् उदरस्थान्त्रादिभागान् आवेष्टयन्ति इत्युदरावेष्टा, सर्पादिवत् ये अन्त्रादीनि वेष्टयन्ति ते तादृशा इमे क्रिमय अ०हृ०, अ० स०, शा०, मा० इत्यादिग्रथेषु कफजा प्रतिपादिताः।

५ उदुम्बरा—

उदुम्बरफलस्थकृमिवद् ये जायन्ते, ते उदुम्बराः। इमे अ०हृ०, अ०स०, शा०, मा० ग्रथेषु रक्तजा कथिता.। रक्त दूषयित्वा एते औदुम्बरकुष्ठोत्पादका भवन्ति इति नामसाम्यात् तर्कयितु शक्यते।

६ औदुम्बरा—

उदुम्बरा एव औदुम्बराः (स्वार्थिकोऽण् प्रत्ययः)। इह दकारस्थाने डकारोऽपि पठ्यते, अर्थे तु न कश्चिद् भेदः। इमे चरकेण रक्तजा उक्ताः। इमेऽपि पूर्ववद् रक्तदुष्टिजनकाः कुष्ठोत्पादकाश्च।

७ ककेरुका—

ककन्ति=चाञ्चल्य कुर्वन्ति इति ककेरुकाः, अतीव चञ्चला' इत्यर्थः। "ककलौल्ये" इति धातु। इमे क्रिमय च०, अ०हृ०, अ०स०, शा०मा० ग्रथेषु पुरीषजा कथिता। इमे पुरीष-विकृतिं विधाय तज्जान् रोगान् जनयन्तीति।

८ किकिकशा—

किविकशाना=गर्भिण्युदराधोभागगतकण्डूजन्यचिह्नाना कर्तृत्वादिमे किविकशा यद्वा—किं किं शरीरधात्वादिक श्यन्ति=नाशयतीति किविकशा। "पृषोदरादित्वोद्" रूपसिद्धि'। इमे सुश्रुतेन रक्तजा उक्ताः।रक्ते कण्डू जनयित्वा तद्घर्षणेन चिह्नविशेषजनका जायते।

९ किप्या—

केन=येन केनापि शरीरधातुना भक्षितेन प्यायते=पीना पुष्टा वा भवति इति किप्या। सुश्रुतेनैते पुरोषजा प्रोक्ता. ततश्च—केन=कुत्सितेन पुरीषा दिना प्यायते इति तथोक्ता—इति व्युत्पत्त्यन्तरमपि कर्तुं शक्यम्। इमेऽपि पूर्ववत् पुरीष विकृत कृत्वा तज्जान् रोगान् जनयेयुरिति प्रतीयते।

१० कुरवा—

को=पृथिव्या रव =सन्त्रासजनकः शब्दो नामप्रचारो वा येषा ते "कुरवा"। यद्वा—कुत्सित.=निन्दितो रवः नामश्रुतिर्येषा ते 'कुरवा.'—यन्नामश्रवणमपित्रासजनकं भवति तादृशा

इत्यर्थ.: कफजा इमे अ०हृ०, अ०स० ग्रन्थयोरुक्ता- इमे कफजान् रोगानुत्पाद्य जनपदोद्ध्वंस-कराजायन्ते इत्यनुमीयते।

११ कुष्ठजा—

कुष्ठे जायन्ते=कुष्ठोत्पत्त्यनन्तरं तल्लक्षणत्वेन ये समुत्पद्यन्ते ते कुष्ठजा.। सुश्रुतेन क्रिमय एते रक्तजा उक्ता॰। कुष्ठे हि—रक्त लसीकात्वङमासमित्येते धातवो दुष्यन्ति तत्र विदुष्टे रक्ते ईदृशाना क्रिमीणामुद्भव. स्पष्ट एव।

१२ केशादा —

केशान् शिर स्थबालान् अदन्ति इति केशादा, केशान् विनाश्य खल्वाटत्वजनका: इत्यर्थ। क्रिमय एते च०, सु०, अ०हृ०, अ०स१, शा०, मा० ग्रथेषूक्ता रक्तजा: भवन्ति।

१३ गण्डूपदा —

गण्डूपदै =भूनागैस्तुल्या;—गण्डूपदा:। एतादृशा क्रिमय. केषाचिन्मलेन सह निर्गच्छन्ति। एते सुश्रुतेन पुरीषजा उक्ता ।

१४ चिप्पा —

अङ्गुलिषु चिप्परोगजनका, चिप्पस्तु नखरोगविशेष । एतेऽपि क्रिमय सुश्रुतेन पुरीषजा उक्ता ।

१५ चिपिटा:—

आकारेण चिपिटत्वात् चिपिटा:, अर्थात्—सूक्ष्मत्वेऽपि गोललम्बाद्याकाररहितत्वेन चिपिटा येस्युस्ते चिपिटा। एते सुश्रुतेन कफजा कथिता:।

१६ चुरव: —

चोरयन्ति=स्तेनयन्ति मुक्ताहारपरिणामभूतान् रसादिधातूनिति चुरव, "चूणिया"—नामान। चरकशार्ङ्गधरमाधवैरेते कफजाः सुश्रुतेन तु रक्तजा उक्ता।

१७ दन्तादा .—

दन्तान् अदन्ति इति दन्तादा:, दन्तवेष्टोपकुशादिरोगेषु जाता ये दन्तान् खादन्ति तादृशा। केषाचिदेते प्रोकरोगान् विनाऽपि केवल दन्तेषु प्रादुर्भवन्तस्तान् कृष्णबभ्रून् विधाय शनै शनै विशीर्णान् कुर्वन्तो दृष्टा। सुश्रुतेन रक्तजा: कथिता.

१८ दर्भकुसुमा .—

दर्भाणा कुशाना पुष्पै सदृशा ये आकृत्या भवन्ति, ते दर्भकुसुमा.। 'दर्भपुष्पा' वा वेदितव्या। एते चरकसुश्रुताष्टाङ्गहृदयसग्रहशार्ङ्गधरै. कफजा. कथिता:।

१९ दारुणा:—

दारयन्ति=शरीरचर्मादि विदार्य विपादिकाख्य विकार ये जनयन्ति, ते दारुणा:। एते सुश्रुतेन कफजा उक्ता.।

२० द्विमुखा :—

द्वे द्वे मुखे येषा ते द्विमुखा, द्विमुखनामकसर्पवद् येषामुभौ भागौ मुखवद् भासेते, ते-द्विमुखाः । सुश्रुतेनैते पुरीषजा उक्ता ।

२१ नखादा :—

नखान् अदन्ति इति नखादाः । एते नखविकृतिजनका नखनाशका वा क्रिमय सुश्रुतेन कफजाः कथिता ।

२२ परिसर्पा :—

परित सर्पन्ति= एकत्रोत्पद्य परितो धावन्ति इति परिसर्पा, सुश्रुते रक्तजाः ।

२३ पिपीलिका :—

पिपीलिका नाम लघ्व्य. कीटिकाः, तद्वदाकारयुक्तत्वात् पिपीलिकाः । यद्वा-चरका-नुसार पिपीलिकाः=लिक्षाः । एते सुश्रुतेन कफजाः कथिता ।

२४ प्रलूना —

प्रलूयन्ते=छिन्ना भवन्ति, अर्थात्–एकस्माद् द्वौ, द्वाभ्या चत्वारः, चतुर्भ्योऽष्ट इति क्रमेण प्रजायन्ते इति प्रलूना । एते सुश्रुतेन कफजाः उक्ता. ।

२५ मकेरुका —

मङ्कन्ते=मुद्रिकादिमण्डनविशेषाकारा प्रतीयन्ते इति मकेरुका ('रिंगवर्म'-प्रभृतय. । इह "मकि मण्डने" इति धातुः । च०, अ० हृ०, अ० स०, शा० मा० ग्रन्थैरेते क्रिमयः पुरीषजाः कथ्यन्ते ।

२६ मलूना :—

मलात्=पुरीषादिरूपाद् ऊनाः=प्रमाणादिना हीनाः मलूनाः । मलूताः इति पाठे तु–मलेषु ऊता =सुरक्षिताः, यद्वा–मलेषु उताः सन्तता मलूता. स्यु । इमे शाङ्र्गधरमते पुरीषजाः क्रिमयः ।

२७ महाकुहा—

कुहयन्ते=विस्मापयन्ति, निमित्तलक्षणस्वरूपादिविज्ञाने व्यामोहमापादयन्ति इति कुहाः, महान्तश्च ते कुहा.—महाकुहाः—"ग्रेटेस्ट क्वैक्स" सज्ञाः । एते अ० हृ०, अ० स०, शा०, मा० आदिभि. कफजाः कथिताः ।

२८ महागुदा—

महद् गुदं येषां ते महागुदा । इमे क्रिमयो गुदभागे स्थूलाः, मुखभागे तु तनवः चरकेणैते कफजाः कथिता. ।

२६ महापुष्पा

महत्=अतिप्रमाण पुष्पम्=आर्तव यैस्ते महापुष्पा, प्रदरोत्पादका इत्यर्थः। एते सुश्रुतेन पुरीषजा उक्ताः। एतेन प्रदरे पुरीषविकृतेरपि सम्बन्ध. सूच्यते।

३० मातर—

मिमते, मान्ति वा=जनयन्ति अन्यान् क्रिमीन् ता मातर। अन्येषामन्येषा क्रिमीणामुत्पादनार्थमण्डदानमेव यत्कर्म ता मातर। अ० हृ०, अ० स०, शा० मा० चरकादिभि' क्रिमय इमे रक्तजा' कथिताः। क्रिमिजगत् पूर्वं सूचितमेव।

३१ रोमद्वीपाः—

रोमाणि द्वीपवत्=निवासाय द्वीपतुल्यानि येषा ते रोमद्वीपा, शरीरस्थरोमनिवासिन। एते च०, अ० हृ०, अ० स०, शा०, मा० आदिभि. रक्तजा. कथिता।

३२ रोमविध्वसा—

रोमाणि विध्वसयन्ति=नाशयन्ति इति रोमविध्वसा—लोमशातना। एते क्रिमयोऽष्टाङ्गहृदयसग्रहशार्ङ्गधरमाधवादिभि. रक्तजा. उक्ता।

३३ रोमादा—

रोमाणि अदन्ति=भक्षन्ति इति रोमादा, लोमशातना इत्यर्थं। एते चरकसुश्रुताभ्या रक्तजा कथिता.।

३४ लेलिहा—

पुन पुन अतिशयेन वा लिहन्ति=आस्वादयन्ति धातून् इति लेलिहा.। क्रिसेय=एते च०, अ० हृ०, अ० स०, शा०, माधवादिभि पुरीषजा कथिताः।

३५ विजवा—

विगतो जवो=वेगो येषा ते विजवा—वेगशून्यगतय. इत्यर्थं। सुश्रुतेनोक्ता' पुरीषजाः एते।

३६ सलूताख्या—

लूताभि.—लूताविषेण सह वर्तन्ते इति सलूता., 'सलूता' इति आख्या येषा ते 'सलूताख्या', लूताविषे उत्पन्ना इत्यर्थं। एतेऽष्टाङ्गहृदयसग्रहाभ्या पुरीषजा उक्ता। सभवतो लूतादशेन प्रभाविते पुरीषे एते समुत्पद्येरन्।

३७ सशूलका—

शूलेन सह वर्तन्ते इति सशूला, सशूला एव सशूलकाः, शूलजनका. इत्यर्थं., चरकमाधवाभ्या पुरीषजाः एते कथिता।

३८ सौगन्धिका—

सुगन्धे भवाः सौगन्धिकाः, शरीरे सुगन्धदुर्गन्धाद्युत्पादका इत्यर्थं, चरकाष्टाङ्गहृदयसग्रहैरिमे कफजा. कथिता. ।

३९ सौरसा—

सुरसे मधुरादिरसवदद्रव्ये भवाः सौरसा, मधुराद्यतियोगेन जायमाना इत्यर्थं । चरकाष्टाङ्गहृदयसग्रहै पुरीषजाः इमे कथिता. ।

४० सौसुरादा—

सुहिताः=तृप्ता सुरायाः=मद्यस्येति सुसुराः, सुसुरा एव सौसुरा, तान् अदन्ति इति सौसुरादा, अतिशयमद्यसेवनेन जायमाना. इत्यर्थ. । एते चरकाष्टाङ्गहृदयसग्रहशार्ङ्गधरमाधवैः पुरीषजा उक्ता ।

४१ हृदयचरा—

हृदये हृदय वा चरन्ति=गच्छन्ति भक्षन्ति वा इति हृदयचरा, हृद्रोगजनका इत्यर्थः । चरकेणैते कफजा. प्रोक्ता. ।

४२ हृदयादा—

हृदयमदन्ति इति हृदयादा, हृद्रोगकारिण. इत्यर्थः । इमेऽष्टाङ्गहृदयसग्रहशार्ङ्गधरमाधवादिभि कफजा. कथिता.—इति ।

इत्थमेते आयुर्वेदीयसहितादिग्रन्थेषुपलभ्माना केचन 'कीटाणव' व्युत्पत्तिमात्रेण किञ्चिद्रोगसम्बन्ध लक्ष्यीकृत्य प्रतिपादिताः । वेदेषु तु इतोऽपि विलक्षणा विलक्षणनामधराश्च परःशता कीटाणवो विविधक्रियाव्याधादिसम्बन्धोपदर्शका समुपलभ्यन्ते । योऽय 'अमीवा' नवीनवैज्ञानिकैः कीटाणूपदेशे सर्वप्रथममुपादिश्यते, तस्य वेदसहितासु शतशो मन्त्रेषु नाम प्राप्यते । यजुर्वेदे तु प्रथम मन्त्रे नव 'अनमीवा', 'अयक्ष्मा' इत्येताभ्या पदाभ्या गोराशी. श्रूयते । अथ 'अमीवा' सर्वप्रथम गर्भघातकक्रिमित्वेन परिज्ञात पश्चादनेकरोगसम्बद्धो विज्ञाच्छते स्म । तदुक्तम्—'अमीवा गर्भविध्वसी क्रिमिर्वा रोग एव वा' (वैदिककोशे पृ०) इति । सर्वेषा वेदोक्ताना क्रिमीणा वर्णनार्थं तु पुस्तकमेक निर्मातव्यमायतति इति केषाचिद् विलक्षणाना नाम्ना सूचिमेकामुपस्थाप्य विरस्याम । तद्यथा—दुर्णामा, अलिंश, अलीश, वत्सप, पलाल, अनुपलालः, शर्कु, कोकः, मलिम्लुच, पलीजक., आश्रेष, वव्रिवासाः, ऋक्षग्रीव, प्रमीली, सुनामा, अरायः, केशी, स्तम्बज, तुण्डिक, अनुजिघ्र, प्रमृशन्, क्रव्याद, रेरिह, किष्की, स्वप्नदृश्य, तिरीटी, स्वप्नत्सारी, जाग्रद्दिप्सन्, अवतोकाकृत्, मृतवत्साकृत्, कुसूल, कुक्षिल-ल कुकुभ करुम स्रिम विषूचीन करुन्धः कुकूरभा- दूर्शमृत—क्लीवप्रनर्ती वनघोषी सूर्या—तितिक्षी, वस्तवासी, दुर्गन्धि, लोहितास्य., मकक, असाहितात्मा, श्रोणिप्रतोदि, वधूपूर्वयायी,

भृङ्गहस्त', आपाकेष्ठा', स्तम्बज्योतिष्कर', प्रहासी, पश्चात्प्रपद', पुर'पार्ष्णिः, खलज', शकूघमज., उरुन्ड, मट्मट', कुम्भमुष्क, अयाशु, पर्यस्ताक्ष, अप्रचङ्कश, अस्त्रैण, पण्डग, सविवृत्सु, आति, उद्घर्षी, मुनिकेशा, जम्भयन्, मरीमृश, उपेषन्, उदुम्बल', तुण्डेलः, शालुड, गर्भप्रतिमर्शी, अमन्जातमार, सूतिकानुशायी, स्त्रीभाग गन्धर्व, पवीनस., तङ्गल्वः, शायक, नग्नक, किमीदी, व्यास्य, चतुरक्ष, पन्चपाद, अनङ्गुरि, वृन्तामिप्रसर्पी, वरीवृत.—इत्यादय । कियद्वा परिगणयाम । महदिद गवेषणीय वस्तु । मन्ये परिपूर्णतया कृते गवेषणे प्रातिमज्ञानशालिना, योगीशाना च प्राचा महर्षीणा बुद्धिवैभव वीक्ष्य दुर्दुरूढातिरिक्ताः सर्वे एव नतमस्तका भवेयु ।

कथमायुर्वेदीय चिकित्साशास्त्र त्रिदोषसिद्धान्तपुरस्कारेणैव प्रवृत्तम्—

कीटाणुवादस्य दिग्दर्शनेनानेन न खलु तिरोहित स्यादेतस्य महत्त्वम् । परन्तु एतादृशे विज्ञानानुमते समृद्धे परिपूर्णे च साहित्ये सत्यपि सोऽय कीटाणुवाद' किमर्थमुपेक्षित' किमर्थं चायुर्वेदे 'त्रिदोषवाद' एव चिकित्साशास्त्रे प्रामुख्य लम्भित इतिशका सर्वेषा पुरतोऽवतिष्ठते । एतदुत्तर ब्रूम —न खल्वायुर्वेदेन सर्वथा तिरस्कृतः कीटाणुवाद । अन्यान्यरोगै समानमेव 'क्रिमिनिदान' 'क्रिमिचिकित्सन' चोपनिबद्धमुपलभ्यते ग्रन्थेषु, क्रियते च सफलतया चिकित्साऽपि सर्वैर्वैद्य । अथ च बहुषु रोगेष्वपि क्रिमीणा सम्बन्ध स्पष्टमुद्घोषितो वर्तते । प्रसिद्धमेव 'सर्वाणि कुष्ठानि सक्रिमीणि (सु० नि० ५।५) इति वचनम् । अपि च—"कुष्ठ ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एवच । औपसर्गिकरोगाश्च सक्रामन्ति नरान्नरम' (सु० नि० ५।३४) इति प्रतिपादनेन रोगसक्रमण कीटाणुद्वारकमेवेति आयुर्वेदाचार्याणा नास्त्यविदितम् । तथापि भगवत पुनर्वसो। सहितोपदेशकाले एवाभूत् तादृशानामेकविधानामेवौषधाना गवेषणेच्छा चिकित्सकलोकस्य, समजायत च सार्वदिकस्य त्रिकालाबाध्यस्य चैकेविधस्यैव रोगहेतोर्जिज्ञासा येनोत्पद्येत प्रतिरोग साकल्येन ज्ञानम् । दृश्यता प्रमाणमग्निवेश —"ननु भगवन् ! आदावेव ज्ञानवता तथा प्रतिविधातव्यं, यथा प्रतिविहिते सिध्येदेवौषधमेकान्तेन" इति । भगवान् पुनर्वसुरात्रेय —"शक्य तथा प्रतिविधातुमस्माभिरस्मद्विधैर्वाऽपि अग्निवेश ! यथा प्रतिविहिते सिद्ध्येदेवौषधमेकान्तेन, तच्च प्रयोगसौष्ठवमुपदेष्टु यथावत् । न हि कश्चिदस्ति, य एतदेवमुपदिष्टमुपधारयितुमुत्सहेत, उपधार्य वा तथा प्रतिपत्तु प्रयोक्तु वा" (च० सू०।१५।४५) इति । इह शिष्यस्य एकान्तेन सिद्धप्रदानामौषधाना जिज्ञासा स्फुटा भवति, गुरोस्तु तादृश सामर्थ्यं योगमहत्त्व च परिज्ञायते, येन प्रत्यक्षमिव सर्वे भावाः परिज्ञायेरन्, परन्तु आगामिना जनाना शक्तिह्रास पश्यता गुरुणा त्रिकालाबाध्याना सर्वविधचिकित्सकपरिबोध्यानामेव सिद्धान्तानामुपदेशस्तेन विहित —इति ।

ततश्च त्रिदोषवादे इव रोगमूलतया प्रसिद्धेऽपि कीटाणुवादे सर्वेषा रोगाणामुत्पत्त्यादिप्रक्रियायास्तेन समाधानाभावात् 'त्रिदोषवाद' एव मुख्यो निरधारि महर्षिमि । अधुना हि

रक्तादिपरीक्षणेन कीटाणूपलम्भे एव तं तं रोगविशेषं निश्चिन्वन्ति पाश्चात्यचिकित्सापद्धत्य-नुयायिनः, तदनुपलम्भे तु पीडया व्याकुलेऽपि रुग्णे तं रोगं न स्वीकुर्वन्ति। तदीदृश्यां दशायां क्व कीटाणुभिः सह रोगस्यान्वयव्यतिरेकसम्बन्धः ?। एकस्या रुग्णाया मासिकर्तुसमाप्तिकाले असृग्दरे घोरतां गते'कैंसर'ख्यस्य रक्तार्बुदस्य कीटाणूनामनुपलम्भेऽपि पाश्चात्यचिकित्सकस्तं रक्तार्बुदमेवोद्घोषयति, परामर्शं ददाति च गर्भाशयस्य विनिःसारणाय। एवमादिभिः कारणै-र्निश्चीयते—रोगाणां मूलकारणं किंचिदन्यदेवास्ति, येन रोगे जनिते सति पश्चात्तेषां कीटाणू-नामुपस्थितिः क्वचिद् भवति, न भवत्यपि क्वचिदिति येषां रुग्णानां प्रकृतिः कीटाणूनां प्रतिकूला भवति, तत्र ते नोपतिष्ठन्ते। अनुकूलायां प्रकृतौ तु तेषां प्रसारो भवत्येव। अपि च बहुत्र गोधूमाद्यन्नेष्विव, अनेकेषु काष्ठेष्विव चान्तर्धातुष्वेव केचन कीटाणवः प्रादुर्भवन्ति, तत्रैव च स्वनियतसृष्टिप्रक्रियया तेऽभिवर्धन्ते। तत्रापि आन्तरिकेणैव केनचित् कारणेन शरीर क्षेत्रेक्रियते, येन क्वचिद् रुग्णे कीटाणवो जायन्ते, क्वचित्तु न जायन्ते। अपि च नव्यविज्ञान-शालिभिः शरीरस्थरक्तादिषु परीक्षितेष्वेव कीटाणुविशेषाणां सत्ता साध्यते, न घुनावधि केनापि वायुमण्डलं परीक्ष्य ततो यन्त्रादिसाहाय्येन कीटाणूनां परिदर्शनं कारितम्। नूनं खाद्यपेयादिषु विदुष्टेषु विशिष्टकृमीणां सद्भावः प्रत्यक्षेण प्रदर्शयितुं शक्यः स्यात्, परन्तु नात्र विप्रतिपत्ति-रायुर्वेदस्य। आहारशुद्धिर्हि सर्वतः प्रथमा परिगण्यत आयुर्वेदाचार्यैः। ये सन्ति तेषां स्वस्थ-वृत्तोपदेशास्ते परिपूर्णा एवेदृशेऽरणदेशे इतोऽप्यधिका सूक्ष्मता ऋषीणामुपदेशेषु लभ्यते दृष्टिदोषादिपरिहारादिका। अत एवाष्टसु आहारविधिविशेषायतनेषु प्रकृतिकरणसयोगराशि-ष्विव देशकालोपयोगसंस्थादिष्वपि आचार्याणां बलवदुपदेशः, अथ च भूयोऽपि "इष्टे देशे, इष्टसर्वोपकरणम्, तन्मना भुञ्जीत" (च० वि० १) इति पूर्वोक्तस्यैवोपोद्वलनम्।

तदेवं सर्वरोगाणां निदानचिकित्सादिसंगतावसंभविन्यां 'कीटाणुवाद' विषयविशेषे एव नियम्य सार्वकालिकी, सर्वरोगसंबद्धा च दोषाणामेव कारणता महर्षिभिः स्वीकृता। त्रिदोष-सिद्धान्ते तु नानापरीक्षाभिः परीक्ष्य व्यवस्थापिते यानि लक्षणानि निश्चितानि तानि काल-त्रयेऽपि न व्यभिचरन्ति, अनुक्तं नवोत्पन्नमपि च रोगं नामज्ञानेऽसत्यपि निर्णयन्ति। तैश्च चिकित्सायां साफल्यं लभ्यते कुशलचिकित्सकैः। उच्यते हि आचार्यैः—"सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वात (पित्तकफ) विकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायोः (पित्तस्य कफस्य च) इदमात्मरूपमपरिणामि, यदुपलभ्य वातादिविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः" (च० सू० २०, १२–१८) इत्यादि।

अलमधिकेन। कुशलश्चिकित्सक उभयोर्वादयोर्यथार्हमुपयोगं विधाय सफलतामधिगच्छेद् इत्युक्त्वा सर्वेषां सौमनस्यमभिवाञ्छन् विरमामि विस्तरात्। शिवम्।

अन्नपान का प्रकृति से सम्बन्ध

वैद्य दौलतराम चतुर्वेदी,
ए. एम एस (का हि वि.)
निदेशक, आयुर्वेद विभाग, राजस्थान

[प्रात स्मरणीय महामना मालवीयजी के निदेशकत्व में काशी विश्वविद्यालय से आयुर्वेद की शिक्षा लेने एव पवित्रात्मा मालवीयजी से दीक्षित श्री दौलतरामजी चतुर्वेदी वर्त्तमान में राजस्थानी आयुर्वेद विभाग के निदेशक हैं। आप सरीखों की नियुक्ति में हजारों लाखों आशायें आपकी ओर उन्मुख हैं।

भारतीय संस्कृति तथा प्रकृति के आप कितनी सीमा तक परिचित हैं इसका उदाहरण "अन्नपान का प्रकृति से सम्बन्ध" है। पाठक इसका मनन करें, कारण कथनो को करणी में रूपान्तरित करने का आपका आव्हान समयोचित है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सपादक]

प्रत्येक प्राणी के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक क्रिया-कलापो का सम्बन्ध मनुष्य शरीर मे स्थित पाच कोषो से प्रभावित होता है। प्राणी द्वारा ग्रहण किये गये आहार से सबसे प्रथम अन्नमय कोष का निर्माण होता है। इस कोश से ही अग्रिम मनोमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश की उत्कृष्टता निर्भर करती है। अन्नमय कोश जितना सत्वप्रधान होगा उतने ही शक्तिशाली अन्य कोश भी होगे। इस अन्नमय कोश को प्रभावशाली निर्मित करने की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक प्राणी अपने आहार-विहार पर पूर्ण रूप से सदा चिन्तन करता रहे। बिना किसी को पीडा पहुँचाये, बिना किसी दूसरे के भाग को ग्रहण किये, अपने शारीरिक श्रम ने न्यायपूर्वक प्राप्त अन्नपान से इस कोश के निर्माण मे सात्विक प्रभाव उत्पन्न होता है तथा इसके विपरीत अन्यायोपार्जित अशुद्ध, मर्यादाविहीन अन्नपान के ग्रहण करने से तामसप्रधान अन्नमय कोश प्रदान होता है। इस कोश को सात्विकप्रधान बनाए रखने के लिए पुराणो मे ऋषियो, राजाओ, व्यवसाइयो तथा सेवको के अनेक आदर्श उदाहरण प्राप्त होते हैं। उदाहरणस्वरूप अनेक ऋषि खेतो मे से दिन मे अन्न सग्रहीत कर लिए जाने के उपरान्त तथा सायकाल पक्षियो द्वारा खेत में पड़े हुए अन्न के दानो को चुग लिए जाने के उपरान्त रात्रि मे उनसे बचे हुए अन्न के दानो को एकत्रित करते थे। उस सकलित अन्न की राशि मे से षष्टाश के लगभग राज्य कोष मे करस्वरूप जमा कराने का प्रयत्न करते थे। इसके उपरान्त शेष अन्न को स्वच्छ कर मूलस्वरूप मे ही गाय को खिलाते थे तथा उसके गोबर मे विसर्जित किए हुए अन्न के कणो को प्रक्षालित कर हविष्यान्न का रूप दे कर शरीर यात्रा के लिए ग्रहण करते थे। इस पराकाष्ठा की आहार-शुद्धि का ही परिणाम था कि वे सृष्टि की प्रत्येक प्रक्रिया को हस्तामलकवत सदा दर्शन मे समर्थ थे तथा भगवत तत्व से मान्य शक्ति के आराधन मे आनन्दनिमग्न रहते थे। उनके लिए देश, काल की सीमाओ का कोई महत्व नही था। इस सभी का मूल कारण

अत्युत्कृष्ट अन्नमय कोश का परिणाम था। इसकी उत्कृष्टता के अनुपात से प्रबल मानसिक शक्तियुक्त मनोमय कोश निर्माण होता था। प्रबल मनोमय कोश से अत्यन्त प्रभावशाली प्राणमय व विज्ञानमय कोश तथा प्रबल विज्ञानमय कोश के अनुपात से ही ससार की नियन्ता शक्ति से सानिध्य प्रदान करने वाले आनन्दमय कोश का उत्तम स्वरूप विकसित होता था। यह भारतीय विज्ञान परम्परा की एक अमूल्य निधि थी जो अब क्रमश. लुप्त होती जा रही है और उसी अनुपात से भारतीय सस्कृति तथा विज्ञान का ह्रास दृष्टिगोचर हो रहा है। आज भी वैद्यरत्न श्री सत्यनारायणजी शास्त्री तथा श्री चाणोद गुरा साहिब जैसे अनेक आयुर्वेद विज्ञान के प्रख्यात पियूषपाणि चिकित्सक इस महत्वपूर्ण वैज्ञानिक मर्यादा का पालन करने के महत्व को सिद्ध कर रहे हैं।

आज ऐसे रोगियो की कमी नही है जो कि केवल अन्नपान के अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तो का पालन नही करने के कारण गम्भीर रोगो से ग्रसित हैं। आश्चर्य तो यह है कि वर्तमान विज्ञान की अन्नपान के विभिन्न घटको की प्रदर्शनीय विश्लेषणात्मक बहुत बडी उपलब्धियो होने के उपरान्त भी आहार के महत्व को आयुर्वेद विज्ञान की तुलना मे नगण्य ही कहना चाहिए। इस विषय मे अधिक विस्तार मे न जाकर आयुर्वेद में तो

पथ्येसतिगतातस्य किमौषध निषेवणाम्।
पथ्येऽसतिगतातंस्य किमौषध निषेवणाम्॥

इस श्लोक से रोगावस्था मे आहार का महत्व दर्शाया गया है। आज की सभ्यता की विडम्बना के चाकचक्य मे अन्नपान ग्रहण करने की सभी मर्यादायें तीव्र गति से लुप्त होती चली जा रही हैं। इस बात का कोई महत्व नही माना जाता कि ग्रहण किया जा रहा अन्नपान न्यायोपार्जित धन से क्रय किया हुआ है अथवा नही। आहार-निर्माण करने वाला व्यक्ति शुचि तथा स्वच्छ है अथवा नही, अन्नपान मे प्रयुक्त पात्रादि ससर्गज दोष प्रभावहीन तथा समयानुकूल हैं अथवा नही, सहभोजी समानशील तथा व्यसनी है अथवा नही, तथा स्वस्थवृत्तानुसार भोजन है या नही। इसका प्रभाव भारत ही नही ससार के अधिकसख्यक प्राणियो को आध्यात्मिक, मानसिक तथा शारीरिक ह्रास की ओर लेजा रहा है और दैव-गतिवश इस ह्रास को विकास की सज्ञा दी जा रही है।

मेरे विचार से तो श्री चाणोद गुरा साहिब जैसे आप्त जनो का आशीर्वाद बहुत समय तक ससार के स्वस्थ तथा रोगग्रसित प्राणियो को प्राप्त होता रहे तो इस क्रमिक ह्रास की गति मे कमी आ कर भारतीय परम्परानुसार विकास की ओर पग उठाने वाले अनेक प्राणियो को बल मिलता रहेगा। मैं आचार्य वागभट्ट की निम्न आकाँक्षा के साथ अपना मन्तव्य-प्रकाश का समापन उचित समझता हू—

भिषजा साधुवृत्तानाम् भद्र आगमशालिनाम्।
अभ्यस्त कर्मणाम् भद्र, भद्रं भद्राभिलाषिणाम्॥

आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता

अन्तर्गत लेख 'सांख्ये नाना मतानि' (संस्कृत में)

लेखक . स्वर्गीय आचार्यश्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री

पण्डितमार्तण्डः, विद्याभूषणः, विद्यावागीश, जामनगरस्थः

[श्री शास्त्रीजी का यह लेख संस्कृत में है, इसे ज्यों का त्यों प्रकाशित किया जा रहा है। आयुर्वेद कौन से मूल विज्ञान के आधार से चल रहा है—इस विषय को एक व्यापक रूप देकर, उसके एक देश की एक ठोस सामग्री के रूप में आयुर्वेद जगत् को यह उत्तम भेंट दी गई है। प्राय ऐसे मत देखने-सुनने में आते हैं कि 'आयुर्वेद के आचार्यों ने समस्त न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों के सिद्धान्त लेकर, उन्हें अपनी अनुकूलता से समन्वित कर अपने सिद्धान्त पृथक रूप से गढ डाले हैं। परन्तु इससे दूसरी दिशा दिखा कर श्री शास्त्रीजी ने जो तथ्य उपस्थित किये है, उनसे आयुर्वेद का गौरव अत्यधिक बढ गया है। आप बतलाते हैं कि आयुर्वेद वेद या उपवेद ही नहीं, यह तो ऋगादि वेदों के वेदिताओं द्वारा भी मान्य है—"तस्यायुष पुण्यतमो वेदो वेदविदा मत (च०सू० १।४३)। दर्शन आदि अन्य समस्त शास्त्र वेद के अगभूत हैं और वेद तथा आयुर्वेद से ही कुछ मूल सिद्धान्त लेकर उनका व्याख्यान कर रहे हैं। और भी आगे बढे तो न्यायदर्शन के भाष्यकार महामुनि श्री वात्स्यायन के शब्दों में कहा जा सकता है कि वैदिक सूक्तों के द्रष्टा महर्षियों ने ही उनके सिद्धान्तों के व्याख्यानार्थ दर्शनों का निर्माण किया था—"य एवाप्ता वेदार्थाना द्रष्टार. प्रवक्तारश्च, त एवायुर्वेद प्रभृतीनाम्" (न्या० २।१।६७)। जब तथ्य यह है, तब निष्प्रमाण बातें करना आयुर्वेद के हित में नहीं हो सकता।

शका हो सकती है कि—"न्याय दर्शन में यदि आयुर्वेद का नाम इस गौरव के साथ दिलाया जा सकता है, तो आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थ चरक सहिता में भी 'साख्य' और 'योग' इन दर्शनों का नाम दिखाया जा सकता है, जिससे सिद्ध होता है कि आयुर्वेद के सिद्धान्त इन दर्शनों से ही लिए गये है। उदाहरणार्थ—"यथा आदित्य प्रकाशकस्तथा साख्यज्ञान प्रकाशकमिति" (च०वि० ८।३४) इस शका के समाधानार्थ श्री शास्त्रीजी का एक मौलिक निबन्ध "श्री सत्यनारायणाभिनन्दन" ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है। उसमें आपने सिद्ध किया है कि उपलब्ध दर्शनों के बनने के पूर्व समस्त तत्त्वज्ञान का नाम 'साख्य' यह था और उस तत्त्वज्ञान को समझाने के लिये महर्षियों ने सक्षेप और विस्तार वाले अनेक प्रकार आविष्कृत किये थे। उन सबके अन्तिम परिज्ञाता महर्षि तृतीय अत्रि थे, जिनका नाम विज्ञान के नाम से ही 'साख्य' प्रसिद्ध हो गया था। महर्षि कृष्ण आत्रेय जो आगे जाकर 'भगवान् पुनर्वसु आत्रेय' के रूप में प्रसिद्ध हुए, उन्हीं 'साख्य अत्रि' के स्वनामधन्य पुत्र थे। "आत्रेयोगौतम साख्य" इन शब्दों में चरक सहिता में (१।८) 'साख्यात्रि' का स्मरण हुआ है। जब भगवान् पुनर्वसु आत्रेय इन्द्रलोक से नवनीत, सूत्र रूप आयुर्वेद का अग्निवेश आदि शिष्यों के प्रति व्याख्यान करने लगे तब अपने कुल में प्रतिष्ठित उसी तत्त्वज्ञान 'साख्य' से समस्त सिद्धान्तों का उन्होंने समर्थन किया था। यह 'साख्य' तब कितने रूप में प्रचलित था तथा चरक सहिता में उनमें से कौनसा साख्य लिया गया था, इन्हीं तथ्यों का दर्शन श्री शास्त्रीजी के गवेषणापूर्ण इस लेख से प्राप्त करने की प्रार्थना है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सपादक]

अथात साख्यीयनानामतविज्ञानोयमध्याय वक्ष्याम, यथाहुराचार्या ।

दार्शनिक्या मूलभित्तौ प्रतिष्ठिताः सत्वायुर्वेदीयसिद्धान्ताः ।

आयुर्वेदीय दर्शन तु साख्यमेव । तथा हि भगवान् पुनर्वसूरात्रेय—"यथादित्य प्रकाशकस्तथा साख्यज्ञान प्रकाशकमिति" (च० वि० ८।३४) इत्येव साख्यमेव प्रशशस, उदाजहार च सर्वत्र प्राय: साख्यीयानेव सिद्धान्तान् दार्शनिकविषयविनिरूपणे। परन्तु कतिविधमस्ति साख्यम् ? यद्यनेकविध, तर्हि कतमदायुर्वेदवर्णितम साख्यम्, आयुर्वेदस्यापि च ग्रन्थेषु सर्वत्र एकविधमेव तद् अनेकविध वेति बहुशोऽत्र प्रश्नाः समुपतिष्ठन्ते। तेषा समाधानाय परीक्ष्यतेऽस्य विषय ।

देशविप्लवै, वैदेशिकानामाक्रमणै, विधर्मिणा विजेतृणा षड्यन्त्रै चिरोपद्रुताना भारतीयाना किंकर्तव्यमूढतया चेत्यादिभिर्नानाविधैः कारणैर्वर्षपूगेभ्य भारतस्य सर्वा धार्मिक्यः सामाजिक्यश्च व्यवस्था विपर्यस्ताः सन्ति। विच्छिन्नाः प्राचीना गुरुशिष्यपरम्परा । यदि क्वचित् सुरक्षिता. स्यु, तदापि विशालेऽस्मिन् देशे सार्वत्रिकप्रचाराभावान्न ता सुखेन ज्ञातु शक्याः। अतएव सर्वदर्शनेस्वादिमस्यात्यन्त प्राचीनस्य च साख्यस्य विषये नेद सर्वेषा विदितमस्ति यद् एकविधानामेव पदार्थाना विविधशिष्यबुबोधिषया आचार्यैर्विविधा शैलीभेदा आविष्कृता अभूवन्निति। सांख्ये नानामतानि च तत एव प्रचार लेभिरे। अद्यतु ईश्वरकृष्णास्य साख्यकारिकाणा प्रचलिताना साख्यसूत्राणा वा सिद्धान्ता एव सर्वसाधारणाना दृष्टौ सम्पूर्णं साख्यमस्ति। परन्तु पचसहस्रवत्सरेभ्य. पूर्वं सर्वे भारती ऋषयो मुनयश्च साख्ये वर्तमानानामेवविधाना मतमतान्तराणा पूर्णतया परिज्ञातार आसन्निति महाभारतस्य पौराणिकस्य वाङ्मयस्य च पर्यालोचनेन ज्ञातु शक्यते ।

साख्य योग· पचरात्र वेदा पाशुपत तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥ (महा० शा० ३५९।६४)

इत्यादयः श्लोका. केवल परायणार्था, यद्वा गम्भीरतारहितस्य सरलस्याक्षरार्थस्य व्युत्पादनार्था एव न सन्ति। एतेषु प्रतिपादित तथ्य तु तदा परिज्ञायते, यदा विभिन्नेष्ववसरेषु सजातानामृषिमुन्यादीना सवादेषु विभिन्नानामेषा मताना परिदर्शन क्रियते। दिग्दर्शनायेह तादृशानामेव केषाचिन्मताना पर्यालोचन विधीयते, येनायुर्वेद 'साख्यदर्शनम्' कीदृशमस्तीति अव्याकुल परिज्ञायेत। न हीदृश पर्यालोचन विना विविधासु सहितासु, अेकस्यामेव सहिताया विभिन्नेषु प्रकरणेषु वा, परस्पर विरुद्धवदाभासमाना केचन सिद्धान्तभागा आर्षत्वगौरवरक्षणपूर्वक योजयितुं सुशका ।

साप्रतमुपलभ्यमानेषु साख्याचार्याणा ग्रन्थेषु श्रीमदीश्वरकृष्णास्य साख्यकारिकैव सर्वतः प्राचिनेति विदुषा मतम्। परन्तु पर्यालोचनया ज्ञायन्ते ईश्वरकृष्णादपि प्राचीना बहव साख्याचार्या.। स्वयमीश्वरकृष्णेनैव 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थस्य कपिलासुरिपचशिखाद्याचार्याणा चोल्लेख. कृतोऽस्ति। 'अहिर्बुध्न्यसहितायाम्' (१२।१८।१९) अपि लिखितमिदम्—

साङ्ख्यरूपेण सकल्पो वैष्णवः कपिलादृपे.।
उदितो यादृश पूर्वं तादृश शृणु मेऽखिलम्॥
षष्टिभेद स्मृत तन्त्र साङ्ख्ये नाम महामुने !॥ इत्यादि॥

प्राचाममीषामाचार्याणा निबन्धा अधुना न लभ्यन्ते इति तेषु कश्चन मतभेद आसीन्न वेति यद्यपि वक्तु न शक्यते, तथापीदमवश्य वक्तु शक्य यद् एकेनाचार्येण कस्यचिद्विषयस्य विवेचने या शैली स्वीकृता, तदन्येन त विषय ततोऽप्यधिकेन सारल्येन विवेचयितुम्, अन्येन वा केनचित्कारणेन, पूर्वापेक्षया भिन्नैव शैली अवश्यमेवाश्रिताऽभविष्यत्। अन्यथा हि कश्चिदेकमेव विषयमेकयैव शैल्या विवेचयितॄणामनेकेषा ग्रन्थाना काऽऽवश्यकताऽऽसीदिति प्रश्नस्य समाधान कठिनमेव। शैलीभेदे च सति पदार्थभदोऽपि न खलु न स्वाभाविक। एतादृशानामेव विभिन्नपदार्थवादिना केषाचित् साङ्ख्याचार्याणामुल्लेख श्रीमद्भागवते (११।२२।१–२५) प्राप्यते। तथाहि—

भक्तस्योद्धवस्य भगवन्त श्रीकृष्ण प्रति प्रश्नः—

कति तत्त्वानि विश्वेश ! सङ्ख्यातान्यृषिभि प्रभो !।
नवैकादश पच त्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम॥१॥
केचित् षड्विशति प्राहुरपरे पचविंशतिम्।
सप्तैकेनुव, षट्, केचिच्चत्वार्येकादशापरे॥२॥
केचित् सप्तदश प्राहु. षोडशैके त्रयोदश।
एतावत्त्व हि साङ्ख्यानामृषयो यद्विवक्षया॥३॥
गायन्ति पृथगायुष्मन्निद नो वक्तुमर्हसि।

इह हि प्रश्ने—(१) अष्टाविंशतितत्त्ववादिनाम्, (२) षड्विंशतितत्त्ववादिनाम्, (३) पचविंशतितत्त्ववादिनाम्, (४) सप्ततत्त्ववादिनाम्, (५) नवतत्त्ववादिनाम्, (६) षट्तत्त्ववादिनाम्, (७) चतुस्तत्त्ववादिनाम्, (८) एकादशतत्त्ववादिनाम्, (९) सप्तदशतत्त्ववादिनाम्, (१०) षोडशतत्त्ववादिनाम्, (११) त्रयोदशतत्त्ववादिना च पृथगेकादशमतान्युल्लिखतानि सन्ति। तानि च तत्काल प्रचलितान्यासन्। परमतत्त्वज्ञस्योद्धवस्यमतान्येतानि सर्वाणि हृदयगमानि यथार्थानि च निश्चित्यापि एतेषा विभेदे को वास्तविको हेतुरिति जिज्ञासोदय स्वाभाविक आसीत्। भगवता श्रीकृष्णेन तूतरमित्थ दत्तम्—

युक्त च, सन्ति सर्वत्र, भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायामदीयामुद्गृह्य वदता किं न दुर्घटम्॥१॥
नैतदेव यथात्थ त्व, यदह वच्मि तत्तथा।
एव विवदता हेतु शक्तयो मे दुरत्यया॥२॥
यासा व्यतिकरादासीद् विकल्पो वदता पदम्।
प्राप्त शमदमेऽप्यति वादस्तमनुशाम्यति॥६॥

परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ ।
पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥७॥
एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च ।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः ॥८॥
पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सताम् ।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं, गृह्णीमो युक्तिसम्भवात् ॥९॥ इति

अथ भगवदुक्तस्योत्तरस्याशय —"सर्वमवेदमृषीणां सांख्यप्रतिपादनं युक्तमेव । यतो यथा ब्राह्मणा (ब्रह्मवादिनो) भाषन्ते, तथैव सर्वत्र (सर्वेषु मतेषु) सन्ति, 'पदार्था' इति शेष । भगवतो माया (प्रकृतितन्त्रम्) विभिन्नदृष्टिभि परीक्ष्य, विभिन्नैः प्रकारैर्वदतां तेषां मतेषु किमपि दुर्घटं नास्ति । यच्च तेषु किंचिदेव विवदन्ते यत्—"यथा त्वमात्थ, एतदेव=तथा नास्ति, किन्तु यदहं वच्मि, तत् तथा वर्तते" इति । तेषामेव खण्डनमण्डनपूर्वकं विविदमानानां विवादेऽपि हेतुर्दुरत्यया भगवच्छक्तय एव । अनन्ता सन्ति हि सृष्टिविज्ञाने कार्यकारणभावा । तत्र कश्चिदेकेन कार्यकारणभावेन वस्तुतत्त्वं यदि परीक्षते, तर्हि इतरस्तद्भिन्नमेव कंचित् कार्यकारणभावमुपादाय तत्र विचारं प्रवर्त्तयति तत्रैकेन दृष्टे तत्त्वज्ञाने परः स्वदृष्टेन तत्त्वज्ञानेन गम्भीरतया साम्यमनवेक्ष्य यदि शङ्कते, यदि वा तत्खण्डनं करोति, तदानीं द्वयोर्विवादो नासुलभ । यतो हि भगवच्छक्तयो दुरत्यया भवन्ति । न हि तासामियत्तया ईदृक्तया वा परिच्छेदः सरल. । यासां तु शक्तीनां व्यतिकरात्=परस्परं मिश्रणाद्, विवेकानाग्रहणाद्वा योऽसौ विकल्प =भेदघटितं ज्ञानं विवादपदमभूत्, स तु विकल्प शमदमे प्राप्तेऽप्येति=स्वयमेव विनश्यति, तमन्वेव च वादोऽपिशाम्यति । इह च तत्त्वानां पौर्वापर्यप्रसंख्याने योऽसौ विभेदस्तत्र तु कारणमिदमेव यत्—तत्त्वानि परस्परमनुप्रविष्टानि भवन्ति, तत्र च यस्य वक्तुर्यथा विवक्षा भवति, तथैवासौ प्रसंख्यानं करोति । क्वचित्तु पूर्वस्मिन् परस्मिन् वैकस्मिन्नपि तत्त्वे तदितराणि सर्वस्तत्त्वानि प्रविष्टानि दृश्यन्ते, ततश्चामीषां पौर्वापर्यम् (कार्यकारणभावो वा) प्रसंख्यानमभीप्सतां मुनीनां यद्वक्त्रं यथा विविक्तं भवति तथैव भवति । सर्वत्र च तन्मतेषु युक्तिसंभवात् तन्मतं तथैव (यथार्थत्वेन) वयमपि गृह्णीम" इति ।

अतितमामुदारोऽयं भगवतः 'समन्वयवादः', योहि विवादशान्तये सर्वत्रैवोपयोक्तुं शक्यते क्रान्तदर्शिभि कविभि । इयमेव पद्धतिर्भारतीयां संस्कृतिं चिराज्जीवयति । नात्र कस्यचिदपि विवादस्यावसर । विश्वोद्भवस्थितिसंहृतीनां जटिलां समस्यां समाधाय त्रितापसंतप्तानां प्राणिनां सुखाय कल्याणमार्गदर्शने न कोऽप्यस्ति विमत. । किंतु स्वजीवनबलिदानेन विश्वशान्तये कांश्चित्सिद्धान्तानाविष्कृतवतां येषां कश्चिदपि स्वार्थो नासीत्, तेषां कीर्तिविलोपेन तत्त्वगवेषकाणामुत्साहहननं नितान्तमनुचितम् । पूर्वं तेषां दृष्टिकोणोऽवगतव्य । ततो यदि ततोऽप्याधिकेन प्राञ्जलेन प्रकारेण किमप्याविष्कृतं भवेत्, तदा तदप्युपक्षेप्यम्, सति संभवे च तत्समन्वयोऽपि विधेय. । अन्यथा तु स्वमतप्रदर्शनमात्रमेवालम् । खण्डनमण्डनादिपक्षोत्क्षेपण-

साङ्ख्यरूपेण सकल्पो वैष्णवः कपिलादृषेः ।
उदितो यादृश पूर्वं तादृश शृणु मेऽखिलम् ॥
षष्टिभेद स्मृत तन्त्र साङ्ख्यं नाम महामुने ! ॥ इत्यादि॥

प्राचाममीषामाचार्याणा निबन्धा अधुना न लभ्यन्ते इति तेषु कश्चन मतभेद आसीन्न वेति यद्यपि वक्तु न शक्यते, तथापीदमवश्य वक्तु शक्य यद् एकेनाचार्येण कस्यचिद्विषयस्य विवेचने या शैली स्वीकृता, तदन्येन त विषय ततोऽप्यधिकेन सारल्येन विवेचयितुम्, अन्येन वा केनचित्कारणेन, पूर्वापेक्षया भिन्नैव शैली अवश्यमेवाश्रिताऽभविष्यत् । अन्यथा हि कचिदेक-मेव विषयमेकयैव शैल्या विवेचयितॄणामनेकेषा ग्रन्थाना काऽऽवश्यकताऽऽसीदिति प्रश्नस्य समाधान कठिनमेव । शैलीभेदे च सति पदार्थभेदोऽपि न खलु न स्वाभाविक । एतादृशानामेव विभिन्नपदार्थवादिना केषाचित् साङ्ख्याचार्याणामुल्लेख श्रीमद्भागवते (११।२२।१–२५) प्राप्यते । तथाहि—

भक्तस्योद्धवस्य भगवन्त श्रीकृष्ण प्रति प्रश्नः—

कति तत्त्वानि विश्वेश ! सङ्ख्यातान्यृषिभि प्रभो ! ।
नवैकादश पच त्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम ॥१॥
केचित् षड्विंशतिं प्राहुरपरे पचविंशतिम् ।
सप्तैकेनुव, षट्, केचिच्चत्वार्यैकादशापरे ॥२॥
केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश ।
एतावत्त्व हि साङ्ख्यानामृषयो यद्विवक्षया ॥३॥
गायन्ति पृथगायुष्मन्निद नो वक्तुमर्हसि ।

इह हि प्रश्ने—(१) अष्टाविंशतितत्त्ववादिनाम्, (२) षड्विंशतितत्त्ववादिनाम्, (३) पचविंशतितत्त्ववादिनाम्, (४) सप्ततत्त्ववादिनाम्, (५) नवतत्त्ववादिनाम्, (६) षट्तत्त्ववादिनाम्, (७) चतुस्तत्त्ववादिनाम्, (८) एकादशतत्त्ववादिनाम्, (९) सप्तदशतत्त्ववादिनाम्, (१०) षोडशतत्त्ववादिनाम्, (११) त्रयोदशतत्त्ववादिना च पृथगेकादशमतान्युल्लिखतानि सन्ति । तानि च तत्काल प्रचलितान्यासन् । परमतत्त्वज्ञस्योद्धवस्यमतान्येतानि सर्वाणि हृदयगमानि यथार्थानि च निश्चित्यापि एतेषा विभेदे को वास्तविको हेतुरिति जिज्ञासोदय स्वाभाविक आसीत् । भगवता श्रीकृष्णेन तूत्तरमित्थ दत्तम्—

युक्त च, सन्ति सर्वत्र, भाषन्ते ब्राह्मणा यथा ।
मायामदीयामुद्गृह्य वदता किं न दुर्घटम् ॥१॥
नैतदेव यथात्थ त्व, यदह वच्मि तत्तथा ।
एव विवदता हेतु शक्तयो मे दुरत्यया ॥२॥
यासा व्यतिकरादासीद् विकल्पो वदता पदम् ।
प्राप्ते शमदमेऽप्यति वादस्तमनुशाम्यति ॥६॥

परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वाना पुरुषर्षभ ! ।
पौर्वापर्यप्रसख्यान यथा वक्तुर्विवक्षितम् ।।७।।
एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च ।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वश. ।।८।।
पौर्वापर्यमतोऽमीषा प्रसख्यानमभीप्सताम् ।
यथा विविक्त यद्वक्त्र, गृह्णीमो युक्तिसम्भवात् ।।९।। इति

अथ भगवद्वक्तस्योत्तरस्याशय —"सर्वमवेदमृषीणा साख्यप्रतिपादन युक्तमेव । यतो यथा ब्राह्मणा. (ब्रह्मवादिनो) भाषन्ते, तथैव सर्वत्र (सर्वेषु मतेषु) सन्ति, 'पदार्था' इति शेष । भगवतो माया (प्रकृतितन्त्रम्) विभिन्नदृष्टिभि. परीक्ष्य, विभिन्नैः प्रकारैर्वदता तेषा मतेषु किमपि दुर्घट नास्ति । यच्च तेषु किचिदेव विवदन्ते यत्—"यथा त्वमात्थ, एतदेव=तथा नास्ति, किन्तु यदह वच्मि, तत् तथा वर्तते" इति । तेषामेव खण्डनमण्डनपूर्वक विविदमानाना विवादेऽपि हेतुर्दुरत्यया भगवच्छक्तय एव । अनन्ता सन्ति हि सृष्टिविज्ञाने कार्यकारणभावा । तत्र कश्चिदेकेन कार्यकारणभावेन वस्तुतत्त्व यदि परीक्षते, तर्हि इतरस्तद्भिन्नमेव कञ्चित् कार्यकारणभावमुपादाय तत्र विचार प्रवर्त्तयति तत्रैकेन दृष्टे तत्वज्ञाने पर स्वदृष्टेन तत्व-ज्ञानेन गम्भीरतया साम्यमनवेक्ष्य यदि शकते, यदि वा तत्खडन करोति, तदानी द्वयोर्विवादो नासुलभ. । यतो हि भगवच्छक्तयो दुरत्यया भवन्ति । न हि तासामियत्तया ईदृक्तया वा परिच्छेदः सरल । यासा तु शक्तीना व्यतिकरात्=परस्पर मिश्रणाद्, विवेकोनाग्रहणाद्वा योऽसौ विकल्प =भेदघटित ज्ञान विवादपदमभूत्, स तु विकल्प शमदमे प्राप्तेऽप्येति=स्वयमेव विनश्यति, तमन्वेव च वादोऽपिशाम्यति । इह च तत्वाना पौर्वापर्यप्रसख्याने योऽसौ विभेदस्तत्र तु कारणमिदमेव यत्—तत्त्वानि परस्परमनुप्रविष्टानि भवन्ति, तत्र च यस्य वक्तुर्यथा विवक्षा भवति, तथैवासौ प्रसख्यान करोति । क्वचितु पूर्वस्मिन् परस्मिन् वैकस्मिन्नपि तत्वे तदितराणि सर्वस्तत्वानि प्रविष्टानि दृश्यन्ते, ततश्चामीषा पौर्वापर्यम् (कार्यकारणभावो वा) प्रसख्यानम-भीप्सता मुनीना यद्वक्त्र यथा विविक्त भवति तथैव भवति । सर्वत्र च तन्मतेषु युक्तिसभवात् तन्मत तथैव (यथार्थत्वेन) वयमपि गृह्णीम" इति ।

अतितमामुदारोऽय भगवतः 'समन्वयवाद.', योहि विवादशातये सर्वत्रवोपयोक्तु शक्यते ऋतदर्शिभि कविभि । इयमेव पद्धतिर्भारतीया सस्कृति चिराज्जीवयति । नात्र कस्यचिदपि विवादस्यावसर । विश्वोद्भवस्थितिसहृतीना जटिला समस्या समाधाय त्रितापसतप्तना प्राणिना सुखाय कल्याणमार्गदर्शन न कोऽप्यस्ति विमत. । किंतु स्वजीवनबलिदानेन विश्वशा-तये काश्चित्सिद्धाताना।विष्कृतवता येषा कश्चिदपि स्वार्थो नासीत्, तेषा कीर्तिविलोपेन तत्त्वगवेषकाणामुत्साहहनन नितातमनुचितम् । पूर्वं तेषा दृष्टिकोणोऽवगतव्य । ततो यदि ततोऽप्याधिकेन प्राजलेन प्रकारेण किमप्याविष्कृत भवेत्, तदातदप्युपक्षेप्यम्, सति सभवे च तत्समन्वयोऽपि विधेय. । अन्यथातु स्वमतप्रदर्शनमात्रमेवालम् । खण्डनमण्डनादिपकोत्क्षेपण-

प्रकारस्तु सर्वथाऽपि हेय एव । एतेन युगयुगांतराणा विवादा. स्वयमेवोपशाम्येयुः । विषमेऽपि समये न भवति सर्वेऽपि मदबुद्धय । केचनेहशा अपि नियत भवति, येऽधिकारिभेदाद् विविध-प्रकारैर्निरूपितेषु शास्त्रीयतत्वेषु स्वबुद्धि, स्वरुचि, स्वाधिकार, स्वपरिस्थिति, चानुरूप्य स्वकल्याणपर्याप्तानितत्वानि स्वयमेव परिचिनियु । आस्तामिदम् ।

भगवदुपदिष्टप्रकारमाश्रित्योद्दिष्टेषु एकादशस्वपि साख्यप्रस्थानेषु सर्वत्रैक्यमेव प्रतियते, न तु मनागपि वैमत्यम् । तथा चैतानि मतानि भगवद्वचनैरेव व्याख्यायते । (पौर्वापर्ये त्विह अधिकसख्याकतत्ववन्मत पूर्वमितिक्रमेण विपरिवर्त्स्यते ।)

(१) अष्टाविंशतितत्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

प्रकृतिर्गुण साम्य वै, प्रकृतेर्नात्मनो गुणा ।
सत्त्व रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतव· ॥१२॥
सत्त्व ज्ञान, रज. कर्म, तमोऽज्ञानमिहोच्यते ।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभाव. सूत्रमेव च ॥१३॥
पुरुष प्रकृतिर्व्यक्तमहकारो नमोऽनिल. ।
ज्योतिरापः क्षितिरिति, तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥१४॥
श्रोत्र त्वग्दर्शन प्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तय. ।
वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रि कर्माण्यगोभय मनः ॥१५॥
शब्द स्पर्शो रसो गन्धो रूप चेत्यर्थजातय· ।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायितनसिद्धयः ॥१६॥
सर्गादौ प्रकृतिह्यस्य कार्यकारणरूपिणी ।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्वत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते ॥१७
व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया ।
लब्धवीर्या. सृजन्त्यण्ड सहता प्रकृतेर्बलात् ॥१८॥

भावार्थ—

मतेऽस्मिन पुरुष, मूलप्रकृति, सत्त्वरजस्तमासि त्रयो गुणा, महान्, अहंकार·, खानिलानलजलेला· पचभूतानि, श्रोत्रत्वाचक्षूरसनघ्रणानि पच ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्था: पच कर्मेन्द्रियाणि, उभयेन्द्रिय मनः, शब्दस्पर्शरूपरसगधा. पच ज्ञानेन्द्रियाणा विषयाश्चेति सर्वाणि अष्टाविंशतिस्तत्त्वानि सन्ति । प्रकृते· पृथक् त्रयाणा गुणाना स्वीकारे इदबीजमस्ति यत्-तेषामुदयप्रलयौ दृश्येते, नत्वेव प्रकृते । पचभूतानि, एकादशेन्द्रियाणि चेति षोडशकार्याणि, महादादीन्यष्टौ कारणानि च यस्या पूर्वत एवात्मभूतानि सन्ति, तादृशी प्रकृतिरेतेषा गुणाना साहाय्यादेव सृष्टिस्थितिसहाररूपा नाना अवस्था धारयति । अव्यक्तश्चेतनश्च पुरुष प्रकृतेस्तासामवस्थाना केवल साक्षिमात्रस्तिष्ठति । महदादीनि कारणतत्त्वानि पुरुषस्येक्षणशक्तेर्बलभवाप्य सर्वे विपरिणमयन्ति, विकुर्वते च । प्रकृतेराश्रयेण परस्परसहयोगेन च

क्षानि ब्रह्माण्ड रचयन्ति । ज्ञानम्, अज्ञानम्, कर्म, कालः, स्वभावश्चेत्यादयः पृथक् तत्वानि न सन्ति । प्रकृतेर्गुण सत्त्वमेव ज्ञानम्, तमोगुण एवाज्ञानम्, रजोगुण एव कर्म, गुणाना क्षोभहेतुरीश्वरः (चेतनतत्त्वमेव) काल सूत्रात्मा (महत्तत्त्वमेव) प्रकृते क्षोभरूप. स्वभावः । ज्ञानेन्द्रियाणा पचविषयवदिह कर्मेन्द्रियसबधीनि गत्युक्तिमलोत्सर्गमूत्रोत्सर्गशिल्प (कार्य)-रूपाणि पचकर्माणि पृथङ्न गणितानि, तेषा कर्मेन्द्रियाणामेव फलरूपत्वाद् इति ।

( ) षड्विंशतितत्त्ववादिना सांख्यानां मतम्—

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ।
स्वतो न सम्भवेदन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥१०॥

भावार्थ—

एतस्मिन् मते त्रिगुणात्मिका प्रकृतिस्तत्परिणामरूपाणि कार्यकारणभावापन्नानि महदादीनि चेति चतुर्विंशतितत्त्वानि, पचविंशतितम पुरुष, षड्विंशतितम ईश्वरश्चेति षड्विंशतितत्त्वानि मन्यते । सत्त्वरजस्तमास्त्रिगुणा. प्रकृते पृथङ् न मन्यते । पुरुष (जीवात्मा) अनादे. कालादविद्याग्रस्तत्वेन स्वयमात्मान न विजानाति । स्वतः सर्वज्ञ ईश्वर एव तस्य ज्ञानप्रद इतीश्वरः पृथक् तत्त्वरूप स्वीक्रियते । शिष्ट सर्वं पूर्ववत् ।

(३) पचविंशतितत्त्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।
तदन्यकल्पनाऽपार्था ज्ञान न प्रकृतेर्गुणः । ११॥

भावार्थ

मतेऽस्मिन् प्रकृत्यादीनि चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि, पुरुषश्चैक —

इति सर्वाणि पचविंशतितत्त्वानि वर्तन्ते । इह जीवेश्वरयोः सत्ताचिन्मात्रतादिदृष्ट्यामनागपि भेदो नास्ति । अत एकस्मात्पुरुषाख्यतत्त्वादतिरिक्त जीवेश्वरयो पृथक्तत्त्वत्व मन्यते । ज्ञान त्विह प्रकृतेर्गुण. । अन्यदखिल पूर्ववदेव ।

(४) सप्तदशतत्त्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

सख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च ।
पचपचैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥१२॥

भावार्थः—

एतस्मिन् मते पचभूतानि, पंचतन्मात्रा (विषया वा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्या) पचज्ञानेन्द्रियाणि, एक मन., एकश्चात्मा (पुरुष.) इति सप्तदश तत्त्वानि सन्ति । प्रकृति, महान्,

अहकार, पचकर्मेन्द्रियाणि, पाचभौतिको देहश्चेत्येषा पंचसु भूतेष्वेवान्तर्भाव.। शिष्टमन्यत् पूर्ववत्।

(५) षोडषतत्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

तद्वत् षोडशसंख्याने आत्मैव मन उच्यते ॥२३॥

भावार्थ —

एतस्मिन् मते पचभूतानि, पच तन्मात्राः (विषया वा), पंच ज्ञानेन्द्रियाणि, एक मनश्चेति षोडश तत्त्वानि। आत्ममनसोरिहैकत्व मन्यते। शिष्टमन्यत्पूर्ववत्।

(६) त्रयोदशतत्ववादीनां सांख्यानां मतम्—

भूतेन्द्रियाणि पचैव मन आत्मा त्रयोदश ॥२३॥

भावार्थ

मतेऽस्मिन् पच भूतानि, पच ज्ञानेन्द्रियाणि, एक मन', एको जीवः, एकश्चेश्वर इति त्रयोदश तत्वानि सन्ति। इह पचाना तन्मात्राणा पचाना कर्मेन्द्रियाणां, प्रकृतिमहदहकाराणां च पचभूतेष्वेवातर्भावः। शिष्ट सर्वे पूर्ववत्।

(७) एकादशतत्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च ॥२४॥

भावार्थ

अस्मिन् मते प्च भतानि, पच ज्ञानेन्द्रियाणि, एकश्चात्मा इत्येकादश तत्वानि सन्ति। मनस आत्मन्यतर्भाव', अन्येषा तत्वानां च भुतेष्वन्तर्भाव। परिशिष्टमन्यत्पूर्ववत्।

(८) नवतत्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ ॥२४॥

भावार्थ

मतेऽस्मिन् प्रकृतिः, महान्, अहकार, भूतानि पच इत्यष्टौ प्रकृतय', नवमश्चैकः पुरुष इति नव तत्वानि सन्ति। अन्येषां षोडशाना विकाराणा तु प्रकृतावेवातर्भाव। शिष्ट पूर्ववत्।

(९) सप्ततत्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

सप्तैव धातव इति तत्रार्थां पंच खादय।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासव ॥१६॥

भावार्थ

एतस्मिन् हि मते जडवर्ग एकः, चिदेका, ईश्वरश्चैक इति त्रीणि तत्वानि मुख्यानि। तत्र जडवर्गे पचभूतानि, चिच्च जीवः, परमेश्वरः परमात्मा वा जडजीवयोरुभयोराधार– इति सप्तैव तत्वानि सति। प्रकृत्यादीनामंतर्भावो भूतेष्वेव। देहेंद्रियादीनामुत्पत्तिरपि भूतेभ्य एव भवतीतितानि पृथक् तत्वरूपाणि न स्वीक्रियते। शिष्टमन्यत्पूर्ववत्।

(१०) षट्तत्ववादिना सांख्याना मतम्—

षडित्यत्रापि भूतानि पचषष्ठ पर पुमान्।
तैर्युक्त आत्मसभूतै. सृष्ट्वेद समुपाविशत् ॥२०॥

भावार्थ

इह हि मते पच भूतानि षष्ठश्च परमपुरुष परमात्मा चैक. इति षट् तत्वानि। परमात्मा च स्वसृष्टै पचभिर्भूतैर्युक्तो देहादीन् सृजति, तत्र च जीवरूपेण प्रविशति। मतेऽस्मिन् जीवात्मन परमात्मनि, प्रकृत्यादीना च भूतेष्वतर्भावः। शिष्ट पूर्ववत्।

(११) चतुस्तत्ववादिना सांख्यानां मतम्—

चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मन।
जातानि तैरिद जात जन्मावयविन. खलु ॥२१॥

भावार्थ

एतस्मिन् मते पृथिवि, सलिल, तेज, आत्मा चे ति चत्वारि तत्वानि सति। वायुः सूक्ष्मतेजोरूप एवेति न तत्वातरम् आकाश तु इद्रियागोचरत्वेन न तत्वातर मन्यते। अन्येषा तत्वाना तु एतेभ्य. उद्भूतत्वादेतेष्वेवातर्भाव। शिष्ट पूर्ववत्।

इति नाना प्रसख्यान तत्वानामृषिभिः कृतम्।
सर्वं न्याय्य युक्तिमत्वाद् विदुषा किमशोभनम्।

भावार्थ

इत्येव=प्रदर्शितप्रकारेण ऋषिभिस्तत्वाना प्रसख्याना नानाविध कृतमस्ति। नैतेषु मतेषु परस्पर क्वचन विरोधो, न वा क्वाचनाप्ययुक्तता वर्तते। सर्वेष्वेषु समर्थनार्था युक्तय = उपपत्तयः सन्तीति सर्वाणि मतानि न्यायानुकूलानि सति। सकल, जगत्करतलामलकवद् विदता विदुषा प्रतिपादनमशोभन कथ नाम भवेदिति।

इत्थ श्रीमद्भागवते एकस्मिन्नेव स्थाने विभिन्नान्येकादश साख्यप्रस्थानानि समुपलभ्यते इति तेषा दिग्दर्शमिह कृतम्। श्रीमद्भागवते एवानेकेषु स्थानेषु अन्यविधान्यपि साख्यमतानि समुपलभ्यते, परतु तेषा सकलनस्य नास्त्यत्रावसर.। केवल तु साख्यमेकविधमेव नास्ति, तत्र खलु वर्तते नानामतानि इत्येतत्प्रदर्शनार्थंव इहेद दिग्दर्शन कृतमिति।

तत्र श्लोका.—

पर प्रसख्यानपर यदेतत् प्रकाशित साख्यमत विभिन्नम् ।
नव पुराण च विवेच्य तत्त सख्यावदग्रेसरता प्रयायात् ॥१॥

व्याख्याष्टक भागवतस्य वीक्ष्य नानामताना परिचायमनेयम् ।
न कल्पित किचिदिहास्ति मेय न वा हृठाकृष्टमुपाहरामि । २॥

मतेषु नैतेषु परस्परेण कश्चिद् विरोध परिभावनीय ।
शिष्यान् विनेतु मुनिभि. प्रयुक्ता शैलीप्रभेदा ननु केवलास्ते ॥३॥

मनीषिणः सग्रहविस्तराभ्या निरुपयते विषयान् पृथग्वत् ।
प्रावीहतस्तेऽम्बुनिधि क्वचितु क्वचित् समुद्र' चुलुकेऽप्यकार्षु. ॥४॥

नानामतानीत्थमभिप्रयतो यत्किचिदेक मुनयोऽप्यकार्षु' ।
यत्रोचित यद् विषयोपयोगि निरुपित तत्र तदेव विद्भिः ॥५॥

मुनिश्चतुर्विशतिक पुनर्वसुर्मत जगादात्रिकुले प्रतिष्ठितम् ।
लभामहे सुश्रुतसहितागतान् साख्यप्रमेयास्त्विवह पचविशतिम् ॥६॥

अन्यान् विशेषानपि चात्रिमेष्वध्यायेषु वक्ष्यामि गवेषणेन ।
विवेकपूर्व परिगृह्य सर्वा ल्लाभान्वितास्तैभिषजो भवेयु. ॥७॥

आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्तानुकूल अभिनव चिकित्सा का समन्वय

अन्तर्गत लेख 'आयसाङ्ग प्रतिसन्धानम्' (सस्कृत मे)

लेखक : स्वर्गत आचार्यश्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री

पण्डितमार्तण्ड., विद्याभूषण', विद्यावागीशः, जामनगरस्थ'

[श्री शास्त्रीजी का मूल लेख जो सस्कृत में है, उसके पढने को पूर्व यह परिचय पढ लिया जायगा तो अधिक लाभप्रद होगा। विद्वान् लेखक 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' जैसे आचरण से 'ऐसा होना चाहिये, वैसा होना चाहिये' आदि शब्द कह कर शान्त नहीं हो गये है, प्रत्युत अभिनव चिकित्सा विज्ञान विशेषत. उसके सर्जिकलविषय को किस प्रकार पचा कर आयुर्वेदसात् किया जा सकता है, इसका एक अभिनव आदर्श उपस्थित कर आयुर्वेदज्ञों को जागने, उठने और आयुर्वेद-रक्षार्थ सवद्ध हो जाने की प्रेरणा देने में समर्थ हो सके हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रानी विश्पला की कटी हुई जङ्घा के स्थान में अश्विनी कुमारों ने जब लोहे की जङ्घा जोडी थी, तब श्री शास्त्रीजी भी वहाँ उपस्थित थे और अपनी आखोंदेखी घटना की यह रिपोर्ट इन्होंने लिखी है। विशुद्ध और सरल संस्कृत भाषा में रचे गये श्लोकों को पढ कर कोई भी यह नहीं कह सकता कि ये श्लोक नये हैं। और इनमें चित्रित विषय भी 'माडर्न थेरेपी' का है। बात यह हुई है कि २४ फरवरी १९६२ के हिन्दी दैनिक हिन्दुस्तान के अक में 'विज्ञान के प्रगतिशील पग। चिकित्सा की नवीन देन' नाम से एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसे देखते ही श्री शास्त्रीजी को आयुर्वेद की हीन दशा पर बडा विचार हुआ—कैसी विकट स्थिति है कि आयुर्वेद के हृदय को चीर कर विदेशी लोग इन विषयों को हडपते जा रहे हैं और अपना नाम देकर यशस्वी बनते जा रहे हैं, किन्तु आयुर्वेदज्ञ लोग कुम्भकर्णी नींद में सोये हुए हैं। तत्काल 'आश्विनावदानम्' (गोल्डन डीड्स आफ अश्विनीकुमारास्) नाम से समस्त आधुनिक सर्जरी को आयुर्वेदसात् करने का सकल्प कर लिया गया। सर्वप्रथम उस समाचार पत्र के विषय को ही आत्मसात् किया गया। उसमें स्फटिक के टुकडे का दिखाना है, तो भारतीय सस्कृति के अनुकूल इसमें स्फटिकनिर्मित शिव के दर्शन कराने का वर्णन है। अम्बुलेंस कार को 'अम्बुलास रथ' नाम दिया गया है। स्ट्रेचर को 'रुग्णाभिवहन यान' कहा गया है। सुश्रुतसहिता के रक्षाकर्म को न केवल उचित समय में ही उपयुक्त किया है, प्रत्युत चिर काल से इन श्लोकों के पाठ मात्र से कृतकृत्यता मान लेने और अधिक हुआ तो इसे जादू-टोना कह कर मखौल उडा देने में ही पाण्डित्यप्रकर्ष समझा जाता था। यह प्रथम अवसर है कि श्री शास्त्रीजी ने 'एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवता' इस श्लोकार्थ पर ध्यान आकृष्ट कर उपवर्णित समस्त देवताओं को शरीर के घटक विभिन्न प्राण सिद्ध किया है और 'उदान विद्युत पातु' इस पर 'वपुस्तुरुम' नाम से एक पृथक ही निबन्ध बनाया है। यह सब इस लेख से पृथक संकलन है। अस्तु, हम आशा करते हैं कि श्री पाठकों को इस सामग्री से पर्याप्त प्रेरणा मिलेगी।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सपादक]

अथात आयसाङ्गप्रतिसन्धानीयमध्याय वक्ष्याम, यथा चक्रतुरश्विनोविश्वपलायाः ।

कदाचित् खेलनृपतिर्युयुधे शत्रुभिः सह ।
तत्पत्नी विश्पलाख्या च पत्युः साहाय्यके गता ॥१
वीरा च वीर पत्नी च रणे तस्मिन् सुदारुणे ।
रक्तबीजैश्चण्डिकेव युध्यमानारिभिर्बभौ ॥२
देवात्सा रणसमर्दे शत्रुभिः पर्यवार्यत ।
शस्त्रपाणिभिरत्युग्रैश्छिन्नजङ्घा च सा कृता ॥३
तदाऽऽहताना सेवार्थं सज्जेष्वेकतमेन सा ।
अभ्युल्लासाह्वयेनाशु यानेनानीयतार्दिता ॥४
अश्विनो देवभिषजौ तत्रासाते चिकित्सितुम् ।
तौ देवो ता समाश्वास्य शीघ्र नैरुज्यहेतवे ॥५
शल्यकर्माभिनियते भवनेऽनयता द्रुतम् ।
रुग्णाभिवहने यानेऽनुपघातसुखे जनै ॥६
स्वास्तीर्णे तत्र पर्यङ्कं शाययित्वा च ता सतीम् ।
स्फाटिक शिवमन्वक्ष द्रष्टुमादिशता यताम् ॥७
पश्येत देवमोशान भद्रे ! मा दु खमावह ।
अय यथा शुद्धबुद्धो निर्लेपो जगतीपति ॥८
तथा त्वमसि कल्याणि ! न कष्ट त्वयि किंचन ।
विस्मृत्य सर्वानाबाऽऽ शिवमेवानुचिन्तय ॥९
कृत्याना प्रतिघातार्थं तथा रक्षोभयस्य च ।
रक्षाकर्म करिष्यावो ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥१०
पान्तु त्वा मुनयो ब्रह्मा दिव्या राजर्षयस्तथा ।
पर्वताश्चैव नद्यश्च सर्वाः सर्वे च सागरा. ॥११
अग्नी रक्षतु ते जिह्वा प्राणान् वायुस्तथैव च ।
सोमो व्यानमपान ते पर्जन्य. परिरक्षतु ॥१२
उदान विद्युत पान्तु समान स्तनयित्नव. ।
बलमिन्द्रो बलपतिर्मनुर्मन्ये मति तथा ॥१३
कामास्ते पान्तु गन्धर्वाः सत्यमिन्द्रोऽभिरक्षतु ।
प्रज्ञा ते वरुणो राजा समुद्रो नाभिमण्डलम् ॥१४
चक्षुः सूर्यो दिश श्रोत्रे चन्द्रमा. पातु ते मन ।
नक्षत्राणि सदा रूप छाया पान्तु निशास्तव ॥१५

रेतस्त्वाऽऽप्याययन्त्वापो रोमाण्योषधयस्तथा ।
आकाश खानि ते पातु देह तव वसुन्धरा ॥१६
वैश्वानरः शिरः पातु विष्णुस्तव पराक्रमम् ।
पौरुष पुरुषश्रेष्ठो ब्रह्मात्मान ध्रुवो भ्रुवौ ॥१७
एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवता ।
एतास्त्वा सतत पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥१८
दृढ कुरु मन. साध्वि ! त्व पीडारहिता ह्यसि ।
शुद्धात्मासि दु·खशोकै· सम्बन्धो नैव ते क्वचित् ॥१९
विनिद्राहि सुख सुप्त्या· सर्वार्ति विस्मर द्रुतम् ।
सामृतै पाणिभि स्पृष्ट्वा कुर्वंस्त्वामार्त्तिवर्जितम् ॥२०
योगिनावश्विनौ देवो मन· शक्त्या समन्त्रया ।
यदैवमूचतु. साऽपि निदद्रौ विश्पला तदा ॥२१
पुनस्ता मोहयन्तौ तावूचतुर्निद्रिता सतीम् ।
न त्वा छिन्दन्ति शस्त्राणि न त्वां दहति पावक· ॥२२
न च त्वा क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।
अच्छेद्यासि ह्यदाह्याऽसि क्लेद्या शोष्या च न ह्यसि ॥२३
सच्चिदानन्दरूपाऽसि का ते पीडा यता भव ।
उक्त्वेवमद्भुत कर्म कर्तुं देवो व्यवस्थितौ ॥२४
अन्ये च शिक्षिता देवा भिषज परिवार्य तौ ।
सज्जोपस्करभैषज्या. सेवार्थं समुपस्थिता ॥२५
निर्मलाम्बरधारिण्यस्तत्र देव्याश्विचिकित्सकाः ।
समुपातस्थुरादाय सर्वोपहरणानि च ॥२६
यथाविभाग सकेतान् स्मरन्तस्ते सुसज्जिता ।
कश्चिद् हृद्गतिसाम्य तु सपश्यन् यन्त्रभास्थितः ॥२७
अन्यो नाडी परीक्षाया व्यापृतोऽभूत् समाज्ञया ।
सशस्त्रयन्त्रा स्थगिका करयोरितरोऽग्रहीत् ॥२८
रक्तमात्ययिके वाह्य दातु सज्जोऽपरोऽप्यभूत् ।
यत्तत् कोषेषु प्रागेव यत्नादासीत् सुसञ्चितम् ॥२९॥
रक्तेन विश्पलाया यत् सख्याय सुपरीक्षितम् ।
स्वच्छ सजीव सद्यस्कमिव यद् दोषवर्जितम् ॥३०
तत्रासन् शुद्धकोष्ठेषु निर्मलायोमयानि च ।
उच्चवचान्यङ्गकानि नैकसख्यानि सर्वशः ॥३१

यानि प्रतिनिधिरूपाणि सत्यानीव विनिर्बभुः।
कानिचित् पूर्णरूपाणि खण्डखण्डानि कानिचित् ॥३२
यद् यथा यत्र युज्येत सामञ्जस्य च यस्य यत्।
काले तच्च तथा तत्र व्यवहर्तुं परीक्षितम् ॥३३
अथ विद्युत्समुद्ध्यमान प्रज्वाल्य त्वरित सुरै.।
बदरीत्वक्कषायस्तु पाचित. पावित: पटै: ॥३४
रसचूर्णं तत्र रक्त तुवरी चापि मेलिते।
ततस्तेन कषायेण दस्र सर्वं व्युदस्तवान् ॥३५
आघातजे व्रणे लग्न रक्त मृज्ज रजोऽपि च।
सिराभ्यः प्रवहद् रक्त सन्दशोभिरवारुधत् ॥३६
नासत्यस्तु समादायाभ्यर्धधार लवित्रकम्।
चिच्छेद चर्म जङ्घास्थ क्षुण्णास्थ्नो व्यपनीय च ॥३७
मांसपेशीः समग्राश्च सिराश्च धमनीस्तथा।
वातनाडीस्तथा स्नायूर्यथाशक्यमरक्षयत् ॥३८
जङ्घास्थि चान्तर बाह्य द्विक क्षुण्ण निरस्तवान्।
तत्स्थाने चायसी जङ्घामथ भावद्वयात्मिकाम् ॥३९
यथार्हमानसमेयां पूर्ववत् सन्यवीविशत्।
पादेनाधस्तदूर्ध्वं च जानुना समधात् सुधी ॥४०
चल सन्धि सरक्षन् कीलकै सुनियोज्य स.।
मांसपेशीस्तदुपरि सन्यधात् ससिरा पुरा ॥४१
रक्तादीना प्रवाहार्थं सिराजाल समन्तत।
धमनीश्चापि नाडीश्च यथायथमुपाहरत् ॥४२
अतीव चटिल जाल तासा सन्धाय सर्वशः।
पुन प्राकृतवच्चक्रे यथावत् पूर्ववत् स न ॥४३
दुष्कर चाद्भुत तद् हि दृष्ट्वा सर्वेऽपि विस्मिता।
प्रशशसुर्महात्मानावश्विनो साधु साध्विति ॥४४
दस्रस्त्र्यस्रा चन्द्रवक्रा सूची सन्दशनिग्रहाम्।
बिडालान्त्रमयेनाशु दोरकेणाभ्ययोजयत् ॥४५
तयाञ्जसा चर्म सर्वं निषीव्य च यथायथम्।
अच्छिन्नामिव ता जङ्घा कृत्वा पूर्णा न्यदर्शयत् ॥४६
बदरीत्वक्कषायार्द्रप्लोतेनाऽऽप्रोञ्छ्य लेपनम्।
काशीशाद्यघृतेनात्र क्षतस्थानानि चावृणोत् ॥४७

रक्षोघ्नेन च चूर्णेनावकीर्यं स हि जङ्घिकाम् ।
तूलप्लोतैर्विशुद्धैस्तु समन्तात् प्रावृणोद् बुधः ॥४८
मृदुनाऽपि दृढेनाथ वस्त्रपट्टेन कौशलात् ।
पर्यस्तबन्धमुन्नीय न्यबघ्नात् पश्यता सुधीः ॥४९
व्रणा यावद् विरोहेयुर्नोत्कीलेच्चापि सेवनम् ।
तावत् समाहिता तिष्ठेद् विश्पलेति समादिशत् ॥५०
तस्मिन्नेव क्षणे राज्ञो विश्पला प्रत्यबुध्यत ।
जङ्घा स्वा सहिता दृष्ट्वा प्राक् प्रसन्नाऽभवच्च सा ॥५१
किन्तु रक्तप्रवाहस्याधिक्याद् दौर्बल्ययोगतः ।
मूर्च्छामापद्य सहसा शुभे नेत्रे न्यमीलयत् ॥५२
तत्क्षणादेव बाह्यस्य रक्तस्यानुप्रवेशने ।
समाज्ञापयता देवावश्विनौ स्वसहस्थितान् ॥५३
तदर्थं पूर्वत सज्जं यदासीत् सुपरीक्षितम् ।
काचकूपीभृत रक्त तत्क्षणाद् दातुमुद्यत ॥५४
वसुधानामिधो देव शृङ्ग काचमय मुखे ।
सूच्या शुषिरयाऽऽयोज्य निर्विष शुद्धमातनोत् ॥५५
शृङ्गे तत्राथ कूपीस्थ रक्त भृत्वा विधानत ।
भूय सूचीमुख शुद्ध कृत्वा रन्ध्र परीक्ष्य च ॥५६
सिरामेका समुद्धम्य विश्पलाबाहुकूर्परे ।
अन्तर्भागस्थिताया तु तस्या सूची न्यवेशयत् ॥५७
शृङ्गपश्चिमसस्थेन नोदनेन शनैः शनैः ।
विनुदन् परिमाणेन रक्तमाभरदादृत ॥५८
सिराद्वाराच्च तद्रक्त शीघ्रमेत्य हृदन्तरे ।
तत्र शुद्ध प्राकृतवन्निखिल वपुरन्वगात् ॥५९
अतर्पयद् विश्पलाया प्राणानप्रीणयच्चताम् ।
अथ सूची विनिष्कास्य सिरारन्ध्र निरुध्य च ॥६०
परितस्तच्च समर्दः शनकैर्विहितो यदा ।
तदा चैतन्यमापन्ना विश्पला निर्व्यथा बभौ ॥६१
अश्विनौ च द्विसन्ध्य तामाविर्होत्रादयश्चतु ।
अष्टवार दक्षिणाद्या प्राबघ्नन् द्रष्टुमादृताः ॥६२
व्यथा व्यतिकरेऽल्पेऽपि निराचक्रुव्रत हि तम् ।
पट्टबन्धपरीवर्त चतुः पञ्चाहतो व्यधुः ॥६३

व्यलिखन्नखिलावस्था देहोष्ण्यादि च पत्रके ।
तत्रैव च समादेशान् कर्तव्यान् समुपालिखन् ॥६४
कर्म कस्यामवस्थाया किं कार्यं किं कृत तथा ।
कस्य क· परिणामोऽभूदिति चाकलयन्नमी ॥६५
मोदिनी, प्रमुदोल्लासा, हासिनी, चारुवादिनी ।
विनिता, सरला, भद्रा, सुबन्धुनन्दिनी, सुधा ॥६६
एकादशेमा देव्यस्तु सुधानेभ्यो द्विशो द्विवश· ।
ग्रहर्दिव तत्सेवार्थं नियुक्ता कर्मकोविदाः ॥६७
निर्मलास्ताः शुभा. शुभ्राश्चन्द्रिकानिर्मिता इव ।
तस्या हितानुध्यायिन्यो लोभमोहादिवर्जिताः ॥६८
पर्यायक्रमतो राज्ञी पर्यावृण्वन् यतस्ततः ।
क्षेतेऽपि कासितेऽप्यस्या पयापृच्छन्ननेकधा ॥६९
आश्वासन्त्य. स्वास्थ्याय गात्रसवाहनादिकम् ।
यथेष्टमाचरन्त्यश्च प्रेम्णा सर्वा. सिषेविरे ॥७०
काश्चिदौषधदानार्थं मणिपात्रकराः स्थिताः ।
काश्चित्क्षीरनिपायन्त्य. सौवर्णामत्रपाणय. ॥७१
अपरा भोज्यद्रव्याढ्यपात्र्यो प्रात्रेयिकाः स्थिताः ।
अभावानुभवस्तस्या न मनाक् स्यादितीरिताः ॥७२
सुपथ्य सुपचस्वादु रुच्य रम्य सुगन्धि च ।
भोजन समये दातु नियुक्ता पाचिका. शुभा. ॥७३
यथाज्ञप्त यथाशुद्ध यथास्वास्थ्यावह च यत् ।
तत्तथैवाशु समये समुपस्थाप्य भेजिरे ॥७४
नामोन्नामधरस्तस्या सर्वसौविध्यसभृत. ।
राजहसच्छदापूर्णतूलिकादिविभूषित ॥७५
गेन्दुकैरुपधानैश्च यथास्थान परिष्कृत· ।
पादाधानशिरोधानपृष्ठाधानाद्यनूनित. ॥७६
हस्तापादादिविन्यासकार्यार्थं विविधैर्वृ त· ।
सनिवेशकदण्डाद्यै, परिवर्त्योत्तरच्छदः ॥७७
रयिद्योयन्त्रयुक्तत्वाद गानवादित्रसुन्दरः ।
आह्वानाद्यर्थंनिर्बद्धघण्टिकावाननिन्दितः ॥७८
विद्युद्दीपप्रकाशार्थं स्वच्छकादिमनोहरः ।
विद्युद्व्यजनसजातसुखवातामिवीजितः ॥७९

मलमूत्रविनिष्ठेवामत्रैः स्थाने निवेशितैः ।
समये सुसुख लभ्यैर्यथायथमुपाश्रिता ॥८०
आवश्यकैस्तथैवान्यैर्युक्त परिकरे शुभैः ।
पर्यङ्क कल्पितो देव्या विश्वकर्मविनिर्मितः ॥८१
तत्र स्थानासनस्वप्नान् यथासुखमसौ व्यधात् ।
देहोन्मार्जनवस्त्रादिपरिवर्तनसत्क्रिया ॥८२
केशकल्पनमन्यच्च देव्यः सर्वमसाधयन् ।
सुमुखी सुप्रसन्ना सा यत स्वास्थ्याय व्यवसीत् ॥८३
एव परिचरद्भिस्तैस्ताभिश्च परिसेविता ।
मासेन विश्वलारूढव्रणाऽभूत् स्वास्थ्यमाप च । ८४
पट्टबन्धादिक सर्वव्यपनीयाथ पश्चिम ।
विधिर्व्यवसितो देवैरश्विभ्या विनियोजितै ॥८५
यत्र तस्याश्च जङ्घाया वर्णभेदो विलोकित ।
सवर्णीकरण देवास्तस्यास्तत्रैव सव्यधु ॥८६
अथ लाक्षाधतैलेन कुशला महिला. सतीम् ।
निलिम्पादिष्टविधिना ममृदुर्मृदुभिः करैः ॥८७
पुष्टावर्णप्रभायुक्ता बल प्राप्य रराज सा ।
तैन, रस्ये. स्थिरैर्हृदराहारैरपि साऽपुषत् ॥८८
एव व्यापत्तिपाथोधि विश्पला समुदातरत् ।
सुखिनी सर्वथा स्वस्था जङ्घाच्छेद न चास्मरत् ॥८९
शनै शनैरथामू तै चालयामासुरङ्गणे ।
दत्तहस्तावलम्बा सा देवीस्कन्धाश्रका स्वयम् ॥९०
उत्सेहे चलितु धीरा क्रमशोऽभ्यावर्धनी ।
ततः स्वल्पेन कालेन पूर्ववत् समहृश्यत ॥९१
राजा खेलोऽप्यत' पूर्व शत्रून्विजित्य रहसा ।
स्वराजधानी सप्राप्त. प्राशिषत् स्वप्रजा मुदा ॥९२
विश्पला यह्यनुज्ञाता स्वहर्म्यमनुसेवितुम् ।
तदाऽसौ सैनिकै पौरैरमात्यैश्चाहृतोऽगमत् ॥९३
ब्रह्मघोषेण गीताद्यैर्वादित्रैरुत्सवेन च ।
रथमारोप्यमणिमज्जातरूपपरिष्कृतम् ॥९४
पुर निनाय धर्मात्मा सर्वेषा प्रीतिमावहन् ।
चकार चाश्विन याग तद्यश. परिकीर्तयन् ॥९५
अश्विनोरवदान च तदेतत्प्रसृत भुवि ।
शिक्षिता भिषजोऽयन्तेऽपि तदेतत्कर्तुमाहृता ॥९६

इत्याचार्यश्रीहनुमत्प्रसादशास्त्रिसकलिते आश्विनावदाने आयसाङ्गप्रतिसन्धानाध्यायः ॥

आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता

अन्तर्गत लेख 'आरम्भवादादिवादचतुष्टयविज्ञानम्' (संस्कृत में)

लेखक स्वर्गत आचार्यश्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री

[आयुर्वेद के मौलिक विज्ञान का सर्वप्रथम सिद्धान्त 'कार्यकारणभाव' है। प्रत्येक कार्य अपने कारण से उत्पन्न होता है। किसी भी वस्तु के जन्म की 'चाई चान्स' वा 'एक्सिडेण्टल फेक्ट' नहीं कहा जा सकता। केवल कायकारण भाव को समझ ने में ही कुछ फेर रह जाता है। क्योंकि सृष्टि में कायकारणभाव एक नहीं, अनेक हैं। उदाहरणार्थ—एक 'फाउण्टेन पेन को लें। उसके अलग अलग अवयव उसके 'समवायिकारण' है, उन अवयवों का परस्पर यथोचित सयोग 'असमवायि कारण' हैं और अवयवों को जोड कर फाउण्टेन पैन का रूप देनेवाले औजार, उसका निर्माता, कारखाना आदि सब 'निमित्त कारण' हैं। इन सब कारणों से होने वाली पैन की निष्पत्ति 'सक्रम' है, अर्थात-उसमें कौनसा अवयव कहा जुडा हुआ है तथा किस प्रक्रिया से ? यह सभी को परिज्ञात होता है। यदि उस पैन को खोले या विघटित करें तो उसी लक्षित क्रमसे कर सकते है। ऐसे ही घट, पट आदि ससार के अनन्त पदों का कार्य कारण भी होता है। परन्तु पारद और गन्धक से निर्मित कज्जली उससे निर्मित चन्द्रोदय आदि में इस प्रकार की सक्रम निष्पत्ति नहीं दिखाई जा सकती। अधेरे में पडी हुई रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है और उससे जो एक नये सर्प का उद्भव हो जाता है, वहा पर भी नवोत्पन्न भ्रमजनित सर्प कार्य रूप से भासित तो अवश्य ही होता है, किन्तु उसकी तो कोई वास्तविक सत्ता ही नहीं है, सत्ता तो उसके अधिष्ठान की है। इस प्रकार इन तीनों उदाहरणों में कायकारणभाव भिन्न भिन्न है।

पहला उदाहरण 'आरम्भवद का है दूसरा 'परिणमवाद' और तीसरा 'विवर्तवाद का है। परन्तु सभी अपने वादो के अनुसार' ही अन्य उदाहरणों की भी सगति बैठाना चाहते है। अत एव सब में पारस्परिक मतभेदों का अवसर खडा हो जाता है। आचार्योंने सूक्ष्म तथा पदार्थ तत्वका पर्या लोचन कर पूर्वापरभाव से सब वादों को व्यवस्थित कर दिया था।

प्रस्तुत् निबन्ध में विद्वान लेखक ने 'आरम्भवाद' सघातवाद, परिणावाद' और 'विवतवाद' इन चार वादों का प्रौढ किन्तु सरल सस्कृत में बहुत ही मनोरञ्जक रीति से वर्णन किया है, जो न केवल आयुर्वेदज्ञों के लिये हो अपितु दार्शनिक आदि वाङमयका अध्ययन करने वालों के लिये भी उतना ही अवश्य अध्येतव्य बन गया है। श्री शास्त्रीजी का यह निबन्ध जिज्ञासुओं के लिये पाठ्य-पुस्तकको काम देना-ऐसा विश्वास अनुचित नहीं कहा जायगा।

इस निबन्ध के सकलन में मूल सिद्धान्त के निरूपण के अनन्तर उसके स्पष्टीकरण के लिये तथा उठी हुई शकाओं के निराकरण के लिये प्राचीन शास्त्रार्थपद्धति से नैयायिक बौद्ध साख्य और वैदान्तों का जो सवाद प्रस्तुत किया गया है वह एक दरूह विषय को भी किस प्रकार मनोरम रीति से समझाया जाय इसका अभिनव आदर्श उपस्थित करता है। दर्शन ग्रन्थों मे निरूपित में विषय भिन्न प्रकरणों में बिखरे हुए प्राप्त होते हैं और उनका एकसाथ विवेचन तथा समन्वय विद्वानों के लिये भी दुष्कर हो जाता है, परन्तु श्री शास्त्रजी के प्रस्तुत निबन्ध ने उन सब कठिनाइयों को दूर कर दिया है। विशेषता यह है कि जहा मूल ग्रन्थों में अपने अपने वाद या सिद्धान्त को ही प्रमाणिक मनाने का आग्रह बना रहता है और फलत विवाद कभी समाप्त ही नहीं होता, वहा श्री शास्त्रीजी ने सब वादों के लिये प्रथम मध्यम और अन्तिम कक्षाए निश्चित कर सबको समन्वित कर दिया है तथा विषयभेद से सबको समान आदर देकर विवाद् को सदा के लिये समाप्त कर दिया है। इस प्रकार इस निबन्ध के प्रारम्भ में दिये गये श्लोकों में की गई प्रतिज्ञा में श्री शास्त्रीजी पूर्ण सफल हुए हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

निरूपित वादों में से आयुर्वेद 'परिणामवादी' है। भोजन का निर्माण, उसका अशन, उससे रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रादिका उद्भव, कुपित दोष और दूष्यों के समूर्च्छन से रोगोत्पत्ति औषधियों का निर्माण आदि सभी कार्य आयुर्वेद में 'परिणमवाद' पर आश्रित है। क्योंकि निर्मित वस्तु की रचना में कोई भी क्रम लक्षित नहीं होता, सभी उपदानों की रूपान्तर में परिणति देखी जाती है। इस परिणामवाद का रोचक तथा शास्त्रीय पद्धति से प्रतिपादन आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता के एक पहलू के स्पष्टीकरण परम सहायक होगा यह निश्चित है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सपादक]

अथातः आरम्भवादादिवादचतुष्टयविज्ञानीयमध्याय वक्ष्याम, यथाहुराचार्या ।

सिद्धान्तित कारणकार्यवाद पूर्वं समेद' स्वपरागमोक्त. ।
तत्रापि सूक्ष्मेक्षिकया विदद्भि पक्षान् कृतान् सप्रति दर्शयामि ॥
आरम्भपक्षः कणभक्षपक्षः सघातपक्षश्च मदन्तपक्ष. ।
साख्यादिपक्ष परिणामपक्षो वेदान्तपक्षश्च विवर्तपक्ष. ॥
पक्षा पृथग्वत् प्रतिभान्ति येऽमी स्वस्वाग्रह चात्यजता बुधानाम् ।
कुर्वन्ति वैज्ञानिकवर्गमुख्यास्तेषा प्रयोग जहतो हठ स्वम् ॥
आयुर्विदाध्नायसमर्थनेऽमून् यथार्हमायोज्य भिषग्वरेण्या' ।
सुपुण्यभाज स्युरिति प्रयिम्ना साख्यमाधाय निवेदयामि ॥

क्रमोत्पत्तिक्रमध्वसौ कार्यस्यारम्भ इष्यते ।
यत्तात्विकोऽन्यथाभाव परिणामः स उच्यते ॥
अतात्विकोऽन्यथाभावोऽध्यासः सपरिकीर्तितः ।
कार्यकारणभावेऽमी त्रय. पक्षाः समीक्षितु ॥

चतुर्णावावानां सार.

(१) अवयवावयविरूपेण कार्यद्रव्यस्य सक्रमा उत्पति', अवयवविभागाच्च कार्यद्रव्य-नाशः इति आरम्भवादस्य'सक्षिप्त स्वरूपम् । अय वादो वैशेषिकाणा नैयायिकाना च ।

(२) उत्पत्तिविनाशवन्तः क्षणभगुराश्च परमाणवः, तेषा सघाता एव द्रव्याणि—इति सघातपक्षः । स च बौद्धानाम् ।

(३) दुग्धस्य दधिभाव इव एकस्यैव द्रव्यस्य विभिन्नावस्थासु सक्रमः इति परिणाम-वाद । यथा—बीजे पृथिव्यामुप्ते सति जलसेकादिसामग्रीसन्निधाने च सति बीजावस्था तिरोभवति, अकुरावस्था तु आविर्भवति । द्रव्यन्तु द्विविधावस्थानुगतमेव, बीजावयवत्वेन दृष्टस्यैव द्रव्यस्येदानी अकुरघटकतया ग्रहणमाणत्वात् । सोऽय साख्यानां सिद्धान्ततः । अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तो धर्मान्तरोत्पत्ति. परिणाम.—इति योगदर्शने च व्यास-भाष्यम् ।

(४) साख्यसिद्धान्त एव स्वल्पवैलक्षण्येन वेदान्तानामप्यभिप्रेतः । तेषामपि व्यावहारिक-पदार्थेषु एषैव प्रक्रिया । मूलकारणान्वेषणायां नैय प्रक्रिया फलवतीति तु तेषां विप्रतिपत्तिः । मूलकारणस्य चैतन्यरूपतास्वीकार एव तेषा विशेषः खलु । तस्य चैकस्य ब्रह्मण एव विवर्त्तोऽयं निखिल ससार । सोऽयं विवर्तवादो वेदान्तिनाम् । स्वरूपोपमर्दन विनाऽन्यथाभावो विवर्तः इति (ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्ये, १ पृष्ठे टिप्पणी) ।

अथैषां विस्तरोऽभिधीयते—

आरम्भवाद —

आरम्भवादो नाम न्यायवैशेषिकदर्शनयोः कार्यकारणविषयक एको मुख्यः सिद्धान्तः। इय हि तेषा वाचोयुक्ति —मृत्तिकाकपालिकाकपालद्यवयवैर्घटादयः, सूत्राद्यवयवैश्च पटादयोऽवयविन आरभ्यन्ते। आरम्भश्चैषा पूर्वमसतामेवाभिनवोत्पत्तिः। तत्र हि अवयवादीना पूर्वेषा कारणानामुपमर्देन कार्याणामवयविनामुत्पत्तिर्दृश्यते।

अयमाशय —

"यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति"—इत्यभियुक्तोक्त्यनुसारेण सर्वो लौकिकः कर्ता सर्वेषामवयविना कार्याणा निष्पादनाय तत्तदवयवान् कारणभूतानुपादाय, तान् विभिन्नैः साधनैर्यथायथ सयोज्य च पूर्वमविद्यमानमेक नवीन कार्यमारभते। अलौकिक. कर्त्ता ईश्वरोऽपि तदनुगा देवाश्च अपि तथैव क्षित्यकुरादिकमन्यद्वा विविध कार्यजातमारभन्ते इति। उत्पन्ने च कार्यमात्रे नाम च, रूप च, क्रिया चेति त्रितयमभूतपूर्वनवीनमेवोत्पद्यते। तदुदाहरणानि—

(क) घटनामकस्य कार्यस्य यादृश रूपमाकारो वा घटावस्थायामुत्पद्यते, तादृशो न ततः पूर्वमृत्तिकाद्यवस्थाया भवति, न चापि तद्घटध्वसावस्थायाम्।

(ख) घट इति नामापि यादृशंघटावस्थाया भवति, न तादृशंतदुत्पत्ते पूर्वं भवति, न वा तद्घटध्वसानन्तरम्।

(ग) जलानयनादीनि कर्माण्यपि यादृशानि घटावस्थायां भवन्ति, न तादृशानि तदुत्पत्ते. पूर्वं मृतिकाद्यवस्थाया भवन्ति। न वा तद्घटध्वसानन्तरमेव भवन्ति।

इत्यमेव—

(क) घटनामकस्योत्पन्नस्य कार्यस्य आकाररूपादिक तदवस्थे एव तस्मिन् दृश्यते, न तूत्पत्ते पूर्वम्, ध्वसानन्तर वा।

(ख) पटः इति नामापि तदवस्थे एव अस्मिन् प्रयुज्यते, न तु पूर्वपश्चाद् वा

(ग) देहावरणशीतोपनोदनादीनि कर्माण्यपि पटावस्थायामेवोपपद्यन्ते, न तु सूत्रतन्त्वाद्यवस्थायाम्, ध्वसानन्तर वा।

एतैरुदाहरणादिभिः सिध्यति यत्—घटपटादयःपूर्वकारणावस्थायामसन्तोऽभिनवा एवोत्पद्यन्त। अयमेव 'आरम्भवाद.', 'असत्कार्यवादो' वा। एष एव सर्वत्र स्वीकर्तुमुचितः इति।

आरम्भवादस्यावश्यकता—

इह परमाणुस्वरूपनिरूपण कृतिमस्ति पृथक्प्रकरणे। स हि परमाणुरन्तिमोऽवयव.। तत्र द्वयोः परमाण्वोर्मेलनेन द्व्यणुक तत्कार्यमुत्पद्यते। त्रयाणा द्व्यणुकाना मेलनेन तु 'त्रसरेणु

नभि तत्कार्यं" जायते । इत्थ क्रमशः कारणकार्यभावविकासे परीक्ष्यमाणे लघुभ्य पदार्थेभ्यो महत्तो पदार्थानामुत्पत्तिर्निश्चीयथे । इद च प्रत्यक्षप्रयोगसिद्धमनुभूयते ।

विश्लेषणप्रक्रियया कारणकार्यधारायाः परीक्षणे क्रियमाणे तु स्थूल वस्तु क्रमशो-विश्लिष्यमाण विभज्यमान च पर्यवसाने परमसूक्ष्मपरमाणुरूपेणैव परिनिष्ठित भवति । परमाणोरपेक्षया तु किंचिदपि सूक्ष्ममन्यद् न भवति । यस्य हि वस्तुनो न भवन्त्यवयवा, यदपेक्षया चान्यल्लघिष्ठ न भवेत् यत्र हि अवयवावयविधारा विश्राम्यन्ती तदन्तिममवयवमात्र सूचयेत्, तद्वस्तु 'परमाणुः' इति परिभाष्यते । अतिसूक्ष्मत्वेनेन्द्रियाग्राह्यत्वात्परमाणुरतीन्द्रिय उच्यते । एकाधिकाना परमाणूना द्वित्र्यादिक्रमेण सयोगाद् अनुक्रम स्थूला स्थूला ये पदार्था जायन्ते, तेऽवयविनः कथ्यन्ते । अयमेव स 'अवयवावयविभावो' नाम ।

प्रत्येकवस्तुनोऽवयवास्तस्य 'कारणानि' कथ्यन्ते, तैरारब्धोऽवयवी तु 'कार्यम्' उच्यते । इह कारणकार्यभावेयेऽवयवास्ते केवल समवायिकारणानि एव भवन्ति, कारणद्वयमन्यदपीहापेक्षित भवति असमवायिकारणम्, निमित्तकारण चेति । तत्र—अवयवाना सयोग एव असमवायिकारणम्, संयोजनसाधनान्येव निमित्तकारणानि । सर्वोऽप्यय कारणकार्यभावः प्रपचितस्तद्विज्ञानीयाध्याये । तत्र—

कार्यकारणयोर्भेदो न्याये वैशेषिकेऽपि च ।
अभेद च तयोः प्राहु साख्या वेदान्तिनस्तथा ॥

अथ भाव

तन्तवः पटस्य कारम्, पटश्च तन्तुभ्य उत्पद्यते इति तेषा कार्यम् । तन्तवः पटाद् भिन्ना इति प्रत्यक्षसिद्धम् । न हि पटोत्पत्ते. पूर्वं तन्तुषु कस्यापि पटबुद्धिर्भवति, न वा कश्चित् तन्तूनेव पट मन्यमानस्तै. शीतमपनिनीषति । अपि च तन्तवो बहव. पटश्चैक इति सख्याभेदोऽपि तत्र अस्ति । नामरूपकर्मभेदस्तु पूर्वमुक्त एव । एव पचभि प्रकारैः परीक्षणे कार्यकारणयोर्भेदः एव सिध्यति न्यायवैशेषिकमते । साख्याना वेदान्तिना च मत तु वक्ष्यते । (इह नामरूपकर्मबुद्धिसंख्या. पञ्च परीक्षणप्रकारा.) ।

न्यायवैशेषिकमते कारणावस्थाया कार्यसर्वथैवासद् भवति । असदेव तदुपादानकारणेन नूतनमुत्पाद्यते । अत एवायम् 'असत्कार्यवाद' उच्यते । किं च–कार्यकारणयोरेव भेदेऽभ्युपगम्यमानेऽसंबद्धादेव कारणात् कार्योत्पत्तिर्मा भूदिति तयो सबन्धविशेषोऽपि स्वीक्रियते 'समवाय.' इति । एतत्सम्बन्धादेव उपादानकारण . समवायिकारणमुच्यते । समवायोऽस्त्यस्मिन्निति व्युपत्त्या समवायस्याधारोऽनुयोगी वा 'समवायी' इत्युच्यते । तदित्थ यत्राप्ययमुपादानोपादेयभाव., अवयवावयविभाव', कारणकार्यभावो वा भवति, तत्र सर्वत्रैव 'आरम्भवादः' सिद्धातोऽवतरति, कारणभूतानवयवानुपादाय तत्सयोगेन अन्यस्य कार्यस्यारम्भमात्राधीनत्वादिति ।

सृष्टिसंहारयोरारम्भवाद—

नायमारम्भवादी मानवादिभिर्निष्पाद्यमानेषु घटपटादिष्वेव कार्येषु केवलं समन्वेति, प्रत्युत जगदीश्वरस्य जगत्सृष्टिसंहारक्रमेऽप्ययमेव वादः समन्वेति इति निरूप्यमाणया सृष्टि-संहारप्रक्रियया ज्ञातुं शक्यते । तथा हि—

सृष्टेश्चिकीर्षयेशस्य विश्लिष्टेषु मिथः पुरा ।
परमाणुषु सर्वेषूद्भवत्यारम्भिका क्रिया ॥
तेषु द्वयोर्द्वयोर्योगाज्जायन्ते द्व्यणुकास्तत ।
त्रिभिस्त्रिभ्यो द्व्यणुकेभ्यस्तु त्र्यणुकानां समुद्भवः ॥
एवं क्रमान्महाभूमिजलतेजोऽनिलोद्भवः ।
प्रलये तु परेशस्य लोकानां संजिहीर्षया ॥
पराणुष्वेव चारम्भप्रतिद्वन्द्विक्रिया भवेत ।
तेषां द्वयोर्द्वयोर्योगनाशाद् द्व्यणुकनाशनम् ॥
क्रमेण द्व्यणुकादीनां नाशादेव भवेल्लय ।
दोधूयमानास्तिष्ठन्ति नित्यास्ते परमाणव ॥
सर्वकार्यद्रव्यनाशरूपोऽस्यावान्तरो लयः ।
अनित्यकार्यमात्रस्य नाशमाहुर्महालयम् ॥ इति (न्यायप्रदीपे)

अयमाशय—

यदा हि महेश्वर सृष्टिं चिकीर्षति, तदा तस्य चिकीर्षावशात्, सृष्टेः पूर्वंमिथो विश्लिष्ट-तया नभसि दोधूयमानेषु सर्वेषु पृथिवीजलतेजोवायूनां चतुर्विधेष्वपि प्रत्येकमनन्तेषु परमाणुषु काचनारम्भिका क्रिया उद्भवति । तया क्रियया-द्वयोर्द्वयो. परमाण्वोः संयोगो भवति, तेन च विभिन्नाः असंख्याताश्च द्व्यणुका. जायन्ते । तत्र-द्व्यणुकोत्पत्तौ द्वौ द्वौ परमाणू- समवायि-कारणम्, परमाणुद्वयसंयोगोऽसमवायिकारणम्, परमेश्वर., तज्ज्ञानम्, तदिच्छा, तत्कृतिः, कालः दिक्, प्रागभावः, धर्माधर्मनिरूपमदृष्टम्, प्रतिबन्धकसंसर्गाभाव—इत्येतेसर्वे निमित्तकारणम् । एतानि हि कार्यमात्र प्रति साधारणानि निमित्तकारणानि—इति प्रकरणान्तरे प्रोक्तम् ।

एव द्व्यणुकोत्पत्त्यनन्तर महेश्वरस्यैवेच्छावशात् तेषु द्व्यणुकेष्वपि आरम्भिका क्रिया समुद्भवति । ततश्च त्रिभिस्त्रिभिर्द्व्यणुकैरेकैकत्र्यणुकमारभ्यते त्रसरेणुनामि । अत्रापि त्र्यणुके (त्रसरेणौ) त्रीणि द्व्यणुकानि समवायिकारणम्, तेषां संयोगोऽसमवायिकारणम्, ईश्वरेच्छादिक तु निमित्तकारणम् इति बोध्यम् । असंख्याता एव ते त्रसरेणव. ।

एवमेव त्र्यणुकेष्वपि सजातीयेषु ईश्वरेच्छावाद् आरम्भिकाक्रिया समुद्भवति । ततश्च तादृक्क्रियाविशिष्टैश्चतुर्भिश्चतुर्भिस्त्र्यणुकैः एकैकं चतुरणकमुत्पद्यते । तान्यपि चतुरणुकानि असंख्यातान्येव भवन्ति ।

चतुरणुकोत्पत्तौ सत्या तत्राप्यारम्भकक्रियोद्भवे पञ्चभिश्चतुरणुकैर्मिलितैरेकं स्थूलं कार्यमारभ्यते 'पञ्चाणुकं' नाम। पञ्चाणुकैरपि यथायथं मिलितैरन्यत् स्थूलतरं कार्यमारभ्यते, स्थूलतरैस्तु स्थूलतमं कार्यमारभ्यते।

इत्थं च पूर्वपूर्वकार्यापेक्षयोत्तरोत्तरं स्थूलकार्योत्पत्तिक्रमेण महती पृथिवि, महत्यः आपः महत् तेजः, महान् वायुश्चोत्पद्यते-इति सृष्टिप्रक्रिया।

प्रश्नः- ननु, त्रिभिः परमाणुभिरेकं द्व्यणुकं कुतो नारभ्यते? द्व्यणुकद्वयेनैव वा कुतो न त्र्यणुकोत्पत्तिः?

उत्तरम्- द्वाभ्यामेव परमाणुभ्यां द्व्यणुकोत्पत्तावुपपद्यमानायां, तदतिक्रमेण त्रिभिः परमाणुभिर्द्व्यणुकोत्पत्तिस्वीकारे गौरवं स्याद् इति प्रथमकल्पनानङ्गीकारः। द्वितीयेऽपि द्व्यणुकत्रयस्थानि द्व्यणुकद्वयेऽपि त्र्यणुकोत्पत्तिस्वीकारे तस्मिन्महत्वानुपपत्तिः स्यात। त्रसरेणौ हि अपकृष्टं महत्त्वं सिद्धान्तितमस्ति। कार्यस्य महत्त्वे तु कारणमहत्त्वं कारणबहुत्वं वा हेतुर्भवति-तच्च त्रसरेणुगतमपकृष्टमहत्त्वं त्रिभिरेव द्व्यणुकैः समुत्पद्यमानं परीक्षया सिद्धम्। तस्माद्यथोक्तमेव वरम्।

उक्ता सृष्टिप्रक्रिया। अथ संहारप्रक्रियायामपि-यदा परमेश्वरस्य कार्यद्रव्यसंजिहीर्षा भवति, तदा सर्वप्रथमं परमाणुष्वेव आरम्भप्रतिद्वन्द्विनी क्रिया भवति। ततः परमाणुद्वयस्य विभाग, ततो द्वयोः परमाण्वोः संयोगनाश, ततो द्व्यणुकनाशः, ततस्त्र्यणुकाशः, एवं चतुरणुकादिनाशक्रमेण महती पृथिवि, महज्जलम्, महत्तेजः, महान् वायुश्च, विनश्यति। अयमेव अवान्तरप्रलयः इत्युच्यते। 'सर्वकार्यद्रव्यध्वंसोऽवान्तरप्रलयः", इति लक्षणात्। "महाप्रलयस्तु सर्वभावकार्यध्वंसः"। भावकार्याणि च अनित्यानि द्रव्याणि, अनित्यगुणाः, अनित्यानि कर्माणि च बोध्यानि।

प्रश्नः- ननु (क) मीमांसका सृष्टिप्रलयौ न स्वीकुर्वन्ति। ते हि संसारप्रवाहो बीजाङ्कुरन्यायेन अनादिरनन्तः, नैव सृष्टिसद्भावे किमपि प्रमाणं, न चापि वा प्रलयसद्भावे प्रमाणम्-इत्याहुः।

(ख) आर्हता अपि भवप्रवाहमनादिमनन्तं चाचक्षते। भवप्रवाहस्यानादित्वात् तस्य कार्यत्वाभावादेव च ते ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वं न मन्यते। तद् भवदुक्ते सृष्टिप्रलयसद्भावे किं मानम्? न हि निर्मानमुच्यमानं माननीयं स्यात्।

उत्तरम्- "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" (ऋ० १०।१९०।३) इत्यादयो नानाश्रुतयः सृष्टिप्रलयसद्भावं बोधयन्ति इति सर्वप्रधानमाप्तवचनमेवात्र प्रमाणम्।

इत्थं यदा जगतः सृष्टिप्रलयावुभावपि प्रमाणप्रतिपन्नौ भवतः, यदा च परमाणुभ्यः एव सृष्टिः प्रारम्भं सिद्धौ भवति, तदा उक्तक्रमेण तत्र अवयवावयविभावः, कार्यकारणभावोऽपि

वाऽवश्य मतव्यो भवति । तथा च तत्र आरम्भवादस्वीकारोऽपरिहार्य एव भवति ।

प्रश्नः– ननु 'आरम्भवादो' नाम 'असत्कार्यवाद.' इत्युक्त पुरस्तात् । अस्मिन् हि वादे असत एव कार्यस्याभिनव एव उत्पादो मयते । किंतु तत्स्वीकारे—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(गीता २।१६)

इति श्रीमद्भगवद्गीताप्रतिपादितः सत्कार्यवादो विरुध्यते । कोऽत्र प्रतीकारः ?

उत्तरम्– एतस्य श्री मद्भगवद्गीतावचनस्य तात्पर्यमन्यदेव । तथा हि-"भावा-भावौ द्वौ पृथगेव पदार्थौ भवत । नानयोरैक्य सभवति, न वैकोऽन्यरूपेण परिणमति । अर्थात्-भावः कदाचिदपि अभावरूपतां न गच्छति, अभावोऽपि च न कदाचिद् भावरूपता धत्ते । नवा नवास्तु ये पदार्था उत्पद्यते, तेषा विनाशोऽभावोऽपि वा भवत्येव'-इति । तदेतेन असत्कार्य-वादस्य न काचित् क्षति. । प्रदर्श्यमानानि श्रुतिवचास्यपि सर्वथा असत्कार्यवादस्य समर्थनमेव कुर्वन्ति । तथा हि—

(क) देवाना पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि (ऋ० १०/७२।३)

(ख) स चोदय चित्रमर्वाग्राध इन्द्र वरेण्यम् ।
असदित्ते विभु प्रभु ॥ (ऋ० १।९।५)

(ग) विष्टम्भो दिवो धरुण पृथिव्या विश्वा उत क्षितयो हस्ते अस्य ।
असत उत्सो गृणते नियुत्वान्माध्वो अशु पवत इन्द्रियाय । (ऋ० ९।८९।६)

(घ) इद वा अग्रे नैव किंचनासीत् । न द्यौरासिन्न पृथ्वी नान्तरिक्षम् ।
तदसदेव सन् मनोऽकुरुत-'स्याम्' इति । (तै० ब्रा० २।२।९)

(ङ) असद् वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मान स्वयमकुरुत ।
तस्मात् सुकृतमुच्यते । (तैत्तिरीयोपनिषद् २।७) ॥

(च) असद् वा इदमग्र आसीत् । (शतपथब्राह्मणम् ६।१।१) ॥ (इति न्यायवैशेषिकमतम्)

सघातवाद.—

बौद्धा अपि असत्कार्यवादं वदत सघातपक्षमुपस्थापयति ।

तद्यथा—

परमाणुगणोरैव सिद्ध भूमिघटादिकम् ।
तदन्यकल्पनाऽपार्थित्यादि बौद्धमतं वच ॥

(न्यायप्रदीपे)

नैयायिकवैशेषिकाणां मते द्रव्यस्य समवायिकारणं तदवयवा, जन्यद्रव्यं चावयवि। पूर्वमुक्ते कार्यद्रव्योत्पत्तिक्रमे समवायिकारणाभ्यां द्वाभ्यां परमाणुभ्यामेकस्य द्व्यणुकस्योत्पत्तिरित्यादि. क्रमो वर्णित । द्व्यणुके हि द्वौ परमाणू अवयवौ, द्व्यणुकं तु स्वयमवयवी । "समवायिकारणे-पमर्देन ततो भिन्नमेव नवीनं कार्यमवयवि समुत्पद्यते" इति सामान्य. सिद्धान्त ।

अत्र बौद्धा कथयन्ति —

"विभिन्नाकाराकारिताः परमाणुपुंजा एव घटपटादिनानापदार्थरूपतयाऽवभासन्ते, तत्र अवयवविनामकस्य नवीनपदार्थस्य कल्पनाऽपार्था एवेति । न च अवयविनां परमाणुपुंजत्वे परमाणोरप्रत्यक्षत्वात् घटाद्यवयविनामपि अप्रत्यक्षत्वापत्ति. स्यादिति वाच्यम्, दूरस्थकेशवद् एकस्य परमाणोरप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वे बाधकत्वाभावात् । न च तथापि पुंजस्य-परमाणूनां बहुत्वात् एको घटः इत्येकत्वप्रतीतिरनुपपन्ना स्यादिति वाच्यम्, "एको धान्यराशिः इति लौकिकप्रतीतिवत् तस्या प्रतीतेरपि सूपपन्नत्वात्"–इति । अत्र पुंजः, संघात., समूहः, राशि –इत्यादिशब्दानामेकोऽर्थः ।

बौद्धनैयायिकयो शास्त्रार्थः

(१) नैयायिक.

अवयविनोऽस्वीकारे परमाणुपुंजमात्रस्य घटादिपदार्थत्व स्वीकारे च परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तत्समूहस्याप्यतीन्द्रियत्वाद् घटादीनामप्रत्यक्षत्वापत्तिदोषस्तदवस्थ एवेति हेतो बौद्धमत न सम्यक् । यत्तु केशदृष्टान्तेन प्रत्यक्षत्व साधितम्, तदपि न, दूरस्थस्यापि केशस्यातीन्द्रियत्वा-भावेन तत्प्रत्यक्षेऽपि, तत्साम्येन परमाणुप्रत्यक्षस्य साधयितुमशक्यत्वात् । दूरस्थकेशो हि नातीन्द्रिय., सन्निधाने तस्येन्द्रियग्राह्यत्वात्–इति ।

बौद्ध —

ननु कथं नैयायिकादिमतेऽपि अतीन्द्रियपरमाण्वारब्धानां त्रसरेण्वादीनां प्रत्यक्ष स्यात् ? ।

(२) नैयायिकः—

अस्मन्मते दृश्यद्व्यणुकैर्जनिते त्रसरेणौ महत्त्वमुत्पद्यते, अणुत्वं च व्यपगच्छति । "द्रव्यीय-चाक्षुषप्रत्यक्ष च समवायेन महत्त्वस्य कारणत्वात्' त्रसरेणो प्रत्यक्ष निर्बाधमेवेति । बौद्धमते तु अवयवावयविभावास्वीकारेण त्रसरेणोर्जन्यावयवित्वाभावान्न तत्र महत्त्व जायते इति तस्याप्रत्यक्षत्वापत्तिरेव स्यादिति ।

बौद्धः—

नन्वस्मन्मतेऽपि अदृश्यपरमाणुपुंजाद् दृश्यपरमाणुपुंजस्य समुत्पन्नत्वाद् 'अयं घट' इति प्रत्यक्षप्रतीतेर्नानुपपत्तिरिति ।

३ नैयायिक—

नैद सम्यक्, कार्यधर्मस्य कारणधर्मानुरोधित्वेनादृश्यास्य दृश्यानुपादानत्वस्वीकारात्। एतद्वैपरीत्येनादृश्यस्यापि दृश्योत्पादकत्वस्वीकारे तु अदृश्यस्य चक्षुरिन्द्रियस्योस्मण. सन्तानस्य चापि कदाचिद् दृश्यत्वप्रसगेन चाक्षुष. साक्षात्कार स्यात्, न तु तथा दृश्यते। तस्माद् अदृश्यं न दृश्योपादानमित्येव सिध्यति।

बौद्धः—

ननु कटाहस्थतैलघृतादौ वटकशष्कुल्यादिपरिपाचनकाले तत्र अदृश्यो वन्हिर्भवति, अत एव तत्र आकस्मिकतयाऽपि जलादिप्रक्षेपे सति दृश्यस्य वन्हेरुत्पत्तिर्जायते। एवं च अदृश्यमपि दृश्योपादान भवत्येवेति।

(४) नैयायिक—

कटाहस्थतैलघृतादावपि तदन्त पातिनो दृश्यस्य दहनस्यावयवा दृश्या एव, न त्वदृश्या.। दृश्यैरेव तैर्वन्हेरवयवैर्दृश्यभूतस्य स्थूलस्य वन्हेरुत्पत्तिरवगम्यते। अन्यथा तु दृश्यः स्थूलो वन्हिरपि दृश्यः (चक्षु प्रतिवेद्यो) न भवेदिति।

बौद्ध —

ननु नैयायिकमते ह्यणुकमदृश्यम्, यदि ह्यदृश्य दृश्योपादान न भवेत्, तर्हि अदृश्यात्-तस्माद्ह्यणुकाद्दृश्यस्य त्रसरेणोरुत्पत्तिः कथमिव भवति ?।

(५) नैयायिक.

न वय दृश्यत्वमदृश्यत्व वा कस्यचित् स्वभावादाचक्ष्महे। अर्थाद् दृश्यत्वादृश्यते कस्य-चित्पदार्थस्य स्वाभाविको स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नौ धर्मो न भवतः। किन्तु महत्वोद्भूतरूपा-लोकादिकारणासमुदायवशाद्दृश्यत्व भवति, तदभावे चादृश्यत्व भवतीति दृश्यादृश्यत्वयोर्विवेकः तथा च नैयायिकाना त्रसरेणो महत्त्वमुद्भूतरूप च उत्पद्यते इति तस्य दृश्यत्व भवति, द्व्यणुके तु न तथात्वम्, तत्र महत्त्वोद्भूतरूपादिकारणकलापाभावात्।

बौद्धः—

ननु एव परमाणोरपि पुजावस्थाया दृश्यत्वम्, इतरथा त्वदृश्यत्वमिति का क्षतिः ?।

(६) नैयायिकः—

बौद्धमते नैय दृश्यत्वादृश्यत्वव्यवस्था वर्तते। यतो हि परमाणुपुंजे न महत्त्व वर्तते, न चाप्युद्भूतरूपादिकमस्तीति सर्वथा अवयविपदार्थस्वीकारः कर्त्तव्य एवेति सिद्धम्।

(३) सत्कार्यवाद परिणामवादश्च—

अयं हि साख्याना सिद्धान्तः। वेदान्तिनामप्यसौ ईषत्परिवर्तनेनाभिमत एव। बहूनि वेदवचासि तु अत्र आधारीक्रियन्त एव, किन्तु—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(—श्रीमद्भगवद्गीता २।१६)

इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनमत्र सर्वतोऽपि विशिष्ट आधारः। दर्शनाना सर्वस्वमिद पद्यम्। साख्य च वेदान्तश्चोभावपि स्वस्वप्रक्रियाभेदवादेनदाधारीकुरुत। अथ तदर्थं—"यः पदार्थोऽसन् भवति, तस्य कदाचिदपि सत्ता नैव भवति। यश्च पदार्थं सन्भवति, तस्याभावोऽपि नैव भवति। तत्त्वदर्शिन. पार्यन्तिक विचार कृत्वा सिद्धान्तमेत निरणैषु"-इति। अयमाशय—सत्तावता पदार्थाना कालत्रयेऽपि सत्ता निर्बाधा। यस्य त्वेकस्मिन्नपि काले सत्ता न भवति, तस्य कस्मिश्चिदपि काले सत्ता नैव भवति, एतेन सिध्यतियद—यत्त्रैकालिक सत्यम् तदेव हि वास्तविक सत्यम्। कादाचित्कतया भासमानाना पदार्थानां तु वास्तविको सत्ता न भवति इति।

साख्यदर्शनेन सत्कार्यवादस्य स्थापना उपर्युक्तसिद्धान्ताधारेणैव क्रियते। सांख्याः कथयन्ति—"जगत्यस्मिन् न किमपि नवीन कार्यमुत्पद्यते। यत्किमपि पूर्वमस्ति, तस्यैवाभिव्यक्तिमात्रमिह भवति। तद्यथा—

(क) तिलेषु तैल पूर्वमेव तिष्ठति, यन्त्रनिष्पीडनेन तु तदभिव्यक्तिः क्रियते।

(ख) दध्नि नवनीत पूर्वमेव भवति, दध्नो मन्थनेन तु तदभिव्यक्ति. क्रियते।

(ग) मूर्तिकार कश्चिद्शिलाखण्डमेकमादाय, टङ्काद्युपकरणैष्टङ्कयित्वा, अनावश्यकाशान् परिहृत्य च तस्माच्छिलाखण्डाद्यथारुचि रामकृष्णगजसिंहमयूरादीना मूर्तिरभिव्यजयति नासौ बाह्या काञ्चित्सामग्रीमुपादत्ते, केवल शिलाखण्डे पूर्वं सतीमेव प्रतिमामसौ प्रकटयति।

एतैरुदाहरणैः सिध्यति तत्—तिलेषु तैलम्, दध्नि सर्पि', शिलाया प्रतिमा चैते पदार्थाः पूर्वत्त एव सिद्धा आसन्, अनावश्यकाशावरणेन तु तेषामव्यक्तावस्थाऽऽसीत्। आवरणवारणेन च तेषा व्यक्तता जाता। नात्र नवीन किमप्युत्पादितम्। तस्मात् ',कार्यस्योत्पत्ते, पूर्वमपि स्वकारणेऽव्यक्तरूपेण स्थित सदैव भवति"—इति व्युत्पत्त्या सोऽयं सिद्धान्तः 'सत्कार्यवाद.' इत्युच्यते। "कारणस्यैवावस्थाविशेष. कार्यम्" इति तु तत्सक्षेप.। पचभिर्हेतुभि. 'सत्कार्यवाद' साधयन्ति साख्याः। ते च यथा—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥
(सांख्यकारिका—९) इति॥

अयमर्थः—

कार्यसद्भवति, कारणव्यापारात्प्रागपि विद्यमानं भवतीत्यर्थः। यतो हि—

(क) असत. करण् नैव भवति, न हि शिल्पिसहस्रेणापि आकाशकुसुमं शशशृंग वोत्पादयितुं शक्यते, न वा सिकताभ्यस्तैल निष्क्रष्टुं शक्यते, असत्त्वादेव तस्य तस्य वस्तुनः।

(ख) यत्कारण यस्योपादान भवति तदेव हि तन्निष्पादनायगृह्यते, यथा—दध्यर्थिना क्षीरमेवोपादीयेत, नान्यत्। तैलार्थिना तिला एवोपादीयन्ते, न सिकता.। अन्योऽप्यर्थ.—उपादानानाम्=कारणाना ग्रहणम्=कार्येण सह सम्बन्धः। कार्येण सम्बद्धमेव कारणं कार्यस्य जनक, नासम्बद्धम्। सम्बन्धश्च असता कार्येण सह न सभवति। तस्मात् सिध्यति कार्यमुत्पत्तेः प्रागपि अव्यक्ततया सदेवेति।

(ग) असम्बद्धस्यापि कार्यस्य जन्यत्वे स्वीक्रियमाणे असम्बद्धत्वसामान्यात् सर्वस्मादेव कारणात् सर्वं कार्यं सभवेत्—जलादपि दधि, सिकताभ्योऽपि तैलम्, पाषाणादपि पुष्पम् इत्यादिक सर्वमेव तथात्वेऽनियतमुपलभ्येत। न त्वेवमस्ति। अत एवोच्यते—

असत्त्वे नास्ति सम्बन्ध. कारणैः सत्त्वसगिभि।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥ इति।

(घ) ननु असम्बद्धमपि कार्यं तदेव कारणेन जन्यते, यत्र यत्कारण शक्त स्यात्। यथा-तंतवः पटे शक्ता एव पटोत्पादका। एव च सति कार्यस्यासत्त्वाभ्युपगमेऽपि न दोष'। शक्तिश्च कार्यदर्शनादनुमियते। तेन नाव्यवस्था इत्यत आह-शक्तस्येति। शक्त कारण शक्यमेव कार्यं जनयति, नत्वशक्यम्। तच्च असम्बद्धत्वे नैव सभवति। सम्बन्धश्चासत. सता सहन सभवति। सम्बधे स्वीकृते तु सिध्यति सत्कार्यमिति।

(च) कारणभावाच्चापि कार्यं सद् भवति। अर्थाद्- यद्रूप कारण भवति, तद्रूपमेव कार्यं लोके दृश्यते इति कार्यस्य कारणभावोऽभ्युपगम्यते। कारण च सद् भवतीति तदभिन्न कार्यं कथमसद् भवेत्? ततश्च सिध्यति कार्यं सदेवेति।

अयमत्र सार.—

कारणमेव हि विक्रियमाण कार्यरूपेण परिणमति। मृदेव रूपांतरपरिणता घटो भवति तंतव एव रूपांतरमधिगता पटो भवति, दुग्धमेव रूपांतरित दधि जायते-इति जागतिकाव-स्थादर्शनन कारणस्यैवावस्थाविशेष कार्यमिति फलति। एव च कारणकार्ययोभेद एव सिध्यति। कारणाभिन्न च कार्यं स्वोत्पत्ते पूर्वमपि सदैव भवति-इति।

परिणामवाद :—

सांख्याना 'सत्कार्यवाद.' एव 'परिणामवाद' कथ्यते कारणमेव कार्यरूपतया परिणमति-इति सिद्धांतस्योदाहरणाना दर्शितत्वात्। परन्तु सकलस्य जगत' प्रकृतिरेवैक कारणमभ्युपगम्यते, सा चैका, तत् कथमेकस्यास्तस्या प्रकृतेः नानारूप विचित्र जगदुत्पन्नमिति प्रश्नस्य समाधानाय प्रकारांतरेणापि 'परिणामवादो'ऽयमुपयुज्यते। तथा हि—

कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रति प्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥
(सांख्यकारिका १६) इति ।

अयमर्थः :—

जगत्कारणं प्रकृतिः सत्त्वादिगुणाश्रयात् सर्गप्रलयरूपं द्विविधं कार्यं जनयति । तत्र गुणानां साम्यावस्थातः प्रलयः, वैषम्यावस्थातश्च सर्गः । गुणास्तु परिणामशीला क्षणमपि परिणामं विना नावतिष्ठन्ते । प्रलयावस्थायां ते विसदृशपरिणामं विहाय सदृशपरिणामा जायन्ते । तदा हि सत्त्वं सत्त्वरूपतया, रजो रजोरूपतया, तमश्च तमोरूपतया प्रवर्तते । तेन च गुणानामेषा साम्यावस्था जायते । स एव जगतः प्रलयः सृष्टिसमये तु गुणाः सदृशपरिणामं विहाय विसदृशपरिणामाः सन्तो महदादिकमुत्पादयन्ति । परन्तु सर्गरूपायां प्रकृतेः प्रवृत्तौ गुणास्ते परस्परं गुणप्रधानादिनानाभावैर्मिलित्वा प्रवर्तन्ते इति । यथा वारिदविमुक्तमेकमेव सलिलं मधुरैकरसमपि भिन्नभिन्नभूतविकारानासाद्य जम्बीरनारिकेलादिरसरूपतया परिणमन् मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायभावं प्रतिपद्यते, तथैव त्रयाणां गुणानां नानात्वरूपं विशेषमाश्रित्य प्रकृतेरपि नानाविधाः परिणामा जायन्ते इति ।'

सृष्टेरादिकारणं प्रकृतिः 'सत्कार्यवादेन' सांख्यैः साध्यते, एकस्मात्कारणाज्जायमाना विविधता तु तैः 'परिणामवादेन' समर्थ्यते इति तु परमार्थः ।

सत्कार्यवादस्योपयोगिता —

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मध्ये युयुत्सुं समुपस्थितं स्वजनं दृष्ट्वा, विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसं, कृपयाविष्टम्, अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्, विषीदन्तमर्जुनमुद्बोधयितुं भगवान् प्रहसन्निव "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्"-इत्यादिभिर्वाक्यैः स्वोपदेशं प्रारेभे । तत्र- (१) प्राणापगमस्थित्योरननुशोच्यत्वम्, (२) सर्वात्मना त्रैकालिकसत्तावत्त्वम्, (३) देहान्तरप्राप्तेर्बाल्यकौमारयौवनजरावदवस्थापरिवृत्तिमात्रत्वम् (४) मात्रास्पर्शजानां सांयोगिकानां शीतोष्णसुखदुःखादीनां द्वन्द्वानामागमापायित्वेनानित्यत्वं, वास्तविकसत्तारहितत्वं चेत्येतत्सर्वं प्रतिपाद्य संयोगजानां भावानामनुशोचनस्य व्यर्थता समुपदिष्टा । तत्र-

प्रश्न — शीतोष्णत्वादीनां संयोगजत्वादनित्यत्वं तु कथंचिन्मन्तव्यं स्यात्, किन्तु तेषां वास्तविकी सत्ता न भवतीति कथं श्रद्धेयम् ? सन्ति जगति बहवः संयोगजा भावाः, सत्ताऽपि तेषां वास्तविकी दृश्यते, तैर्बहूनि कार्याण्यपि सिध्यन्ति, तेषां नाशाद्यवस्थायां तीव्रमन्दमतिसाधारणाः सर्वे एवानुशोचनमपि कुर्वन्त्येव । दृश्यन्तामिहोदाहरणानि—

---

(१) दृश्यतामेतत्संवादि चरकवचनम्-'एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नम्, न्यूनातिरेकविशेषान्महाभूतानां भूतानामिव स्थावरजङ्गमानां नानावर्णाकृतिविशेषाः । षडृतुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषः" (च० सू० २६।४०) इति ।

(१) शरीरमिद शुक्रशोणितसयोगोद्भवमिति सर्वे विदन्ति, एतस्य वास्तविको सत्तामप्यनुभवन्ति, अनुशोचनमपि जगति शरीरसम्बन्धा देव सर्वं भवति ।

(२) गन्धकशोरकेंगालैर्मिलितैराग्नेयचूर्णमुत्पद्यते, येन महान्तः पर्वता अप्युत्साद्यते। तत्तस्य वस्तुसत्ता किं न स्वीक्रियेते ? तस्य सयोगजस्याग्नेयचूर्णस्य वस्तुसत्तानगीकार. किमु उपहासास्पद न स्यात् ?

(३) दुग्धे सरः (सन्तानिका) अग्निवायुसयोगादुत्पद्यते । किमु तस्यापि वस्तुसत्ता न स्वीक्रियेत ?

शत सहस्र चैतादृशान्युदाहरणानि सन्ति, येषा वस्तुसत्तानगीकार न कश्चिदपि विपश्चित् कुर्यात् । यदि तु तेषा वास्तविको सत्ता स्वीक्रियते, तर्हि तेषा सर्वथेवाशोच्यत्व कथमिव सिध्येत् ।

उत्तरम् —

प्रश्नस्यास्य समाधानार्थमेव भगवान् सर्वदर्शनसार "नासतो विद्यते भावो"-इति पद्यमवातीतरत् । सत्कार्यवादेनैव हि प्रश्नोऽय यथार्हं समाधीयते इति तथैव प्रतिपादितमपि प्राक् ।

अथायुर्वेदेऽपि महीयानुपयोऽस्य सत्कार्यवादस्य परिणामवादस्य वा । तथा हि-

(क) अजातानामनुत्पत्तौ जातानां विनिवृत्तये ।
रोगाणा यो विधिर्दृष्टः सुखार्थी त समाचरेत् ॥
सुखार्थाः सर्वभूताना मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
ज्ञानाज्ञानविशेषात्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः ॥

—(चरकसहिता–सू० अ० २८।३४-३५)

इति चरकोक्त्यनुसार सर्वैरेव स्वस्थवृत्तानुपालनेन रोगा नोत्पद्येरन्नित्यर्थं प्रयतितव्यम् । परतु सर्वभूतानां सर्वासु प्रवृत्तिषु सुखार्थासु मतास्वपि अपरीक्षका अज्ञानादेव सुखसाधनमिकमिति कृत्वाऽमार्गेऽपि प्रवर्तन्ते, जायते च रुग्णा. । यद्येवं रोगा जायेरन्, तर्हि तेषा विनिवृत्तिरपि कर्तव्या भवति । सर्वमिद यथार्थज्ञानमतरा न कर्तुं शक्यम् । क आत्मा ? किं शरीरम् ? किंमूल शरीरम, लोकेन वा शरीरस्य कः सबध ? किं स्वास्थ्यम् ? के रोगा रोगा आगमापायिनो वा नित्या वा ? तन्नाशन मानवकृतिसाध्य न वा ? किं चिकित्सातत्त्वम् ? इत्यादीना विषयाणा सम्यक् परिज्ञानमेव हि यथार्थज्ञानम् । यथार्थज्ञानेन यो हि परीक्षकस्तम्—

श्रुत बुद्धि. स्मृतिर्दाक्ष्य धृतिर्हितनिषेवणम् ।
वाग्विशुद्धि शमो धैर्यमाश्रयन्ति परीक्षकम् ॥

-(चरकसहिता सू० अ० २८।३७) इति ।

स्वास्थ्यानुवर्तने परमावश्यका ह्यते गुणाः । एतद्गुणयुक्त एव "प्रशमः पथ्यानाम्, अनिर्वेदो वार्तलक्षणाम्, विज्ञानमौषधीनाम्" (च० सू० २५।४०) इत्याद्युपदेशान् पालयेत् । अन्ये तु

तानुल्लंघय "विषादो रोगवर्धनानाम्, आयासः सर्वापथ्यानाम्, शोकः शोषणानाम्, असद्ग्रहणं सर्वाहितानाम्" (च० सू० २५।४०) इत्यादिवचनानां लक्ष्यभूता अस्वास्थ्यदुःखमेवानुभवन्ति। ईदृग्विधेष्ववसरेषु 'सत्कार्यवाद' एव देहलाभादीनां तत्रोद्भूतानां विकारादीनां च सायोगिकत्वेनानित्यत्वं परिबोध्य धैर्यमवष्टम्भं च जनयति। तद्यथा-

जायन्ते हेतुवैषम्याद् विषमा देहधातवः।
हेतुसाम्यात्समास्तेषां स्वाभावोपरमः सदा॥
शीघ्रगत्वाद्यथा भूतस्तथा भावो विपद्यते।

(च० सू० अ० १६।) इति।

यत्तु रोगसमुत्थानमशक्यमिह केनचित्।
परिहर्तुं, न तत्प्राप्य शोचितव्यं मनीषिभिः॥

(च० सू० अ० २८।४४ इतिच।

(२) 'सत्कार्यवाद', 'परिणामवादो' वा कार्यकारणयोरभेदं बोधयत् हेतुलिंगौषधरूपेषु त्रिष्वेवायुर्वेदस्यन्धेषु व्याप्रियमाणश्चिकित्सकस्य अभ्रान्तं ज्ञानं जनयित्वा महान्तमुपकारमादधाति। तथा हि-"दुष्टा दोषा एव धातून् प्रदूष्य रोगरूपतया परिणता भवन्ति"-इति बोधयन् 'सत्कार्यवादो'ऽयं हेतुलक्षणयोः सामान्येन विकारनिर्णयस्य मार्गं दर्शयति। तद्यथा-

त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि।
रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः॥
व्यवस्थाकरणं तेषां यथास्थूलेषु संग्रहः।
तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषूपदिश्यते॥

-(चरकसंहिता सू० १८।४२,४३) इति।

तथा—"सर्व एव निजा विकारा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्तन्ते तदात्मकानपि च सर्वविकारास्तानेवोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः"—इत्यादिषु नानास्थलेषु दोषाणामेव परिणामविशेषा रोगा इति स्पष्टं परिबोध्यते।

(३) अपि च—आहारपरिणामजा एव देहे निखिला धातवः—इत्यादि "स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्ति" इत्येवं विधैरनेकैर्वचनैः परिबोध्यते, इतीदृशेषु स्थलेषु सर्वत्र सत्कार्यवादाभिन्नपरिणामवादेनैव निस्तारः।

(४) अपि च—यथा श्रीमद्भगवद्गीतायां मात्रास्पर्शजानामागमापायिनां सुखदुःखादिद्वन्द्वानां तितिक्षितव्यत्वं सत्कार्यवादेन अनुप्राप्यते, तथैवायुर्वेदेऽपि। तथा ह्युच्यते—

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः॥
इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात्प्रवर्तते।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते॥

उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रयसञ्ज्ञकान्।
स्पृश्यते नानुपादाने नास्पृष्टो वेत्ति वेदना॥

(चरकसंहिता शा० १।१३३-१३५) इति।

इत्थं सूक्ष्मपरीक्षणेन पदे पदे 'सत्कार्यवादस्य' 'परिणामवादस्य' वाऽऽयुर्वेदे उपयोग उपलभ्यते।

सांख्यनैयायिकयोः शास्त्रार्थं —

(१) नैयायिक.—

ननु तैलदधिमूर्त्यादीनुदाहरता सांख्येन सत्कार्यवादस्थापनाया 'यत्किमपि पूर्वमस्ति, तस्यैवाभिव्यक्तिमात्रस्य' सिद्धान्तता स्वीकृता। बाह्यसामग्र्यास्तूपादानमात्रमपि तेन निषिद्धम्। तदिदमनुभवपथादपेतम्। लोके ह्यन्यथैव व्यवहारो दृश्यते। तथा हि—

(क) घटादिनिर्माणाय बाह्यैवोपादीयते मृत्तिका।

(ख) पटनिर्माणाय च तन्तवो बाह्या एवोपादीयन्ते।

(ग) कटककुण्डलाद्यलंकारकरणाय च सुवर्णपिण्डखण्ड बाह्यमेवोपादीयते–इति।

अपि च–शरीराऽऽग्नेयचूर्णदुग्धसरादयो ये संयोगजा भावा नवीनतयोत्पाद्यमाना निर्दिष्टाः, येषां च सत्तापि वास्तविकी साधिता, तेषामपि समुचित समाधान सांख्येन न कृतम्। तत्कथं युक्तिप्रमाणरहित वाङ्मात्रसाधित 'सत्कार्यवाद' प्रतिपद्येमहि ?।

सांख्य —

उपादानेषु भवन्ति नाना अवस्थाविशेषा। यावदेकाऽवस्था भवति, तावदपरास्तिरोहितास्तिष्ठन्ति। नवाभ्यां नामरूपाभ्यां वस्तुनिर्मातारस्तु पूर्वामवस्थां विपरिवर्त्य यथेच्छं नवामवस्थामुद्भावयन्ति।

तद्यथा —

(क) चूर्णपिण्डदयो मृत्तिकाया एवानेकेऽवस्थायाविशेषा

(ख) पटादयस्तन्तूनामेवावस्थाप्रकारा.।

(ग) कटककुण्डलादयोऽपि सुवर्णस्यैवकाश्चनावस्था.—इति।

एतेषु सर्वेषूदाहरणेषु पूर्वावस्थापरिवर्तनेनावस्थान्तरमात्रपरिणतिर्भवति, न तु क्वचिदसतो वस्तुनो नवीनमुत्पादन कृत मन्तव्यम्। येऽपि केचन संयोगजा भावा दृष्टान्तीक्रियन्ते, तत्रापि ये तत्त्वविशेषाः याश्चापि शक्तयो अनेकत्र विप्रकीर्णा भवन्ति पूर्वम्, ता एवैकत्र संयोज्य रूपांतरपरिणता प्रकटीक्रियते, न तु इहापि किंचिन्नवीनमुद्भाव्यते। तद्यथा—

(क) शरीरोद्भवे शुक्रशोणितयो पृथगवस्थितानवयवान् संयोज्यावस्थांतरपरिणामो विग्रहवान् विधीयते, न तु पूर्वमसतः कस्यचिन्नवीनकार्यस्योत्पत्तिः क्रियते।

(ख) आग्नेयचूर्णनिर्माणोदाहरणेऽपि गन्धकसोरकेंगालेषु पृथक्पृथगन्तःस्थिता विध्वंसिनी शक्तिस्तदुपादानानामेकत्र मेलनेनाभिव्यक्तिं नीयते।

(ग) दुग्धसरोत्पादस्थलेऽपि खरताऽग्नेर्वाय्वोश्चांशः, द्रवता च दुग्धस्यांशः। अग्न्युत्तापकाले दुग्धेऽग्नेर्वाय्वोश्च प्रवेशेन खरत्वं तद्गुणोऽभिव्यज्यते, द्रवत्वं त्वघुनाऽपि तत्र स्थितमेव। इह दुग्धाग्निवायूनां सम्मिश्रणमात्रं तेन च रूपान्तरापत्तिमात्रमेवाभूत्, न काचिन्नवीना निष्पत्तिः।

(२) नैयायिक —

ननु भावपदार्थेष्वियं व्यवस्था आस्तामसत्कार्यवादेन रूपान्तरपरिणतिनमि, अभावे तु वस्तुनः सर्वथैव विनाशो भवति, ततश्चादर्शनमुपेयुषि वस्तुनि, क्व तद्वस्तु ?, क्व तद्रूपान्तरम् ?, क्व च तद्रूपान्तरपरिणतिः ? । तस्मादसत एवोत्पत्तिरिहाभ्युपेया भवति, न तु कारणे अव्यक्ततया सतः कार्यस्याभिव्यक्तिरिति।

सांख्य —

न हि विनाशस्थलेऽपि वस्तुनः सर्वथाऽभावो भवति। अवस्थापरिवर्तनं त्वेव इहापि भवति। उदाहरणं यथा—शीतकाले सलिलसम्पूरितः कश्चित् सरोवरो ग्रीष्मे यदि विशुष्यति, तर्हि तेन तस्य सर्वथैवाऽभावो भवतीति नैव मन्तव्यम्। किन्तु सरोवरनीरं ग्रीष्मे द्रवावस्थां विहाय वाष्पावस्थां गच्छति, वर्षासु तु तद्भूयो घनतामवाप्य द्रवतामुपैति। तदेवमवस्थानां चक्रमेव शश्वद्विपरिवर्तते, न तु सतोऽभावः, असतश्चोत्पत्तिर्भवति।

(३) नैयायिकः—

ननु उक्तः पूर्वं न्यायवैशेषिकमतेन 'आरम्भवाद'। तस्मिंश्च बौद्धमतसमीक्षावसरे "अयमेको घटः अटामेकः पटः", इत्याद्येकत्वव्यवहारस्थले पुंजीभूतानामनेकेषां परमाणूनामवयविद्रव्यत्वस्वीकारमन्तराऽनुपपद्यमानस्यैकत्वव्यवहारस्योपपादनाय अवयवावयविव्यवहारश्चापि साधितः। अवयवावयविभावे (कारणकार्यभावे) तु सर्वथा 'आरम्भवादः' एवोपपद्यते, नान्यः कश्चिदिति कथमिह 'सत्कार्यवाद' स्थापनप्रयासः ?।

सांख्य —

'आरम्भवाद' खलु प्राथमिककक्षायामधीयानानां शिक्षणस्य प्रक्रियामात्रम्। तेन हि शिक्षमाणानां तेषां कारणकार्यधारा सुगमा भवति। स्थूलतयाऽनेकेषां वस्तूनामुत्पादनक्रमोऽपि हृदयंगमो भवति। परन्तु आरम्भवादस्य "अणुभ्योऽवयवेभ्यो महत्तोऽवयविन उत्पत्तिर्भवति"—इति सिद्धान्तो न खलु सार्वत्रिकः। 'परिणामवादेनापि एकस्माद् वस्तुनोऽपरस्य वस्तुनः परिणतिः साधितैव। यथा—दुग्धाद्दध्नो निष्पत्तिरिति।

(४) नैयायिकः—

ननु तत्रापि दुग्धदध्युदाहरणे तापनातचनदानादिविधिभिर्दुग्धपरमाणूनां परस्परं विश्लेषणे

सति, दुग्ध विनश्यति, उष्णतासयोगेन चाभिनवरूपरसादिप्रादुर्भावे सति दधिपरमाणूनां निष्पत्ति:, ततश्च दध्न उत्पत्तिर्भवतीति 'आरम्भवाद' एव देदीप्यते ।

सांख्य.—

नि सारा खल्वेषा कल्पना, प्रत्यक्षविरुद्धा च । यतो हि दधिभावेन निष्पाद्ये दुग्धे निरतर दृष्टि समाधाय कश्चिद्यदि पश्यस्तिष्ठेत्, तर्हि नैतादृश कश्चिदवसर प्राप्येत, यत्र दुग्धस्य विनाशेन परमाणुरूपतापत्तिरतीन्द्रियत्व चाध्यक्षीक्रियेत । दुग्धमेव तु शनै. शनैर्दधिभावेन परिणमत् तत्र लक्ष्येत । ततपश्चारम्भवादस्य मूल 'परमाणुवाद:' एव न युक्तियुक्त सिध्यति, कुतस्तरामन्यत् ! ।

किंच–परमाणूनामतीन्द्रियत्वस्वीकारोऽपि स्वकीय परिभाषामात्रम् । यतो हि—एकस्य परमाणोरतिसूक्ष्मत्वेन प्रत्यक्षासम्भवेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्ष भवत्येव । एव चैकस्य परमाणोः प्रत्यक्षाभावेऽपि तत्पुञ्जभूतानां घटपटपर्वततर्वादीना प्रत्यक्षताया न किंचित् बाधकमुत्पश्याम । अन्यथा द्व्यणुकत्रयस्य (षण्णा परमाणूना) मेलनेन निष्पन्नस्य त्रसरेणोः प्रत्यक्ष भवति, ततोऽपि महता घटादीनां तु नेति को वा विचारक. प्रतीयात् ? ।

(५) नैयायिकः—

ननु प्रत्यक्षे महत्त्व कारण भवति, "द्रव्यीयचाक्षुषप्रत्यक्षे समवायेन महत्त्व कारणम्"– इति नियमात् । परमाणुना त्वणुत्वमेव न महत्त्वम्–इत्येकस्य परमाणो. प्रत्यक्षाभाववत् तत्समूहस्यापि प्रत्यक्षाभाव एव । तत् कथमिह तत्प्रत्यक्षत्वापादनम् ? ।

सांख्य —

अणुत्व महत्त्व च न कौचिद् विशिष्टौ गुणौ भवतः । तौ हि आपेक्षिकौ । प्रदेशावगाहस्यैव नामविशेषोऽणुत्वम्, नामविशेषश्च महत्त्वम् ततश्च योऽधिक प्रदेशमवगाहते, सोऽल्पप्रदेशावगाहकापेक्षया 'महान्' इत्युच्यते, यश्चाल्प प्रदेशमवगाहते, सोऽधिकप्रदेशावगाहकापेक्षया 'अणु' इत्युच्यते । परमाणूना पुंजस्तु अधिकप्रदेशावगाहितया 'महान्' इत्येवोच्यते, प्रत्यक्षयोग्यश्च भवतीति न किंचिदसमजसम् ।

(६) नैयायिक —

ननु नामरूपकर्मभेद एव सर्वत्र भेदसाधक , ततश्च परमाणुतत्पुञ्जयोः सति नामरूपकर्मभेदे कथ न तत्र भेद ? किंहेतुकश्चाभेदः ? ।

सांख्य —

सेनाया समवेताना प्रत्येक मनुष्याणा कृते 'सेना' शब्दो न व्यवह्रियते, किन्तु मनुष्यविशेषाणा समुदाय एव हि 'सेना' शब्दवाच्यो भवति । तत्रापि एको मनुष्यो न विशाल प्रदेशमवगाहते, तत्समूह एव त्ववगाहते—इति तत्र नामभेदो भवति । एतेन रूपस्य—सनिवेश-

स्यापि भेदः सिध्यति। किं च—एको मनुष्यो महान्तं भारवन्तं वं पाषाणं वा स्तम्भं वा नोत्थापयितुं प्रभवेत्, मनुष्यसमूहस्तु सगत्य तत्कार्यं साधयेत्। एतेन एकापेक्षयाऽनेकेषु कर्मभेदोऽपि सिध्यत्येव।

एवं च नाम्नो रूपस्य कर्मणश्च नवीनताया भिन्नताया वा सत्यामपि मनुष्याणां सेना समुदायो वा तेभ्यो भिद्यते इति तु न कश्चिदपि मतिमान् स्वीकुर्यात्।

वनवृक्षदृष्टान्तोऽप्यत्र सुयोजः। अर्थात्—सजातीया विजातीया वा पृथक्पृथग्वृक्षव्यक्तयो 'वृक्षाः' इत्युच्यते। तत्समुदायविवक्षाया तु 'वनम्' इति शब्दस्तत्र प्रयुज्यते। तत्र नामरूपकर्मादिभिन्नत्वेऽपि न वनं वृक्षसमुदायादतिरिच्यते। न खलु नैयायिकोऽपि सेनां मनुष्येभ्यो वनं च वृक्षेभ्यः पृथङ् मन्यते। ततश्चायमेव न्यायः परमाणुतदारब्धघटपटादिषु च कार्यजातेष्वपि किमिति न योजनीयः? अत्रापि सन्निवेशरूपावस्थाविशेषवशादेव अभिनवानां नामरूपकर्मणां व्यवहारः सगच्छते।

अयमाशयः—

एकोऽपि मृत्कणः कियतश्चिज्जलांशं धर्तुं मशकदेव, समुदायावस्थाया तु अधिकजलाहरणं तेन विधीयते। तथैव एकस्तन्तुरपि शरीरस्य कियतश्चिदंशमाच्छादयितुं प्रभवति स्मैव, समुदायेन पटावस्थाया तु पूर्णशरीराच्छादनं तेन सुकरमभूत्। परन्तु नैतावता घटे मृत्तिकातः पटे च तन्तुतो भेदं आपादयितुं शक्य इति।

(७) नैयायिक—

ननु साधितं पूर्वमारम्भवादे परमाणुद्व्यणुकादिक्रमेण सृष्टिरचनाप्रकारः परमाणुसिद्धिरप्यस्मन्मते प्रत्यक्षप्रयोगसिद्धा। तथा हि—"स्थूलात्सूक्ष्मान्वेषणक्रमेण कार्यकारणधाराया परीक्षणे क्रियमाणे अन्ते तादृशः कश्चित् पदार्थो मन्तव्यो भवति, यस्माद् हि नाणीयोऽस्ति किंचित्, यस्य चावयवा न कर्तुं शक्यते। स च पदार्थः 'परमाणु' संज्ञः। अतिसूक्ष्मत्वेन चक्षुरादीन्द्रियाग्राह्यत्वात् परमाणु 'अतीन्द्रियः' उच्यते। सोऽन्तिमोऽवयवः एव नावयवी। तादृशानामेकाधिकानां परमाणूनां मेलनेन तु क्रमशो ये द्व्यणुकादयो नवा नवाः भावा उत्पद्यते, त एव ह्यवयविनः कथ्यते। एवं सत्यपि यदि नवीनपदार्थोत्पत्तिर्न स्वीक्रियते, तर्हि घटपटतरुपर्वतादयः सर्वे भावाः परमाणुपुञ्जा एव वक्तव्याः स्युः, परमाणोरतीन्द्रियत्वाच्च तत्समूहा अप्यतीन्द्रिया एव स्युः। तथात्वे तु कस्यापि वस्तुनः प्रत्यक्षं नैव स्यात्। किन्तु भवति प्रत्यक्षं सर्वेषामीदृशानाम्। तस्मात् परमाणुभ्यो दृश्यानां पदार्थानामतिरिक्तानामेवोत्पत्तिर्मन्तव्या भवति। 'अयमेको घटः, अयमेकः पटः" इत्याद्येकत्वप्रतीतीनामाधारत्वायापि अवयविनः पृथक्तास्वीकार आवश्यकः—इत्याद्युक्तमेव पुरस्तात्।

सांख्य—

समाधानमपि बहुश उक्तमेव नेदमधुनाऽधिकं क्षोदं क्षमते। "एका सेना, एकं वनम्" इत्यादिविषया यत्र प्रतीतयो जायते, तत्र हि न किंचिदप्येकं वस्तु नवीनमुत्पन्नं दृश्यते।

अनेकेषां सैनिकमनुष्याणां समूहस्य अनेकेषां वृक्षाणां समूहस्य चैकत्वबुद्ध्या विषयीकारादेव तत्रैकताप्रतीतिर्भवति। तथैवैकत्वबुद्ध्युपगृहीतेषु घटपटादिरूपेषु परमाणुपुञ्जेष्वपि निर्बाधैवैकताप्रतीतिः।

(८) नैयायिक —

निरुक्तमतानुसारेण तु एकत्वप्रतीतिः काल्पनिकी सिध्यति। किन्तु कल्पनाऽपि तस्यैव वस्तुनः स्यात्, यत्क्वचित् स्वरूपतोऽपि स्थितं स्यात्। यथा हि–सिंहनामकस्य प्राणिनः क्वचित् सत्यरूपेण विद्यमानत्वे एव तदुपमया कश्चिद् वीरः 'सिंहः' इत्युच्यते। सिंहस्य सर्वथैव वास्तविकत्वाभावे तु मनुष्ये सिंहशब्दस्य प्रयोगस्यावसरः एव नास्ति।

भवन्मते तु एकत्वप्रतीतिः क्वचिदपि वास्तविकी नास्ति। यतः परमाणोः प्रत्यक्षत्वाभावेन तत्रैकत्वप्रतीतिरपि नैव भवति। तदतिरिक्तस्य नवीनस्य वस्तुनस्तु उत्पत्तिर्भवन्मते नास्तीति मुख्यस्यैकत्वस्य ज्ञानं क्वचिदपि नैव स्यात्। मुख्यं विना तु काल्पनिकस्य ज्ञानमपि नैव युक्तियुक्तं भवतीति।

सांख्य —

"मुख्यप्रतीतेराधारेणैव काल्पनिकी प्रतीतिर्भवति" इति नास्तीदृशः कश्चिन्नियमः, कल्पनापरम्परयाऽपि निर्वाहस्य स्फुटमुपलम्भात्। उदाहरणं च यथा—बीजगणिते कस्यचिदकस्य 'य', 'ब' रूपत्वाभावेऽपि तत्कल्पनामात्रेणैव एकस्य महतः शास्त्रस्य रचना जाता।

तस्मात्—नैयायिकवैशेषिकाणां युक्तयः केवलं प्रारम्भिकया शिक्षायामेवोपयुक्ता, न त्वग्रिमेषु गम्भीरेषु विचारेषु। ततश्च "असत उत्पत्तिर्न भवति, ततश्च विनाशो न भवतीति", सिद्धान्तः स्थिरतामेति। तेन च संयोगजानां पदार्थानामतिरिक्तत्वाभावोऽपि सिध्यति। सोऽयं 'सत्कार्यवादः' तदपरपर्यायः 'परिणामवादः' एव समुचितत्वाच्छरणीकरणीयः इति।

श्रुतिवचनोपन्यासेन सत्कार्यवादस्योपसंहारः—

प्रदर्श्यमानानि श्रुतिवचनान्यपि सत्कार्यवादमेवोपबृंहयन्ति प्रमाणयन्ति च।[1] तथा हि—

(क) यो नः पिता जनिता यो न सतो अभ्या सञ्जजान।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥ (तै० सं० ४।६।२।३)

(ख) नू च पुरा च सदनं रयीणां जातस्य च जायमानस्य च क्षाम्।
सतश्च गोपां भवतश्च भूरेर्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥ (ऋ० १।९६।७)

(ग) बण्महाँ असि सूर्य बळादित्य महाँ असि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि॥ (ऋ० ८।१०१।११)

---

1 श्रुतिवचसामेषां व्याख्यानं तु विस्तृतिभयान्नैव क्रियते रसिकैः।
स्वयमर्कमूलग्रन्थेषु वचास्यनुसन्धाय व्याख्यानं द्रष्टव्यम्।

(घ) त्वायुधस्यते सतो भुवनस्य पते वयम् ।
इन्दो सखित्वमुश्मसि ॥ (ऋ० ९।३१।६)

(ङ) विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वस प्रभोस्ते सतः परियन्ति केतव· ।
व्यानशिः पवसे सोमधर्मभिः पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि ॥ (ऋ० ९।८६।५)

(च) सतो नून कवय स शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ ।
विद्वासः पदा गुह्यानि कर्त्तन येन देवासो अमृतत्वमानशु ॥ (ऋ० १०।५३।१०)

(छ) असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेन ततो विदु ॥ (तै० उ० २।६)

(ज) तत्सदासीत्, तत्समभवत् । (छान्दोग्य० ३।३।१९।१)

(झ) सदेवेदमग्र आसीत्, कथ त्वसत· सञ्जायेत । छान्दोग्य० ६।६।२।१,२)

(ञ) सता सोम्य ! तदा सम्पन्नो भवति ।

(ट) सन्मूलमन्विच्छ ! (छान्दोग्य० ६।६।२।१)

(ठ) सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् । (छान्दोग्य० ६।६।२१)

(ड) सद्धीद सवम् ।

(४) विवर्तवाद, अद्वैतवाद, अध्यासवाद·—

"अप्रतिष्ठितेऽस्मिन् परिणामवादे स्वय समायाति विवर्तवादः" । (सक्षेपशारीरकम्)

प्रतिपादित पूर्वं साख्यसिद्धातानुसार सत्कार्य-परिणामवादः । अधुना 'विवर्तवादो' वेदान्तिनां निरूप्यते । अद्वैतवादाध्यासवादयोरपि च तत्रैवान्तर्भाव. । इदमपि पुरस्तादुक्तमेव यत् 'सत्कार्यवादो' वेदान्तिनामप्यभिमतः । केवल तु जडायाः प्रकृतेः स्थाने ते विश्वस्य मूल सच्चिदानन्दघन ब्रह्मैवैक मन्यन्ते इति । सत्कार्यशब्दस्य तु वेदान्तिमते इत्थ व्युत्पत्ति — "सतो ब्रह्मण एव कार्यमिद विश्वम्, सति ब्रह्मण्येवेद विश्वरूप कार्यम्, सच्च कार्यमसच्च द्वेधा इद यत्किंच" ॥ इति ।

सत्कार्यवादसर्वस्वायितस्य "नासतः"० इति गीताश्लोकस्य साख्यसिद्धान्तानुसार य आशयो वर्णित, वेदान्तदर्शनाचार्यास्ततोऽप्यग्रे विचारयन्ति, यत्—साख्यसिद्धान्ते यासामवस्थाना परिवर्तन स्वीक्रियते, ता अवस्था अवस्थावत. पृथक्सन्ति, तद्रूप वा ? । यदि पृथक्सन्ति इत्युच्येत, तर्हि नवनवावस्थोत्पत्तिस्वीकारेण असत प्रादुर्भाव., पूर्वावस्थानिवृत्तिस्वीकारेण च सतोऽभावो मन्तव्यो भवति । तथा सति तु "नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सत" इति सिद्धान्तस्य दृढता व्यपगच्छति । यदि तु अवस्थाया. अवस्थावता द्रव्येण सह तादूरूप्य मङ्गीक्रियते, तर्हि अभिनवानाघटपटादिद्रव्याणामुत्पादनाय कारणव्यापारस्य वैयर्थ्यमापद्यते । तैलावस्थाया हि तिलावस्थातोऽभिन्नत्वे सति तिलनिपीडनव्यापारस्य नास्ति किमपि प्रयोजनमिति भावः ।

इह साख्या अवस्थाऽवस्थावतो. कथचिद् भेद कथञ्चिच्चाभेद मत्वा भेदाभेदाभ्यामिद समर्थयन्ते । किन्तु वेदान्तिनः परस्परविलक्षणयोर्भेदाभेदयो· सहानवस्थान पश्यन्तोऽवस्थाऽवस्थावतो. सम्बन्धमनिर्वचनीय प्रतिपादयन्ति । अवस्थाऽवस्थावतोर्भेदाभेदाभ्यामिव सत्वा-

सत्त्वाभ्यामप्यनिर्वचनीयत्व वेदान्तिनाम् । अवस्था हि नैव 'सती' वाच्या, अवस्थावद्द्रव्यमतिरिच्य तस्या स्वातन्त्र्येणानुपलम्भात्, न चापि वा साऽवस्था 'असती' वाच्या, अवस्थावद्द्रव्यस्यैकत्वेऽपि तत्रावस्थाकृतभेदाना स्फुटमवभासात् ।

वास्तविकी सत्ता कस्य ?

पूर्ववर्णितस्य परतन्त्रस्यानिर्वचनीयस्य च पदार्थस्य वास्तविकी सत्ता नाभ्युपगम्यते । एकमेव हि मूलतत्त्व वास्तविक 'सद्' भवितुमर्हति, यद्धि कदाचिदपि 'असद्' न भवति। अवस्थास्तु वास्तविकसत्ताभावाद् असद्रूपा एव । इदमेव मुख्य तात्पर्यं "नासत ०" इति श्रीमद्भगवद्गीताश्लोकस्यापि ।

लौकिकदृष्टान्तः—

व्यवहारभूमावपि अवस्थाना वास्तविकी सत्ता नाङ्गीक्रियते । तत्र दृष्टान्त.—"धनिक॰ कश्चित्सुन्दरमेक सुवर्णाभरण कारितवान्, तद्घटने तत्र रत्नादिप्रतिवापे च सुवर्णमूल्याद्अप्यधिक धन योजितवाश्च । अथ दैवान्निर्धनतां गतोऽसौ तदाभूषणविक्रयाय सुवर्णव्यापारिणमासाद्य तस्य मूल्यमकथयत् । तेन चासौ प्रत्युक्त —"भद्र ! मुच आभूषणघटनादिमूल्यवार्ताम्, सुवर्णमात्रमूल्यमेव दीयमान प्रतिगृहाण" इति । सिद्ध्यत्येतेन दृष्टान्तेन यद्—व्यवहारेऽपि सुवर्णादि द्रव्यमेव वास्तविकम्, कटककुण्डलाद्याः कृत्रिमास्तदवस्थास्तु न वस्तुसत्य॰, काल्पनिक्यस्तु ता केवलम् ।

वस्तुसतस्तत्त्वस्य गवेषणा —

उपर्युक्तोदाहरणे यद्यपि सुवर्णवस्तुसत् कथितम्, तथापि तस्याऽप्युत्पत्त्यादिविचारे तेजः पृथिवीभ्या तदुद्भवे सिद्धे, तदप्यवास्तविक सिध्यति, सिध्यति तु वास्तविकत्व तेजोऽशस्य पृथिव्यशस्या च । एव क्रमशो विश्लेषणे यदा कार्यकारणादपृथगवतिष्ठेत-द्वयोरद्वैतमेव प्रतीयेत, तदा च पृथिवी जलात्, जल तेजसः, तेजो वायोः, वायुश्चाकाशाद्-इत्यभिन्नत्वमेवैषामततः सिद्ध्येत् । ततोऽप्यग्रे मूलगवेषणाया तु आकाशोऽहकारात्, अहकारो महत्तत्त्वात्, महत्तत्त्व प्रकृते, प्रकृतिश्चापि स्वमूलाद् ब्रह्मण पृथङ् न सिध्यति । ब्रह्मैव तु सर्वमूलमद्वैत 'सत्' तत्त्व सिध्यति ।

नव्यविज्ञानसमति.—

आधुनिकेन विज्ञानेनापि तत्त्वपृथक्तापरीक्षणेन महास्तत्त्वविस्तर. कृत । विज्ञानेनानेन भारतीय. 'पचभूतवाद' सर्वथैवावास्तविक साधित । परीक्षणेन पृथिव्यप्तेजोवाय्वकाशास्तन्मते मूलतत्त्वानि नैव सिध्यन्ति । सर्वेषामेषा सायोगिकत्वमेव तु स्फुटतर सिध्यति । उपपद्यते हि आर्द्रजनोषजनयोर्योगेन (रासायनिकसयोगेन) व्यवहार्यजलनिष्पत्ति, अनेकेषा तत्त्वाना योगेन च पृथिवीनिष्पत्ति॰ । अग्नेर्वाय्वोश्चापि विभिन्नतत्त्वसयोगजत्वमेवास्थीयते वैज्ञानिकैः । तदित्थ पचाना भूताना सायोगिकत्वेनावास्तविकत्वेन च नवीनविज्ञाने मूलतत्त्वानि आर्द्रजनोषजनादोन्येव मन्यते ।

तदीयाना मूलतत्त्वाना सख्या तु शतमप्यतिक्रान्ता वर्धते एव दिने दिने । परन्तु विचारकै-गम्भीरविमर्शानन्तर साधितमिद यत्नवीनविज्ञानाभिमतान्येतान्यपि सर्वाणि न सन्ति मूलतत्त्वानि, किंतुसयोगजन्यान्येवैतानि अपि, अवस्थाविशेषा वा एते केषाचित्पदार्थानाम् । एतेऽन्यपि बहुतर परिवर्तन परस्पर विलोक्यते । मूलतत्त्वानि तु केवल द्विविधान्येव भवितुमर्हन्ति-'इलैक्ट्राण'-'प्रोत्तान'सज्ञकानि । द्विविधान्येतान्यपि कस्माच्चिदेकस्मादेव मूलतत्त्वादुद्भूतानि इति स्वीकृतमधुना नव्येन विज्ञानेन । किं तन्मूलतत्त्वमिति विचारे तु भारतीय वेदशास्त्र-मनादेः कालाद् घोषयतीत्थम्-"सदेव सोम्य । इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" ( ) इति । अत्र 'एकम्' इत्यस्य 'सजातीयविजातीयस्वगतेतिभेदत्रयशून्यमित्यर्थं । अधुनातन विज्ञानमप्यद्य चिराद् विभ्रम्य तत्रैवागतमि (क) यहो । भारतीयसिद्धान्तगाम्भीर्यगरिमा ।

अभेदेऽपि यैर्भेदभ्रान्तिर्भवति, ते भेदा विद्वद्भिस्त्रेधा विभक्ता —

' सजातीयभेदः, विजातीयभेदः, स्वगतभेदश्चेति । तदुदाहरणानि यथा–

(क) विजातीयभेद – व्यापिन्या वृक्षत्वजात्या वटपिप्पलयोरभेदेऽपि अस्ति कश्चन भेदहेतुर्येन वटः पिप्पलो न, पिप्पलस्तु वटो न भवति । स च भेदहेतुर्वटत्वपिप्पलत्वजात्योर्भिन्नत्वम्, वटत्वजातिर्भिन्ना पिप्पलत्वजातिश्च भिन्ना इति यावत् । ततश्च वटपिप्पलौ भिन्नजातीयौ भिन्नावेव वृक्षौ भवत. । अयं तयोर्भेदो 'विजातीयभेद' उच्यते ।

(ख) सजातीयभेद – वटजातीयाः पिप्पलजातीया वा ये यावन्तो वृक्षाः सन्ति, तेष्वपि परस्परं भेदो भवति । न ह्येको वृक्षोऽपरो भवति, सर्वेषामेव भिन्नत्वेनानुभवात् । वटत्वजात्या पिप्पलत्वजात्या वा समानत्वेऽपि सोऽयमीदृशो भेद 'सजातीय भेद.' कथ्यते ।

(ग) स्वगतभेदः .– प्रत्येकस्या वृक्षव्यक्तावपि मूलस्कन्धशाखाप्रशाखापत्रपुष्पफलाद्यवयवेषु परस्पर भेदो भवति । न हि मूलमेव स्कन्धादिकम्, न वा स्कन्धादय एव मूलादिकम् । सर्वेषामेषामवयवानां विभिन्नोल्लेखेन पृथक्त्वेन च भेदानुभावत् । सोऽयमीदृशो भेद 'स्वगतभेद' उच्यते ।

इत्थमेव (१) मनुष्याणा पशूना च जातिभेदमूलकः पारस्परिको भेदो 'विजातीयभेदः कथ्यते । (२) मनुष्येष्वेव वा पशुष्वेव वा व्यक्तिभेदनिबन्धन पारस्परिको भेदः सजातीयभेद उच्यते । (३) एकस्मिन्नेव मनुष्यादिशरीरे मुखनासाकर्णकण्ठोदरादिष्ववयवेषु परस्पर समनुभूयमानो भेदः स्वगतभेद' इति कथ्यते ।

एव च यत्र कुत्रापि यश्च कश्चनापि प्रतीतिपथमवतरन् भेदो जातिं च, व्यक्तिं च, अवयवांश्चेति त्रीनेवाधारीकृत्य विजातीयसजातीयस्वगतेतिनामभिस्त्रिभि प्रकारैराविर्भवति । एभ्यस्त्रिभ्योऽतिरिक्तश्चतुर्थस्तु नास्तिकश्चिद् भेद. इति । एतैर्भेदै सर्वथा विरहित ब्रह्म तु अद्वयमभिन्नमविभक्तमद्वैतमूर्ति व्यवह्रियते । समष्ट्या वा व्यष्ट्या वा अवस्थया वा प्रकृत्या वा विकृत्या वा यत्किमप्यत्र भासते, तत्सर्वं ब्रह्मैव नान्यत् मत एवोक्तम् ।

ब्रह्म तन ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु ।
मनीषिणो मनसा विब्रविमि-वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ।।

(तै० ब्रा० २।८।९) इति ।

पार त्वद्यापि दूरेऽस्ति:—

भारतीयमार्षविज्ञान यदेकं मूलतत्त्व प्रतिपादयति, तत्तु अधुनापि सुतरा विप्रकृष्ट पाश्चात्त्यसायसदृष्टैः। यत्तु 'इलैकत्राण-प्रोत्ता-ननामकस्य तत्त्वद्वयस्य लक्षणमुच्यते नव्यवैज्ञानिकैः— तदनुसारेण तु तद्द्वयशतपथब्राह्मणे वर्णितं 'यत् जू' इति नामक तत्त्वद्वयमेव सिध्यति। "इण् गतौ" इति धातोर्हि शतरि सिद्ध'यत्' इति रूपम्, तच्च गतितत्त्वस्य वायोः पूर्वावस्थारूपस्य वाचकम्। 'जू' इति तु "जु गतौ" इतिधातो 'जवते अत्र' इति व्युत्पत्त्या क्विपि निष्पन्न रूपम्। तच्च स्थितितत्त्वरूपस्याकाशस्य पूर्वावस्थाया रूपस्य प्रतिपादकम्। तयोश्च द्वयोः शब्दयोर्मेलने 'यच्च जूश्च' इति 'यज्जू' इति निष्पद्यते। निरुक्तोक्तयाऽतिपरोक्षवृत्त्या तु शब्दोऽय 'यजु' इति रूप धत्ते। यजुश्च वेद, सृष्टेरारम्भक प्राणतत्त्वमिति यावत्। तदुक्तम्—"अय वाव यजुर्योऽय पवते। एष हि यन्नेवेद सर्वं जनयति। एत यन्तमिदमनु प्रजायते। तस्माद् वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जू.—यदिदमन्तरिक्षम्। एत ह्याकाशमनु जवते। तदेतद् यजुर्वायुश्चान्तरिक्ष च। यच्च जूश्च तस्माद् 'यजु.'। एष एव यत्, एषो हि एति। तदेतद् यजुर्ऋक्सामयो प्रतिष्ठितम्। ऋक्सामे वहृत." ! —(शतपथब्राह्मणे १०।३।५।१२) इति। वैदिके विज्ञाने सर्वमपीद क्षरपुरुषस्यैव रूपम्। क्षरोऽक्षरात्, अक्षरश्चाव्ययाद् उद्भवति। अव्ययश्च तस्याद्वैतस्य मूलतत्त्वस्य मायाशबलित रूपम्। एव विचारो यदि प्रवर्त्त्येत, तदानी भारतीयविज्ञानस्यानेका श्रेण्योऽधुनाऽपि पारणीया अवशिष्यन्ते—इति प्रतीयते। आसा श्रेणीनामाभासोऽप्यधुनावधि बहुभिर्नासादित। आध्यात्मिकमाधिदैविक च विज्ञान सहायत्वेनापुरस्कृत्य केवल भौतिकेन विज्ञानेन स आभासो लभ्योऽपि नास्ति—इत्यास्तामप्रस्तुतम्।

तदिदमेव वेदान्तवेद्य—"यतो वाचो निवर्तन्ते ह्यप्राप्य मनसा सह"—इत्यादिरूपेण वर्णित वास्तविक मौलिकं च तत्त्वमस्ति। तदालम्बनेनैव असतो जगत्प्रपचस्य काल्पनिकी सत्ता। मनश्च वाक्य यत्किंचित् गुणविशिष्ट यत्किंचिद्धर्मविशिष्ट वाऽपि पदार्थमभिजानीतो वर्णयतश्च। मूलतत्त्व तु तत् सर्वथा गुणधर्मादिशून्यम्, ततश्च तन्मनोवागतीत व्यवस्यन्ति सुधिय। अवस्थाविशेष एव हि गुणधर्मादिकम्। अवस्थास्तु पश्चादुत्पद्यन्ते इति कुतस्तरां मूलतत्व तुतत् सर्वथा गुणधर्मादिशून्यम् ततश्च तन्मनोवागतीत व्यवस्यन्ति सुधियः। अवस्थाविशेष एव हि गुणधर्मादिकम्। अवस्तास्तु पश्चादुपद्यनो इति कुतस्तरा मूलतत्त्वे तत्सम्भव ?।

---

[1] 'इलेक्ट्रोन'-'प्रोटोन' शब्दयो. संस्कृतीकरणमिदम्। "इला=भूमिरेवैक आण—विश्रान्ति=स्थान यस्य, विद्युतपरमाणुभ्य आरभ्य पृथिवी यावद् भूताना क्रमिकविकासाभ्युपगमात्। इत्थमेव प्र च उच्च तान=विस्तारो यस्य" इति यथार्थयोगार्थेन तयोर्देवभाषासंस्कारस्य स्वारस्ययात्।

(१) प्रश्नः—

ननु मूले पूर्वमविद्यमान तदसद्गुणधर्मादिक सत्कार्यवादानुसार ततो नोत्पत्तुमीष्टे।

उत्तरम्—

कार्पाससूत्रन्यायेन तत् समाधीयतेऽभियुक्तै। यथा–असदेव कार्पासे सूत्रं तत उद्भवति, तथैव मूलतत्त्वे असत्य एव गुणधर्मावस्थास्ततो जायन्ते। न तु कुतश्चनान्यतस्तदागम इति। तासा तु प्रापचिकीना गुणधर्माद्यवस्थाना वास्तविकत्वं नावकल्पते।

(२) प्रश्न—

ननु, प्रतिभासमानानां प्रापञ्चिकपदार्थाना विनाशेन अभावे प्रतीते सति यदि तत्र 'असत्त्वम्' मन्येत, सत्त्वेनाभिमन्यमानस्य मूलतत्त्वस्य तु प्रतिभासो नास्तीति तदपि 'सद्' इति कथयितुं न शक्येत, तर्हि द्वयोरेव सदसतोः सत्तायामसिद्धयन्त्या 'शून्यवाद' एव बौद्धधानामत्र प्रसज्जेत।

उत्तरम्—

सूक्ष्मविचारेण प्रश्न एष समाधीयते, शून्यवादप्रसगश्च निवर्तते। तथा हि—सतो मूलतत्त्वस्य प्रतीतिर्यद्यपि पृथक्त्वेन नैव भवति, गुणधर्मादिशून्यत्वेन तस्य इन्द्रियमनआद्यगोचरत्वात्, तथापि प्रातिभासिकेष्वेव सर्वेष्वसत्सु सतस्तस्यानुगतैकाकारा प्रतीतिरवश्यमनुभूयते। "अस्ति घट', 'अस्ति पट" इत्यादिस्थलेषु 'अस्ति' इति शब्दोल्लेखेन सर्वत्र सत्ताया अनुगतत्वेन प्रतीयमानत्वात्। भवति हि तत्र घटपटादिबुद्धीना परिवर्तनम्, न तु कदाचित् सत्ताबुद्धेः परिवर्तनं भवति, ध्वस्ते घटे 'घटखण्डाः सन्ति' इति खण्डेषु सत्तायाः सम्बन्धात् चूर्णितेषु खण्डेषु 'मृत्तिकाऽस्ति' इति मृत्तिकया सह अस्तिबुद्धेः सम्बन्धात्, जलक्लिन्नाया मृत्तिकाया तु 'पकोऽस्ति' इति पकेन सहास्तिबुद्धेः सम्बन्धाच्च, अन्तत कस्यापि पदार्थस्याप्रतीतावपि 'नास्ति' इति नञुल्लिखि-तेनाभावेन, सहास्तिबुद्धे. सम्बन्धाच्च। एवमस्तिबुद्धेः सत्तायाः क्वचिदप्यभावो न भवतीति सिद्धम्।

वस्तुसत्तत्त्वस्य सच्चिदानन्दमयत्वम्—

उक्तेय सत्ता ज्ञानबलेन सिद्धयति। वय यज्जानीमस्तदर्थम् 'अस्ति' इति प्रयुञ्ज्महे। ततश्च ज्ञानस्याप्यभावो नैव सिद्धयति। सत्ता च ज्ञान चेत्युभयमेवास्माक प्रियम्। भवति हि सर्वेषा प्राणिना सर्वदा पदार्थाना सजिघृक्षा, भवति च सर्वेषा सर्वदा सोत्कण्ठ तज्जिज्ञासा। ततश्च सत्ता च, ज्ञान च, प्रियता (आनन्द') चेत्येतत्त्रय (सच्चिदानन्दघनत्वम्) मूलतत्त्वस्य ब्रह्मणो रूप सर्वत्रैवाभिव्याप्त शश्वदपरिवर्तनीय च। एतत्त्रयमेव 'सत्' पदार्थ.।

यास्त्वत्र घटत्वपटत्वादिसवलिता अपरा बुद्धयः, तासा हि परिवर्तनशीलत्वान्न मुख्या सत्ता, किन्तु काल्पनिकी। सर्वाधारतया व्यवसित यद् 'सद्ब्रह्म', तत्रैवैता विकल्प्यन्ते। किंच सत्ता

च, ज्ञानं च, आनन्दश्चेति त्रयमेकस्यैव रूपम्, न तु पृथक्, परस्परभिन्नतायास्तत्राप्रतिभासात्। "यदेव हृद्यस्ति तदेव ज्ञायते, यदेव ज्ञायते तदेव हृद्यस्ति। यदेव हि ज्ञायते अस्ति च तदेव प्रियम्"—इति प्रयोगानुभवेन तिसृणां प्रतीतीनामेकत्वं सिद्ध्यति। तदेवम्—एकस्य मूलतत्त्वस्य सिद्धौ नास्ति कोपि 'शून्यवाद'स्य प्रसंग इति।

अयमत्र निष्कर्ष —

योऽर्थ क्वचिदस्ति, क्वचिच्च नास्ति, दिग्देशकालपरिच्छिन्नोऽसौ न वस्तुसन्न तस्य वास्तविकी सत्ता। तत्सत्ताया वास्तविकत्वे, असतस्तस्याभिनवोत्पत्तिस्वीकारे च सतोऽभावः, असतश्च भाव आपद्येयाताम्। उभयमप्येतद् 'अपसिद्धान्त.'। तस्माद् दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचित्मात्रमूर्तेरेव वास्तविकी सत्ता मन्तव्या भवति।

प्रश्नः—

ननु वस्तुसत्त्वेनाभिमतस्यात्मनो ब्रह्मणो वाऽपि सुषुप्तिदशायां प्रतीतेरभावात् त्रैकालिकी सत्ता न सिध्यति। ततश्च भूयोऽपि 'शून्यवाद' एव परिनितिष्ठति।

उत्तरम्—

सुषुप्तिदशायामपि प्रतीतिसामान्याभावो (प्रतीते सर्वथाऽभावो) नैव भवति, "सुखमहस्वाप्सम्, नकिंचिदवेदिषम्"—इति जागरितस्य स्मरणेन तात्कालिक्या प्रतीते साधनात्। स्मरणं ह्रीदमानन्दस्याज्ञानस्य च भवति। यदि प्रतीतिरत्र सर्वथैव नाभविष्यत्, तर्हि तादृशं स्मरणं कथमभविष्यत्। तस्मादत्रेयमेव प्रतिपत्तिर्यत्—सुषुप्ताविन्द्रियाणां मनसश्च प्रलीनत्वाद्वृत्त्यात्मकं ज्ञानं (प्रतिभासो) यद्यपि न भवति, तथापि आत्मस्वरूपस्य मुख्यस्य ज्ञानस्य तु सत्ता सदैवाबाधिता तिष्ठति। अतो नैवात्र असत उत्पत्तिः, सतश्चाभावः सिध्यति। तदेवम् तत्त्वं केवलमेकमेव, तदाधारेणैव निखिलं जगत्परिकल्पितं वर्तते इति 'अद्वैतवाद' एव पर्यवसानम्। "नासतः०" इत्यादिगीताश्लोकस्यापि तत्रैव तात्पर्यम्।

इत्थमत्र निरूपिताः कार्यकारणभावे सुप्रसिद्धाश्चत्वार पक्षाः। अन्येषां केषाचित् पक्षाणां संभवित्वेऽपि नेह वर्णनं क्रियते, तेषां विशिष्योपयोगाभावात्। अधुना हि अभिनचिकित्साशास्त्राध्ययनात् पूर्वं 'फिजिक्स' नाम्ना 'केमिस्ट्री' नाम्ना च प्रसिद्धे नव्यविज्ञानस्य द्वे शाखे अनिवार्यतयाऽध्येतव्ये नियमिते। तयोरुपयोगः स्वरूपं चाधस्तादुपवर्ण्यते—

अनात्मकानां द्रव्याणां जडानां विविधात्मनाम्।
तापप्रकाशशब्दानां विद्युच्चुम्बकयोरपि ॥१॥
साराधनमानाधान गुणान् धर्मांश्च बोधयेत्।
यत्, तद् भौतिकविज्ञानं विद्वद्भिः परिभाषितम् ॥२॥
सर्वं यन्त्रादिनिर्माणं कालेऽस्मिन् यत्प्रजायते।
तदेतस्यैव साहाय्यादिति तस्योपयोगिता ॥३॥

नानाविधानां द्रव्याणां संयोजनवियोजनैः ।
क्रियाविशेषैरन्यैश्च रूपान्तरविनिर्मितिम् ॥४॥

नानावायव्यजातानामुत्पत्तिं च यदादिशेत् ।
तद्रसायनविज्ञानं विद्वद्भिः परिकीर्तितम् ॥५॥

उपादानान्यौषधानां वस्तूनां चोपयोगिनाम् ।
एतद्विज्ञानसाहाय्यान्निर्मीयन्तेऽधुनातनैः ॥६॥

इति (अभिनवोद्भिज्जविज्ञानात्)

इह वर्णितं भौतिकविज्ञानं 'फिजिक्स' नाम्ना प्रसिद्ध्यति, रसायनविज्ञानं च 'केमिस्ट्री' नाम्ना ।

तत्र 'फिजिक्स' नाम्नो विज्ञानभागस्यारम्भवादप्रतिपादकाभ्यां न्यायवैशेषिकाभ्यां सुतरां निर्वाहः क्रियते, तत्र पदार्थानां स्थूलतया गुणधर्मादिविवेचनस्य क्रियमाणत्वात्, 'केमिस्ट्री' इति प्रसिद्धस्य विज्ञानभागस्य निर्वाहस्तु परिणामवादप्रतिपादकाभ्यां सांख्ययोगदर्शनाभ्यां सुतरां साध्यते इति तेषां शास्त्राणां मुख्यसिद्धान्तयोः 'आरम्भवाद'—'परिणामवाद' योरायुर्वेदे विशिष्योपयोगः ।

केचित्तु—'प्रकृतिसमसमवाय', 'विकृतिविषमसमवाय' श्चेति नाम्ना प्रसिद्धौ यावायुर्वेदस्य द्वौ सिद्धान्तौ स्तः, तयोः प्रथमः 'प्रकृतिसमसमवायः' 'फिजिक्स' विज्ञानस्य इति वदन्ति ।

'संघातवाद'स्तु केवलं दृष्टिकोणभेद एव । समुत्पन्ने कस्मिंश्चिद् वस्तुनि परमाणुपुञ्ज-बुद्धिर्वा क्रियताम्, अवयविबुद्धिर्वा न कश्चिद् विरोधः इति सोऽपि वादः कथंचित्स्वीकार्यपक्षे एवायातीति सूचितं नैयायिकसांख्ययोः शास्त्रार्थप्रदर्शने ।

वेदान्तिनां 'विवर्तवादः' खलु समपयुज्जते चरकोक्तायां नैष्ठिक्यां चिकित्सायाम् । सा चैव व्यावर्णिता भगवता पुनर्वसुनात्रेयेण—

शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्तते ।
यया भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः ॥१६॥

सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निःस्पृहः ।
योगं यया साधयते सांख्यः सम्पद्यते यया ॥१७॥

यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया ।
यया नालम्बते किंचित् सर्वं संन्यस्यते यया ॥१८॥

याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम् ।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता ॥१९॥

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः ।
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ॥२०॥

इति (च० शा० अ० ५)

विशेषतस्त्वन्तिमः श्लोको द्रष्टव्यो यत्र विवर्तवादमूलो 'अद्वैतवादः' साधु पुरस्कृतोऽस्ति । इत्येवं चत्वारो वादा अत्र यथायथं निरूपिताः । भवन्ति चात्र—

इहायुर्वेदाध्येतॄणां दर्शनानि बुभुत्सताम् ।
लाभायेद समुद्दिष्टं स्पष्टं वादचतुष्टयम् ॥१॥

सौविध्यमनुलक्ष्य स्व यदि भिन्नतयेक्ष्यते ।
एकमेव स्थितं वस्तु तद्ध्यं सया न कस्यचित् ॥२॥

यस्य यत्रोपयोगः स्यात् कार्यकारणभावतः ।
तत्तथैवंक्षणीयं स्यान्नात्र दोषोऽस्ति कश्चन ॥३॥

इति वादचतुष्टयम् ।

आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्तानुकूल अभिनव चिकित्सा विज्ञान का समन्वय

अन्तर्गत लेख · 'क्षीरोत्पत्ति विज्ञानम्' (संस्कृत मे)

लेखक : स्वर्गीय आचार्यश्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री

पण्डितमार्तण्ड, विद्याभूषण, विद्यावागीश, जामनगरस्थ

[विज्ञान मूलत स्वय अखण्ड है। उसमें विषय भेद से जो खण्ड खण्ड होने का प्रतिभास होता है, उस समय वह सर्वथा दूर हो जाता है, जब कि दो या अधिक विज्ञान सत्य की सीमा में पहुंच कर परस्पर मिल जाते हैं। प्रकाश में दीपक, चिमनी, लालटेन, बल्ब आदि का जब तक सम्बन्ध रहता है, तब तक वह भी पृथक् पृथक् न्यूनाधिक रूप में ही भासित होता है। परन्तु सब को एक स्थान में लाते ही एक प्रकाश दूसरे प्रकाश में मिल कर तद्रूप बन जाता है। इस स्थिति को जानने वाला वैज्ञानिक कार्यकारणभाव से सगत सभी विज्ञानों का समादर करता है।

इस दृष्टि से देखने पर श्री शास्त्रीजी के प्रस्तुत लेख में न केवल आयुर्वेद और अभिनव इन दो विज्ञानों का समन्वय ही किया है, अपितु अभिनव विज्ञान को आयुर्वेद के चरणों में समर्पित कर उसे सायुज्य मोक्ष भी दे दिया है—अभिनव विज्ञान का आयुर्वेद में सर्वथा लय ही कर दिया है।

बालतन्त्र पर ऋषिप्रणीत 'काश्यपसहिता' नेपाल के राजगुरू पं० श्री हेमराजजी के पुस्तकालय में अत्यधिक खण्डित स्वरूप में उपलब्ध हुई थी और श्री यादवजी द्वारा सन् १९३८ में सर्व प्रथम प्रकाश में आई थी। श्री शास्त्रीजी ने उसका जो प्रतिसस्कार आरम्भ किया था उसका एक अध्याय यहा 'क्षीरोत्पत्तिविज्ञानम्' नाम से प्रस्तुत किया जा रहा है।

यदि यह बता न दिया जाय कि अमुक श्लोक पुराने है और अमुक नये, अथवा अमुक विषय आयुर्वेद का है और अमुक नये विज्ञान का तो उन्हें सहसा पहचान लेना बहुत ही कठिन होगा। प्रत्येक आयुर्वेद-प्रेमी हर्ष का अनुभव करेगा कि उनके आयुर्वेद की भाषा सस्कृत है, जिसमें सभी विषयों को समुचित रूप में प्रकाशित करने की क्षमता है और प्रस्तुत विषय भी सस्कृत के माध्यम से आयुर्वेद में विलीन होकर आयुर्वेदीय ही बन गया है।

यदि इस प्रकाश का उपयोग एक व्यवस्थित रूप में हो तो आयुर्वेद के अभ्युदय की दिशा में बहुत कुछ कार्य हो सकता है। अब समय आ गया है कि बिना विलम्ब के आयुर्वेद के विलुप्त तन्त्रों का पुनरोद्धार किया जाय। इसके प्रारम्भ का दर्शन श्री शास्त्रीजी के इस लेख से हो सकता है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सपादक]

बाल कल्याणतन्त्र नाम प्रति संस्कृता काश्यप संहिता:

अथातः क्षीरोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१
इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥२

कृतनित्यक्रिय शान्त जितात्मान प्रजापतिम् ।
शिष्यसघैः परिवृत महर्षिभिर्समश्रितम् ॥३

हितोपदेशैरखिलान् पाययन्तमिवामृतम् ।
बालापत्या सपतिका ऋषिपत्न्योऽवतस्थिरे ॥४

बालपालनसर्वज्ञ ज्ञानविज्ञानभास्करम् ।
तन्त्रकर्तारमन्वक्ष दृष्ट्वा त प्रणता भुवि ॥५

प्रजाना पितृभूतस्य शरण्यस्य महात्मन ।
शुश्रूषन्त्यो वचस्तस्य पप्रच्छुरिदमादरात् ॥६

भगवन् ! जन्मिनोऽनेकान् पदार्थानाहरन्ति ये ।
तेषा तु बालकाः क्षीरमात्राहारा कथ स्थिताः ॥७

कथमुत्पद्यते क्षीर, नारीणामेव तत्कथम् ।
कथ दुष्यति तत्क्षीर परीक्षा चास्य कीदृशी ॥८

दुष्ट कथ विशोध्य स्यात्क्षीर, किं तद्विवर्धनम् ।
कश्चाहारविधिर्ब्रह्मन् ! स्तन्यशोधनकालिकः ॥९

शुद्धस्य लक्षण किं स्याद्, दोषाः केऽशुद्धसेवनात् ।
स्तनपाक कथ स्त्रीणा, किं वजू किमु कीलकम् ॥१०

कस्तस्य साधनोपायस्तुमुक्त्वाऽनुगृहाण नः ।
दृष्टिदोषादपि स्त्रीणा स्तनयो रुक्प्रजायते ॥११

श्रुतमेतद्, भगवता किमु तत्रोपदिश्यते ।
क्षीरपाने विधिः क स्यान्मात्रा का, समय कियान् ॥१२

कृपयाऽऽचक्ष्व सर्वं नो येन लभ्येत नैपुणी ।
इति तत्प्रश्नसहृष्टः कश्यपस्ता महामुनिः ॥१३

पुत्रिका ! इति सबोध्य प्रवक्तुमुपचक्रमे ।
यथाप्रश्न व्याहरामि श्रूयतामवधानतः ॥१४

धात्रीपयोधरपयोव्यतिरिक्त न किंचन ।
बालकस्यास्ति पोषाय क्षीराहारस्ततः शिशुः । १५

तद्ध्यारोग्यकरं तस्य जीवन पुष्टिवर्धनम् ।
अन्न प्रकृतिभूतत्वात्क्षीर तद्देहवृद्धये ॥१६

आहारे यदपेक्ष्य स्यात्तत्व तत्तत्र सस्थितम् ।
दन्ताद्यभावे कठिनो नाहारस्तस्य सस्तुतः । १७

क्षीराभावो जनन्याश्चेन्न गीर्यन्तात्पयोऽथवा ।
तदाऽऽज क्षीरमस्येष्ट गव्य वा स्वल्पमात्रया ॥१८

आहारपाकजरसप्रसादो मधुरोऽखिलात् ।
देहात्प्राप्त स्तनौ स्तन्यमुच्यते, शुक्रवद्धि तत् ॥१९

कन्याना सवृता दुग्धहारिण्यः स्तनयो· पुरा ।
गर्भिताना प्रजाताना चैता. स्युर्विवृता· पुन. ॥२०

तन्व्यस्ताः स्तनयोः काश्चित्परा स्थूला भवन्ति च ।
स्थूला आसन्नविशा स्युर्मुखान्यासा तु चूचुके ॥२१

स्तनयोरन्तरे दुग्धस्राविणो ग्रन्थयोऽणवः ।
तत्स्राव दुग्धहारिण्यस्तन्व्य स्थूला नयन्ति हि ॥२२

स्थूलास्यश्चूचुकच्छिद्रैश्चुष्यमाणो निरेत्यसौ ।
कासांचिच्चूषणाभावेऽप्यभिक्षरति विन्दुश ॥२३

यावदायु. स्तनौ पुसामविकासौ हि तिष्ठतः ।
स्त्रीणा तु वृद्धि स्तनयोर्यौवने सप्रजायते ॥२४

यदा गर्भं दधत्येतास्तदा वृद्धिरितोऽधिका ।
स्रोतसा दुग्धग्रन्थीनां चैधन तत्र कारणम् ॥२५

स्रोतास्यार्तववाहीनि गर्भितानां हि योषिताम् ।
रुध्यन्ते न ततस्तासामार्तव सप्रदृश्यते ॥२६

अध· प्रतिहतं चोर्ध्वमागत तूपचीयते ।
रूपान्तरे परिणतमपरेति निगद्यते ॥२७

शिष्ट चोर्ध्वतर यात प्रतिपन्न पयोधरौ ।
पीनोन्नतस्तनीः कुर्यान्नारीस्तदपि निश्चितम् ॥२८

स्रावोऽपत्यस्य संस्पर्शाद् दर्शनात स्मरणात्तथा ।
अङ्काधिरोहणाच्चापि स्नेहाधिक्यात्प्रवर्तते ॥२९

आहारपाकजो-यादृग् रसो भवति तादृशम् ।
स्तन्यमुत्पद्यते, तद्धि भवेदाहारसम्भवम् ॥३०

पुरुषेष्वाशयाः सप्त, नारीषु तु त्रयोऽधिका· ।
तेषु स्तन्याशयौ द्वौ स्त स्तनयो· सम्प्रतिष्ठितौ ॥३१

तासामेव ततः स्तन्य न पुसासप्रवर्तते ।
एतत्तद्देहवैचित्र्यमीशलीलाविनिर्मितम् ॥३२

गर्भाशयान्तर्नारीणा बीजकोशौ नराण्डवत् ।
अन्त.स्रावस्तयो स्तन्यप्रवृत्ति विनियच्छति ॥३३

ईस्त्रैणाख्य ¹ स हि स्राव पोषयेच्च स्तनावृतौ ।
दुग्ध प्रवर्तयेच्चापि, मासि मासि स्रवेदयम् ॥३४

तद्वत्पोषणकग्रन्थेरन्त स्रावोऽपि दुग्धकृत् ।
मात्र हेतुर्भवेद् दृश्य स्वभावात्सर्वमप्यद. ॥३५

वस्तुत· सर्वतो देहे प्रज्ञानाख्य मनः स्थितम् ।
वात्सल्य या तु तद्वृत्तिस्तया बीज प्रभावितम् ॥३६

स्राव प्रवर्तयेत्काले स्तन्य चापि प्रवर्तयेत् ।
अन्येषामपि चागानां क्रियास्तद्वृत्तिहेतुकाः ॥३७

असात्म्याजीर्णविषमविरुद्धगुरुभोजनैः ।
कट्वम्ललवणक्षारसविषक्लिन्नसेवनैः ॥३८

पायस कृशरा गौड मन्दक चापि माहिषम् ।
अभिष्यन्दीनि मासानि ग्राम्यानूपौदकानि च ॥३९

भुक्त्वाऽभ्यासाद् दिवास्वप्नैर्मद्यस्यातिनिषेवणै. ।
अस्वप्नैर्निशि चिन्ताभिर्मनसश्चातिखेदनै ॥४०

व्यवायक्रोधमात्सर्यैस्तथा रोगादिकर्षणै ।
शारीरायासजननैः सर्वथाऽभ्यासवर्जनै ॥४१

दोषप्रकोपणैरन्यैर्वेगोदी रणधारणैः ।
लघनाद्यैश्च कुप्यन्ति दोषा देहेषु योषिताम् ॥४२

---

१ 'ईम्' इति निपातो गर्भवाचकतया परिगृह्यतेऽत्र, "य ई चकार०" (ऋ० २।३।२०।३२) इत्यादिमन्त्रे श्रीभगवद्दुर्गाचार्यैर्निरुक्तव्याख्याने तथैव व्याख्यातत्वात् । स्त्री—स्त्यायत अस्या शुक्रशोणिते इति स्त्री । स्त्रिया·=स्त्रीभवनयोग्याया अय स्त्रैण, स च तस्या बीजस्य स्रावविशेष. । स हि स्रावो गर्भाशय गवस्तत्र गर्भधारणावस्थोचितं परिवतन करोतीति—ईम्=गर्भं, तदनुकूल. स्त्रैण.=स्त्रीबीजस्राव 'ई स्त्रैण.' उच्यते । अयमेव पाश्चात्यै.—"ईस्ट्रिन—(De(c)strin) इत्यभिधीयते ।

ते च स्तन्यवहा. प्राप्य तत्स्तन्य दूषयन्ति हि ।
दुष्ट तत्सप्तवैकैकद्वन्द्वसर्वविकल्पनात् ॥४३
सप्राप्त्या लक्षणैर्दुष्टो रसवर्णमुखेन च ।
परीक्ष्यते यथावत् ता शृणुतावहिताः शुभा ॥४४
रूक्षादैर्हेतुभिर्वायु. कुपित. स्वैः प्रकोपणै. ।
क्षीराशयौ स्तनौ प्राप्तस्तत्र स्तन्य प्रदूषयेत् ॥४५
स चैव कुपितो वायुः स्तन्यमन्तर्विलोडयन् ।
विधत्ते फेनसघात तत्तु कृच्छ्रात् प्रवर्तते ॥४६
तेन क्षामस्वरो बालो बद्धविण्मूत्रमारुत. ।
वातिक शीर्षरोग वा पीनस वाऽधिगच्छति ॥४७
स चैव कुपित. स्तन्यैःस्नेहं शोषयतेऽनिल. ।
तद् रूक्ष पिबतो रौक्ष्याद् बलह्रास· प्रजायते ॥४८
यच्छ्यावारुणवर्ण स्यात् कषायानुरस तथा ।
विशद चाप्यनालक्ष्यगन्ध रूक्ष द्रवाधिकम् ॥४९
लघ्वतृप्तिकरं तस्य फेनिल कृशताकरम् ।
कर्तृ वातविकाराणां तत्क्षीरं वातदूषितम् ॥५०
तन्नाह्य स्वदते क्षीर तेन कृच्छ्राच्च वर्धते ।
विरसं वातसंसृष्ट बालकस्तत्पिबन् पय. ॥५१
क्रुद्धमुष्णादिभि. पित्त स्तनौ प्राप्त स्वहेतुभिः ।
विधत्ते स्तन्यवैवर्ण्यं नीलपीतासितादिकम् ॥५२
विकृतौ नियमाभावात्ताम्राभास भृशोष्णवत् ।
विक्ताम्लानुरसं तद्वत्कटुकानुरस च यत् ॥५३
कुणपं रक्तगन्धि स्याद् यच्च पित्तविकारकृत् ।
पित्तोपसृष्ट विज्ञेय तत्क्षीर च भिषग्वरैः ॥५४
विवर्णस्तेन स्विन्नश्च स्यात् तृष्णग् भिन्नविट् शिशुः ।
नित्यमुष्णशरीरश्च न स्तनं नाभिनन्दति ॥५५
क्षीर प्रकुपिते पित्ते दौर्गन्ध्य चापि गच्छति ।
तत्पिबन् पाण्डुरोगार्तः कामली च भवेच्छिशु. ॥५६
गुर्वादिभिर्हेतुभिस्तु क्रुद्धः श्लेष्मा स्तनौ गत. ।
तत्क्षीरं स्नेहयुक्तत्वादतिस्निग्ध करोति हि ॥५७

पुरुषेष्वाशयाः सप्त, नारीषु तु त्रयोऽधिकाः ।
तेषु स्तन्याशयौ द्वौ स्त स्तनयो सप्रतिष्ठितौ ॥३१

तासामेव तत. स्तन्य न पुंसासप्रवर्तते ।
एतत्तद्देहवैचित्र्यमीशलीलाविनिर्मितम् ॥३२

गर्भाशयान्तर्नारीणा बीजकोशौ नराण्डवत् ।
अन्त.स्रावस्तयोः स्तन्यप्रवृत्तिं विनियच्छति ॥३३

ईस्त्रैणाख्य[1] स हि स्राव पोषयेच्च स्तनावृतौ ।
दुग्ध प्रवर्तयेच्चापि, मासि मासि स्रवेदयम् ॥३४

तद्वत्पोषणकग्रन्थेरन्त स्रावोऽपि दुग्धकृत् ।
मात्र हेतुर्भवेद् दृश्य. स्वभावात्सर्वमप्यद. ॥३५

वस्तुत. सवतो देहे प्रज्ञानाख्यं मनः स्थितम् ।
वात्सल्य या तु तद्वृत्तिस्तया बीज प्रभावितम् ॥३६

स्राव प्रवर्तयेत्काले स्तन्य चापि प्रवर्तयेत् ।
अन्येषामपि चागानां क्रियास्तद्वृत्तिहेतुकाः ॥३७

असात्म्याजीर्णविषमविरुद्धगुरुभोजनैः ।
कट्वम्ललवणक्षारसविषक्लिन्नसेवनैः ॥३८

पायस कृशरा गौड मन्दक चापि माहिषम् ।
अभिष्यन्दीनि मासानि ग्राम्यानूपोदकानि च ॥३९

भुक्त्वाऽभ्यासाद् दिवास्वप्नैर्मद्यस्यातिनिषेवणैः ।
अस्वप्नैर्निशि चिन्ताभिर्मनसश्चातिखेदनैः ॥४०

व्यवायक्रोधमात्सर्यैस्तथा रोगादिकर्शनैः ।
शारीरायासजननैः सर्वथाऽभ्यासवर्जनैः ॥४१

दोषप्रकोपणैरन्यैर्वेगोदी रणधारणैः ।
लघनाद्यैश्च कुप्यन्ति दोषा देहेषु योषिताम् ॥४२

---

१ 'ईम्' इति निपातो गभवाचकतया परिगृह्यतेऽत्र, "य ई चकार०" (ऋ० २।३।२०।३२) इत्यादिमन्त्रे श्रीभगवद्दुर्गाचार्यैर्निरुक्तव्याख्याने तथैव व्याख्यातत्वाम् । स्त्री—स्त्यायत अस्या शुक्रशोणिते इति स्त्री । स्त्रिया =स्त्रीभवनयोग्याया अय स्त्रैण , स च तस्या बीजस्य स्रावविशेष । स हि स्रावो गर्भाशय गवस्तत्र गर्भधारणावस्थोचित परिवतन करोतीति—ईम्=गर्भ , तदनुकूलः स्त्रैण.=स्त्रीबीजस्राव 'ई स्त्रैण.' उच्यते । अयमेव पाश्चात्यै.—"ईस्ट्रिन—(De(c)strin) इत्यभिधीयते ।

ते च स्तन्यवहाः प्राप्य तत्स्तन्य दूषयन्ति हि ।
दुष्ट तत्सप्तधैकैकद्वन्द्वसर्वविकल्पनात् ॥४३
सप्राप्त्या लक्षणैर्दुष्टी रसवर्णमुखेन च ।
परीक्ष्यते यथावत् ता शृणुतावहिताः शुभा। ॥४४
रूक्षाद्यैर्हेतुभिर्वायु कुपितः स्वैः प्रकोपणे ।
क्षीराशयौ स्तनौ प्राप्तस्तत्र स्तन्य प्रदूषयेत् ॥४५
स चैव कुपितो वायु स्तन्यमन्तर्विलोडयन् ।
विधत्ते फेनसघात तत्तु कृच्छ्रात् प्रवर्तते ॥४६
तेन क्षामस्वरो बालो बद्धविण्मूत्रमारुतः ।
वातिक शीर्षरोग वा पीनस वाऽधिगच्छति ॥४७
स चैव कुपित. स्तन्यैस्नेह शोषयतेऽनिल. ।
तद् रूक्ष पिबतो रौक्ष्याद् बलह्रास. प्रजायते ॥४८
यच्छ्यावारुणवर्ण स्यात् कषायानुरस तथा ।
विशद चाप्यनालक्ष्यगन्ध रूक्ष द्रवाधिकम् ॥४९
लघ्वतृप्तिकर तस्य फेनिल कृशताकरम् ।
कर्तृ वातविकाराणा तत्क्षीर वातदूषितम् ॥५०
तत्रास्य स्वदते क्षीर तेन कृच्छ्राच्च वर्धते ।
विरस वातसस्पृष्ट बालकस्तत्पिबन् पय. ॥५१
क्रुद्धमुष्णादिभि पित्त स्तनौ प्राप्त स्वहेतुभिः ।
विधत्ते स्तन्यवैवर्ण्य नीलपीतासितादिकम् ॥५२
विकृतौ नियमाभावात्ताम्राभास भृशोष्णवत् ।
तिक्ताम्लानुरस तद्वत्कटुकानुरस च यत् ॥५३
कुणप रक्तगन्धि स्याद् यच्च पित्तविकारकृत् ।
पित्तोपसृष्ट विज्ञेय तत्क्षीर च भिषग्वरैः ॥५४
विवर्णस्तेन स्विन्नश्च स्यात् तृष्णग् भिन्नविट् शिशुः ।
नित्यमुष्णशरीरश्च त स्तन नाभिनन्दति ॥५५
क्षीर प्रकुपिते पित्ते दौर्गन्ध्य चापि गच्छति ।
तत्पिबन् पाण्डुरोगार्त कामली च भवेच्छिशुः ॥५६
गुर्वादिभिर्हेतुभिस्तु क्रुद्ध. श्लेष्मा स्तनौ गतः ।
तत्क्षीर स्नेहयुक्तत्वादतिस्निग्ध करोति हि ॥५७

अत्यर्थशुक्लमधुर लवणानुरस तथा ।
घृततैलवसामज्जगन्धि पिच्छिलतन्तुलम् ।।५८

उदपात्रेऽवसीदच्च यच्च श्लेष्मविकारकृत् ।
श्लेष्मोपसृष्ट तत्क्षीरमभिज्ञेय विजानता ।।५९

कुन्धनश्छर्दनस्तेन लालास्रावी शिशुर्भवेत् ।
नित्योपदिग्धस्रोतस्को निद्राक्लमसमन्वित ।।६०

कासश्वासाभिभूताग: प्रसेकतमकार्दितः ।
यदा स्तन्य प्रकुरुते पिच्छिल तु कफोऽधिकः ।।६१

लालासुच्छूनवक्त्राक्षो जडः स्यात्तत्पिबञ्छिशुः ।
गुरुत्वात्तु कफ. कुर्याद्यदा दुग्धस्य गौरवम ।।६२

गुरु तत् प्रपिबन् बालो तदाहृद्रोगमृच्छति ।
अन्याश्च विविधान् रोगान्कुर्यात्तद् दूषित पयः ।।६३

लक्षणाना तु ससर्गात्सनिपाताच्च तत्पय. ।
ससष्ट सनिपतित यथावत्परिलक्ष्यताम् ।।६४

विशिष्टरसजुष्टे तु क्षीरे बालग्रहा अपि ।
पीडयन्त. प्रदृश्यन्ते शिशु स्तन्ये समाश्रिताः ।।६५

रेवती लवणे स्तन्ये शैयाम्ले शीतपूतना ।
मुखमण्डी कषाये स्याच् शकुनी कटुतिक्तके ।।६६

स्कन्दषष्ठीग्रहौ ज्ञेयौ व्यापन्ने सान्निपातिके ।
पूतना स्वादुकटुके शेषा. ससृष्टदोषजाः ।।६७

बहुविण्मूत्रता स्वादौ कषाये मूत्रविड्ग्रह ।
तैलवर्णे बली तुल्यो घृतवर्णे महाधन. ।।६८

यशस्वी धूमवर्णे तु शुद्धे सर्वगुणोदितः ।
तस्मात्सशोधनपरा नित्य धात्री प्रशस्यते ।।६९

कषायपानैर्वमनैर्विरेकै. पथ्यभोजनै ।
वाजीकरणसिद्धैश्च स्नेहै क्षीर विशुध्यति ।।७०

त्रिफला सत्रिकटुका पाठा मधुरसा वचा ।
कोलचूर्णं त्वचो जम्ब्वा देवदारु च पेषितम् ।।७१

सर्षपप्रसृतोन्मिश्र पातव्य क्षौद्रसयुतम् ।
एतत् स्तन्यस्य दुष्टस्य श्रेष्ठ शोधनमुच्यते ।।७२

शृङ्गवेरपटोलाभ्या पिप्पलीचूर्णचूर्णितम् ।
यूषपथ्य विदध्याच्च ह्यन्नपान च यल्लघु ॥७३

धातकीपुष्पमेला च समगा मरिचानि च ।
जम्बूत्वच समधुक क्षीरशोधनमुत्तमम् ॥७४

नाडिका सगुडा सिद्धा हिंगुजातिसुसस्कृता ।
क्षीर मासरसो मद्य क्षीरवर्धनमुत्तमम् ॥७५

वाजीकरणसिद्ध वा क्षीर क्षीरविवर्धनम् ।
घृततैलोपसेवा च बस्तयश्च पयस्करा. ॥७६

पाठा महौषध दारु मूर्वामुस्तकवत्सका: ।
सारिवारिष्टकटुका केरात त्रिफला वचा ॥७७

गुडूची मधुक द्राक्षा दशमूल सदीपनम् ।
रक्षोघ्नश्च पटोलश्च गण: क्षीरविशोधन: ॥७८

लाभत. क्वथितस्तेषा कषाय: स तु सेवित' ।
क्षीर शोधयति क्षिप्र चिरव्यापन्नमप्युत ॥७९

सक्षौद्र कफससृष्टे सघृत शेषयोर्भवेत् ।
नेत्येके श्लेष्मण. स्थानात् क्षीर हि कफसभवम् ॥८०

मसूरा. षष्टिका मुद्गा कुलत्था. शालयो घृतम् ।
गव्यमाज पय. काले लवण चाप्यनोद्भिदम् ॥८१

आहारविधिरुद्दिष्ट. स्तन्यशोधनकालिक. ।
गुर्वन्नस्नेहमासानि दिवास्वप्न च वर्जयेत् ॥८२

शोधनाद् वा स्वभावाद् वा यस्या: क्षीर विशुध्यति ।
तस्या: क्षीरप्रजनने प्रयतेत विचक्षण: ॥८३

मधुराण्यन्नपानानि द्रवाणि लवणानि च ।
मद्यानि सीधुवर्ज्यानि शाकं सिद्धार्थकादृते ॥८४

वराहमहिषादूर्ध्वं मासाना च रसो हित. ।
लशुनाना पलाण्डूना सेवन शयन सुखम् ॥८५

क्रोधाध्वभयशोकानामायासाना च वर्जनम् ।
अपया या भवेत्तस्या एतत् क्षीरविवर्धनम् ॥८६

वटादीना च वृक्षाणा क्षीरिकायाश्च वल्कलम् ।
पाक्य. कषाय. क्वथित क्षीर तेन पुन. शृतम् ॥८७

पाक्य गुडविडोपेत सघृत शालिमाशयेत् ।
अपि शुष्कस्तनीना तत् क्षीरोपजनन परम् ॥८८

शालिषष्टिकदर्भाणा कुशगुन्द्रेत्कटस्य च ।
सारिवावीरणेक्षूणा मूलानि कुशकाशयो. ॥८९

पेयानि पूर्वकल्पेन श्रेष्ठ क्षीरविवर्धनम् ।
स्वभावनष्टे शुष्के वा दुष्टेऽसाध्वीक्षिते हितम् ॥९०

अव्याहृतबलागायुररोगोवर्धते सुखम् ।
शिशुधात्र्योरनापत्तिः शुद्धक्षीरस्य लक्षणम् ॥९१

सभवन्ति महारोगा अशुद्धक्षीरसेवनात् ।
तेषामेवोपशान्तिस्तु शुद्धक्षीरनिषेवणात् ॥९२

तृण कीट तुष शूक मक्षिकागमलाष्टकम् ।
केशोरणस्थ्यादिक विद्याद् वज्रमित्युपचारतः ॥९३

सहान्नपानेन यदा धात्री वज्र समश्नुते ।
पच्यमानेन पाकेन ह्यनन्नत्वान्न पच्यते ॥९४

अपच्यमान विक्लिन्न वायुना समुदीरितम् ।
रसेन सह सपृक्त याति स्तन्यवहा. सिराः ॥९५

सर्वं स्रोतासि हि स्त्रीणा विवृतानि विशेषत. ।
तत् पयोधरमासाद्य क्षिप्र विकुरुते स्त्रियाः ॥९६

रूपाणि पीतवज्राया प्रवक्ष्याम्यत उत्तरम् ।
अजीर्णमरतिर्ग्लानिरनिमित्त व्यथाऽरुचिः ॥९७

पर्वभेदोगमर्दश्च शिरोरुग् दवथुग्रह ।
कफोत्क्लेदो ज्वरस्तृष्णा विड्भेदो मूत्रसग्रह. ॥९८

स्तम्भ. स्रावश्च कुचयो. सिराजालेन सतत ।
शोथशूलरुजादाहै' स्तन स्प्रष्टु न शक्यते ॥९९

स्तनकीलकमित्याहुर्भिषजस्त विचक्षणा. ।
कीलवत्कठिनोगेषु बाधमानो हि तिष्ठति ॥१००

एष पित्तात्मना शीघ्र पाक भेद च गच्छति ।
कफाच्चिरा क्लेशयति वातादाशु विवर्धते ॥१०१

शाखाशिरोभिस्तु यदि विमार्गान्न प्रपद्यते ।
आकृष्यमाण बालेन क्षिप्र निर्धावति स्तनात् ॥१०२

निर्दुह्यमानमुत्पीडाद् वत्र सक्षीरशोणितम् ।
अथवाऽभ्येति सहसा प्रत्यक्षं चोपलभ्यते ॥१०३

घृतपान प्रथमतः शस्यते स्तनकीलके ।
स्रोतांसि मार्दव स्नेहाद्यान्ति वत्र च च्याव्यते ॥१०४

निर्दोहो मर्दन युक्त्या पायन च गलेन च ।
शीता प्रलेपाः सेकाश्च विरेक. पथ्यभोजनम् ॥१०५

स्रावण चाविदग्धस्य दोषदेहव्यपेक्षया ।
पक्वस्य पाटन कुर्यान्मृजा विद्रधिवच्च तत् ॥१०६

परवर्द्धितभोक्त्री च परालालिततर्पणा ।
परवेश्मरता धात्री मुच्यते स्तनकीलकात् ॥१०७

दर्शनीयौ स्तनौ पीनौ सुजातौ सहतौ समौ ।
सुकरौ पर्यकीलौ च दृष्ट्वा त्वीच्छन्ति दुर्हृदः ॥१०८

ततो रुजामवाप्नोति कार्यं, तन्त्राववारणम् ।
परिहृत्याममास तु निशि नेय चतुष्पथम् ॥१०९

एतच्छ्रुत्वा वचस्तथ्यमृषिपत्न्यः प्रहर्षिताः ।
प्रशशसुर्महात्मान कश्यप लोकपूजितम् ॥११०

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।

इति क्षीरोत्पत्तिर्नामाध्यायः